Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्यकेतु विद्यालंकार

एशिया का आधुनिक इतिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
98869

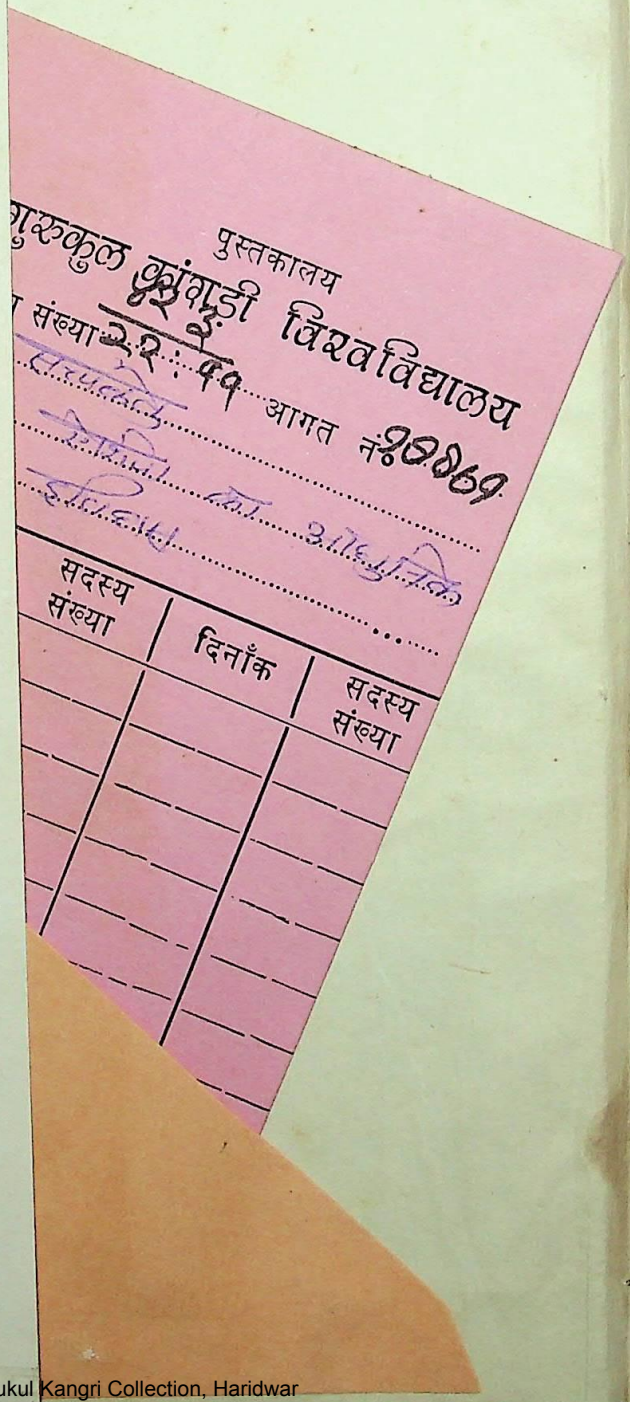

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या ४२.३ / २.२.९९ आगत संख्या 98869

पुस्तक—वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित २० वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा १० पैसे के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

R
42.3
SAT-A

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशिया का आधुनिक इतिहास

सम्पूर्ण

(पूर्वी, दक्षिण पूर्वी, पश्चिमी और दक्षिणी एशिया)

98869

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

लेखक

सत्यकेतु विद्यालंकार डी. लिट्. (पेरिस)

(भूतपूर्व कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार एवं
गोविन्दवल्लभ पन्त पुरस्कार, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार
और मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक द्वारा सम्मानित)

R42.3,SAT-A
98869

श्री सरस्वती सदन

ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव, नई दिल्ली-११००२९

[मूल्य १६५ रुपये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :
सरस्वती सदन
ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव
नई दिल्ली-११००२९

६२३
१२:९१

बारहवाँ संस्करण : १९९१

मुद्रक :
चमन ऑफसेट प्रेस
सुईवालान
नई दिल्ली-२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

अठारहवीं सदी में यूरोप के साम्राज्यवादी देशों ने एशिया में अपने आधिपत्य का विस्तार प्रारम्भ किया था। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक एशिया के प्रायः सभी देश किसी न किसी रूप में यूरोप के प्रभाव व प्रभुत्व में आ गये थे। पर एशिया पर यूरोप का यह प्रभुत्व देर तक कायम नहीं रहा। बीसवीं सदी में एशिया के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन विकसित होने प्रारम्भ हो गये, और अब वह समय आ चुका है जबकि एशिया पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त होकर उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है।

एशिया में जो यह भारी परिवर्तन आया है, उसी का इतिहास इस ग्रन्थ में मैंने संक्षिप्त रूप में लिखने का प्रयत्न किया है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ-काल में एशिया के विविध देशों की क्या दशा थी, उन्नति की दौड़ में यूरोप के मुकाबिले में वे किस प्रकार पीछे रह गये थे, पाश्चात्य देशों ने उन्हें किस प्रकार अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाया, यूरोप और अमेरिका के सम्पर्क में आ कर किस प्रकार एशिया में नवजीवन का प्रारम्भ हुआ, किस प्रकार इन देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता, लोकतन्त्रवाद और समाजवाद के विविध आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ, और किस प्रकार ये देश स्वतन्त्र होकर राष्ट्रीय उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए—इन्हीं बातों को प्रतिपादित करना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। क्योंकि भारत भी एशिया का अन्यतम देश है, और भारत का अन्य देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः भारतीय पाठकों के लिए एशिया के इतिहास की जानकारी प्राप्त करना बहुत उपयोगी है।

महाभारत के अनुसार इतिहास एक ऐसे प्रदीप (दीपक) के समान है, जो मोह (Prejudice) रूपी अन्धकार का विनाश कर सब तथ्यों व घटनाओं को उनके यथार्थ रूप में प्रकट करता है। इसमें सन्देह नहीं, कि इतिहास-लेखकों को यही लक्ष्य अपने सम्मुख रखना चाहिये। ऐतिहासिक का यही कार्य है, कि वह घटनाओं को उनके यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करे, अपने व्यक्तिगत विचारों व सम्मतियों को वह इतिहास लिखते हुए सामने न लाए, और तथ्यों तथा घटनाओं के यथार्थ रूप से निरूपण द्वारा वह पाठकों को यह अवसर दे कि वे स्वयं अपनी सम्मति बना सकें। ऐतिहासिक के लिए यह आदर्श निःसन्देह अत्यन्त उच्च है, पर इसे क्रियान्वित कर सकना सुगम नहीं है। विशेषतया, आधुनिक इतिहास को लिखते हुए इतिहास-लेखक के लिए यह सुगम नहीं होता, कि वह अपने विचारों व मन्तव्यों को पूर्णतया भुलाकर घटनाओं के यथार्थ रूप को प्रस्तुत कर सके। वर्तमान युग विचारधाराओं और सिद्धान्तों के संघर्ष का युग है। व्यक्तिगत सम्पत्ति तथा पूंजीवाद पर आश्रित लोकतन्त्रवाद और समाजवाद के पारस्परिक संघर्ष के कारण ऐतिहासिक के लिए निष्पक्ष होकर घटनाओं का यथार्थरूप से निरूपण कर सकना और भी अधिक कठिन हो गया है। गत महायुद्ध (१९३९-४५) के अवसर पर कुछ समय के लिए जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के बड़े भाग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इस घटना का वृत्तान्त यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के ऐतिहासिक इस ढंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिखते हैं, जैसे कि जापान इस क्षेत्र की जनता के स्वाधीन जीवन का अन्त कर उन्हें अपना दास एवं वशवर्ती बनाने के लिए प्रयत्नशील था। जिन लोगों को जापान के उत्कर्ष के कारण पाश्चात्य साम्राज्यवाद से छुटकारा प्राप्त करने का अवसर मिला, वे इस घटना के सम्बन्ध में दूसरा ही दृष्टिकोण रखते हैं। उत्तरी कोरिया की दृष्टि में दक्षिणी-कोरिया के राज्य की पृथक् सत्ता लोकमत के प्रतिकूल है, और दक्षिण कोरिया के लोग उत्तरी कोरिया के कम्युनिस्ट शासन को चीन के हस्तक्षेप का परिणाम मानते हैं। इस दशा में निष्पक्ष ऐतिहासिक का कार्य और भी अधिक कठिन हो जाता है। मैंने यत्न किया है, कि इस ग्रन्थ में प्रत्येक तथ्य तथा घटना का प्रतिपादन निष्पक्ष रूप से करूँ, और अपने विचारों व मन्तव्यों को कहीं प्रकट न होने दूँ।

एशिया महाद्वीप अत्यन्त विशाल है, और उसमें बहुत-से देशों की सत्ता है। उसके इतिहास को एक ग्रन्थ में लिख सकना सुगम नहीं है। अभी अंग्रेजी में भी ऐसी पुस्तकें नहीं हैं, जिनमें एशिया के सब देशों का इतिहास उस ढंग से एक साथ लिखा गया हो, जैसे कि यूरोप के इतिहास को लिखा जाता है। इस कारण मेरा कार्य और भी अधिक कठिन हो गया है। पर मुझे आशा है, कि मेरे इस ग्रन्थ द्वारा पाठकों को एशिया के आधुनिक इतिहास के सम्बन्ध में समुचित जानकारी प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। इस ग्रन्थ में मैंने प्रधानतया पूर्वी एशिया (चीन, जापान, कोरिया और फिलिप्पीन), दक्षिण-पूर्वी एशिया (विएत-नाम, कम्बोडिया, लाओस, इन्डोनीसिया, मलायीसिया, थाईलैण्ड और बरमा) और पश्चिमी एशिया (ईरान, ईराक, सीरिया, लेबेनान, तुर्की, पैलेस्टाइन, जोर्डन, अफगानिस्तान, अरब प्रायद्वीप के विविध राज्य और ईरान की खाड़ी के समुद्र तट पर स्थित शेख-राज्य) के आधुनिक इतिहास का प्रतिपादन किया है। क्योंकि ईजिप्ट भी एक अरब राज्य है, और इस समय एशिया के कुछ भाग को साथ लेकर वह युनाइटेड अरब राज्य का भी निर्माण कर चुका है, अतः उसका इतिहास भी इस ग्रन्थ में दे दिया गया है। भारत और पाकिस्तान का एशिया के आधुनिक इतिहास में बहुत महत्त्व है, पर उनका इतिहास मैंने जानबूझकर इस ग्रन्थ में नहीं दिया है। इस ग्रन्थ के प्रायः सभी पाठक इन देशों के इतिहास से भलीभाँति परिचित होंगे ही।

गत वर्षों में एशिया के विविध देशों में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। अग्रगामी लम्बी छलाँग और सांस्कृतिक क्रान्ति के कारण चीन के समाजवाद (कम्युनिज्म) ने एक नया रूप प्राप्त कर लिया है, जो रूस के कम्युनिज्म से भिन्न है। विएत-नाम के युद्ध का अब अन्त हो गया है, कम्युनिस्ट चीन ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कर ली है, और अमेरिका जैसा पूँजीवादी देश उसके साथ मैत्रीसम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। पाकिस्तान का अंग-भंग होकर अब बाँगलादेश नाम से एक नया राज्य स्थापित हो गया है। एशिया के इतिहास के इन तथा अन्य सब नवीन परिवर्तनों पर इस ग्रन्थ के नये संस्करण में विशद रूप से प्रकाश डाला गया है।

मुझे आशा है, कि पाठक इस ग्रन्थ को उपयोगी पायेंगे।

मसूरी

सत्यकेतु विद्यालंकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

भूमिका ३
विषय-सूची ५
समर्पण १६

पहला अध्याय—विषय प्रवेश १७

(१) प्रस्तावना
(२) एशिया महाद्वीप।
(३) एशिया के आधुनिक इतिहास का विषय-विभाग।
चीन और जापान, दक्षिण-पूर्वी एशिया, उत्तरी एशिया, दक्षिण-पश्चिमी एशिया, भारत खण्ड।

दूसरा अध्याय—उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में चीन की दशा २४

(१) चीन का प्राचीन इतिहास।
प्राचीन चीन, सामन्त पद्धति, प्राचीन धर्म एवं सभ्यता, चिन, हान और ताँग वंश, सुँग वंश, मंगोल साम्राज्य, मिंग वंश।
(२) मञ्चू साम्राज्य।
(३) चीन के निवासी।
(४) राजनीतिक संगठन।
(५) चीन की संस्कृति।

तीसरा अध्याय—यूरोप और चीन का सम्पर्क ४४

(१) चीन और यूरोपियन राज्यों का व्यापार-सम्बन्ध।
(२) इंगलैण्ड और चीन का युद्ध (१८३९-१८४२)।
(३) ताईपिंग विद्रोह (१८५१-६४)।
(४) पाश्चात्य राज्यो से चीन का दूसरा युद्ध।
(५) ईसाई मिशन और उनका विरोध।
(६) विदेशियों के साथ सम्बन्ध।
(७) मञ्चू सम्राटों का निर्बल शासन।
(८) चीन में नवयुग का प्रारम्भ।
(९) चीन के सम्बन्ध में विदेशियों की नीति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौथा अध्याय—जापान के उत्कर्ष का प्रारम्भ ६८

(१) पुरातन इतिहास ।
प्राचीन काल, सामन्त पद्धति, शोगूनों का शासन, तोकुगावा शोगून ।

(२) पाश्चात्य देशों से प्रथम सम्पर्क ।
यूरोपियन लोगों से सम्पर्क का निषेध ।

(३) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जापान की दशा ।

(४) पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध की पुनः स्थापना ।
कमोडोर पेरी, अमेरिका के साथ सन्धियाँ, अन्य विदेशी राज्यों के साथ सन्धियाँ ।

(५) सम्राट् की शक्ति का पुनरुद्धार ।

पाँचवाँ अध्याय— जापान का काया-कल्प ८४

(१) नया शासन—सामन्त पद्धति का अन्त, शासन सुधार के लिए आन्दोलन और नये शासन-विधान का निर्माण, १८८९ का शासन-विधान ।

(२) पाश्चात्य देशों से की गई सन्धियों में संशोधन ।

(३) सामाजिक एवं आर्थिक उन्नति ।

छठा अध्याय—चीन में विदेशी साम्राज्यवाद का प्रसार ९६

(१) जापान और चीन का युद्ध—जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ, कोरिया की समस्या, चीन-जापान युद्ध के कारण, शिमोनोसेकी की सन्धि ।

(२) चीन में रूस की शक्ति का विस्तार ।

(३) चीन में जर्मनी की शक्ति का विस्तार ।

(४) चीन में अन्य राज्यों की शक्ति का विस्तार—
फ्रांस, जापान, अमेरिका और ब्रिटेन ।

(५) चीन में सुधार के प्रयत्न ।

(६) बोक्सर विद्रोह ।

(७) रूस और जापान का युद्ध (१९०५) ।
कोरिया की समस्या, रूस-जापान युद्ध के कारण, इंगलैण्ड और जापान की सन्धि, पोर्ट्समाउथ की सन्धि, रूस-जापान युद्ध के परिणाम ।

(८) चीन में विदेशी राज्यों का आर्थिक साम्राज्यवाद ।

सातवाँ अध्याय—चीन की राज्यक्रान्ति १२१

(१) राजसत्ता में सुधार का प्रयत्न ।

(२) चीन की राज्यक्रान्ति—राज्यक्रान्ति के कारण, क्रान्ति की प्रगति, वैध राजसत्ता की स्थापना का उद्योग ।

(३) चीन में रिपब्लिक की स्थापना ।

(४) रिपब्लिक की समस्याएँ ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आठवाँ अध्याय—चीन में रिपब्लिक का शासन १३४

(१) प्रथम रिपब्लिकन सरकार।
(२) युआन शी काई का स्वेच्छाचारी शासन।
नया शासन विधान, प्रथम महायुद्ध, राजसत्ता की स्थापना का प्रयत्न।
(३) रिपब्लिक का पुनः संगठन।
(४) प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) और चीन—चीन का महायुद्ध में प्रवेश, जापान की इक्कीस माँगें, वर्साय की सन्धि और चीन, जर्मनी और चीन की सन्धि।
(५) चीन में अराजकता का काल—उत्तरी चीन की पेकिंग सरकार, वू पेई फू का शासन, तुचुन।

नवाँ अध्याय—मध्य एशिया और उत्तरी एशिया १५१

(१) मध्य और उत्तरी एशिया का भूखण्ड।
(२) रूस का एशिया में प्रसार।
(३) मध्य एशिया पर रूस का प्रभुत्व।
(४) ट्रांस-काकेशिया पर रूस का प्रभुत्व।

दसवाँ अध्याय—तिब्बत, मंगोलिया और सिन्किआंग १५९

(१) भौगोलिक परिचय।
(२) तिब्बत—प्राचीन इतिहास, पाश्चात्य देशों से परिचय. तिब्बत पर प्रभुत्व के लिए संघर्ष, चीन के विरुद्ध विद्रोह, १९१४ का समझौता।
(३) सिन्किआंग—प्राचीन इतिहास, चीन का प्रभुत्व।
(४) मंगोलिया।

ग्यारहवाँ अध्याय—कुओमिन्तांग दल का चीन में उत्कर्ष १७९

(१) कुओमिन्तांग दल—संगठन, सिद्धान्त, डॉ० सन यात सेन।
(२) राष्ट्रीय एकता की स्थापना।
(३) नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार।
(४) विदेशी प्रभुत्व के अन्त का प्रयत्न।

बारहवाँ अध्याय—चीन की सर्वतोमुखी उन्नति १९६

(१) आर्थिक उन्नति।
(२) विद्या का पुनः जागरण।
(३) सामाजिक जीवन।
(४) धार्मिक विचारों में परिवर्तन।
(५) कला और आमोद-प्रमोद।

तेरहवाँ अध्याय—पूर्वी एशिया में जापान के साम्राज्य का विकास २१२

(१) जापान के उत्कर्ष का प्रारम्भ।
(२) फार्मूसा पर जापान का प्रभुत्व।
(३) कोरिया।
(४) मञ्चूरिया।
(५) महायुद्ध (१९१४-१८) और जापान।
(६) १९२२ से १९३१ तक जापान की विदेशी राजनीति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौदहवाँ अध्याय—जापान की प्रगति २३०

(१) जापान का राजनीतिक इतिहास।
(२) आर्थिक उन्नति।
(३) शिक्षा का प्रसार।
(४) सामाजिक उन्नति।
(५) धार्मिक दशा।
(६) १९३१ का जापान।

पन्द्रहवाँ अध्याय—फिलिप्पीन द्वीप-समूह २५५

(१) फिलिप्पीन पर स्पेन का प्रभाव।
(२) फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर अमेरिकन प्रभुत्व।
(३) फिलिप्पीन में स्वायत्त शासन की स्थापना।

सोलहवाँ अध्याय—दक्षिण-पूर्वी एशिया—इन्डोनीसिया २६३

(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्य।
(२) इन्डोनीसिया पर विदेशी शासन की स्थापना—प्राचीन इतिहास, पाश्चात्य देशों से सम्पर्क, हालैण्ड का प्रभुत्व, पोर्तुगाल और ब्रिटेन द्वारा अधिकृत प्रदेश।
(३) इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का शासन।
(४) स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का विकास—राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना।
(५) इन्डोनीसिया के समीप के अन्य द्वीप—पोर्तुगाल द्वारा अधिकृत प्रदेश, ब्रिटेन द्वारा अधिकृत प्रदेश।

सतरहवाँ अध्याय—दक्षिण-पूर्वी एशिया—इन्डोचायना २७६

(१) प्राचीन इतिहास।
(२) फ्रांस के प्रभुत्व की स्थापना—यूरोपियन जातियों से सम्पर्क, फ्रांस का प्रभुत्व।
(३) इन्डोचायना में फ्रांस का शासन।

अठारहवाँ अध्याय—दक्षिण-पूर्वी एशिया—अन्य देश २८३

(१) सियाम या थाईलैण्ड—प्राचीन इतिहास, पाश्चात्य देशों से सम्पर्क।
(२) मलाया—प्राचीन इतिहास, ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना, सिंगापुर का सामरिक अड्डा।
(३) बरमा—ब्रिटिश शासन की स्थापना।
(४) दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।

उन्नीसवाँ अध्याय—जापान का वशवर्ती मञ्चूकुओ राज्य २९८

(१) जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति—साम्राज्यवाद के कारण।
(२) मञ्चूरिया की दशा व स्थिति।
(३) मञ्चुकुओ की स्थापना।
(४) राष्ट्रसंघ और मञ्चुकुओ।
(५) मञ्चूकुओ पर जापान का प्रभुत्व।
(६) मञ्चूकुओ राज्य की प्रगति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीसवाँ अध्याय—चीन में जापान के आधिपत्य का विस्तार ३१७

(१) मंगोलिया और जापान—जहोल की विजय, मंगोलिया में हस्तक्षेप।

(२) उत्तरी चीन और जापान—चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति, उत्तरी चीन में हस्तक्षेप क्वान्तुंग सेना, होपेई में जापानी सेनाएँ, हो-उमेत्सू समझौता।

इक्कीसवाँ अध्याय—चीन और जापान का युद्ध ३२६

(१) १९३७ में चीन की दशा—चीन की विविध राजनीतिक शक्तियाँ, कैन्टन की वामपक्षी सरकार, कम्युनिस्ट सरकार और उसके विरुद्ध संघर्ष, चियांग काई शेक की गिरफ्तारी, आर्थिक समस्या।

(२) चीन और जापान के युद्ध का सूत्रपात–लुकूचिआओ की घटना, कम्युनिस्टों से समझौता।

(३) युद्ध का इतिवृत—उत्तरी चीन और नानकिंग पर जापान का प्रभुत्व हैंन्को और कैन्टन की विजय, नानकिंग की नई सरकार, चीन के दो विभाग, युद्ध की प्रगति।

(४) स्वतन्त्र चीन—जनता का प्रवास, चुंगकिंग की सरकार, येनान की कम्युनिस्ट सरकार।

(५) जापान द्वारा अधिकृत चीन।

बाईसवाँ अध्याय—महायुद्ध (१९३९-४५) और जापान ३५१

(१) महायुद्ध से पूर्व जापान की अन्तर्राष्ट्रीय नीति—एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट, ब्रिटेन और जापान, अमेरिका और जापान, राष्ट्रसंघ और चीन-जापान युद्ध, अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियाँ।

(२) चीन में पाश्चात्य देशों के प्रभाव-क्षेत्र और जापान।

(३) अमेरिका और जापान।

(४) महायुद्ध और जापान—रूस के साथ सन्धि, इन्डोचायना और जापान इन्डोनीसिया और जापान, अमेरिका का रुख, इटली, जर्मनी और जापान की सैनिक सन्धि, अमेरिका और जापान में सन्धि का प्रयत्न, युद्ध का सूत्रपात।

(५) जापान की आन्तरिक राजनीति।

तेईसवाँ अध्याय—दक्षिण-पूर्वी एशिया में महायुद्ध का प्रसार ३७५

(१) जापान द्वारा पाश्चात्य देशों के साम्राज्यों का अन्त—पर्ल हार्बर, अन्यत्र जापानी आक्रमण—सिंगापुर, ईस्ट इन्डीज, बरमा, पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रति जापान की नीति।

(३) जापान की पराजय।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौबीसवाँ अध्याय—चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना। ३८७

(१) महायुद्ध और चीन।
(२) अमेरिका द्वारा चीन में राजनीतिक एकता की स्थापना का उद्योग।
(३) चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना का प्रयत्न।
(४) चीन में कम्युनिस्ट दल का उत्कर्ष।

पच्चीसवाँ अध्याय—दक्षिण-पूर्वी एशिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष ४०१

(१) इन्डोचायना—महायुद्ध में इन्डोचायना की स्थिति, राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास, विएत-मिन्ह सरकार की स्थापना, फ्रांस का पुनः आधिपत्य, विएत-मिन्ह और फ्रांस, बाओ दाई की सरकार।
(२) थाईलैण्ड।
(३) मलाया।
(४) बरमा।
(५) इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना, हालैण्ड का सैनिक कब्जा, लिंगजाति समझौता, हेग की गोल मेज परिषद्।
(६) फिलिप्पीन द्वीप समूह।

छब्बीसवाँ अध्याय—जापान की नई व्यवस्था ४२५

(१) परास्त जापान के सम्बन्ध में मित्र-राज्यों की नीति।
(२) जापान की नई सरकार।
(३) जापानी नेताओं पर मुकद्दमे।
(४) जापान के सम्बन्ध में नई नीति।

सत्ताईसवाँ अध्याय—कोरिया की समस्या ४३५

(१) कोरिया की नई व्यवस्था।
(२) दक्षिणी कोरिया में रिपब्लिक की स्थापना।
(३) उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार।
(४) कोरिया का गृह-युद्ध।

अट्ठाईसवाँ अध्याय—पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का विस्तार ४४६

(१) चीन में कम्युनिस्ट शासन—कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना और उसके द्वारा चीन की उन्नति।
(२) फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार।
(३) दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का प्रसार—इन्डोचायना, मलाया, अन्य देशों के कम्युनिस्ट दल।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनत्तीसवाँ अध्याय—कम्युनिस्ट चीन ४५७

(१) चीन की नई आर्थिक नीति (१९४९-१९५७)—खेती, उद्योग तथा व्यापार का राष्ट्रीयकरण।

(२) अग्रगामी लम्बी छलाँग का काल।

(३) किमाय पर गोलाबारी।

(४) तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व।

(५) चीन की सीमा-सम्बन्धी समस्या—भारत और चीन का सीमा-सम्बन्धी विवाद, चीन और बरमा की सीमा, नेपाल के साथ सीमा का निर्णय, पाकिस्तान के साथ सीमा का निर्णय।

(६) चीन और रूस में विरोध।

तीसवाँ अध्याय—चीन में महान् सांस्कृतिक क्रान्ति का काल ४८९

(१) सांस्कृतिक क्रान्ति का श्रीगणेश।
ल्यू शाओ ची और माओ त्से-तुंग में विरोध, चीन के प्रतिक्रियावादी।

(२) रेड गार्ड्स और क्रान्तिकारी समितियाँ।
नवीन वर्गभेद का विकास और रेडगार्ड्स द्वारा उसका प्रतिरोध।

(३) सम्भ्रान्त वर्ग के प्रशिक्षण के लिये स्थापित शिक्षणालय।

(४) चीन की आन्तरिक उथल-पुथल।
फेंग ते हुआई, ल्यू शाओ ची और लिन पियाओ का पतन

(५) चीन का संविधान।

(६) चीन की विदेश नीति।

इकतीसवाँ अध्याय—मंगोलिया और साइबीरिया ५१४

(१) मंगोलिया का जनवादी गणराज्य।

(२) साइबीरिया।

बत्तीसवाँ अध्याय—गत वर्षों में पूर्वी एशिया के अन्य राज्यों की प्रगति ५२२

(१) जापान की स्वतन्त्रता।
अमेरिका के प्रभुत्व का अन्त, जापान की असाधारण आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति।

(२) जापान की विदेश नीति।

(३) फार्मूसा (तैवान)।

(४) हांगकांग।

(५) कोरिया—उत्तरी कोरिया, दक्षिणी कोरिया।

तेंतीसवाँ अध्याय—विएत-नाम, कम्बोडिया और लाओस ५३८

(१) इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व का अन्त।

(२) विएत-नाम के दो राज्य और उनमें युद्ध।

(३) कम्बोडिया।

(४) लाओस।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौंतीसवाँ अध्याय—इन्डोनीसिया, मलायीसिया और सिंगापुर ५५४

(१) इन्डोनीसिया से डच प्रभुत्व का अन्त।
(२) स्वतन्त्र इन्डोनीसिया की समस्याएँ और प्रगति।
(३) मलाया और सिंगापुर।
(४) मलायीसिया के संवर्ग राज्य का निर्माण।
(५) सिंगापुर की रिपब्लिक।

पैंतीसवाँ अध्याय—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य राज्य ५७०

(१) बरमा।
(२) थाईलैण्ड (सियाम)।
(३) फिलिप्पीन।

छत्तीसवाँ अध्याय—पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ५८१

(१) कोलम्बो प्लैन।
(२) साउथ-ईस्ट एशिया ट्रीटो आर्गनिजेशन (सीटो)।
(३) बांदुग कान्फरेन्स।
(४) विवेचन।
(५) उपसंहार।

सैंतीसवां अध्याय—पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास की पृष्ठभूमि ५९७

(१) पश्चिमी एशिया—विविध देश, उनका क्षेत्रफल और जनसंख्या।
(२) प्राचीन इतिहास—सभ्यता के प्राचीन केन्द्र, ग्रीक और रोमन युग, ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव, ईरान का पार्थियन राज्य, ईरानी साम्राज्य का विकास।
(३) इस्लाम और अरब साम्राज्य—इस्लाम का प्रादुर्भाव और अरब साम्राज्य का विकास।
(४) तुर्क और मंगोल—विशाल मंगोल साम्राज्य।
(५) ओटोमन और ईरानी साम्राज्य।

अड़तीसवाँ अध्याय—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी एशिया की दशा ६१२

(१) यूरोप और पश्चिमी एशिया का व्यापार-सम्बन्ध—अरब युग में, तुर्क आक्रमणों का प्रभाव, एशिया व्यापार के लिए नये मार्ग की खोज, यूरोपियन व्यापारियों को कोठियों की स्थापना।
(२) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों की राजनीतिक दशा—तुर्की, ईजिप्ट, सूडान, उत्तरी अफ्रीका, साइप्रस, सीरिया, लेबेनान, ईराक, जोर्डन, इजराईल, अरब और ईरान।
(३) तुर्क साम्राज्य की दशा—शासन-व्यवस्था, आर्थिक दशा, सुधार के प्रयत्न।
(४) तुर्क साम्राज्य में राष्ट्रीयता की समस्या।
(५) बालकन प्रायद्वीप में राष्ट्रीय जागृति का प्रादुर्भाव और इस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का प्रारम्भ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनतालीसवाँ अध्याय—पश्चिमी एशिया में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का विकास ६३७

(१) फ्रांस और ब्रिटेन में संघर्ष—ईजिप्ट के क्षेत्र में, ग्रीस के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के विषय में, स्वेज की नहर के सम्बन्ध में, मुहम्मद अली का उत्कर्ष।

(२) रूस और ब्रिटेन में संघर्ष का प्रारम्भ—मध्य एशिया में, तुर्क साम्राज्य के क्षेत्र में, क्रीमियन युद्ध, ईरान और अफगानिस्तान में।

(३) ईजिप्ट पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना।

(४) पश्चिमी एशिया-सम्बन्धी संघर्ष में जर्मनी का सम्मिलित होना।

चालीसवाँ अध्याय—पश्चिमी एशिया में नवजागरण का प्रारम्भ ६५६

(१) नई शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव।

(२) राष्ट्रीय भावना का विकास—तुर्क साम्राज्य में, अरब में, ईजिप्ट में, सीरिया और लेबेनान में, ईराक में।

इकतालीसवाँ अध्याय—तुर्क साम्राज्य का पतन ६७२

(१) प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८)—मित्र-राज्यों द्वारा तुर्क साम्राज्य के विरुद्ध अरबों के सहयोग की प्राप्ति के प्रयत्न, तुर्क साम्राज्य का ह्रास।

(२) तुर्क साम्राज्य की नई व्यवस्था—अरब प्रदेशों के सम्बन्ध में नई व्यवस्था, सेव्र की सन्धि।

(३) राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन अरब राज्य—ईराक पर फैज़ल का शासन, पैलेस्टाइन, सीरिया और लेबेनान, ट्रांस-जोर्डन पर अब्दुल्ला का शासन।

(४) सौदी अरेबिया का राज्य—इब्न सऊद, शरीर हुसैन की सत्ता का अन्त।

(५) ईजिप्ट—ईजिप्ट की स्वाधीनता का स्वरूप।

बयालीसवाँ अध्याय—दो महायुद्धों के बीच का काल (१६१८-१६३६) ६६१

(१) पश्चिमी एशिया प्रगति के पथ पर।

(२) तुर्की में लोकतन्त्र शासन की स्थापना—कमाल, आशा, रिपब्लिक की स्थापना और नया संविधान, लौजान कान्फरेन्स।

(३) पैलेस्टाइन और यहूदियों की समस्या।

(४) ईजिप्ट में पूर्ण स्वाधीनता के लिये संघर्ष।

(५) ईराक की स्वाधीनता।

(६) फ्रेञ्च मैन्डेट के अधीन प्रदेशों का शासन।

(७) अरब प्रायद्वीप के विविध राज्य।

(८) ईरान की प्रगति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैंतालीसवाँ अध्याय—द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) और पश्चिमी एशिया ७२३

(१) महायुद्ध के प्रारम्भ के समय पश्चिमी एशिया की दशा।
(२) महायुद्ध और पश्चिमी एशिया—पश्चिमी एशिया के विविध देशों का महायुद्ध के प्रति रुख, रशीद अली, फ्रांस के पतन का लेबेनान और सीरिया पर प्रभाव, ईरान के रजाशाह की नीति, अनेक पश्चिमी एशियन देशों की युद्ध में तटस्थता।
(३) पैलेस्टाइन में यहूदियों और अरबों की समस्या।

चवालीसवाँ अध्याय—पश्चिमी एशिया में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का ह्रास ७३५

(१) द्वितीय महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति।
(२) यहूदियों की समस्या और इजराईल का निर्माण—पैलेस्टाइन का अंग-भंग, यहूदी राज्य की स्थापना और उसके प्रति अरब राज्यों का रुख।
(३) सीरिया और लेबेनान—फ्रेंच प्रभुत्व एवं प्रभाव का अन्त।
(४) ईजिप्ट—सूडान की व्यवस्था, ईजिप्ट में राज्यक्रान्ति और राजसत्ता का अन्त, नगीब और नासिर, स्वेज नहर के सम्बन्ध में समझौता।
(५) अन्य अरब राज्य—ईराक, सौदी अरेबिया, ट्रांस-जोर्डन।
(६) ईरान में साम्राज्यवादी देशों के संघर्ष—तुदेह पार्टी, रूस का हस्तक्षेप।

पैंतालीसवाँ अध्याय—महायुद्ध के पश्चात् अरब राज्यों की प्रगति ७६३

(१) पश्चिमी एशिया के आर्थिक जीवन में तेल का महत्त्व, तेल के कारण उत्पन्न राजनीति, तेल के उत्पादन का अरब राज्यों पर प्रभाव।
(२) नई अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियाँ और पश्चिमी एशिया—बगदाद पैक्ट, नाटो।
(३) ईजिप्ट की तटस्थता की नीति और स्वेज का राष्ट्रीयकरण।
(४) आइजनहावर सिद्धान्त और अरब राज्य।
(५) सीरिया की तटस्थता की नीति।
(६) अन्य अरब राज्यों की प्रगति, जोर्डन का निर्माण, सौदी अरेबिया, लेबेनान, सूडान।
(७) ईराक की राजनीति।

छयालीसवाँ अध्याय—ईरान और तुर्की की आधुनिक राजनीति ८००

(१) ईरान द्वारा तेल-क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण का प्रयत्न—डॉ० मुसादिक की नीति और उसकी विफलता, तेल-क्षेत्रों के सम्बन्ध में ब्रिटेन से नया समझौता।
(२) तुर्की की आधुनिक राजनीति—नाटो, बगदाद पैक्ट आदि अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तुर्की का सम्मिलित होना, आन्तरिक राजनीति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैंतालीसवाँ अध्यायप—श्चिमी एशिया में नये परिवर्तन ८११

(१) यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थापना--सीरिया और ईजिप्ट द्वारा यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का संगठन।
(२) ईरान और जोर्डन का फिडरल यूनियन।
(३) लेबेनान और जोर्डन में आइजनहावर सिद्धान्त का प्रयोग।
(४) ईराक में राज्यक्रान्ति।
(५) अरब की राष्ट्रीय एकता का प्रश्न—यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का अंग-भंग, सीरिया, अरब फिडरेशन, दक्षिणी अरब फिडरेशन।
(६) अरब-इजराईल युद्ध।
(७) पश्चिमी एशिया में विदेशी राज्यों के अन्तर्हित स्वार्थ।
(८) उपसंहार।

अड़तालीसवाँ अध्याय—अफगानिस्तान ८४०

(१) पुरातन इतिहास—प्राचीन काल, मध्य काल।
(२) अंग्रेजों द्वारा अफगानिस्तान की विजय के प्रयत्न--अफगानिस्तान के सम्बन्ध में रूस और ब्रिटेन का संघर्ष, रूस के साथ समझौता।
(३) बीसवीं सदी में अफगानिस्तान की प्रगति-अमीर अमानुल्ला, बच्चा सक्का का शासन, नादिर शाह, जहीर शाह, रिपब्लिक की स्थापना।

उन्चासवाँ अध्याय—नेपाल ८५६

(१) पुरातन इतिहास।
(२) गोरखा राज्य की स्थापना और नेपाल का साम्राज्य-विस्तार।
(३) ब्रिटेन के साथ संघर्ष।
(४) नेपाल में राणाओं के शासन का काल।
(५) नवयुग का सूत्रपात और लोकतन्त्र शासन की स्थापना का प्रयत्न।
(६) नेपाल की विदेशी राजनीति।

पचासवाँ अध्याय--पाकिस्तान और बाँगला देश ८८१

(१) पाकिस्तान का निर्माण और प्रगति।
(२) पाकिस्तान की विदेश नीति।
(३) स्वतन्त्र बाँगला देश का अभ्युदय।
(४) पाकिस्तान की समस्याएँ।

इक्यावनवाँ अध्याय--श्रीलंका (सीलोन) ८९५

(१) पुरातन इतिहास।
(२) स्वतन्त्रता के पश्चात् लंका की प्रगति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञान के उपार्जन और
सरस्वती की सेवा में व्यतीत किया, और
जिनकी यह हार्दिक इच्छा थी, कि मैं
भी उन्हीं के पदचिह्नों का
अनुसरण करूँ, अपने उन
धर्मपिता (श्वसुर)

स्वर्गीय श्री पण्डित भवानी प्रसाद जी
की पुण्य स्मृति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहला अध्याय

विषय–प्रवेश

(१) प्रस्तावना

संसार के इतिहास में एशिया का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। मानव सभ्यता का उदय सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। सिन्ध और गंगा, युफ्रेटिस और टिग्रिस, तथा ह्वांग-हो और यांग-त्से-कियांग नदियों की घाटियों में अत्यन्त प्राचीन समय में जिन सभ्यताओं का विकास हुआ था, उन्होंने मनुष्य जाति के इतिहास को बहुत प्रभावित किया है। संसार के सभी प्रमुख धर्मों का अभ्युदय एशिया में हुआ। बुद्ध, ईसा और मुहम्मद एशिया के ही निवासी थे। बौद्ध धर्म के प्रचारकों ने मनुष्य जाति के बहुत बड़े भाग को अपने विचारों द्वारा प्रभावित किया। इस्लाम के अनुयायियों ने उत्तरी अफ्रीका और यूरोप में भी अपने धर्म का विस्तार किया। किसी समय स्पेन, सिसली और बाल्कन प्रायद्वीप में भी इस्लाम की सत्ता थी। पश्चिमी एशिया में प्रादुर्भूत हुए ईसाई धर्म ने यूरोप में ही नहीं, अपितु अमेरिका में भी करोड़ों नर-नारियों को अपना अनुयायी बनाया। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भी एशिया संसार का अगुआ रह चुका है। गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों का विकास सबसे पूर्व एशिया में ही हुआ था। दिग्दर्शक यन्त्र, छापाखाना और बारूद भी पहले-पहल एशिया में ही आविष्कृत हुए थे। राजनीतिक दृष्टि से भी किसी समय एशिया संसार का नेतृत्व कर चुका है। यदि यूरोप से सिकन्दर ने एशिया पर आक्रमण किया था, तो प्रसिद्ध मंगोल विजेता चंगेज खां और बातू खां भी यूराल पर्वतमाला को पारकर रूस के बड़े भाग को अपने आधिपत्य में लाने में समर्थ हुए थे। मंगोल और तुर्क आक्रान्ताओं ने यूरोप में वीएना तक पर आक्रमण किये थे। अरब लोग तो सम्पूर्ण स्पेन को अपनी अधीनता में लाकर फ्रांस के दक्षिण में पिरेनीज की पर्वतमाला तक अपनी शक्ति का विस्तार करने में समर्थ हो गये थे। यदि पिछली दो सदियों के इतिहास को आँखों से ओझल कर दिया जाय, तो यह समझ सकने में जरा भी कठिनाई नहीं होगी, कि धर्म, सभ्यता, संस्कृति, विज्ञान और राजनीति के क्षेत्रों में एशिया का महत्त्व यूरोप से बहुत अधिक रहा है, और एशिया इन सब में मानव समाज का नेतृत्त्व करता रहा है।

पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम भाग में यूरोप के आधुनिक उत्कर्ष का सूत्रपात हुआ। जब पश्चिमी एशिया से अरबों के प्रभुत्व का अन्त होकर वहां तुर्क लोगों की शक्ति स्थापित हुई, तो यूरोप के व्यापारियों और मल्लाहों ने एशिया के देशों के साथ सम्पर्क रखने के लिए नये मार्गों की खोज शुरू की। इसी प्रयत्न के कारण उन्हें अमेरिका का पता लगा, और वे अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत आदि प्राच्य देशों में आनेजाने लगे। सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में यूरोपियन लोगों ने एशिया के विविध देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों का विकास किया। पर इस काल में एशिया की राजनीतिक शक्ति निर्बल नहीं थी। भारत के मुगल बादशाह और चीन के मिंग वंशी सम्राट् राजशक्ति की दृष्टि से यूरोप के किसी भी राजा या सम्राट् के मुकाबिले में हीन नहीं थे। दिल्ली और पेकिंग के राजदरबार वैभव, कला, समृद्धि और सैन्यशक्ति की दृष्टि से पेरिस, वीएना तथा मैड्रिड के राजदरबारों के मुकाबिले में कहीं बढ़े-चढ़े हुए थे। अठारहवीं सदी में यूरोप के लोगों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशिया के विविध प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को स्थापित करना शुरू किया। भारत में मुगल बादशाहत इस समय निर्बल होने लग गई थी। दिल्ली के सम्राटों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे साम्राज्य के सुदूरवर्त्ती प्रान्तों पर अपने प्रभुत्व को कायम रख सकें। परिणाम यह हुआ, कि भारत की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर फ्रेंच और अंग्रेज लोगों ने इस देश में अपने राजनीतिक प्रभुत्व की नींव डालनी प्रारम्भ कर दी। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक अंग्रेज लोग भारत में अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हो गये थे। पर इस समय तक चीन, जापान, अरब, ईरान आदि एशियन देश यूरोप के राजनीतिक प्रभुत्व में नहीं आए थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में विविध पाश्चात्य देशों ने पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। बीसवीं सदी के शुरू तक यह दशा आ गई थी, कि जापान के अतिरिक्त प्रायः अन्य सभी एशियन देश किसी न किसी रूप में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व में आ चुके थे। एक ओर जहां भारत, बरमा, लंका, फिलिप्पीन, इण्डोनीसिया, इण्डोचायना आदि विविध देश राजनीतिक दृष्टि से किसी न किसी पाश्चात्य देश के अधीन थे, वहां चीन, तिब्बत, ईरान, अरब आदि देशों पर पाश्चात्य देशों का आर्थिक व अन्य प्रकारका प्रभुत्व स्थापित हो गया था। लेकिन एशिया पर यूरोप तथा अमेरिका का यह प्रभुत्व देर तक स्थिर नहीं रह सका। बीसवीं सदी के मध्य भाग तक भारत, लंका, बरमा, अरब, इण्डोनीसिया आदि बहुत-से देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त हो गये। जो चीन पाश्चात्य देशों के आर्थिक साम्राज्यवाद का बुरी तरह से शिकार था, वह न केवल पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गया, अपितु संसार की सर्वप्रधान राजनीतिक शक्तियों में गिना जाने लगा। एशियन देशों की पराधीनता का काल बहुत देर तक नहीं रहा। भारत एक सदी के लगभग तक अंग्रेजों की अधीनता में रहा, और अन्य एशियन देशों की पराधीनता का काल आधी सदी से लेकर एक व सवा सदी तक रहा। मानव जाति का इतिहास हजारों साल पुराना है। यदि संसार के इतिहास की दृष्टि से एशिया के राजनीतिक अपकर्ष के काल को देखा जाय, तो वह बहुत ही स्वल्प प्रतीत होगा। इससे कहीं अधिक समय तक उत्तरी और पूर्वी यूरोप विविध एशियन देशों की अधीनता में रहा था। आज एशिया स्वतन्त्र हो चुका है। उसके कुछ प्रदेशों पर पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव व प्रभुत्व अब तक भी कायम है, उसे नष्ट होने में भी अधिक समय नहीं लगेगा, यह बात सर्वथा निश्चित है। अब वह समय दूर नहीं है, जब कि एशिया संसार के इतिहास में फिर महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका प्रमुख स्थान होगा।

इस पुस्तक में हमें एशिया का आधुनिक इतिहास लिखना है। एशिया के विविध देश किस प्रकार पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवादके शिकार हुए, उनमें किस प्रकार राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई, किस प्रकार उन्होंने अपनी आन्तरिक निर्बलताओं को दूर कर उन्नति के मार्ग पर कदम बढ़ाया, और किस प्रकार वे विदेशी प्रभुत्व को नष्ट कर अपनी स्वतन्त्रता स्थापित करने में सफल हुए—इसी का वृत्तान्त संक्षिप्त रूप से लिखना इस ग्रन्थ का प्रयोजन है। अठारहवीं सदी में यूरोप में वैज्ञानिक आविष्कारों का आरम्भ हुआ था। औद्योगिक क्रान्ति में पहल करने के कारण पाश्चात्य देशों को यह अवसर मिल गया था, कि वे एशिया पर अपना प्रभुत्व कायम कर लें। किसी समय बारूद आदि के आविष्कार में पहल करने के कारण एशियन देश भी इसी प्रकार अपना उत्कर्ष करने में समर्थ हुए थे। पर एशिया पर पाश्चात्य संसार का यह आधिपत्य केवल सामयिक था। यूरोप के लोगों में कोई ऐसी स्वाभाविक उत्कृष्टता नहीं थी, जो वे एशियन देशों को सदा के लिये अपनी अधीनता में रख सकते। लगभग सवा सदी के समय में पाश्चात्य लोगों के उत्कर्ष का अन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया, और स्वाधीन एशिया फिर से अपने उत्कर्ष में प्रवृत्त होने लगा। इस ग्रन्थ में हमें एशिया के इसी संघर्ष का वृत्तान्त लिखना है।

(२) एशिया महाद्वीप

एशिया की विशालता—पृथिवी के सब महाद्वीपों में एशिया सबसे अधिक विशाल है। इसका क्षेत्रफल १,७५,००,००० वर्गमील के लगभग है। उत्तरी ध्रुव के हिममय समुद्र से शुरू होकर दक्षिण में यह भूमध्यरेखा के भी नीचे तक फैला हुआ है। एशिया के अनेक द्वीप भूमध्य रेखा के दक्षिण में भी स्थित हैं। सम्पूर्ण भूमण्डल का एक तिहाई स्थल भाग एशिया में है। क्षेत्रफल की दृष्टि से एशिया यूरोप की अपेक्षा चार गुना है, और दक्षिणी तथा उत्तरी अमेरिकन महाद्वीप मिलकर भी क्षेत्रफल में इसके बराबर नहीं होते। इस विशाल महाद्वीप की जनसंख्या २,२०,००,००,००० के लगभग है। क्षेत्रफल और जनसंख्या दोनों की दृष्टि से पृथ्वी का अन्य कोई महाद्वीप एशिया का मुकाबला नहीं कर सकता।

एशिया में सब प्रकार की प्राकृतिक परिस्थितियां, जलवायु और भौगोलिक दशाएं विद्यमान हैं। जहाँ एक ओर इसमें ऐसे प्रदेश हैं, जो प्रायः बारहों महीने हिम से आच्छादित रहते हैं, वहां ऐसे प्रदेश भी हैं, जिनमें ग्रीष्म की प्रचण्डता मनुष्यों और जीव-जन्तुओं को व्याकुल कर देती है। कुछ स्थान रेगिस्तान हैं, कुछ ऊंचे पठार हैं, कुछ शस्यश्यामल उपजाऊ मैदान हैं, और कुछ सघन जंगलों से आवृत हैं। पृथ्वी की कोई भी ऐसी प्राकृतिक दशा नहीं है, जो एशिया में न पायी जाती हो। यही कारण है कि इस महाद्वीप में बहुत-सी विभिन्न जातियों का निवास है, जो सभ्यता की दृष्टि से एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। इसके कुछ प्रदेशों में अब तक ऐसी जातियाँ बसती हैं, जो इस बीसवीं सदी में भी प्रस्तर युग से आगे नहीं बढ़ सकी हैं। दूसरी ओर इसमें ऐसे लोग भी विद्यमान हैं, जो सभ्यता के क्षेत्र में यूरोप और अमेरिका के अत्यन्त उन्नत व सभ्य लोगों के समकक्ष हैं। पहाड़ों की गुफाओं, खाल के डेरों और फूंस के झोपड़ों में निवास करने वाले लोगों के साथ साथ एशिया में ऐसे भी लोग निवास करते हैं, जो लोहे और सीमेन्ट से बनी विशाल इमारतों में रहते हैं, और जो उपरली मंजिलों तक पहुंचने के लिये बिजली से चलने वाले लिफ्टों का उपयोग करते हैं। तेल-अवीव, जमशेदपुर, कोम्सोमोल्स्क सदृश एशियन नगर व्यावसायिक क्षेत्र में यूरोप व अमेरिका के प्रसिद्ध व्यावसायिक केन्द्रों का सुगमता से मुकाबिला कर सकते हैं।

एशिया की एकता—एशिया में अनेक भाषाओं, अनेक जातियों, अनेक धर्मों और अनेक संस्कृतियों की सत्ता है। इस महाद्वीप के ठीक मध्य में हिमालय तथा उससे सम्बद्ध पर्वतों की एक ऐसी शृंखला है, जो ५००० मील के लगभग लम्बी है। इसकी अधिकतम चौड़ाई भी २००० मील के लगभग है। पर्वतों, नदियों, रेगिस्तानों और समुद्रों ने एशिया को अनेक ऐसे विभागों में विभक्त कर दिया है, जहाँ न केवल पृथक् राज्यों का अपितु पृथक् सभ्यताओं का भी विकास हुआ है। राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एशिया को एक नहीं समझा जा सकता। यही कारण है, कि विविध एशियन देशों का समग्ररूप से एक साथ इतिहास लिख सकना सुगम कार्य नहीं है। एशिया की विशालता और विविधता ऐतिहासिक के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित करती है, और उसके कार्य को अत्यन्त कठिन बना देती है।

धर्म, नसल, जाति, भाषा, सभ्यता, संस्कृति, भौगोलिक दशा और ऐतिहासिक परम्परा की विभिन्नता के बावजूद भी विविध एशियन देशों में कुछ ऐसी समानताएं हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जो उसके निवासियों को यूरोप, अफ्रीका व अमेरिका के लोगों से पृथक् करती हैं। अरब, भारत और चीन अत्यन्त प्राचीन समय से उन्नत सभ्यताओं के केन्द्र रहे हैं। इन प्राचीन सभ्यताओं में परस्पर सम्बन्ध भी विद्यमान था। मैसोपोटामिया (ईराक) की प्राचीन सुमेरियन, असीरियन और बैबिलोनियन सभ्यताओं का भारत की सिन्ध नदी की घाटी की सभ्यता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। प्राचीन भारतीय आर्य चीन से परिचय रखते थे, और इन दोनों देशों में व्यापारिक सम्बन्ध की भी सत्ता थी। ईरान, भारत, अफगानिस्तान, एशिया माइनर और मध्य एशिया में कभी एक ही आर्य जाति का निवास था, और इन सब देशों के धर्म व संस्कृति आदि में भी बहुत कुछ समता थी। बौद्ध धर्म का प्रचार न केवल भारत में, अपितु मध्य एशिया, अफगानिस्तान, चीन, जापान, लंका, बरमा, मलाया सियाम, तिब्बत आदि सर्वत्र हुआ, और उसके कारण किसी समय में एशिया के बहुत बड़े भाग में धार्मिक व सांस्कृतिक एकता की स्थापना हुई। इस्लाम के धर्म-प्रचारक दक्षिणी एशिया के प्रायः सभी देशों में धर्म प्रचार के लिये गये, और उनके प्रयत्नों से इस महाद्वीप के अच्छे बड़े भाग में धार्मिक एकता का विकास हुआ। बौद्ध धर्म और इस्लाम के कारण एशिया के निवासियों का जीवन के सम्बन्ध में एक ऐसा विशिष्ट दृष्टिकोण है, जो यूरोप व अमेरिका में कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव भारत में हुआ था, और उसके धार्मिक सिद्धान्त भारत के प्राचीन आर्य धर्म से घनिष्ठ सामीप्य रखते हैं, अतः एशिया की संस्कृति के आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार के हैं, जो इस महाद्वीप के बड़े भाग में समान रूप से मान्य हैं। राजनीतिक दृष्टि से भी बहुत से एशियन देश एक शासन में रह चुके हैं। चंगेज खां द्वारा स्थापित मंगोल साम्राज्य पूर्व में प्रशान्त महासागर से शुरू होकर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक विस्तृत था। उसका विस्तार उत्तर में साइबीरिया तक और दक्षिण में ईरान की खाड़ी तक था। भारत का उत्तर-पश्चिमी भाग भी कुछ समय के लिये मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत रहा था। चीन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक एशियन देश मंगोल साम्राज्य के अधीन थे। आधुनिक समय में एशिया के बहुसंख्यक देश यूरोप और अमेरिका के साम्राज्यवाद के समान रूप से शिकार हुए। विज्ञान के क्षेत्र में यूरोप के लोगों ने जो एशिया की अपेक्षा पहले उन्नति की, उसके कारण विविध यूरोपियन देश एशिया के बड़े भाग को अपनी अधीनता व प्रभाव में ला सकने में समर्थ हुए। बीसवीं सदी में एशिया में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां प्रबल होनी शुरू हुईं, और पिछले तीस सालों में प्रायः सभी एशियन देश यूरोप व अमेरिका के साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने में समर्थ हो गये। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि एशिया के इतिहास को समग्र रूप से एक साथ लिख सकने के लिये पर्याप्त कारण विद्यमान हैं। विशेषतया, एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए ऐतिहासिक को जिन घटनाओं तथा प्रवृत्तियों को निरूपित करना है, वे प्रायः सभी एशियन देशों के लिये एक समान हैं। एशिया अठारहवीं सदी में यूरोपियन लोगों के चंगुल में फँसना शुरू हुआ। उन्नीसवीं सदी तक प्रायः सभी एशियन देश श्वेतांग साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, उन्नीसवीं सदी के अंतिम भाग में सर्वत्र जागृति प्रारम्भ हुई, और बीसवीं सदी के मध्य तक प्रायः सम्पूर्ण एशिया राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने में समर्थ हो गया। इस इतिहास में हमें एशिया के इसी इतिवृत्त को संक्षेप के साथ उपस्थित करना है।

एशिया के विविध विभाग—भौगोलिक दृष्टि से एशिया को छः भागों में विभक्त किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन छः विभागों का उपयोग है। ये विभाग निम्नलिखित हैं :—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४२.३
२२:१९

(१) पूर्वी एशिया—इसमें चीन, कोरिया, जापान और प्रशान्त महासागर के तटवर्ती विविध द्वीप अन्तर्गत हैं।

(२) दक्षिणी-पूर्वी एशिया—बरमा, विएतनाम, कम्बोडिया, लाओस, सियाम, मलायीसिया, इन्डोनीसिया, फिलिप्पीन द्वीप-समूह और प्रशान्त महासागर में स्थित हज़ारों छोटे-बड़े द्वीप इसके अन्तर्गत हैं।

(३) उत्तरी एशिया—एशिया के जो उत्तरी प्रदेश इस समय समाजवादी सोवियत रूसी संघ के अन्तर्गत है, उन्हें उत्तरी एशिया कह सकते हैं।

(४) एशिया का विशाल पठार या उर्व्व एशिया—इसमें तिब्बत, सिंगकियांग और बाह्य मंगोलिया अन्तर्गत हैं। यह प्रदेश न केवल पर्वत-प्रधान है, पर इसके मैदान भी समुद्रतट से बहुत ऊंचाई पर होने के कारण एक पठार के रूप में हैं। राजनीतिक दृष्टि से सिंगकियांग और तिब्बत वर्तमान समय में चीन के अधीन हैं और बाह्य मंगोलिया एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति रखता है।

(५) भारत खण्ड—भारत, पाकिस्तान, बंगला देश, नेपाल, लंका और अफगानिस्तान इसके अन्तर्गत हैं। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से इस समय ये राज्य एक दूसरे से पृथक् हैं, पर भौगोलिक व ऐतिहासिक दृष्टि से इनकी एकता में कोई सन्देह नहीं हो सकता।

९३८६९
पुस्तकालय

(६) दक्षिण-पश्चिमी एशिया—तुर्की, विविध अरब राज्य और ईरान इसके अन्तर्गत हैं। ये मुस्लिम सभ्यता के केन्द्र हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए हम इन्हीं विभागों का उपयोग करेंगे।

(३) एशिया के आधुनिक इतिहास का विषय-विभाग

एशिया अत्यन्त विशाल महाद्वीप है। यह सम्भव नहीं है, कि सम्पूर्ण एशिया के इतिहास को एक देश के इतिहास के रूप में लिखा जा सके। एशिया के आधुनिक इतिहास की जिन बातों पर हमें विशेष रूप से प्रकाश डालना है, वे निम्नलिखित हैं :—(१) एशिया के विविध देश किस प्रकार पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के शिकार हुए। (२) साम्राज्यवाद के शिकार होने के समय इन देशों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक दशा किस प्रकार की थी। इन देशों में वे कौन-सी निर्बलताएं थीं, जिनके कारण ये इतनी सुगमता से साम्राज्यवाद के शिकार हो गये। (३) इन देशों में किस प्रकार राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई, और ये किस प्रकार उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए। (४) किस प्रकार इन देशों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से छुटकारा पाकर स्वतन्त्रता प्राप्त की, और अब इन देशों की क्या दशा है।

इन बातों पर विचार करने के लिये हम एशिया के आधुनिक इतिहास का विषय-विभाग इस प्रकार कर सकते हैं :—

(१) चीन, कोरिया और जापान—इन्हीं को पूर्वी एशिया तथा 'सूदूर पूर्व' (फार ईस्ट) कहा जाता है। उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में पाश्चात्य देशों ने इनमें अपने प्रभुत्त्व की स्थापना शुरू की थी। जापान शीघ्र ही विदेशी प्रभाव से मुक्त होकर उन्नति के मार्ग पर आरूढ़ हुआ, और पाश्चात्य देशों के समान स्वयं भी साम्राज्यवाद के प्रसार के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्पर हो गया। जापान के साम्राज्यवाद के क्षेत्र प्रधानतया चीन और कोरिया थे, अतः इन तीनों देशों का इतिहास एक दूसरे से सम्बद्ध है। इनके इतिहास को इस ग्रन्थ में हमने एक ही साथ लिखा है। तिब्बत और सिंगकियांग के प्रदेश चीनी गणराज्य के अन्तर्गत हैं, और ऐतिहासिक दृष्टि से इनका चीन के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अतः इनका इतिहास भी चीन और जापान के साथ लिखना ही उचित और क्रियात्मक है। राजनीतिक दृष्टि से मंगोलिया दो भागों में विभक्त है, बाह्य मंगोलिया और आभ्यन्तर मंगोलिया। इस समय बाह्य मंगोलिया में स्वतन्त्र सोवियत रिपब्लिक विद्यमान है, और आभ्यन्तर मंगोलिया चीन का एक भाग है। अतः आभ्यन्तर मंगोलिया का इतिहास चीन और जापान के साथ लिखना उचित है और बाह्य मंगोलिया के इतिहास की कुछ घटनाएं जहाँ चीन के साथ जाएंगी, वहां उसका मुख्य इतिहास रूस के साथ दिया जायगा।

(२) **उत्तरी और मध्य एशिया**—चीन के उत्तर में एशिया का जो विशाल प्रदेश है, वह इस समय रूसी समाजवादी सोवियत संघ के अन्तर्गत है। एशिया के इस सुविस्तृत क्षेत्र में रूस के प्रभुत्व का किस प्रकार विकास हुआ और फिर किस प्रकार वहां समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई, इसका वृत्तान्त पृथक् रूप से ही दिया जाना चाहिये। बाह्य मंगोलिया और मध्य एशिया में भी इस समय सोवियत रिपब्लिकें स्थापित हैं। पहले ये प्रदेश रूस के साम्राज्यवाद के शिकार हुए और जब रूस में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो गई, तो इन प्रदेशों में भी अनेक समाजवादी सोवियत रिपब्लिकों का निर्माण किया गया। मध्य एशिया की विविध सोवियत रिपब्लिकें रूसी समाजवादी सोवियत संघ के अन्तर्गत हैं, और बाह्य मंगोलिया अब एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्य है।

ऊर्ध्व एशिया के तिब्बत और सिंगकियांग प्रदेश इस समय चीन के अन्तर्गत हैं। उनके इतिहास का उल्लेख पूर्वी एशिया के अन्य देशों के साथ ही किया जाना उचित है।

(३) **दक्षिण-पूर्वी एशिया**—इस क्षेत्र में जो अनेक देश और द्वीप सम्मिलित हैं, वे उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व में आये। ब्रिटिश, पोर्तुगीज, डच, फ्रेंच और अमेरिकन लोग इनमें अपना आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुए। इनका इतिहास हम पृथक् रूप से लिखेंगे।

(४) **दक्षिण-पश्चिमी एशिया**—इसमें तुर्की, विविध अरब राज्य और ईरान सम्मिलित हैं। ये सब मुसलिम राज्य हैं, और इनका इतिहास प्रायः अन्य एशियन देशों से पृथक् रहा है। अरब के विविध राज्य पहले तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत थे। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब ये तुर्की की अधीनता से मुक्त हुए, तो यूरोपियन देशों के प्रभाव व प्रभुत्व में आ गये। बाद में उन्होंने पाश्चात्य प्रभाव से स्वतन्त्रता प्राप्त की। ईरान ब्रिटिश और रूसी साम्राज्यवाद का शिकार हुआ, और अब तक भी वह इन देशों के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सका है। भौगोलिक दृष्टि से ईजिप्त अफ्रीका में है, पर वहां के निवासी अरब हैं, और उसे भी एक अरब राज्य ही समझना चाहिए। इसीलिये इस ग्रन्थ में पश्चिमी एशिया का इतिहास लिखते हुए ईजिप्त तथा उसके समीपवर्ती अन्य अफ्रीकन राज्यों पर भी प्रकाश डाला गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से अफगानिस्तान का सम्बन्ध भारत से अधिक रहा है। पर क्योंकि इस ग्रन्थ में हम भारत का इतिहास विशद रूप से नहीं लिखेंगे, अतः अफगानिस्तान की ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख दक्षिण-पश्चिमी एशिया के अन्य मुसलिम देशों के साथ करना ही क्रियात्मक होगा।

(५) **भारत खण्ड**—एशिया के आधुनिक इतिहास में भारत का बहुत अधिक महत्त्व है। पर क्योंकि इस ग्रन्थ के पाठक भारत के इतिहास से भली-भांति परिचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होंगे, अतः हमारे लिए यह उचित नहीं है, कि उस पर हम संक्षेप के साथ भी प्रकाश डालें। यदि एशिया का आधुनिक इतिहास भारतीयों के अतिरिक्त अन्य देशों के पाठकों के लिये लिखा जायगा, तो उसमें भारत के इतिहास को चीन और जापान के वृत्तान्त के समान ही प्रमुख स्थान दिया जायगा। पर इस ग्रन्थ में हम भारत के इतिहास की केवल उन घटनाओं का ही उल्लेख करेंगे, जो अन्य एशियन देशों के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखती हैं।

भारत खण्ड में नेपाल और लंका (सीलोन) के राज्य भी सम्मिलित हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से ये देश भारत के बहुत समीप हैं। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय तक लंका ब्रिटेन के अधीन था, और नेपाल पर ब्रिटिश प्रभाव की सत्ता थी। इस समय ये दोनों राज्य पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, और एशिया तथा विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इनका महत्त्व निरन्तर बढ़ रहा है। अतः भारत खण्ड में इनके इतिहास पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना बहुत उपयोगी होगा। पाकिस्तान और बंगला देश इस समय पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य हैं। पर १९४७ तक ये भारत के ही अंग थे। अतः इन दोनों का कोई पृथक् इतिहास नहीं है। पर पाकिस्तान ने पिछले कतिपय वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक ऐसी नीति का अनुसरण प्रारम्भ किया है, जिस पर पृथक् रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है। इसी प्रकार १९७१ में पाकिस्तान से पृथक् होकर बंगला-देश ने भी स्वतन्त्र रूप से अपना विकास प्रारम्भ किया है। अतः भारत के इतिहास का विवरण न देते हुए भी इस ग्रन्थ में हम नेपाल, लंका, पाकिस्तान और बंगला देश की आधुनिक प्रगति के सम्बन्ध में संक्षिप्त रूप से विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए इस ग्रन्थ में हम इसी विषय-विभाग का उपयोग करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरा अध्याय

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में चीन की दशा

(१) चीन का प्राचीन इतिहास

एशिया के आधुनिक इतिहास को भलीभांति समझने के लिए यह आवश्यक है, कि हम उसके प्राचीन और मध्यकालीन इतिहास का भी अत्यन्त संक्षेप के साथ उल्लेख करें। पर विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से यह अधिक उपयोगी होगा, कि हम इस प्रकरण में पहले केवल पूर्वी एशिया और विशेषतया चीन के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश डालें। अन्य एशियन देशों के प्राचीन इतिहास का निदर्शन तभी अधिक उपयुक्त होगा, जब हम इन देशों के आधुनिक इतिहास को प्रारम्भ करेंगे।

प्राचीन चीन—उत्तरी चीन में अनेक स्थानों पर पुरातन प्रस्तर युग के अवशेष मिले हैं। इससे सूचित होता है, कि अत्यन्त प्राचीन काल में भी इस देश में मनुष्य जाति का निवास था, और चीन के ये प्राचीनतम निवासी सभ्यता के मार्ग पर अग्रसर होना शुरू कर चुके थे। चीन में कई स्थानों पर मध्य व नूतन प्रस्तर युगों के भी अवशेष मिले हैं। ये लोग पत्थर के बने हुए सुन्दर उपकरणों का प्रयोग करते थे, बरतन बनाते थे, और खेती द्वारा अनाज उत्पन्न करना भी प्रारम्भ कर चुके थे।

पर चीन की सबसे प्राचीन उन्नत सभ्यता का विकास ह्वांगहो और यांगत्से-कियांग नदियों की घाटी में हुआ। ये दोनों नदियां तिब्बत की उत्तरी पर्वतमाला से निकलती हैं, और हजारों मील की यात्रा कर प्रशान्त महासागर में मिल जाती हैं। इन नदियों के तटवर्ती प्रदेश बहुत उपजाऊ हैं। बहुत प्राचीन काल में मनुष्यों ने इनमें बस कर खेती और पशुपालन करके अपना निर्वाह प्रारम्भ किया था। धीरे-धीरे उनकी बहुत-सी बस्तियां इस प्रदेश में बस गई। शुरू में ये बस्तियां नगर-राज्यों के रूप में थीं। प्रत्येक बस्ती एक स्वतन्त्र और पृथक् राज्य (नगर-राज्य) थी, और अपना शासन स्वयं करती थी।

प्रतापी सम्राटों का उदय—इन बस्तियों के पड़ौस में बहुत-सी ऐसी जातियों का निवास था, जो अभी पशुपालक दशा में थीं। समय-समय पर वे इन सभ्य बस्तियों पर हमले करती रहती थीं। उनसे अपनी रक्षा करने के लिए प्राचीन चीन के नगर-राज्यों में अनेक ऐसे वीर व्यक्ति उत्पन्न हुए, जिन्होंने बाकायदा सेनाओं का संगठन कर आक्रान्ताओं का मुकाबिला किया। उनकी सुसंगठित सेनाओं के कारण पशुपालक जातियों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे चीन के नगर-राज्यों पर हमले कर सकें। पर जिन वीर पुरुषों ने विदेशियों के आक्रमणों से अपने देश की रक्षा की थी, शीघ्र ही उन्होंने अपने-अपने राज्यों में भी अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू कर दिया। अपनी सेनाओं के बल पर उन्होंने विविध नगर-राज्यों के शासन को अपने हाथों में ले लिया, और वहां वे स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लगे। चीन के इन प्राचीन राजाओं की संख्या सैंकड़ों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में थी। बाद में ये राजा अपनी शक्ति का विस्तार करने में प्रवृत्त हुए, और धीरे-धीरे कुछ प्रतापी राजाओं ने पड़ौस के अन्य राज्यों को जीतकर अपने विस्तृत साम्राज्य स्थापित किये। इस प्रकार स्वतन्त्र राजाओं की संख्या निरन्तर कम होने लगी, और कुछ समय बाद ऐसे शक्तिशाली सम्राटों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने ह्वांगहो और यांग-त्से-कियांग नदियों के क्षेत्र के सब राजाओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार के पहले चीनी चक्रवर्ती सम्राट् शांग वंश के थे। इस वंश ने १६५० ई०पू० से ११२५ ई०पू० तक शासन किया। शांग वंश के बाद चाऊ वंश का शासन ११२५ ई०पू० से २२१ ई०पू० तक रहा। पर इन दोनों राजवंशों के शासन-काल में अन्य राजाओं का अन्त नहीं हो गया था, सम्राट् की अधीनता में सामन्तों के रूप से उनकी सत्ता कायम रही थी। ये सामन्त राजा सम्राट् की निर्बलता से लाभ उठाकर विद्रोह कर देने और स्वतन्त्र रूप से शासन करने के लिये सदा तत्पर रहते थे। यही कारण है, कि इस काल में चीन में शान्ति और व्यवस्था का प्रायः अभाव रहा। चौथी सदी ई० पू० तक यह दशा आ गई थी, कि चीन के विविध राजा किसी शक्तिशाली केन्द्रीय सम्राट् के अभाव में फिर से स्वतन्त्र रूप से शासन करने लग गये थे, और परस्पर युद्धों में भी व्यापृत रहने लगे थे।

सम्राट् चिन शिह-ती—इस दशा में तीसरी सदी ई० पू० में चीन में एक शक्तिशाली सम्राट् का उदय हुआ, जिनका नाम चिन शिह-ती था। इसने चीन के विविध राजाओं और सामन्तों को जीत कर अपने अधीन किया, और देश में एक व्यवस्थित शासन की स्थापना की। इस समय चीन पर हूण लोगों के आक्रमण बड़ी तीव्रता के साथ हो रहे थे। हूण लोग असभ्य और जंगली थे। वे चीन के उत्तरी प्रदेशों में निवास करते थे। उनका मुकाबिला करने के लिए सम्राट् चिन शिह-ती ने तीन लाख सैनिकों की एक शक्तिशाली सेना का संगठन किया। इस सेना के सम्मुख हूण लोग नहीं टिक सके, और उनके हमले बन्द हो गये। भविष्य में हूण लोग फिर आक्रमण न करें, इसके लिए सम्राट् चिन शिह-ती ने एक विशाल दीवार का निर्माण प्रारम्भ किया, जो लम्बाई में १८०० मील है। इस दीवार के बन जाने से असभ्य व जंगली हूण जातियों से चीन की रक्षा कर सकना सुगम हो गया। इसके कारण चीन एक विशाल दुर्ग के रूप में परिवर्तित हो गया, जिसमें स्थान-स्थान पर सेनाएं रखकर बाहरी आक्रमणों के भय को बहुत कुछ दूर किया जा सकता था। १८०० मील लम्बी दीवार को बनवा सकना सुगम बात नहीं थी। सम्राट् चिन शिह-ती और उसके उत्तराधिकारियों का शासन कितना समृद्ध व उन्नत था, चीन की विशाल दीवार इसका प्रमाण है।

हूणों के आक्रमणों में निश्चिन्त होकर चीनी लोगों ने मंचूरिया, मंगोलिया, तुर्किस्तान और तिब्बत में अपने साम्राज्य का विस्तार किया। चिन शिह-ती के समय में चीन की जो उन्नति शुरू हुई थी, वह उसके बाद भी जारी रही। तिब्बत से लगा कर मंचूरिया तक एकच्छत्र साम्राज्य स्थापित हो जाने से चीन की शक्ति व समृद्धि बहुत बढ़ गई। वह संसार के प्रमुख राज्यों में गिना जाने लगा।

प्राचीन धर्म—चीन के लोग प्राचीन समय में विविध देवी-देवताओं की पूजा करते थे। प्रत्येक बस्ती के अपने-अपने पृथक् देवता थे। कुछ देवता ऐसे भी थे, जिन्हें चीन के सब निवासी मानते थे। इनको सन्तुष्ट रखने के लिये वे विविध प्रकार के विधि-विधानों और पूजा-पाठ का अनुष्ठान करते थे। राजा जहां अपने राज्य का शासक होता था, वहां साथ ही उसे वहां के देवताओं का प्रधान पुजारी व धर्माचार्य भी माना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता था। इसी कारण जनता उसे देवतुल्य समझती थी। इस दृष्टि से संसार की प्रायः सभी प्राचीन सभ्यताओं में समता है।

पर छठी सदी ईस्वी पूर्व में चीन में एक विचारक का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम कन्फ्यूसियस (५५१ - ४७९ ई० पू०) था। वह लू नामक एक छोटे-से राज्य (वर्तमान शांतुंग प्रान्त में) का निवासी था। उसने धर्म के सम्बन्ध में एक नई कल्पना अपने देशवासियों के सम्मुख पेश की। वह कहता था, कि विविध देवी-देवताओं की पूजा की अपेक्षा सदाचारमय और पवित्र जीवन मनुष्य के लिए अधिक हितकारी है। मनुष्य का यह ध्येय होना चाहिये, कि वह अपने जीवन को पवित्र व परोपकारी बनाए। संसार में हमें सब ओर कष्ट नजर आता है। इस कष्ट को दूर करने का उपाय यही है, कि संसार के सब मनुष्य एक दूसरे की सहायता करें। मनुष्य केवल अपने लिए ही न जिए, अपितु सबकी सुख-समृद्धि में ही अपना हित समझे। यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि मनुष्य का जीवन पवित्र और मर्यादित हो। मानव-समाज के कष्टों का तभी अन्त हो सकता है, जबकि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन को ऊंचा उठाने का प्रयत्न करे। अपने विचारों के प्रचार के लिये कन्फ्यूसियस ने एक नए सम्प्रदाय की स्थापना की, और गुरु-शिष्य परम्परा द्वारा उसके विचार धीरे-धीरे सारे उत्तरी चीन में फैल गए। लगभग इसी समय में भारत में महात्मा बुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। उन्होंने भी इसी प्रकार के विचार अपने देशवासियों के सम्मुख रखे थे। इसमें सन्देह नहीं, कि कन्फ्यूसियस और महात्मा बुद्ध जैसे महापुरुषों द्वारा संसार में एक नए प्रकार के धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जो विधि-विधानों और अनुष्ठानों से पूर्ण पुराने धर्मों से बहुत भिन्न था।

इसी समय के लगभग चीन में एक अन्य विचारक उत्पन्न हुआ, जिसका नाम लाओ-त्से था। वह कहता था, कि मनुष्य को भोग-विलास के जीवन से बचकर पवित्र और सादा जीवन बिताना चाहिए। कन्फ्यूसियस जीवन के नियन्त्रण, संयम और विनय पर बहुत जोर देता था। लाओ-त्से की शिक्षाओं का सार यह था, कि मनुष्य त्याग की ओर जाए और तपस्या का जीवन बिताए। उसकी शिक्षाओं का भी बहुत प्रचार हुआ। चीन के जो लोग अब बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, वे इन दो पुराने आचार्यों को भी बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं, और इनके विचारों का उन पर बहुत प्रभाव है।

सभ्यता चीन के प्राचीन निवासियों ने सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति की थी। बहुत पुराने समय में ही उन्होंने लिखने का आविष्कार कर लिया था। ईजिप्त के समान उनकी लिपि भी एक प्रकार की चित्रलिपि थी। कला में भी वे बड़े प्रवीण थे। मिट्टी के चमकीले बरतन बनाने में वे अत्यन्त कुशल थे। रेशम के कीड़ों को पाल कर उनसे रेशम तैयार करना और फिर उसके सुन्दर वस्त्र बनाना उनका प्रमुख व्यवसाय था। आजकल भी चीन का रेशम संसार भर में प्रसिद्ध है। बहुत पुराने समय में भी चीन का रेशम दूर-दूर तक विदेशों में बिकने के लिए जाता था।

खेती के लिए प्राचीन चीनी लोगों ने बहुत-सी नहरों का निर्माण किया था। ह्वांगहो और यांग-त्से-कियांग नदियों से अनेक छोटी-छोटी नहरें निकाल कर उन लोगों ने अपने खेतों की सिंचाई करने का उत्तम प्रबन्ध किया हुआ था। यही कारण है, कि प्राचीन चीन में भोजन की प्रचुरता रहती थी, और उसकी सुख-समृद्धि से आकृष्ट होकर विविध जंगली और पशुपालक जातियां उस पर हमले करती रहती थीं।

चिन वंश—सम्राट् चिन शिह-ती चिन वंश का था। इसी वंश के कारण देश का नाम चीन पड़ा। सम्राट् चिन शिह-ती ने जहां एक ओर हूणों से अपने देश की रक्षा करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये १८०० मील लम्बी विशाल दीवार का निर्माण शुरू किया, वहां साथ ही उसने यह भी अनुभव किया कि साम्राज्य की एकता के लिये ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे चीन के विविध राज्य अपनी पृथक् सत्ता को एकदम भूल जाएं। उसने सोचा, इसका सर्वोत्तम उपाय यह है, कि चीन के विविध सामन्त राजाओं को अपने पूर्व-पुरुषों के गौरवमय इतिहास और वीर कृत्यों का स्मरण ही न रहे। साथ ही, लोगों को यह भी भूल जाए, कि ये विविध राज्य पहले कभी स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थे, और उनमें अपनी पृथक् सत्ता की अनुभूति ही न रहे। इस उद्देश्य से चिन शिह-ती ने यह आज्ञा प्रचारित की कि पुराने समय की पुस्तकों को अग्नि के अर्पण कर दिया जाए, केवल चिकित्सा-शास्त्र और विज्ञान की पुस्तकों को ही रखा जाए। सम्राट् चिन शिह-ती तीसरी सदी ई०पूर्व में हुआ था। भारत में इसी समय के लगभग सम्राट् अशोक का शासन था। चीन और भारत के इन सम्राटों की नीति में कितना अन्तर था।

हान वंश—२०६ ई० पू० में चिन शिह-ती की मृत्यु हुई। उसके बाद विशाल चीनी साम्राज्य की राजगद्दी के लिये झगड़े शुरू हो गए। इस स्थिति से लाभ उठा कर हान वंश के एक साहसी व्यक्ति ने चिन वंश का अन्त कर एक नए वंश का प्रारम्भ किया। हान वंश २०६ ई० पू० से शुरू होकर २२० ई०प० तक कायम रहा। चिन शिह-ती के प्रयत्न से चीन में जो राजनीतिक एकता कायम हुई थी, हान सम्राटों के शासन में वह स्थिर रही। इस वंश का सबसे प्रसिद्ध सम्राट् वू-ती था। उसके समय में चीनी साम्राज्य अपने विस्तार की चरम सीमा तक पहुंच गया। पूर्व में प्रशान्त महासागर से लेकर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक उसका एकच्छत्र शासन था। मध्य एशिया की सब जातियां उसकी अधीनता स्वीकार करती थीं। हान वंश के इस चीनी साम्राज्य का विस्तार सिकन्दर के मैसीडोनियन साम्राज्य और ट्राजन के रोमन साम्राज्य की अपेक्षा बहुत अधिक था।

हान वंश के शासन काल में बौद्ध धर्म का चीन में प्रवेश हुआ। अशोक के समय में बौद्ध भिक्षुओं ने अपने धर्म का प्रचार करने के लिये विदेशों में जाना प्रारम्भ किया था। धीरे-धीरे सम्पूर्ण चीन बौद्ध धर्म का अनुयायी हो गया। बौद्ध भिक्षु केवल चीन में ही भगवान् बुद्ध के संदेश को पहुंचा कर संतुष्ट नहीं हो गये, वे और आगे बढ़े और कोरिया तथा जापान में भी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। बौद्ध धर्म के प्रचार के कारण चीन और भारत का सम्बन्ध बहुत बढ़ गया। भारत से बहुत-से व्यापारी समुद्र के मार्ग से व्यापार के लिये चीन जाने लगे। चीन का व्यापारिक सम्बन्ध रोम के साथ भी स्थापित हुआ। पहली सदी ई० पू० में रोम का साम्राज्य पूर्व में कैस्पियन सागर और टिग्रिस नदी तक विस्तृत हो गया था। उधर चीनी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर को छूती थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि इन दोनों साम्राज्यों में परस्पर व्यापार की उन्नति हो।

हान वंश के शासन काल में ही चीन में छापेखाने का आविष्कार हुआ। लकड़ी के ब्लाक बनाकर चीनी लोग उन्हें छापने के लिये प्रयुक्त करने लगे। इस समय तक पश्चिमी संसार में कहीं भी छापेखाने का प्रयोग शुरू नहीं हुआ था। वहाँ के सिकन्दरिया आदि के विविध पुस्तकालयों में अभी पुस्तकों की नकल करने का ही रिवाज था। हान वंश के शासन में ही चीन में उस परीक्षा-पद्धति का सूत्रपात हुआ, जो वहां दो हजार वर्ष तक कायम रही। इस समय अन्य देशों में राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिये किसी परीक्षा की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। राजकुल तथा उच्च कुलों के अमीर-उमराओं को ही विविध पदों पर नियत कर दिया जाता था। किस पद पर कौन व्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियत किया जाय, यह बात राजा की इच्छा व कृपा पर निर्भर थी। पर हान सम्राटों ने चीन में विविध राजकीय पदों पर नियुक्ति के लिये परीक्षा-पद्धति को शुरू किया। जो व्यक्ति चीन के पुरातन ग्रन्थों और विद्याओं में निष्णात हों, और राज्य द्वारा संचालित परीक्षाओं में उतीर्ण हो जाएं, वे ही विभिन्न राजकीय पदों पर नियत किये जाते थे। जन्म, कुल आदि का कोई भेद इसमें नहीं किया जाता था।

तीन राज्य—हानवंश के शक्तिशाली राजाओं का वैभवपूर्ण व विशाल साम्राज्य तीसरी सदी ई० प० में समाप्त हो गया। अनेक सदियों के सुदृढ़ शासन से भी चीन में भलीभाँति एकता उत्पन्न नहीं हुई थी। परिणाम यह हुआ, कि २२० ई० प० के लगभग चीन तीन भागों में विभक्त हो गया। यह दशा सातवीं सदी के शुरू तक रही। इस बीच में भारत के बौद्ध भिक्षु बड़ी संख्या में चीन गए, और वहां उन्होंने न केवल अपने धर्म का, अपितु अपने ज्ञान, विज्ञान और कला का भी प्रसार किया। चीन के लोग इस समय भारत को अपनी धर्मभूमि समझते थे। इसी कारण बहुत-से चीनी यात्री इस समय भारत आये, और उन्होंने यहाँ आकर विविध विद्यापीठों में धर्म और दर्शन का अध्ययन किया। इन यात्रियों में फाइयान और ह्यू एन्त्साँग सबसे प्रसिद्ध हैं।

ताँग वंश—६१८ ई० में चीन में तांग वंश का शासन शुरू हुआ। इस वंश का पहला राजा काओ त्सु था। वह बड़ा वीर महत्वाकांक्षी था। उसने सम्पूर्ण चीन को जीतकर फिर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। अनाम और कम्बोडिया के राज्य भी उसने विजय कर लिये। उसके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर तक विस्तृत थी। तांग वंश का शासन ९०७ ई० प० तक कायम रहा। तांग सम्राटों के शासन काल में चीन ने बहुत उन्नति की थी। ये सम्राट् बड़े उदार और वैभवपूर्ण थे। उन्होंने विदेशी व्यापार को उन्नत करने के लिए अनेक यत्न किये। वे विदेशियों का आदर करते थे, और उनसे नई-नई बातें सीखने के लिये सदा उत्सुक रहते थे। यही कारण था, कि ईसाई और मुस्लिम धर्मों के प्रचारक भी बड़ी संख्या में इस समय चीन गये। चीन के लोग इन धर्म प्रचारकों का आदर करते थे। रोमन सम्राटों के समान तांग वंशी सम्राट् धर्म के मामले में संकीर्णहृदय व असहिष्णु नहीं थे।

सुंग वंश—तांग वंश के बाद दसवीं सदी में सुंग वंश ने चीन में शासन किया। इस काल में भी चीन राजनीतिक दृष्टि से एक रहा। सुंग वंश के सम्राट् राजनीति में बहुत कुशल थे। जनता के हित और कल्याण के लिए उन्होंने अनेक नये कानून बनाये। सातवीं, आठवीं, नवीं और दसवीं सदियों में भारत राजनीतिक दृष्टि से अनेक राज्यों में विभक्त था। इन राज्यों के आपसी युद्धों के कारण देश में व्यवस्था और शान्ति का अभाव था। यही दशा यूरोप में भी थी। रोमन साम्राज्य इस समय खण्ड-खण्ड हो चुका था। पश्चिमी एशिया में कुछ समय के लिए अरबों ने एक व्यवस्थित साम्राज्य कायम किया था, पर वह भी देर तक स्थिर नहीं रह सका था। संसार के अन्य देशों के मुकाबिले में इन सदियों में चीन का साम्राज्य बहुत व्यवस्थित और शान्तिमय था। यही कारण है, कि इस युग में चीन संसार का शिरोमणि था। छापेखाने के विकास के साथ-साथ चीनी लोगों ने ही पहले-पहल बारूद और बन्दूक का आविष्कार किया। इसमें सन्देह नहीं कि इस समय चीन संसार में सबसे अधिक उन्नत देश था।

ह्रास का काल—पर सुंग वंश का शासन देर तक स्थिर नहीं रहा। बारहवीं सदी के शुरू में चीन में फिर अनेक राज्य स्थापित हो गये। इनमें तीन प्रमुख ये थे—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) उत्तर में किन राज्य, (२) दक्षिण में सुंग राज्य, और (३) उत्तर पश्चिम में हि सया राज्य।

इस प्रकार जब चीन में कोई एक शक्तिशाली साम्राज्य नहीं रह गया था, चीन के उत्तरी प्रदेशों में एक नई शक्ति का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसने कुछ ही समय में न केवल सम्पूर्ण चीन को, अपितु पश्चिमी एशिया और पूर्वी यूरोप को भी विजय कर लिया, और एक अत्यन्त विशाल साम्राज्य की स्थापना की। यह शक्ति मंगोल लोगों की थी, और इनका प्रधान नेता चंगेज खां था।

मंगोल जाति—बारहवीं सदी में चीन के उत्तरी प्रदेशों में एक पशुपालक जाति का निवास था, जिसे मंगोल कहते थे। शिकार और पशु पालन इसके मुख्य व्यवसाय थे। मंगोल लोग प्रधानतया घोड़ों को पालते थे, और डेरों में निवास करते थे। उनकी कोई स्थायी बस्तियां व नगरियां नहीं होती थीं। बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में इस जाति में एक ऐसे वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने इसे एक प्रबल राजनीतिक शक्ति बना दिया। इस नेता का नाम चंगेज खां था। उस समय मंगोल लोग देवी-देवताओं की पूजा करते थे, और उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए विविध विधिविधानों का अनुष्ठान किया करते थे। चंगेज खां के नाम से यह भ्रम नहीं होना चाहिए, कि वह मुसलमान था। मंगोल लोगों के सरदारों की उपाधि खां या खान होती थी।

चंगेज खां का साम्राज्य—उन दिनों उत्तरी चीन में 'किन' वंश के चीनी सम्राटों का शासन था। मंगोलों ने किन साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। फिर उन्होंने किन साम्राज्य पर भी हमला किया। किन सम्राट् परास्त हो गया, और उसकी राजधानी पेकिंग मंगोलों के हाथों में आ गई। पेकिंग की यह विजय १२१४ ई० में की गई थी। उत्तरी चीन के पश्चिम में उस समय तुर्क जाति का एक शक्तिशाली साम्राज्य विद्यमान था, जिसकी राजधानी खीवा थी। यह तुर्क राज्य बहुत प्रबल था। धीरे-धीरे उसके सम्राटों ने फ़ड़ोस के अन्य राज्यों को जीतकर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया था। युफ्रेटस और ट्रिग्रिस नदियों से शुरू कर पूर्व में तिब्बत की सीमा तक खीवा का तुर्क साम्राज्य विस्तृत था। चंगेज खां की सेनाओं ने इस तुर्क साम्राज्य पर हमला किया। मंगोल सेना के सम्मुख तुर्क लोग नहीं टिक सके। खीवा का सम्पूर्ण साम्राज्य चंगेज खां के हाथ में आ गया।

पर चंगेज खाँ की साम्राज्य की भूख खीवा के तुर्कों का विनाश करके ही शान्त नहीं हो गई। वह पश्चिम और उत्तर में निरन्तर आगे बढ़ता गया। कैस्पियन सागर के उत्तर में रूस पर उसने पमला किया। रूसी लोग उसका मुकाबिला नहीं कर सके। काला सागर (ब्लैक सी) के उत्तर में कीफ नामक स्थान पर रूसी सेना मंगोलों द्वारा बुरी तरह परास्त हुई। रूस का राजा मंगोलों के हाथ कैद हो गया। इसी समय एक अन्य मँगोल सेना ने भारत पर आक्रमण किया। उत्तरी भारत में इस समय अफगान सुलतानों का शासन था। तुर्क विजेता महमूद गजनवी ने भारत पर आक्रमण कर और कन्नौज आदि के अनेक शक्तिशाली राजाओं को परास्त कर इस देश में भी तुर्क शासन स्थापित कर लिया था। पर तुर्कों का शासन भारत में देर तक कायम नहीं रहा। गजनी के पड़ोस में एक छोटा-सा प्रदेश था, जिसे गोरकहते थे। जब गजनी के तुर्क सुलतानों की शक्ति कमजोर पड़ी, तो गोर स्वतन्त्र हो गया, और उसके अफगान सरदार अलाउद्दीन ने गजनी को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया। अलाउद्दीन के उत्तराधिकारियों ने भारत पर आक्रमण किया, और बारहवीं सदी के अन्त में उत्तरी भारत को अपने अधीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया। चंगेज खां के समय में भारत के उत्तरी प्रदेशों में अफगानों का ही शासन था। मंगोल सेनाओं ने भारत पर हमला किया, और लाहौर तक के प्रदेश को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस समय अफगान सल्तनत का स्वामी अल्तमश (१२११-३६ ई०) था। वह चंगेज खां के सम्मुख असहाय था।

१२२७ में चंगेज खां की मृत्यु हुई। उसका साम्राज्य प्रशान्त महासागर से शुरू होकर काला सागर तक विस्तृत था। सिकन्दर जैसे विजेताओं के साम्राज्य चंगेज खां के साम्राज्य की तुलना में तुच्छ थे। इस विशाल मंगोल साम्राज्य की राजधानी उत्तरी चीन में कराकुरम थी। यह मंगोलों की सबसे बड़ी बस्ती थी। इस प्रदेश को जो अब तक भी मंगोलिया कहते हैं, उसका कारण ये मंगोल लोग ही हैं।

उगदई खां—१२२७ ई० में विशाल मंगोल साम्राज्य का अधिपति उगदई खां बना। वह चंगेज खाँ का लड़का था, और अपने पिता के समान ही वीर तथा साहसी था। उगदई खाँ ने मंगोल सम्राज्य को और अधिक विस्तृत किया। काला सागर से आगे बढ़कर उसके भाई बातू खाँ ने सम्पूर्ण रूस को अपने अधीन किया, और पोलैंड पर आक्रमण कर उस देश को भी जीत लिया। उसके हमलों के कारण सारे यूरोप में खलबली मच गई। उस समय पवित्र रोमन सम्राट् के पद पर फ्रेडरिक द्वितीय विराजमान था। उसने अपनी जर्मन सेनाओं के साथ बातू खाँ का मुकाबिला करने की कोशिश की। पर १२४१ ई० में उत्तर-पूर्वी जर्मनी में जर्मन सेनाएँ मंगोलों द्वारा परास्त कर दी गई। बातू खां शायद यूरोप में और भी आगे बढ़ता, पर इसी समय (१२४२ ई०) में उगदई खां की मृत्यु हो गई। विशाल मंगोल साम्राज्य का स्वामी कौन हो, इस बात को लेकर झगड़े शुरू हो गये और पश्चिमी यूरोप मंगोल लोगों के आक्रमणों से बच गया। उगदई खां के समय में ही एक अन्य मंगोल सेना ने दक्षिणी चीन पर भी हमला किया। इस प्रदेश में उस समय में सुंग वंश का शासन था। सुंग सम्राट् मंगोलों का मुकाबिला नहीं कर सके। धीरे-धीरे उनका राज्य भी मंगोलों के हाथ में आ गया, और सम्पूर्ण चीन मंगोल साम्राज्य में शामिल हो गया।

मंगू खाँ—उगदई खां का उत्तराधिकारी कौन हो, इस बात को लेकर कुछ समय तक झगड़े चलते रहे। अन्त में मंगू खां १२५१ ई० में विशाल मंगोल साम्राज्य का अधिपति बना। उसके समय में मंगोल साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ। चीन पहले ही मंगोलों के अधीन था। अब तिब्बत पर हमला किया गया, और उसे भी जीतकर मंगोल साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। एक अन्य मंगोल सेना ने बगदाद पर आक्रमण किया। वहाँ इस समय अरब खलीफाओं का शासन था। मंगोलों ने बगदाद को जीत लिया। मुस्लिम धर्म और अरब सभ्यता के इस प्रसिद्ध केन्द्र का मंगोलों के हाथों से बुरी तरह विनाश हुआ। बगदाद से आगे बढ़कर मंगू खां ने सीरिया और एशिया माइनर को भी अपने अधीन कर लिया। कान्स्टेन्टिनोपल के पूर्वी रोमन सम्राट् उसके भय से थर-थर कांपने लगे। १२५९ ई० में मंगू खाँ की मृत्यु हुई।

मंगोल साम्राज्य का विभाजन—मंगू खां की मृत्यु के बाद विशाल मंगोल साम्राज्य चार भागों में विभक्त हो गया। (१) **चीन**—इसका शासक कुबले खां था। मंगू खां के समय में वह चीन का शासक नियत हुआ था, और उसने कराकुरम की जगह पेकिंग को अपनी राजधानी बना लिया था। मंगोलिया, चीन, तिब्बत और तुर्किस्तान कुबले खां के अधीन थे। (२) **पर्शिया**—इसका शासक हुलगू खाँ था। अफगानिस्तान, पर्शिया, मैसोपोटामिया और सीरिया के प्रदेश हुलगू खाँ के अधीन थे। एशिया माइनर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के तुर्क सरदार भी हुलगू खां को अपना अधिपति मानते थे। (३) **रूस**—कैस्पियन सागर और काला सागर के उत्तर के रूस और पोलैंड के प्रदेश इस तीसरे मंगोल राज्य के अन्तर्गत थे। इसे 'किपचक' कहा जाता था। (४) **साइबीरिया**—किपचक और चीन के मंगोल राज्यों के बीच में एक अन्य मंगोल राज्य था, जिसे साइबीरिया कहते थे।

शुरू में ये चारों मंगोल राज्य कुबले खां का आधिपत्य स्वीकार करते थे। पर जब १२९४ ई० में उसकी मृत्यु हो गई, तो ये चारों मंगोल राज्य एक दूसरे से पृथक् व स्वतन्त्र हो गये।

चीन में मंगोल शासन—कुबले खां के उत्तराधिकारी चीन में राज्य करते रहे। चीन के इतिहास में कुबले खां से एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जिसे युआन वंश कहते हैं। यह वंश १२५९ से १३६८ तक चीन का शासन करता रहा। युआन वंश के शासन काल में चीन ने अच्छी उन्नति की। कुबले खां के समय में मार्को पोलो नाम के एक यूरोपियन ने चीन की यात्रा की थी। कुछ समय तक वह कुबले खां के दरबार में भी रहा था। मार्को पोलो इटली के वेनिस नगर का निवासी था। उसने कुबले खां के राज-दरबार का वृत्तांत लिखा है, जिससे इस मंगोल सम्राट् के वैभव, शक्ति और विद्या-प्रेम का अच्छा परिचय मिलता है।

मिंग वंश—कुबले खां के वंशज १३६८ ई० तक चीन का शासन करते रहे। एक सदी के काल में मंगोल राजा निर्बल हो गये थे। परिणाम वह हुआ, कि १३६८ ई० में उनके विरुद्ध विद्रोह हो गया, और उनका अन्त होकर मिंग वंश के शासन का प्रारम्भ हुआ। मिंग वंश का शासन १३६८ से १६४४ ई० तक स्थिर रहा।

मञ्चू (चिंग) वंश—१६४४ ई० में मञ्चू वंश के प्रतापी राजाओं ने चीन पर अपना अधिकार कर लिया। मञ्चू लोग उत्तरी चीन के निवासी थे। इनके पूर्वज पहले भी उत्तरी चीन के शासक रहे थे। चंगेज खां ने इन्हीं (किन वंश) को जीतकर अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया था। सतरहवीं सदी में इन मञ्चू लोगों में एक वीर पुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका नाम नुरहचू था। ६०,००० सैनिकों की एक विशाल सेना संगठित कर उसने मिंग साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया, और अनेक युद्धों में मिंग सेनाओं को परास्त किया। नुरहचू का पुत्र व उत्तराधिकारी हांगताईची मिंग वंश के शासन का अन्त कर चीन में अपने आधिपत्य को स्थापित करने में समर्थ हुआ, (१६४४) और इस प्रकार चीन में मञ्चू वंश के शासन का प्रारम्भ हुआ, जो १९१२ ई० तक कायम रहा। १९१२ में जब राज्यक्रान्ति द्वारा चीन में रिपब्लिक की स्थापना हुई, तो वहाँ की राजगद्दी पर मञ्चू वंश के सम्राट् ही विराजमान थे।

(२) मञ्चू साम्राज्य

मञ्चू शासन की स्थापना—१६४४ ई० में चीन में मिंग वंश (१३६८-१६४४) के शासन का अन्त हुआ था। चीन के उत्तरी प्रदेशों में, जिसे आजकल मञ्चूरिया कहते हैं, मञ्चू जाति का निवास था। सतरहवीं सदी के शुरू में मञ्चू लोगों ने अपनी शक्ति को बढ़ाकर विशाल चीनी दीवार के दक्षिण की ओर आक्रमण प्रारम्भ किये, और १६४४ में उन्होंने पेकिंग को विजय कर लिया। चीनी सम्राट् मञ्चू आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने में असमर्थ रहे। अन्तिम मिंग सम्राट् ने पराजय के अपमान को न सह सकने के कारण आत्महत्या द्वारा अपने जीवन का अन्त कर लिया, और चीन में मञ्चू राजवंश का प्रारम्भ हुआ। मञ्चू लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से चीनियों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक भिन्न नहीं थे। वे बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और कन्फ्यूसियस सदृश आचार्यों ने चीन में जिन मर्यादाओं तथा परम्पराओं का प्रारम्भ किया था, उनका भी आदर करते थे। इसीलिये चीनी लोग उन्हें विदेशी नहीं समझते थे, और शीघ्र ही वे चीनी जनसमाज के अंग बन गये थे।

शक्तिशाली मञ्चू सम्राट्—मञ्चू वंश के सम्राटों में काँग-ह्सी और चिएन-लुंग सबसे प्रसिद्ध हैं। कांग-ह्सी का शासनकाल १६६१ से १७२२ तक था। वह फ्रांस के लुई चौदहवें, रूस के पीटर द ग्रेट और भारतवर्ष के औरंगजेब का समकालीन था। वह इन सम्राटों के समान ही महत्त्वाकांक्षी और शक्तिशाली था। विशाल चीनी साम्राज्य पर उसने बड़ी योग्यता और शक्ति के साथ शासन किया। चिएन-लुंग का शासनकाल १७३६ से १७९६ तक था। उसके शासन के समय में मञ्चू साम्राज्य अपनी उन्नति की चरम सीमा को प्राप्त कर गया था। भारत में इस समय मुगल साम्राज्य का पतन प्रारम्भ हो चुका था। न केवल विविध सूबेदार मुगल साम्राज्य की अधीनता से स्वतन्त्र होने शुरू हो गये थे, अपितु इंगलिश और फ्रेंच लोग भी भारत में अपनी शक्ति व आधिपत्य की स्थापना में तत्पर थे। पर इस युग में चीन का विशाल साम्राज्य सर्वथा अक्षुण्ण दशा में था। विदेशी लोगों ने भी वहां अभी अपने प्रभाव का विस्तार शुरू नहीं किया था। चिएन लुंग के बाद मञ्चू सम्राटों की शक्ति क्षीण होने लगी, और साम्राज्य के अनेक सुदूरवर्ती प्रदेश सम्राट् के शासन की उपेक्षा करने लगे। चिएन-लुंग के साम्राज्य में वास्तविक चीन के अतिरिक्त अन्य भी अनेक प्रदेश अन्तर्गत थे। उत्तर में उसकी सीमा आमूर नदी तक विस्तृत थी, सम्पूर्ण मञ्चूरिया उसके अधीन था। सिंगकियांग और तिब्बत उसके आधिपत्य में थे, नेपाल और बरमा उसे बाकायदा कर देते थे, और अनाम, कोरिया, फार्मूसा और प्रशान्त महासागर के तटवर्ती अनेक द्वीप मञ्चू सम्राट् की अधीनता को स्वीकार करते थे। चिएन-लुंग (१७३६-१७९६) के बाद चीनी साम्राज्य में शिथिलता आने लगी और अनेक सुदूरवर्ती प्रदेश व राज्य मञ्चू सम्राटों के शासन की उपेक्षा करने लगे।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में चीनी साम्राज्य—१८४२ के लगभग यूरोपियन लोग चीन में अपनी शक्ति एवं प्रभाव का विस्तार करने के लिये प्रवृत्त हुए। उस समय मञ्चू सम्राटों की अधीनता में निम्नलिखित प्रदेश थे।

(१) वास्तविक चीन—जिसे चीन के लोग मध्यदेश के नाम से कहते थे। इसमें कुल मिलाकर अठारह प्रान्त सम्मिलित थे।

(२) मञ्चूरिया—यह चीन के मध्यदेश के उत्तर में है। यह भी मञ्चू साम्राज्य के अन्तर्गत था।

(३) अधीनस्थ राज्य—तिब्बत, मंगोलिया और सिंगकियांग मञ्चू सम्राटों की अधीनता स्वीकृत करते थे, और पेकिंग की केन्द्रीय सरकार उनके शासन पर नियन्त्रण रखती थी। यद्यपि इन राज्यों की जनता राष्ट्रीयता की दृष्टि से चीनी लोगों से भिन्न थी, पर मञ्चू सम्राटों का यह प्रयत्न था कि इनके शासन पर अधिक से अधिक नियन्त्रण रखें, और इनको पूर्णतया अपनी अधीनता में ले आएं। इन्हें चीनी लोगों के समकक्ष मानने व इन्हें शासन-सम्बन्धी स्वतन्त्रता देने की नीति उन्हें पसन्द नहीं थी।

(४) अन्य राज्य—कोरिया, अनाम और फार्मूसा भी मञ्चू सम्राटों को कर प्रदान करते थे, और उनकी अधीनता स्वीकार करते थे। बरमा पर इस समय अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था, और नेपाल चीन के प्रभाव से मुक्त हो गया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करद राज्यों को न गिनकर मञ्चू साम्राज्य का क्षेत्रफल इस समय (१८४२) ४२,७७,१७० वर्गमील था, और उसकी जनसंख्या ३७ करोड़ के लगभग थी। इस विशाल साम्राज्य के सब निवासी जातीय दृष्टि से एक नहीं थे। पर धर्म, संस्कृति और आचार-विचार की दृष्टि से उनमें एक इस प्रकार की एकता अवश्य विद्यमान थी, जो उन्हें अन्य सब देशों के लोगों से पृथक् करती थी।

(३) चीन के निवासी

चीन के सैंतीस करोड़ के लगभग निवासी अपने कार्य व पेशे की दृष्टि से पाँच भागों में विभक्त थे। ये पांच विभाग पण्डित, कृषक, शिल्पी, व्यापारी और सेवक—इन नामों से प्रकट किये जा सकते हैं।

पण्डित वर्ग—चीन के जनसमाज में पण्डित वर्ग प्रतिष्ठा की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व रखता था। जिस प्रकार भारत में ब्राह्मणों को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता है, वैसे ही चीन में पण्डित वर्ग का स्थान बहुत सम्मानित था। पर चीन का पण्डित वर्ग कोई पृथक् जाति नहीं था, और न ही कोई मनुष्य किसी कुल-विशेष में उत्पन्न होने के कारण ही पण्डित माना जाता था। चीन में पण्डित पद को पाने के लिये विद्या-भ्यास की आवश्यकता होती थी, और इस पद को प्राप्त करने के इच्छुक मनुष्य वर्षों तक कठिन साधना किया करते थे। सात साल की आयु में बालक अपने गांव की पाठशाला में शिक्षा को शुरू करता था। यदि बालक के माता-पिता गरीब हों और बालक होनहार हो, तो ग्राम पंचायत उसकी पढ़ाई के बोझ को अपने ऊपर ले लेती थी। पाठ्य विषयों में प्राचीन ग्रंथों और धर्म-पुस्तकों का प्रमुख स्थान होता था। भारत के पुरातन परिपाटी के पण्डितों के समान चीन के पण्डित भी व्याकरण, कोश और धर्मग्रंथों को शिक्षा में प्रमुख स्थान देते थे। जिलों में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे होते थे, पहले जिला-स्तर पर उनकी परीक्षा ली जाती थी। इस परीक्षा में जो विद्यार्थी सबसे उत्तम स्थान प्राप्त करें, उन्हें प्रदेश की परीक्षा में बिठाया जाता था। प्रदेश की परीक्षा में बैठने वाले विद्यार्थियों की संख्या हजारों में होती थी। इसमें जो विद्यार्थी उत्तीर्ण हो जाते थे, उन्हें ही सउन्सेई (स्नातक) की उपाधि प्रदान की जाती थी। प्रदेश की परीक्षा उत्तीर्ण करके विद्यार्थी प्रान्त की परीक्षा में बैठते थे। इसे उत्तीर्ण कर लेने पर चू-जेन की उपाधि दी जाती थी। चू-जेन (वाचस्पति) की उपाधि प्राप्त कर लेने पर विद्यार्थी को इस योग्य समझा जाता था, कि वह राजकीय पद को प्राप्त कर सके या अन्य उच्च कार्य कर सके। चू-जेन की उपाधि प्राप्त कर लेने के बाद चीनी पण्डितों में जो सबसे अधिक योग्य होते थे, वे पेकिंग की सर्वोच्च परीक्षा चिन-शिह (आचार्य)के लिये बैठ सकते थे। चिन-शिह परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने पर राज्य के किसी भी उच्च पद पर नियुक्ति की जा सकती थी। जो विद्यार्थी उच्च परीक्षाओं में उत्तीर्ण नहीं हो पाते थे, वे साधारण पाठशालाओं में अध्यापन का कार्य करते थे, या मुंशी आदि की ऐसी नौकरियां प्राप्त कर लेते थे, जिनके लिए शिक्षित होना आवश्यक समझा जाता था। आर्थिक दृष्टि से चीन का यह पण्डित वर्ग बहुत समृद्ध नहीं होता था, पर इसमें संदेह नहीं कि समाज में इसका मान बहुत अधिक था। चीन के शिक्षणालयों में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश अभी नहीं हुआ था। अठारहवीं सदी में यूरोप में जो नई वैज्ञानिक उन्नति प्रारम्भ हुई थी, चीन के लोग उससे प्रायः अपरिचित थे। वे पुराने समय के शास्त्रों और साहित्यिक ग्रन्थों से सन्तुष्ट थे, और उन्हीं का भली-भांति अध्ययन कर वे पण्डित पद को प्राप्त कर लेते थे। अठारहवीं सदी के मध्य तक यूरोप में भी शिक्षा की प्रायः यही दशा थी। वहाँ भी प्राचीन लैटिन ग्रंथों के अध्ययन को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही विद्वत्ता के लिये आवश्यक माना जाता था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि शिक्षा और ज्ञान की दृष्टि से चीन यूरोप की अपेक्षा एक सदी के लगभग पीछे रह गया था।

(२) **कृषक वर्ग**—चीन की आबादी का अस्सी फी सदी कृषक वर्ग था। कृषक लोग गांवों में निवास करते थे। गाँव के बाहर खेती की भूमि होती थी, जिस पर ये कृषक खेती किया करते थे। कृषि के उपकरण पुराने ढंग के थे, और खेतों का आकार छोटा होता था। पिता की मृत्यु के बाद उसकी जमीन उसके लड़कों में बंट जाती थी, जिसके कारण खेतों का आकार निरन्तर अधिकाधिक छोटा होता जाता था। किसानों के लिये यह सुगम नहीं होता था, कि वे अपने खेत में पर्याप्त अन्न उत्पन्न कर सकें, और अपने परिवार का भली-भाँति पालन-पोषण कर सकें। बहुसंख्यक किसान गरीब थे, और मिट्टी के बने हुए झोपड़ों में निवास करते थे। गाँवों का प्रबन्ध करने के लिये ग्राम पंचायतें संगठित थीं। पर इनके सदस्य निर्वाचित नहीं होते थे। प्रत्येक परिवार का मुखिया अपने अधिकार से ग्राम-पंचायत का सदस्य होता था। परिवार में मुखिया का बहुत महत्त्व माना जाता था। शादी-विवाह की व्यवस्था वही करता था। तलाक की प्रथा चीन में विद्यमान थी। सन्तान न होने की दशा में पति को यह अधिकार था, कि वह दूसरा विवाह कर सके। पर दूसरी पत्नी की परिवार में वह स्थिति नहीं मानी जाती थी जो कि पहली पत्नी को प्राप्त थी।

(३) **शिल्पी वर्ग**—कारीगर या शिल्पी लोग अपने घर पर रहकर कार्य करते थे। कल-कारखानों का विकास अभी चीन में नहीं हुआ था। व्यावसायिक क्रांति के अभाव में पूंजीपति और मजदूर—ये दो प्रधान श्रेणियाँ अभी चीन में विकसित नहीं हुई थीं। जुलाहे, मोची, तेली, रंगसाज आदि सब प्रकार के शिल्पी पुराने ढंग के मोटे व भद्दे औजारों से आर्थिक उत्पत्ति का कार्य किया करते थे। शिल्पी लोग आर्थिक श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित थे। प्रत्येक शिल्प की अपनी पृथक् श्रेणी होती थी। प्रत्येक कारीगर के पास अनेक अन्तेवासी (शागिर्द) काम सीखा करते थे, और सात-आठ साल तक आचार्य (उस्ताद) के घर पर रहकर शिल्प में प्रवीणता प्राप्त करते थे। अन्तेवासी का काल समाप्त कर चुकने पर या तो कारीगर अपना स्वतन्त्र कार्य प्रारम्भ करता था, और या अपने आचार्य के साथ रहकर काम करता रहता था, जिसके लिए उसे निश्चित वेतन दिया जाता था। प्रत्येक शिल्प के लिए बाकायदा नियम बने होते थे, जिनका निर्माण उस शिल्प की श्रेणी (गिल्ड) द्वारा किया जाता था। तैयार माल की क्या कीमत हो, कारीगरों को कितना वेतन दिया जाय, किस ढंग का माल तैयार किया जाय—ये सब बातें श्रेणी द्वारा ही निश्चित की जाती थीं। प्रत्येक श्रेणी का एक प्रधान होता था, जिसे सब शिल्पी (केवल आचार्य और अन्तेवासी ही नहीं) मिलकर चुनते थे। प्रधान को अपने कार्य में परामर्श देने के लिए एक कार्यकारिणी समिति भी होती थी, जिसके सदस्यों की नियुक्ति भी निर्वाचन द्वारा की जाती थी। शिल्प-सम्बन्धी विवादों का निर्णय श्रेणी द्वारा किया जाता था। इस बात की आवश्यकता बहुत कम होती थी, कि शिल्प-सम्बन्धी झगड़े राजकीय न्यायालय के सम्मुख उपस्थित हों। चीन में प्रायः सर्वत्र शिल्पी लोग इसी प्रकार की श्रेणियों में संगठित थे। प्रत्येक नगर में विविध शिल्पों की पृथक्-पृथक् श्रेणियां विद्यमान थीं, और उनके द्वारा चीन का व्यावसायिक जीवन बहुत सुन्दर रूप से संचालित होता था। कल-कारखानों के अभाव के कारण उन व्यावसायिक समस्याओं का चीन में सर्वथा अभाव था, जो इस युग में यूरोप के देशों में उत्पन्न हो गई थी।

(४) **व्यापारी वर्ग**—व्यापारी वर्ग के लोग संख्या में अधिक नहीं थे, इसका कारण यह था कि शिल्पी लोग प्रायः स्वयं ही अपने माल का क्रय-विक्रय किया करते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिल्पी लोगों का निवासस्थान ही उनका कारखाना होता था, जहाँ वे अपने माल का उत्पादन भी किया करते थे। यहीं उनकी दुकान भी होती थी, जहाँ से उनका माल सुगमता से बिक जाता था। पर कुछ नगर ऐसे भी थे, जहाँ किसी खास किस्म का माल बहुत अधिक परिमाण में तैयार होता था, और उस सब की खपत उस नगर में नहीं हो सकती थी। इस माल को व्यापारी लोग खरीद लेते थे, और उसे अन्यत्र ले जाकर बेचा करते थे। इस प्रकार एक पृथक् व्यापारी वर्ग का विकास हो गया था, जिसका कार्य एक स्थान से दूसरे स्थान पर माल को ले जाना और वहाँ उसे बेचना होता था। बड़े नगरों में बाकायदा बाजार होते थे, जहाँ व्यापारी लोग दूर-दूर से माल को लाकर उसका विक्रय किया करते थे। माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकना बहुत सुगम नहीं था। उस युग में चीन में न अच्छी सड़कें थीं, और न ही अच्छे यानों की सत्ता थी। सड़कें प्रायः कच्ची और खराब हालत में थीं। पशु या उनसे खींची जाने वाली गाड़ियाँ माल ढोने के काम में लायी जाती थीं। समुद्रतट पर स्थित नगरों में व्यापार की अधिक सुविधा थी, क्योंकि उनके माल को नौकाओं द्वारा अन्यत्र सुगमता से पहुँचाया जा सकता था। नौकाएँ और छोटे जहाज केवल समुद्रतट के साथ-साथ ही नहीं आते-जाते थे, अपितु नदियों में भी उनको प्रयुक्त किया जाता था। नौकाओं द्वारा नदियों में हजारों मीलों तक व्यापारी लोग माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जा सकते थे, और इन जल-मार्गों द्वारा चीन के आन्तरिक व्यापार ने अच्छी उन्नति की हुई थी।

शिल्पी वर्ग के समान व्यापारी लोग भी अपने संगठनों (निगमों) में संगठित थे। ये निगम व्यापार-सम्बन्धी नियमों का निर्माण करते थे, व्यापारियों पर निरीक्षण रखते थे, और आपस के झगड़ों का निबटारा करते थे। निगमों के प्रधान और अन्य अधिकारियों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाती थी।

(५) **सेवक वर्ग**—इस वर्ग में वे लोग सम्मिलित थे, जो नौकरी द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। मजदूर श्रेणी का उस समय तक चीन में विकास नहीं हुआ था, अतः ऐसे लोगों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी, जो वेतन या भृति प्राप्त करके अपना निर्वाह करते हों। पर समृद्ध व धनी लोग इस स्थिति में थे, कि अन्य लोगों को अपनी नौकरी में रख सकें। साथ ही, राज्य की ओर से बहुत-से लोग सेना की नौकरी में भी रखे जाते थे। सैनिक वर्ग को चीन में विशेष सम्मानास्पद स्थान प्राप्त नहीं था। समाज में सैनिकों की स्थिति हीन समझी जाती थी, और उनकी गणना सेवक वर्ग में ही की जाती थी।

(४) राजनीतिक संगठन

चीन के विविध विभाग—शासन के लिये वास्तविक चीन (मध्य देश) को अठारह प्रांतों में विभक्त किया गया था। प्रत्येक प्रान्त के अनेक उपविभाग (प्रदेश) होते थे, जिन्हें 'फू' कहते थे। चीन के अठारह प्रान्तों में कुल मिलाकर १८५ प्रदेश या फू थे। प्रत्येक फू अनेक जिलों (हिसअन) में विभक्त होता था। चीन में इस प्रकार के कुल १४७० जिले थे। प्रत्येक जिले में बहुत-से नगर व ग्राम होते थे, जिनमें अपनी-अपनी ग्राम-पंचायतें विद्यमान थीं। पर शासन की दृष्टि से जिले या हिसअन ही को इकाई माना जाता था, और पेकिंग की केन्द्रीय सरकार इन जिलों के शासकों द्वारा ही देश के शासन का संचालन किया करती थी।

सम्राट् की स्थिति—चीन में शासन की शक्ति सम्राट् में केन्द्रित थी। उसकी शक्ति असीम थी। यह समझा जाता था कि वह न केवल अपनी इच्छा से कानूनों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण ही कर सकता है, अपितु राज्य के सब अधिकारी उसी की इच्छा और आदेश के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में शासन का कार्य करते हैं। सम्राट् अपने शासन-कार्य के लिये किसी पार्लियामेंट या विधान सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं था, और न ही चीन में इस प्रकार की किसी सभा की सत्ता ही थी। सम्राट् दैवी अधिकार से शासन करता है, और क्योंकि ईश्वर ने उसे राज्य के शासन का कार्य सुपुर्द किया है, अतः जनता को यह अधिकार नहीं है कि वह उसके कार्य में हस्तक्षेप कर सके, ये विचार इस युग में चीन में सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत किये जाते थे। राजा स्वयं अपने पदाधिकारियों को नियुक्त करता था, और ये अधिकारी अपने कार्यों के लिये उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पर यह सब कुछ होते हुए भी चीन के सम्राट् अठारहवीं सदी के यूरोपियन राजाओं के समान निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं थे। फ्रांस का लुई चौदहवां, स्पेन का फिलिप द्वितीय, रूस का अलेक्जेण्डर प्रथम और इङ्गलैंड का जेम्स प्रथम जिन अर्थों में निरंकुश राजा थे, उन अर्थों में चीन के कांग-ह्सी या चिएन-लुंग को निरंकुश व स्वेच्छाचारी नहीं कहा जा सकता। इसके कारणों को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :—

(१) चीन में प्रचलित राजनीतिक विचारों के अनुसार ईश्वर जब राजा को शासन का अधिकार प्रदान करता है, तो उसे यह कर्त्तव्य भी सुपुर्द करता है, कि वह देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखे, जनता सुखी तथा समृद्ध हो, और प्रजा के लोग किसी भी प्रकार से पीड़ित न हों। ईश्वर ने जहां राजा को अपरिमित अधिकार व शक्ति प्रदान की है, वहां साथ ही उसके कतिपय कर्तव्य भी निश्चित कर दिये हैं। इस दशा में यदि किसी राजा के शासन-काल में दुर्भिक्ष पड़ता है, और प्रजा अन्न के अभाव में दुःख उठाती है, तो इसका कारण केवल यही हो सकता है कि राजा अपने कर्तव्यों के पालन से विमुख है। इस अवस्था में जनता को अधिकार है, कि वह राजा के विरुद्ध विद्रोह कर सके। विद्रोह के कारण यदि राजा अपने पद पर स्थित न रह सके, तो इसका स्पष्ट अभिप्राय यह होगा कि अब ईश्वर की यह इच्छा नहीं है, कि वह राजा राजपद पर रहे। ईश्वर ने जनता पर शासन करने का जो अधिकार राजा को प्रदान किया था, अब वह उसने वापस ले लिया है। इसलिए चीन के प्राचीन ग्रन्थों में ये विचार प्रतिपादित किये गये थे, कि "जो जनता सुनती है, वही ईश्वर सुनता है। जो जनता देखती है, वही ईश्वर देखता है।" और "राज्य में जनता का स्थान सर्वोच्च है, राजा का स्थान सबसे हीन है।" इस प्रकार के विचार चीनी जनता में बद्धमूल थे, और इसी कारण वह समझती थी कि राजा उसी समय तक अबाधित रूप से शासन का संचालन कर सकता है, जब तक उसके शासन में प्रजा सुखी रहे। इस सिद्धान्त का यह परिणाम था, कि चीन में राजा के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार को न्याय्य व उचित माना जाता था।

(२) यद्यपि राजा को अपनी इच्छानुसार कानून बनाने का अधिकार था, पर चीन के लोग यह मानते थे, कि परम्परागत रूप से जो नियम व कानून देश में चले आ रहे हैं, पुराने समय के राजाओं ने जिन कानूनों को जारी किया था, और जो नियम प्राचीन शास्त्रों व नीतिग्रन्थों में प्रतिपादित हैं, राजा को उनका उल्लंघन नहीं करना चाहिए। चीन के कानून में चरित्र, धर्म और परम्परा का बहुत महत्त्व था। अतः चीन के सम्राट् उनके प्रतिकूल आज्ञाएं प्रचारित नहीं करते थे। वे पुरानी परिपाटी का आदर करते थे, और इसी कारण वे किन्हीं ऐसे कानूनों का निर्माण नहीं करते थे, जो चीन के परम्परागत कानून व चरित्र के विपरीत हों।

(३) चीन में ऐसी संस्थाओं और सभाओं की भी सत्ता थी, जो राजा को उसके कार्य में परामर्श देती थीं, और जिनके परामर्श को राजा अत्यन्त महत्त्व देता था। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की एक संस्था 'राजसभा' थी, जिसके छः सदस्य होते थे। ये छः सदस्य राज्य के प्रधान विभागों के मुख्य अधिकारी होते थे। ये विभाग निम्नलिखित थे—राजकीय पदों पर नियुक्ति का विभाग, राजकीय आमदनी का विभाग, राजकीय अनुष्ठान-सम्बन्धी विभाग, युद्ध विभाग, दण्ड विभाग और सार्वजनिक इमारतों तथा सड़कों आदि का विभाग। केन्द्रीय शासन के विविध राजकीय विभागों (अधिकरणों) में इन छः का सबसे अधिक महत्त्व था, और इन छः विभागों के प्रधान अधिकारी राजसभा के सदस्य होते थे। यह राजसभा राजा को राज्य-कार्य के सम्बन्ध में परामर्श देती थी, और राजा उसकी सम्मति के अनुसार ही कार्य करता था। राजसभा के अतिरिक्त एक अन्य संस्था थी, जिसे 'निरीक्षण सभा' कहते थे। इस निरीक्षण सभा के सदस्यों (निरीक्षकों) का यह कार्य था, कि विविध राज-कर्मचारियों के कार्यों का निरीक्षण करें, उनकी आलोचना करें, और उनके कार्यों के विषय में राजा को परामर्श देते रहें। पेकिंग की केन्द्रीय सरकार में इस प्रकार के चौबीस निरीक्षक थे, और प्रान्तों की सरकारों में निरीक्षकों की संख्या छप्पन थी। केन्द्रीय और प्रान्तीय शासनों से सम्बद्ध ये निरीक्षक सरकार के विविध कार्यों की स्वतन्त्र व निर्भीक आलोचना करना अपना कर्तव्य समझते थे। जो राजकर्मचारी अपना कार्य सुचारु रूप से कर रहे हैं, ये उन्हें पुरस्कृत करने की सिफारिश करते थे। जो अपने कर्तव्यों से विमुख हों, उन्हे ये दण्ड देने के लिये अपनी रिपोर्ट भेजते थे। ये निरीक्षक अपने कर्तव्य का पालन करते हुए राजा और उसके कृत्यों की आलोचना करना भी आवश्यक समझते थे। इसी का यह परिणाम था, कि चीन में राजा भी आलोचना से ऊपर नहीं माने जाते थे, और वे भी अपने कर्तव्यों की उपेक्षा नहीं कर सकते थे।

प्रान्तों का शासन—चीन की राजधानी पेकिंग थी। साम्राज्य के शासन का संचालन वहीं से होता था। पर प्रान्तीय शासन के लिए सूबेदारों की भी नियुक्ति की जाती थी। उस समय चीन में आवागमन के साधन अधिक उन्नत नहीं थे। इस कारण प्रान्तीय शासकों पर नियन्त्रण रख सकना बहुत सुगम नहीं था। सूबेदार लोग अपने-अपने प्रान्तों में स्वतन्त्र शासकों के रूप में शासन करते थे, और प्रान्तों की स्थिति अर्ध-स्वतन्त्र राज्यों के समान थी। पर प्रान्तों के सूबेदार भी अपने क्षेत्र में स्वेच्छाचारी नहीं हो सकते थे। इसका कारण यह था, कि (१) सूबेदारों के समान अन्य अनेक प्रान्तीय राजकर्मचारियों की नियुक्ति भी सीधे केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी। ये कर्मचारी सूबेदार की शक्ति को नियन्त्रित रखने में बहुत सहायक होते थे। (२) प्रान्तों के शासन में भी परम्परागत कानून, व्यवहार और चरित्र का बहुत महत्त्व होता था। सूबेदार लोग इनकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। (३) प्रान्तों के जो अन्य उपविभाग थे, उनके शासकों को भी शासन-सम्बन्धी बहुत-से अधिकार प्राप्त थे। यदि कोई सूबेदार देश की परम्परा का उल्लंघन कर स्वेच्छाचारी होने का प्रयत्न करे, तो ये उसका विरोध कर सकते थे। (४) सूबेदार लोग अपने क्षेत्र में शक्ति को बढ़ा कर कहीं स्वतन्त्र होने का प्रयत्न न करें, इसलिए समय-समय पर उनकी बदली कर दी जाती थी। कोई सूबेदार सुदीर्घ समय तक किसी एक प्रान्त में नहीं रहने पाता था। इन व्यवस्थाओं का यह परिणाम था, कि चीन के विशाल सम्राज्य में अकेन्द्रीभाव (डीसेन्ट्रलाइजेशन) की प्रवृत्तियां बहुत प्रबल नहीं हो सकती थीं।

सूबेदार के अतिरिक्त प्रान्तीय शासन के अन्य प्रमुख राजकर्मचारी निम्नलिखित होते थे—(१) कोषाध्यक्ष—इसकी स्थिति सूबेदार के समकक्ष मानी जाती थी। राजकीय करों को एकत्र करना और राजकीय व्यय की व्यवस्था करना इसी का कार्य था। साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही, यह केन्द्रीय सरकार की ओर से सूबेदार पर निरीक्षण भी रखता था। (२) न्यायाधीश—यह प्रान्त के न्याय विभाग का प्रधान अधिकारी होता था। (३) लवणाध्यक्ष—चीन में नमक के व्यवसाय पर राज्य का एकाधिकार था। लवणाध्यक्ष इस विभाग का संचालन करता था। (४) समाहर्ता—इसका कार्य टैक्स के रूप में प्राप्त अन्न को एकत्र करना और उसकी व्यवस्था करना था। चीन में कृषकों से टैक्स अन्न के रूप में लिया जाता था। अतः इस विभाग का वहाँ बहुत अधिक महत्व था।

प्रान्त के उप-विभाग—हम पहले लिख चुके हैं, कि प्रान्त अनेक प्रदेशों (फू) में विभक्त होते थे। फू के प्रधान अधिकारी को ताओ-तेई कहा जाता था। फू जिन जिलों में (हि सअन) में विभक्त होता था, उनके प्रधान अधिकारी के हाथ में ही जनता का वास्तविक शासन निहित था। इसलिए चीन की प्रचलित भाषा में उसे 'मां बाप' कहते थे। वह न केवल सरकारी टैक्सों को एकत्र करता था, अपितु दीवानी और फौजदारी के मामले भी उसी की अदालत में पेश होते थे। जिले के कोषाध्यक्ष का काम भी उसी के सुपुर्द था। सर्व-साधारण जनता का सीधा सम्बन्ध उसी के साथ होता था, और इसीलिए जनसाधारण के हित व कल्याण का उसके साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए भी उसी को उत्तरदायी माना जाता था। यही कारण है, कि जिले के प्रधान अधिकारी की योग्यता और कार्य-कुशलता पर देश के शासन की क्षमता प्रधान रूप से निर्भर करती थी।

कर्मचारियों की नियुक्ति—इस युग में चीन में लोकतन्त्र शासन का सर्वथा अभाव था। जनता को अपना शासन स्वयं कर सकने का अवसर यदि कहीं मिलता था, तो वह केवल ग्राम-पंचायतों, शिल्पियों की श्रेणियों और व्यापारियों के निगमों में ही था। देश के शासन का संचालन वे राजकर्मचारी लोग करते थे, जिनकी नियुक्ति सम्राट् व उसके सहकारियों द्वारा की जाती थी। पर सरकारी कर्मचारियों को अपने पदों पर नियुक्त करते हुए उनकी शिक्षा को बहुत महत्त्व दिया जाता था। हम ऊपर उन परीक्षाओं का उल्लेख कर चुके हैं, जिन्हें चीन के पंडित वर्ग के लोग उत्तीर्ण किया करते थे। जो व्यक्ति जितनी उच्च परीक्षा उत्तीर्ण कर लेता था, उसे उतने ही उच्च राजकीय पद के लिए योग्य समझा जाता था। इस व्यवस्था का यह परिणाम था, कि चीन में शासक व राजकर्मचारी के पदों पर केवल सुयोग्य व्यक्ति ही नियुक्त हो सकते थे। परीक्षा पद्धति के कारण राजकर्मचारियों की नियुक्ति में सिफारिश बहुत काम नहीं देती थी। जिस प्रकार अठारहवीं सदी में यूरोप के विविध देशों में राजकीय पदों की नियुक्ति के समय दरबारियों और राजा के कृपा-पात्रों की सिफारिशों का महत्त्व था, वैसा चीन में नहीं था। यूरोप में कुलीन श्रेणी के लोग उच्च राजकीय पदों को बहुत सुगमता के साथ प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि दरबार में रहते हुए वे राजा को अपनी मुठ्ठी में रखते थे। पर चीन में उच्च परीक्षाओं को उत्तीर्ण किए बिना कोई व्यक्ति राजकीय पद को प्राप्त करने की आशा नहीं रख सकता था। राजकीय पदों पर नियुक्ति तीन साल के लिए की जाती थी। कोई व्यक्ति साधारणतया तीन साल से अधिक समय तक किसी एक स्थान पर या एक पद पर नहीं रह सकता था। पर मंचू राजवंश के अन्तिम काल में इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा था। मञ्चू सम्राट् भोग-विलास में फंसकर अपने कर्तव्यों की उपेक्षा करने लगे थे, और राजकीय पदों पर नियुक्ति करते हुए तथा राजकर्मचारियों को तरक्की देते हुए अपने अनुचरों व पार्श्वचरों की सिफारिशों को महत्त्व देने लग गये थे। परिणाम यह हुआ, कि परीक्षा पद्धति की उपेक्षा होने लगी, और चीन का शासन-सूत्र शिथिल पड़ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा। मञ्चू शासन के विरुद्ध क्रान्ति होकर जो राजसत्ता का अन्त हुआ और रिपब्लिक की स्थापना हुई, उसमें यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

चीनी साम्राज्य की सार्वभौम सत्ता—चीनी लोग समझते थे, कि उनका सम्राट् सार्वभौम शासक है। जिस प्रकार संसार में एक ही सूर्य होता है, वैसे ही मनुष्य जाति का एक ही राजा हो सकता है। इसमें सन्देह नहीं, कि चीनी लोगों की दृष्टि में जो भी सभ्य मानव समाज था, वह सब चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था। चीन का मध्यदेश वस्तुतः एक विशाल देश था। उसके चारों ओर के विविध राज्य भी चीनी सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करते थे। जिन देशों का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध था, वे सब चीन के सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। इस युग में यूरोप में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे जो सब प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न और अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थे। उनमें परस्पर सम्बन्ध रखने के लिए शक्ति-सन्तुलन (बेलेन्स ऑफ पावर) के सिद्धान्त का अनुसरण किया जाता था। यूरोप के विविध राज्य व उनके शासक आपस में किस प्रकार के सम्बन्ध रखें, इसके लिए कूटनय (डिप्लोमेसी) का विकास हुआ था, और यूरोप के विविध राजनीतिज्ञ इस कूटनय में अत्यन्त दक्ष थे। पर चीन में न शक्ति-सन्तुलन की आवश्यकता थी, और न कूटनय की। चीन का अपना क्षेत्रफल ही यूरोप से अधिक था। उसके समीपवर्ती सब राज्य भी चीनी सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करते थे। इस दशा में यदि चीन में अपने सम्राट् व साम्राज्य की सार्वभौमता का विचार विकसित हो गया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। इसीलिए जब यूरोप के विविध देशों से चीन का सम्पर्क स्थापित हुआ, तो चीनी राजनीतिज्ञ यह कल्पना भी नहीं कर सकते थे, कि संसार में कोई ऐसे भी देश हैं, जो उनके अपने देश के समान ही पूर्णतया स्वतन्त्र व प्रभुत्व-सम्पन्न हैं। चीन की इस मनोवृत्ति पर हम आगे चलकर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

(५) चीन की संस्कृति

नसल व जाति की दृष्टि से विशाल चीनी साम्राज्य के सब निवासी एक नहीं थे। पर उनमें एक प्रकार की एकानुभूति विद्यमान थी, जिसका आधार सांस्कृतिक एकता थी। इस चीनी संस्कृति का विकास कन्फ्यूसियस (५५१-४७९ ई० पू०) के समय से शुरू हुआ था। इस प्रसिद्ध विचारक के सम्बन्ध में हम पहले लिख चुके हैं। कन्फ्यूसियस ने जिस विचारधारा का प्रारम्भ किया था, वह ढाई हजार साल बीत जाने पर भी अब तक चीन के सांस्कृतिक जीवन का आधार थी। चीन में कितने ही अन्य विचारक उत्पन्न हुए, कितनी ही नई विचारधाराएँ चलीं, कितने ही नये धर्मों का प्रवेश हुआ, बौद्धों ने बहुसंख्यक चीनी जनता को अपना अनुयायी भी बना लिया, इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी का भी चीन में प्रवेश हुआ, पर कन्फ्यूसियस द्वारा प्रतिपादित विचारों का प्रभाव इन सबसे मिटा नहीं। विशाल चीन के सब निवासी कन्फ्यूसियस द्वारा प्रारम्भ की गई विचारधारा और संस्कृति का आदर करते थे, और यही बात चीन की सांस्कृतिक एकता की आधारशिला थी। जो कोई जाति चीन की इस प्राचीन संस्कृति को अपना ले, वह चीनी जनसमाज का अंग बन जाती थी। मञ्चू लोग चीन के लिए विदेशी थे, उन्होंने आक्रमण द्वारा चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था। पर क्योंकि उन्होंने चीन की प्राचीन संस्कृति को अपना लिया था, अतः चीनी लोग उन्हें विदेशी नहीं समझते थे। अपने शासन-कार्य में भी मञ्चू सम्राट् चीन की पुरानी परम्पराओं का अनुसरण करते थे, और इसी का यह परिणाम था, कि चीनी लोग उनके शासन को सर्वथा उचित व स्वाभाविक मानते थे। इसी प्रकार जो विविध जातियां समय-समय पर चीन में प्रविष्ट होती गईं, या जो बाह्य प्रदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत होते गये, वे सब भी चीन के अंगरूप बनते गये। यही कारण है, कि चीन में उस प्रकार की जातीय समस्याओं का प्रादुर्भाव नहीं हुआ, जैसा कि इस युग में यूरोप में हो रहा था। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य में चेक, पोल आदि विविध जातियों का निवास था। ये सब अपने को आस्ट्रियन (जर्मन) लोगों से भिन्न समझती थीं, और अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील थीं। पर विशाल चीनी साम्राज्य में निवास करने वाली विभिन्न जातियों में अपने पृथक्त्व की भावना का अभाव था, क्योंकि सांस्कृतिक दृष्टि से वे बस परस्पर एकानुभूति रखती थीं।

भाषा—भाषा की दृष्टि से चीन में एकता नहीं है, वहाँ अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। जो व्यक्ति केवल कैन्टन् की भाषा जानता है, वह फूचो या तीन्त्सिन की भाषा को नहीं समझ सकता। भाषा के इस भेद के रहते हुए भी बहुसंख्यक चीनी लोग एक सर्वसामान्य भाषा का प्रयोग करते हैं, जो 'मन्दारिन' नाम से प्रसिद्ध है। मन्दारिन के भी अनेक भेद हैं, पर उत्तरी चीन में जो मन्दारिन भाषा प्रयुक्त होती है, वह यांगत्से नदी की घाटी के प्रदेश में भी समझी जा सकती है। चीन की विविध भाषाओं में चाहे कितना भी भेद क्यों न हो, पर सारे देश की लिपि एक समान है। कैन्टन का निवासी उत्तरी चीन के निवासी से चाहे बातचीत न कर सकता हो, पर वह उसके साथ पत्र व्यवहार कर सकता है। इस का कारण चीन की लिपि की विशेषता है। चीन की लिपि में उस प्रकार के अक्षर नहीं हैं, जैसे कि हमारी देवनागरी लिपि में हैं। हिन्दी के 'क' या 'प' एक ध्वनि विशेष को सूचित करते हैं, किसी भाव या अर्थ-विशेष को नहीं। पर चीन की लिपि में जो विविध चिह्न हैं (हम उन्हें अक्षर नहीं कह सकते), वे किसी विशिष्ट भाव या अर्थ के सूचक हैं। अतः उन चिन्हों को देखकर चीन के किसी भी प्रदेश का निवासी उनके भाव को समझ सकता है। मान लीजिए 'क्ष' यह चिह्न गरमी के भाव को सूचित करता है। उर्दू भाषा में जिसे गरम कहेंगे, संस्कृत या हिन्दी में उसे ही उष्ण और अंग्रेजी में उसे ही हाट कहेंगे। यदि हम भी चीन की लिपि के समान एक ऐसी लिपि को विकसित कर लें, जो 'क्ष' के चिह्न से उष्णता भाव को प्रकट करे, तो उसे देखकर उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी आदि विविध भाषाओं को जानने वाले पाठक उस चिह्न से ग्रीष्मता के अभिप्राय को भली-भांति समझ सकेंगे। चीनी लिपि के विविध चिह्न, जिनकी संख्या हजारों में है, भाव व वस्तु-सूचक हैं। इसलिए उसमें लिखी हुई पुस्तक को चीन के विविध भाषा-भाषी लोग समान रूप से समझ सकते हैं। पर इसके लिए लिखित पुस्तक को आंखों से देखना और पढ़ना आवश्यक होता है। यदि उसे पढ़कर सुनाया जाय, तो सब लोग उसे सुगमता से नहीं समझ सकेंगे। लिखित चीनी भाषा को जिस रूप में विद्वान् लोग पढ़ते हैं, वह सबके लिए सुबोध नहीं होती। पर उसकी लिपि में इस प्रकार की विशेषता अवश्य है, जो चीन के विविध भाषा-भाषी लोगों को एक सूत्र में बाँधे रख सकने में समर्थ होती है।

साहित्य—सम्भवतः, कागज का आविष्कार सबसे पहले चीन में ही हुआ था। यह बात तो निर्विवाद है, कि मुद्रण कला सबसे पहले चीन में ही आविष्कृत हुई थी। जिस समय यूरोप में छापेखाने का प्रवेश हुआ, उससे अनेक सदी पहले चीन में पुस्तकें छपने लग गई थीं। इस का यह परिणाम हुआ, कि चीन में साहित्य के विकास में बहुत सहायता मिली। उन्नीसवीं सदी के शुरू में चीन में जितना साहित्य था, उतना संसार के अन्य किसी देश में नहीं था। ये पुस्तकें प्रधानतया इतिहास, धर्म, दर्शन, काव्य और गद्य साहित्य के सम्बन्ध में थीं। इतिहास पर चीनी लोगों ने बहुत-से ग्रन्थ लिखे थे, जिनमें चीन के विविध राजवंशों का इतिवृत्त क्रमिक रूप से उल्लिखित है। यद्यपि शुरू के राजवंशों का इतिहास बहुत कुछ कल्पनात्मक है, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इन इतिहास-ग्रन्थों में चीन की ऐति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हासिक अनुश्रुति बहुत कुछ अविकल रूप में सुरक्षित है। कन्फ्यूसियस आदि जो बहुत-से विचारक और तत्त्ववेत्ता प्राचीन चीन में उत्पन्न हुए, उनके ग्रन्थों का वहां बहुत आदर है। इन आचार्यों ने जो विचारधाराएँ प्रारम्भ कीं, उनकी शिष्य परम्परा ने उन्हें बहुत विकसित किया और उनकी पुष्टि एवं प्रतिपादन में अनेक ग्रन्थों की रचना की गई। बौद्ध धर्म के प्रचार के बाद चीनी विद्वानों ने न केवल भारतीय बौद्ध ग्रन्थों का अपनी भाषा में अनुवाद ही किया, अपितु उन पर अनेक नई पुस्तकें भी लिखीं। चीनी पण्डितों ने विश्व-कोष के रूप में भी बहुत-सी पुस्तकों का संकलन किया। गद्य और पद्यमय काव्यों के निर्माण पर भी उन्होंने बहुत ध्यान दिया। विज्ञान के क्षेत्र में उन्होंने चिकित्साशास्त्र, कृषि-विज्ञान और ज्योतिष पर अनेक ग्रन्थ लिखे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक चीनी लोग इसी साहित्य का अध्ययन किया करते थे। आधुनिक युग में पाश्चात्य देशों ने परीक्षणों द्वारा जिसे नये ज्ञान-विज्ञान का विकास किया था, उसका उन्हें कोई परिचय नहीं था। उनमें स्वयं भी यह प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई थी, कि प्राचीन प्रमाणवाद का परित्याग कर निरीक्षण और परीक्षणों द्वारा प्रकृति के विविध तत्त्वों का परिज्ञान प्राप्त करें और इस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में उन्नति करें। भारत, ईरान, तिब्बत और अरब आदि अन्य प्राच्य देशों में भी उन्नीसवीं सदी के शुरू तक वैज्ञानिक खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हुई थी। इस क्षेत्र में यूरोप ने संसार का नेतृत्व किया, और इसी कारण वह भूखण्ड के बड़े भाग पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने में समर्थ हुआ।

धर्म—धर्म के विषय में चीनी लोग समन्वयवादी थे। जिस प्रकार इस्लाम या क्रिश्चिएनिटी के अनुयायी अपने को केवल मुस्लिम या ईसाई समझते हैं, और अन्य किसी धार्मिक सिद्धान्त को न मानकर केवल अपने विशिष्ट धर्म का ही अनुसरण करते हैं, वैसी बात चीनी लोगों के सम्बन्ध में नहीं कही जा सकती। चीनी लोगों के धार्मिक विधि-विधानों व अनुष्ठानों का आधार वे रीति-रिवाज थे, जो उनमें बहुत प्राचीन काल से चले आते थे। यद्यपि बहुसंख्यक चीनी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, पर वे कन्फ्यूसियस और लाओ-त्से के सिद्धान्तों का भी समान रूप से आदर करते थे। जिस प्रकार भारत के बहु-संख्यक हिन्दू लोग परम्परागत सनातन धर्म को मानते हैं, शिव विष्णु आदि विविध देव-ताओं की समान रूप से पूजा करते हैं, बौद्ध, जैन, सिक्ख, वैष्णव व शैव आदि सन्तों व आचार्यों को आदर की दृष्टि से देखते हैं, वैसे ही चीन में भी था। चीन के बौद्ध लोग जहाँ बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को मानते थे, वहाँ साथ ही कन्फ्यूसियस और लाओ-त्से जैसे प्राचीन आचार्यों के उपदेशों व मन्तव्यों का भी अनुसरण करते थे। धार्मिक क्षेत्र में वे बहुत सहिष्णु थे। इस्लाम व क्रिश्चिएनिटी जैसे विदेशी धर्मों से भी उन्हें विरोध व विद्वेष नहीं था, बशर्ते कि ये धर्म चीन की परम्परागत संस्कृति के विरोध में आवाज न उठाएँ। चीन में बुद्ध, कन्फ्यूसियस और लाओ-त्से—सबके सम्प्रदायों के मन्दिर विद्यमान हैं। बौद्ध मन्दिरों में बौद्ध भिक्षुओं व भिक्षुणियों का निवास है, और कन्फ्यूसियस तथा लाओ-त्से के मन्दिरों में इन धार्मिक सम्प्रदायों के पुजारियों की सत्ता है। पण्डित, भिक्षु और पुजारी चाहे अपने विशिष्ट सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते रहें, और विभिन्न मन्दिरों में चाहे विशेष प्रकार की पूजा एवं अनुष्ठानों का अनुसरण होता रहे, पर सर्वसाधारण चीनी जनता इन सबको आदर की दृष्टि से देखती रही है। वह कन्फ्यूसियस द्वारा प्रतिपादित नैतिक जीवन के आदर्शों को स्वीकार करती थी, लाओ-त्से के मन्तव्यों का आदर करती थी, और बौद्ध धर्म का अनुसरण करती थी। इन विविध सम्प्रदायों के पण्डित लोग चाहे सैद्धान्तिक दृष्टि से एक दूसरे का विरोध भी करें, पर जनता का उससे विशेष सम्बन्ध नहीं था। धर्म के मामले में चीनी लोग समन्वयवादी थे, और विविध धर्मों के सामञ्जस्य पर विश्वास रखते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे। चीन की जनता के धार्मिक विश्वासों में पितरों की पूजा का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। पितरों के अतिरिक्त वे बहुत-से देवी-देवताओं में भी विश्वास रखते रहे हैं, और उनकी पूजा के लिए अनेक विधि-विधानों का अनुष्ठान करते रहे हैं।

परम्परागत प्राचीन धर्म के अतिरिक्त चीन में इस्लाम और क्रिश्चिएनिटी का भी प्रवेश हो गया था। विविध ईसाई मिशन किस प्रकार इस विशाल देश में कार्य करते रहे, इसका उल्लेख हम यथास्थान आगे चलकर करेंगे। पश्चिमी चीन में इस्लाम का भी पर्याप्त प्रचार है। पर ये धार्मिक विभिन्नताएँ चीन के निवासियों में विशेष भेद उत्पन्न नहीं करतीं। धार्मिक दृष्टि से भिन्न होते हुए भी चीनी लोग सांस्कृतिक दृष्टि से एक हैं।

सेना—मञ्चू सम्राटों की सेना का संगठन प्रायः उसी प्रकार का था, जैसा कि भारत में मुगल सम्राटों या यूरोप में फिलिप द्वितीय और लुई चौदहवें की सेनाओं का था। चीन की राजधानी पेकिंग में सम्राट् की अंगरक्षक सेना रहती थी, जो सैन्य नीति में विशेष कुशल थी। इस सेना के सैनिकों की संख्या चार हजार थी। राजधानी की यह सेना जहाँ सम्राट् की रक्षा करती थी, वहाँ साथ ही राजधानी में शांति और व्यवस्था कायम रखने का काम भी करती थी। चीन के उत्तरी प्रदेश मंचूरिया में एक बड़ी सेना रखी जाती थी, जिसमें दो लाख के लगभग सैनिक होते थे। चीन के मध्य-देश के अठारहों प्रान्तों में प्रान्तीय सेनाएँ थीं, जिनके सैनिकों की कुल संख्या पांच लाख के लगभग थी। प्रान्तीय सेनाएं अपने-अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिए उपयोगी थीं। किसी बाह्य शत्रु के आक्रमण का चीन में विशेष भय नहीं था, क्योंकि चीन का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। अतः सेना का मुख्य प्रयोजन आन्तरिक विद्रोहों को शान्त करना और देश में व्यवस्था स्थापित रखना ही था। बारूद का अविष्कार सबसे पहले चीन में ही हुआ था। बारूद के कारण ही मंगोल सम्राट् अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हुए थे। पूर्वी यूरोप के विविध राज्य जो मंगोल आक्रान्ताओं द्वारा सुगमता से परास्त कर दिये गये थे, उसका कारण बारूद ही थी। पर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में जब यूरोप के लोग वैज्ञानिक अविष्कारों के कारण अनेक नये प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग करने लगे थे, चीन के सैनिक पुराने ढंग की बन्दूकों और तोपों का ही प्रयोग करते थे। यही कारण है, कि यूरोपियन सेनाओं का वे मुकाबिला नहीं कर सके।

कला और व्यवसाय—उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध तक चीन में व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ नहीं हुआ था। कारीगर लोग अपनी आर्थिक श्रेणियों में ही माल को तैयार किया करते थे। इस युग में चीन इस प्रकार की भी अनेक वस्तुओं का उत्पादन करता था, जिनकी दुनिया के बाजारों में बहुत अधिक मांग थी। यूरोप और अमेरिका में जिस चाय की बहुत अधिक खपत थी, उसका बड़ा भाग चीन में ही पैदा होता था। चीन का रेशम संसार में सर्वोत्कृष्ट माना जाता था। वहां के बने हुए मिट्टी के बरतन कला के उत्कृष्ट नमूने होते थे। चाय, रेशम और मिट्टी के बरतन इस प्रकार के पदार्थ थे, जिन्हें चीन बहुत बड़े परिमाण में अन्य देशों को भेजता था। यूरोप के व्यापारी इस माल को खरीदकर अपने देश में ले जाने केलिए बहुत उत्सुक रहते थे।पर चीन अपनी सब आवश्यकताएं स्वयं पूर्ण कर लेता था, और उसे विदेशी माल की कोई जरूरत महसूस नहीं होती थी। यही कारण है, कि जब यूरोपियन व्यापारियों ने चीन में व्यापार के विस्तार के लिए अपनी कोठियां कायम कीं, तो वे चीन के माल की कीमत सोना-चांदी में अदा करते थे। उनके पास कोई ऐसा माल नहीं था, जिसे वे चीनी लोगों को बेच सकें। इसी कारण अंग्रेजों ने चीन में अफीम के व्यापार का प्रारम्भ किया। उन्होंने जानबूझ कर यह कोशिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की, कि चीनी लोगों में अफीम खाने की आदत पैदा करें, और इस अफीम को चीन में बेचकर बदले में वहां से चाय आदि अन्य माल प्राप्त करें।

मञ्चू शासन की निर्बलता—सम्राट् चिएन-लुंग (१७३६—१७९६) के समय तक मञ्चू सम्राटों की शक्ति अक्षुण्ण रही। पर उसके बाद विशाल चीनी साम्राज्य के शासन में निर्बलता आने लगी। राज्य के विविध कर्मचारियों की नियुक्ति के लिए चीन में जिस परीक्षा पद्धति का आश्रय लिया जाता था, वह अठारहवीं सदी तक अवश्य उपयोगी थी। पर परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने के लिए उन्नीसवीं सदी में भी प्राचीन शास्त्रों का पण्डित होना ही आवश्यक था। जो व्यक्ति जितना बड़ा विद्वान् हो, जितना शास्त्र-पारंगत हो, उतना ही वह इन परीक्षाओं के लिए योग्य होता था। पर शास्त्र-पारंगत होना एक बात है, और सुयोग्य शासक होना दूसरी बात है। उन्नीसवीं सदी में जो विविध नये ज्ञान-विज्ञान विकसित हो रहे थे, चीन की इन परीक्षाओं में उन्हें कोई भी स्थान प्राप्त नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ, कि चीन की सरकार समय के अनुसार उन्नति करने में असमर्थ रही। साथ ही, इस युग में चीन के शासन में अन्य प्रकार से भी विकार आना शुरू हो गया था। राजकीय पदों की प्राप्ति के लिए रिश्वत और सिफारिश का महत्त्व बढ़ने लगा था, और अनेक उच्च राजकीय पदों का क्रय-विक्रय भी प्रारम्भ हो गया था। यही कारण है, कि जब उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन का यूरोपियन राज्यों से सम्पर्क हुआ, तो चीन उनके मुकाबिले में बहुत पिछड़ा हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसरा अध्याय

यूरोप और चीन का सम्पर्क

(१) चीन और यूरोपियन राज्यों में व्यापार-सम्बन्ध

पन्द्रहवीं सदी तक यूरोप के लोगों को बाहरी दुनिया से बहुत कम परिचय था। उस समय यूरोप और एशिया का व्यापारिक मार्ग लाल सागर से ईजिप्त होता हुआ भूमध्य सागर पहुंचता था। एक दूसरा मार्ग ईरान की खाड़ी से बसरा-बगदाद होता हुआ एशिया माइनर के बन्दरगाहों को जाता था। पहले इन व्यापारिक मार्गों पर अरबों का अधिकार था। अरब लोग सभ्य थे, और व्यापार के महत्त्व को भली-भांति समझते थे। पर पन्द्रहवीं सदी में तुर्क लोग इन प्रदेशों के स्वामी हो गए, और एशिया व यूरोप के व्यापारिक मार्ग अवरुद्ध होने लगे। १४५३ में जब तुर्क विजेता मुहम्मद द्वितीय ने कोन्स्टेन्टिनोपल को भी जीत लिया, तब तो यूरोप के लोगों के लिए इन पुराने मार्गों से व्यापार कर सकना असम्भव हो गया।

अब यूरोपियन लोगों को नये मार्ग ढूंढ निकालने की चिन्ता हुई। उस समय यूरोप का भारत आदि प्राच्य देशों के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध था। विशेषतया, मसाले बहुत बड़ी मात्रा में पूर्वी देशों से यूरोप जाया करते थे। इस व्यापार से लाभ उठाने के लिए अब नये मार्गों की खोज प्रारम्भ हुई। इस कार्य में पोर्तुगाल और स्पेन के लोगों ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। इस समय तक यूरोप में दिग्दर्शक यन्त्र का प्रवेश हो चुका था। जहाजों का आकार भी पहले की अपेक्षा बड़ा होने लगा था, और उन्हें चलाने के लिए पाल का प्रयोग शुरू हो गया था। पाल से चलने वाले और दिग्दर्शक यन्त्र से युक्त जहाजों के लिए यह सम्भव था, कि वे महासमुद्रों से दूर-दूर तक आ जा सकें। पोर्तुगीज लोगों के मन में पहले-पहल यह कल्पना उत्पन्न हुई, कि अफ्रीका का चक्कर काटकर पूर्व में पहुंचा जा सकता है। इसी दृष्टि से अनेक पोर्तुगीज मल्लाहों ने अफ्रीका के समुद्र तट के साथ-साथ यात्रा प्रारम्भ की। आखिर, १४९८ में वास्कोडिगामा नामक पोर्तुगीज मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत पहुंचने में सफल हो गया।

एशिया आने-जाने के लिए पोर्तुगीज लोगों को जो नया सामुद्रिक मार्ग ज्ञात हो गया था, उससे वे दूर-दूर तक पूर्व में आने-जाने लगे। १५११ में उन्होंने मलक्का पर अपना अधिकार कर लिया। मलक्का को आधार बनाकर वे पूर्वी एशिया में दूर-दूर तक आने-जाने लगे, और १५१४ में वे चीन पहुंच गये। पर इस समय वे चीन में प्रवेश नहीं पा सके। व्यापार के लिए जो माल वे अपने साथ लाये थे, उसे मुनाफे से बेचकर वे मलक्का वापस चले गये। पर व्यापार में उन्हें जो भारी नफा था, उससे आकृष्ट होकर पोर्तुगीजों ने १५१७ में अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल चीन भेजा, जिसका नेता थामस पिरेज था। कैन्टन पहुंच कर इस प्रतिनिधि-मण्डल ने पेकिंग जाने और वहाँ व्यापार-सम्बन्धी बातचीत करने की अनुमति मांगी। यह अनुमति उसे प्रदान कर दी गई, उसे प्रदान कर दी गई, और १५१९ में पिरेज के नेतृत्व में पोर्तुगीज प्रतिनिधि-मण्डल पेकिंग पहुँच गया। पर चीन की सरकार इन विदेशियों को अच्छी निगाह से नहीं देखती थी। इसका कारण यह था कि पोर्तुगीज लोगों का एशिया के निवासियों के प्रति व्यवहार अच्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं था। वे उन्हें अपने से हीन समझते थे, और उनमें ईसाई मत का जबरदस्ती प्रचार करने उद्योग का करते थे। भारत, मलाया आदि में जब पोर्तुगीज लोग शुरू-शुरू में गये, तब उन्होंने इन देशों के निवासियों के साथ बहुत बुरा बरताव किया। उनका विचार था, कि जैसे स्पेनिश लोगों ने अमेरिका के मूलनिवासियों (मय और अजटक आदि की सभ्यताओं) को नष्ट कर वहाँ अपनी स्थायी बस्तियां बसा ली हैं, वैसे ही एशिया में भी किया जा सकता है। पोर्तुगीज लोगों का उद्देश्य एशिया के विविध प्रदेशों में व्यापार करना ही नहीं था, वे उनके वास्तविक निवासियों को सर्वथा नष्ट करके या अपना गुलाम बनाकर उन्हें अपने उपनिवेशों के रूप में विकसित करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। पोर्तुगीज लोगों के इस व्यवहार के समाचार पेकिंग पहुँच चुके थे। इस दशा में चीन के मिंग वंश के सम्राटों ने यह निश्चय किया, कि पोर्तुगीज लोगों को चीन में प्रविष्ट न होने दिया जाय। पिरेज और उसके साथियों को गिरफ्तार कर लिया गया, और चीन के विभिन्न नगरों में जो पोर्तुगीज व्यापारी बस गये थे, उन्हें देश से बाहर चले जाने का आदेश दे दिया गया। यही कारण है, कि इस काल में पोर्तुगीज लोग चीन में न कहीं अपनी बस्ती बसा सके, और न वे व्यापार के लिए कहीं कोठियाँ ही कायम कर सके। पर कैण्टन के समीप एक द्वीप को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया, और वहाँ रहकर वे चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने लगे। १५५७ में पोर्तुगीज लोगों ने मकाओ में भी अपनी एक बस्ती कायम की, जो अब भी उनके अधीन है। इस बीच में स्पेनिश लोग फिलिप्पीन द्वीप-समूह को अपनी अधीनता में ला चुके थे। १५५७ में वे भी फिलिप्पीन से चीन आये, और वहाँ के व्यापार में हाथ बटाने लगे। डच और इंगलिश लोगों ने भी पोर्तुगीज और स्पेनिश लोगों का अनुसरण किया। १६३७ में डच लोग चीन आये, और इसी समय अंग्रेजों ने भी वहाँ आना शुरू किया। सोलहवीं सदी में रूसी लोग बड़ी तेजी के साथ उत्तरी एशिया में आगे बढ़ रहे थे। साइबीरिया उनके प्रभुत्व में आ चुका था। सतरहवीं सदी के अन्त (१६८९) तक रूस की सीमा चीन के साथ आ मिली थी, और रूसी लोग भी इस बात के लिए प्रयत्नशील थे, कि चीन के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करें। इस प्रकार सोलहवीं और सतरहवीं सदियों में अनेक यूरोपियन राज्यों के व्यापारियों ने चीन में आना-जाना प्रारम्भ कर दिया था। बाद में अन्य पाश्चात्य देशों ने भी व्यापार के लिए चीन आना प्रारम्भ किया। १६९८ में फ्रेञ्च जहाज कैण्टन पहुँचे, और १७३१ में डेन्मार्क के जहाज। १७३२ में स्वीडन से भी एक जहाज चीन गया। रूस न केवल स्थल मार्ग से चीन के साथ अपना सम्बन्ध बढ़ाने में तत्पर था, उसके एक व्यापारी जहाज ने भी १७५३ में कैन्टन की यात्रा की थी। १७८४ में एक अमेरिकन जहाज भी चीन पहुँच गया था।

चीन के शासकों के सम्मुख अब यह समस्या उपस्थित हुई, कि इन पाश्चात्य राज्यों के व्यापारियों के साथ क्या सम्बन्ध रखा जाय। यद्यपि चीन के सम्राट् विदेशियों के इस प्रकार अपने राज्य में प्रवेश करने और वहाँ व्यापार करने के विरोधी थे, पर सुदूरवर्ती प्रदेशों पर उनका शासन इतना सुदृढ़ नहीं था, कि वे अपनी नीति को सफलता-पूर्वक क्रियान्वित करा सकते। विदेशी व्यापारी स्थानीय शासकों को रिश्वत आदि देकर व अन्य अनेक प्रकार से अपने प्रभाव में ले आकर वहाँ अपने पैर जमाने के लिए प्रयत्न-शील थे।

चीनी लोग स्वभाव से ही अतिथिसेवी होते हैं। विदेशियों का वे स्वागत करते हैं। स्थलमार्ग से जो यूरोपियन लोग पिछली सदियों में चीन आते-जाते थे, उनके प्रति चीनी लोग बहुत अच्छा व्यवहार करते थे। पर समुद्र मार्ग से आने-जाने वाले ये यूरो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पियन लोग केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट नहीं थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए भी वे कटिबद्ध थे। उनका यह यत्न था, कि एशिया के विविध प्रदेशों पर अपने आधिपत्य की स्थापना करें। यही कारण है, कि इस समय चीनो लोग यूरोप के व्यापारियों का स्वागत करने के लिए इच्छुक नहीं थे। १६४४ में चीन में मिंग वंश का अंत होकर मञ्चू वंश के शासन की स्थापना हो गई थी। १६८५ में सम्राट् कांग-ह्सी ने एक उद्घोषणा प्रकाशित की, जिसके अनुसार यूरोपियन लोगों को चीन के तटवर्ती सब बन्दरगाहों में व्यापार की अनुमति प्रदान कर दी गई। पर यूरोपियन व्यापारियों ने इस सुविधा का दुरुपयोग किया, और वे चीन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगे। परिणाम यह हुआ कि १७५७ में सम्राट् चिएन-लुंग ने यह आज्ञा प्रकाशित की, कि विदेशी यूरोपियन लोग केवल कैन्टन में ही व्यापार कर सकें, अन्यत्र नहीं। कैन्टन चीन का सबसे दक्षिणी बन्दरगाह था। १७५७ के बाद यूरोपियन व्यापारियों के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे कैन्टन के अतिरिक्त किसी अन्य बन्दरगाह में व्यापार के लिए आ-जा सकें। चीन ने जो यह व्यवस्था की थी, उसका कारण यह नहीं था कि चीनी लोग विदेशी व्यापार के विरोधी थे या उन्हें यूरोपियन लोगों से कोई घृणा थी। ईसाई मिशनरियों को अपने धर्म का प्रचार करने के लिए चीनी सरकार ने अनुमति दी हुई थी। पर साम्राज्यवादी यूरोपियन लोग चीन में जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उस से विवश होकर ही चीन के सम्राट् ने उनके व्यापार के क्षेत्र को केवल कैन्टन तक ही सीमित कर दिया था।

कैन्टन के साथ व्यापार—कैन्टन में भी यूरोपियन व्यापारियों को यह अनुमति नहीं थी, कि वे साल भर वहाँ रह सकें। ग्रीष्म ऋतु में उन्हें वहाँ रहने की अनुमति नहीं थी। वे केवल व्यापार के दिनों में ही कैन्टन आकर रह सकते थे। अन्य समय में उन्हें मकाओ चले जाना पड़ता था। व्यापार के दिनों में भी यूरोपियन व्यापारी अपने परिवारों को कैन्टन में नहीं ला सकते थे। चीनी सरकार इस बात के लिए उत्सुक थी, कि यूरोपियन लोग कैन्टन में अपनी स्थायी बस्तियां न बसा सकें।

यूरोपियन व्यापारियों को यह अनुमति भी नहीं थी, कि वे जिस किसी चीनी व्यापारी से माल खरीद सकें या जिस किसी चीनी व्यापारी को अपना माल बेच सकें। १७०२ में इसके लिये एक पृथक् चीनी व्यापारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी, और यूरोपियन व्यापारियों को यह आदेश दिया था, कि वे केवल इस एक सम्राट् के प्रतिनिधि व्यापारी से ही माल का क्रय-विक्रय कर सकें। यूरोपियन लोगों को चीन से जो माल खरीदना होता था, वे इस एक ही व्यापारी से उसे खरीद सकते थे, और इसी को वे अपना माल बेच सकते थे। पचास साल बाद १७५२ में इस एक व्यापारी के स्थान पर व्यापारियों के एक संघ (को-होंग) का निर्माण किया गया, और यूरोपियन व्यापारियों को यह सुविधा दी गई, कि वे एक चीनी व्यापारी के स्थान पर इस व्यापारी-संघ से माल का क्रय-विक्रय कर सकें। इस समय चीन के सब बन्दरगाह यूरोपियन लोगों के लिए खोल दिये गये थे, और इन विविध बन्दरगाहों में यूरोपियन देशों के व्यापारी को-होंग से माल का क्रय-विक्रय किया करते थे। १७५७ में कैन्टन के अतिरिक्त अन्य सब बन्दरगाह फिर यूरोपियन लोगों के लिए बन्द कर दिये गये। को-होंग के व्यापारी कैन्टन में आ गये, और वहीं पर चीन के साथ यूरोप के लोगों का सब व्यापार केन्द्रित हो गया। को-होंग में सम्मिलित व्यापारियों की संख्या तेरह थी। यूरोपियन व्यापारियों को यह अवसर नहीं था, कि वे अन्य किसी चीनी व्यापारी के साथ व्यापार कर सकें। इसी प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि अन्य किसी चीनी व्यापारी को यूरोपियन लोगों के साथ माल का क्रय-विक्रय करना होता था, तो वह भी केवल को-होंग की मार्फत ही कर सकता था।

यूरोपियन लोग कैन्टन शहर के बाहर निवास करते थे। वहाँ उनकी व्यापारिक कोठियां कायम थीं। यूरोपियन लोग चीनी भाषा सीखने का कष्ट नहीं उठाते थे। बात-चीत और पत्र-व्यवहार के लिए उन्होंने चीनी लोगों को दुभाषिये के रूप में नौकरी में रखा हुआ था। कैन्टन के इन विदेशी व्यापारियों में इंगलिश लोग सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण थे। १७१५ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा कैन्टन में एक कोठी की स्थापना की गई थी। कम्पनी की ओर से वहाँ अनेक सुपरिन्टेन्डेन्ट निवास करते थे। स्वतन्त्र अंग्रेज व्यापारियों को यह अधिकार नहीं था, कि वे कम्पनी से पृथक् अपना व्यापार कर सकें। १७८९ में अमेरिकन लोगों ने भी कैन्टन में अपनी कोठियां कायम कीं, और इस प्रकार इङ्गलिश, पोर्तुगीज, स्पेनिश, डच और फ्रेञ्च लोगों के समान अमेरिकन लोग भी चीन के साथ अपने व्यापार का विकास करने में तत्पर हुए।

शुरू में विदेशी लोग चीन से केवल माल खरीदते ही थे। उनके पास कोई ऐसा माल नहीं था, जिसे वे चीन में बेच सकते। इसके विपरीत चीन की चाय, रेशम और मिट्टी के बरतन आदि की यूरोप में बहुत माँग थी। इन्हें यूरोपियन और अमेरिकन व्यापारी खूब ऊँची कीमत पर अन्य देशों में बेचा करते थे। चीन के माल की कीमत सोने-चांदी में अदा की जाती थी। पर धीरे-धीरे इन विदेशी व्यापारियों ने चीन में भी बाहर से माल लाना शुरू किया। इङ्गलैंड में इस समय तक व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो चुका था। वहां कपड़े के बड़े-बड़े कारखाने स्थापित होने शुरू हो गये थे, जिनमें तैयार हुए वस्त्र संसार के विविध बाजारों में सस्ते मूल्य पर बिक सकते थे। इसी तरह कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका के जंगलों से जो फर एकत्र की जाती थी, दुनिया के धनी लोग उसे बड़े शौक से खरीदने लगे थे। इंगलैंड के कपड़ों और अमेरिका की फरों की चीन में भी माँग बढ़ने लगी, और इस प्रकार विदेशी माल का विक्रय भी वहाँ शुरू हुआ। पर ब्रिटिश लोग केवल इतने से ही सन्तुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे, कि चीन में किसी ऐसे पदार्थ की खपत को बढ़ाया जाय, जिससे वहाँ निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा अधिक हो जाय और उन्हें चीन के माल के लिए सोना-चांदी के रूप में कीमत न अदा करनी पड़े। इस समय (अठारहवीं सदी) तक भारत के अनेक प्रदेश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रभुत्व में आ चुके थे। कम्पनी के व्यापारी वहां अफीम की खेती बड़े परिमाण में करा रहे थे, और उनका यह प्रयत्न था कि चीन में इस अफीम के लिए बाजार तैयार किया जाय। चीनी लोग अफीम के आदि नहीं थे। पर ब्रिटिश लोगों ने उन्हें अफीम का सेवन करना सिखाया। उन्होंने पहले तम्बाखू में अफीम मिलाकर चीनी लोगों को उसकी आदत डाली। एक बार अफीम के आदी होकर चीनी लोगों ने तम्बाखू के बिना शुद्ध रूप से भी अफीम खाना और उसका हुक्का पीना शुरू कर दिया। सन् १८०० तक चीन में अफीम का इतना अधिक प्रचार हो गया था, और इतनी अधिक अफीम यूरोपियन व्यापारियों द्वारा वहां बिकनी प्रारम्भ हो गई थी, कि उसकी कीमत उस माल की कीमत से अधिक बढ़ गई थी, जो विदेशी व्यापारी चीन से खरीदते थे। चीन की सरकार इस स्थिति से बहुत चिन्तित थी। अफीम के प्रचार को वह अत्यन्त आपत्तिजनक समझती थी। स्वास्थ्य और नैतिकता दोनों की दृष्टि से अफीम का सेवन अत्यन्त हानिकारक था। अतः १८०० में चीन के सम्राट् ने यह आज्ञा प्रकाशित की, कि कोई विदेशी व्यापारी चीन में अफीम न ला सके। यद्यपि अफीम का क्रय-विक्रय गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था, पर इससे उसका प्रचार रुका नहीं। यूरोपियन व्यापारी छिपकर अफीम को चीन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाते थे, और चीनी लोग उसके इतने अधिक आदी हो चुके थे, कि उसे छिपकर खरीदते थे। सरकारी अफसर भी इस व्यापार में सहायक थे, क्योंकि इससे उन्हें बहुत आमदनी थी। यूरोपियन व्यापारियों से रिश्वत लेकर वे उन्हें अफीम बेचने से नहीं रोकते थे, और इस प्रकार अफीम का व्यापार निरन्तर उन्नति करता जाता था। पर चीन की सरकार इस ओर से विमुख नहीं थी। वह अनुभव करती थी, कि अफीम से देश को भारी नुकसान पहुँच रहा है। अतः वह इस बात के लिए प्रयत्नशील थी, कि जिस प्रकार भी सम्भव हो, अफीम के व्यापार को रोका जाय। १८३८ में चीन की सरकार ने अफीम के व्यापार के विरुद्ध सख्त कार्रवाई शुरू की। परिणाम यह हुआ, कि अंग्रेज व्यापारियों को नुकसान होने लगा। अर्थिक दृष्टि से अफीम का व्यापार अंग्रेजों के लिए आमदनी का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन था। उसे नष्ट होता देखकर उनके रोष की सीमा नहीं रही। इसी का यह परिणाम हुआ, कि अंग्रेजों की चीन के साथ लड़ाई का सूत्रपात हुआ। ब्रिटिश लोग अपने स्वार्थ के कारण इस बात की जरा भी चिन्ता नहीं करते थे, कि अफीम से चीन के लोगों को कितना अधिक नुकसान पहुँच रहा है। वे समझते थे, कि उन्हें इस बात का पूरा अधिकार है, कि जिस माल को चाहें चीन में बेच सकें। अपने व्यापार पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण उन्हें सह्य नहीं था। चीन की सरकार जो अफीम के व्यापार में रुकावट डाल रही थी, उसका कारण भी केवल नैतिक ही नहीं था। अफीम की माँग के अत्यधिक बढ़ जाने से चीन में एक प्रकार का आर्थिक संकट उपस्थित होने लगा था। निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा अधिक बढ़ गई थी, और इस माल की कीमत चीन के लोगों को सोना-चाँदी के रूप में अदा करनी पड़ती थी। इससे देश का धन निरन्तर विदेशों में पहुँच रहा था, और यह स्थिति चीन के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक थी।

(२) इंगलैंड और चीन में अफीम के प्रश्न पर युद्ध (१८३९-१८४२)

युद्ध के कारण—अफीम के व्यापार को बन्द कर देने के कारण ब्रिटिश व्यापारियों को बहुत अधिक नुकसान था। अतः वे इस बात के लिए उत्सुक थे, कि चीन के साथ युद्ध प्रारम्भ कर व्यापार-सम्बन्धी नई सुविधाएँ प्राप्त करें। पर ब्रिटेन और चीन के युद्ध का एकमात्र कारण अफीम की समस्या ही नहीं थी। इस युद्ध के कारणों को निम्नलिखित रूप से स्पष्ट किया जा सकता है :—

(१) ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि चीन में भी अपना प्रभुत्व स्थापित करें। उन्नीसवीं सदी के शुरू तक भारत के अनेक प्रदेश ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ चुके थे, और वहां ब्रिटेन का आधिपत्य निरन्तर बढ़ता जा रहा था। पूर्वी एशिया के अन्य भी अनेक प्रदेशों और द्वीपों पर ब्रिटिश लोग अपना शासन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे। वे समझते थे, कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर वहाँ भी अपना प्रभाव व प्रभुत्व कायम किया जा सकता है।

(२) इस युग में यूरोपियन लोगों में अपनी उत्कृष्टता की भावना भलीभांति विकसित हो चुकी थी। व्यावसायिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति के कारण यूरोप के देश एशिया के देशों के मुकाबिले में उन्नति की दौड़ में बहुत आगे निकल गये थे। इसलिये उनमें यह विचार बद्धमूल हो गया था, कि हम एशिया और अफ्रीका के निवासियों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। प्रभुत्वशक्ति (सोविरेनिटी) राज्यों की एक अनिवार्य विशेषता होती है, चीन भी एक प्रभुत्वशक्ति-सम्पन्न राज्य है और उसे यह अधिकार है, कि व्यापार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि के सम्बन्ध में अपनी इच्छानुसार व्यवस्था कर सके, यह बात उनकी समझ में नहीं आती थी। चीन की सरकार ने यह व्यवस्था की थी, कि विदेशी व्यापारी केवल को-होंग द्वारा ही व्यापार कर सकें, जनता और सरकार के साथ उनका सीधा सम्पर्क न हो। पर ब्रिटिश लोग कहते थे, कि कैन्टन में स्थित उनका सुपरिन्टेन्डेन्ट ब्रिटेन का प्रतिनिधि है। चीन की सरकार को चाहिये, कि उसके साथ वैसा व्यवहार न करें, जैसा कि साधारण व्यापारियों के साथ किया जाता है। उसे ब्रिटेन का प्रतिनिधि माना जाना चाहिये। १८३४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के व्यापारिक एकाधिकार का अन्त कर दिया गया था, और अन्य ब्रिटिश व्यापारियों को भी यह अधिकार दे दिया गया था, कि वे कैन्टन में स्वतन्त्र रूप से व्यापार कर सकें। इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने अपनी ओर से वहाँ एक सुपरिन्टेन्डेन्ट की नियुक्ति कर दी थी, जो विविध ब्रिटिश व्यापारियों के कार्यों पर निगाह रखता था। १८३४ में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार का अन्त हो जाने के बाद सुपरिन्टेन्डेन्ट के इस पद पर लार्ड नेपियर की नियुक्ति की गई थी। कैन्टन में लार्ड नेपियर का कार्य राजनीतिक नहीं था, उसकी नियुक्ति केवल व्यापार के लिए हुई थी। इस दशा में चीन की सरकार को यह अधिकार था, कि वह उसके साथ कोई सम्बन्ध न रखे। चीन की सरकार का कहना था, कि सरकार का व्यापार के मामलों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसका कार्य केवल यह है कि वह जनता पर शासन करे और अपराधियों को दण्ड दे। व्यापारसदृश विषय ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध व्यापारियों से होता हैं, राज्य से नहीं। इसलिए यदि चीनी सरकार लार्ड नेपियर से कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहती थी, तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं था। पर ब्रिटिश लोग समझते थे, कि चीनी सरकार उन्हें नीची निगाह से देखती है, और इसीलिये ब्रिटेन के प्रतिनिधि से वह कोई सम्पर्क नहीं रखना चाहती। पर वास्तविक बात इससे ठीक उल्टी थी। कैन्टन में विद्यमान ब्रिटिश व्यापारी अपने को केवल व्यापारी ही नहीं समझते थे, वे चीन में ब्रिटिश प्रभाव को स्थापित करने के लिए भी उत्सुक थे। इसी लिये वे यह कहते थे, कि क्योंकि उनका सुपरिटेन्डेन्ट ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त है, अतः वह यह अधिकार रखता है, कि व्यापार-विषयक मामलों पर सम्राट् और उसके उच्च अधिकारियों से ब्रिटिश राजदूत के रूप में विचार-विनिमय कर सके। चीन की सरकार ब्रिटिश सुपरिन्टेन्डेन्ट की इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी। ब्रिटेन और चीन में जो विरोध बढ़ रहा था, उसमें यह भी एक प्रधान कारण था।

(३) कैन्टन में निवास करने वाले ब्रिटिश लोग कानून की दृष्टि से चीन के अधीन हैं या नहीं, इस प्रश्न पर भी ब्रिटेन और चीन में मतभेद था। १७८४ में एक अंग्रेज की बन्दूक से एक चीनी नागरिक की हत्या हो गई थी। चीन की सरकार का कहना था, कि इस अंग्रेज को चीनी पुलिस के सुपुर्द किया जाय और चीनी अदालत में उसके अपराध का निर्णय हो। पर ब्रिटिश लोग कहते थे, यह सम्भव नहीं है कि कोई अंग्रेज चीन की अदालत के सम्मुख पेश हो और वहाँ उसके अपराध का निर्णय किया जाय। १७८४ के इस मामले में उस अंग्रेज को गिरफ्तार करके चीनी अदालत द्वारा प्राणदण्ड दिया गया। अंग्रेज लोग इससे बहुत असंतुष्ट हुए। १७९३ में मैकार्टने नामक अंग्रेज के नेतृत्व में एक ब्रिटिश मिशन ने यह प्रयत्न किया, कि कैन्टन की अंग्रेजों बस्ती में अंग्रेजों को स्वशासन का अधिकार मिल जाये, और अंग्रेज अभियुक्तों का निर्णय अंग्रेजी अदालत द्वारा ही किया जाया करे। पर इस प्रयत्न में मैकार्टने मिशन को सफलता नहीं हुई। १७९३ के बाद भी अनेक ऐसे मामले पेश आये, जिनमें ब्रिटिश अभियुक्तों पर चीनी अदालतों में मुकदमे दायर किये गये, और वहाँ उन्हें दण्ड दिया गया। ब्रिटिश लोग इस बात से बहुत असंतुष्ट थे। उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत होता था, कि चीन का न्यायाधीश किसी अंग्रेज के मामले का निर्णय करे।

(४) अफीम की समस्या ब्रिटेन और चीन के इस युद्ध का प्रमुख व तात्कालिक कारण थी। १८३९ में चीन की सरकार ने कैन्टन में एक विशेष राजकर्मचारी की नियुक्ति की, जिसे अफीम के व्यापार का अन्त करने का कार्य सुपुर्द किया गया। उसने ब्रिटिश और अन्य यूरोपियन व्यापारियों को इस बात के लिये विवश किया, कि उसके पास अफीम की जो पेटियाँ हों, उन सबको वे सरकार के सुपुर्द कर दें, ताकि उन्हें नष्ट कर दिया जाय। इस राजकर्मचारी ने यह भी कहा, कि यूरोपियन व्यापारियों को यह भी आश्वासन देना होगा, कि वे भविष्य में फिर कभी अफीम को कैन्टन में नहीं लाएंगे। ब्रिटिश व अन्य यूरोपियन व्यापारियों ने अपने पास विद्यमान अफीम को तो चीनी राजकर्मचारी के सुपुर्द कर दिया, पर वे भविष्य के सम्बन्ध में किसी प्रकार का आश्वासन देने के लिए तैयार नहीं हुए। उनका खयाल था, कि शक्ति का उपयोग कर वे चीन की सरकार के आदेश की उपेक्षा कर सकते हैं। इस दशा में युद्ध का प्रारम्भ हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था।

चीन और ब्रिटेन का युद्ध—१८३९ से १८४२ तक चीन और ब्रिटेन में युद्ध जारी रहा। इस काल में ब्रिटिश जलसेना ने कैन्टन का घेरा डाल दिया था। समुद्र में ब्रिटेन की शक्ति का मुकाबिला कर सकना चीन के लिए कठिन था, जिसके कारण प्रशान्त महासागर के तटवर्ती अनेक नगर और द्वीप ब्रिटेन के कब्जे में आ गये थे। ब्रिटिश सेना ने चिन्कियांग को जीत कर नानकिंग पर भी हमला करने की तैयारी शुरू कर दी थी। इस दशा में चीनी सरकार ने यही उचित समझा, कि ब्रिटेन के साथ समझौते की बात प्रारंभ की जाय। अस्त्र-शस्त्र और सैन्यशक्ति की दृष्टि से इस समय चीनी लोग ब्रिटेन का मुकाबिला नहीं कर सकते थे। २९ अगस्त, १८४२ के दिन चीन और ब्रिटेन में समझौता हो गया। यह समझौता नानकिंग की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है।

नानकिंग की सन्धि (१८४२)—इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटिश लोगों को न केवल कैन्टन में, अपितु अमॉय, फूचो, निंगपो और शंघाई में भी बसने और व्यापार करने का अधिकार प्राप्त हो। (२) हांगकांग का द्वीप ब्रिटेन को मिले। (३) चीन और ब्रिटेन के राजकर्मचारी परस्पर समानता के आधार पर रहें। (४) चीन के निर्यात और आयात माल पर किस हिसाब से कर लगाया जाय, इसकी दरें निश्चित कर दी जाएं और इन दरों को प्रकाशित कर दिया जाय, ताकि उनके सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के विवाद की गुंजाइश न रहे। (५) को-हांग को तोड़ दिया जाय, और ब्रिटिश व्यापारी चीनी व्यापारियों के साथ स्वतन्त्र रूप से माल का क्रय-विक्रय कर सकें। (६) चीन की सरकार ब्रिटेन को दस करोड़ रुपया हरजाना दे। इसमें से तीन करोड़ रुपया उस अफीम की कीमत थी, जो चीन की सरकार के विशेष कर्मचारी ने ब्रिटिश लोगों से छीनकर नष्ट कर दी थी। छः करोड़ रुपया लड़ाई के खर्च के लिए चीनी सरकार को हरजाना देना पड़ा था, और शेष रकम वह थी, जो कि को-हांग के व्यापारियों द्वारा ब्रिटिश व्यापारियों को प्रदान की जानी थी।

अन्य राज्यों से सन्धियां—नानकिंग की सन्धि के बाद अन्य पाश्चात्य देशों ने भी चीन से इसी ढंग की सन्धियां करने का प्रयत्न किया। संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति मि० टाइलर ने मि० कशिंग को चीन में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा, और उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे चीन जाकर सम्राट् से मिलें। यदि सम्राट् से भेंट कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकना सम्भव न हो, तो वे किसी अन्य उच्च राजपदाधिकारी से मिलकर चीन के साथ सन्धि स्थापित करने का प्रयत्न करें। २४ फरवरी, १८४४ को मि० कशिंग मकाओ पहुँचे। वे पेकिंग जाकर सम्राट् से तो नहीं मिल सके, पर चीन के साथ सन्धि करने में सफल हो गए। इस अमेरिकन सन्धि की शर्तें प्रायः वही थीं, जो नानकिंग की सन्धि की थीं। पर इनमें एक शर्त नई भी थी, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इस शर्त के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी, कि यदि चीन के किसी नागरिक के खिलाफ यह अभियोग हो, कि उसने किसी अमेरिकन नागरिक के साथ किसी प्रकार की फौजदारी की है, तो उस पर चीनी अदालत में मुकदमा चले और उसे चीनी कानून के अनुसार दण्ड दिया जाय। इसी प्रकार यदि किसी अमेरिकन नागरिक के विरुद्ध फौजदारी का कोई अभियोग हो, तो उसका फैसला अमेरिकन अदालत में अमेरिकन कानून के अनुसार किया जाय। ऊपर से देखने पर यह शर्त बहुत उचित और न्याय्य प्रतीत होती है। पर इससे चीन में उस पद्धति का प्रारम्भ हुआ, जिसे अंग्रेजी में 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी' कहते हैं। यह तो उचित ही था, कि चीन के नागरिकों के मुकदमों का फैसला चीनी अदालत में हो। पर प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्न चीनी राज्य को अमेरिकन अभियुक्तों के अपराधों का फैसला करने का अधिकार न हो, यह बात चीन की प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्नता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सर्वथा विपरीत थी। दीवानी मामलों में भी अमेरिकन नागरिकों के मुकदमों का फैसला अमेरिकन अदालतें ही करें, कुछ समय बाद यह बात भी चीन की सरकार ने स्वीकार कर ली। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ, कि चीन में निवास करने वाले अमेरिकन लोग चीन की सरकार के शासन में नहीं रह गये। चीनी सरकार न उन्हें गिरफ्तार कर सकती थी, और न उन्हें किसी प्रकार का दण्ड दे सकती थी। इस व्यवस्था के कारण चीन में विदेशी लोगों के एक इस प्रकार के प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ, जिसने चीन की प्रभुता और स्वतन्त्र सत्ता को भारी आघात पहुँचाया। अमेरिका के बाद ब्रिटेन और अन्य यूरोपियन राज्यों ने भी 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी' के इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त किये।

अमेरिका और ब्रिटेन के अनुकरण में कुछ समय बाद फ्रांस ने भी चीन की सरकार के साथ सन्धि की। इस सन्धि में एक विशेष बात यह थी, कि फ्रांस के रोमन कैथोलिक मिशनरियों को यह अधिकार दे दिया गया, कि वे कैन्टन तथा अन्य बन्दरगाहों में (जो कि अब यूरोपियन व्यापारियों के लिए खोल दिये जा चुके थे) अपने गिरजाघरों का निर्माण कर सकें, और अपने धर्म का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रचार कर सकें। बाद में अन्य पाश्चात्य देशों के ईसाई पादरियों को भी यही अधिकार दिये गए, और रोमन कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट पादरी गिरजाघरों के निर्माण एवं धर्म-प्रचार के कार्य के लिए सर्वथा स्वतन्त्र हो गये।

सन्धियों का परिणाम—ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस के साथ जो संधियाँ उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य भाग में की गई, उनका मुख्य परिणाम यह हुआ, कि चीन के विशाल प्रदेश पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए खुल गये। इन सन्धियों का प्रयोजन केवल यही नहीं था, कि पाश्चात्य लोग चीन के साथ व्यापार कर सकने की उचित सुविधाएं प्राप्त कर सकें। पाश्चात्य देशों के लोग इन संधियों द्वारा चीन में ऐसे अधिकारों को भी प्राप्त कर रहे थे, जो आगे चलकर उनकी प्रभुता व शक्ति की स्थापना में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए। कैन्टन आदि बन्दरगाहों में अब पाश्चात्य देशों की व्यापारिक कोठियों के साथ-साथ उनकी बस्तियां भी विकसित होनी शुरू हुई। इन बस्तियों में ये देश अपनी सेनाएं रखते थे और अपने देशवासियों का शासन भी स्वयं करते थे। व्यावसायिक और वैज्ञानिक दृष्टि से चीनी लोग पाश्चात्य लोगों के मुकाबिले में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पिछड़े हुए थे। सैनिक दृष्टि से उनकी शक्ति पाश्चात्य देशों की अपेक्षा कम थी। इस स्थिति से लाभ उठाकर पाश्चात्य देश इस बात के लिए प्रयत्नशील थे, कि चीन की सरकार पर सब प्रकार से दबाव डालें, और उसे विदेशियों को सब प्रकार की सुविधाएं प्रदान करने के लिए विवश करें।

(३) ताईपिंग विद्रोह (१८५१-१८६४)

पाश्चात्य साम्राज्यवादी देश चीन को अपनी अधीनता में ले आने के लिए प्रयत्नशील थे। प्रथम अफीम युद्ध के बाद नानकिंग की सन्धि द्वारा ब्रिटेन और अन्य पाश्चात्य देशों ने चीन में अनेकविध अधिकार प्राप्त कर लिए थे। इनके कारण चीन और उसकी जनता की जो दुर्दशा हो रही थी, मञ्चू सम्राट् उसकी ओर से पूरी तरह से बेखबर थे। नानकिंग की सन्धि के अनुसार करोड़ों रुपयों की जो रकम चीनी सरकार द्वारा ब्रिटेन को प्रदान की जानी थी, उसे प्राप्त करने के लिए सरकार ने किसानों पर अनेकविध नये कर लगाये। किसानों की दशा पहले ही खराब थी, अब इन अतिरिक्त करों के कारण वे और भी अधिक दुर्दशाग्रस्त हो गये। करों को प्रदान करने के लिए वे जमींदारों और महाजनों से रुपया उधार लेने के लिए विवश हुए, जिसका सूद अदा कर सकना भी उनके लिए कठिन था। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से किसानों ने अपनी जमीनें साहूकारों को बेच दीं, और वे मजदूरी करके अपना गुजारा करने लगे। इस समय चीन के किसानों में बहुत असंतोष था, अपनी आर्थिक दुर्दशा के कारण और विदेशियों के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव के कारण। यह असन्तोष कुछ समय बाद एक विद्रोह के रूप में प्रकट हुआ, जो चीन के इतिहास में 'ताईपिंग विद्रोह' के नाम से प्रसिद्ध है। नानकिंग की सन्धि १८४२ में हुई थी। १८४२ से १८६४ तक चीन में १०० से भी अधिक विद्रोह हुए, जिनमें से २६ अकेले १८४७ के साल में हुए थे। ये विद्रोह उन गुप्त क्रान्तिकारी समितियों द्वारा प्रारम्भ हुए थे, जिनका संगठन विदेशियों के निरन्तर बढ़ते हुए आधिपत्य का विरोध करने के लिए किया गया था, और जिनमें दुर्दशाग्रस्त किसान अच्छी बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए थे। इन गुप्त समितियों का उद्देश्य यह था, कि मञ्चू सम्राटों के निर्बल शासन का अन्त कर एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाए, जो विदेशी साम्राज्यवाद का मुकाबिला कर सकने में समर्थ हो, और साथ ही आर्थिक व सामाजिक सुधारों द्वारा जो देश एवं जनता की दशा को भी उन्नत कर सके।

१८५१ से १८६४ तक चीन में जो अनेक विद्रोह हुए, उनमें 'ताईपिंग विद्रोह' सबसे महत्त्वपूर्ण है। इनका प्रधान नेता हुंग ह्सिउ-चुआन था, जिसने अपने जीवन का प्रारम्भ एक शिक्षक के रूप में किया था। वह क्वांगतुंग का निवासी था। उसके हृदय में विकृत मञ्चू सरकार के प्रति उत्कट घृणा की भावना विद्यमान थी, और उसका विचार था कि सर्वसाधारण जनता की दुर्दशा का मूल कारण इस सरकार का शासन ही है। अपने अनेक साथियों के सहयोग से उसने एक गुप्त समिति की स्थापना की, जिसका नाम 'शांगती हुई' था। बहुत-से किसान और मजदूर इस समिति में सम्मिलित हो गये। १८४९ में क्वांगतुंग में घोर दुर्भिक्ष पड़ा, जिसके कारण जनता में हाहाकार मच गया। हुंग ह्सिउ-चुआन ने समझा कि मञ्चू शासन का अन्त करने का यह उत्तम अवसर है। उसके अनुयायी एक स्थान पर एकत्र हुए, और ११ जनवरी, १८५१ के दिन उन्होंने ताइपिंग तिएन कुओ (चिर शान्ति का दैवी राज्य) की घोषणा कर दी। यह एक विद्रोही या क्रान्तिकारी सरकार थी, जो मञ्चू शासन को स्वीकृत नहीं करती थी, और उसका अन्त कर सम्पूर्ण चीन को अपनी अधीनता में ले आने के लिए प्रयत्नशील थी। मञ्चू सेनाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से इसका संघर्ष निरन्तर जारी रहा, और अनेक युद्धों में इसने मञ्चू सरकार को परास्त किया। मञ्चू सरकार से इसके जो संघर्ष हुए, उनका उल्लेख यहां कर सकना संभव नहीं है। धीरे-धीरे ताइपिंग सरकार ने नानकिंग को भी जीत लिया, और उसे राजधानी बनाकर अपना शासन प्रारम्भ कर दिया। दक्षिणी चीन के अनेक प्रदेश इसकी अधीनता में आ गये थे।

ताइपिंग सरकार ने अपने राज्यक्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये। जागीरदारी प्रथा का अन्त कर उसने किसानों का भूमि पर स्वत्त्व स्थापित किया। उसकी नीति यह थी, कि प्रत्येक वयस्क किसान को इतनी कृषि-योग्य भूमि प्रदान कर दी जाए, जिससे कि वह अपना निर्वाह भली-भांति कर सके। 'खेत किसान के हैं और उन पर किसानों का ही स्वत्त्व होना चाहिये', इस नीति का अनुसरण कर इस सरकार ने किसानों की दशा को उन्नत करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। इसने स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किये। पुराने समाज में चीन की स्त्रियों को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। पर ताइपिंग सरकार ने इस स्थिति में सुधार किया। उन्हें भी खेती के लिए जमीनें दी गईं, और यह अवसर प्रदान किया गया, कि नियत परीक्षाओं को पास कर वे भी सरकारी पद भी प्राप्त कर सकें। उन्हें सेना में भरती होने की भी अनुमति दी गई, और स्त्रियों के क्रय-विक्रय व वेश्यावृत्ति को कानून के विरुद्ध घोषित कर दिया गया। बहुविवाह की प्रथा का विरोध किया गया, और दहेज आदि को भी अनुचित ठहराया गया। इसी प्रकार के अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये गये, जिनके कारण ताइपिंग सरकार द्वारा शासित प्रदेशों की दशा बहुत उन्नत हो गई। जो अनेक विदेशी यात्री इस समय नानकिंग आये, उन्हें वहां की बदली हुई दशा को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। अनेक विदेशी यात्रियों ने इस सरकार के सुधार-प्रयत्नों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

ताइपिंग सरकार का प्रयत्न था, कि मञ्चू शासन का अन्त कर सम्पूर्ण चीन को अपनी अधीनता में ले आया जाए। मई, १८५३ में उसने उत्तर दिशा में आक्रमण प्रारम्भ किये। पांच मास में ताइपिंग की सेनाएं पेकिंग पहुंच गईं, जिसके कारण मञ्चू सम्राट् को अपनी राजधानी छोड़कर अन्यत्र चले जाने की योजना बनाने के लिये विवश होना पड़ा। पर मञ्चू सरकार की शक्ति अभी पूर्णतया क्षीण नहीं हो गई थी। ब्रिटेन, फ्रांस आदि पाश्चात्य साम्राज्यवादी देशों को भी यह सह्य नहीं था, कि ताइपिंग सरकार पेकिंग को जीतकर मञ्चू शासन का अन्त कर दे। उन्होंने भी मञ्चू सम्राट् की सहायता की, जिसके कारण ताइपिंग सेनाओं के लिए पेकिंग की विजय कर सकना संभव नहीं हो सका। पर दक्षिणी चीन पर ताइपिंग सरकार का कब्जा कायम रहा, और नानकिंग को राजधानी बनाकर वह अपना कार्य करती रही।

इसी बीच में पाश्चात्य राज्यों से चीन का दूसरा युद्ध प्रारम्भ हो गया (१८५६)। इस युद्ध का वृतान्त हम अगले प्रकरण में लिखेंगे। पाश्चात्य साम्राज्यवादी देश इस समय चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने में तत्पर थे। वे यह कब सहन कर सकते थे, कि नानकिंग में एक ऐसी सरकार स्थापित रहे, जो देश की दशा को सुधारने में तत्पर हो और जो विदेशियों के साम्राज्यवाद की विरोधी हो। इस कारण जब १८६० में द्वितीय युद्ध का अन्त हो गया, तो पाश्चात्य राज्यों की सेनाओं ने पूर्णरूप से मञ्चू सरकार की सहायता की, जिसके कारण वह ताइपिंग सेनाओं को परास्त करने में सफल हुई। मञ्चू सरकार और ब्रिटेन, फ्रांस आदि विदेशी राज्यों की सम्मिलित शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का सामना कर सकना ताइपिंग सेनाओं के लिए सम्भव नहीं था। मई, १८६२ में नानकिंग जीत लिया गया, और १८६४ तक ताइपिंग शक्ति का पूर्णरूप से अन्त कर दिया गया। यद्यपि ताइपिंग विद्रोह सफल नहीं हो सका, और मञ्चू सम्राट् अपनी शक्ति को कायम रख सकने में समर्थ हुए, पर इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता, कि प्रायः १४ वर्षों तक चीन के देशभक्तों ने अपने देश में एक ऐसी सरकार को कायम करने का भगीरथ प्रयत्न किया, जो किसानों की दशा को सुधारने के लिए प्रयत्नशील थी, जो नवीन सुधारों की पक्षपाती थी, और जो विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व का विरोध करने के लिए तत्पर थी। इस काल (१८५१-१८६४) में चीन में अन्य भी अनेक विद्रोह हुए जो ताइपिंग विद्रोह से स्वतन्त्र थे, पर वे भी सफल नहीं हो सके। पर इससे यह अवश्य सूचित होता है, कि चीन की जनता अपने देश की दुर्दशा और बढ़ते हुए विदेशी प्रभाव व प्रभुत्व से उद्वेग अनुभव करती थी, और उसका प्रतिरोध करने के लिए सक्रिय रूप से प्रयत्नशील भी थी।

विदेशी लोगों ने इस विद्रोह के अवसर पर जो ताइपिंग सरकार के विरुद्ध मञ्चू सरकार की सहायता की थी, उसका प्रधान कारण यह था कि मञ्चू शासन बहुत विकृत था। उसके कायम रहने की दशा में इन विदेशियों को यह सुगम प्रतीत होता था, कि वे चीन में अपने प्रभाव व प्रभुता को अधिक सुगमता से स्थापित कर सकेंगे।

यद्यपि मञ्चू सरकार इन विद्रोहों का दमन करने में सफल हुई, पर उसके अपने लिये भी इसके अनेक दुष्परिणाम हुए। चीन की सेना पर पाश्चात्य लोगों का प्रभाव बढ़ गया, और चीनी सरकार आर्थिक दृष्टि से बहुत हीन दशा को प्राप्त हो गई। इन विद्रोहों का सामना करने के लिए मञ्चू सरकार को बहुत रुपया खर्च करना पड़ा था। इसे प्राप्त करने का यही उपाय था, कि जनता पर नये टैक्स लगाये जाएँ और विदेशों से रुपया कर्ज लिया जाए। नये टैक्सों से जनता में असन्तोष निरन्तर बढ़ता गया, और कर्ज के कारण मञ्चू सरकार विदेशों पर अधिक-अधिक आश्रित होती गई। १८७६ में चीन को अनेक प्राकृतिक विपत्तियों का भी सामना करना पड़ा। विद्रोहों और निरन्तर युद्धों के कारण देश में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उससे खेती को बहुत नुकसान पहुँचा था। इस पर १८७६ में जब टिड्डी दल ने चीन के बड़े भाग पर आक्रमण किया, तब जो थोड़ी बहुत फसल बोयी जा सकी थी, वह भी नष्ट हो गई। १८७६--७८ में चीन की जनता को घोर दुर्भिक्ष का सामना करना पड़ा, जिसमें लाखों आदमी मौत के शिकार हो गए। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मञ्चू शासन निर्बल हो जाए, और जनता में उसके प्रति असन्तोष की भावना बढ़ने लगे।

(४) पाश्चात्य राज्यों से चीन का दूसरा युद्ध (१८५६-६०)

१८४२ में ब्रिटेन और चीन में जो सन्धि हुई थी, ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि अब उसे दोहराया जाय। अमेरिका और फ्रांस के साथ की गई सन्धियों में तो इस बात की व्यवस्था भी कर दी गई थी, कि दस साल बीत जाने पर इन सन्धियोंको फिर से दोहराया जायगा। इसके लिए अनुकूल अवसर पाश्चात्य राज्यों से चीन के दूसरे युद्ध द्वारा शीघ्र ही उपस्थित हो गया।

युद्ध के कारण—(१) पाश्चात्य लोग समझते थे, कि चीन में अपने प्रभाव को बढ़ाने का यही एक उपाय है, कि उसके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया जाय। व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त करने की आड़ में वे अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रयत्नशील थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) कैन्टन आदि बन्दरगाहों में अनेक ऐसे मामले पेश आते रहते थे, जिन पर चीनी और पाश्चात्य लोगों में मतभेद व विवाद बहुत सुगम था। कैन्टन के समीप एक जहाज लंगर डाले हुए पड़ा था, जिसका मालिक एक चीनी व्यापारी था। पर यह जहाज हांगकांग में रजिस्टर्ड था, और हांगकांग पर ब्रिटेन का अधिकार स्वीकृत किया जाता था। चीन के एक राजपदाधिकारी की आज्ञा से इस जहाज के मल्लाहों को गिरफ्तार कर लिया गया। ब्रिटिश लोगों ने दावा किया, कि इन मल्लाहों को गिरफ्तार कर सकने का अधिकार चीन की पुलिस को नहीं है। चीनी पदाधिकारी समझते थे कि क्योंकि जहाज का मालिक चीन का एक नागरिक है, अतः उनको पूरा अधिकार है, कि वे उसके मल्लाहों को गिरफ्तार कर सकें। इस मामले ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया। इस प्रकार की अन्य समस्याएँ भी उत्पन्न होती रहती थीं, जिनका मूल कारण यह होता था कि कैन्टन आदि बन्दरगाहों में पाश्चात्य लोग भी अपने विशेष अधिकार समझते थे। (३) १८५६ में फ्रांस का एक रोमन कैथोलिक पादरी चीनी पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। यह पादरी अपने धर्म-प्रचार के सिलसिले में चीन में बहुत दूर तक चला गया था, और वहाँ कतिपय ऐसे कार्यों में लगा हुआ था, जिन्हें चीनी सरकार आपत्तिजनक समझती थी। इस पादरी पर चीनी अदालत में मुकदमा चलाया गया और उसे प्राणदण्ड दिया गया।

युद्ध की प्रगति—१८५६ में एक ब्रिटिश सेना ने कैन्टन पर आक्रमण किया और उसे जीतकर अपने अधीन कर लिया। कैन्टन को जीतकर ब्रिटिश सेना ने उत्तर की तरफ प्रस्थान किया। फ्रेंच लोग इस युद्ध में ब्रिटेन के सहायक थे। ब्रिटेन की इच्छा थी, कि अमेरिका और रूस भी इस युद्ध में उसकी सहायता करें, पर अमेरिका और रूस ने उदासीन रहना ही उचित समझा। कैन्टन से उत्तर की ओर आगे बढ़ती हुई ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाएं तीनत्सिन तक पहुँच गईं। अब चीन की सरकार के सम्मुख केवल यही एक उपाय था, कि वह पाश्चात्य देशों की माँग को स्वीकृत कर ले और इन देशों के साथ जो सन्धियां पहले स्थापित हुई थीं, उन पर पुनर्विचार करे।

तीनत्सिन में सन्धि के लिए बातचीत शुरू हुई। पर नई सन्धियों की अन्तिम स्वीकृति पेकिंग की केन्द्रीय सरकार द्वारा ही दी जा सकती थी। यद्यपि तीनत्सिन में सन्धि की शर्तों के सम्बन्ध में समझौता हो गया था (१८५८), पर पेकिंग की सरकार ने उन्हें स्वीकृत नहीं किया। इस दशा में ब्रिटेन और फ्रांस ने एक बार फिर चीन के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी। इस बार आक्रमण करते हुए वे पेकिंग तक पहुँच गये। चीनी सेनाएँ उनका मुकाबला कर सकने में असमर्थ रहीं। पेकिंग पर ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं का कब्जा हो गया, और मञ्चू सम्राट् पेकिंग छोड़कर बाहर चले जाने के लिए विवश हुआ। ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं ने चीन के सम्राट् की राजसत्ता की जरा भी परवाह नहीं की। उन्होंने उसके एक प्रासाद तक को भस्म कर दिया। अब चीनी सरकार के सम्मुख इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं था, कि इन विदेशी राज्यों के साथ इनकी इच्छानुसार सन्धि कर ले।

१८६० की सन्धियाँ—१८५६-६० के युद्ध के बाद विदेशी राज्यों के साथ चीन की जो नई सन्धियाँ हुई, उनकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ग्यारह नये बन्दरगाह पाश्चात्य देशों के व्यापार और निवास के लिए खोल दिये गये। ये बन्दरगाह उत्तर में न्यूच्वांग (मंचूरिया में) से शुरू कर दक्षिण में स्वातो तक फैले हुए थे। कैन्टन आदि पाँच बन्दरगाहों में पाश्चात्य लोगों को पहले ही व्यापार और निवास के अधिकार प्राप्त थे। अब इस प्रकार के बन्दरगाहों की संख्या सोलह हो गई। प्रशान्त महासागर के तट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर स्थित प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बन्दरगाहों में अपनी बस्तियां बसाने और स्वतन्त्र रूप से व्यापार करने का अधिकार इस सन्धि द्वारा पाश्चात्य देशों ने प्राप्त कर लिया। (२) पाश्चात्य देशों के जहाजों को यह अनुमति दी गई, कि वे याँगत्से नदी में आ जा सकें। (३) पाश्चात्य देश अपने राजदूत पेकिंग में निवास के लिए भेज सकें, यह भी स्वीकृत किया गया। (४) जिन विदेशियों के पास बाकायदा पासपोर्ट हों, वे चीन में जहाँ चाहें स्वतन्त्रता के साथ आ जा सकें। (५) ईसाई धर्म-प्रचारकों को यह अधिकार हो, कि वे चीन में अपने धर्म का प्रचार कर सकें, और जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकार कर लें। उन्हें अपने नये धर्म के पालन में किसी प्रकार की रुकावट न हो। (६) फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरियों को अधिकार हो, कि वे ऊपर लिखे सोलह बन्दरगाहों के अतिरिक्त अन्यत्र भी जहाँ चाहें, जमीन को खरीद सकें या किराये पर ले सकें और उस पर गिरजाघर व अन्य इमारतें बना सकें। (७) एक्स्ट्रा-टेरिटोरिएलिटी की नीति को और अधिक विशद किया गया, और उन नियमों को बहुत स्पष्ट रूप से और विस्तार के साथ बनाया गया, जिनके अनुसार पाश्चात्य लोगों को चीन में रहना है। (८) चीन की सरकार युद्ध के लिये ब्रिटेन और फ्रांस को हरजाना प्रदान करे, यह व्यवस्था भी की गई। (९) अफीम के व्यापार के लिए पाश्चात्य देशों को अनुमति देना चीनी सरकार ने स्वीकृत किया।

इसके युद्ध में यद्यपि रूस चीन का मित्र रहा था, पर वह भी उत्तर की तरफ से चीन की सीमा की ओर निरन्तर आगे बढ़ रहा था। १८५८ में चीन की सरकार ने स्वीकृत किया, कि आमूर नदी के उत्तर का चीन का प्रदेश रूस को दे दिया जाए। इसी प्रकार १८६० में उसूरी से पूर्व के प्रदेश पर रूस के अधिकार को स्वीकृत किया गया। ये प्रदेश पहले चीन के अन्तर्गत थे। पर रूस पूर्वी एशिया में अपने आधिपत्य का विस्तार करने में तत्पर था, और इन प्रदेशों को पहले ही हस्तगत कर चुका था। १८५८ और १८६० में चीन की सरकार ने इन प्रदेशों पर रूस के प्रभुत्व को वैध रूप से स्वीकृत कर लिया।

इन सन्धियों की विवेचना—१८४२ से १८६० तक चीन ने पाश्चात्य देशों के साथ अनेक सन्धियां कीं। पर चीन ने ये सन्धियां स्वेच्छापूर्वक नहीं की थीं। पाश्चात्य देशों ने अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग कर चीन को इन सन्धियों के लिए विवश किया था। चीनी लोगों को इन सन्धियों के खिलाफ मुख्य शिकायतें निम्नलिखित थीं—(१) चीनी लोग समझते थे, कि ये सन्धियाँ वैसी नहीं हैं, जैसी कि समान स्थिति के राज्यों में की जाती हैं। इनके कारण जो विशेष अधिकार पाश्चात्य लोगों ने चीन में प्राप्त किये, उसी तरह के अधिकार चीनी लोगों को इन यूरोपियन देशों व अमेरिका में नहीं दिये गये थे। (२) चीनी सरकार का यह स्वयंसिद्ध अधिकार था, कि वह इस बात का निश्चय कर सके कि उसके निर्यात व आयात माल पर कितना कर लगाया जाय। राज्य की प्रभुता की दृष्टि से इन करों का निर्णय करते हुए किसी भी विदेशी राज्य से बातचीत व समझौते की आवश्यकता नहीं होनी चाहिये। पर इन सन्धियों द्वारा यह भी निश्चय किया गया था, कि आयात और निर्यात माल पर टैक्स की दरें क्या हों। चीनी सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि पाश्चात्य देशों से समझौते के बिना टैक्स की इन दरों में परिवर्तन कर सके। यह बात राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और गौरव की दृष्टि से अत्यन्त अनुचित थी। (३) एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के रूप में जो विशेष अधिकार चीन में पाश्चात्य देशों ने प्राप्त किये थे, वे तो किसी भी प्रकार उचित व न्यायसंगत नहीं समझे जा सकते थे। ये विशेषाधिकार चीन के लोगों की दृष्टि में बहुत अनुचित थे, क्योंकि ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि किसी भी देश में इस प्रकार के अधिकार चीनी लोगों को नहीं दिये गये थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाश्चात्य लोग इन अधिकारों का दुरुपयोग भी करते थे। उन्हें इस बात का जरा भी भय नहीं था, कि चीनी पुलिस उन्हें गिरफ्तार कर सकेगी या चीनी अदालतों द्वारा उन्हें किसी भी प्रकार का दण्ड दिया जा सकेगा। इस कारण वे चीनी नागरिकों के साथ दुर्व्यवहार करते थे और बहुधा ऐसा उद्दण्डतापूर्ण व्यवहार करते थे, मानो वे किसी अधीनस्थ देश में निवास कर रहे हों।

साम्राज्यवाद—१८४२ और १८६० की इन सन्धियों द्वारा चीन का पाश्चात्य देशों के साथ जिस ढंग का सम्बन्ध स्थापित हुआ था, उसे समान स्थिति के स्वतन्त्र व प्रभुत्वशक्तिसम्पन्न देशों का पारस्परिक सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता। यह पाश्चात्य साम्राज्यवाद का एक नया रूप था, और सैन्य शक्ति का उपयोग करके ही इसे स्थापित किया गया था। इस नये प्रकार के साम्राज्यवाद के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) १८४२ की सन्धि द्वारा हांगकांग का प्रदेश ब्रिटेन को प्राप्त हुआ था। इस की स्थिति एक क्राउन कोलोनी के समान थी। चीनी सरकार का अब इसके साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रह गया था। ब्रिटिश लोगों ने यहाँ एक समृद्ध नगर का विकास किया, और कुछ समय बाद यह प्रशान्त महासागर के चीनी तट के समीप का सबसे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह बन गया। इसके बहुसंख्यक निवासी चीनी लोग थे, पर राजनीतिक दृष्टि से यह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत था।

(२) कैन्टन आदि सोलह नगर, जिन्हें इतिहास में ट्रीटी पोर्ट (सन्धि के अधीन बन्दरगाह) कहा जाता है, विदेशी राज्यों के प्रभुत्व में थे। धीरे-धीरे इन नगरों में ऐसी बस्तियों का विकास हुआ, जिन पर चीनी सरकार का कोई भी अधिकार नहीं था। एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति के कारण ये बस्तियां पूर्ण रूप से विदेशी लोगों के कब्जे में थीं, और इनका शासन भी उन्हीं के द्वारा होता था। उदाहरण के लिये शंघाई को लीजिये। शंघाई के पुराने नगर के बाहर ब्रिटिश, अमेरिकन और फ्रेंच लोगों की पृथक्-पृथक् बस्तियां थीं, जिनका शासन इन विदेशी लोगों के ही हाथों में था। बाद में अमेरिकन और ब्रिटिश बस्तियां मिलकर एक हो गई, और उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती का रूप प्राप्त हुआ। शंघाई की इस अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती का शासन करने के लिये एक म्युनिसिपल कौंसिल का निर्माण किया गया, जिसके सदस्य चुनने का अधिकार वहाँ के विदेशी निवासियों को ही प्राप्त था। यद्यपि शंघाई की इस अन्तर्राष्ट्रीय नगरी (या बस्ती) की बहुसंख्यक जनता चीनी थी, पर चीनी लोगों को इस कौंसिल के चुनाव के लिये वोट तक देने का अधिकार नहीं था। चीन के ये सोलह नगर सामुद्रिक व्यापार के लिये अत्यधिक महत्त्व रखते थे। चीन के विदेशी व्यापार के ये ही केन्द्र थे। पर इन पर विदेशी लोगों का इस प्रकार का अधिकार चीन की स्वतन्त्रता के लिये विघातक था।

(३) चीन के निर्यात और आयात माल पर चीनी सरकार जो टैक्स लेती थी, पहले उसे वसूल करने के लिये चीनी कर्मचारी नियुक्त होते थे। पर बाद में (१८६०) यह कार्य भी विदेशी लोगों ने अपने हाथों में ले लिया। इसके लिए एक 'इम्पीरियल मेरीटाइम कस्टम्स सर्विस' संगठित की गई, जिसका पहला अध्यक्ष (इन्सपेक्टर-जनरल) रोबर्ट हार्ट नाम का एक आयरिश था। यद्यपि इस सर्विस के लोग चीनी सरकार की नौकरी में समझे जाते थे, पर इसके बहुसंख्यक कर्मचारी यूरोपियन व अमेरिकन थे। तट-कर चीनी सरकार की राजकीय आमदनी का अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन था। इसे वसूल करने वाली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर्विस जब विदेशी लोगों के हाथों में चली गई, तो चीन की सरकार पर विदेशी लोगों का प्रभुत्व और अधिक दृढ़ हो गया।

(४) चीन का सब विदेशी व्यापार मुख्यतया विदेशी लोगों के हाथों में था। समुद्र के मार्ग से जो भी माल चीन से जाता था या चीन में आता था, उस सबकी ढुलाई विदेशी जहाज ही करते थे। व्यापार के लिये इस समय चीन में अनेक विदेशी बैंकों की स्थापना हुई, जिनमें सबसे मुख्य हांगकांग एण्ड शंघाई बैंकिंग कारपोरेशन था।

(५) चीन के बन्दरगाहों में विदेशी लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। चीनी जनता से इनका सम्पर्क नाममात्र को था। ये शहर से बाहर अपनी पृथक् बस्तियों में बड़ी शान-शौकत और समृद्धि के साथ रहते थे, और चीनी लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। चीनी भाषा को सीखने तक की ये विदेशी लोग आवश्यकता अनुभव नहीं करते थे। ये अपने को चीनियों से उत्कृष्ट समझते थे, और उनकी भावनाओं की जरा भी परवाह नहीं करते थे।

इस प्रकार चीन में पाश्चात्य देशों द्वारा एक नये प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास किया जा रहा था, और चीन की सरकार उसके सम्मुख अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी।

(५) ईसाई मिशन और उनका विरोध

ईसाई मिशन—चीन के सुविस्तृत प्रदेशों को पाश्चात्य देशों के प्रभाव में लाने में पाश्चात्य व्यापारी जितने सहायक हुए, उससे कहीं अधिक ईसाई मिशनरियों ने इस सम्बन्ध में कार्य किया। १८४२ और १८६० की सन्धियों द्वारा ईसाई मिशनरियों को यह अधिकार प्राप्त हो गया था, कि वे चीन में जहाँ कहीं चाहें आ जा सकें और अपने धर्म का प्रचार कर सकें। फ्रांस के रोमन कैथोलिक पादरियों को यह अधिकार भी मिल गया था, कि वे जमीन को खरीदकर या किराये पर लेकर गिरजाघरों व अन्य इमारतों का निर्माण कर सकें। इन सन्धियों का लाभ उठाकर ईसाई मिशनरियों ने चीन में दूर-दूर तक आना-जाना शुरू कर दिया। ये पादरी न केवल अपने धर्म का प्रचार करते थे, अपितु चीनी लोगों के धार्मिक विश्वासों, विधि-विधानों और पूजा की विधियों पर भी आक्षेप करते थे। चीन की सर्वसाधारण जनता इससे बहुत उद्वेग अनुभव करती थी।

विरोध के कारण—पाश्चात्य ईसाई पादरियों के खिलाफ चीन में जो भावना उत्पन्न हो रही थी, उसके कारण निम्नलिखित थे—

(१) पाश्चात्य देशों के ईसाई मिशनरी चीन में दूर-दूर तक फैले हुए थे। उनकी जान व माल को कोई क्षति न पहुँचे, इसकी उत्तरदायिता चीनी सरकार पर थी। पर यदि किसी पादरी को किसी प्रकार का नुकसान पहुँच जाय, तो ये पादरी चीन के राजकर्मचारी से अपनी रक्षा व क्षतिपूर्ति के लिये आवेदन करना अपने लिये अपमानजनक समझते थे। वे अपने देश के राजदूत और कैन्टन आदि बन्दरगाहों में निवास करने वाले विदेशी व्यापारियों व अन्य कर्मचारियों से सहायता की अपील करते थे। विदेशी लोग तो सदा इस बात की प्रतीक्षा में ही रहते थे, कि उन्हें कोई बहाना मिले, और वे चीन की प्रभुता और स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करें और इसके लिये सैन्यशक्ति का भी उपयोग करें। सुदूरवर्ती किसी प्रदेश में किसी ईसाई पादरी पर आक्रमण हो गया, या उसके साथ किसी प्रकार का कोई झगड़ा हो गया, तो उसके देशवासी उस मामले को लेकर चीन के विरुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शस्त्र प्रयोग करने में जरा भी संकोच नहीं करते थे। यह बात चीनी लोगों की आंखों में कांटे की तरह चुभती थी।

(२) जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकृत कर लेते थे, पाश्चात्य देशों के विदेशी पादरी उचित-अनुचित सब उपायों से उनका पक्ष लेते थे। यदि इन चीनी ईसाइयों ने अपने देश के किसी कानून का उल्लंघन किया हो, या कोई अपराध किया हो, तो भी ईसाई पादरी यह चाहते थे कि चीन के सरकारी कर्मचारी उन्हें दण्ड न दे सकें। वे चीनी ईसाई को अपनी प्रजा समझते थे, और यह बात चीन के लोगों को बहुत बुरी लगती थी।

(३) केवल कानून का उल्लंघन करने और अपराध करने के मामलों में ही ईसाई पादरी हस्तक्षेप नहीं करते थे। वे चीनी अदालतों के साधारण मामलों में भी ईसाइयों का अनुचित रूप से पक्ष लिया करते थे। मान लीजिये कि एक आदमी ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया है, और उसका अपने बन्धु-बान्धवों से जायदाद या विरासत के सम्बन्ध में कोई मुकदमा चल रहा है। इस दशा में विदेशी पादरी उस चीनी ईसाई का पक्ष लेकर चीनी अदालत के न्यायाधीश पर उस ईसाई के पक्ष में फैसला देने के लिये जोर देते थे। यदि न्यायाधीश का फैसला ईसाई के खिलाफ हो, तो ये पादरी समझते थे, कि उसके प्रति अन्याय हुआ है। न्याय के क्षेत्र में ईसाई पादरियों का इस ढंग का हस्तक्षेप भी चीन की जनता को बहुत आपत्तिजनक प्रतीत होता था।

(४) चीनी लोगों में अपने पितरों की पूजा का बड़ा महत्त्व था। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति अपने पूर्वजों के प्रति असाधारण रूप से आदर का भाव रखता था, और तर्पण या श्राद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के विधि-विधानों का अनुष्ठान किया करता था। ईसाई पादरी इस पितृपूजा के भी विरुद्ध प्रचार करते थे। परिवार का जो व्यक्ति ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेता था, वह पितृतर्पण को बन्द कर देता था। परिवार के अन्य लोग इसे बहुत अनुचित समझते थे, और उस ईसाई व्यक्ति का अपने परिवार के साथ कोई भी सम्बन्ध नहीं रह जाता था।

(५) ईसाई मिशनों में केवल पुरुष पादरी ही नहीं होते थे, अपितु यूरोप और अमेरिका से बहुत-सी युवतियां भी चीन में धर्म-प्रचार के उद्देश्य से इस युग से आने लगी थीं। ये युवतियां प्रायः अविवाहित होती थीं, और पुरुष पादरियों के साथ स्वतन्त्रता से घूमती-फिरती थीं। चीनी लोग यह समझ ही नहीं सकते थे, कि कोई अविवाहित नवयुवती इस प्रकार स्वतन्त्रता के साथ परपुरुषों के साथ घूम-फिर सकती है। उनका खयाल था, कि ईसाई पादरी नैतिक दृष्टि से बहुत पतित हैं, और उनके द्वारा जिस धर्म का प्रचार किया जा रहा है, वह चीन में भी इसी ढंग की अनैतिकता का प्रवेश करा देगा।

(६) रोमन कैथोलिक पादरियों के अनेक विधि-विधान और अनुष्ठान चीनी लोगों को बहुत अद्भुत प्रतीत होते थे। उनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की ऐसी अफवाहें चीन में फैल रही थीं, जो वहां की जनता के हृदय में विदेशी पादरियों के प्रति तीव्र विरोध-भाव को उत्पन्न करती थीं। चीनी लोग कहते थे कि पादरी अपने अस्पतालों में चीनी रोगियों की आंखें व अन्य अंग निकाल लेते हैं, और उनका प्रयोग दवाइयों के निर्माण में किया जाता है। ये अफवाहें चाहे कितनी ही निराधार क्यों न हों, पर गर्व में मस्त हुए विदेशी पादरियों ने कभी इस बात की आवश्यकता अनुभव नहीं की, कि चीनी जनता के मिथ्या भ्रम को दूर करने का प्रयत्न करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिशनों के कार्य का विस्तार—१८६० के बाद ईसाई मिशनरियों के प्रचार-कार्य में बहुत वृद्धि हुई। विशेषतया, रोमन कथोलिक चर्च के अनेक सम्प्रदाय इस समय चीन के विविध प्रदेशों में प्रचार कार्य में तत्पर थे। इन सम्प्रदायों में जेसुइट, फ्रांसिस्कन, पेरिस की विदेशी मिशन सोसायटी और लजारिस्ट सोसायटी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रोटेस्टेन्ट पादरियों ने भी चीन में जोर के साथ प्रचार-कार्य शुरू किया। पहला प्रोटेस्टेन्ट जो चीन में प्रचार के लिए गया था, उसका नाम राबर्ट मौरिसन था। वह १८०७ में चीन पहुंचा था। पर उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने चीन में अपने कार्य का अधिक विस्तार नहीं किया था। पर १८९५ तक यह स्थिति चुकी गई थी, कि चीन में प्रोटेस्टेन्ट पादरियों की संख्या रोमन कैथोलिक पादरियों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई थी। इन पादरियों ने चीनी भाषा में बाइबल का अनुवाद किया, और व्याख्यानों तथा पुस्तिकाओं द्वारा ईसा के सन्देश को चीनी लोगों तक पहुंचाना शुरू किया। प्रोटेस्टेन्ट लोगों ने धर्म-प्रचार के लिए अनेक शिक्षणालय और अस्पताल भी स्थापित किये। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक चीन में ढाई हजार से भी अधिक ईसाई पादरी अपने धर्म के प्रचार में व्यापृत हो गये थे, और उन्होंने आठ लाख के लगभग चीनी नागरिकों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया था।

ईसाइयों के विरुद्ध विद्रोह—चीन में ईसाई धर्म का प्रचार जिस ढंग से तेजी के साथ हो रहा था और विदेशी पादरी जिस प्रकार चीन के नागरिकों के साथ वरताव कर रहे थे, उसका यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि वहाँ की जन्ता उनके प्रति अपनी विरोध भावना को प्रकट करे। इस समय चीन में अनेक स्थानों पर ईसाई मिशनों के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित किया गया। तीन्त्सिन में चीनी लोगों ने एक ईसाई गिरजे पर हमला करके उसे जला दिया, और इस झगड़े में बहुत-से आदमी जान से भी मारे गए। ईसाई पादरियों ने तीन्त्सिन में एक अनाथालय खोल रखा था। अनाथालय में ईसाई बच्चे अधिक संख्या में नहीं थे, अतः पादरियों ने यह पद्धति शुरू की कि जो आदमी अनाथालय में प्रविष्ट कराने के लिये बच्चे लाएगा, उसे प्रति बालक कुछ रकम इनाम के तौर पर दी जाएगी। ईसाई पादरी यह भी कहते थे, कि जब कोई बच्चा बहुत बीमार हो, और उसके इलाज की कोई सम्भावना न रहे, तो उसे अनाथालय में ले आया जाय, ताकि मरने से पहले उसका बपतिस्मा कर दिया जा सके। चीनी जनता इन बातों के बहुत विरुद्ध थी। उसका खयाल था, कि पादरी लोग रुपया देकर बच्चों को खरीदते हैं, और मृत्यु से पहले उनकी आँखें आदि निकाल लेते हैं। तीन्त्सिन के लोगों में यह विचार इस कारण भी प्रबल हो गया था, क्योंकि इस साल (१८७०) वहाँ के ईसाई अनाथालय में चालीस के लगभग बच्चे किसी संक्रामक रोग के कारण कुछ ही दिनों में मर गये थे। तीन्त्सिन में चीनी लोगों ने जिस ढंग से ईसाई पादरियों पर हमला किया, वह किसी षड्यंत्र का परिणाम नहीं था। चीन की जनता में विदेशी पादरियों के विरुद्ध जो घृणा व विद्वेष की भावना थी, वह इस आक्रमण के रूप में अकस्मात् ही फूट पड़ी थी। इसी ढंग के अन्य भी अनेक आक्रमण इस समय चीन में अन्यत्र भी विदेशी पादरियों पर किये गये। धर्म-प्रचार करते हुए भी विदेशी पादरियों में जो अपने को उत्कृष्ट और चीनी लोगों को हीन समझने की भावना थी, उसने चीनी लोगों में इन धर्म-प्रचारकों के विरुद्ध विद्वेष का भाव उत्पन्न कर दिया था।

(६) विदेशियों के साथ सम्बन्ध

मार्गरी हत्याकाण्ड—ईसाई पादरियों और विदेशी व्यापारियों के रुख के कारण चीनी लोग सभी विदेशियों के प्रति विद्वेष का भाव रखने लग गये थे। विदेशियों के प्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीनी लोगों की इस समय क्या मनोवृति थी, इसे एक घटना द्वारा भलीभाँति स्पष्ट किया जा सकता है। ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि बरमा के रास्ते से दक्षिणी चीन के साथ व्यापार की सुविधा प्राप्त की जाए। १८७६ में उन्होंने इस विषय में अनुसंधान करने के लिए एक मिशन चीन भेजा। दक्षिणी चीन के यूनान प्रदेश का अवगाहन करने के निमित उन्होंने मिशन के सदस्यों के लिये चीनी सरकार से पासपोर्ट भी प्राप्त कर लिए। जब यह मिशन यूनान पहुँचा, तो उसे सूचना मिली कि चीनी लोग उस पर आक्रमण करने के लिए उद्यत हैं। मिशन का एक सदस्य मि० मार्गरी अपने कुछ साथियों को साथ में लेकर इस बात की सत्यता का पता लगाने के लिए आगे बढ़ा। वहाँ उन पर आक्रमण किया गया और चीनी लोगों द्वारा मार्गरी तथा उसके पांच साथियों की हत्या कर दी गई। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश मिशन दक्षिणी चीन में अपना कार्य नहीं कर सका।

पर पाश्चात्य लोग इस प्रकार की घटनाओं को अपने लिए बहुत उत्तम अवसर समझते थे। इस समय पेकिंग में स्थित ब्रिटिश राजदूत के पद पर सर थामस वेड विद्यमान थे। जब उन्हें मि० मार्गरी की हत्या का हाल मालूम हुआ, तो उन्होंने चीनी सरकार से मांग की, कि मार्गरी हत्याकाण्ड का अनुसन्धान करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जाय, जिसमें ब्रिटेन के भी प्रतिनिधि रहें। साथ ही, इस हत्या का प्रतिशोध करने के लिए चीन की सरकार ब्रिटेन को हरजाना प्रदान करे और इस बात का आश्वासन दे, कि भविष्य में फिर कभी ऐसी घटना नहीं होगी। सर थामस वेड ने इस समय यह सवाल भी उठाया, कि ब्रिटेन के प्रतिनिधियों को यह अधिकार होना चाहिए, कि वे सम्राट् से समानता के आधार पर मिल सकें, और चीन तथा ब्रिटेन की सरकारों में जिन प्रश्नों पर मतभेद हैं, उन सब पर विचार करके उनका भी समाधान किया जाना चाहिए। चीन की सरकार ने इस बात को तो स्वीकृत कर लिया, कि मि० मार्गरी की हत्या की जांच करने के लिए कमीशन की नियुक्ति की जाय और इस कमीशन में ब्रिटेन का भी प्रतिनिधि रहे। यह बात यद्यपि चीन की प्रभुत्त्व-शक्ति और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के विरुद्ध थी, तथापि ब्रिटेन की यह मांग स्वीकृत कर ली गई। पर अन्य बातों को मंजूर करने से चीन की सरकार ने इनकार कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि सर थामस वेड ने पेकिंग से प्रस्थान कर दिया, और ब्रिटिश सेनाएं एक बार फिर चीन से युद्ध करने के लिए तैयारी करने लगीं। इस स्थिति में चीन की सरकार ने यही उचित समझा, कि ब्रिटेन से सुलह कर ली जाय। १३ सितम्बर, १८७६ के दिन ब्रिटेन और चीन में एक नई संधि हुई, जिसके अनुसार अनेक अन्य बन्दरगाह ब्रिटेन के व्यापार के लिए खोल दिए गए, और ब्रिटेन की अन्य मांगें भी स्वीकार कर ली गई। १८७६ की यह संधि चेफू के समझौते के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि यह सन्धि चेफू नामक स्थान पर की गई थी।

मार्गरी हत्याकांड का ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्त्व है, कि जहां यह एक ओर चीन की जनता की विदेशियों के प्रति भावना को सूचित करता है, वहां इससे यह भी स्पष्ट होता है, कि ऐसी घटनाओं का प्रयोग पाश्चात्य देश किस ढंग से करते थे। इस युग में अन्य भी इसी प्रकार की अनेक घटनाएं हुईं, और विदेशी लोगों ने उनसे पूरा-पूरा लाभ उठाया।

विदेशों में चीन के राजदूत—१८६० में पाश्चात्य देशों के राजदूत चीन में निवास करने लग गये थे। अब यह आवश्यकता अनुभव हुई, कि चीन को भी अपने राजदूत अन्य देशों में भेजने चाहियें। सबसे पहले १८७७ में चीन की ओर से एक राजदूत की ब्रिटेन में नियुक्ति की गई। १८७७ के बाद अन्य देशों में भी चीन के राजदूत नियुक्त किये गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर १८७७ से पहले भी चीन की सरकार ने पाश्चात्य देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्न किया था। इम्पीरियल मेरीटाइम्स कस्टम्स सर्विस का अध्यक्ष सर राबर्ट हार्ट जब १८६६ में चीन से इंङ्गलैंड गया, तब उसके साथ एक चीनी प्रतिनिधि इस उद्देश्य से भेजा गया था, कि वह इंङ्गलैंड व अन्य यूरोपियन राज्यों की दशा का अध्ययन कर उनके विषय में चीनी सरकार को रिपोर्ट दे। पर इस प्रतिनिधि ने यूरोप के सम्बन्ध में जो रिपोर्ट दी, वह अच्छी नहीं थी। इस कारण चीन की सरकार को यह उत्साह नहीं हुआ, कि वह यूरोप के साथ अपने सम्बन्धों को अधिक व्यापक व घनिष्ठ करने का प्रयत्न करे।

१८६७ में चीन की सरकार ने एक अन्य मिशन अमेरिका और यूरोप में इस उद्देश्य से भेजा, कि वह इन पाश्चात्य देशों का अध्ययन करे। इस मिशन का अध्यक्ष मि० आन्शन बर्लिङ्गम को बनाया गया। बर्लिङ्गम पेकिंग में अमेरिकन राजदूत के पद पर रह चुके थे, और चीन की दशा से भलीभांति परिचित थे। इस मिशन ने अमेरिका, इंङ्गलैंड, फ्रांस, रूस आदि की यात्रा की और वहां के राजनीतिज्ञों से परिचय प्राप्त किया। मि० बर्लिङ्गम चीन के लोगों की मनोवृत्ति को भलीभांति जानते थे। उन्होंने पाश्चात्य लोगों को बताया, कि चीन के लोग पाश्चात्य संसार के ज्ञान-विज्ञान को सीखने के लिए तैयार हैं, वे विदेशों के साथ व्यापार को विकसित करने के लिए भी उद्यत हैं, वे ईसाई मशीनरियों का भी स्वागत करते हैं, और इस बात के लिए भी प्रयत्नशील हैं, कि पाश्चात्य सभ्यता को अपनाकर अपने देश की उन्नति करें। मि० बर्लिङ्गम ने चीन की मनोवृत्ति को सही रूप में पाश्चात्य देशों के सम्मुख पेश किया। उनके भाषणों के कारण पाश्चात्य लोगों को यह अवसर मिला, कि वे चीन के सम्बन्ध में सही बातें मालूम कर सकें। चीनी लोगों को अपने से हीन समझने की जो प्रवृत्ति पाश्चात्य लोगों में विद्यमान थी, उसे दूर होने में इस मिशन से बहुत सहायता मिली।

चीनी लोगों का अमेरिका में प्रवेश—मि०बर्लिङ्गम के प्रयत्न से १८६८ में चीन और अमेरिका में एक नई सन्धि हुई, जिसके अनुसार (१) अमेरिका ने चीन की स्वतन्त्रता को स्वीकृत किया, (२) चीनी मजदूर अमेरिका में आकर मजदूरी कर सकें, यह स्वीकृत किया गया, (३) धर्म-प्रचार के सम्बन्ध में दोनों देशों को पूरी-पूरी स्वतन्त्रता दी गई, और (४) चीनियों को अमेरिका में और अमेरिकनों को चीन में यात्रा और निवास का अधिकार प्रदान किया गया।

इस सन्धि में सबसे महत्त्व की बात यह थी, कि इसके द्वारा चीन के मजदूरों को अमेरिका जाकर मजदूरी करने का अवसर दिया गया था। १८६८ से पहले भी चीन के लोग नौकरी व मजदूरी की तलाश में अमेरिका जाना शुरू कर चुके थे। चीन की जनसंख्या बहुत अधिक थी, और सर्वसाधारण लोगों को अपने देश में आजीविका प्राप्त करने की समुचित सुविधा नहीं थी। इसके विपरीत पश्चिमी अमेरिका में मजदूरों की बहुत कमी थी, और वहां के खेतों, खानों तथा कारखानों में मजदूरों की सदा आवश्यकता रहती थी। १८६७ तक ५०,००० के लगभग चीनी मजदूर अमेरिका पहुंच चुके थे। शुरू में अमेरिकन लोग चीनी मजदूरों का स्वागत करते थे, क्योंकि चीनी मजदूरों की मजदूरी की दर बहुत सस्ती थी, और वे खूब परिश्रम करते थे। साथ ही, चीनी लोग भी अमेरिका जाकर सुगमता से मजदूरी प्राप्त कर सकते थे। १८६८ के बाद चीनी मजदूर बड़ी संख्या में अमेरिका जाने लगे। १८८२ में अमेरिका में विद्यमान चीनी मजदूरों की संख्या १,३२,००० तक पहुंच गई। अमेरिकन लोग अपने देश में इस प्रकार बढ़ती हुई चीनी आबादी से बहुत चिन्तित थे। विशेषतया, अमेरिकन मजदूर चीनियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अपने देश में प्रवेश के बहुत विरुद्ध थे। केलिफोर्निया और अन्य अनेक राज्यों में चीनी लोगों के खिलाफ अनेक विद्रोह हुए। अमेरिकन लोगों ने वैयक्तिक व सामूहिक रूप से चीनियों पर हमले शुरू कर दिये। परिणाम यह हुआ, कि अमेरिका की कांग्रेस (पार्लियामेंट) में चीनी लोगों के अमेरिका-प्रवेश के विरुद्ध कानून पास किया गया (१८७८)। पर यह कानून १८६८ की चीन-अमेरिका सन्धि के विरुद्ध था। अतः राष्ट्रपति हेम्स ने इसे वीटो कर दिया। साथ ही, उसने एक अमेरिकन कमीशन इस उद्देश्य से चीन भेजा, कि १८६८ की सन्धि में संशोधन कर उसमें इस प्रकार के परिवर्तन किये जायें, जिनसे अमेरिकन सरकार चीनियों के अमेरिका में प्रवेश को नियन्त्रित कर सके। चीनी सरकार अमेरिकन मिशन की मांग को अस्वीकृत नहीं कर सकी। १८८० में चीन और अमेरिका की सन्धि में संशोधन किया गया, और १८८२ में अमेरिकन काँग्रेस ने एक कानून द्वारा यह व्यवस्था की, कि दस साल तक चीनी लोग अमेरिका में न आ सकें, और जो चीनी पहले से अमेरिका में विद्यमान हैं, उन्हें अमेरिकन नागरिकता के अधिकार प्राप्त न हो सकें। १८९२ के बाद अमेरिकन कांग्रेस ने इसी प्रकार के अनेक अन्य कानून स्वीकृत किये, और १९०४ के एक कानून द्वारा तो चीनी लोगों का अमेरिका में आकर बसना सदा के लिए बन्द कर दिया गया। इन कानूनों से चीन में बहुत असन्तोष हुआ, पर अमेरिका की शक्ति के सम्मुख चीन वहां की सरकार सर्वथा असहाय थी।

संयुक्त-राज्य अमेरिका के समान मध्य और दक्षिणी अमेरिका के पेरू, क्यूबा आदि अन्य राज्यों में भी चीनी लोग इस युग में बड़ी संख्या में जा कर बसने लगे थे। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकन महाद्वीप से भी दास प्रथा का अन्त हो गया था, जिससे उसके अनेक प्रदेशों में मजदूरों की कमी अनुभव की जाने लगी थी। इस कारण चीन में अनेक ऐसी एजन्सियां कायम की गई थीं, जो गरीब चीनियों को बहका कर उन्हें अमेरिका में कुली का काम करने के लिए भरती करने में तत्पर थीं। जिस प्रकार दक्षिणी अफ्रीका, फिजी आदि के लिए कुलियों की भरती करने के प्रयोजन से भारत में प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा का प्रारम्भ किया गया था, वैसे ही दक्षिणी अमेरिका के लिए कुलियों को प्राप्त करने के निमित्त चीन में भी इस प्रथा को शुरू किया गया। हजारों की संख्या में गरीब चीनियों को बहका-फुसला कर दक्षिणी अमेरिका ले जाया जाने लगा। छोटे-छोटे जहाजों में पशुओं की तरह चीनी कुलियों को भरकर अमेरिका ले जाया जाता था, और वहां उनसे गुलामों के समान व्यवहार किया जाता था। चीन की सरकार ने इस प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा के विरुद्ध कानून जारी किया, पर मकाओ (पोर्तुगाल के अधीन) को केन्द्र बनाकर पाश्चात्य लोगों ने इस प्रथा को जारी रखा। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक संसार का लोकमत इस प्रथा के इतना विरुद्ध हो गया, कि समयान्तर में चीन से प्रतिज्ञाबद्ध कुलियों को भरती कर सकना सम्भव नहीं रहा। साथ ही, अमेरिका में कार्य करने वाले चीनी कुलियों की दशा में सुधार करने का भी प्रयत्न किया गया।

(७) मञ्चू सम्राटों का निर्बल शासन

सम्राट् ताओ कुआंग—सन् १७९६ में चीन के शक्तिशाली मञ्चू सम्राट् चिन-लुंग की मृत्यु हुई थी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे, और उनके समय में मञ्चू शासन में ह्रास की प्रक्रिया का प्रारम्भ हो गया था। यहाँ इस बात की आवश्यकता नहीं है, कि इन सम्राटों के शासन-वृत्तान्त का उल्लेख किया जाय। १८२० में चीन की राजगद्दी पर सम्राट् ताओ कुआंग आरूढ़ हुआ। उसके शासन-काल में चीन के दुर्दिन शुरू हो गये। यूरोप के व्यापारी उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिस ढंग से प्रशान्त महासागर के तट पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने प्रभुत्व एवं प्रभाव की स्थापना में तत्पर थे, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १८३२ में चीन में भारी दुर्भिक्ष पड़ा। चीनी लोग समझते थे, कि दुर्भिक्ष आदि के रूप में जनता को जिन दैवी प्रकोपों का सामना करना पड़ता है, उनकी उत्तरदायिता राजा पर होती है। दुर्भिक्ष आदि दैवी विपत्तियां इस बात का प्रमाण हैं, कि ईश्वर राजा से संतुष्ट नहीं है। परिणाम यह हुआ, कि इस समय चीन में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। इन विद्रोहों को शान्त करने के लिए चीनी सरकार को अनेक प्रकार के कठोर उपायों का आश्रय लेना पड़ा।

सम्राट् हि्सएन फंग—१८५० में ताओ कुआँग की मृत्यु के बाद उसका लड़का हि्सएन फंग चीन का सम्राट् बना। इसी के शासन काल में इङ्गलैण्ड और फ्रांस की सेनाओं ने पेकिंग पर आक्रमण किया था, और सम्राट् को अपनी राजधानी को छोड़ देने के लिए विवश होना पड़ा था। १८६० की वह संधि, जिसके द्वारा पाश्चात्य देशों को चीन में अपने प्रभाव व प्रभुत्व को विस्तृत करने का अपरिमित अवसर प्राप्त हो गया था, इसी सम्राट् के समय में हुई थी। १८६० में राजधानी से निर्वासित दशा में ही सम्राट् हि्सएन फंग की मृत्यु हो गई थी।

साम्राज्ञी त्सू ह्सी—हि्सएन फंग की मृत्यु के समय उसका एकमात्र पुत्र अभी बालक ही था। अतः उसकी रानी त्सू ह्सी ने शासन-सूत्र को अपने हाथ में लिया। उसका पुत्र तुंग चिह देर तक जीवित नहीं रहा। १८७५ में उसकी मृत्यु हो गई। इस दशा में एक अन्य बालक को गोद लेकर साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने शासन-कार्य का संचालन जारी रखा। चीन के इस नये बालक सम्राट् का नाम कुआंग ह्सू था। १८८७ में यह वयस्क हुआ। इस प्रकार १८६० से १८८७ तक चीन की राजगद्दी पर नाबालिक सम्राट् विराजमान रहे, और उनके नाम पर साम्राज्ञी त्सू ह्सी शासन का संचालन करती रही। चीन के आधुनिक इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है। इस काल में चीन का शासन-सूत्र किसी योग्य एवं शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में नहीं था। साम्राज्ञी त्सू ह्सी निःसंदेह एक सुसंस्कृत एवं दक्ष महिला थी, पर मञ्चू साम्राज्य के शासन को संभाल सकना उसकी शक्ति के बाहर था। उसके समय में अन्तःपुर और राजप्रासाद के विविध कर्मचारियों की शक्ति बढ़ने लगी, और वे देश के शासन में मनमानी करने लगे। राजकीय पदों पर नियुक्ति करते हुए सिफारिशों और रिश्वतों का महत्त्व बढ़ने लगा, और साम्राज्य के शासन में शिथिलता आने लगी। यदि इस समय चीन की सरकार का संचालन किसी शक्तिशाली व्यक्ति के हाथ में होता, तो सम्भवतः चीन की इतनी दुर्दशा न हो पाती।

साम्राज्य का ह्रास—विदेशी राज्य न केवल चीन के शासन में हस्तक्षेप कर उसके शासकों से ऐसे विशेष अधिकारों को प्राप्त करने में लगे थे, जो चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और प्रभुत्व-शक्ति-सम्पन्नता के विरुद्ध थे, अपितु उनका यह भी प्रयत्न था, कि मञ्चू साम्राज्य के विविध प्रदेशों को अपने आधिपत्य में ले आयें। किस प्रकार ब्रिटेन ने हांगकांग को और रूस ने आमूर नदी के प्रदेश को अपने अधिकार में ले लिया था, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। १८८५ में ब्रिटेन ने बरमा पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। बरमा चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था, और उसे कर प्रदान किया करता था। जब बरमा ब्रिटेन के अधीन हो गया, तो उसके ब्रिटिश शासकों ने चीन को कर देना बन्द कर दिया। बरमा के समान अनाम और तोन्किंग के राज्य भी चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत माने जाते थे। १८८४-८५ में फ्रांस ने इन्हें अपने अधीन कर लिया, और इन प्रदेशों से चीन के प्रभुत्व का अन्त हो गया। बरमा, अनाम और तोन्किंग किस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन के साम्राज्य से पृथक् हो कर पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के शिकार हुए, इस पर हम यथास्थान विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

(८) चीन में नवयुग का प्रारम्भ

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक चीन की राजशक्ति बहुत क्षीण हो गई थी। ईसाई मिशनरी और विदेशी व्यापारी वहाँ धीरे-धीरे अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे। ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि से जो सन्धियाँ चीन ने की थीं, उनसे उसकी प्रभुत्व-शक्ति व स्वतन्त्रता बहुत कुछ मर्यादित हो गई थी। इन विदेशी राज्यों की सहमति के बिना वह अपने आयात और निर्यात माल पर टैक्स की दर में परिवर्तन नहीं कर सकता था, और एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति के कारण चीन म निवास करने वाले विदेशी लोग चीनी कानून और चीन के शासन से स्वतन्त्र थे। आन्तरिक विद्रोहों और प्राकृतिक विपत्तियों ने चीन की दशा को और भी अधिक खराब कर दिया था। इस अवस्था में यह स्वाभाविक था, कि विचारशील चीनी लोग अपने देश की दुर्दशा को अनुभव करें, और उसके सुधार के लिए प्रयत्नशील हों। परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे चीन में नव-युग के चिह्न प्रकट होने लगे और अनेक देशभक्तों ने अपने देश की उन्नति के लिए प्रयत्न का प्रारम्भ किया। जो कारण चीन में नवयुग का सूत्रपात कर रहे थे, उनका यहाँ संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक है।

(१) ईसाई पादरियों ने चीन में जो अनेक शिक्षणालय स्थापित किये थे, उनमें प्रधानतया ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षणालयों में सबसे प्रधान पेकिंग का स्कूल था। १८३५ में पेकिंग के इस क्रिश्चियन स्कूल को कालिज के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और इसका नाम तुंगवन कालिज रखा गया। तुंगवन कालिज में विज्ञान की शिक्षा के लिए भी एक विभाग खोला गया, और उसके द्वारा चीनी विद्यार्थियों को यह अवसर मिला, कि वे पाश्चात्य देशों के नए ज्ञान-विज्ञानों की शिक्षा प्राप्त कर सकें। तुंगवन कालिज के बाद चीन के अन्य भी अनेक ईसाई शिक्षणालयों में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञानों का अध्यापन प्रारम्भ किया गया।

(२) प्रोटेस्टेन्ट मिशनों द्वारा स्थापित एक स्कूल में युंग विंग नामक एक चीनी विद्यार्थी ने शिक्षा ग्रहण की थी। इस स्कूल का अन्यतम अध्यापक जब अपने देश अमेरिका को वापिस गया, जो युंग विंग को भी अपने साथ अमेरिका ले गया। युंगविंग को येल यूनिवर्सिटी में उच्च शिक्षा के लिए प्रविष्ट कराया गया और वहाँ उसने आधुनिक शिक्षा प्राप्त की। युंग विंग पहला चीनी विद्यार्थी था, जो अमेरिका की एक उच्च शिक्षा-संस्था का स्नातक बना था। अमेरिका में अध्ययन करते हुए उसका यह विश्वास दृढ़ हो गया था, कि चीन की उन्नति तभी सम्भव है, जब कि वह पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान को सीखे और संसार की नई परिस्थितियों के अनुसार अपने को परिवर्तित करे। अमेरिका में शिक्षा समाप्त करके युंग विंग चीन वापस आ गया, और वहाँ आकर उसने प्रयत्न किया कि चीनी विद्यार्थियों की एक मंडली को उच्च शिक्षा के लिए अमेरिका भेजा जाए। उसके उद्योग से १२० चीनी विद्यार्थी १८७० में अमेरिका भेजे गए। चीनी लोग युंग विंग की इस योजना को अच्छा नहीं समझते थे। उनका विचार था, कि विदेश में शिक्षा प्राप्त करके चीन के नवयुवक अपने धर्म और संस्कृति से विमुख हो जाएंगे। जनता के विरोध का यह परिणाम हुआ, कि सब चीनी विद्यार्थी अमेरिका में शिक्षा को पूर्ण नहीं कर सके, और उन्हें अपनी शिक्षा को अधूरा छोड़कर चीन वापस लौट आना पड़ा। पर उन्होंने अमेरिका में रहते हुए अपनी आँखों से जो कुछ देखा था और जो शिक्षा प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की थी, चीन लौटकर उन्होंने उसका उपयोग किया और अपने देशवासियों को इस बात के लिए प्रेरित किया, कि वे पाश्चात्य देशों से मशीनें खरीद कर व्यावसायिक उन्नति में तत्पर हों। १८७० के बाद भी अनेक चीनी विद्यार्थी अमेरिका गए, और पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त किए हुए ये युवक अपने देश की उन्नति में बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुए।

(३) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क का यह परिणाम हुआ, कि चीन की जनता और सरकार ने अपनी सेना के पुनःसंगठन और व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान देना शुरू किया। ताइपिंग विद्रोह को शान्त करने के लिए अमेरिकन लोगों के नेतृत्व में भी एक चीनी सेना का संगठन किया गया था। यह सेना अन्य चीनी सेनाओं की अपेक्षा बहुत अधिक दक्ष थी। चीन के नेताओं ने अनुभव किया, कि सैन्य संगठन और युद्ध के संचालत में वे पाश्चात्य देशों के मुकाबिले में बहुत पीछे हैं। उन्होंने प्रयत्न किया, कि पाश्चात्य ढंग पर चीन की सेना को पुनः संगठित किया जाय और उसे नए ढंग के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किया जाय।

(४) व्यावसायिक क्षेत्र में चीन में किस प्रकार नवयुग का प्रारम्भ हुआ, इस सम्बन्ध में कतिपय बातों का उल्लेख करना उपयोगी है। १८७६ में चीन में पहली रेलवे लाइन का निर्माण किया गया। यह लाइन शंघाई से वूसुँग तक बनाई गई थी। पर चीन की जनता और पण्डित-मंडली रेलवे के इतनी विरुद्ध थी, कि १८७७ में इस रेलवे लाइन को उखाड़ दिया गया, और लोहे की पटरियों को फार्मूसा द्वीप में ले जाकर डाल दिया गया, ताकि चीन में उन्हें फिर वापस न लाया जा सके। पर यह सम्भव नहीं था, कि चीन समय की प्रगति से पृथक् रह सके। १८८१ में वहां फिर रेलवे का निर्माण शुरू हुआ, और उसके बाद रेलवे लाइनों का निर्माण निरन्तर जारी रहा। इस समय चीन में अनेक उच्च राजपदाधिकारी इस प्रकार के थे, जो समय के अनुसार परिवर्तित होने के पक्ष में थे। चिहली प्रान्त का गवर्नर ली हुंग चांग एक इसी प्रकार का अधिकारी था। उसी की कोशिश से इस समय चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण हो रहा था। १८८५ में चीन में पहले-पहल टेलिग्राफ का प्रारम्भ किया गया। शंघाई से तीन्त्सिन तक तार की लाइन लगाई गई और धीरे-धीरे अन्यत्र भी तार का विस्तार किया गया। इसी समय के लगभग "चाइना मर्चेन्ट्स स्टीम नेविगेशम कम्पनी" का संगठन हुआ, जिसका उद्देश्य चीन की नदियों में और समुद्र तट पर जहाजों द्वारा यातायात का प्रारम्भ करना था। इस कम्पनी का संगठन कतिपय ऐसे चीनी नागरिकों द्वारा किया गया था, जिन्होंने विदेशों में शिक्षा ग्रहण की थी। १८७८ में चीन में पहली कोयले की खान का प्रारम्भ किया गया, और १८९० में हनयाँग आयरन वर्क्स की स्थापना हुई। आगे चलकर लोहे का यह कारखाना बहुत विकसित हुआ। चीन में व्यावसायिक उन्नति का यह प्रारम्भ-मात्र था। सर्वसाधारण जनता और पण्डित-मंडली इसके खिलाफ़ थी। इसी कारण ली हुंग चाँग जैसे शिक्षित व्यक्ति इस समय अपनी इच्छा के अनुसार चीन की उन्नति कर सकने में असमर्थ रहे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अब चीन में नवयुग का सूत्रपात होना प्रारम्भ हो गया था।

(९) चीन के सम्बन्ध में विदेशियों की नीति

इस अध्याय में यह भली-भाँति स्पष्ट किया जा चुका है, कि किस प्रकार चीन धीरे-धीरे पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार हो रहा था। राजनीतिक दृष्टि से चीन इतना दुर्बल था, कि उसके लिए विदेशी शक्तियों का मुकाबिला कर सकना सम्भव नहीं था। इस दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है, कि ब्रिटेन, फ्रांस,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों ने चीन को भी उसी तरह से अपने अधीन कर लेने के लिए प्रयत्न क्यों नहीं किया, जैसे कि उन्होंने भारत, बरमा आदि में किया था। चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर वे उसे भी सुगमता से जीत सकते थे। चीन को जीत लेने में पाश्चात्य देश जो प्रयत्नशील नहीं हुए, उसके कारण सम्भवतः निम्नलिखित थे—

(१) चीन का साम्राज्य अत्यन्त विशाल था। उसमें पैंतीस करोड़ से भी अधिक मनुष्यों का निवास था। चीनी लोगों में अपनी संस्कृति के लिए प्रेम था, और वे अपने देश की रक्षा के लिए कुर्बानी करने को भी तैयार थे। भारत में जब अंग्रेजों ने अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो दिल्ली के मुगल बादशाहों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और अनेक छोटे-बड़े राजा अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र रूप से राज्य करने लग थे। ब्रिटिश लोग इन राजाओं के पारस्परिक झगड़ों से लाभ उठा सकते थे। इसके विपरीत उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन एक सम्राट् के शासन में था। उसके विविध प्रदेशों में विभिन्न राजा व महाराजा अपनी-अपनी राजगद्दियों के लिए संघर्ष करने में तत्पर नहीं थे। पाश्चात्य देशों को भय था, कि विशाल चीन की सामूहिक शक्ति को परास्त कर सकना उनके लिए सुगम नहीं होगा।

(२) विविध पाश्चात्य देशों के लिए यह भी सम्भव नहीं था, कि चीन की विजय के सम्बन्ध में वे परस्पर एकमत हो सकें। यदि चीन को जीतकर उसे विभक्त करने का प्रयत्न किया जाता, तो ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि के हित आपस में टकरा सकते थे। इस दशा में पाश्चात्य देशों के लिए उचित नीति यही थी, कि वे चीन पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को स्थापित करने का यत्न न करें। यदि कोई एक पाश्चात्य देश चीन को जीतने का प्रयत्न करता, तो अन्य देश उसके उत्कर्ष को कदापि सहन न कर सकते।

(३) व्यापार के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करके पाश्चात्य देशों को प्रायः वही लाभ प्राप्त हो रहा था, जो वे राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना से प्राप्त कर सकते थे।

पर पाश्चात्य देशों की चीन के सम्बन्ध में जिस नीति का हमने ऊपर उल्लेख किया है, वह देर तक स्थिर नहीं रही। उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही उन्होंने यह भली-भांति समझ लिया, कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर उसे पूर्णतया अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का शिकार बनाया जा सकता है। अपनी नीति में परिवर्तन कर उन्होंने किस प्रकार चीन को अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, इस पर हम छठे अध्याय में विचार करेंगे। पर यहाँ यह निर्देश कर देना आवश्यक है कि चीन पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग सबसे पहले जापान ने किया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक चीन और अन्य एशियाई देशों के समान उन्नति की दौड़ में बहुत पिछड़ा हुआ था। पर पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर जब जापान ने एक बार इस बात को समझ लिया, कि ये देश उसकी अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत हो गए हैं, तो उसने बड़ी शीघ्रता से पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अपनाना शुरू किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि वह भी पाश्चात्य देशों के समान उन्नत और शक्तिशाली हो गया। जापान की इस आश्चर्यजनक उन्नति पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौथा अध्याय

जापान के उत्कर्ष का प्रारम्भ

(१) पुरातन इतिहास

संसार के अन्य देशों के समान जापान का प्राचीन इतिहास भी प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं होता। जापानी लोग यह मानते हैं, कि अत्यन्त प्राचीन काल में इजानगी नामक देवता और इजानमी नामक देवी के संयोग से जापान का प्रादुर्भाव हुआ था। संसार में चेतन व अचेतन जो भी सत्ताएँ हैं, सबका प्रादुर्भाव देवताओं द्वारा हुआ है। जापानी दन्तकथाओं के अनुसार जब इजानगी देवता अपनी बायीं आंख धो रहा था, तो अमतेरसू-ओमीकमी (सूर्य देवता) की उत्पत्ति हुई। सूर्य देवता के पौत्र का नाम निनिगो-नो-मिकोतो था। उसे पृथ्वी का शासन करने के लिए नियुक्त किया गया। पृथ्वी का राजा बनकर वह पहले-पहल क्यूशू द्वीप पर प्रकट हुआ। उस समय उसने रत्न, खड्ग और दर्पण इन तीन राजचिन्हों को धारण किया था। निनिगो-नो-मिकोतो का प्रपौत्र जिम्मू तेनो हुआ, जिसे जापान का प्रथम सम्राट् माना जाता है।

जापानी इतिहासके सम्बन्ध में इसी प्रकार की अन्य भी बहुत-सी कथाएं विद्यमान हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इनमें कहां तक सचाई है, यह कह सकना कठिन है। शिव, गणेश, इन्द्र आदि भारतीय देवताओं के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार की बहुत-सी कथाएं पायी जाती हैं। भारतीय पुराविदों के समान अनेक जापानी विद्वान् भी इन कथाओं की इस ढंग से व्याख्या करते हैं, कि ये युक्तिसंगत व सत्य प्रतीत होती हैं। जापान का सम्राट् दैवी है, यह विश्वास अब तक भी जापानी लोगों में विद्यमान हैं। निनिगो-नो-मिकोतो के समान जापान के सब सम्राट् रत्न, खड्ग और दर्पण को राजचिन्ह के रूप में धारण करते रहे हैं, और अब तक भी उनको धारण करते हैं। शुरू में जापानी लोग लिखना नहीं जानते थे। लिखने की कला सम्भवतः उन्होंने चीन से सीखी। अब भी जापान की लिपि प्रायः उसी ढंग की हैं, जैसी कि चीन की है। ईसवी सन् के प्रारम्भ काल में चीनी लिपि का जापान में प्रवेश हुआ। इसी कारण उससे पहले के समय की कोई लिखित पुस्तकें व अन्य लेख जापान में उपलब्ध नहीं होते, और इसीलिए ईसवी सन् से पूर्व का जापानी इतिहास केवल दन्तकथाओं और परम्परागत गाथाओं पर ही आश्रित है।

ईसवी सन् के शुरू होने से पूर्व जापान में सभ्यता के दो प्रमुख केन्द्र थे, इजुमो और यमतो। क्यूशू द्वीप में सूर्य देवता का पौत्र निनिगो-नो-मिकोतो प्रकट हुआ था। उसके प्रपौत्र जिम्मू तेनो ने ही यमतो को विजय कर वहां सभ्यता का विकास किया। इसमें सन्देह नहीं, कि यमतो के निवासी लोहे का उपयोग जानते थे, और प्रस्तर युग से आगे बढ़कर सभ्यता के क्षेत्र में उन्नति करने के लिए प्रयत्नशील थे। जिम्मू तेनो के समय में जापान का बड़ा भाग एक शासन की अधीनता में आ गया था। पर यमतो के राजा या सम्राट् की शक्ति के विकास के कारण अन्य राज्यों की सत्ता का अन्त नहीं हो गया था। इस युग में जापान में बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे। प्राचीन ग्रीस और भारत के समान प्राचीन जापान भी बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। प्रत्येक राज्य के निवासी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मानते थे, कि वे किसी एक ही पूर्वज की सन्तान हैं। वे सब एक देवी-देवताओं की पूजा करते थे और एक राजा की अधीनता में रहते थे। यमतो का राज्य इन सबमें प्रधान व शक्तिशाली था, और उसके राजा को अन्य सब राजा अपना अधिपति स्वीकार करते थे। इसीलिए उसे सम्राट् की पदवी प्राप्त थी। यमतो के सम्राट् जिम्मू तेनो ने जिस राजवंश का प्रारम्भ किया, वही अब तक भी जापान में विद्यमान है। सम्भवतः, इतिहास में अन्य किसी भी राजवंश ने इतने सुदीर्घ समय तक राजशक्ति का उपभोग नहीं किया है। धीरे-धीरे यमतो के राजवंश की शक्ति बढ़ती गई, अन्य राज्यों के राजा उसकी अधीनता में आते गए, और जिम्मू तेनो के वंशजों के सम्मुख उनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं की अपेक्षा सामन्तों के सदृश होती गई। राजशक्ति के एक केन्द्र में केन्द्रित हो जाने के साथ-साथ पुराने छोटे-छोटे राज्यों के राजा सम्राट् के सामन्त व जागीरदार की स्थिति प्राप्त करते गए, और इस प्रकार जापान में एक ऐसी कुलीन जागीरदार श्रेणी का विकास हो गया जो कुलक्रमानुगत रूप से अपनी स्थिति व प्रतिष्ठा को प्राप्त करती थी। ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल तक यह अवस्था आ गई थी, कि प्रायः सम्पूर्ण जापान जिम्मू तेनो के वंशज सम्राटों के अधीन था और पुराने छोटे-छोटे राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हो गया था। वे पूर्णतया यमतो के सम्राट् के वशवर्ती हो गए थे।

प्राचीन जापान की जनता को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, कुलीन जागीरदार श्रेणी, व्यवसायों तथा व्यापार में लगे हुए लोगों की श्रेणी और दास वर्ग। जागीरदारों का विकास किस प्रकार हुआ, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। भूमि पर जागीरदार वर्ग का स्वामित्व था और उसे जोतने-बोने वाले किसानों की स्थिति दासों के समान थी। व्यवसायी और व्यापारी आर्थिक श्रेणियों (गिल्ड) में संगठित थे। कौन मनुष्य क्या काम करे, यह उसके जन्म के अनुसार निश्चित होता था। जुलाहे की सन्तान जुलाहा होती थी, और वैद्य का लड़का वैद्य होता था। जापान में यह सम्भव नहीं था, कि कोई व्यक्ति किसी ऐसे कार्य को कर सके, जिसे उसके पूर्वज न करते रहे हों। जिस प्रकार भारत में अनेक पेशे जातियों का रूप धारण किए हुए हैं, वैसी ही दशा जापान में भी थी। शिल्पियों और व्यापारियों की स्थिति कुलीन जागीरदारों के मुकाबिले में हीन समझी जाती थी। बहुसंख्यक जनता दास थी, और वह जागीरदारों की जमीनों पर खेती का कार्य किया करती थी।

जापान के प्राचीन धर्म में देवी-देवाताओं का बहुत महत्त्व था। जापानी लोग समझते थे, कि प्रकृति की विविध शक्तियां तथा विविध पदार्थ जीवित जागृत सत्ताएं हैं। वृक्ष, पर्वत, नदी, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदि सबमें उन्होंने अधिष्ठातृ देवताओं की कल्पना की हुई थी। इन देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए वे अनेक प्रकार के विधि-विधानों का अनुष्ठान किया करते थे। वे यह भी मानते थे, कि कतिपय देवता अधिक शक्तिशाली हैं, और वे अन्य देवताओं पर शासन करते हैं। इन शक्तिशाली देवताओं की पूजा को जापानी लोग अधिक महत्त्व देते थे।

चीन के साथ सम्पर्क—जापान के पड़ौस में चीन का शक्तिशाली साम्राज्य विद्यमान था। चिन और हान (२०६ ई० पू० से १२० ई० प० तक) राजवंशों के समय में चीन ने किस प्रकार अपनी शक्ति का विस्तार किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कोरिया के कुछ प्रदेश हान साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और चीनी लोग अच्छी बड़ी संख्या में वहाँ निवास करते थे। चीनी सभ्यता कोरिया में भली-भांति प्रवेश पा चुकी थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि कोरिया द्वारा जापानी लोग भी चीन के सम्पर्क में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयें। हान राजवंश के पतन के बाद चीन की राजशक्ति निर्बल हो गई थी, और वहाँ अनेक राज्य स्थापित हो गए थे। इस युग (१२० ई० प० से ६१८ ई० प० तक) में जापान और चीन का अधिक सम्बन्ध नहीं रहा। पर इस काल में भी जापान के राजदूत चीन के विविध राज्यों के राजदरबारों में आते-जाते थे, और बहुत-से चीनी लोग भी जापान की यात्रा किया करते थे। राजशक्ति की दृष्टि से चीन इस समय अनेक राज्यों में विभक्त था, और उनमें प्रायः युद्ध होते रहते थे। यह स्वाभाविक था, कि चीन के राजा आपस के युद्धों में यमतो के जापानी राज्य की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करते। हान राजवंश के बाद बौद्ध धर्म का चीन में बहुत प्रचार हुआ। बौद्ध प्रचारक चीन से कोरिया भी गए, और वहाँ भी उन्होंने अपने धर्म का प्रचार किया। यह स्वाभाविक था, कि बौद्ध भिक्षु कोरिया से जापान भी जाएँ। ऐतिहासिक लोग यह मानते हैं, कि जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश छठी सदी में हुआ, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण जापान ने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया।

बौद्ध धर्म के साथ-साथ चीनी भाषा, लिपि और साहित्य का भी जापान में प्रवेश हुआ, और जापान के कुलीन तथा समृद्ध लोग बड़े शौक से चीनी पुस्तकों का अध्ययन करने लगे। चीन के सम्पर्क ने जापान में नए जीवन का संचार किया। जापानी लोगों में यह विशेषता रही है, कि वे अपने से उन्नत सभ्यता और नये ज्ञान-विज्ञान को बड़ी तेजी के साथ अपना लेते हैं। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर उन्होंने अपनी हीन दशा का अनुभव किया, तो उन्होंने बड़ी शीघ्रता के साथ नये ज्ञान-विज्ञान को ग्रहण कर लिया और आधी सदी से भी कम समय में वे अमेरिका और यूरोप के समकक्ष हो गए। सातवीं और आठवीं सदियों में पहले भी ठीक यही प्रकिया जापान के इतिहास में हो चुकी है। जब जापानी लोग अपने से अधिक उन्नत चीनी लोगों के सम्पर्क में आए, तो अपनी उन्नति के लिए भी उनमें उत्साह का संचार हुआ, और बड़ी तेजी के साथ वे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए। चीनी लिपि को अपनाकर जापानी लोगों ने अपनी भाषा में साहित्य का निर्माण शुरू किया। काव्य, इतिहास, धर्म, चिकित्सा आदि पर बहुत-से ग्रन्थ लिखे गए, और मूर्तिनिर्माण, चित्रकला, संगीत आदि के क्षेत्र में भी जापानी लोगों ने बहुत उन्नति की।

सामन्त पद्धति—इस इतिहास में हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि जापान के प्राचीन राजनीतिक इतिहास का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। पर जापानी इतिहास की कुछ बातों का निर्देश करना आवश्यक है। इनमें प्रथम सामन्त पद्धति का विकास है। सातवीं सदी तक जापान बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, और ये सब राज्य एक जापानी सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करते थे। प्रमुख राजकर्मचारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा ही की जाती थी। पर धीरे-धीरे राजकर्मचारियों के पद वंशक्रमानुगत होने लगे, और कतिपय कुलीन परिवार राजशक्ति का उपभोग करने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हो गए। जापान में राजकर्मचारियों को अपना निर्वाह करने के लिए जागीर देने की प्रथा थी। जागीर की आमदनी से ही वे अपना गुजारा किया करते थे। जब राजकीय पद पिता के बाद पुत्र को मिलने लगे, तब जागीरें भी एक कुल में स्थिर हो गईं। न केवल विविध राजकीय पदों पर अपितु जागीरों पर भी विशिष्ट कुलों का वंशक्रमानुगत रूप से अधिकार स्थापित हो गया। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि जापान में सामन्त-पद्धति का विकास हुआ, और जिन राजकर्मचारियों की नियुक्ति पहले सम्राट् की केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाती थी, अब बड़े-बड़े जागीरदार बन गए और अपने-अपने क्षेत्र में वे स्वतन्त्र सामंतों के समान शासन करने लगे। पुराने राज्यों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासक श्रेणियों के लोग अब शासक के साथ-साथ जागीरदार भी हो गए, और उनका यह प्रयत्न रहने लगा कि वे शक्ति का प्रयोग कर जहां अपनी जागीरों में वृद्धि करें, वहाँ साथ ही राज्य में भी उनका प्रभाव वृद्धि को प्राप्त हो।

सैनिक श्रेणी—सामन्त पद्धति के विकास का एक परिणाम यह हुआ, कि जापान में एक ऐसी श्रेणी का निर्माण शुरू हुआ, जिसका कार्य ही सैनिक सेवा था। प्रत्येक सामंत या जागीरदार इस बात के लिए प्रयत्नशील रहता था, कि वह अपनी जागीर पर अपने आधिपत्य को कायम रखे, और यदि सम्भव हो तो अपनी जागीर में वृद्धि भी करे। इस-लिए उन्होंने अपनी सेनाओं को बढ़ाना शुरू किया, और बहुत-से मनुष्य शक्ति और आर्थिक आमदनी के लोभ से आकृष्ट होकर उनकी सेनाओं में भरती होने प्रारम्भ हुए। प्रत्येक सामन्त की यह कोशिश रहती थी, कि उसकी सेना अधिक-से-अधिक प्रबल हो। बारहवीं सदी तक जापान में यह दशा आ गई थी, कि विविध सामन्त लोग अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लग गए थे। सम्राट् व केन्द्रीय सरकार का उन पर आधिपत्य नाममात्र का रह गया था, और ये सामन्त एक-दूसरे के साथ युद्ध में भी निरन्तर व्यापृत रहते थे। सम्राट् इन सामन्त राजाओं के सम्मुख अपने को अस-हाय अनुभव करता था।

शोगूनों का शासन—जापानी सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करने वाले सामंत राजा, जिन्हें जापान में दैम्यो कहते थे, जहां अपनी जागीरों के विस्तार में तत्पर थे, वहाँ साथ ही अपने पड़ौस के अन्य सामन्तों को अपना वशवर्ती बना कर वे केन्द्रीय सर-कार पर भी अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। सम्राट् के प्रति उनके हृदय में भक्ति का भाव था, और उसे वे दैवी मानते थे। अतः उन्होंने यह यत्न नहीं किया, कि सम्राट् को राज्यच्युत कर स्वयं उसके पद को प्राप्त कर लें। पर जिस प्रकार भारत में पेशवाओं ने छत्रपति राजा को नाममात्र के लिए राजसिंहासन पर अधि-ष्ठित रखकर स्वयं शासनसूत्र का संचालन किया, या जिस प्रकार नैपाल में राणा लोगों ने महाराजाधिराज की सत्ता को स्वीकृत करते हुए अपने देश के शासन सूत्र को अपने हाथ में ले लिया, वैसे ही जापान में भी अनेक दैम्यो ने सम्राट् की सत्ता को कायम रखते हुए शासन शक्ति स्वयं प्राप्त कर ली। इस प्रकार के सामंत राजाओं में योरीतोमो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वह बड़ा प्रतापी, वीर और महत्त्वाकांक्षी था। बारहवीं सदी के अन्त में उसने अन्य सब सामन्तों को परास्त कर केन्द्रीय शासन में अपने प्रभाव को स्थापित कर लिया, और सम्राट् को अपने हाथों में कठपुतली बना लिया। वह जापान का प्रथम शोगून (सर्वविजयी सेनानी) बना। योरीतोमो ने यह यत्न नहीं किया, कि अन्य सामन्तों को सर्वथा नष्ट कर दे। उसने सामंत-पद्धति को कायम रखा, पर सेना की सहायता से अपनी शक्ति को इतना बढ़ा लिया, कि कोई अन्य सामन्त उसके सम्मुख सिर नहीं उठा सकता था। वह सच्चे अर्थों में 'प्रणत-सामन्त' था। उसने जापान की केन्द्रीय सरकार का नए सिरे से संगठन किया, और इस समय से जापान में सैनिक लोगों का महत्त्व बहुत अधिक बढ गया। पर शोगून का पद योरीतोमो के वंश में सदा के लिए स्थिर नहीं रह सका। योरीतोमो के उत्तराधिकारी उसके समान प्रतापी व वीर नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि अन्य सामन्त राजा प्रबल हो गए। पर शोगून योरीतोमो द्वारा जापान में शासन की जिस पद्धति का प्रारम्भ किया गया था, वह बाद में भी कायम रही। शोगून का पद योरीतोमो के कुल से निकलकर अन्य कुलों में चला गया, पर जापान की केन्द्रीय सरकार पर किसी न किसी शौगून का आधिपत्य कायम रहा, और सम्राट् की शक्ति इन शोगूनों के सम्मुख सर्वथा अगण्य रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोकुगावा शोगून—शोगून का पद प्राप्त करने के लिये जापान के विविध सामन्त कुलों में किस प्रकार संघर्ष होता रहा, इसका वृत्तान्त लिख सकना सम्भव नहीं है। यहाँ इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि १६०३ में शोगून का पद तोकुगावा कुल में चला गया, और १८६७ तक (१६०३ से १८६७ तक) यह पद इसी कुल में स्थिर रहा। जिस प्रतापी तोकुगावा नेता ने अन्य सब सामन्त कुलों को परास्त कर शोगून के गौरव-मय पद को सबसे पूर्व प्राप्त किया था, उसका नाम इयासू था। ढाई सदी से भी अधिक समय तक कोई अन्य सामन्त कुल इतना शक्तिशाली नहीं हुआ, कि तोकुगावा कुल का मुकाबिला कर सके। इसका परिणाम यह हुआ, कि २६५ वर्षों तक जापान सामन्तों के पारस्परिक युद्धों से बचा रहा। देश में शान्ति कायम रही, और जापान को यह अवसर मिल गया कि वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सके। तोकुगावा कुल के शोगूनों के शासन काल में ही यूरोपियन लोगों के दुर्व्यवहार से परेशान होकर इस वंश के शोगूनों ने उनका जापान में आना निषिद्ध कर दिया था, और जब १८५३ में कोमोडोर पेरी द्वारा पाश्चात्य लोगों ने जापान के साथ अपने सम्पर्क को पुनःस्थापित किया, तब भी वहाँ का शासन-सूत्र तोकुगावा कुल के शोगूनों के ही हाथों में था।

(२) पाश्चात्य देशों के साथ प्रथम सम्पर्क

मंगोल साम्राज्य के समय में यूरोप के लोग चीन में आने-जाने लगे थे। मार्को पोलो आदि अनेक यात्रियों ने इस काल में चीन की यात्रा की थी, और मंगोल सम्राटों के राजदरबार में निवास भी किया था। पर तेरहवीं-चौदहवीं सदियों में कोई यूरोपियन यात्री जापान भी आया हो, इसका पता नहीं है। मार्को पोलो ने चीन में निवास करते हुए जापान के विषय में भी सुना था, और इस देश के सम्बन्ध में अनेक बातें भी उसने अपने यात्रा-विवरण में उल्लिखित की थीं। यही कारण है, कि जब अफ्रीका का चक्कर काटकर पोर्तुगीज और अन्य यूरोपियन लोगों ने एशिया के पूर्वी देशों में आना-जाना शुरू किया, तो वे जापान भी गये। सबसे पहले १५४२ में यूरोपियन जातियों का जापान के साथ सम्पर्क हुआ। भारत, चीन आदि के समान जापान में भी समुद्र-मार्ग से जाने वाले पहले यूरोपियन यात्री पोर्तुगीज लोग ही थे। सोलहवीं सदी के अन्त तक स्पेनिश लोग भी जापान गये, और सतरहवीं सदी के शुरू में (तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में) डच और इङ्गलिश लोग भी जापान आने-जाने लगे। ये यूरोपियन यात्री हिन्द महासागर, मलक्का अन्तरीप और फिलिप्पीन द्वीप समूह के समीप से होते हुए जापान की ओर जाते थे, अतः स्वाभाविक रूप से शुरू में ये क्यूशू गये और नागासाकी में इन्होंने अपनी व्यापारिक कोठियां कायम कीं। क्यूशू के सामन्तों ने इन विदेशी व्यापारियों का स्वागत किया, और व्यापार-कार्य में इनकी सहायता भी की।

यूरोपियन व्यापारियों के साथ-साथ ईसाई मिशनरी भी जापान पहुँचने लगे। जेसुएट सम्प्रदाय का नेता फ्रांसिस क्सेवियर पूर्वी एशिया में ईसाई धर्म का प्रचार करता हुआ जापान भी गया। १५४९ में उसने जापान में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया, और उत्तर में क्योतो तक की यात्रा की। फ्रांसिस क्सेवियर देर तक जापान में नहीं रहा, पर उसके साथी वहां पर कार्य करते रहे। जेसुएट लोगों के बाद फ्रांसिस्कन, डौमिनिकन आदि अन्य ईसाई सम्प्रदायों के प्रचारक भी जापान गए, और इन मिशनरियों ने हजारों जापानी नागरिकों को क्रिश्चियन धर्म का अनुयायी बनाया। जापानी लोग नये विचारों का स्वागत करने के लिए सदा उद्यत रहते थे, अतः उन्होंने ईसाई धर्म में भी बहुत दिलचस्पी प्रदर्शित की। सामन्त लोगों का ख्याल था, कि यूरोपियन लोगों के साथ व्यापार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सम्पर्क से उनका अपना भी लाभ है। अतः वे जहाँ विदेशी व्यापारियों का स्वागत करते थे, वहाँ साथ ही विदेशी धर्म-प्रचारकों का भी आदर करते थे।

यूरोपियन लोगों को जापान से सम्पर्क रखने का निषेध—यूरोपियन लोग जापान में व्यापार और धर्म के विस्तार में तत्पर थे, पर वे देर तक इन कार्यों को जारी नहीं रख सके। कुछ समय बाद ही जापान की सरकार ने एक आज्ञा प्रकाशित की, जिस द्वारा यूरोपियन लोगों के जापान में आवागमन को रोक दिया गया। जापान ने इस नीति का अनुसरण किन कारणों से किया, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है—

(१) यूरोपियन व्यापारियों में परस्पर एकता नहीं थी। वे एक दूसरे की निन्दा में तत्पर रहते थे। डच लोग जापानियों से कहते थे, कि अंग्रेजों से व्यापार करना अनुचित है, और इससे उनके देश को नुकसान होगा। स्पेनिश और इङ्गलिश लोग इसी तरह की बातें डच लोगों के विषय में कहते थे। यूरोपियन लोगों से एक-दूसरे की निन्दा सुनकर जापानी लोग सोचते थे, कि सभी पाश्चात्य लोग बुरे हैं और उनके साथ सम्पर्क रखना उचित नहीं है।

(२) भारत में ब्रिटिश और फ्रेंच लोग, फिलिप्पीन में स्पेनिश लोग, चीन के समुद्रतट पर पोर्तुगीज लोग और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों में डच लोग इन प्रदेशों के निवासियों के प्रति जिस प्रकार का दुर्व्यवहार कर रहे थे, उससे जापानी लोग परिचित थे। इस दुर्व्यवहार का वृत्तान्त जापानियों में इस विचार को विकसित कर रहा था, कि यूरोपियन लोगों के साथ सम्पर्क रखना सर्वथा अनुचित है।

(३) जापान के समुद्रतट के समीप भी डच और इंगलिश लोगों में अनेक बार लड़ाइयाँ हुई। इन लड़ाइयों को प्रत्यक्ष रूप से देखकर जापानी लोग यह भली-भाँति अनुभव करने लगे थे, कि यूरोपियन व्यापारी जिन देशों से आ रहे हैं, वे लड़ाकू हैं और उनका उद्देश्य विशुद्ध रूप से व्यापार करना ही नहीं है।

(४) जापान में धर्म-प्रचार के कार्य में व्यापृत ईसाई मिशनरी अपने को जापानी सम्राट् की प्रजा नहीं समझते थे। उनमें यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी, कि अपने को जापान की सरकार के अधीन न समझें और अपनी रक्षा के लिये अपने देश की सरकारों पर निर्भर रहें। जापान के जो नागरिक ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते थे, विदेशी मिशनरी उनके प्रति पक्षपात का भाव रखते थे, और यह प्रयत्न करते थे कि सरकारी कर्मचारियों और न्यायाधीशों पर अनुचित रूप से ज़ोर डालकर इन जापानी ईसाइयों को लाभ पहुँचाएं। जापान में यह विचार निरन्तर जोर पकड़ता जाता था, कि विदेशी मिशनरी केवल धर्म-प्रचारक ही नहीं हैं, अपितु अपने देश के गुप्तचर भी हैं, और वे जापान में विदेशी सत्ता को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं।

इसीलिये तोकुगावा कुल के शोगूनों से पूर्व ही १५८७ में जापानी सरकार की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित की गई थी, कि जापान देवताओं का देश है और उसमें ऐसे धर्म का प्रचार उचित नहीं है, जो देवपूजा का विरोधी हो। साथ ही, ईसाई मिशनरियों को आदेश दिया गया, कि वे जापान को छोड़कर चले जाएँ। कुछ मिशनरी गिरफ्तार भी किये गये। परइसी बीच १६०३ में तोकुगावा कुल के नेता इयासू ने अन्यसब सामन्तों को परास्त कर शोगून पद को प्राप्त कर लिया था। इयासू पाश्चात्य लोगों के प्रति मैत्रीभावना रखता था। वह विदेशी व्यापार का प्रबल पक्षपाती था, और उससे अपने देश का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाभ मानता था। यही कारण है, कि उसने १५८७ की सरकारी आज्ञा को शिथिल कर दिया और ईसाई मिशनरी पहले के सदृश अपने प्रचार कार्य में तत्पर हो गये। इयासू की सहिष्णुता की नीति से लाभ उठाकर विदेशी पादरी इतने उद्दण्ड हो गये, कि अन्त में इयासू ने भी यह अनुभव कर लिया कि इन धर्म-प्रचारकों का उद्देश्य केवल धर्म-प्रचार ही नहीं है, अपितु धर्म की आड़ में ये अपने देशों के प्रभुत्व को जापान में स्थापित करने के लिये भी प्रयत्नशील हैं। १६१२ में इयासू ने अनेक ऐसी आज्ञाएं प्रकाशित कीं, जिनका उद्देश्य विदेशी पादरियों के कार्य को नियन्त्रित व मर्यादित करना था। पर ईसाई पादरी इन आज्ञाओं की उपेक्षा करते थे। परिणाम यह हुआ, कि अनेक पादरी गिरफ्तार किये गये, और कतिपय को प्राणदण्ड भी दिया गया। पर इससे भी ईसाइयों ने अपने कार्य को बन्द नहीं किया। १६३७–३८ में उन्होंने राजनीति में खुले तौर पर हस्तक्षेप शुरू कर दिया, और यह प्रयत्न किया कि शोगून के शासन के विरुद्ध जनता को विद्रोह करने के लिये प्रेरित करें। परिणाम यह हुआ, कि जापान की सरकार विदेशी मिशनरियों के खिलाफ हो गई, और उनके विरुद्ध सख्त कार्यवाही की गई। एक कानून द्वारा ईसाई धर्म के प्रचार को रोक दिया, और बहुत-से पादरी जापान को छोड़कर बाहर चले जाने के लिए विवश हुए। अनेक पादरियों को राज्य की ओर से कठोर दण्ड भी दिये गये।

जापान की सरकार ने केवल ईसाई धर्म के प्रचार को ही बन्द नहीं किया, अपितु यह भी व्यवस्था की, कि यूरोपियन व्यापारी जापान में व्यापार न कर सकें। स्पेन, पोर्तुगाल और इङ्गलैण्ड के व्यापारियों को यह आज्ञा दी गई, कि वे जापान में न आयें। इसी प्रकार जापानी लोगों के लिए भी फिलिप्पीन आदि ऐसे देशों में व्यापार के लिए जाना निषिद्ध कर दिया गया, जहां यूरोपियन लोग अपने पैर जमा चुके थे। यूरोपियन लोगों में केवल डच लोगों को ही यह अनुमति दी गई, कि वे जापान के साथ व्यापार जारी रख सकें। पर उनके लिए भी यह व्यवस्था की गई, कि वे केवल नागासाकी बन्दरगाह में ही आ-जा सकें। इस प्रकार सतरहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जापान यूरोपियन लोगों के सम्पर्क से पृथक् हो गया, और इन पाश्चात्य लोगों को यह अवसर नहीं रहा, कि वे चीन के समान जापान में भी धर्म-प्रचार और व्यापार की आड़ में अपने साम्राज्यवाद का प्रसार कर सकें।

(३) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जापान की दशा

राज्य शासन—तोकुगावा शोगूनों ने जापान में जिस ढंग से शासनसूत्र का संचालन किया, उस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। शासन का अधिपति सम्राट् था, पर वास्तविक शक्ति उसके हाथों में नहीं थी। शासन यद्यपि उसके नाम पर होता था, पर वह शासन-नीति का निर्माण नहीं करता था। सम्राट् और उसके परिवार को अपने खर्च के लिए राजकीय आमदनी का इतना भाग दे दिया जाता था, कि वे बड़ी शान-शौकत के साथ अपने राजप्रासाद में जीवन बिता सकें। जापानी लोग समझते थे, कि सम्राट् दैवी है, देवताओं का वंशज है। वे उसे साक्षात् देवता मानते थे। उनके हृदय में अपने सम्राट् के प्रति असीम आदर का भाव था। किसी व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह सम्राट् से मिल सके या शोगून के विरुद्ध उसके कान भर सके। सम्राट् का राजप्रासाद क्योतो में स्थित था, और वहां वह जनता से किसी भी प्रकार का सम्पर्क न रखता हुआ आराम के साथ जीवन व्यतीत करता था।

शोगून का निवासस्थान येदो में था। जापान के शासन का संचालन इसी नगर से होता था। वास्तविक राजशक्ति शोगून के हाथों में थी। अन्य सब सामन्तों को तोकु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गावा कुल के शोगूनों ने अपना वशवर्ती बना रखा था। सामन्तों के लिए यह आवश्यक था, कि वे हर साल कुछ समय येदो आकर शोगून के दरबार में रहें। जब वे येदो से अनुपस्थित हों, तब उनकी पत्नी और सन्तान को वहां रहना पड़ता था। शोगून समझते थे, कि यदि कोई सामन्त विद्रोह करने का यत्न करेगा, तो उसके परिवार के लोगों को गिरफ्तार करके उसे अपने वश में लाया जा सकेगा। सामन्त लोग क्या सोचते हैं, क्या योजनाएं बनाते हैं, यह जानने के लिये उन पर गुप्तचर रखे जाते थे। इन गुप्तचरों के कारण सामन्त लोग शोगून के खिलाफ षड्यन्त्र करने में सर्वथा असमर्थ रहते थे। प्रत्येक सामन्त के लिए यह भी आवश्यक था, कि वह शोगून के प्रति लिखित रूप में राजभक्ति की शपथ ले। जिन सामन्तों पर शोगून को विश्वास होता था, उन्हें शासन के महत्त्वपूर्ण कार्य सुपुर्द किये जाते थे। शोगून की ओर से यह भी व्यवस्था की गई थी. कि कोई सामन्त सरकारी आज्ञा के बिना अपने दुर्ग की मुरम्मत तक भी न करा सके। इन सब उपायों का यह परिणाम था, कि सामन्त लोग शोगूनों के पूर्णतया वशवर्ती हो गये थे, तथा उनमें विद्रोह और षड्यन्त्र की प्रवृत्ति सर्वथा नष्ट हो गई थी।

किस प्रकार जापान में एक सैनिक श्रेणी का विकास हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस सैनिक वर्ग के लोग समूराई कहलाते थे। तोकुगावा शोगूनों के समय में जापान से आन्तरिक युद्धों का प्रायः अन्त हो गया था, और देश में पूर्णतया शान्ति और व्यवस्था स्थापित थी। किसी बाह्य देश के आक्रमण का भी जापान को भय नहीं था। इसलिए इस काल में समूराई लोगों को अपनी सैनिक क्षमता प्रदर्शित करने का कोई महत्त्वपूर्ण अवसर प्राप्त नहीं हुआ। यही कारण है, कि ये समूराई लोग शारीरिक शक्ति और सैनिक क्षमता के साथ-साथ विद्याध्ययन और शिक्षाप्राप्ति के लिए भी तत्पर हुए। सतरहवीं सदी से पूर्व तक जापान में बौद्ध बिहार ही विद्या के केन्द्र थे, और केवल बौद्ध भिक्षु ही शिक्षा को महत्त्व देते थे। पर तोकुगावा शोगूनों के शासन काल में समूराई वर्ग ने भी शिक्षा की ओर ध्यान दिया। प्रत्येक जापानी सैनिक के लिए जिस प्रकार खड्ग संचालन में कुशल होना आवश्यक था, वैसे ही पाण्डित्य में प्रवीणता प्राप्त करना भी आवश्यक हो गया। सैन्यशक्ति और शिक्षा में कुशलता प्राप्त कर लेने के कारण समूराई लोगों का प्रभाव जापान के जनसमाज में बहुत अधिक बढ़ गया।

धर्म—जापान के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। देश में सर्वत्र बौद्ध बिहार और मन्दिर विद्यमान थे, और उनमें हजारों बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। पर महात्मा बुद्ध ने भारत में जिस अष्टांगिक आर्य मार्ग का उपदेश किया था, वह अपने अविकल रूप में जापान में विद्यमान नहीं था। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान में जो विधि-विधान, अनुष्ठान और विश्वास परम्परागत रूप से चले आते थे, वे कायम रहें और उनके कारण जापानी बौद्ध धर्म एक ऐसा रूप धारण कर ले, जो लंका, भारत, बरमा और चीन के बौद्ध धर्म से बहुत-कुछ भिन्न हो। जापान के प्राचीन धर्म को 'शिन्तो धर्म' कहते हैं। बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लेने पर भी जापान में शिन्तो धर्म के अनेक विश्वास अक्षुण्ण रूप से कायम रहे। चीन के साथ सम्पर्क स्थापित होने पर जापानी लोगों ने कन्फ्यूसियस आदि प्राचीन चीनी विचारकों के ग्रन्थों का अनुशीलन करना भी प्रारम्भ कर दिया था। तोकुगावा शोगून कन्फ्यूसियस के विचारों को आदर की दृष्टि से देखते थे और उनकी संरक्षा के कारण प्राचीन चीनी ग्रन्थों का जापान में बहुत अध्ययन होने लगा था। चीन के समान जापान की जनता पर भी कन्फ्यूसियस के विचारों का बहुत प्रभाव था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगरों का विकास—तोकुगावा शोगूनों के शासनकाल में जापान में अनेक नगरों ने बहुत उन्नति की। इस काल में जापान के शासन का केन्द्र येदो था। सब सामन्तों के लिए यह आवश्यक था, कि वे स्वयं या उनके परिवार वहाँ पर निवास करें। इसका परिणाम यह हुआ, कि येदो में बहुत-सी सुन्दर इमारतें बनीं, और वह जापान का सबसे बड़ा व समृद्ध नगर बन गया। समूराई लोग भी वहाँ बहुत बड़ी संख्या में निवास करते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि देश के सबसे धनी एवं समृद्ध वर्ग की विविध प्रकार की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए बहुत-से शिल्पी, व्यापारी और नौकरीपेशा लोग भी वहां आकर बसने लगें। उन्नीसवीं सदी के शुरू में येदो की जनसंख्या दस लाख से भी ऊपर पहुंच गई थी। इस युग में लण्डन, पेरिस आदि की जनसंख्या भी इससे अधिक नहीं थी, और येदो को संसार के सबसे बड़े नगरों में गिना जा सकता था। येदो के समान क्योतो, नागासाकी आदि अन्य अनेक नगरों ने भी इस युग में बहुत उन्नति की।

व्यापार की उन्नति—तोकुगावा शोगूनों के शासन काल में जापान में पूर्णतया शान्ति और व्यवस्था कायम रही। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि आर्थिक दृष्टि से भी देश उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। इस युग में जापान में कला और शिल्प ने बहुत उन्नति की। सामन्त और सामूराई लोग आर्थिक दृष्टि से सर्वथा निश्चिन्त और समृद्ध थे। वे शिल्प और कला की वस्तुओं पर दिल खोलकर खर्च कर सकते थे। अतः बहुत-से लोग शिल्प और कला द्वारा अपनी आजीविका कमाने लगे और एक ऐसे वर्ग का विकास हुआ, जिसका कार्य शिल्पियों द्वारा तैयार किये गये माल का जापान के विविध प्रदेशों में क्रय-विक्रय करना था। यह व्यापारी वर्ग येदो, क्योतो आदि समृद्ध नगरों में व्यापार द्वारा धन कमाने के लिए प्रयत्नशील था, और इसकी आमदनी निरन्तर बढ़ती जाती थी। यही कारण है, कि सामन्त कुलों के अनेक व्यक्ति भी इस समय व्यापार के क्षेत्र में आये, और उन्होंने अपनी जागीरों में रह कर राजशक्ति के उपभोग की अपेक्षा व्यापार द्वारा धन कमाना अधिक हितकर समझा। उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में मित्सुई कुल के लोग आर्थिक दृष्टि से बहुत समृद्ध हो गये। उन्होंने व्यापार द्वारा ही अपार धन का उपार्जन किया था। ये लोग वस्तुतः सामन्त वर्ग के थे, पर व्यापार में असाधारण लाभ देख कर इस क्षेत्र की ओर आकृष्ट हो गये थे।

विदेशों के साथ सम्पर्क—जापान की सरकार ने ईसाई धर्म के प्रचार और यूरोपियन व्यापार को जिस प्रकार निषिद्ध कर दिया था, उससे यह समझा जाता है, कि इस युग में जापान का विदेशों के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं रहा था। पर यह बात पूर्णरूप से सत्य नहीं है। डच लोगों को जापान के एक बन्दरगाह में व्यापार करने की अनुमति मिली हुई थी। वहां जापानी लोग उनके सम्पर्क में आते थे। इस युग में यूरोप के विविध देश ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति कर रहे थे, डच लोगों द्वारा जापानी उससे भी परिचित थे। अठारहवीं सदी में चिकित्साशास्त्र, सैन्यनीति, भूगोल आदि अनेक विषयों की यूरोपियन पुस्तकों का जापानी भाषा में अनुवाद किया गया, और इन पुस्तकों द्वारा जापानी लोग पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने में समर्थ हुए। यही कारण है, कि १८५२ में जब कोमोडोर पेरी ने पाश्चात्य देशों के जापान के साथ सम्पर्क को अधिक घनिष्ठ रूप से स्थापित किया, तो जापान पाश्चात्य विज्ञान को ग्रहण करने के लिए बिल्कुल तैयार था। सतरहवीं सदी में जापान की सरकार ने यूरोपियन व्यापारियों और मिशनरियों पर जो प्रतिबन्ध लगाया था, उसके कारण ये पाश्चात्य देश जापान में उस ढंग से अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सके, जैसा कि उन्होंने भारत, चीन आदि में स्थापित कर लिया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध की पुनःस्थापना

उन्नीसवीं ग़दी में पाश्चात्य देशों ने जापान के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए एक बार फिर प्रयत्न किया। वैज्ञानिक उन्नति के कारण इस समय पाश्चात्य देशों के जहाज भाप की शक्ति से चलने लगे थे, और पृथ्वी के सब देशों में आते-जाते थे। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार असाधारण रूप से उन्नति कर रहा था। एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए प्रदेश बड़ी तेजी से पाश्चात्य देशों के प्रभाव एवं प्रभुत्व में आ रहे थे। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि जापान समय की लहर से अछूता बचा रह सके। भौगोलिक दृष्टि से जापान रूस के बहुत समीप था। सखालिन द्वीप पर रूस और जापान का संयुक्त अधिकार था। कुरील द्वीप-समूह पर भी रूस अपना प्रभुत्व समझता था। रूसी सरकार की इच्छा थी, कि जापान से अपने सम्बन्ध को अधिक घनिष्ठ बनाए। इसी उद्देश्य से रूस का एक प्रतिनिधि-मंडल १७९२ में जापान आया। एक जापानी जहाज के टूट जाने से कतिपय जापानी मल्लाह पथभ्रष्ट हो गए थे। रूस के एक जहाज ने इन्हें सहायता दी थी, और इन्हें जापान पहुँचाने के नाम पर ही ये रूसी लोग वहाँ आये थे। पर जापान आने का उनका असली प्रयोजन जापान से सम्पर्क स्थापित करना था। १८०४ में रूस ने एक मिशन जापान भेजा। पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हुई। जापान रूस के साथ व्यापारिक व अन्य सम्बन्ध स्थापित करने को तैयार नहीं हुआ। रूस के समान ब्रिटेन ने भी इस युग में जापान के साथ सम्पर्क में आने का प्रयत्न किया। १८०८ में एक अंग्रेजी जंगी जहाज नागासाकी आया। ह्वेल मछली पकड़ने के बहाने से अन्य यूरोपियन देशों के जहाज भी जापान के समुद्रतट के आस-पास चक्कर काटने लगे। पाश्चात्य देशों के जहाजों ने कई बार इस नाम पर जापान के बन्दरगाहों तक पहुँचने की कोशिश की, कि उनके पास पीने का पानी समाप्त हो गया है, या कोयले की कमी हो गई है, या खाद्य सामग्री कम पड़ गई है। पर जापानी लोग अपनी नीति पर दृढ़ रहे। उन्होंने इन विदेशियों को अपने देश में प्रविष्ट नहीं होने दिया। जापान के कुछ मछियारे मछली पकड़ते हुए अमेरिका के समुद्रतट तक पहुँच गए थे। जहाज टूट जाने के कारण उन्हें अमेरिका का आश्रय लेना पड़ा था। अमेरिका ने सोचा, कि जापान के साथ सम्पर्क स्थापित करने का यह अत्यन्त उत्तम मौका है। इन जापानी मछियारों को पहले इङ्गलैंड लाया गया। फिर ये चीन के मकाओ बन्दरगाह पर पहुँचाए गए, और बाद में इन्हें मोरिसन नामक अमेरिकन जहाज पर जापान ले जाया गया। १८३७ में जब मोरिसन जहाज जापान पहुंचा, तो जापानियों ने उस पर गोलाबारी की और उसे वापस लौट आना पड़ा।

१८४० के बाद अमेरिकन लोगों की जापान के सम्बन्ध में दिलचस्पी बहुत बढ़ गई थी। इस समय तक संयुक्त-राज्य अमेरिका प्रशान्त महासागर के तट तक अपना विस्तार कर चुका था। कैलीफोर्निया भली-भाँति आबाद हो गया था, और अमेरिकन लोग जहाजों द्वारा प्रशान्त महासागर में दूर-दूर तक आने-जाने लगे थे। १८४० में दो अमेरिकन जहाज इस उद्देश्य से येदो की खाड़ी में भेजे गए, ताकि जापानी सरकार से मिलकर उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किया जाए। पर इस अमेरिकन मिशन को सफलता नहीं हुई। जापान की सरकार ने अमेरिका से किसी भी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने से इन्कार कर दिया। १८४२ से १८६० तक विविध पाश्चात्य देशों ने चीन में किस प्रकार अपने व्यापार का विस्तार किया था, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। इस काल में चीन के बहुत-से बन्दरगाह पाश्चात्य देशों के व्यापार के लिए खुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए थे, और चीन पर विदेशी प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि जापान पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से देर तक बचा रह सके। जापानी लोग भी एशिया में पाश्चात्य देशों के बढ़ते हुए प्रभाव से परिचित थे। डच लोगों द्वारा उन्हें फिलिप्पीन, चीन आदि के सब समाचार मिलते रहते थे। पर प्रश्न यह था, कि पाश्चात्य देश किस प्रकार जापान को अपने साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए विवश करें।

कमोडोर पेरी का आगमन—जापान के साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने में सबसे अधिक तत्परता अमेरिका ने प्रदर्शित की। अमेरिका के राष्ट्रपति ने कमोडोर पेरी के नेतृत्व में एक मिशन इस उद्देश्य से जापान भेजा, कि वह वहाँ जाकर अमेरिकन सरकार के सन्देश को जापान की सरकार तक पहुँचाए। पेरी के इस मिशन के उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) यदि कोई अमेरिकन जहाज जापान के समुद्रतट पर टूट जाय, सो उस के मल्लाहों और यात्रियों को जापान में आश्रय दिया जाय। (२) अमेरिकन जहाजों को यह अनुमति हो, कि वे जापान के बन्दरगाहों से कोयला, जल और खाद्य सामग्री आदि ले सकें। (३) जापान के बन्दरगाह अमेरिकन व्यापार के लिए खोल दिए जाएं। २४ नवम्बर, १८५२ को पेरी ने नार्फोक के बन्दरगाह से प्रस्थान किया। उसके साथ में चार जहाज थे। ३ जुलाई, १८५३ को पेरी के ये जहाज योकोहामा की खाड़ी में पहुँच गए। जापानी सरकार की ओर से उन्हें आदेश दिया गया, कि वे समुद्रतट के समीप न आयें। पर पेरी ने इस आदेश की कोई परवाह नहीं की। वह जापान के समुद्रतट पर पहुँच गया, और अमेरिकन राष्ट्रपति के पत्र को जापानी कर्मचारियों के सुपुर्द कर और यह कह कर लौट गया, कि मैं एक साल बाद फिर आऊंगा। इस बीच में जापानी सरकार अमेरिका की मांग पर भली-भाँति विचार कर ले और अपने उत्तर को तैयार रखे। पेरी द्वारा लाया गया अमेरिकन राष्ट्रपति का पत्र शोगून के पास पहुंचा दिया गया। शोगून और उसके साथियों ने उस पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया। जापानी सरकार भलीभाँति अनुभव करती थी, कि अब समय की परिस्थिति ऐसी है, कि पाश्चात्य देशों की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा है। केवल अमेरिका ही नहीं, रूस भी इस समय जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए ज़ोर दे रहा था। उसकी ओर से भी एक मिशन इस समय नागासाकी पहुँच गया था। फ्रेञ्च जहाज भी जापान के समुद्रतट के आसपास चक्कर लगा रहे थे, और ब्रिटेन भी इस चिन्ता में था, कि शीघ्र से शीघ्र जापान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध की स्थापना की जाय। इस दशा में कमोडोर पेरी ने एक साल तक प्रतीक्षा करना अनुचित समझा। फरवरी, १८५४ में वह अपने जहाज़ों को लेकर फिर जापान पहुंच गया। इन जहाजों में अमेरिकन सैनिक भी बड़ी संख्या में विद्यमान थे और पेरी को यह आदेश था, कि यदि जापानी सरकार अमेरिका की मांगों पर ध्यान न दे, और पेरी को जापान-प्रवेश से रोके, तो वह सैन्यशक्ति का प्रयोग कर सके। पर कमोडोर पेरी को अमेरिकन सैन्यशक्ति का प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं हुई। जापानी सरकार भलीभांति अनुभव करती थी, कि युद्ध में पाश्चात्य देशों का मुकाबिला कर सकना सम्भव नहीं है। भाप की शक्ति से चलने वाले विशालकाय अमेरिकन जहाजों ने जापान के सैनिक नेताओं को सुचारु रूप से बोध करा दिया था, कि वे उन्नति की दौड़ में पाश्चात्य संसार के मुकाबिले में बे बहुत पीछे रह गए हैं।

अमेरिका के साथ प्रथम सन्धि—पेरी का प्रयत्न सफल हुआ, और १८५४ में जापान और अमेरिका में सन्धि हो गई। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) विदेशी जहाजों को यह अधिकार रहेगा, कि वे नागासाकी और दो अन्य जापानी बन्दरगाहों में कोयला भरने, रसद प्राप्त करने, ताजा पानी लेने और अपनी मशीनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि की मरम्मत करने के उद्देश्य से आ-जा सकें। (२) अमेरिका का एक प्रतिनिधि जापान में रह सके। (३) यदि कोई अमेरिकन जहाज़ जापान के समुद्रतट के समीप टूट जाय या डूब जाय, तो उसके मल्लाहों और यात्रियों को यह अनुमति हो, कि वे जापान में आश्रय पा सकें। कमोडोर पेरी के प्रयत्न से अब जापान विदेशी राज्यों के सम्पर्क से वञ्चित नहीं रह गया। वह पाश्चात्य देशों के लिए अब 'खुलना' प्रारम्भ हो गया।

अमेरिका के बाद अन्य पाश्चात्य देशों ने भी जापान के साथ इसी प्रकार की सन्धियां कीं। १८५४ में इंगलैण्ड को, १८५५ में रूस को और १८५५-५७ में हालैंड को इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त हुए।

अमेरिका के साथ द्वितीय सन्धि—१८५४ की सन्धि के अनुसार मि० टाउनशैण्ड हैरिस को जापान में अमेरिका का प्रथम प्रतिनिधि व राजदूत नियत किया गया। मि० हैरिस अत्यन्त कुशल एवं चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था। उसने जापान के राजनीतिक नेताओं से मैत्री स्थापित की, और उन्हें यह समझाया कि उन्नीसवीं सदी के इस उत्तरार्द्ध में जापान के लिए पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से पृथक् रह सकना असंभव है। विविध यूरोपियन राज्य इस समय (१८४२-६०) चीन में जिस प्रकार अपने प्रभाव का प्रसार कर रहे थे, हैरिस ने उसकी ओर जापानी सरकार का ध्यान आकृष्ट किया। उसने जापानी नेताओं से यह भी कहा, कि रूस और इंगलैंड चीन के समान जापान के विरुद्ध भी सैन्यशक्ति के उपयोग में संकोच नहीं करेंगे, और इस स्थिति में जापान का हित इसी बात में है कि वह पाश्चात्य देशों के साथ अपने सम्पक को बढ़ाए और उन्हें व्यापार आदि की वे सब सुविधाएं प्रदान करे, जो उन्हें चीन और पूर्वी एशिया के अन्य देशों में प्राप्त हो चुकी हैं। हैरिस के प्रयत्न से १८५८ में जापान और अमेरिका में एक और सन्धि हुई, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) चार नये जापानी बन्दरगाह अमेरिका के लिए खोल दिए गए। तीन बन्दरगाह १८५४ की सन्धि द्वारा खोले जा चुके थे। (२) इन सातों जापानी बन्दरगाहों में अमेरिका को व्यापार करने की अनुमति दे दी गई। (३) अमेरिका ने इस बात का आश्वासन दिया, कि यदि जापान को पाश्चात्य देशों के कारण किसी मुसीबत का सामना करना पड़ा, तो वह उसकी सहायता करेगा। (४) जापान अपने निर्यात और आयात माल पर अमेरिका से केवल पांच प्रतिशत कर ले सके। अमेरिका की सहमति के बिना इस कर की दर में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जाय। (५) व्यापार आदि के निमित्त जो अमेरिकन लोग जापान में रहें, उन पर अमेरिकन कानून लागू हों और उनके अभियोगों का फैसला अमेरिकन अदालतों के द्वारा ही किया जाय। अमेरिकन नागरिक जापानी कानून और जापानी अदालतों के अधीन न समझें जाएँ।

मि० हैरिस के प्रयत्न से १८५८ में जापान और अमेरिका के बीच जो सन्धि हुई, उसमें दो बातें जापान की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए विघातक थीं। प्रभुत्वशक्तिसम्पन्न जापानी सरकार को अब यह अधिकार नहीं रहा था, कि अपने आयात और निर्यात माल पर अपनी इच्छानुसार कर लगा सके। इसी प्रकार 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी' की जिस पद्धति का प्रारम्भ चीन में हुआ था, वह अब जापान में भी लागू हो गई थी।

१८५८ की सन्धि का विरोध—कमोडोर पेरी और मि० हैरिस द्वारा जो सन्धियां जापान के साथ की गई थीं, उन पर जापान की ओर से शोगून की सरकार ने हस्ताक्षर किये थे। पर इस समय तोकुगावा शोगूनों की शक्ति क्षीण होनी शुरू हो चुकी थी। २५० साल के लगभग उन्होंने अप्रतिहत एवं अबाध रूप से जापान का शासन किया था। यह स्वाभाविक था, कि इतने सुदीर्घ समय तक शासन कर चुकने पर उनके कुल में निर्बलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आने लगे। इस दशा में जापान के अन्य अनेक बड़े समान्तों ने तोकुगावा कुल का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। अमेरिका के साथ शोगून द्वारा जो सन्धि की गई थी, उससे इन सामन्तों को एक सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। जापान में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो विदेशी राज्यों के बढ़ते हुए प्रभाव को चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। विशेषतया, १८५८ की सन्धि द्वारा अमेरिकन लोगों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के जो अधिकार मिले थे, बहुत-से लोग उनके सख्त खिलाफ थे। अब तोकुगावा कुल के विरोधी सामन्तों ने जापानी सम्राट् को इस बात के लिए प्रेरित करना प्रारम्भ किया, कि वह १८५८ की सन्धि को स्वीकृत करने से इन्कार कर दे। हैरिस के सम्मुख अब एक विकट समस्या उपस्थित हुई। येदो की शोगून सरकार से वह सन्धि कर चुका था, पर सम्राट् इस सन्धि को स्वीकृत नहीं करता था। पर इसी समय ब्रिटिश और फ्रेन्च सेनाओं ने चीन में तीन्त्सिन पर कब्जा कर लिया था और चीन की सरकार को इस बात के लिए विवश किया था, कि वह उनको व्यापार, धर्म-प्रचार आदि की सब सुविधाएं प्रदान करे। चीन में पाश्चात्य देशों की बढ़ती हुई शक्ति का उदाहरण जापान के सम्मुख था। मि० हैरिस ने उसका उपयोग किया, और जापान के सम्राट् को भी १८५८ की सन्धि को स्वीकृत कर लेने के लिए प्रेरित किया।

हालैण्ड, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस ने भी अमेरिका का अनुकरण कर जापान की सरकार से नई सन्धियां कीं, और इन सन्धियों द्वारा प्रायः वे सब अधिकार प्राप्त किए, जो मि० हैरिस के प्रयत्न से १८५८ में अमेरिका को प्राप्त हुए थे। पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि अभी पाश्चात्य देश जापान में वे सब अधिकार प्राप्त नहीं कर सके थे, जो उन्होंने चीन में प्राप्त कर लिये थे। उदाहरणार्थ, जापान में पाश्चात्य देशों को यह अधिकार नहीं था, कि उनके नागरिक सात बन्दरगाहों के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र आ-जा सके। उन्हें अभी यह अधिकार भी नहीं मिला था, कि वे क्रिश्चिएनिटी का जापान में प्रचार कर सकें, और वहाँ जमीन खरीद कर या किराये पर लेकर गिरजाघरों व अन्य इमारतों का निर्माण कर सके।

पाश्चात्य देशों से सन्धियों के परिणाम—१८५८ और उसके बाद जापानी सरकार जिस प्रकार विविध पाश्चात्य देशों को व्यापार-सम्बन्धी सुविधाएँ देने, तट-कर को निर्धारित करने में अपनी स्वतन्त्रता का परित्याग करने व एकस्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी को स्वीकृत करने के लिए विवश हुई, उसके अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए—

(१) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आकर जापानी लोगों ने अनुभव किया, कि यूरोप और अमेरिका के लोग उसकी अपेक्षा बहुत अधिक उन्नत हैं। ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के कारण इन देशों में जो व्यावसायिक क्रान्ति हुई है, उसने आर्थिक दृष्टि से इन देशों को बहुत आगे बढ़ा दिया है। लोकतन्त्रवाद के विकास के कारण पाश्चात्य देशों की राजनीतिक दशा भी बहुत उन्नत हो गई है। सैन्य संचालन, अस्त्र-शस्त्र, आर्थिक उत्पादन, व्यापार आदि सभी क्षेत्रों में वे जापान की अपेक्षा बहुत उन्नत हैं। जापानी लोगों की यह विशेषता है, कि वे नई प्रवृत्तियों व नये ज्ञान को अपनाने में संकीर्णता प्रदर्शित नहीं करते। यही कारण है, कि उन्होंने प्राचीन समय में चीन के सम्पर्क में आकर उसे अपना गुरु स्वीकार किया था और उसकी सभ्यता, संस्कृति, साहित्य, लिपि आदि को अपना लिया था। अब पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आकर उन्होंने उनके ज्ञान-विज्ञान को अपनाना प्रारम्भ किया, और इसीलिए आधी सदी से भी कम समय में व पाश्चात्य लोगों के समकक्ष हो गये। बिजली की तार के साथ सम्पर्क में आने के दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही परिणाम हो सकते हैं, या तो प्राणी मृत्यु का ग्रास बन जाय और या उसमें नई शक्ति का संचार हो। पाश्चात्य देशों का सम्पर्क जापान के लिए बिजली के साथ सम्पर्क के समान था, जिससे उसमें नई शक्ति और नवजीवन का संचार हुआ।

(२) पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क ने तोकुगावा कुल के शोगूनों के आधिपत्य का अन्त करने में बहुत सहायता दी। शोगूनों के शासन का अन्त होकर किस प्रकार जापान में फिर से सम्राट् द्वारा शासन का प्रारम्भ हुआ, इस पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि तोकुगावा कुल के शोगूनों के विरुद्ध जो भावना जापान में उत्पन्न हुई, उसमें विदेशों के साथ सम्पर्क एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

(५) सम्राट् की शक्ति का पुनरुद्धार

१८६८ में तोकुगावा शोगूनों की शक्ति का अन्त हुआ, और जापान के सम्राट् ने राजशक्ति के प्रयोग को फिर से अपने हाथों में ले लिया। जापान के जिस सम्राट् के शासनकाल में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, उसका नाम मुत्सुहितो था, और वह १८६७ में जापान में राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। सम्राट् बनने पर उसने मेइजी की उपाधि धारण की थी। वह इसी नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। सम्राट् मेइजी द्वारा राजशक्ति के संचालन को अपने हाथों में लेना जापान के आधुनिक इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है, अतः उस पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालने की अवश्यकता है।

१८५८ में तोकुगावा कुल की शोगून सरकार ने अमेरिका के साथ जो सन्धि की थी, उससे जापान के बहुत-से प्रभावशाली व्यक्ति अत्यन्त असन्तुष्ट थे। उनका विचार था, कि जिस प्रकार अब तक जापान अपने को पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से पृथक् रखता रहा है, उसमें परिवर्तन लाना देश के लिए हानिकारक है। उन्होंने शोगून सरकार का विरोध करना शुरू किया। तोकुगावा कुल की प्रभुता के खिलाफ अन्य सामन्त कुलों में जो विरोध भावना थी, उसने इस समय उग्र रूप धारण कर लिया। तोकुगावा कुल के विरोधियों में सत्सुमा और चोशू कुल प्रधान थे। समूराई लोग भी विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोधी थे, और उनके खिलाफ शस्त्र उठाने को उत्सुक थे। १८५८ की सन्धि के विरुद्ध आन्दोलन अनेक रूपों में प्रकट हुआ। कुछ लोगों का कहना था, कि विदेशियों को जापान से निकाल बाहर करना चाहिये, और सम्राट् के प्रभुत्व का पुनरुद्धार होना चाहिये। क्योंकि शोगून सरकार ने अमेरिका के साथ सन्धि की थी, अतः लोगों का कहना था कि शागूनों के हाथ से राजशक्ति को छीनकर सम्राट् को फिर से सब शक्ति अपने हाथों में ले लेनी चाहिये। शोगून शासन के विरुद्ध आन्दोलन के अतिरिक्त जापान में इस समय यह प्रवृत्ति भी जोर पकड़ रही थी, कि विदेशियों पर आक्रमण किये जाएं। १८५९ और १८६५ के बीच में ब्रिटिश लोगों पर दो बार हमले हुए। सत्सुमा कुल का सामन्त राजा एक दिन जुलूस के साथ येदो से बाहर जा रहा था। जापान में यह रिवाज था कि जब इतनी ऊँची स्थिति का कोई व्यक्ति राजमार्ग से जा रहा हो, तो अन्य सब लोग मार्ग से हट जाएं। ब्रिटिश लोगों ने इस रिवाज की परवाह नहीं की। रिचर्डसन नामक एक अंग्रेज इस समय इसी रास्ते से अपने कुछ साथियों के साथ घोड़े पर जा रहा था। सत्सुमा के सामन्त राजा के लिए उसने मार्ग नहीं छोड़ा। इस पर जापानी लोगों ने उस पर हमला कर दिया, और उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। जब इस घटना का समाचार ब्रिटिश सरकार को मिला, तो उसने रिचर्डसन की हत्या का प्रतिशोध करने के लिये सत्सुमा के प्रदेश की राजधानी कागोशिमा पर गोलाबारी की। इस घटना (१८६३) से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापानी लोगों में पाश्चात्य देशों के प्रति विद्वेष की भावना और भी अधिक प्रबल हो गई। विदेशियों के विरुद्ध भावना से प्रभावित होकर १८६३ में सम्राट् की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित की गई, कि पाश्चात्य देशों का कोई जहाज जापान में न आ सके। शोगून का विचार था, कि इस राजाज्ञा को क्रिया में परिणत कर सकना क्रियात्मक नहीं है। इसलिये चोशू के सामन्त राजा ने सम्राट् के आदेश को क्रिया में परिणत करने का कार्य अपने हाथों में लिया। चोशू के सामन्त का प्रदेश शिमोनोसेकी के जलडमरूमध्य के समीप स्थित था। वहां पाश्चात्य देशों के जहाज बड़ी संख्या में आते-जाते थे। चोशू के सामन्त ने आज्ञा दी, कि जो कोई विदेशी जहाज शिमोनोसेकी के जलडमरुमध्य से गुजरे, उस पर गोलाबारी कर दी जाय। सबसे पहले एक अमेरिकन जहाज पर हमला हुआ। इस पर अमेरिका ने अपने एक जंगी जहाज को शिमोनोसेकी पर गोलाबारी करने के लिए भेज दिया। ब्रिटेन, फ्राँस और हालैंड ने भी अमेरिका का साथ दिया, और १८६४ में इन चारों राज्यों की सम्मिलित शक्ति ने जापान पर आक्रमण कर दिया। जापान की जलसेना पाश्चात्य देशों का मुकाबिला करने में असमर्थ रही। इस स्थिति में चोशू और सत्सुमा के सामन्त राजाओं ने यह भी अनुभव कर लिया, कि पाश्चात्य देशों का मुकाबिला कर सकना असम्भव है, और उनके साथ सन्धि करके रहना ही अधिक उत्तम है। पर पाश्चात्य देशों के प्रति जिस व्यवहार का सूत्रपात तोकुगावा के शोगूनों द्वारा हुआ था, उसके प्रति जापानी लोगों में इतना अधिक विरोध था, कि शोगून सरकार का प्रभाव कम होने लगा, और सम्राट् के दरबार में चोशू और सत्सुमा के सामन्तों का प्रभाव बढ़ने लग गया। इन सामन्तों ने यह तो अनुभव कर लिया था, कि पाश्चात्य देशों का मुकाबिला युद्धक्षेत्र में नहीं किया जा सकता, पर इनके हृदय में उनके प्रति विरोध भावना में कमी नहीं आई थी।

१८६७ में जापान के राजसिंहासन पर सम्राट् मेइजी के नाम से मुत्सुहितो आरूढ़ हुआ था। सम्राट् पद को ग्रहण करने के समय उसकी आयु केवल चौदह साल की थी। पर उसकी शिक्षा ऐसे वातावरण में हुई थी, कि वह किशोरावस्था में ही जापान की राजनीतिक समस्याओं को भली-भाँति समझने लगा था। १८६७ के अन्त से पूर्व ही सत्सुमा, चोशू, तोसा और हीजन के सामन्तों ने शोगून की सेवा में एक आवेदनपत्र भेजा, जिसमें यह अनुरोध किया गया कि नये सम्राट् को राजशक्ति का स्वयं प्रयोग करने का अवसर दिया जाना चाहिये और शोगून सरकार की शक्ति का अन्त होना चाहिये। इस समय तोकुगावा कुल के पुराने शोगून की मृत्यु हो चुकी थी, और १८६६ में एक नया व्यक्ति इस गौरवपूर्ण पद पर नियुक्त हुआ था। नया शोगून जापानी जनता की भावनाओं को भली-भाँति अनुभव करता था। उसने स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, और इस प्रकार तोकुगावा शोगूनों का अन्त हुआ। शोगून सरकार का अन्त और सम्राट् द्वारा शासनसूत्र को संभाल लेना जापानी इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। इस घटना से जापान में एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। विदेशी राज्यों के प्रति विरोध और विद्वेष की भावना जापान में भली-भाँति विद्यमान थी, पर साथ ही वहां के लोग यह भी अनुभव करते थे, कि इन विदेशियों से अपने देश की रक्षा करने का एकमात्र उपाय यही है, कि जापान में भी उसी प्रकार ज्ञान-विज्ञान, व्यवसाय एवं सैन्यशक्ति की उन्नति की जाय, जैसे कि पाश्चात्य देशों में हुई हैं।

सम्राट् द्वारा राजशक्ति को अपने हाथों में ले लेने से जापान में जो महान् परिवर्तन हुआ, उसके विरोधियों की भी कमी नहीं थी। यद्यपि शोगून ने अपने पद से स्वयं त्यागपत्र दे दिया था, पर तोकुगावा कुल के अन्य अनेक व्यक्ति अपने कुल की शक्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ह्रास को सहन नहीं कर सके। उन्होंने क्योतो पर आक्रमण किया और इस बात का प्रयत्न किया, कि सम्राट् को अपने विरोधियों के प्रभाव से मुक्त करें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। एक साल के लगभग तक तोकुगावा कुल के लोग अपनी शक्ति की पुनः स्थापना का उद्योग करते रहे, पर अन्त में उन्होंने नई परिस्थिति को स्वीकार कर लिया। तोकुगावा कुल का अन्तिम शोगून केइकी था। १८६६ में ही उसने शोगून के पद को प्राप्त किया था। वह बहुत सुशिक्षित व्यक्ति था। इतिहास का उसने गम्भीरता के साथ अनुशीलन किया था, और वह भली-भांति अनुभव करता था, कि जापान की सरकार तभी सबल हो सकती है, जबकि उसका संचालन एक ही केन्द्र से किया जाय। इसीलिये उसने स्वयमेव अपने पद का त्याग कर दिया था।

शोगून सरकार का अन्त होने पर जापान की केन्द्रीय सरकार में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उन पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि शोगूनों का पतन जापान के इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना थी। इसके कारण वहां सामन्तपद्धति का अन्त होकर एक ऐसी सरकार की स्थापना हुई, जिसे 'राष्ट्रीग' कहा जा सकता है। यद्यपि इस सरकार की सब शक्तियां सम्राट् में केन्द्रित थीं, पर अपनी इन शक्तियों का प्रयोग वह मन्त्रियों के परामर्श और सहायता से ही करता था, और ये मन्त्री किसी एक कुल के न होकर देश के योग्यतम व्यक्तियों में से नियुक्त किये जाते थे। इसीलिए अब जापान के इतिहास में उस युग का प्रारम्भ हुआ, जिसने उसे संसार की एक प्रमुख शक्ति बना दिया। तोकुगावा कुल की शक्ति और महत्ता भी इस परिवर्तन के कारण नष्ट नहीं हुई। उसकी प्रतिष्ठा पूर्ववत् कायम रही, और वहां के कुलीन घरानों में उसकी स्थिति बहुत ऊँची मानी जाती रही।

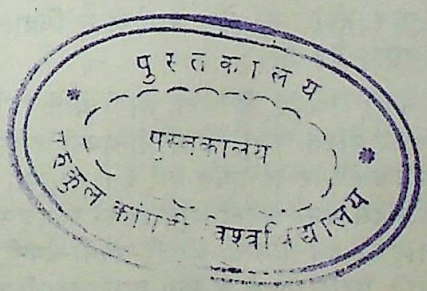

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाँचवां अध्याय

जापान का कायाकल्प

(१) नया शासन

सामन्त पद्धति का अन्त—सम्राट् मेइजी ने किस प्रकार शोगून सरकार का अन्त कर जापान के शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। अब सम्राट् के सम्मुख महत्त्वपूर्ण कार्य यह था, कि देश में एक सुव्यवस्थित व शक्तिशाली सरकार की स्थापना की जाए और सम्पूर्ण जापान अपने आन्तरिक भेदों को भूलकर एक सुदृढ़ केन्द्रीय शासन के अधीन हो जाए। यह बात तभी सम्भव हो सकती थी, जबकि सामन्त-पद्धति का पूर्ण रूप से अन्त हो जाए और सम्राट् अपनी सम्पूर्ण प्रजा पर समान रूप से शासन करे। इसमें सन्देह नहीं, कि तोकुगावा शोगूनों के शासन काल में जापान के विविध सामन्त राजा शोगून के वशवर्ती थे, पर जनता पर सामन्तों का तब भी अपरिमित अधिकार था और वे अपने-अपने प्रदेशों में पर्याप्त रूप से स्वतन्त्र राजाओं के समान सत्ता रखते थे। अब सम्राट् मेइजी ने यह प्रयत्न किया, कि धीरे-धीरे जापान से सामन्त पद्धति का अन्त कर दिया जाए। इसके लिए उसने निम्नलिखित उपायों का आश्रय लिया—

(१) १८६८ में सम्राट् मेइजी ने यह व्यवस्था की, कि प्रत्येक सामन्त की जागीर में एक राजकर्मचारी की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार की ओर से भी की जाया करे। जागीरों पर से सामन्तों के शासन का अन्त नहीं किया गया, पर केन्द्रीय सरकार की ओर से एक उच्च राजकर्मचारी की नियुक्ति के कारण सामन्त राजाओं और जनता को यह अनुभव होने लगा, कि जागीरों में निवास करने वाली प्रजा पर सम्राट् का भी प्रत्यक्ष शासन है।

(२) १८६९ में किदो, सागो आदि विविध नेताओं ने अनेक सामन्तों को इस बात के लिए प्रेरित किया, कि अपनी-अपनी जागीरों पर उनका जो अधिकार है, उसे वे स्वेच्छापूर्वक सम्राट् को अर्पण कर दें। सत्सुमा, चोशू, हीजन, तोसा आदि के अनेक सामन्तों ने इस समय अपनी जागीरों को स्वमेव सम्राट् को लौटा दिया, और सम्राट् ने बुद्धिमत्तापूर्वक इन सामन्तों को ही अपनी-अपनी जागीरों में सूबेदार के पद पर नियत कर दिया। पुराने युग के ये सामन्त अब अपनी जागीरों के राजा न रह कर उनके सूबेदार बन गए।

(३) कुछ मास पश्चात् सम्राट् ने एक आज्ञा प्रकाशित की, जिसमें अन्य सामन्त राजाओं को भी यह आदेश दिया गया, कि वे सब भी सत्सुमा आदि के सामन्तों का अनुकरण कर अपनी-अपनी जागीरों को सम्राट् के सुपुर्द कर दें। इस समय तक जापान में राष्ट्रीय भावना और देशप्रेम का विचार इतना प्रबल हो चुका था, और पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क में आने के कारण जापानी लोग अपनी राष्ट्रीय उन्नति के लिए इतने अधिक उत्सुक हो गये थे कि किसी सामन्त राजा ने सम्राट् की आज्ञा का उल्लंघन करने का साहस नहीं किया, और सबने अपनी नई स्थिति को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) १८७१ में सम्राट् की आज्ञा द्वारा सामन्त पद्धति का बाकायदा अन्त कर दिया गया। यह व्यवस्था की गई, कि सामन्त लोगों को जन्म भर पेंशन मिलती रहे, और उनकी नौकरी में जो समूराई सैनिक थे, उन्हें भी राज्य की ओर से वृत्ति दी जाए। सामन्तों और समूराई लोगों को पेंशन देने की व्यवस्था के कारण राजकोष पर खर्च का बोझ बहुत बढ़ गया। अतः १८७३ में यह आज्ञा जारी की गई, कि मासिक पेंशन के स्थान पर एक निश्चित रकम सामन्तों और समूराइयों को दे दी जाय।

जो सामन्त और समूराई लोग सदियों से अपने विशेषाधिकारों का उपभोग कर रहे थे, उनकी स्थिति में अकस्मात् इस प्रकार का परिवर्तन आ जाना सुगम बात नहीं थी। पर देशभक्ति की भावना से प्रेरित होकर ही बहुत-से सामन्तों ने इस समय स्वेच्छा-पूर्वक अपने विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया था। केन्द्रीय सरकार ने भी उन्हें इतनी रकम मुआवजे के तौर पर प्रदान कर दी, जिससे कि वे अपनी जागीरों को सँभालने के झंझट से मुक्त होकर अपना निर्वाह भली-भाँति कर सकते थे। समूराई लोगों को भी नई परिस्थिति में विशेष संकट का सामना नहीं करना पड़ा। हम पहले लिख चुके हैं, कि इस समय जापान में समूराई लोगों में शिक्षा का विशेष रूप से प्रचार था। सम्पूर्ण जापान के एक केन्द्रीय शासन के अधीन हो जाने के कारण उन्हें अपनी योग्यता के अनुसार उच्च राजकीय पद प्राप्त करने का अवसर मिला। पर यह नहीं समझना चाहिए, कि सामन्त पद्धति का अन्त करते हुए जापानी सरकार को किसी भी संकट का सामना नहीं करना पड़ा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अन्त में केन्द्रीय सरकार परिस्थिति को सँभाल सकने में समर्थ हो गई।

नई सेना—सामन्त पद्धति का अन्त करते ही जापान की सरकार ने नई सेना का संगठन किया। अब तक जापान की सेना का निर्माण समूराई लोगों द्वारा होता था, और ये समूराई विविध सामन्तों की सेवा में रहकर सैनिक सेवा किया करते थे। सर्व-साधारण जनता को यह अवसर नहीं था, कि वह सेना में भरती हो सके। पर अब सब लोगों को यह अवसर दिया गया कि वे सेना में भरती हो सकें और अपनी योग्यता के अनुसार सैनिक क्षेत्र में उन्नति कर सकें। १८७२ में जापान में बाधित सैनिक सेवा की पद्धति को प्रारम्भ किया गया। सब लोगों के लिए यह आवश्यक कर दिया गया, कि वे सैनिक शिक्षा प्राप्त करें और एक निश्चित समय तक सैनिक जीवन व्यतीत किया करें। निस्सन्देह, जापान के जीवन में यह भारी क्रान्ति थी। अब तक सेना का संचालन सामन्त राजाओं द्वारा होता था, पर अब जनता में सब प्रकार की स्थिति के लोगों को यह अवसर मिला, कि वे सेना में उच्च पदों को प्राप्त कर सकें।

नये शासन के सिद्धान्त—सम्राट् मेइजी ने शोगून सरकार का अन्त करके शासन सूत्र को अपने हाथों में लेते हुए १८६८ में एक घोषणा प्रकाशित की थी, जिसमें शासन के नये सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था। सम्राट् ने अपनी प्रजा को यह सूचित किया, कि अब जापान में एक विचारसभा की स्थापना की जायगी, और राज्य-सम्बन्धी नीति का निर्धारण इस सभा की सम्मति व परामर्श के अनुसार ही हुआ करेगा। विचारसभा में लोकमत पर भी ध्यान दिया जायगा। न्याय करते हुए सब मनुष्यों के प्रति एक समान बरताव होगा, और राज्य के शासन में किसी भी देश से बुद्धिमत्ता की बात ली जा सकेगी। उसे ग्रहण करने में कोई संकोच नहीं किया जायगा। निस्सन्देह, सम्राट् मेइजी द्वारा प्रारम्भ किये गए शासन के ये आधारभूत सिद्धान्त थे, और उसने उन्हें बड़ी योग्यता के साथ क्रिया में भी परिणत किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन-सुधार के लिये आन्दोलन—इस समय जापान में अनेक ऐसे विचारशील नेता उत्पन्न हुए, जिन्होंने देश के शासन में सुधार के लिए आन्दोलन का प्रारम्भ किया। इनमें इतागाकी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १८७४ में उसने एक संस्था की स्थापना की, जिसका उद्देश्य राजनीति-शास्त्र का अध्ययन करना था। कुछ समय बाद १८७५ में ही इतागाकी और उसके सहकारियों ने सम्राट् की सेवा में एक आवेदनपत्र भेजा, जिसमें यह प्रार्थना की गई, कि १८६८ की उद्घोषणा के अनुसार जापान में एक विचारसभा की स्थापना की जाय, और यह विचारसभा लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाली हो। पर सरकार के अन्य महत्त्वपूर्ण लोग शासन सुधार के मार्ग पर इतना अधिक आगे बढ़ने को तैयार नहीं थे। फिर भी इस समय जापान के शासन में कतिपय सुधार किए गए, और इनके अनुसार वहां पहली बार एक सीनेट और एक केन्द्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। इस समय तक अनेक जापानी नागरिक यूरोप की यात्रा कर चुके थे, और वहाँ की राजनीतिक संस्थाओं से बहुत प्रभावित हुए थे। किस प्रकार विविध जापानी लोग यूरोप में जाने शुरू हुए, इस पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। विदेशों में शिक्षा प्राप्त करके या भ्रमण करके लौटे हुए ये जापानी नागरिक शासन-सुधार के लिए प्रबल आन्दोलन में तत्पर थे। इनके आन्दोलन का यह परिणाम हुआ, कि १८७८ में जापान में स्थानीय स्वशासन का सूत्रपात किया गया। जापान के विविध प्रान्तीय सूबेदार अपने शासन-कार्य में स्थानीय सभाओं से परामर्श किया करें, यह भी व्यवस्था की गई। पर शासन-सुधार के लिए जो आन्दोलन इस समय जापान में जारी था, वह इन सुधारों से शान्त नहीं हुआ। १८७४ में इतागाकी द्वारा राजनीतिक प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए जिस संस्था की स्थापना की गई थी, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब इसी प्रकार की अन्य भी अनेक संस्थाएँ स्थापित हुईं। धीरे-धीरे ये सब संस्थाएँ एक संगठन में संगठित हो गईं, और एक राजनीतिक दल का निर्माण हुआ, जिसका प्रधान नेता इतागाकी था। इतागाकी के इस राजनीतिक दल को हम लिबरल या उदार दल कह सकते हैं। यह दल जापान में पार्लियामेंट की स्थापना करने के पक्ष में था, और पाश्चात्य देशों के अनुकरण में लोकसत्तावाद का विकास करने का समर्थक था।

१८८१ में काउण्ट ओकुमा ने एक नये दल का संगठन किया। ओकुमा पहले जापान के अर्थमन्त्री के पद पर अधिष्ठित था, पर सरकार के अन्य सदस्यों से मतभेद होने के कारण उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। वह भी जापान में वैध राजसत्ता स्थापित करने के पक्ष में था। पर उसके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह इतागाकी के दल में शामिल होकर कार्य करे। उसने अपने दल का पृथक् रूप से संगठन किया। यह दल प्रगतिशील (प्रोग्रेसिव) दल के नाम से प्रसिद्ध है।

इस दशा में सम्राट् ने भी यह अनुभव किया, कि देश में शासन-सुधार करना आवश्यक है। १८८१ में उसकी ओर से एक घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें यह वायदा किया गया कि १८९० तक जापान में पार्लियामेंट की स्थापना कर दी जायगी। साथ ही, जनता से यह भी अनुरोध किया गया, कि अब वह राजनीतिक आन्दोलनों को बन्द कर दे। समाचार-पत्रों द्वारा सरकार की आलोचना करने और सुधार के लिए आन्दोलन करने को निषिद्ध कर दिया गया, और १८८३ में सम्राट् की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित हुई, कि विविध राजनीतिक दलों को भंग कर दिया जाय। १८८४ में इतागाकी का उदार दल भंग हो गया, और लगभग इसी समय में काउण्ट ओकुमा की प्रोग्रेसिव पार्टी की भी समाप्ति हो गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नये शासन विधान का निर्माण—शासन सुधार सम्बन्धी राजाज्ञा को क्रिया में परिणत करने के लिए १८८२ में श्री इतो को इस उद्देश्य से यूरोप भेजा गया, कि वे वहाँ के विविध देशों की शासन पद्धति का अनुशीलन करें, और सरकार को परामर्श दें कि किस प्रकार के शासन-सुधार जापान के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हैं। श्री इतो जापान के प्रमुख राजनीतिज्ञ थे, और शोगून की सरकार का अन्त कर सम्राट् की सत्ता को पुनः स्थापित करने में उनका प्रमुख हाथ था। जापान के नये शासन के सम्बन्ध में उनके विचार निम्नलिखित थे—(१) नये शासन विधान का निर्माण जनता द्वारा नहीं होना चाहिए। वह सम्राट् या उसकी सरकार की कृति होनी चाहिए, और उसमें सम्राट् की स्थिति को सर्वथा सुरक्षित रखना चाहिए। (२) सामन्त-पद्धति का अन्त करने में जिन जापानी नेताओं का प्रधान कर्तृत्व था, उनकी स्थिति एवं शक्ति को भी अक्षुण्ण रखना चाहिए। (३) जनता में प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन स्थापित करने की जो माँग निरन्तर बढ़ती जा रही है, नये शासन-विधान में उसे भी ध्यान में रखना चाहिए। यह स्पष्ट है, कि फ्राँस और अमेरिका के रिपब्लिकन शासन श्री इतो के लिए कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते थे, और जापान के शासन-विधान का निर्माण करते हुए उन्हें आदर्श नहीं बनाया जा सकता था। इङ्गलैंड का शासन-विधान भी उनके लिए विशेष उपयोगी नहीं था, क्योंकि उसमें भी राजा की स्थिति 'ध्वजमात्र' (नाममात्र) ही थी। यूरोप के विविध देशों में इतो ने प्रशिया के शासन को इस ढंग का पाया, जिसका जापान में सुगमता से अनुकरण किया जा सकता था। प्रशिया में होहन्त्सोलर्न राजवंश का शासन था, मन्त्रिमण्डल राजा के प्रति उत्तरदायी था और पार्लियामेंट में कुलीन जागीरदारों तथा धनिक वर्ग का प्रभुत्त्व था। इतो की सम्मति में इस प्रकार का शासन ही जापान के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो सकता था।

१८८३ में इतो यूरोप की यात्रा समाप्त करके जापान वापस लौट आया। उसी समय सरकार ने एक नया विभाग स्थापित किया, जिसे देश के लिए नया शासन-विधान तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया। इस विभाग का अध्यक्ष श्री इतो को ही नियत किया गया। १८८९ में सम्राट् की ओर से नये शासन-विधान की घोषणा कर दी गई, यद्यपि उसके कुछ अंश पहले ही क्रिया में परिणत कर दिये गए थे। उदाहरणार्थ, १८८५ में जापान में बाकायदा मन्त्रिमण्डल का संगठन हो गया था, और उससे एक साल पहले सन् १८८४ में प्रशिया के नमूने पर जापान में भी एक नई कुलीन श्रेणी का निर्माण किया गया था, जिसमें पाँच प्रकार के लार्ड रखे गये थे। ये लार्ड प्रिंस, मार्क्विस, काउन्ट, विस्काउन्ट और बैरन कहाते थे। ये पांचों प्रकार के लार्ड सम्राट् की कृति थे, और उसी के द्वारा कोई व्यक्ति इन पदों को प्राप्त कर सकता था। कुछ व्यक्तियों को लार्ड के ये विविध पद वंशक्रमानुगत रूप से दिये जाते थे, और कुछ को केवल अपने जीवन काल के लिये ही।

१८८९ का शासन-विधान—सम्राट् द्वारा १८८९ में जिस नए शासन-विधान की घोषणा की गई, उसकी रूपरेखा पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। शासन का अधिपति व मुखिया सम्राट् को बनाया गया, और उसकी स्थिति 'पवित्र व अनुल्लंघनीय' रखी गई। विविध राजपदाधिकारियों को नियुक्त करना, उन्हें अपने पदों से बर्खास्त करना और उनके वेतन को निर्धारित करना उसी के हाथों में रखा गया। युद्ध की घोषणा करने और सन्धि-विग्रह के सब अधिकार भी उसी को दिए गए। विशेष परिस्थितियों में अध्यादेश (आर्डिनेन्स) जारी करने का अधिकार भी सम्राट् को प्रदान किया गया। सम्राट् को शासनकार्य में सहायता देने के लिए एक मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके सदस्यों को सम्राट् ही नियुक्त करता था और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पार्लियामेंट के प्रति उन्हें उत्तरदायी नहीं बनाया गया था, और मन्त्री तब तक ही अपने पदों पर रह सकते थे, जब तक सम्राट् का विश्वास उन्हें प्राप्त रहे।

१८८९ के शासन-विधान द्वारा जापान में एक पार्लियामेंट की भी स्थापना की गई। इसमें दो सदन होते थे, लार्डों की सभा और लोकसभा। लार्डों की सभा में निम्न-लिखित प्रकार के सदस्य होते थे--(१) राजघराने के पुरुष, (२) प्रिंस और मार्क्विस वर्ग के लार्ड लोग, (३) काउन्ट, विस्काउन्ट और बैरन वर्ग के लार्डों के प्रतिनिधि, (४) सम्राट् द्वारा मनोनीत सदस्य, और (४) सबसे अधिक राजकीय कर देने वाले लोगों द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि। पहले तीन प्रकार के सदस्य जीवन भर के लिये 'लार्डों की सभा' में रहते थे, और पिछले दो प्रकार के सदस्यों की सदस्यता का काल सात साल रखा गया था। इस प्रकार लार्डों की सभा के सब सदस्य सम्पन्न व कुलीन वर्ग के ही होते थे। यद्यपि लोकसभा के सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते थे, पर १८८९ में वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था। वोटर होने के लिए सम्पत्ति की शर्त रखी गई थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, जापान में वोट का अधिकार भी अधिकाधिक विस्तृत होता गया। यह आवश्यक था कि साल में एक बार पार्लियामेन्ट का अधि-वेशन अवश्य बुलाया जाय। इसके अतिरिक्त पार्लियामेन्ट के विशेष अधिवेशन भी बुलाए जा सकते थे। पार्लियामेन्ट की स्वीकृति के बिना कोई नया कानून स्वीकृत नहीं हो सकता था, और न ही कोई नया टैक्स लगाया जा सकता था। यह भी आवश्यक था, कि राजकीय बजट की स्वीकृति पार्लियामेन्ट से ली जाय। पर यदि कभी पार्लियामेंट नए बजट को स्वीकार करने से इनकार कर दे, तो पिछले साल के बजट के अनुसार आय व व्यय निश्चित किया जाता था। सम्राट् को यह अधिकार था, कि वह पार्लियामेन्ट में स्वीकृत हुए किसी भी कानून को वीटो कर सके। पालियामेंट के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते थे, और उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी स्वीकार कर सकते थे। पर मन्त्रियों को अपदस्थ करने का अधिकार केवल सम्राट् को था। पार्लियामेन्ट के सदस्यों को भाषण देने की पूर्ण स्वतन्त्रता थी, और पार्लियामेंट में दिए भाषणों के लिए उन्हें गिर-फ्तार नहीं किया जा सकता था। इसमें सन्देह नहीं, कि १८८९ के शासन-विधान में पार्लियामेन्ट को पर्याप्त अधिकार दिए गए थे, और समय के साथ-साथ वह अपनी शक्ति को बढ़ा भी सकती थी।

१८८९ के शासन-विधान में नागरिकों के अधिकारों का भी विशद रूप के प्रति-पादन किया गया था। कानून के सम्मुख सब जापानी नागरिक एक समान स्थिति रखते थे। राजकीय पद व नौकरी प्राप्त करने का सबको अधिकार दिया गया था। भाषण, लेखन व अन्य प्रकार से अपने विचारों को प्रकट करने, सभाएं करने, संगठन बनाने और अपने विश्वास व विचार के अनुसार किसी भी धर्म का अनुसरण करने की सबको स्वत-न्त्रता दी गई थी। राजकर्मचारियों को यह अधिकार नहीं था, कि वे किसी व्यक्ति को स्वेच्छापूर्वक गिरफ्तार कर सकें। यह व्यवस्था की गई थी, कि अभियुक्तों पर न्यायालयों में बाकायदा मुकदमा चलाया जाय और न्यायालय से दण्ड पाए बिना किसी व्यक्ति को जेल में न रखा जा सके। सम्पत्ति के अधिकार को अनुल्लंघनीय घोषित किया गया था, और सब नागरिकों को यह अवसर दिया गया था, कि वे सरकार के पास अपनी शिका-यतों व आवेदन-पत्रों को भेज सकें। जापान के शासन-विधान के ये 'नागरिकों के अधि-कार' ठीक उसी प्रकार के थे, जैसे कि इस समय विविध पाश्चात्य देशों के लोकतन्त्र शासन-विधानों में प्रतिपादित थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८८९ के शासन-विधान द्वारा जापान सरकार व शासन की दृष्टि से इस युग के पाश्चात्य देशों के समकक्ष हो गया था। इसमें सन्देह नहीं, कि फ्रांस, अमेरिका और ब्रिटेन लोकतन्त्रवाद के क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ चुके थे। पर इसी समय जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, स्पेन आदि अनेक राज्यों के शासन लोकतन्त्रवाद की दृष्टि से जापान से अधिक उन्नत नहीं थे। रूस, तुर्की आदि की सरकारें तो जापानी सरकार की तुलना में निश्चित रूप से अधिक निरंकुश व स्वेच्छाचारी थीं। यूरोप के विविध देशों में सामन्त पद्धति और एकतन्त्र शासन का अन्त होकर लोकतन्त्र शासन की स्थापना में एक सदी से भी अधिक समय लगा था। पर जापान इस युग में इतनी शीघ्रता से उन्नति के मार्ग पर कदम बढ़ा रहा था, कि उसने चौथाई सदी से भी कम समय में सामन्त पद्धति और निरंकुश शासन का अन्त कर एक ऐसे शासन-विधान की स्थापना कर ली थी, जो उन्नीसवीं सदी की प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल था।

(२) पाश्चात्य देशों से की गई सन्धियों में संशोधन

१८५८ में अमेरिका से और उसके बाद ब्रिटेन, हालैण्ड आदि अन्य पाश्चात्य देशों के साथ जो सन्धियाँ जापान ने की थीं, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। ये सन्धियाँ जापान की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल थीं, क्योंकि आयात और निर्यात माल पर जापानी सरकार अपनी इच्छानुसार टैक्स नहीं लगा सकता थी, और जापान में निवास करने वाले पाश्चात्य व्यापारी तथा अन्य लोग जापानी कानून एवं जापानी अदालतों के अधीन नहीं थे। साथ ही, जापान की मुद्रापद्धति पर भी इन पाश्चात्य देशों का नियन्त्रण था। इस समय जापान में सोना और चांदी-दोनों के सिक्के प्रचलित थे। सन्धियों द्वारा पाश्चात्य देशों ने सोने और चांदी के इन सिक्कों के मूल्य में एक और चार के अनुपात को स्वीकार किया था, जिससे कि एक तोला वजन के सोने के सिक्के के बदले में चार तोले वजन के चाँदी के सिक्के प्राप्त किए जा सकते थे। दूसरे शब्दों में इसी बात को इस ढंग से कह सकते हैं, कि यदि सोने का मूल्य १०० येन (जापान का सिक्का) प्रति तोला हो, तो चाँदी का मूल्य २५ येन प्रति तोला था। पर इस समय यूरोप में सोने और चाँदी के मूल्य में एक और सोलह का अनुपात था। पाश्चात्य व्यापारी अपने देशों से चाँदी के सिक्के भारी परिमाण में जापान लाते थे, पहले उनका विनिमय जापान के चांदी के सिक्कों से करते थे, और फिर जापानी चांदी के सिक्कों के बदले में चार और एक के अनुपात से जापान के सोने के सिक्कों को प्राप्त कर लेते थे। इस विनिमय में उन्हें ४०० फी सदी का मुनाफा हो जाता था। सन्धि की शर्तों में इस विनिमय-दर का भी उल्लेख था, अतः जापानी सरकार पाश्चात्य व्यापारियों के इस अनुचित व्यापार को रोक नहीं सकती थी। इसका परिणाम यह था, कि सोना बहुत बड़ी मात्रा में जापान से यूरोप और अमेरिका पहुंचने लगा था, और जापान प्रायः सोने से बिलकुल खाली होने लग गया।

स्वाभाविक रूप से जापानी सरकार इस बात के लिए उत्सुक थी, कि इन संधियों में संशोधन किया जाय। इसलिए जब १८६८ में शोगून शासन का अन्त होकर सम्राट् की शक्ति पुनः स्थापित हुई तो इन सन्धियों में संशोधन के प्रश्न पर भी ध्यान दिया गया। १८७१ में श्री इवाकुरा के नेतृत्व में एक मिशन इस उद्देश्य से यूरोप और अमेरिका भेजा गया, कि वह वहाँ की सरकारों से बातचीत करके इन सन्धियों में परिवर्तन करने का प्रयत्न करे। श्री इवाकुरा ने विविध देशों की यात्रा कर उनकी सरकारों के साथ सम्पर्क स्थापित किया, पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। जापान वापस लौटकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्री इवाकुरा ने अपनी सरकार को सूचना दी, कि सन्धियों में संशोधन तभी सम्भव होगा, जबकि पहले जापान में न्याय व्यवस्था को सुचारु व समुचित रूप से संगठित कर लिया जायगा। जापानी सरकार के लिए यह आवश्यक है, कि पहले अपने कानूनों, दण्ड-विधान और न्यायविभाग को इस प्रकार से संशोधित कर ले, जिससे कि ये सब आधुनिक युग के विचारों के अनुकूल बन जायें। इसी प्रकार आयात और निर्यात माल पर अपनी इच्छानुसार टैक्स लगा सकने का अधिकार जापानी सरकार को तभी प्राप्त हो सकेगा, जबकि विदेशी व्यापारियों को जापान में व्यापार कर सकने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाएगी। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में संसार बहुत उन्नति कर गया है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सर्वत्र विकास हो रहा है, और पाश्चात्य देशों में विदेशी व्यापार को हानिकारक न मानकर देश के लिए हितकर समझा जाता है। श्री इवाकुरा की रिपोर्ट पर जापानी सरकार ने भली-भाँति विचार किया और कानूनों एवं न्यायपद्धति में उन सुधारों को प्रारम्भ किया, जिनके कारण इस क्षेत्र में भी जापान पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया।

जापानी सरकार ने अपने देश के दीवानी और फौजदारी कानूनों का नए सिरे से निर्माण किया। इस कार्य में फ्राँस और प्रशिया के विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त किया गया। न्याय विभाग का भी नए सिरे से संगठन किया गया। विभिन्न स्तर की अदालतों का निर्माण करते हुए फ्राँस की न्यायपद्धति को सम्मुख रखा गया। १८८९ तक कानून और न्यायालय सम्बन्धी यह नई व्यवस्था पूर्ण रूप से बनकर तैयार हो गयी थी, और १८९० में सम्राट् ने इस पर अपनी अन्तिम स्वीकृति भी दे दी थी। १८९४ तक ये नये कानून अविकल रूप से सम्पूर्ण जापान में प्रयुक्त होने लग गए थे। अब पाश्चात्य देशों को यह कहने का कोई अवसर नहीं रहा था, कि एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति की इस कारण आवश्यकता है, क्योंकि जापान में कानून और न्यायालय आधुनिक युग के अनुरूप नहीं है।

कानून और न्याय के क्षेत्र में सुधारों के साथ-साथ जापानी सरकार इस प्रयत्न में भी लगी थी, कि पाश्चात्य देशों के साथ हुई सन्धियों में संशोधन किया जाय। १८८२ तक अनेक पाश्चात्य देश इस बात के लिए तैयार हो गए थे, कि वे एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर जापानी अदालतों को ही अपने नागरिकों के मुकदमों का फैसला करने दें। पर वे इस बात पर जोर देते थे, कि इन जापानी अदालतों में जापानी न्यायाधीशों के साथ-साथ पाश्चात्य देशों के न्यायाधीश भी होने चाहिएं। उनका कथन था, कि केवल उन्हीं जापानी अदालतों में पाश्चात्य लोगों के मुकदमों का विचार हो सके, जिनमें कम-से-कम एक पाश्चात्य न्यायाधीश भी हो। जापानी सरकार इस बात को समझौते के तौर पर मानने को तैयार थी, क्योंकि उसकी दृष्टि में यह व्यवस्था एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की अपेक्षा कहीं अधिक अच्छी थी। पर जापान का लोकमत इसके अत्यन्त विरुद्ध था। जापानी लोग कहते थे कि विदेशी न्यायाधीशों का जापान की अदालतों में बैठना उनके राष्ट्रीय गौरव के सर्वथा विपरीत है। परिणाम यह हुआ, कि १८८२ में जो समझौता तैयार हुआ था, वह क्रिया में परिणत नहीं हो सका। १८८८ में काउन्ट ओकोमा ने इस सम्बन्ध में सन्धियों में संशोधन के लिए बातचीत करने के उद्देश्य से पाश्चात्य देशों की यात्रा की। अमेरिका को वह एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर देने के लिए तैयार करने में सफल भी हुआ। पर अमेरिका ने यह शर्त लगाई, कि इस बात को तभी क्रिया में परिणत किया जाए, जबकि अन्य देश भी इसी प्रकार के संशोधनों को स्वीकृत करने के लिए तैयार हो जाएं। १८९४ तक जापान में नए दीवानी और फौजदारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून अविकल रूप से प्रयोग में आने लगे थे, और अदालतों का संगठन भी नए ढंग से हो गया था। इस दशा में १८९४ में इंगलैंड ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया, कि १८९९ से इंगलिश नागरिकों के मुकदमे जापानी अदालतों में पेश होने लगें। उसका विचार था कि पांच साल में यह बात भली-भांति स्पष्ट हो जाएगी, कि जापानी अदालतें भी पाश्चात्य देशों की अदालतों के समान न्याय-सम्बन्धी नए आदर्शों के अनुसार न्याय-कार्य का सम्पादन करती हैं या नहीं। १८९४-९७ के तीन सालों में अन्य पाश्चात्य देशों ने भी जापान के साथ हुई अपनी सन्धियों में इंगलिश संधि के ढंग पर संशोधन किए, और इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के अन्त से पूर्व ही एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी पद्धति का जापान से अंत हो गया। इसी समय १८५८ और उसके बाद की विदेशी संधियों में जो अनेक दोष थे, उस सबको भी दूर किया गया। पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अपना लेने के कारण जापान इस समय जिस तेजी के साथ राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक क्षेत्रों में उन्नति कर रहा था, उसके कारण वह पाश्चात्य देशों का पूर्णतया समकक्ष बन गया, और यह सम्भव नहीं रहा कि उसके साथ वैसा व्यवहार किया जा सके, जैसा कि चीन आदि अन्य एशियाई देशों के साथ किया जाता था।

(३) सामाजिक और आर्थिक उन्नति

शिक्षा का विस्तार—शोगून सरकार के शासनकाल में ही अनेक जापानी विद्यार्थियों ने उच्च शिक्षा के लिए विविध पाश्चात्य देशों में जाना प्रारम्भ कर दिया था। उस समय यद्यपि जापानी लोगों के लिए विदेशयात्रा निषिद्ध थी, तथापि कानून का उल्लंघन कर अनेक जापानी युवक अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए विदेशों में जाने शुरू हो गए थे। शोगून सरकार के पतन और सम्राट् द्वारा राजशक्ति को अपने हाथों में ले लेने के बाद जापानी विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में विदेशों में जाने शुरू हुए। इन विद्यार्थियों का यह उद्देश्य था कि पाश्चात्य देशों ने ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जो कुछ उन्नति पिछली एक सदी के काल में की है, उस सबको सीखकर अपने देश में उसका आरंभ करें। अमेरिका और यूरोप के उच्च शिक्षणालयों में हजारों जापानी विद्यार्थी प्रविष्ट हुए, और उन्होंने अपने देश को लौटकर शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्ति का प्रारम्भ किया। अब तक जापान में प्रधानतया प्राचीन साहित्य और धर्मग्रन्थों की ही शिक्षा दी जाती थी। अब उनके साथ-साथ नए ज्ञान-विज्ञान का भी प्रवेश हुआ। जापानी स्कूलों में पाश्चात्य भाषाओं, विशेषतया इंगलिश की भी पढ़ाई शुरू की गई, और कुछ ही समय में जापान के शिक्षणालय पढ़ाई के क्षेत्र के पाश्चात्य देशों के स्कूलों, कालिजों और यूनिवर्सिटियों के समकक्ष हो गए।

१८७२ में जापान में बाधित शिक्षा की पद्धति को जारी किया गया। इसके लिए प्रत्येक नगर व प्रत्येक ग्राम में प्रारम्भिक शिक्षणालयों की स्थापना की गई। प्रत्येक बालक व बालिका के लिए यह आवश्यक कर दिया गया, कि वह कम-से-कम चार साल तक स्कूल में बाकायदा शिक्षा ग्रहण करे। बाद में इस काल को बढ़ाकर चार साल के स्थान पर छः साल कर दिया गया। जापान के स्कूलों में केवल पढ़ाई ही नहीं होती थी, अपितु चरित्र के निर्माण पर भी बहुत ध्यान दिया जाता था। देश के प्रति प्रेम और सम्राट् के प्रति भक्ति की शिक्षा सब बच्चों को दी जाती थी। उन्हें सिखाया जाता था, कि प्रत्येक जापानी का जीवन देश और सम्राट् के लिए है। लड़कियों की शिक्षा में गृहकार्य को प्रमुख स्थान दिया जाता था। जापानी लोग समझते थे कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र घर है, अतः उन्हें गृहकार्य में विशेष रूप से निपुणता प्राप्त करनी चाहिए। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने १९०२ तक भी लड़कियों की उच्च शिक्षा के लिए कोई व्यवस्था नहीं की थी। बाद में स्त्रियों के लिए पृथक् कालिजों की स्थापना की गई, और उन्हें यूनिवर्सिटियों में शिक्षा प्राप्त करने का भी अवसर दिया गया।

प्रारम्भिक शिक्षणालयों के लिए जापानियों ने अमेरिका को आदर्श रूप से स्वीकृत किया। उच्च शिक्षा के लिए उन्होंने फ्राँस की यूनिवर्सिटियों का अनुकरण किया, और शिल्प विषयक शिक्षा के लिए जर्मनी को अपना आदर्श बनाया। इसका परिणाम यह हुआ, कि शीघ्र ही जापान में सब प्रकार के शिक्षणालयों की स्थापना हुई, और जापानी विद्यार्थियों के लिए अपने ही देश में सब प्रकार की शिक्षा को प्राप्त कर सकना सुलभ हो गया।

आर्थिक उन्नति—जापान की नई सरकार देश की आर्थिक उन्नति के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील थी। जब एक बार जापानी लोगों ने यह अनुभव कर लिया कि वे व्यावसायिक क्षेत्र में पाश्चात्य देशों के मुकाबिले में बहुत पीछे रह गए हैं, तो उन्होंने बड़ी तेजी के साथ यूरोप और अमेरिका के वैज्ञानिक आविष्कारों और मशीनरी को अपनाना शुरू कर दिया। इसी उद्देश्य से उन्होंने बहुत-से नए कारखाने स्थापित किए, और उनके लिए मशीनरी पाश्चात्य देशों से मंगवाई गयी। सरकार ने स्वयं अपने खर्च से विदेशों से मशीनरी मंगवानी शुरू की, और नए कारखानों की स्थापना कर उन्हें धनपतियों को बेचना प्रारम्भ किया। सरकार का यत्न यह था, कि लोग कारखाने खोलने के लिए उत्साहित हों। इसीलिए वह स्वयं कारखानों की इमारतों को बनवाती थी, स्वयं मशीनरी मंगाती थी, और कारखानों को चालू हालत में लाकर उन्हें पूँजीपतियों को बेच देती थी। इस कारण जापान के अनेक सम्पन्न परिवार जहाँ सरकार से इन कारखानों का क्रय करने के लिए उत्साहित हुए, वहां साथ ही बहुत-से लोगों ने स्वयं भी आधुनिक ढंग के कारखानों की स्थापना प्रारम्भ की। परिणाम यह हुआ, कि कुछ ही समय में जापान में व्यावसायिक क्रांति हो गई, और वहां के विशालकाय कारखानों में कपड़ा, रेशम, लोहे का सामान आदि प्रचुर मात्रा में तैयार होने लगा। जापानी सरकार की यह नीति थी, कि ऐसे व्यवसायों के विकास पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाय, जो सैनिक शक्ति के लिए सहायक हों। इसीलिए जापान में बहुत-सी खानें खोदी गईं, लौह व्यवसाय को विशेष रूप से उन्नत किया गया, और बारूद व विविध प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों को तैयार करने पर विशेष ध्यान दिया गया। १८९० तक जापान में यह दशा आ गई थी, कि २५० से भी अधिक ऐसे कारखाने वहां कायम हो गए थे, जिनमें भाप की शक्ति से सब कार्य होता था। १८९० के बाद तो जापान ने व्यावसायिक क्षेत्र में और भी अधिक उन्नति की, और बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक वह आर्थिक उत्पत्ति में ब्रिटेन जैसे उन्नत देशों का सफलता के साथ मुकाबिला करने लगा।

१८७२ में जापान में पहली रेलवे का निर्माण हुआ था। यह पहली जापानी रेलवे लाइन तोकियो से योकोहामा तक बनायी गई थी। १८९४ तक २११८ मील लंबी रेलवे लाइनों ने जापान के विविध प्रदेशों में रेल का एक जाल-सा बिछा दिया था। ये रेलवे लाइनें जहां देश के आन्तरिक व्यापार एवं व्यावसायिक उन्नति के लिए अत्यन्त सहायक थीं, वहां साथ ही राष्ट्रीयता के विकास में भी इनसे बहुत सहायता मिल रही थी। अब जापान के विविध प्रदेशों व द्वीपों में निवास करने वाले लोगों के लिए यह बहुत सुगम हो गया था, कि वे अपने देश में सर्वत्र यात्रा कर सकें और एक-दूसरे के साथ परिचय प्राप्त कर सकें। जापान एक राष्ट्र है, और उसके सब निवासी एक हैं, इस भावना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को विकसित करने में आवागमन के साधनों की उन्नति बहुत अधिक सहायक सिद्ध हुई। जापानी सरकार ने इसी समय डाकखाने के विभाग को भी विशेष रूप से उन्नत किया। १८६८ में वहाँ टैलीग्राफ का पहले-पहल प्रवेश हुआ था। कुछ ही समय में जापान में सर्वत्र पोस्ट आफिसों की स्थापना हो गई। रेलवे और पोस्ट आफिस के विस्तार के साथ-साथ जापानी सरकार ने जहाजों के निर्माण पर भी विशेष ध्यान दिया। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जापान को किसी ऐसे जहाज का परिचय भी नहीं था, जो भाप की शक्ति से चलता हो। उसके अपने जहाज बहुत छोटे-छोटे होते थे, और वे तट के साथ-साथ ही समुद्र में आया-जाया करते थे। पर अब जापान ने भाप से चलने वाले विशाल जहाजों को अधिगत करना शुरू किया। शुरू में इन जहाजों को पाश्चात्य देशों से खरीदा गया, पर बाद में जापान में ही ऐसे यार्डों की स्थापना की गई, जहाँ सब प्रकार के जहाज बड़ी संख्या में बनने शुरू हुए। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह दशा आ गई थी, कि सामुद्रिक क्षेत्र में जापान संसार के अच्छे उन्नत देशों में गिना जाने लगा था, और उसके जंगी जहाज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आतंक की चीज समझे जाने लगे थे।

व्यावसायिक उन्नति के कारण जापान में पूंजीपति वर्ग का भी विकास हुआ। मित्सुई, मित्सुबिसी, सुमितोमो, यामुदा आदि अनेक परिवार व्यवसाय, महाजनी और व्यापार द्वारा अत्यन्त अधिक समृद्ध हो गये, और उनका प्रभाव जापान की राजनीति में भी बहुत अधिक बढ़ गया। १८६८ में जापान से सामन्त पद्धति का अन्त किया गया था। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक वहां एक ऐसा समृद्ध व धनी वर्ग विकसित हो गया था, जिसकी आर्थिक उन्नति के आधार व्यवसाय और व्यापार थे। पुराने सामन्तों का स्थान अब इस पूंजीपति वर्ग ने ले लिया था।

१८७३ में जापान में पहले नेशनल बैंक की स्थापना हुई। १८७९ तक केवल छः साल के काल में जापान में इस प्रकार के बैंकों की संख्या १५१ हो गई, और ये बैंक करोड़ों का लेन-देन करने लगे। १८८५ में जापान में एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना की गई, जो 'जापान का बैंक' कहाता है। बैंक के कारोबार का सुचारु रूप से संचालन करने के लिये पार्लियामेंट ने अनेक कानून भी स्वीकृत किये।

व्यावसायिक उन्नति, बैंकिंग का विकास और रेलवे आदि के निर्माण से जापान की आर्थिक दशा आमूल चूल रूप से परिवर्तित हो गई थी। अब उसे पाश्चात्य देशों के व्यापारियों से कोई भय नहीं रहा था। आर्थिक क्षेत्र में वह उनका खुले तौर पर मुकाबिला कर सकता था। अब जापान स्वयं इस चिन्ता में था, कि अपने माल को अन्य देशों में बेचे, और विदेशी व्यापार द्वारा अपने को समृद्ध करे। पाश्चात्य देशों ने विविध संधियों द्वारा जापान में व्यापार-सम्बन्धी जो विशेष अधिकार प्राप्त किये हुए थे, वे सब अब निरर्थक होते जाते थे, और यही कारण है कि उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में इन सन्धियों को संशोधित व परिवर्तित कराने में जापान को कोई विशेष असुविधा नहीं हुई।

१८६८ के बाद सम्राट् की सरकार ने किसानों की दशा को भी उन्नत करने के प्रश्न पर ध्यान दिया। सामन्त पद्धति का अन्त हो जाने के कारण अब किसानों की स्थिति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक अच्छी हो गई थी। किसानों को यह अधिकार दिया गया, कि वे जिस भूमि को जोतते-बोते हैं, उस पर अपना स्वामित्व स्थापित कर सकें और खेत पर अपने कब्जे का विक्रय भी कर सकें। १८७२ में किसानों का अपने खेतों पर स्वत्त्व स्थापित कर दिया गया। पुराने समय में सामन्त लोग अपनी जागीरों की भूमि की जोतने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले किसानों से उपज का एक निश्चित भाग लगान के रूप में लिया करते थे। पर अब सरकार ने उपज का भाग लेने के स्थान पर सिक्के के रूप में मालगुजारी लेना प्रारम्भ किया। किस खेत में कितनी फसल होती है, इसका हिसाब करके उसकी मालगुजारी की मात्रा नियत कर दी गई। इस व्यवस्था से किसानों को जहां अनेक लाभ हुए, वहां एक नुकसान भी हुआ। अब किसान इस बात के लिए विवश हो गए, कि मालगुजारी की रकम को अदा करने के लिए अपनी फसल को मण्डी में ले जाकर बेचें। फसल तैयार होने पर सब किसानों की यह कोशिश होती थी, कि जल्दी से जल्दी मालगुजारी अदा करने के लिए अपनी उपज को बाजार में ले जाएं। इससे चावल और अन्य अनाज की कीमतें गिरने लगीं, और बहुत-से छोटे-छोटे किसानों के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वे मालगुजारी दे चुकने के बाद अपने निर्वाह के लिए पर्याप्त अन्न बचा सकें। इस कारण बहुत-से किसान अपने खेतों को बेच देने के लिए विवश हो गए। इस अवसर से लाभ उठाकर बहुत-से धनी लोगों ने गरीब किसानों की जमीनों को खरीदना शुरू कर दिया, और जमींदारों की एक ऐसी नई श्रेणी का विकास प्रारम्भ हुआ जो अपने धन के जोर पर देहातों में अपने प्रभुत्व का प्रसार कर रही थी। इस समय जापान में व्यावसायिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो चुका था। बहुत-से नये कल-कारखानों की स्थापना हो रही थी, और इनमें कार्य करने के लिए मजदूरों की मांग निरन्तर बढ़ रही थी। बहुत-से गरबी किसान इस समय अपने कुल-क्रमानुगत घरों को छोड़कर शहरों में आये, और मजदूरी प्राप्त करके अपना निर्वाह करने लगे। पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी अब मजदूर वर्ग का विकास प्रारम्भ हुआ, और व्यावसायिक क्रांति के कारण पूंजीपतियों और मजदूरों की जो समस्याएं यूरोप में उत्पन्न हुई थीं, वे जापान में भी प्रादुर्भूत होने लगीं।

धार्मिक दशा—बौद्ध धर्म का जापान में किस प्रकार प्रवेश हुआ, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। सम्राट् की शक्ति की पुनःस्थापना (१८६८) के बाद जापान के प्राचीन परम्परागत धर्म (शिन्तो) में नवजीवन का संचार हुआ। पर इसके कारण बौद्ध धर्म का ह्रास नहीं हो गया। शिन्तो धर्म के जो तत्त्व इस समय प्रबल हुए, वे जापान की बौद्ध जनता में प्राचीन विधि-विधानों के प्रति निष्ठा और सम्राट् को देवता के रूप में मानने की भावना में वृद्धि कर रहे थे। शिन्तो सिद्धान्तों के कारण जापान का बौद्ध धर्म अन्य देशों के बौद्ध धर्म से भिन्न रूप ग्रहण कर रहा था। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जापान में क्रिश्चिएनिटी के प्रचार को भी बल मिला। फ्रांस के रोमन कैथोलिक और अमेरिका के प्रोटेस्टेन्ट पादरियों ने वहाँ अनेक मिशनों की स्थापना की, और इनके कारण अनेक जापानी लोग इस पाश्चात्य धर्म के प्रति भी आकृष्ट होने लगे।

साम्राज्यवाद के मार्ग पर—व्यावसायिक उन्नति और सैनिक शक्ति की दृष्टि से जापान अब पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया था। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वह भी यूरोप और अमेरिका का अनुकरण कर साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हो। उन्नीसवीं सदी की समाप्ति से पूर्व ही जापान ने कोरिया और चीन में अनेक युद्ध किये, जिनके परिणामस्वरूप फार्मूसा (तैवान) द्वीप, और पेस्काडेंस द्वीपसमूह उसकी अधीनता में आ गये (१८८५)। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में उसके साम्राज्य का बहुत विस्तार हुआ, और रूस को युद्ध में परास्त कर (१९०५) वह पूर्वी एशिया की प्रधान राजशक्ति बन गया। जापान बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) में ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि मित्रराज्यों के पक्ष में था, जिसके कारण उसके साम्राज्य के विस्तार में बहुत सहायता मिली। इस समय जापान की गिनती संसार के सबसे शक्तिशाली राज्यों में की जाने लगी थी। १९३० के बाद उसने चीन में अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया, और १९३९-४५ के द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर कुछ समय के लिए उसके साम्राज्य की सीमा भारत के साथ आ लगी थी। जापान के उत्कर्ष का कारण वह आश्चर्य जनक व्यावसायिक व वैज्ञानिक उन्नति ही थी, जो उसने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में सम्पन्न की थी। जापान के इस साम्राज्य-विस्तार पर हम आगे चलकर यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

तोकियो नगर—शोगूनों के शासनकाल में जापान का सम्राट् क्योतो में रहा करता था, और शोगून शासकों की राजधानी येदो नगरी थी। जब शोगूनों के शासन का अन्त होने पर सम्राट् ने राजशक्ति को अपने हाथों में लिया, तो वह भी अपने दरबार के साथ येदो चला आया। इस समय येदो का नाम बदल कर तोकियो रखा गया, और धीरे-धीरे वह न केवल जापान का अपितु एशिया का सबसे बड़ा नगर बन गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छठा अध्याय

चीन में विदेशी साम्राज्यवाद का प्रसार

(१) जापान और चीन का युद्ध

जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां—उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में विविध पाश्चात्य देश चीन में अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व का विस्तार करने के लिए किस प्रकार प्रयत्नशील थे, इसका उल्लेख पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। रूस उत्तरी एशिया में अपना विस्तार कर चुका था, और उसकी दक्षिण-पूर्वी सीमा चीन के साथ आ मिली थी। यूरोप के विविध देश प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों को अपने अधिकार में ला चुके थे, और चीन के बन्दरगाहों पर भी उनका प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था। जब जापान भी व्यावसायिक उन्नति और सैन्यशक्ति में वृद्धि के कारण पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया, तो उसका ध्यान भी साम्राज्य-विस्तार की ओर आकृष्ट हुआ। जापान के उत्तर में सखालिन द्वीप और कुरील द्वीपसमूह की स्थिति है। सखालिन पर रूस और जापान का संयुक्त अधिकार माना जाता था, और कुरील द्वीपसमूह पर जापान और रूस दोनों ही अपने अधिकार का दावा करते थे। १८७५ में जापान ने रूस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार सखालिन द्वीप पर से जापान ने अपने अधिकार का परित्याग कर दिया, और उसके बदले में रूस ने कुरील द्वीपसमूह को जापान के सुपुर्द कर देना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार १८७५ में कुरील द्वीपसमूह पर जापान का अबाधित आधिपत्य स्थापित हुआ। १८७८ में बोनीन द्वीपसमूह पर जापान ने अधिकार कर लिया। ये द्वीप प्रशान्त महासागर में स्थित हैं, और सैनिक दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इन पर अधिकार हो जाने से प्रशान्त महासागर में जापान की शक्ति बहुत सुदृढ़ हो गई।

प्रशान्त महासागर में एक अन्य द्वीपसमूह है, जिसे र्‍यूक्यू द्वीपसमूह कहते है। इसमें जापानी लोगों का ही निवास है। पर इन द्वीपों का शासक अनेक सदियों से चीन के सम्राट् को अधीनतासूचक भेंट उपहार भेजा करता था, और इन द्वीपों को चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत माना जाता था। १८७० में र्‍यूक्यू का एक जहाज फार्मूसा के तट के समीप डूब गया। उसके मल्लाहों और यात्रियों ने अपनी जान बचाने के लिए फार्मूसा में आश्रय लिया। पर फार्मूसा के लोगों ने उन्हें जान से मार डाला। इस समय फार्मूसा चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था। जापान की सरकार ने कहा, र्‍यूक्यू के लोग जापानी हैं, और उनकी हत्या का प्रतिशोध चीन को करना चाहिए। चीनी सरकार का कहना था, कि र्‍यूक्यू द्वीपों के साथ जापान का कोई सम्बन्ध नहीं है, और चीनी सरकार के लिये यह भी सम्भव नहीं है कि वह फार्मूसा के लोगों के किसी कार्य के लिये उत्तरदायिता ले सके। इस पर जापान की एक सेना ने फार्मूसा पर आक्रमण कर दिया, और उसके कुछ प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। अब चीन इस बात के लिये विवश हुआ, कि जापान को हरजाने की रकम देकर र्‍यूक्यू के लोगों की हत्या का प्रतिशोध करे। हरजाने की रकम प्राप्त करके जापान की सेना फार्मूसा से वापस लौट आई। पर इस घटना का यह महत्त्व-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण परिणाम हुआ, कि र्‍यूक्यू द्वीपसमूह पर जापान का आधिपत्य निर्विवाद रूप से स्थापित हो गया। कुरील, बोनीन और र्‍यूक्यू द्वीपसमूहों की उपलब्धि जापानी साम्राज्यवाद की पहली सफलता थी।

कोरिया की समस्या—भौगोलिक दृष्टि से कोरिया का बहुत अधिक महत्त्व है। वह जापान और चीन के बीच में स्थित है, और कोरिया तथा जापान के बीच का समुद्र बहुत अधिक चौड़ा नहीं है। अत्यन्त प्राचीन काल से जापान का चीन के साथ सम्बन्ध कोरिया द्वारा ही रहा है। जापान में बौद्ध धर्म का प्रवेश भी कोरिया द्वारा ही हुआ था। उन्नीसवीं सदी में कोरिया का भौगोलिक महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया था, क्योंकि उसके उत्तर के प्रदेश रूस के आधिपत्य में आ चुके थे। साइबीरिया के रूस के अधीन हो जाने के कारण अब कोरिया की स्थिति तीन शक्तिशाली राज्यों के बीच में हो गई थी। ये तीन राज्य थे, रूस, जापान और चीन। राजनीतिक दृष्टि से कोरिया चीन के सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करता था। यद्यपि उसका अपना पृथक् राजा था, जो क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र राजा के समान अपने देश का शासन किया करता था, पर इसमें सन्देह नहीं कि कोरिया के ये स्वतन्त्र राजा चीन के सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। जब कोई नया राजा कोरिया के राजसिंहासन पर आरूढ़ होता था, तो वह चीनी सम्राट् की अनुमति भी प्राप्त किया करता था। कोरिया की ओर से चीनी सम्राट् की सेवा में प्रति वर्ष भेंट व उपहार भेजे जाते थे, और विशिष्ट अवसरों पर कोरिया का राजा या उसका कोई प्रतिनिधि पेकिंग के राजदरबार में उपस्थित भी हुआ करता था। चीनी साम्राज्य में कोरिया की प्रायः वही स्थिति थी, जो बरमा और तिब्बत की थी।

एशिया के विविध देशों में अपने प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित करते हुए पाश्चात्य देशों का ध्यान कोरिया की ओर भी आकृष्ट हुआ, और अनेक रोमन कैथोलिक पादरियों ने धर्म प्रचार के नाम पर वहाँ प्रवेश किया। ये पादरी मुख्यतः फ्रेञ्च थे। १८६६ में कुछ फ्रेञ्च पादरी कोरिया में मारे गये। इस अवसर से लाभ उठाकर फ्रांस के एक जहाजी बेड़े ने कोरिया के बन्दरगाहों में प्रवेश किया। फ्रेञ्च लोग चाहते थे, कि कोरिया की सरकार को पादरियों की हत्या के लिये हरजाना देने को विवश करें, और अपने देश के लिये व्यापार-सम्बन्धी सुविधाएं भी प्राप्त कर लें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। इस समय फ्रेञ्च लोगों की शक्ति कोचीनचायना पर अपना अधिकार स्थापित करने में व्यापृत थी, और वे कोरिया की ओर अधिक ध्यान नहीं दे सकें। इसी समय के लगभग अमेरिकन लोगों ने भी कोरिया में प्रवेश करने का प्रयत्न किया, पर उन्हें भी अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। १८७१ में अमेरिका का एक जहाजी बेड़ा भी निराश होकर कोरिया से वापस लौट आया।

१८७५ में जापान का एक जहाज कोरिया के समुद्र तट पर जा पहुंचा। इस समय कोरियन सरकार की यह नीति थी, कि वह किसी भी विदेशी राज्य के सम्पर्क को पसन्द नहीं करती थी। इस जापानी जहाज पर गोलाबारी की गई। परिणाम यह हुआ, कि जापान में इससे बहुत बेचैनी उत्पन्न हुई और वहाँ के बहुत-से लोग कोरिया के विरुद्ध लड़ाई शुरू कर देने के लिए आन्दोलन करने लगे। पर जापान की सरकार ने इस समय बुद्धिमत्ता से काम लिया। कोरिया के विरुद्ध लड़ाई छेड़ देने के बजाय उसने यह निश्चय किया, कि अपनी ओर से एक दूतमण्डल कोरिया भेजे, जो वहां की सरकार को जापान साथ के बाकायदा व्यापारिक सन्धि करने के लिए प्रेरित करे। जिस प्रकार १८५३ में कमोडोर पेरी चार जहाजों और बहुत-से सैनिकों को साथ लेकर जापान आया था, वैसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही अब १८७६ में एक जापानी दूतमण्डल सैनिक शक्ति को साथ लेकर कोरिया गया। यह दूतमण्डल कोरिया के साथ सन्धि करने में समर्थ हुआ। १८७६ में कोरिया के साथ जापान की जो सन्धि हुई, उसमें कोरिया की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। पर कोरिया ने जापान को यह अधिकार दिया, कि वह सिऊल आदि कोरियन बन्दरगाहों में व्यापार कर सके, और जो जापानी नागरिक व्यापार आदि के लिए कोरिया के बन्दरगाहों में रहें, वे कोरियन कानून और कोरियन अदालतों के अधीन न हों। एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की जिस पद्धति के विरुद्ध जापान स्वयं पाश्चात्य देशों के साथ संघर्ष में तत्पर था, उसे उसने स्वयं कोरिया में प्रारम्भ किया। १८८२ में इसी प्रकार की सन्धि अमेरिका ने कोरिया के साथ की, और उसके बाद ब्रिटेन, जर्मनी, रूस, इटली और फ्रांस ने भी कोरिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये पृथक्-पृथक् सन्धियाँ कीं। अब कोरिया के लिए यह संभव नहीं रहा, कि वह अन्य देशों के सम्पक से वंचित रह सके। विदेशियों के साथ व्यापार के लिए उसके द्वार अब पूरी तरह से खुल गए थे।

इसी अध्याय में हमने ऊपर लिखा है, कि कोरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था। यहाँ स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उत्पन्न होता है, कि चीन के अधीन होने पर कोरिया ने किस प्रकार एक स्वतन्त्र राज्य के समान विदेशों के साथ ये संधियां की थीं। इस प्रश्न का उत्तर यही है, कि चीन का सम्राट् कोरिया के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। वह केवल इतने से ही सन्तुष्ट था, कि कोरिया उसकी अधीनता को स्वीकार करता है, और उसे वार्षिक रूप से भेंट-उपहार भेजता है। कोरिया की विदेश-नीति से उसे कोई ताल्लुक नहीं था, और उसके इन मामलों में किसी प्रकार का दखल देना वह अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध समझता था।

विदेशी लोगों के साथ कोरिया का जिस ढंग से सम्पर्क बढ़ रहा था, उसे कोरियन लोग पसन्द नहीं करते थे। वहाँ एक ऐसे दल की भी सत्ता थी, जो विदेशी प्रभाव का सख्त विरोधी था। क्योंकि कोरिया का राजा विदेशों से सम्पर्क का पक्षपाती था, अतः यह दल उसके भी खिलाफ था। परिणाम यह हुआ, कि १८८२ में कुछ कोरियन लोगों ने सिऊल (कोरिया की राजधानी) में विद्यमान जापानी डेलीगेशन पर आक्रमण कर दिया। राजप्रासाद पर भी इन लोगों ने हमले किए। अनेक जापानी इस आक्रमण में मारे गए। अब जापानी सरकार को यह अवसर मिल गया कि वह कोरिया को इस हत्याकाण्ड का प्रतिशोध करने के लिए विवश करे। जापान की शक्ति के सम्मुख कोरिया को सिर झुकाना पड़ा। वहां की सरकार ने हरजाने के रूप में एक भारी रकम जापान को देनी स्वीकार की, व्यापार के लिए जापान को कुछ और अधिक अधिकार प्रदान किए, और यह भी मंजूर किया कि एक जापानी सेना सिऊल में रहा करे।

जापान तथा अन्य विदेशी राज्य इस समय कोरिया में जिस ढंग से अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार कर रहे थे, आखिर चीनी सरकार का ध्यान उसकी ओर आकृष्ट हुआ। चीन की सरकार द्वारा युआन शी काई को कोरिया में अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। यह युआन शी काई वही है, जो आगे चलकर मञ्चू वंश के पतन के पश्चात् (१९१२) चीन का प्रथम राष्ट्रपति बना था। चीन की ओर से एक सेना भी कोरिया में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित रखने के उद्देश्य से भेज दी गई। जापान की भी एक सेना इस समय कोरिया में विद्यमान थी। यह स्वाभाविक था, कि इन दोनों सेनाओं में परस्पर संघर्ष हो। इस समय कोरिया में दो दल थे। एक दल विदेशियों के साथ सम्बन्ध का विरोधी था, और चीन की सहायता पर भरोसा रखता था। दूसरा दल विदेशियों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ सम्पर्क का पक्षपाती था, और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को सीखकर कोरिया की उन्नति में विश्वास रखता था। इस दल को जापान की सहायता का सहारा था। १८८४ में कोरिया में स्थित चीनी और जापानी सेनाओं में मुठभेड़ हो गई। पर इस समय स्थिति ने अधिक गम्भीर रूप धारण नहीं किया। १८८५ में कोरिया के प्रश्न पर चीन और जापान में परस्पर समझौता हो गया, और दोनों देशों ने कोरिया से अपनी-अपनी सेनाओं को वापस बुला लिया।

यद्यपि १८८५ में चीन और जापान में समझौता हो गया था, पर इन दो देशों में विरोध की भावना कम नहीं हुई थी। इस समय जापान इतनी अधिक उन्नति कर चुका था, कि वह भी ब्रिटेन, फ्रांस, रूस आदि पाश्चात्य देशों के समान अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए उत्सुक था। जापान के लिये साम्राज्य-विस्तार का सबसे उपयुक्त क्षेत्र चीन ही था। वह भली-भांति जानता था, कि चीन का विशाल साम्राज्य अन्दर से बहुत निर्बल है। चीन पर अपने आधिपत्य को स्थापित करने का जापान की दृष्टि में एक ही मार्ग था, और वह मार्ग कोरिया होकर जाता था। कोरिया में एक ऐसा दल भी विद्यमान था, जो चीन के प्रभाव में रहने की अपेक्षा जापान जैसे शक्तिशाली और प्रगतिशील देश को अपना नेता और संरक्षक मानने को तैयार था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि कोरिया के प्रश्न पर चीन और जापान में संघर्ष का सूत्रपात हो। कोरिया चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था, पर जापान उसे अपने प्रभाव और प्रभुत्व में लाना चाहता था। इसी कारण १८९४-९५ में चीन और जापान के युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

चीन और जापान के युद्ध के कारण—(१) कोरिया की आंतरिक दशा अच्छी नहीं थी। उसका शासन विकृत और निर्बल था। वहां दलबन्दी का भी जोर था, और वहां के विविध दल आपस में लड़ाई के लिए सदा तत्पर रहते थे। जापान समझता था, कि कोरिया की दुरवस्था और अव्यवस्था हमारे लिये हानिकारक है, क्योंकि कोरिया हमारा पड़ोसी है, और पड़ोसी के घर में होने वाली घटनाओं की उपेक्षा कर सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

(२) रूस उत्तरी एशिया में अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था, और अब वह दक्षिण की ओर अपना प्रसार कर रहा था। रूस की दक्षिण-पूर्वी सीमा कोरिया के साथ आ मिली थी, और यह शक्तिशाली देश कोरिया में अपने प्रभाव को विस्तृत करने के लिये उत्सुक था। कोरियन सेना का पुनःसंगठन करने के लिए रूसी अफसर नियुक्त किये गये थे, और रूस की इस सहायता के बदले में कोरिया ने लजरफ का बन्दरगाह रूस के सुपुर्द कर दिया था, जहाँ उसके सब प्रकार के जहाज स्वतन्त्रता के साथ आ-जा सकते थे। रूस जैसे शक्तिशाली राज्य का प्रभाव जिस ढंग से कोरिया में बढ़ रहा था, जापान उसे अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं कोरिया को अपने प्रभाव में रखना चाहता था। रूस कहीं कोरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित न कर ले, इस भय से जापान उसे रूस से पहले ही अपने आधिपत्य में ले आना चाहता था।

(३) आर्थिक दृष्टि से भी जापान की कोरिया पर आंख थी। व्यावसायिक क्षेत्र में असाधारण उन्नति कर लेने के कारण जापान को भी अब यह फिक्र थी, कि कोई ऐसे प्रदेश अधिगत किए जाएं, जहाँ वह अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सके, और जहाँ से कच्चा माल सस्ते दामों पर उपलब्ध हो सकता हो। जापान की दृष्टि में चीन और कोरिया ही ऐसे प्रदेश थे, जहाँ अपने आधिपत्य की स्थापना कर वह अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक समस्या को हल कर सकता था। जापान के लिए चीन का मार्ग कोरिया होकर ही जाता था।

(४) १८८५ में चीन और जापान में जो समझौता हुआ था, चीन के अनेक राजनीतिज्ञ उससे असंतुष्ट थे। इस समझौते के अनुसार चीन और जापान दोनों ने ही कोरिया से अपनी सेनाओं को वापस बुला लेने की बात स्वीकृत की थी। इस प्रकार कोरिया में जापान और चीन की स्थिति एक समान हो गई थी। चीन के नेता कहते थे, कि कोरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत है, और वहां उसे अपनी सेनाएं रखने का अधिकार है। कोरिया में यदि अव्यवस्था हो, तो उसे दूर करने की अन्तिम उत्तरदायिता भी चीन पर ही है। अतः १८८५ के समझौते के विरुद्ध भावना चीन में निरन्तर प्रबल होती जा रही थी।

(५) १८५६ में कोरिया में एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ था, जिसे तोंग-हाक कहते थे। यह एक धार्मिक सम्प्रदाय था जिसका निर्माण बौद्ध धर्म, तथा कन्फ्यूसियस और लाओ-त्से की शिक्षाओं को मिलाकर किया गया था। तोंग-हाक लोग कोरिया में विदेशी प्रभाव को नापसन्द करते थे, और अपने विचारों के प्रचार में तत्पर थे। कोरिया की सरकार इस सम्प्रदाय के विरोध में थी, और एक राजाज्ञा द्वारा इसके प्रचार-कार्य को रोक भी दिया गया था। १८८३ में तोंग-हाक सम्प्रदाय के बहुत-से नेताओं ने सरकार की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा, जिसमें यह आवेदन किया गया था, कि उनके सम्प्रदाय के विरुद्ध जो आज्ञा पहले प्रकाशित की जा चुकी है, उसे रद्द कर दिया जाय। कोरिया की सरकार ने इस प्रार्थनापत्र को स्वीकार नहीं किया। परिणाम यह हुआ, कि कोरिया में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह इन विद्रोहों को शान्त कर सके। ईसाई मिशनरियों और विदेशी व्यापारियों के खिलाफ जो भावना कोरिया में विद्यमान थी, उससे तोंग-हाक लोगों को सहायता मिली, और इन विद्रोह ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। इस दशा में कोरिया की सरकार के सम्मुख केवल यही उपाय था, कि चीन से सहायता की याचना की जाय। चीन की एक सेना कोरिया पहुँच गई, जिसमें कुल मिलाकर १५०० सैनिक थे। १८८५ के समझौते के अनुसार चीनी सेना के कोरिया भेजने के सम्बन्ध में जापान को भी सूचना दे दी गई। जब यह समाचार जापान को मिला, तो उसने भी अपनी एक बड़ी सेना सिऊल भेज दी। चीन और जापान—दोनों की सेनाएं अब कोरिया पहुँच गयी थीं। पर इस बीच में तोंग-हाक विद्रोह शांत हो चुका था। अब इस बात का कोई कारण नहीं था, कि चीनी सेना कोरिया में रहे। चीन की सरकार ने कहा, हमारी सेनाएं तभी कोरिया से वापस लौटेंगी, जब जापान भी अपनी सेनाओं को वहाँ से वापस बुला लेगा। सेनाओं को लौटाने के सम्बन्ध में चीन और जापान में समझौता नहीं हो सका। इस दशा में मामले को निबटाने का केवल यही उपाय था, कि दोनों देश युद्ध-क्षेत्र में अपनी शक्ति को आजमाएं।

जिन कारणों का उल्लेख ऊपर किया गया है, उनसे स्पष्ट है कि जापान कोरिया को अपने प्रभाव में लाना चाहता था। पर चीन समझता था, कि कोरिया उसके साम्राज्य के अन्तर्गत हैं, और वहाँ किसी अन्य देश को अपने प्रभाव का विस्तार करने का अधिकार नहीं है। यही बात इन दोनों देशों के युद्ध का कारण हुई।

१८९४-९५ का युद्ध—जापान की स्थल और जल सेनाएं भलीभाँति संगठित थीं। उनके पास नये ढंग के सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र विद्यमान थे। यद्यपि जापान एक छोटा-सा देश है और उसकी सेना में सैनिकों की संख्या भी अधिक नहीं थी, पर आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को पूर्णतया अपना लेने के कारण जापान की सैन्यशक्ति चीन के मुकाबिले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बहुत अधिक उत्कृष्ट थी। विशालकाय चीन और उसकी विशाल सेना जापान का मुकाबिला कर सकने में असमर्थ थी। सबसे पहले जापान की जलसेना ने चीन के समुद्र-तट पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। यालू नदी के मुहाने पर चीन का जहाजी बेड़ा जापान द्वारा बुरी तरह से परास्त हुआ। अब चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह जापानी सेनाओं को चीन में उतरने देने में किसी भी प्रकार से बाधा डाल सके। चीन की जलसेना को परास्त कर जापानी सेनाएं कोरिया में प्रविष्ट हो गईं। कोरिया के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह जापान का मुकाबिला कर सके। उस पर जापान का अधिकार हो गया। कोरिया से जापानी सेनाओं ने मञ्चूरिया की ओर प्रस्थान किया। वहाँ भी चीनी सेनाएं बुरी तरह से परास्त हुईं। अब चीन के मध्यदेश पर आक्रमण करने के लिए मार्ग खुल गया था। मञ्चू सरकार ने अनुभव किया, कि जापान के साथ युद्ध को जारी रखना निरर्थक हैं। उसने सन्धि का प्रस्ताव किया।

शिमोनोसेकी की सन्धि—जापान से सन्धि करने का कार्य लि-हुंग-चांग के सुपुर्द किया गया। वह चीन का प्रमुख राजनीतिज्ञ था, और उत्तरी चीन में वायसराय के पद पर विराजमान था। कोरिया के विषय में पिछले सालों में जिस नीति का अनुसरण चीनी सरकार ने किया था, उसका निर्धारण लि-हुंग-चांग द्वारा ही किया गया था। लि-हुंग-चांग के प्रयत्न से जापान के साथ जो सन्धि इस समय हुई, वह शिमोनोसेकी की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) लिआओ नदी के पूर्व का मञ्चूरिया का प्रदेश (लिआओ-तुंग) जापान को दे दिया जाय। (२) फार्मूसा का विशाल द्वीप जापान को प्राप्त हो। (३) पेस्कादोरस द्वीप-समूह पर जापान के अधिकार को स्वीकृत किया जाय। (४) चीन हरजाने के रूप में एक भारी रकम जापान को दे, और जब तक यह रकम वसूल न हो जाय, वेई हाई वेई के बन्दरगाह पर जापान का कब्जा रहे। (५) कोरिया को स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया जाय, और चीन का उस पर किसी भी प्रकार का प्रभुत्व न रहे। (६) चार नये बन्दरगाहों को जापान के व्यापार के लिये खोल दिया जाय। पाश्चात्य देशों के साथ जो सन्धियां पहले हो चुकी थीं, उन सबमें यह व्यवस्था रखी गयी थी, कि उन्हें वे सुविधाएं मिलेंगी, जो किसी भी अन्य राज्य को प्राप्त होंगी। इस कारण अब ये चार नये बन्दरगाह पाश्चात्य राज्यों के लिए भी खुल गये।

यूरोपियन राज्यों का विरोध—शिमोनोसेकी की सन्धि द्वारा लिआओ तुंग का प्रदेश जापान को दिया गया था। यह बात रूस को अत्यन्त आपत्तिजनक प्रतीत हुई। रूस की सीमा मंचूरिया से मिलती थी, और वह स्वयं इस क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिए उत्सुक था। जापान जैसे शक्तिशाली राज्य के लिआओ तुंग पर कब्जा कर लेने से अब उसके लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह मञ्चूरिया और कोरिया की दिशा में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सके। रूस ने लिआओ तुंग पर जापानी प्रभुत्व का विरोध शुरू किया। इस विरोध में फ्रांस ने रूस का साथ दिया। १८९३ में रूस और फ्रांस में एक सन्धि हो गई थी, जो इतिहास में 'ड्यूएल एलायन्स' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कारण यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस और फ्रांस के सम्बन्ध बहुत अधिक घनिष्ठ हो गये थे। जर्मनी भी इस समय तक साम्राज्यवाद के क्षेत्र में आगे बढ़ने लग गया था। प्रिंस बिस्मार्क के नेतृत्व में जब विविध जर्मन राज्य एक साम्राज्य के रूप में संगठित हो गये, तो जर्मनी के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वह भी अपनी राष्ट्रीय शक्ति के विस्तार के लिए तत्पर हो। जर्मनी ने भी इस अवसर पर जापान के खिलाफ रूस और फ्रांस का समर्थन किया। इन तीन शक्तिशाली राज्यों के विरोध के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण जापान ने लिआओ तुंग पर से अपने अधिकार का परित्याग कर दिया, और उसके बदले में चीन से हरजाने की एक अतिरिक्त रकम प्राप्त की।

चीन-जापान के युद्ध का परिणाम—१८९४-९५ के युद्ध ने इस बात को स्पष्ट कर दिया, कि विशालकाय चीनी साम्राज्य सैनिक दृष्टि से अत्यन्त निर्बल है। अब तक पाश्चात्य देशों को यह साहस नहीं होता था, कि वे चीन पर अपना राजनीतिक प्रभुत्त्व स्थापित करने का उद्योग करें। चीन की शक्ति के सम्बन्ध में उनकी जो धारणा इस युद्ध से पहले थी, अब परिवर्तित हो गई। उनमें अब यह प्रवृत्ति हुई, कि जापान का अनुकरण कर वे भी चीन को अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का शिकार बनाएं। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जापान, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि यूरोपियन देश चीन पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिए तत्पर हो गए।

(२) चीन में रूस की शक्ति का विस्तार

यूरोप के जो राज्य इस समय चीन में अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये प्रवृत्त हुए, उनमें रूस का स्थान सबसे प्रमुख था। लिआओ तुंग से जापान ने अपना कब्जा हटा लिया था। इस दशा में रूस के लिए यह अत्यन्त सुगम था, कि वह मंचूरिया की दिशा में अपने प्रभाव का विस्तार कर सके। क्योंकि लिआओ तुंग को जापान के कब्जे से मुक्त कराने में रूस ने प्रमुख रूप से कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, इस कारण पेकिंग की चीनी सरकार में अब उसका प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया। अब तक पेकिंग में ग्रेट ब्रिटेन का प्रभाव सबसे अधिक था। पाश्चात्य देशों ने विविध सन्धियों द्वारा चीन में जो अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त किए हुए थे, उनका श्रीगणेश ब्रिटेन द्वारा ही हुआ था। चीन के विदेशी व्यापार में भी ब्रिटेन का प्रमुख भाग था। पर १८९५ के बाद चीन की सरकार पर रूस का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। लिआओ तुंग के प्रदेश को फिर से चीन को दिलवाकर रूस ने यह प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया, कि वह वस्तुतः चीन का मित्र है, और चीन सदा उसकी सहायता व पक्षसमर्थन पर निर्भर रह सकता है। यदि भविष्य में किसी भी विदेशी राज्य ने चीन के सुविस्तृत प्रदेशों में से किसी पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, तो उसका मुकाबिला करने के लिये वह चीन की सहायता करने में संकोच नहीं करेगा। इस प्रकार शिमोनोसेकी की सन्धि के बाद रूस और चीन के सम्बन्ध बहुत मित्रतापूर्ण हो गये थे।

१८९४ में रूस के राजसिंहासन पर जार निकोलस द्वितीय आरूढ़ हुआ। मई, १८९६ में रूस की राजधानी सेण्ट पीटर्सबुर्ग में समारोह के साथ उसका राज्याभिषेक होना था। इसमें सम्मिलित होने के लिए चीन के प्रतिनिधियों को भी आमन्त्रित किया गया। चीनी सरकार की ओर से इस कार्य के लिए ली हुंग चांग को भेजा गया। रूस के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ काउण्ट वीटे ने ली हुंग चांग से चीनी साम्राज्य के सम्बन्ध में विशद रूप से बातचीत की। काउण्ट वीटे ने चीन के प्रतिनिधियों को समझाया, कि विदेशी राज्यों से अपने देश की रक्षा करने का सबसे उत्तम उपाय यही है, कि चीन रूस को अपना मित्र समझे और उसकी सहायता पर निर्भर करे। ली हुंग चांग और काउण्ट वीटे ने बातचीत द्वारा एक नई सन्धि की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) यदि जापान पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति को बढ़ाने का यत्न करते हुए चीन या रूस के साथ लड़ाई शुरू करे, तो ये दोनों राज्य एक-दूसरे की सहायता करें। (२) जापान के साथ युद्ध की दशा में रूस को यह अधिकार हो, कि वह चीन के बन्दरगाहों का पूर्णरूप से उपयोग कर सके और युद्ध की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर चीन में अन्य सुविधाएं प्राप्त कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके। (३) रूस को यह अनुमति दी जाय, कि वह उत्तरी मंचूरिया में एक रेलवे लाइन का निर्माण कर सके। उत्तरी एशिया में रूस इस समय ट्रांस-साइबीरियन रेलवे के निर्माण में तत्पर था। इस सुदीर्घ रेलवे लाइन का निर्माण १८९१ में प्रारम्भ हुआ था। रूस की इच्छा थी, कि यह लाइन पूर्व में ब्लादीबोस्तॉक के बन्दरगाह तक पहुँच जाए। रूस के अपने ही प्रदेशों में से होकर जो रेलवे लाइन ब्लादीवोस्तॉक तक जा सकती थी, उसमें बहुत चक्कर पड़ता था। अतः रूस ने चीन से इस बात की अनुमति प्राप्त की, कि हार्बिन से ब्लादीबोस्तॉक तक रेलवे लाइन का वह निर्माण कर सके। यह लाइन एक हजार मील तक चीन के साम्राज्य में से होकर गुजरती थी। साथ ही, रूस को चीन ने यह भी अनुमति दे दी, कि इस रेलवे लाइन की एक ब्रांच दक्षिण में पोर्ट आर्थर (लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में) तक बनायी जा सके। (४) १८९४-९५ के युद्ध के बाद शिमोनोसेकी की सन्धि के अनुसार हरजाने की जो भारी रकम चीन द्वारा जापान को दी जानी थी, उसे अदा करने में रूस चीन की सहायता करे। इस शर्त के अनुसार इस समय रूस ने चीन को एक अच्छी बड़ी धनराशि कर्ज के रूप में प्रदान की।

मंचूरिया में रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिए जिस धनराशि की आवश्यकता थी, उसकी व्यवस्था करने के लिए रूस-चाइनीज बैंक का संगठन किया गया। इसी बैंक की मदद से मंचूरिया में टेलीग्राफ की लाइनों का भी विस्तार किया गया। रेलवे लाइनों का निर्माण करने और उन पर रेलगाड़ियों को चलाने के लिए एक पृथक् कम्पनी की स्थापना की गई, जिसमें रूसी सरकार और रूसी धनपतियों ने बहुत उदारता के साथ रुपया लगाया। रेलवे लाइन के समीपवर्ती प्रदेशों में शांति और व्यवस्था स्थापित करने का कार्य भी इसी कम्पनी के सुपुर्द किया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि इस चाइनीज ईस्टर्न रेलवे पर कम्पनी का अधिकार ८० साल तक कायम रहेगा, उसके बाद इस की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर चीनी सरकार का स्वत्त्व कायम हो जायगा। इसके लिये चीन को कोई मुआवजा देने की आवश्यकता नहीं होगी।

हार्बिन-ब्लादीबोस्तॉक रेलवे के निर्माण के कारण उत्तरी मञ्चूरिया का आर्थिक दृष्टि से बहुत विकास हुआ। पर साथ ही इससे मञ्चूरिया में रूस के प्रभाव एवं प्रभुत्व की भी स्थापना हो गई। जिस प्रकार अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में रूस ने साइबीरिया के सुविस्तृत प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, वैसे ही अब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में उसने मञ्चूरिया में भी अपने प्रभाव को विस्तृत करना शुरू किया। इस प्रदेश में आवागमन का जो सबसे अधिक सुविधाजनक साधन था वह रूस के कब्जे में था, अतः यहाँ अपने आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्त्व को स्थापित कर सकना भी उसके लिये अत्यन्त सुगम हो गया। रूस ने इस अवसर का पूरी तरह से उपयोग किया।

(३) जर्मनी की शक्ति का विस्तार

शिमोनोसेकी की सन्धि में संशोधन कर लिआओ-तुंग के प्रदेश को जापान के कब्जे से मुक्त कराने में जर्मनी ने भी चीन की सहायता की थी। अतः उसकी भी यह इच्छा थी, कि चीन के इस पक्षसमर्थन से लाभ उठाकर अपने लिए कुछ विशेष सुविधाएं प्राप्त करे। १८९७ में जर्मनी ने अन्य राज्यों को यह सूचना दी, कि वह चीन में एक ऐसे स्थान को प्राप्त करने के प्रयत्न में है, जहां उसके जहाज अपने अड्डे बना सकें, और जहां उन्हें मुरम्मत व रसद आदि की पूर्ण सुविधा प्राप्त हो। इसी बीच में दो जर्मन पादरियों की चीन में हत्या हो गई। अब क्या था, जर्मनी को अपनी इच्छा पूर्ण करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। जर्मन सरकार की ओर से पेकिंग की सरकार के सम्मुख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नलिखित मांगें पेश की गईं—(१) त्सिंग-ताओ (उत्तरी चीन में) के बन्दरगाह को ९९ साल के पट्टे पर जर्मनी को दे दिया जाय। साथ ही, कियाऊ-चाऊ की खाड़ी पर भी जर्मनी के अधिकार को स्वीकृत किया जाय। (२) शांतुंग के प्रदेश में जर्मनी को रेलवे लाइन बनाने का अधिकार मिले, और इस प्रदेश में जो कोई भी खानें हों, उन्हें विकसित करने का अधिकार केवल जर्मनी को रहे। (३) जर्मन पादरियों की हत्या के लिए चीन जर्मनी को हरजाना दे। साथ ही, त्सिंग-ताओ के बन्दरगाह पर कब्जा करने के लिये जो कुछ खर्च जर्मन जलसेना को करना पड़े, वह सब भी चीन की सरकार उसे प्रदान करे।

जर्मनी की इन मांगों को अस्वीकृत कर सकने की शक्ति चीन में नहीं थी। ६ मार्च, १८९८ को चीन और जर्मनी में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार कियाओं चाओ की खाड़ी, त्सिंग-ताओ बन्दरगाह और उसके समीपवर्ती प्रदेश जर्मनी को ९९ साल के पट्टे पर प्राप्त हुए। नाम को ये प्रदेश अब भी चीन के सम्राट् के अधीन रहे, पर सन्धि में इस बात को भली-भाँति स्पष्ट कर दिया गया, कि चीनी सरकार इन प्रदेशों में शासन-सम्बन्धी किसी अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकेगी। साथ ही, शांतुंग प्रदेश में रेलवे लाइन का निर्माण करने और वहां खानों की खुदाई के सम्बन्ध में अनेक विशेषाधिकार जर्मनी को दिए गए। इस प्रकार १८९८ में जर्मनी ने भी चीन के कतिपय प्रदेशों में अपने राजनीतिक प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित कर लिया।

(४) चीन में अन्य राज्यों की शक्ति का विस्तार

ग्रेट ब्रिटेन—रूस और जर्मनी ने जिस प्रकार चीन के विविध प्रदेशों में अपने लिए विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे, उसके कारण अन्य राज्यों में भी यह प्रवृत्ति हुई कि चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर वे भी अपने लिए उसी ढंग के विशेषाधिकारों को प्राप्त करें। ब्रिटेन ने चीन से यह मांग की, कि (१) वेई-हाई-वेई का बन्दरगाह उसे पट्टे पर दे दिया जाय। (२) चीन यह घोषणा करे, कि यांगत्से नदी के समीपवर्ती प्रदेशों में किसी अन्य राज्य को विशेषाधिकार नहीं दिए जाएंगे। (३) विदेशी व्यापार के आयात और निर्यात माल पर टैक्स एकत्रित करने के लिए जो चाइनीज मेरीटाइम कस्टम्स सर्विस स्थापित है, उसका अध्यक्ष सदा कोई अंग्रेज ही रहे। (४) हांगकांग द्वीप पर पहले से ही ब्रिटेन का आधिपत्य था, उसके सामने का चीन का प्रदेश भी अब ब्रिटेन को पट्टे पर दे दिया जाय। चीनी सरकार के लिए यह सम्भव नहीं था, कि ब्रिटेन की इन मांगों का विरोध कर सके। उसने इन्हें स्वीकृत कर लिया।

फ्रांस—ब्रिटेन के समान फ्रांस ने भी चीनी सरकार से अनेक नई सुविधाएँ प्राप्त कीं। वे सुविधाएं निम्नलिखित थीं—(१) चीन की सरकार ने स्वीकृत किया, कि हैनान द्वीप किसी अन्य राज्य को नहीं दिया जाएगा। (२) यूनान, क्वांगसी और क्वांगतुंग के प्रदेशों में खाने खोदने तथा अन्य प्रकार से उनके आर्थिक साधनों को विकसित करने का अधिकार केवल फ्रांस को हो। (३) फ्रांस ने अनाम में जिस रेलवे लाइन का निर्माण शुरू किया था, उसे दक्षिणी चीन में भी विस्तृत करने का उसे अधिकार हो। (४) क्वांग-चाऊ की खाड़ी और उसका समीपवर्ती प्रदेश फ्रांस को ९९ साल के पट्टे पर दे दिया जाय।

जापान—ब्रिटेन और फ्रांस का अनुकरण कर अब जापान ने भी चीन में अनेक विशेषाधिकार प्राप्त किए। इनमें सबसे मुख्य यह था, कि फार्मूसा के सामने चीन का जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूकिएन प्रदेश है, वहां जापान के अतिरिक्त किसी अन्य देश को आर्थिक विकास कर सकने का अधिकार न दिया जाय।

इटली—इटली भी इस समय इस बात के लिए प्रयत्नशील था, कि चीन में कुछ विशेष अधिकार प्राप्त करे। इटली के विविध राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर शक्तिशाली इटालियन राष्ट्र के निर्माण की जो प्रक्रिया नैपोलियन के युद्धों के बाद प्रारम्भ हुई थी, वह १८७० तक पूरी हो गई थी। अब इटली भी अपने साम्राज्य का निर्माण करने के लिए तत्पर था। उसने भी चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर अपनी कुछ मांगें पेश की, पर चीनी सरकार ने उन्हें स्वीकृत करने से इन्कार कर दिया। १९०० के बाद इटली को चीन में अपने प्रभाव को विस्तृत करने के लिए फिर अवसर मिला। इस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

सुविधाओं का स्वरूप—ब्रिटेन, रूस और जापान आदि देश चीन में जिस प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त कर रहे थे, उनके कारण इन देशों के वहां एक विशेष प्रकार के प्रभाव-क्षेत्र विकसित होते जाते थे। इन प्रभाव-क्षेत्रों में ब्रिटेन, रूस आदि देश अपने आर्थिक हितों का अविकल रूप से साधन कर सकते थे, पर राजनीतिक दृष्टि से चीन का प्रभुत्त्व कायम रहता था। क्योंकि चीन की राजशक्ति इस समय बहुत निर्बल थी, अतः शासन के सम्बन्ध में भी वह विदेशियों के इन प्रभाव-क्षेत्रों में अपने अधिकारों के प्रयोग में प्रायः असमर्थ रहता था। विशेषतया, जो प्रदेश विदेशी राज्यों ने ९९ साल के पट्टे पर प्राप्त कर लिए थे, वहां तो क्रियात्मक दृष्टि से चीन के प्रभुत्त्व का अन्त ही हो जाता था। विदेशी राज्यों के लिए यह अत्यन्त सुगम था, कि वे इन प्रदेशों पर अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व की भी स्थापना कर लें। इस प्रकार चीन में एक नए प्रकार के साम्राज्यवाद का विकास हो रहा था, जिसका स्वरूप आर्थिक था। १८४२ और १८६० में विविध विदेशी राज्यों ने चीन के साथ जो सन्धियां की थीं, उनके कारण चीन के बहुत-से बन्दरगाह विदेशियों के प्रभाव में आ चुके थे। अब उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में तो विदेशी राज्यों के इस प्रभुत्त्व व प्रभाव का चीन में और भी अधिक विस्तार हो गया था। ये विदेशी राज्य जहां एक ओर चीन की सरकार से अपने लिए विशेष सुविधाओं को प्राप्त कर लेने के लिए प्रयत्नशील थे, वहाँ साथ ही आपस में भी इनमें प्रतिस्पर्द्धा जारी थी। इस प्रकार चीन विविध विदेशी राज्यों के साम्राज्य-विस्तार-सम्बन्धी संघर्ष का क्षेत्र बनता जाता था।

अमेरिका की नीति—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यावसायिक क्रान्ति ने बहुत अधिक प्रभाव उत्पन्न नहीं किया था। पर इस समय (उन्नीसवीं सदी के अन्त) अमेरिका को संसार के सर्वप्रधान व्यावसायिक देशों में गिना जाने लगा था। जिन कारणों ने ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि पाश्चात्य देशों को साम्राज्यविस्तार के लिए प्रेरित किया था, वे अमेरिका में भी विद्यमान थे। १८९८ में स्पेन और अमेरिका में युद्ध हुआ। इसमें स्पेन की बुरी तरह से पराजय हुई, और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से निकलकर अमेरिका के हाथों में आ गए। फिलिप्पीन द्वीपसमूह भी इनमें से एक था। फिलिप्पीन के अधिगत कर लेने के बाद अमेरिका का साम्राज्य प्रशान्त महासागर में भी विस्तृत हो गया था, और अब उसके लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह चीन की राजनीतिक घटनाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देख सके। विविध विदेशी राज्य जिस ढंग से चीन में अपने प्रभाव का विस्तार कर रहे थे, अमेरिका उसे अपनी आंखों से ओझल नहीं कर सकता था। अतः १८९९ में अमेरिका की ओर से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंगलैण्ड, फ्रांस, इटली, जर्मनी, रूस और जापान की सरकारों के पास एक विज्ञप्ति भेजी गई, जिसमें निम्नलिखित बातों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया गया था—(१) चीन के विविध बन्दरगाहों में व्यापार आदि के सम्बन्ध में जो अधिकार विदेशी राज्यों को प्राप्त हैं, उनका प्रतिरोध किया जाय, चाहे अब ये बन्दरगाह किसी एक विदेशी राज्य के प्रभावक्षेत्र में आ चुके हों (२) चीन के साथ हुई सन्धियों द्वारा आयात और निर्यात माल पर टैक्सों की जो दरें पहले निश्चित की जा चुकी हैं, उनका कोई राज्य उल्लंघन न करे। यदि कोई बन्दरगाह किसी विदेशी राज्य के प्रभाव-क्षेत्र में भी हो, तब भी वह अन्य सबके साथ तट-कर के मामले में एक सदृश व्यवहार करे और अन्य राज्यों के जहाजों के आवागमन के सम्बन्ध में कोई रुकावट न डाले। (४) किसी राज्य के प्रभावक्षेत्र के अन्तर्गत बन्दरगाहों में जब अन्य राज्यों के जहाज आयें, तो उनसे बन्दरगाह का खर्च अपनी अपेक्षा अधिक न लिया जाय।

इस समय अमेरिका इस नीति का प्रतिपादन कर रहा था, कि चीन के बन्दरगाहों में व्यापार की जो सुविधाएं व विशेषाधिकार विदेशी राज्यों को पहले प्राप्त थे, प्रभाव-क्षेत्रों के कायम हो जाने से उनमें किसी प्रकार का अन्तर न पड़े। ब्रिटेन भी इस समय इसी नीति का समर्थक था। यद्यपि उसने स्वयं चीन के अनेक प्रदेशों में अपने प्रभावक्षेत्रों को कायम कर लिया था, तो भी उसका हित इसी बात में था, कि चीन के विविध बन्दर-गाह सब विदेशी राज्यों के लिए समान रूप से खुले रहें। इसका कारण यह था, कि ब्रिटेन का चीन में व्यापार अन्य सब राज्यों की तुलना में बहुत अधिक था। रूस, फ्रांस, जापान आदि ने भी इस समय चीन में अपने-अपने प्रभावक्षेत्र कायम कर लिए थे। यदि ये देश अपने इन प्रभावक्षेत्रों में अन्य राज्यों के व्यापार में रुकावट डालने का प्रयत्न करते, तो इससे सबसे अधिक नुकसान ब्रिटेन को ही पहुँचता। यही कारण है, कि इस समय ब्रिटेन और अमेरिका की चीन के सम्बन्ध में एक ही नीति थी, और ये दोनों शक्तिशाली राज्य इस बात के लिए प्रयत्नशील थे, कि विविध विदेशी राज्यों ने चीन में जो प्रभावक्षेत्र कायम कर लिए हैं, उनका रूप आर्थिक ही रहे और वे इन राज्यों के राजनीतिक आधिपत्य में न आ जाएं। अमेरिका और ब्रिटेन की इसी नीति के कारण उन्नीसवीं सदी के इस अन्तिम भाग में विभिन्न विदेशी राज्य चीन में अपनी प्रभुता का और अधिक विस्तार नहीं कर सके।

(५) सुधार के प्रयत्न

१८९४-९५ के युद्ध में जापान से परास्त होकर चीन के लोगों ने अपनी दुर्दशा को अच्छी तरह से अनुभव कर लिया था। विविध विदेशी राज्य जिस प्रकार चीन में अपने प्रभावक्षेत्र कायम करने में तत्पर थे, चीन के लोग उससे भी बहुत चिन्तित थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन में ऐसे दलों का प्रादुर्भाव हो, जिनका उद्देश्य देश की राजनीतिक दुर्बलता को दूर कर शक्ति का संचार करना हो। पाश्चात्य देशों के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से अब चीनी लोग भी अपरिचित नहीं रहे थे। अनेक चीनी युवक विदेशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त करके वापस आए थे, और उनका यह प्रयत्न था कि अपने देश की दशा का सुधार करें। सुधार के पक्षपाती इन दलों में डॉ० सन यात सेन के दल का विशेष रूप से उल्लेख करना आवश्यक है। डॉ० सन यात सेन के पिता ने क्रिश्चि-यन धर्म को स्वीकार कर लिया था, और अपने पुत्र को हवाई द्वीप और हांगकांग के विदेशी शिक्षणालयों में पढ़ाया था। पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आ कर डॉ० सन यात सेन के हृदय में यह आकांक्षा प्रबल रूप से उत्पन्न हो गई थी, कि चीन को भी फ्रांस,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटेन आदि के समान उन्नत और समृद्ध होना चाहिए। जापान का उदाहरण उसके सम्मुख था। १८९५ में उसने केन्टन में एक विद्रोह का नेतृत्व किया। पर इसमें उसे सफलता नहीं हो सकी। उसे चीन छोड़कर विदेशों में आश्रय लेना पड़ा। उसे गिरफ्तार करने के लिए चीनी सरकार ने एक इनाम की भी घोषणा की थी।

सुधार के पक्षपाती चीनी लोगों में कांग यू वेई का उल्लेख करना भी आवश्यक है। वह डॉ० सन यात सेन के समान क्रान्तिकारी नहीं था। उसका विचार था, कि क्रान्ति के मार्ग का आश्रय लेकर चीन का उद्धार नहीं किया जा सकता। चीन को सुधार के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए, और देश के शासन में सुधार कर वैध राजसत्ता की स्थापना करनी चाहिए। इसी प्रकार चीन के दो प्रमुख राजपदाधिकारी चांग चिह-तुंग और लियु कुन-यी भी सुधारवादी दल के साथ सम्बन्ध रखते थे। चांग-चिह-तुंग ने एक पुस्तक लिखी थी, जिसका नाम था 'शिक्षा लो'। इसमें उसने प्रतिपादित किया था, कि चीन को पश्चिमी देशों से ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण अपनी उन्नति करनी चाहिए, अन्यथा उसकी भी वही गति होगी जो कि भारत, अनाम, ईजिप्ट आदि की हुई है। चांग-चिह-तुंग की पुस्तक का बहुत प्रचार हुआ, और उसके कारण चीन में सुधार के आन्दोलन को बहुत बल मिला।

यद्यपि डा० सन यात सेन को क्रान्ति के प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी थी, पर सुधारवादी लोगों की शक्ति निरन्तर बढ़ती जाती थी। सम्राट् कुआंग ह्सू की इन सुधारवादियों के साथ सहानुभूति थी। १८८७ में कुआंग ह्सू वयस्क हो गया था, और साम्राज्ञी त्सूह्सी के प्रभाव व संरक्षा से मुक्त होकर स्वयं राज्यकार्य की देख-रेख करने लगा था। १८९८ में प्रसिद्ध सुधारवादी नेता कांग यू-वेई के साथ उसका सम्पर्क स्थापित हुआ, और उसने निश्चय किया कि चीन को सुधार के मार्ग पर आगे बढ़ाने का पूरा प्रयत्न किया जायगा। इस लिए जून, १८९८ से सितम्बर, १८९८ तक सम्राट् कुआंग ह्सू की ओर से अनेक नई आज्ञाएं प्रकाशित की गई, जिनका उद्देश्य चीन के शासन में सुधार करना था। इन आज्ञाओं में केवल शासन-सम्बन्धी सुधारों का आदेश ही नहीं दिया गया था, अपितु यह भी व्यवस्था की गई थी, कि चीन में शिक्षा का विस्तार किया जाय, छोटे और बड़े सब प्रकार के शिक्षणालयों की स्थापना की जाय, और उच्च शिक्षा के लिए एक विश्वविद्यालय की भी स्थापना हो। चीन में रेलवे लाइनों का विस्तार किया जाय, और जहाजों के निर्माण का भी प्रारम्भ हो। सम्राट् कुआंग ह्सू द्वारा आदिष्ट सब सुधार यदि क्रिया में परिणत हो सकते, तो निःसन्देह चीन में असाधारण उन्नति हो जाती।

पर अभी चीन में सुधार के विरोधियों की भी कमी नहीं थी। विशेषतया, सरकारी पदाधिकारी और राजकर्मचारी सम्राट् द्वारा प्रकाशित आज्ञाओं के सख्त खिलाफ थे। शासन सुधार के लिए जो व्यवस्थाएँ सम्राट् ने की थीं, उनसे इस वर्ग की सत्ता में बहुत अन्तर पड़ता था। साम्राज्ञी त्सू-ह्सी ने सुधार के विरोधियों का साथ दिया। सत्ता-ईस साल तक वह चीन के शासन का संचालन कर चुकी थी। ब्रिटेन, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के प्रति उसके हृदय में उत्कट घृणा थी। १८५८ और १८६० की घटनाओं का उसे भली-भाँति स्मरण था। उसका विचार था, कि पाश्चात्य देशों का अनुसरण करने से चीन को हानि ही होगी। चीन का हित इसी बात में है, कि इन विदेशी राज्यों को अपने से दूर रखे और पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में न आकर अपनी प्राचीन मर्यादा का पालन करे। साम्राज्ञी त्सू-ह्सी ने सुधारों का विरोध करना शुरू किया, जिससे पेकिंग की सरकार ने यह अनुभव किया, कि त्सू-ह्सी को गिरफ्तार किये बिना सुधार-सम्बन्धी आज्ञाएं क्रिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में परिणत नहीं की जा सकेंगी। यह कार्य युआन शी काई के सुपुर्द किया गया। सुधारवादी लोग समझते थे, कि युआन शी काई की सहानुभूति सुधारों के पक्ष में है। उसे चिहली प्रान्त का सूबेदार नियत किया गया, और यह आदेश दिया गया कि तीन्त्सिन पर अपना आधिपत्य स्थापित करके वहाँ के राजप्रासाद पर आक्रमण करे और साम्राज्ञी को गिरफ्तार कर ले। पर तीन्त्सिन जाकर यूआन शी काई साम्राज्ञी के साथ मिल गया। अब सामाज्ञी त्सू ह्सी की सेनाओं ने सम्राट् पर आक्रमण किया, और उसे गिरफ्तार कर लिया। सम्राट् कुआंग ह्सू का शेष जीवन कैदी के रूप में ही व्यतीत हुआ।

अब शासनशक्ति एक बार फिर साम्राज्ञी त्सू ह्सी के हाथों में आ गई। सम्राट् कुआंग ह्सू को इस बात के लिये विवश किया गया, कि वह एक नई आज्ञा इस आशय की प्रकाशित करे, कि देश के हित को दृष्टि में रखकर मैंने साम्राज्ञी त्सू ह्सी से प्रार्थना की है, कि वह राज्यकार्य को फिर से सम्भाल लें और उन्होंने अत्यन्त कृपापूर्वक मेरी प्रार्थना को स्वीकृत कर लिया है। इस प्रकार शासनसूत्र को फिर से अपने हाथों में लेकर साम्राज्ञी ने उन सब आज्ञाओं को रद्द कर दिया, जो १८९८ में प्रकाशित की गई थीं। इस समय बहुत-से सुधारवादी चीनी नेता गिरफ्तार किये गये, और बहुतों ने चीन से भाग कर अपनी जान बचाई। कांग यू वेई पेकिंग से भाग कर जापान पहुँचने में समर्थ हुआ, और वहां जाकर उसने सुधार के पक्ष में अपने आन्दोलन को जारी रखा। सुधारवादी नेताओं में से कुछ को इस समय प्राणदण्ड भी दिया गया।

सुधारों का आश्रय लेकर चीन में नवजीवन का संचार करने का जो प्रयत्न सम्राट् कुआंग-ह्सू की संरक्षा में प्रारम्भ हुआ था, उनका इस प्रकार बुरी तरह से अन्त हुआ। इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय मञ्चू शासन इतना विकृत हो चुका था और चीन के विविध राज-पदाधिकारी अपने कर्त्तव्यों से इतने अधिक विमुख हो गये थे, कि क्रान्ति के बिना चीन के विकृत शासन का अन्त सम्भव नहीं था। यही कारण है, कि १९११ में राज्यक्रान्ति द्वारा मञ्चू शासन का अन्त हुआ और उसके साथ ही नवीन चीन के निर्माण का प्रारम्भ हुआ।

(६) बोक्सर विद्रोह

चीन में विदेशी लोगों का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ रहा था, उसी के कारण विविध चीनी देशभक्तों में अपने देश के सुधार की प्रबल आकांक्षा उत्पन्न हुई थी। पर सुधार के पक्षपातियों के प्रयत्नों को सफलता नहीं मिल सकी, यद्यपि इससे विदेशी लोगों के प्रति विरोध व विद्वेष की भावना कम नहीं हुई। चीन के सभी लोग, चाहे वे सुधारों के पक्षपाती हों या विरोधी हों, विदेशियों से विद्वेष रखते थे। ईशाई पादरियों के गिरजाघर, विदेशियों द्वारा बनाई गई रेलवे लाइनें और पाश्चात्य लोगों द्वारा स्थापित बैंक तथा कम्पनियां चीनी लोगों की आंखों में कांटे की तरह से चुभती थीं। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि विदेशियों के प्रति विद्वेष की भावना एक विद्रोह के रूप में प्रकट हो। १८९४-९५ के युद्ध के बाद विविध विदेशी राज्यों ने चीन के विभिन्न प्रदेशों में जिस प्रकार अपने प्रभाव-क्षेत्र कायम कर लिये थे, उसने चीन की जनता में गहरे असन्तोष को उत्पन्न कर दिया था। इस स्थिति में चीन में एक समिति व दल का संगठन हुआ, जिसे अंगेजी में 'बोक्सर' कहते हैं। इस दल में सम्मिलित चीनी लोग अपनी बन्द मुट्ठी या कसे हुए मुक्के की शक्ति में विश्वास रखते थे, और इसी का प्रयोग कर विदेशियों को चीन से बहिष्कृत कर देने के लिए कटिबद्ध थे। १८९९ का अन्त होने से पूर्व ही बोक्सर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दल ने चीन के विविध प्रदेशों में विदेशियों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। बहुत-से ईसाई पादरी बोक्सर लोगों के क्रोध के शिकार हुए। पेकिंग के दक्षिण में अनेक विदेशी इंजीनियर एक रेलवे लाइन के निर्माण में तत्पर थे। इन पर भी आक्रमण किये गए और इन्हें मौत के घाट उतार दिया गया। इन घटनाओं के समाचार से पेकिंग में स्थित विदेशी राजदूतों में खलबली मच गई। उन्हें डर लगा, कि कहीं हम पर भी बोक्सर लोग हमला न कर दें। चीन के समुद्र तट के समीप जो विदेशी जंगी जहाज विद्यमान थे, उन्होंने उनकी सेनाओं को पेकिंग बुलाया। इस पर बोक्सर लोगों ने कहा, कि विदेशी राज्यों ने चीन पर बाकायदा चढ़ाई कर दी है। इन सेनाओं से अपनी रक्षा करने के लिए बोक्सर लोगों ने पेकिंग और तीन्त्सिन के बीच की रेलवे लाइन को कई स्थानों से उखाड़ दिया। अब विदेशी लोगों को और भी अधिक चिन्ता हुई। तीन्त्सिन में दो हजार विदेशी सैनिकों की एक सुव्यवस्थित सेना का संगठन किया गया, और इस सेना ने पेकिंग की ओर प्रस्थान कर दिया। इसी बीच में विदेशी जंगी जहाजों ने चीन के समुद्रतट पर आक्रमण शुरू कर दिये, और अनेक महत्त्वपूर्ण नगरों और किलों पर कब्जा कर लिया। अब बोक्सर लोगों और विदेशी राज्यों की सेनाओं में बाकायदा युद्ध शुरू हो गया, और चीनी सरकार ने पेकिंग में विद्यमान विदेशी लोगों को आज्ञा दी, कि वे चौबीस घण्टे के अन्दर-अन्दर पेकिंग को छोड़कर बाहर चले जाएं। इसी समय पेकिंग में स्थित जर्मन राजदूत की हत्या कर दी गई। अब विदेशियों के सम्मुख आत्मरक्षा का केवल यही एक उपाय था, कि वे सब पेकिंग के विदेशी दूतावासों में एकत्र हो जाएं, और वहां रहकर अपनी सेनाओं के आगमन की प्रतीक्षा करें। यदि वे पेकिंग छोड़ कर समुद्रतट की ओर जाने का उद्योग करते, तो उन्हें भय था कि मार्ग में बोक्सर लोग कहीं उन पर आक्रमण न कर दें। बहुत-से चीनी ईसाइयों ने भी इस समय आत्मरक्षा के लिए विदेशी दूतावासों में शरण ग्रहण की। बोक्सर लोगों ने पेकिंग के दूतावासों को भी घेर लिया। क्योंकि इन दूतावासों का निर्माण किले के रूप में हुआ था, अतः वहां पर विदेशी लोग कई महीने तक बोक्सर लोगों के हमलों से अपनी रक्षा करते रहे। १९०० के मध्य तक विदेशियों की एक सुसंगठित सेना पेकिंग पहुंच गई, और वहां उसने बोक्सर लोगों से अपने दूतावासों की रक्षा की।

इसमें संदेह नहीं, कि १८९९-१९०० में बोक्सर विद्रोह ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया था। साम्राज्ञी त्सू-ह्सी की सहानुभूति बोक्सर लोगों के पक्ष में थी। पर चीनी सरकार के बहुत-से उच्च राजकर्मचारी विदेशियों के विरुद्ध बोक्सर लोगों के युद्ध को देश के लिये हानिकारक समझते थे। चीन के अनेक प्रान्तों में उनके सूबेदारों ने बोक्सर लोगों को काबू में रखने की भरसक कोशिश की। यदि चीन की सब प्रान्तीय सरकारें भी इस समय बोक्सर लोगों के साथ सहानुभूति रखतीं, तो विदेशियों के लिये चीन में रह सकना असम्भव हो जाता। पर अनेक प्रान्तीय सूबेदारों ने बोक्सर लोगों को काबू में रखने में असाधरण कर्त्तृत्व प्रदर्शित किया। पेकिंग की केन्द्रीय सरकार ने भी एक आज्ञा द्वारा प्रान्तीय कर्मचारियों को यह आदेश दिया, कि वे बोक्सर लोगों के आक्रमणों से विदेशियों की रक्षा करने का प्रयत्न करें।

बोक्सर विद्रोह का समाचार जब पाश्चात्य देशों में पहुंचा, तो उन्होंने चीन में अपने आर्थिक और राजनीतिक हितों की रक्षा करने के लिये अपनी सेनाओं को चीन भेजा। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी आदि की सेनाएं शीघ्र ही चीन पहुँच गई। चीन में जहाँ कहीं भी बोक्सर लोगों ने विदेशियों का प्रतिरोध किया था, वहाँ सर्वत्र इन पाश्चात्य सेनाओं ने भयंकर अत्याचार किये। चीनी लोगों से बुरी तरह से बदला लिया गया। अनेक ग्रामों और नगरों को भूमिसात् कर दिया गया। विदेशी सेनाओं ने चीन में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार के आतंक के राज्य की स्थापना कर दी। बोक्सर विद्रोह का उपयोग पाश्चात्य देशों ने चीन में अपने प्रभुत्व को विस्तृत करने के लिये किया, और इसको निमित्त बनाकर उन्होंने वहाँ अपनी सेनाओं का जाल-सा बिछा दिया।

बोक्सर विद्रोह के परिणाम—विदेशी प्रभुत्व के विरुद्ध चीनी लोगों ने जो विद्रोह किया था वह सफल नहीं हो सका, और पाश्चात्य देशों की सेनाएं चीन में अपने विशेषाधिकारों तथा प्रभाव को कायम रखने में सफल हुई। इस समय यदि विदेशी राज्य आपस में एकमत होकर कार्य करते, तो उनके लिये चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकना कठिन नहीं था। राजनीतिक दृष्टि से चीन की सरकार अत्यन्त विकृत दशा में थी, और सैनिक दृष्टि से चीन के लिये पाश्चात्य देशों का मुकाबिला कर सकना असम्भव था। पर पाश्चात्य राज्यों में आपस का ईर्ष्या द्वेष बहुत अधिक था। इसी कारण वे चीन के सम्बन्ध में किसी एक नीति का निर्धारण नहीं कर सके। बोक्सर विद्रोह की समाप्ति पर ७ सितम्बर १९०१ के दिन चीन के साथ विदेशी राज्यों का जो समझौता हुआ, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) पेकिंग में जर्मनी का जो राजदूत मारा गया था, उसके लिये चीनी सरकार जर्मनी से क्षमा प्रार्थना करे, और जिस स्थान पर जर्मन राजदूत की हत्या हुई थी वहाँ चीन की सरकार एक स्मारक का निर्माण करे। (२) विदेशियों के साथ दुर्व्यवहार के लिये जिन चीनी राजकर्मचारियों को जिम्मेदार पाया जाय, उन्हें चीनी सरकार कठोर दण्ड दे। (३) जिन नगरों में विदेशी लोगों का कतल हुआ था, वहाँ पाँच साल तक कोई सरकारी परीक्षा न हो सके, ताकि इन नगरों के निवासी सरकारी परीक्षाओं को उत्तीर्ण कर राजकीय पद न प्राप्त कर सकें। (४) जापान के दूतावास के अध्यक्ष की हत्या के लिए चीनी सरकार जापान से क्षमा याचना करे। (५) दो साल तक चीन न कोई अस्त्र-शस्त्र बना सके और न कोई अन्य ऐसा माल तैयार कर सके, जिसे युद्ध-सामग्री के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता हो। (६) हरजाने के रूप से चीन १,५०,००,००,००० रुपया विदेशी राज्यों को प्रदान करे। हरजाने की यह रकम ३९ वार्षिक किश्तों में अदा की जाय। (७) पेकिंग में विदेशी दूतावासों का निर्माण इस ढंग से किया जाय, कि आवश्यकता पड़ने पर वे सुगमता से अपनी रक्षा कर सकें। पेकिंग के जिस क्षेत्र में ये विदेशी दूतावास स्थित हों, वहाँ चीनी लोग न रह सकें। चीनी पुलिस को भी वहाँ आने-जाने का अधिकार न हो। इन दूतावासों को यह भी अधिकार हो, कि वे अपनी रक्षा के लिए अपनी सेनाएं भी वहाँ रख सकें। (८) तीन्त्सिन के समीप जो अनेक चीनी किले हैं, उन्हें भूमिसात् कर दिया जाए, ताकि पेकिंग और समुद्रतट के बीच का मार्ग विदेशी लोगों के लिए सर्वथा सुरक्षित हो जाय। (९) तीन्त्सिन पर विदेशियों का अधिकार स्थापित किया जाय। (१०) चीन की सरकार की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित की जाए, कि प्रान्तीय सूबेदार अपने-अपने क्षेत्रों में विदेशियों के विरुद्ध सब प्रकार के आन्दोलनों को काबू में लायें। (११) विदेशी राज्यों और चीनी सरकार के बीच में जो संधियाँ विद्यमान हैं, उनमें संशोधन किये जायें।

१९०१ का यह समझौता चीन के लिये बहुत हानिकारक व अपमानजनक था। इसके कारण चीन में विदेशी राज्यों का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया, और पेकिंग में विदेशी सैनिक अच्छी बड़ी संख्या में निवास करने लगे। अब चीन में स्थित विदेशी राजदूतों की स्थिति ऐसी नहीं रह गई, कि वे चीनी सरकार के साथ एक स्वतन्त्र राज्य की सरकार के समान व्यवहार करें। वे समझते थे, कि चीन उनके सम्मुख असहाय है, और वे अपनी इच्छाओं को सैनिक शक्ति के प्रयोग द्वारा चीनी सरकार से मनवा सकते हैं। उनकी दृष्टि में चीन एक स्वतन्त्र राज्य न रहकर अधीनस्थ राज्य के सदृश हो गया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसे वश में रखने के लिये राजधानी में उनकी सेनाएं विद्यमान थीं। डेढ़ अरब रुपया चीन को हरजाने के रूप में विदेशी राज्यों को प्रदान करना था। यह रकम इतनी बड़ी थी, कि इसे अदा कर सकना चीन के लिए सुगम नहीं था। इसके बोझ से चीनी सरकार इतनी बुरी तरह से दब गई थी, कि आर्थिक क्षेत्र में उन्नति कर सकना उसके लिए कठिन हो गया था। तीन्त्सिन सदृश नगरों पर विदेशियों का कब्जा चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये अत्यन्त विघातक था। इस समय चीन के प्रायः सम्पूर्ण समुद्रतट पर विदेशी राज्यों का प्रभुत्व कायम हो गया था, और इन विदेशी लोगों को यह भी भली-भाँति ज्ञात था, कि चीन उनकी सैन्यशक्ति के सम्मुख सर्वथा असहाय है।

(७) रूस और जापान का युद्ध

मञ्चूरिया और कोरिया के क्षेत्र में रूस और जापान के हित परस्पर टकराते थे। इसी कारण १९०५ में इन दोनों देशों में एक भयंकर लड़ाई हुई। यह लड़ाई विशाल चीनी साम्राज्य में विविध विदेशी राज्यों के साम्राज्य-विस्तार सम्बन्धी प्रयत्नों का ही परिणाम थी। अतः इसी अध्याय में इस पर प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

मंचूरिया—चीन के मध्यदेश के उत्तर में स्थित प्रदेश को मञ्चूरिया कहते हैं। चीन की प्राचीन विशाल दीवार इसे मध्यदेश से पृथक् करती है। मञ्चूरिया का क्षेत्रफल ३,६५,००० वर्गमील के लगभग है। चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत यह विशाल प्रदेश तीन प्रान्त में विभक्त था—क्वांगतुंग, किरिन और हाइलुंग-कियांग। इनमें क्वांगतुंग प्रान्त सबसे अधिक आवाद और समृद्ध था। लियाओ तुंग प्रायद्वीप इसी के अन्तर्गत था। क्वांगतुंग में चीनी लोग बहुत बड़ी संख्या में आबाद थे, और खेती आदि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। किरिन की जनसंख्या अधिक नहीं थी, और हाइलुंग-कियांग का प्रान्त तो प्रायः गैरआबाद ही था। उसकी दशा प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि उत्तरी एशिया में साइबीरिया की थी। मञ्चूरिया में सोया बीन प्रचुर परिमाण में उत्पन्न की जाती थी, और गेहूँ आदि अन्य अन्न भी वहां पर्याप्त मात्रा में पैदा होते थे। खानों की दृष्टि से भी यह प्रदेश अच्छा समृद्ध था। कोयले, लोहे और सोने की इस प्रदेश में प्रचुर परिमाण में सत्ता है, यह बात चीन और अन्य देशों के लोगों को ज्ञात थी। यद्यपि मञ्चूरिया चीन के मध्यदेश के अन्तर्गत नहीं था, पर चीनी साम्राज्य में उसकी स्थिति कोरिया, तिब्बत आदि अधीनस्थ प्रदेशों से भिन्न थी। कोरिया, तिब्बत आदि शासन के सम्बन्ध में स्वतन्त्र स्थिति रखते थे, वे चीनी सम्राट् की अधीनतामात्र स्वीकृत करते थे। पर मञ्चूरिया का शासन सीधा पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के अधीन था, और उसके शासकों की नियुक्ति पेकिंग सरकार द्वारा ही की जाती थी।

मंचूरिया में रूस की स्थिति—रूस उत्तर की ओर से किस प्रकार मञ्चूरिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्व का प्रसार करने में तत्पर था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १९०० में जब बोक्सर विद्रोह हुआ, तब रूस इस प्रदेश में अपने प्रभुत्व को किस अंश तक स्थापित कर चुका था, इसका स्पष्ट रूप से उल्लेख कर देना अगली घटनाओं को समझने के लिए बहुत उपयोगी होगा। १८९४-९५ के युद्ध के बाद रूस ने जापान के विरुद्ध चीन का जो पक्ष लिया था, उसके कारण लियाओ-तुंग प्रायद्वीप पर जापान का अधिकार नहीं रह गया था। कुछ समय बाद रूस ने चीन के साथ जो सन्धि की, उसकी प्रमुख शर्तों को हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं। इस सन्धि द्वारा रूस ने मञ्चूरिया में ब्लादीवोस्तॉक तक एक हजार मील लम्बी रेलवे लाइन के निर्माण का अधिकार प्राप्त कर लिया था, और इस रेलवे की एक ब्रांच लाइन को दक्षिण में पीर्ट आर्थर (लियाओ तुंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायद्वीप का बन्दरगाह) तक बना सकने की अनुमति भी प्राप्त कर ली थी। पोर्ट आर्थर और उसके समीप का प्रदेश पच्चीस साल के लिए रूस को पट्टे पर दे दिया गया था, और वहाँ रूसी सरकार ने ऐसी किलाबन्दी शुरू कर दी थी, जिससे रूसी जंगी जहाज वहां पर सुरक्षित रूप से रह सकें। पोर्ट आर्थर प्रशान्त महासागर में रूस का सबसे बड़ा नाविक अड्डा बन गया था, और इसके कारण इस क्षेत्र में रूस की शक्ति बहुत सुदृढ़ हो गई थी। मञ्चूरिया में रेलवे लाइनों का निर्माण करने के लिए चाइनीज ईस्टर्न रेलवे कम्पनी और मञ्चूरिया रेलवे कम्पनी नामक दो कम्पनियों का संगठन किया गया था, जिनका प्रबन्ध व संचालन रूसी सरकार के हाथों में था। ये कम्पनियाँ प्रधानतया रूसी पूँजी से ही बनी थीं। इनके लिए रुपए का प्रबन्ध करने के प्रयोजन से ही रूसी-चाइनीज बैंक का निर्माण किया गया था। इस बैंक में चीनी सरकार की पूँजी बहुत कम थी। पूंजी का बड़ा भाग रूसी सरकार ने लगाया था, जिसे उसने फ्रांस में ऋण के रूप में प्राप्त किया था। यूरोप की राजनीति में इस समय रूस और फ्रांस में घनिष्ठ मित्रता थी। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के भय ने फ्रेंच रिपब्लिक और रूसी जारशाही में सुदृढ़ मैत्री सम्बन्ध को स्थापित कर दिया था। इन रेलवे लाइनों के निर्माण के लिए रूसी लोग बहुत बड़ी संख्या में मञ्चूरिया में आ गए थे, और इन लाइनों की रक्षा के लिए रूस की एक शक्तिशाली सेना भी इस प्रदेश में तैनात कर दी गई थी।

बोक्सर विद्रोह के अवसर पर रूस को मञ्चूरिया में अपनी शक्ति के विस्तार का सुवर्णावसर हाथ लगा। चीन के अन्य प्रदेशों के समान मञ्चूरिया में भी बोक्सर लोग अपना कार्य कर रहे थे। उनके आक्रमणों से रूसी रेलवे लाइनों की रक्षा का बहाना बनाकर रूसी सेनाएं मञ्चूरिया पहुँचने लगी और कुछ समय के लिए वहां रूस का फौजी शासन स्थापित हो गया। रूसी सरकार का कहना था, कि मञ्चूरिया पर यह कब्जा केवल सामयिक रूप से ही किया गया है। ज्यों ही बोक्सर विद्रोह शान्त हो जाएगा, और चीन में शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो जाएगी, रूसी सेना को मञ्चूरिया से हटा लिया जाएगा। पर बोक्सर विद्रोह की समाप्ति के बाद भी रूस ने अपनी सेनाओं को मञ्चूरिया से नहीं हटाया। उसका कहना था, कि अभी इस प्रदेश में ऐसी स्थिति उत्पन्न नहीं हुई है, कि रूस अपनी सेनाओं को वहां से हटा सके। अमेरिका, जापान, इंगलैण्ड आदि अन्य देश रूस के इस रुख को अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे। पर वे स्वयं भी पेकिंग में अपनी सेनाओं को स्थापित कर चुके थे, और उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे परस्पर मिलकर रूस का विरोध कर सकें। साथ ही, रूस का यह भी कहना था, कि मञ्चूरिया के प्रश्न पर अन्य किसी राज्य को दखल देने की आवश्यकता नहीं है। यह रूस और चीन का अपना मामला है, और इसका फैसला ये दोनों राज्य ही कर सकते हैं। परिणाम यह हुआ कि रूस ने मञ्चूरिया में अपने सैनिक कब्जे को जारी रखा। बोक्सर विद्रोह से पहले मञ्चूरिया में रूस का प्रभावक्षेत्र केवल आर्थिक था, अब वह सैनिक और राजनीतिक भी हो गया। रूस की इस आकांक्षा में अब कोई सन्देह नहीं रह गया था कि वह साइबीरिया के समान मञ्चूरिया को भी अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लेने के लिए कटिबद्ध है।

मञ्चूरिया और जापान—मञ्चूरिया में रूस की इस प्रकार बढ़ती हुई शक्ति जापान को सह्य नहीं थी। जापान यह नहीं सह सकता था, कि उसके पड़ोस में इतने समीप रूस जैसा शक्तिशाली व विशाल राज्य आ जाय। पोर्ट आर्थर में रूस जिस प्रकार अपना नाविक अड्डा बना रहा था, उससे जापान को सख्त एतराज था। वह अनुभव करता था कि प्रशान्त महासागर में रूस की शक्ति उसकी अपनी स्वतन्त्रता के लिए विघातक हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकती है। इस प्रकार मञ्चूरिया में रूस के बढ़ते प्रभुत्व से जापान को बहुत बेचैनी अनुभव हो रही थी। साथ ही, जापान स्वयं मंचूरिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना करना चाहता था। व्यावसायिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो जाने के कारण जापान भी अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए उत्सुक था, और इसके लिए उसे सबसे अधिक उपयुक्त क्षेत्र चीन ही नजर आता था। चीनी साम्राज्य में भी मंचूरिया ही ऐसा प्रदेश था, जो जहाँ जापान के बहुत समीप था, वहाँ साथ ही यह भी सम्भव था, कि जापानी लोग उसमें बड़ी संख्या में बस सकें। मञ्चूरिया के अनेक प्रदेशों की आबादी बहुत कम थी, और इनमें जापानी बस्तियों के विकास के लिए मैदान खाली पड़ा था। मञ्चूरिया की खानें और उपजाऊ जमीन जापान के लिए आकर्षण की वस्तुएं बनी हुई थीं। इसीलिए १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के बाद जापान ने लिआओ-तुंग के प्रदेश को अधिगत कर लिया था। रूस के विरोध के कारण ही यह प्रदेश जापान की अधीनता में नहीं रह सका था, और अब वहाँ पर रूस का कब्जा हो जाना जापान को असह्य था।

कोरिया की समस्या - रूस और जापान के संघर्ष का दूसरा क्षेत्र कोरिया था। १८९४-९५ के चीन-जापान के युद्ध के अवसर पर जापान ने कोरिया पर अधिकार कर लिया था। जापानी लोगों ने इस समय कोरिया में अनेक ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके कारण जापानी पूंजीपतियों को वहां अपना रुपया लगाने व विविध प्रकार के आर्थिक लाभ प्राप्त करने का अवसर मिल गया। चीन-जापान युद्ध की समाप्ति पर कोरिया की स्वतन्त्रता तो स्वीकृत कर ली गई, पर जापान ने वहां के आर्थिक जीवन पर जो प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, उसका अन्त नहीं हुआ। केवल यही नहीं, जापानी लोग कोरिया के राजघराने व सरकार के मामलों में भी हस्तक्षेप करते रहे। कोरिया की महारानी अपने देश में जापानियों के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिन्तित थी। कोरिया में जो पार्टियाँ जापान की विरोधी थीं, महारानी की संरक्षा उन्हें प्राप्त थी। इसलिए एक दिन आधी रात के समय कुछ जापानियों ने राजप्रासाद पर हमला कर दिया और महारानी को कत्ल कर दिया। इसके कुछ दिन बाद कोरिया के महाराजा ने जापानियों से आत्मरक्षा करने के लिए रूस के दूतावास में शरण ली। इस समय रूस की एक सेना सिऊल में विद्यमान, और उसी के कारण कोरिया का महाराजा अपने प्राणों की रक्षा कर सकने में समर्थ हुआ था। जापानी लोगों को यह बात सह्य नहीं हुई, कि रूस उनके मार्ग में बाधक हो। परिणाम यह हुआ कि कोरिया के प्रश्न पर जापान और रूस के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गए। पर १८९६ में कोरिया के सम्बन्ध में इन दोनों देशों में समझौता हो गया, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) जापान और रूस दोनों अपनी सेनाओं को कोरिया से वापस बुला लें। कोरिया में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने की उत्तरदायिता कोरियन सरकार पर ही रहे। (२) रूस और जापान दोनों का यह प्रयत्न हो, कि आर्थिक दृष्टि से कोरिया का उत्कर्ष हो। इसके लिए यदि कोरिया को पूंजी की आवश्यकता हो, तो दोनों देश मिलकर इस विषय में उसकी सहायता करें। इस प्रकार १८९६ के समझौते द्वारा कोरिया में रूस और जापान की स्थिति एक समान हो गई। यदि ये दोनों देश ईमानदारी से इस समझौते पर दृढ़ रहते, तो उनमें विरोध की कोई भी सम्भावना न होती। पर कठिनता यह थी, कि ये दोनों ही देश कोरिया को अपने प्रभाव में लाने के लिए उत्सुक थे। रूस ने इस सम्बन्ध में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। लिआओ-तुंग प्रायद्वीप को अपने प्रभाव में लाकर जब पोर्ट आर्थर और उसके समीप के प्रदेश को रूस ने पट्टे पर प्राप्त कर लिया, (पृष्ठ १११) तो उसके लिए कोरिया में अपने प्रभाव को विस्तृत कर सकना और भी अधिक सुगम हो गया। रूस और जापान में कोरिया के सम्बन्ध में कोई भी समझौता इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का नहीं हो सकता था, जिससे इन दोनों देशों को पूर्णरूप से सन्तोष हो, क्योंकि इस प्रदेश में उन दोनों के हितों में बहुत अधिक विरोध था। फिर भी बीसवीं सदी के शुरू में जापान और रूस के राजनीतिज्ञों ने परस्पर समझौते के लिए अनेक प्रयत्न किए। १९०३ में सेण्ट पीटर्सबुर्ग में स्थित जापानी राजदूत ने रूसी सरकार के सम्मुख निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किए—(१) रूस और जापान दोनों कोरिया और चीन की स्वतन्त्रता को स्वीकृत करें, और यह वचन दें कि इन देशों की स्वतन्त्रता को अक्षुण्ण रखेंगे। (२) रूस इस बात को स्वीकार करे, कि कोरिया जापान का विशेष प्रभाव-क्षेत्र है, और इस कारण उसे अधिकार है कि वह कोरिया में अपने आर्थिक हितों को विकसित कर सके और साथ ही कोरियन सरकार को सुव्यवस्थित करने के लिए लिए परामर्श दे सके। (३) जापान मंचूरिया में रूस के विशेष प्रभावक्षेत्र को स्वीकृत करे, और वहां उसे वही सब कुछ करने दे जो वह स्वयं कोरिया में करना चाहता है।

रूसी सरकार जापानी राजदूत के इन प्रस्तावों को स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं हुई। रूसी सरकार चाहती थी, कि (१) कोरिया की स्वतन्त्रता को रूस और जापान दोनों स्वीकृत करें। (२) कोरिया में जापान का विशेष प्रभाव-क्षेत्र है, इस बात को मान लिया जाय। (३) जापान जिस प्रकार कोरिया में व्यापारिक और व्यावसायिक विकास करना चाहता है, उसमें रूस बाधा न डाले। (४) रूस और जापान दोनों इस बात को स्वीकार करें, कि वे कोरिया में कहीं किलाबन्दी नहीं करेंगे, और कोरियन समुद्रतट का प्रयोग युद्ध के प्रयोजन के लिए नहीं करेंगे। (५) मञ्चूरिया में रूस का विशेष प्रभावक्षेत्र है, इस बात को जापान स्वीकार करे। रूस और जापान के प्रस्तावों में मुख्य भेद यह था, कि रूस कोरिया में जापान के आर्थिक हितों को तो स्वीकृत करने के लिए तैयार था, पर उसे वहां अपना राजनीतिक व सैनिक प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर नहीं देना चाहता था। साथ ही, वह जापान से यह स्वीकृत कराना चाहता था, कि मंचूरिया में रूस का आर्थिक और राजनीतिक दोनों प्रकार का प्रभुत्त्व स्थापित हो। इसके विपरीत जापान यह चाहता था, कि मञ्चूरिया में जो विशेषाधिकार रूस को प्राप्त हों, वे सब जापान को कोरिया में प्राप्त हों।

इस दशा में कोरिया के प्रश्न पर रूस और जापान में जो मतभेद व हित-विरोध था, उसका निबटारा युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से सम्भव नहीं था। इसी कारण रूस और जापान के युद्ध का प्रारम्भ हुआ।

इंगलैण्ड और जापान की सन्धि—इससे पूर्व कि हम रूस और जापान के युद्ध का उल्लेख करें, उस महत्वपूर्ण सन्धि का विवरण देना आवश्यक है, जो कि १९०२ में जापान और इंगलैण्ड के बीच में हुई थी। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के बाद जापान के राजनीतिज्ञों में दो प्रकार के विचार कार्य कर रहे थे। एक पक्ष का मन्तव्य था, कि रूस और जापान में मैत्री की स्थापना कर सकना असम्भव नहीं है, और ये दोनों देश परस्पर मिलकर उन सब प्रश्नों का निबटारा कर सकते हैं, जो उनके पारस्परिक हित-विरोध के कारण उत्पन्न होते हैं। इस पक्ष को अपने प्रयत्न में किस प्रकार असफलता हुई इसका उल्लेख हम अभी ऊपर कर चुके हैं। दूसरे पक्ष का कहना था, कि क्योंकि रूस और जापान में समझौता हो सकना सम्भव नहीं है, इस कारण जापान को रूस का मुकाबिला करने के लिए ब्रिटेन के साथ सन्धि करनी चाहिये। अन्य विदेशी राज्यों के मुकाबिले में ब्रिटेन का चीन में सबसें अधिक प्रभाव था, अतः जापान का ध्यान उसी के साथ सन्धि करने की ओर आकृष्ट हुआ। इस समय एशिया में साम्राज्यप्रसार के क्षेत्र में रूस और ब्रिटेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक दूसरे के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे। तुर्क साम्राज्य और बालकन प्रायद्वीप के क्षेत्र में उनके हित-विरोध के कारण ही क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) का प्रादुर्भाव हुआ था। रूस बालकन प्रायद्वीप में अपने प्रभाव का जिस प्रकार से विस्तार कर रहा था, उसके कारण ब्रिटेन यह अनुभव करता था, कि भारत आदि प्राच्य देशों में आने-जाने का उसका मार्ग सुरक्षित नहीं रह सकेगा। मध्य एशिया और तुर्किस्तान पर रूस अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था, और इसके परिणामस्वरूप रूस भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा के बहुत समीप आ गया था। ईरान में भी रूस अपने प्रभाव को बढ़ा रहा था। मञ्चूरिया में रूस ने जिस प्रकार अपने प्रभुत्व का प्रसार शुरू किया था, उसे भी ब्रिटेन चीन में अपने आर्थिक हितों के लिये हानिकारक समझता था। इस कारण वह भी इस बात के लिये उत्सुक था, कि जापान के साथ सन्धि करके एशिया में अपनी शक्ति को सुरक्षित कर ले।

ब्रिटेन और जापान में यह सन्धि १९०२ में हुई। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं – (१) ब्रिटेन यह स्वीकार करता है, कि कोरिया में जापान के विशेष हित हैं, और चीन में भी उसके आर्थिक हितों की सत्ता है। (२) जापान चीन में ब्रिटेन के हितों को स्वीकृत करता है। (३) दोनों देश यह मानते हैं, कि दोनों को अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिये आवश्यक कार्यवाही करने का अधिकार है। (४) यदि इन हितों की रक्षा करने के लिये ब्रिटेन या जापान को किसी अन्य राज्य के विरुद्ध युद्ध की आवश्यकता हो तो दूसरा राज्य इस युद्ध में उदासीन रहेगा। (५) यदि ऐसे युद्ध की दशा में कोई अन्य, राज्य ब्रिटेन या जापान के शत्रु की सहायता के लिये लड़ाई के मैदान में उतर आये, तो ब्रिटेन और जापान दोनों मिलकर उसका मुकाबिला करेंगे।

१९०२ की यह सन्धि प्रारम्भ में पांच सालों के लिये की गई थी। पर बाद में इसे फिर से दोहराया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि इस सन्धि के कारण पूर्वी एशिया में जापान की स्थिति बहुत सुदृढ़ और सुरक्षित हो गई थी, और वह कोरिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना का प्रयत्न अधिक निश्चिन्तता के साथ कर सकता था।

रूस और जापान का युद्ध—यहां हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि रूस और जापान के युद्ध (१९०४-५) की घटनाओं का संक्षेप के साथ भी उल्लेख कर सकें। लड़ाई शुरू होते ही जापान के जहाजी बेड़े ने पोर्ट आर्थर पर आक्रमण किया। रूसी बेड़ा उसका मुकाबिला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया, और भयंकर लड़ाई के बाद जापानी सेनाओं ने पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लिया। अब जापानी सेनाओं ने लिआओ तुंग प्रायद्वीप में आगे बढ़ना शुरू किया। ट्रांस-साइबीरियन रेलवे इस समय तक बनकर तैयार हो चुकी थी। लगभग पांच हजार मील की दूरी से इस रेल मार्ग द्वारा रूसी सेनाएं व युद्ध-सामग्री मञ्चूरिया में पहुंचाई जा रही थीं। पर रूस के लिए यह सुगम नहीं था, कि इतनी दूरी पर अपनी सेनाओं व युद्ध-सामग्री को पर्याप्त परिमाण में पहुंचा सके। साइबीरिया का विशाल भूखण्ड अभी आर्थिक दृष्टि से भलीभांति विकसित नहीं हो पाया था। न वहां कारखाने बने थे, और न खेती आदि का ही भलीभांति विकास हुआ था। अतः मञ्चूरिया-स्थित रूसी सेनाओं को रसद व युद्ध सामग्री के लिये उराल पार के यूरोपियन रूस पर ही निर्भर रहना होता था। साथ ही, रूस की राजशक्ति भी इस समय अत्यन्त विकृत दशा में थी। वहां एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता का शासन था, और शासन कार्य में जनता को कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं थे। जनता में जारशाही के खिलाफ उग्र असन्तोष था, और अनेक क्रान्तिकारी दल रूस में जार के एकतन्त्र शासन के विरुद्ध षड्यन्त्रों में तत्पर थे। इसके विपरीत जापान में जहां राष्ट्रीय भावना तीव्र रूप में विद्यमान थी, वहां साथ ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकतन्त्र शासन का भी सूत्रपात हो चुका था। जापान का सम्राट् और सरकार जनता की उन्नति के लिए कटिबद्ध थे, और सब जापानी लोग अपनी सरकार के प्रति अनुरक्त थे। क्रान्तिकारी प्रवृत्तियों का वहां सर्वथा अभाव था। रूसी जहाजी बेड़े के परास्त हो जाने के कारण जापान के लिए यह बहुत सुगम हो गया था, कि वह अपनी सेनाओं और युद्ध-सामग्री को मञ्चूरिया पहुंचा सके। रूस ने यत्न किया, कि अपने एक अन्य जहाजी बेड़े को चीन के समुद्र में भेजे, ताकि वह जापान की सेनाओं के मञ्चूरिया पहुंचने में बाधा डाल सके। पूर्वी एशिया में पहुंचने के लिए छोटा रास्ता स्वेज की नहर से होकर जाता था। पर इस मार्ग पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व था। जापान और ब्रिटेन में १९०२ में सन्धि हो चुकी थी, और रूस को भय था, कि कहीं ब्रिटेन रूसी बेड़े के स्वेज नहर से गुजरने में बाधा न डाले। अतः रूस का जहाजी बेड़ा स्वेज के मार्ग का उपयोग नहीं कर सका। विशाल अफ़्रीकन महाद्वीप का चक्कर काटकर मई, १९०५ में रूस की नौसेना ने जापान के समीपवर्ती समुद्र में प्रवेश किया। पर इस बार फिर रूस के जहाजी बेड़े की जापान द्वारा बुरी तरह पराजय हुई। २८ मई, १९०४ को जापान की नौसेना ने रूसी बेड़े को पूर्ण रूप से परास्त कर दिया। इस दशा में रूस के लिये लड़ाई को जारी रख सकना सम्भव नहीं रहा। वह सन्धि कर लेने के लिये विवश हो गया।

पोट् समाउथ की सन्धि—रूस और जापान के युद्ध की समाप्ति कर उनमें सन्धि कराने के कार्य में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति श्री थिओडोर रूजवेल्ट ने विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया। युद्ध के समय ब्रिटेन के समान अमेरिका की भी सहानुभूति जापान के पक्ष में थी। सन्धि की बातचीत अमेरिका में ही शुरू हुई और उसी के अन्यतम नगर पोर्ट्समाउथ में सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये।

सन्धि के लिये जापान ने निम्नलिखित शर्तें पेश की थीं—(१) कोरिया पर जापान के प्रभुत्व को स्वीकार किया जाय। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि रूस-जापान के युद्ध की समाप्ति से पूर्व ही ब्रिटेन कोरिया पर जापान के प्रभुत्व को स्वीकार कर चुका था। अब जापान चाहता था, कि रूस भी इस बात को स्वीकार कर ले। (२) मञ्चूरिया में रूस को जो भी विशेष अधिकार प्राप्त थे, वे सब अब जापान को दे दिये जाएं। पोर्ट आर्थर और उसके समीप के प्रदेश का पट्टा भी जापान को मिल जाए। (३) पूर्वी एशिया के समुद्र में रूस के जो भी जहाज हैं, वे सब जापान को दे दिये जाएं। (४) लड़ाई में जापान को जो कुछ खर्च करना पड़ा है, उसका हरजाना रूस प्रदान करे। (५) साइबीरिया के समुद्रतट पर जापानियों को मछली पकड़ सकने का अधिकार दिया जाय। (६) सम्पूर्ण सखालिन द्वीप जापान को प्रदान कर दिया जाय।

रूस इन सब शर्तों को मानने के लिये तैयार नहीं था। पर अन्त में ५ सितम्बर, १९०५ के दिन रूस और जापान में जो सन्धि हुई, उसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) रूस और जापान दोनों मञ्चूरिया से अपनी-अपनी सेनाओं को वापस बुला लें। (२) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप के जिन प्रदेशों को (पोर्ट आर्थर और उसके समीप का प्रदेश) रूस ने पट्टे पर लिया हुआ था, वे अब जापान को पट्टे पर दे दिये जाएं। (३) मञ्चूरियन रेलवे का दक्षिणी भाग रूस जापान को प्रदान कर दे। हार्बिन और मुकदन के बीचमें जो मञ्चूरियन रेलवे रूस ने बनायी थी, उसका आधा भाग इस शर्त द्वारा जापान को प्राप्त हुआ। (४) रूस और जापान मञ्चूरिया में अपनी-अपनी रेलवे लाइनों का उपयोग केवल व्यावसायिक और व्यापारिक प्रयोजनों के लिये करें, सैनिक प्रयोजन के लिये नहीं। (५) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में जापान को जो विशेषाधिकार अब दिये गये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और मञ्चूरियन रेलवे पर रूस और जापान के जो विशेषाधिकार हैं, उनके अतिरिक्त अन्य सब विषयों में मञ्चूरिया पर चीन का प्रभुत्व कायम रहे। (६) कोरिया में जापान के राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक हितों एवं विशेषाधिकारों को स्वीकृत किया जाय। (७) सखालिन द्वीप का दक्षिणी आधा भाग जापान को प्राप्त हो। (८) साइबीरिया के समुद्रतट पर मछली पकड़ने के व्यवसाय को विकसित करने का जापान को अधिकार हो।

जापान सम्पूर्ण सखालिन द्वीप को अधिगत करना चाहता था, पर पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा उसे केवल आधा सखालिन ही प्राप्त हुआ। युद्ध के लिए हरजाने की भी कोई रकम उसे नहीं दी गई। मञ्चूरिया में भी जितने विशेषाधिकार वह प्राप्त करना चाहता था, वे उसे नहीं मिल सके। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस सन्धि द्वारा वह सम्पूर्ण कोरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ, और पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लेने के कारण मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व को विस्तृत कर सकने का द्वार भी उसके लिये खुल गया।

रूस-जापान युद्ध के परिणाम—(१) पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। कोरिया पर उसके राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक विशेषाधिकारों के स्वीकृत हो जाने के कारण यह देश पूर्णतया जापान का वशवर्ती हो गया। चीनी साम्राज्य के अन्यतम प्रदेश मञ्चूरिया में भी उसने अनेक विशेषाधिकार प्राप्त किये। जापान की सबसे बड़ी महत्त्वाकांक्षा यही थी, कि वह चीन की निर्बलता से लाभ उठाकर अपने साम्राज्य का विस्तार करे। अब कोरिया चीन की अधीनता से मुक्त होकर जापान के प्रभुत्त्व में आ गया था, और मञ्चूरिया में भी जापान के साम्राज्यवाद के प्रसार के लिये मार्ग साफ हो गया था। पूर्वी एशिया में जापान का सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वी रूस था। उसके परास्त हो जाने के कारण अब जापान के प्रभाव व शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हो गई थी। (२) रूस की पराजय और जापान की विजय के कारण एशिया के लोगों में अनुपम उत्साह का संचार हुआ। उन्नीसवीं सदी में एशिया के प्रायः सभी देशों को पाश्चात्य राज्यों के साम्राज्यवाद का शिकार होना पड़ा था। यूरोप और अमेरिका के गौरांग लोग ऐसा मानने लगे थे, कि नसल की दृष्टि से वे सर्वोत्कृष्ट हैं, और एशिया के लोग उनकी अपेक्षा हीन हैं। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव में आकर एशिया के भी बहुत-से लोग अपने को पाश्चात्य लोगों की तुलना में हीन समझने लगे थे। जापान की विजय ने इस भावना को जड़ से हिला दिया। एशिया के निवासियों ने अनुभव किया, कि उन्नति की दौड़ में पाश्चात्य लोग जो उनकी अपेक्षा आगे निकल गये हैं, उसका एकमात्र कारण यह है, कि ज्ञान-विज्ञान की आधुनिक उन्नति यूरोप में कुछ समय पहले हुई। यदि जापान यूरोप के ज्ञान-विज्ञान को अपनाकर रूस जैसे शक्तिशाली व विशाल देश को परास्त कर सकता है, तो एशिया के अन्य देशों के लिए भी यह सम्भव है, कि वे पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्रता को प्राप्त कर सकें। भारत आदि सभी एशियन देशों पर जापान की इस विजय का असर हुआ, और सर्वत्र जनता में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये आन्दोलन को बल मिला। (३) रूस का शासन कितना निर्बल और विकृत है, यह बात इस युद्ध में परास्त हो जाने के कारण रूसी लोगों के सम्मुख सर्वथा प्रत्यक्ष हो गई। इससे रूस के क्रान्तिकारियों को बहुत बल मिला। अनेक स्थानों पर जनता ने विद्रोह किये। २२ जनवरी, १९०५ को सेण्ट पीटर्सबुर्ग के मजदूरों ने एक विशाल जुलूस निकाला। उस पर गोली चलाई गई। सैंकड़ों मजदूर रूसी पुलिस की गोलियों के शिकार हुए। २२ जनवरी का यह हत्याकाण्ड रूस के क्रान्तिकारियों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। सर्वत्र क्रान्ति प्रारम्भ हो गई। वारसा में पोल लोगों ने विद्रोह किया। फिनलैण्ड ने अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। बाल्टिक सागर के तट पर विद्यमान लिथुएनिया, लेटविया आदि देशों ने भी विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। आर्मीनियन और ज्योर्जियन लोग भी विद्रोह के लिये तैयार हो गये। मजदूर लोगों ने सर्वत्र हड़ताल की तैयारी शुरू कर दी। इस दशा में जार निकोलस द्वितीय शासन सुधार के लिये विवश हुआ, और रूस में पहली बार वैध राजसत्ता की स्थापना का उद्योग हुआ। (४) मञ्चूरिया पर पोर्टसमाउथ की सन्धि द्वारा तीन राज्यों का स्वत्त्व हो गया था। चीनी सम्राट् का वहाँ शासन था, और रूस तथा जापान ने वहाँ अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे। एक म्यान में तीन तलवारों का रह सकना असम्भव था। यही कारण है, कि पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा स्थापित की गई व्यवस्था देर तक मञ्चूरिया में कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही, वहाँ नये युद्धों का सूत्रपात हुआ और पोर्ट आर्थर पर कब्जा कर लेने के कारण जापान ने मञ्चूरिया में जो अपना पैर जमा लिया था, उसका उपयोग कर उसने न केवल मञ्चूरिया अपितु सम्पूर्ण उत्तरी चीन पर अपने प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग प्रारम्भ कर दिया।

(८) चीन में विदेशी राज्यों का आर्थिक साम्राज्यवाद

चीन को विजय करने का नया ढंग—इतिहास में अनेक बार पहले भी चीन पर विदेशी आक्रान्ताओं ने आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया था। पर ये सब विजेता चीन में आकर चीनी सभ्यता, संस्कृति और धर्म को अपना लेने के कारण चीनी जनता के ही अंग बन गये थे। जिस प्रकार जो भी यवन, शक, हूण आदि आक्रान्ता भारत पर आक्रमण कर यहाँ अपने विविध राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए, वे कुछ ही समय में पूर्णतया भारतीय बन गये, वैसे ही चीन के विदेशी आक्रान्ता चीन में आकर उसी की सभ्यता के रंग में रंग गये थे। इसका कारण यह था, कि चीन की सभ्यता अधिक उत्कृष्ट थी, और उसके लिये इन विदेशियों को अपने में मिला लेना तथा सभ्यता के क्षेत्र में उन्हें परास्त कर देना बहुत सुगम था। पर उन्नीसवीं सदी में जो विदेशी राज्य चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे, वे सभ्यता, ज्ञान, राजनीतिक संगठन, व्यावसायिक उन्नति आदि की दृष्टि से चीनी लोगों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। इसीलिये चीनी लोग सभ्यता के क्षेत्र में इन्हें परास्त कर सकने में असमर्थ रहे। साथ ही, चीन की विजय का इनका एक नया ढंग भी था। इन्होंने इस बात की आवश्यकता नहीं समझी, कि सिकन्दर, चंगेज खाँ या समुद्रगुप्त की पद्धति का अनुसरण कर एक विशाल सेना के साथ चीन पर आक्रमण करें और उसको विजय कर लें, और न ही इन्होंने चीन की सरकार को हटाकर उसके स्थान पर अपनी सरकारों की स्थापना का उद्योग किया। मञ्चू वंश के सम्राट् चीन के राजसिंहासन पर पहले के समान विद्यमान रहे और शासन का कार्य चीनी कर्मचारियों के ही हाथों में रहा, पर इन विदेशी राज्यों का चीन पर शिकंजा उतना ही मजबूत था, जितना कि राजनीतिक दृष्टि से अधीन भारत, बरमा आदि देशों पर था। चीन में विदेशियों के इस साम्राज्यवाद का स्वरूप आर्थिक था। चीन को अपनी अधीनता में रखने के लिये विदेशी सेना को वहाँ स्थापित करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। चीन की निर्बल सरकार आर्थिक दृष्टि से विविध विदेशी राज्यों की इतनी अधिक वशवर्ती हो गई थी, कि वह भारत या बरमा आदि के मुकाबिले में किसी भी प्रकार अधिक स्वतन्त्र नहीं रह गई थी।

आर्थिक साम्राज्यवाद का स्वरूप—विदेशी राज्यों का यह आर्थिक साम्राज्यवाद निम्नलिखित रूपों में चीन को अपने वश में रखे हुए था—(१) बोक्सर विद्रोह के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद चीन ने जो भारी हरजाना विदेशी राज्यों को देना स्वीकार किया था, उसको वसूल करने के लिये चीन के आयात और निर्यात माल पर वसूल किया जाने वाला तट-कर जमानत के रूप में रख लिया गया था। विदेशी लोग इस कर को स्वयं वसूल करते थे, और इसे हरजाने की रकम में मुजरा कर देते थे। चीन की सरकार को इसकी एक पाई भी प्राप्त नहीं हो पाती थी। (२) चीन की सरकार ने विविध प्रयोजनों के लिये विदेशी राज्यों से भारी रकमें कर्ज ली थीं। इनको अदा करने के लिये चीन के अन्य भी अनेक टैक्स जमानत के रूप में रख लिये गये थे। चीनी सरकार अपने देश में स्वयं इन करों को वसूल नहीं कर पाती थी। (३) चीन में रेलवे लाइनों का निर्माण-कार्य प्रायः ऐसी कम्पनियों के सुपुर्द किया गया था, जिनमें विदेशी पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में लगी हुई थी। ये रेलवे लाइनें विदेशियों के कब्जे में थीं, और इनके समीपवर्ती प्रदेशों पर भी विदेशियों का प्रभुत्त्व था। (४) चीन के अनेक प्रदेशों में खानों को खोदने व अन्य प्रकार से आर्थिक विकास करने का कार्य भी विदेशी राज्यों के सुपुर्द था। इस आर्थिक विशेषाधिकार के नाम पर इन विदेशी राज्यों को चीन में मनमानी करने की छुट्टी मिली हुई थी। (५) चीन के बहुत-से बन्दरगाहों में विदेशी राज्यों को व्यापार आदि की विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। इनमें जो विदेशी लोग बसते थे, वे चीन के कानूनों और अदालतों के अधीन नहीं थे। चीनी सरकार को यह भी अधिकार नहीं था, कि वह तटकर की मात्रा तथा दर का स्वयं निर्धारण कर सके। (६) चीन के अनेक प्रदेश, विशेषतया समुद्रतट के प्रदेश विदेशी राज्यों ने पट्टे पर लिये हुए थे, और इन पर इन विदेशी राज्यों का पूर्ण रूप से आधिपत्य विद्यमान था।

इन सब बातों का परिणाम यह था, कि यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से चीन एक स्वतन्त्र देश था, पर वस्तुतः वह विदेशी राज्यों के साम्राज्यवाद का शिकार हो गया था। मञ्चू सरकार में यह शक्ति नहीं थी, कि विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्त्व से अपने देश की रक्षा कर सके।

आर्थिक साम्राज्यवाद के कारण — विदेशी राज्यों के लिए चीन में इस प्रकार अपना आर्थिक प्रभुत्त्व स्थापित कर सकना क्यों कर सम्भव हुआ, इस बात पर भी विचार करने की आवश्यकता है—(१) चीन के पास रुपये की कमी नहीं थी। वहाँ अनेक ऐसे परिवार विद्यमान थे, जो अत्यन्त सम्पन्न व धनी थे। पर चीन में बैंक आदि ऐसी संस्थाओं का विकास नहीं हो पाया था, जिनमें लोग अपने रुपये को निश्चिन्तता और विश्वास के साथ जमा कर सकें और यह रुपया चीन के व्यावसायिक विकास, रेलवे निर्माण व इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिये प्रयुक्त हो सके। जायन्ट स्टाक कम्पनी की पद्धति से भी अभी चीनी लोग अपरिचित थे। इसलिये चीनी लोगों के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वे रेलवे निर्माण और खानों की खुदाई आदि के कार्यों में अपनी पूंजी का विनियोग कर सकें। यह सब कार्य विदेशियों ने अपने हाथों में ले लिया। (२)चीन-जापान युद्ध (१८९४-९५) और बोक्सर विद्रोह के बाद चीन ने विदेशी राज्यों को जो भारी रकम अदा करनी थी, उसकी व्यवस्था करने का यही उपाय था, कि या तो चीनी सरकार जनता से कर्ज ले सके, या टैक्सों में वृद्धि करके अपनी आमदनी बढ़ा सके। बैंकों के अभाव में राष्ट्रीय ऋण प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था, और टैक्सों में वृद्धि करने से जनता में घोर असन्तोष उत्पन्न हो जाने का भय था। चीन में सरकारी टैक्सों की दर परम्परागत रिवाज पर आश्रित थी। वहां किसी पार्लियामेंट की सत्ता नहीं थी, जो राष्ट्र की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर टैक्सों की दर में परिवर्तन करती रहे या नये टैक्सों को लगाने की व्यवस्था करे। आधुनिक युग में तटकर राजकीय आमदनी का महत्त्वपूर्ण साधन होता है। पर चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में तटकर की दर विदेशियों के साथ की गई सन्धियों द्वारा निर्धारित थी, और उनकी सहमति के बिना इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन कर सकना सम्भव नहीं था। (३) चीन की नौकरशाही अत्यन्त विकृत थी। जो कर वसूल होते थे, वे सब भी सरकारी खजाने में नहीं पहुंच पाते थे। इस कारण चीनी सरकार को रुपये की सदा कमी रहती थी, और इसका यही परिणाम हो सकता था कि वह निरन्तर विदेशी राज्यों के आर्थिक शिकंजे में जकड़ती जाए।

आर्थिक प्रभुत्व का विकास—विदेशी राज्य चीन में अपने आर्थिक प्रभुत्व को स्थापित करने में किस प्रकार सफल हुए, इस विषय में भी कुछ घटनाओं का उल्लेख करना उपयोगी है। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध से पूर्व तक चीन पर कर्ज का बोझ अधिक नहीं था। इस युद्ध की समाप्ति पर चीनी सरकार इस बात के लिये विवश हुई, कि २३,००,००,००० ताअल (एक ताअल=२॥ तोला) चाँदी हरजाने के रूप में जापान को प्रदान करे। चीन को इस भारी रकम को तीन किस्तों में अदा करना था। पहली किस्त रूसी सरकार ने उसे कर्ज के रूप में प्रदान कर दी, और उसे वसूल करने के लिए चीन के तट-कर को जमानत के रूप में प्राप्त कर लिया। हरजाने की रकम की अगली दो किस्तें ब्रिटेन और जर्मनी ने कर्ज के रूप में चीन को प्रदान कीं। इस कर्ज के बदले में उन्होंने किसी टैक्स को जमानत के रूप में नहीं रखवाया, क्योंकि टैक्स को जमानत के तौर पर रखकर तो रूस भी चीन को यह रकम देने को तैयार था। रूस के मुकाबले में ब्रिटेन और जर्मनी इसीलिये यह कर्ज देने में सफल हुए, क्योंकि उन्होंने जमानत रखने पर जोर नहीं दिया था। पर चीनी सरकार को अपना कर्जदार बनाकर १८९८ में ब्रिटेन और जर्मनी उससे अनेक नई आर्थिक सुविधाओं को प्राप्त करने में समर्थ हुए। इन आर्थिक विशेषाधिकारों का उल्लेख इसी अध्याय में पहले किया जा चुका है।

बोक्सर विद्रोह के बाद चीनी सरकार को १,५०,००,००,००० रुपया विदेशी राज्यों को हरजाने के रूप में देना था। इस रकम को भी कर्ज लेकर ही प्राप्त किया जा सकता था। इन नये कर्ज के लिये चीनी सरकार ने निम्नलिखित टैक्सों को जमानत के तौर पर विदेशी राज्यों को प्रदान कर दिया—(१) जो चीनी बन्दरगाह विदेशियों के व्यापार के लिये नहीं खुले थे, उनसे प्राप्त होने वाला तट-कर और (२) नमक से वसूल होने वाली आमदनी। नमक के व्यवसाय पर चीनी सरकार का एकाधिपत्य था, और वह राजकीय आमदनी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन था। अब विवश होकर चीनी सरकार ने इस आमदनी को भी अपने उत्तमर्णों के पास जमानत के रूप में रख दिया। बीसवीं सदी में आगे चलकर भी चीन विदेशों से कर्ज लेने के लिये विवश हुआ। इन कर्जों का हम यथास्थान उल्लेख करेंगे। यहाँ इतना लिख देना पर्याप्त है, कि ज्यों-ज्यों चीनी सरकार विदेशों से ऋण लेती जाती थी, वह उनके आर्थिक शिकंजे में जकड़ती जाती थी। अपने कर्ज को वसूल करने के नाम पर ये विदेशी राज्य चीन की राजनीतिक स्वतन्त्रता में भी हस्तक्षेप करते थे, और इन विदेशी शक्तियों के सम्मुख चीनी सरकार अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी।

रेलवे लाइनों के निर्माण, खानों की खुदाई और अन्य प्रकार से आर्थिक विकास के जो विशेषाधिकार विदेशी राज्यों ने चीन में प्राप्त कर लिये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इन सबने चीन में विदेशी प्रभुत्व के स्थापित होने में बहुत अधिक सहायता दी। इनके कारण चीन का आर्थिक जीवन विदेशी राज्यों के हाथों में आ गया था, और चीनी लोगों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे स्वतन्त्रता के साथ अपने देश का विकास कर सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सातवां अध्याय

चीन की राज्यक्रान्ति

(१) राजसत्ता में सुधार का प्रयत्न

शासन की विकृत दशा—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन के मञ्चू शासन की क्या दशा थी, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पेकिंग की केन्द्रीय सरकार बहुत निर्बल थी, और आवागमन के साधनों की उन्नति के अभाव में उसके लिये यह सुगम नहीं था, कि वह विशाल चीनी साम्राज्य के विविध प्रान्तों व अधीनस्थ राज्यों पर अपने नियन्त्रण को भली-भांति कायम रख सके। प्रान्तों के सूबेदार इस अवस्था से लाभ उठाकर सम्राट् की सरकार के आदेशों की उपेक्षा करने में संकोच नहीं करते थे। चीनी सरकार के पास आमदनी की भी सदा कमी रहती थी। राजकीय करों की दर में वृद्धि कर सकना सुगम नहीं था और तट-कर की दरों में परिवर्तन तो तभी सम्भव था, जब विदेशी राज्य उससे सहमत हों। धन की कमी के कारण चीन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह अपना आर्थिक विकास करने के लिए नये यन्त्रों व रेलवे आदि को प्राप्त कर सके और अपनी सेना को नये ढंग के अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित कर सके। यही कारण है, कि विदेशी राज्यों का मुकाबिला कर सकना चीनी सरकार के लिए सम्भव नहीं था, और चीन-जापान युद्ध तथा बोक्सर विद्रोह के अवसरों पर उसे विदेशी राज्यों के सम्मुख नीचा देखना पड़ा था। मञ्चू सम्राट् इतने निर्बल थे, कि उनके लिए इन समय चीन को सम्भाल सकना सुगम नहीं रहा था।

सुधार के लिये आन्दोलन—पर चीन में ऐसे विचारशील लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश की इस दुर्दशा को अनुभव करते थे। किस प्रकार क्रान्तिकारी आन्दोलन चीन में शुरू हुए और किस प्रकार अनेक लोगों ने मञ्चू सरकार में सुधार का प्रयत्न किया, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। सुधारवादी लोगों के प्रभाव में आकर सम्राट् कुआंग-ह्सू ने १८९८ में अनेक ऐसी आज्ञाएं प्रकाशित की थीं, जिनका उद्देश्य चीन के शासन में सुधार करना था। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। साम्राज्ञी (राजमाता) त्सू ह्सी का आश्रय पाकर सुधार-विरोधी लोग प्रबल हो गये, और सम्राट् कुआंग-ह्सू को कैद कर त्सू ह्सी ने शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया। सुधार का आन्दोलन समाप्त हो गया, और त्सू ह्सी के नेतृत्व में चीन का पुराने ढंग का एकतन्त्र व विकृत शासन यथापूर्व जारी रहा।

बोक्सर विद्रोह के बाद चीन को विदेशी राज्यों के सम्मुख जिस प्रकार नीचा देखना पड़ा था, उसके कारण साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने भी यह अनुभव किया, कि शासन-सुधार किये बिना चीन की उन्नति सम्भव नहीं है। साम्राज्ञी त्सू ह्सी यह मानने को तैयार नहीं थी, कि १८९८ के सुधारों का विरोध कर उसने कोई गलती की थी। उसका कहना था, कि १८९८ में सुधारवादियों का प्रयत्न यह था, कि मञ्चू शासन का सर्वथा अन्त कर एक नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की जाय। पर वह यह स्वीकार करती थी, कि समय की गति को ध्यान में रखते हुए अब यह आवश्यक हो गया है, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मञ्चू राजवंश की सत्ता और चीन की प्राचीन मर्यादा को कायम रखते हुए शासन में ऐसे परिवर्तन होने चाहियें, जो चीन को उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ाने में समर्थ हों। त्सू ह्सी की इस नीति में उसका प्रधान सहायक युआन शी काई था, जो १८९८ के बाद निरन्तर उसका साथ दे रहा था।

सुधारों का सूत्रपात—युआन शी काई की सहायता से सम्राज्ञी त्सू ह्सी ने शासन-सुधार के कार्य को प्रारम्भ किया। सबसे पूर्व सेना के पुनःसंगठन पर ध्यान दिया गया। १९०१ में एक राजाज्ञा प्रकाशित की गई, जिसके अनुसार सेना का नये ढंग से संगठन करने की व्यवस्था की गई। प्रान्तों के विविध सूबेदार जो अपनी पृथक् सेनाएं रखते थे, उनके स्थान पर अब चीन की एक राष्ट्रीय सेना का निर्माण किया गया और यह निश्चय किया गया, कि चीन की राष्ट्रीय सेना में १९१२ तक छतीस डिवीजनों का संगठन कर लिया जाय। रूस और जापान के युद्ध के समय इस प्रकार की सुसंगठित सेना की आवश्यकता को अत्यन्त उग्र रूप से अनुभव किया गया था।

१९०५ में चीन की पुरानी परीक्षा पद्धति का अन्त कर देने के लिये आज्ञा जारी की गई। इस परीक्षा पद्धति के स्वरूप को हम पहले स्पष्ट कर चुके हैं। चीन में विविध राजकीय पदों पर जिन व्यक्तियों को नियत किया जाता था, उनके लिए इन परीक्षाओं को उत्तीर्ण करना आवश्यक होता था। इन परीक्षाओं के पाठ्य-विषय में आधुनिक युग के ज्ञान-विज्ञान को कोई स्थान नहीं था। प्राचीन ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों में प्रवीण होना ही इन परीक्षाओं के लिए आवश्यक होता था। इसी कारण चीन के सरकारी कर्मचारी नये ज्ञान-विज्ञान से सर्वथा अपरिचित होते थे, और उनके लिए समय के अनुसार अपने को परिवर्तित कर सकना सम्भव नहीं होता था। विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके जो लोग इस समय चीन वापस आ रहे थे, वे सरकारी कर्मचारियों की संकीर्ण मनोवृत्ति को अनुभव करते थे, और इसी कारण १९०५ में सदियों पुरानी परीक्षा पद्धति का अन्त किया गया और अब उन लोगों के लिए भी चीन में सरकारी पद प्राप्त करना सम्भव हो गया, जो प्राचीन ग्रन्थों से अपरिचित होते हुए भी नये ज्ञान-विज्ञान से भली-भांति परिचित थे। बीसवीं सदी के शुरू में चीन के नवयुवकों में यह प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो गई, कि वे अमेरिका आदि विदेशों में जाकर शिक्षा प्राप्त करें।

रूस-जापान के युद्ध में जापान के विजयी होने पर चीन में सुधारवादी आन्दोलन को बहुत बल मिला। यदि जापान नये ज्ञान-विज्ञान को अपनाकर और अपने देश के शासन को आधुनिक ढंग से संगठित करके इतना शक्तिशाली हो सकता है, कि रूस जैसे विशाल यूरोपियन देश को परास्त कर सके, तो क्या कारण है कि चीन भी उसी के मार्ग का अनुसरण कर अपने को विदेशी प्रभुत्व से मुक्त नहीं कर सकता—यह विचार चीन के लोगों में बहुत प्रबल हो गया। साम्राज्ञी त्सू ह्सी और उसके पार्श्वचर भी इस विचार से प्रभावित हुए, और इसी कारण उन्होंने शासन की पद्धति में सुधारों का प्रारम्भ किया। १९०५ में एक मिशन इस उद्देश्य से पाश्चात्य देशों में भेजा गया, ताकि वह वहाँ के विविध देशों की शासन-पद्धतियों का अनुशीलन कर यह प्रस्तावित करे, कि चीन की दशा और परिस्थितियों के अनुसार कौन-से सुधार उसके लिए उपयोगी हैं।

शासन-सम्बन्धी सुधार—१९०८ में पेकिंग की मञ्चू सरकार ने एक घोषणा द्वारा उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनके अनुसार वह चीन के शासन में सुधार करने के लिये तैयार है। ये सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) मञ्चू राजवंश की सत्ता और शक्ति को अक्षुण्ण रखा जाए। शासन में जो सुधार किये जाएँ, वे सम्राट् की इच्छा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुसार और उसी की आज्ञा से हों। मञ्चू राजवंश का शासन चीन में सदा स्थिर रहेगा, और उसके आधिपत्य एवं अधिकारों में किसी भी प्रकार से कमी नहीं आने पाएगी। (२) सुधार धीरे-धीरे किये जायें। पहले प्रान्तों में स्थानीय स्वशासन की स्थापना हो, पुलिस का पुनःसंगठन किया जाय, देश के कानूनों को व्यवस्थित किया जाय, बाकायदा जनगणना की पद्धति जारी की जाय, और शिक्षा के प्रसार का प्रयत्न हो। चीनी सरकार के लिये बाकायदा बजट तैयार करने की व्यवस्था हो, और सरकारी आय-व्यय को नियमित रूप से आडिट किया जाया करे। (३) जब इन सुधारों द्वारा चीन की सरकार का संगठन सुव्यवस्थित हो जाय, तो बाद में एक पार्लियामेन्ट की भी स्थापना की जाय। साथ ही, चीन में एक मन्त्रिपरिषद् बनायी जाय, जिसके हाथों में देश के कानूनों को क्रिया में परिणत करने का कार्य हो। (४) प्रत्येक प्रान्त में विधान-सभाएं स्थापित की जाएँ, जिनके सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित हुआ करें। पार्लियामेन्ट की स्थापना से पूर्व प्रान्तों में विधान-सभाओं का संगठन कर लिया जाए, और अन्य सब शासन-सुधार भी इस बीच में पूर्ण कर लिये जाएं, ताकि नौ साल (१९१७) बीतने तक पेकिंग में पार्लियामेन्ट की स्थापना सम्भव हो सके।

साम्राज्ञी त्सू ह्सी द्वारा शासन-सुधार की जिस नीति का प्रतिपादन किया गया था, उसके अनुसार कार्य भी प्रारम्भ कर दिया गया। सन् १९०९ में चीन में पहली बार प्रान्तों की विधानसभाओं की रचना की गई। इन सभाओं के सदस्यों को चुनने के लिये वोट का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था। विधान सभाओं की शक्ति को भी बहुत मर्यादित रखा गया था। उन्हें यह अधिकार नहीं था, कि सरकार के कार्यों पर किसी भी प्रकार का नियन्त्रण रख सकें। उनका कार्य केवल यह था, कि प्रान्त के सूबेदार की ओर से जो विषय विचार के लिये पेश किये जाएं, उन पर बहस करें और अपने विचारों से सूचित करें। मञ्चू सरकार की दृष्टि में इन विधान सभाओं का प्रयोजन केवल यह था, कि इनके द्वारा जनता की सम्मति और विचारों का शासकवर्ग को परिचय मिलता रहे। पर चीन की जनता में इस समय इतनी अधिक जागृति हो चुकी थी, और लोकतन्त्र की भावना उनमें इतनी प्रबल हो गई थी, कि प्रान्तों की विधानसभाओं के सदस्यों ने सरकार की आलोचना प्रारम्भ कर दी और इस बात का प्रयत्न किया, कि पाश्चात्य देशों की विधानसभाओं के समान चीन की ये विधानसभाएं भी सरकार की शासननीति और कार्यों पर नियन्त्रण रखें। यही कारण है, कि जब तीन साल बाद चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो प्रान्तीय विधानसभाओं के बहुसंख्यक सदस्यों ने उसका स्वागत किया।

सम्राज्ञी त्सू ह्सी की मृत्यु—प्रान्तों में विधानसभाओं की स्थापना से पूर्व ही सम्राट् कुआंग ह्सू की मृत्यु हो गई थी। हम पहले लिख चुके हैं, कि यह सम्राट् साम्राज्ञी (राजमाता) त्सू ह्सी द्वारा कैद में डाल दिया गया था, और राज-प्रासाद में ही एक कैदी के समान जीवन व्यतीत कर रहा था। असली शासनशक्ति त्सू ह्सी के हाथों में थी। कुआंग ह्सू की मृत्यु के कुछ देर बाद ही त्सू ह्सी की भी मृत्यु हो गई। मरने से पूर्व साम्राज्ञी ने इस बात की व्यवस्था कर दी थी, कि मञ्चू राजसिंहासन पर अब कौन व्यक्ति आरूढ़ हो। नया सम्राट् ह्सूआन तुंग अभी बालक ही था, अतः शासन का कार्य व संचालन प्रिंस चुन के हाथों में आया, जो कि प्रतिभू (रीजेन्ट) के तौर पर चीन का शासन करने के लिए प्रवृत्त हुआ। मृत्यु से पूर्व सम्राट् कुआंग ह्सू ने यह इच्छा प्रकट की थी, कि युआन शी काई को प्राणदण्ड दिया जाय। १८९८ में युआन शी काई ने साम्राज्ञी त्सू ह्सी का पक्ष लेकर कुआंग ह्सू के साथ जो विश्वासघात किया था, उसके कारण उसके हृदय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में इस राजनीतिज्ञ के प्रति उग्र विद्वेष की भावना विद्यमान थी। प्रिंस चुन ने दिवंगत सम्राट् की इच्छा को पूर्ण करने के लिए युआन शी काई को प्राणदण्ड तो नहीं दिया, पर उसे पदच्युत अवश्य कर दिया।

राष्ट्रीय महासभा—साम्राज्ञी त्सू ह्सी ने जिन शासन-सुधारों का सूत्रपात किया था, प्रिंस चुन ने उनको जारी रखा। १९०९ में उसी के आदेश के अनुसार प्रान्तों में विधानसभाओं की स्थापना हुई थी। अक्टूबर, १९१० में सम्पूर्ण चीन के लिए प्रथम बार राष्ट्रीय महासभा की स्थापना की गई। इसके आधे सदस्य केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत किए गए थे, और शेष आधे सदस्य प्रान्तीय विधानसभाओं द्वारा निर्वाचित हुए थे। सरकार को आशा थी, कि महासभा के सदस्य उग्र विचारों के न होकर मञ्चू राजसत्ता के समर्थक होंगे। पर नये विचार चीन में इतने अधिक प्रबल हो चुके थे, कि राष्ट्रीय महासभा ने शासन-सुधारों के लिए बड़ी प्रबलता के साथ मांग शुरू कर दी। उसने मांग की, कि चीन में जल्दी-से-जल्दी नए शासन-विधान का निर्माण किया जाना चाहिए, और वहाँ ऐसी पार्लियामेन्ट की स्थापना होनी चाहिए, जो सरकार पर अपना नियन्त्रण रख सके। मन्त्रि-मण्डल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हो, और वह तभी तक अपने पद पर रह सके, जब तक कि पार्लियामेन्ट के बहुसंख्यक सदस्यों का विश्वास उसे प्राप्त रहे। राष्ट्रीय महासभा ने सरकार के कार्यों और नीति की आलोचना करने में भी संकोच नहीं किया।

यदि इस समय चीन की मंचू सरकार बुद्धिमता से कार्य करती, तो वहां राज्य-क्रान्ति की आवश्यकता न होती। यूरोप के विविध राज्यों और जापान के समान वहां भी वैध राजसत्ता का विकास हो जाता, और मंचू राजवंश देर तक चीन के राजसिंहासन पर आरूढ़ रह सकता। पर पेकिंग की सरकार को राष्ट्रीय महासभा का रुख जरा भी पसन्द नहीं था। उसने जनता की भावनाओं की उपेक्षा की। इसी का यह परिणाम हुआ, कि चीन में वैध राजसत्ता का विकास न होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई।

(२) चीन की राज्यक्रान्ति

राज्यक्रान्ति के कारण—१९११ में चीन में राज्यक्रान्ति हो गई। मंचू राजवंश का अन्त हुआ, और रिपब्लिक की स्थापना की गई। इस राज्यक्रान्ति के क्या कारण थे, इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है।

(१) आर्थिक दृष्टि से चीन की जनता में घोर अशान्ति थी। वहाँ की आबादी बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। देश में जो खाद्य सामग्री उत्पन्न होती थी, वह जनता के लिए पर्याप्त नहीं थी। १८८५ में चीन की कुल आबादी ३७,७०,००,००० थी। १९११ में वह बढ़कर ४३,००,००,००० हो गई थी। पचीस साल के समय में चीन में छः करोड़ मनुष्यों की वृद्धि हो गई थी। इतने मनुष्यों के लिए खाद्य सामग्री को जुटा सकना तभी सम्भव था, जबकि पैदावार में भी इसी अनुपात से वृद्धि हो। पर चीन में पहले की अपेक्षा अधिक अनाज उत्पन्न करने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया था। बढ़ती हुई आबादी को अपना निर्वाह कर सकना कठिन प्रतीत होता था। साथ ही वर्षा और बाढ़ों की प्रचुरता के कारण चीन में खेती को नुकसान भी पहुंचा करता था। १९१०-११ में चीन की अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ें आईं। इनसे न केवल खेती ही नष्ट हुई, अपितु हजारों गांव भी बह गए। लाखों नर-नारी बेघर हो गए, और उनकी आजीविका का कोई भी साधन नहीं रह गया। अनुमान किया गया है, कि १९१०-११ की बाढ़ों के कारण तीस लाख के लगभग मनुष्यों ने भूख के कारण तड़प तड़पकर जान दी थी। जब आर्थिक दृष्टि से जनता की इतनी दुर्दशा हो, तो यह स्वाभाविक है कि उसमें विद्रोह की प्रवृत्ति उत्पन्न होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगे। जनसंख्या की वृद्धि और सरकार की निर्बलता के कारण इस समय चीन में प्रायः हर साल ही दुर्भिक्ष पड़ते रहते थे, और बहुत-से लोगों को पर्याप्त अन्न न मिलने के कारण मृत्यु का शिकार बनना पड़ता था। इससे उनमें विद्रोह की प्रवृत्ति प्रबल होती जाती थी। १९१०-११ की बाढ़ों और दुर्भिक्ष ने इस प्रवृत्ति को और भी अधिक उग्र बना दिया था।

(२) अपने देश की आर्थिक दुर्दशा से परेशान होकर बहुत-से चीनी लोगों ने इस समय आजीविका की तलाश में विदेशों में जाकर बसना प्रारम्भ कर दिया था। शुरू में चीनी लोग संयुक्तराज्य अमेरिका में जाया करते थे। पर १८९० में वहाँ की सरकार ने चीनी लोगों के खिलाफ अनेक कानून स्वीकृत किए, और उनके लिए अमेरिका में जाकर बस सकने का मार्ग बन्द हो गया। पर फिर भी १९११ में संयुक्तराज्य अमेरिका में बसे हुए चीनी लोगों की संख्या तीन लाख के लगभग हो गई थी। अमेरिका में बस सकने का मार्ग जब चीनी लोगों के लिए बन्द हो गया, तो उन्होंने हवाई द्वीप, फिलीप्पीन, मलाया आदि में जाकर बसना शुरू किया। हवाई और फिलिप्पीन में भी उनके खिलाफ कानून स्वीकृत किए गए। मलाया में चीनी लोग इतनी अधिक संख्या में आजीविका की तलाश में गए, कि १९११ में वहां उनकी संख्या १३,०२,००० तक पहुंच गई। दक्षिणी अमेरिका के विविध देशों में भी चीनी लोग कुली का पेशा करने के लिए जाने लगे, और प्रतिज्ञाबद्ध कुली-प्रथा के अनुसार लाखों चीनियों को वहाँ कुली या गुलाम के रूप में कार्य करने के लिए ले जाया गया। इतनी बड़ी संख्या में चीनियों का विदेशों में जाना इस बात को भली भांति सूचित करता है, कि इस समय चीनी लोगों की आर्थिक दृष्टि से कितनी दुर्दशा थी। पर चीनियों के इस प्रकार विदेश जाने का एक परिणाम यह भी हुआ, कि विदेशों में निवास करने वाले चीनी लोगों को नए विचारों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला, और यह बात चीन में क्रान्ति की भावना को विकसित करने में बहुत सहायक हुई।

(३) क्रान्तिकारी दल चीन में पहले-से विद्यमान था। पाश्चात्य देशों से उच्च शिक्षा प्राप्त करके जो लोग अपने देश को वापस आ रहे थे, वे यूरोप के ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ वहां की क्रान्तिकारी भावनाओं को भी अपने साथ ला रहे थे। डॉ० सन यात सेन के नेतृत्व में जिस क्रान्तिकारी दल का संगठन चीन में हुआ था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १८९८ में इन क्रान्तिकारी लोगों को चीन छोड़कर बाहर भागना पड़ा, और डॉ० सन यात सेन ने जापान जाकर आश्रय लिया। तोकयो रहते हुए इस प्रसिद्ध क्रान्तिकारी नेता ने अपने दल का पुनःसंगठन किया, और तुंग मेंग हुई नाम से एक नए क्रान्तिकारी दल का निर्माण किया। इस दल के लोग मंचू राजवंश का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना के पक्षपाती थे। शुरू में इस दल में वे चीनी लोग सम्मिलित हुए, जो विदेशों में बसे हुए थे। धीरे-धीरे चीन में भी इसकी शाखाएं स्थापित हुई। सेना के सिपाहियों में भी यह दल अपना कार्य कर रहा था, और इसके प्रयत्नों से १९०६-१९०७ और १९१० में अनेक स्थानों पर विद्रोह भी हुए थे।

(४) १९०५ में चीन की प्राचीन परीक्षा पद्धति का अन्त कर दिया गया था। अब सरकारी पदों पर नियुक्ति करते हुए प्राचीन ग्रन्थों में निपुणता की अपेक्षा आधुनिक शिक्षा को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा था। चीन में अभी ऐसे उच्च शिक्षणालय पर्याप्त संख्या में स्थापित नहीं हुए थे, जिनमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की सुविधा हो। इसलिए १९०५ के बाद बहुत अधिक चीनी विद्यार्थियों ने यूरोप और अमेरिका जाना शुरू किया। जो लोग उच्च शिक्षा के लिए इतनी दूर जा सकने में असमर्थ थे, वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने पड़ोसी जापान के कालिजों में प्रविष्ट होने लगे। इस समय तक जापान उच्च शिक्षा के क्षेत्र में पाश्चात्य देशों का समकक्ष हो गया था। १९०५ के बाद इतने अधिक चीनी विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए जापान गए, कि वहां उनके लिए प्रवेश पा सकना कठिन हो गया। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से ऐसे प्राइवेट कालिज जापान में स्थापित हुए, जिनका उद्देश्य चीनी विद्यार्थियों को भरती कर रुपया कमाना था। यद्यपि इनमें अध्यापन का समुचित प्रबन्ध नहीं था, पर इनमें पढ़ने वाले चीनी विद्यार्थी जहां नये ज्ञान-विज्ञान से थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त कर लेते थे, वहां साथ ही उन्हें क्रान्तिकारी चीनी दल से सम्पर्क में आने का भी सुवर्णीय अवसर मिल जाता था। १८९८ में जो चीनी क्रान्तिकारी नेता जापान में आश्रय ग्रहण करने के लिए विवश हुए थे, वे चीनी विद्यार्थियों में बड़े उत्साह से अपने विचारों का प्रसार कर रहे थे।

(५) छापेखाने का आविष्कार सबसे पूर्व चीन में ही हुआ था। पर चीन के ये पुराने प्रेस पहले केवल प्राचीन पुस्तकों के मुद्रण का ही कार्य किया करते थे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में समाचार-पत्रों का प्रकाशन भी वहां शुरू हो गया था। ये समाचारपत्र जनता में नई भावनाओं को विकसित करने और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन करने में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे।

(६) १९११-१२ की राज्यक्रान्ति के प्रादुर्भाव में जहां ये सब आधारभूत कारण थे, वहां एक सामयिक समस्या ऐसी भी उत्पन्न हो गई थी, जिसने पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध प्रान्तीय शासकों में विरोध-भावना को विकसित कर दिया था। इस समय चीन में रेलवे लाइनों का बड़ी तेजी के साथ निर्माण हो रहा था। पेकिंग सरकार से अनुमति लेकर अनेक विदेशी राज्य चीन के विविध प्रदेशों में रेलवे का निर्माण करने में तत्पर थे। इस दशा में चीन के अनेक प्रान्तों के सूबेदारों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि क्यों न वे अपने प्रदेशों में स्वयं रेलवे का निर्माण करें और इसके लिए आवश्यक पूंजी अपने प्रान्त की राजकीय आमदनी द्वारा प्राप्त कर लें। पर इस सम्बन्ध में पेकिंग की केन्द्रीय सरकार की नीति यह थी, कि रेलवे लाइनों का निर्माण केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण में ही रहे। पेकिंग सरकार के पास पूंजी का अभाव था, पर वह विदेशी राज्यों से कर्ज लेकर उसे प्राप्त कर सकती थी। विदेशी लोग चीन में जिस प्रकार अपना आर्थिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उत्सुक थे, उसके कारण पेकिंग सरकार को पूंजी का प्रबन्ध करने में किसी विशेष कठिनाई का सामना करने की आवश्यकता नहीं थी। पर अनेक प्रान्तीय सूबेदार चीन में विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभुत्व को चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे, और वे इस बात पर जोर दे रहे थे, कि उनके अपने प्रदेशों में रेलवे-निर्माण का कार्य उन्हीं के सुपुर्द कर दिया जाय। इस विषय में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों में मतभेद बहुत बढ़ गया, और यही कारण है कि १९११ की राज्यक्रान्ति के समय अनेक प्रान्तों ने क्रान्तिकारियों का साथ दिया। १९११ में परिवहन के विभाग का प्रधान अधिकारी शेंग ह्सूअन-हुआई को नियत किया गया। यह रेलवे लाइनों को केन्द्रीय सरकार के प्रभुत्व में रखने का प्रबल पक्षपाती था, और इसने रेलवे-विस्तार के लिए पूंजी प्राप्त करने के निमित्त विदेशों से कर्ज लेने की योजना को क्रिया में परिणत किया। ब्रिटेन आदि विदेशी राज्यों से भारी रकम कर्ज ली गई। प्रान्तों में इससे बहुत अधिक असन्तोष हुआ, और अनेक स्थानों पर विद्रोह प्रारम्भ हो गए।

(७) जिस समय पेकिंग सरकार की नीति के विरुद्ध अनेक स्थानों पर विद्रोह शुरू हो रहे थे, १० अक्टूबर, १९११ को हैंको में एक बॉम्ब फूट गया। अनुसन्धान के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालूम हुआ, कि जिस मकान में बॉम्ब फूटा था, वहाँ चीन के क्रान्तिकारी दल का बड़ा अड्डा था, और वहां बॉम्ब आदि अस्त्र बड़ी मात्रा में तैयार किए जाते थे। पुलिस ने हैंको के क्रान्तिकारियों को बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया, और उनमें से बहुतों को प्राणदण्ड दिया। इस प्रदेश की सेना के भी अनेक अफसर और सैनिक क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होने के सन्देह में गिरफ्तार किए गए। इससे सेना में बहुत असन्तोष हुआ। अन्य सैनिकों को भी यह सन्देह हो गया, कि कहीं उन्हें भी क्रान्तिकारी दल से सहानुभूति रखने के कारण गिरफ्तार न कर लिया जाय। परिणाम यह हुआ, कि यांगत्से नदी के पार वूचांग प्रदेश की सेना ने विद्रोह कर दिया। अपने सेनानायक कर्नल ली युआन-हुंग को विद्रोही सैनिकों ने इस बात के लिए विवश किया, कि वह उनका नेतृत्व करे। आगे चलकर यह ली युआन-हुंग क्रान्तिकारी चीन का एक प्रधान नेता बन गया, और अन्त में चीनी रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर भी अधिष्ठित हुआ।

अब चीन में राज्यक्रान्ति का प्रारम्भ हो गया था।

राज्यक्रान्ति की प्रगति—वूचांग की सेना ने सन् १९११ के अन्तिम सप्ताहों में जो विद्रोह प्रारम्भ किया था, वह शीघ्र ही यांगत्से और उसके दक्षिणवर्ती प्रदेशों में फैल गया। शाँतुंग और चिहली के प्रान्तों की सेनाओं ने भी पेकिंग सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उत्तरी चीन की सेनाएँ मञ्चू सरकार के प्रति अनुरक्त रहीं, और विद्रोह में शामिल नहीं हुईं। इन सेनाओं का संगठन युआन शी काई द्वारा किया गया था, और ये आधुनिक ढंग से संगठित थीं। यांगत्से के दक्षिणी प्रदेश क्रान्तिकारियों के साथ थे, और उत्तरी चीन में मञ्चू शासन सुव्यवस्थित रूप से स्थापित था। विद्रोही प्रदेशों में एक सुसंगठित क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना का भी उद्योग किया गया। इस बीच में क्रान्ति की ज्वालाएं शंघाई तक पहुँच गई, और वहाँ एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन सरकार का संगठन किया गया। इस सरकार में विदेश मन्त्री का पद श्री वू तिंग फांग ने ग्रहण किया। ये पहले संयुक्तराज्य अमेरिका में चीनी राजदूत के पद पर रह चुके थे, और पाश्चात्य राज्यों की शासन पद्धति से भली-भाँति परिचित थे। इन्होंने एक उद्घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जिसमें क्रान्तिकारी सरकार के उद्देश्यों और कार्यक्रम का भलीभाँति निरूपण करके विदेशी राज्यों से यह अनुरोध किया गया कि वे पेकिंग सरकार की किसी भी प्रकार से सहायता न करें और चीन के इस अन्दरूनी प्रश्न पर सर्वथा उदासीन नीति का अनुसरण करें। इस उद्घोषणापत्र में यह बात भी स्पष्ट कर दी गई थी, कि यदि इस समय विदेशी राज्यों ने पेकिंग सरकार की आर्थिक सहायता करने के उद्देश्य से उसे कोई ऋण दिया, तो चीन की रिपब्लिकन सरकार उसे स्वीकार नहीं करेगी।

जब चीन के विविध प्रान्तों में विद्रोह की अग्नि भड़क रही थी, पेकिंग की राष्ट्रीय महासभा शासन में सुधार के लिये नई-नई मांगें पेश करने में तत्पर थी। २२ अक्तूबर, १९११ को राष्ट्रीय महासभा का नया अधिवेशन शुरू हुआ। इसने मांग की, कि शेंग ह् सुअन हुआई को अपने पद से बर्खास्त कर दिया जाय। परिवहन विभाग के प्रधान अधिकारी की स्थिति में इन सज्जन ने विदेशी पूंजी को प्राप्त कर केन्द्रीय सरकार की ओर से रेलवे विस्तार की जिस नीति का अनुसरण किया था, उससे चीन के विविध प्रान्तों में घोर असन्तोष विद्यमान था। शेंग ह् सुअन हुआई को अपने पद से पृथक् कर दिया गया। निःसन्देह, यह लोकमत की भारी विजय थी। अब राष्ट्रीय महासभा ने मांग की, कि चीन में मन्त्रिमण्डल का बाकायदा संगठन होना चाहिए, और मन्त्रिमण्डल के निर्माण का कार्य किसी ऐसे सुयोग्य नेता के सुपुर्द करना चाहिए, जिस पर जनता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्वास हो। राजपरिवार का कोई भी व्यक्ति मन्त्रिमण्डल में नहीं होना चाहिये, और शीघ्र ही चीन के लिए नये शासन विधान का निर्माण किया जाना चाहिए। राष्ट्रीय महासभा की एक मांग यह भी थी, कि जिन लोगों को किसी राजनीतिक अपराध के कारण गिरफ्तार किया गया है, व जिन्हें देश से बहिष्कृत किया गया है, उन सबको क्षमा प्रदान कर दी जाय। पेकिंग की मञ्चू सरकार राष्ट्रीय महासभा की इन सब मांगों को स्वीकृत करने के लिये विवश हुई। सेना में सर्वत्र जिस प्रकार विद्रोह हो रहे थे, उसकी उपेक्षा कर सकना अब सम्भव नहीं रह गया था। नवम्बर, १९११ क शुरू में मञ्चू सम्राट् की ओर से इन सब मांगों को स्वीकृत कर लिया गया।

पर चीन के विविध प्रान्तों में क्रान्तिकारी लोगों के जो विद्रोह गम्भीर रूप धारण कर रहे थे, उनको उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता था। इस समय चीन की सबसे बड़ी आवश्यकता यह थी, कि शासनसूत्र का संचालन किसी ऐसे सुयोग्य व शक्तिशाली व्यक्ति के हाथों में दे दिया जाय, जो अव्यवस्था और विद्रोह का दमन कर शान्ति स्थापित करने में समर्थ हो। अब यह कार्य युआन शी काई के सुपुर्द किया गया, और उससे यह प्रार्थना की गई, कि वह पेकिंग सरकार के संचालन का कार्य अपने हाथों में ले ले। ८ नवम्बर, १९११ को राष्ट्रीय महासभा ने युआन शी काई को प्रधान-मन्त्री निर्वाचित किया, और स्थल एवं जलसेना के प्रधान सेनापति का कार्य भी उसी के सुपुर्द कर दिया गया।

वैध राजसत्ता की स्थापना का उद्योग—युआन शी काई मञ्चू राजवंश की सत्ता का पक्षपाती था। समय की गति को देखकर उसने निश्चय किया, कि चीन में वैध राजसत्ता की स्थापना द्वारा ही मञ्चू राजवंश की सत्ता को कायम रखा जा सकता है। पर मञ्चू राजवंश को इस बात के लिये तैयार कर सकना सुगम नहीं था, कि वह अपनी शक्ति और अधिकारों का परित्याग कर उस स्थिति को स्वीकार कर ले, जो इङ्गलैंड के राजा की थी। अतः युआन शी काई ने अनुभव किया, कि विदोहियों को अपने प्रयत्न में सफल होने देना ही देश के लिए हितकर है। यदि क्रान्तिकारी लोग निरन्तर प्रबल होते जाएंगे, तभी मञ्चू राजवंश के लोग यह समझ सकेंगे, कि उन्हें भी समय के साथ-साथ बदलना चाहिये, और चीन में वैध राजसत्ता की स्थापना की जानी चाहिए। पर साथ ही, युआन शी काई यह भी अनुभव करता था, कि यदि क्रान्तिकारी लोग अधिक प्रबल हो जाएंगे, तो उनको मञ्चू राजवंश की सत्ता के स्वीकृत करने के लिए मनवा सकना असम्भव हो जायगा। इस प्रकार युआन शी काई एक कुशल राजनीतिज्ञ के रूप में इस बात का प्रयत्न कर रहा था, कि न क्रान्तिकारी लोग अधिक प्रबल होने पाएं, और न मञ्चू राजवंश ही यह अनुभव कर सके, कि उसकी शक्ति बहुत प्रबल है। उसकी सेनाओं ने अनेक स्थानों पर क्रान्तिकारी सेनाओं का डटकर मुकाबिला किया और क्रान्तिकारी नेताओं को इस बात के लिये विवश किया, कि वे उसके साथ समझौता करने का उद्योग करें।

(३) रिपब्लिक की स्थापना

सामयिक रिपब्लिकन सरकार की स्थापना—युआन शी काई की इसी नीति के कारण जहाँ पेकिंग की सरकार एक ओर क्रान्तिकारियों के विरुद्ध सैन्यशक्ति का प्रयोग कर रही थी, वहाँ साथ ही वह कर्नल ली युआन हुंग के साथ समझौते की बातचीत में भी तत्पर थी। ली युआन हुंग सन्धि की बातचीत के लिये तैयार था, पर शंघाई में स्थित क्रान्तिकारी सरकार ने इस बात पर जोर दिया, कि समझौते की बातचीत उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ की जाय। कर्नल ली युआन हुंग ने भी इस बात को स्वीकार किया, कि क्रान्तिकारी लोगों से सुलह करने के लिए शंघाई की सरकार से बातचीत करना ही अधिक उपयुक्त है। युआन शी काई ने अपनी ओर से तांग-शाओ-यी को समझौते की शर्तें तय करने के लिये नियत किया। शंघाई की सरकार की ओर से डॉ० वू तिंग फांग को अपना प्रतिनिधि बनाया गया। ये दोनों सज्जन कैन्टन के निवासी थे, और इन दोनों की उच्च शिक्षा अमेरिका में हुई थी। जिस समय पेकिंग की मञ्चू सरकार और शंघाई की क्रान्तिकारी सरकार में परस्पर समझौते की बातचीत जारी थी, विविध क्रान्तिकारी नेताओं ने यह निश्चय किया, कि वे परस्पर मिलकर रिपब्लिकन सरकार का बाकायदा संगठन कर लें। कर्नल ली युआन हुंग की प्रेरणा से विविध क्रान्तिकारी नेता नानकिंग में एकत्र हुए। इन नेताओं का चुनाव या तो क्रान्तिकारी सेनाओं द्वारा किया गया था, और या प्रान्तीय विधान-सभाओं द्वारा। चीन के जिन प्रान्तों ने पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके क्रान्तिकारियों का साथ दिया था, उनकी प्रान्तीय विधानसभाएं पूर्ण उत्साह से क्रान्तिकारी रिपब्लिकन सरकार की स्थापना में सहयोग दे रही थीं। नानकिंग में जिस सामयिक रिपब्लिकन सरकार का संगठन हुआ, उसमें राष्ट्रपति पद पर डॉ० सन यात सेन को निर्वाचित किया गया। १८९८ में डॉ० सन यात सेन चीन छोड़कर जापान चले जाने के लिये विवश हुए थे, और इस समय अमेरिका में निवास करते हुए वहाँ के प्रवासी चीनी लोगों में क्रान्ति की भावना को विकसित करने में तत्पर थे। १९११ की क्रान्ति को उन्होंने अपने स्वप्नों को चरितार्थ कर सकने का उपयुक्त अवसर समझा, और वे चीन वापस लौट आये। २९ दिसम्बर, १९११ के दिन जिन्हें सामयिक रूप से चीनी रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया, और १ जनवरी, १९१२ को उन्होंने अपने पद के कार्यभार को संभाल लिया। नानकिंग की इस सामयिक रिपब्लिकन सरकार के संगठित हो जाने के कारण क्रान्तिकारियों की शक्ति बहुत बढ़ गई। इस क्रान्तिकारी सरकार में नव-जीवन और शक्ति थी। इसके विपरीत मञ्चू सरकार की दशा अत्यन्त विकृत और निर्बल थी।

समझौते की बातचीत—डॉ० वू तिंग फांग और तांग-शाओ-यी में समझौते की जो बातबीत चल रही थी, वह तभी सफल हो सकती थी, जब कि पहले इस बात का फैसला हो जाय, कि चीन में शासन का प्रकार क्या हो। इसके लिए यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि शासन के प्रकार का निर्णय करने का कार्य एक संविधान परिषद् के सुपुर्द कर दिया जाय, जिसके सदस्य जनता के वोटों द्वारा निर्वाचित हों। पर लोकमत द्वारा संविधान परिषद् के निर्माण के प्रश्न पर दोनों पक्षों में समझौता नहीं हो सका। क्रान्तिकारी सरकार के प्रतिनिधि डॉ० वू तिंग फांग ने इस बात पर जोर दिया, कि मञ्चू राजवंश के नेतृत्व में चीनी राष्ट्र को उन्नत कर सकना असम्भव है। मञ्चू दरबार इतना अधिक विकृत हो चुका है, कि उसमें नवजीवन का संचार कर सकना सुगम बात नहीं है। श्री तांग-शाओ-यी ने भी इस बात को स्वीकार किया। दोनों ही पक्ष इस समय समझौते के लिए उत्सुक थे, क्योंकि उनमें से किसी एक के पास भी युद्ध को जारी रखने के लिए पर्याप्त धन नहीं था। विदेशी राज्यों ने परस्पर मिलकर यह फैसला कर लिया था, कि वे किसी भी पक्ष की आर्थिक सहायता नहीं करेंगे। मंचू सरकार का खजाना खाली हो चुका था, और युआन शी काई ने मञ्चू सम्राट् के घरेलू कोष से भी धन प्राप्त करने में संकोच नहीं किया था। नानकिंग की रिपब्लिकन सरकार के पास जो कुछ भी धन था, वह या तो जनता से चन्दा एकत्र करके और या प्रान्तों की राजकीय आमदनी द्वारा प्राप्त किया गया था। यह धन इतना नहीं था, कि युद्ध को देर तक चलाया जा सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस अवस्था में दोनों पक्षों ने इसी बात में अपना हित समझा, कि युद्ध को बन्द कर आपस में सुलह कर ली जाय।

समझौते की शर्तें—१२ फरवरी, १९१२ को युआन शी काई और डॉ० सन यात सेन की सरकारों ने परस्पर समझौता कर लिया। इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) मञ्चू राजवंश का अन्त कर दिया जाय। सम्राट् ह्सुआन तुंग (उसकी आयु इस समय केवल छः साल की थी) जीवन पर्यन्त सम्राट् की पदवी का प्रयोग कर सके, राजप्रासाद पर उसका कब्जा रहे, और जीवन भर उसे एक अच्छी बड़ी धनराशि वार्षिक रूप से राज्यकोष से प्राप्त होती रहे। मञ्चू राजकुल की जो समाधियां हैं, उनकी रक्षा का भार भी राज्य पर रहे। (२) मञ्चू वंश की राजसत्ता की समाप्ति पर चीन में नई सरकार की स्थापना का कार्य युआन शी काई के सुपुर्द किया जाय।

चीन के लोगों ने इस समझौते को स्वीकार कर बहुत बुद्धिमत्ता का कार्य किया। मञ्चू राजवंश ने स्वयं अपने राजसिंहासन के परित्याग की बात स्वीकार कर अपने गौरव और प्रतिष्ठा को कायम रखा। यदि मंचू लोग समय की लहर के विरुद्ध क्रान्ति की प्रवृत्तियों का मुकाबिला करने का प्रयत्न करते, तो उनकी भी वही गति होती, जो कि फ्रांस के बूर्बों राजवंश की हुई थी। सम्राट् की ओर से ही एक घोषणा १२ फरवरी, १९१२ के दिन प्रकाशित की गई, जिसमें यह कहा गया था—"युआई शी काई को हम यह अधिकार देते हैं, कि वह सामयिक रिपब्लिकन सरकार का संगठन करे, और देश में एकता की स्थापना के लिए रिपब्लिक की सेना का सहयोग प्राप्त करे। यही एक ढंग है, जिससे फिर से जनता में शान्ति और साम्राज्य में व्यवस्था स्थापित हो सकेगी। जिस प्रकार अब तक मंचू, चीनी, मंगोल, मुस्लिम और तिब्बती लोग एक साम्राज्य में शान्ति के साथ रहते रहे हैं, वैसे ही भविष्य में भी वे परस्पर मिलकर एक विशाल चीनी रिपब्लिक में निवास करें।" डॉ० सन यात सेन ने शुरू में सम्राट् की इस घोषणा का विरोध किया। उसका कहना था, कि सम्राट की आज्ञा द्वारा जो रिपब्लिक स्थापित होगी, वह जनता को किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं होगी। पर युआन शी काई ने उसे विश्वास दिलाया, कि इस घोषणा द्वारा उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हुए हैं, उनका वह दुरुपयोग नहीं करेगा, और वह चीन में जनता द्वारा रिपब्लिक की स्थापना में पूर्णरूप से सहयोग देगा।

युआन शी काई के साथ समझौता करने के लिये डॉ० सन यात सेन ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया, और नानकिंग में एकत्र क्रान्तिकारी नेताओं ने युआन शी काई को सामयिक चीनी रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया। इस प्रकार पेकिंग और नानकिंग की सरकारों में परस्पर समझौता हुआ। पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये, कि क्रान्तिकारी चीनी नेता युआन शी काई को दिल से नहीं चाहते थे। उनका विचार था, कि वह वस्तुतः रिपब्लिकन शासन का पक्षपाती नहीं है। पर युआन शी काई से समझौता करने का केवल यही एक उपाय था, कि उसे चीन की रिपब्लिक का राष्ट्रपति नियुक्त कर दिया जाय। अन्यथा वह उत्तरी चीन की सैन्यशक्ति का उपयोग कर क्रान्तिकारी लोगों से युद्ध को जारी रखने के लिए तैयार था। साथ ही, नानकिंग की रिपब्लिकन सरकार के पास धन की शक्ति का भी सर्वथा अभाव था, और उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह उत्तरी सेनाओं के विरुद्ध संघर्ष को जारी रख सके।

इस प्रकार चीन से मञ्चू राजवंश के शासन का अन्त हुआ। सतरहवीं सदी के मध्य भाग में मञ्चू विजेताओं ने जिस शासन का चीन में प्रारम्भ किया था, अब उसकी समाप्ति हो गई, और चीन में रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हुई। एशिया के विशाल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाद्वीप में यह पहली रिपब्लिक थी, जो बीसवीं सदी के शुरू में चीन में स्थापित हुई थी। जापान ने अपना उत्कर्ष करते हुए राजसत्ता को कायम रखा था। इसी कारण उसके शासन-विधान का विकास प्रशिया, ग्रेट ब्रिटेन आदि उन देशों के ढंग पर हुआ, जिनमें राजा की सत्ता को कायम रखा गया था। पर चीन ने क्रान्तिकारी फ्रांस का अनुसरण किया, और राजसत्ता का सदा के लिये अन्त कर लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की। निःसन्देह, न केवल चीन के अपितु सम्पूर्ण एशिया के इतिहास में यह एक अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण घटना थी।

विविध विदेशी राज्यों ने युआन शी काई के नेतृत्व में स्थापित रिपब्लिकन सरकार को स्वीकार कर लिया, और चीन की राज्यक्रान्ति सफल हो गई।

(४) रिपब्लिक की समस्याएं

चीन में मञ्चू राजवंश का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी, पर इससे चीन की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया था। इस समय चीन को अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख अगले चीनी इतिहास को समझने के लिए अत्यन्त उपयोगी है :—

(१) **अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्ति**—चीन अत्यन्त विशाल देश है। मञ्चू राजवंश सम्पूर्ण चीन का शासन कर सकने में समर्थ था। इसका कारण यह था, कि पेकिंग की केन्द्रीय सरकार प्रान्तों के शासन पर नियन्त्रण रखने के लिये निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया करती थी—(क) प्रान्तों में उच्च अधिकारियों की नियुक्ति के समय इस बात का ध्यान रखा जाता था, कि वे उस प्रान्त के निवासी न हों। (ख) कितने वर्षों के लिये वे प्रान्त में रहेंगे, इसकी अवधि नियत होती थी। (ग) केन्द्रीय सरकार विविध राजपदाधिकारियों को समय के साथ-साथ अधिकाधिक ऊँचे पदों पर नियुक्त करती जाती थी। इसका परिणाम यह होता था, कि विविध अधिकारी अपनी तरक्की को दृष्टि में रख केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन करने के लिये उत्सुक रहते थे। (ग) प्रान्तों में जो सेनाएं केन्द्रीय सरकार की ओर से रखी जाती थीं, उनके सेनानी भी केन्द्र द्वारा ही नियुक्त होते थे। प्रान्तीय सेनाओं के ये सेनानी सूबेदारों की शक्ति को मर्यादित करने में बहुत सहायक होते थे।

पर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में जब चीन के अनेक प्रदेशों में विद्रोह और अव्यवस्था की प्रवृत्तियां प्रबल हो गई थीं, तब समय की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर अनेक प्रान्तीय सूबेदारों ने अपने-अपने क्षेत्रों में नई सेनाओं का संगठन कर लिया था। शुरू में इन सेनाओं का यह प्रयोजन था, कि वे शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के कार्य में प्रान्त की पुलिस को सहायता दें। इन सेनाओं को प्रान्तीय आमदनी में से वेतन दिया जाता था, और ये प्रान्त के सूबेदार को ही अपना स्वामी समझती थीं। १८९८ में जब चीन में सुधारवादी और क्रान्तिकारी नेताओं के आन्दोलनों के कारण अनेक प्रदेशों में विद्रोह और अशान्ति की प्रवृत्तियाँ बढ़ने लगीं, तो अनेक प्रान्तीय सूबेदार इन सेनाओं में वृद्धि करने के लिये विवश हुए। १९११ के क्रान्तिकारी साल तक ये प्रान्तीय सेनाएं निरन्तर बढ़ती गईं, और रिपब्लिक की स्थापना के समय तक यह दशा आ चुकी थी, कि अनेक प्रान्तों में इस प्रकार की विशाल सेनायें विद्यमान थीं, जिनकी सहायता से प्रान्तीय सूबेदार केन्द्रीय सरकार की बहुत सुगमता से उपेक्षा कर सकते थे। राष्ट्रपति युआन शी काई ने १९१२ में रिपब्लिक के शासन-सूत्र को हाथों में लेकर इसी बात में श्रेय समझा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इन शक्तिशाली सूबेदारों को अपने-अपने पदों पर कायम रहने दिया जाय। राजसत्ता के अन्त के बाद उसके सम्मुख इतनी विकट समस्याएं उपस्थित थीं, कि प्रान्तों में व्यवस्था स्थापित रखने का उसे यही एक उपाय सुगम व क्रियात्मक प्रतीत होता था, कि जो सूबेदार जिस प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए है, उसे वहीं पर रहने दिया जाय, ताकि वह अपने प्रदेश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखे रहे। पर इस बात का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि विविध सूबेदार अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र आचरण करने लगें और केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा करें। प्रान्तों में इस प्रकार की शक्तिशाली सेनाएं विद्यमान थीं, जो प्रान्तीय सूबेदारों से वेतन प्राप्त करती थीं, और उन्हीं को अपना स्वामी मानती थीं। अतः स्वाभाविक रूप से इन सूबेदारों में यह प्रवृत्ति विकसित हुई, कि वे अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने लगें, और केन्द्रीय सरकार की निर्बलता से लाभ उठाकर अपनी शक्ति के विस्तार में प्रवृत्त हों।

(२) **रिपब्लिक के पक्षपातियों और युआन शी काई में विरोध**—डॉ० सन यात सेन और उसके साथी क्रान्तिकारी नेताओं ने युआन शी काई को रिपब्लिक का राष्ट्रपति बनाना समझौते के तौर पर ही स्वीकार किया था। वे भली-भाँति जानते थे, कि युआन शी काई वस्तुतः क्रान्ति और रिपब्लिक का पक्षपाती नहीं है। इसीलिए वे हृदय से उसके राष्ट्रपति बनने के समर्थक नहीं थे। नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा के बहुसंख्यक सदस्य युआन शी काई के विरोधी थे, और बाद में जब चीन में पार्लियामेंट की स्थापना हुई, तो उसमें भी राष्ट्रपति का विरोधी दल बहुत प्रबल था। राष्ट्रपति और पार्लियामेंट के इस विरोध के कारण चीन में रिपब्लिक के शासन को सफलता नहीं हो सकी, और शीघ्र ही वहाँ विविध राजनीतिक नेताओं और सूबेदारों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ हो गया।

(३) **जनता में जागृति का अभाव**—चीन में राज्यक्रान्ति सफल हो चुकी थी, और मञ्चू राजवंश के शासन का अन्त भी हो गया था। पर रिपब्लिकन शासन तभी सफल हो सकता था, जब जनता में जागृति हो, उसमें राष्ट्रीयता की भावना भली-भाँति विकसित हो चुकी हो, और अपना शासन स्वयं करने के लिए कटिबद्ध हो। पर चीन की बहुसंख्यक जनता अभी सर्वथा निरक्षर थी। शिक्षित लोगों की बहुसंख्या भी आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से प्रायः अपरिचित थी। प्राचीन ग्रन्थों और धर्मशास्त्रों में निष्णात होते हुए भी वह नवयुग की भावनाओं को विशेष महत्त्व नहीं देती थी। यूरोप के विविध देशों में भी जब एकतन्त्र स्वेच्छाचारी राजसत्ता का अन्त होकर लोकतन्त्र शासनों की स्थापना हुई, तो उन्हें सफल होने में बहुत समय लगा। फ्रांस में बूर्बों राजवंश का अन्त होकर जब पहली बार रिपब्लिक की स्थापना हुई, तो वह शीघ्र ही नैपोलियन के एकाधिपत्य के रूप में परिणत हो गई। नैपोलियन के पतन के बाद (१८१४) फिर बूर्बों वंश के एकतन्त्र राजा को फ्रांस की राजगद्दी पर बिठाया गया। १८३० और १८४८ में एक बार फिर फ्रेंच क्रान्तिकारियों ने रिपब्लिक की स्थापना के लिए प्रयत्न किये। पर दोनों ही बार लुई फिलिप (१८३०) और नैपोलियन तृतीय (१८५२) राजसत्ता की स्थापना में समर्थ हुए। फ्रांस में रिपब्लिकन शासन १८७० में सफल हो सका। तीन चौथाई सदी के लगभग तक फ्रांस में नई और पुरानी प्रवृत्तियों में संघर्ष चलता रहा। इसी प्रकार की प्रक्रिया ग्रेट ब्रिटेन, इटली, जर्मनी आदि में भी हुई। इस दशा में यह कैसे आशा की जा सकती थी, कि चीन में क्रान्तिकारी प्रवृत्तियाँ एकदम सफल हो जातीं। जनता में राष्ट्रीय भावना का अभाव और लोकतन्त्र शासन के प्रति उत्साह की कमी के कारण चीन की नई रिपब्लिक को बहुत-सी विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। चीन में नई और पुरानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवृत्तियों का यह विरोध निम्नलिखित रूपों में प्रकट हुआ—(क) युआन शी काई ने रिपब्लिक का अन्त कर स्वयं सम्राट् बनने का प्रयत्न किया। उसका यह प्रयत्न ठीक उसी प्रकार का था, जैसे कि फ्रांस में नैपोलियन ने रिपब्लिक का अन्त कर अपने को सम्राट् बना लिया था। (ख) कुछ लोगों ने मंचू राजवंश की सत्ता का पुनरुद्धार करने का भी प्रयत्न किया, और कुछ दिनों के लिये इस प्रयत्न में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई। (ग) प्रान्तीय सूबेदार अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र होने की कोशिश करने लगे। केन्द्रीय सरकार और प्रान्तीय सूबेदारों के इस संघर्ष के कारण कुछ समय के लिये चीन की शासन-शक्ति बहुत अधिक निर्बल हो गई।

(४) **आर्थिक दुर्दशा**—जिन आर्थिक कारणों ने चीन में राज्यक्रान्ति का सूत्रपात किया था, रिपब्लिक की स्थापना से वे एकदम दूर नहीं हो गये थे। अब भी चीन की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। अब भी व्यवसायिक उन्नति का वहाँ अभाव था। खेती द्वारा इतनी खाद्य सामग्री उत्पन्न नहीं हो सकती थी, जिससे कि जनता अपना निर्वाह भली-भांति कर सके। बाढ़ और दुर्भिक्ष आदि के कारण देहातों में निवास करने वाली सर्वसाधारण जनता पहले के समान ही परेशान रहा करती थी। चीन के विदेशी व्यापार पर विदेशी लोगों ने जिस प्रकार अपना प्रभुत्व स्थापित कर रखा था, उसमें अब भी किसी प्रकार का अन्तर नहीं हुआ था। चीन की राजकीय आमदनी के अनेक साधन अब भी विदेशी राज्यों के पास जमानत के रूप में रखे हुए थे। सरकार को इतनी आमदनी नहीं थी, कि वह अपने साधारण खर्चों को भी सुचारु रूप से चला सके। इस दशा में यह आशा कैसे की जा सकती थी, कि वह देश की आर्थिक उन्नति के लिये धन का प्रबन्ध कर सकेगी। आर्थिक दुर्दशा के कारण चीन की जनता में जो बेचैनी और अशान्ति क्रान्ति से पहले थी, वह अब भी पूर्ववत् ही विद्यमान थी। जनता में असन्तोष की भावना इसलिये और भी अधिक बढ़ गई थी, क्योंकि मञ्चू शासन के विरुद्ध क्रान्ति के समय क्रान्तिकारी नेताओं ने जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये उसे अनेक प्रकार के आश्वासन दिये थे। सर्वसाधारण लोगों का ख्याल था, कि मञ्चू शासन का अन्त हो जाने के बाद टैक्सों की मात्रा में बहुत कमी हो जायगी, और जनता पर सरकारी नियन्त्रण भी बहुत कम हो जायगा। अब जब कि रिपब्लिक की स्थापना हो जाने के बाद भी पहले के समान ही टैक्स लगते थे, पहले की तरह ही सरकारी कर्मचारी अपराधियों को गिरफ्तार करते थे, और शासनसूत्र को पहले से भी अधिक सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया जाता था, तो जनता में असन्तोष का बढ़ना सर्वथा स्वाभाविक था। यदि चीन की नई सरकार इस समय ऐसी स्थिति में होती, कि जनता की आर्थिक समृद्धि के लिए नई योजनाओं को क्रिया में परिणत कर सकती, तो चीन में ऐसे समझदार लोगों की कमी नहीं थी, जो नई सरकार से संतुष्ट होते। पर सरकार के पास धन की बहुत कमी थी। टैक्सों द्वारा राजकीय आमदनी को बढ़ा सकना सम्भव नहीं था। विदेशी राज्यों से कर्ज लेकर ही सरकार अपनी आर्थिक कठिनाइयों को हल कर सकती थी। पर विदेशों से कर्ज लेने का केवल यही एक परिणाम हो सकता था, कि चीन पर विदेशी प्रभुत्व में और अधिक वृद्धि हो जाय। पर यह बात भी रिपब्लिक के नेताओं को स्वीकार्य नहीं थी। युआन शी काई ने जब विदेशों से कर्ज लेने का प्रयत्न किया, तो उसका बहुत विरोध हुआ। जनता की आर्थिक दुर्दशा में सुधार कर सकना चीन की नई सरकार के सम्मुख एक बहुत ही विकट समस्या थी, और उसे हल कर सकने का कोई सुगम उपाय उसकी समझ में नहीं आता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आठवां अध्याय

चीन में रिपब्लिक का शासन

(१) प्रथम रिपब्लिकन सरकार

मञ्चू राजवंश के शासन का अन्त होने के बाद श्री युआन शी काई के राष्ट्रपतित्व में चीन की प्रथम रिपब्लिकन सरकार का संगठन हुआ था। पर नानकिंग की जिस सामयिक रिपब्लिकन सरकार ने समझौते द्वारा युआन शी काई को चीन का राष्ट्रपति स्वीकार किया था, वह देश में वास्तविक लोकतन्त्र शासन की स्थापना करना चाहती थी। उसकी यह योजना थी, कि चीन के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण किया जाय, जिसमें नागरिकों के जन्मसिद्ध अधिकारों का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन हो। कानूनों का निर्माण करने और शासनविभाग पर नियन्त्रण रखने के लिए पार्लियामेन्ट की रचना की जाय, और मन्त्रिमण्डल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हो। राष्ट्रपति की चीन में वही स्थिति हो, जो फ्रांस में होती है। राष्ट्रपति के नाम से जिन राजकीय आज्ञाओं को प्रकाशित किया जाय, उन पर साथ में उस विभागों के मन्त्रियों के हस्ताक्षर भी आवश्यक हों। सरकार विदेशी राज्यों से जो सन्धियां करें, जो कर्ज ले और देश के शासन के लिए जो व्यवस्थाएं करे, उन सबके लिए पार्लियामेन्ट की स्वीकृति ली जाया करे। चीन के क्रान्तिकारी नेताओं के सम्मुख फ्रेंच रिपब्लिक आदर्श रूप से विद्यमान थी, और वे उसी के ढंग पर अपने देश में रिपब्लिक का संगठन करना चाहते थे।

पर युआन शी काई नाममात्र का राष्ट्रपति नहीं बनना चाहता था। उसने राष्ट्रपति पद को इसीलिए स्वीकार किया था, क्योंकि उसे आशा थी कि इस पद द्वारा चीन के शासनसूत्र को वह अपने हाथों में रख सकेगा। पर चीन की जनता ने उसे जिन कारणों से राष्ट्रपति स्वीकार किया था, वे सर्वथा भिन्न थे। क्रान्तिकारी नेता समझते थे, कि वास्तविक शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में न रहकर पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहेगी। उनके हृदयों में युआन शी काई के प्रति अविश्वास की भावना भी विद्यमान थी। पर उन्होंने उसे राष्ट्रपति स्वीकार कर लिया था, क्योंकि वे जानते थे कि उत्तरी प्रदेशों की सेना उसकी आज्ञा में है, और उससे समझौता किये बिना आन्तरिक युद्धों का अन्त कर सकना सम्भव नहीं है। पर युआन शी काई के प्रति अविश्वास रखने के कारण ही उन्होंने समझौते में एक यह शर्त भी रख दी थी, कि चीन की राजधानी पेकिंग के स्थान पर नानकिंग रहेगी। पेकिंग और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में क्रान्तिकारी दल का जोर नहीं था। इसके विपरीत नानकिंग क्रान्तिकारी दल का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। डॉ० सन यात सेन और उसके अनुयायी चीनी रिपब्लिक की सरकार को इसी कारण नानकिंग में रखना चाहते थे, ताकि उनका प्रभाव सरकार पर कायम रह सके। पर युआन शी काई पेकिंग छोड़कर नानकिंग आने में संकोच करता था। उसके सौभाग्य से मार्च, १९१२ में पेकिंग की सेना ने विद्रोह कर दिया। अब युआन शी काई को इस सैनिक विद्रोह को शांत करने के लिए पेकिंग रहने का बहाना मिल गया। उसने नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा को भी पेकिंग चले आने के लिए विवश किया। यह बात युआन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शी काई के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध हुई। पेकिंग के वातावरण में रिपब्लिकन नेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे राष्ट्रपति की स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का सफलता के साथ मुकाबिला कर सकें। पेकिंग में विदेशी राज्यों के दूतावास भी विद्यमान थे। वहां उनकी शक्तिशाली सेनाएं भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करती थीं। विदेशी राजदूत युआन शी काई के पक्षपोषक थे। उनका सहारा पाकर वह चीन के क्रान्तिकारी नेताओं का मुकाबिला करने में समर्थ हुआ। चीन के उत्तरी प्रदेशों में क्रान्ति का विशेष प्रभाव नहीं हुआ था। वहां की जनता और सरकारी कर्मचारी रिपब्लिक के प्रति विशेष अनुराग भी नहीं रखते थे। युआन शी काई को इनकी सहायता और सहयोग का पूरा-पूरा भरोसा था।

चीन की नई रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर युआन शी काई रहेगा, यह तो तय हो चुका था। अब यह प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि प्रधान-मन्त्री कौन बने और मन्त्रिमण्डल में किन-किन व्यक्तियों को रखा जाय। तांग शाओ-यी को चीन का प्रथम प्रधानमन्त्री नियत किया गया। मञ्चू शासन के युग में वह युआन शी काई के अधीन कार्य कर चुका था, और अब डॉ० सन यात सेन के क्रान्तिकारी दल का सदस्य था। अतः दोनों पक्षों ने उसे प्रधानमन्त्री के रूप में स्वीकृत कर लिया। युद्धमन्त्री के पद पर तुआन ची जुई को नियत किया गया। वह भी युआन शी काई का समर्थक था। अन्य मन्त्री भी दोनों पक्षों के समझौते द्वारा नियुक्त किये गये। नानकिंग में जिस राष्ट्रीय महासभा का संगठन हुआ था, वह अब नागकिंग चली आई थी। यह निर्णय किया गया, कि जब तक पार्लियामेंट के चुनाव के सम्बन्ध में सब व्यवस्था पूर्ण न हो जाय, तब तक यह महासभा ही चीनी रिपब्लिक की पार्लियामेन्ट का कार्य करती रहे। इस बीच में वोटरों की सूची तैयार की गई, और पार्लियामेंट के चुनाव की व्यवस्था की गई। पार्लियामेंट में दो सभाएं रखी गईं, सीनेट और प्रतिनिधि सभा। १९१३ में नई पार्लियामेंट का निर्वाचन हो गया। इसमें जो सदस्य निर्वाचित होकर आये थे, वे अनेक दलों के थे। इनमें मुख्य दल निम्नलिखित थे—(१) राष्ट्रपति का पक्षपाती दल—इसमें मुख्यतया उत्तरी चीन के प्रतिनिधि थे। इन्हें युआन शी काई की नीति पर पूर्ण विश्वास था, और ये सब प्रकार से उसका समर्थन करने को उद्यत थे। (२) क्रान्तिकारी दल—ये मुख्यतया दक्षिणी चीन का प्रतिनिधित्व करते थे और डॉ० सन यात सेन के अनुयायी थे। पार्लियामेन्ट में इस दल के सदस्यों की संख्या अन्य दलों की अपेक्षा अधिक थी। (३) मध्यमार्गी दल—यह न युआन शी काई का पक्षपाती था, और न सन यात सेन का। इसके कोई निश्चित राजनीतिक विचार भी नहीं थे। युआन शी काई के लिए यह सुगम था, कि इस दल के लोगों को अपने पक्ष में कर सके। राजनीतिक नैतिकता अभी चीन में भली-भाँति विकसित नहीं हुई थी। पद के लोभ और रुपए के लालच से लोग अपना मत बदल लेने में संकोच नहीं करते थे। युआन शी काई ने मध्यमार्गी दल के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए सब प्रकार के उपायों का प्रयोग किया। क्रान्तिकारी दल की पार्लियामेन्ट में बहुसंख्या नहीं थी, यद्यपि उसके सदस्य अन्य किसी भी दल की अपेक्षा अधिक संख्या में निर्वाचित हुए थे।

इस प्रकार चीन में रिपब्लिकन सरकार का संगठन पूर्ण हो गया था। राष्ट्रपति पद पर युआन शी काई विराजमान था। नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हो गया था, और पार्लियामेन्ट का भी चुनाव किया जा चुका था। पर चीन की राजनीतिक समस्या अभी भी पूर्ण रूप से हल नहीं हुई थी। देश के शासनसूत्र का संचालन राष्ट्रपति के हाथों में हो या मन्त्रिमण्डल के—यह प्रश्न बहुत विकट था। डॉ० सन यात सेन का क्रान्तिकारी दल वास्तविक शासनशक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में रखना चाहता था। पर मध्यमार्गी दल के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदस्यों को अपने वश में करके युआन शी काई ने पार्लियामेन्ट द्वारा यह स्वीकृत करा लिया, कि राष्ट्रपति ही चीन की सरकार का संचालन करे। परिणाम यह हुआ, कि क्रान्तिकारी दल के लोगों ने मन्त्रिमण्डल से त्यागपत्र दे दिया। अब मन्त्रिमण्डल में केवल ऐसे ही लोग रह गये, जो युआन शी काई के आधिपत्य को स्वीकृत करते थे।

चीन की नई सरकार के सम्मुख सबसे अधिक गम्भीर प्रश्न आर्थिक था। शासन की सुव्यवस्था और देश की उन्नति के लिए रुपये की आवश्यकता थी, और इसे केवल राजकीय करों द्वारा ही प्राप्त नहीं किया जा सकता था। राज्यकोष खाली पड़ा था। युआन शी काई इस बात के लिए उत्सुक था, कि प्रान्तीय सूबेदार अपनी सेनाओं को भंग कर दें। पर बहुत-सी प्रान्तीय सेनाएँ ऐसी थीं, जिनके सैनिकों को देर से वेतन नहीं मिला था। इन्हें तभी नौकरी से बर्खास्त किया जा सकता था, जब इनके वेतनों को चुकता कर दिया जाता। सैनिकों को वेतन न मिलने के कारण कई स्थानों पर सैनिक अफसर स्वयं जनता से कर वसूल करने लग गये थे, और प्रान्तीय सरकारों को केवल उतना ही कर प्राप्त हो पाता था, जो सैनिक अफसर उन्हें खुशी से प्रदान कर देते थे। इस स्थिति को संभाल सकने का यही उपाय था, कि सैनिकों को वेतन देकर सेवामुक्त कर दिया जाय, और प्रान्तीय शासनों का पुनःसंगठन किया जाय। पर इस कार्य के लिए रुपये की जरूरत थी, और केन्द्रीय रिपब्लिकन सरकार के पास रुपये का सर्वथा अभाव था। क्रियात्मक दृष्टि से रुपये को कर्ज द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था, अतः युआन शीःकाई ने विदेशी राज्यों से कर्ज की बातचीत शुरू की। इस समय ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, जर्मनी, जापान और अमेरिका—इन छः राज्यों ने मिलकर अपना एक गुट बना रखा था, और यह निश्चय किया हुआ था, कि वे चीन को कोई कर्ज तभी देंगे, जबकि परस्पर मिलकर कर्ज की शर्तों को तय कर लेंगे। विदेशी राज्यों की इस बैंकिंग सिण्डीकेट ने चीनी सरकार के सम्मुख कर्ज के लिये यह शर्त पेश की, कि नमक के व्यवसाय पर विदेशी राज्यों का पूरी तरह से नियन्त्रण रहे, ताकि उससे होने वाली आमदनी द्वारा कर्ज के मूलधन और सूद को वसूल किया जा सके। नमक की आमदनी पूरी तरह से विदेशी राज्यों के पास जमानत के रूप में रहे। साथ ही, विदेशी राज्यों को यह भी अधिकार हो, कि वे चीनी सरकार के व्यय पर भी नियन्त्रण रख सकें। सरकारी व्यय पर नियन्त्रण रखने का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि चीन की स्वतन्त्रता बहुत अंश तक सीमित हो जाती। यही कारण है, कि १९१३ में अमेरिका बैंकिंग सिण्डीकेट से अलग हो गया, और अब इस गुट में केवल पांच राज्य रह गये। अमेरिकन सरकार को यह बात पसन्द नहीं थी, कि चीन की राजनीतिक स्वतन्त्रता में इस ढंग से हस्तक्षेप किया जाय। डॉ० सन यात सेन की क्रान्तिकारी पार्टी भी इस कर्ज के विरोध में थी। इसके कारण चीन की स्वतन्त्रता में जो बाधा उपस्थित होती थी, उसे क्रान्तिकारी दल के लोग किसी भी दशा में सहन करने को तैयार नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने पार्लियामेन्ट में विदेशी कर्ज की शर्तों का घोर विरोध किया। पर युआन शी काई ने मध्यवर्गी दल को अपने पक्ष में करके कर्ज को पार्लियामेन्ट में स्वीकृत करा लिया। पाँच विदेशी राज्यों की बैंकिंग सिण्डीकेट से युआन शी काई की सरकार कर्ज लेने में समर्थ हुई, और इस रकम का प्रयोग कर उसने देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने का उद्योग प्रारम्भ किया।

कुओमिन्तांग दल—डॉ० सन यात सेन के प्रयत्न से चीन में जिस क्रान्तिकारी दल का संगठन हुआ था, पहले उसे तुंग मेंग हुई कहते थे। बाद में उसी का कुओमिन्तांग दल के नाम से पुनः संगठन हुआ। यह दल राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद को बहुत महत्त्व देता था, और इसका उद्देश्य यह था कि जहां चीन राष्ट्रीय दृष्टि से सुसंगठित व सुव्यवस्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य बने, वहाँ साथ ही उसमें लोकतन्त्रवाद का भी विकास हो । कुओमिन्तांग दल के लोग चीन को उन्नति के उसी मार्ग पर ले जाना चाहते थे, जिस पर कि फ्रांस, अमेरिका आदि पाश्चात्य देश अग्रसर हो रहे थे ।

युआन शी काई का उत्कर्ष—कुओमिन्तांग दल का इस समय सबसे बड़ा विरोधी युआन शी काई था । यह दल उसके खिलाफ कोई कार्य न कर सके, अतः सबसे पहले उसने पार्लियामेंट द्वारा नये शासन-विधान के उस भाग को स्वीकृत कराया, जिसमें राष्ट्रपति के अधिकार आदि की व्यवस्था की गई थी । पार्लियामेंट की दोनों सभाएं—सीनेट और प्रतिनिधि सभा—जब एक साथ मिलकर अपना अधिवेशन करती थीं, तो उन्हें संविधान परिषद् कहते थे, और नये शासन-विधान को अन्तिम रूप से निर्मित व स्वीकृत करने का कार्य इस परिषद के ही सुपुर्द था । राष्ट्रपति-सम्बन्धी सब बातों का अपने मतानुसार निर्णय कराके युआन शी काई ने स्वयं अपने को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करा लिया । इसके लिए उसने मध्यमावर्गी दल का सहयोग प्राप्त किया, और इसके रुपये को पानी की तरह बहाया । विदेशी राज्यों से कर्ज कीजो भारी रकम देश की उन्नति के उद्देश्य से प्राप्त की गई थी, उसका कुछ अंश युआन शी काई ने पार्लियामेंट के सदस्यों को अपने पक्ष में करने के लिए भी व्यय किया । अब युआन शी काई की स्थिति सर्वथा सुरक्षित हो गई थी, और न केवल पार्लियामेंट अपितु मन्त्रिमण्डल भी पूर्णतया उसका वशवर्ती हो गया था ।

पर युआन शी काई इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ । वह अपने विरोधियों का विनाश करने के लिए कटिबद्ध था । ४ नवम्बर, १९१३ को उसने कुओमिन्तांग दल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया । इस दल के बहुत-से सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये, और बहुतों ने विदेश भागकर अपने को कैद होने से बचाया । कुओमिन्तांग दल के सदस्यों के चले जाने के कारण पार्लियामेंट के अधिवेशनों में कोरम हो सकना कठिन हो गया, और पार्लियामेंट का स्वयमेव अन्त हो गया । यद्यपि नाम को अब भी पार्लियामेंट की सत्ता थी, उसे बर्खास्त नहीं किया गया था, पर कोरम के अभाव के कारण उसका अधिवेशन हो सकना सम्भव नहीं रहा था, और युआन शी काई के लिये मनमाने तरीके से देश का शासन कर सकना सुगम हो गया था । डॉ० सन यात सेन को इस समय फिर एक बार चीन छोड़कर बाहर जाने के लिए विवश होना पड़ा ।

(२) युआन शी काई का स्वेच्छाचारी शासन

नया शासन-विधान—अब राज्य की सम्पूर्ण शक्ति युआन शी काई के हाथों में केन्द्रित हो गई थी, और पार्लियामेन्ट, मन्त्रिमण्डल एवं लोकमत—सबकी उपेक्षा कर उसने स्वेच्छापूर्वक शासन शक्ति का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया था । नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा द्वारा देश के लिये शासन-विधान की जो रूपरेखा तैयार की गयी थी, और जिसके अनुसार पेकिंग की संविधान परिषद् (सीनेट और प्रतिनिधि सभा) नई शासन-व्यवस्था का निर्माण करने में तत्पर थी, उसे आंखों से ओझल कर युआन शी काई ने अपने विचारों के अनुसार चीन के लिये नये शासन-विधान का निर्माण कराया । इस कार्य के लिये एक नई संविधान सभा का संगठन किया गया, जिसमें केवल ऐसे ही सदस्य नियत किये गये, जो युआन शी काई के समर्थक थे और उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करने को तैयार थे । इस नई संविधान-सभा ने चीन की रिपब्लिक के लिये जो नया शासन-विधान बनाया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) राज्य की सब शक्ति राष्ट्रपति में निहित हो । (२) राष्ट्रपति का निर्वाचन दस साल के लिये किया जाय ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि राष्ट्रपति की सम्मति में दस साल के समाप्त हो जाने के बाद देश की ऐसी परिस्थिति हो, जिसमें कि उसका अपने पद पर कायम रहना आवश्यक हो, तो उसे अधिकार हो कि वह अपने पद की अवधि को और बढ़ा सके, या स्वयं यह निर्णय कर सके, कि उसका उत्तराधिकारी कौन हो। (३) राज्य के विविध भागों के अध्यक्ष राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हों। प्रधानमन्त्री के स्थान पर एक सेक्रेटरी आफ स्टेट की नियुक्ति की व्यवस्था की गई और यह निश्चय किया कि उसकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाय और वह उसी के प्रति उत्तरदायी हो। (४) पार्लियामेन्ट के स्थान पर एक राज्यसभा (कौंसिल आफस्टेट) का निर्माण किया जाय, और इस सभा का कार्य राष्ट्रपति को परामर्श देना मात्र हो। मार्च, १९१४ में युआन शी काई ने इन सिद्धान्तों के अनुसार देश की शासन-व्यवस्था को परिवर्तित कर दिया। वह स्वयं दस साल के लिये राष्ट्रपति नियुक्त हुआ, और स्वेच्छाचारी रूप से देश का शासन करने के लिये प्रवृत्त हुआ। राज्यक्रान्ति से पूर्व मञ्चू सम्राटों के शासनकाल में चीन की सरकार की जो दशा थी, वही अब फिर से हो गई। जिन लोगों ने भी युआन शी काई का विरोध करने का साहस किया, उनको कठोर दण्ड दिये गये। सर्वत्र गुप्तचरों का जाल बिछा दिया गया। गुप्तचरों के कारण किसी भी आदमी के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह स्वतन्त्रता के साथ अपनी सम्मति को प्रकट कर सके। समाचार-पत्रों पर कठोर निरीक्षण रखा गया, और अपने विरोधियों का अन्त करने के लिये राजनीतिक हत्याओं का आश्रय लिया गया। इस काल में कितने ही चीनी नेताओं की हत्याएं हुईं। युआन शी काई अपने विरोधियों का जड़ से उन्मूलन कर देने के लिये घृणित से घृणित उपायों का अवलम्बन करने में भी संकोच नहीं करता था।

प्रथम महायुद्ध—(१९१४-१८)—जिस समय युआन शी काई चीन से लोकतन्त्र रिपब्लिक का अन्त कर अपने स्वेच्छाचारी शासन की स्थापना में तत्पर था, तभी यूरोप में महायुद्ध की अग्नि भड़क उठी। इस युद्ध में आस्ट्रिया-हंगरी, जर्मनी और तुर्की के खिलाफ फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन और रूस लड़ाई के मैदान में उतर आये थे। जापान और ब्रिटेन परस्पर सन्धि के सूत्र में बंधे हुए थे, यह पहले लिखा जा चुका है। इस महायुद्ध को जापान ने अपनी शक्ति का विस्तार करने के लिये उपयुक्त अवसर समझा, और वह ब्रिटेन और फ्रांस का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो गया। अन्य पाश्चात्य देशों के समान जर्मनी ने भी चीन में अनेक आर्थिक विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे, और कियाऊ चाऊ का प्रदेश उसने पट्टे पर भी प्राप्त किया हुआ था। जापान की आँख इसी प्रदेश पर थी। वह चाहता था, कि जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल होकर इस प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। पर चीन यूरोप के इस महायुद्ध में उदासीन था। उसने यत्न किया, कि चीन के प्रदेशों में कहीं भी लड़ाई न होने पाए, और कोई राज्य उसकी उदासीन स्थिति का व्याघात न करे। पर जापान ने इसकी जरा भी परवाह नहीं की। एक जापानी सेना ने कियाऊ चाऊ के प्रदेश पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन ने भी इस आक्रमण में जापान की सहायता की। यूरोप में बेल्जियम की उदासीन स्थिति का जर्मनी द्वारा व्याघात होने पर ब्रिटेन ने बहुत अधिक एतराज किया था, और वह इसी निमित्त से जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल भी हुआ था। पर चीन की उदासीन स्थिति की उसने जरा भी परवाह नहीं की, और ब्रिटेन तथा जापान की सम्मिलित सेनाओं ने कियाऊ चाऊ को जीत लिया। उसके बन्दरगाह त्सिंगताओ पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो गया।

जापान की मांगें—जनवरी, १९१५ में जापानी सरकार ने चीन के सम्मुख २१ मांगें पेश कीं। इनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) शांतुंग के प्रदेश (जिसमें कियाऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाऊ स्थित था) में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें जर्मनी से प्राप्त करने के लिये जापान जो कुछ भी उद्योग करे, चीन उसमें बाधा न डाले। (२) शांतुंग के प्रदेश में रेलवे लाइन बनाने का जापान को अधिकार दिया जाय, और उसके समुद्रतट के सब बन्दरगाहों में उसे व्यापार आदि के विशेष अधिकार दिये जाएं। (३) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप और पोर्ट आर्थर के पट्टे के काल को २५ साल से बढ़ाकर ९९ साल कर दिया जाय। इसी प्रकार मञ्चूरिया की रेलवे लाइनों पर जापान को जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका काल भी बढ़ाकर ९९ साल कर दिया जाय। दक्षिणी मञ्चूरिया के जिन प्रदेशों पर जापान को रेलवे आदि के निर्माण के सम्बन्ध में विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनमें जापानी लोगों को यह अधिकार भी दिया जाय, कि वे वहाँ जायदाद खरीद सकें, मकान बना सकें, और स्वतन्त्रता के साथ यात्रा कर सकें। जापान की सहमति के बिना चीन इन प्रदेशों में किसी अन्य देश के लोगों को राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक मामलों में सलाहकार के रूप में नियुक्त न कर सके, और न ही इन प्रदेशों में किसी अन्य राज्य को कोई विशेषाधिकार दिये जा सकें। (४) मध्य चीन में लोहे का जो विशाल कारखाना उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में स्थापित किया गया था, उस पर जापान और चीन का सम्मिलित रूप से आधिपत्य हो। (५) जापान की अनुमति के बिना चीन किसी अन्य देश को अपने समुद्रतट पर स्थित किसी बन्दरगाह को पट्टे पर न दे सके, और न ही वहाँ व्यापार आदि के कोई नये विशेषाधिकार दिये जा सकें। (६) चीन को अपनी सरकार की सुव्यवस्था के लिये जिन किन्हीं राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक सलाहकारों की आवश्यकता हो, वे सब जापानी ही नियुक्त किये जाएं। (७) जापान के बौद्ध धर्म के प्रचारकों को यह अधिकार हो, कि वे चीन में जहां चाहें धर्म प्रचार कर सकें और अपने विहारों तथा मन्दिरों की स्थापना कर सकें। (८) चीन को जो भी अस्त्र-शस्त्र विदेशों से खरीदने हों, उनका कम-से-कम ५० प्रतिशत भाग वह जापान से क्रय किया करे। यदि चीन अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण के लिये कोई कारखाना खोले, तो उसका प्रबन्ध भी चीन और जापान-दोनों के सम्मिलित नियन्त्रण में रहे।

यदि जापान की इन मांगों की स्वीकृत कर लिया जाता, तो इसका यही परिणाम होता, कि चीन पूर्ण रूप से जापान का संरक्षित राज्य बन जाता, और उसकी स्वतन्त्र सत्ता बहुत कुछ नष्ट हो जाती। अन्य यूरोपियन देश इस समय यूरोप के महायुद्ध में इतने अधिक व्यस्त थे, कि वे जापान की मांगों का विरोध नहीं कर सके। साथ ही, जर्मनी की शक्ति का मुकाबिला करने के लिये फ्रांस और ब्रिटेन जापान की सहायता प्राप्त करने को भी अत्यधिक उत्सुक थे। जापान के राजनीतिज्ञों ने इस स्थिति से लाभ उठाया और चीन में अपने प्रभाव को और अधिक बढ़ाना शुरू किया। जापान की इन मांगों का चीन पर क्या प्रभाव पड़ा, इस विषय पर हम आगे अधिक विस्तार से विचार करेंगे। यहां इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त हैं, कि युआन शी काई जैसा शक्तिशाली व्यक्ति भी इस समय जापान का विरोध कर सकने का साहस नहीं कर सकता था।

राजसत्ता की स्थापना का प्रयत्न—राष्ट्रपति युआन शी काई ने जिस प्रकार लोकतन्त्र शासन का अन्त कर सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया था, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब फ्रांस के नैपोलियन प्रथम का अनुसरण कर उसने यह प्रयत्न किया, कि चीन से रिपब्लिक का अन्त कर राजसत्ता का पुनरुद्धार करे, और स्वयं सम्राट् पद को प्राप्त कर ले। पर इस परिवर्तन के लिए वह ऐसे मार्ग का अनुसरण करना चाहता था, जिससे संसार यह समझे कि उसने जनता के आग्रह के कारण ही सम्राट् पद को स्वीकार किया है। राष्ट्रपति को परामर्श देने के लिये युआन शी काई ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस राज्यसभा की स्थापना की थी, उसके प्रायः सब सदस्य उसकी हां में हां मिलाने वाले थे। उन्होंने प्रस्ताव किया, कि चीन से रिपब्लिक का अन्त कर युआन शी काई से प्रार्थना की जाय, कि वह सम्राट् पद को स्वीकार कर ले। राज्यसभा ने तीन बार इस प्रस्ताव को स्वीकार किया, पर युआन शी काई इतने से भी सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने कहा, कि यदि जनता के प्रतिनिधियों की एक महासभा उससे यह अनुरोध करेगी, तभी वह इसे स्वीकार कर सकेगा। नैपोलियन के समान युआन शी काई भी यह प्रदर्शित करना चाहता था, कि वह जनता के अनुरोध व इच्छा के कारण ही सम्राट् पद को स्वीकार कर रहा है। जनता के प्रतिनिधियों की 'महासभा' का आयोजन कोई कठिन कार्य नहीं था। कुओमिन्तांग के लोगों को गिरफ्तार किया जा चुका था। इस दशा में जनता से ऐसे प्रतिनिधियों को निर्वाचित करा सकना जरा भी कठिन नहीं था, जो युआन शी काई के सम्राट् पद को ग्रहण कर लेने के पक्षपाती हों। महासभा ने भी बड़े आग्रहके साथ युआन शी काई से अनुरोध किया, कि वह देश के हित को दृष्टि रखकर चीन में राजसत्ता का पुनरुद्धार करे और स्वयं सम्राट् पद को स्वीकार कर ले।

जनता का विरोध—युआन शी काई ने जनता के प्रतितिधियों की 'महासभा' के 'अनुरोध' को स्वीकार कर लिया, और नये सम्राट् के राज्याभिषेक की तैयारी शुरू हो गई। पर वस्तुतः चीन की जनता रिपब्लिक के अन्त और राजसत्ता की पुनः स्थापना के विरुद्ध थी। दथिणी चीन के यूनान प्रान्त के लोगों ने पेकिंग सरकार की सेवा में एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें राजसत्ता के पुनरुद्धार का घोर विरोध किया गया था। जब युआन शी काई ने इस आवेदन पर कोई ध्यान नहीं दिया, तो यूनान के लोगों ने विद्रोह कर दिया। पेकिंग की सरकार ने विद्रोह को शान्त करने के लिये कठोर उपायों का प्रयोग किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। विद्रोह की अग्नि केवल यूनान तक ही सीमित नहीं रही। शीघ्र ही, वह दक्षिणी चीन के अन्य प्रान्तों में भी फैल गई। इन विद्रोही प्रान्तों ने घोषणा की, कि वे अब केन्द्रीय सरकार के शासन में नहीं रहेंगे। युआन शी काई के विरोधी क्रान्तिकारियों की इस समय मुख्य मांगें निम्नलिखित थीं—(१) राजसत्ता की पुनःस्थापना के निर्णय को रद्द कर दिया जाय। (२)नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा द्वारा देश के शासन विधान की जो रूपरेखा तैयार की गयी थी, उसके अनुसार शासन-व्यवस्था का निर्माण किया जाय। (३) पार्लियामेन्ट की पुनःस्थापना की जाय।

युआन शी काई के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह क्रान्तिकारी लोगों की इन मांगों का विरोध कर सके। अब उसने घोषित किया, कि 'जनता के प्रतिनिधियों की महासभा' ने उससे सम्राट् पद को ग्रहण करने का जो अनुरोध किया था, वह वस्तुतः लोकमत के प्रतिकूल था, अतः राजसत्ता के पुनरुद्धार के विचार का परित्याग किया जाता है। युआन शी काई की इस घोषणा से क्रान्तिकारियों की हिम्मत और अधिक बढ़ गई। अब उन्होंने मांग पेश की, कि युआन शी काई अपने पद का त्याग कर दें। पर इसे स्वीकृत कर सकना युआन शी काई के लिये सम्भव नहीं था। उसने यत्न किया, कि क्रान्तिकारियों के साथ समझौता कर ले। वह इस समय निम्नलिखित बातों के लिये तैयार था—(१) मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया जाय, और सरकार का संचालन मन्त्रियों के सुपुर्द कर दिया जाय। (२) सेना का नियन्त्रण भी युद्धमन्त्री के अधीन रहे। (३) पार्लियामेन्ट का पुनःसंगठन हो। इस प्रकार युआन शी काई एक बार फिर क्रान्तिकारियों के साथ समझौता कर रिपब्लिक के राष्ट्रपति के रूप में शासन का संचालन करने के लिए उद्यत हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युआन शी काई की मृत्यु—अभी क्रान्तिकारी नेताओं के साथ अन्तिम रूप से समझौता नहीं हो पाया था, कि ६ जून, १९१६ को अकस्मात् ही युआन शी काई की मृत्यु हो गई। अब राजसत्ता के पक्षपातियों में कोई ऐसा शक्तिशाली व्यक्ति नहीं रहा था, जो लोकतन्त्र रिपब्लिक का विरोध कर सके। रिपब्लिक के पुनरुद्धार का मार्ग अब पूर्ण रूप से निष्कण्टक हो गया था।

चीन के आधुनिक इतिहास में युआन शी काई का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें सन्देह नहीं, कि वह अत्यन्त योग्य शासक सा। उसकी वैयक्तिक शक्ति और क्षमता से कोई भी ऐतिहासिक इनकार नहीं कर सकता। आधुनिक युग के नवीन विचारों से भी वह भलीभांति परिचित था। पर उसने अपनी योग्यता, शक्ति और प्रतिभा का प्रयोग चीन में नवयुग लाने के लिए नहीं किया। यदि वह चाहता, तो चीन में एक सुसंगठित और सुव्यवस्थित लोकतन्त्र शासन की स्थापना में अपनी शक्ति का सदुपयोग कर सकता था। पर उसने प्रगति की प्रवृत्तियों को न अपनाकर प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियों को अपनाया। यदि वह नैपोलियन के समान सम्राट् पद पर आरूढ़ होकर चीन को विदेशी प्रभुत्त्व से मुक्त कराने में समर्थ हो सकता, तो भी वह अपने देश के लिये उपयोगी कार्य कर जाता। पर जिस समय वह चीन का एकाधिपति बना हुआ था, तब भी उसने विदेशी राज्यों से भारी मात्रा में कर्ज लेकर अपने देश पर विदेशी प्रभुत्त्व में वृद्धि की। यही कारण है, कि चीन के इतिहास में युआन शी काई का स्थान बहुत उज्वल व गौरवपूर्ण नहीं समझा जा सकता।

(३) रिपब्लिक का पुनःसंगठन

नई सरकार—युआन शी काई की मृत्यु के बाद रिपब्लिकन शासन का चीन में पुनःसंगठन किया गया। उपराष्ट्रपति के पद पर कर्नल ली युआन हुंग विद्यमान था। वह अब राष्ट्रपति बन गया। तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री पद पर नियत किया गया, और उसने नए मन्त्रिमण्डल का संगठन किया। पार्लियामेन्ट का भी पुनरुद्धार किया गया। राष्ट्रपति ली युआन हुंग ने शासन के सम्बन्ध में इस सिद्धान्त को स्वीकृत किया, कि चीन की रिपब्लिक में पार्लियामेंट का स्थान सर्वोच्च है। ली युआन हुंग ने नानकिंग की राष्ट्रीय महासभा द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त को भी स्वीकार किया, कि देश के शासनसूत्र का संचालन राष्ट्रपति के हाथों में न रहकर मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहेगा। इसका यह परिणाम हुआ, कि इस समय चीन की सरकार में तुआन ची जुई की स्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गई। हम पहले लिख चुके हैं, कि तुआन ची जुई पहले युआन शी काई का अधीनस्थ कर्मचारी रह चुका था और उसका पक्ष-समर्थक था। उसके विचारों पर भी युआन शी काई का बहुत प्रभाव था। यही कारण है, कि उसने भी स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों का प्रदर्शन किया, और पार्लियामेन्ट की शक्ति एवं प्रभुत्त्व की उपेक्षा की। शीघ्र ही, पार्लियामेन्ट के साथ उसका विरोध प्रारम्भ हो गया।

पार्लियामेन्ट का अन्त—युआन शी काई की मृत्यु के बाद पेकिंग में पार्लियामेन्ट की पुनःस्थापना हो गई थी। अब पार्लियामेन्ट को न केवल देश के लिए कानूनों का निर्माण और शासन नीति को निर्धारित करना था, अपितु देश के लिए शासन-विधान को भी तैयार करना था। हम पहले लिख चुके हैं, कि पार्लियामेन्ट की दोनों सभाओं—सीनेट और प्रतिनिधि सभा—के सदस्य मिलकर संविधान-परिषद् के रूप में एकत्र होते थे, और इस परिषद् का देश के लिए नए संविधान के निर्माण करने का कार्य करना था। पर प्रधानमंत्री तुआन ची जुई और पार्लियामेन्ट में शीघ्र ही विरोध हो गया, और इस विरोध ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतना प्रचण्ड रूप धारण कर दिया कि कुछ ही समय में पार्लियामेन्ट का और उसके साथ ही लोकतन्त्र शासन का भी चीन से अन्त हो गया। प्रधानमन्त्री और पार्लियामेन्ट के इस विरोध के निम्नलिखित कारण थे—(१) चीन की सरकार ने अपने आर्थिक संकट को दूर करने के लिए निश्चय किया, कि विदेशी राज्यों से नया कर्ज लिया जाय। तुआन ची जुई ने कर्ज की सब शर्तें विदेशी बैंकिंग सिण्डीकेट के साथ तय कर लीं। जब उन्हें स्वीकृति के लिए पार्लियामेन्ट के सम्मुख पेश किया गया, तो वहां उनका घोर विरोध हुआ। (२) पार्लियामेन्ट के सदस्य समझते थे कि मन्त्रिमण्डल उनके प्रति उत्तरदायी है। वे उसके प्रत्येक कार्य की कड़ी आलोचना किया करते थे। पर तुआन ची जुई इतना शक्तिशाली था, कि पार्लियामेन्ट की जरा भी परवाह नहीं करता था। (३) प्रधानमंत्री तुआन ची जुई चाहता था, कि यूरोपियन महायुद्ध में चीन मित्रराष्ट्रों (फ्रांस, ब्रिटेन, रूस आदि) का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दे। बोक्सर युद्ध में हरजाने की जो भारी रकम चीन ने विदेशी राज्यों को प्रदान करनी थी, और जिसकी बहुत-सी किश्तें अभी अदा करनी शेष थीं, उसके बारे में कुछ रिआयत चीन को प्राप्त हो जायगी, यदि वह यूरोपियन महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की सहायता करेगा—इस बात का तुआन ची जुई को पूरा भरोसा था। पर मित्रराष्ट्र इस विषय में पहले से ही कोई पक्का वायदा करने को तैयार नहीं थे। उनका कहना था कि यदि चीन महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की पूरी-पूरी सहायता करेगा, तो वे इस प्रश्न पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे। पर चीन की पार्लियामेन्ट महायुद्ध में शामिल होने को सहमति इसी शर्त पर देने को तैयार थी, कि पहले मित्रराष्ट्रों के साथ हरजाने की रकम के बारे में पक्का समझौता कर लिया जाय। तुआन ची जुई को इस बात में सफलता नहीं हो सकी। परिणाम यह हुआ, कि पार्लियामेन्ट ने युद्ध में शामिल होने के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस दशा में राष्ट्रपति ली युआन हुंग ने तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री के पद से पृथक् कर देने की आज्ञा जारी की। राष्ट्रपति का यह कार्य वैधानिक दृष्टि से बिलकुल ठीक था। क्योंकि तुआन जी जुई को पार्लियामेन्ट के बहुमत का विश्वास प्राप्त नहीं था, अतः वह अपने पद पर नहीं रह सकता था। पर तुआन ची जुई ने प्रधानमन्त्री के पद से पृथक् होने से इन्कार कर दिया। उत्तरी चीन के अनेक प्रान्तीय सूबेदार उसकी पीठ पर थे। उन्होंने अपनी सेनाओं के साथ पेकिंग की ओर प्रस्थान कर दिया। चीन की सरकार उनका मुकाबिला नहीं कर सकी, और पेकिंग पर उत्तरी प्रान्तों के सूबेदारों की सेनाओं का कब्जा हो गया। उन्होंने राष्ट्रपति ली युवान हुंग को इस बात के लिए विवश किया, कि वह पार्लियामेन्ट को बर्खास्त कर दे, और तुआन ची जुई को प्रधानमन्त्री के पद से न हटाए।

युआन शी काई की मृत्यु के बाद चीन में जिस लोकतन्त्र सरकार की स्थापना की गई थी, वह देर तक कायम नहीं रह सकी। जुलाई, १९१६ तक उसका अन्त हो गया। अनेक सूबेदार सेनापतियों (इन्हें हम अब से सिपहसालार कहेंगे, क्योंकि मुगल साम्राज्य के पतनकाल में भारत में भी अनेक सूबेदार जहां प्रान्तीय शासन के मुख्य अधिकारी होते थे, वहां प्रान्तीय सेना के सिपहसालार भी होते थे) ने इस समय यह यत्न भी किया, कि मञ्चू राजवंश का पुनरुद्धार किया जाय। सिपहसालार चांग ह्सुन ने रिपब्लिक का पूर्ण रूप से अन्त कर नाबालिक मञ्चू सम्राट् को फिर से पेकिंग की राजगद्दी पर बिठाया। पर बहुसंख्यक सिपहसालार इस बात के विरोध में थे। परिणाम यह हुआ, कि चांग ह्सुन को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई, और मञ्चू राजवंश की पुनःस्थापना नहीं की जा सकी। रिपब्लिक कायम रही, पर उसमें न पार्लियामेन्ट की सत्ता थी और न शासन पर जनता का किसी भी प्रकार का प्रभाव ही था। प्रधानमन्त्री तुआन ची जुई का सरकार पर उसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार से आधिपत्य था, जैसे कि पहले युआन शी काई का था। इस दशा में राष्ट्रपति ली युआन हुंग ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

तुआन ची जुई का एकाधिपत्य—ली युआन हुंग के राष्ट्रपति पद से पृथक् हो जाने के बाद तुआन ची जुई के लिए अपने उत्कर्ष का मार्ग खुल गया। अब राष्ट्रपति के पद पर फेंग कुआ-चंग को नियत किया गया। वह हकुआंग प्रान्त का सिपहसालार था, और युआन शी काई की मृत्यु के बाद जब ली युआन हुंग उपराष्ट्रपति से राष्ट्रपति बन गया था, तो उसे उपराष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित किया गया था। ली युआन हुंग के त्यागपत्र दे देने पर वह स्वयं अपने अधिकार से राष्ट्रपति बन गया था। ली युआन हुंग के समान फेंग कुओ-चंग को भी तुआन ची जुई की प्रभुता पसन्द नहीं थी। वह स्वयं एक शक्तिशाली सिपहसालार था, और एक बड़ी सेना उसके आधिपत्य को स्वीकार करती थी। उसने प्रधानमन्त्री तुआन ची जुई का विरोध करना शुरू किया। इस दशा में प्रधानमन्त्री के पास केवल यही उपाय था, कि वह पार्लियामेन्ट के अधिवेशन को फिर से बुलाकर नए राष्ट्रपति का निर्वाचन कराए। अक्टूबर, १९१८ में फेंग कुओ-चंग का राष्ट्रपति पद का काल समाप्त हो जाता था। इससे लाभ उठाकर तुआन ची जुई ने पार्लियामेन्ट का अधिवेशन बुलाया, उसके बहुसंख्यक सदस्यों को पद एवं रुपए के लोभ से अपने पक्ष में किया और अपने समर्थक ह्सू शिह-चंग को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित करा दिया। तुआन ची जुई इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, अपितु उसने अपने समर्थकों को एक नया दल बनाया, जिसे अन्फू क्लब कहते थे। इस क्लब के सदस्यों ने परस्पर मिलकर एक गुट-बन्दी बनायी हुई थी, और ये राजकीय पदों को प्राप्त करने में एक-दूसरे की सहायता किया करते थे। तुआन ची जुई ने विदेशों से अनेकबार कर्ज लिए। यद्यपि यूरोप के विविध देश इस समय महायुद्ध में तत्पर थे, पर जापानी सरकार बड़ी उदारता के साथ चीन को कर्ज देने के लिए उद्यत थी। जापानी लोग भली-भाँति समझते थे, कि ये कर्ज चीन पर अपना आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के सर्वोत्तम साधन हैं। विदेशों से कर्ज लेने की शर्तों का पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत कराना आवश्यक था। पर अन्फू क्लब के सदस्यों की सहायता से तुआन ची जुई के लिए यह कठिन नहीं था, कि इन कर्जों को पार्लियामेन्ट से स्वीकार करा ले। कर्ज की रकम का एक हिस्सा अन्फू क्लब के सदस्यों की जेबों में भी पहुंचा दिया जाता था। इस प्रकार पद और रुपए के लोभ से तुआन ची जुई ने पार्लियामेन्ट को अपने हाथों में कठपुतली बना लिया, और स्वेच्छाचारी ढंग से चीन का शासन करना प्रारम्भ किया।

केन्टन की पृथक् रिपब्लिकन सरकार—पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि तुआन ची जुई की सरकार का शासन सारे चीन में सर्वत्र स्वीकृत नहीं किया जाता था। विविध सिपहसालारों की शक्ति के बढ़ जाने के कारण अब पेकिंग में स्थित चीनी सरकार के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह सारे चीन पर अपना शासन स्थापित रख सके। इस स्थिति से लाभ उठाकर डॉ० सन यात सेन के अनुयायी राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल के लोगों ने कैन्टन में अपनी पृथक् सरकार का संगठन कर लिया। युआन शी काई द्वारा कुओमिन्तांग दल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया था। पर तुआन ची जुई और ली युआन हुंग के पारस्परिक संघर्ष से लाभ उठाकर इस दल ने फिर से शक्ति प्राप्त करनी शुरू कर दी थी, और दक्षिणी चीन के विविध प्रदेशों ने उसका साथ दिया था। कैन्टन की सरकार का दावा था, कि वही चीन की असली सरकार है, यद्यपि उसका आधिपत्य केवल दक्षिणी चीन तक ही सीमित था। १९२१ में डॉ० सन यात सेन को कैन्टन सरकार का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अराजकता का सूत्रपात—कैन्टन में डॉ० सन यात सेन की सरकार का शासन था, और पेकिंग में तुआन ची जुई स्वेच्छाचारी रूप से सरकार का संचालन कर रहा था। पर यह नहीं समझना चाहिए, कि ये दो सरकारें व्यवस्थित रूप से चीन का शासन करने में समर्थ थीं। उत्तरी चीन के विविध प्रदेशों में विभिन्न सिपहसालार अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने में तत्पर थे। वे जहाँ आपस में लड़ते रहते थे, वहाँ साथ ही पेकिंग सरकार पर भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इन विभिन्न सिपहसालारोंके कारण तुआन ची जुई का आधिपत्य बहुधा पेकिंग की चहारदीवारी तक ही सीमित रह जाता था। पर क्योंकि विदेशी दूतावास पेकिंग में विद्यमान थे, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से तुआन ची जुई सरकार को ही चीन की कानूनी सरकार माना जाता था। जिस प्रकार मुगल साम्राज्य के ह्रास के युग में दिल्ली के सम्राटों का शासन बहुत थोड़े-से प्रदेश तक ही सीमित रह गया था, और मराठा, अफगान आदि विविध सरदार दिल्ली को अपने प्रभुत्त्व में लाने के लिए प्रयत्नशील रहते थे, कुछ वैसी ही दशा इस समय पेकिंग सरकार की भी हो गई थी। तुआन ची जुई का पेकिंग पर कब्जा था, पर अन्य सिपहसालार निरन्तर उसे अपने आधिपत्य में लाने के लिए प्रयत्नशील थे। कैन्टन की कुओमिन्तांग सरकार की दशा भी प्रायः इसी प्रकार की थी। कैन्टन और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर उसका आधिपत्य अवश्य विद्यमान था, पर दक्षिणी चीन के अन्य प्रदेश उसी अंश में कैन्टन सरकार के अधीन थे, जिस अंश तक कि वहाँ के विविध सिपहसालार उसकी अधीनता को स्वीकृत करने के लिए उद्यत हों।

१९१६ से १९२६ तक चीन में इसी प्रकार की अराजकता विद्यमान रही। इस काल की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख हम अगले एक प्रकरण में करेंगे। १९२६ के बाद चियांग काई शेक के नेतृत्त्व में कुओमिन्तांग दल की शक्ति बहुत बढ़ गई, और वह चीन के बड़े भाग में एक सुव्यवस्थित व शक्तिशाली शासन की स्थापना करने में समर्थ हुआ।

(४) प्रथम महायुद्ध और चीन

चीन की उदासीनता—१९१४ में जब यूरोप में प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) का प्रारम्भ हुआ, तो जापान ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो गया। पर चीन ने उदासीन वृत्ति को अपनाया, और युद्ध में किसी भी पक्ष में शामिल न होने का निश्चय किया। इससे लाभ उठाकर जापान ने किस प्रकार कियाऊ चाऊ के प्रदेश पर, जो पहले जर्मनी के अधीन था, अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। शांतुंग के प्रान्त में जो विशेषाधिकार जर्मनी को प्राप्त थे, ये सब भी अब जापान ने प्राप्त कर लिए। यदि चीन शुरू में ही जर्मनी के खिलाफ महायुद्ध में शामिल हो जाता, तो वह शांतुंग को विदेशी प्रभुत्त्व से मुक्त करा सकता था। तब जर्मनी के विशेषाधिकारों को नष्ट करने के कार्य में ब्रिटेन, फ्रांस आदि मित्र राष्ट्रों की सहानुभूति चीन के साथ में होती। पर युआन शी काई ने उदासीन नीति का अनुसरण करने में ही अपने देश का लाभ समझा था। चीन में युद्ध के लिए न पर्याप्त अस्त्र-शस्त्र थे, और न ही इतना धन था कि वह विदेशों से युद्ध-सामग्री को क्रय कर सकता। सरकारी खर्च तक को चलाने के लिए भी युआन शी काई विदेशों से कर्ज लेने के लिए विवश हुआ था। साथ ही, चीन के लिए यह निश्चय कर सकना भी सुगम नहीं था, कि महायुद्ध में किस पक्ष में शामिल हुआ जाय। सब विदेशी राज्य उसे समान रूप से लूटने में तत्पर थे। जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल होने का चीन के लिए कोई विशेष कारण भी नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इसमें सन्देह नहीं, कि चीन की उदासीन नीति का जापान ने बहुत दुरुपयोग किया। उसने न केवल शांतुंग प्रान्त में जर्मनी के विशेषाधिकारों को नष्ट कर वहाँ अपने आधिपत्य की स्थापना कर ली, अपितु चीन की सरकार के सम्मुख २१ मांगें पेश कीं। इन मांगों का उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। ये मांगें १९१५ के शुरू में पेश की गई थीं। उस समय चीन पर युआन शी काई का आधिपत्य था। उसकी इतनी शक्ति नहीं थी, कि वह जापान की मांगों की पूर्णतया उपेक्षा कर सकता। शांतुंग प्रान्त के सम्बन्ध में जापान की मांगों को उसने पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया। लिआओ-तुंग प्रायद्वीप, पोर्ट आर्थर और मंचूरियन रेलवे के सम्बन्ध में भी युआन शी काई ने जापान के सम्मुख सिर झुका दिया। चीन के सबसे बड़े लोहे के कारखाने पर भी जापान के संयुक्त नियन्त्रण को स्वीकार किया गया। जापान की इस मांग के विषय में, कि चीन अपने समुद्रतट पर स्थित कोई नगर व बन्दरगाह किसी अन्य राज्य को पट्टे आदि पर न दे, युआन शी काई ने यह कहा कि वह इस बात के लिए तैयार हैं, कि चीनी समुद्रतट का कोई भी प्रदेश किसी भी विदेशी राज्य (जिनमें जापान भी शामिल हो) को नहीं दिया जायगा। जापान ने भी इस सम्बन्ध में मामले को अधिक नहीं बढ़ाया, क्योंकि इसके कारण उसे फ्रांस, ब्रिटेन आदि के विरोध का भय था। अस्त्र-शस्त्र आदि को जापान से ही खरीदने की मांग के सम्बन्ध में युआन शी काई ने यह कहा, कि इस मामले का निर्णय भविष्य के लिये स्थगित रखा जाय।

जापान की २१ मांगों के विषय में चीन को जिस प्रकार झुकना पड़ा, उससे यह स्पष्ट है, कि महायुद्ध में उदासीन रहकर चीन ने बहुत बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया, क्योंकि इसके कारण जापान को पूर्वी एशिया में मनमानी करने का अवसर मिल गया था। ब्रिटेन, फ्रांस आदि देश यूरोप के युद्ध-क्षेत्र में इतने अधिक व्यग्र थे, कि उन्हें सुदूर पूर्व के मामलों पर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं था। साथ ही, उनके लिये यह भी सम्भव नहीं था, कि वे जापान को नाराज कर सकते। पूर्वी एशिया में जापान ने ही जर्मनी की शक्ति का अन्त किया था, और जापान के जहाजी बेड़े को ही यह कार्य सुपुर्द था, कि वह प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जर्मनी के खिलाफ पहरा रखने का कार्य करे। जब यूरोप में महायुद्ध ने अधिक उग्र रूप धारण कर लिया, तो मित्रराष्ट्रों ने जापान से अनुरोध किया, कि वह अपने कुछ जंगी जहाजों को भूमध्यसागर में भी भेजे। जापान मित्रराष्ट्रों में सम्मिलित था, और ब्रिटेन, फ्रांस आदि उसकी सहायता को बहुत महत्त्व देते थे। इसके विपरीत चीन महायुद्ध में उदासीन था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ, कि जापान को चीन में अपने प्रभुत्व को विस्तृत करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया। शांतुंग और मंचूरिया में जिस ढंग से इस समय जापान ने अपनी शक्ति का विकास किया, उसके कारण भविष्य में उसके लिए चीन में अपना आधिपत्य स्थापित करने का मार्ग बहुत कुछ साफ हो गया।

चीन का महायुद्ध में प्रवेश—१९१७ के प्रारम्भ में संयुक्तराज्य अमेरिका ने मित्र-राष्ट्रों का पक्ष लेकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अमेरिका ने अन्य उदासीन राज्यों से भी अपील की, कि वे जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में शामिल हों। पेकिंग में स्थित अमेरिकन राजदूत के अनुरोध को स्वीकार कर प्रधानमन्त्री तुआन ची जुई ने चीन के लिए महायुद्ध में सम्मिलित हो जाना ही हितकर समझा। चीनी सरकार की ओर से पहले जर्मनी को नोटिस दिया गया, कि उदासीन राज्यों के जहाजों पर पनडुब्बियों द्वारा आक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून और मानवता के विरुद्ध है, अतः इस प्रकार के हमलों को तुरन्त बन्द कर दिया जाय। जर्मनी की सरकार ने चीन के नोटिस पर कोई ध्यान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं दिया। इस पर चीनी सरकार ने जर्मनी के साथ अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया। पर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा करने से पूर्व तुआन ची जुई यह चाहता था, कि मित्रराष्ट्रों से (जिनमें अब अमेरिका भी सम्मिलित हो चुका था) एक ऐसा समझौता करले, जो चीन के लिये लाभदायक हों। इस समझौते के लिये उसने निम्न-लिखित शर्तें पेश कीं—(१) बोक्सर युद्ध के बाद चीन को जो हरजाना विदेशी राज्यों को देना था, उसमें से उस अंश को कम कर दिया जाय, जो जर्मनी को दिया जाना था। (२) मित्रराष्ट्रों को हरजाने की जो रकम दी जानी थी, उसकी अदायगी को भी अभी स्थगित रखा जाय। (३) चीन के आयात और निर्यात माल पर तट-कर की जो दरें सन्धियों द्वारा निर्धारित थीं उन्हें दोहराया जाय, और चीन को तटकर में वृद्धि करने की अनुमति दी जाय। (४) बोक्सर युद्ध की समाप्ति पर विविध सन्धियों द्वारा जो विदेशी सेनाएं पेकिंग व अन्य चीनी नगरों में स्थापित की गई थीं, उन्हें अब चीन से हटा लिया जाय। इन शर्तों को स्वीकार कर लेने से मित्रराष्ट्रों को यह लाभ था, कि चीन भी महायुद्ध में जर्मनी के खिलाफ शामिल हो जाता। सैनिक दृष्टि से चीन मित्रराष्ट्रों के लिये बहुत अधिक उपयोगी नहीं हो सकता था, पर उसके लिये यह सम्भव था कि चीनी मजदूरों की बड़ी संख्या में यूरोप में कार्य करने के लिये भेज दे। चीनी मजदूर फ्रेन्च और ब्रिटिश मजदूरों का स्थान ले लें, और यूरोपियन मजदूर सेना में भरती होकर लड़ाई के मैदान में जा सकें। इसके अतिरिक्त चीन अनेक प्रकार का कच्चा माल व भोजन-सामग्री भी मित्रराष्ट्रों को दे सकता था। इन कारणों से मित्रराष्ट्र भी चीन के युद्ध में सम्मिलित होने को पर्याप्त महत्त्व देते थे।

पर मित्रराष्ट्र इस बात के लिए तैयार नहीं हुए, कि वे पहले तुआन ची जुई द्वारा पेश की गई शर्तों को स्वीकार कर लें। उनका कहना था, कि पहले चीन मित्रराष्ट्रों के पक्ष में लड़ाई में शामिल हो जाए, इसके बाद ही वे उसकी शर्तों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करने को तैयार होंगे। पर चीन की पार्लियामेंट बिना किसी शर्त के युद्ध में शामिल होने को तैयार नहीं थी। इस प्रश्न पर तुआन ची जुई और पार्लियामेंट में जो संघर्ष हुआ, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। तुआन ची जुई ने पार्लियामेंट को बर्खास्त करके सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में ले लिया, और मित्रराष्ट्रों के पक्ष में होकर जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। १४ अगस्त, १९१७ को चीन बाकायदा महायुद्ध में शामिल हो गया।

महायुद्ध में भाग लेने के परिणाम—(१) जब चीन मित्रराष्ट्रों का पक्ष लेकर लड़ाई में शामिल हो गया, तो उन्होंने तुआन ची जुई की शर्तों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार किया। इन शर्तों में से उन्होंने तट-कर में वृद्धि कर सकने की बात को स्वीकार कर लिया। तट-कर में इस समय जो वृद्धि हुई, उसके कारण चीनी सरकार को यह अवसर मिला, कि वह पांच फी सदी अतिरिक्त तट-कर वसूल कर सके। चीन की राजकीय आमदनी की वृद्धि में इससे बहुत सहायता मिली। (२) जर्मनी और आस्ट्रिया की जो कुछ भी सम्पत्ति चीन में थी, उस सब पर चीनी सरकार ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया। अन्य पाश्चात्य राज्यों के समान जर्मनी ने भी चीन के बन्दरगाहों में बहुत-से विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। उसकी बड़ी-बड़ी व्यापारिक कोठियां भी वहां बनी हुई थीं। इन सब पर चीन ने कब्जा कर लिया। (३) मित्रराष्ट्रों ने इस बात को स्वीकार किया, कि बोक्सर युद्ध के बाद हरजाने की जो रकम चीन द्वारा जर्मनी को प्रदान की जानी थी, उसे रद्द कर दिया जाए। अन्य देशों को दी जाने वाली हरजाने की रकम की अदायगी को भी पांच साल के लिए स्थगित कर दिया गया। (५) युद्ध की समाप्ति पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सन्धि परिषद् के अधिवेशनों में चीन को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होगा, यह बात भी स्वीकृत कर ली गई।

महायुद्ध में शामिल होने के कारण जहां चीन को ये लाभ हुए, वहां मित्रराष्ट्रों को भी इससे अनेक लाभ हुए। ये लाभ निम्नलिखित थे —(१) इस समय मित्रराष्ट्रों ने हजारों मजदूर चीन से भरती किए। इन्हें फ्रांस और यूरोप के अन्य रणक्षेत्रों में काम करने के लिए भेज दिया गया। चीनी मजदूरों के कारण यूरोपियन मजदूरों के लिए सेना में भरती हो सकना सम्भव हो गया। (२) चीन से मित्रराष्ट्रों को कच्चा माल और भोजन प्रचुर परिमाण में प्राप्त हुआ। महायुद्ध के कारण यूरोप में इन पदार्थों की बहुत कमी हो गई थी। चीन के सुविस्तृत प्रदेशों से इन्हें प्राप्त कर सकना मित्रराष्ट्रों के लिए सुगम हो गया। (३) महायुद्ध के प्रारम्भ में जर्मनी के जो जंगी व व्यापारी जहाज पूर्वी एशिया में विद्यमान थे, उन्होंने चीन के समुद्रतट पर आश्रय लिया हुआ था। जापान के कारण इन जहाजों के लिए यह संभव नहीं था, कि जर्मनी वापस जा सकें। क्योंकि चीन युद्ध में उदासीन था, अतः उसके समुद्रतट पर विद्यमान इन जर्मन जहाजों पर जापान और अन्य मित्रराष्ट्र कब्जा नहीं कर सकते थे। जब चीन युद्ध में शामिल हो गया, तो ये सब जर्मन जहाज मित्रराष्ट्रों के हाथों में आ गए। इस समय मित्रराष्ट्रों के पास जहाजों की बहुत कमी थी, जर्मन पनडुब्बियों ने मित्रराष्ट्र-पक्ष के बहुत-से जहाजों को डुबा दिया था। जर्मन जहाजों के हाथ में आ जाने से मित्रराष्ट्रों की नाविक शक्ति में बहुत वृद्धि हो गई।

पेरिस की सन्धि परिषद् और चीन—१९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के बाद परास्त देशों के साथ सन्धि करने के लिये पेरिस में सन्धि परिषद् का आयोजन किया गया। इसमें चीन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए। इस समय चीन में दो सरकारें थीं, पेकिंग की सरकार जिसका नेता तुआन ची जुई था, और कैन्टन की सरकार जिसका नेता डॉ० सन यात सेन था। सन्धि परिषद् में सम्मिलित चीनी प्रतिनिधि दोनों सरकारों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। पेरिस की सन्धि परिषद् में चीनी प्रतिनिधियों की मुख्य मांग यह थी, कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, और युद्ध के दौरान में जिन्हें जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे अब चीन को प्राप्त हों। साथ ही, युद्ध के अवसर पर जापान ने अपनी २१ मांगों को पेश कर चीन को जिस सन्धि के लिये विवश किया था, और जिसके कारण शांतुंग और मञ्चूरिया में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, उस सन्धि को रद्द किया जाय। पर जापान चीन की इन मांगों को किसी भी प्रकार स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं था। अन्य मित्रराष्ट्र भी जापान के मुकाबिले में चीन को कोई महत्त्व नहीं देना चाहते थे। वे स्वयं भी इस बात के लिये उत्सुक थे, कि जर्मनी की पराजय के कारण शांतुंग के प्रदेश में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का जो अवसर उन्हें प्राप्त हो गया है, उसका उपयोग किया जाय। चीन के प्रतिनिधियों के बहुत जोर देने पर जापान ने इस बात को स्वीकार किया, कि वह शांतुंग में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिये इच्छुक नहीं है। इस प्रदेश में जर्मनी के जो आर्थिक विशेषाधिकार थे, वह केवल उन्हीं को प्राप्त करना चाहता है।

वर्साय की सन्धि और चीन—पेरिस की सन्धिपरिषद् के परिणामस्वरूप जो वर्साय की सन्धि तैयार हुई, जसमें चीन के साथ सम्बन्ध रखने वाली महत्त्वपूर्ण शर्तें निम्नलिखित थीं – (१) बोक्सर युद्ध के परिणामस्वरूप हरजाने की जो रकम चीन द्वारा जर्मनी को दी जानी थी, उसे रद्द किया जाय। (२) तीन्तिसन और हैंको में जो विशेषा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिकार जर्मनी ने चीन से १८९८ में प्राप्त किये थे, उन्हें रद्द समझा जाय। (३) महायुद्ध के समय में जर्मनी और आस्ट्रिया की जिस सम्पत्ति पर चीनी सरकार ने अधिकार कर लिया था, वह सब चीन के पास ही रहे, सिवाय उस सम्पत्ति के जिसका सम्बन्ध दूतावासों के साथ था। (४) शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, वे जापान को मिलें। शांतुंग प्रान्त में कियाऊ चाऊ के प्रदेश का जो पट्टा जर्मनी के पास था, वह भी जापान को प्राप्त हो। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन ने इस बात को स्वीकार किया था, कि शांतुंग के सम्बन्ध में चीन की मांग न्याय पर आश्रित हैं। पर जापान और अन्य मित्रराष्ट्रों के सम्मुख वे अपने को असहाय अनुभव करते थे। उन्होंने इस बात से सन्तोष कर लिया था, कि वर्साय की सन्धि के कारण जिस राष्ट्रसंघ की स्थापना की जा रही हैं, चीन भी उसमें सम्मिलित होगा, और उसे भी यह अवसर होगा कि वहां वह अपनी शिकायतों को दूर करा सके। जापान ने भी मौखिक रूप से इस बात का आश्वासन दिया था, कि वह शांतुंग प्रान्त में केवल आर्थिक विशेषाधिकारों का ही उपभोग करेगा, राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग वह नहीं करेगा। जापान के इस आश्वासन के कारण मित्रराष्ट्रों ने अपने को यह समझा लिया था, कि वे चीन के साथ कोई विशेष अन्याय नहीं कर रहे हैं।

वर्साय की सन्धि से चीन के प्रतिनिधियों को बहुत निराशा हुई। यद्यपि इस समय चीनी सरकार की दशा बहुत अव्यवस्थित थी, और वहाँ विविध सिपहसालार परस्पर संघर्ष में व्यापृत थे, पर पेरिस की सन्धि-परिषद् में चीन के साथ घोर अन्याय हुआ है, इस बात को सब लोग उग्र रूप से अनुभव करते थे। यही कारण है, कि चीन के प्रतिनिधियों ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया। चीन के हस्ताक्षरों के बिना ही वर्साय की सन्धि पूर्ण कर ली गई, और चीन ने जर्मनी के साथ पृथक् रूप से सन्धि की।

जर्मनी और चीन की सन्धि—क्योंकि चीन ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था, अतः इस बात की आवश्यकता हुई, कि चीन और जर्मनी पृथक् रूप से सन्धि करें। यह सन्धि २० मई, १९२१ को हुई, और इसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं (१) शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनका वह परित्याग कर दे। कियाऊ चाऊ से जर्मनी के पट्टे का भी अन्त हो जाय। (२) विविध संधियों द्वारा जर्मनी को चीन के विभिन्न बन्दरगाहों में व्यापार करने के सम्बन्ध में जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन सबका अन्त हो जाय। जर्मनी और चीन दोनों देशों के लोगों को यह अधिकार और अवसर हो, कि वे एक-दूसरे देश में व्यापार, यात्रा आदि के लिए स्वतन्त्रता से आ-जा सकें। व्यापार और यात्रा के सम्बन्ध में चीन और जर्मनी के लोगों को समान रूप से अधिकार हो। (३) विविध सन्धियों द्वारा जर्मन लोगों को चीन में 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी' विषयक जो अधिकार प्राप्त थे, उनका अन्त किया जाय। भविष्य में जो जर्मन लोग व्यापार आदि के लिए चीन में रहें, उन पर चीनी कानून लागू हों और उनके अभियोगों का निर्णय चीनी अदालतों द्वारा ही किया जाय।

जर्मनी और चीन की यह सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके कारण कम-से-कम एक पाश्चात्य राज्य ऐसा हो गया, जो चीन को अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अपना समकक्ष मानता था, और जिसे वहां किसी भी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। इससे चीनी लोगों को यह आशा हो गई थी, कि भविष्य में अन्य विदेशी राज्यों से भी वे इसी प्रकार की सम्मानप्रद स्थिति प्राप्त कर सकेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जर्मनी और चीन की सन्धि द्वारा शांतुंग प्रान्त में जापानी प्रभुत्व की समस्या का हल नहीं हो सका था। इसके लिए चीन ने भविष्य में जो उद्योग किया, उस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(५) चीन में अराजकता का काल

इसी अध्याय में पहले हम इस बात पर प्रकाश डाल चुके हैं, कि किस प्रकार पेकिंग और कैन्टन में दो पृथक् चीनी सरकारों की स्थापना हुई। उत्तरी चीन पेकिंग सरकार के अधीन था, और दक्षिणी चीन कैन्टन सरकार के। पर पेकिंग सरकार का उत्तरी चीन पर आधिपत्य नाममात्र का था, क्योंकि विविध सिपहसालार विभिन्न प्रदेशों में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण कर रहे थे, और इस बात के लिए भी प्रयत्नशील थे, कि अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग कर पेकिंग पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें। अनेक अंशों में यही बात कैन्टन सरकार के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। दक्षिणी चीन के विविध प्रदेशों में उसका प्रभुत्व उसी अंश तक विद्यमान था, जहां तक कि विविध सिपहसालार उसकी सत्ता को स्वीकृत करने के लिए उद्यत थे। हम यह भी लिख चुके हैं, कि १६१७ में पेकिंग सरकार का शासन-सूत्र तुआन ची जुई के हाथों में था।

उत्तरी चीन की पेकिंग सरकार—१६२० तक पेकिंग में तुआन ची जुई का आधिपत्य कायम रहा। अन्फू क्लब के सदस्यों को पद और रुपए का लोभ दिखाकर उसने पार्लियामेंट के बहुमत को अपने पक्ष में किया हुआ था। इसी उपाय का आश्रय लेकर उसने अपने प्रभुत्व विरोधी फेंग कुओ चंग के स्थान पर अपने समर्थक ह्सू शिह चंग को राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित करा लिया था। पर इन सब उपायों द्वारा भी उत्तरी चीन में तुआन ची जुई की स्थिति सुरक्षित नहीं हो सकी थी। इसका कारण यह था, कि उत्तरी चीन के अनेक सिपहसालार इस समय अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर थे, और वे पेकिंग पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेने के लिए प्रयत्नशील थे। १६२० में मंचूरिया के सिपहसालार चांग त्सो-लिन ने पेकिंग पर आक्रमण किया। इस आक्रमण में त्साओ कुन उसका प्रधान सहायक था। वह ह्कुआंग का सिपहसालार था। पहले वहाँ का सिपहसालार फेंग कुओ चंग था। पर उसके राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर लेने के बाद उसका नायब त्साओ कुन ह्कुआंग का सिपहसालार बन गया था। क्योंकि तुआन ची-जुई ने फेंग कुओ चंग के स्थान पर ह्सू शिह चंग को राष्ट्रपति निर्वाचित करा दिया था, अतः त्साओ कुन उसका प्रबल विरोधी हो गया था। मंचूरिया के सिपहसालार चांग त्सो लिन और ह्कुआंग के सिपहसालार त्साओ कुन की सम्मिलित सेनाओं ने पेकिंग पर आक्रमण किया। तुआन ची जुई उनका मुकाबिला नहीं कर सका। वह परास्त हो गया, और पेकिंग की सरकार पर चांग त्सो-लिन का आधिपत्य स्थापित हो गया। १६२० से १६२२ तक चांग त्सो-लिन पेकिंग सरकार का अधिपति रहा। पर उसकी सत्ता भी देर तक कायम नहीं रह सकी। त्साओ कुन इस बात को नहीं सह सका, कि अकेला चांग त्सो-लिन पेकिंग का शासन करे। एक अन्य सिपहसालार वू पेई फू के सहयोग से त्साओ कुन ने चांग त्सो-लिन को पेकिंग छोड़कर मंचूरिया वापस चले जाने के लिए विवश किया। मंचूरिया लौट कर चांग त्सो-लिन ने घोषणा की, कि मंचूरिया का पेकिंग सरकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, और अब से मंचूरिया को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाता है।

वू पेई फू का शासन—चांग त्सो-लिन के मञ्चूरिया चले जाने पर पेकिंग में वू पेई फू का शासन कायम हो गया। पर उसकी सत्ता केवल पेकिंग नगरी तक ही सीमित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। मंचूरिया पर चांग त्सो-लिन का आधिपत्य था। उत्तरी चीन के अन्य प्रदेशों पर भी विभिन्न सिपहसालार स्वतन्त्र शासकों के समान शासन करने लग गए थे। वू पेई फू की दशा कितनी शोचनीय थी, इसका अनुमान इस एक घटना से किया जा सकता है, कि १९२४ में जब चांग त्सो-लिन ने अपनी मंचूरियन सेनाओं को साथ लेकर पेकिंग पर एक बार फिर आक्रमण किया, तो स्वाभाविक रूप से वू पेई फू उसका मुकाबिला करने के लिए आगे बढ़ा। पर इस अवसर से लाभ उठाकर उसके सहायक सेनापति फेंग यू-हि सआंग ने पेकिंग पर अपना कब्जा कायम कर लिया, और वू पेई फू को पेकिंग का परित्याग करने के लिए विवश होना पड़ा। पर फेंग यूहि सआंग की स्थिति भी सुरक्षित नहीं थी। अन्य सिपहसालार उसके विरुद्ध लड़ाई करने को उद्यत थे। इस समय चीन में अराजकता विद्यमान थी। पेकिंग सरकार की सत्ता नाममात्र को थी, और विविध सिपहसालार परस्पर संघर्ष में तत्पर थे। यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि इन सिपहसालारों के पारस्परिक संघर्ष के वृतान्त को उल्लिखित कर सकें। वू पेई फू के खिलाफ विद्रोह कर फेंग यू-हि सआंग ने पेकिंग में जो सरकार स्थापित की थी, उसे मंचूरिया के सिपहसालार चांग त्सो-लिन का सहयोग प्राप्त हो गया था। पर इन सेनानियों में भी देर तक सहयोग कायम नहीं रह सका। फेंग यू-हि सआंग ने चांग त्सो-लिन के खिलाफ लड़ाई शुरू कर दी, और १९२५ में चांग त्सो-लिन को एक बार फिर पेकिंग छोड़कर मंचूरिया वापस लौट जाने के लिए विवश होना पड़ा। अब उसने अपने पुराने प्रतिद्वन्द्वी सेनापति वू पेई फू के साथ सुलह कर ली, और १९२६ के शुरू में चांग त्सो-लिन और वू पेई फू की सम्मिलित सेनाओं ने फेंग यू-हि सआंग के विरुद्ध मोर्चा लेने के लिए पेकिंग की ओर प्रस्थान किया। पर उन्हें इस लड़ाई की आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि इस बीच में कैन्टन की कुओमिन्तांग सरकार की शक्ति भली-भांति व्यवस्थित और सुदृढ़ हो गई थी, और कैन्टन सरकार इस प्रयत्न में थी कि उत्तरी चीन के विविध सिपहसालारों को परास्त कर चीन की राष्ट्रीय एकता को फिर से स्थापित करे। इस उद्देश्य से कुओमिन्तांग सरकार की सेनाओं ने १९२६ में पेकिंग की ओर प्रस्थान किया। वू पेई फू को उनका मुकाबिला करने के लिए दक्षिण की ओर जाना पड़ा। कुओमिन्तांग सरकार विविध चीनी सिपहसालारों को परास्त कर चीन की राष्ट्रीय एकता की स्थापना के उद्देश्य में किस प्रकार सफल हुई, इस पर हम ग्यारहवें अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

तुचुन—इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह लिख देना आवश्यक है, कि चीन के जिन सूबेदार-सेनानियों को हम अब तक सिपहसालार नाम से लिखते रहे हैं, चीन में उन्हें तुचुन कहा जाता था। १९१७ से १९२६ तक का काल चीन में विविध शक्तिशाली तुचुनों के पारस्परिक संघर्ष का युग था। इस काल में चीन में कोई व्यवस्थित सरकार विद्यमान नहीं थी। रिपब्लिक का ढांचा कुछ अंशों में पेकिंग में इस काल में भी मौजूद था। तुआन ची जुई और वू पेई फू जैसे तुचुन अपने को प्रधानमन्त्री कहते थे, पर वस्तुतः वे सेनाओं की सहायता से अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में तत्पर थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवां अध्याय

मध्य एशिया और उत्तरी एशिया

(१) मध्य और उत्तरी एशिया

चीन के उत्तर और पश्चिम में एशिया का जो विशाल भूभाग है, वर्तमान समय में वह रूसी सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ के अन्तर्गत है। क्षेत्रफल में यह भूखण्ड ६३ लाख वर्गमील से भी अधिक है, और इसकी आबादी सात करोड़ के लगभग है। भाषा, नसल, धर्म आदि की दृष्टि से इसके निवासी रूसी लोगों से बहुत भिन्न हैं। भौगोलिक दृष्टि से एशिया के इस भाग को चार खण्डों में विभक्त किया जा सकता है—

साइबीरिया	४७,३०,००० वर्गमील
कजाकस्तान	१०,५६,००० वर्गमील
मध्य एशिया	४,७८,००० वर्गमील
ट्रांस-काकेशिया	७१,००० वर्गमील
सर्वयोग	६३,३५,००० वर्गमील

रूसी सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ स्वतन्त्र एवं स्वायत्त गणराज्यों का एक विशाल संघ है, जिसमें १५ गणराज्य सम्मिलित हैं। साइबीरिया का सुविस्तृत प्रदेश रूसी समाजवादी संवर्गात्मक सोवियत रिपब्लिक (The Russian Socialist Federated Soviet Republic) के अन्तर्गत है। इस रिपब्लिक का स्वरूप भी एक संवर्ग (Federation) का है, जिसमें अनेक स्वायत्त गणराज्य, स्वायत्त प्रदेश और राष्ट्रीय क्षेत्र (National Area) सम्मिलित हैं। साइबीरिया के विशाल प्रदेशों में अनेक जातियों व राष्ट्रीयताओं का निवास है। राष्ट्रीय दृष्टि से उनकी पृथक् सत्ता को कायम रखने के लिए उन्हें विभिन्न स्वायत्त प्रदेशों और राष्ट्रीय क्षेत्रों के रूप में संगठित किया गया है। कजाकस्तान रूसी सोवियत समाजवादी जनतन्त्र संघ की एक पृथक् रिपब्लिक के रूप में है, और मध्य एशिया तथा ट्रांस-काकेशिया के प्रदेशों में अजरबैजान सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक, उजबेक सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक, तुर्कमान सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक, खिरगिज सोशलिस्ट रिपब्लिक और आर्मिनियन सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक संगठित हैं। विशाल रूस के अन्तर्गत जो सुविस्तृत एशियन प्रदेश हैं, वर्तमान समय में उन सबमें स्वतन्त्र एवं स्वायत्त गणराज्यों की सत्ता है। इन राज्यों के अपने-अपने संविधान हैं, और इन्हें विदेशी राज्यों के साथ सन्धियां व समझौते करने, अपने राजप्रतिनिधि विदेशों में भेज सकने, और अन्य देशों के राजप्रतिनिधियों को अपने यहां रख सकने के अधिकार भी प्राप्त हैं। यदि इनमें से कोई राज्य चाहे, तो वह रूसी संघ से अपने सम्बन्ध का विच्छेद करके पूर्ण रूप से स्वतन्त्र भी हो सकता है। ये राज्य अपनी सेनाएं भी पृथक् रूप से रख सकते हैं।

संवैधानिक और राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र एवं स्वायत्त स्थिति रखते हुए भी ये राज्य रूस के साथ इस प्रकार के सम्बन्धों में बंधे हुए हैं, जिनके कारण इनकी स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थिति कुछ-न-कुछ सीमित अवश्य हो जाती है। यही कारण है, जो अनेक विचारकों के अनुसार रूस के साथ इनके सम्बन्ध रूसी साम्राज्य के परिचायक हैं। जिस प्रकार अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में विविध पाश्चात्य देशों ने एशिया के विभिन्न प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था, ठीक उसी प्रकार से रूस ने भी मध्य और उत्तरी एशिया में अपने साम्राज्य का प्रसार किया था। रूस के सम्राट् इन प्रदेशों पर ठीक उसी ढंग से शासन करते थे, जैसे कि ब्रिटेन भारत पर और फ्राँस इण्डोचायना पर। बाद में जब कम्युनिस्ट क्रान्ति (१९१७) के परिणामस्वरूप रूस में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हुई, तो इन प्रदेशों में भी विविध सोशलिस्ट गणराज्यों की स्थापना की गई। पर इस नई आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था के कारण इस तथ्य से इनकार नहीं किया जा सकता, कि रूस का एशिया के एक ऐसे विशाल भूखण्ड पर शासन विद्यमान है, जिसके विविध प्रदेशों के निवासी राष्ट्रीयता की दृष्टि से रूसी लोगों से बहुत भिन्न हैं।

मध्य और उत्तरी एशिया के विभिन्न राज्यों का संसार की आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेष महत्त्व नहीं है। एशिया के आधुनिक इतिहास में भी उन्हें महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं है। जनसंख्या की कमी और प्राकृतिक साधनों के विकसित न होने के कारण इन राज्यों को अभी वह महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ है, जो भविष्य में प्राप्त हो सकता है। विकास की दृष्टि से इस भूखण्ड की प्रायः वही स्थिति है, जो अफ्रीका के विशाल महाद्वीप की है। प्राकृतिक साधनों में भी यह भूखण्ड पर्याप्त समृद्ध है। यही कारण है, जो विश्व के अनेक उन्नत देश इस विशाल क्षेत्र को अपने-अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करते रहे हैं। वर्तमान समय में भी इस प्रवृत्ति का अन्त नहीं हो गया है। मध्य एशिया के सम्बन्ध में रूस और चीन में मतभेद एवं हितविरोध का यही कारण है। मध्य एशिया और उत्तरी एशिया का यह विशाल भूखण्ड किस प्रकार रूस के हाथों में आ गया, और उसके सम्बन्ध में किस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का प्रारम्भ हुआ, इस अध्याय में हम इसी प्रश्न पर विचार करेंगे।

(२) रूस का एशिया में प्रसार

पन्द्रहवीं सदी तक रूस अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था, और उसके राजा व सरदार बहुधा आपस में लड़ते रहते थे। तेरहवीं सदी में चंगेज खाँ (११६२-१२२७) ने अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, जो पूर्व में प्रशान्त महासागर से शुरू हो कर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक विस्तृत था। चंगेज खां के उत्तराधिकारियों ने साम्राज्य-विस्तार की प्रक्रिया को जारी रखा, और बातू खाँ ने १२३६ में यूराल नदी को पार कर रूस पर भी आक्रमण किया, और धीरे-धीरे वहां के सब राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। रूस के विविध राजा अब मंगोल सम्राट् की अधीनता स्वीकार करने लगे, और नियमित रूप से कर तथा भेंट-उपहार देकर उसे संतुष्ट रखने लगे। पन्द्रहवीं सदी तक रूस की यही दशा रही, और वह मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। यद्यपि रूस के विविध राज्यों के आन्तरिक शासन में मंगोल सम्राट् कोई हस्तक्षेप नहीं करते थे, और उनके राजाओं को यह अवसर था कि अपने-अपने प्रदेशों में वे स्वेच्छाचार-पूर्वक शासन करते रहें, पर इसमें सन्देह नहीं कि वे मंगोल सम्राट् के वशवर्ती व अधीन थे। १२९४ में विशाल मंगोल साम्राज्य चार भागों में विभक्त हो गया था, जिसके कारण रूस तथा साइबीरिया के मंगोल शासक पेकिंग के केन्द्रीय मंगोल सम्राट् की अधीनता से मुक्त हो गए थे। इस समय से रूस का मंगोल वंश पेकिंग के मंगोल राजवंश से पृथक् हो गया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इसके बाद भी रूस के विविध राजा और सरदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णतया स्वतन्त्र न होकर मंगोलों के अधीन रहे। रूस के इन विविध राजाओं में मास्को का राजा सबसे अधिक शक्तिशाली था, और मंगोल दरबार में उसकी विशेष प्रतिष्ठा थी। पन्द्रहवीं सदी के अन्त में मंगोल साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, और इस स्थिति से लाभ उठाकर मास्को के राजा इवान वासिलेविच द्वितीय ने अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दिया (१४८०)। मंगोल सम्राट् के जो प्रतिनिधि मास्को के राज्य से कर व भेंट-उपहार वसूल करने के लिए नियुक्त थे, उनकी हत्या कर दी गई। इवान वासिलेविच द्वितीय बहुत प्रतापी एवं शक्तिशाली था। उसने रूस के अन्य राजाओं और सरदारों को अपनी अधीनता स्वीकृत करने के लिए विवश किया, और इस प्रकार वह रूस का स्वतन्त्र राजा बन गया। उसके राज्य की सीमा उत्तर में बाल्टिक समुद्र से लगाकर दक्षिण में डान और नीपर नदियों तक विस्तृत थी।

मास्को के राजा केवल रूस में अपना स्वतन्त्र व सुसंगठित शासन स्थापित कर के ही सन्तुष्ट नहीं हो गये, उन्होंने साम्राज्य-विस्तार के लिए भी प्रयत्न प्रारम्भ किया। उस समय यूराल के पूर्व में मंगोलों का शासन था। १४९९ में एक रूसी सेना ने यूराल को पार कर मंगोलों पर आक्रमण किया। एक सदी तक रूसी और मंगोल लोगों में निरन्तर युद्ध होते रहे। अन्त में मंगोल परास्त हुए, और रूसी लोगों के लिये यूराल के पूर्व में अपना प्रसार करने का मार्ग निष्कण्टक हो गया। इवान वासिलेविच चतुर्थ (१५३३-१५८४) ने इस सम्बन्ध में विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया। मंगोलों के विरुद्ध उसने जो घनघोर युद्ध किये, उन्हीं के कारण वह इतिहास में 'भयंकर' के विरुद से प्रसिद्ध है। यूराल के पूर्ववर्ती प्रदेशों पर अधिकार कर लेने के कारण रूस के लिए यह सम्भव हो गया, कि पूर्व दिशा में और आगे बढ़कर वह उस सुविस्तृत प्रदेश में अपना प्रसार कर सके, जिसे 'साइबीरिया' कहते हैं। इस काल तक साइबीरिया में किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हुआ था। वहां आबादी बहुत कम थी, और उसके निवासी प्रायः जंगली व असभ्य थे। पर वहां अनेक ऐसे जन्तु बड़ी संख्या में पाये जाते थे, जिनकी खालें (फर) बहुत कीमती थीं। यूरोप के बाजारों में ये फरें बहुत ऊंचे मूल्य पर बिकती थीं। इनके व्यापार से बहुत लाभ था। फरों से आकृष्ट होकर बहुत-से रूसी शिकारी तथा व्यापारी साइबीरिया जाने लगे। वहां के मूल निवासियों को अपना वशवर्ती बनाने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई। सोलहवीं सदी में फरों के इस व्यापार ने बहुत उन्नति की। इस काल में रूस से जो माल विदेशों में बिकने के लिये जाया करता था, साइबीरिया की फरें उसमें सर्वप्रधान स्थान रखती थीं। राज्य की ओर से इन रूसी शिकारियों और व्यापारियों को प्रोत्साहन दिया जाता था। धीरे-धीरे ईसाई प्रचारकों ने भी साइबीरिया जाना शुरू किया। उनका प्रयत्न था कि इस प्रदेश के मूल निवासियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर लिया जाय। उन दिनों साइबीरिया में न कोई सड़कें थीं, और न आवागमन के कोई अन्य मार्ग। सारा प्रदेश झाड़ियों व जंगलों से आच्छादित था। नदियों के साथ-साथ रूसी शिकारी, व्यापारी और पादरी आगे बढ़ते थे, और अनुकूल स्थानों पर डेरे डालकर रहने लगते थे। साइबीरिया में रूस के इस प्रसार का स्वरूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि अमेरिका में ब्रिटिश, स्पेनिश व अन्य यूरोपियन लोगों का था। अमेरिका में ब्रिटिश व फ्रेंच लोगों की बस्तियां शुरू-शुरू में अटलांटिक सागर के तटवर्ती प्रदेशों में ही स्थापित हुई थीं। धीरे-धीरे ये लोग पश्चिम की तरफ आगे बढ़ते गये, और समयान्तर में हजारों मील की दूरी पार कर प्रशान्त महासागर के तट तक पहुंच गये। ठीक इसी प्रकार रूसी लोगों ने यूराल को पार कर पूर्व की ओर बढ़ना शुरू किया, और हजारों मील पार कर वे प्रशान्त महासागर के तट तक जा पहुंचे। फर के व्यापार को संगठित करने के कार्य में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्रोगनोव नाम के व्यापारी ने विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया। वह एक प्रतापी व समृद्ध व्यक्ति था, और इवान वासिलेविच चतुर्थ का समकालीन था। कामा नदी के समीपवर्ती प्रदेशों में फर के व्यापार को विकसित करने के लिए उसने महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और इसी प्रयोजन से वहां ऐसे किलों का निर्माण कराया, जो रूस की शक्ति के केन्द्र बन गये।

फर के व्यापार को विकसित करते हुए रूसी लोग पूर्व दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते गये। इस काल में उन्होंने साइबीरिया के सुविस्तृत प्रदेशों में जिन किलों का निर्माण किया, उनमें तोबोल्स्क, येनीसीस्क और याकुत्स्क के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सतरहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक रूसी लोगों की बस्तियां ओन नदी के तट पर ओब्दोरोस्क और बेरेजोव में, और इर्तिश नदी के तट पर तोबोल्स्क और तारा में स्थापित हो चुकी थीं। इर्तिश नदी के पूर्व में भी रूसी लोगों ने बढ़ना शुरू कर दिया था, और उन्होंने तोम्स्क और कूजूनेत्सक में अपनी बस्तियाँ कायम कर ली थीं। तोम्स्क को आधार बनाकर वे येनीसेई नदी के प्रदेश में आगे बढ़े। १६३० में उन्होंने याकुत्स्क को आबाद किया, और अगले बीस वर्षों में वे पूर्व में आमूर नदी तक पहुंच गये। इसी क्षेत्र में बैकाल झील के समीप उन्होंने इरकुत्स्त की स्थापना की, और इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये वहाँ के मूल निवासी बूरियत लोगों से घनघोर युद्ध किये। इसी समय के लगभग फर के व्यापारियों का एक दल उत्तरी साइबीरिया में कोलीमा नदी के प्रदेश में जा पहुंचा, और एक अन्य दल प्रशान्त महासागर के तट पर (१६४७)। यहाँ रूसी लोगों ने ओखोत्स्क की नींव डाली। जो रूसी कोलीमा नदी के प्रदेश में गये थे, उनके एक भाग ने पूर्व में और आगे बढ़ते हुए एनेडिर्स्क की स्थापना की। साइबीरिया के क्षेत्र में रूसी लोगों का यह प्रसार कितनी तेजी के साथ हुआ, इसका अन्दाज इस बात से किया जा सकता है, कि एनेडिर्स्क मास्को से हजारों मील की दूरी पर है, और इस सुदूरवर्ती स्थान पर वे एक सदी से भी कम समय में पहुंच गये थे।

साइबीरिया के इन प्रदेशों में जो विविध जातियाँ निवास करती थीं, उन्हें परास्त करने में रूसी लोगों को कोई कठिनाई नहीं हुई। सतरहवीं सदी में यूरोप के लोग जिन अस्त्र-शस्त्रों का उपयोग करते थे, उनके सम्मुख इन असभ्य एवं पिछड़ी हुई जातियों के लिये ठहर सकना सम्भव नहीं था। वे परास्त हो गईं, और साइबीरिया के सुविस्तृत प्रदेश पर रूस का आधिपत्य स्थापित हो गया। यद्यपि साइबीरिया में रूस का प्रसार उन शिकारियों, व्यापारियों और पादरियों द्वारा हुआ था, जो धन कमाने तथा धर्म-प्रचार के प्रयोजन से इस क्षेत्र में सर्वत्र फैल जाने के लिये प्रयत्नशील थे, पर ये वहाँ जो नई बस्तियाँ कायम करते थे, स्वाभाविक रूप से उन पर रूसी सरकार का स्वामित्व माना जाता था, और इस प्रकार धीरे-धीरे साइबीरिया के सब प्रदेश रूस के साम्राज्य में सम्मिलित होते जाते थे। शुरू में रूसी लोग साइबीरिया के उन्हीं प्रदेशों में गये, जहाँ फरें बहुतायत से उपलब्ध थीं। उनकी प्रारम्भिक बस्तियाँ फरों तथा अन्य कीमती पदार्थों को एकत्र करने की केन्द्र-मात्र थीं, पर धीरे-धीरे रूसी लोगों ने यह भी अनुभव किया, कि साइबीरिया के अनेक प्रदेश खेती के लिए भी उपयुक्त हैं। अब तक साइबीरिया में निवास करने वाले रूसी लोग अन्न के लिये रूस पर ही निर्भर रहते थे। पर अठाहवीं सदी में उन्होंने वहाँ खेती भी प्रारम्भ कर दी। १७१६ में ओम्स्क और १७१८ में सेमीप्रातिन्स्क आबाद हुए। इन बस्तियों को आधार बनाकर रूसी लोगों ने दक्षिणी साइबीरिया में प्रसार शुरू किया। दक्षिण के ये प्रदेश खेती के लिये उपयुक्त थे। इस कारण धीरे-धीरे बहुत-से रूसी किसान इन प्रदेशों में बड़े पैमाने पर खेती करने के लिये आने लगे। १६६२

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सम्पूर्ण साइबीरिया में रूसी लोगों की संख्या केवल ७०,००० थी। १७१० में वह बढ़ कर तीन लाख के लगभग तक पहुंच गयी थी। साइबीरिया के शासन के लिए रूस के सम्राट् ने एक पृथक् सरकार का संगठन किया था, जिसकी राजधानी तोबोल्स्क नियत की गई थी। याकुत्स्क और इरकुत्स्क में दो अन्य राजधानियाँ थीं, जो प्रान्तीय सरकारों के हेडक्वार्टर का काम करती थीं।

शुरू में उत्तरी एशिया का जो अवगाहन रूसी लोगों ने प्रारम्भ किया था, उसका उद्देश्य केवल फरों व इसी प्रकार की अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को एकत्र करना था। पर अठारहवीं सदी में खेती के प्रयोजन से भी रूसी लोग साइबीरिया जाने लगे, जिसके कारण वहां उनकी जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। आमूर नदी के प्रदेश में रूसी लोगों का प्रवेश सतरहवीं सदी के मध्य में ही हो चुका था। इस नदी के समीपवर्ती क्षेत्र खेती के लिए बहुत उपयुक्त थे। यह प्रदेश चीन के बहुत समीप है, और इसकी दक्षिणी सीमा चीन के साथ लगती है। यहां चीनी किसान अच्छी बड़ी संख्या में आबाद थे,और इस पर चीन का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता था। प्रशान्त महासागर के समीप के इस सुदूरवर्ती प्रदेश पर चीन के मुकाबिले में अपना आधिपत्य स्थापित कर सकना रूसी लोगों के लिए सुगम नहीं था। चीन के सम्मुख रूसियों ने अपने को असहाय अनुभव किया, और वे इस प्रदेश को छोड़कर आमूर नदी के उत्तर-पश्चिम में लौट जाने के लिए विवश हुए। १६८९ में रूस और चीन में एक सन्धि हो गई, जिसके अनुसार आमूर नदी को चीन और रूस के बीच में सीमा के रूप में स्वीकृत किया गया। इस सन्धि द्वारा चीन ने रूसी व्यापारियों को व्यापार के लिए चीन आने-जाने की अनुमति प्रदान कर दी, जिसके कारण इन दोनों देशों में घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया। १७२७ में रूस और चीन में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार रूस के २०० व्यापारियों को प्रतिवर्ष पेकिंग आने की अनुमति प्रदान की गई। रूस के ये व्यापारी फरों और अन्य कीमती माल को पेकिंग में बेचने के लिए आते थे और वहां से रेशम और चाय खरीद कर अपने देश लौट जाते थे। चीन और रूस का यह सम्बन्ध एक सदी से भी अधिक समय तक कायम रहा, और इस सुदीर्घ काल में आमूर नदी के पूर्व और दक्षिण में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिए रूस ने कोई प्रयत्न नहीं किया।

पर यह दशा देर तक कायम नहीं रही। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक चीन की राजनीतिक दशा बहुत खराब हो गई थी। अनेक पाश्चात्य देशों ने वहां प्रवेश करना प्रारम्भ कर दिया था, और अनेक व्यापारी कैन्टन आदि में अपनी कोठियां स्थापित करने में सफल हो चुके थे। १८३९-४२ में चीन और ब्रिटेन में पहला युद्ध हुआ था, जिसके परिणामस्वरूप चीन ब्रिटेन को व्यापार-सम्बन्धी अनेक सुविधाएं देने के लिए विवश हुआ था। नानकिंग की सन्धि (१८४२) द्वारा चीन की राजनीतिक निर्बलता सबके सम्मुख आ गई थी। इस दशा में रूस ने भी चीन के प्रति अपनी नीति में परिवर्तन किया। १८४७ में रूस के सम्राट् ने काउन्ट निकोलस मुरावीव को पूर्वी साइबीरिया का शासक नियुक्त किया, और उसे चीन की सीमा के क्षेत्रों के सम्बन्ध में नई नीति का निर्धारण करने का आदेश दिया। इस समय तक साइबीरिया के पूर्वी प्रदेशों पर रूस का प्रभुत्व भलीभांति स्थापित हो चुका था। कामचत्का के प्रायद्वीप में रूस की बस्तियां कायम हो चुकी थीं, और बेरिंग के समुद्र में रूस ने ह्वेल मछलियों के व्यवसाय का प्रारम्भ कर दिया था। प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में फ्रांस और ब्रिटेन जिस ढंग से अपने प्रभाव का विस्तार करने में तत्पर थे, रूस उसे भी चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। चीन की राजनीतिक निर्बलता के कारण उसका विदेशी राज्यों द्वारा शोषित होना और उस पर विदेशों का प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बढ़ना सर्वथा स्वाभाविक था। इस दशा में मुरावीव इस बात के लिए प्रयत्नशील हुआ, कि आमूर के पूर्व और दक्षिण के प्रदेशों पर फिर से रूस के प्रभाव को स्थापित करे।

१८५३ में यूरोप में क्रीमियन युद्ध का प्रारम्भ हो गया था। इस युद्ध में ब्रिटेन और फ्रांस रूस के विरोधी पक्ष में थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि इन देशों की सेनाएं प्रशान्त महासागर के तट पर स्थित रूसी बस्तियों पर भी आक्रमण करतीं। इन बस्तियों की रक्षा करने के लिए मुरावीव ने यह आवश्यक समझा, कि अपनी सेनाओं और युद्ध सामग्री को ले जाने के लिए आमूर नदी का उपयोग करे, और १६८९ की सन्धि की परवाह न कर आमूर के पूर्व व दक्षिण में स्थित प्रदेशों से भी अपनी सेनाओं को ले जाया जाय। चीन ने इसका विरोध किया, पर सैनिक आवश्यकता के नाम पर मुरावीव ने चीन के विरोध की कोई परवाह नहीं की। चीन इस समय ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध युद्ध में व्यापृत था। अतः उसके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह आमूर के क्षेत्र में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव का प्रतिरोध कर सके। अतः चीन से युद्ध के बिना ही १८५८ में रूस ने आमूर के प्रदेशों के सम्बन्ध में चीन के साथ एक नई सन्धि की, जिसके अनुसार आमूर नदी के उत्तरी तट के वे सब प्रदेश रूस के अधिकार में आ गए, जो अब तक चीन के अधीन थे। कुछ समय बाद उसूरी नदी और समुद्र के बीच के प्रदेश भी रूस को प्रदान कर दिए गए (१८६०)। इन प्रदेशों की प्राप्ति के कारण प्रशान्त महासागर का ऐसा समुद्र-तट रूस के प्रभुत्त्व में आ गया, जो सामुद्रिक व्यापार के लिए बहुत उपयुक्त था। इसी तट पर रूस ने ब्लादीवोस्तोक के प्रसिद्ध बन्दरगाह का निर्माण किया, जो प्रशान्त महासागर में उसकी नौसेना शक्ति का प्रधान केन्द्र है।

उन्नीसवीं सदी के मध्य तक उत्तरी एशिया में रूस का आधिपत्य भली-भाँति स्थापित हो चुका था, और सम्पूर्ण साइबीरिया उसके अधिकार में आ गया था। यह सुविशाल प्रदेश रूसी लोगों के लिए उसी प्रकार की स्थिति रखता था, जैसी कि ब्रिटेन के लिए अमेरिका के सुविस्तृत प्रदेशों की थी। इसमें रूसी लोग बड़े-बड़े खेत कायम कर सकते थे, इसके खनिज पदार्थों का वे उद्योगों व व्यवसायों के विकास के लिए प्रयोग कर सकते थे, और अपनी अतिरिक्त आबादी को वहां बसा सकते थे। साइबीरिया की आर्थिक उन्नति के लिए रूस ने वहाँ अनेक नई रेलवे लाइनों का निर्माण किया, जिनके कारण मास्को से प्रशान्त महासागर के तट तक आवागमन सुगम हो गया।

(३) मध्य एशिया पर रूस का प्रभुत्त्व

चीन के पश्चिम और अफगानिस्तान तथा ईरान के उत्तर में मध्य एशिया का प्रदेश है, जो इस समय रूसी समाजवादी सोवियत जनतन्त्र संघ के अन्तर्गत है। अठारहवीं सदी के मध्य भाग (१७४०) में इस प्रदेश पर ईरान के नादिरशाह ने अपना आधिपत्य स्थापित किया था। पर जिस प्रकार उसने भारत पर आक्रमण कर यहां अपना स्थायी शासन स्थापित करने का उद्योग नहीं किया, वैसे ही मध्य एशिया में भी उसने अपना शासन स्थायी रूप से कायम नहीं किया। नादिरशाह के आक्रमण के कारण मध्य एशिया में अराजकता छा गई थी और कोई ऐसी शासनशक्ति नहीं रह गई थी जो वहां शान्ति व व्यवस्था कायम रख सकती। इस स्थिति में अनेक खान (सरदार) वहां स्वतन्त्र रूप से शासन करने लग गए, जो आपस में लड़ते रहते थे। अठारहवीं सदी के अन्त तक मध्य एशिया में तीन खान सर्वप्रधान हो गए थे, जिनकी राजधानियां क्रमशः बोखारा, खीव और कोकन्द थीं। इन तीनों राज्यों में उजबेक, ताजिक, खिरखिज और तुर्कमान आदि अनेक जातियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का निवास था। मध्य एशिया के ये तीनों राज्य जहां आपस में लड़ते रहते थे, वहां साथ ही पड़ोस के अन्य राज्यों पर भी आक्रमण करते रहते थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक कोकन्द के खान ने कजाकस्तान के बड़े भाग को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, और ताशकन्द का प्रसिद्ध नगर उसके शासन में आ गया था। कोकन्द के खान बड़े शक्तिशाली और समृद्ध थे। पामीर की पर्वत माला से शुरू कर सीर दरया और चीन की पश्चिमी सीमा तक उनका राज्य विस्तृत था।

पर मध्य एशिया के खानों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में रूस ने इन पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया। कैस्पियन सागर के तट को आधार बनाकर रूसी सेनाएं मध्य एशिया में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। १८६० तक ताशकन्द, समरकन्द आदि रूस की अधीनता में आ गए थे। १८७३ में खीव और १८८४ में मर्व पर भी रूस का अधिकार स्थापित हो गया था। उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने से पूर्व ही सम्पूर्ण मध्य एशिया रूस के आधिपत्य में आ चुका था। मर्व के हाथ में आ जाने से रूस की दक्षिणी सीमा अफगानिस्तान के साथ आ लगी थी, जिसके कारण रूस का शक्तिशाली सम्राट् अफगानिस्तान पर भी अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए प्रयत्न करने लग गया था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में भारत की ब्रिटिश सरकार ने अफगानिस्तान के सम्बन्ध में जो नीति अपनायी थी, रूस इसीलिए उसमें दिलचस्पी लेता था, और उसका विरोध करने के लिए तत्पर रहता था। मध्य एशिया के जीते गए प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व को स्थिर करने के लिए रूस ने अनेक रेलवे लाइनों का निर्माण किया। १८८८ तक ट्रांस-कैस्पियन रेलवे बन कर तैयार हो चुकी थी। १८९८ में इस रेलवे की एक शाखा अफगानिस्तान की सीमा पर स्थित कुश्क से मिला दी गई थी। १९०६ तक मध्य एशिया में सर्वत्र रेलवे लाइनों का एक जाल-सा बिछा दिया गया था। मध्य एशिया की विजय के कारण रूस की सीमा ईरान, अफगानिस्तान, भारत और चीन से आ मिली थी, जिसके परिणामस्वरूप एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया था।

क्योंकि सम्पूर्ण मध्य एशिया पर रूस का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, अतः उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध से इस क्षेत्र में निवास करने वाली विविध जातियों का अपना कोई पृथक् इतिहास नहीं है। सभ्यता की दृष्टि से ये जातियां बहुत पिछड़ी हुई थीं। रूस में एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासन के युग में इन जातियों पर रूस के शासन का वही स्वरूप था, जो पराधीन जातियों के शासन का होता है। इनमें अपनी स्वतन्त्रता के लिए कोई ऐसे आन्दोलन नहीं चले, जो उल्लेखनीय हों। इन पर रूस का प्रभुत्व होने के कारण कतिपय अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएं अवश्य उत्पन्न होती रहीं। १९१७ में जब रूस में राज्यक्रान्ति के परिणामस्वरूप कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हुई, तो वहां के नये शासकों ने मध्य एशिया में अनेक स्वतन्त्र समाजवादी गणराज्यों की स्थापना कर दी। इन गणराज्यों का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

(४) ट्रांस-काकेशिया पर रूस का प्रभुत्व

भौगोलिक दृष्टि से यद्यपि ट्रांसकाकेशिया का प्रदेश यूरोप के अन्तर्गत है, पर पश्चिमी एशिया की उत्तरी सीमा पर स्थित होने के कारण इसका एशिया के इतिहास के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। जिस प्रक्रिया द्वारा रूस ने मध्य एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, उसी से उसने इस प्रदेश को भी अपने साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। अठारहवीं सदी में ट्रांसकाकेशिया अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था। पश्चिमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यार्जिया का प्रदेश तुर्की के अधीन था, और पूर्वी ज्यार्जिया ईरान के। अजरबैजान और आर्मीनिया भी ईरान के प्रभुत्त्व में थे। यद्यपि इन विभिन्न प्रदेशों में अनेक स्थानीय सरदारों का शासन था, पर वे पड़ोस के शक्तिशाली राजाओं (तुर्की और ईरान के) का प्रभुत्त्व स्वीकार करते थे। नादिरशाह ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए ट्रांस-काकेशिया के इन प्रदेशों पर भी आक्रमण किया था, और इन्हें भी जीत कर अपने अधीन कर लिया था। पर उसकी मृत्यु के बाद जिस प्रकार उसके साम्राज्य के अन्य प्रदेशों में अव्यवस्था और अराजकता फैल गई, वही दशा ट्रांस काकेशिया के प्रदेशों की भी हुई। हेरेक्लियस नाम के एक प्रतापी सरदार ने ज्यार्जिया में अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली। पर तुर्की और ईरान को यह सह्य नहीं हुआ, कि उनके पड़ोस के इस प्रदेश में एक स्वतन्त्र राज्य कायम हो जाय। उन्होंने उस पर हमले शुरू कर दिए। इस स्थिति में ज्यार्जिया के सम्मुख यही मार्ग था, कि वह रूस को अपना संरक्षक स्वीकार कर ले, और उसकी सहायता से अपनी पृथक् व स्वायत्त सत्ता की रक्षा करे। परिणामस्वरूप, १७८३ में ज्यार्जिया ने रूस के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार रूस ने ज्यार्जिया की रक्षा करना स्वीकार कर लिया। पर इससे भी ज्यार्जिया की समस्याओं का अन्त नहीं हो सका। १७९५ में ईरान के शाह खां आगा मुहम्मद ने ज्यार्जिया पर आक्रमण किया और वहां के धन व जन का बुरी तरह से विनाश किया। इस दशा में ज्यार्जिया के राजा ज्यार्ज सप्तम को अपनी रक्षा का केवल यही उपाय समझ में आया, कि वह पूरी तरह से अपने को रूस की अधीनता में कर दे। १८०१ में ज्यार्जिया का राज्य रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया।

१८०२ में रूसी सेनाओं ने ट्रांस-काकेशिया के अन्य प्रदेशों पर भी आक्रमण प्रारम्भ किए। नादिरशाह की मृत्यु के बाद इन प्रदेशों (अजरबैजान और आर्मीनिया) में विविध मंगोल व तुर्क खान स्वतन्त्रतापूर्वक शासन करने लग गए थे। ये रूसी सेनाओं का मुकाबिला नहीं कर सके, और १८०५ तक ये सब रूस की अधीनता में आ गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसवां अध्याय

तिब्बत, मंगोलिया और सिन्किआंग

(१) भौगोलिक परिचय

तिब्बत, मंगोलिया और सिन्किआंग—ये तीनों प्रदेश एशिया महाद्वीप के उस क्षेत्र के अन्तर्गत हैं, जिसे हम ऊर्ध्व एशिया कह सकते हैं। इन प्रदेशों का कुल क्षेत्रफल २५,६९,१११ वर्तमील है, और १९४१ में इनकी जनसंख्या १,७९,६६,००० के लगभग थी। यह स्पष्ट है, कि क्षेत्रफल की दृष्टि से इन प्रदेशों की आबादी बहुत कम है, और एक वर्गमील में औसतन सात व्यक्तियों का निवास है। राजनीतिक दृष्टि से ये तीनों प्रदेश विशाल चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत रहे हैं। मञ्चू राजवंश के शासनकाल में तिब्बत और सिन्किआंग चीन के अधीनस्थ देश थे, और मंगोलिया में निवास करने वाली विविध जातियाँ भी मञ्चू सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार करती थीं। वर्तमान समय में तिब्बत और सिन्किआंग समाजवादी (कम्युनिस्ट) चीनी गणराज्य के अंग है; और मंगोलिया दो भागों में विभक्त है, आभ्यन्तर मंगोलिया और बाह्य मंगोलिया। इनमें से आभ्यन्तर मंगोलिया चीन की समाजवादी रिपब्लिक का एक भाग है, और बाह्य मंगोलिया में एक पृथक् समाजवादी रिपब्लिक (मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक) स्थापित है, जो पूर्णतया स्वतन्त्र स्थिति रखती है।

क्षेत्रफल और जनसंख्या की दृष्टि से इन तीनों (या चारों) देशों की क्या स्थिति है, यह निम्नलिखित तालिका द्वारा भली-भांति स्पष्ट हो जायगा :—

देश	क्षेत्रफल	आनुमानित जनसंख्या	प्रतिवर्ग मील आबादी
आभ्यन्तर मंगोलिया	३,२६,२८५	४८,४२,०००	१४.८
बाह्य मंगोलिया	६,२५,७८३	२२,७८,०००	३.३
तिब्बत	९,११,२७४	६७,९१,०००	७.५
सिन्किआंग	७,०५,७९६	४०,५५,०००	५.७
ऊर्ध्व एशिया	२५,६९,१११	१,७९,६६,०००	७

इस तालिका में विविध देशों की जो आबादी दी गई है, उसमें सिन्किआँग की आबादी १९४८ की मनुष्यगणना के आधार पर है और अन्य देशों की १९४१ की जनगणना के आधार पर। वर्तमान समय में इनकी आबादी इससे अधिक है। पर इस तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है, कि एशिया भर में अन्य कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहाँ प्रति वर्गमील मनुष्यों की आबादी इतनी कम हो। ऊर्ध्व एशिया में जनसंख्या की इस कमी के कारण निम्नलिखित हैं—(१) यह प्रदेश बहुत अधिक ठण्डा है। तिब्बत समुद्रतल से १६,००० फीट के लगभग ऊंचाई पर स्थित है, अतः स्वाभाविक रूप से वहाँ बहुत अधिक ठण्ड पड़ती है। मंगोलिया की ऊंचाई भी प्रायः ३००० से ५००० फीट तक है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) सिन्किआँग और मंगोलिया में बड़े-बड़े मरुस्थल हैं, जिनके कारण वहाँ मनुष्यों के लिये अपनी आजीविका प्राप्त करने के साधन जुटा सकना सुगम नहीं है। जहाँ मरुस्थल नहीं हैं, वहाँ की प्राकृतिक दशाएं भी ऐसी नहीं हैं, कि अन्न प्रचुर परिमाण में उत्पन्न किया जा सके। बहुत-से प्रदेश सूखी घास व छोटी-छोटी झाड़ियों से आच्छादित हैं, जिनमें भेड़ बकरियों को तो पाला जा सकता है, पर खेती भली-भांति नहीं की जा सकती। ऊर्ध्व एशिया के सुविस्तृत प्रदेशों में ऐसे स्थान बहुत कम हैं, जो खेती और मानव सभ्यता के विकास के लिये उपयुक्त हों। यही कारण हैं, कि अब तक इन प्रदेशों में समृद्ध ग्रामों व नगरों का सुचारु रूप से विकास नहीं हो सका है। पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि आर्थिक दृष्टि से इन प्रदेशों का भविष्य उज्ज्वल नहीं है। आधुनिक समय की वैज्ञानिक उन्नति द्वारा अब यह सम्भव हो गया है, कि सिंचाई आदि द्वारा इस क्षेत्र के अनेक स्थानों को उपजाऊ खेतों के रूप में परिवर्तित किया जा सके। रूस और चीन इसके लिये प्रयत्नशील भी हैं। कोई आश्चर्य नहीं, कि निकट भविष्य में मंगोलिया और सिन्किआंग प्रचुर परिमाण में अनाज और अन्य पदार्थों को उत्पन्न करने लगें। साथ ही, ऊर्ध्व एशिया के इन प्रदेशों में कोयला, लोहा, पेट्रोलियम आदि भी प्रभूत मात्रा में विद्यमान हैं। वैज्ञानिक साधनों के प्रयोग से ज्यों-ज्यों इन प्रदेशों में यातायात और आवागमन के साधनों का विकास होता जायगा, त्यों-त्यों इनके खनिज द्रव्यों की उपलब्धि भी सम्भव होती जायगी, और इससे इस क्षेत्र की आर्थिक उन्नति में असाधारण सहायता मिलेगी।

ऊर्ध्व एशिया के इस सुविस्तृत क्षेत्र के दक्षिण में हिमालय की पर्वतश्रृंखला है। इसके उत्तर में भी अनेक पर्वतमालाएं हैं, जिनमें तिएनशान और अल्ताई की पर्वतमालाएँ मुख्य हैं। इसके पश्चिम में पामीर पर्वत की स्थिति है, और पूर्व में चीन के विस्तृत मैदान की।

तिब्बत—ऊर्ध्व एशिया का सबसे दक्षिणी प्रदेश तिब्बत है। यह देश पूर्व से पश्चिम तक प्रायः उतना ही लम्बा है, जितना कि भारतवर्ष है। उत्तर से दक्षिण तक इसकी चौड़ाई ६०० से ७०० मील तक है। इसके दक्षिण में हिमालय है, और उत्तर में कुनलुन की पर्वतमाला। पश्चिम में इसे कराकुरम और हिमालय की विविध पर्वत-श्रृंखलाओं ने घेरा हुआ हैं, और इसके पूर्व में दक्षिणी चीन के विशाल मैदान हैं। तिब्बत स्वयं एक विशाल पथार के समान है, जिसकी औसतन ऊंचाई १६,००० फीट है। राजनीतिक दृष्टि से तिब्बत दो भागों में विभक्त है, पूर्वी या आभ्यन्तर तिब्बत (इनर तिब्बत) और तिब्बत। चीन और दक्षिणी-पूर्वी एशिया की अनेक बड़ी नदियों का उद्गम स्थान पूर्वी तिब्बत में ही है। इनमें ह्वांगहो, यांगत्से, मेकोङ्ग और सालवीन नदियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पूर्वी तिब्बत के भी दो भाग हैं—सिकांग और चिन्घाई। सिकांग पूर्वी तिब्बत का दक्षिणी प्रदेश है। इसके अनेक स्थल उपजाऊ हैं, और खेती के लिये उपयुक्त है। यही कारण है, कि इनमें बहुत-सी चीनी बस्तियाँ विकसित हो गई हैं, और चीनी लोग यहाँ खेती के लिये आबाद होने लगे हैं। सिकांग का कुल क्षेत्रफल १,७२,८६३ वर्ग-मील है, और उसकी आबादी १७,५६,००० है। जनसंख्या का अनुपात वहाँ १० मनुष्य प्रति वर्गमील है। सिकांग के कुछ स्थानों पर सघन जंगल भी विद्यमान हैं। इसके विपरीत चिन्घाई (जो पूर्वी तिब्बत का उत्तरी प्रदेश है) सूखी घास और छोटी-छोटी झाड़ियों से आच्छादित है, और खेती के लिये उपयुक्त स्थानों का वहां प्रायः अभाव है। उसकी ऊंचाई भी औसतन १२,००० फीट है। भेड़ बकरी आदि के पालन के लिये यह प्रदेश उपयुक्त है। इसका क्षेत्रफल २,६६,२१७ वर्गमील है, और इसमें १५,१३,००० मनुष्यों का निवास है। प्रति वर्गमील केवल ६ के लगभग मनुष्य वहां बसते हैं। कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही है, कि लोग वहां खेती के बजाय पशुपालनद्वारा अपना निर्वाह करते हैं। पूर्वी तिब्बत में कोई खनिज पदार्थ उपलब्ध हैं या नहीं, इसका भी अभी अनुसन्धान नहीं हुआ है। पर कतिपय छोटे-छोटे कस्बे वहाँ अवश्य विकसित हो गये हैं, जिनमें चापदो और बताँग प्रमुख हैं। पूर्वी तिब्बत के खेतों और चरागाहों से जो कपितय अनाज, ऊन आदि पदार्थ प्राप्त होते हैं, वे इन कस्बों में विक्री के लिये आते हैं, और धीरे-धीरे ये कस्बे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। पूर्वी तिब्बत चीनी गणराज्य के अन्तर्गत है, और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसे चीन का अंग स्वीकृत किया जाता है। १९१४ में शिमला में ब्रिटेन, चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों की जो कान्फरेन्स हुई थी, उसमें पूर्वी तिब्बत और तिब्बत की सीमा निर्धारित करने का प्रयत्न किया गया था। पर इस सीमा के सम्बन्ध में चीन और ब्रिटेन में विवाद रहा है, यद्यपि अब इस विवाद की आवश्यकता नहीं रह गई है, क्योंकि सम्पूर्ण तिब्बत ही इस समय चीन के अन्तर्गत हो गया है।

पश्चिमी तिब्बत को भी प्राकृतिक दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—चङ् थङ् और दक्षिणी तिब्बत। चङ् थङ् अत्यधिक शीतप्रधान पथार है, जो ल्हासा से उत्तर में कुनलुन पर्वतमाला तक फैला हुआ है। यह प्रायः १६,००० फीट ऊंची है, और इसके अनेक पर्वत शिखर तो २०,००० फीट से भी अधिक ऊंचे हैं। इस प्रदेश में कोई भी फसल पैदा नहीं की जा सकती। क्षेत्रफल की दृष्टि से पश्चिमी तिब्बत का तीन चौथाई भाग चङ् थङ् के पथार के अन्तर्गत है। इतने विस्तृत भूखण्ड में जो थोड़े बहुत मनुष्य निवास करते हैं, उनकी आजीविका का प्रधान साधन पशुपालन है। वे याक और भेड़ बकरी पाल कर अपना निर्वाह करते हैं। दक्षिणी तिब्बत में अनेक ऐसे प्रदेश हैं, जो खेती और मनुष्यों के निवास के लिये अधिक उपयुक्त हैं। इसकी ऊंचाई ६,००० फीट से १५,००० फीट तक की है। ऊंची जमीन पर भी यहां जो घास व अन्य वनस्पति उत्पन्न होती हैं, वे पशुओं के लिये अधिक अनुकूल हैं, और यही कारण है, कि इस प्रदेश में भेड़, बकरी, याक आदि को पाल सकना अधिक सुगम है। साथ ही कम ऊंचाई की घाटियों में ऐसी जमीन भी पर्याप्त हैं, जिसे खेती के काम में लायाजा सकता है। इसीलिये इस प्रदेश के अनेक स्थानों पर आलू, जौ, गेहूँ और साक सब्जी की खेती की जाती है, और इसमें अनेक ऐसे ग्रामों व नगरों का भी विकास हो गया है, जिनमें मनुष्य अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। यही कारण है, कि इस दक्षिणी तिब्बत में प्रति वर्गमील १५ मनुष्यों का निवास है। इस प्रदेश की मुख्य नदी त्सांग् पो है, जिसकी एक शाखानदी के तट पर तिब्बत की राजधानी ल्हासा स्थित है। ल्हासा तिब्बत का मुख्य नगर है, और उसकी स्थिर आबादी २०,००० के लगभग है। तिब्बत के अन्य बड़े नगर ग्यांची और शिगात्से हैं। दक्षिणी तिब्बत का भारत के साथ व्यापार आदि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत आने-जाने का मुख्य मार्ग ल्हासा से दक्षिण की ओर कालिम्पोंग होकर आता है।

सिन्किआंग—तिब्बत के उत्तर में कुनलुन पर्वतमाला के पार सिन्कियांग का सुविस्तृत प्रदेश है। इसके ठीक बीच में तकलामकान का विशाल मरुस्थल है, जिसके उत्तर और दक्षिण दोनों पार्श्वों में अनेक हरे भरे स्थान हैं। चीन से रूस आने-जाने वाले मार्ग इसी मरुस्थल के दक्षिण व उत्तर से होकर जाते हैं। सिन्किआंग का उत्तरी मार्ग कान्सू (चीन में) से हामी और बर्कुल होता हुआ तिहवा या उरुम्ची पहुँचता है, और वहाँ से पश्चिम-उत्तर की ओर जाता हुआ चुगुचक पहुंच जाता है। चुगुचक नगर सिन्किआंग और रूस की सीमा पर स्थित है। तिहवा सिन्किआंग की राजधानी है, और १९४८ में उसकी आबादी ६०,२७५ थी। हामी, बर्कुल और तिहवा तकलामकान मरुस्थल के उत्तरी भाग में स्थित हरे भरे क्षेत्र हैं, और इसी कारण इनमें इन नामों के नगर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विकसित हो गये हैं। सिन्किआंग का उत्तरी मार्ग तकलामकान मरुस्थल के उत्तर में स्थित तिएनशीन पर्वतमाला के उत्तर की ओर से होता हुआ तिहवा और चुगुचक तक जाता है। पर इस उत्तरी मार्ग के अतिरिक्त एक अन्य मार्ग भी है, जो हामी से उत्तर-पश्चिम की ओर न मुड़कर सीधा पश्चिम की ओर जाता है, और तुर्फान, कूचा तथा आक्सू होता हुआ काशगर पहुँच जाता है। इसे सिन्किआंग के उत्तरी मार्ग की ही दक्षिणी शाखा कह सकते हैं। पर इन दो उत्तरी मार्गों के अतिरिक्त एक तीसरा अन्य मार्ग है, जो तकलामकान मरुस्थल के दक्षिण में कान्सू से चर्चन, खोतान ओर यारकन्द होता हुआ काशगर पहुंचता है। सिन्किआंग में खोतान, यारकन्द और काशगर व्यापार के बड़े केन्द्र हैं, और अच्छे समृद्ध नगर हैं। यहां से अनेक मार्ग रूस, अफगानिस्तान और काश्मीर को जाते हैं। भारत के प्राचीन बौद्ध पण्डितों ने इन्हीं मार्गों द्वारा मध्य एशिया में बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। मंगोल विजेताओं ने जो चीन से रूस तक अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, उसके लिये भी उन्होंने सिन्किआंग के इन्हीं विविध मार्गों का उपयोग किया था।

सिन्किआंग का कुल क्षेत्रफल ७,०५,७५९ वर्गमील है, और १९४८ में उसकी जनसंख्या ४०,५५,००० थी। तकलामकान के विशाल मरुस्थल के कारण इस प्रदेश में जनसंख्या का अनुपात एक वर्गमील में केवल ५.७ पड़ता है। इस आबादी के ७७ प्रतिशत लोग इस्लाम के अनुयायी हैं, और कृषि तथा व्यापार द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। इन मुसलमानों को तुर्की व उईगूर कहा जाता है। काशगर आदि नगर जिन हरे भरे स्थानों पर स्थित हैं, वे खेती के लिये बहुत उपयुक्त हैं। इसीलिये ये नगर अच्छे समृद्ध हैं। १९३० में इन नगरों की जनसंख्या इस प्रकार थी—काशगर ३५,०००, यारकन्द ६०,००० और खोतान २६,०००। सिन्किआंग के नगरों की बसंहुख्यक जनता मुसलमान है, यद्यपि उनके अल्पसंख्यक निवासी धर्म से बौद्ध भी हैं। यही बात उन विविध जातियों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, जो पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करती हैं।

यद्यपि सिन्किआंग राजनीतिक दृष्टि से चीन के अन्तर्गत है, पर रूस की समाजवादी सरकार का उस पर बहुत प्रभाव है। चीन में समाजवादी व्यवस्था स्थापित होने से पूर्व ही रूस ने इस प्रदेश को अपने प्रभाव में लाना शुरू कर दिया था। रूसी रेलवे का स्टेशन आल्मा-आता सिन्किआंग की उत्तर-पश्चिमी सीमा से अधिक दूर नहीं है। सिन्किआंग की राजधानी तिह्वा और आल्मा-आता के बीच में केवल ६०० मील का अन्तर है, जबकि चीन का समीपतम रेलवे स्टेशन वहां से कहीं अधिक दूर है। रूस के प्रयत्न से तिह्वा और आल्मा-आता के बीच में ऐसी सड़कों का निर्माण हो गया है, जिनमें मोटरें चल सकती हैं। इसीलिये उत्तरी सिन्किआंग का रूस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भलीभांति विकसित हो गया है। दक्षिणी सिन्किआंग का व्यापार भारत, अफगानिस्तान और चीन के साथ होता है, यद्यपि इस व्यापार के लिए अब तक भी खच्चरों और घोड़ों का ही प्रयोग किया जाता है। चीन और सिन्किआंग के बीच में अब ऐसी सड़कें भी बन गई हैं, जिन पर मोटरें आ जा सकती हैं। सिन्किआंग और रूस के बीच में हवाई जहाजों की सर्विस भी विद्यमान है। इसके लिये हामी, तिह्वा और इली में हवाई जहाजों के उतरने के लिये अड्डों का निर्माण किया गया है। चुंगकिंग से आल्मा आता तक बाकायदा हवाई जहाज चलते हैं, जो मार्ग में सिन्किआंग में हामी, तिह्वा और इली में उतरते हैं। हवाई जहाजों की इस सर्विस के कारण अब ऐसी स्थिति आ गई है, कि सिन्किआंग को सभ्य संसार से सर्वथा पृथक् नहीं समझा जा सकता। खनिज पदार्थों की दृष्टि से भी सिन्किआंग पर्याप्त समृद्ध है। वहां पेट्रोलियम भी उपलब्ध हुआ है। आधुनिक वैज्ञानिक साधनों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रयोग से जब इस प्रदेश का भली-भांति अवगाहन किया जायगा, तो इसमें सन्देह नहीं कि इसके आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिलेगी।

मंगोलिया—सिन्किआंग के पूर्व, चीन की दीवार के उत्तर और साइबीरिया के दक्षिण में विद्यमान सुविस्तृत प्रदेश को मंगोलिया कहते हैं। इस के उत्तरी और दक्षिणी भाग ऐसे हैं जो उपजाऊ हैं, और जहां मानव सभ्यता का विकास सम्भव है। इनके बीच का प्रदेश एक विशाल मरुस्थल है, जिसे गोबी का रेगिस्तान कहते हैं। गोबी मरुस्थल का दक्षिणी भाग और उसके नीचे का निवास-योग्य प्रदेश इनर (आभ्यन्तर) मंगोलिया कहाता है। यह चीन के अन्तर्गत है, और वर्त्तमान समय में तीन प्रान्तों में विभक्त है। इन प्रान्तों के नाम हैं, चहर, सुइयुआन और निंग्हिसआ। गोबी मरुस्थल का बड़ा भाग और उसके उत्तर का प्रदेश आउटर (बाह्य) मंगोलिया कहलाता है। मञ्चू सम्राट् इस पर भी अपना आधिपत्य समझते थे, और उनके समय में यह प्रदेश चीन की अधीनता में भी था। पर चीन की अधीनता के काल में भी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण इस प्रदेश का अधिक सम्बन्ध रूस के ही साथ था। १६२१ से बाह्य मंगोलिया चीन से पृथक् है, और वहां मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक स्थापित है, जिसका संगठन समाजवादी व्यवस्था के अनुसार किया गया है। रूस के सोवियत यूनियन के साथ इस मंगोलियन रिपब्लिक का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से इस समय बाह्य और आभ्यन्तर मंगोलिया एक-दूसरे से पृथक् हैं।

आभ्यन्तर मंगोलिया का क्षेत्रफल ३, २६, २८५ वर्गमील है, और उसकी जन-संख्या ४८,४२,००० है। ऊर्ध्व एशिया का यह प्रदेश आबादी की दृष्टि से अन्य सब प्रदेशों के मुकाबिले में बढ़ कर है। यहां प्रति वर्गमील में १५ के लगभग मनुष्यों का निवास है। गोबी मरुस्थल के दक्षिणी भाग में मंगोलिया का जो प्रदेश है, वह चौड़ाई में अधिक से अधिक २५० मील है, यद्यपि उसका अधिकांश भाग ४० मील से भी कम चौड़ा है। इस प्रदेश में जहां पशुपालन के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ हैं, वहां साथ ही कृषि के योग्य भूमि भी पर्याप्त मात्रा में है। इन स्थानों पर चीनी लोगों ने अपनी बहुत-सी बस्तियां कायम की हैं, और वे ज्वार, जौ, गेहूँ, सरसों, अलसी, आलू आदि की खेती करके अपना निर्वाह करते हैं।

गोबी मरुस्थल के उत्तर में बाह्य मंगोलिया की स्थिति है। यह क्षेत्रफल में ६, ०४,०६५ वर्गमील है, और १६४४ में इसकी जनसंख्या २२,७८,००० थी। रेगिस्तान की अधिकता के कारण इस प्रदेश में जनसंख्या बहुत कम है। एक वर्गमील में केवल ३·३ मनुष्यों का निवास है। इस प्रदेश के बहुसंख्यक निवासी पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह करते हैं। पर कुछ स्थल ऐसे भी हैं, जो खेती के लिये उपयुक्त हैं। इनमें प्रधानतया जौ, बाजरा और ज्वार की खेती की जाती है। रूस की समाजवादी व्यवस्था के कारण मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक उन्नति के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो रही है। सिंचाई की ओर वहां की सरकार का विशेष ध्यान है। इसीलिये अब वहां न केवल चरागाह अधिक उन्नति कर रहे हैं, अपितु खेती के योग्य जमीन भी लगातार बढ़ रही है। सरकार इस बात का भी यत्न कर रही है, कि इस प्रदेश में खनिज द्रव्यों का पता किया जाय और खानों का विकास हो। लोहे, तांबे, सोने, चाँदी और सीसे की सत्ता का वहां पता भी लग चुका है, और सरकार इन धातुओं की निकासी के लिये प्रयत्नशील है। अनेक कल-कारखानों के विकास का भी वहां प्रयत्न किया जा रहा है। मंगोलिया रिपब्लिक की राजधानी उलान बातोर है, जो रेलवे और सड़कों द्वारा रूस के साथ सम्बद्ध है। हवाई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जहाजों की सर्विस भी मंगोलिया में प्रारम्भ की जा चुकी है।

ऊर्ध्व एशिया के विविध देशों का यह परिचय उनके इतिहास को समझने में बहुत सहायक होगा। अभी तक इन देशों का भौगोलिक परिज्ञान भी संसार के अन्य सभ्य व उन्नत देशों के समान पूर्ण नहीं है। न इनकी सीमाएं भली-भांति निर्धारित हैं, और न ही इनकी प्राकृतिक दशाओं के विषय में पूरा-पूरा ज्ञान प्राप्त किया जा सका है। इस दशा में इनके प्राचीन तथा अर्वाचीन इतिहास के सम्बन्ध में परिचय दे सकना सुगम नहीं है। फिर भी हम इस अध्याय के अगले प्रकरणों में इनके इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

(२) तिब्बत

प्राचीन इतिहास—संसार के अन्य देशों के समान प्राचीन समय में तिब्बत में भी अनेक छोटे-बड़े राज्य थे। सातवीं सदी में इस देश में स्रोङ-गचन-गस्म्-पो नाम का शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने अन्य बहुत-से राजाओं को जीतकर अपनी शक्ति का विस्तार किया। अपने समकालीन भारतीय राजा हर्षवर्धन के समान वह भी अत्यन्त महत्त्वाकांक्षी और प्रबल सम्राट् था, और उसने पश्चिम में गिलगित, उत्तर में चीनी तुर्किस्तान, दक्षिण में नेपाल, और पूर्व में पश्चिमी चीन तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया था। ल्हासा नगरी को उसने अपने विशाल साम्राज्य की राजधानी बनाया था। इस सम्राट् की दो रानियाँ थीं, प्रथम नेपाल के राजा अंशुवर्मा की कन्या खि-चुन और दूसरी चीन के राजा की कन्या कोङ-जो। ये दोनों रानियां बौद्ध धर्म को मानने वाली थीं, और सम्राट् स्रोङ-गचन-गस्म्-पो ने उनके पूजा पाठ के लिए विशाल बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया था। यद्यपि बौद्ध धर्म का प्रवेश इस समय से पहले भी तिब्बत में हो चुका था, पर सम्राट् का आश्रय पाकर सातवीं सदी में इस धर्म का तिब्बत में बड़ी तेजी के साथ प्रचार हुआ। इसी समय तिब्बत की भाषा को लेखबद्ध करने के लिए लिपि भी बनायी गई, और तिब्बत में साहित्य के निर्माण के साथ-साथ कला, सभ्यता, संस्कृति आदि के क्षेत्र में भी उन्नति शुरू हुई।

सम्राट् स्रोङ-गचन-गस्म्-पो के समय में तिब्बत का जो उत्कर्ष शुरू हुआ था, वह उसके उत्तराधिकारियों के समय में जारी रहा। तिब्बत के इन शक्तिशाली सम्राटों में ख-स्रोङ-ल्दे-ब्त्सन (८०२--८४५ ई० प०) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। तिब्बत के इतिहास में उसका वही स्थान है, जो भारत में सम्राट् अशोक का है। उसने अपने देश में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से उद्योग किया। अपने देश में बौद्ध धर्म की सुचारु रूप से स्थापना के लिए उसने आवश्यक समझा, कि भारत से किसी ऐसे प्रसिद्ध विद्वान् को तिब्बत आने के लिए निमन्त्रित करे, जो अपने धार्मिक सिद्धान्तों का प्रकाण्ड पण्डित हो। इसके लिये उसने अपने राजप्रतिनिधि भारत भेजे। इन राजप्रतिनिधियों ने नालन्दा महाबिहार के प्रसिद्ध आचार्य शान्तरक्षित को तिब्बत पधारने के लिए निमन्त्रित किया। आचार्य शान्तरक्षित ने तिब्बत जाकर वहां बौद्ध धर्म को विशुद्ध रूप में स्थापित किया। उनके शरीर के अवशेष आज तक भी तिब्बत के एक चैत्य में विद्यमान हैं, और बौद्ध लोग उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते हैं। आचार्य शान्तरक्षित के बाद पद्मसम्भव, कमलशील, ज्ञानेन्द्र, विमलमित्र आदि कितने ही भारतीय विद्वान् तिब्बत गये। इन विद्वानों ने सैकड़ों बौद्ध ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया। नवीं और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दसवीं सदियों में भारतीय आचार्यों के प्रयत्न से तिब्बत में बौद्ध धर्म ने अच्छी उन्नति की। पर ग्यारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में तिब्बत के बौद्ध धर्म में शिथिलता आने लग गई थी। इस दशा में विक्रमशिला महाबिहार के प्रधान आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान (अतीशा) ने तिब्बत जाकर बौद्ध धर्म में नवजीवन का संचार किया। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि तिब्बत में बौद्ध धर्म के भारतीय आचार्यों और उनके तिब्बती शिष्यों के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से लिख सकें। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि भारतीय आचार्यों के प्रयत्न से तिब्बत में धर्म और ज्ञान की बहुत अधिक उन्नति हुई, और बहुत-से बौद्ध चैत्यों और मठों की स्थापना हुई। ये मठ और बिहार न केवल बौद्ध धर्म के केन्द्र थे, अपितु साथ ही ज्ञान-विज्ञान के भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे।

तेरहवीं सदी के शुरू में प्रसिद्ध मंगोल सम्राट् चंगेज खां की मंगोल सेनाओं ने तिब्बत पर भी आक्रमण किया, और प्रायः सारे तिब्बत को मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। पर मंगोल साम्राज्य के विस्तार से तिब्बत के बौद्ध पण्डित निराश नहीं हुए। मंगोल साम्राज्य के साथ तिब्बत का जो सम्बन्ध इस समय स्थापित हुआ था, उसका उपयोग कर उन्होंने मंगोलिया में भी बौद्ध प्रचारकों को भेजा। आगे चलकर ये बौद्ध भिक्षुक न केवल मंगोल लोगों को अपितु चीन के मंगोल सम्राट् को भी बौद्ध धर्म में दीक्षित करने में सफल हुए। १२४८ में चीन के मंगोल सम्राट् ने तिब्बत के दबुस् और गचङ (जिसे हमने ऊपर दक्षिणी तिब्बत लिखा है) प्रदेश अपने बौद्धगुरु को प्रदान कर दिये। तिब्बत में लामाओं या धर्माचार्यों के शासन का सूत्रपात इसी समय से हुआ। तिब्बत के इन लामाओं में आचार्य फग्स-प का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। १२५१ में इन्होंने चीन के मंगोल राजकुमार कुबले खान को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया था। तेरहवीं सदी के अन्तिम भाग में ही तिब्बत में वह प्रथा शुरू हुई, जिस द्वारा लामा की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी को नियत करने के लिये यह निश्चय किया जाने लगा, कि दिवंगत लामा की आत्मा किस बालक में अवतरित हुई है। वर्त्तमान समय में तिब्बत में न केवल दलाई लामा की, अपितु अन्य विविध मठों के लामाओं की नियुक्ति के लिये भी कतिपय विशिष्ट चिन्हों द्वारा यह जानने का प्रयत्न किया जाता है, कि मृत लामा की आत्मा ने किस बालक के रूप में अवतार ग्रहण किया है। तिब्बत में इस प्रथा का प्रारम्भ तेरहवीं सदी के अन्तिम भाग (१२८४) में ही हुआ था।

तेरहवीं सदी का तिब्बत के इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। मंगोल आक्रमणों के कारण इस समय तिब्बत के विविध प्राचीन राजवंशों का अन्त हो गया था, और मंगोल सम्राट् द्वारा वहां का शासन बौद्ध धर्माचार्यों के सुपुर्द कर दिया गया था। १२४८ में तिब्बत के कतिपय प्रदेश मंगोल सम्राट् द्वारा अपने बौद्ध गुरु को प्रदान किये गये थे। पर यह धर्मगुरु केवल अपने प्रदेशों से ही सन्तुष्ट नहीं रहा। उसने तिब्बत के अन्य प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाना शुरू किया, और १२५२ तक तिब्बत के तेरह प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अब तिब्बत में किसी राजवंश का शासन नहीं रहा था। बौद्धों के विविध मठ जहां धर्म के केन्द्र थे, वहां देश में व्यवस्था रखना भी उन्हीं का काम था। प्रत्येक बड़े मठ की अपनी सेना होती थी, और इस सेना की सहायता से जहां एक ओर विविध मठाधीश अपने-अपने क्षेत्र में राजनीतिक शासन और व्यवस्था कायम रखते थे, वहां साथ ही परस्पर संघर्ष में भी व्यापृत रहते थे। तिब्बत का बौद्ध धर्म अनेक सम्प्रदायों में विभक्त था, और प्रत्येक मठ किसी सम्प्रदाय-विशेष के साथ सम्बद्ध होता था। मठाधीशों की स्थिति सामन्त राजाओं के समान थी। सब मठाधीश चीन के मंगोल सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करते थे, और आपस में संघर्ष करते हुए अपने प्रभुत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को विस्तृत करने के लिए तत्पर रहते थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में तिब्बत में यही अवस्था रही। सतरहवीं सदी में मंगोलिया के मंगोल सरदार की सैनिक सहायता से तिब्बत के अन्यतम मठाधीश दलाई लामा ब्लो-ब्सङ-र्ग्य-म्छो ने अन्य मठाधीशों को परास्त कर अपनी सत्ता स्थापित की। जिस मंगोल सरदार ने दलाई लामा के इस उत्कर्ष को कायम किया था, उसका नाम गु-श्री-खान था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और दलाई लामा को अपना गुरु मानता था। १६४२ में दलाई लामा सम्पूर्ण तिब्बत का अधिपति बना था। तब से लेकर १९५९ तक उसी की अवतारपरम्परा में तिब्बत का शासन कायम रहा। दलाई लामा न केवल तिब्बत के सबसे बड़े मठाधीश होते थे, अपितु साथ ही वहां के प्रमुख शासनाधिकारी भी वही थे।

इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि तेरहवीं सदी के पूर्वार्ध में जो मंगोल साम्राज्य स्थापित हुआ था, चौदहवीं सदी के उत्तरार्द्ध (१३६८) में चीन में उस का शासन समाप्त हो गया था। मंगोलों की शक्ति के ह्रास होने पर चीन में मिंग वंश (१३६८-१६४४) का शासन प्रारम्भ हुआ था। पर इस वंश का सीधा शासन सिन्किआंग और मंगोलिया में विद्यमान नहीं था। ये प्रदेश विविध मंगोल सरदारों की अधीनता में थे। ये मंगोल सरदार अत्यन्त शक्तिशाली थे, और कभी-कभी मिंग सम्राटों के राज्य पर भी आक्रमण करते रहते थे। सिन्किआंग और मंगोलिया के ये मंगोल सरदार तिब्बत के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करते रहे। १६४२ में मंगोल सरदार गुश्रीखान के साहाय्य से ही सम्पूर्ण तिब्बत पर दलाई लामा का शासन स्थापित हुआ था।

चीन में मिंग वंश का शासन भी देर तक कायम नहीं रह सका। १६४४ में मंचू लोगों ने चीन पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर एक नये राजवंश की स्थापना की। इस इतिहास में चीन के इस नये राजवंश को हम मंचू राजवंश लिखते रहे हैं। इसी को चिंग वंश भी कहा जाता है। मंचू या चिंग वंश के अनेक सम्राट् अत्यन्त शक्तिशाली थे। इनमें सम्राट् कांग ह्सी (१६६१-१७२२) का तिब्बत के इतिहास के साथ विशेष सम्बन्ध है। दलाई लामा के पद पर कौन व्यक्ति आरूढ़ हो, इस प्रश्न पर एक विवाद का लाभ उठा कर सम्राट् कांग-ह्सी ने तिब्बत पर आक्रमण किया। १७२० में चीन की सेनाओं ने ल्हासा पर कब्जा कर लिया, और नये दलाई लामा के पद पर उस उम्मीदवार की नियुक्ति हुई, जिसे सम्राट् कांग ह्सी का समर्थन प्राप्त था। इस समय से तिब्बत पर फिर से चीन का आधिपत्य स्थापित हो गया। मंचू सम्राटों के शासन काल (१६४४-१९११) में तिब्बत की स्थिति चीन के साम्राज्य में एक अधीनस्थ व करद राज्य के समान थी। जब चीन में रिपब्लिक की स्थापना हो गई, तब भी वहां की रिपब्लिकन सरकार तिब्बत पर अपना प्रभुत्व समझती रही। इस समय भी तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व स्थापित है, और वहां की समाजवादी सरकार तिब्बत को चीन का एक अंग मानती है।

पाश्चात्य देशों से सम्पर्क—मंगोल साम्राज्य के उत्कर्षकाल में जब मार्को पोलो आदि यूरोपियन यात्री चीन में आने-जाने लगे, तब तिब्बत के साथ किसी पाश्चात्य यात्री ने सम्पर्क स्थापित नहीं किया। सबसे पूर्व १६२६ में जेसुइट सम्प्रदाय के पोर्तुगीज पादरी अन्द्रेदा ने तिब्बत में प्रवेश किया, और वहां ईसाई धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया। पर अन्द्रेदा ल्हासा तक नहीं पहुंच पाया था। सतरहवीं सदी में रोमन कैथोलिक धर्म के एक अन्य सम्प्रदाय के कैपुचिन फादर्स ल्हासा में गये, और १७०८ तक वहां अपने धर्म के प्रचार में लगे रहे। पर अपने कार्य में उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई, और वे चीन तथा जापान के समान तिब्बत में ईसाई धर्म की नींव डालने में समर्थ नहीं हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटेन के साथ सम्पर्क—अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब ब्रिटिश लोग भारत के अच्छे बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे, उनका ध्यान तिब्बत की ओर भी आकृष्ट हुआ। भारत की उत्तरी सीमा पर स्थित इस देश की उपेक्षा कर सकना ब्रिटिश लोगों के लिये सम्भव नहीं था। इसीलिये जब लार्ड हेस्टिंग्स भारत के गवर्नर-जनरल थे, ज्यार्ज बोगल को ब्रिटिश प्रतिनिधि के रूप में तिब्बत भेजा गया। उसके बाद १७८३ में कैप्टेन टरनर को तिब्बत में ब्रिटेन का प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया। पर अठारहवीं सदी के ये ब्रिटिश प्रतिनिधि तिब्बत के साथ व्यापारिक व राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ रहे। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में जब बरमा पर ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया, तो भारत की ब्रिटिश सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि तिब्बत के साथ अपना व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। क्योंकि तिब्बत चीन की अधीनता में था, अतः पेकिंग की मंचू सरकार से ल्हासा में अपना व्यापारिक मिशन भेजने की अनुमति ब्रिटिश सरकार ने प्राप्त कर ली। पर तिब्बत की सरकार यह नहीं चाहती थी, कि चीन के समान तिब्बत में भी पाश्चात्य लोगों का प्रवेश हो, और व्यापार की आड़ में वे वहां अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग करें। अतः तिब्बती सरकार ने ब्रिटिश मिशन को अपने देश में प्रविष्ट होने की अनुमति देने से इनकार कर दिया। ब्रिटिश लोग कहीं बल का प्रयोग कर तिब्बत में प्रवेश करने का प्रयत्न न करें, इसलिये तिब्बत की एक सेना ने सिक्किम पर कब्जा कर लिया। ब्रिटेन के मिशन को सिक्किम होकर ही तिब्बत में आना था। १८८८ में ब्रिटिश लोग तिब्बती सेना को सिक्किम से बाहर निकालने में समर्थ हुए, पर तिब्बत की सरकार के विरोध के कारण उनका व्यापारिक मिशन इस समय भी तिब्बत नहीं जा सका। तिब्बत और सिक्किम की सीमा के सम्बन्ध में विवादग्रस्त बातों का निर्णय करने के लिए एक संयुक्त कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसमें चीन और ब्रिटेन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित किये गये। इस कमीशन ने एक योजना यह बनाई, कि यातुंग (तिब्बत-सिक्किम की सीमा पर) में एक ऐसा व्यापारिक केन्द्र कायम किया जाय, जहां तिब्बत और भारत का व्यापार विकसित किया जा सके। पर यह योजना सफल नहीं हुई, क्योंकि तिब्बत के लोग पाश्चात्य देशों के साथ अपना सम्बन्ध हानिकारक समझते थे। बीसवीं सदी के शुरू में जब लार्ड कर्जन भारत का वायसराय था, भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा अफगानिस्तान के साथ जा लगी थी। इस समय विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। ईरान, भारत आदि सर्वत्र रूस और ब्रिटेन की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां एक दूसरे के साथ टकरा रहीं थीं। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि तिब्बत को भी रूस और ब्रिटेन दोनों ही अपने-अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करते। इस समय तिब्बत के दलाई लामा का प्रधान सलाहकार दार्जिफ नाम का एक व्यक्ति था, जो जाति से मंगोल था, पर रूस की प्रजा था। १९०० में उसने रूस की यात्रा की, और जार की सरकार ने उसका बड़ी धूमधाम के साथ स्वागत किया। ब्रिटेन को इससे बहुत चिन्ता हुई। अंग्रेजों ने समझा, कि रूस तिब्बत में अपने प्रभाव को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। यदि भारत के पड़ोसी राज्य तिब्बत में रूस का प्रभाव कायम हो जायगा, तो यह बात ब्रिटेन के लिये बहुत हानिकारक होगी।

तिब्बत पर प्रभुत्व के लिये संघर्ष—लार्ड कर्जन कट्टर साम्राज्यवादी था। वह चाहता था, कि जिस प्रकार विविध पाश्चात्य देश चीन, सिआम, ईरान आदि एशियन देशों में अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहे हैं, वैसे ही तिब्बत में भी ब्रिटिश आधिपत्य को कायम किया जाय। इसलिये उसने इंग्लैण्ड की सरकार पर इस बात के लिये जोर देना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू किया, कि एक ब्रिटिश मिशन तिब्बत भेजा जाय। यह मिशन तिब्बत की सरकार के सम्मुख उन समस्याओं को उपस्थित करे, जो सिक्किम और तिब्बत की सीमा पर उत्पन्न हो रही हैं। यह मिशन तिब्बत की सरकार को यह भी जताये, कि जिस ढंग से तिब्बत पाश्चात्य देशों के सम्पर्क से पृथक् रहने का प्रयत्न कर रहा है, वह वर्त्तमान परिस्थितियों में सम्भव नहीं है। १८८८ में चीन और ब्रिटेन की सरकारों ने तिब्बत के सम्बन्ध में जो योजना स्वीकृत की थी, उसे क्रिया में परिणित करना तिब्बत की सरकार का कर्त्तव्य है, और अंग्रेजों को तिब्बत में व्यापार आदि की सुविधाएं मिलनी आवश्यक हैं। वस्तुतः, लार्ड कर्जन एक ब्रिटिश मिशन को तिब्बत भेजकर उसके साथ उसी ढङ्ग की सन्धि करना चाहता था, जैसी सन्धियाँ उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन की पेकिंग सरकार के साथ की गई थीं। उसे इस बात की बहुत चिन्ता थी, कि कहीं तिब्बत रूस के प्रभाव में न आ जाय, क्योंकि उस दशा में रूस का प्रभाव-क्षेत्र भारत की सीमा तक विस्तृत हो जायगा। पर ब्रिटेन की सरकार तिब्बत के सम्बन्ध में इस उग्र नीति का अवलम्बन करने के विरोध में थी। यूरोप की राजनीति में उस समय ब्रिटेन जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित था। इसीलिये वह रूस और फ्रांस के साथ मैत्री करने के लिये उत्सुक था। इसका परिणाम यह हुआ, कि तिब्बत के सम्बन्ध में एक अद्भुत् स्थिति उत्पन्न हो गयी। लार्ड कर्जन इस देश को ब्रिटिश प्रभाव में लाना चाहता था, पर ब्रिटेन की सरकार तिब्बत के मामले में रूस को नाराज करना नहीं चाहती थी। रूस का कहना था, कि वह तिब्बत में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये कोई प्रयत्न नहीं कर रहा है। यद्यपि चीनी सरकार पर ब्रिटिश राजदूत इस बात के लिये जोर दे रहा था, कि वह १८८८ की योजना को क्रिया में परिणत करने के लिये तिब्बत को विवश करे, पर चीनी सरकार तिब्बत को विवश करने की स्थिति में नहीं थी। आखिर, लार्ड कर्जन की प्रेरणा से इंग्लैण्ड की सरकार ने तिब्बत में अपना मिशन भेजने की अनुमति दे दी। कर्नल यंगहस्बैण्ड को इस मिशन का नेता नियत किया गया, और तिब्बती तथा चीनी सरकारों को यह सूचना दे दी गई, कि भारत-तिब्बत सीमा के परे तिब्बत के खम्बाजोंग नामक स्थान पर उनके प्रतिनिधि ब्रिटिश मिशन से भेंट करें। तिब्बत की सरकार का कहना था, कि उसके प्रतिनिधि भारत-तिब्बत सीमा पर स्थित किसी भी स्थान पर ब्रिटिश मिशन से भेंट कर सकेंगे, पर खम्बाजोंग में नहीं। परिणाम यह हुआ, कि चीनी सरकार के प्रतिनिधि तो खम्बाजोंग पहुंच गये, पर तिब्बत के प्रतिनिधि वहां नहीं आये। अब कर्नल यंग हस्बैण्ड ने ग्यांची की ओर प्रस्थान कर दिया, और मार्च, १९०४ में उसका मिशन तिब्बत के इस नगर में जा पहुँचा। तिब्बत की सरकार इस बात को नहीं सह सकी। उसकी सेना ने ब्रिटिश मिशन का मुकाबिला किया। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये, कि कर्नल यंग हस्बैण्ड के मिशन के साथ एक अच्छी बड़ी अंग्रेजी सेना भी थी, जो सब प्रकार के आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी। तिब्बत की सेना इसके मुकाबिले में नहीं ठहर सकी। ३१ मार्च, १९०४ के युद्ध में ७०० के लगभग तिब्बती सैनिक लड़ाई में काम आये। ११ एप्रिल को अंग्रेजी मिशन ग्यांची पहुंच गया। पर दलाई लामा के प्रतिनिधि अपने राष्ट्रीय अपमान को सहने के लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने कर्नल यंग हस्बैण्ड के साथ भेंट करने से इनकार कर दिया। अब ब्रिटिश मिशन ने ल्हासा की तरफ प्रस्थान किया। ३ अगस्त, १९०४ को अंग्रेजी सेनाएं ल्हासा पहुंच गईं, और दलाई लामा को ल्हासा छोड़कर अन्यत्र चले जाना पड़ा।

अब तिब्बत की सरकार को विवश होकर ब्रिटिश मिशन के साथ सन्धि की बात शुरू करनी पड़ी। ७ सितम्बर, १९०४ को दोनों देशों में जो सन्धि हुई, उसकी मुख्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) यातुंग, ग्यांची और गर्तोक में अंग्रेजों को अपनी व्यापारिक कोठियों की स्थापना की अनुमति दी जाय। (२) ग्यांची में ब्रिटेन का एक व्यापारिक एजेण्ट रह सके, जो आवश्यकता पड़ने पर ल्हासा भी जा सके। (३) तिब्बत ब्रिटिश सरकार को ७५,००,००० रुपया हरजाने के रूप में दे। इस रकम को ७५ वार्षिक किश्तों में अदा किया जाय। (४) चुम्बी घाटी के प्रदेश (भूटान और सिक्किम का मध्यवर्ती प्रदेश) में अंग्रेजी सेनाएं तब तक रहें, जब तक कि हरजाने की पूरी रकम वसूल न हो जाय। (५) तिब्बत की सरकार को यह अधिकार न हो, कि वह अपने किसी भी प्रदेश को किसी अन्य राज्य को पट्टे आदि पर दे सके, या अपने प्रदेश में किसी अन्य राज्य को खान खोदने, रेलवे या सड़कें बनाने, तार आदि का निर्माण करने और इसी प्रकार के किसी अन्य कार्य की अनुमति दे सके।

कर्नल यंग हस्बैण्ड द्वारा की गई इस सन्धि का समाचार जब इंग्लैण्ड पहुंचा, तो वहां की सरकार को इससे बहुत चिन्ता हुई, क्योंकि इससे रूस के नाराज हो जाने की बहुत अधिक सम्भावना थी। रूस की सरकार यह कभी भी सहन नहीं कर सकती थी, कि तिब्बत पर ब्रिटेन का प्रभाव व प्रभुत्त्व स्थापित हो। इस समय ब्रिटेन रूस के साथ बिगाड़ नहीं करना चाहता था। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के कारण वह रूस से मित्रता का सम्बन्ध कायम रखने के लिये उत्सुक था। परिणाम यह हुआ, कि तिब्बत के साथ की गई इस सन्धि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। हरजाने की रकम ७५ लाख से घटाकर २५ लाख कर दी गई, और ग्यांची में स्थित ब्रिटिश एजेन्ट का ल्हासा जाने का अधिकार रद्द कर दिया गया। साथ ही, यह भी तय हुआ, कि जब तिब्बत हरजाने की रकम की तीन किश्तें ब्रिटेन को दे चुके, तो अंग्रेजी सेनाएं चुम्बी में न रहें, बशर्ते कि तिब्बत की सरकार सन्धि की अन्य सब शर्तों को सुचारु रूप से पूरा कर रही हो।

तिब्बत और ब्रिटेन में तो सन्धि हो गयी थी, पर यह भी आवश्यक था कि इस सन्धि को चीनी सरकार द्वारा भी स्वीकृत करा लिया जाय, क्योंकि तिब्बत चीन का अधीनस्थ राज्य था। एप्रिल, १९०६ में पेकिंग सरकार के साथ ब्रिटेन ने एक सन्धि की, जिसके द्वारा जहाँ ल्हासा की सन्धि की सब शर्तों को स्वीकार किया गया, वहां साथ ही दो नयी शर्तें भी बढ़ायी गईं। ये शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटेन तिब्बत को अपने अधीन करने या उसके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करेगा। (२) चीन इस बात का जिम्मा लेगा, कि अन्य कोई विदेशी राज्य भी तिब्बत को अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में लाने का प्रयत्न नहीं करेगा। इस प्रकार १९०६ की सन्धि द्वारा ब्रिटेन ने इस बात का पूरा प्रबन्ध कर लिया, कि रूस तिब्बत को अपने प्रभाव-क्षेत्र में न ला सके। पर साथ ही उसे स्वयं भी अनेक अंशों में तिब्बत पर अपने प्रभुत्त्व व प्रभाव का परित्याग करना पड़ा। उसने यह बात स्वीकृत की, कि वह स्वयं भी तिब्बत को अपने सीधे शासन में लाने का उद्योग नहीं करेगा। तिब्बत ने २५,००,००० रुपये की जो रकम ब्रिटेन को देनी थी, उसे अदा करने की जिम्मेदारी भी चीनी सरकार ने अपने ऊपर ले ली। यह रकम १९०८ तक अदा कर दी गई, जिसके बाद चीन ने यह मांग की, कि चुम्बी घाटी में जो अंग्रेजी सेना कायम है, उसे वापस बुला लिया जाय। भारत की ब्रिटिश सरकार इसके विरुद्ध थी। वह किसी न किसी बहाने से चुम्बी में अपनी सेना को रखने के लिए उधार खाये हुए थी। पर इंग्लैण्ड की सरकार ने यह तय किया, कि चुम्बी से अंग्रेजी सेनाएं हटा ली जाएं। रूस के साथ मैत्री-सम्बन्ध को कायम रखने के लिए इंग्लैण्ड की सरकार इस समय यह आवश्यक समझती थी, कि तिब्बत के मामले में दोनों देशों में किसी प्रकार के संघर्ष की सम्भावना न रहे। फरवरी, १९०८ में चुम्बी से अंग्रेजी सेनाएं वापस बुला ली गईं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समय के लगभग रूस और ब्रिटेन ने आपस में समझौता कर लिया था। एशिया के विविध क्षेत्रों में इन दो देशों के हित जहां कहीं भी टकराते थे, उनके सम्बन्ध में १९०७ में समझौता कर लिया गया था। इस समझौते में तिब्बत के विषय में निम्न-लिखित बातें तय की गई थीं—(१) तिब्बत की स्वतन्त्रता और पृथक् सत्ता को दोनों देश स्वीकार करते हैं, और वे इस बात पर एकमत हैं, कि तिब्बत के शासन में किसी प्रकार से भी हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (२) यदि उन्हें तिब्बत की सरकार से किसी प्रकार का सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होगी, तो यह सम्पर्क चीनी सरकार की मार्फत ही स्थापित किया जायगा। (३) रूस और ब्रिटेन ल्हासा में अपने कोई एजेन्ट व प्रति-निधि नहीं रखेंगे। १९०७ के इन समझौते के कारण ब्रिटेन और रूस दोनों ने ही इस बात को स्वीकार कर लिया, कि वे तिब्बत में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करेंगे और उसे अपने प्रभुत्व व प्रभाव में लाने का उद्योग नहीं करेंगे।

पर रूस और ब्रिटेन की तिब्बत-सम्बन्धी नीति का यह परिणाम हुआ, कि तिब्बत पर चीन का आधिपत्य और भी अधिक दृढ़ हो गया। इसमें सन्देह नहीं, कि तिब्बत चीन का अधीनस्थ राज्य था। दलाई लामा मञ्चू सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करता था। चीन का एक प्रतिनिधि (रेजिडेन्ट) भी ल्हासा में रहता था, और वह तिब्बत की सरकार पर चीन का नियन्त्रण रखता था। पर १९०७ के बाद चीनी सरकार ने तिब्बत पर नियन्त्रण को और अधिक दृढ़ करना शुरू किया। जुलाई, १९०८ में दलाई लामा को पेकिंग बुलाया गया। वहां जाकर उसने अनुभव किया, कि पेकिंग के राजदर-बार के सम्मुख उसकी स्थिति बहुत हीन है, और वह पूर्णतया मञ्चू सम्राट् का वशवर्ती है। इसी समय चीन की सेनाएं भी ल्हासा पहुंच गईं, और उन्होंने तिब्बत को अपने अधि-कार में कर लिया। इसलिये जब १९१० के शुरू में दलाई लामा चीन से तिब्बत वापस आया, तो उसने ब्रिटिश सरकार से सहायता के लिये अपील की। चीन के आधिपत्य से अपनी रक्षा करने के लिये वह फरवरी, १९१० में ल्हासा से भारत की ओर चल पड़ा, और भारत की सीमा को पार कर दार्जीलिंग पहुंच गया। दार्जीलिंग से वह कलकत्ता गया, और वहाँ उसने भारत के वायसराय लार्ड मिन्टो से भेंट की। इस बीच में चीनी सरकार ने एक नये व्यक्ति को दलाई लामा के पद पर अभिषिक्त कर दिया था। पुराने दलाई लामा ने भारत की ब्रिटिश सरकार से चीनी सरकार के विरुद्ध सहायता की प्रार्थना की, पर उसे सफलता नहीं मिली। ब्रिटिश सरकार इस समय इस स्थिति में नहीं थी, कि वह तिब्बत और चीन के आन्तरिक मामले में हस्तक्षेप कर सकती। साथ ही, ब्रिटेन के तिब्बत में हस्तक्षेप करने का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि रूस तिब्बत में ब्रिटिश हस्तक्षेप को न सह सकता। तिब्बत के प्रश्न पर ब्रिटेन और रूस में फिर मनमुटाव हो, यह बात ब्रिटिश सरकार को पसन्द नहीं थी। इस प्रकार १९१० में तिब्बत का शासन पूर्णतया चीन की अधीनता में आ गया। नया दलाई लामा पूर्णतया चीन का वशवर्ती था।

चीन के विरुद्ध विद्रोह—१९११ में चीन में राज्यक्रान्ति हो गई, और मञ्चू सम्राट् को पदच्युत कर रिपब्लिक की स्थापना की गई। चीन की इस क्रान्ति का वृतान्त हम सातवें अध्याय में लिख चुके हैं। राज्यक्रान्ति के कारण चीन में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसमें चीन की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह ल्हासा में स्थित चीनी सेना को नियमित रूप से वेतन दे सके। परिणाम यह हुआ, कि ल्हासा की इस चीनी सेना ने विद्रोह कर दिया। उसने ल्हासा में लूटमार मचा दी, और तिब्बत के राज्यकोष को लूटना शुरू कर दिया। इस दशा में तिब्बती लोगों ने भी चीनी सेना का डट कर मुकाबिला किया, और उसे ल्हासा छोड़कर चीन वापस लौट जाने के लिये विवश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया। तिब्बत का वह पदच्युत दलाई लामा जो इस समय भारत में था, इस अवसर पर शान्त नहीं बैठ सकता था। वह तुरन्त तिब्बत वापस गया, और वहां जाकर उसने देश के शासन को फिर से अपने हाथों में ले लिया। ल्हासा में विद्यमान चीनी रेजिडेन्ट के साथ उसने यह समझौता किया, कि वह अपने पास केवल उतनी ही सेना रख सके, जो चीन की रेजिडेन्सी की रक्षा के लिये आवश्यक हो। पर उसे यह अधिकार न हो, कि वह तिब्बत के आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप कर सके। चीन की नई रिपब्लिकन सरकार ने भी यही उचित समझा, कि तिब्बत के दलाई लामा के साथ समझौता कर लिया जाय। इस समय चीन की सरकार इस स्थिति में नहीं थी, कि वह तिब्बत पर पहले के समान अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिए सेनाएं भेज सके। उसने दलाई लामा के शासन-सम्बन्धी अधिकारों को स्वीकार कर लिया।

१९१४ का समझौता—पर कुछ समय बाद जब चीन की रिपब्लिकन सरकार की स्थिति सुदृढ़ हो गई, तो उसने प्रयत्न किया कि तिब्बत पर अपने प्रभुत्व की पुनः स्थापना करे। पर ब्रिटिश लोग इसके विरुद्ध थे। भारत की ब्रिटिश सरकार यह समझती थी, कि तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व ब्रिटिश हितों के लिए विघातक है। चीन एक अत्यन्त विशाल राज्य था, और मंचू शासन का अन्त होने के बाद वहां जो नई रिपब्लिकन सरकार कायम हुई थी, वह अपने साम्राज्य को सुसंगठित व शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील थी। यदि भारत की सीमा पर चीन जैसे शक्तिशाली राज्य का प्रभुत्व हो जाता, तो यह बात ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में अनुचित होती। अतः उसने यह घोषणा की, कि यद्यपि तिब्बत पर चीन का आधिपत्य है, पर यह उचित नहीं है कि चीन तिब्बत को अपना एक प्रान्त बना ले और तिब्बत की सरकार की स्थिति एक प्रान्तीय सरकार के समान हो जाय। ब्रिटिश सरकार इस बात का पूर्ण रूप से विरोध करेगी। तिब्बत की समस्या को हल करने के लिए १९१३ और फिर १९१४ में शिमला में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें चीन और तिब्बत के प्रतिनिधि निमन्त्रित किए गए। भारत की ब्रिटिश सरकार का परराष्ट्र सचिव इस कान्फरेन्स का सभापति बना। इस कान्फरेन्स में तिब्बत को दो भागों में विभक्त किया गया, पूर्वी तिब्बत और पश्चिमी तिब्बत। पश्चिमी तिब्बत पर दलाई लामा के शासन को स्वीकृत किया गया, और उसे इस देश के शासन के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार दिए गए, यद्यपि यह स्वीकार किया गया कि उस द्वारा शासित प्रदेश भी चीन का एक अधीनस्थ राज्य है। पूर्वी तिब्बत में चीन का आधिपत्य अधिक सुदृढ़ व क्रियात्मक रूप से स्थापित किया गया। इस पूर्वी तिब्बत के दो विभागों—सिकाँग और चिंघाई का उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। पूर्वी और पश्चिमी तिब्बत की सीमा भी इन कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित कर दी गई, यद्यपि इस सीमा के सम्बन्ध में ब्रिटेन और चीन में मतभेद बाद में भी जारी रहा।

१९१४ की शिमला कान्फरेन्स द्वारा तिब्बत की राजनीतिक स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो गई। ब्रिटेन ने उस पर चीन के आधिपत्य को स्वीकृत कर लिया, और चीन ने यह स्वीकार नहीं किया कि पश्चिमी तिब्बत के शासन में उसकी ओर से कोई हस्तक्षेप नहीं किया जायगा। इस समय से पूर्वी तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया। उसके उपजाऊ प्रदेशों में बहुत-से चीनी लोग निरन्तर आबाद होते गए, और धीरे-धीरे उसके दोनों विभागों की स्थिति चीन के अन्य प्रान्तों के समान होती गई। इसके विपरीत पश्चिमी तिब्बत पर दलाई लामा का शासन कायम रहा, और क्योंकि १९१४ के बाद चीन की आन्तरिक राजनीतिक दशा निरन्तर अव्यवस्थित होती गई, अतः चीनी सरकार उसके शासन में किसी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं कर सकी। क्योंकि तिब्बत और चीन के बीच के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापारिक मार्ग इस काल में सुरक्षित दशा में नहीं रहे थे, इस कारण तिब्बत और भारत का व्यापार निरन्तर बढ़ता गया। जब चीन में समाजवादी व्यवस्था स्थापित हुई, तो उसकी नई सरकार ने तिब्बत की ओर भी ध्यान दिया। इस समय तिब्बत पूर्ण रूप से चीन का एक अंग बन गया है, और धीरे-धीरे वहां भी समाजवादी व्यवस्था की स्थापना की जा रही है।

तिब्बत की दशा—आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव बीसवीं सदी के मध्य तक भी तिब्बत पर भली-भांति पढ़ना शुरू नहीं हुआ था। नये ज्ञान-विज्ञानों का प्रवेश भी अभी वहां के शिक्षणालयों में नहीं हो पाया था। अभी वहां मध्यकालीन परिस्थितियों की ही सत्ता थी। तिब्बत की २० प्रतिशत के लगभग जनता भिक्षु जीवन व्यतीत करती थी। देश में बहुत-से छोटे-बड़े बौद्ध मठ विद्यमान थे, जिनमें लाखों भिक्षु निवास करते थे। इन मठों के स्वामित्व में बहुत-सी जागीरें थीं, अतः इनकी आमदनी भी पर्याप्त थी। ये मठ जहां बौद्ध धर्म के केन्द्र थे, वहाँ साथ ही विद्या और शिक्षा का प्रसार करने का कार्य भी करते थे। सभी मठ शिक्षणालय के भी काम आते थे, पर तिब्बत में चार ऐसे महाविहार भी थे, जिन्हें विश्वविद्यालय कहा जा सकता था। ये महाविहार गन्दन्, दे-पुङ्, से-रा और ठ्शि-ल्हुन-पो के थे। तिब्बत के इन शिक्षाकेन्द्रों की स्थापना पन्द्रहवीं सदी में हुई थी। इनमें दे-पुङ् विश्वविद्यालय सबसे बड़ा था, और उसमें ७,७०० के लगभग विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। से-रा में विद्यार्थियों की संख्या ५,५०० से ऊपर थी। इन विश्वविद्यालयों व विद्यापीठों का रूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि प्राचीन नालन्दा और विक्रमशिला का था। इनमें भाषा, व्याकरण, दर्शन आदि की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाता था। इन विद्यापीठों के साथ बड़े-बड़े पुस्तकालय भी थे, जिनमें हजारों प्राचीन पुस्तकें संगृहीत थीं। न केवल तिब्बत अपितु सिन्किआंग, मंगोलिया और पश्चिम-दक्षिणी चीन से भी बहुत-से बौद्ध विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिए इनमें आया करते थे।

अब तक अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से तिब्बत का विशेष महत्त्व नहीं था। प्राकृतिक परिस्थितियों के कारण यह सम्भव नहीं था, कि तिब्बत का अन्य देशों के साथ व्यापार अधिक परिमाण में विकसित हो सके। ऊन, चमड़ा आदि अनेक वस्तुएं वहां से भारत और चीन के बाजारों में बिक्री के लिए जाती थीं, और उनके बदले में तिब्बत सूती कपड़ा व अन्य तैयार माल इन देशों से क्रय करता था। पर यह निश्चित है, कि भविष्य में तिब्बत के विदेशी व्यापार में बहुत अधिक वृद्धि होगी। आधुनिक वैज्ञानिक उन्नति के कारण अब यह बहुत कठिन नहीं रहा है, कि तिब्बत में भी अच्छी सड़कों का निर्माण किया जा सके। साथ ही, हवाई जहाजों द्वारा तिब्बत का विदेशों के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सकना भी अब असम्भव नहीं रह गया है। चीन की कम्युनिस्ट सरकार तिब्बत में नया युग लाने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील है। तिब्बत की सुविस्तृत भूमि में अनेक बहुमूल्य खनिज पदार्थों की भी सत्ता है। इसके कारण उसका न केवल न आर्थिक विकास ही होगा, अपितु उसके अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व में भी अवश्य वृद्धि होगी।

(३) सिन्किआंग

भौगोलिक दृष्टि से सिन्किआंग का परिचय हम इसी अध्याय में ऊपर दे चुके हैं। अब यह आवश्यक है कि उसके इतिहास के सम्बन्ध में भी संक्षेप के साथ लिखा जाय, क्योंकि तिब्बत के समान सिन्किआंग भी अब चीन का एक अंग है, और चीन की राजनीतिक प्रगति का उस पर बहुत प्रभाव पड़ता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राचीन इतिहास—सिन्किआंग प्रदेश के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में अभी भली भांति परिचय नहीं दिया जा सकता। पर इस देश से आर्यावर्ती सभ्यता के इतने अधिक अवशेष मिले हैं, कि अनेक विद्वानों ने इस देश का नाम ही उपरला हिन्द (Serindia) रख दिया है। जिस प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ भारतीय उपनिवेशों से होता है, वैसे ही सिन्किआंग के दक्षिण-पश्चिमी प्रदेश का इतिहास भी भारतीय उपनिवेशों के साथ ही शुरू होता है। इस प्रदेशों में न केवल भारतीय लोग जाकर आबाद ही हुए थे, अपितु उन्होंने वहां की विविध जातियों को भी अपनी सभ्यता के रंग में रंग दिया था। भारतीय लोग इस प्रदेश को उत्तर-कुरु कहते थे। उत्तर-कुरु के दक्षिण में नाभक देश था, जिसका वर्तमान नाम खोतान है। अशोक का अन्यतम पुत्र कुस्तन इस नाभक देश में जाकर आबाद हुआ था, और तिब्बत की एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस कुस्तन ने ही वहां उस उपनिवेश की स्थापना की थी, जो आगे चलकर उसी के नाम से खोतान प्रसिद्ध हुआ। खोतान के उत्तर में पामीर की पर्वतमाला और तकला मकान मरुस्थल के मध्यवर्ती प्रदेश में अन्य अनेक भारतीय उपनिवेशों की सत्ता थी। इनके और अधिक उत्तर में (तकला मकान मरुस्थल के उत्तर और तिएन शान पर्वत के दक्षिण में) युइशि जाति का निवास था, जिसे पुराणों में ऋषिक कहा गया है। आगे चलकर इस युइशि जाति ने अपनी शक्ति का बहुत अधिक विस्तार किया, और इसी जाति के अन्यतम राजा कुशाण ने पहली सदी ई०पू० के लगभग अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें मध्य एशिया और अफगानिस्तान आदि के बहुत-से प्रदेश अन्तर्गत थे। राजा कुशाण के वंशज सम्राट् कनिष्क के विशाल साम्राज्य का भारतीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। युइशि जाति के उत्कर्ष पर हमें इस ग्रन्थ में प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं हैं। यहां इतना निर्दिष्ट कर देना ही पर्याप्त है, कि इस शक्तिशाली युइशि जाति का मूल अभिजन सिन्किआंग प्रदेश के पश्चिमी भाग में ही था। कनिष्क के विशाल साम्राज्य में जहां प्रायः सम्पूर्ण उत्तरी भारत शामिल था, वहां साथ ही दक्षिण-पश्चिमी सिन्किआंग भी उसके अन्तर्गत था। युइशि लोगों ने भारत में आकर इस देश के धर्म, सभ्यता एवं संस्कृति को पूरी तरह से अपना लिया था। इससे उनके विशाल साम्राज्य में भारतीय धर्म और संस्कृति के प्रसार में बहुत अधिक सहायता मिली। दूसरी शताब्दी ई० पू० में दक्षिण-पश्चिमी सिन्किआंग के सम्पूर्ण क्षेत्र में गान्धार देश की प्राकृत भाषा का प्रचार था, और इस भाषा को खरोष्ठी लिपि में लिखा जाता था। उत्तर-पश्चिमी भारत में उपलब्ध हुए सम्राट् अशोक के शिलालेख इस खरोष्ठी भाषा में ही लिखे हुए हैं। दूसरी सदी ई०पू० से चौथी सदी तक पश्चिमी सिन्किआंग की यही दशा रही। इस प्रदेश की पुरानी बस्तियों से लकड़ी की तख्तियों पर लिखे हुए प्राकृत भाषा के बहुत-से लेख उपलब्ध हुए हैं। ये सब भारत की ही अन्यतम प्राकृत भाषा के लेख हैं। खोतान के समीप गोश्रृंग बिहार के खण्डहरों में इसी प्राकृत के 'धम्मपद' की एक प्रति मिली है, जो भोजपत्रों पर लिखी गई है। सिन्किआंग के तुर्फान नगर का उल्लेख हम इसी अध्याय में पहले कर चुके हैं। इस शहर के पुराने भग्नावशेषों में महाकवि अश्वघोष के नाटक 'शारिपुत्र प्रकरण' के कुछ अंश मिले हैं, जो दूसरी सदी ई०पू० के लिखे हुए हैं। भारतीय पुस्तकों की सबसे प्राचीन हस्तलिखित प्रतियां ये ही हैं। इस प्रदेश में खुदाई द्वारा बौद्ध मूर्तियों, स्तूपों तथा मठों के भी बहुत-से अवशेष मिले हैं, जिनसे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि प्राचीन काल में पश्चिमी सिन्किआंग बृहत्तर भारत का ही अन्यतम अंग था। पांचवीं सदी में चीनी यात्री फाहियान और सातवीं सदी में ह्युएन्त्सांग ने इस प्रदेश की यात्रा की थी। उनके वर्णनों से सूचित होता है, कि इस प्राचीन युग में यह सम्पूर्ण प्रदेश बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और सर्वत्र बौद्ध विद्वान् निवास करते थे। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदेश के अनेक नगर बौद्ध शिक्षा और सभ्यता के प्रसिद्ध केन्द्र थे। इसमें सन्देह नहीं, कि इस प्रदेश के इतिहास में यह सुवर्णीय युग था। यहाँ से अनेक बौद्ध विद्वान् चीन में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए भी गये थे।

चीन का प्रभुत्व—चीन और पश्चिमी संसार को परस्पर मिलाने वाले स्थलमार्ग सिन्किआंग से होकर ही गुजरते हैं। इसलिए इस प्रदेश का चीन के लिए बहुत अधिक महत्त्व रहा है। यही कारण है, कि अनेक शक्तिशाली चीनी सम्राटों ने सिन्किआंग को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न किया। तांग वंश (६१८-९०७ ई०प०) के सम्राटों के साम्राज्य में सम्पूर्ण सिन्किआंग शामिल था। इस काल में उपरले हिन्द का भारत के साथ सम्बन्ध बहुत कम रह गया था, और इस प्रदेश के प्रधान व्यापारिक नगर—काशगर, यारकन्द और खोतान—उस व्यापार के समृद्ध केन्द्र हो गए थे, जो कि चीन का पश्चिमी देशों के साथ होता था। तांग वंश के काल में ही अरब में इस्लाम का प्रादुर्भाव हुआ, और सिन्किआंग में मुस्लिम धर्म का प्रचार प्रारम्भ हुआ। तांग वंश के पतन के बाद चीन में जो अनेक राजवंश स्थापित हुए, वे इतने शक्तिशाली नहीं थे कि सिन्किआंग जैसे सुदूरवर्ती प्रदेशों को अपनी अधीनता में रख सकते। पर तेरहवीं सदी में जब चंगेज खां के नेतृत्व में मंगोल लोगों ने अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की, और चीन को जीतकर वहां एक नए युआन राजवंश (१२७९ से १३६८ तक) का प्रारम्भ किया, तो सिन्किआंग भी इस मंगोल साम्राज्य के अन्तर्गत था। मंगोल साम्राज्य पूर्व में प्रशान्त महासागर से शुरू होकर पश्चिम में कैस्पियन सागर तक विस्तृत था। बाद में वह अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया, और सिन्किआंग में अनेक मंगोल सरदार चीन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र रूप से शासन करने लग गए। मंचू सम्राटों ने इन सब को जीत कर अपने अधीन किया। मंचू सम्राट् कांग ह्सी (१६३१-१७२२) ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए पश्चिम में तकला मकान के मरुस्थल से परे तारिम नदी की घाटी के प्रदेश पर भी आक्रमण किया, और उसे अपने अधिकार में कर लिया। उसने सिन्किआंग को अपने विशाल साम्राज्य का एक प्रान्त बना लिया। सम्राट् कांग ह्सी के समय से अब तक सिन्किआंग चीन के अन्तर्गत है।

यह हम पहले लिख चुके हैं, कि वर्तमान समय में सिन्किआंग के ७७ प्रतिशत निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं। जिस प्रकार प्राचीन काल में बौद्ध धर्म के प्रचारक सुदूरवर्ती प्रदेशों में अपने धर्म का प्रचार करने के लिए गए थे, वैसे ही मध्यकाल में मुस्लिम प्रचारकों ने अपने धर्म का प्रचार कार्य में असाधारण तत्परता प्रदर्शित की थी। सिन्किआंग के बौद्धों को भी वे अपने धर्म में दीक्षित करने में समर्थ हुए थे। सिन्किआंग के इन मुसलमानों को बौद्ध मंचू सम्राटों का आधिपत्य पसन्द नहीं था। अतः अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में अनेक बार उन्होंने चीनी सरकार के विरुद्ध विद्रोह किया। पर उन्हें अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली। मंचू सम्राट् सिन्किआंग को अपनी अधीनता में रखने में समर्थ रहे।

१९११ में राज्यक्रान्ति द्वारा जब चीन में मंचू राजवंश के शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, तब भी सिन्किआंग के मुसलमानों ने विद्रोह किया। १९३० में उनके विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया, और यह विद्रोह १९३४ तक जारी रहा। इस अवसर पर चीन की सरकार सोवियत रूस की सहायता से ही इस विद्रोह को शान्त कर सकी। सिन्किआंग के लोगों को यह आश्वासन दिया गया, कि उन्हें स्थानीय स्वशासन के अधिकार दिये जायेंगे, और अपने आन्तरिक शासन में उन्हें स्वतन्त्रता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहेगी। इस आश्वासन के कारण ही १९३०-३४ के विद्रोह को शान्त करने में चीनी सरकार सफल हुई। पर १९३४ के सुधारों से सिन्किआंग की जनता को सन्तोष नहीं हुआ। इसीलिए १९३७ में जब जापान उत्तरी चीन पर आक्रमण कर रहा था, सिन्किआंग में फिर विद्रोह हो गया।

वर्तमान दशा—सिन्किआंग के बहुसंख्यक निवासी तुर्की या उईगूर लोग हैं, जो इस्लाम के अनुयायी हैं। इनमें शिक्षा का प्रायः अभाव है। मुल्ला लोग जो कुछ शिक्षा पाते हैं, वह प्रायः धार्मिक होती है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान से इस प्रदेश के लोग अपरिचित हैं। १९४७ तक सम्पूर्ण सिन्किआंग में केवल १५ स्कूल ऐसे थे, जिनमें आधुनिक ढंग से शिक्षा दी जाती थी। इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी कुछ सौ तक ही सीमित थी। शिक्षा की इस पिछड़ी हुई दशा के कारण सिन्किआंग यदि वर्तमान समय में उन्नति की दौड़ में पीछे रह गया हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इस प्रदेश में निवास करने वाले चीनी लोगों में शिक्षा का पर्याप्त प्रचार है। यही कारण है, कि चीनी लोगों के लिए उसे अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव रहा है। चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो जाने के बाद इस दशा में बहुत अन्तर आया है। अब वहां ज्ञान-विज्ञान की नई शिक्षा प्रारम्भ हो चुकी है, और स्वायत्त शासन के कारण वह बहुत तेजी से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो रहा है।

सिन्किआंग से जो माल विक्रय के लिए बाहर जाता है, उसमें ऊन, चमड़ा, रेशम और कपास प्रमुख हैं। पर चीन की सरकार इस प्रदेश के आर्थिक विकास पर विशेष ध्यान दे रही है, और कोई आश्चर्य नहीं कि निकट भविष्य में यह प्रदेश आर्थिक दृष्टि से अच्छा उन्नत हो जाय।

(४) मंगोलिया

चीन की प्राचीन विशाल दीवार के उत्तर और साइबेरिया के दक्षिण में मंगोलिया का जो सुविस्तृत प्रदेश है, उसका भौगोलिक परिचय हम इसी अध्याय में ऊपर दे चुके हैं। यह प्रदेश प्रधानतया रेगिस्तान के रूप में हैं, और इसीलिए इसमें किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हो सका। पर ऐतिहासिक दृष्टि से इसका महत्त्व कम नहीं है। बहुत प्राचीन समय से इसमें अनेक इस प्रकार की पशुपालक जातियां बसती रहीं हैं, जो समय-समय पर पड़ौस के उन्नत व सभ्य राज्यों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधीन करने में तत्पर रही हैं। प्राचीन समय में इस प्रदेश में एक जाति का निवास था, जिसे चीनी लोग हियंग-नू कहते थे। संस्कृत में इसी जाति को हूण कहा जाता था। प्रसिद्ध चीनी सम्राट् चिन शिह-ती (तीसरी सदी ई०पू०) ने इन्हीं हियंग-नू लोगों के आक्रमणों से अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिए उस विशाल चीनी दीवार का निर्माण कराया था, जो पूर्व में समुद्र तट से शुरू होकर पश्चिम में कान्सू तक विस्तृत थी। इस दीवार के कारण हियंग-नू या हूण लोगों के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वे चीन पर आक्रमण कर सकें। अब उन्होंने पश्चिम की ओर घूमकर सिन्किआंग पर हमले शुरू किए, और युइशि व दाहिया आदि जातियों को अपने स्थान से धकेलना प्रारम्भ किया। यहां हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि मंगोलिया के इन प्राचीन निवासी हूण लोगों के सम्बन्ध में अधिक लिख सकें। इतना लिख देना ही पर्याप्त है, कि यह प्रदेश ऐसी अनेक जातियों का निवास-स्थान रहा है, जो समय-समय पर वहां से निकलकर टिड्डी दल के समान पड़ौस के सभ्य राज्यों पर आक्रमण करती रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन जातियों में सबसे मुख्य मंगोल जाति थी। बारहवीं सदी में मंगोल लोगों के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ। मंगोल एक पशुपालक जाति थी, जो किसी एक स्थान पर बसी हुई नहीं थी। वह डेरों में निवास करती थी, और दूध तथा मांस से अपना निर्वाह करती थी। चंगेज खाँ ने मंगोल लोगों को संगठित किया और उन्हें एक जबर्दस्त शक्ति के रूप में परिणत कर दिया। चंगेज खां के साम्राज्य का हम इस इतिहास में पहले भी उल्लेख कर चुके हैं। तेरहवीं सदी के आरम्भिक भाग में मंगोल लोगों ने प्रशान्त महासागर से कैस्पियन सागर तक अपने विशाल साम्राज्य का विस्तार किया। १२२७ तक चंगेज खां के साम्राज्य की पश्चिमी सीमा कैस्पियन सागर से भी आगे ब्लैक सी (काला सागर) तक विस्तृत हो गई थी। इस विशाल मंगोल साम्राज्य की राजधानी कराकुरम नगरी थी, जो गोबी के मरुस्थल के उत्तर में मंगोलिया में स्थित थी। चंगेज खाँ के बाद मंगोल साम्राज्य अनेक भागों में विभक्त हो गया, और पश्चिमी मंगोल राज्य ने रूस पर भी अपना आधिपत्य स्थापित किया। मंगोल लोगों के इतिहास के सम्बन्ध में यहाँ अधिक लिख सकना सम्भव नहीं है। यह स्पष्ट है, कि तेरहवीं सदी मंगोलिया के लिए अत्यन्त समृद्धि और शक्ति की सदी थी।

चीन में जो मंगोल लोग गए, उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकृत कर लिया, और धीरे-धीरे वे चीनी सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंग गए। उनमें और अन्य चीनी जनता में कोई विशेष अन्तर नहीं रहा। चीनी ऐतिहासिकों ने कुबले खां (चंगेज खाँ का पौत्र) को एक चीनी सम्राट् माना है, और उससे चीन के युआन वंश का प्रारम्भ किया है। इसी प्रकार ईरान और मध्य एशिया के मंगोल लोग इस्लाम के सम्पर्क में आकर मुस्लिम बन गए। पर मंगोलिया में जो विविध मंगोल सरदार अपने कबीलों के साथ निवास करते थे, वे अपनी पुरानी दशा में ही रहे। यदि चंगेज खां का विशाल साम्राज्य अखण्डित और सुव्यवस्थित दशा में रह पाता, तो शायद इन मंगोल कबीलों की दशा में परिवर्तन आ सकता। पर तेरहवीं और चौदहवीं सदियों में जब मानव समाज के पास घोड़े की अपेक्षा तेज चल सकने वाली कोई सवारी नहीं थी, इतने विशाल साम्राज्य का एक केन्द्रीय संगठन के अधीन रह सकना सम्भव नहीं था। चीन के मंगोल सम्राटों के लिए भी यह सम्भव नहीं था, कि वे मंगोलिया के विविध सरदारों को देर तक अपनी अधीनता में रख सकें। इस प्रदेश के विविध सरदार इस युग (चौदहवीं सदी के अन्त) में स्वतन्त्र हो गए, और उनका चीन के साथ कोई राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रहा।

यहां यह लिख देना भी आवश्यक है, कि तिब्बत के बौद्ध प्रचारक इस समय अपने धर्म का प्रचार करते हुए मंगोलिया भी जाने लगे थे। सिन्किआँग में अपने धर्म का प्रचार करते हुए तिब्बत के बहुत-से भिक्षु मंगोलिया गए थे, और वहाँ उन्होंने विविध मंगोल सरदारों व जनता को अपने धर्म में दीक्षित किया था। विक्रमशिला के प्रसिद्ध आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने तिब्बत के बौद्ध धर्म में नवजीवन का संचार किया था। नई धार्मिक स्फूर्ति से अनुप्राणित होकर तिब्बत के बौद्ध भिक्षु सुदूर मंगोलिया में अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे। हम इसी अध्याय में पहले लिख चुके हैं, कि अन्यतम मंगोल सरदार गुश्रीखान द्वारा ही तिब्बत में दलाई लामा के शासन का सूत्रपात हुआ था।

चौदहवीं सदी के अन्त से सतरहवीं सदी के मध्य भाग तक मंगोलिया का चीन के साथ राजनीतिक सम्बन्ध नहीं रहा। १६४४ में जब मंचूरिया के निवासी मंचू लोगों ने चीन पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन किया, तो मंगोल लोगों का साहाय्य भी उन्हें प्राप्त था। अनेक मंगोलियन सरदार मंचू आक्रान्ताओं के साथ थे। यही कारण है, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्राट् कांग ह्सी (१६६१-१७२२) ने सम्पूर्ण चीन पर अपने आधिपत्य को स्थापित कर जिस विशाल साम्राज्य को संगठित किया, मंगोलिया का प्रदेश भी उसके अन्तर्गत था। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों मंगोलिया मंचू सम्राटों की अधीनता में थे। मञ्चू शासन में चीनी लोगों ने मंगोलिया में अपनी बहुत-सी नई बस्तियां बसाई। आभ्यन्तर मंगोलिया के अनेक प्रदेश कृषि के लिए उपयुक्त हैं। चीनी लोगों ने इन में आबाद होकर खेती प्रारम्भ की। बाह्य मंगोलिया में भी बहुत-से चीनी लोग व्यापार के लिए आने-जाने लगे। इस प्रदेश में ऊन, खाल, फर आदि प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थीं। चीनी व्यापारी इन्हें खरीद कर मुनाफा कमाने के लिए तत्पर हुए। चीनी सरकार ने यह भी यत्न किया, कि मंगोलिया के विविध कबीलों पर अपने शासन को सुदृढ़ रूप से स्थापित करे, और मंगोल लोगों को अपनी सेना में भरती करे। बहुत-से चीनी महाजन भी इस काल में बाह्य मंगोलिया गए, और मंगोलियन लोगों की सरलता से अनुचित लाभ उठाने लगे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मंगोलियन लोगों में चीनी शासन के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो।

१९११ में जब चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो बाह्य मंगोलिया ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। रूस उसकी पीठ पर था। भौगोलिक दृष्टि से रूस बाह्य मंगोलिया के अधिक समीप था, और उसके रूस के साथ व्यापारिक सम्बन्ध भी विद्यमान थे। इस दशा में १९१२ में रूस ने बाह्य मंगोलिया को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत कर लिया। १९१३ में चीन की नई रिपब्लिकन सरकार ने रूस के साथ एक समझौता किया, जिसके द्वारा रूस ने चीन की नई सरकार को स्वीकृत किया और बदले में चीन ने बाह्य मंगोलिया की स्वतन्त्र स्थिति को मान लिया। बाह्य मंगोलिया का यह नया स्वतन्त्र राज्य स्वाभाविक रूप से रूस के प्रभाव में था, और इसकी स्वतन्त्र स्थिति रूस की कृपा पर निर्भर थी। १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हुई, और ज़ार के एकतन्त्र शासन का अन्त होकर समाजवादी रिपब्लिक की स्थापना हुई। यह स्वाभाविक था, कि रूस की इन घटनाओं का असर मंगोलिया पर भी पड़े। १९२१ में बाह्य मंगोलिया में भी समाजवादी क्रान्ति हो गई, और रूस की सहायता से वहाँ भी समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार नई सरकार का संगठन हुआ। चीन के लिए यह बात बहुत चिन्ताजनक थी। यद्यपि १९१३ की सन्धि द्वारा चीन की रिपब्लिकन सरकार ने बाह्य मंगोलिया की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार कर लिया था, पर अब तक भी उसे चीन का ही एक अंग माना जाता था। उसकी स्थिति चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राज्य के समान थी। इस दशा में बाह्य मंगोलिया में समाजवादी सरकार का स्थापित होना चीन के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक था। १९२४ में रूस और चीन में एक नई सन्धि हुई, जिसमें चीन ने बाह्य मंगोलिया की कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकृत किया, और बदले में रूस ने यह मान लिया कि यह प्रदेश चीन का ही एक अंग है, यद्यपि क्रियात्मक दृष्टि से बाह्य मंगोलिया का सम्बन्ध इस समय चीन की अपेक्षा रूस के साथ अधिक था। १९२४ में बाह्य मंगोलिया के शासन और सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था का समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार पुनःसंगठन किया गया। इस प्रदेश में अब तक बौद्ध संघ का प्रभाव बहुत अधिक था। बहुत-सी भूसम्पत्ति बौद्ध मठों के स्वामित्व में थी। नई स्थापित हुई मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक ने सम्पूर्ण भूमि पर राज्य का स्वामित्व स्थापित कर लिया। इससे बौद्ध मठों के प्रभाव में बहुत कमी आ गई। मंगोलियन रिपब्लिक के आर्थिक जीवन का निर्माण समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार हो जाने पर इस देश की अवस्था में बहुत परिवर्तन आया। जब चीन में कुओमिन्तांग दल का जोर बढ़ा, और १९२७ में कम्युनिस्टों और कुओमिन्तांग सरकार में विरोध शुरू हुआ, तो यह स्वाभाविक था कि चीन और रूस के सम्बन्ध कटु हो जाएं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दशा में मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हो गई, और चीन के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया।

पर आभ्यन्तर मंगोलिया पर चीन का आधिपत्य कायम रहा। १९११ में मञ्चू शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना होने पर इस प्रदेश को तीन प्रान्तों में विभक्त किया गया, जिनके नाम चहर, सुईयुआन और निंग्हिसआ हैं। इन प्रान्तों में चीनी लोग मंचू शासन के युग में ही बड़ी संख्या में बसने शुरू हो चुके थे। १९११ के बाद इस प्रवृत्ति में और अधिक वृद्धि हुई। मंगोल लोग मुख्यतया पशुपालन द्वारा ही अपना निर्वाह किया करते थे। चीनी किसानों का आर्थिक क्षेत्र में मुकाबिला कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था। इस दशा का परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे आभ्यन्तर मंगोलिया की सब भूमि चीनी लोगों के हाथों में आती गई। १९३१ तक यह दशा आ गई थी, कि मंगोल लोग दो-तिहाई के लगभग भूमि पर से अपना स्वामित्व खो चुके थे। मंगोल और चीनियों में विरोध निरन्तर बढ़ता जाता था। इस दशा का जापान ने चीन में अपने उत्कर्ष के लिए किस प्रकार उपयोग किया, इस पर हम बीसवें अध्याय में यथास्थान प्रकाश डालेंगे। यहां इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि १९३१ में जापान ने मंचूरिया पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करना शुरू कर दिया था, और यह स्वाभाविक था कि मंचूरिया के बाद जापान मंगोलिया को भी अपने प्रभुत्त्व में लाने का उद्योग करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्यारहवां अध्याय

कुओमिन्तांग दल का चीन में उत्कर्ष

(१) कुओमिन्तांग दल

मञ्चू शासन का अन्त कर लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना करने के उद्देश्य से डॉ० सन यात सेन ने तुंग मेंग हुई नाम की जिस क्रान्तिकारी संस्था का संगठन किया था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १९११ की राज्यक्रान्ति से पूर्व यह संस्था एक गुप्त समिति के रूप में थी। रिपब्लिक की स्थापना के बाद इसे गुप्त रूप से कार्य करने की आवश्यकता नहीं रह गई। पर जब १९१३ में युआन शी काई ने पेकिंग सरकार पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया, तो डॉ० सन यात सेन के दल के लिये अपना कार्य कर सकना कठिन हो गया। रिपब्लिक की स्थापना के बाद १९१२ में डॉ० सन यात सेन ने अपने अनुयायियों को कुओमिन्तांग दल के रूप में संगठित कर लिया था। हिन्दी में इस दल को 'राष्ट्रीय जनता दल' कह सकते हैं। युआन शी काई ने कुओमिन्तांग दल को गैरकानूनी घोषित कर दिया था। इसके अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे, और अनेक लोगों को चीन से भागकर विदेशों में आश्रय लेने की आवश्यकता हुई थी। युआन शी काई का चीन पर एकाधिपत्य देर तक कायम नहीं रहा। १९१६ में उसकी मृत्यु के बाद चीन के विविध प्रदेशों में अव्यवस्था शुरू हो गई। विभिन्न सिपहसालार अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने लगे। इस स्थिति से लाभ उठाकर डॉ० सन यात सेन ने दक्षिणी चीन में अपनी शक्ति की पुनःस्थापना की, और कैन्टन को राजधानी बनाकर कुओमिंतांग दल की सरकार का संगठन किया गया। १९१६ में कैन्टन की इस कुओमिंतांग सरकार के उत्कर्ष का प्रारम्भ हुआ, और कुछ ही वर्षों में प्रायः सम्पूर्ण चीन इस सरकार के शासन में आ गया।

संगठन—शुरू में कुओमिंतांग दल का संगठन सुव्यवस्थित नहीं था। जो लोग डॉ० सन यात सेन को अपना नेता मानते थे, उसके प्रति भक्ति रखते थे, वे ही इस दल में सम्मिलित थे। सर्व साधारण जनता में इसके सिद्धान्तों का अधिक प्रचार नहीं था। यही कारण है, कि कैन्टन सरकार का प्रभुत्व दक्षिणी चीन में भी सर्वत्र स्वीकृत नहीं किया जाता था। दक्षिणी चीन के विविध प्रदेशों के सिपहसालार जिस अंश तक उचित समझें, उसी अंश तक वे कैन्टन सरकार के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। इस दशा में डॉ० सन यात सेन ने कुओमिंतांग दल के पुनःसंगठन पर ध्यान दिया, और इस कार्य में रूस के कम्युनिस्ट दल का सहयोग लिया गया। १९१७ में रूस में क्रान्ति द्वारा बोल्शेविक या कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हो गई थी, और रूस की यह नई सरकार समाज-संगठन के कतिपय नवीन सिद्धान्तों के अनुसार अपने देश के शासनसूत्र को संचालित करने में तत्पर थी। १९२३ में डॉ० सन यात सेन ने रूस की सरकार से सहयोग प्राप्त किया, और माइकेल बोरोडिन नामक रूसी कम्युनिस्ट कुओमिन्तांग सरकार का सलाहकार बनकर कैन्टन पहुंच गया। उसने कुओमिन्तांग दल के पुनःसंगठन पर विशेषरूप से ध्यान दिया। इसके लिये रूस की कम्युनिस्ट पार्टी को आदर्श के रूप में रखा गया। यह व्यव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्था की गई, कि चीन में सर्वत्र कुओमिंतांग दल की शाखाएं स्थापित की जाएं, और इन स्थानीय कमेटियों के बाकायदा सदस्य हों जो एक निर्धारित प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किया करें। स्थानीय कमेटियां अपने पदाधिकारियों को स्वयं निर्वाचित करें, और दो सप्ताहों में एक बार स्थानीय कमेटी की नियमित रूप से बैठक की जाय। कमेटियों के आय-व्यय का हिसाब नियमपूर्वक रखा जाय, और उसके आडिट की भी व्यवस्था की जाय। स्थानीय कमेटियों का यह प्रधान कर्तव्य हो, कि वे अपने-अपने क्षेत्र में कुओमिंतांग दल के सिद्धान्तों का प्रचार करें। स्थानीय कमेटियों के ऊपर तहसील, जिला और फिर प्रान्त की कमेटियों का संगठन किया गया। सबसे उपर 'अखिल चीन कुओमिंताँग कमेटी' बनायी गई, जिसके सदस्यों का निर्वाचन प्रान्तीय कमेटियाँ करती थीं। यह भी व्यवस्था की गई,कि कुओमिंतांग दल की महासभा का राष्ट्रीय अधिवेशन वर्ष में एक बार अवश्य किया जाया करे। १९२४ में कुओमिंताँग दल की महासभा का पहला अधिवेशन बड़े समारोह के साथ किया गया, जिसमें सब स्थानों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। पर चीन की आन्तरिक राजनीतिक अव्यवस्था के कारण १९२५ में कोई अधिवेशन होना सम्भव नहीं हुआ। दूसरा अधिवेशन १९२६ में हुआ, और तीसरा १९२९ में।

कुओमिन्तांग महासभा का अध्यक्ष डॉ० सन यात सेन को चुना गया। यह व्यवस्था की गई, कि वह आजीवन दल के प्रधान पद पर रहे। डॉ० सन यात सेन ने चीन में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के लिए जो असाधारण कर्तृत्व प्रदर्शित किया था और कुओमिन्ताँग दल में उनकी जो विशिष्ट स्थिति थी, उसे दृष्टि में रख कर यह व्यवस्था भी की गई, कि दल की महासभा में स्वीकृत किसी भी प्रस्ताव को वीटो करने का उन्हें अधिकार हो, और केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्यों की नियुक्ति उनकी सहमति द्वारा ही की जाया करे।

कुओमिन्तांग दल के सिद्धान्त—१९२४ में जब कुओमिन्तांग दल की पहली महासभा हुई, तो उसमें दल के सिद्धान्तों व आदर्शों को स्वीकृत किया गया। इनका आधार डॉ० सन यात सेन के वे विचार थे, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर अपने व्याख्यानों तथा पुस्तिकाओं में प्रतिपादित किया था। कुओमिन्तांग दल के सिद्धान्तों को इस प्रकार संक्षेप में लिखा जा सकता है—

(१) राष्ट्रीयता इस दल का प्रथम मुख्य सिद्धान्त था। डॉ० सन यात सेन का यह विश्वास था, कि जब तक चीन के लोगों में राष्ट्रीयता की भावना का भलीभाँति विकास नहीं होगा, तब तक न तो देश के शासन को सुव्यवस्थित किया जा सकेगा, और न ही चीन उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकेगा। वह बहुधा कहा करते थे, कि चीनी जनता की दशा रेत के एक ऐसे ढेर के समान है, जिसके सब कण एक दूसरे से पूरी तरह मिलते तो हैं, पर जिन्हें एक दूसरे से मिलाकर एक शक्ति बना देने के लिए सीमेंट का अभाव है। सांस्कृतिक दृष्टि से चीन में जो एकता है, उसका यह परिणाम अवश्य हुआ है, कि चीन के के विविध निवासी रेत के कणों के समान एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। पर राष्ट्रीयता ही एक ऐसा तत्व है, जो सीमेंट के समान उन्हें एक दूसरे के साथ जोड़ कर एक जबर्दस्त ताकत बना सकता है। डॉ० सन यात सेन यह भी अनुभव करते थे, कि चीन में राष्ट्रीयता को विकसित करने के लिए यह बहुत आवश्यक है, कि चीनी लोगों में विदेशी राज्यों के प्रभुत्व के विरुद्ध भावना को उत्पन्न किया जाय। डॉ० सन यात सेन विदेशी राज्यों के विरोधी नहीं थे, पर वह विदेशी साम्राज्यवाद को सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। वह कहा करते थे, कि विदेशी राज्य चीन को एक ऐसी स्थिति में लाते जा रहे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, जिसके कारण उसकी दशा औपनिवेशिक राज्यों से भी हीन होती जाती है। चीन को विदेशी साम्राज्यवाद का शिकार बनने से तभी बचाया जा सकता है, जबकि चीन के लोग अपने देश के प्रति प्रेम करने लगें, अपने कुल एवं गाँव के प्रति भक्ति की जो भावना उनके हृदयों में विद्यमान हैं, वह चीनी राष्ट्र के प्रति हो जाय। निःसन्देह, चीन में पांच विभिन्न प्रकार के लोगों का निवास है, पर यदि चीनी राष्ट्र में इन पांचों जातियों को एक सदृश स्थान प्राप्त हो, तो चीन के सब निवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित कर सकना जरा भी कठिन नहीं है।

(२) लोकतन्त्र शासन कुओमिन्तांग दल का दूसरा सिद्धान्त था। मञ्चू शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना करने में डॉ० सन यात सेन का विशेष कर्तृत्व था। पर वह यह भलीभाँति अनुभव करते थे, कि चीन की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि चीन की सरकार बहुत मजबूत हो। जनता का उस पर नियन्त्रण अवश्य हो; पर सरकार के पास इतनी शक्ति होनी चाहिए, कि वह देश में शान्ति और व्यवस्था को भलीभांति कायम रख सके। इस लिए डॉ० सन यात सेन का यह विचार था, कि लोकतन्त्र शासन की पूर्ण रूप से स्थापना होने से पूर्व चीन को तीन दशाओं में से गुजरना होगा। सबसे पहले केन्द्रीय चीनी सरकार की सैन्य शक्ति को इतना प्रबल बनना होगा, कि वह विविध प्रान्तीय सिपहसालारों के साथ लोहा लेकर उन्हें अपना वशवर्ती बना सके। सैन्य शक्ति के प्रयोग द्वारा जब चीन एक केन्द्रीय सरकार के आधिपत्य में आ जायगा, तो धीरे-धीरे जनता को लोकतन्त्र शासन की शिक्षा देनी होगी। केन्द्रीय सरकार में लोकतन्त्र संस्थाओं की स्थापना से पूर्व प्रान्तों और जिलों में स्थानीय स्वशासन को स्थापित करना होगा। प्रान्तीय सिपहसालारों की सत्ता का अन्त हो कर जो-जो प्रदेश केन्द्रीय सरकार की अधीनता में आते जायेंगे, उनमें लोकतन्त्र शासन का प्रारम्भ किया जायगा, और इस शासन में कुओमिन्तांग दल की प्रधानता रहेगी। यह दल चीन में इतना सुव्यवस्थित और संगठित था, कि यही देश के शासन को सम्भाल सकता था। जब प्रान्तों में लोकतन्त्र शासन भली-भांति विकसित हो जायगा, तब केन्द्रीय सरकार को भी लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार संगठित करना सम्भव होगा।

(३) जनता की आर्थिक उन्नति कुओमिन्तांग दल का तीसरा सिद्धान्त था। चीन की बहुसंख्यक जनता देहातों में निवास करती थी, और खेती पर निर्भर करती थी। अतः डॉ० सन यात सेन का यह विचार था, कि देहात के जमींदारों और किसानों में जो भारी आर्थिक विषमता है, वह दूर होनी चाहिए और भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में समता की स्थापना की जानी चाहिये। मञ्चू शासन का अन्त कर लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना और राष्ट्रीयता के साथ-साथ भूमि के स्वामित्व में समानता का सिद्धान्त भी डॉ० सन यात सेन के कार्यक्रम का महत्त्वपूर्ण अंग था, जिसे कुओमिन्तांग दल ने स्वीकार कर लिया था। डॉ० सन यात सेन का यह भी विचार था, कि कुओमिन्तांग दल को देहातों की किसान जनता की आर्थिक उन्नति पर विशेष ध्यान देना चाहिए, और इसी से चीन की आर्थिक समस्या को हल किया जा सकता है। डॉ० सन यात सेन कम्युनिस्ट दल के सदस्य नहीं थे, यद्यपि उन्होंने अपने दल का संगठन करते हुए रूस के कम्युनिस्ट नेताओं का सहयोग प्राप्त किया था। शुरू में इस दल में चीनी कम्युनिस्ट भी बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए। पर शीघ्र ही ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई, कि कम्युनिस्ट लोगों के लिए कुओमिन्तांग दल में रह सकना सम्भव नहीं रहा।

डॉ० सन यात सेन और कुओमिन्तांग दल—१९२० में कुओमिन्तांग दल ने अपनी सरकार को कैन्टन में सुदृढ रूप से स्थापित कर लिया था। १९२३ तक माइकेल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोरोडिन के सहयोग से इस दल का संगठन भी बहुत दृढ़ हो गया था। रूस और चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों का सहयोग कुओमिन्तांग दल को प्राप्त था, जिसके कारण इस दल के लोगों में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ विकसित हो गई थीं। कुछ लोग किसानों और मजदूरों को संगठित करने के लिए प्रयत्नशील थे। डॉ० सन यात सेन का समर्थन इन्हें प्राप्त था। पर कैन्टन के धनिक व्यापारी कुओमिन्तांग में सम्मिलित होते हुए भी किसानों और मजदूरों की शक्ति को चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। परिणाम यह हुआ, कि उन्होंने अपनी पृथक् स्वयंसेवक सेना का संगठन किया और इस सेना को सुसज्जित करने के लिए विदेशी राज्यों से अस्त्र-शस्त्र मंगाये। पर डॉ० सन यात सेन का मुकाबिला कर सकने में ये धनिक व्यापारी सफल नहीं हो सके। इनके अस्त्र-शस्त्रों को जब्त कर लिया गया, और डॉ० सन यात सेन कैन्टन सरकार में अपने प्रभुत्व को कायम रखने में समर्थ हुए।

अब डॉ० सन यात सेन ने यह प्रयत्न किया, कि पेकिंग सरकार से समझौता करके चीन में राष्ट्रीय एकता को स्थापित किया जाय। उनका विचार था, कि वू पेई फू के खिलाफ तुआन ची जुई, चांग त्सोलिन और फेंग यू हि् सआंग के साथ समझौता करके एक ऐसी व्यवस्था पैदा की जा सकती है, जिससे पेकिंग और कैन्टन की सरकारें संयुक्त हो जाएं। इसी उद्देश्य से उन्होंने कैन्टन से उत्तर की ओर प्रस्थान किया। १९२५ के शुरू में वह पेकिंग पहुँच गए, पर वहां जाकर उन्हें घोर निराशा का सामना करना पड़ा। उत्तरी चीन के महत्वाकांक्षी व प्रबल सिपहसालारों के साथ उनका समझौता नहीं हो सका। १२ मार्च, १९२५ को पेकिंग में ही उनकी मृत्यु हो गई।

डॉ० सन यात सेन की मृत्यु के बाद कुओमिन्तांग दल की शक्ति घटी नहीं, अपितु उसमें और भी अधिक वृद्धि हुई। लोगों ने समझा, कि डॉ० सन यात सेन एक महापुरुष थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन देश की उन्नति में स्वाहा कर दिया था। देश का कल्याण इसी में है, कि उनके दरसाये हुए मार्ग का अनुसरण करे। उनके जीवनकाल में अनेक व्यक्ति कुओमिन्तांग दल में ऐसे भी थे जो उनके विरोधी थे। पर अब लोगों ने उनके सिद्धान्तों को आदर्श रूप से स्वीकार किया। जिस प्रकार भारत में महात्मा गांधी को और रूस में लेनिन को अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है, वैसे ही चीन की जनता ने डॉ० सन यात सेन के प्रति सम्मान और श्रद्धा के भाव प्रदर्शित करने शुरू किये। शिक्षणालयों, सार्वजनिक स्थानों और सरकारी दफ्तरों में उनके चित्रों व प्रतिमाओं की स्थापना की गई, और अनेक श्रद्धालु लोग पुष्पमाला आदि द्वारा इनकी पूजा करने में भी तत्पर हुए। डॉ० सन यात सेन की पुस्तकों का लोग धर्मग्रन्थों के समान आदर करने लगे, और उनके नाम व आदर्शों के कारण कुओमिन्तांग दल में नई स्फूर्ति और नवजीवन का संचार हुआ।

(२) राष्ट्रीय एकता की स्थापना

कैन्टन में अपनी सरकार को सुव्यवस्थित रूप से स्थापित करने के बाद कुओमिन्तांग दल के सम्मुख मुख्य कार्य यह था, कि सम्पूर्ण चीन को एक शासन की अधीनता में लाने का प्रयत्न किया जाय। समझौते द्वारा यह बात सम्भव नहीं थी। इसके लिए डॉ० सन यात सेन ने जो प्रयत्न किया था, वह सफल नहीं हो सका था। अब कुओमिन्तांग सरकार के सम्मुख केवल यही मार्ग शेष था, कि वह सैन्यशक्ति का प्रयोग कर चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना का उद्योग करे। १९२६ में कैन्टन की सरकार की सेनाओं ने उत्तर की ओर अपनी विजय-यात्रा प्रारम्भ की। इन सेनाओं का प्रधान सेनापति चियांग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काई शेक था। उसका जन्म १८८७ में चेकियांग प्रान्त में हुआ था। बचपन में ही वह क्रान्तिकारी विचारों के सम्पर्क में आ गया था। उसकी शिक्षा सैनिक ढंग पर हुई थी। चीन में सैनिक शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर वह उच्च सैनिक शिक्षा के लिए जापान भी गया था। डॉ० सन यात सेन के सम्पर्क में आकर वह उनका कट्टर अनुयायी बन गया था। १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद उसने रूस की भी यात्रा की थी, और वहां रह कर उसने समाजवादी व्यवस्था का भी गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया था। समाजवाद के प्रति उसके हृदय में आदर का भाव था, पर वह स्वयं कम्युनिस्ट नहीं बना था। डॉ० सन यात सेन की प्रेरणा से उसने व्हाम्पोआ नामक स्थान पर एक मिलिटरी एकेडमी की स्थापना की थी। इस एकेडमी में कुओमिन्तांग दल के नवयुवकों को सैनिक शिक्षा दी जाती थी, और उन्हें सैनिक अफसर का पद ग्रहण करने के योग्य बनाया जाता था। चियांग काई शेक केवल सैनिक दृष्टि से ही सुशिक्षित नहीं था, साथ ही वह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से भी भलिभांति परिचित था। चीन के प्राचीन ग्रंथों के साथ-साथ उसने कानून और आधुनिक ग्रन्थों का भी भली-भांति अनुशीलन किया था।

उत्तरी चीन पर कैन्टन सरकार की सेनाओं के आक्रमण की योजना रूसी सैनिक सलाहकार जनरल ब्लूचर द्वारा तैयार की गई थी। इस योजना के अनुसार पहले हैंको पर आक्रमण किया गया। हैंको पर कब्जा करने में चिआंग काई शेक की सेनाओं को कोई कठिनाई नहीं हुई। इसके बाद नानकिंग और शंघाई पर आक्रमण किया गया, और इन् दोनों नगरों को भी विजय कर लिया गया। इस प्रसंग में यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए, कि कैन्टन सरकार की सेनाओं के अतिरिक्त कुओमिन्तांग दल के प्रचारक भी इस समय चीन में बहुत प्रयत्नशील थे। सेनाओं के आगे-आगे ये प्रचारक चलते थे, और जनता को अपने दल के मन्तव्यों का भली-भांति बोध कराते जाते थे। राष्ट्रीय एकता की बात चीन की सर्वसाधारण जनता को बहुत आकर्षक प्रतीत होती थी, जिसके कारण वह कैन्टन सरकार की सेनाओं का विरोध नहीं करना चाहती थी।

पर इस समय कुओमिन्तांग दल के आन्तरिक विरोधों ने भी गम्भीर रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया था। कम्युनिस्ट लोग कुओमिन्तांग दल में सम्मिलित थे, और वे इस समय सर्वसाधारण चीनी जनता में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में तत्पर थे। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद मास्को में सन यात सेन यूनिवर्सिटी के नाम से एक नई संस्था की स्थापना हुई थी, जिनमें चीनी विद्यार्थी बहुत बड़ी संख्या में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। ये विद्यार्थी जब रूस से उच्च शिक्षा प्राप्त करके चीन वापस आते थे, तो स्वाभाविक रूप से कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के प्रचार का उद्योग करते थे। हैंको की विजय के बाद वहां कुओमिन्तांग दल का जो शासन स्थापित हुआ था, उसमें कम्युनिस्टों का बहुत जोर था। कुओमिन्तांग दल के कम्युनिज्म के विरोधी सदस्य इस बात से बहुत चिन्तित हुए। चियांग काई शेक की इन लोगों के साथ सहानुभूति थी। कम्युनिज्म का समर्थन करने वाले चीनी युवक जहां एक ओर अपने देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे, वहां साथ ही विदेशी राज्यों का प्रभुत्व भी उन्हें किसी भी प्रकार से सह्य नहीं था। इस समय यूरोप के प्रमुख राज्य रूस की कम्युनिस्ट सरकार के प्रबल विरोधी थे। वे उसके विरुद्ध संघर्ष भी कर रहे थे। इस दशा में चीन के कम्युनिस्ट भी यदि पाश्चात्य देशों के प्रति विद्वेष का भाव रखते हों, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। इसीलिए जब मार्च, १९२७ में कुओमिन्तांग दल की सेनाओं ने नानकिंग पर कब्जा किया, तो अनेक चीनी नवयुवकों ने विदेशी लोगों पर भी आक्रमण किये। बहुत-से पाश्चात्य लोग इस हमले में मारे गये। यदि पाश्चात्य जहाज इस समय हस्तक्षेप न करते, तो शायद विदेशी लोगों के लिए नान-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किंग से अपनी जान बचाकर निकल सकना भी कठिन हो जाता । नानकिंग पर कुओमिन्तांग सेनाओं का कब्जा हो जाने के बाद ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि विदेशी राज्यों ने यह मांग की, कि जिन सेनापतियों व सैनिकों द्वारा विदेशी लोगों पर हमले किये गए थे, उन्हें दण्ड दिया जाय और विदेशी राज्यों को इन हमलों से जो क्षति हुई है, उसके लिए उपयुक्त हरजाना दिया जाय। विदेशी राज्यों की इन मांगों के कारण कुओमिन्तांग सरकार को एक विकट समस्या का सामना करना पड़ा । चियांग काई शेक और उसके अनुयायी स्वयं भी कम्युनिस्ट लोगों से परेशान थे। उन्होंने इस बात का आश्वासन दिया, कि वे कम्युनिस्ट लोगों को वश में रखने के लिए सब उचित कार्यवाही करेंगे। इस समय से कम्युनिस्टों और चियांग काईशेक के अनुयायियों में विरोध निरन्तर बढ़ता गया। कुओमिन्तांग दल के दक्षिण पक्ष और वाम पक्ष में इस समय जो संघर्ष शुरू हुआ, चीन के इतिहास में उसका बहुत अधिक महत्त्व है । इस संघर्ष के कारण चियांग काई शेक कम्युनिज्म का प्रबल विरोधी बन गया, और इस वाद को विनष्ट करना ही उसने अपना मुख्य ध्येय बना लिया।

नानकिंग पर कब्जा हो जाने के बाद इसी नगर को कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी बनाया गया। कम्युनिस्ट लोग हैंको और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में बहुत प्रबल थे। चियांग काई शेक ने उनके खिलाफ सख्त कार्रवाई की। बहुत-से कम्युनिस्टों को गिरफ्तार किया गया । इनमें विद्यार्थियों की संख्या बहुत अधिक थी । सैकड़ों कम्युनिस्ट विद्यार्थियों को प्राणदण्ड दिया गया। रूस के जो कम्युनिस्ट चीन में कार्य कर रहे थे, उन्हें अपने देश को वापस लौट जाने के लिए विवश होना पड़ा । अपने विरोधियों को विनष्ट कर १९२८ में चियांग काई शेक ने उत्तर में पेकिंग की ओर प्रस्थान किया । इस समय पेकिंग पर मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो लिन का आधिपत्य था । वह चियांग काई शेक की सेनाओं का मुकाबिला नहीं कर सका । जून, १९२८ में पेकिंग पर भी कुओमिन्तांग दल का कब्जा हो गया । चांग त्सो लिन ने अपनी सेनाओं को साथ लेकर मञ्चूरिया की ओर प्रस्थान कर दिया, पर अभी वह अपनी (मञ्चूरिया की) राजधानी मुकदन नहीं पहुंच पाया था, कि मार्ग में एक बॉम्ब द्वारा उसकी मृत्यु हो गई । चियांग काई शेक का विचार था, कि इसी समय मंचूरिया पर भी आक्रमण कर दिया जाय, और उसे भी जीतकर कुओमिन्तांग सरकार के शासन में ले आया जाय। पर दक्षिणी मंचूरिया पर जापान का प्रभाव स्थापित था। जापानी लोग नहीं चाहते थे, कि चियांग काई शेक की सेनाएं इस प्रदेश पर आक्रमण करें। उनके विरोध के कारण कुओमिन्तांग सरकार ने निश्चय किया, कि अभी मंचूरिया पर आक्रमण करने का यत्न न किया जाए। चांग त्सो लिन की मृत्यु के बाद उसका लड़का ह्यु सुएह-लिआंग मंचूरिया का सिपहसालार बना। वह कुओमिन्तांग सरकार के साथ समझौता करने के लिये तैयार था। परिणाम यह हुआ, कि युद्ध के बिना ही मंचूरिया पर कुओमिन्तांग सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया।

पेकिंग की विजय और मंचूरिया द्वारा कुओमिन्तांग का आधिपत्य स्वीकृत कर लेने पर चीन में राजनीतिक एकता स्थापित हो गई थी । पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि इस समय (१९२८) सारे चीन में एक सुव्यवस्थित सरकार का शासन कायम हो गया था। चीन के विविध प्रदेशों में अभी तक भी अनेक ऐसे सिपहसालारों की सत्ता विद्यमान थी, जो कुओमिन्तांग सरकार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने के लिए उद्यत रहते थे। चियांग काई शेक को अनेक बार इन सिपहसालारों के साथ भयंकर युद्ध लड़ने पड़े। इनके अतिरिक्त कम्युनिस्ट लोग भी अनेक प्रदेशों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। किआंगसी, आन्हुई और फूकिएन प्रान्तों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनेक प्रदेशों पर १९३० से १९३३ तक कम्युनिस्ट लोगों का प्रभुत्व रहा। १९३० में कुछ समय के लिये कम्युनिस्टों ने हूनान प्रान्त की राजधानी पर भी अपना कब्जा कायम कर लिया था। चियांग काई शेक ने कम्युनिस्टों के खिलाफ प्रचण्ड रूप से सैन्य शक्ति का प्रयोग किया। पूर्वी चीन के धनपति लोग इस कार्य में उसकी दिल खोलकर सहायता कर रहे थे। अनेक सिपहसालारों और कम्युनिस्ट लोगों की सत्ता के कारण यह कह सकना कठिन है, कि १९२८ के बाद चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई थी। पर इस में सन्देह नहीं, कि कुओमिन्तांग दल के कर्त्तृत्व के कारण चीन अब राष्ट्रीय एकता के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर होने लग गया था।

(३) नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार

सरकार का संगठन—पेकिंग की विजय के बाद चीन में राष्ट्रीय एकता बहुत अंशों में स्थापित हो गई थी। डॉ० सन यात सेन द्वारा चीन की उन्नति के लिए जो प्रोग्राम बनाया गया था, उसका पहला भाग अब पूर्ण हो चुका था। अब कुओमिन्तांग दल के सम्मुख अगला कार्य यह था, कि सरकार का व्यवस्थित रूप से संगठन किया जाय, और लोकतन्त्र के मार्ग पर अग्रसर हुआ जाए। अब चीन की राजधानी नानकिंग को बनाया गया। कुओमिन्तांग दल का उत्तरी चीन पर अधिक प्रभाव नहीं था। पेकिंग में उन लोगों की बहुसंख्या थी, जो नई प्रवृत्तियों के विरोधी थे। इसलिए १९११ में भी सुधारवादी व क्रान्तिकारी लोगों ने यह प्रयत्न किया था, कि चीन की राजधानी पेकिंग के बजाय नानकिंग को बनाया जाय। पर युआन शी काई के विरोध के कारण जनता की यह इच्छा क्रिया में परिणत नहीं हो सकी थी। अब कुओमिन्तांग दल नानकिंग को चीन की राजधानी बनाने में सफल हुआ। धीरे-धीरे विदेशी राजदूत भी पेकिंग को छोड़कर नानकिंग चले आये।

अगस्त, १९२८ में कुओमिन्तांग पार्टी की सेन्ट्रल एग्जीक्यूटिव कमेटी की एक बैठक इस उद्देश्य से हुई, कि नई चीनी सरकार की शासनव्यवस्था और संगठन के सम्बन्ध में निर्णय किये जाएं। इस समय चीन के शासन का संगठन जिस ढंग से किया गया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) सरकार पर कुओमिन्तांग पार्टी का प्रभुत्व रहे। (२) सरकार पर नियन्त्रण रखने और राज्य की नीति का निर्धारण करने के लिए एक सेन्ट्रल पोलिटिकल कौंसिल का संगठन किया जाय। इस कौंसिल के सदस्य निम्नलिखित प्रकार से रहें—क. कुओमिन्तांग दल की सेन्ट्रल एक्जीक्यूटिव कमेटी के सब सदस्य, और ख. सेन्ट्रल स्टेट कौंसिल के सब सदस्य। सेन्ट्रल स्टेट कौंसिल के सदस्यों की संख्या ३५ थी, और इन्हें तथा कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कमेटी के सदस्यों को मिलाकर राज्य की केन्द्रीय राजनैतिक सभा (सेन्ट्रल पोलिटिकल कौंसिल) के संगठन की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार राज्य की केन्द्रीय सभा में कुओमिन्तांग दल का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। (३) राज्य की केन्द्रीय सरकार में पांच विभाग (युआन) हों, शासन युआन, व्यवस्थापक युआन, न्याय युआन, परीक्षा युआन और नियन्त्रण युआन। पाश्चात्य राज्यों की सरकारों में शासन, व्यवस्थापन और न्याय—ये तीन विभाग बनाये जाते हैं, पर चीन में इन तीन विभागों के अतिरिक्त परीक्षा और नियन्त्रण के दो अन्य विभाग भी कायम किये गये। ये दोनों नये विभाग चीन की प्राचीन परम्परा को दृष्टि में रखकर स्थापित किये गए थे, क्योंकि मञ्चू शासन के काल में परीक्षा पद्धति और सरकारी कर्मचारियों के कार्यों पर नियन्त्रण को बहुत अधिक महत्त्व दिया जाता था। केन्द्रीय सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समान प्रान्तों की सरकारों का भी इस समय पुनःसंगठन किया गया, और प्रान्तीय सरकारों के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिए सेन्ट्रल पोलिटिकल कौंसिल के ढंग पर प्रान्तीय कौंसिलों की भी स्थापना की गई।

मई, १९३१ में चीन के लिए नया शासन-विधान तैयार हुआ था, और १९३४ में उसे संशोधित किया गया था। १९३१ और १९३४ के शासन-विधानों के अनुसार चीन की राजशक्ति सर्वसाधारण जनता में निहित थी, और संविधान में नागरिकों के जन्मसिद्ध अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया था। "सब मनुष्य कानून की दृष्टि में समान हैं, नसल, लिंग, जाति आदि के आधार पर नागरिकों की स्थिति और अधिकारों में कोई भेद नहीं किया जायगा, सबको निर्वाचन में समान रूप से वोट देने का अधिकार होगा, सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार को स्वीकृत किया जायगा, वशर्ते कि यह अधिकार सार्वजनिक हित का विरोधी न हो," इस प्रकार के जन्मसिद्ध अधिकार संविधान द्वारा स्वीकृत किये गये। राज्य के शासन में कुओमिन्तांग दल के प्रभुत्व को स्थापित किया गया, पर प्रत्येक मनुष्य को यह अधिकार भी दिया गया, कि वह इस दल का सदस्य बन सके। चीन के इन नये संविधानों में जनता को प्रतिनिधित्व देने की बात को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया था, क्योंकि कुओमिन्तांग सरकार को इस समय इतना अवकाश नहीं था, कि वह चीन में लोकतन्त्र शासन के विकास पर विशेष ध्यान दे सके। उसके सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह था, कि देश में अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियों को वश में लाकर किस प्रकार राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जाय। नई सरकार का अधिपति चियाँग काई शेक था, और उसकी सब शक्ति अपने विरोधियों के विरुद्ध संघर्ष में लगी हुई थी।

चियांग काई शेक के विरोधी—नानाकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के अधिपति चियांग काई शेक को जिन विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष करना पड़ रहा था, उन्हें निम्नलिखित विभागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) विभिन्न प्रदेशों के सिपहसालार लोग, जो अवसर पाते ही स्वतन्त्र हो जाने के लिए उद्यत रहते थे, (२) कुओमिन्तांग दल के अन्तर्गत वामपक्ष के लोग, और (३) कम्युनिस्ट दल। इन तीनों विरोधी तत्त्वों का संक्षेप के साथ उल्लेख करना इस युग (१९२९-३३) के चीनी इतिहास को समझने के लिए बहुत उपयोगी है।

१९२९ में चियांग काई शेक ने उद्योग किया, कि विभिन्न सिपहसालारों से बातचीत करके एक ऐसा समझौता कर लिया जाय, जिससे कि वे नानकिंग सरकार की अधीनता में रहते हुए उसके साथ सहयोग करने को उद्यत हों। पर इस प्रयत्न में उसे सफलता नहीं हो सकी। उसका मुख्य प्रतिस्पर्धी फेंग यू हि् सआंग था। इस शक्तिशाली सिपहसालार का उल्लेख इस इतिहास में कई बार पहले किया जा चुका है। चियांग काई शेक और फेंग यू हि् सआंग—दोनों इस बात के लिए उत्सुक थे, कि मंचूरिया के सिपहसालार चांग ह् सुएह लिआंग और शान्सी प्रान्त के सिपहसालार येन ह् सी शान का सहयोग प्राप्त करें। फेंग यू हिसआंग अपने प्रयत्न में आंशिक रूप से सफल हुआ, और येन ह् सी शान का सहयोग उसे प्राप्त हो गया। पर चांग ह् सुएह लिआंग इस संघर्ष में उदासीन रहा। चियांग काई शेक इन दो शक्तिशाली सिपहसालारों को तभी परास्त कर सकता था, जब कि चांग ह् सुएह लिआंग जैसे किसी प्रबल सिपहसालार की सहायता उसे प्राप्त हो। अन्त में उसने मंचूरिया के सिपहसालार को यह आश्वासन देकर अपने पक्ष में कर लिया, कि फेंग यू हि् सआंग और येन ह् शी शान को परास्त कर उनके प्रदेशों पर उसके आधिपत्य को स्वीकार कर लिया जायगा। चांग ह् सुएह लियांग की सहायता प्राप्त कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चियांग काई शेक अपने प्रतिद्वन्द्वी सिपहसालारों को परास्त करने में समर्थ हुआ। पर इससे मंचूरिया के सिपहसालार की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई। यद्यपि वह नाम को नानकिंग की सरकार की अधीनता स्वीकार करता था, पर क्रियात्मक दृष्टि से वह उत्तरी चीन के विशाल प्रदेश का स्वतन्त्र शासक था। चियांग काई शेक को इसी ढंग से अन्य भी अनेक सिपहसालारों के साथ संघर्ष करना पड़ा, और इन संघर्षों को दृष्टि में रखते हुए यह स्वीकार करना पड़ेगा, कि वस्तुतः नानकिंग सरकार की शक्ति अभी सम्पूर्ण चीन में स्थापित नहीं हुई थी। पेकिंग सरकार की पृथक् सत्ता का अन्त हो जाने के बाद भी अभी चीन एक नहीं हुआ था। उसमें पहले के समान ही आन्तरिक युद्ध जारी थे।

केवल उत्तरी चीन में ही नहीं, अपितु दक्षिणी चीन में भी चियांग काई शेक के विरोधी विद्यमान थे। कुओमिन्तांग दल में जो वामपक्षी लोग थे, उनके प्रधान नेता वांग चिंग वेई और चेन कुंग-पो थे। उन्होंने यत्न किया, कि चियांग काई शेक के खिलाफ फेंग यू हि सआंग और येन ह शी शान की सहायता करें। पर जब ये सिपहसालार परास्त हो गए, तो वामपक्षी नेताओं ने कैन्टन को राजधानी बनाकर अपनी पृथक् सरकार का संगठन कर लिया। क्वांगसी प्रान्त की सेनाएं इस प्रयत्न में उनकी पीठ पर थीं। कैन्टन में एक नई सरकार का संगठन हो जाने के कारण चियांग काई शेक की स्थिति डांवाडोल हो गई। यह सरकार भी अपने को कुओमिन्तांग दल का कहती थी, और यह दावा करती थी कि डॉ० सन यात सेन ने चीन में जिस क्रान्ति का प्रारम्भ किया था, उसे यही सरकार पूरा कर सकती है। १९३१ के प्रारम्भ में कैन्टन सरकार की सेनाओं ने नानकिंग पर आक्रमण किया। इस समय जापान चीन में अपने प्रभुत्व के विस्तार में विशेष रूप से तत्पर था। विदेशी शत्रु का मुकाबिला करने के लिए कुओमिन्तांग दल के वाम और दक्षिणपक्षी नेताओं ने यह उचित समझा, कि परस्पर मिलकर समझौता कर लें। इसलिए नानकिंग की सरकार का पुनःसंगठन किया गया, और शासन शक्ति का प्रयोग तीन व्यक्तियों के सुपुर्द कर दिया गया। तीन व्यक्तियों की इस कमेटी के सदस्य चियांग काई शेक, वांग चिंग वेई और हू हान मिन थे। इस कमेटी में चियांग काई शेक की शक्ति बहुत कम थी। पर वाम और दक्षिण पक्षों का यह सहयोग देर तक कायम नहीं रह सका। शीघ्र ही उनमें फूट पड़ गई, और कुओमिन्तांग दल के वामपक्षी लोगों ने कैन्टन में अपनी पृथक् सरकार का फिर से संगठन कर लिया।

चियांग काई शेक के विरोधियों में सबसे महत्त्वपूर्ण कम्युनिस्ट लोग थे। १९२७ में इन्हें नष्ट करने के लिए जो प्रयत्न किए गए थे, वे सामयिक रूप से अवश्य सफल हो गए थे, पर उनके कारण चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का अन्त नहीं हो गया था। जिस समय कुओमिन्तांग दल की सेनाएं पेकिंग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थीं, कम्युनिस्टों को अपने उत्कर्ष का अवसर हाथ लग गया, और उन्होंने अपनी सैन्यशक्ति को फिर से संगठित कर लिया। कियांगसी प्रान्त के पर्वतों में आश्रय लेकर कम्युनिस्ट दल ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था, और कियांगसी, आन्हुई और फूकिएन प्रान्तों के अनेक प्रदेशों पर उन्होंने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इन प्रदेशों में कम्युनिस्ट सिद्धान्तों के अनुसार नई सामाजिक व्यवस्था भी कायम कर ली गई थी। बड़ी जमींदारियों का अन्त कर जमीन को किसानों में बाँट दिया गया था, और सहोद्योग प्रणाली के अनुसार बैंकों की स्थापना कर ली गई थी, ताकि कृषकों और व्यावसायिक उत्पादकों को अपने कार्यों के लिए रुपए की प्राप्ति सुगम हो जाय। अफीम की खेती के लिए जो भूमि पहले प्रयोग में लायी जाती थी, उस पर अब अनाज की खेती शुरू कर दी गई थी, और अफीम की खेती को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया था। कम्युनिस्ट लोगों ने देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आर्थिक उन्नति पर भी बहुत ध्यान दिया था। सिंचाई के लिए अनेक योजनाओं को क्रिया में परिणत किया गया था, और नदियों की बाढ़ों से खेतों की रक्षा करने के लिए अनेक व्यवस्थाएं की गई थीं। टैक्स की इस ढंग से व्यवस्था की गयी थी, जिससे अमीरों पर टैक्स का बोझ अधिक हो और गरीबों को कम टैक्स देना पड़े। शहरों में व्यावसायिक उन्नति पर भी कम्युनिस्ट लोगों ने विशेष ध्यान दिया था। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि जनता की सहानुभूति कम्युनिस्टों के पक्ष में हो गई, और इस दल की स्थिति उन प्रदेशों में बहुत अधिक सुरक्षित व सुदृढ़ हो गई, जो उसके कब्जे में थे।

कम्युनिस्टों को काबू में ला सकना चियांग काई शेक और उसकी सरकार के लिए सुगम कार्य नहीं था। यद्यपि उसकी सैन्यशक्ति कम्युनिस्ट लोगों की अपेक्षा बहुत अधिक थी, पर अपने अधिकृत प्रदेशों में कम्युनिस्टों ने अपनी जड़ को इतनी दृढ़ता के साथ जमा लिया था, कि उन्हें परास्त कर सकना बहुत कठिन था।

आन्तरिक सुधार—चियांग काई शेक की नानकिंग सरकार के सम्मुख प्रधान कार्य यह था, कि देश के अन्दर विद्यमान विरोधी शक्तियों को अपने वश में लाकर चीन में राष्ट्रीय एकता को स्थापित करे। इसके लिए उसे निरन्तर युद्धों में व्यापृत रहना पड़ा। पर फिर भी उसने देश में आन्तरिक सुधारों की उपेक्षा नहीं की। विविध सिपहसालारों और कम्युनिस्टों के साथ संघर्ष करते हुए भी उसने चीन में जिन अनेक सुधारों का सूत्र-पात किया, उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करना आवश्यक है। ये सुधार निम्नलिखित थे—(१) श्री टी० वी० सुंग के नेतृत्व में अर्थ विभाग का सुचारु रूप से पुनःसंगठन किया गया। चीन की आर्थिक समस्या अत्यन्त विकट थी। विदेशी कर्जों का उस पर भारी बोझ था। राजकीय आमदनी के अनेक महत्त्वपूर्ण साधन विदेशी राज्यों के पास जमानत के रूप में रखे हुए थे। इस दशा में श्री सुंग ने जहाँ अनेक प्रकार से राजकीय आमदनी को बढ़ाने का उद्योग किया, वहां साथ ही सरकारी खर्चों में भी बहुत कमी की। इस समय चीन की कुओमिन्तांग सरकार ने यह भी प्रयत्न किया, कि आर्थिक क्षेत्र में विदेशी राज्यों का जो प्रभुत्व चीन में विद्यमान है, उसे नष्ट किया जाय। श्री सुंग के प्रयत्न से चीन की आर्थिक व्यवस्था में पर्याप्त उन्नति हुई। (२) रेलवे का प्रबन्ध करने के लिए केन्द्रीय सरकार के अधीन एक पृथक् विभाग की स्थापना की गई। अब तक चीन की जो रेलवे लाइनें केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के अधीन थीं, उन सबका प्रबन्ध इस विभाग के सुपुर्द कर दिया गया। साथ ही, इस विभाग ने यह भी प्रयत्न किया, कि नई रेलवे लाइनों का भी निर्माण किया जाय, ताकि चीन में एक व्यवस्थित शासन की स्थापना सुगम हो सके। इस विभाग की ओर से नई सड़कों के निर्माण का की उद्योग किया गया। (३) चीन की मुद्रापद्धति में सुधार के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की गई, और उसे विदेशी विशेषज्ञों का सहयोग प्राप्त कराया गया। (४) चीन के लिए नये कानूनों को व्यवस्थित रूप से बनाने का उद्योग किया गया। जो फौजदारी और दीवानी कानून अब तक चीन में प्रचलित थे, वे प्रायः परम्पराओं पर आश्रित थे। पर अब यह कोशिश की गई, कि कानून के क्षेत्र में जो असाधारण उन्नति पाश्चात्य देशों में हुई है, उसका उपयोग कर चीन के सब कानूनों का नए सिरे से निर्माण किया जाय। (५) न्यायालयों का भी नये ढंग से पुनःसंगठन किया गया। (६) सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति, अफीम के सेवन का निषेध, कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के हित और कल्याण की व्यवस्था, और शिक्षा प्रसार आदि के लिए भी नई व्यवस्थाएं की गईं। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी, चीन भी उसका सदस्य था। राष्ट्रसंघ के सह-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योग को प्राप्त कर नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार ने इस बात का उद्योग किया, कि चीन आन्तरिक सुधारों के क्षेत्र में अग्रसर हो सके।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि चीन की बहुसंख्यक जनता चियांग काई शेक और उसकी सरकार के सुधार-सम्बन्धी कार्यों से सन्तोष अनुभव नहीं करती थी। इसका प्रधान कारण यह था, कि सर्वसाधारण जनता की आर्थिक समस्या अभी हल नहीं हुई थी। बहुसंख्यक चीनी लोग अत्यधिक गरीब थे, और उनके लिए अपना पेट भर सकना भी कठिन था। इसी का यह परिणाम था, कि जहां कम्युनिस्ट लोग निरन्तर शक्तिशाली होते जाते थे, वहां साथही कुओमिन्तांग दल का वामपक्षी भाग चियांग काई शेक के शासन से अत्यन्त असंतुष्ट था। इसी कारण वामपक्ष के लोगों ने कैन्टन में अपनी पृथक् सरकार की स्थापना कर ली थी। चीनी लोग समझते थे, कि चिआंग काई शेक की सरकार पूंजीपति लोगों के हाथों में कठपुतली मात्र है, और उसे सर्वसाधारण जनता के हित का कोई भी ध्यान नहीं है।

(४) विदेशी प्रभुत्त्व के अन्त का प्रयत्न

नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के सम्मुख एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य यह भी था, कि चीन में विदेशी राज्यों के जो अनेक प्रकार के प्रभाव व प्रभुत्त्व स्थापित हैं, उन्हें नष्ट किया जाय। इसके लिए उद्योग कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष से पहले ही प्रारम्भ हो चुका था। १९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति पर जर्मनी के विशेषाधिकारों का चीन से अन्त हो गया था। चीन ने जर्मनी के साथ पृथक् रूप से जो सन्धि की थी, उसमें जर्मन सरकार ने अपने सब विशेषाधिकारों को छोड़ देने की बात को स्वीकृत कर लिया था। १९१७ में रूस में बोल्शेविक क्रान्ति हो गई थी। इस क्रान्ति के कारण रूस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह मञ्चूरिया और मंगोलिया में अपने विशेषाधिकारों व आधिपत्य को कायम रख सके। बोल्शेविक क्रान्ति के कारण १९१९-२१ के वर्षों में रूस में जो अवस्था फैल गई थी, उसका लाभ उठा कर चीन ने बाह्य मंगोलिया के प्रदेश पर, जो पहले रूस के आधिपत्य में था, अपना कब्जा कर लिया। चीनी सरकार को बोक्सर युद्ध के परिणाम स्वरूप हरजाने की जो रकम रूस को प्रदान करनी थी, उसकी किस्त का देना १९२० में बन्द कर दिया गया था। इस दशा में रूस की कम्युनिस्ट सरकार ने यह उचित समझा, कि चीन के साथ एक नई सन्धि कर ली जाय। इस सन्धि की मुख्य शर्तें ये थीं—(१) रूसी नागरिकों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति द्वारा जो विशेषाधिकार चीन में प्राप्त हैं, उनका अन्त कर दिया जाय। चीन में निवास करने वाले रूसी लोग चीनी कानून और चीनी अदालतों की अधीनता में आ जाएं। (२) बोक्सर युद्ध के कारण जो हरजाना चीन ने रूस को देना था, उसको वसूल न किया जाय। (३) चाईनीज ईस्टर्न रेलवे, जिस पर पहले रूस का अधिकार था, अब चीन के सुपुर्द कर दी जाय। इन के लिए ये शर्तें अनुकूल थीं। जिस प्रकार जर्मनी के विशेषाधिकारों का महायुद्ध के कारण अन्त हो गया था, वैसे ही बोल्शेविक क्रान्ति के कारण अब रूसी विशेषाधिकारों का भी अन्त हो गया। रूस की कम्युनिस्ट सरकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध थी। वह यह तो चाहती थी, कि संसार में सर्वत्र समाजवादी व्यवस्था की स्थापना हो, पर पूंजीवादी देशों के समान वह अन्य देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने की नीति को नहीं अपनाना चाहती थी। के साथ ही, इस समय रूस की कम्युनिस्ट सरकार इस स्थिति में भी नहीं थी, कि अन्य देशों पर अपने प्रभुत्त्व को कायम रख सके। उसके लिए रूस के विस्तृत प्रदेशों में भी व्यवस्था को स्थापित कर सकना कठिन हो रहा था। चीन को रूस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की इस दशा से बहुत लाभ हुआ, और वह रूसी आधिपत्य से छुटकारा प्राप्त करने में बहुत कुछ समर्थ हो गया।

वाशिंगटन कान्फरेन्स—अब चीन के सम्मुख प्रधान समस्या यह थी, कि ब्रिटेन, फ्रांस, इटली आदि अन्य विदेशी राज्यों ने जो विशेषाधिकार वहां प्राप्त किये हुए थे, उनसे किस प्रकार छुटकारा पाया जाय। पेरिस की सन्धि परिषद् में चीन के प्रतिनिधि ने इस सम्बन्ध में जो यत्न किया था, वह सफल नहीं हो सका था। अब इसके लिए अगला अवसर वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा उपस्थित हुआ। इस कान्फरेन्स का आयोजन संयुक्त-राज्य अमेरिका द्वारा किया गया था, और इसका प्रधान प्रयोजन पूर्वी एशिया के साथ सम्बन्ध रखने वाली विविध समस्याओं पर विचार करना था। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जापान पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील था, और इसके कारण अमेरिका के साथ उसका विरोध निरन्तर बढ़ता जाता था। वाशिंगटन कान्फरेन्स का उद्देश्य यही था, कि पूर्वी एशिया के साथ सम्बन्ध रखने वाली विविध समस्याओं पर विचार कर शान्तिपूर्वक उनका समाधान किया जाय। ११ नवम्बर, १९२१ को इस कान्फरेन्स का अधिवेशन वाशिंगटन में शुरू हुआ। इसमें मुख्यतया ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली और जापान के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इन पांच प्रमुख राज्यों के अतिरिक्त चीन, बेल्जियम, हालैण्ड और पोर्तुगाल के प्रतिनिधियों को भी पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में विचार करने के लिये निमन्त्रित किया गया। वाशिंगटन कान्फरेन्स के सम्बन्ध में हम अगले एक अध्याय में विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे। यहाँ केवल उन निर्णयों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा, जिनका सम्बन्ध चीन के साथ था। चीन के सम्बन्ध में जो निर्णय इस कान्फरेन्स में हुए, वे 'नौ राज्यों की सन्धि' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये निर्णय निम्नलिखित थे—(१) सब राज्य इस बात को स्वीकार करते हैं, कि चीन एक सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न और स्वतन्त्र राज्य है, और उसे अपने सम्पूर्ण प्रदेशों का शासन करने का अधिकार है। (२) सब राज्यों को चीन में व्यापार कर सकने का एक समान अवसर होना चाहिये। (३) कोई राज्य चीन के किसी विशिष्ट प्रदेश में अपने प्रभावक्षेत्र कायम करने का प्रयत्न न करे। (४) पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में यदि भविष्य में कोई युद्ध हो और चीन उसमें उदासीन रहना चाहे, तो उसकी उदासीन सत्ता को सब राज्य स्वीकार करें। नौ राज्यों की सन्धि में चीन के सम्बन्ध में इन चार सिद्धान्तों को स्वीकार किया गया था, और इनके कारण चीन को इस बात का भरोसा हो गया था, कि भविष्य में शक्तिशाली राज्य उसके प्रदेशों में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयत्न नहीं करेंगे।

पर चीनी सरकार के सम्मुख अधिक गम्भीर समस्या उन विशेषाधिकारों की थी, जो अब तक विदेशी राज्यों द्वारा चीन में प्राप्त किये जा चुके थे। इन समस्याओं के सम्बन्ध में जो निर्णय वाशिंगटन कान्फरेस में किये गये, वे निम्नलिखित थे:—

(१) चीन के प्रतिनिधि चाहते थे, कि शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों पर वाशिंगटन कान्फरेन्स में विचार किया जाय। महायुद्ध के समय में जापान ने इस प्रान्त में किस प्रकार अपने प्रभाव व प्रभुत्व की स्थापना कर ली थी, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। इसी समस्या का सन्तोषजनक रूप से समाधान न हो सकने के कारण चीन ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इनकार कर दिया था। जापान के प्रतिनिधि वाशिंगटन कान्फरेन्स में भी शान्तुंग के प्रश्न पर विचार करने को उद्यत नहीं थे। इस पर अमेरिका ने चीन और जापान दोनों के प्रतिनिधियों को इस बात के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेरित किया, कि वे पृथक् रूप से आपस में मिल कर इस प्रश्न पर विचार करें। विचार-विमर्श के बाद चीन और जापान के प्रतिनिधियों ने मिलकर यह फैसला किया, कि (क) जर्मनी के पास कियाऊ चाऊ आदि के जो प्रदेश पट्टे पर थे, और जिन्हें बाद में जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे चीन को वापस कर दिये जाएं। (ख) इन प्रदेशों में जर्मन सरकार की जो सम्पत्ति थी, वह भी चीन को प्राप्त हो जाय, पर इस सम्पत्ति में जो वृद्धि जापान ने पिछले दिनों में कर ली थी, उसके लिए जापान को मुआवजा दिया जाय। (ग) कियाऊ चाऊ क्षेत्र के बन्दरगाह त्सिग-ताओ में जापान को अपने दूतावास के लिए जो इमारतें चाहियें, उन्हें जापान अपने पास रख सके। साथ ही, इस प्रदेश में स्कूल, मन्दिर आदि के लिए जो इमारतें जापान अपने पास रखना चाहे, उन्हें भी रख सकने का उसे अधिकार हो। (घ) शान्तुंग में जापान की जो भी सेनाएं हैं, उन्हें छः महीने के अन्दर-अन्दर वापस बुला लिया जाय और इस बीच में चीनी सरकार इस बात की समुचित व्यवस्था करले, कि उसकी अपनी सेनाएं इस प्रान्त में जापानी नागरिकों और रेलवे आदि की भली-भांति रक्षा करने में समर्थ हो जाएं। (ङ) शान्तुंग प्रान्त में जापान की जो रेलवे त्सिंग-ताओ से त्सिनान तक मौजूद है, वह चीन को मिल जाय, पर उसकी कीमत चीन जापान को अदा कर दे। जब तक यह कीमत अदा न हो जाय, तब तक इस रेलवे का ट्रेफिक मैनेजर जापान द्वारा नियुक्त हो, और इस रेलवे के हिसाब को रखने के कार्य में भी जापान सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्तियों का हाथ रहे। इसमें सन्देह नहीं, कि शान्तुंग प्रान्त के सम्बन्ध में जो समझौता इस समय हुआ, उसके द्वारा इस प्रान्त में चीन का प्रभुत्त्व पुनः-स्थापित हो गया। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस समझौते को क्रिया में परिणत करने में समय लगा, और १९२९ तक इसकी सब बातें क्रियान्वित नहीं हो सकीं।

(२) नौ राज्यों की सन्धि द्वारा जो सिद्धान्त तय किये गये थे, उनके अनुसार अन्य प्रकार से भी चीन में विदेशी राज्यों के अनेक विशेषाधिकारों का अन्त किया गया। बोक्सर युद्ध के बाद विविध विदेशी राज्यों की सेनाएं पेकिंग में रहने लगी थीं। पेकिंग आने-जाने वाले रेलमार्गों की रक्षा भी विदेशी सेनाओं द्वारा की जाती थी, ताकि वहां आने-जाने में विदेशी लोगों को किसी प्रकार का भय न रहे। पेकिंग के अतिरिक्त जिन अन्य नगरों तथा प्रदेशों में विदेशी लोग पर्याप्त संख्या में निवास करते थे, वहाँ भी विदेशी सेनाएं स्थापित कर दी गई थीं। चीन के बन्दरगाहों और चीनी समुद्र-तट पर भी विदेशी जंगी जहाज पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे। वाशिंगटन कान्फरेन्स में एक प्रस्ताव इस आशय का स्वीकृत किया गया, कि इस बात का अनुसन्धान किया जाय, कि इन सेनाओं की चीन में सत्ता किस अंश तक पुरानी सन्धियों के अनुकूल है। साथ ही जिन स्थानों पर चीनी सरकार इस बात का प्रबन्ध कर सकती है, कि विदेशी लोगों की जान व माल सुरक्षित रहें, वहां से विदेशी सेनाओं को धीरे-धीरे हटा लिया जाय। इस प्रस्ताव को क्रिया में परिणत करने में भी पर्याप्त समय लगा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा विदेशी सेनाओं को चीन से हटा लेने के कार्य को शुरू करने का सूत्रपात अवश्य हो गया।

(३) चीन में अनेक विदेशी राज्य पोस्ट आफिसों का भी अपनी ओर से संचालन कर रहे थे। पर इस समय तक चीनी सरकार ने अपनी पोस्टल सर्विस को सुव्यवस्थित रूप से संगठित कर लिया था। अतः वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह भी निश्चय किया गया कि धीरे-धीरे विदेशी पोस्टल सर्विस को बन्द कर दिया जाय।

(४) चीन के जो अनेक प्रदेश विदेशी राज्यों ने लम्बे समय के लिये पट्टे पर प्राप्त किये हुए थे, वाशिंगटन कान्फरेन्स में उन पर भी विचार किया गया। कियाऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाऊ के प्रदेश पर से जापानी पट्टे का अन्त कर देने के सम्बन्ध में समझौता हो ही चुका था। अब फ्रांस ने इस बात को स्वीकार किया, कि क्वांगचाऊ की खाड़ी पर से वह अपने पट्टे के अधिकार का परित्याग कर देने को उद्यत है। इसी प्रकार ब्रिटेन ने वेई हाई वेई पर से अपने पट्टे का का अन्त कर देने के लिये इच्छा प्रकट की। पर जब इन निर्णयों को क्रिया में परिणत करने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो इन देशों ने कहा कि जब तक अन्य सब राज्य भी अपने-अपने पट्टों का अन्त नहीं कर देते, तब तक उनके लिये भी यह सम्भव नहीं है, कि वे अपने विशेषाधिकारों को छोड़ सकें। इसीलिये १६३६ और उसके बाद तक भी चीन के विविध प्रदेशों पर विदेशी राज्यों का प्रभुत्व कायम रहा।

(५) एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति से चीनी लोगों में बहुत असन्तोष था। वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह निर्णय हुआ कि एक कमीशन नियत किया जाय, जो चीन में विद्यमान न्याय-पद्धति का अनुशीलन करके यह बताए, कि विदेशी राज्यों के नागरिकों को चीनी कानूनों और चीनी अदालतों के अधीन कर सकना किस हद तक सम्भव है। यह कमीशन १६२५ से पहले अपने कार्य को प्रारम्भ नहीं कर सका, क्योंकि इस समय आन्तरिक कलह के कारण चीन में बहुत अव्यवस्था फैली हुई थी। कमीशन ने आवश्यक अनुसन्धान के बाद यह निर्णय किया, कि पहले चीन में कानूनों का आधुनिक ढंग पर निर्माण किया जाना चाहिये, तभी एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर सकना सम्भव होगा। पर क्योंकि कानूनों और अदालतों के सम्बन्ध में चीन कुछ अंशों में उन्नति कर चुका है, अतः धीरे-धीरे इस पद्धति का अन्त किया जा सकता है।

(६) तट-करों के सम्बन्ध में चीनी सरकार की यह मांग थी, कि उनको पूर्ण रूप से चीन के अधीन कर दिया जाय, और चीनी सरकार को इन करों का निर्धारण करने में पूरी स्वतन्त्रता हो। वाशिंगटन कान्फरेन्स में यह बात तो स्वीकार नहीं की गई, पर इस सम्बन्ध में निम्नलिखित नीति का निर्धारण किया गया—(क) तट-कर की दरों में परिवर्तन किया जाय। (ख) तट-कर के सम्बन्ध में ऐसी व्यवस्था की जाय, जिससे सब विदेशी राज्यों के साथ एक समान व्यवहार हो। किसी राज्य से अधिक व किसी से कम तट-कर न लिये जाएं। (ग) चीन के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में माल ले जाने पर या एक ही प्रान्त में एक स्थान से दूसरे स्थान को माल ले जाने पर जो अनेक प्रकार के टैक्स लगते हैं (इनको लिकिन टैक्स कहते थे), उनको नष्ट कर दिया जाय और उनके स्थान पर तट-कर की मात्रा में २॥ फी सदी की वृद्धि कर दी जाय। (घ) इन सब बातों के सम्बन्ध में विशद रूप से विचार करने के लिए एक कान्फरेन्स की आयोजना की जाय। पर अनेक बार प्रयत्न करने पर भी तट-करों के विषय में विदेशी राज्यों के साथ ऐसे समझौते नहीं हो सके, जिनसे चीन की सरकार को सन्तोष हो। इस सम्बन्ध में चीन को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने का परिणाम यही हो सकता था, कि विदेशी राज्य मनमानी तरीके से चीन में अपने व्यापार का विस्तार न कर पाते। इस बात को वे किसी भी दशा में सहने के लिये तैयार नहीं थे, और पुरानी सन्धियों के नाम पर वे तट-कर पर अपना नियन्त्रण रखने के लिये कटिबद्ध थे। इस मामले में चीनी सरकार और विदेशी राज्यों में समझौता हो सकना बहुत कठिन था।

तट-करों की दर में परिवर्तन करने के मामले में सब विदेशी राज्य परस्पर मिलकर कार्य कर रहे थे, क्योंकि इस विषय में उन सबके हित एक थे। पर अब चीन की सरकार ने विविध राज्यों से सम्मिलित रूप से बात न करके अलग-अलग समझौता करने की नीति का अनुसरण किया। १६ अप्रिल, १६२६ को चीन की ओर से बेल्जियम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजदूत को यह नोटिस दिया गया, कि चीन और बेल्जियम की व्यापार-सम्बन्धी सन्धि अक्टूबर में समाप्त हो जायगी, और चीन इस अवधि के बाद जो नई सन्धि करेगा, उसमें उसे अधिकार होगा कि वह सन्धि की शर्तों में परिवर्तन कर सके। बेल्जियम इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं था, कि चीन को स्वेच्छापूर्वक सन्धि की शर्तों में संशोधन करने का अधिकार है। बेल्जियम की सरकार ने इस मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (राष्ट्र-संघ के अधीन स्थापित किये गये पर्मनैन्ट कोर्ट आफ इन्टरनेशनल जस्टिस) के सम्मुख निर्णय के लिये उपस्थित करना चाहा। पर चीन का कहना था, कि यह मामला ऐसा नहीं है, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख न्याय के लिये पेश किया जा सके। चीन और बेल्जियम की सन्धि की अवधि जब समाप्त हो जायगी, तो उस सन्धि की अवधि को बढ़ाने या न बढ़ाने का, या परिवर्तित शर्तों पर नई सन्धि करने का चीन को पूरा अधिकार है। अभी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में इस मामले पर विचार शुरू नहीं हुआ था, कि बेल्जियम और चीन ने आपस में समझौता कर लिया। इस समझौते के अनुसार (१) तीन्त्सिन में बेल्जियम का जो अधिकृत प्रदेश था, वह चीन को वापस दे दिया गया, (२) चीन में निवास करने वाले बेल्जियम के नागरिकों का न्याय चीनी अदालतों द्वारा हो, यह स्वीकार किया गया, और (३) व्यापार के सम्बन्ध में दोनों देशों में जो मतभेद थे, उन सबका फैसला कर लिया गया। चीन के इतिहास में यह समझौता बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके कारण कम से कम एक विदेशी राज्य ने चीन के इस दावे को स्वीकृत कर लिया, कि वह अपने क्षेत्र में पूर्णरूप से स्वतन्त्र व प्रभुत्वसम्पन्न है, और उसे भी विदेशी लोगों से बराबरी का बरताव करने का अधिकार है। बेल्जियम एक छोटा-सा देश है, और ब्रिटेन, फ्रांस और जापान के समान उसका प्रभुत्व भी चीन में अधिक नहीं था। इसीलिये सबसे पूर्व चीन को उसे ही इस प्रकार का समझौता करने के लिये विवश कर सकने में सफलता प्राप्त हो गई थी।

ज्यों-ज्यों अन्य विदेशी राज्यों के साथ की गई सन्धियों की अवधि समाप्त होती गई, चीनी सरकार ने इस बात के लिए जोर दिया, कि अब जो भी नई सन्धियां उनके साथ की जाएं, वे इस ढंग की हों, जैसी कि दो स्वतन्त्र और समकक्ष राज्यों के बीच में की जाती हैं। १९२७ में फ्रांस, जापान और स्पेन के साथ की गई पुरानी सन्धियों की अवधि समाप्त हुई, और चीन की सरकार ने उन पर इस बात के लिए जोर दिया, कि नई सन्धियों में चीन के साथ स्वतन्त्र व समकक्ष राज्य के सदृश व्यवहार किया जाय। इस समय तक चीन में कुओमिन्तांग दल की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और उग्र राष्ट्रीय विचार रखने वाले इस दल ने नानकिंग में अपनी सरकार की स्थापना भी कर ली थी। इस राष्ट्रीय दल ने इन सन्धियों के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया, उस पर विशद रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

कुओमिन्तांग सरकार का कर्तृत्व—डॉ० सन यात सेन द्वारा चीन में जो क्रांतिकारी आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था, उसके प्रधान उद्देश्य चीन की राष्ट्रीय एकता और पूर्ण स्वतन्त्रता थे। इसीलिए जब कुओमिसांग दल ने नानकिंग में अपनी सरकार स्थापित की और पेकिंग को भी अपने अधीन कर लिया, तो उसने चीन को विदेशी प्रभाव और प्रभुत्व से मुक्त करने के प्रश्न पर विशेष ध्यान दिया। चीनी जनता में ब्रिटिश लोगों के प्रति विरोध की भावना बहुत अधिक उग्र थी, विशेषतया नवयुवक विद्यार्थी अपने देश में ब्रिटेन के प्रभाव व प्रभुत्व को अत्यन्त अनुचित समझते थे। इसीलिए चीनी जनता की ब्रिटिश अधिकारियों के साथ अनेक बार मुठभेड़ हुई। विद्यार्थियों के नेतृत्व में चीन की जनता ने ब्रिटिश माल के बहिष्कार का भी प्रारम्भ किया। इस दशा में ब्रिटेन की सर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार ने यह अनुभव किया, कि चीन के सम्बन्ध में अधिक उदार नीति का अवलम्बन करना आवश्यक है। वाशिंगटन कान्फरेन्स में जो निर्णय हुए थे, न केवल उन्हें ही पूर्ण-रूप से क्रिया परिणत किया जाना चाहिपे, अपितु उनसे भी आगे बढ़कर चीन की जनता को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।

१९२८ और १९२९ में विविध समयों पर ब्रिटेन और इटली आदि विदेशी राज्यों ने यह स्वीकार कर लिया, कि तट-कर के सम्बन्ध में चीनी सरकार को पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। १९३० में जापान और हालैंड ने भी इस बात को स्वीकार कर लिया। फ्रांस और स्पेन १९२७ में ही इस सिद्धान्त को स्वीकार कर चुके थे। १९३० के अन्त तक यह अवस्था आ गई थी, कि चीन की सरकार को तट-कर की दर को स्वेच्छापूर्वक निर्धारित कर सकने का अधिकार पूर्णरूप से प्राप्त हो गया था। १९२९ में ही चीन ने तट-कर के सम्बन्ध में अपनी नीति का निर्धारण कर लिया था, और भविष्य में आयात और निर्यात माल पर किन दरों से कर वसूल किया जायगा, इसकी घोषणा कर दी थी। जापान और हालैंड के विरोध के कारण ये नई दरें तुरन्त प्रयुक्त नहीं की जा सकी थीं। पर जब १९३० में इन देशों ने भी तट-कर के सम्बन्ध में चीन के अधिकार को स्वीकृत कर लिया, तो नई दरों को प्रयोग में लाने में कोई भी बाधा शेष नही रह गई। इस समय से तट-कर और व्यापारिक नीति के विषय में चीन पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया।

तट-कर सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के साथ-साथ कुओमिन्तांग सरकार इस बात के लिये भी प्रयत्नशील थी, कि एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का भी अन्त किया जाय। २८ दिसम्बर, १९२९ को नानकिंग सरकार ने निश्चय किया, कि विदेशी लोगों को अपने मुकदमों का अपने देश की अदालतों द्वारा फैसला कराने का जो अधिकार है, उनका अन्त कर दिया जाय। इस निर्णय की सूचना विदेशी राज्यों के राजदूतों को भेज दी गई। एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी का अन्त करने के लिये १ जनवरी, १९३० का दिन नियत किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और जापान के राजदूतों ने चीनी सरकार की सूचना का यह उत्तर दिया, कि वे सिद्धान्त रूप से एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी का अन्त कर देने के लिये सहमत हैं, पर इस के लिये अधिक समय की अपेक्षा होगी। यदि कुओमिन्तांग सरकार इस समय अपनी विरोधी शक्तियों के साथ संघर्ष में बुरी तरह से न फंसी होती, तो वह विदेशी राज्यों को अपने निर्णय को तुरन्त स्वीकार करने के लिये विवश कर सकती थी। पर १९३० का सारा साल विदेशी राजदूतों के साथ बातचीत में ही निकल गया। अन्त में उनके साथ यह समझौता हुआ, कि १ जनवरी, १९३२ से एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त कर दिया जायगा, और इस बीच में चीन की सरकार को यह चाहिये कि वह अपने सब कानूनों का नये ढंग से निर्माण कर ले और अपनी अदालतों का भी आधुनिक ढंग पर पुनःसंगठन कर ले। पर १९३१ में चीन की कुओमिन्तांग सरकार जापान के साथ संघर्ष में बुरी तरह से उलझनी शुरू हो गई थी, क्योंकि इस समय जापान मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्त्व को विस्तृत करने के लिये प्रयत्नशील हो चुका था। इस स्थिति में १ जनवरी, १९३२ को भी एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त नहीं किया जा सका। आगे चलकर इस पद्धति का किस प्रकार अन्त हुआ, इस पर हम यथा-स्थान प्रकाश डालेंगे।

चीन के जो अनेक प्रदेश-विदेशी राज्यों को लम्बे पट्टे पर प्राप्त थे, या जिन चीनी नगरों में विदेशियों के निवास के लिये पृथक् क्षेत्र बने हुए थे और उन क्षेत्रों पर विदेशी राज्य अपना राजनीतिक प्रभुत्त्व भी समझते थे, उनका अन्त कर देने के लिये भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुओमिन्तांग सरकार प्रयत्नशील थी। १९२९ में चिंगकियांग और अमोय पर से ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र का अन्त किया गया, और १९३० में वेई-हाई-वेई पर चीन का प्रभुत्व फिर से स्थापित हुआ। १९३१ तक सम्पूर्ण चीन में केवल तेरह प्रदेश ऐसे रह गये थे, जो विदेशी राज्यों के प्रभुत्व व प्रभाव-क्षेत्र में थे। इनमें सबसे अधिक महत्त्व का प्रदेश शंघाई का वह हिस्सा था, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती (इण्टरनेशनल सेटलमेन्ट) कहते थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में ४०,००० के लगभग विदेशी लोग बसते थे, और इसके चीनी निवासियों की संख्या दस लाख से भी ऊपर थी। इस विशाल बस्ती का प्रबन्ध एक म्युनिसिपल कौंसिल के हाथों में था, जिसके सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार केवल विदेशी लोगों को ही प्राप्त था। शंघाई चीन के समुद्रतट पर व्यापार का सबसे बड़ा केन्द्र था। अतः स्वाभाविक रूप से चीनी सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि इस बस्ती को भी अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में लाया जाय। १९२८ में कुओमिन्तांग सरकार के प्रयत्न से यह बात तय हुई, कि शंघाई की म्युनिसिपिल कौंसिल में ३ चीनी सदस्य भी रहा करें। १९३० में चीनी सदस्यों की संख्या ३ से ५ कर दी गई। इसी समय यह भी कोशिश की गई, कि चीनी सरकार द्वारा मजदूरों के हित के लिये जो अनेक कानून बनाये गये हैं, उन्हें शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में भी लागू किया जाय। विदेशी लोग इसके लिए सुगमता से तैयार नहीं हुए, पर उन्होंने इस सिद्धान्त को अवश्य स्वीकार कर लिया, कि सम्पूर्ण चीन में एक ही प्रकार के श्रम-सम्बन्धी कानूनों का प्रयोग में आना उपयोगी है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया, कि इस सिद्धान्त को क्रिया में परिणत करने के लिये आवश्यक कदम उठाने का प्रयत्न किया जाय।

इस प्रकार कुओमिन्तांग सरकार के प्रयत्न से चीन विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्त्व से छुटकारा पाने में बहुत अंश में सफल हुआ। पर अभी चीन के दुर्दिनों का अन्त नहीं हुआ था। कुओमिन्तांग सरकार को चीन में जिन विरोधी शक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष करना पड़ रहा था, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। १९३१ में जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के उद्देश्य से मञ्चूरिया में अपनी शक्ति को बढ़ाना शुरू किया, और इसी कारण चीन को उन युद्धों में व्यापृत होना पड़ा, जिनके कारण वह अपनी आन्तरिक उन्नति पर अधिक ध्यान नहीं दे सका। इन युद्धों का हम तेरहवें अध्याय में विशद रूप से उल्लेख करेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारहवां अध्याय

चीन की सर्वतोमुखी उन्नति

(१) आर्थिक उन्नति

अब तक हमने चीन के राजनीतिक इतिहास पर प्रकाश डाला है। विदेशी राज्यों में सम्पर्क में आने के बाद चीन की राजनीति में किस प्रकार परिवर्तन हुए, मञ्चू शासन का अन्त होकर किस प्रकार रिपब्लिक की स्थापना हुई, कुओमिन्तांग दल ने किस प्रकार चीन में राष्ट्रीय एकता और लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग किया, और किस प्रकार चीन विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त होने के मार्ग पर अग्रसर हुआ, इन बातों पर हमने पिछले अध्यायों में विचार किया है। पर इस बीच में चीन केवल राजनीतिक संघर्षों में ही व्यापृत नहीं था। वह आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों में सर्वतोमुखी उन्नति के लिये भी प्रयत्नशील था। चीन में यह उन्नति उतनी तेजी के साथ नहीं हुई, जितनी कि जापान में हुई थी। जापान के शासक वर्ग ने पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आते ही इस बात को भली-भांति अनुभव कर लिया था, कि उनका देश उन्नति की दौड़ में बहुत पीछे रह गया है, और वह इन देशों का समकक्ष तभी बन सकता है, जबकि वह भी पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान को अविकल रूप से अपना ले। इसी कारण वहां की सम्पूर्ण राजशक्ति अपने देश का कायाकल्प करने के लिये प्रयत्नशील हो गई थी। इसके विपरीत चीन में उन्नति की जो प्रक्रिया हुई, उनका श्रेय वहां की राजशक्ति को नहीं दिया जा सकता। चीन के मञ्चू शासक देश की उन्नति के प्रति उपेक्षा का भाव रखते थे। वहां की सरकार में इतनी अधिक विकृति आ चुकी थी, कि वह देश की उन्नति पर ध्यान दे सकने के लिये सर्वथा असमर्थ हो गई थी। चीन ने विविध क्षेत्रों में जो उन्नति आधुनिक युग में की, उसका प्रधान श्रेय वहां की जनता को है। जब राजसत्ता का अन्त होकर चीन में कुओमिन्तांग दल का शासन स्थापित हो गया, तब उसकी शक्ति भी मुख्य रूप से आन्तरिक अव्यवस्था को दूर करने में ही लगी रही। पर इसमें सन्देह नहीं, कि कुओमिन्तांग सरकार ने देश की उन्नति पर भी पर्याप्त ध्यान दिया।

विदेशी व्यापार—उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ था। १८४२ में चीन के पांच बन्दरगाह विदेशी व्यापार के लिये 'खोल' दिये गये थे। इसके बाद निरन्तर अन्य बन्दरगाह भी पाश्चात्य व्यापारियों के लिये खुलते गये। इन्हें 'ट्रीटी पोर्ट' कहा जाता था, क्योंकि सन्धियों द्वारा इन बन्दरगाहों में विदेशी लोग व्यापार की विशेष सुविधाएं और अधिकार प्राप्त करते जाते थे। १९३१ तक इन ट्रीटी पोर्टों की संख्या बढ़ते-बढ़ते ६९ तक पहुंच गई थी। इनके अतिरिक्त चीन में ११ बन्दरगाह और ऐसे थे, जो विदेशियों के व्यापार के लिये खुले हुए थे, यद्यपि उनमें विदेशियों को किसी सन्धि के कारण कोई विशेषाधिकार प्राप्त नहीं थे। इतने अधिक बन्दरगाहों में विदेशी व्यापारियों की सत्ता का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि चीन के विदेशी व्यापार में निरन्तर वृद्धि होती जाय। १९०० में विदेशों से जो माल चीन में आता था, उसकी कीमत केवल २१,१०,००,००० तायल थी, केवल १० साल बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१० में आयात माल की कीमत बढ़कर ४६,३०,००,००० तायल तक पहुंच गई थी। इसी प्रकार १९०० से १९१० तक के दस सालों में चीन के निर्यात माल का मूल्य १५,-९०,००,००० से बढ़कर ३८,१०,००,००० तक पहुंच गया था। १९१० के बाद चीन के विदेशी व्यापार में और भी अधिक वृद्धि हुई। १९३० में चीन के आयात माल का मूल्य १,३०,९७,५५, ७४२ तायल था, और निर्यात माल का मूल्य ८९,४८,४३,५३४ तायल। इस प्रकार केवल तीस वर्षों के समय में (१९०० से १९३० तक) चीन के विदेशी व्यापार में ३५० गुना की वृद्धि हो गई थी।

शुरू में चीन के आयात माल में अफीम की मात्रा सबसे अधिक होती थी। १८८१ में चीन के कुल आयात माल की ३४ प्रतिशत अफीम ही थी। इसके बाद अन्य प्रकार का माल इतनी अधिक मात्रा में चीन में बिक्री के लिये आने लगा कि अफीम उसका केवल ११ प्रतिशत (१९०२ में) रह गई थी। बाद में अफीम के आयात में और भी कमी हुई। इसका एक कारण यह था, कि चीन में भी अफीम की खेती शुरू हो गई थी। साथ ही, सरकार का यह प्रयत्न भी था कि लोग अफीम के उपयोग में कमी करें। १९०२ में चीन के कुल आयात माल का ७२ फी सदी सूती कपड़े थे। इसके अतिरिक्त मिट्टी का तेल और धातुएं भी अच्छी बड़ी मात्रा में चीन आने लगी थीं। पर १९३० में सूती कपड़ों की मात्रा कुल आयात माल का केवल ११ फी सदी के लगभग रह गई थी। इसका कारण यह था, कि चीन में भी कपड़े की मिलें खुल गई थीं, और चीन विदेशों से बढ़िया किस्म की रूई को कपड़ा तैयार करने के लिए मंगाने लगा था। इस युग में चीन में व्यावसायिक उन्नति इतनी तेजी के साथ हो रही थी, कि १९३० में ७,८०,००,००० तायल की मशीनरी विदेशों से चीन आई थी। इस साल में कुल आयात का ६ फी सदी के लगभग भाग मशीनरी थी। इतनी कीमत की मशीनरी का चीन में आना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि अब वहां व्यावसायिक क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था। मिट्टी का तेल, दियासलाई आदि भी इस समय प्रचुर परिमाण में चीन आने लगे थे। पहले चीन में रोशनी के लिए वानस्पतिक तेलों का प्रयोग होता था। मिट्टी के तेल के कारण जहां चीन के मकानों में अधिक तेज रोशनी उपलब्ध हो गई, वहां साथ ही वानस्पतिक तेलों को प्रचुर परिमाण में विदेशों में भेजा जाने लगा। १९३० तक मोटर कार, फोटोग्राफी का सामान, नये किस्म की प्रिंटिंग प्रेस की मशीनें, टेलीफोन तथा टेलीग्राफ का समान और इसी प्रकार की अन्य आधुनिक वस्तुएं भी विदेशों से चीन में आने लगी थीं, और इनके कारण चीन के समृद्ध लोगों के रहन-सहन में भारी परिवर्तन आने लग गया था।

१८८२ में चीन के निर्यात माल में चाय की मात्रा सबसे अधिक थी। कुल निर्यात का ४८ प्रतिशत चाय होती थी। पर १९३० में चाय का निर्यात कुल निर्यात माल का केवल ३ प्रतिशत रह गया था। इसका मुख्य कारण यह था, कि इस समय भारत और लंका में भी चाय बड़े परिमाण में तैयार होने लगी थी, और इस चाय की मांग विदेशों में बहुत बढ़ गई थी। इसी प्रकार चीनी रेशम के मुकाबिले में फ्रांस और इटली का रेशम विदेशी बाजारों में अधिक पसंद किया जाने लगा था, और इस कारण चीनी रेशम के निर्यात में कमी हो गयी थी। पर यदि चाय और रेशम के निर्यात में कमी हुई थी, तो सोयाबीन और अन्य तिलहन के निर्यात में वृद्धि भी बहुत अधिक हुई थी। १९३० में इनके निर्यात का मूल्य १८,५०,००,००० तायल था। चीन से जो माल बाहर जाता था, उसका बड़ा भाग कच्चे माल का होता था। तैयार माल में केवल रेशम, गलीचे और कला की वस्तुएं ही ऐसी थीं, जिनकी विदेशी बाजारों में मांग थी। यद्यपि व्यावसायिक क्रान्ति का चीन में प्रारम्भ हो चुका था, पर उसके कारखानों में जो माल तैयार होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, वह देश की अपनी आवश्यकताओं के लिए भी पर्याप्त नहीं था। शुरू में जब चीन का विदेशों के साथ व्यापार प्रारम्भ हुआ, तो उसके आयात माल का मूल्य निर्यात माल के मूल्य की अपेक्षा कम था। पर बीसवीं सदी में निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा और कीमत दोनों में वृद्धि हो गई। निर्यात की अपेक्षा आयात की अधिकता का यह स्वाभाविक परिणाम था, कि चीन आर्थिक दृष्टि से निरन्तर दुर्दशाग्रस्त होता जाता था। तट-कर को वह इस ढंग से निर्धारित कर सकता था, जिससे कि आयात माल की मात्रा में कमी हो सके, पर इस विषय में उसे स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। तट-कर की दरें विदेशी सन्धियों द्वारा निश्चित की गई थीं, और उनमें चीनी सरकार स्वेच्छापूर्वक परिवर्तन नहीं कर सकती थी। यही कारण है, कि चीन के राष्ट्रवादी देशभक्त तट-कर के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए इतने अधिक उत्सुक थे।

कृषि की दशा—चीन की बहुसंख्यक जनता अपने निर्वाह के लिये कृषि पर आश्रित थी। ९० फी सदी से भी अधिक चीनी लोग खेती द्वारा अपनी आजीविका चलाते थे। चीन की यह विशाल कृषक जनता देहातों में निवास करती थी, और आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से सर्वथा अपरिचित थी। खेती के लिए जो उपकरण सदियों से चीन में प्रयुक्त होते चले आए थे, अब बीसवीं सदी में भी उन्हीं को प्रयुक्त किया जाता था। पुराने ढंग के हलों को बैलों द्वारा चलाया जाता था, और फावड़ा, खुरपी व दरांती ही किसान के सर्वोत्तम उपकरण थे। यह बात नहीं, कि चीनी लोगों को पाश्चात्य देशों के कृषि-सम्बन्धी उपकरणों का कोई परिज्ञान नहीं था। पर चीन की विशेष परिस्थितियां ऐसी थीं, कि अमेरिका में प्रयुक्त होने वाले ट्रैक्टर व विशाल हल वहां उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकते थे। चीन में जनसंख्या बहुत अधिक थी, और खेतों के आकार बहुत छोटे-छोटे थे। इसके विपरीत अमेरिका में खेती के लिए विशाल मैदान खाली पड़े थे, और परती पड़ी हुई जमीन को कृषि के योग्य बनाने के कार्य में ट्रैक्टर आदि का बहुत उपयोग था। अमेरिका में जनसंख्या बहुत कम थी, और मीलों लम्बे खेतों में मशीनरी की सहायता के बिना खेती कर सकना असम्भव था। चीन के लोगों ने अमेरिका की कृषि-सम्बन्धी मशीनरी को जो नहीं अपनाया, उसका प्रधान कारण वहां की विशेष परिस्थितियां ही थीं।

पर यह नहीं समझना चाहिए, कि आधुनिक उन्नति का चीन के किसानों पर कोई भी प्रभाव नहीं पड़ रहा था। रेलवे और सड़कों के निर्माण के कारण चीन में आवागमन और यातायात के साधनों में बहुत अधिक उन्नति हो गई थी। उन्नीसवीं सदी में जब चीन में न रेलवे थी और न पक्की सड़कें, तो किसान का यह प्रयत्न रहता था, कि वह अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओं को स्वयमेव उत्पन्न कर ले। वह जहां अपने खेत में अनाज पैदा करता था, वहाँ साथ ही कपास भी बोता था, ताकि अपनी आवश्यकता का कपड़ा गाँव के जुलाहे द्वारा तैयार करा सके। पर अब रेलवे आदि की उन्नति के कारण चीन के किसान के लिए यह सम्भव हो गया था, कि वह केवल उसी वस्तु को पैदा करे, जिसके लिए उसकी जमीन सबसे अधिक उपयुक्त है, और अपनी पैदावार के कुछ अंश को बाजार में बेचकर उन चीजों को खरीद ले, जो उसके अपने खेतों में उत्पन्न नहीं होतीं। इसी का यह परिणाम हुआ, कि चीन के विभिन्न प्रदेशों में कपास, चावल, चाय आदि की पैदावार विशेष रूप से प्रारम्भ हुई। जो प्रदेश जिस फसल के लिए अधिक उपयुक्त था, वहां उसी की खेती की जाने लगी। मञ्चूरिया में सोयाबीन, चिहली और कियांगसू में कपास और यूनान में चावल की पैदावार पर विशेष ध्यान दिया गया। चीन में कपास इतनी अधिक मात्रा में पैदा होने लगी, कि उसे विदेशों में भी भेजा जाने लगा। सरकार ने इस बात पर भी ध्यान दिया, कि किसान लोग अपने खेतों में अच्छी खादों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग करें, और उत्कृष्ट किस्म के बीजों को बोएं। विदेशी बाजारों में चीन की चाय के मुकाबिले में भारत और लंका की चाय को अधिक पसन्द किया जाता था, अतः चीन की सरकार ने अपने यहाँ चाय की किस्म में उन्नति पर विशेष ध्यान दिया। इसी प्रकार रेशम के कीड़ों की नसल में तरक्की की गई, और कपास के बढ़िया बीज अमेरिका से मंगाकर उन्हें बुआने का प्रबन्ध किया गया। चीन में कृषि की शिक्षा के लिए अनेक स्कूल और कालिज भी स्थापित किये गए। खेती की उन्नति पर सरकार का इतना अधिक ध्यान था, कि १९३३ में ४,००,००,००० तायल की खाद विदेशों से चीन में मंगायी गई थी।

चीन की सरकार खेती की उन्नति पर ध्यान अवश्य दे रही थी, पर इससे कृषक जनता की दशा में बहुत अधिक सुधार नहीं हो पाया था। यह ठीक है, कि अब चीन का किसान अनेक ऐसी वस्तुओं का अपने दैनिक जीवन में उपयोग करने लग गया था, जिनका वह पहले नाम भी नहीं जानता था। अब वह मिल के बने कपड़े खरीदने लगा था, तम्बाकू का सेवन करता था, और मिट्टी के तेल की लालटेन से अपनी झोंपड़ी को प्रकाशित करता था। पर इन नवीनताओं के होते हुए भी चीन का किसान बहुत गरीब था। जमींदार के लगान और महाजन के कर्जे से वह इतना दबा हुआ था, कि अपने परिवार के योग्य भोजन प्राप्त कर सकना भी उसके लिए कठिन था। यही कारण है, कि चीन में कम्युनिज्म का प्रचार बहुत सुगमता के साथ हो सका।

व्यावसायिक उन्नति—उन्नीसवीं सदी तक चीन में व्यवसायों की उन्नति बहुत कम हुई थी। कारीगर लोग अपने घर पर बैठकर काम करते थे, और पुराने ढंग के मोटे व भद्दे औजारों से आर्थिक उत्पादन किया करते थे। पर बीसवीं सदी में चीन में व्यावसायिक क्रान्ति के चिन्ह प्रकट होने लग गये थे। विदेशी राज्यों के सम्पर्क में आने के कारण चीनी लोगों ने भी यह अनुभव करना शुरू कर दिया था, कि पाश्चात्य संसार के वैज्ञानिक आविष्कारों को अपनाये बिना उनके देश की उन्नति सम्भव नहीं है। रेलवे और सड़कों के निर्माण के कारण चीनी लोगों को आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से परिचित होने का सुवर्णीय अवसर मिला था। इसका परिणाम यह हुआ, कि अनेक धनी एवं सम्पन्न चीनी नागरिक कल-कारखानों की स्थापना के लिए प्रवृत्त हुए। चीन में ऐसे धनिक लोगों की कमी नहीं थी, जो अकेले या परस्पर मिलकर इतनी पूंजी जुटा सकें, जिससे नए ढंग के कारखानों की स्थापना सम्भव हो। कतिपय सुशिक्षित लोगों ने जायन्ट स्टाक कम्पनियों के संगठन पर ध्यान भी दिया। शुरू में उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई, क्योंकि सर्वसाधारण लोगों को उन पर विश्वास नहीं था। मध्य श्रेणी के लोग अपने रुपए को अपरिचित कम्पनियों में लगाने के लिए उत्साह अनुभव नहीं करते थे। पर बैंकों की स्थापना के कारण लोगों में अपने रुपए को बैंकों तथा कम्पनियों द्वारा रोजगार में लगाने की प्रवृत्ति बढ़ने लगी, और इससे बड़े-बड़े कारखानों का विकास सम्भव हो गया। महाजनों का कारोबार चीन में पहले भी विद्यमान था। पर बीसवीं सदी में वहाँ नये ढंग के भी अनेक बैंकों की स्थापना हुई। जनता द्वारा स्थापित किये गए बैंकों के साथ-साथ सरकार के तत्त्वावधान में 'बैंक आफ चाइना' का भी संगठन हुआ, और इस राष्ट्रीय बैंक के कारण चीन में भी आधुनिक ढंग की महाजनी का भली-भांति विकास प्रारम्भ हुआ। जायन्ट स्टाक कम्पनियों और बैंकों के विकास के कारण ही चीन में बड़े पैमाने पर व्यावसायिक उन्नति सम्भव हो सकी। सबसे पहले सूती कपड़े को तैयार करने के लिए मिलें खोली गईं। चीन में कपास पर्याप्त मात्रा में पैदा होती थी, और मजदूर भी वहाँ बहुत सस्ते रेट पर मिल सकते थे। अतः अनेक विदेशी पूंजीपतियों का ध्यान भी इस बात की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकृष्ट हुआ, कि चीन में मिलें खोलकर रुपया पैदा करें। १९२८ तक चीन में वस्त्र-व्यवसाय इतना अधिक उन्नत हो गया था, कि कपड़े की मिलों में ढाई लाख से अधिक मजदूर काम करते थे। आधी के लगभग कपड़े की मिलें शंघाई में स्थित थीं, और इनमें पूंजीपतियों ने बड़ी उदारता के साथ अपनी पूंजी लगायी हुई थी। वस्त्र-व्यवसाय में कुल मिलाकर जितनी पूंजी चीन में लगी हुई थी, उसका एक तिहाई भाग विदेशियों द्वारा लगाया गया था। वस्त्र-व्यवसाय के अतिरिक्त रेशमी वस्त्र, दियासलाई, चीनी, लोहा, शराब आदि को तैयार करने के लिए भी बहुत-से नये ढंग के कारखाने इस समय चीन में स्थापित हुए। कागज का व्यवसाय चीन में बहुत देर से चला आ रहा था। शुरू में कागज छोटे-छोटे कारखानों में तैयार होता था, जिनमें छः सात मजदूर काम करते थे। पर अब नए ढंग की पेपर मिलें स्थापित होनी शुरू हुई, और चीन इस व्यवसाय में भी अच्छी उन्नति कर गया। पर १९३१ तक चीन में व्यावसायिक उन्नति का श्रीगणेश मात्र ही हुआ था। चीन में कोयले और लोहे की प्रचुरता है, मजदूर भी वहाँ बहुत बड़ी संख्या में और सस्ती मजदूरी पर उपलब्ध हैं। नदियों और स्रोतों के बाहुल्य के कारण वहाँ बिजली की उत्पत्ति भी कठिन नहीं है। कच्चा माल भी वहाँ प्रचुर परिमाण में प्राप्त हो सकता है। इस दशा में यदि जापान की सरकार के समान चीनी सरकार भी अपने देश की व्यावसायिक उन्नति पर ध्यान देती, तो चीन आर्थिक क्षेत्र में बहुत उन्नति कर जाता। पर १९३१ तक चीन की सरकार को अपनी आन्तरिक समस्याओं से ही फुरसत नहीं थी, और इसीलिए वह देश की व्यावसायिक उन्नति पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे सकी। पर यह स्पष्ट है, कि सरकार की उपेक्षा के बावजूद भी चीन में व्यावसायिक उन्नति का प्रारम्भ हो गया था, और पाश्चात्य देशों के समान वहाँ भी श्रम-सम्बन्धी समस्याएं उत्पन्न होने लग गई थीं। पर चीन के लिए इन समस्याओं को हल कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि अनेक कारखाने विदेशियों के स्वामित्व में थे, और अनेक कारखाने ऐसे प्रदेशों में स्थित थे, जो विदेशी राज्यों के प्रभाव-क्षेत्रों के अन्तर्गत थे। चीनी सरकार इन पर अपने कानूनों को लागू नहीं कर सकती थी।

श्रमिकों की समस्या—कल-कारखानों के विकास के कारण चीन में भी मजदूरों की समस्या विकसित होनी शुरू हो गई थी। सबसे पहले १९१९ में चीनी मजदूरों की उन्नति के लिए एक 'संघ' की शंघाई में स्थापना हुई। इस संघ का उद्देश्य यह था, कि मजदूरों के हितों की रक्षा की जाय। इसकी शाखाएं चीन के विविध व्यावसायिक केन्द्रों में स्थापित की गई। मजदूरों के इस संघ ने मजदूरी की दर में वृद्धि करने और कार्य करने के घन्टों में कमी करने के लिए आन्दोलन शुरू किया। आन्दोलन से अपने प्रयत्न में सफलता होती न देखकर चीन के मजदूरों ने हड़तालों का आश्रय लिया। पेकिंग के एक समाचार-पत्र के अनुसार सितम्बर, १९२२ से दिसम्बर, १९२२ तक के चार महीनों में चीन में ४१ हड़ताले हुईं। इससे यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि चीन के मजदूरों में इस समय कितनी अधिक अशान्ति थी। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को बहुत कम वेतन मिलता था। अपने वेतन से उनके लिए यह असम्भव था, कि वे अपना और अपने परिवारों का पालन-पोषण कर सकें। इसी कारण मजदूर लोगों में इस समय घोर अशान्ति थी, और वे अपनी दशा के सुधार के लिए घोर संघर्ष में तत्पर थे।

मजदूरों की दशा को सुधारने के लिए तीन ही उपाय थे—(१) सरकार की ओर से ऐसे कानूनों का निर्माण किया जाय, जिनसे मजदूरों के कार्य करने की दशा में उन्नति हो, उनकी न्यूनतम मजदूरी निश्चित की जाय, और वे अधिक से अधिक कितने घंटे प्रतिदिन काम कर सकें, यह भी कानून द्वारा तय कर दिया जाय। (२) कारखानों के मालिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वयमेव मजदूरों की दशा के सुधार पर ध्यान दें। (३) कारखानों में ऐसी पंचायतें स्थापित की जाएं, जिनमें मजदूरों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो, और मजदूरों और मालिकों में झगड़ा होने पर ये पंचायतें उसका फैसला करें। चीन के अनेक मिल मालिकों ने मजदूरों की दशा के सुधार पर ध्यान देने का प्रयत्न किया। कई कारखानों में मजदूरों के निवास के लिए साफ सुथरे मकान बनाये गए, उनके इलाज के लिए अस्पताल खोले गए, और बच्चों की शिक्षा तथा मनोरंजन के लिए स्कूलों और पार्कों की स्थापना की गई। पर मजदूर इनसे संतुष्ट नहीं थे। कल-कारखानों में उन्हें वेतन बहुत कम दिया जाता था, और पर्याप्त आमदनी के अभाव में मजदूरों की दशा में सुधार असम्भव था। कुछ कारखानों में ऐसी पंचायतें भी स्थापित की गईं, जिनमें मजदूरों को अपना प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया था। पर राजकीय शक्ति के साथ न होने के कारण इस प्रकार की पंचायतों के लिए सफलता प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। मजदूरों की समस्या को हल करने का सीधा व सरल उपाय यह था, कि चीन में भी सरकार की ओर से उसी ढंग के कानून बनाए जाएं, जैसे कि कारखानों में काम करने वाले मजदूरों के लिए पाश्चात्य देशों में बनाये जा रहे थे। १९२९ में चीन में 'ट्रेड यूनियन एक्ट' स्वीकृत किया गया, जिसके अनुसार मजदूरों को यह अधिकार दिया गया, कि वे अपने संघ बना सकें और सामूहिक रूप से अपने हितों की रक्षा करने का प्रयत्न कर सकें। चीन की सरकार चाहती थी, कि मजदूरों के हित के लिए ऐसे ही अन्य कानूनों का भी निर्माण करे। पर उसके सम्मुख सबसे बड़ी कठिनता यह थी, कि बहुत-से कारखाने ऐसे प्रदेशों में स्थित थे, जो विदेशी राज्यों के प्रभाव-क्षेत्रों के अन्तर्गत थे। चीनी सरकार के कानून इनमें लागू नहीं होते थे। यदि चीनी सरकार के आधिपत्य में विद्यमान प्रदेशों में स्थित कारखानों के लिए कानून बनाये जाते, और उनके मजदूरों की न्यूनतम मजदूरी तथा अधिकतम कार्यकाल को निश्चित करने का प्रयत्न किया जाता, तो इनमें जो माल तैयार होता, स्वाभाविक रूप से उसकी लागत उन कारखानों के माल के मुकाबिले में अधिक पड़ती, जो विदेशी प्रभाव-क्षेत्रों में स्थित थे। इससे चीनी लोगों के अपने कारखानों के लिए विदेशी कारखानों का मुकाबिला कर सकना सम्भव न रहता। अतः चीन की सरकार के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यही था, कि पहले विदेशी लोगों के प्रभाव एवं प्रभुत्व का चीन से अन्त किया जाय। तभी वह मजदूरों की दशा को सुधारने के लिए आवश्यक कानूनों के निर्माण पर भी ध्यान दे सकती थी।

मुद्रा-पद्धति—पदार्थों के विनिमय और व्यापार के लिए चीन में जो मुद्राएं प्रचलित थीं, वे दो प्रकार की थीं, तायल और तांबे के सिक्के। तायल २॥ तोला चांदी के बराबर होता था, और नगरों में वस्तुओं के विनिमय और व्यापार के लिए इसी का उपयोग होता था। देहातों में प्रायः तांबे के सिक्के चलते थे, और थोड़ी कीमत की अदायगी के लिए शहरों में भी उन्हें प्रयुक्त किया जाता था। विदेशी राज्यों के सम्पर्क के कारण चीन में अनेक विदेशी सिक्कों का भी चलन शुरू हुआ, जिनमें अमेरिका का डालर सर्वप्रधान था। १८९४ में चीनी सरकार की ओर से एक नये सिक्के को जारी किया गया, जिसे युआन कहते थे। यह अमेरिकन डालर से मिलता जुलता था। जब चीन में बैंक खुलने प्रारम्भ हुए, तो पत्र-मुद्राओं का भी चलन शुरू हुआ। ये पत्र-मुद्राएं न केवल बैंकों द्वारा जारी की जाती थीं, अपितु अनेक प्रान्तीय सरकारें भी इन्हें जारी करती थीं। इसका परिणाम यह था, कि चीन की राजनीति के समान उसकी मुद्रा-पद्धति भी सर्वथा अव्यवस्थित थी। सर्वसाधारण लोगों के लिए यह समझ सकना सुगम नहीं था, कि वे किन मुद्राओं पर भरोसा कर सकते हैं। पत्र-मुद्राओं में वृद्धि के कारण चीन में कीमतें भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरन्तर बढ़ रही थीं। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जब संसार के सभी देशों में कीमतें बढ़ने लगीं, तो उसका असर चीन पर भी पड़ा। किसी सुव्यवस्थित मुद्रा-पद्धति के अभाव में वहां की दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई। इस दशा में कुओमिंतांग सरकार के सम्मुख यह भी एक प्रधान समस्या थी, कि वह मुद्रा-पद्धति को व्यवस्थित कर किस प्रकार देश की आर्थिक दशा में सुधार करे। जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों और आन्तरिक विरोधी शक्तियों के साथ निरन्तर संघर्ष करते रहने के कारण कुओमिंतांग सरकार को इस विषय में सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अगले एक अध्याय में हम इस बात पर विशद रूप से प्रकाश डालेंगे, कि किस प्रकार चीन की मुद्रा-पद्धति में निरन्तर ह्रास होता गया और एक समय ऐसा आ गया, जबकि चीन की पत्र-मुद्रा की कीमत न के बराबर रह गई।

(२) विद्या का पुनःजागरण

पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क में आने के कारण चीन में विद्या और ज्ञान का पुनःजागरण प्रारम्भ हुआ। क्रिश्चियन मिशनरियों द्वारा स्थापित शिक्षणालयों में चीनी विद्यार्थी जहां ईसाई धर्म की शिक्षा प्राप्त करते थे, वहां साथ ही नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने का भी उन्हें अवसर मिलता था। विदेशों से शिक्षा पाकर जो नवयुवक चीन लौटते थे, वे अपने देश में नवयुग की स्थापना के लिये तीव्र अभिलाषा साथ लेकर वापस आते थे। १९०५ में जब प्राचीन परीक्षा-पद्धति का अन्त किया गया, तो शिक्षा-प्रणाली में सुधार कर सकना भी बहुत सुगम हो गया। परीक्षा पद्धति के कारण चीन के विद्यार्थी प्राचीन ग्रन्थों और धर्म-शास्त्रों के अध्ययन को बहुत अधिक महत्त्व देते थे, क्योंकि इनमें निष्णात होने पर ही उनके लिये सरकार में उच्च पदों को प्राप्त कर सकना सम्भव होता था। पुरानी परीक्षा पद्धति का अन्त हो जाने पर चीन के नवयुवक नवीन ज्ञान-विज्ञान पर ध्यान देने लगे, और प्राचीन ग्रन्थों की अपेक्षा आधुनिक विज्ञान का महत्त्व अधिक बढ़ गया। १९११ में जब राज्यक्रान्ति द्वारा मञ्चू शासन का अन्त हुआ, तब नये ज्ञान-विज्ञान के प्रति अभिरुचि में और भी अधिक वृद्धि हुई, और चीन में नव-जागरण का प्रारम्भ हुआ।

शिक्षा का प्रसार—उन्नीसवीं सदी में आधुनिक शिक्षा देने के लिये चीन में जो भी संस्थाएं विद्यमान थीं, वे ईसाई मिशनरियों द्वारा ही स्थापित की गई थीं। चीनी लोग शिक्षा को बहुत महत्त्व देते थे। चीन के समाज में पण्डित वर्ग का जो असाधारण रूप से सम्मान था, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। अतः मिशनरियों ने यह प्रयत्न किया, कि जो चीनी नागरिक ईसाई धर्म में दीक्षित होकर धर्मप्रचारक का कार्य स्वीकार करें, वे सुशिक्षित और विद्वान् भी हों। मिशनरी लोगों द्वारा स्थापित स्कूलों में जहां ईसाई धर्म की शिक्षा दी जाती थी, वहां साथ ही अंग्रेजी, फ्रेंच आदि पाश्चात्य भाषाओं और उनके साहित्य को भी पढ़ाया जाता था। ईसाई धर्म के प्रचार के लिए मिशनरी लोगों ने बहुत-से चिकित्सालयों की भी स्थापना की थी। अतः ईसाई शिक्षणालयों में चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई पर भी ध्यान दिया जाता था, ताकि चीनी डाक्टर व नर्सें चिकित्सालयों में कार्य करके ईसाई धर्म के प्रचार में सहायक हो सकें। क्रिश्चियन प्रचारक यह भी भली-भांति अनुभव करते थे, कि चीनी भाषा, साहित्य और धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन भी उनके धर्म-प्रचार के कार्य के लिये उपयोगी है। अतः उन्होंने चीनी भाषा के शब्द-कोष तैयार करने और अनेक चीनी ग्रन्थों का आधुनिक भाषाओं में अनुवाद करने पर भी ध्यान दिया। इन अनुवादों के कारण पाश्चात्य देशों की यूनिवर्सिटियों के विद्वानों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का ध्यान चीनी भाषा और साहित्य के प्रति आकृष्ट हुआ। पाश्चात्य देशों के मिशनरियों ने बाइबल का अनुवाद चीनी भाषा में किया, और धर्म-प्रचार के उद्देश्य से बहुत-सी छोटी बड़ी पुस्तकें भी चीनी भाषा में प्रकाशित कीं। ईसाई मिशनरियों द्वारा जो स्कूल व कालिज चीन में स्थापित किये गये थे, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसमें सन्देह नहीं, कि क्रिश्चियन स्कूलों द्वारा ही पहले-पहल चीनी लोग पाश्चात्य साहित्य और ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आये।

पर चीन की सरकार भी नई शिक्षा का देश में प्रचार करने के लिये तत्पर थी। १८६५ में तुंगवन कालिज की स्थापना हुई थी, और यह कालिज क्रिश्चियन मिशनों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखता था। चीन में यह आधुनिक ढंग का पहला कालिज था। १८९५ में ली हुंग चांग द्वारा तीन्त्सिन में एक यूनिवर्सिटी की स्थापना की गई थी, जिसे पेइयांग यूनिवर्सिटी कहते थे। इसके बाद १९०० में चिआओ-तुंग-पूनत्यांग और पेकिंग विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई। इन यूनिवर्सिटियों में चीन के प्राचीन साहित्य के अतिरिक्त आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा की भी व्यवस्था थी। साथ ही, सैनिक शिक्षा के लिये भी अनेक शिक्षणालय इस काल में सरकार द्वारा स्थापित किये गये थे। उच्च शिक्षणालयों के अतिरिक्त स्कूली शिक्षा की ओर भी सरकार का ध्यान गया था, और इसी का यह परिणाम था कि उन्नीसवीं सदी की समाप्ति से पूर्व ही चीन में विविध प्रकार के बहुत-से शिक्षणालय खुलने प्रारम्भ हो गये थे। पर क्योंकि अभी प्राचीन परीक्षा-पद्धति चीन में विद्यमान थी, अतः इन शिक्षणालयों में प्राचीन साहित्य के अध्ययन को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। सरकारी पदों की प्राप्ति के लिये जिन परीक्षाओं का उत्तीर्ण करना आवश्यक था, उनमें कन्फ्यूसियस आदि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों का स्थान बहुत महत्त्व का था, अतः चीन के सब शिक्षणालयों में उनके अध्ययन-अध्यापन पर बहुत जोर दिया जाता था। १९०५ में परीक्षा-पद्धति का अन्त किया गया, और इससे चीन के शिक्षणालयों की पाठविधि व पाठ्य-विषयों में बहुत अन्तर आया। १९०५ के बाद चीन के शिक्षणालयों में प्राचीन साहित्य की अपेक्षा नये ज्ञान-विज्ञान को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। बहुत-से नये स्कूल खोले गये, और अनेक पुराने मन्दिरों और मठों को स्कूलों के रूप में परिवर्तित किया गया। राज्य-क्रान्ति के बाद जब १९१२ में चीन में रिपब्लिक की स्थापना हुई, तब शिक्षा के प्रसार पर और भी अधिक ध्यान दिया गया। चीन के नेता यह बात भली-भांति अनुभव करते थे, कि लोकतन्त्र शासन तभी सफल हो सकता है, जब कि सर्वसाधारण जनता शिक्षित हो और वह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से परिचय रखती हो। शिक्षा प्रसार के कार्य पर सरकार का इतना अधिक ध्यान था, कि १९३१ में चीन में विविध प्रकार के छोटे-बड़े शिक्षणालयों की संख्या १,३१,००० तक पहुंच गई थी। इनमें पढ़ने वाले विद्यार्थियों की संख्या भी इस समय में ४३ लाख के लगभग थी। सरकारी नियंत्रण के बाहर निजी रूप से जो शिक्षणालय धार्मिक सम्प्रदायों तथा पुराने ढंग के पण्डित वर्ग द्वारा संचालित थे, वे इनसे अलग थे। सरकार शिक्षा के प्रसार के लिए इतनी तेजी के साथ स्कूलों और कालिजों की स्थापना में तत्पर थी, कि उनके लिए उपयुक्त अध्यापकों का मिल सकना सुगम नहीं था। विशेषतया, नये ज्ञान-विज्ञान को पढ़ाने के लिए अध्यापकों का मिल सकना तो बहुत ही कठिन था। इसी कारण बहुत-से चीनी युवक इस समय विदेशों में विद्या के अध्ययन के लिए गये। संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, जापान आदि कोई भी ऐसा उन्नत देश नहीं था, जिसमें इस समय चीनी नवयुवक हजारों की संख्या में उच्च शिक्षा के लिए न गये हों। जो लोग अधिक सम्पन्न थे, वे यूरोप और अमेरिका जाते थे, और जिनके पास धन की कमी होती थी वे जापान जाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी ज्ञान की पिपासा को शान्त करते थे। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद ये विद्यार्थी जब विदेशों से चीन लौटते थे, तो वहां के शिक्षणालयों में कार्य करके न केवल शिक्षा के प्रसार में सहायक होते थे, अपितु साथ ही नये विचारों का भी अपने देश में प्रचार करते थे। इन विद्यार्थियों द्वारा पाश्चात्य सभ्यता के चीन में प्रविष्ट होने में बहुत अधिक सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशों में शिक्षा पाये हुए इन चीनी नवयुवकों को अपने देश के प्राचीन साहित्य की तुलना में पाश्चात्य साहित्य का अधिक परिचय होता था। पर विदेशों में निवास करने और नवीन विचार-धाराओं के सम्पर्क में आने के कारण इनमें राष्ट्रीयता की भावना बड़े उग्ररूप में विकसित हो जाती थी। विदेशी रहन-सहन को अपना लेने पर भी इनमें स्वदेश के प्रति भक्ति की भावना कम नहीं हो पाती थी। यही कारण है, कि चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए ये विद्यार्थी बहुत सहायक सिद्ध हुए।

१९१४--१८ के महायुद्ध के समय श्री० येन द्वारा सर्वसाधारण जनता में शिक्षा का प्रसार करने के लिए एक नये आन्दोलन का प्रारम्भ किया गया। श्री० येन धर्म से ईसाई थे, और चीन के वाई० एम० सी० ए० (यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसिएशन) के प्रमुख कार्यकर्त्ता थे। महायुद्ध के अवसर पर जो हजारों चीनी मजदूर फ्रांस आदि यूरोपियन देशों में मजदूरी के लिये गये थे, श्री० येन ने उन्हें साक्षर बनाने के कार्य में विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी। चीनी कुलियों और मजदूरों को शिक्षित करने में श्री० येन को जो सफलता हुई, उससे उत्साहित होकर उन्होंने महायुद्ध की समाप्ति के बाद चीन में काम करना शुरू किया। देहातों के किसानों और शहरों के मजदूरों में शिक्षा का प्रसार करने के लिए श्री० येन ने बड़ा भारी आयोजन किया। अब इस आन्दोलन का सम्बन्ध केवल वाई० एम० सी० ए० के साथ ही नहीं रह गया, अपितु यह चीन के सर्वसाधारण का आन्दोलन बन गया और इसके कारण चीनी जनता को साक्षर बनाने में बहुत अधिक सहायता मिली।

विद्यार्थी आन्दोलन—शिक्षा के प्रसार के कारण चीन में विद्यार्थियों की एक ऐसी श्रेणी का विकास प्रारम्भ हो गया था, जो राष्ट्रीयता, देश प्रेम और नवजीवन से ओत-प्रोत थी। देश की उन्नति और विदेशियों के प्रभुत्व को नष्ट करने की भावना इस श्रेणी में अत्यन्त उग्र रूप से विद्यमान थी। यही कारण है, कि चीन के राजनीतिक आन्दोलनों में विद्यार्थियों का बड़ा हाथ होता था। १९१४--१८ के महायुद्ध की समाप्ति के अनन्तर पेरिस की सन्धि परिषद् ने शांतुंग पर जापान के प्रभुत्व को जारी रखने का जो फैसला किया था, उसका समाचार जब पेकिंग पहुँचा, तो वहां के विद्यार्थियों में बेचैनी फैल गई। जुलूस बनाकर वे पेकिंग के उस क्षेत्र में जा पहुँचे, जहां विदेशी राज्यों के दूतावास थे। विदेशों की सेनाओं ने उन्हें दूतावासों के क्षेत्र में प्रविष्ट नहीं होने दिया। इस पर उन्होंने पेकिंग सरकार के अर्थमंत्री त्साओ जू लिन के निवास स्थान को घेर लिया। उनका ख्याल था, कि वह जापान के साथ सहानुभूति रखता है। त्साओ जू लिन को अपनी जान बचाने के लिए जापानी दूतावास की शरण लेनी पड़ी। अब विद्यार्थियों ने चीन के मंत्रिमण्डल पर इस बात के लिए जोर दिया, कि वह पेरिस में स्थित अपने प्रतिनिधि को यह आदेश दे, कि वह वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर न करे। पेकिंग सरकार ने विद्यार्थियों के इस आन्दोलन को कुचलने के लिए भरसक कोशिश की। पेकिंग तथा अन्य नगरों में हजारों विद्यार्थी गिरफ्तार किये गये, और चीन की जेलें विद्यार्थियों से भर गईं। पर दमन नीति द्वारा विद्यार्थी-आन्दोलन दबा नहीं। ज्यों-ज्यों गिरफ्तारियाँ होती जाती थीं, विद्यार्थी और अधिक संख्या में संघर्ष के मैदान में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आते जाते थे। उन्होंने मजदूरों के संघों को भी अपने साथ आन्दोलन में शामिल कर लिया। चीन में सर्वत्र इस समय हड़तालों का आयोजन किया गया। बहुत-से कारखाने मजदूरों की हड़तालों के कारण बन्द हो गये। विद्यार्थियों ने जापानी माल के बहिष्कार के लिए भी आन्दोलन शुरू किया। व्यापारियों को इस बात के लिए विवश किया गया, कि वे जापानी माल को न बेचें। विद्यार्थियों के इस आन्दोलन ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया, कि अन्त में विवश होकर चीन की सरकार ने यह फैसला किया, कि वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर न किए जाएं और गिरफ्तार किये गये विद्यार्थियों तथा मजदूरों को जेल से मुक्त कर दिया जाय।

चीन के आधुनिक इतिहास में विद्यार्थियों का यह आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस समय चीन के नवयुवक विद्यार्थी देश में जागृति उत्पन्न करने में तत्पर थे। विदेशियों ने चीन में जो अनेक प्रकार से अपना प्रभुत्व कायम किया हुआ था, उसके विरुद्ध विद्यार्थी लोग जलुस निकालते थे, सभाएं करते थे, विदेशी माल को बहिष्कृत करने के लिए जनता को उकसाते थे, और अनेक प्रकार के उपायों का अनुसरण कर जनता में विदेशियों के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करते थे। रूस के कम्युनिस्टों की चीन के विद्यार्थियों के आन्दोलन के प्रति सहानुभूति थी। यही कारण है कि ब्रिटेन, अमेरिका, और जापान आदि की सरकारें चीन के विद्यार्थी-आन्दोलन को कम्युनिस्ट लोगों द्वारा प्रारम्भ किया हुआ बताकर उसे बदनाम करने की कोशिश करती थीं, और पेकिंग सरकार को प्रेरित करती थीं, कि उग्र उपायों का अवलम्बन कर उसे कुचल दे। कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष में विद्यार्थियों का बड़ा कर्त्तृत्व था। उन्हीं के सहयोग के कारण डा० सन यात सेन और उसके अनुयायी अपनी शक्ति का विस्तार करने में समर्थ हुए थे। १९२५ में शंघाई में विद्यार्थियों ने मजदूरों को हड़ताल करने के लिए प्रेरित किया। शंघाई की अनेक मिलें जापानी लोगों द्वारा स्थापित थीं। विद्यार्थियों के प्रयत्न से इन जापानी मिलों में हड़ताल हो गई, और विद्यार्थियों ने एक बहुत बड़ा जुलूस मजदूरों के साथ सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिये निकाला। शंघाई की विदेशी पुलिस ने इस जुलूस पर गोली चलाई, और अनेक विद्यार्थी गोली के शिकार बने। इस हत्याकांड के खिलाफ एक और भी अधिक बड़े जुलूस का आयोजन किया गया। विदेशी पुलिस ने इस जुलूस पर भी गोली चलाई, और बहुत-से विद्यार्थी इस बार भी पुलिस की गोलियों द्वारा मारे गये। शंघाई की इस विदेशी पुलिस में अंग्रेज सिपाहियों की संख्या सबसे अधिक थी। उसका अफसर भी अंग्रेज था। परिणाम यह हुआ, कि चीन में अंग्रेजों के खिलाफ भावना बहुत प्रबल हो गई। एक बार फिर विदेशी माल के बहिष्कार का आन्दोलन शुरू हुआ। इस समय चीन की जनता में ब्रिटिश लोगों के खिलाफ बहुत तीव्र आन्दोलन चल रहा था। १९२६ में कुछ चीनी सिपाहियों ने एक ब्रिटिश जहाज पर गोली चला दी। इसका प्रतिशोध करने के लिए अंग्रेजों ने एक चीनी नगर पर गोलाबारी की, और वहां के निरपराध निवासियों से भयंकर रूप से बदला लिया। विद्यार्थी इससे और भी अधिक भड़क गये, और उन्होंने विदेशियों, विशेषतया अंग्रेजों के खिलाफ अपने आन्दोलन को को जारी रखा। यही समय था, जबकि विद्यार्थी आन्दोलन की सहायता से कुओमिन्तांग दल ने पेकिंग की निर्बल सरकार का अन्त कर नानकिंग में अपनी सरकार की स्थापना की। चीन में जो अब राष्ट्रीय चेतना विकसित हो गई थी, उसमें विद्यार्थियों का कर्त्तृत्व बहुत महत्त्व का था।

समाचार पत्र और नया साहित्य—नई शिक्षा के प्रसार और विद्यार्थी-आन्दोलन द्वारा चीन में पुनःजागरण हो रहा था, और समाचार-पत्र तथा नया साहित्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस नवजीवन में बहुत सहायता पहुंचा रहे थे। शुरू में जो समाचार-पत्र चीन में प्रकाशित हुए, वे विदेशी भाषाओं के थे। समुद्रतट पर स्थित बन्दरगाहों में व्यापार आदि के लिए बहुत से विदेशी लोग आबाद थे। इन पत्रों का प्रचार इन विदेशियों में ही था, और इनमें प्रायः उसी प्रकार के समाचार और लेख प्रकाशित हुआ करते थे, जिनमें विदेशी लोगों को दिलचस्पी होती थी। चीनी भाषा में पहला समाचार-पत्र १८७० में प्रकाशित होना शुरू हुआ। चीन-जापान युद्ध (१८९४-९५) के समय में अन्य भी अनेक पत्र चीनी भाषा में निकलने लगे। इस समय चीन में जागृति का प्रारम्भ हो चुका था, और जनता राजनीतिक मामलों में दिलचस्पी लेने लग गई थी। वह चीन-जापान युद्ध, बोक्सर विद्रोह, सुधारवादियों और क्रान्तिकारियों के आन्दोलन, मञ्चू शासन के विरुद्ध विद्रोह आदि के समाचारों को बड़े उत्साह व दिलचस्पी के साथ पढ़ा करती थी। १९११ की राज्यक्रान्ति के बाद समाचार-पत्रों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई। १९३६ तक चीन में यह दशा आ गई थी, कि प्रायः सभी बड़े नगरों से कोई न कोई पत्र अवश्य प्रकाशित होने लगा था। आवागमन के साधनों की उन्नति और टैलीग्राफ के प्रारम्भ होने के कारण इन समाचार-पत्रों का प्रचार बहुत बढ़ गया, और अनेक पत्र न केवल चीन की आन्तरिक राजनीति पर अपितु विदेशी राजनीति पर भी समाचार तथा लेख प्रकाशित करने लगे। दैनिक और साप्ताहिक पत्रों के साथ-साथ मासिक तथा त्रैमासिक पत्रिकाओं का भी प्रकाशन शुरू हुआ, और कतिपय पत्रिकाएं वैज्ञानिक विषयों पर भी निकलने लगीं। इस बात का अनुमान सहज में किया जा सकता है, कि चीनी भाषा में प्रकाशित ये पत्र-पत्रिकाएं देश में नवजीवन का संचार करने और जागृति को उत्पन्न करने में कितनी अधिक सहायक थीं।

चीन में पहले जो कुछ भी साहित्य तैयार होता था, वह वहां की प्राचीन भाषा में ही होता था। पण्डित वर्ग प्राचीन भाषा में लिखने-पढ़ने में ही गौरव अनुभव करता था। जिस प्रकार भारत की पण्डित-मण्डली संस्कृत ग्रंथों का अध्ययन किया करती थी, संस्कृत में ही पुस्तकें लिखती थी और हिन्दी आदि जन साधारण की भाषाओं में पुस्तकें लिखना हीन बात समझती थी, वैसी ही दशा चीन में भी थी। १९१७ में डॉ० हू सुह ने घोषणा की, कि भविष्य में वे अपनी पुस्तकें उसी भाषा में लिखेंगे, जिसे सर्वसाधारण जनता प्रयुक्त करती हैं। डॉ० हू सुह की शिक्षा अमेरिका में हुई थी, और वे पेकिंग यूनीवर्सिटी में अध्यापक थे। जब तक चीन में पुरानी परीक्षा-पद्धति विद्यमान थी, यह सम्भव नहीं था कि इस प्राचीन भाषा की उपेक्षा की जा सकती। पर अब परीक्षा पद्धति का अन्त हुए बारह साल व्यतीत हो चुके थे। अब डा० हू सुह जैसे विद्वानों के लिए यह सम्भव था, कि वे जन-साधारण की भाषा में साहित्य का निर्माण करने में प्रवृत्त हों। १९२० में सरकार की ओर से यह आज्ञा प्रकाशित की गई, कि स्कूलों की प्रारम्भिक कक्षाओं में प्राचीन भाषा को न पढ़ा कर केवल प्रचलित चीनी भाषा की ही पढ़ाई हो। इस प्रकार चीन में एक ऐसे नवीन साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ, जिसे सर्वसाधारण जनता भली-भांति समझ सकती थी, और जिसे पढ़कर उसके लिए नये ज्ञान-विज्ञान से परिचित हो सकना सुगम था। इस नये साहित्य पर प्राचीन ग्रन्थों और शास्त्रों की अपेक्षा पाश्चात्य विचारधाराओं का प्रभाव अधिक था, और इसके विकास से चीन के पुनःजागरण में बहुत अधिक सहायता मिली।

पत्र-पत्रिकाओं और नवीन साहित्य द्वारा चीन के नवयुवकों में यह प्रवृत्ति बढ़ रही थी, कि वे प्रमाणवाद का परित्याग कर बुद्धि और तर्क द्वारा सत्य और असत्य का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हों। चीनी लोग जहां प्राचीन समय के परम्परागत बन्धनों को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़ कर स्वतन्त्र होने के लिए उत्सुक थे, वहां साथ ही वे पाश्चात्य लोगों के विचारों व विश्वासों को भी आंख मीच कर स्वीकार कर लेने के लिए उद्यत नहीं थे। पाश्चात्य सभ्यता को उत्कृष्ट मान लेने की प्रवृत्ति उनमें नहीं थी। १९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों की ओर से चीन में जर्मनी और आस्ट्रिया के विरुद्ध बहुत प्रचार किया गया। जर्मन लोग मनुष्य के रूप में राक्षस हैं, और उनकी सभ्यता व संस्कृति जंगली व बर्बर लोगों से किसी भी प्रकार उत्कृष्ट नहीं है, यह विचार मित्रराष्ट्रों की ओर से डंके की चोट के साथ प्रचारित किया गया। पर चीनी लोगों की दृष्टि में जैसे जर्मन थे, वैसे ही ब्रिटिश और फ्रेञ्च थे। पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के कारण चीनी लोगों ने समान रूप से कष्ट उठाया था। अतः मित्रराष्ट्रों के जर्मन-विरोधी प्रचार के कारण चीनी लोगों ने यह विचार करना शुरू किया, कि पाश्चात्य देशों द्वारा जो नये आदर्श व विचार उनके सम्मुख प्रस्तुत किये जा रहे हैं, क्या वे वस्तुतः सत्य हैं। चीन में इस समय जो पुनःजागरण हो रहा था, वह जनता में स्वतन्त्रता की भावना को उत्पन्न कर रहा था। उसके कारण जहां चीन की पुरानी जंजीरें टूट रही थीं, वहां साथ ही चीनी जनता अपने को पाश्चात्य लोगों का अन्धानुयायी बना लेने के लिए भी तैयार नहीं थी।

(३) सामाजिक जीवन

पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क और व्यावसायिक उन्नति के कारण चीन में जिस नवयुग का प्रारम्भ हो रहा था, उसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पड़ना भी आवश्यक था। चीन की जनता में प्राचीन समय से यह पद्धति चली आती थी, कि एक परिवार व कुल के लोग एक ही स्थान पर निवास किया करें। पितरों की पूजा चीनी धर्म और सामाजिक संगठन का महत्त्वपूर्ण अंग थी। प्रत्येक व्यक्ति का यह पुनीत कर्त्तव्य समझा जाता था, कि वह अपने पितरों की पूजा करे और उनकी समाधियों के प्रति अपने सम्मान को प्रदर्शित करे। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ होने से पूर्व ही चीन में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होने लग गई थीं, जिनके कारण एक कुल व परिवार के सब लोगों के लिए एक स्थान पर निवास करते रहना सम्भव नहीं रहा था। रेलों और सड़कों के निर्माण के कारण यात्रा करना बहुत सुगम हो गया था, और आजीविका की खोज में बहुत-से चीनी लोग अपने कुलक्रमानुगत घरों को छोड़कर सुदूरवर्ती प्रदेशों में व्यापार, मजदूरी और नौकरी के लिए जाने लग गये थे। अपने पितरों की समाधियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने के लिये अपने घर जाते रह सकना उनके लिये सुगम नहीं रहा था। कल-कारखानों के विकास के कारण लाखों की संख्या में देहाती किसान मजदूर बनकर शंघाई जैसे विशाल नगरों में एकत्र हो गये थे। ये छोटी-छोटी कोठरियों में निवास करते थे, और इनकी आमदनी इतनी कम थी, कि ये अपने कुल के लोगों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क रख ही नहीं सकते थे। परिणाम यह हुआ, कि कुल के प्रति निष्ठा की भावना जनता में मन्द पड़ने लगी, और जिस प्रकार पहले एक परिवार के सब व्यक्ति अपने कुलवृद्ध के शासन में रहते थे, वह बात अब सम्भव नहीं रही। कुल व बिरादरी के शासन से मुक्त होकर चीन के लोग अपने छोटे-छोटे परिवारों का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए, और शहरों व परदेश में निवास करने वाले पति-पत्नी परम्परागत कुल-मर्यादा की उपेक्षा कर स्वच्छन्दता के साथ जीवन बिताने लगे। कुल-मर्यादा का स्थान वैयक्तिक स्वतन्त्रता ने ले लिया। ईसाई मिशनरियों के प्रचार और पश्चिमी देशों के सम्पर्क द्वारा भी इस प्रवृत्ति में सहायता मिली। अब चीन के सर्वसाधारण लोगों में यह प्रवृत्ति प्रबल होने लगी, कि वे सब पुरानी बातों पर बुद्धिपूर्वक विचार किया करें। यदि उन्हें वे बातें युक्तियुक्त प्रतीत हों, तो उन्हें मानें, अन्यथा उनका परित्याग कर दें। बिरादरी के प्रभाव में रहने के कारण लोग जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले पुरानी परिपाटी को कायम रखने के लिये विवश होते थे, अब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रह गई।

चीन में शिक्षा प्रसार के साथ-साथ स्त्री-शिक्षा का प्रचार भी बढ़ रहा था। उन्नीसवीं सदी तक चीन में स्त्री-शिक्षा नाममात्र को ही थी। क्योंकि स्त्रियों को राजकीय पदों पर नियुक्त नहीं किया जाता था, अतः उन्हें शिक्षित करने की भी कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। जब पाश्चात्य मिशनरियों ने चीन में अपने स्कूल स्थापित किये, तो उन्होंने नर्स आदि के कार्यों के लिये चीनी स्त्रियों को तैयार करने के निमित्त उन्हें भी शिक्षा देना शुरू किया। १९११ में जब चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो उसका प्रभाव स्त्री-शिक्षा पर भी पड़ा। सरकार की ओर से अनेक कन्या पाठशालाएं स्थापित हुईं, और बहुत-सी चीनी लड़कियां इन पाठशालाओं व कालिजों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये प्रवृत्त हुईं। जिस प्रकार नवयुवक चीनी विद्यार्थी बड़ी संख्या में विदेशों में उच्च शिक्षा के लिये गये, वैसे ही चीनी नवयुवतियों ने भी अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस और जापान आदि में जाना शुरू किया। स्त्रियों के उच्च शिक्षा प्राप्त कर लेने का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि अब वे केवल वैवाहिक जीवन व्यतीत करना ही अपना एकमात्र कार्य न समझें। उन्होंने चिकित्सा, अध्यापन आदि पेशों का भी अनुसरण शुरू किया, और धीरे-धीरे चीन में स्त्रियों का एक ऐसा वर्ग विकसित हो गया जो अविवाहित रहकर चिकित्सक, पत्रकार, अध्यापिका आदि के रूप में आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र एवं आत्मनिर्भर जीवन व्यतीत करने लगा था। जो शिक्षित स्त्रियां विवाह करती थीं, वे भी घर को ही अपना एकमात्र कार्यक्षेत्र नहीं समझती थीं। वे देश के सामाजिक और राजनीतिक जीवन में भी हाथ बंटाती थीं। जिस विद्यार्थी आन्दोलन का हमने इसी अध्याय में ऊपर उल्लेख किया है, उसमें लड़कियों ने भी सक्रिय रूप से भाग लिया था। इस समय चीन में अनेक ऐसे शिक्षणालय भी स्थापित हो गये थे, जिनमें लड़कों और लड़कियों की सहशिक्षा की पद्धति को अपनाया गया था। इनमें शिक्षा प्राप्त की हुई स्त्रियां स्वाभाविक रूप से अपने को पुरुषों के बराबर व समकक्ष समझती थीं, और अपनी सामाजिक स्थिति को पुरुषों के मुकाबिले में किसी भी प्रकार से हीन समझने के लिये उद्यत नहीं थीं।

चीन में नवयुग के सूत्रपात का एक परिणाम यह भी हुआ, कि विवाह के मामले में नवयुवक और नवयुवतियां अधिक स्वतन्त्रता का आचरण करने लगे। पहले चीन में यह प्रथा थी, कि माता-पिता और परिवार के बुजुर्ग ही विवाह-सम्बन्ध का निश्चय कर दिया करते थे। अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों से शिक्षा प्राप्त करके जो लोग इस समय चीन वापस आ रहे थे, वे अपने विवाह के विषय में बुजुर्गों की बात मानने को तैयार नहीं थे। वे चाहते थे, कि स्वयं अपनी सहधर्मिणी का चुनाव करें। धीरे-धीरे सभी शिक्षित लोगों में यह प्रवृत्ति बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ, कि चीन के वैवाहिक और परिवारिक जीवन में भारी परिवर्तन आना शुरू हुआ। पर यह नहीं समझना चाहिये, कि चीन की सर्वसाधारण जनता भी अपनी कुल-मर्यादा का परित्याग कर इस समय नये विचारों के अनुसार वैवाहिक एवं पारिवारिक सम्बन्धों के विषय में स्वतन्त्र होने लग गई थीं। यह जो परिवर्तन हो रहा था, वह प्रधानतया उच्च शिक्षित लोगों तक ही सीमित था, यद्यपि सर्वसाधारण जनता भी उसके प्रभाव से सर्वथा वञ्चित नहीं थी।

मञ्चू शासन का अन्त हो जाने के बाद चीन के लोगों के रहन-सहन में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ, कि पुरुषों ने चोटी रखना बन्द कर दिया। इस प्रथा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरम्भ उस समय हुआ था, जब कि मञ्चू आक्रान्ताओं ने चीन को अपने अधीन कर लिया था। मञ्चू सम्राट् समझते थे, कि सिर पर लम्बी चोटी रखना इस बात का चिन्ह है, कि चीनी लोग उनकी अधीनता को स्वीकार करते हैं। रिपब्लिक की स्थापना होने पर चीनी लोगों ने चोटी कटवाकर पाश्चात्य लोगों के समान छोटे बाल रखना शुरू किया। पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण चीन के बहुत-से शिक्षित लोगों ने यूरोपियन पोशाक को भी अपना लिया था, पर कुओमिन्तांग दल के शक्ति प्राप्त करने के बाद जनता में यह भावना विकसित हुई कि विदेशी पोशाक राष्ट्रीय दृष्टि से अनुचित है।

(४) धार्मिक विचारों में परिवर्तन

पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आने के कारण चीनी जनता के धार्मिक विचारों में भी बहुत परिवर्तन आया। ईसाई धर्म के प्रायः सभी सम्प्रदाय चीन में अपने-अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में तत्पर थे। रूस का ओर्थोडैक्स चर्च (जिसे पहले ग्रीक कैथोलिक चर्च भी कहते थे, और ग्रीस के तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो जाने के बाद जिसका प्रधान केन्द्र रूस बन गया था) मञ्चूरिया व उत्तरी चीन में अपना प्रचार कार्य कर रहा था। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेण्ट पादरी मध्य और दक्षिणी चीन में अपने मत के प्रचार में तत्पर थे। १९२९ में ३४०० विदेशी पादरी रोमन केथोलिक चर्च के अधीन चीन में कार्य कर रहे थे। इसी समय में चीन में काम करने वाले विदेशी प्रोटेस्टेण्ट पादरियों की संख्या ८००० से भी अधिक थी। इन प्रचारकों के प्रयत्नों का यह परिणाम था, कि १९२९ में पच्चीस लाख के लगभग चीनी रोमन कैथोलिक धर्म को और पांच लाख के लगभग चीनी प्रोटेस्टेन्ट धर्म को स्वीकार कर चुके थे। संख्या की दृष्टि से ईसाई प्रचारकों को चीन में बहुत अधिक सफलता नहीं हुई थी, पर वहां के समाज पर उनका प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। ईसाई पादरियों द्वारा स्थापित स्कूलों और चिकित्सालयों के सम्पर्क में लाखों चीनी नागरिक प्रति वर्ष आते थे, और इस धर्म के सिद्धान्तों का उन पर प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। पादरियों द्वारा ही आधुनिक शिक्षा का पहले-पहल चीन में प्रवेश हुआ था, और अनेक चीनी ईसाई राज्यक्रान्ति के प्रमुख नेता भी थे। डॉ० सन यात सेन भी धर्म से ईसाई थे। चियांग काई शेक ने भी ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। कुओमिन्तांग सरकार का सुयोग्य अर्थमंत्री सुंग भी ईसाई था। उसकी दो बहनें श्रीमती सन यात सेन और श्रीमती चियांग काई शेक चीन के आधुनिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। चीनी सरकार के अन्य भी अनेक उच्च राजकीय पदों पर इस प्रकार के चीनी नेता आरूढ़ थे, जिन्होंने पाश्चात्य देशों में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और जो ईसाई धर्म में दीक्षित हो चुके थे। चीन की रिपब्लिक के प्रथम राष्ट्रपति श्री युवान शी काई भी धर्म से ईसाई ही थे। इन बातों से यह भलीभांति समझा जा सकता है, कि चीन में ईसाई लोगों का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण था, और उनका वहां की जनता पर कितना अधिक प्रभाव था। यदि विदेशी राज्यों का साम्राज्यवाद चीन की जनता में अत्यधिक असन्तोष और उद्वेग उत्पन्न न करता, तो वहां ईसाई धर्म का प्रचार और भी अधिक हो सकता। पर चीन की जनता में अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि साम्राज्यवादी देशों के प्रति जो विरोध व विद्वेष की भावना थी, उसके कारण लोग ईसाई धर्म को भी अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष के साथ जब चीन में राष्ट्रीय प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि लोगों में ईसाई धर्म के मुकाबिले में अपने प्राचीन धर्म के प्रति प्रेम उत्पन्न हो। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि धीरे-धीरे चीन का ईसाई चर्च भी राष्ट्रीय होता जा रहा था। जो चीनी लोग ईसाई धर्म को स्वीकृत कर लेते थे, उनमें से भी बहुत-से पादरी का पेशा ग्रहण कर लेते थे। धीरे-धीरे चीन के क्रिश्चियन चर्च के उच्च पदों पर भी चीनी पादरी नियत किए जाने लगे। पर १९३१ तक ईसाई चर्चों का प्रबन्ध व संचालन मुख्यतया विदेशियों के ही हाथों में रहा, यद्यपि चीनी ईसाइयों का उस पर प्रभाव निरन्तर बढ़ता जाता था। १९३१ के बाद इस दिशा में और अधिक प्रगति हुई।

ईसाई धर्म के प्रचार के कारण बौद्ध धर्म में भी नवजीवन का संचार हुआ। जापानी लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। पाश्चात्य देशों के अनुकरण में जापानियों ने भी चीन में अपने स्कूल और चिकित्सालय स्थापित किए थे। ये स्कूल और चिकित्सालय जापान के बौद्ध मिशन द्वारा स्थापित किए गए थे। जापानी लोगों ने भी इस बात को अनुभव किया, कि धर्म प्रचार साम्राज्यवाद की सफलता का एक अत्यन्त उत्तम साधन है। पाश्चात्य देश जो चीन में अपने प्रभाव और प्रभुत्व के विस्तार में सफल हो रहे हैं, उसका एक बड़ा कारण ईसाई मिशन भी हैं। इसी बात को दृष्टि में रखकर जापानियों ने भी बौद्ध धर्म के प्रचार पर विशेष ध्यान दिया। चीन के जो प्रदेश जापान के प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे, वहां बौद्ध चर्च के तत्वावधान में स्कूलों व चिकित्सालयों की स्थापना की गई। चीन के बौद्धों में भी इससे नए उत्साह का संचार हुआ। वहां भी अनेक ऐसे धार्मिक नेता उत्पन्न हुए, जिन्होंने ईसाई धर्म के बढ़ते हुए प्रचार को रोकने के लिए बौद्ध धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि चीन में एक नए धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ, जिसे पाश्चात्य इतिहास को दृष्टि में रखकर 'धार्मिक सुधारणा' के नाम से कहा जा सकता है।

जिस समय विविध धार्मिक नेता चीन में अपने-अपने धर्म के प्रचार में तत्पर थे, चीन की सुशिक्षित जनता में धर्म के प्रति सन्देह और अविश्वास की भावना में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने वाले चीनी नवयुवक धर्ममात्र को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे। उन्हें जिस प्रकार चीन के प्राचीन धार्मिक विश्वास और विधि-विधान अनावश्यक प्रतीत होते थे, वैसे ही ईसाई धर्म के मन्तव्यों में भी उन्हें कोई सार नजर नहीं आता था। इसका परिणाम यह हुआ, कि चीन में नास्तिकता की प्रवृत्तियां निरन्तर प्रबल होने लगीं, और बहुत-से लोग धर्म से सर्वथा विमुख हो गए।

(५) कला और आमोद-प्रमोद

कला की दृष्टि से चीनी लोग बहुत उन्नत थे। चित्रकला और स्थापत्य—दोनों में चीन की अपनी पृथक् शैली थी, जिसमें बाह्य आकृतियों की अपेक्षा भावना को अधिक महत्त्व दिया जाता था। चीनी लोग समझते थे, कि चित्र भी काव्य के समान होते हैं, जिनमें भावों की अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के स्थान पर आकृतियों को प्रयोग में लाया जाता है। पाश्चात्य कला के सम्पर्क में आने से चीनी कलाकारों ने चित्रों की आकृति की उत्कृष्टता को भी महत्त्व देना शुरू किया। पर पाश्चात्य सम्पर्क के बावजूद भी चीन को कला की मौलिकता कायम रही। यही कारण है, कि चीन के चित्रों और प्रतिमाओं की पाश्चात्य देशों में आदर की दृष्टि से देखा जाता था, और वहां के कला-प्रेमी लोग उनके संग्रह में विशेष उत्साह प्रदर्शित करते थे।

चीन में आमोद-प्रमोद के प्रधान साधन नाटक होते थे, जिन्हें देखने के लिए चीनी लोग बड़े उत्साह के साथ एकत्र होते थे। पाश्चात्य देशों द्वारा वहां चलचित्रों (सिनेमा)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रदर्शन भी आरम्भ हुआ। शुरू में सिनेमा-घर उन बन्दरगाहों में खोले गए, जहां विदेशी लोग बड़ी संख्या में निवास करते थे। धीरे-धीरे पेकिंग आदि अन्य नगरों में भी सिनेमा का प्रचार हुआ। शुरू में इन सिनेमाघरों में अमेरिका आदि में तैयार किए गये विदेशी भाषाओं के चित्र ही प्रदर्शित किये जाते थे। धीरे-धीरे सिनेमा की फिल्मों को तैयार करने के लिए चीनी कम्पनियां भी स्थापित हुई, और चीनी भाषा में भी चलचित्रों का निर्माण होने लगा। सिनेमा के प्रचार के कारण नाटकों की लोकप्रियता कम हो गई। पर इससे यह लाभ अवश्य हुआ, कि जनता को कम मूल्य में मनोरंजन का एक अत्यन्त उत्कृष्ट साधन हाथ लग गया।

पाश्चात्य लोगों के सम्पर्क से चीन के शिक्षणालयों में विविध प्रकार के खेल-कूदों का भी प्रवेश हुआ। पुराने ढंग के चीनी पण्डित शिक्षा में खेलों को कोई महत्त्व नहीं देते थे। पर बीसवीं सदी में चीन में जो नये शिक्षणालय खुल रहे थे, उनमें कसरत, ड्रिल, जिमनास्टिक, टैनिस आदि को भी महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता था।

इसमें सन्देह नहीं, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ होने तक चीन में नवयुग के सूत्र-पात होने के चिह्न प्रकट होने लग गए थे। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक आदि सभी क्षेत्रों में वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लग गया था। वर्तमान समय में चीन ने जो असाधारण व आश्चर्यजनक उन्नति की है, उसकी नींव उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग तक भली-भांति रखी जा चुकी थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेरहवां अध्याय

पूर्वी एशिया में जापान के साम्राज्य का विस्तार

(१) जापान के उत्कर्ष का प्रारम्भ

उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जापान का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ था। उस समय जापानी लोगों ने अनुभव किया, कि वे उन्नति की दौड़ में यूरोप और अमेरिका के मुकाबिले में बहुत पीछे रह गए हैं। इस अनुभूति के कारण जापान के लोग अपने देश का कायाकल्प करने के लिए किस प्रकार प्रवृत्त हुए, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद यह स्थिति आ गई थी, कि जापान की गिनती संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में की जाने लगी थी, और उसकी जलसेना संसार में तीसरा स्थान रखती थी। केवल ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका ही ऐसे देश थे जो जलसेना की दृष्टि से उससे आगे थे। राष्ट्र संघ की कौंसिल में जापान को स्थायी सदस्य के रूप में सम्मिलित किया गया था, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान की स्थिति सबसे अधिक शक्तिशाली थी। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान भी पाश्चात्य राज्यों के अनुकरण में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील हो। संसार के इतिहास में राजशक्ति की अतिशयता का यही परिणाम दृष्टि-गोचर होता है, कि शक्तिशाली राज्य निर्बल देशों को अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाने का प्रयत्न करने लगते हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और इटली आदि सभी राज्य अपने-अपने साम्राज्यों का विस्तार करने में तत्पर थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि व्यावसायिक उन्नति और सैनिक शक्ति में पाश्चात्य देशों का समकक्ष बनकर जापान भी साम्राज्य-विस्तार के मार्ग पर अग्रसर हो। जापान के साम्राज्य के लिए सबसे उपयुक्त क्षेत्र चीन और प्रशान्त महासागर में स्थित विविध द्वीप थे। इन्हें अपनी अधीनता लाने के लिए जो प्रयत्न जापान ने किए, उन्हीं पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे। जापान के साम्राज्य-प्रसार-सम्बन्धी प्रयत्न १९३१ के बाद विशेष रूप से सफल होने शुरू हुए, और १९४२ तक वह पूर्वी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपना एक विशाल साम्राज्य बनाने में सफल हो गया। पर १९३९-४५ के महायुद्ध में मित्रराष्ट्रों की विजय के कारण जापान को अपने विस्तृत साम्राज्य से हाथ धोना पड़ा। जापानी साम्राज्य के उत्थान और पतन का यह वृतान्त एशिया के आधुनिक इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। १९३१ तक जापान ने जिस ढंग से अपने साम्राज्य का विस्तार किया, हम इस अध्याय में इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

साम्राज्य विस्तार के हेतु—पाश्चात्य देशों के समान जापान भी साम्राज्यप्रसार के कार्य में क्यों तत्पर हुआ, इसके कारणों पर विचार करने की आवश्यकता है। ये कारण निम्नलिखित थे :—

(१) जापान की आबादी में बड़ी तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी। १८७२ में जापान की कुल जनसंख्या ३,५०,००,००० थी। १८९४ में वह बढ़कर ४,१०,००,०००

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गई थी। १९३० में जापान की जनसंख्या ६,९०,००,००० तक पहुँच गई थी। १८७२ से १९३० तक के आधी सदी के काल में जापान की आबादी में शत प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह इतनी तेजी से बढ़ती हुई अपनी आबादी का भलीभांति पालन-पोषण कर सके। इसके लिये उसे भी उसी ढंग से उपनिवेशों की आवश्वकता अनुभव होती थी, जैसे कि इस काल में पाश्चात्य देश अनुभव करते थे। ब्रिटेन का कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैण्ड आदि पर आधिपत्य विद्यमान था। इन विशाल प्रदेशों की खाली पड़ी हुई जमीन पर ब्रिटिश लोग यथेष्ट रूप से अपनी बस्तियों का विकास कर सकते थे। भारत, बरमा, लंका आदि अधीनस्थ देशों में ब्रिटेन के सुशिक्षित लोगों के लिये उच्च राजकीय तथा सैनिक पद प्राप्त कर सकना बहुत सुगम था। संयुक्तराज्य अमेरिका का क्षेत्रफल भारत की अपेक्षा दुगुना था, पर उसकी जनसंख्या भारत के मुकाबिले में एक तिहाई से भी कम थी। इस दशा में अमेरिकन लोगों के लिये भी यह अत्यन्त सुगम था, कि वे प्रशान्त महासागर की ओर पश्चिम दिशा में अपना विस्तार कर सकें। रूस उत्तरी एशिया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था, और साइबीरिया का सुविस्तृत प्रदेश उसकी बस्तियों के लिये खुला पड़ा था। फ्रांस उत्तरी अफ्रीका पर अपना कब्जा कायम कर चुका था, और वहां उसके लिये अपना विस्तार कर सकना बहुत सुगम था। पाश्चात्य संसार के प्रायः सभी प्रगतिशील देश अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के हित और कल्याण के लिये उपयुक्त क्षेत्र प्राप्त कर चुके थे। इस दशा में जापान भी अपनी जनसंख्या की वृद्धि से विवश होकर साम्राज्य-विस्तार के लिये उत्सुक था।

(२) शुरू में जापान के लोग संयुक्तराज्य अमेरिका में जाकर बस सकते थे। १९१० तक ७२,००० के लगभग जापानी नागरिक अमेरिका में आवाद हो चुके थे। १९२० में अमेरिका में बसे हुए जापानियों की जनसंख्या ७२,००० से बढ़कर १,१०,००० हो गई थी। पर अमेरिकन लोग एशिया के लोगों को अपने देश में नहीं बसने देना चाहते थे। वहां इस बात के लिये प्रबल आन्दोलन चल रहा था, कि एशियन लोगों के अमेरिका-प्रवेश को कानून द्वारा रोक दिया जाय। अमेरिका के श्वेताङ्ग लोग एशिया के लोगों को अपने से हीन व निकृष्ट समझते थे। १९०६ में कैलीफोर्निया में एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार जापानी विद्यार्थियों को अमेरिकन स्कूलों में पढ़ने से रोक दिया गया। १९०७ में अमेरिकन सरकार ने यह व्यवस्था की, कि जापानी पुरुषों को अमेरिका में आने से रोका जाय। केवल उन विवाहित स्त्रियों को ही भविष्य में अमेरिका आने दिया जाय, जिनके पति पहले से ही वहाँ मौजूद हैं। १९१३ में कैलीफोर्निया की सरकार ने एक अन्य कानून पास किया, जिस द्वारा तीन साल से अधिक काल के लिये किसी जमीन को जापानी लोग किराये या पट्टे पर न ले सकें, यह व्यवस्था की गई। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक कानून अमेरिका के विविध राज्यों तथा संघ की सरकारों द्वारा बनाये गये। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान की बढ़ती हुई आबादी के लिये अमेरिका में जाकर बस सकना असम्भव हो गया। इस दशा में जापान के लिये यही मार्ग शेष रह गया, कि वह भी पाश्चात्य देशों का अनुसरण कर अपना ऐसा साम्राज्य बनाए, जहां उसकी बढ़ती हुई आबादी के लिये बस सकना व आजीविका कमा सकना सम्भव हो सके।

(३) पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान को अविकल रूप से अपना लेने के कारण जापान में व्यावसायिक उन्नति बड़ी तेजी के साथ हो रही थी। जापान की व्यावसायिक क्रान्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। वहां के कल-कारखाने बहुत बड़ी मात्रा में सब प्रकार का तैयार माल उत्पन्न कर रहे थे। पाश्चात्य देशों के समान जापान भी इस बात के लिये उत्सुक था, कि उसका भी अपना साम्राज्य हो, जहां वह अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सकने के लिये सुरक्षित बाजारों को प्राप्त कर सके, और जहां से कच्चा माल सस्ती कीमत पर खरीद सकने की उसे पूर्ण रूप से सुविधा हो। साम्राज्य के अभाव में जापान के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह अपने कल-कारखानों में तैयार हुए माल को विदेशों में निश्चिन्त हो कर बेच सके। भारत, बरमा आदि के रूप में ब्रिटेन के व्यवसायपतियों के पास जिस ढंग के बाजार थे, जापान भी अपने लिये उसी प्रकार के बाजारों को प्राप्त करना चाहता था। जापान की व्यावसायिक पैदावार केवल अपने ही देश में नहीं खप सकती थी।

(४) जिस प्रकार जापान ने पाश्चात्य देशों से व्यावसायिक उत्पत्ति के नये तरीकों को सीखा था, वैसे ही उसने इन देशों से राष्ट्रीयता का पाठ भी पढ़ा था। जापान एक राष्ट्र है, और उसकी सभ्यता व संस्कृति अन्य सबकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट है, यह विचार उसमें निरन्तर प्रबल होता जा रहा था। जिन लोगों की जाति, भाषा, धर्म और परम्परा एक हो, वे अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य बनाकर रहें, वस्तुतः राष्ट्रीयता की भावना का यही अभिप्राय है। पर कठिनता यह है, कि मनुष्यों की अन्य भावनाओं के समान राष्ट्रीय भावना भी मर्यादा में नहीं रहने पाती। राष्ट्रीय गौरव सशक्त देशों को इस बात के लिये प्रेरित करता है, कि वे अन्य देशों को अपने अधीन कर अपनी राष्ट्रीय उन्नति में तत्पर हों। ब्रिटिश, फ्रेंच, अमेरिकन—सभी पाश्चात्य लोगों में यही विकृत राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। जापानी लोग भी इससे अछूते नहीं रहे। अपनी जातीय उत्कृष्टता की अनुभूति जापानी लोगों में पहले भी मौजूद थी। वे अपने राजा को ईश्वर का वंशज मानते थे, और यह समझते थे कि जापान की संस्कृति संसार में सर्वोत्कृष्ट है। अब पाश्चात्य देशों के सम्पर्क में आकर उनमें यह भावना और भी अधिक प्रबल हो गई।

(५) विविध पाश्चात्य देश चीन और प्रशान्त महासागर के द्वीपों में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे। रूस, ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, पोर्तुगाल, अमेरिका और हालैण्ड इस क्षेत्र में अपने प्रभावक्षेत्र कायम कर चुके थे। फ्राँस ने इण्डोचायना में अपने उत्कर्ष का प्रारम्भ कर दिया था। रूस साइबीरिया को जीतकर उत्तरी चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में तत्पर था। हवाई द्वीपों पर १८९८ में अमेरिका का शासन स्थापित हो गया था, यद्यपि उनकी आबादी में जापानियों की संख्या सबसे अधिक थी। फिलीप्पीन द्वीपसमूह पहले स्पेन के प्रभुत्व में था, पर उन्नीसवीं सदी के अन्त से पूर्व ही वह अमेरिका के प्रभुत्व में आ गया था। जब विविध पाश्चात्य देश जापान के पड़ौस के प्रदेशों में अपने आधिपत्य की स्थापना में तत्पर थे, तो जापान के लिये यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि वह भी साम्राज्यवाद के क्षेत्र में उनका मुकाबला करने के लिये मैदान में उतर आये।

साम्राज्य के विस्तार के लिये जो अनेक उद्योग जापान ने किये, उनमें से कतिपय का उल्लेख इस पुस्तक में पहले किया जा चुका है। जिन प्रदेशों में जापान अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये तत्पर था, वे निम्नलिखित थे—(१) फार्मूसा (२) कोरिया, और (३) मञ्चूरिया। १९३१ तक जापान प्रधानतया इन्हीं को अपने प्रभुत्व में ला सका था। इनके सम्बन्ध में उल्लेख करना जापान के साम्राज्य-विस्तार को समझने के लिये बहुत उपयोगी होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) फार्मूसा पर प्रभुत्व

प्रारम्भिक विजय—सामन्त-पद्धति और शैगून शासन का अन्त होने के बाद जब जापान में सम्राट् की सत्ता का पुनरुद्धार हुआ, और जापान ने अपने साम्राज्य-विस्तार का प्रारम्भ किया, तो सबसे पहले १८७५ में कुरील द्वीपसमूह को वह अपनी अधीनता में लाया। ये द्वीप येजो से शुरू होकर उत्तर में कामचात्का तक विस्तृत हैं। इनकी प्राकृतिक दशा ऐसी नहीं है, कि इनमें मनुष्य अधिक संख्या में निवास कर सकें। पर सैनिक दृष्टि से इनका बहुत महत्त्व है। इन द्वीपों पर जिस किसी राज्य का प्रभुत्त्व होगा, वह साइबीरिया के समुद्रतट पर सुगमता से अपना आधिपत्य स्थापित कर सकेगा। उत्तरी प्रशान्त महासागर पर अपना कब्जा रखने के लिये इन द्वीपों का बहुत उपयोग है। १८७८ में बोनिन द्वीप-समूह पर जापान ने अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया। आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से ये द्वीप भी विशेष महत्त्व के नहीं हैं, पर यदि इन पर जापान के अतिरिक्त किसी अन्य राज्य का कब्जा हो, तो वह इन्हें अपनी जलसेना का अड्डा बना कर जापान के पूर्वी समुद्रतट पर सुगमता के साथ आक्रमण कर सकता है। कुरील और बोनिन द्वीप-समूहों का महत्त्व सैनिक दृष्टि से है, और इन्हें अपनी अधीनता में लाकर जापान ने अपनी स्थिति को बहुत सुरक्षित कर लिया था। १८८० के बाद जापान ने कोरिया में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया, और १८९४-९५ में चीन के साथ उसका जो युद्ध हुआ, उसमें कोरिया को हस्तगत करने का प्रयत्न भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था, यह हम पहले लिख चुके हैं।

फार्मूसा पर आधिपत्य—१८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के परिणामस्वरूप फार्मूसा पर जापान का आधिपत्य स्थापित हुआ। चीनी और जापानी लोग इस द्वीप को तैवान कहते हैं। जापान के लिये फार्मूसा का अनेक दृष्टियों से महत्त्व था। वह यहां अपनी बस्तियों को बसा सकता था, और इसे अपनी सैन्यशक्ति का आधार बनाकर उसके लिये यह भी सम्भव था, कि वह दक्षिणी चीन के फूकिएन प्रदेश पर अपने प्रभुत्त्व का विस्तार कर सके। जापान ने दोनों प्रकार से फार्मूसा का उपयोग किया। जापानी लोग अच्छी बड़ी संख्या में वहां जाकर आबाद हुए, और उन्होंने फार्मूसा का आर्थिक विकास करने के लिये कोई कसर उठा नहीं रखी। १९३० में फार्मूसा की कुल आबादी ४५ लाख के लगभग थी। इनमें से ३,००,००० व्यक्ति जापानी थे। ये वहां व्यवसायों का विकास करने और रेलवे आदि का निर्माण करने में तत्पर थे। फार्मूसा के बहुसंख्यक निवासी चीनी लोग थे, जो जापान की अधीनता में रहते हुए मुख्यतया कृषि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। जापानी लोगों ने फार्मूसा में जहां व्यवसायों का विकास किया, वहां साथ ही सड़कें बनाने, रेलवे लाइनों का निर्माण करने, और बन्दरगाहों को विकसित करने पर भी ध्यान दिया। जापानी सरकार का यह भी प्रयत्न था, कि फार्मूसा के निवासियों को पूर्णतया जापानी रंग में रंग दिया जाय। इसके लिये उन्होंने शिक्षणालयों में जापानी भाषा की पढ़ाई को अनिवार्य किया, और सारा शासन-कार्य जापानी भाषा में करने की व्यवस्था की। फार्मूसा के लोग जापान के शासन से संतुष्ट नहीं थे। उन्होंने अनेक बार विद्रोह किये, पर जापानी सरकार को इन विद्रोहों का दमन करने में विशेष कठिनता नहीं हुई।

(३) कोरिया

जापान ने किस प्रकार कोरिया में अपने प्रभुत्त्व को स्थापित किया, इसका वृतान्त पहले लिखा जा चुका है। १८९५ तक कोरिया चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के बाद कोरिया से चीन के प्रभुत्त्व का अन्त हुआ, और रूस और जापान उसे अपनी अधीनता में ले आने के लिये संघर्ष में तत्पर हुए। १९०५ में रूस और जापान के युद्ध की समाप्ति पर कोरिया जापान का संरक्षित राज्य बन गया। वहां के शासन पर निरीक्षण रखने के लिए जापान की ओर से एक रेजिडेण्ट-जनरल की नियुक्ति की गई। जिस प्रकार ब्रिटिश युग में भारत की देसी रियासतों के शासन पर निरीक्षण व नियन्त्रण रखने के लिए ब्रिटिश सरकार द्वारा 'रेजिडेन्टों' की नियुक्ति की जाती थी, वैसे ही जापान ने कोरिया में अपने रेजिडेन्ट-जनरल की नियुक्ति की। कोरिया का प्रथम रेजिडेन्ट प्रिंस इतो को नियुक्त किया गया। इस समय से कोरिया में जापान का प्रभुत्त्व निरन्तर बढ़ने लगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, आय-व्यय आदि के महकमों में कोरियन अधिकारियों को परामर्श देने के लिए जापानी सलाहकार नियत किये गए। पोस्ट आफिस, टैलीग्राफ और टैलीफोन के विभागों का संचालन जापानी कर्मचारियों ने सीधा अपने हाथों में ले लिया। कोरिया के समुद्रतट पर मछली पकड़ने के व्यवसाय पर भी जापानियों ने अपने एकाधिकार को स्थापित किया। बहुत-सी उपजाऊ जमीनों को भी जापानी लोगों ने अपने अधिकार में कर लिया, और वहां अफीम की खेती शुरू की, क्योंकि इसकी मांग चीन और कोरिया में बहुत अधिक थी। कोरिया की अपनी सरकार इतनी निर्बल और विकृत थी, कि उसके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह जापान के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्त्व का विरोध कर सके। ब्रिटेन और जापान इस समय परस्पर सन्धि कर चुके थे। जर्मनी और रूस की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबिला करने के लिए ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि जापान के साथ मैत्री-सम्बन्ध की स्थापना करे। इसलिए वह कोरिया के सम्बन्ध में जापान की नीति का विरोध नहीं कर सकता था। अमेरिका की सरकार जापान की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत चिन्तित थी। उसे अनुभव होता था, कि यदि जापान इसी प्रकार पूर्वी एशिया में प्रबल होता जायगा, तो फिलिप्पीन पर अमेरिका का प्रभुत्त्व निरापद नहीं रह सकेगा। इस दशा में अमेरिकन सरकार की यह नीति थी, कि कोरिया में निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्त्व का विरोध करे। १९०५ में कोरिया के सम्राट् ने अमेरिका के राष्ट्रपति की सेवा में एक आवेदन पत्र भेजा, जिसमें जापान से अपने देश की रक्षा करने की प्रार्थना की गई थी। १९०७ में कोरिया की सरकार ने हेग में होने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अपने देश की समस्या को उपस्थित करने का भी प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान ने कोरिया के सम्राट् को राजसिंहासन कर परित्याग कर देने के लिये विवश किया, और युवराज को राजगद्दी पर बिठाकर जापान के रेजिडेन्ट-जनरल प्रिंस इतो ने कोरिया के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। जापान के अनेक सैनिक नेता इस समय अपनी सरकार पर इस बात के लिए जोर दे रहे थे, कि कोरिया की स्वतन्त्रता का अन्त कर इस देश पर पूर्ण रूप से जापानी शासन की स्थापना कर दी जाय। पर जापानी सरकार सावधानी से चलने की नीति को पसन्द करती थी। इस समय कोरिया के अनेक देशभक्त अमेरिका आदि विदेशी राज्यों की सहायता से निराश होकर आतंकवादी उपायों का अवलम्बन करने में तत्पर हो गये थे। वहां अनेक ऐसी गुप्त समितियां कायम हो गई थीं, जिनके सदस्य जापानी अफसरों पर आक्रमण करने में तत्पर रहते थे। १९०९ में प्रिंस इतो की हत्या कर दी गई। उसके समान अन्य भी अनेक जापानी उच्च राजकर्मचारी कोरियन क्रान्तिकारियों द्वारा कतल किये गए। इस दशा में जापानी सरकार ने कोरिया से वहां के राजा के शासन का अन्त कर उस देश को सीधे अपने शासन में ले लिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोरिया पर जापान का शासन—कोरिया को पूर्णरूप से अपनी अधीनता में ले आने के बाद जापान ने उसके शासन को सुव्यवस्थित करने पर विशेष ध्यान दिया। कोरियन लोगों में इतनी शक्ति नहीं थी, कि वे जापानी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर सकते। पुलिस और सेना की सहायता से जापान ने कोरिया पर अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ रूप से स्थापित किया। सब उच्च राजकीय पदों पर जापानी अफसर नियत किये गए, और कोरिया में जापान ने प्रायः उसी ढंग की सरकार का संगठन किया, जैसी कि ब्रिटिश लोगों ने भारत में की थी। जापान के साथ सम्पर्क स्थापित होने के कारण कोरिया को आधुनिक ढंग से उन्नति करने में सहायता मिली। वहाँ बहुत-सी नई सड़कें बनायी गईं, नई रेलवे लाइनें निकाली गईं, बन्दरगाहों को पुनर्निर्मित किया गया, और नये-नये कल-कारखानों की स्थापना की गई। सिऊल आदि बड़े कोरियन नगरों में बिजली की रोशनी का सूत्रपात जापान द्वारा ही हुआ। नये ढंग के बैंकों का जापानी सरकार के संरक्षण में संगठन हुआ, और व्यापार की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया। कोरिया का विदेशी व्यापार प्रधान रूप से जापान ही के साथ होता था। १९२९ में तीस करोड़ येन (१ येन १ शिलिंग या एक रुपये के लगभग) का माल कोरिया से जापान गया था, और लगभग इतने ही मूल्य का माल जापान से कोरिया आया था। इसी काल में कोरिया से केवल तीन करोड़ येन का माल चीन गया था, और वहाँ से सात करोड़ येन का माल कोरिया आया था। अमेरिका आदि अन्य राज्यों के साथ कोरिया के विदेशी व्यापार की मात्रा इससे भी कम थी। कोरिया का ९० प्रतिशत के लगभग विदेशी व्यापार अकेले जापान के साथ था। विदेशी व्यापार के समान ही कोरिया के आन्तरिक व्यापार में भी जापान का प्रमुख स्थान था। बहुत-से जापानी व्यापारी इस समय कोरिया में आकर बस गए थे, और उन्होंने वहाँ के व्यापार पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कोरिया के व्यवसायों पर भी जापानियों का प्रभुत्व हो गया था। जापानी पूंजीपतियों ने वहां अनेक बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना की थी। इनके सब मुख्य कर्मचारी जहाँ जापानी होते थे, वहाँ इनका मुनाफा भी जापान ही प्राप्त करता था। कोरिया के लोग निरन्तर अधिक-अधिक दरिद्र होते जाते थे। उनके लिये अपने देश में आजीविका कमा सकना सुगम नहीं रहा था। कोरिया की जनसंख्या भी इस समय निरन्तर बढ़ रही थी। १९११ में कोरिया की कुल आबादी १,३०,००,००० थी। १९३५ में वह बढ़कर २,३०,००,००० हो गई थी। इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि कोरियन लोग अन्य देशों में जा कर मजदूरी प्राप्त करने का यत्न करें। यही कारण है, कि इस समय बहुत-से निर्धन कोरियन मजदूरी की तलाश में जापान गए, और वहाँ जापानी मजदूरों के मुकाबिले में बहुत थोड़ी मजदूरी ग्रहण करना स्वीकार कर निर्वाह करने को विवश हुए। जापानी सरकार ने कोरिया में कृषि और व्यवसायों का विकास इस ढंग से नहीं किया था, कि कोरियन लोग वहाँ अच्छी आमदनी प्राप्त कर सकते। जापानी लोगों का उद्देश्य केवल यह था, कि जिस प्रकार से भी सम्भव हो, कोरियन लोगों का शोषण करें और उनकी दुरवस्था से लाभ उठाकर स्वयं धन का उपार्जन करें।

जापानी शासकों ने यह भी उद्योग किया, कि कोरिया के निवासियों को जापानी सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंग दें। स्कूलों में जापानी भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया। उच्च शिक्षा का माध्यम भी जापानी भाषा को बनाया गया। कोरियन साहित्य के विकास में बाधाएं उपस्थित की गईं। कोरियन समाचार-पत्रों पर कड़ा नियन्त्रण रखा गया। जापानी लोग नहीं चाहते थे, कि कोरिया में शिक्षा का प्रसार हो। इसीलिये उनके शासन में केवल ४०० स्कूल वहां ऐसे खोले गए, जिनमें कोरियन विद्यार्थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिक्षा प्राप्त कर सकते थे। इनके मुकाबिले में जापानी विद्यार्थियों के लिये स्थापित किये गए स्कूलों की संख्या ३८० थी। कोरिया की कुल आबादी में जापानियों की संख्या केवल दो फी सदी थी, पर इस दो फी सदी जनता के लिये जहाँ ३८० स्कूल स्थापित किये गए थे, जब कि शेष ९८ फी सदी कोरियन जनता के लिये केवल ४०० स्कूल खोले गए थे। इन स्कूलों में शिक्षा का ढंग इस प्रकार का रखा गया था, कि कोरियन विद्यार्थी जापान की उत्कृष्टता को भली-भाँति हृदयंगम कर लें, ताकि वे शिक्षा प्राप्त कर चुकने पर जापान की भक्त प्रजा बन सकें।

यद्यपि कोरिया पर जापान का शासन अत्यन्त सुदृढ़ और कठोर था, पर वहाँ की जनता में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना का सर्वथा लोप नहीं हो गया था। अनेक कोरियन नवयुवकों ने पाश्चात्य देशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। इनमें अपने देश को जापानी शासन से मुक्त कराने की इच्छा बड़े तीव्र रूप से विद्यमान थी। कोरिया के निवासी अपने देश की दुर्दशा को अनुभव करते थे, और इस अवसर की प्रतीक्षा में थे, कि जापान के विरुद्ध विद्रोह करके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करें। १९१४--१८ के महायुद्ध के अवसर पर संसार के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र शासन की प्रवृत्तियों को बल मिला। १९१९ में जापानी शासन के विरुद्ध कोरिया में आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया, और जनता ने बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति का अवलम्बन कर जापान का विरोध करना शुरू किया। शंघाई में कतिपय कोरियन देशभक्तों ने "स्वतन्त्र कोरियन सरकार" का भी संगठन किया, और पेरिस की सन्धि परिषद् में एकत्रित राजनीतिज्ञों से अनुरोध किया, कि वे कोरियन देशभक्तों की मांग को स्वीकृत करें। पर १९१९–२० का यह कोरियन स्वातन्त्र्य-आन्दोलन सफल नहीं हो सका। सन्धि परिषद् ने 'स्वतन्त्र कोरियन सरकार' की सत्ता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। शंघाई की फ्रेञ्च बस्ती में इस कोरियन सरकार का प्रधान कार्यालय स्थापित था। फ्रेञ्च अधिकारियों ने इस सरकार के खिलाफ कार्यवाही की, और इसे भंग होने के लिये विवश होना पड़ा। राष्ट्रपति विल्सन (अमेरिका) और मित्र-राष्ट्रों के अनेक नेता इस समय संसार के सब देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये प्रयत्न करने का दावा कर रहे थे, पर कोरिया की स्वतन्त्रता की उनकी दृष्टि में कोई भी मूल्य नहीं था। वे जापान को नाराज करने की हिम्मत नहीं कर सकते थे। कोरिया में जापानी सरकार ने देशभक्तों के साथ बहुत बुरा बरताव किया। स्वातन्त्र्य आन्दोलन को बुरी तरह से कुचला गया। बहुत-से कोरियन देशभक्त गिरफ्तार किये गये, बहुतों को प्राणदण्ड दिया गया। इस स्थिति में बहुत-से देशभक्त इस समय कोरिया छोड़कर अन्य देशों में चले गये, और वहाँ जाकर उन्होंने अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्न जारी रखा। यद्यपि वह सफल नहीं हुआ, पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस क्रान्तिकारी आन्दोलन के कारण जापानी सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिये विवश हुई। जापान ने यह बात स्वीकृत की, कि धीरे-धीरे कोरिया में स्वराज्य की स्थापना की जायगी। इसी नीति को दृष्टि में रखकर महायुद्ध के बाद कोरिया में स्थानीय स्वशासन का प्रारम्भ किया गया।

(४) मञ्चूरिया

रूस-जापान युद्ध की समाप्ति पर जापान ने किस प्रकार मञ्चूरिया में अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। रूस को पराजित करने के बाद जापान के लिये यह सम्भव हो गया था, कि वह मञ्चूरिया में अपने प्रभाव-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि करता जाय। १९०५ के बाद इस क्षेत्र में जापान की शक्ति का किस प्रकार उत्कर्ष हुआ, इसी बात पर अब हमें इस प्रकरण में प्रकाश डालना है।

रूस-जापान युद्ध के बाद १९०५ में पोर्ट् समाउथ की सन्धि द्वारा मञ्चूरिया के विषय में निम्नलिखित व्यवस्था की गई थी—(१) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में जो विशेषाधिकार पहले रूस को प्राप्त थे, वे अब जापान को हस्तान्तरित कर दिये जाएं। (२) मञ्चूरिया रेलवे के दक्षिणी भाग पर जापान का अधिकार स्थापित हो। (३) सखालिन द्वीप का दक्षिणी भाग जापान को प्राप्त हो। (४) रूस और जापान—दोनों मञ्चूरिया से अपनी सेनाओं को हटा लें, पर रेलवे के क्षेत्र को सुरक्षित रखने के लिये जिन सेनाओं को मञ्चूरिया में रखना आवश्यक हो, उन्हें वे वहाँ रख सकें। (५) रूस और जापान मञ्चूरिया में अपनी रेलवे लाइनों का उपयोग केवल आर्थिक और व्यापारिक प्रयोजनों के लिये ही करें, राजनीतिक प्रयोजन के लिये नहीं। पर लिआओ-तुंग प्रायद्वीप में अपना राजनीतिक और सैनिक प्रभुत्व कायम रखने का जापान को अधिकार हो।

पोर्ट् समाउथ की सन्धि द्वारा जापान को यह अवसर मिल गया था, कि वह मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सके। जापान द्वारा मञ्चूरिया की रेलवे का प्रबन्ध करने के लिये 'दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी' का संगठन किया गया। पर यह कम्पनी केवल रेलवे की ही व्यवस्था नहीं करती थी। जिस प्रदेश से यह रेलवे लाइन गुजरती थी, उसका शासन-प्रबन्ध भी इस कम्पनी के ही अधीन था। वहां इस कम्पनी की ओर से अस्पताल और शिक्षणालय स्थापित किये गये थे, और खोज आदि के उद्देश्य से भी कतिपय संस्थाएं कायम की गई थीं। इस प्रदेश के अनेक नगरों में बिजली का उत्पादन भी इसी कम्पनी के हाथों में था। इसकी ओर से अनेक होटल भी चलते थे, और अनेक बन्दरगाहों का भी प्रबन्ध होता था। इतना ही नहीं, इस प्रदेश में खानें खोदने और उनका विकास करने का अधिकार भी इसी कम्पनी को प्राप्त था। मञ्चूरिया के समुद्र-तट पर जहाज चलाने का काम भी यह रेलवे कम्पनी ही करती थी। यह दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी जापान की सरकार की अधीनता और नियन्त्रण में थी, क्योंकि इसके ५० प्रतिशत हिस्से जापानी सरकार के हाथों में थे। इसकी स्थापना बीस करोड़ येन की पूंजी से की गई थी, जिसमें से दस करोड़ येन जापानी सरकार ने लगाये थे। बाद में इस कम्पनी की पूंजी बीस करोड़ से बढ़ा कर चालीस करोड़ येन कर दी गई। पूंजी के बढ़ जाने पर भी कम्पनी के आधे हिस्से जापानी सरकार के ही हाथों में रहे। इस प्रकार स्पष्ट है, कि दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी के रूप में वस्तुतः जापानी सरकार ही मञ्चूरिया के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार करने में तत्पर थी।

इसमें सन्देह नहीं, कि मञ्चूरियन रेलवे कम्पनी द्वारा मञ्चूरिया के आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिली। १८९८ में मञ्चूरिया के विदेशी व्यापार की मात्रा केवल ४,००,००,००० तायल थी। १९०८ में यह बढ़कर १०,००,००,००० तायल तक पहुँच गई थी। इसके बाद मञ्चूरिया के विदेशी व्यापार में और भी अधिक तेजी से वृद्धि हुई। १९२० में उसके विदेशी व्यापार की मात्रा ५४,००,००,००० तक पहुँच गई थी। इससे स्पष्ट है, कि मञ्चूरिया पर जापानी प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद उसके विदेशी व्यापार में बारह गुना से भी अधिक की वृद्धि हुई थी। यह विदेशी व्यापार मुख्यतया जापान के साथ होता था। सोयाबीन, मक्का, गेहूँ, बाजरा, जौ चावल, कपास आदि बहुत बड़ी मात्रा में मञ्चूरिया से जापान जाते थे, और जापान का तैयार व्यावसायिक माल वहां बड़े परिमाण में बिक्री के लिए आता था। रेलवे लाइन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के निर्माण के कारण अब यह बात सुगम हो गई थी, कि मंचूरिया में व्यापार का विकास हो सके। बहुत-से चीनी किसान इस समय मंचूरिया में आकर आबाद हुए, और उन्होंने परती पड़ी हुई जमीनों को लहलहाते खेतों के रूप में परिवर्तित किया। जापान से बहुत-से व्यापारी भी इस काल में मंचूरिया गए। जिस समय रूस व जापान के युद्ध का पूरी तरह से अन्त भी नहीं हुआ था, तभी जापानी व्यापारियों ने मंचूरिया में प्रवेश करना शुरू कर दिया था। यद्यपि पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि सब देशों को मंचूरिया में व्यापार के सम्बन्ध में समान अधिकार प्राप्त रहें, पर रेलवे लाइन पर जापानी लोगों का कब्जा होने के कारण उनके लिये यह बहुत सुगम था कि वे इस प्रदेश में व्यापार-विषयक अनेक ऐसी सुविधाएं प्राप्त कर लें, जो कि अन्य देशों के व्यापारियों को प्राप्त नहीं थीं। जापानी लोग मंचूरिया में केवल आर्थिक प्रभुत्व की स्थापना में ही तत्पर नहीं थे, अपितु अपने आर्थिक विशेषाधिकारों का प्रयोग कर वहां अपना राजनीतिक व सैनिक आधिपत्य कायम करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। लिआओतुंग प्रायद्वीप में उनका राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित था ही। उसे अपना आधार बनाकर जापानी लोगों के लिए यह अत्यन्त सुगम था, कि वे मंचूरिया के अन्य प्रदेशों को भी अपने राजनीतिक प्रभाव में लाते जाएं। दक्षिणी मंचूरिया रेलवे के क्षेत्र में जापानी लोग अपनी सेनाओं को रख सकते थे, और ये सेनाएँ रेलवे के क्षेत्र के बाहर भी जापान की शक्ति के विस्तार में सहायक हो सकती थीं।

व्यापार आदि के उद्देश्य से जो जापानी लोग बहुत बड़ी संख्या में इस समय मंचूरिया के विविध प्रदेशों में बस रहे थे, वे अपने को चीनी कानून और चीनी अदालतों के अधीन नहीं समझते थे। वे दावा करते थे, कि ट्रीटी पोर्टों में निवास करने वाले विदेशी नागरिकों के समान उन्हें भी 'एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी' के सब अधिकार प्राप्त हैं। जापानी सरकार भी यह समझती थी, कि अपने इन नागरिकों की जान और माल की रक्षा की उत्तरदायिता उसी के ऊपर है। चीनी सरकार की निर्बलता से लाभ उठाकर जापान ने मञ्चूरिया के अनेक ऐसे प्रदेशों में भी, जो कि रेलवे क्षेत्र से बाहर थे, अपनी पुलिस नियुक्त कर दी थी। इस विदेशी पुलिस की सत्ता मंचूरिया की राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिए अत्यन्त विघातक थी। पर चीनी सरकार जापान की इस बढ़ती हुई शक्ति के सम्मुख अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी। १९१४ में प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ के समय तक मंचूरिया पर जापान का प्रभाव व प्रभुत्व भलीभांति स्थापित हो चुका था। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से मंचूरिया अब भी चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत था, और उसके शक्तिशाली सिपहसालार अपनी सैन्यशक्ति की सहायता से पेकिंग सरकार पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थे, पर इसमें सन्देह नहीं कि धीरे-धीरे दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी मंचूरिया पर जापान का प्रभुत्व तेजी के साथ बढ़ता जा रहा था।

(५) महायुद्ध और जापान

शातुंग पर आधिपत्य—१९१९-१८ के महायुद्ध ने जापान की उन्नति और साम्राज्यविस्तार के लिए एक सुवर्णीय अवसर उपस्थित किया। इस महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों को पूर्वी एशिया के मामलों पर ध्यान देने की जरा भी फुरसत नहीं थी। वे यूरोप के घनघोर युद्ध में इतने अधिक व्यस्त थे, कि चीन और जापान के मामले पर जरा भी ध्यान नहीं दे सकते थे। १९०२ में ब्रिटेन और जापान में जो सन्धि हुई थी, उसके कारण महायुद्ध में जापान ने मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया। १५ अगस्त, १९१४ को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापानी सरकार की ओर से एक नोटिस जर्मनी को दिया गया, जिसमें यह मांग की गई कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वे सब जापान को हस्तान्तरित कर दिये जाएं, ताकि वह उन्हें चीनी सरकार को वापस कर देने की व्यवस्था कर सके। इस नोटिस के उत्तर देने के लिए एक सप्ताह की अवधि नियत की गई। जब २२ अगस्त तक जर्मन सरकार की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला, तो २३ अगस्त, १९१४ को जापान ने जर्मनी के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। जापान की एक सेना ने जर्मनी द्वारा अधिकृत बन्दरगाह त्सिंग-ताओ पर आक्रमण किया। जापानी सेनाएं सीधे भी त्सिंग-ताओ पर हमला कर सकती थी, पर उन्होंने पहले वहां से १०० मील उत्तर में एक स्थान पर कब्जा किया, और फिर वहां से स्थल मार्ग द्वारा त्सिंग-ताओ की ओर प्रस्थान किया। जापानी सेनाएं जिस स्थान पर उतरी थीं, वह चीन के अधीन था और जिस मार्ग से वे त्सिंग-ताओ की ओर आगे बढ़ रही थीं, वह भी चीन के अधीन था। यह प्रदेश किसी भी विदेशी राज्य के प्रभाव-क्षेत्र में नहीं था। जापानी सेनाओं की यह कार्यवाही अन्तर्राष्ट्रीय कानून के खिलाफ थी, क्योंकि चीन महायुद्ध में उदासीन नीति का अनुसरण कर रहा था। इस दशा में चीनी सरकार के सम्मुख केवल यही विकल्प था, कि जापानी सेना के इस अभियान-मार्ग को वह 'युद्ध-क्षेत्र' घोषित कर दे, और दोनों पक्षों से यह आशा रखे कि इस युद्ध-क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य किसी प्रदेश को वे सैनिक कार्यवाही के लिए इस्तेमाल न करें। पर जापानी सेनाओं ने चीन की इस घोषणा की कोई परवाह नहीं की। सैनिक आवश्यकता के नाम पर उन्होंने शांतुंग प्रान्त की अन्दरूनी रेलवे लाइन पर भी कब्जा कर लिया। यह रेलवे लाइन जर्मनी और चीन के संयुक्त स्वत्त्व में थी, यद्यपि इस इस पर त्सिंग-ताओ की जर्मन सरकार का नियन्त्रण विद्यमान था। ७ नवम्बर, १९१४ को त्सिंग-ताओ पर जापानी सेनाओं का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया। ब्रिटेन की सेनाओं की सहायता इस आक्रमण में जापान को प्राप्त थी। अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से जापान और ब्रिटेन को यह अधिकार नहीं था, कि वे चीन की उदासीन सत्ता की उपेक्षा कर त्सिंग-ताओ पर आक्रमण कर सकें। पर उन्होंने चीन की उदासीन स्थिति की जरा भी परवाह नहीं की। वे केवल त्सिंग-ताओ पर कब्जा करके हीं संतुष्ट नहीं हुए। कुछ ही समय बाद जापानी सेनाओं ने त्सिंग-ताओ से आगे बढ़कर शांतुंग में प्रवेश किया, और इस प्रान्त में जर्मनी के जो भी विशेषाधिकार थे, उन सबको हस्तगत कर लिया। त्सिंग-ताओ से त्सिनान (शांतुंग की राजधानी) तक जो रेलवे लाइन जाती थी, उस पर जापान ने अपना कब्जा कर लिया, और रेलवे की सम्पत्ति की रक्षा के नाम पर इस क्षेत्र में अपनी सेनाएं भी स्थापित कर दीं। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इस रेलवे की रक्षा के लिए जर्मनी की कोई सेना इस क्षेत्र में नहीं रहती थी, और रेलवे की सम्पत्ति की रक्षा की उत्तरदायिता चीन की सरकार के ऊपर ही थी। शांतुंग में अपना सैनिक प्रभुत्त्व स्थापित करके जापान ने इस प्रान्त में अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व का भी विस्तार शुरू किया। १५ अगस्त, १९१४ के नोटिस में जापान ने इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया था, कि शांतुंग में जर्मनी को जो विशेषाधिकार हैं उन्हें उससे लेकर वह चीनी सरकार को वापस कर देने की व्यवस्था करेगा। पर अब जापानी सरकार का कहना था, कि जर्मनी ने अपने विशेषाधिकारों को स्वेच्छापूर्वक जापान को नहीं दे दिया है, उसके लिए जापान को अपने नागरिकों का खून और प्रचुर युद्ध-सामग्री व्यय करनी पड़ी है। अतः इसका प्रतिशोध तभी सम्भव है, जबकि जर्मनी द्वारा अधिकृत इन प्रदेशों को जापान अपने हाथों में ले ले। इस प्रकार १९१४-१८ के महायुद्ध का सबसे प्रथम लाभ जापान को यह प्राप्त हुआ, कि शांतुंग प्रान्त में उसका प्रभाव और प्रभुत्त्व स्थापित हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोरिया और मंचूरिया पर पहले ही उसका प्रभुत्व था, अब शांतुंग भी उसके साम्राज्यवाद का शिकार हो गया।

प्रशान्त महासागर के द्वीप—प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीपों पर जर्मनी का प्रभुत्व था। इनमें जो द्वीप भूमध्यरेखा के उत्तर में स्थित थे, उन्हें जापान ने अपने कब्जे में कर लिया। इनमें मार्शल, कैरोलिन और मरियाना द्वीप-समूहों का विशेष महत्त्व है। यद्यपि इन द्वीपों की जनसंख्या अधिक नहीं थी, और न ही आर्थिक दृष्टि से इनका विशेष उपयोग था, पर सैनिक दृष्टि से इनका महत्त्व अधिक था। यदि किसी अन्य राज्य का जंगी जहाजी बेड़ा दक्षिण की ओर जापान पर आक्रमण करना चाहे तो इन द्वीपों को ढाल के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता था। यदि जापान इन द्वीपों में किलाबन्दी कर ले, तो वह इनमें स्थित अपनी जलसेना द्वारा विदेशी आक्रमण का सुगमता से मुकाबिला कर सकता था। साथ ही, जापान के लिए यह भी सम्भव था, कि वह इन द्वीपों को आधार बनाकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विजय का उपक्रम कर सके। बाद में १९४० में जापान ने इन द्वीपों का इस उद्देश्य से प्रयोग किया भी। इन द्वीपों को अधिगत कर लेने से प्रशान्त महासागर में जापान की सैनिक स्थित बहुत सुदृढ़ हो गई थी। इस प्रसंग में यह भी लिख देना उपयोगी है, कि भूमध्य रेखा के दक्षिण में जर्मनी के अधीन जो द्वीप थे, उन पर इस समय ब्रिटेन ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था।

जापान की इक्कीस मांगें—शांतुंग प्रान्त में जापानी सेनाओं की स्थापना से चीन की सरकार बहुत अधिक चिन्तित थी। ७ जनवरी, १९१५ को चीन के राष्ट्रपति श्री युआन शी काई ने जापानी सरकार को सूचना दी, कि क्योंकि महायुद्ध में चीन उदासीन है, अतः शांतुंग प्रान्त में भी उदासीन नीति को ही बरता जाएगा और जापान केवल कियाऊ-चाऊ के प्रदेश का ही (जो कि पहले जर्मनी के पास पट्टे पर था) सैनिक दृष्टि से उपयोग कर सकेगा। इस बात से जापान बहुत क्रुद्ध हुआ, और उसने चीन की सरकार को सूचना दी, कि उसका यह कार्य जापान के प्रति विरोध भावना को प्रकट करता है। उचित यह होगा कि चीन और जापान आपस में समझौता कर लें। यह समझौता किन शर्तों पर हो, इसके लिए जापान ने चीन की सरकार के सम्मुख २१ मांगें पेश कीं। इन मांगों का उल्लेख हम इस इतिहास के आठवें अध्याय में कर चुके हैं। उन्हें यहां फिर से लिखने की आवश्यकता नहीं है। जापान की इन इक्कीस मांगों के परिणामस्वरूप २५ मई, १९१५ को चीन और जापान में एक नया समझौता हुआ, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) मंचूरिया के लिआओ-तुंग प्रायद्वीप पर जापान के पट्टे की अवधि को बढ़ा कर ९९ वर्ष कर दिया जाय। (२) दक्षिणी मंचूरियन रेलवे के पट्टे का काल भी बढ़ाकर ९९ वर्ष कर दिया जाय। (३) जापानी नागरिकों को अधिकार हो, कि वे दक्षिणी मंचूरिया में जहां चाहें यात्रा कर सकें, बस सकें, व्यापार व व्यवसाय का संचालन कर सकें, और निवास, व्यापार, व्यवसाय व खेती के लिए जमीन पट्टे पर ले सकें। (४) मंचूरिया में निवास करने वाले जापानी लोगों के मामलों का फैसला जापानी अदालतों द्वारा किया जाया करे। (५) पूर्वी आभ्यन्तर मंगोलिया में भी जापानी लोगों को व्यापार के विस्तार का अवसर हो। (३) यदि चीनी सरकार को मंचूरिया के सैनिक, आर्थिक और पुलिस सम्बन्धी मामलों के लिए किन्हीं विदेशी सलाहकारों के सहयोग की आवश्यकता हो, तो ये सिपहसालार जापानी ही नियत किए जाएं। (७) शांतुंग में जापानी सरकार जर्मनी के साथ भविष्य में जो भी फैसला करे, वह चीनी सरकार को मान्य हो। (८) शांतुंग प्रान्त में कियाऊ-चाऊ के अतिरिक्त अन्यत्र भी जापानी लोगों को निवास और व्यापार के अधिकार दिये जाएं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१५ के इस समझौते द्वारा जापान के लिए चीन में अपने अधिकार एवं प्रभाव को विस्तृत कर सकना और अधिक सुगम हो गया। युआन शी काई ने विवश होकर ही जापान को अपने देश में ये सब सुविधाएं व विशेषाधिकार प्रदान किए थे। जापान ने उसे स्पष्ट रूप से यह बात सूचित कर दी थी, कि यदि चीन ने उसकी २१ मांगों के सम्बन्ध में समझौता न किया, तो वह शक्ति का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करेगा। यूरोप के महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों को इस बात का अवकाश नहीं था, कि वे जापान की इस साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का विरोध कर सकते। चीन की शक्ति इतनी नहीं थी, कि वह अपने भरोसे पर जापान को नाराज सके। परिणाम यह हुआ, कि १९१५ के बाद जापान चीन में अपनी शक्ति का निरन्तर विस्तार करता रहा।

१९१७ की गुप्त सन्धियां—यूरोपियन महायुद्ध में ब्रिटेन और फ्रांस को बहुत मुसीबत का सामना करना पड़ रहा था। जर्मनी की पनडुब्बियों के कारण मित्रराष्ट्रों के जहाज बड़ी तेजी के साथ समुद्र के गर्भ में पहुँचाये जा रहे थे। इस दशा में ब्रिटेन और फ्रांस इस बात की आवश्यकता को अनुभव करते थे, कि जहाजों के सम्बन्ध में अपनी कमी को जापान की सहायता से पूरा किया जाय। १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हो गई थी। जार का पतन होने के बाद रूस की नई सरकार युद्ध में शामिल रहने को अनावश्यक समझती थी। रूस के युद्ध से पृथक् हो जाने के कारण जर्मनी की सब सेनाएं पश्चिमी रणक्षेत्र में चली आयी थीं। इस दशा में मित्रराष्ट्रों की स्थिति और भी अधिक डांवाडोल हो गई थी। इस स्थिति में फ्रांस और ब्रिटेन ने जापान को इस बात के लिए प्रेरित किया, कि वह अपने जहाजी बेड़े को मित्रराष्ट्रों की सहायता के लिए भूमध्य सागर में भेज दे। पर इस सहायता के बदले में जापान ने भरपूर कीमत वसूल की। उसने फ्रांस और ब्रिटेन से एक गुप्त सन्धि (१९१७) की, जिसके अनुसार इन राज्यों ने यह स्वीकार किया कि युद्ध की समाप्ति पर जब सन्धि परिषद् होगी, तो उसमें ये राज्य शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों का समर्थन करेंगे। जापान के जहाजी बेड़े की सहायता के बदले में मित्रराष्ट्रों ने शांतुंग प्रान्त को बलि चढ़ा दिया था। इटली ने भी कुछ समय बाद जापान के साथ एक गुप्त समझौता कर लिया, जिसमें उसने शांतुंग प्रान्त पर जापान के विशेषाधिकारों के समर्थन का वचन दिया। इन गुप्त सन्धियों द्वारा यूरोप के राज्यों ने इस बात को स्वीकार कर लिया था, कि जापान के साम्राज्य-विस्तार का चीन उपयुक्त और न्याय्य क्षेत्र है।

लांसिंग-इशी समझौता—फ्रांस, ब्रिटेन और इटली के साथ जापान की सन्धियां हो चुकी थीं। अब केवल संयुक्तराज्य अमेरिका ही एक ऐसा देश रह गया था, जो चीन में जापान के बढ़ते हुए साम्राज्य का विरोध कर सकता था। १९१७ में अमेरिका भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध में शामिल हो गया था। अतः अमेरिकन राजनीतिज्ञों ने भी यह आवश्यक समझा, कि वे जापान के साथ समझौता कर लें। नवम्बर, १९१७ में यह समझौता हो गया, जिस पर अमेरिका की ओर से मि० लांसिंग ने और जापान की ओर से श्री इशी ने हस्ताक्षर किये थे। इस समझौते के अनुसार अमेरिका ने यह स्वीकार कर लिया, कि भौगोलिक परिस्थितियों के कारण जापान का चीन के साथ सन्निकट सम्बन्ध है, और इसलिए चीन के मामले में जापान की विशेष दिलचस्पी सर्वथा उचित है। इस विशेष दिलचस्पी के कारण जापान को वहां कतिपय विशेषाधिकार भी प्राप्त होने ही चाहिएं। पर लांसिंग-इशी समझौते में यह बात स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की गई, कि चीन में जापान के इन विशेषाधिकारों का क्या स्वरूप होगा, और किस हद तक अमे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिका इन्हें स्वीकार करेगा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि लांसिंग-इशी समझौते के कारण जापान के साम्राज्य-विस्तार में अमेरिका भी बाधक नहीं रह गया।

साम्राज्य प्रसार के विफल प्रयत्न—महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर जापान ने चीन के शांतुंग प्रान्त और मंचूरिया में अपने प्रभुत्व एवं प्रभाव का किस प्रकार प्रसार किया, यह हमने ऊपर लिखा है। १९१७ में जब रूस में राज्यक्रान्ति हो गई, तो रूसी साम्राज्य के सुविस्तृत प्रदेशों में अव्यवस्था फैल गई। बोल्शेविक क्रान्तिकारियों और जारशाही के पक्षपातियों में घोर संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। साइबीरिया और उत्तर-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में भी इस संघर्ष का प्रभाव अवश्यम्भावी था। जुलाई, १९१८ में एक श्वेत रूसी (बोल्शेविक क्रान्ति के विरोधी) सेनापति ने अपनी सेनाओं के साथ उत्तरी मंचूरिया में प्रवेश किया। इस प्रदेश में रूस को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। जापान ने समझा, कि उत्तरी मंचूरिया को अपने कब्जे में ले आने का यह सुवर्णीय अवसर है। इस आशंका से कि इस श्वेत रूसी सेनापति का पीछा करती हुई बोल्शेविक सेनाएं भी इस प्रदेश में घुस आयेंगी, जापानी सरकार ने अपनी एक शक्तिशाली सेना वहां भेज दी। पर अमेरिका की सरकार इस बात को नहीं सह सकी। वह जापान की बढ़ती हुई शक्ति से अत्यधिक चिन्तित थी। अमेरिका के हस्तक्षेप का यह परिणाम हुआ, कि जापान उत्तरी मंचूरिया को अपने कब्जे व प्रभाव में नहीं ला सका।

रूस की अव्यवस्था के कारण जापान ने यह प्रयत्न भी किया कि पूर्वी साइबीरिया को भी अपने प्रभुत्व में ले आये। आस्ट्रिया की सेना के बहुत-से कैदी रूसी सरकार के पास नजरबन्द थे। इन्हें साइबीरिया में रखा गया था। इन आस्ट्रियन सैनिकों में एक अच्छी बड़ी संख्या चेकोस्लोवाक लोगों की भी थी, जो आस्ट्रियन शासन के विरुद्ध विद्रोह कर अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे। चेकोस्लोवाकिया का प्रदेश इस समय आस्ट्रियन साम्राज्य के अन्तर्गत था, और उसके राष्ट्रवादी नेता महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर अपने देश की स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थे। आस्ट्रियन सेना के चेकोस्लोवाक सैनिकों की सहानुभूति स्वाभाविक रूप से अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के साथ में थी। जब रूस में बोल्शेविक क्रान्ति के कारण अव्यवस्था और अराजकता फैल गई, तो इन चेकोस्लोवाक सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया, और जून, १९१८ में ब्लादीवोस्तोक पर कब्जा कर लिया। इस स्थिति में मित्रराष्ट्रों ने यह आवश्यक समझा, कि ब्लादीवोस्तोक को अपने अधिकार में ले आयें, ताकि जर्मन या बोल्शेविक सेनाएं चेकोस्लोवाक सैनिकों से इस बन्दरगाह को न छीन सकें। अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाएं ब्लादीवोस्तक पहुंच गईं। जब यह समाचार जापान को मिला, तो उसने भी अपनी एक अच्छी बड़ी सेना वहां भेज दी। इस जापानी सेना के सैनिकों की संख्या ७२,००० थी। इतनी बड़ी सेना को ब्लादीवोस्तोक भेजने का यही प्रयोजन था, कि जापान पूर्वी साइबीरिया पर भी अपने प्रभुत्व की स्थापना कर ले। यद्यपि इस प्रयत्न में अमेरिका ने उसका विरोध किया, पर साइबीरिया के क्षेत्र में जापान और अमेरिका को परस्पर संघर्ष करने की कोई आवश्यकता नहीं हुई, क्योंकि शीघ्र ही बोल्शेविक सेनाओं ने इस प्रदेश पर अपने आधिपत्य को स्थापित कर लिया, और रूसी सोवियत संघ के अन्तर्गत रूप से साइबीरिया में एक रिपब्लिक का संगठन कर लिया गया। उत्तरी मंचूरिया और पूर्वी साइबीरिया में जापान अपना प्रभुत्व नहीं स्थापित कर सका, पर महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर वह अपने साम्राज्य-विस्तार के लिये कितना अधिक प्रयत्नशील था, यह इन दो घटनाओं से भली-भांति स्पष्ट हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेरिस की शान्ति परिषद्—महायुद्ध की समाप्ति पर सन्धि की शर्तें तय करने के लिए पेरिस में शान्ति-परिषद् का आयोजन किया गया। इस परिषद् में चीन के प्रतिनिधि ने यह मांग की, कि शांतुंग प्रान्त में जर्मनी को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे और जिन्हें युद्ध के समय जापान ने हस्तगत कर लिया था, वे अब चीन को वापस मिल जाएं। पर जापान के प्रतिनिधि का यह दावा था, कि पूर्वी एशिया से जर्मन प्रभुत्व का अन्त करने के लिए जापान ने जो कुर्बानियां की हैं, उनका प्रतिफल उसे यह मिलना चाहिये, कि शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों को स्वीकृत कर लिया जाए। साथ ही, उत्तरी प्रशान्त महासागर के जो द्वीप पहले जर्मनी के कब्जे में थे, उन पर भी जापान का प्रभुत्व स्वीकृत किया जाए। अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन जापान की इन दोनों मांगों के विरोध में थे। पर अन्य मित्र-राष्ट्र जापान के पक्षपाती थे। इसके कारण को स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। फ्रांस, ब्रिटेन और इटली १९१७ में जापान के साथ गुप्त सन्धियां कर चुके थे, और उन्होंने जापान के दावे का समर्थन करने का वचन दिया हुआ था। परिणाम यह हुआ, कि चीन के प्रतिनिधि को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हो सकी। वर्साय की सन्धि द्वारा शांतुंग प्रान्त में जापान के विशेषाधिकारों को स्वीकृत कर लिया गया, और प्रशान्त महासागर के विविध द्वीप (जो पहले जर्मनी के अधीन थे) भी राष्ट्र-संघ की ओर से जापान को शासन के लिये दे दिए गये। इसी कारण चीन के प्रतिनिधि ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया था।

वाशिंगटन कान्फरेन्स—संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रयत्न से १९२१--२२ में वाशिंगटन में एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें मुख्य विचारणीय प्रश्न निम्नलिखित थे—(१) सैन्यशक्ति और विशेषतया जल-सेना में कमी करना, ताकि विविध राज्य जिस ढंग से अपनी सैन्यशक्ति पर अमर्यादित रूप से खर्च करने में तत्पर थे, उसमें कमी की जा सके। (२) पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में विविध राज्यों और विशेषतया अमेरिका तथा जापान में जो विरोध था, उसे दूर करना।

वाशिंगटन कान्फरेन्स के सम्बन्ध में हम ग्यारहवें अध्याय में भी प्रकाश डाल चुके हैं। उसके जिन निर्णयों का जापान के साथ सम्बन्ध था, वे निम्नलिखित हैं—(१) जल-सेना के सम्बन्ध में अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली ने परस्पर मिलकर यह समझौता किया, कि इन राज्यों के जहाजों में क्रमशः ५, ५, ३, १·७५ और १·७५ का अनुपात हो। अभिप्राय यह है, कि यदि अमेरिका की जल-सेना में जहाजों की संख्या ५ हो, तो संख्या में ब्रिटेन के जहाज ५, जापान के ३, फ्रांस के १·७५ और इटली के १·७५ हों। जहाजों के इस अनुपात के लिए जहाजों के कुल वजन (टनेज) को आधार माना गया। संख्या के स्थान पर टनेज को अनुपात का आधार मानने के कारण यह व्यवस्था की गई, कि यदि अमेरिका की नेवी के जहाजों का कुल वजन ५०,००,००० टन हो, तो ब्रिटेन के कुल जहाजों का टनेज भी ५०,००,००० टन हो। उस दशा में जापान के जहाज वजन में ३०,००,००० टन होंगे, और फ्रांस तथा इटली में प्रत्येक के १७, ५०,००० टन। नेवी के सम्बन्ध में निर्धारित किया गया यह अनुपात जापान के लिए अत्यन्त लाभदायक था। इसके कारण जापान के लिये यह तो सम्भव नहीं था, कि वह अमेरिका या ब्रिटेन पर आक्रमण कर सके। इसकी उसे कोई इच्छा भी नहीं थी। पर यदि अमेरिका और ब्रिटेन पूर्वी एशिया में जापान के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबिला करने के लिए उस पर हमला करने का प्रयत्न करते, तो उनकी सम्मिलित शक्ति भी जापान को परास्त करने के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती थी। जापान पर हमला करने के लिए अमेरिकन जल-सेना हवाई द्वीप को आधार के तौर पर प्रयुक्त कर सकती थी, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटेन की जल-सेना सिंगापुर को। पर हवाई और सिंगापुर जापान से इतनी अधिक दूरी पर हैं, कि वहां से उनकी नेवी जापान को सुगमता से परास्त नहीं कर सकती थी। ५, ५ और ३ के अनुपात को स्वीकार करते हुए जापान ने इस बात पर जोर दिया, कि वह प्रशान्त महासागर में स्थित विविध द्वीपों (जो उसकी अधीनता में थे) में किलाबन्दी कर सके। हम पहले लिख चुके हैं, कि कुरील, बोनिन, मारआना, मार्शल आदि अनेक द्वीप-समूहों पर जापान का प्रभुत्त्व था। ये विविध द्वीप-समूह जापान के उत्तर-पूर्व और दक्षिण में इस ढंग से फैले हुए हैं, कि यदि इन्हें सैनिक दृष्टि से दुर्ग के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, तो इनमें स्थित जापानी जल-सेना सुगमता के साथ शत्रु-राज्यों की जल-सेना का मुकाबिला कर सकती है। अमेरिका और ब्रिटेन ने जापान की इस मांग को स्वीकृत नहीं किया। इस पर जापान ने यह मांग की, कि अमेरिका और ब्रिटेन भी अपने उन प्रदेशों और द्वीपों में किलाबन्दी न कर सकें, जो प्रशान्त महासागर में स्थित हैं। जापान की यह मांग स्वीकृत कर ली गई, और यह निश्चय किया गया कि अमेरिका फिलीप्पीन, गुआन और अल्यूतियन द्वीपों में किलाबन्दी न कर सके। पर हवाई द्वीप में उसे किलाबन्दी करने का अधिकार दे दिया गया। ब्रिटेन के हाथ में हांगकांग आदि जो विविध प्रदेश और द्वीप प्रशान्त महासागर में थे, उनमें उसे भी किलाबन्दी करने का अधिकार नहीं मिला। पर सिंगापुर में वह अपनी जल सेना का अड्डा बना सकता था। इस प्रकार हवाई और सिंगापुर—ये दो ही ऐसे स्थान थे, जहां अमेरिका और ब्रिटेन अपनी जलशक्ति को केन्द्रित कर सकते थे। पर ये स्थान जापान से इतनी अधिक दूरी पर हैं, कि इनको आधार बनाकर जापान को परास्त कर सकना सम्भव नहीं था। इस स्थिति में ब्रिटेन और अमेरिका की सम्मिलित जलशक्ति (१०) के मुकाबिले में जापान की जलशक्ति (३) बहुत पर्याप्त थी। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों की किलाबन्दी करने का अधिकार जापान को नहीं दिया गया था, इस कारण जापान के लिये भी यह सुगम नहीं था, कि वह ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि उपनिवेशों पर आक्रमण कर उन्हें अपनी अधीनता में ला सके।

(२) जल-सेना को सीमित करने के सम्बन्ध में जो समझौता अमेरिका, ब्रिटेन, जापान, फ्रांस और इटली के बीच में हुआ, उसकी अवधि ३१ दिसम्बर, १९३६ तक नियत की गई। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि इस तिथि से दो साल पूर्व यदि कोई एक राज्य भी इस समझौते का अन्त करने का नोटिस दे दे, तो यह समझौता ३१ दिसम्बर, १९३६ के बाद जारी नहीं रहेगा। २९ दिसम्बर, १९३४ को जापान ने इस व्यवस्था का उपयोग कर वाशिंगटन कान्फ्रेन्स के इस महत्त्वपूर्ण समझौते का अन्त कर देने का वाकायदा नोटिस दे दिया था, और इसके परिणामस्वरूप १ जनवरी, १९३७ को इस समझौते का अन्त हो गया। १९३७ से जापान ने अपनी जल-सेना की वृद्धि के लिये असाधारण रूप से उपक्रम प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन और अमेरिका भी इस क्षेत्र में जापान से पीछे नहीं रहे, और वे भी अपनी जल-सेनाओं की वृद्धि के लिये तत्पर हो गए। १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध के सूत्रपात में इन राज्यों की प्रतिस्पर्धा भी एक महत्त्वपूर्ण कारण थी।

(३) वाशिंगटन कान्फरेन्स ने चीन के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की थी, उसका उल्लेख हम ग्यारहवें अध्याय में, विशद रूप से कर चुके हैं उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इतना लिख देना ही पर्याप्त होगा, कि इस व्यवस्था के कारण शांतुंग प्रान्त में चीन का प्रभुत्त्व पुनःस्थापित हुआ, और महायुद्ध के अवसर पर इस क्षेत्र में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान ने जो अनेक विशेषाधिकार प्राप्त कर लिए थे, उनका उसने बहुत अंशों में परित्याग कर दिया।

(४) १९०२ में ब्रिटेन और जापान में जो सन्धि हुई थी, उसके स्थान पर अब चार राज्यों की एक नई सन्धि की गई, जिस पर अमेरिका, ब्रिटेन, जापान और फ्रांस ने हस्ताक्षर किये। इस सन्धि द्वारा इन चारों राज्यों ने यह निश्चय किया, कि पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जो प्रदेश और द्वीप जिस किसी राज्य के हाथों में इस समय हैं, उन पर उन्हीं राज्यों का अधिकार स्वीकृत किया जायगा और यदि इन चारों राज्यों द्वारा अधिकृत प्रदेशों के सम्बन्ध में कोई विवाद किन्हीं दो राज्यों में उठ खड़ा हो, तो उसका फैसला वे राजनय (डिप्लोमेसी) द्वारा करने का यत्न करेंगे। यदि राजनय द्वारा फैसला कर सकने में वे समर्थ न हों, तो चारों राज्यों की कान्फरेन्स बुलाकर उसमें ऐसे विवाद का फैसला किया जायगा। यह भी व्यवस्था की गई, कि यह सन्धि दस साल तक स्थिर रहेगी, और इस अवधि के समाप्त होने से पहले चारों राज्यों को अधिकार होगा, कि बारह महीने का नोटिस देकर वे इस सन्धि का अन्त कर सकें। किसी एक राज्य द्वारा दिया गया नोटिस भी संधि के अन्त के लिये पर्याप्त समझा जायगा।

(५) पनडुब्बियों की संख्या को नियन्त्रित करने और जहरीली गैसों के इस्तेमाल को रोकने के सम्बन्ध में भी वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा अनेक महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएं की गईं।

इसमें सन्देह नहीं, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित रखने में बहुत अधिक सहायक हुई। इस क्षेत्र में अमेरिका और जापान के हित एक-दूसरे के साथ टकराते थे। प्रशान्त महासागर के पूर्व में अमेरिका की स्थिति है, और पश्चिम में जापान की। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अमेरिका और जापान दोनों ही अत्यन्त प्रबल व शक्तिशाली राज्य बन गये थे। इस दशा में प्रशान्त महासागर के सम्बन्ध में इन दो शक्तिशाली राज्यों में परस्पर हित-विरोध की उत्पत्ति अस्वाभाविक नहीं थी। पेरिस की शान्ति परिषद् में अमेरिका और जापान का विरोध अनेक बार प्रकट हुआ था। इस दशा में वाशिंगटन कान्फरेन्स के निर्णयों द्वारा इन राज्यों के विरोध के दूर होने में बहुत सहायता मिली।

(६) १९२२ से १९३१ तक जापान की विदेशी राजनीति

एशिया के आधुनिक इतिहास में सन् १९३१ से एक नये युग का प्रारम्भ होता है। इस साल जापान ने अपने साम्राज्य-विस्तार की उस प्रक्रिया को प्रारम्भ किया था, जिसके कारण सन् १९४२ तक उसने सम्पूर्ण पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध के समय से जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करना शुरू किया था। १९२२ में वाशिंगटन कान्फरेन्स के समय तक जापान अपने उद्देश्य में किस हद तक सफल हो चुका था, इस विषय पर हम प्रकाश डाल चुके हैं। अब हमें यह प्रदर्शित करना है, कि १९२२ से १९३१ तक साम्राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में जापान की क्या नीति रही।

१९१४-१८ के महायुद्ध द्वारा संसार में आधुनिक युग की नवीन प्रवृत्तियों को बहुत बल मिला था। इस युद्ध के परिणाम-स्वरूप यूरोप में जर्मनी के होहेन्ज़ोलर्न, आस्ट्रिया-हंगरी के हाप्सबुर्ग और रूस के रोमनोफ राजवंशों का अन्त हुआ। फ्रांस के बूर्बों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजवंश के समान ये तीनों भी यूरोप के अत्यन्त प्राचीन व वैभवशाली राजवंश थे। साथ ही, इस समय यूरोप में अनेक नये राज्यों की स्थापना हुई, जिनका आधार राष्ट्रीयता का सिद्धान्त था। चेकोस्लोवाकिया, पोलैन्ड, युगोस्लाविया आदि के रूप में जो अनेक नये राज्य इस समय बने थे, वे राष्ट्रीयता की विजय के स्पष्ट प्रमाण थे। साथ ही, जहां इन नये राज्यों में लोकतन्त्र रिपब्लिकों की स्थापना हुई थी, वहां जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, रूस आदि पुराने राज्यों में भी लोकतन्त्र शासनों का सूत्रपात हुआ था। राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की लहर केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रही थी। भारत में इस समय असहयोग आन्दोलन ने ब्रिटिश शासन की स्थिति को बहुत कुछ डांवाडोल कर दिया था। तुर्की में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में सुलतान के शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी। चीन में विद्यार्थी आन्दोलन ने इतना प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था, कि शंघाई आदि नगरों में विदेशी लोगों का जीवन सुरक्षित नहीं रह गया था। महायुद्ध के बाद का काल साम्राज्य-विस्तार के लिये अनुकूल नहीं था। राष्ट्रपति विलसन के नेतृत्व में राष्ट्रसंघ द्वारा जो नये आदर्श प्रतिपादित किये जा रहे थे, वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद को बहुत महत्त्व देते थे। इस दशा में जापान जैसे साम्राज्यवादी देश के लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वह समय की प्रवृत्ति के विपरीत चीन में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने के लिये प्रयत्नशील हो सके। वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान ने जो शांतुंग प्रान्त में अपने विशेषाधिकारों के परित्याग की बात को स्वीकार कर लिया था, उसमें समय का प्रभाव प्रधान कारण था। इसी कारण जापान ने १९२२ में ब्लादीवोस्तोक से अपनी सेनाओं को वापस हटाने की बात भी स्वीकार कर ली थीं, और उत्तरी मञ्चूरिया के मामले में भी उसने अमेरिका के साथ समझौता कर लिया था। चीन में विद्यार्थी आन्दोलन जिस प्रकार उग्र रूप धारण कर रहा था, उसे दृष्टि में रखते हुए जापान ने यह भली-भांति समझ लिया था, कि यह समय साम्राज्य-विस्तार के लिये अनुकूल नहीं है। जब कुओमिन्तांग दल की शक्ति चीन में बढ़नी शुरू हुई, तो जनता में राष्ट्रीय भावनाओं का बड़ी प्रबलता के साथ सञ्चार हुआ। चीन की यह राष्ट्रीयता विदेशियों के प्रति विद्वेष की भावना से परिपूर्ण थी। इसीलिये जब कुओमिन्तांग दल की सेनाओं ने कैन्टन से उत्तर की ओर बढ़ना शुरू किया, तो उन्होंने विदेशी लोगों पर कई स्थानों पर आक्रमण किये। मार्च, १९२७ में जब चियांग काई शेक की सेनाएँ नानकिंग में प्रविष्ट हुईं, तो उन्होंने जापानी दूतावास पर हमला किया, और अनेक जापानी नागरिक उनके क्रोध के शिकार बने। हैंको आदि अन्य नगरों में भी जापानी और अन्य विदेशियों पर इसी तरह के आक्रमण हुए। इस समय जापानी, ब्रिटिश, फ्रेंच आदि सरकारें जो चीन की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को कुचलने के लिये अपनी प्रबल सैन्य-शक्ति का उपयोग नहीं कर सकीं, उसका मुख्य कारण यही था, कि इस समय सर्वत्र राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद का जोर था। विदेशी लोग अनुभव करते थे, कि चीनी राष्ट्रवादियों के विरुद्ध उग्र उपायों के अवलम्बन का यह परिणाम होगा, कि संसार का लोकमत उनके खिलाफ हो जायगा। इसी का यह परिणाम था, कि कुओमिन्तांग सरकार अपने देश से विदेशियों के प्रभुत्व को दूर कर सकने में बहुत अंशों तक सफलता प्राप्त करने में समर्थ हुई थी।

पर इससे यह नहीं समझना चाहिये, कि चीन से विदेशी प्रभाव व प्रभुत्व का पूर्णतया अन्त हो गया था। विदेशी नागरिकों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के अधिकार अब भी प्राप्त थे। जापान भी ब्रिटेन, फ्रांस, और अमेरिका आदि के समान इनका उपभोग करता था। कोरिया तो पूर्ण रूप से जापान के प्रभुत्व में था ही, मञ्चूरिया में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अपने आर्थिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व का विस्तार करने में तत्पर था। मञ्चूरिया के सिपहसालार चांग त्सो-लिन के साथ जापानी सरकार का समझौता हो चुका था। यह शक्तिशाली सिपहसालार जापानियों के आर्थिक प्रभुत्व का विरोध नहीं करता था। साथ ही, उसे इस बात में भी कोई आपत्ति नहीं थी, कि रेलवे के क्षेत्र में जापानी लोग अपने राजनीतिक व सैनिक प्रभुत्व को भी कायम रखें। चांग त्सो-लिन पेकिंग की केन्द्रीय सरकार के झगड़ों में इतना व्यस्त था, कि अपने प्रदेश में विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव की ओर ध्यान देने की उसे फुरसत ही नहीं थी। पर जापानी लोग भली-भांति समझते थे, कि चांग त्सो-लिन जैसे शक्तिशाली सिपहसालार के रहते हुए मञ्चूरिया में उनका मार्ग सर्वथा सुरक्षित नहीं रह सकता। जून, १९२८ में जिस प्रकार एक बम्ब द्वारा अकस्मात् चांग त्सो-लिन का देहावसान हो गया था, उसे दृष्टि में रखकर अनेक ऐतिहासिकों का विचार है, कि उसकी मृत्यु में जापानी लोगों का हाथ था। कुछ समय बाद ही (१९३१ में) जापानी लोगों ने मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व को पूर्ण रूप से स्थापित करने के प्रयत्न को प्रारम्भ कर दिया, और उस प्रदेश में मञ्चूकुओ नाम से एक पृथक् राज्य की स्थापना की। मञ्चूकुओ राज्य जापान की संरक्षा में कायम हुआ था, और चीन के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि १९२२ के १९३१ तक जापान ने अपने साम्राज्य के प्रसार के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया। इस समय जापान के आन्तरिक शासन में भी लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी, और जनता पार्लियामेन्टरी शासन की स्थापना में तत्पर थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जापान साम्राज्य-विस्तार के कार्य पर विशेष ध्यान न दे सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौदहवां अध्याय

जापान की प्रगति

(१) राजनीतिक इतिहास

१८९५ से १९३० तक जापान ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये जो प्रयत्न किये, उनका विवरण हम पिछले अध्यायों में दे चुके हैं। पर इस काल में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में जो उन्नति जापान ने की, उसका उल्लेख हमने अभी तक नहीं किया है। इस अध्याय में हम इसी विषय पर प्रकाश डालेंगे।

जापान के राजनीतिक इतिहास के सम्बन्ध में जिन बातों पर हमें विशेष रूप से प्रकाश डालना है, वे ये हैं कि इस काल में जापान के शासन में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का किस प्रकार प्रयोग किया गया, किस प्रकार वहां राजनीतिक दलों का विकास हुआ, और जापानी सरकार ने अपने देश की उन्नति के लिये किन उपायों को प्रयुक्त किया। शोगून शासन का अन्त होने के बाद किस प्रकार जापान में सम्राट् की सत्ता की पुनः स्थापना हुई थी, और किस प्रकार वहां संविधान का निर्माण होकर पार्लियामेन्ट द्वारा शासन का सूत्रपात किया गया था, इस विषय पर पहले विचार किया जा चुका है। १८९२ से १९३० तक जहां जापान एक ओर पाश्चात्य देशों के अनुकरण में पार्लियामेन्टरी शासन के विकास में तत्पर था, वहां उसने अपनी प्राचीन परम्पराओं का भी त्याग नहीं कर दिया था। सम्राट् के प्रति दैवी भावना और उसका असाधारण सम्मान अब भी जनता में विद्यमान था। पाश्चात्य देशों के सुधारवादी व क्रान्तिकारी विचारक जिस प्रकार अपने देशों के प्राचीन राजवंशों का मूलोच्छेद करके रिपब्लिकों की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, वैसा कोई यत्न जापान में नहीं हुआ। जापान ने पाश्चात्य देशों के ज्ञान-विज्ञान को पूर्ण रूप से अपनाया, अपनी सैनिक शक्ति को भी पाश्चात्य राज्यों के समकक्ष कर लिया, पर उसने अपनी परम्परागत विशेषताओं को कायम रखा। सम्राट् के प्रति भक्ति भी उसकी इन विशेषताओं में से एक थी। सम्राट् के प्रति भक्ति की भावना के कारण जापानी लोगों ने शासनसूत्र का संचालन भी उसी के हाथों में रखा हो, यह बात नहीं थी। यद्यपि सरकार का सब काम सम्राट् के नाम पर होता था, पर वह स्वयं शासन का संचालन नहीं करता था। ज्यों-ज्यों जापान में पार्लियामेन्ट की शक्ति बढ़ती गई, सरकार पर राजनीतिक दलों के नेताओं का प्रभाव भी बढ़ता गया। पर पार्लियामेन्ट की शक्ति के विकास में जापान में कम समय नहीं लगा। संविधान की स्थापना के साथ ही ऐसे मन्त्रिमण्डलों का निर्माण नहीं हो गया, जो कि पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हों। क्योंकि संविधान के अनुसार मंत्रिमण्डल पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी न होकर सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होता था, अतः राजदरबार में जिन लोगों का प्रभाव हो, स्वाभाविक रूप से वे ही मंत्रिमण्डल के निर्माण में महत्वपूर्ण स्थान रखते थे। यद्यपि शोगून शासन के अन्त के बाद जापान में सामन्तपद्धति की भी समाप्ति कर दी गई थी, पर बड़े-बड़े सामन्त-राजाओं की शक्ति अभी सर्वथा नष्ट नहीं हुई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्सुमा और चोशू जैसे शक्तिशाली कुलों के नेता राजदरबार में बहुत अधिक प्रभाव रखते थे, और वे मन्त्रिमण्डल के निर्माण, स्थिति और पतन के मामलों में खुले रूप से हस्तक्षेप किया करते थे।

शक्तिशाली कुलों के अतिरिक्त स्थल और जलसेनाओं के सेनापतियों का भी शासन में अतुल प्रभाव था। इसके दो कारण थे। १८८९ की एक राजाज्ञा के अनुसार युद्ध-मन्त्री और जलसेना के मन्त्री को यह अधिकार दिया गया था, कि वे सम्राट् से सीधे मिल सकें। उनके लिये यह आवश्यक नहीं था, कि वे युद्ध और सेना सम्बन्धी मामलों पर पहले प्रधानमन्त्री के साथ परामर्श करें, और फिर प्रधानमन्त्री की मार्फत ही सम्राट् से मिलकर राजकीय आदेश को प्राप्त करें। इस व्यवस्था के कारण युद्धमन्त्री और जलसेनामन्त्री को मन्त्रिमण्डल में ऐसी स्थिति प्राप्त थी, जिसके कारण वे अपने को प्रधानमन्त्री के अधीन न समझकर उसका समकक्ष मानते थे। १८९८ में एक अन्य राजाज्ञा प्रकाशित हुई, जिसके अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि युद्धमन्त्री के पद पर केवल ऐसे ही व्यक्ति को नियत किया जायगा, जो स्वयं उच्च सैनिक पद पर रह चुका हो। इसी प्रकार जलसेना-मन्त्री भी ऐसा ही व्यक्ति नियत हो सकेगा, जो जलसेना में ऊच्च पदाधिकारी रह चुका हो। क्योंकि युद्ध-मन्त्री और जलसेना-मन्त्री को क्रमशः स्थल और जल-सेनाओं की व्यवस्था करनी होती थीं, और इन पदों पर ऐसे ही व्यक्तियों की नियुक्ति हो सकती थी, जो कि स्वयं उच्च सैनिक अफसर रह चुके हों, अतः स्वाभाविक रूप से इन मन्त्रियों की नियुक्ति के समय स्थल और जल सेनाओं के उच्च पदाधिकारियों की सम्मति को महत्त्व दिया जाता था। युद्ध-मन्त्री और जलसेना-मन्त्री के पदों पर केवल ऐसे ही व्यक्ति नियत किये जाते थे, जिन्हें सैनिक अफसर चाहते हों और जिनसे सेना की उन्नति और हित का सम्पादन होने की आशा हो। १८९८ की इस राजाज्ञा का यह परिणाम हुआ, कि मन्त्रिमण्डल में सेना का प्रभाव बहुत बढ़ गया। ये सैनिक मन्त्री सीधे सम्राट् से मिल सकते थे, अन्य मन्त्रियों की अपेक्षा किये बिना सम्राट् की सहमति से किसी भी निर्णय पर पहुँच सकते थे, और इनके निर्णय मन्त्रिमण्डल को स्वीकार करने ही पड़ते थे, चाहे वे उन्हें स्वीकार्य न भी समझते हों। इस दशा में जापान का मन्त्रिमण्डल उन अर्थों में लोकतन्त्र प्रभावों के अधीन नहीं था, जैसा कि आधुनिक युग के लोकतन्त्र राज्यों में होता है।

पार्लियामेन्टरी शासन और राजनीतिक दलों का निर्माण—पुराने सामन्त कुल, सम्राट् की दैवी सत्ता और सैनिक नेताओं का महत्त्व—ये तीन तत्व ऐसे थे, जो जापान में लोकतन्त्र पार्लियामेंटरी शासन के विकास में बाधक थे। पर इन तत्त्वों के बावजूद भी जापान में ऐसे राजनीतिक दलों का विकास हो रहा था, जो पार्लियामेंट के शासन के पक्षपाती थे। यहां यह सम्भव नहीं है, कि हम इन राजनीतिक दलों, इनके द्वारा निर्मित मंत्रिमण्डलों और लोकतन्त्र शासन के लिये किये गये प्रयत्नों पर संक्षिप्त रूप से भी प्रकाश डाल सकें। इस सम्बन्ध में जापान में जो प्रयत्न हुए, उनका निर्देश कर देना ही इस ग्रन्थ के लिये पर्याप्त होगा। जापान में राजनीतिक दलों का निर्माण १८८१ में ही प्रारम्भ हो गया था। शुरू में वहां जो दल संगठित हुए, वे दो थे—जियुतो दल और कैशुन्तो दल। जियुतो दल का नेता काउण्ट इतागाकी था। यह दल उदार विचारों का पक्षपाती था और इसके विचार प्रायः वैसे ही थे, जैसे कि इस युग में पाश्चात्य देशों के लिबरल दलों के थे। कैशुन्तो दल का नेता काउण्ट ओकुमा था। विचारों की दृष्टि से यह दल जियुतो दल की अपेक्षा अधिक सनातनवादी (कन्जर्वेटिव) था। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इन दोनों दलों का संगठन विचारों व सिद्धान्तों के आधार पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उतना नहीं हुआ था, जितना कि प्रभावशाली व्यक्तियों के नेतृत्व के कारण। इतागाकी और ओकुमा जापान के अत्यन्त प्रभावशाली नेता थे, और उन्होंने ही अपने नेतृत्व में इन दलों का संगठन किया था। जियुतो और कैशुन्तो--दोनों ही दल यह चाहते थे, कि जापान में पुरानी सामन्तपद्धति का पूर्ण रूप से विनाश हो, जागीरदार कुलों की शक्ति का ह्रास हो, और प्रतिनिधिसत्तात्मक लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो। विचार और कार्यक्रम में बहुत कम भेद होते हुए भी ये दोनों दल १८९८ तक पृथक् रूप से कायम रहे। इसका कारण यही था, कि इतागाकी और ओकुमा जैसे शक्तिशाली नेताओं के लिये एक साथ मिलकर कार्य कर सकना सुगम नहीं था।

संविधान के लागू होने (१८८९) के पश्चात् जापान में जो मंत्रिमण्डल यामागाता, (दिसम्बर, १८८९), मत्सुकाता (मई, १८९१) और इतो (अगस्त, १८९२) के नेतृत्व में बने, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। जब १८९४ में चीन-जापान का युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो प्रिंस इतो का मंत्रिमण्डल विद्यमान था। इतो ने प्रयत्न किया, कि युद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर विविध राजनीतिक दल अपने मतभेदों की उपेक्षा कर दें और सब मिलकर युद्ध में सहयोग दें। जापानी लोगों में देशभक्ति और राष्ट्रीयता के विचार कूट-कूटकर भरे हुए थे। परिणाम यह हुआ, कि चीन-जापान युद्ध (१८९४-९५) के अवसर पर सब राजनीतिक दलों ने दिल खोलकर इतो की सहायता की। पर युद्ध के समाप्त हो जाने पर पार्लियामेंट में इतो का विरोध बहुत प्रबल हो गया। इस दशा में उसे प्रधानमंत्री के पद से त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़ा। १८९६ के शुरू में कैशिन्तो दल के नेता काउण्ट ओकुमा ने नये मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। इस समय ओकुमा ने अपने दल की शक्ति को बहुत अधिक बढ़ा लिया था। कैशिन्तो दल के पुराने सदस्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य लोगों को अपने साथ मिलाकर उसने एक नये दल का संगठन किया था, जिसे शिम्पोतो दल (प्रगतिशील दल) कहते थे। इस नये दल का मुख्य कार्यक्रम यह था, कि मंत्रिमण्डल पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी हो। ओकुमा जापान में उसी ढंग का उत्तरदायी पार्लियामेंटरी शासन स्थापित करना चाहता था, जैसा कि ब्रिटेन में विद्यमान था। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। वह जिन लोगों के सहयोग से कार्य कर रहा था, उनमें बहुत-से पुराने जागीरदार कुलों के साथ सम्बन्ध रखते थे। सत्सुमा और चोशू कुलों के सहयोग के बिना ओकुमा के लिये सफल हो सकना सम्भव नहीं था, और इन कुलों के लोग पार्लियामेंटरी शासन के विकास में अपनी शक्ति का ह्रास अनुभव करते थे। परिणाम यह हुआ, कि एक साल के बाद उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

अब (१८९७) इतो एक बार फिर प्रधानमंत्री के पद पर अधिष्ठित हुआ। शिम्पोतो और जियुतो दोनों दल उसके विरोध में थे। इस समय जापान की पार्लियामेंट में एक नया दल संगठित हुआ, जिसे केन्सेईकाई (संविधानवादी) कहते थे। यह दल भी पार्लियामेंटरी शासन का पक्षपाती था। केन्सेईकाई दल में जहाँ शिम्पोतो और जियुतो दल सम्मिलित थे, वहां अन्य भी अनेक ऐसे व्यक्ति शामिल हो गये थे, जो उत्तरदायी पार्लियामेंटरी शासन के पक्षपाती थे। इतने लोगों के शामिल हो जाने के कारण केन्सेईकाई दल की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और प्रिन्स इतो के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह सरकार का संचालन कर सके; परिणाम यह हुआ कि विवश होकर उसने त्यागपत्र दे दिया।

प्रिंस इतो ने प्रधानमंत्री के पद से त्यागपत्र देते हुए सम्राट् को परामर्श दिया, कि केन्सेईकाई दल के नेताओं को मंत्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया जाय। जापान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इतिहास में यह सर्वथा नई बात थी। संविधान के निर्माण में प्रिंस इतो का प्रमुख कर्तृत्व था। जब उसने स्वयं केन्सेईकाई दल के मंत्रिमन्डल की सिफारिश की, तो इससे यही सूचित होता था, कि उसने उत्तरदायी पार्लियामेंटरी शासन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया है। क्योंकि जापान की पार्लियामेंट में बहुमत केन्सेईकाई दल का था, अतः यही उचित भी था कि वही दल मंत्रिमण्डल का निर्माण करे। १८९८ में इस दल ने अपना मंत्रिमण्डल बनाया, और उसमें ओकुमा और इतागाकी दोनों मंत्री रूप से सम्मिलित हुए। पर यह मंत्रिमण्डल भी देर तक कायम नहीं रह सका। चार मास बाद ही इसे त्यागपत्र दे देने के लिए विवश होना पड़ा। इसका कारण यह था, कि केन्सेईकाई दल का निर्माण अनेक पुराने दलों (जियुतो, शिम्पोतो आदि) के सम्मिलन से हुआ था। सरकार के संचालन-कार्य को हाथ में लेते ही इन पुराने दलों के भेदभाव फिर प्रकट होने लगे, और इनके नेताओं के लिए साथ मिलकर कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा। काउण्ट ओकुमा ने इस दल से पृथक् होकर अपने पुराने शिम्पोतो दल का पुनःसंगठन किया। पर काउण्ट इतागाकी ने जियुतो दल का पुनरुद्धार नहीं किया, अपितु केन्सेईकाई दल में रहकर ही अपने अनुयायियों के संगठन को कायम रखा। लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार उत्तरदायी पार्लियामेंटरी शासन की स्थापना का जो प्रथम प्रयत्न जापान में किया गया था, वह असफल हो गया।

अब नया मंत्रिमण्डल मार्क्विस यामागाता के नेतृत्व में बना। यद्यपि इसे पुराने जागीरदार कुलों का सहयोग प्राप्त था, पर पार्लियामेंट का बहुमत इसके पक्ष में नहीं था। केन्सेईकाई दल इसका समर्थक था, पर पार्लियामेंट में अब इस दल का बहुमत नहीं रहा था। १८९० में यामागाता को भी अपने पद से त्यागपत्र दे देना पड़ा।

अब प्रिंस इतो ने एक बार फिर मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। इस बार उसने यह यत्न किया, कि पार्लियामेंट के बहुसंख्यक सदस्यों का सहयोग प्राप्त करे। उसने सैयुकाई नाम से एक नये दल का संगठन किया। केन्सेईकाई दल (जो पुराने जियुतो दल का उत्तराधिकारी था) के लोग इसमें शामिल हो गये। प्रिंस इतो के वैयक्तिक प्रभाव के कारण पार्लियामेंट के अन्य भी अनेक सदस्य सैयुकाई दल में सम्मिलित हुए, और पार्लियामेंट के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर प्रिंस इतो अपना मंत्रिमण्डल बना सकने में समर्थ हुआ। पर इतो यह नहीं चाहता था, कि मंत्रिमण्डल अपनी स्थिति के लिये पार्लियामेंट के बहुमत पर निर्भर रहे। उसने घोषणा की, कि संविधान के अनुसार मंत्रियों को नियुक्त करना सम्राट् के अधिकार में है, और मंत्री लोग तब तक अपने पदपर रह सकते हैं, जब तक कि सम्राट् उन्हें पदच्युत न करे। इस घोषणा का परिणाम यह हुआ, कि पार्लियामेन्ट में काउन्ट ओकुमा के शिम्पोतो दल की शक्ति बहुत बढ़ गई, और लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती लोग सैयुकाई दल को छोड़कर शिम्पोतो दल में शामिल हो गये। इस स्थिति में प्रिंस इतो के लिये प्रधानमंत्री पद पर कायम रह सकना सम्भव नहीं रहा। मई, १९०१ में उसने त्यागपत्र दे दिया।

अब कत्सूरा नामक सेनापति के नेतृत्व में नया मन्त्रिमण्डल बना। कत्सूरा मार्क्विस यामागाता का अनुयायी था, और लोकतन्त्र शासन से उसे कोई प्रेम नहीं था। उसे स्थल और जलसेना की सहायता का पूरा भरोसा था, और इसीलिए उसने पार्लियामेंट के समर्थन की विशेष परवाह नहीं की। कत्सूरा न केवल एक योग्य सेनानी था, अपितु कुशल राजनीतिज्ञ भी था। १९०२ में जापान ने ब्रिटेन के साथ जो सन्धि की थी, वह कत्सूरा के मन्त्रिमण्डल की ही कृति थी। इसी के शासनकाल में रूस-जापान युद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९०४-५) हुआ। युद्ध की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर विविध राजनीतिक दलो ने मन्त्रिमण्डल को पूर्ण रूप से सहयोग दिया, और यही कारण है कि कत्सूरा का मन्त्रि-मण्डल अनेक वर्षों तक कायम रहा। रूस-जापान युद्ध में शुरू से ही जापानी सेनाओं को जो असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी, उसके कारण कत्सूरा मन्त्रिमण्डल जनता की दृष्टि में अत्यन्य महत्त्वपूर्ण कार्य में तत्पर था। पार्लियामेंट के विविध दलों ने जो उसका विरोध नहीं किया, उसका यही प्रधान कारण था।

रूस-जापान युद्ध की समाप्ति पर पोर्ट्समाउथ में सन्धि परिषद् का अधिवेशन हुआ था। पोर्ट्समाउथ की सन्धि की शर्तें अनेक जापानी नेताओं की दृष्टि में सन्तोष-जनक नहीं थीं। विशेषतया, रूस से हरजाना न लेकर कत्सूरा मन्त्रिमण्डल ने एक ऐसा कार्य किया था, जिससे जनता बहुत असंतुष्ट थी। इस दशा में कत्सूरा मन्त्रिमण्डल का विरोध बहुत बढ़ गया, और दिसम्बर, १९०५ में उसने त्यागपत्र दे दिया।

अब नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य प्रिंस सिओन्जी के सुपुर्द किया गया। यह प्रिंस इतो का अनुयायी था, और इस समय सैयुकाई दल का नेतृत्व कर रहा था। यद्यपि यह जापान के एक अत्यन्त उच्च कुल (फूजीवारा) के साथ सम्बन्ध रखता था, पर इसकी शिक्षा फ्रांस में हुई थी और उस देश के लोकतन्त्र विचारों के साथ सम्पर्क में आने के कारण वह स्वयं भी लोकतन्त्र का पक्षपाती बन गया था। कत्सूरा का सम्बन्ध जापान के सैनिक कुलों के साथ था, और वह लोकतन्त्रवाद का समर्थक नहीं था। इसके विपरीत प्रिंस सेओन्जी का सैनिक कुलों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, और फ्रांस के प्रभाव में रह चुकने के कारण वह लोकतन्त्रवाद का प्रबल समर्थक था। दिसम्बर, १९०५ से १९१३ तक जापान का प्रधानमन्त्री पद कभी सिओन्जी के हाथों में रहा, और कभी कत्सूरा के। आठ वर्ष के इस काल में दो बार सिओन्जी प्रधानमन्त्री बना और दो बार कत्सूरा। इस काल के इन मन्त्रिमण्डलों के सम्मुख मुख्य समस्या आर्थिक थी। रूस-जापान युद्ध में जापान को बहुत अधिक रुपया खर्च करना पड़ा था। यदि पोर्ट्समाउथ की सन्धि द्वारा रूस को हरजाना देने के लिए विवश किया जाता, तो जापान की आर्थिक समस्या हल हो सकती थी। पर हरजाना न लेने के कारण जापान की सरकार के सम्मुख यही एक उपाय था, कि टैक्स बढ़ाकर युद्ध की क्षति को पूरा किया जाय। व्यय में कमी इस-लिए सम्भव नहीं थी, क्योंकि इस समय जापान अपनी जल और स्थल सेनाओं पर अत्यधिक खर्च कर रहा था। वह साम्राज्य-प्रसार के लिए तत्पर था, और इसमें सफलता तभी सम्भव थी, जब उसकी सैन्यशक्ति अजेय हो।

कत्सूरा के त्याग-पत्र दे देने पर १९१३ में एडमिरल यामामोतो जापान का प्रधानमंत्री बना। पर उसका मन्त्रिमण्डल भी देर तक स्थिर नहीं रह सका। अब नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य काउन्ट ओकुमा के सुपुर्द किया गया। इस समय उसकी आयु ८० साल की थी। पर वह वैध शासन का प्रबल पक्षपाती था, और अपने सुदीर्घ राज-नीतिक जीवन में उसने कभी भी अपने राजनीतिक सिद्धान्तों में परिवर्तन नहीं किया था। सैयुकाई दल से उसे सहायता की आशा नहीं थी। क्योंकि इस समय पार्लियामेन्ट में सैयु-काई दल का बहुमत था, अतः काउन्ट ओकुमा ने ब्रिटिश पार्लियामेन्टरी शासन की पद्धति का अनुसरण कर पार्लियामेन्ट को भंग कर दिया, और नये निर्वाचन की व्यवस्था की। नई पार्लियामेन्ट में सैयुकाई दल का बहुमत नहीं रहा। ओकुमा ने कैन्सेईकाई दल का पुनःसंगठन किया। यह दल लोकतंत्र पार्लियामेन्टरी शासन का पक्षपाती था, और ओकुमा को इसका पूर्ण सहयोग प्राप्त था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९१४-१८ के महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय जापान में ओकुमा का ही मंत्रि-मण्डल विद्यमान था। उसी ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी, और जर्मन सेनाओं को परास्त कर शांतुंग प्रान्त में अपने विशेषाधिकारों की स्थापना कर ली थी। जापान की जिन २१ मांगों का उल्लेख पहले किया जा चुका है, उन्हें भी चीनी सरकार के सम्मुख ओकुमा मन्त्रिमण्डल द्वारा ही पेश किया गया था। ओकुमा स्वयं साम्राज्यवादी नहीं था। महायुद्ध के सम्बन्ध में भी वह उदार नीति का अनुसरण करना चाहता था। इसी-लिए महायुद्ध में शामिल होने के समय उसने घोषणा की थी, कि जापान साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण न करके अन्य राज्यों के अधिकारों का सम्मान करेगा। पर जापान में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से लाभ उठाकर साम्राज्य-विस्तार के इच्छुक थे। १९१५ के अन्त तक ये लोग इतने अधिक प्रबल हो गए थे, कि ओकुमा को त्यागपत्र दे देने के लिए विवश होना पड़ा।

अब नया मन्त्रिमण्डल बनाने कार्य का काउन्ट तेराउची के सुपुर्द किया गया। यह यामागाता का अनुयायी था, और कट्टर साम्राज्यवादी था। जापान के सैनिक नेताओं का समर्थन इसे प्राप्त था। महायुद्ध के अन्त तक तेराउची का मन्त्रिमण्डल ही जापान में कायम रहा। क्योंकि पार्लियामेन्ट में केन्सेईकाई दल का बहुमत था और यह दल उदार विचारों तथा लोकतन्त्रवाद का समर्थक था, अतः तेराउची ने पार्लियामेन्ट को भंग कर नये निर्वाचन की व्यवस्था की। युद्ध की परिस्थितियों के कारण जापान में सैनिक नेताओं का जोर था, अतः नये चुनाव में केन्सेईकाई दल को अधिक सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। अब तेराउची के लिए यह सर्वथा सुगम था, कि वह नवनिर्वाचित पार्लियामेन्ट का सहयोग भली-भांति प्राप्त कर सके।

महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति प्रबल हुई। जापान भी इस नई लहर से अछूता नहीं बच सका। साथ ही, इस समय सर्वत्र कीमतें भी बढ़ने लगीं। कीमतों में वृद्धि के कारण सर्वसाधारण जनता के लिए अपना निर्वाह कर सकना कठिन हो गया। मजदूरों में सर्वत्र असन्तोष बढ़ने लगा। जापान के व्यावसायिक केन्द्रों में भी मजदूरों द्वारा अनेक विद्रोह हुए। इस दशा में काउन्ट तेराउची का मन्त्रिमण्डल कायम नहीं रह सका। सितम्बर, १९१८ में उसने अपने पद का परि-त्याग कर दिया।

काउन्ट तेराउची के बाद श्री हारा जापान के प्रधानमन्त्री बने। वे किसी जागीर-दार कुल के व्यक्ति नहीं थे, और न ही किसी सैनिक कुल के साथ उनका सम्बन्ध था। जापान में यह प्रथम अवसर था, जब कि मध्यश्रेणी का एक व्यक्ति प्रधानमन्त्री के पद पर अधिष्ठित हुआ था। श्री हारा सैयुकाई दल के थे, और प्रिंस सिओन्जी के बाद इस दल के नेता बने थे। पुरानी परम्परा के अनुसार अब प्रिंस सिओन्जी को प्रधानमन्त्री बनना चाहिये था, पर समय की गति को देखते हुए सिओन्जी ने यही उचित समझा, कि नये मन्त्रिमण्डल को संगठित करने का कार्य श्री हारा के सुपुर्द किया जाय। हारा ने यह भार स्वीकृत करते हुए इस बात को भली-भांति स्पष्ट कर दिया था, कि वे उत्तरदायी लोक-तन्त्र शासन में विश्वास रखते हैं, और मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हुए अपने राजनीतिक दल को पूर्ण रूप से महत्व देंगे। उन्होंने जो मन्त्रिमण्डल बनाया, उसमें दो के अतिरिक्त अन्य सब मन्त्री सैयुकाई दल के थे, और इन दो मन्त्रियों के विचार भी सैयुकाई दल के राजनीतिक सिद्धान्तों से मिलते-जुलते थे। यह पहला अवसर था, जबकि जापान में ब्रिटेन के समान पार्टी-गवर्नमेन्ट का निर्माण हुआ था। यह बात समय की प्रवृत्ति के सर्वथा अनु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कूल थी, क्योंकि इस समय संसार के सभी देशों में लोकतन्त्रवाद जोर पकड़ रहा था। क्योंकि पार्लियामेन्ट में सैयुकाई दल का बहुमत नहीं था, अतः हारा ने पार्लियामेन्ट को भंग कर नए निर्वाचन की व्यवस्था की। १९२० में जो नया निर्वाचन हुआ, उसमें सैयुकाई दल के उम्मीदवार बहु-संख्या में निर्वाचित हुए। हारा का मन्त्रिमण्डल कायम रहा, और उसने ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके कारण जापान में लोकतन्त्रवाद के विकास में सहायता मिली। उसने मताधिकार को विस्तृत किया, और कोरिया, फार्मूसा आदि अधिकृत प्रदेशों पर शासन करने के लिए ऐसे व्यक्तियों को नियत किया, जो सैनिक कुलों के न होकर लोकतन्त्रवाद के साथ सहानुभूति रखने वाले थे। श्री हारा इस समय जापान में जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, उससे लोकतन्त्रवाद के विरोधी लोग बहुत असन्तुष्ट थे। परिणाम यह हुआ, कि नवम्बर, १९२१ में तोक्यो के रेलवे स्टेशन पर उन पर हमला किया गया और वे कतल कर दिए गए।

अब सैयुकाई दल का नेता काउन्ट ताकाहाशी को चुना गया। श्री हारा द्वारा संगठित मन्त्रिमण्डल उनकी हत्या के बाद भी कायम रहा। अन्तर केवल इतना आया, कि प्रधानमन्त्री का पद अब ताकाहाशी ने ग्रहण किया। इस समय वाशिंगटन में पूर्वी एशिया की विविध समस्याओं पर विचार करने के लिए कान्फरेन्स हो रही थी। उसमें जापान ने जिस उदार नीति का अनुसरण किया था, उसका प्रधान श्रेय श्री हारा और काउन्ट ताकाहाशी के मन्त्रिमण्डल को ही दिया जाना चाहिए। वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान ने किस प्रकार अपनी जलसेना को मर्यादित करने और शांतुंग प्रान्त में अपने विशेषाधिकारों को कम करने की बात को स्वीकार कर लिया था, इस पर हम पहले विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं।

पर काउन्ट ताकाहाशी के नेतृत्व में सैयुकाई दल की एकता कायम नहीं रह सकी। इसका परिणाम यह हुआ, कि सैयुहोन्तो नाम से एक नये दल का संगठन किया गया। इस दशा में काउन्ट ताकाहाशी ने त्यागपत्र दे दिया, और एडमिरल कातो जापान के नये प्रधानमंत्री बने। पर कातो का मन्त्रिमण्डल किसी विशिष्ट राजनीतिक दल की सहायता पर आश्रित नहीं था। यद्यपि सैयुहोन्तो दल का समर्थन उसे प्राप्त था, पर उस मन्त्रिमण्डल का निर्माण किसी एक दल के आधार पर नहीं किया गया। २४ अगस्त, १९२३ को कातो की मृत्यु हो गई। अब एडमिरल यामामोतो नये प्रधानमंत्री बने। इन्हीं के समय में जापान में वह भयंकर भूचाल आया, जिससे बहुत-से समृद्ध नगर नष्ट हो गये, और जापान का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया।

मई, १९२४ में पार्लियामेन्ट का नया निर्वाचन हुआ। इन निर्वाचन में कैन्सेईकाई दल के १५१, सैयुहोन्तो दल के ११६ और सैयुकाई दल के १०० उम्मीदवार निर्वाचित हुए। १९२४ के इस निर्वाचन में उदार और लोकतन्त्र दलों को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। इसका कारण यह था, कि इस समय जापान में मताधिकार बहुत अधिक विस्तृत हो गया था, और संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद का जोर था। अब कैन्सेईकाई दल के लिए यह सम्भव था, कि अन्य लोकतन्त्रवादी दलों के सहयोग से एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सके, जो नई भावनाओं का पक्षपाती हो। इसीलिए काउन्ट कातो (एडमिरल कातो नहीं) के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ, जिसे कैन्सेईकाई और सैयुकाई दलों का समर्थन प्राप्त था। पर शीघ्र ही सैयुकाई दल काउन्ट कातो के मन्त्रिमण्डल का विरोधी हो गया, और कातो ने कैन्सेईकाई दल और कतिपय स्वतन्त्र सदस्यों के समर्थन से एक नए मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया (१९२५)। श्री कातो का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह मन्त्रिमण्डल १९२७ तक कायम रहा। इस समय केन्सेईकाई दल के मुकाबिले में सैयुकाई दल का जोर बढ़ गया, और श्री कातो के त्याग-पत्र दे देने पर बैरन तनका ने नये मन्त्रिमण्डलका निर्माण किया। बैरन तनका को सैयुकाई दल का समर्थन प्राप्त था। उनका मन्त्रिमण्डल १९२९ तक कायम रहा।

१९२७ में जापान में एक नयी पार्टी का संगठन हुआ, जिसका नाम मिन्सेइती दल था। सैयुहोन्तो और कैन्सेईकाई पार्टियों ने साथ मिलकर इस नये मिन्सेइतो दल का संगठन किया था। १९३० के निर्वाचन में मिन्सेइतो दल के २७३ और सैयुकाई दल के १७४ उम्मीदवार पार्लियामेंट में निर्वाचित हुए। इसका परिणाम यह हुआ, कि बैरन तनका के मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया, और श्री हामागुची के नेतृत्व में मिन्सेइतो दल के मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। मिन्सेइतो दल का यह मन्त्रिमण्डल १९३१ के अन्त तक कायम रहा। इस समय मंचूरिया के क्षेत्र में जापान ने अपने साम्राज्यवाद का प्रसार प्रारम्भ कर दिया था। मिन्सेइतो दल उदार और लोकतन्त्र विचारों का समर्थक था। वह साम्राज्यवाद की नीति को प्रयुक्त करने के लिए अधिक उपयुक्त नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि जनता में उसके प्रति असन्तोष बढ़ गया, और १९३१ का अन्त होने से पूर्व ही उसने त्यागपत्र दे दिया।

१९३२ में जापान की पार्लियामेन्ट का नया निर्वाचन हुआ। इसमें सैयुकाई दल के ३०४ और मिन्सेइतो दल के १४७ उम्मीदवार निर्वाचित हुए। निर्वाचन से पूर्व ही मिन्सेइतो दल के मन्त्रिमण्डल के त्यागपत्र दे देने पर श्री इनुकाई के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हो गया था। श्री इनुकाई इस समय सैयुकाई दल के नेता थे। पार्लियामेंट में अपने दल का बहुमत न होने के कारण ही उन्होंने १९३२ में नया निर्वाचन कराया था। कुछ समय बाद श्री इनुकाई की हत्या हो गई, और जनरल सैतो और जनरल अराकी के नेतृत्व में नए मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। जिस समय मंचूरिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करने के लिए जापानी सरकार भगीरथ प्रयत्न में लगी थी, जनरल अराकी ही उसके कर्णधार थे।

१८९५ से १९३१ तक जापान का शासन किन-किन मन्त्रिमण्डलों के हाथों में रहा, इसका यहां हमने अत्यन्त संक्षिप्त रूप से उल्लेख किया है। जापान के इस काल के राजनीतिक इतिहास की ये ही उल्लेख-योग्य घटनाएं हैं। इनसे निम्नलिखित बातें भलीभांति स्पष्ट हो जाती हैं—(१) जापान धीरे-धीरे लोकतन्त्र शासन के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। वहां राजनीतिक दलों का भी संगठन जारी था, और इन राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों और आदर्शों में भेद भी थे। शुरू में सैयुकाई दल उदार नीति व लोकतन्त्रवाद का समर्थक था, पर कैन्सेईकाई दल के संगठन के कारण सैयुकाई दल आपेक्षिक दृष्टि से अनुदार या कन्जर्वेटिव हो गया था। केन्सेईकाई दल उसकी तुलना में अधिक लोकतन्त्रवादी था। जापान के विविध राजनीतिक दलों का आधार जहां कतिपय प्रभावशाली नेताओं का व्यक्तित्व था, वहां साथ ही उनके अपने-अपने सिद्धान्त भी थे, जिनको सम्मुख रखकर विविध उम्मीदवार अपने को पार्लियामेंट में निर्वाचित कराने का यत्न करते थे। (२) देश के शासन में पुराने जागीरदार कुलों और सैनिक नेताओं का बहुत महत्त्व था, यद्यपि अब बीसवीं सदी में इनकी अपेक्षा राजनीतिक नेताओं का महत्त्व अधिक बढ़ने लग गया था।

इन विविध मन्त्रिमण्डलों के शासन-काल में जापान में जो आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक उन्नति हुई, उस पर हम इसी अध्याय के अगले प्रकरणों में प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नए सम्राट्—जिस सम्राट् के समय में शोगून शासन का अन्त होकर सम्राट् की शक्ति की पुनःस्थापना हुई थी, उसका नाम मुत्सुहितो वा मेइजी था। ४५ साल के सुदीर्घ शासन के बाद १९१२ में सम्राट् मेइजी की मृत्यु हो गई। इसमें सन्देह नहीं, कि मेइजी के शासन काल में जापान ने असाधारण उन्नति की। १८६७ में जब मुत्सुहितो जापान के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था, तो जापान की राजनीतिक, सैनिक व आर्थिक दशा चीन के मुकाबिले के किसी भी प्रकार अच्छी नहीं थी। पर उसकी मृत्यु से पूर्व जापान संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली राज्यों में गिना जाने लगा था। कोरिया और फार्मूसा उसके अधीन हो चुके थे, मंचूरिया में उसका प्रभाव-क्षेत्र कायम हो गया था, और रूस जैसे शक्तिशाली पाश्चात्य राज्य को युद्ध में परास्त कर देने के कारण सारा संसार जापान का सिक्का मानने लग गया था। यही कारण है, कि १९१२ में जब सम्राट् मेइजी की मृत्यु हुई, तो जापान में बहुत शोक मनाया गया। उसके स्मारक के रूप में तोक्यो के समीप एक विशाल मन्दिर का निर्माण भी किया गया।

सम्राट् मुत्सुहितो (मेइजी) के बाद योशीहितो जापान का सम्राट् बना। सम्राट् बनने पर वह तैशो के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्राट् तैशो की मानसिक दशा ठीक नहीं थी, और इस कारण वह राज्य के भार को संभाल सकने में असमर्थ था। १९२१ में युवराज हिरोहितो ने रीजेन्ट के रूप में जापान का शासन प्रारम्भ किया। १९२६ में तैशो की मृत्यु हो गई, और हिरोहितो सम्राट् शोवा के नाम से जापान के राज-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। सम्राट् शोवा आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से भली-भांति परिचित था। वह पाश्चात्य देशों की यात्रा कर चुका था, और यूरोप तथा अमेरिका की राजनीतिक दशा से भली-भांति परिचित था। इसीलिए उसके शासनकाल में सम्राट् और जनता में अधिक घनिष्ट सम्पर्क स्थापित हुआ। उसकी साम्राज्ञी भी जनता के साथ सम्पर्क रखती थी, और अनेक सार्वजनिक कार्यों में हाथ बटाती थी। यूरोप के अनेक राजाओं व राजनीतिक नेताओं के समान सम्राट् शोवा भी साम्राज्यवाद का कट्टर पक्षपाती था। यही कारण है, कि उसके शासनकाल में जापान अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील हुआ। शोवा के समय के युद्धों का उल्लेख हम अगले अध्यायों में करेंगे।

(२) आर्थिक उन्नति

१८९५ से १९३१ तक जापान का राजनीतिक इतिहास विशेष महत्त्व का नहीं है। इस काल में जापान ने साम्राज्य का विस्तार करने के लिये जो प्रयत्न किया, एशिया एवं संसार के इतिहास में उसी का महत्त्व है। पर इस समय आर्थिक क्षेत्र में जापान ने जो असाधारण उन्नति की, वह न केवल उसके अपने लिए अपितु सम्पूर्ण एशिया के लिए बहुत गौरव की बात थी। जापान की आर्थिक उन्नति का प्रारम्भ १८९५ से पहले ही हो चुका था। चीन और जापान के युद्ध (१८९४-९५) से पहले ही जापान अपने व्यवसायों और व्यापार की उन्नति के लिए असाधारण रूप से प्रयत्नशील था। रेलवे लाइनों और सड़कों का वहां पर्याप्त विस्तार हो गया था, नये ढंग के बैंक भी वहाँ स्थापित हो गये थे, मुद्रापद्धति का आधुनिक ढंग से संगठन भी वहाँ कर लिया गया था, डाकघर, टैलीग्राफ एवं टैलीफोन का भी वहाँ विकास हो चुका था, और विविध प्रकार के जहाज भी वहाँ बनने शुरू हो गये थे। पर आर्थिक क्षेत्र में जापान ने जो असाधारण उन्नति बीसवीं सदी में की, उसका वास्तविक रूप से प्रारम्भ १८९५ के बाद में ही हुआ था। १९०३ के बाद जापान संसार के सबसे उन्नत व्यवसाय-प्रधान देशों में गिना जाने लगा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वहाँ ओसाका जैसे विशाल व्यावसायिक नगरों का विकास हुआ, जो ब्रिटेन के बर्मिन्घम सदृश व्यावसायिक नगरों के समकक्ष हैं।

विदेशी व्यापार – जापान की व्यावसायिक उन्नति का अनुमान उसके विदेशी व्यापार के विकास से भली-भाँति किया जा सकता है। १८८५ में जापान के विदेशी व्यापार का कुल मूल्य ६,६५,००,००० येन था। १९१८ तक वह बढ़ कर ४,००,००,००,००० येन तक पहुँच गया था। विदेशी व्यापार में यह असाधारण उन्नति किस प्रकार हुई, इसे निम्न तालिका द्वारा भली-भाँति स्पष्ट किया जा सकता है:—

वर्ष	विदेशी व्यापार
१८८५	६,६५,००,००० येन
१८९५	२३,००,००,००० येन
१९०४	६९,०५,००,००० येन
१९१४	१,५८,७०,००,००० येन
१९१८	४,००,००,००,००० येन

ऊपर जो अंक दिये गये हैं, उन पर किसी टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है। १८८५ से १९१८ तक के केवल ३५ वर्षों के काल में जापान के विदेशी व्यापार में ६० गुना से भी अधिक की वृद्धि हो गई थी। यह आश्चर्यजनक वृद्धि उस व्यावसायिक उन्नति का परिणाम थी, जो इस काल में जापान में बड़ी तेजी के साथ हो रही थी।

१८८५ से १८९४ तक जापान के विदेशी व्यापार में आयात माल की अपेक्षा निर्यात माल की मात्रा अधिक थी। इसका कारण यह था, कि उस समय जापान विदेशों से मशीनरी, जहाज आदि अधिक परिमाण में नहीं खरीदता था। १८९५ से १९१३ तक जापान में निर्यात माल की तुलना में आयात माल की मात्रा अधिक बढ़ गई, क्यों कि इस समय में जापान विदेशों से बहुत बड़ी मात्रा में मशीनरी आदि के क्रय में तत्पर था। १९१४ में जब यूरोपीय महायुद्ध शुरू हुआ, जापान में व्यावसायिक उन्नति यथेष्ट परिमाण में हो चुकी थी। अब जापान को यह आवश्यकता नहीं रही थी, कि वह मशीनरी, युद्ध-सामग्री, और जहाजों आदि के लिए विदेशों पर निर्भर करे। ये सब वस्तुएं अब जापान में ही तैयार होने लग गई थीं। महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों में जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे अपना तैयार माल एशिया के विभिन्न देशों में भेज सकें। इन देशों के बाजार जापानी माल का स्वागत करने के लिए तैयार थे। जापान ने इस दशा से पूरा-पूरा लाभ उठाया। बहुत बड़े परिमाण में जापान का तैयार माल भारत, बरमा, इन्डोचायना आदि देशों में बिकने लगा, और इस कारण उसके निर्यात माल की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई। महायुद्ध के कारण जापान के व्यावसायिक उत्कर्ष को बहुत सहायता मिली। यूरोपियन माल अब विदेशों में बिकने के लिए नहीं जा सकता था। एशिया के बाजार कपड़ा, रेशम, मशीनरी आदि सब प्रकार के माल के लिये प्यासे हो रहे थे। जापान ने इस अवसर का अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिए उपयोग किया। महायुद्ध की समाप्ति तक एशिया के विविध बाजारों पर जापान अपना प्रभुत्व इतनी दृढ़ता से जमा चुका था, कि यूरोपियन देशों के लिए वहाँ उसका मुकाबिला कर सकना सम्भव नहीं रहा था। १९२३ में जापान में भयंकर भूकम्प आया। इस प्राकृतिक विपत्ति के कारण उसके व्यवसायों को भारी नुकसान पहुंचा। इससे उसके विदेशी व्यापार को भी धक्का लगा, और कुछ समय के लिये एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बार फिर जापान के निर्यात माल की मात्रा आयात माल की अपेक्षा कम हो गई, क्योंकि भूकम्प से हुई क्षति की पूर्ति के लिए उसे विदेशों से बहुत बड़े परिमाण में माल मंगवाने की आवश्यकता हुई थी।

व्यावसायिक उन्नति के कारण धीरे-धीरे जापान के विदेशी व्यापार के स्वरूप में भी अन्तर अपना प्रारम्भ हुआ। उसके निर्यात माल में तैयार माल की और आयात माल में कच्चे माल की मात्रा निरन्तर बढ़ती गई।

व्यावसायिक उन्नति—१८९५ के बाद जापान की व्यावसायिक उन्नति कितनी तेजी के साथ हुई, इसे स्पष्ट करने के लिए उसके विदेशी व्यापार के अंक ही पर्याप्त हैं। पर इस सम्बन्ध में कतिपय व्यवसायों का निदर्शन करना भी उपयोगी है। १९०५ में जापान के वस्त्र-व्यवसाय में ७,१६,००० हाथ से चलने वाली खड्डियों और १९,०४० यान्त्रिक शक्ति से चलने वाली खड्डियों की सत्ता थी। १९१४ में शक्ति से चलने वाली खड्डियों की संख्या १९,०४० से बढ़कर १,२३,००० हो गई, और हाथ से चलने वाली खड्डियों की संख्या ७,१६,००० से घटकर ४,००,००० रह गई। इस प्रकार ९ साल के थोड़े-से समय में मशीन की खड्डियों की संख्या में छः गुना की वृद्धि हो गई। १९१४ के बाद यह वृद्धि और भी तेजी से हुई। १९३१ तक यह दशा आ गई थी, कि वस्त्र व्यवसाय के क्षेत्र में जापान का स्थान संसार में तीसरे नम्बर पर था। जापान में तैयार हुआ सूत और कपड़ा भारत और चीन के बाजारों में बहुत बड़े परिमाण में बिकता था। हाथ की खड्डियों द्वारा भी जापान में जो कपड़ा तैयार होता था, विदेशों में उसकी बहुत मांग थी। इसका कारण यह था, कि कला की दृष्टि से यह कपड़ा अत्यन्त उत्कृष्ट होता था।

सूती वस्त्र के समान रेशमी कपड़े के व्यवसाय में भी जापान ने असाधारण उन्नति की थी। १९२८ में संसार भर में जितना रेशम तैयार होता था, उसका दो तिहाई अकेला जापान तैयार करता था। इस समय जो माल जापान से बाहर विदेशों में जाता था, रेशम की मात्रा उसका ४० प्रतिशत थी। यह रेशम प्रधानतया अमेरिका जाता था। रेशम और सूती कपड़े के अतिरिक्त ऊनी वस्त्र भी अच्छी बड़ी मात्रा में जापान में तैयार होते थे। १९३१ के बाद जापान के ऊन के व्यवसाय में भी विशेष रूप से उन्नति हुई।

जापान की व्यावसायिक उन्नति का अन्दाजा अन्य प्रकार से भी लगाया जा सकता है। १९०५ में जापान में केवल ८३ जायन्ट स्टाक कम्पनियाँ संगठित थीं। इनमें कुल मिलाकर २०,००,००० येन पूँजी लगी हुई थी। १९१४ में जापान में जायन्ट स्टाक कम्पनियों की संख्या बढ़कर १९८ हो गई थी, और उनमें लगी हुई पूँजी भी २०,००,००० से बढ़कर २,१०,००,००० तक पहुँच गई थी।

वस्त्र-व्यवसाय के अतिरिक्त जहाज, दियासलाई, कागज, शराब, कृत्रिम खाद, लोहा आदि को तैयार करने के व्यवसाय भी इस काल में जापान में बहुत तेजी के साथ उन्नत हुए, और रेलवे के विस्तार से जापान की व्यावसायिक उन्नति में बहुत सहायता मिली। शुरू में रेलवे का व्यवसाय प्राइवेट कम्पनियों के हाथों में था। १९०७ के बाद सरकार ने रेलवे को अपने स्वामित्व में ले लेना प्रारम्भ किया। रेलवे के समान जहाज का व्यवसाय भी जापान में बहुत उन्नति कर रहा था। १८९० तक समुद्र तट के साथ-साथ का सब व्यापार जापान के अपने जहाजों द्वारा होने लगा था। १८९० के बाद जापान में ऐसे जहाज भी बनने शुरू हुए, जो महासमुद्रों को पारकर विदेशों में माल को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले जाते थे। चीन और रूस के साथ हुए युद्धों के समय से जापान के जहाजी व्यवसाय ने और अधिक उन्नति की। विशेषतया, रूस के साथ हुए युद्ध के बाद (१९०५) जापान में अनेक ऐसी कम्पनियां स्थापित हुईं, जिनके जहाज संसार के प्रायः सभी बन्दरगाहों का चक्कर लगाने लगे। अब तक पूर्वी एशिया का सब व्यापारी माल प्रायः अंग्रेजी जहाजों द्वारा ही ढोया जाता था। १९०५ के बाद माल ढोने के व्यवसाय पर जापान का प्रभुत्व निरन्तर बढ़ता गया। १९१४-१८ के महायुद्ध द्वारा जापान को अपने जहाजों की उन्नति का सुवर्णीय अवसर हाथ लगा। इस समय यूरोप के जहाजों के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे एशिया में व्यापार के निमित्त आ-जा सकें, क्योंकि जर्मनी की पनडुब्बियों द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस के जहाज बड़ी संख्या में डुबोये जा रहे थे। इस दशा से लाभ उठाकर जापान ने बड़ी तेजी के साथ नये जहाजों का निर्माण प्रारम्भ किया। मुसाफिरों को ले जाने वाले, माल ढोने वाले, और युद्ध के काम आने वाले—सब प्रकार के जहाज बहुत बड़ी संख्या में जापान में बनाये जाने शुरू हुए। १९२९ तक यह अवस्था आ गई थी, कि व्यापारिक जहाजों की दृष्टि से जापान का स्थान संसार में तीसरे नम्बर पर था। केवल संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन ही ऐसे देश थे, जो इस क्षेत्र में उससे आगे बढ़े हुए थे। अब जापान के जहाज न केवल अपने देश के माल को ढोने के लिए प्रयुक्त होते थे, अपितु वे अन्य देशों के माल को भी ढोते थे। जापानी जहाजों के अफसर, इन्जीनियर आदि भी अब पूर्ण रूप से जापानी लोग ही होने लगे थे। कोई ऐसा भी समय था, जबकि जापानी जहाजों के अफसर विदेशी लोग हुआ करते थे, यह बात भी अब लोग भूलने लग गये थे।

व्यावसायिक उन्नति के परिणाम—इसमें सन्देह नहीं, कि व्यावसायिक उन्नति द्वारा जापान के आर्थिक विकास में बहुत अधिक सहायता मिली। पर साथ ही इसके अनेक दुष्परिणाम भी उत्पन्न हुए। यूरोप में जब पहले-पहल व्यावसायिक क्रान्ति हुई थी, तो वहां भी ये दुष्परिणाम प्रगट हुए थे। जापान में व्यावसायिक क्रान्ति के परिणामों का अत्यन्त संक्षिप्त रूप से इस प्रकार निदर्शन किया जा सकता है—(१) आर्थिक उत्पत्ति में बहुत अधिक वृद्धि हुई। पहले के मुकाबिले में माल अत्यधिक परिमाण में तैयार होने लगा। इसी से उसके विदेशी व्यापार का असाधारण रूप से विकास हुआ। (२) गृह-व्यवसायों का अन्त होकर विशालकाय कारखानों की स्थापना हुई। पुराने समय में जापानी कारीगर अपने घर पर रहकर आर्थिक उत्पादन किया करता था। घर पर ही उसका छोटा-सा कारखाना होता था, जिस में वह अपनी स्त्री, बच्चों तथा अन्तेवासियों (शागिर्दों) के साथ मिलकर आर्थिक उत्पत्ति किया करता था। उसके काम करने के कोई घंटे नियत नहीं होते थे। वह जब चाहता और जितने समय तक चाहता, काम करता था। पर व्यावसायिक क्रान्ति के कारण गृह-व्यवसायों का स्थान वे फैक्टरियां और मिलें लेने लगीं, जिनमें श्रमी एवं कारीगर की अपेक्षा मशीनों का महत्त्व अधिक था। कारीगर अब स्वतन्त्र उत्पादक न रहकर भृति प्राप्त करने वाला मजदूर बन गया। (३) आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पूंजीपतियों का महत्त्व बढ़ने लगा। (४) विशाल व्यावसायिक नगरों का विकास हुआ, जिनमें देहातों से हजारों पुरुष, स्त्री और बच्चे मजदूरी प्राप्त करने के लिए एकत्र होने लगे। इन नगरों में मजदूरों के निवास की समुचित व्यवस्था नहीं थी। जिन मकानों में मजदूर लोग निवास के लिए विवश होते थे, वे मनुष्यों के रहने के लिये उपयुक्त नहीं थे। (५) पारिवारिक जीवन पर व्यावसायिक उन्नति ने बहुत बुरा असर डाला। मजदूरों के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे शहरों में परिवार के निवास-योग्य स्थान को प्राप्त कर सकें। एक-एक कोठरी में बहुत-से मजदूर एक साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवास के लिए विवश होते थे। उनके लिये अपनी स्त्रियों और बच्चों को साथ रख सकना कठिन था। परिणाम यह हुआ, कि पारिवारिक जीवन की सुख व शान्ति नष्ट होने लगी। साथ ही, आजीविका की तलाश में बहुत-सी स्त्रियों और बच्चों ने भी कारखानों में मजदूरी करनी शुरू कर दी। मशीनों से चलने वाले कारखानों में काम करने के लिए शारीरिक बल और शिल्प-नैपुण्य की विशेष आवश्यकता नहीं थी। उनमें स्त्रियां और बच्चे भी सुगमता से काम कर सकते थे। पूंजीपतियों को इन्हें मजदूरी पर रखना लाभदायक प्रतीत होता था, क्योंकि इनकी मजदूरी की दर कम होती थी। कारखानों में काम करने के कारण स्त्रियों और बच्चों के स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ने लगा। (६) व्यावसायिक उन्नति के कारण जापान में एक नये श्रेणीभेद का विकास शुरू हुआ। मजदूरों में अपनी पृथक् सत्ता और अपने अधिकारों की भावना उत्पन्न हुई, और वे पूंजीपतियों से संघर्ष के लिए तत्पर होने लगे। (७) स्त्रियों की दशा पर व्यावसायिक क्रान्ति ने बहुत बुरा असर डाला। स्त्रियों की मजदूरी की दर कम थी, इसलिये पूंजीपतियों ने कारखानों में काम करने के लिए स्त्रियों और लड़कियों को बहुत बड़ी संख्या में भरती किया। जापान के कारखानों में कुल मिलाकर जितने लोग मजदूरी करते थे, उनमें स्त्रियों की संख्या ६० प्रतिशत थी। वस्त्र-व्यवसाय में तो स्त्री-मजदूर और भी अधिक थे, वहाँ उनकी संख्या ८० प्रतिशत के लगभग थी। कारखानों में काम करने वाले बच्चों में भी लड़कियां ८० प्रतिशत थीं। इन लड़कियों को देहातों से भरती किया जाता था। मां बाप परिवार की गरीबी को दृष्टि में रखकर खुशी से लड़कियों को शहरों के कारखानों में काम करने के लिए भेज देते थे। कारखानों की ओर से इन लड़कियों के रहने के लिए लम्बी-लम्बी बैरकें बनी होती थीं। इन्हें विश्राम करने के लिए एक-एक चटाई दे दी जाती थी, जिन पर लड़कियां अपने बिस्तरा बिछाकर सो जाती थीं। उनके रहने की परिस्थितियां इतनी दयनीय थीं, कि उनके लिए अपना किसी भी प्रकार का विकास कर सकना सम्भव नहीं था। कारखानों में बारह घण्टे के लगभग मजदूरी करने के बाद ये इतना थक जाती थीं, कि अपनी थकान को मिटाने के लिए शराब, जुआ या लैंगिक सुख का आश्रय लेती थीं। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान की मजदूर-स्त्रियों का नैतिक पतन बड़ी तेजी के साथ होने लगा। व्यावसायिक क्रान्ति ने जापान में जो अनेक दुष्परिणाम उत्पन्न किए, उनमें स्त्रियों तथा सुकुमार बालिकाओं का नैतिक पतन सबसे अधिक बुरा था।

मजदूरों की दशा में सुधार के प्रयत्न—जापान में व्यावसायिक उन्नति इतनी अधिक तेजी के साथ हुई, कि वहां के राजनीतिक नेता और विचारक मजदूरों की दुर्दशा पर तुरन्त ध्यान नहीं दे सके। इंगलैंड, फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों में भी व्यावसायिक क्रान्ति ने ऐसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न किये थे। वहाँ भी तीन चौथाई सदी के लगभग समय तक सरकारों का ध्यान मजदूरों की दुर्दशा के प्रति आकृष्ट नहीं हुआ था। जब विविध सुधारों के प्रयत्न से सरकारों ने ऐसे कानूनों का निर्माण शुरू किया, जिनका उद्देश्य कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा को सुधारना था, तो पूंजीपतियों की ओर से उनका घोर विरोध हुआ। बहुत-से विचारकों ने भी उनके विरुद्ध अपनी आवाज उठाई। इस दशा में यदि जापान में भी मजदूरों की दशा को सुधारने के क्षिये कानून बनाने में समय लगा हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

इस सम्बन्ध में जापान में सबसे पहले १९११ में एक कानून बनाया गया। यह कानून उन कारखानों के लिए बनाया गया था, जिनमें-कम से-कम १५ मजदूर काम करते हों। इस कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि बारह साल से कम आयु की बालि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काएं व बालक कारखानों में काम न कर सकें, और स्त्रियों तथा १५ साल से कम आयु के बालकों के लिए काम करने का अधिकतम समय बारह घण्टे प्रतिदिन हो। पर इन नियमों के अनेक अपवाद भी रखे गये थे। १९२९ और १९२३ में इस कानून में महत्त्व-पूर्ण सुधार किये गये। इस समय तक राष्ट्रसंघ के तत्वावधान के अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर महासभा संसार के सब देशों के मजदूरों की अवस्था का सुधार करने के लिए प्रयत्न करने में तत्पर हो गई थी। इस महासभा की स्थापना १९१९ में हुई थी। १९२३ और १९२९ के कानूनों द्वारा जापानी सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि जापान के कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की दशा उन नियमों के अनुरूप हो, जिनका प्रतिपादन अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर महासभा द्वारा किया गया था।

जापान के कारखानों में मजदूरों की जो दुर्दशा थी, उनके कारण उनमें असन्तोष का होना सर्वथा स्वाभाविक था। इसीलिये वे अपने अधिकारों के लिये संघर्ष करने में भी प्रयत्नशील थे। उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही मजदूरों ने अपने संगठन बनाने शुरू कर दिए थे। १९०० के एक कानून के अनुसार मजदूरों का अपने संगठन बना सकने का अधिकार भी राज्य द्वारा स्वीकृत कर लिया गया था। पर इस कानून ने मजदूरों को यह अधिकार नहीं दिया था, कि वे अपने संगठनों का उपयोग हड़ताल आदि के लिए भी कर सकें। १९०० के कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि यदि कोई मजदूर स्वयं हड़ताल में शामिल होगा या दूसरे मजदूरों को हड़ताल करने के लिए उकसायेगा, तो उसे एक मास से छः मास तक की जेल की सजा दी जा सकेगी। इस व्यवस्था का परिणाम यह था, कि मजदूर लोग अपने संगठनों का उपयोग अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने में नहीं कर सकते थे। पर इससे जापान के मजदूरों में पूंजीपतियों के खिलाफ संघर्ष करने की प्रवृत्ति रुकी नहीं। १९१२ में वहां मजदूर-संघ (फैडरेशन आफ लेबर) का संगठन हुआ। १९२० तक इस संघ के सदस्यों की संख्या ५०,००० तक पहुंच गई थी। जापान के मजदूर आन्दोलन के प्रधान नेता श्री बुन्जी सुजुकी थे। उनके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि १९१९ में मजदूरों के संगठनों के सम्बन्ध में जो ऐसे कानून थे, जिनके कारण वे अपने अधिकारों के लिये स्वतन्त्र रूप से संघर्ष नहीं कर सकते थे, उन्हें रद्द कर दिया गया। अब से जापान के मजदूर अपनी मजदूरी को बढ़वाने और कारखानों में काम करने की दशाओं को उन्नत कराने के उद्देश्य से हड़ताल के उपाय का आश्रय लेने लगे। १९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में सर्वत्र कीमतों में असाधारण रूप से वृद्धि हो गई थी, और कीमतों के बढ़ जाने से मजदूरों को भारी संकट का सामना करना पड़ रहा था। वे अपना गुजारा तभी कर सकते थे, जबकि उनको अधिक मजदूरी मिले। इसीलिए उन्होंने हड़ताल के उपाय का आश्रय लेकर मजदूरी में वृद्धि कराने के लिए संघर्ष शुरू किया। १९३१ में जब एक बार फिर जापानी सरकार साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रवृत्त हुई, तो देश में इससे बहुत सन्तोष हुआ। कारण यह था, कि जापान के पूंजीपति और मजदूर दोनों ही यह आशा करते थे, कि इससे उनकी आर्थिक समस्या हल हो सकेगी।

कृषि की उन्नति—जिस प्रकार १८९५ के बाद जापान व्यावसायिक क्षेत्र में उन्नति के लिये तत्पर था, वैसे ही वहां कृषि में भी उन्नति हो रही थी। जापान की सर्वप्रधान पैदावर चावल है। गेहूँ और जौं की पैदावार वहां चावल की अपेक्षा बहुत कम होती है। १९१९ में ३१,०४,६११ चो (एक चो = ढाई एकड़ के लगभग) जमीन चावल की खेती के लिये केवल प्रयुक्त होती थी। इसके मुकाबिले में गेहूँ और जौं की खेती के लिए केवल १७,२९, १४८ चो जमीन प्रयोग में लायी जाती थी। जापान के लोग भोजन के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चावल का बहुत अधिक प्रयोग करते हैं। इसीलिये वहां चावल की पैदावार को बहुत महत्त्व दिया जाता है। जापान की आबादी में निरन्तर वृद्धि होते रहने के कारण वहां के लोग इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि वे अपने खेतों में अधिक से अधिक अनाज उत्पन्न करें। साथ ही, उनका यह भी प्रयत्न था, कि जो जमीनें परती पड़ी हुई हैं, उन्हें भी खेती के योग्य बनाया जाय। १९०५ में जापान में कुल मिलाकर ५३,८२,३७८ चो जमीन खेती के काम में आती थी। १९३४ में कृषि के काम में लाये जाने वाली भूमि के क्षेत्रफल को बढ़ाकर ६०,३७,६४५ चो कर दिया गया था। इस प्रकार २९ साल के अरसे में सात लाख चो (साढ़े सतरह लाख एकड़ के लगभग) नई जमीन खेती के लिये तैयार कर ली गई थी। नई जमीन को खेती के लिये प्रयुक्त करने के साथ-साथ जमीन की पैदावार को बढ़ाने पर भी जापानी लोग बहुत ध्यान दे रहे थे। १८८२ में जापान में कुल मिला कर १,०६,९२,००० कोकू (एक कोकू = पांच बुशल के लगभग) चावल पैदा होता था। १९२८ में वहां चावल की पैदावार १,०६,९२,००० कोकू से बढ़कर ६,०३,०३,००० कोकू हो गई थी। आधी सदी से भी कम समय में जापानी लोगों ने अपनी चावल की पैदावार को छः गुना के लगभग बढ़ा लिया था। इस वृद्धि का एक कारण यह था, कि इस काल में बहुत-सी नई जमीन खेती के लिये प्रयोग में लायी गई थी। पर यदि प्रति एकड़ या प्रति चो पैदावार को देखा जाय, तो यह ज्ञात होगा कि अब जापान में प्रति एकड़ ७५ फी सदी पैदावार बढ़ गई थी। यह ठीक है, कि इस काल में जापान की आबादी में भी बहुत वृद्धि हुई। पर आबादी की वृद्धि के साथ-साथ चावल की पैदावार में भी आश्चर्यजनक वृद्धि करके जापान ने अपनी अनाज-सम्बन्धी समस्या को हल करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। अनाज की पैदावार को बढ़ाने के लिये जापान में नये किस्म के कृत्रिम खादों का बड़ी मात्रा में उपयोग किया गया, अच्छे बीज प्रयुक्त किये गये, बाढ़ों से खेतों को नुकसान न पहुँच सके इसका इन्तजाम किया गया, और किसानों को खेती की नई पद्धति की शिक्षा दी गई। जापानी सरकार का खेती की उन्नति पर इतना अधिक ध्यान था, कि जहां एक ओर उसने कृषि की उच्च शिक्षा के लिये पृथक् कालिजों की स्थापना की, वहाँ साथ ही देहात के स्कूलों में कृषि की प्रारम्भिक शिक्षा को भी शामिल किया। सरकार ने किसानों को इस बात के लिये प्रोत्साहित किया, कि वे अपने खेतों में कृषि-सम्बन्धी नये-नये परीक्षण करें, और सरकारी संस्थाओं द्वारा इस क्षेत्र में जो परीक्षण किये जा रहे हैं, उनसे लाभ उठाएं। साथ ही, सरकार ने किसानों को प्रेरित किया, कि वे खेती के साथ-साथ व्यवसायों को भी अपनाएं। रेशम तैयार करने का व्यवसाय जापान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। सरकार ने यत्न किया, कि किसान शहतूत के पेड़ों को बहुत बड़ी संख्या में लगाएं, उन पर रेशमी कीड़ों को पालें, और रेशम को बाजार में बेचने के लिये लाएं। फल और शाक सब्जी की खेती पर भी सरकार ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि जापान के किसान पहले के मुकाबिले में बहुत समृद्ध हो गये और खेतों के छोटे होने पर भी उनके लिये अपना निर्वाह कर सकना अधिक कठिन नहीं रहा। चावल, गेहूं और जौ आदि अनाजों के अतिरिक्त जापान में कुछ और चीजों की भी खेती की जाती थी। इनमें चाय की खेती पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। १९३१ में ३८,१०९ चो जमीन चाय के बगीचों के लिये प्रयोग में आ रही थी। १९१९ में जापान में चाय की कुल पैदावार की कीमत ३,४०,००,००० येन थी। इसमें से १,८५,००,००० येन की कीमत की चाय अन्य देशों में बिकने के लिये भेजी जाती थी। इसी प्रकार देहात के बहुत से किसान शहतूत के पेड़ों को उगाने और रेशम के कीड़ों को पालने में लगे हुए थे। जापान में कुल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलाकर १७,००,००,००० येन की कीमत का रेशम तैयार होता था। बीस लाख के लगभग परिवारों की आजीविका का मुख्य साधन रेशम का उत्पादन ही था। सर्वसाधारण किसान यदि अनाज और चाय की खेती में लगे हुए थे, तो उनकी स्त्रियां व लड़कियां रेशम के कीड़े पालने में अपना समय लगाती थीं। पहले विदेशी बाजारों में चीन के रेशम की मांग अधिक थी, इसीलिये चीन संसार में सबसे अधिक रेशम उत्पन्न करता था। पर १९१० तक यह दशा आ गई थी, कि जापान चीन की अपेक्षा अधिक रेशम तैयार करने लग गया था। यूरोप में फ्रांस और इटली रेशम की उत्पत्ति के प्रधान केन्द्र थे। पर इटली जितना रेशम तैयार करता था, जापान के रेशम की मात्रा उसके तिगुने से भी अधिक थी। फ्रांस की अपेक्षा भी जापान बहुत अधिक परिमाण में रेशम तैयार करता था। कच्चे रेशम को सूत और वस्त्र के रूप में परिणत करने के लिये बहुत-से कारखानों का भी जापान में विकास हो गया था।

मत्स्य व्यवसाय—जापान के आर्थिक जीवन में मत्स्य व्यवसाय का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। १५,००,००० के लगभग व्यक्ति मछली पकड़ने के व्यवसाय से अपनी आजीविका चलाते थे। जापान के अन्तर्गत बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप हैं, जिनके चारों ओर के समुद्र में मछलियां बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। जापानी मछियारे जहां अपने समुद्रतट से मछली पकड़ते थे, वहां साथ ही महासमुद्र में दूर-दूर तक जाकर भी वे मछली पकड़ने का उद्योग करते थे। सरकार का इस व्यवसाय के विकास पर भी समुचित ध्यान था। इसीलिए उसने साइबीरिया के समुद्रतट पर मछली पकड़ने का अधिकार रूस से प्राप्त किया था।

जनसंख्या में वृद्धि—जापान के आर्थिक जीवन की समस्याओं को स्पष्ट करते हुए वहां की जनसंख्या की वृद्धि पर भी प्रकाश डालना आवश्यक है। जापान में जनसंख्या किस प्रकार निरन्तर बढ़ रही थी, इसे निम्नलिखित अंकों द्वारा भली-भाँति स्पष्ट किया जा सकता है—

१८६७	२,६०,००,०००
१८७२	३,५०,००,०००
१८९४	४,१०,००,०००
१९१३	५,३०,००,०००
१९२०	५,६०,००,०००
१९३०	६,९०,००,०००

१८६७ से १९३० तक के लगभग साठ सालों में जापान की जनसंख्या में ढाई गुना से भी अधिक वृद्धि हुई थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक, जब कि संसार में ज्ञान-विज्ञान का भली-भांति विकास नहीं हुआ था, दुर्भिक्ष, महामारियां और इसी प्रकार की अन्य प्राकृतिक विपत्तियां जनसंख्या को अधिक नहीं बढ़ने देती थी। स्वास्थ्य रक्षा और चिकित्सा-सम्बन्धी नये ज्ञान के कारण अब मनुष्य रोगों पर बहुत-कुछ विजय पा चुका था। इस कारण यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि विविध देशों की जनसंख्या में निरन्तर वृद्धि होती जाय। ब्रिटेन, जर्मनी, इटली आदि सभी देशों में इस समय मनुष्य-संख्या इसी ढंग से निरन्तर बढ़ती जा रही थी। बढ़ती हुई आबादी के लिए यह आवश्यक था, कि देश में अधिक खाद्य सामग्री उत्पन्न हो, और लोगों को आजीविका प्राप्त करने के नये साधन भी उपलब्ध हों। विविध देश अपनी जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन कर रहे थे—(१) नई जमीनों को खेती के लिए उपयोग में लाना, और जमीन से अधिक पैदावार का प्रयत्न करना। (२) व्यावसायिक उन्नति द्वारा देश में तैयार हुए माल को दूसरे देशों में बेचना, और वहां से कच्चे माल तथा अनाज को खरीदना। (३) संसार के जिन प्रदेशों में आबादी कम थी, वहां जाकर अपने उपनिवेश बसाना। (४) पिछड़े हुए देशों को अपनी अधीनता में लाकर उन्हें अपने साम्राज्य के अन्तर्गत करना, ताकि शासक, अध्यापक, इन्जीनियर आदि के रूप में वहां कार्य प्राप्त किया जा सके, और पिछड़े हुए देशों का आर्थिक विकास करके स्वयं धन उपार्जन कर सकना सम्भव हो। जापान ने भी अपनी जनसंख्या की समस्या को हल करने के लिए इन्हीं सब उपायों का अवलम्बन किया। खेती और व्यावसाय की उन्नति के लिए जो प्रयत्न उसने किये, उनका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। बहुत-से जापानी लोग इस समय अन्य देशों में जाकर आबाद होने शुरू हुए। १९२० में जापानी लोग किस प्रकार अन्य देशों में जाकर बसे हुए थे, इसे समझने के लिए निम्नलिखित अंक पर्याप्त होंगे—चीन में ३,५०,०००; सिंगापुर, मलाया, जावा, सुमात्रा और फिलिप्पीन में में १८,०००; हवाई द्वीपों में १,००,०००; संयुक्तराज्य अमेरिका में १,१०,००० ; कनाडा में १४,०००; दक्षिणी अमेरिका में ४३,०००; और आस्ट्रेलिया तथा समीपवर्ती द्वीपों में १२,०००। जापानी लोग जो इतनी बड़ी संख्या में अन्य देशों में जाकर आबाद होने के लिए प्रवृत्त हुए, उसका प्रधान कारण आर्थिक ही था। अमेरिका और आस्ट्रेलिया के श्वेताङ्ग लोग यह नहीं चाहते थे, कि एशिया के लोग उनके प्रदेशों में आकर बसें। इसलिए उन्होंने उनके खिलाफ अनेक कानूनों का निर्माण किया। जापानी लोगों के लिए भी इन कानूनों के कारण यह सम्भव नहीं रहा, कि वे अमेरिका आदि में जाकर बस सकें। इस दशा में जापान के सम्मुख केवल यह मार्ग शेष रह गया, कि वह भी ब्रिटेन, फ्रांस आदि के समान अपना साम्राज्य बनाए, ताकि वहां अपने तैयार माल को बेचकर अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की समस्या को हल कर सके।

(३) शिक्षा का प्रसार

जापान जिस प्रकार अपनी सर्वतोमुखी उन्नति के लिए प्रयत्नशील था, उसके लिए यह आवश्यक था, कि वह शिक्षा के प्रसार पर भी विशेष रूप से ध्यान दे। १८९५ से पूर्व जापान ने शिक्षा के प्रसार के लिए जो उद्योग किए थे, उन पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जापान में बाधित प्रारम्भिक शिक्षा की पद्धति पहले ही जारी की जा चुकी थी। १९०८ में यह कानून बनाया गया, कि प्रत्येक बालक व बालिका के लिए छः साल तक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य हो। इस कानून के कारण १९२२ तक यह दशा आ गई थी, कि जापान में एक भी बालक व बालिका ऐसी नहीं रह गई, जिसकी स्कूल जाने की आयु हो और जिसे स्कूल में शिक्षा न मिल रही हो। इस दृष्टि से जापान यूरोप और अमेरिका के किसी भी प्रगतिशील देश के मुकाबिले में पीछे नहीं रहा था। सरकार के लिए यह सुगम नहीं था, कि वह देश के सब बच्चों की शिक्षा का समुचित रूप से प्रबन्ध कर सके। इसके लिए बहुत-से नये स्कूलों की स्थापना आवश्यक थी। साथ ही, इन स्कूलों के लिए सुयोग्य अध्यापकों का भी प्रबन्ध किया जाना था। स्कूलों का खर्च चलाने के लिए रुपया भी कम नहीं चाहिए था। यद्यपि अत्यन्त गरीब बच्चों के अतिरिक्त अन्य सबसे पढ़ाई की फीस ली जाती थी, पर यह फीस इतनी नहीं होती थी कि इससे स्कूलों का खर्च चल सके। यही कारण है, कि १९२९ में जापानी सरकार को शिक्षा प्रसार के कार्य पर १,५०,००,००० येन खर्च करना पड़ रहा था। इस राशि को प्रतिवर्ष शिक्षा-प्रसार के लिए खर्च करना इस बात का प्रमाण है, कि जापान की सरकार शिक्षा को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितना अधिक महत्त्व देती थी। प्रारम्भिक शिक्षा के छः वर्षों में जापानी भाषा के अतिरिक्त गणित, भूगोल, इतिहास, विज्ञान और ड्राइंग की भी शिक्षा दी जाती थी। साथ ही, कृषि, व्यापार और इंगलिश भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान भी प्रत्येक विद्यार्थी को प्रारम्भिक शिक्षा के छः वर्षों में ही करा दिया जाता था।

साक्षरता और विद्या के इस प्रसार के कारण जापान की उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली। यह सम्भव नहीं था, कि प्रारम्भिक शिक्षा को समाप्त कर चुकने पर प्रत्येक विद्यार्थी हाईस्कूल और कालिज में प्रविष्ट होकर उच्च शिक्षा प्राप्त कर सके। इसका कारण यह था, कि इस समय जापान में उच्च शिक्षा की संस्थाओं की बहुत कमी थी। सरकार प्रधानतया प्रारम्भिक शिक्षा पर ही ध्यान दे रही थी। पर सरकारी सहायता से बहुत-से हाईस्कूल और कालिज भी इस समय जापान में स्थापित किये गये। इनमें ऐसी संस्थाएं अधिक थीं, जो व्यापार, व्यवसाय, शिल्प और कृषि की शिक्षा देती थीं। जापानी लोग भली-भांति अनुभव करते थे, कि देश का हित व कल्याण इसी बात में है, कि विद्यार्थी लोग जीवन संघर्ष में पड़कर आर्थिक दृष्टि से सफल हों और देश की व्यावसायिक एवं आर्थिक उन्नति में सहायक हों।

जापान के शिक्षणालयों में पढ़ाई के साथ-साथ चरित्र-निर्माण और देश भक्ति पर पर भी बहुत जोर दिया जाता था। प्रत्येक जापानी विद्यार्थी बड़ा होकर एक उत्तम नागरिक बने और देश के प्रति अपने कर्त्तव्यों का भली-भांति पालन करे, यह भावना विद्यार्थियों में कूट-कूट कर भर दी जाती थी। सम्राट् के प्रति भक्ति, देश के प्रति प्रेम अपने समाज की परम्पराओं व रीति-रिवाजों के प्रति निष्ठा, और बड़ों की आज्ञाओं का पालन—ये बातें थीं, जिनकी शिक्षा साधारण पढ़ाई के साथ-साथ प्रत्येक जापानी विद्यार्थी भली-भांति प्राप्त कर लेता था।

स्त्री शिक्षा—जापान की सरकार ने देश में शिक्षा के प्रसार पर ध्यान देते हुए स्त्री-शिक्षा के लिए भी बहुत प्रयत्न किया। उन्नीसवीं सदी तक जापान में यह माना जाता था, कि स्त्रियों का कार्यक्षेत्र केवल घर है, और उन्हें इस ढंग की शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे कि वे अपने गृहस्थ जीवन का सुचारु रूप से संचालन कर सकें। पर बीसवीं सदी में इस विचार में परिवर्तन आना शुरू हुआ। प्रारम्भिक शिक्षा जहां बालकों के लिए आवश्यक व बाधित थी, वहां बालिकाओं के लिए भी यह जरूरी था, कि वे अनिवार्य रूप से स्कूलों में भरती हों। प्रारम्भिक शिक्षणालयों में बालक-बालिकाएं एक साथ शिक्षा प्राप्त करती थीं। सम्राट् मेइजी की शक्ति की पुनःस्थापना के कुछ साल बाद ही १८७१ में पांच जापानी युवतियों को इस उद्देश्य से विदेश भेजा गया था, कि वे वहां उच्च शिक्षा प्राप्त करके अपने देश में स्त्री-शिक्षा के प्रसार में दिलचस्पी लें। ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित संस्थाओं में भी बालिकाओं की उच्च शिक्षा का समुचित प्रबन्ध था। बीसवीं सदी के शुरू होने के बाद सरकार द्वारा स्त्री-शिक्षा पर विशेष रूप से ध्यान दिया गया, और बहुत-से नये हाई स्कूल व कालिज स्त्रियों की शिक्षा के लिए स्थापित किए गए। अनेक ऐसे शिक्षणालय भी स्त्रियों के लिए खोले गए, जिनमें उन्हें अध्यापिका का कार्य करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता था। इन ट्रेनिंग कालिजों की आवश्यकता इसलिये अधिक थी, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षणालयों में अध्यापन का कार्य मुख्यतया अध्यापिकाओं के ही सुपुर्द किया गया था। १९०१ में जापानी महिला विश्वविद्यालय की भी स्थापना कर दी गई थी, जिसमें स्त्रियों को उच्चतम शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिलता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री-शिक्षा के प्रसार का यह परिणाम हुआ, कि बहुत-सी स्त्रियों ने अध्यापिका, चिकित्सक, पत्रकार, वकील आदि के रूप में स्वतन्त्रता के साथ अपनी आजीविका का उपार्जन प्रारम्भ किया। अब उनका कार्यक्षेत्र केवल घर तक ही सीमित नहीं रह गया। जो बालिकाएं उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए हाईस्कूलों और कालिजों में प्रविष्ट होती थीं, उनका विवाह किशोरावस्था में सम्भव नहीं हो सकता था। शिक्षा के कारण स्त्रियों के गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की आयु भी निरन्तर ऊंची होती जाती थी, और इससे जापानी स्त्रियों का सारा जीवन केवल पत्नी बनकर पति और अन्य कुटुम्बियों की सेवा में ही व्यतीत नहीं हो जाता था। उनमें स्वतन्त्रता और आत्म-निर्भरता की भावनाएं निरन्तर प्रबल होती जाती थीं।

पत्र-पत्रिकाएं—शिक्षा के प्रसार का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि जापान में पत्र-पत्रिकाओं की असाधारण रूप से उन्नति हो। रिक्शा खींचने वाले कुली तक जापान में अपना अखबार खरीदते थे, और उसे पढ़कर देश-विदेश के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करते थे। जापान में पहला दैनिक पत्र १८७२ में प्रकाशित होना शुरू हुआ था। १९३० तक दैनिक-पत्रों की लोकप्रियता इस हद तक बढ़ गई थी, कि प्रसिद्ध व्यावसायिक नगर ओसाका से प्रकाशित होने वाले दो दैनिक अखबारों की दस लाख से भी अधिक प्रतियां प्रतिदिन बिक जाती थीं। तोक्यों से निकलने वाले दो प्रमुख दैनिक पत्रों की साढ़े छः लाख से भी अधिक प्रतियां प्रतिदिन छपा करती थीं। इन चार अत्यन्त लोकप्रिय पत्रों के अतिरिक्त एक हजार से भी अधिक अन्य दैनिक पत्र जापान के विविध नगरों से प्रकाशित होने लगे थे। साढ़े छः करोड़ के लगभग जनसंख्या के देश में एक हजार से भी अधिक दैनिक समाचार-पत्रों का प्रकाशित होना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि जापान की जनता को देश विदेश में होने वाली घटनाओं में अत्यधिक दिलचस्पी थी। लोकमत के निर्माण में इन पत्रों का बड़ा हाथ था। जापान के समाचार-पत्र स्वतन्त्र रूप से अपने विचारों को प्रकट कर सकते थे। प्रेस-सम्बन्धी जो कानून वहाँ विद्यमान था, उसके द्वारा समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता में तभी हस्तक्षेप किया जा सकता था, जबकि वे कोई ऐसा लेख प्रकाशित करें, जो देश में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रखने में बाधक हो। सम्राट् के प्रति भक्ति के विरोध में या समाजवाद (कम्युनिज्म) के प्रचार के लिए यदि कोई लेख समाचार-पत्रों में छपते थे, तो सरकार उन्हें नहीं सह सकती थीं। पर इन दो बातों के अतिरिक्त अन्य मामलों में समाचार-पत्रों के संचालकों को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

दैनिक समाचार-पत्रों के अतिरिक्त साप्ताहिक, त्रैमासिक और मासिक पत्र भी जापान में बहुत बड़ी संख्या में प्रकाशित होते थे। जापानी भाषा में प्रकाशित होने वाली पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं में भी अनेक पत्र-पत्रिकाएं जापान में प्रकाशित होती थीं। जापान के दैनिक पत्रों में सबसे प्रमुख स्थान अशाई शिम्बुन और मैनिशी शिम्बुन का है, जो ओसाका से प्रकाशित होते हैं, और जिनमें से प्रत्येक की दस लाख से अधिक प्रतियां १९३१ तक प्रतिदिन छपनी शुरू हो गई थी।

साहित्य—यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि जापान के विशाल साहित्य के सम्बन्ध में अत्यन्त संक्षिप्त रूप से भी उल्लेख कर सकें। पर कुछ बातों का निर्देश करना इस इतिहास के लिए अवश्य उपयोगी होगा। आधुनिक युग के प्रारम्भ से पूर्व जापान के साहित्य पर चीन का प्रभाव बहुत अधिक था। बौद्ध धर्म का जापान में प्रवेश चीन द्वारा ही हुआ था। अतः यह स्वाभाविक था, कि जापान के धार्मिक साहित्य पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन का प्रभाव हो। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में जब पाश्चात्य देशों के साथ जापान का सम्पर्क हुआ और उसने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को अपनाना शुरू किया, तो जापानी लोगों ने पाश्चात्य साहित्य के अनुशीलन पर विशेष ध्यान देना प्रारम्भ किया। अनेक पाश्चात्य ग्रन्थों का जापानी भाषा में अनुवाद हुआ, और हजारों की संख्या में जापानी विद्यार्थी उच्च शिक्षा के लिये अमेरिका और यूरोप जाने लगे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापानी साहित्य पर भी पाश्चात्य देशों का असर पड़े। यही कारण है, कि इस काल के जापानी साहित्य पर अंग्रेजी, फ्रेञ्च और रूसी लेखकों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में शोयो, कोयो और रोहान नामक तीन प्रसिद्ध साहित्यिक जापान में हुए, जिनको संसार के सर्वोत्कृष्ट साहित्यिकों में गिना जा सकता है। इनमें से शोयो साहित्य के उस सम्प्रदाय का प्रतिनिधि था, जिसे रोमान्टिक कहते हैं। कोयो की कृतियों की विशेषता यह थी, कि वह प्रतिपाद्य विषय की यथार्थता (रीयलिज्म) को बहुत महत्त्व देता था। समाज के विभिन्न चरित्रों का यथार्थ रूप से चित्र-निरूपण करने में उसने असाधारण सफलता प्राप्त की थी। रोहान साहित्य के उस सम्प्रदाय का प्रवर्तक था, जिसे आइडियलिस्ट (आदर्शवादी) कहा जाता है। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक जापान के साहित्य में रोमान्टिक सम्प्रदाय का प्रभुत्व रहा। पर १९०० के बाद यथार्थवाद का जोर बढ़ना शुरू हुआ, और फ्रांस आदि पाश्चात्य देशों के यथार्थवादी साहित्यिकों के समान जापान के साहित्यिक भी यथार्थवाद का अनुसरण करने लगे। यथार्थवाद के नाम पर कतिपय जापानी लेखकों ने अपने ग्रन्थों में अश्लीलता को ले आने में भी संकोच नहीं किया।

उपन्यास, नाटक, काव्य आदि सभी क्षेत्रों में इस समय जापान ने असाधारण उन्नति की। पुराने समय में जापान के काव्य पर राजदरबार का प्रभाव बहुत अधिक था। सम्राट् और सामन्त राजाओं का आश्रय प्राप्त कर अनेक कवि ऐसी कविताओं की रचना में प्रवृत्त रहते थे, जो राजदरबारों के सम्पन्न लोगों की रुचि के अनुकूल होती थी। पर आधुनिक युग में ऐसे काव्यों का विकास प्रारम्भ हुआ, जिनमें जनसाधारण की रुचि को अधिक महत्त्व दिया जाता था। नाटक के क्षेत्र में भी इस समय बहुत उन्नति हुई। नृत्य और संगीत-प्रधान नाटकों का स्थान ऐसे नाटक लेने लगे, जिनमें सब प्रकार के भावों एवं रसों की अभिव्यक्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता था। शेक्सपियर आदि पाश्चात्य साहित्यिकों के नाटकों का जापानी भाषा में अनुवाद हो जाने के कारण जापान के अनेक साहित्यिकों ने भी यूरोपियन ढंग के नाटक लिखने शुरू किये, और जब रंगमंच पर उनका अभिनय प्रारम्भ हुआ, तो नाटक की कला में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी था।

साहित्यिक पुस्तकों के अतिरिक्त विज्ञान, दर्शन, कला आदि पर भी सब प्रकार के ग्रन्थ इस समय जापानी भाषा में प्रकाशित हुए। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, सैनिक विद्या, रसायन, भौतिक विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र आदि कोई भी विषय ऐसा नहीं रहा, जिस पर जापान में प्रामाणिक साहित्य की रचना न हुई हो। विश्वविद्यालयों में उच्च से उच्च शिक्षा जापानी भाषा में दी जाने लगी, और बहुत-से चीनी विद्यार्थी भी अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए जापान आने लगे। पाश्चात्य देशों के समान जापान भी वैज्ञानिक खोज में तत्पर हुआ, और उसके वैज्ञानिकों द्वारा किये गये अनुसंधान संसार में सर्वत्र मान्य होने लगे।

(४) सामाजिक उन्नति

पारिवारिक दशा—चीन के समान जापान में भी सामाजिक संगठन का आधार परिवार होता था। परिवार या कुल के विविध व्यक्ति एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव करते थे, और अपने कुलवृद्ध के शासन में रहते थे । पितृपूजा जापान में भी प्रचलित थी। प्रत्येक परिवार अपना यह पवित्र कर्तव्य समझता था, कि अनेक प्रकार के अनुष्ठानों का अनुसरण कर अपने पितरों की पूजा करे । आधुनिक युग के सूत्रपात के साथ यह स्वाभाविक था, कि परिवार के संगठन में शिथिलता आने लगे। व्यावसायिक उन्नति के कारण शहरों में मजदूरों की मांग में बहुत वृद्धि हो रही थी । आजीविका प्राप्त करने के लालच से जो बहुत-से लोग इस समय अपने कुलक्रमानुगत घर को छोड़कर शहरों में या सुदूर विदेशों में जा बसने के लिए विवश हो रहे थे, उनके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे अपने कुल के साथ सम्पर्क रख सकें, या परिवार की प्राचीन समाधियों की पूजा कर सकें। जो लोग अपने घर छोड़कर नये प्रदेशों में बस जाते थे, वे अपना नया घर बनाते थे और कुल-वृद्धों का शासन उन पर नहीं रह पाता था। बीसवीं सदी में यह प्रवृत्ति बहुत जोर पकड़ गई थी, और जापान की जनता कुल या बिरादरी की परम्परा-गत मर्यादाओं से बहुत कुछ स्वतन्त्र होने लग गई थी। निःसन्देह, जापान के सामाजिक जीवन में यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन था।

पुराने समय में युवक और युवतियों के वैवाहिक सम्बन्ध का निश्चय उनके माता पिता या कुलवृद्ध लोग किया करते थे । पर शिक्षा के प्रसार के कारण अब युवकों एवं युवतियों में यह प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ रही थी, कि वे स्वयं अपने जीवन-साथी को चुनें। शिक्षित जापानियों में यह प्रायः आवश्यक-सा हो गया था कि विवाह-सम्बन्ध के तय होने से पूर्व वे एक बार अपने जीवन साथी से भेंट कर लें और उसके सम्बन्ध में अपना मत स्थिर कर लें । पर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो विवाह से पूर्व अपने होने वाले पति या पत्नी से घनिष्ठ परिचय प्राप्त कर लेने की आवश्यकता समझते थे। बड़ी उमर में विवाह होने के कारण अब कुलवृद्धों के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे विवाह के मामले में अपनी सन्तान की सम्मति की उपेक्षा कर सकें।

स्त्रियों की स्थिति—शिक्षा के प्रसार के कारण स्त्रियां घर के तंग दायरे से निकल कर स्वयं आर्थिक उपार्जन के लिए प्रवृत्त होने लगी थीं, इस बात को पहले स्पष्ट किया जा चुका है । जापान की सुशिक्षित महिलाएं पुरुषों के समान ही जीवन-संघर्ष में तत्पर रहती थीं, और किसी भी प्रकार अपने को उनसे हीन नहीं समझती थीं । गरीब घरों की स्त्रियां भी आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर कारखानों में काम करने के लिये जाने लगी थीं। हम ऊपर लिख चुके हैं, कि कारखानों में उनकी संख्या पुरुष मजदूरों के मुकाबिले में अधिक होती थी। जापान में परदे का रिवाज नहीं था । स्त्रियाँ न केवल घर को सम्भालती थीं, अपितु आर्थिक उत्पत्ति में भी पुरुषों का हाथ बटाती थीं।

इस प्रसंग में यह भी आवश्यक है, कि हम जापान की स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातों का उल्लेख करें, जिन्हें नैतिक दृष्टि से आदर्श नहीं माना जा सकता। कार-खानों में काम करने वाली गरीब स्त्रियां व बालिकाएं अपने चरित्र को ठीक नहीं रख पाती थीं, इसका निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। इसके साथ ही यह भी बता देना आव-श्यक है, कि जापान में वेश्यावृत्ति का बहुत जोर था। गरीब घरों की बहुत-सी स्त्रियां वेश्यावृत्ति द्वारा अपना और अपने परिवार का पालन करने के लिए विवश होती थीं । वेश्यावृत्ति को अन्य अनेक पेशों के समान एक पेशा ही माना जाता था। सरकार इस पेशे को कानून से रोकने की आवश्यकता नहीं समझती थी। जापान में यह भी प्रथा थी, कि वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों को सरकार की ओर से लाइसेंस दिया जाय, और उनके स्वास्थ्य का बाकायदा निरीक्षण होता रहे। सन् १९२० में इस प्रकार लाइसेंस प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियों की संख्या पचास हजार से कम नहीं थी। ये स्त्रियां वेश्यावृत्ति को पसन्द करती हों, यह बात नहीं थी। बहुसंख्यक स्त्रियां इस पेशे को घृणा की दृष्टि से देखती थीं। विवशता के कारण ही वे इस घृणित पेशे का अनुसरण किया करती थीं। गरीबी से परेशान होकर बहुत-से माता पिता अपनी लड़कियों को चकलों में भेज देते थे। इसके लिए चकले का मालिक उन्हें कुछ सौ येन प्रदान कर देता था। यह रकम इनके नाम लिख ली जाती थी। साथ ही, वस्त्र, आभूषण और शृंगार के समान आदि के लिये चकले का मालिक जो रकम वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्री पर खर्च करता था, वह भी उसके नाम लिख लेता था। इस प्रकार प्रत्येक वेश्या ऋण के बोझ से दबी रहती थी। जब तक वह अपनी कमाई से इस रकम को अदा न कर दे, वह छुटकारा नहीं पा सकती थी। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिए, कि वेश्यावृत्ति करने वाली स्त्रियां प्रायः समाज के सबसे गरीब और सबसे हीन वर्ग की होती थीं। जापान में एक ऐसा वर्ग भी था, जिसे अछूत समझा जाता था। इस वर्ग को वहां एता कहते थे। इनकी प्रायः वही स्थिति होती थी, जो भारत में अछूत जातियों की है। ये शहर या गांव से बाहर पृथक् बस्ती में निवास करते थे, और इनके लिये अपना निर्वाह करना भी कठिन होता था। इस दशा में यदि ये अपनी लड़कियों को चकलों में भेजकर अपनी आर्थिक समस्या को हल करने का प्रयत्न करें, तो इसे सर्वथा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। यहां यह लिख देना भी आवश्यक है, कि उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य संसार के बहुसंख्यक देशों में भी वेश्यावृत्ति को कानून द्वारा अभिमत माना जाता था, और वहां के चकलों में भी वेश्यावृत्ति की वही दशा थी, जो जापान में थी।

चकलों में काम करने वाली वेश्याओं के अतिरिक्त जापान में स्त्रियों का एक अन्य वर्ग भी था, जो होटलों, नाच-घरों व चाय की दुकानों में काम करके अपना निर्वाह करता था। इनकी स्थिति वेश्याओं की अपेक्षा ऊंची होती थी। साथ ही, अनेक युवतियां गैशा रूप से भी जनता का मनोरंजन करने का पेशा करती थीं। गैशा वृत्ति के लिये बालिकाओं को बाकायदा शिक्षा दी जाती थी। गैशा का कार्य वेश्या से बहुत भिन्न है। वे रुपये के लिये अपने शरीर को नहीं बेचतीं, अपितु लोगों का मनोरंजन करके ही धन पैदा करती हैं।

ज्यों-ज्यों जापान में आर्थिक उन्नति होती गई, वेश्यावृत्ति भी वहां कम होती गई। इस पेशे का मुख्य कारण आर्थिक ही था। जब जापान की स्त्रियों के लिये अन्य उपायों से धनोपार्जन कर सकना सुगम हो गया, तो इस पेशे की आवश्यकता निरन्तर कम होती गई।

श्रेणि भेद—भारत के समाज में जिस प्रकार का वर्ण-भेद और जाति-भेद विद्यमान है, वैसा जापान में नहीं था। आधुनिक युग के प्रारम्भ से पूर्व जापान की जनता को सामाजिक दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता था—(१) कुलीन श्रेणी, जिसमें राजकुल और सामन्त राजाओं के कुलों के साथ सम्बन्ध रखने वाले लोग अन्तर्गत थे। (२) सर्वसाधारण जनता—जिसमें खेती, शिल्प, व्यवसाय और मजदूरी आदि से निर्वाह करने वाले लोग सम्मिलित थे। (३) एता श्रेणी—जिसमें वे लोग अन्तर्गत थे, जो अछूत समझे जाते थे और जो अत्यधिक गरीब थे। ये लोग नगरों व ग्रामों के बाहर पृथक् बस्तियों में निवास करते थे। अन्य जनता के साथ इनका सम्पर्क बहुत कम होता था।

आधुनिक युग का प्रारम्भ होने पर इस श्रेणी-भेद में भी अन्तर आना शुरू हो हो गया। सामन्त पद्धति का अन्त हो जाने से पुरानी कुलीन श्रेणि का महत्त्व कम होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा, और व्यवसाय व व्यापार का अनुसरण कर सर्वसाधारण जनता के भी बहुत-से लोग धनी होकर सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त करने लगे। नये युग की भावनाओं से प्रेरित होकर सरकार ने अनेक ऐसे कानून बनाए, जिनसे एता लोगों को अन्य जनता के समान अधिकार दिये गये। उनके लिये भी शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया। इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि एता लोगों की सामाजिक स्थिति में भी उन्नति हो। पर अनेक सदियों से एता लोगों में अपने को हीन एवं नीच समझने की भावना इतनी बद्धमूल थी और आर्थिक दृष्टि से वे इतने गरीब थे, कि उनके लिए यह सम्भव व क्रियात्मक ही नहीं था, कि कानून की दृष्टि से अन्य लोगों के समकक्ष हो जाने पर भी वे वस्तुतः अन्य लोगों के समान स्थिति प्राप्त कर सकें। पर यह स्पष्ट है, कि आधुनिक युग की प्रवृत्तियां जापान में भी बड़ी तेजी के साथ कार्य कर रही थीं, और श्रेणि व वर्ग का भेद वहाँ निरन्तर कम होता जा रहा था।

पर नये युग की परिस्थितियाँ जापान में भी उसी प्रकार का नया श्रेणि-भेद विकसित करने में तत्पर थीं, जैसा कि उन्नीसवीं सदी में यूरोप के व्यावसाय-प्रधान देशों में विकसित हो रहा था। पूँजीपतियों और मजदूरों के रूप में इस समय जापान में दो ऐसे वर्ग विकसित हो रहे थे, जो एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् थे, जिनके हितों में स्वाभाविक विरोध था, और जिनमें समन्वय व सामंजस्य स्थापित कर सकना सुगम नहीं था। यही कारण है, कि पाश्चात्य देशों के समान जापान में भी मजदूर आन्दोलन का सूत्रपात हुआ।

(५) धार्मिक दशा

जापान की बहुसंख्यक जनता बौद्ध धर्म का अनुसरण करती थी, पर चीनी लोगों के समान उस पर भी कन्फ्यूसियस की नैतिक शिक्षाओं का प्रभाव था। चीन के प्रसिद्ध आचार्य कन्फ्यूसियस ने चरित्र निर्माण और नैतिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में जो शिक्षाएं दी थीं, जापानी लोग उन्हें आदर्श मानते थे, और यथाशक्ति उनका अनुसरण करने का प्रयत्न करते थे। इसलिए जापान के शिक्षित एवं उच्च वर्गों में कन्फ्यूसियस के ग्रन्थों को बड़े आदर के साथ पढ़ा जाता था। इसके अतिरिक्त जापान में बौद्ध धर्म के प्रवेश से पूर्व जो धर्म विद्यमान था, उसका प्रभाव भी अभी वहां जनता पर मौजूद था। इस धर्म को शिन्तो कहते थे। शौगून शासन का अन्त होने पर जब सम्राट् की शक्ति का पुनरुद्धार हुआ, तो इस शिन्तो धर्म को भी बल मिला। इस धर्म के अनुसार कुछ देवी-देवता ऐसे थे, जिनकी पूजा जापान में सर्वत्र प्रचलित थी। इन देवताओं के विशाल मन्दिर जापान में अनेक स्थानों पर विद्यमान थे। शिन्तो धर्म के इन मन्दिरों में जिन देवताओं की पूजा होती थी, उनका सम्बन्ध जापान के प्राचीन इतिहास के साथ था। जिस प्रकार भारत में राम, सीता, राधा, कृष्ण, शिव, पार्वती, अर्जुन, भीम आदि की देवताओं के रूप में पूजा प्रचलित है, पर वस्तुतः इनका भारत के प्राचीन इतिहास से सम्बन्ध है, और इनके जीवन की अनेक घटनाएं पौराणिक ग्रन्थों में संगृहीत हैं, उसी प्रकार जापान के शिन्तो धर्म के भी बहुत-से देवी देवता ऐसे थे, जिनका सम्बन्ध उसकी प्राचीन पौराणिक गाथाओं के साथ में है। सम्पूर्ण जापान में सर्वमान्य देवी देवताओं के अतिरिक्त बहुत-से देवी देवता ऐसे भी थे, जिनकी पूजा केवल किसी विशिष्ट प्रदेश में या ग्राम में ही की जाती थी। इनका सम्बन्ध उस प्रदेश व ग्राम के किसी प्राचीन व्यक्ति से था, जिस की स्मृति वहां की जनता में अब तक विद्यमान थी। साथ ही, प्रत्येक कुल का अपना पृथक् मन्दिर भी होता था, जिसमें उस कुल के पितरों की पूजा की जाती थी। जापानी लोग यह मानते थे, कि मरने के साथ मनुष्य की आत्मा का अन्त नहीं हो जाता। 'कामी' रूप से उसकी सत्ता मृत्यु के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाद भी कायम रहती है। इनकी देवरूप से पूजा करने के लिए जापानी लोग अनेक विधि-विधानों का अनुष्ठान किया करते थे। १९३३ में शिन्तो धर्म के सब प्रकार के मन्दिरों की संख्या १,११,०७३ थी, जिनमें १५,५८९ पुजारी पूजा का कार्य किया करते थे। छोटे-छोटे मन्दिरों में पृथक् रूप से पुजारियों की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी, इसी-लिए मन्दिरों की अपेक्षा पुजारियों की संख्या कम थी। शिन्तो धर्म द्वारा जापान के लोगों में यह भावना जागृत रहती थी, कि उनका देश बहुत प्राचीन व गौरवशाली है, उनकी अपनी उत्पत्ति देवताओं द्वारा हुई है, और वे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक ऊंचे व उत्कृष्ट हैं। शिन्तो धर्म द्वारा जापानी लोग यह समझते थे, कि सम्राट् का प्रादुर्भाव भी एक अत्यन्त शक्तिशाली देवता द्वारा हुआ है, और वह स्वयं देवतारूप है। सम्राट् के प्रति भक्ति और देश के प्रति प्रेम की भावना को विकसित करने में शिन्तो धर्म का भारी उप-योग था। यह नहीं समझना चाहिए, कि शिन्तो धर्म के अनुयायी और बौद्ध लोग उस प्रकार एक-दूसरे से भिन्न थे, जैसे कि हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई लोग एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। जापान की सर्वसाधारण जनता बौद्ध धर्म की अनुयायी थी, पर साथ ही शिन्तो धर्म के देवी देवताओं की भी पूजा करती थी। शिन्तो धर्म उन अर्थों में मत, धर्म या सम्प्रदाय नहीं था, जिन अर्थों में कि क्रिश्चिएनिटी या इस्लाम हैं। इसीलिए जापान की जनता इसे एक पृथक् धर्म या मत के रूप में नहीं देखती थी। बौद्ध लोग शिन्तो देवी देव-ताओं को मानते थे। वे कहते थे, कि शिन्तो देवी देवता भी भगवान बुद्ध के ही पूर्वावतार थे। बौद्धों ने शिन्तो धर्म के साथ इस ढंग से समन्वय व सामञ्जस्य स्थापित कर लिया था, कि वे मिलकर एक हो गये थे, और उनकी पृथक् सत्ता नहीं रह गयी थी। एशिया के बहुसंख्यक धार्मिक आन्दोलन धर्म के मामले में समन्वयवाद के अनुयायी रहे हैं। भारत में बौद्ध और सनातन हिन्दू धर्म में इस ढंग से समन्वय हो गया, कि हिन्दू लोग बुद्ध को अपने दशावतारों में गिनने लगे थे। बौद्धों ने भी भारत के बहुत-से प्राचीन देवी देवताओं को अपने धर्म में इस ढंग से समाविष्ट कर लिया था, कि वे बौद्ध धर्म के ही अंग बन गये थे। तिब्बत, चीन आदि जिन देशों में भी बौद्ध धर्म का प्रचार हुआ, सर्वत्र यही प्रक्रिया हुई। जापान में भी शिन्तो धर्म और बौद्ध धर्म में एक प्रकार का समन्वय व अभेद स्थापित हो गया था।

जापान का बौद्ध धर्म बारह सम्प्रदायों में विभक्त था। इनमें तीन प्रमुख थे, जन, निचिरिन और शिन। सब बौद्ध सम्प्रदायों के कुल मिलाकर ७१,००० से भी अधिक मन्दिर १९३१ में जापान में विद्यमान थे, जिनमें कार्य करने वाले पुरोहितों की संख्या ५४,००० से भी अधिक थी। बौद्ध धर्म के ये मन्दिर व विहार कला की दृष्टि से अनुपम थे। बौद्ध धर्म ने जापान में जाकर एक ऐसी उत्कृष्ट कला का विकास किया था, जो वस्तुतः अनुपम थी। क्रिश्चियन मिशनरियों के सम्पर्क में आने के कारण बौद्ध धर्म में भी नवजीवन का संचार हो गया था। बौद्ध धर्म के भिक्षुओं और नेताओं ने यह अनुभव किया था, कि ईसाई धर्म के प्रचार का मुकाबिला वे तभी कर सकते हैं, जबकि बौद्ध लोगों द्वारा भी शिक्षणालय तथा चिकित्सालय खोले जाएं, सर्वसाधारण जनता में कार्य किया जाय, और नवयुवकों में बौद्ध धर्म के प्रति आकर्षण व उत्साह उत्पन्न किया जाय। इसीलिए ईसाइयों के यंगमेन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन ने अनुकरण में जापान के बौद्धों ने यंगमेन्स बुद्धिस्ट एसोसियेशन का संगठन किया और यह एसोसियेशन भी जापानी नवयुवकों में कार्य करने के लिए तत्पर हुआ। बौद्धों की ओर से जापान में अनेक स्कूल और अस्पताल भी खोले गए। फार्मूसा, कोरिया और चीन आदि में भी जापानी बुद्धिस्ट मिशन ने कार्य प्रारम्भ किया। विदेशों में स्थापित ये बौद्ध मिशन जहां उन देशों के लोगों में अपने धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रति उत्साह को उत्पन्न करते थे, वहां साथ ही जापान के साम्राज्य-विस्तार में भी सहायक होते थे। जापानी लोगों ने जिस प्रकार पाश्चात्य संसार के ज्ञान-विज्ञान को अपनाया था, वैसे ही उन्होंने उनके साम्राज्य-विस्तार के तरीकों का भी अनुसरण किया था।

ईसाई धर्म का जापान में प्रवेश सबसे पूर्व सोलहवीं सदी में हुआ। पर जापानी सरकार ने पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क का अन्त करने के साथ-साथ ईसाई धर्म के प्रचार को भी कानून द्वारा रोक दिया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जब जापान और पाश्चात्य देशों का सम्पर्क पुनःस्थापित हुआ, तो ईसाई मिशनरियों ने भी वहां अपने प्रचार कार्य को शुरू कर दिया। फ्रांस का रोमन कैथोलिक मिशन और रूस का आर्थोडोक्स चर्च वहां विशेष रूप से धर्म प्रचार के कार्य में तत्पर हुए। बाद में प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदायों ने भी जापान में कार्य शुरू किया। पर शुरू में विविध ईसाई मिशनों को विशेष सफलता नहीं मिली। १९३३ तक जापान में ईसाई लोगों की कुल संख्या तीन लाख से अधिक नहीं थी। आधी सदी के निरन्तर प्रयत्न से १९१५ तक ईसाई लोग केवल डेढ़ लाख के लगभग जापानियों को अपने धर्म में दीक्षित कर सके थे। १९१५ से १९३३ तक वे डेढ़ लाख अन्य जापानियों को अपने धर्म में ले आ सकने में समर्थ हुए। जापान में ईसाई प्रचारकों को अपने सफलता नहीं मिल सकी, इसका प्रधान कारण यह था कि जापानी लोगों में अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम बहुत उत्कट था। वे विदेशी धर्म को स्वीकार करने के लिए कोई आकर्षण अनुभव नहीं करते थे। बौद्ध धर्म में नवजीवन का संचार हो जाने के कारण जापानी लोगों ने इस बात की आवश्यकता भी अनुभव नहीं की थी, कि वे किसी अन्य धर्म को अपनाएं। जापान में ईसाई धर्म का जो प्रचार हुआ, उसमें भी उन जापानी मिशनरियों का विशेष कर्त्तृत्व था, जिन्होंने कि शुरू में ही ईसाई धर्म को अपना कर जापानी भाषा और जापानी पुस्तकों द्वारा उसका प्रचार प्रारम्भ किया था।

(६) १९३१ का जापान

इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व यह उपयोगी होगा, कि हम संक्षेप के साथ इस बात का पुनः उल्लेख कर दें, कि १९३१ में जब कि जापान एक बार फिर साम्राज्य-विस्तार के लिए अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ प्रवृत्त हुआ, तो उसकी क्या दशा थी। फार्मूसा और कोरिया इस समय जापान के अधीन थे। फार्मूसा के समीपवर्ती पेस्कादोरस द्वीप-समूह और दक्षिणी सखालिन पर भी उसका आधिपत्य था। प्रशान्त महासागर में विद्यमान बहुत-से छोटे-छोटे द्वीप-समूह भी उसके कब्जे में थे। मंचूरिया में उसका आर्थिक प्रभाव-क्षेत्र विद्यमान था। लिआओतुंग प्रायद्वीप पर उसका प्रभुत्व था और मञ्चूरिया में उसकी सेनाएं भी स्थापित थीं। पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उसकी स्थिति इतनी सुदृढ़ थी, कि वह निश्चिन्त होकर साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रवृत्त हो सकता था। जलसेना और सामुद्रिक शक्ति की दृष्टि से वह संसार में तीसरा स्थान रखता था। उसकी स्थल सेना भी अत्यधिक शक्तिशाली थी। व्यवसाय और व्यापार के क्षेत्र में वह ब्रिटेन और अमेरिका सदृश उन्नत व समृद्ध देशों का समकक्ष था। उसकी राजधानी तोक्यो जनसंख्या की दृष्टि से संसार में तीसरा स्थान रखती थी। तीन चौथाई सदी के लगभग समय में पूर्वी एशिया का यह छोटा-सा देश इतना अधिक शक्तिशाली और समृद्ध हो गया था, कि वह उन्नत से उन्नत पाश्चात्य देश के साथ लोहा ले सकता था। जापान की यह उन्नति वस्तुतः आश्चर्यजनक है, और संसार के इतिहास में इसका उदाहरण अन्यत्र पा सकना सुगम नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पन्द्रहवां अध्याय

फिलिप्पीन द्वीप-समूह

(१) फिलिप्पीन पर स्पेन का प्रभुत्व

जापान के दक्षिण और विएत-नाम के पूर्व में जो फिलिप्पीन द्वीप-समूह है, उसमें कुल मिलाकर ३१४१ द्वीप अन्तर्गत हैं। इन द्वीपों में लूजोन और मिन्दानाओ आकार में अच्छे बड़े हैं, और ये ही फिलिप्पीन के प्रमुख द्वीप हैं। इनके अतिरिक्त अन्य सब द्वीप छोटे-छोटे हैं। फिलिप्पीन द्वीप-समूह के बहुसंख्यक निवासी जाति की दृष्टि से मलाया के लोगों से मिलते जुलते हैं। वहां अनेक भाषाएं बोली जाती हैं, और वहां के पर्वत-प्रधान प्रदेशों के निवासी नसल व जाति की दृष्टि से भी मैदान के रहने वालों से भिन्न हैं। फिलिप्पीन द्वीप-समूह के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में हमें अधिक ज्ञान नहीं है, और उस इतिहास का इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय के साथ सम्बन्ध भी नहीं दे। पन्द्रहवीं सदी में इन द्वीपों में इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ हुआ। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों व प्रदेशों में इस समय तक इस्लाम का भली भांति प्रवेश हो चुका था। धीरे-धीरे फिलिप्पीन द्वीपों में भी इस्लाम का प्रवेश हुआ, और दक्षिणी द्वीपों के बहुत-से लोगों ने इस धर्म को स्वीकार कर लिया। इस्लाम के प्रवेश से पूर्व फिलिप्पीन द्वीप-समूह के निवासी बाह्य प्रभाव से प्रायः वंचित थे। भारत के धर्म-प्रचारक और विजेता बरमा, मलाया, सियाम, इन्डोचाइना आदि देशों में अपना प्रभाव स्थापित कर चुके थे, पर फिलिप्पीन उनके सम्पर्क से पृथक् रहा था। चीन के लोगों ने कोरिया और जापान में तो अपना धार्मिक एवं सांस्कृतिक प्रभाव स्थापित किया था, पर फिलिप्पीन द्वीपों की ओर उनका भी ध्यान नहीं गया था। मुस्लिम लोग भी इन द्वीपों के बहुत थोड़े-से भाग को ही अपने प्रभाव में ला सके थे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि विदेशी प्रभाव से मुक्त रहते हुए भी इन द्वीपों के निवासियों ने सभ्यता के क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर ली थी। वे मकानों में रहते थे, खेती द्वारा अपने खाद्य अन्न को उत्पन्न करते थे, खेतों की सिंचाई की व्यवस्था करते थे, और धातुओं के उपयोग से भी परिचित थे। लिखने की कला को भी वे जानते थे, और इस कारण साहित्य की भी वहां सत्ता थी। यद्यपि हिन्दू और बौद्ध धर्मों के प्रचारक भी किसी प्राचीन काल में वहां पहुंचे थे, पर उनके धर्म का कोई विशेष प्रभाव पन्द्रहवीं सदी तक वहां विद्यमान नहीं रहा था। फिलिप्पीन द्वीपसमूह के जिन निवासियों ने इस्लाम को स्वीकृत कर लिया था, उनके अतिरिक्त अन्य लोग अपने देवी देवताओं की पूजा में तत्पर थे। किसी केन्द्रीय राजनीतिक संगठन का भी इन द्वीपों में अभाव था।

स्पेन का प्रभुत्व—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान फिलिप्पीन में भी सबसे पूर्व पोर्तुगीज लोग व्यापार का विस्तार करने के सिलसिले में गये थे। पर इस प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के कार्य में स्पेनिश लोगों को सफलता हुई। १५२१ में प्रसिद्ध स्पेनिश यात्री फर्डिनन्ड मैगेल्लन पृथ्वी की परिक्रमा करता हुआ फिलिप्पीन पहुंचा। मैगेल्लन वस्तुतः मलक्का पहुंचना चाहता था, जो कि उस युग में मसालों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। फिलिप्पीन पहुंच जाने पर उसने वहां स्पेन का आधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया, और वहां के निवासियों के साथ युद्ध करते हुए ही उसकी मृत्यु हुई। पर मैगेल्लन ने जो नया प्रदेश ढूंढ निकाला था, स्पेनिश लोग उसे सुगमता से छोड़ने वाले नहीं थे। अमेरिकन महाद्वीप के अच्छे बड़े भाग पर उनका प्रभुत्व था, और मैक्सिको में भी वे अपनी सत्ता को भली-भाँति स्थापित कर चुके थे। मैक्सिको के पश्चिमी समुद्रतट को अपना आधार बनाकर उन्होंने प्रशान्त महासागर को पार करना शुरू किया, और १५२७ तथा १५४२ में दो बार फिलिप्पीन पर आक्रमण किया। पर पोर्तुगीज़ लोग इस प्रदेश को अपने क्षेत्र में समझते थे। पोप की व्यवस्था के अनुसार उनका यह विचार था, कि पूर्वी एशिया के सब प्रदेशों पर उन्हीं का अधिकार है। इसलिए स्पेन के आक्रमणों का उन्होंने मुकाबिला किया, और १५२७ तथा १५४२ के हमलों में स्पेनिश लोगों को सफलता नहीं मिल सकी। बाद में पोर्तुगीज और स्पेनिश लोगों ने आपस में समझौता कर लिया, और १५६४ में एक शक्तिशाली स्पेनिश बेड़े ने मैक्सिको से फिलिप्पीन के प्रति प्रस्थान किया। सबसे पहले केबू द्वीप पर स्पेन का अधिकार स्थापित किया गया। यहीं पर युद्ध करते हुए १५२१ में मैगेल्लन की मृत्यु हुई थी। १५७१ में मनीला को जीत लिया गया। यह एक अच्छा समृद्ध बन्दरगाह था, और मुसलमानों के अधीन था। स्पेनिश विजेताओं ने मनीला को अपनी राजधानी बनाया, और उसे केन्द्र बनाकर धीरे-धीरे सम्पूर्ण फिलिप्पीन पर अपना शासन स्थापित कर लिया।

राजनीतिक दृष्टि से फिलिप्पीन द्वीप-समूह को अपने अधीन कर स्पेनिश लोगों ने वहां क्रिश्चिएनिटी का प्रचार प्रारम्भ किया। इस युग में स्पेन की साम्राज्य-विस्तार-सम्बन्धी नीति यह थी, कि अधीनस्थ देशों के धर्म, सभ्यता व संस्कृति को पूर्ण रूप से नष्ट कर उन्हें अविकल रूप से पाश्चात्य रंग में रंग लिया जाय। मैक्सिको आदि अमेरिकन प्रदेशों में भी स्पेनिश लोगों ने बल का प्रयोग कर ईसाई धर्म के प्रचार का प्रयत्न किया था। बहुत-से स्पेनिश पादरी इस समय फिलिप्पीन में आये, और उन्होंने जबर्दस्ती जनता को ईसाई बनाना शुरू किया। जो कोई व्यक्ति उनका विरोध करता था, उसे सबक सिखाने के लिये स्पेनिश सिपाही पादरियों के साथ रहते थे। फिलिप्पीन की बहुसंख्यक जनता बहुत भीरु थी, और अपने धर्म तथा संस्कृति के लिये उसके हृदय में विशेष निष्ठा भी नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि स्पेनिश पादरी अपने प्रयत्न में सफल हुए, और शीघ्र ही उन्होंने फिलिप्पीन द्वीपसमूह के बहुसंख्यक लोगों को ईसाई बना लिया। दक्षिणी फिलिप्पीन के मुस्लिम लोग ही ऐसे थे, जिन्होंने डटकर ईसाई पादरियों का मुकाबला किया, और अपने धर्म को छोड़ देना स्वीकार नहीं किया। यही कारण है, कि स्पेनिश लोग फिलिप्पीन के मुसलमानों को (जिन्हें स्पेन के लोग मोरो कहते थे) अपने धर्म में दीक्षित कर सकने में सफल नहीं हो सके। ईसाई पादरियों के प्रयत्न से फिलिप्पीन में सर्वत्र गिरजों की स्थापना की गई। ऐसे स्कूल खोले गये, जिनमें ईसाई धर्म की शिक्षा को प्रमुख स्थान दिया जाता था, और जनता को पश्चिमी ढंग से रहने-सहने का प्रकार सिखाया जाता था। इसमें सन्देह नहीं, कि स्पेन के रोमन कैथोलिक पादरी अपने प्रयत्न में सफल हुए, और शीघ्र ही उन्होंने फिलिप्पीन लोगों को अपने रंग में रंग लिया।

व्यापार के क्षेत्र में फिलिप्पीन के स्पेनिश शासकों को विशेष सफलता नहीं मिली। इसका मुख्य कारण यह था, कि वहां से स्पेन जाने का सीधा मार्ग मलाया आदि के उन प्रदेशों से होकर गुजरता था, जिन पर पोर्तुगाल और अन्य यूरोपियन देशों का कब्जा था। चीनी लोगों ने यह कोशिश की, कि वे फिलिप्पीन के साथ अपने व्यापार का विकास करें। पर इस उद्देश्य से जो चीनी व्यापारी वहां आये, स्पेनिश लोगों ने उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ बहुत बुरा बरताव किया। स्पेनिश लोग चीन के व्यापार की वृद्धि को रोकने का यही एक उपाय जानते थे, कि फिलिप्पीन में आने वाले चीनी व्यापारियों को मौत के घाट उतार दिया जाय। उन्होंने अनेक बार चीनी लोगों का कतले-आम भी किया। पर फिर भी चीनी व्यापारियों का वहां आना रुका नहीं, और फिलिप्पीन द्वीप-समूह का विदेशों के साथ जो भी व्यापार विकसित हुआ, उसका प्रधान श्रेय चीनी लोगों को ही है।

(२) फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर अमेरिकन प्रभुत्त्व

१५७१ से १८९८ तक फिलिप्पीन द्वीप-समूह स्पेन की अधीनता में रहा। इसके बाद उस पर संयुक्त-राज्य अमेरिका का आधिपत्य स्थापित हो गया। फरवरी, १८९८ में संयुक्त-राज्य अमेरिका और स्पेन में युद्ध का प्रारम्भ हुआ था। यहाँ हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि इस युद्ध के कारणों पर विशद रूप से प्रकाश डाल सकें। केवल इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भी अमेरिकन महाद्वीप के कतिपय प्रदेशों पर स्पेन का प्रभुत्त्व विद्यमान था। इन प्रदेशों पर स्पेन का शासन अत्यन्त अत्याचारमय था। इससे तंग आकर १८९५ में क्यूबा के लोगों ने स्पेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। स्पेन ने क्यूबा के विद्रोह को शान्त करने के लिये अत्यन्त उग्र उपायों का प्रयोग किया। अपने महाद्वीप के एक प्रदेश पर विदेशी राज्य द्वारा होने वाला यह अत्याचार अमेरिकन लोगों को असह्य था। अमेरिकन पूँजीपतियों ने क्यूबा के व्यवसायों में बहुत-सा धन लगा रखा था। अतः वे नहीं चाहते थे, कि स्पेन के दूषित शासन के कारण वहां निरन्तर विद्रोह होते रहें। उन्होंने आन्दोलन किया, कि अमेरिका को चाहिये कि क्यूबा को स्पेन के शासन से मुक्त कराए। इसी बीच में एक अमेरिकन जहाज क्यूबा के तट पर डुबो दिया गया। अमेरिकन लोगों ने इसके लिये स्पेन को दोषी ठहराया, और उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। स्पेन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह संयुक्त-राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्य का मुकाबिला कर सके। वह परास्त हो गया, और अगस्त, १८९८ तक युद्ध की समाप्ति हो गई। इस युद्ध के परिणामस्वरूप जहां अमेरिकन महाद्वीप के अनेक प्रदेश स्पेन की अधीनता से मुक्त हुए, वहां फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर भी अमेरिका ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। कमोडोर डयूई द्वारा १ मई, १८९८ को मनीला की खाड़ी के समीप स्पेन का जहाजी बेड़ा बुरी तरह परास्त किया गया, और फिलिप्पीन द्वीप-समूह से स्पेन के आधिपत्य का अन्त हो गया। अन्य पाश्चात्य देशों के समान अमेरिका भी इस समय साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हो रहा था। पूर्वी एशिया में अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिए वह प्रयत्नशील था। परिणाम यह हुआ, कि फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर अमेरिका ने अपना शासन कायम कर लिया। फिलिप्पीन पर अमेरिका का प्रभुत्त्व स्थापित करने का मुख्य श्रेय थियोडोर रूजवेल्ट को है, जो उस समय अमेरिकन जल-सेना का सहायक सचिव था। रूजवेल्ट ने ही यह योजना बनायी थी, कि स्पेन के युद्ध से लाभ उठाकर फिलिप्पीन को अपने प्रभुत्त्व में ले आया जाए।

स्वाधीनता के लिए संघर्ष—जिस समय फिलिप्पीन स्पेन के अधीन था, तभी वहां राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया था। पश्चिमी देशों के सम्पर्क में आकर जहां फिलिप्पीन लोगों ने उनके धर्म व रहन-सहन को स्वीकृत कर लिया था, वहां उनके विचारों का भी उन पर प्रभाव पड़ रहा था। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के विचारों से फिलिप्पीन लोग भी अछूते नहीं रहे थे। फिलिप्पीन के अनेक नवयुवकों ने पश्चिमी देशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और ये देशभक्त अपने देश को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र कराने के लिए प्रयत्नशील थे। इन देशभक्त नेताओं में जोसे रिजाल मर्कादो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मर्कादो के प्रयत्न से फिलिप्पीन में राष्ट्रीय आन्दोलन ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। स्पेनिश सरकार ने इस आन्दोलन को कुचलने के लिए अत्यन्त कठोर उपायों का अवलम्बन किया। १८९६ में मर्कादो को गिरफ्तार कर लिया गया, और उसे प्राणदण्ड दिया गया। पर रिजाल मर्कादो की मृत्यु के साथ फिलिप्पीन स्वतन्त्रता के आन्दोलन का अन्त नहीं हो गया। अगुइनाल्दो नामक नेता के नेतृत्व में फिलिप्पीन लोगों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा। जिस समय स्पेन और अमेरिका में युद्ध जारी था, फिलिप्पीन लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और अगुईनाल्दो के नेतृत्व में रिपब्लिकन सरकार का संगठन कर लिया। अमेरिका ने स्पेन को तो युद्ध में परास्त कर दिया था, पर फिलिप्पीन देशभक्तों को परास्त कर सकना सुगम बात नहीं थी। उन्होंने डट कर अमेरिकन सेनाओं का मुकाबिला किया। पर अमेरिका जैसे शक्तिशाली राज्य का देर तक मुकाबिला कर सकना फिलिप्पीन लोगों के लिए सम्भव नहीं था। १९०१ में अगुइनाल्दो गिरफ्तार कर लिया गया, और १९०२ में अमेरिकन लोग फिलिप्पीन द्वीप-समूह में अपना शासन भलीभांति स्थापित कर सकने में समर्थ हो गये। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस समय फिलिप्पीन लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भलीभांति विकसित हो चुकी थी, और वे अमेरिकन शासकों का विरोध करने के लिए कटिबद्ध थे।

अमेरिका का शासन—फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर अपने शासन को व्यवस्थित रूप से स्थापित कर अमेरिकन लोगों ने उसकी आन्तरिक उन्नति पर ध्यान दिया। बहुत-से नए स्कूलों की स्थापना की गई। इनमें अध्यापन का कार्य करने के लिए सैंकड़ों शिक्षकों को अमेरिका से बुलाया गया। अंग्रेजी भाषा को स्कूलों में मुख्य स्थान दिया गया, और उसी को शिक्षा का माध्यम भी नियत किया गया। स्कूलों के अतिरिक्त बहुत-से कालिजों और अनेक यूनिवर्सिटियों की भी वहां स्थापना की गई। अमेरिका के प्रयत्न से फिलिप्पीन में शिक्षा का इतनी तेजी के साथ विस्तार हुआ, कि १९२० तक दस लाख से भी अधिक विद्यार्थी फिलिप्पीन द्वीप-समूह के विविध शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। डेढ़ करोड़ के लगभग की आबादी के इस देश में दस लाख विद्यार्थियों का शिक्षा प्राप्त करना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि अमेरिकन सरकार वहाँ शिक्षा के विस्तार के लिए निरन्तर प्रयत्न कर रही थी। फिलिप्पीन लोगों के स्वास्थ्य की उन्नति के लिए भी अमेरिकन सरकार ने विशेष रूप से ध्यान दिया। इन द्वीपों में हैजा, प्लेग, चेचक, मलेरिया, तपेदिक आदि का बहुत जोर रहता था। स्वास्थ्य-रक्षा के साधनों की उन्नति के कारण फिलिप्पीन में अकाल मृत्यु की संख्या बहुत कम हो गई।

अमेरिका के प्रयत्न से फिलिप्पीन द्वीप-समूह के आर्थिक विकास में भी बहुत सहायता मिली। रेलवे लाइनों, सड़कों और पुलों के निर्माण पर सरकार ने बहुत ध्यान दिया। फिलिप्पीन की बहुत-सी उपजाऊ भूमि क्रिश्चियन मिशनों की सम्पत्ति थी। सरकार ने इस जमीन को मिशनों से खरीद कर छोटे-छोटे टुकड़ों में विभक्त किया, और उन्हें फिलिप्पीन किसानों को देच दिया। १९०९ के बाद अमेरिका और फिलिप्पीन में व्यापार की भी बहुत उन्नति हुई। अमेरिकन पूंजी के उपयोग से बहुत-से नये कारोबार वहां विकसित हुए। १९३१ तक फिलिप्पीन में लगी हुई अमेरिकन पूंजी ८०,००,००,००० रुपयों के लगभग तक पहुंच गई थी। यह पूंजी प्रधानतया बैंकों, यातायात के साधनों और खेती में लगायी गई थी। व्यवसायों के विकास पर अमेरिका ने बहुत ध्यान नहीं दिया था। खेती के साथ सम्बन्ध रखने वाले कुछ व्यवसाय ही इस समय तक फिलिप्पीन में विक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सित किये गए थे। चीनी और चावल की मिलों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कारखाने अभी वहाँ स्थापित नहीं हुए थे। पर खेती और व्यापार द्वारा फिलिप्पीन की आर्थिक समृद्धि निरन्तर बढ़ रही थी। आर्थिक उन्नति के कारण वहां की जनसंख्या भी लगातार बढ़ती जाती थी। १९०३ में फिलिप्पीन की कुल आबादी ७५,००,००० थी। १९१८ में वह १,०३,००,००० और १९३९ में १,६३,०० ००० हो गई थी।

(३) फिलिप्पीन में स्वायत्त शासन की स्थापना

शिक्षा की उन्नति और आर्थिक समृद्धि के बावजूद भी फिलिप्पीन लोग अमेरिकन शासन से सन्तुष्ट नहीं थे। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना उनमें भली-भांति विकसित हो चुकी थी। अमेरिकन आधिपत्य से मुक्त होकर स्वराज्य स्थापित करने की आकांक्षा उनमें तीव्र रूप से विद्यमान थी। इस दशा में अमेरिकन सरकार ने धीरे-धीरे स्वराज्य स्थापित करने की नीति को अपना कर फिलिप्पीन लोगों को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया। स्वातन्त्र्य-युद्ध में फिलिप्पीन लोगों को परास्त कर १९०२ में अमेरिका ने वहां जिस शासन को स्थापित किया था, उसमें सरकार का प्रधान अधिकारी गवर्नर-जनरल को बनाया गया था, जिसकी नियुक्ति अमेरिकन राष्ट्रपति द्वारा की जाती थी। फिलिप्पीन का प्रथम गवर्नर-जनरल विलियम हावर्ड टाफ्ट को नियत किया गया। ये सज्जन आगे चलकर अमेरिका के राष्ट्रपति पद पर भी निर्वाचित हुए थे। फिलिप्पीन में अमेरिका के शासन का क्या स्वरूप हो, इसका निर्धारण प्रधानतया टाफ्ट द्वारा ही किया गया था। टाफ्ट का यह मत था, कि फिलिप्पीन द्वीप-समूह में भी स्वशासन की स्थापना की जानी चाहिए। इसीलिए १९०७ में फिलिप्पीन में पार्लियामेन्ट की स्थापना की गई, जिसमें दो सभाएं थीं, प्रतिनिधि सभा और कमीशन। प्रतिनिधि-सभा के सदस्यों को जनता निर्वाचित करती थी, और दूसरे सदन (कमीशन) के सदस्यों को अमेरिकन राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किया जाता था। कमीशन के सदस्यों की संख्या ९ थी, जिनमें ५ अमेरिकन और ४ फिलिप्पीन होते थे। १९१३ में इस शासन-विधान में महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गए। उस समय अमेरिका के राष्ट्रपति श्री वुडरो विल्सन थे। वे लोकतन्त्रवाद के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि फिलिप्पीन के द्वितीय सदन (कमीशन) में भी फिलिप्पीन लोगों का बहुमत रहे, और सरकार के विविध पदों पर फिलिप्पीन लोगों को अधिक संख्या में नियत किया जाया करे। फिलिप्पीन द्वीप-समूह में निवास करने वाले अमेरिकन लोग इन सुधारों के विरोधी थे। पर यह प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) का समय था, और संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां जोर पकड़ रही थीं। यही समय था, जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने अपने सुप्रसिद्ध चौदह सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। प्रत्येक राज्य को स्वभाग्य-निर्णय का अधिकार है, यह सिद्धान्त इनमें प्रमुख था। इस स्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि अमेरिका के शासकों का ध्यान फिलिप्पीन के निवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओंके प्रति भी आकृष्ट हो, और वे वहां भी स्वशासन की स्थापना का प्रयत्न करें। इसीलिए १९१६ में अमेरिका की कांग्रेस ने एक नया बिल स्वीकृत किया, जिसके अनुसार फिलिप्पीन की पार्लियामेन्ट के द्वितीयसदन (कमीशन) के सदस्यों को भी जनता द्वारा निर्वाचित किये जाने की व्यवस्था की गई। इसी समय यह भी घोषणा की गई, कि ज्यों ही फिलिप्पीन द्वीप-समूह में सुव्यवस्था स्थापित हो जायगी, और वहां की सरकार स्थिरता को प्राप्त कर लेगी, उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायगी। फिलिप्पीन के राष्ट्रीय नेताओं का दावा था, कि उनके देश की सरकार पूर्ण रूप से सुव्यवस्थित है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और वहां के शासन में स्थिरता विद्यमान है, अतः अमेरिका को अपने वचन का पालन करने में विलम्ब नहीं करना चाहिये । पर महायुद्ध अभी जारी था, अतः अमेरिका ने फिलिप्पीन के नेताओं की न्याय्य मांग पर कोई ध्यान नहीं दिया ।

१९१८ में महायुद्ध की समाप्ति हो गई । फिलिप्पीन के नेताओं ने समझा, कि स्वराज्य की प्राप्ति का यह उत्तम अवसर है । अमेरिका की सरकार अब उनकी मांग की उपेक्षा नहीं करेगी । इसीलिए उन्होंने अपना एक प्रतिनिधि-मण्डल वाशिंगटन भेजा । राष्ट्रपति विल्सन इस समय यूरोप में थे । वहां से उन्होंने प्रतिनिधि-मण्डल को यह सूचित किया, कि फिलिप्पीन की पूर्ण स्वतन्त्रता अब दूर नहीं है । दिसम्बर, १९२० में उन्होंने अमेरिका की कांग्रेस को अपना सन्देश भेजते हुए यह स्मरण भी दिलाया, कि अब फिलिप्पीन की स्वतन्त्रता का समय आ गया है, और महायुद्ध के समय इस द्वीप-समूह को जो वचन दिया गया था, उसका अब पालन किया ही जाना चाहिए। पर विल्सन देर तक राष्ट्रपति के पद पर नहीं रह सके । राष्ट्रपति के नये निर्वाचन में रिपब्लिकन पार्टी के उम्मीदवार हार्डिंग अमेरिका के नये राष्ट्रपति चुने गए । इनके नेतृत्व में अमेरिकन सरकार की फिलिप्पीन के प्रति नीति में परिवर्तन आ गया । इस समय फिलिप्पीन के गवर्नर-जनरल के पद पर श्री लिओनार्ड वुड विद्यमान थे, जो वहाँ के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के विरोधी थे । उनका विचार था, कि अभी फिलिप्पीन लोग अपना शासन स्वयं करने के योग्य नहीं हुए हैं, और अमेरिका को वहां अपना शासन सुदृढ़ रूप से कायम रखना चाहिए । फिलिप्पीन के प्रश्न पर विचार करने के लिए अब एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके सदस्य वुड और फोर्बस थे । इस कमीशन ने भी यही रिपोर्ट दी, कि फिलिप्पीन में स्वराज्य की स्थापना वहां के निवासियों के लिए हितकर नहीं होगी । परिणाम यह हुआ, कि फिलिप्पीन द्वीप-समूह के शासन में नये सुधार स्थगित कर दिये गए । अमेरिका की इस नीति से फिलिप्पीन लोगों में बहुत उद्वेग हुआ । महायुद्ध की समाप्ति पर संसार के प्रायः सभी देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन जोर पकड़ रहे थे । फिलिप्पीन भी इस लहर से अछूत नहीं बचा था । परिणाम यह हुआ, कि फिलिप्पीन देशभक्तों ने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रचण्ड आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया । अनेक स्थानों पर हड़तालें और विद्रोह भी हुए । फिलिप्पीन का स्वातन्त्र्य आन्दोलन इतना जोर पकड़ गया, कि अमेरिकन सरकार के लिए उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा । १९३० में अमेरिका की कांग्रेस में इस प्रश्न पर विचार-विमर्श प्रारम्भ हुआ, जिसके परिणामस्वरूप दिसम्बर, १९३२ में कांग्रेस ने फिलिप्पीन के सम्बन्ध में एक बिल स्वीकृत किया, जिसे हेअर-हावस-कटिंग बिल कहते हैं । इस बिल द्वारा यह निर्णय किया गया, कि दस वर्ष की अवधि में फिलिप्पीन को पूर्ण स्वराज्य प्रदान कर दिया जायगा । साथ ही, इस बिल द्वारा कतिपय ऐसी व्यवस्थाएं भी की गईं, जिनका प्रयोजन फिलिप्पीन लोगों की आर्थिक शिकायतों को दूर करना था । अमेरिका और फिलिप्पीन के पारस्परिक व्यापार में अनेक ऐसी व्यवस्थाएँ विद्यमान थीं, जो अमेरिका के लिए हितकर और फिलिप्पीन के लिए हानिकारक थीं । इस बिल द्वारा उन्हें रद्द करने का भी निर्णय किया गया था । यद्यपि यह बिल कांग्रेस में स्वीकृत हो गया था, पर अमेरिका का शासक वर्ग इसके विरुद्ध था । परिणाम यह हुआ, कि राष्ट्रपति हूवर ने अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग कर इसे अस्वीकृत कर दिया । हेयर-हावस-कटिंग बिल के मुकाबिले में राष्ट्रपति हूवर ने फिलिप्पीन के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किए—(१) पन्द्रह से बीस साल तक के काल में फिलिप्पीन द्वीप-समूह में इस प्रश्न पर लोकमत लिया जाए, कि वहां के लोग पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते हैं या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं । (२) फिलिप्पीन के लोगों को अमेरिका में आ बसने का जो अधिकार प्राप्त है, उसे सीमित किया जाए। (३) फिलिप्पीन में धीरे-धीरे स्वायत्त शासन की स्थापना की जाए। पर कांग्रेस इन प्रस्तावों से सहमत नहीं हुई, और उसने एक बार फिर हेअर-हाबस कटिंग बिल को स्वीकृत किया, जिससे इस बिल ने कानून का रूप प्राप्त कर लिया। पर इससे न अमेरिका के शासक वर्ग को सन्तोष था, और न फिलिप्पीन की जनता को। दस साल बाद स्वराज्य की स्थापना की बात से फिलिप्पीन के निवासी सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। ७ अक्तूबर, १९३३ के दिन फिलिप्पीन की पार्लियामेन्ट ने इस बिल के विरुद्ध अपना मत प्रगट किया।

१९३४ में एक बार फिर अमेरिकन सरकार ने फिलिप्पीन की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया। इस समय अमेरिका में राष्ट्रपति पद पर रूजवेल्ट विराजमान थे। उन्होंने हेअर-हाबस-कटिंग बिल को कुछ संशोधनों के साथ कांग्रेस के सम्मुख पेश कराया। यही संशोधित बिल टाइडिंग्स-मेकडफ बिल के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार फिलिप्पीन द्वीप-समूह को यह अधिकार दिया गया, कि वह अपने लिए नये संविधान का स्वयं निर्माण कर सके। पर उसे यह अवसर नहीं दिया गया, कि वह अमेरिका के प्रभुत्त्व से मुक्त होकर पूर्ण रूप से स्वाधीन हो सके। अमेरिका और फिलिप्पीन में क्या सम्बन्ध रहेगा, यह बात भी इस बिल में स्पष्ट रूप से निश्चित कर दी गई थी। यह बिल अमेरिका की कांग्रेस में स्वीकृत हो गया, और २४ मार्च, १९३४ के दिन राष्ट्रपति की स्वीकृति भी इसे प्राप्त हो गई। यद्यपि अनेक प्रभावशाली फिलिप्पीन नेता इस कानून से सन्तुष्ट थे, पर ऐसे राष्ट्रवादी देशभक्तों की भी वहां कमी नहीं थी, जो इस कानून को अपर्याप्त व असंतोषजनक समझते थे। पर सब परिस्थितियों पर विचार करके फिलिप्पीन लोगों ने यही उचित समझा, कि टाइडिंग्स-मेकडफ कानून को स्वीकार कर लिया जाए। १ मई, १९३४ के दिन यह कानून फिलिप्पीन की पार्लियामेन्ट द्वारा भी स्वीकृत कर लिया गया।

१० जुलाई, १९३४ को फिलिप्पीन द्वीप-समूह में संविधान सभा (Constitutional Convention) का निर्वाचन हुआ। इस सभा ने देश के लिए जिस संविधान का निर्माण किया, उस द्वारा फिलिप्पीन में आंशिक स्वराज्य अवश्य स्थापित हो गया, यद्यपि वहां के शासन पर अमेरिका का प्रभाव व प्रभुत्त्व कायम रहा। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इस संविधान पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी, और फिलिप्पीन की जनता ने भी लोकमत द्वारा इसे स्वीकार कर लिया। नये संविधान के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी, कि फिलिप्पीन में लोकतन्त्र गणराज्य की स्थापना की जाए। राष्ट्रपति का निर्वाचन छः साल के लिए किया जाया करे, और राज्य की पार्लियामेन्ट में केवल एक सदन हो, जिसके सब सदस्य जनता द्वारा चुने जाया करें। अमेरिका के हितों की रक्षा करने के लिए एक हाई कमिश्नर की भी नियुक्ति की जाया करे, जो अमेरिकन सरकार और फिलिप्पीन कामनवेल्थ के बीच सहयोग स्थापित रखे। नये संविधान के अनुसार मेनुअल क्वेजोन को फिलिप्पीन का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया।

यह स्वीकार करना होगा, कि टाइडिंग्स-मेकडफ कानून (१९३४) द्वारा फिलिप्पीन ने स्वराज्य के मार्ग पर महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाया था। वहां की संविधान सभा ने अपने देश के लिए जो संविधान बनाया, वह वस्तुतः लोकतन्त्रवाद के अनुरूप था। उसके मुख्य तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) शासन का स्वरूप लोकतन्त्र गणराज्य का रहेगा। (२) राष्ट्रपति का चुनाव जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से छः साल के लिए किया जाया करेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) नागरिकों के मूलभूत अधिकारों को सुरक्षित रखा जायगा। संविधान द्वारा जिन मूलभूत अधिकारों का प्रतिपादन किया गया, उनमें सामाजिक न्याय की स्थापना, धार्मिक सहिष्णुता आदि को प्रमुख स्थान दिया गया था। (४) पार्लियामेन्ट की प्रभुता को स्वीकार किया गया, और यह व्यवस्था की गई कि उसमें केवल एक सदन हो, जिसके सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किए जाएं।

१९३५ में फिलिप्पीन द्वीप-समूह के शासन में वहाँ की जनता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया था। अमेरिका द्वारा नियुक्त गवर्नर-जनरल का स्थान अब जनता द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति ने ले लिया था, और वहाँ एक ऐसी पार्लियामेन्ट स्थापित हो गई थी, जो जनता का प्रतिनिधित्व करती थी। १९३५ के बाद फिलिप्पीन के संविधान में कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। दिसंबर, १९४० में संविधान में संशोधन करके पार्लियामेन्ट में एक सदन के स्थान पर दो सदनों की व्यवस्था की गई, और राष्ट्रपति के कार्य की अवधि छः साल के स्थान पर चार साल कर दी गई। पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों के सदस्यों का निर्वाचन सुचारु रूप से हो सके, इस प्रयोजन से एक निर्वाचन कमीशन के संगठन की भी व्यवस्था की गई, जिसका कार्य चुनाव-सम्बन्धी सब कार्य निष्पक्ष रूप से सम्पादित कराना था।

फिलिप्पीन में कामनवेल्थ स्थापित होने के कुछ समय बाद ही पूर्वी एशिया में युद्ध की काली घटाएं घिरनी शुरू हो गईं। १९३५ में ही जापान ने मंचूरिया में अपना प्रभुत्त्व अविकल रूप से स्थापित कर लिया था। दो वर्ष बाद चीन और जापान में युद्ध का प्रारम्भ हो गया था, और १९३९ में यूरोप में बीसवीं सदी का द्वितीय महायुद्ध शुरू हो गया था। इस दशा में अमेरिका के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह फिलिप्पीन द्वीप-समूह में अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में किसी भी प्रकार से शिथिलता आने दे। पूर्वी एशिया के इस द्वीप-समूह में और चीन समुद्रतट पर अमेरिका के अनेक स्वार्थ निहित थे। उनकी रक्षा करने और पूर्वी एशिया में अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए अमेरिका यह आवश्यक समझता था, कि फिलिप्पीन में अपने प्रभाव को कम न होने दे। इसीलिए अब यह द्वीप-समूह स्वराज्य के मार्ग पर अधिक अग्रसर नहीं हो सका। फिलिप्पीन लोग यह आशा करते थे, कि कामनवेल्थ के स्थापित हो जाने पर वे शीघ्र ही पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने में भी समर्थ हो जाएंगे। पर उनकी यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी। अमेरिका के लोग जहां इस द्वीप-समूह पर अपने प्रभुत्त्व का परित्याग कर देने के लिए उद्यत नहीं थे, वहां साथ ही जापान के साम्राज्यवाद के कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी ऐसी हो गई थी, जो फिलिप्पीन लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति में बाधक थी। यही कारण है, जो १९३५ के बाद भी फिलिप्पीन द्वीप-समूह में अमेरिका का सैनिक अड्डा कायम रहा, और उसके द्वारा नियुक्त हाई-कमिश्नर का वहां के शासन पर प्रभुत्त्व स्थापित रहा। १९४१ में जब जापान विश्व संग्राम में सम्मिलित हो गया, तो उसने इस द्वीप-समूह पर से अमेरिकन प्रभुत्त्व का अन्त किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोलहवां अध्याय

दक्षिण-पूर्वी एशिया—इन्डोनीसिया

(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्य

पिछले अध्यायों में हमने चीन और जापान के आधुनिक इतिहास की १९३१ तक की मुख्य घटनाओं का संक्षेप के साथ उल्लेख किया है। एशिया के आधुनिक इतिहास में सन् १९३१ का बहुत अधिक महत्त्व है। इस साल में जापान ने मञ्चूरिया में अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उपक्रम किया था, और मंचूरिया को अपने अधीन कर उसने मंगोलिया और उत्तरी चीन में भी अपने साम्राज्य का विस्तार शुरू किया था। इसी कारण चीन और जापान के द्वितीय युद्धका सूत्रपात हुआ। १९३९-४५ के द्वितीय विश्व-संग्राम के अवसर पर जापान ने सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया को पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त किया, और इस विशाल क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित किया। जापान के इस उत्कर्ष का यह महत्वपूर्ण परिणाम हुआ, कि एशिया के विविध देशों को पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद से मुक्त होकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्थापित करने का अवसर मिला। महायुद्ध के अवसर पर चीन में कम्युनिस्ट लोगों की शक्ति बढ़नेलगी, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण चीन कम्युनिस्ट व्यवस्था के अधीन हो गया। १९३१ में जापान ने साम्राज्य-विस्तार के लिए जो संघर्ष शुरू किया था, उसमें सफल होकर वह पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया को अपनी अधीनता में तो नहीं ला सका, पर उसके कारण इन क्षेत्रों के देशों को स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का अपूर्व अवसर प्राप्त हो गया। सन् १९३१ से १९४९ तक की घटनाएं एक-दूसरे के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। क्योंकि इस काल में जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव को स्थापित करने का असाधारण प्रयत्न किया, अतः यह उपयोगी होगा, कि हम चीन और जापान के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों के १९३१ तक के इतिहास पर भी प्रकाश डालें। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश १९३१ तक किस स्थिति में थे, किस प्रकार वे विविध पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद के शिकार हुए थे, और किस प्रकार उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की भावनाएं बल पकड़ रही थीं— यह जान लेने के बाद ही पाठकों के लिए यह सम्भव होगा, कि वे १९३९-४५ के महायुद्ध के अवसर पर इन देशों में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, उन्हें भली-भांति अवगत कर सकें।

विविध राज्य—दक्षिण-पूर्वी एशिया को चीन में नान यांग और जापान में नान यो कहते हैं। चीनी और जापानी भाषाओं में इस भू-खण्ड के लिए एकसदृश नामों का होना इस बात को सूचित करता है, कि पूर्वी एशिया के ये दोनों प्रमुख देश देर से यह अनुभव करते रहे हैं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में आधारभूत एकता विद्यमान है। यदि हम दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर जाएं, तो इस भूखण्ड में निम्नलिखित देश मिलेंगे—ब्रिटिश बोर्नियो, इण्डोनीसिया, इन्डो-चायना, मलाया, थाईलैण्ड और बरमा। दक्षिण-पूर्वी एशिया के ये ही प्रमुख राज्य हैं। १९३९-४५ के महायुद्ध तक ये सब किसी न किसी रूप में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व में थे। इस समय इन सब में प्रायः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वराज्य स्थापित हो चुका है। पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव व प्रभुत्त्व इन देशों में अब तक विद्यमान है, उसका भी धीरे-धीरे अन्त हो रहा है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों का क्षेत्रफल और जनसंख्या (१९४१ में) कितनी थी, इसका परिज्ञान इनके राजनीतिक इतिहास को अवगत करने में बहुत सहायक होगा।

देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	जनसंख्या	प्रति वर्गमील आबादी
बरमा	२,६१,७८९	२,२३,४२,०००	८५
थाईलैण्ड	१,९८,२७०	२,७४,७४,०००	११५
इन्डो-चायना	२,८८,१००	३,४०,२१,०००	११२
मलाया	५०,६९०	६२,७९,०००	१२४
इन्डोनीसिया	७,३५,८६५	९,७५,००,०००	११५
ब्रिटिश बोर्नियो	८१,७६१	९,५१,०००	२२
तिमोर (पोर्तुगाल के अधीन)	७,३३८	४,८०,०००	६६
दक्षिण-पूर्वी एशिया	१६,२३,७०५	१९,४५,९७,०००	११९

इस तालिका द्वारा यह भली-भांति स्पष्ट हो जाता है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों का क्षेत्रफल कितना-कितना था, और उनमें कितनी-कितनी आबादी थी। इन देशों के भौगोलिक और राजनीतिक महत्त्व को समझने में इससे बहुत सहायता मिलेगी। यहाँ यह लिख देना भी आवश्यक है, कि इन प्रमुख देशों के अतिरिक्त दक्षिण-पूर्वी एशिया में अनेक ऐसे छोटे-छोटे द्वीप भी हैं, जिन पर ब्रिटेन आदि विदेशी राज्यों का प्रभुत्त्व था, और जिनका शासन क्राउन कोलोनी के रूप में पृथक् रूप से किया जाता था। इन विविध द्वीपों में तिमोर का उल्लेख हमने इस तालिका में किया भी है। यह द्वीप पोर्तुगाल के अधीन था। पर तिमोर के अतिरिक्त अन्य भीब हुत-से छोटे-छोटे द्वीप-समूह इस क्षेत्र में हैं, जिनका यहाँ उल्लेख विशेष उपयोगी नहीं है।

अब हम इन विविध राज्यों के १९३१ तक के इतिहास पर प्रकाश डालना प्रारम्भ करते हैं। इसके लिए हम दक्षिण-पूर्व से उत्तर-पश्चिम की ओर चलेंगे, क्योंकि अब तक इस ग्रन्थ में हमने चीन, जापान और फिलिप्पीन के इतिहास का निदर्शन किया है। विषय को स्पष्ट करने के लिए यही उचित होगा, कि हम जो राज्य जापान और चीन के सबसे निकट हैं, उन्हीं के विषय में पहले लिखें।

(२) इन्डोनीसिया पर विदेशी शासन की स्थापना

फिलिप्पीन द्वीप-समूह के दक्षिण और मलाया के दक्षिण-पूर्व में जो बहुत-से द्वीप पूर्व से पश्चिम की ओर हजारों मील तक फैले हुए हैं, उन्हें पहले ईस्ट इण्डीज के नाम से कहा जाता था। उनका बड़ा भाग, जो पहले हालैण्ड की अधीनता में था और अब पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका है, इण्डोनीसिया कहाता है। ईस्ट इण्डीज के कुछ द्वीप ब्रिटेन और पोर्तुगाल के भी अधीन थे, पर हालैण्ड की तुलना में इस क्षेत्र में ब्रिटेन और पोर्तुगाल का प्रभुत्त्व बहुत कम था। ईस्ट इण्डीज के इन द्वीप-समूहों में सुमात्रा, जावा, बाली, सोअम्बावा, फ्लोरेस, तिमोर, बांगका, बोर्नियो, सेलेबस, मोलक्का, न्यू गिनी और पापुआ प्रमुख हैं। इनमें से तिमोर द्वीप का बड़ा भाग पहले पोर्तुगाल के अधीन था, और उत्तरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बोर्नियो पर ब्रिटेन का प्रभुत्व था। ईस्ट इण्डीज के प्रायः अन्य सब प्रदेश हालैण्ड के प्रभुत्व में थे, और इस समय वहां इन्डोनीसिया रिपब्लिक स्थापित है, जिसने अपने भूत-पूर्व डच शासकों के साथ अब अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया है। ईस्ट इण्डीज के इन विविध प्रदेशों पर किस प्रकार विविध विदेशी राज्यों का प्रभुत्व स्थापित हुआ, और किस प्रकार इनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हुआ, इसी विषय पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

प्राचीन इतिहास—इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में सबसे अधिक समृद्ध तथा आबाद जावा है। उसका प्राचीन नाम यवद्वीप था। उसके इतिहास का ज्ञान हमें तब शुरू होता है, जब वहां एक भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी। दूसरी सदी ई० प० में यवद्वीप का राजा देववर्मन था, जिसने १३२ ई० में अपना राजदूत चीन के सम्राट् के राजदरबार में भेजा था। पश्चिमी जावा से संस्कृत भाषा में लिखे हुए चार शिलालेख मिले हैं, जो छठी सदी से पहले के हैं। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाइयान भारत से लौटता हुआ ४१४ ई० के लगभग जावा गया था। जिस जहाज से वह जावा उतरा था, उसमें २०० भारतीय व्यापारी भी उसके साथ थे। फाइयान ने लिखा है, कि जावा में शैव और वैष्णव धर्मों का बहुत प्रचार है। जावा के समीप वाली द्वीप में भी पांचवीं सदी तक भारतीयों का उपनिवेश स्थापित हो चुका था। ५१८ ई० में वहां के भारतीय राजा ने भी अपना एक दूत चीनी सम्राट् की सेवा में भेजा था।

चौथी सदी में सुमात्रा में भी भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी, जिस का नाम श्रीविजय था। संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण बहुत-से शिलालेख वहां उपलब्ध हुए हैं, जिनसे श्रीविजय के राजाओं की शक्ति और वैभव का परिचय मिलता है। श्रीविजय के कतिपय राजाओं ने प्रायः सम्पूर्ण इन्डोनीसिया एवं मलाया को जीत कर अपने अधीन कर लिया था। चौथी सदी में बोर्नियो में भी भारतीय उपनिवेश की स्थापना हो गई थी। ४०० ई० के लगभग के चार शिलालेख वहां मिले हैं, जिनमें राजा अश्ववर्मन् के पुत्र राजा देववर्मन के दानपुण्य और यज्ञों का वर्णन है। संस्कृत के ये लेख जिन स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं, वे राजा मूलवर्मन् के यज्ञों में स्तूप के रूप में प्रयुक्त होने के लिए बनाए गए थे। इन यज्ञों के अवसर पर वप्रकेश्वर तीर्थ में बीस हजार गौवें और बहुत-सा धन दान में दिया गया था। इन्डोनीसिया के ये सब प्राचीन उपनिवेश शुद्धरूप में भारतीय थे। यदि बीच में समुद्र का व्यवधान न होता, तो इन्हें भारत का ही प्रदेश माना जा सकता था। इनमें प्राप्त शिलालेखों की भाषा विशुद्ध संस्कृत है। इनके राजा भारतीय आदर्शों के अनुसार शासन करते थे। उनके आचार-विचार, चरित्र, व्यवहार आदि सब भारतीय थे। शैव, वैष्णव और बौद्ध—तीनों भारतीय धर्म इन उपनिवेशों में प्रचलित थे। इनमें प्राप्त शिखालेखों से ज्ञात होता है, कि भारत की पौराणिक गाथाएं, देवी देवता, सामाजिक आचार-विचार सब इनमें उसी प्रकार प्रचलित थे, जैसे कि भारत में। विष्णु, ब्रह्मा, शिव, गणेश, नन्दी, स्कन्द, महाकाल आदि की मूर्तियां बोर्नियो से प्राप्त हुई हैं। भारत के चक्र, गदा, शंख, पद्म, त्रिशूल आदि सब चिन्ह जावा में मिले हैं। इन उपनिवेशों में भारत का पौराणिक धर्म अविकल रूप से फैला हुआ था। गंगा की पवित्रता तक की भावना इनमें प्रचलित थी। पौराणिक धर्म के साथ-साथ अष्टाङ्गिक बौद्ध धर्म का भी इन द्वीपों में प्रचार था। इस क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार का प्रधान श्रेय गुणवर्मन् को है, जो काश्मीर का एक राजकुमार था। राजा बनने के स्थान पर उसने भिक्षुक होना अधिक पसन्द किया था, और जावा जाकर बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। बाद में इन्डोनीसिया के विविध द्वीप जो बौद्ध धर्म के अनुयायी हो गये, उसमें गुणवर्मन् का कर्तृत्व बहुत अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। उसकी कीर्ति इतनी बढ़ गई थी, कि चीन के सम्राट् ने उसे अपने यहां निमन्त्रित किया था।

इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में बौद्ध और पौराणिक धर्मों की सत्ता पन्द्रहवीं सदी तक कायम रही। पन्द्रहवीं सदी में इस क्षेत्र में अरब के मुस्लिम व्यापारियों ने बड़ी संख्या में आना शुरू किया। इस समय भारत में भी मुस्लिम आक्रान्ता अपने आधिपत्य को स्थापित करने में तत्पर थे। बौद्ध और पौराणिक धर्मों में बहुत ह्रास हो चुका था, और इन्डोनीसियन प्रदेशों के विविध भारतीय राजा निर्बल हो गये थे। इसके विपरीत इस्लाम में बहुत जीवन था। अरब व्यापारियों के साथ बहुत-से मुस्लिम प्रचारक भी इस समय जावा, सुमात्रा, बाली, बोर्नियो आदि जाने लगे, और उनके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि वहां की बहुसंख्यक जनता ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। केवल बाली द्वीप ही ऐसा रह गया, जहां के लोगों ने इस्लाम को स्वीकृत नहीं किया। वहां की जनता अब तक भी पौराणिक हिन्दू धर्म को मानती है। पर अन्य द्वीपों में जो लोग मुसलमान बने, उन्होंने अपने पुराने देवी देवताओं की उपासना का सर्वथा परित्याग नहीं कर दिया। उन पर अब तक भी पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रभाव अनेक अंशों में विद्यमान है।

पाश्चात्य देशों से सम्पर्क—सोलहवीं सदी के शुरू में पोर्तुगीज लोगों ने इन्डोनीसिया के इन द्वीपों में आना-जाना शुरू किया। इस समय इन द्वीपों की राजनीतिक दशा अच्छी नहीं थी। वहां कोई एक ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं था, जिसके शासन को सब लोग स्वीकार करते हों। सब जगह बहुत-से छोटे-छोटे राजा विद्यमान थे, जो इस्लाम को स्वीकृत कर चुके थे। ये राजा प्रायः आपस में लड़ते रहते थे। इस दशा में पोर्तुगीज लोगों के लिये यह कठिन नहीं था, कि व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ वे अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व की स्थापना में भी सफल हों। १५११ में पोर्तुगीज लोगों ने मलक्का को जीत लिया। व्यापारिक दृष्टि से उसका बहुत महत्त्व था। भारत से इन्डोनीसिया के द्वीपों में आने-जाने वाले जहाजों के लिए मलक्का के जलडमरूमध्य से गुजरना आवश्यक था। मलक्का पर कब्जा करके पोर्तुगीज लोगों ने उसे एक दुर्ग के रूप में परिवर्तित किया, और उसे अपने सामुद्रिक व्यापार का प्रधान केन्द्र बनाया। इन्डोनीसिया के अन्य द्वीपों में भी उन्होंने अनेक बन्दरगाहों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया। पर इस क्षेत्र में पोर्तुगीज लोगों की नीति साम्राज्य-विस्तार की नहीं थी। पूर्वी एशिया के व्यापार को अपने हाथों में करके समृद्ध होना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। अतः सोलहवीं सदी में इस क्षेत्र के द्वीपों की राजनीतिक स्वतन्त्रता कायम रही। पोर्तुगीज व्यापारियों के साथ-साथ रोमन कैथोलिक पादरियों ने भी इन द्वीपों में आना-जाना शुरू किया। क्सेवियर के नेतृत्व में बहुत-से पादरियों ने यह उद्योग किया, कि इन द्वीपों के निवासियों को ईसाई धर्म में दीक्षित करें। पर उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। लगभग एक सदी पहले इनके निवासियों ने इस्लाम को स्वीकार किया था, और उनमें अपने नये धर्म के प्रति निष्ठा बहुत अधिक थी।

हालैण्ड का प्रभुत्त्व—सतरहवीं सदी में हालैण्ड के डच लोगों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन द्वीपों में आना शुरू किया। सबसे पहले १६०५ में उन्होंने अम्बोयना द्वीप पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया। १६४१ में उन्होंने मलक्का को भी पोर्तुगीज लोगों से जीत लिया। मलक्का पर प्रभुत्त्व स्थापित हो जाने से दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रदेशों में डच लोगों की शक्ति बहुत बढ़ गई। डच लोग केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट नहीं थे। अंग्रेजों के समान वे भी इन प्रदेशों की राजनीतिक दुर्बलता से लाभ उठाकर इन्हें अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभुत्व में ले आने के लिए उत्सुक थे। जिस प्रकार इंगलैण्ड में ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना भारत आदि प्राच्य देशों के साथ व्यापार का विस्तार करने के लिए की गई थी, वैसे ही हालैण्ड में भी एक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना की गई। इंगलिश कम्पनी के समान डच कम्पनी ने भी व्यापार के साथ-साथ राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना के लिए उद्योग शुरू किया। इस उद्योग में उसे सफलता भी मिली। जावा में बटेविया को अपना केन्द्र बनाकर उसने अपने राजनीतिक उत्कर्ष का प्रारम्भ किया, और उस द्वीप में शासन करने वाले विविध राजाओं व सुलतानों को अपना वशवर्ती बना लिया। अपने व्यापारिक हितों की रक्षा के नाम पर डच लोगों ने इन द्वीपों में अपनी सेनाओं की भी स्थापना की, और इनके शासकों की राजनीतिक दुर्बलता तथा पारस्परिक झगड़ों से लाभ उठाकर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को कायम कर लिया। भारत में जैसे ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया था, वैसे ही इन्डोनीसिया में हालैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपना शासन कायम किया। अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग में फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई। फ्रेंच क्रान्तिकारी सेनाओं ने हालैण्ड को भी विजय कर लिया, और वहां एक नई क्रान्तिकारी सरकार की स्थापना की। इस सरकार ने १७९८ में डच ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अन्त किया, और इन्डोनीसिया के शासन को अपनी अधीनता में कर लिया। नैपोलियन के युद्धों के समय में फ्रांस और उसके अधीनस्थ राज्यों के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि समुद्र पार के प्रदेशों पर अपना आधिपत्य कायम रख सकें, क्योंकि समुद्र में ब्रिटेन की शक्ति अजेय थी। क्योंकि हालैण्ड पर नैपोलियन का कब्जा था, अतः ब्रिटेन ने इन्डोनीसिया पर भी अपना अधिकार कायम कर लिया। १८११ से १८१९ तक इन द्वीपों पर ब्रिटेन का प्रभुत्व रहा। वीएना की कांग्रेस (१८१४-१५) द्वारा ये प्रदेश फिर-से हालैण्ड के सुपुर्द किए गए, और १८१९ में उसने इन पर अपने प्रभुत्व की पुनःस्थापना की।

वीएना की कांग्रेस के निर्णय द्वारा जब १८१९ में इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों पर हालैण्ड ने अपना अधिकार कायम किया, तो अनेक प्रदेश ऐसे भी थे, जहां उसकी राजनीतिक सत्ता को अविकल रूप से स्वीकृत नहीं किया जाता था। जो प्रदेश उसके अधिकार में थे, वहां की जनता भी उसके शासन से असन्तोष अनुभव करती थी। इसीलिए १८२५ में जावा में विद्रोह हो गया। यह विद्रोह पांच वर्ष तक जारी रहा। इसे शान्त करने और जावा के पुराने शासकों को पूर्ण रूप से अपना वशवर्ती बनाने में हालैण्ड को बहुत शक्ति लगानी पड़ी। पर १८२५-३० के विद्रोह का यह परिणाम हुआ, कि जावा का मुख्य भाग डच सरकार के सीधे शासन में आ गया, और उस द्वीप में जो पुराने राजवंश कायम भी रहे, वे भारत के रियासती राजाओं के समान डच सरकार के पूर्ण रूप से वशवर्ती हो गए। १८३० के बाद सुमात्रा द्वीप में भी अनेक पुराने राजवंशों का अन्त कर उन द्वारा शासित प्रदेशों का शासन डच सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। पर सुमात्रा में कतिपय प्रदेश ऐसे भी थे, जो उन्नीसवीं सदी में निरन्तर डच सरकार के साथ संघर्ष में व्यापृत रहे। सुमात्रा की मुस्लिम जनता यह नहीं सह सकती थी, कि उस पर विधर्मी डच लोगों का शासन कायम हो। इसलिए वे बहुत समय तक संघर्ष में तत्पर रहे। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक सम्पूर्ण सुमात्रा पूर्ण रूप से हालैण्ड के अधीन हो गया था। इसी प्रकार बोर्नियो को अपनी अधीनता में लाने में भी डच लोगों को पर्याप्त कठिनता का सामना करना पड़ा था। इस द्वीप के पश्चिमी तट पर चीनी लोगों की अनेक बस्तियां बसी हुई थीं। चीनी लोग डच सरकार की अधीनता स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने डट कर हालैण्ड का मुकाबिला किया। सुदीर्घ समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के संघर्ष के बाद १८८० में डच लोग बोर्नियो की चीनी बस्तियों को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुए। समुद्र-तट पर विद्यमान चीनी बस्तियों को अपने अधीन कर डच लोगों ने अन्दर के प्रदेशों की विजय प्रारम्भ की, और १९३१ तक प्रायः सम्पूर्ण बोर्नियो पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया।

बाली द्वीप पर डच लोगों का प्रभुत्व तभी कायम हो गया था, जबकि जावा उनकी अधीनता में आया था। पर १९०८ में वहां की हिन्दू जनता ने डच शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और उसे शान्त करने में डच लोगों को बहुत कठिनता का सामना करना पड़ा। सेलेबस द्वीप को अपनी अधीनता को लाने में भी डच लोगों को बहुत कठिनाई हुई। इस द्वीप में अनेक मुस्लिम सुलतानों का शासन था, जो डच लोगों का मुकाबिला करने के लिए कटिबद्ध थे। १९१० तक हालैण्ड और इन सुलतानों में अनेक बार युद्ध हुए। पर अन्त में डच लोगों की विजय हुई, और सेलेबस के विविध सुलतानों को परास्त कर उस द्वीप पर हालैण्ड ने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। इससे यह सुगमता से समझा जा सकता है, कि इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों के निवासियों में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना प्रबल रूप से विद्यमान थी। उन्हें डच लोगों का शासन पसन्द नहीं था, और इसीलिए बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में भी वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए तत्पर थे। पर हालैण्ड जैसे उन्नत व शक्तिशाली देश का मुकाबिला कर सकना उनके लिए सुगम नहीं था। यदि इस समय इन्डोनीसिया में किसी एक शक्तिशाली सुलतान का शासन होता, तो शायद वह डच सेनाओं से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकता। पर एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया की राजनीतिक दशा भी इस समय अच्छी नहीं थी। यही कारण है, कि वह हालैण्ड का मुकाबिला नहीं कर सका, और धीरे-धीरे उस पर डच सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया।

(३) इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का शासन

कल्चर सिस्टम—नैपोलियन के युद्धों की समाप्ति पर जब जावा, बाली आदि द्वीपों पर हालैंड का आधिपत्य पुनःस्थापित हुआ, तो वहां के शासन को डच सरकार ने सीधा अपने हाथों में ले लिया। इन द्वीपों पर अपनी राजनीतिक प्रभुता को स्थापित करने में डच सरकार को बहुत अधिक खर्च करना पड़ा था। विशेषतया, जावा आदि में हुए विद्रोहों को शान्त करने में धन व जन की बहुत अधिक क्षति हुई थी। अतः डच लोग इस बात के लिए उत्सुक थे, कि अपने साम्राज्य के इन प्रदेशों को अपनी आर्थिक समृद्धि का साधन बनाएं। इसीलिए उन्होंने इन्डोनीसिया में एक नई आर्थिक पद्धति का प्रारम्भ किया, जो 'कल्चर सिस्टम' के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इन्डोनीसिया की प्रधान फसल चावल थी, और चावल की पैदावार का एक निश्चित हिस्सा सरकार मालगुजारी के रूप में किसानों से वसूल किया करती थी। अब डच सरकार ने किसानों से वसूल होने वाली मालगुजारी के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की, कि सब किसान अपनी जमीनों के एक हिस्से में ऐसी फसलें बोया करें, जिनको यूरोप के बाजारों में सुगमता के साथ बेचा जा सके। ये फसलें प्रधानतया ईख और काफी की थीं। किसान लोग अपनी जमीन के एक भाग पर जो ईख या काफी बोते थे, उस सब को उन्हें मालगुजारी के रूप में डच सरकार के सुपुर्द कर देना पड़ता था। इसमें उनका जो समय लगता था या जो मेहनत उन्हें करनी पड़ती थी, उसकी कोई भी उजरत उन्हें नहीं मिलती थी। कल्चर सिस्टम के कारण इन्डोनीसियन किसानों की यह दशा हो गई थी, कि वे अपनी जमीन पर डच सरकार के लिए बेगार में खेती किया करते थे। ईख और काफी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की फसलों के लिए किसानों को न केवल श्रम व समय का व्यय करना होता था, अपितु रुपया भी पर्याप्त मात्रा में खर्च करना पड़ता था। इसका उन्हें कोई भी प्रतिफल प्राप्त नहीं होता था। डच सरकार को इससे बहुत अधिक लाभ था। गन्ने और काफी सदृश महंगी वस्तुएं उसे इतने अधिक परिमाण में प्राप्त हो जाती थीं, कि उनसे वह अपार सम्पत्ति संचित कर सकती थी। इनके लिए उसे कुछ भी कीमत नहीं देनी पड़ती थी। इन्डोनीसिया में अनेक स्थानों पर ईख से चीनी तैयार करने के लिए बड़ी-बड़ी मिलें कायम की गई थीं, जो डच लोगों के प्रभुत्व में थीं। इन मिलों के लिए जो ईख चाहिये थी, उसे इन्डोनीसियन किसान सरकार की बेगार में उत्पन्न करते थे। डच सरकारी अफसर भी इस दशा से खूब लाभ उठाते थे। कौन किसान कितनी जमीन पर बेगार में खेती करे, क्या फसल बोए और अपनी कितनी पैदावार सरकार को दे—इन बातों की व्यवस्था करते हुए वे दिल खोल कर रिश्वत लेते थे। कल्चर सिस्टम के कारण इन्डोनीसियन किसानों की स्थिति अर्ध-दासों के समान हो गई थी, जो अपनी ही जमीन पर दूसरे लोगों के लिए खेती किया करते थे, और अपनी मेहनत का प्रतिफल प्राप्त नहीं कर सकते थे।

आखिर हालैण्ड के विचारशील लोगों का ध्यान कल्चर सिस्टम की बुराइयों की ओर आकृष्ट हुआ। उन्नीसवीं सदी में यूरोप में सर्वत्र दास-प्रथा के विरुद्ध भावना प्रबल हो रही थी। १८१४ में वीएना की कांग्रेस द्वारा दास-प्रथा को नष्ट करने के लिए प्रस्ताव भी स्वीकृत किया गया था। १८६० में अमेरिका में भी इस प्रथा का अन्त कर दिया गया था। हालैण्ड के साम्राज्य में इन्डोनीसियन किसानों की दशा दासों के ही सदृश थी। अतः १८४८ में डच लोगों का ध्यान अपने साम्राज्य के इस कलंक की ओर आकृष्ट हुआ। अनेक पादरियों ने भी इस पद्धति के खिलाफ आवाज उठाई। इन्डोनीसिया के एक डच अफसर ने भी इस प्रथा के खिलाफ एक उपन्यास लिखा, जिसने हालैण्ड में इसके विरुद्ध भावना उत्पन्न करने में वैसा ही काम किया, जैसा कि 'टाम काका की कुटिया' नामक उपन्यास ने अमेरिका में दास-प्रथा के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करने के लिए किया था। इन्डोनीसियन देशभक्त भी इस प्रथा का अन्त करने के लिए संघर्ष में तत्पर थे। इस दशा में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण (१८७०) में कल्चर सिस्टम की समाप्ति कर दी गई, और इन्डोनीसियन किसान अपनी जमीनों पर स्वेच्छापूर्वक खेती करने के लिए स्वतन्त्र हो गए। अब वे बेगार में खेती नहीं करते थे, और न ही डच पूंजीपति सरकारी सहायता द्वारा उनका शोषण ही कर सकते थे। इन्डोनीसियन लोगों की आर्थिक उन्नति में इससे बहुत सहायता मिली।

'कल्चर सिस्टम' का अन्त कर डच शासकों ने इन्डोनीसिया में जिस नीति का प्रारम्भ किया, उसे 'ईथिकल पोलिसी' कहा जाता है। इस नीति का मुख्य तत्व यह था, कि देश में निजी क्षेत्र के व्यवसायों और उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाए। इन्डोनीसिया का आर्थिक विकास करना और इस कार्य में वहां के निवासियों की सहायता करना अब डच लोग अपना नैतिक कर्तव्य समझते थे। पर डच शासक जो इस नई नीति का अनुसरण करने के लिए प्रवृत्त हुए, उसका कारण उनकी नैतिक भावना ही नहीं थी। वे अनुभव करते थे, कि यदि अपने अधीनस्थ इस देश का भली-भांति विकास न किया जाए, तो यह सुगमता-पूर्वक अन्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार बन सकता है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जापान उन्नति के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर होने लग गया था। पूर्वी एशिया को वह अपने साम्राज्य-प्रसार का उपयुक्त क्षेत्र समझता था। इस दशा में डच लोगों को यह भय था, कि असन्तुष्ट और पिछड़ा हुआ इन्डोनीसिया सुगमता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ जापान के प्रभुत्व में आ सकता है। इसीलिए उन्होंने अब इस देश की आर्थिक प्रगति पर विशेष रूप से ध्यान देना प्रारम्भ किया।

शिक्षा के प्रसार पर भी डच शासकों ने ध्यान दिया। अनेक स्थानों पर ऐसे शिक्षणालय खोले गए, जिनमें नये ढंग की आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। इन्डोनीसियन लोगों में नवीन विचारों के विकास में इससे बहुत सहायता मिली। क्योंकि इस देश में बहुत-से छोटे-छोटे द्वीप हैं, और भाषा, संस्कृति आदि की दृष्टि से भी उनमें बहुत भिन्नता है, अतः हालैण्ड द्वारा प्रारम्भ की गई नई शिक्षा-प्रणाली के कारण इनके निवासियों में राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हो सकना भी सम्भव हो गया। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में इन्डोनीसिया में जिस नैतिक नीति का सूत्रपात किया गया था, उसके द्वारा हालैण्ड अपना यह कर्तव्य समझता था, कि इस देश का सब क्षेत्रों में हित-सम्पादन किया जाय। निःसन्देह, यह नीति इण्डोनीसिया में नव-जागरण का प्रारम्भ करने में बहुत सहायक सिद्ध हुई।

आर्थिक दशा—इन्डोनीसिया की आर्थिक समृद्धि का प्रधान आधार खेती थी। चावल के अतिरिक्त वहाँ ईख, काफी, तमाखू, चाय आदि भी प्रचुर परिमाण में उत्पन्न की जाती थी। मसाले के द्वीप भी इन्डोनीसिया के अन्तर्गत हैं, और इन द्वीपों में उत्पन्न मसालों की संसार के सभी देशों में मांग थी। विशेषतया, मलक्का की काली मिर्च बहुत प्रसिद्ध है। मसालों के अतिरिक्त कुनीन की पैदावार भी इण्डोनीसिया के अनेक द्वीपों में प्रचुर मात्रा में होती है। संसार भर में जितनी कुनीन पैदा होती है, उसका बहुत बड़ा भाग इन्हीं द्वीपों में उत्पन्न होता है। कुनीन पर इन्डोनीसिया का एकाधिकार स्थापित है। डच लोगों ने इन द्वीपों में रबड़ की पैदावार पर भी बहुत ध्यान दिया। सुमात्रा के पूर्वी तट पर इतना अधिक रबड़ पैदा होने लगा, कि इन्डोनीसिया के निर्यात माल में उसकी मात्रा अन्य किसी भी प्रकार के माल से कम नहीं रही। ब्रिटिश मलाया के मुकाबिले में भी सुमात्रा का रबड़ अधिक बढ़ गया। खेती और जंगल की पैदावार की दृष्टि से तो इन्डोनीसिया समृद्ध था ही, बाद में वहाँ अनेक व्यावसायिक पदार्थों की भी उत्पत्ति प्रचुर परिमाण में होने लगी। इनमें पैट्रोलियम सबसे महत्वपूर्ण है। सुमात्रा और बोर्नियो में पैट्रोलियम बहुत बड़ी मात्रा में उपलब्ध हुआ, और वहाँ उसके बहुत-से कूप तैयार किये गये। इन्डोनीसिया में टिन भी बहुत बड़े परिमाण में उपलब्ध हुई। इस धातु के उत्पादन में केवल मलाया ही उससे आगे था। गन्ने की खेती के कारण चीनी की भी बहुत-सी मिलें इन्डोनीसिया में स्थापित हुई। १९४० में संसार में कुल मिलाकर जितनी चीनी तैयार होती थी, उसका पांच प्रतिशत अकेले जावा में होता था। चीनी, चाय, टिन और पैट्रोलियम द्वारा इण्डोनीसिया की आर्थिक समृद्धि में बहुत अधिक सहायता मिली।

उन्नीसवीं सदी तक इण्डोनीसिया के विदेशी व्यापार पर हालैण्ड का एकाधिपत्य था। अन्य देशों का उसके साथ व्यापारिक सम्बन्ध नाममात्र को ही था। पर बीसवीं सदी में अन्य देश भी इन्डोनीसिया के विदेशी व्यापार में हाथ बटाने के लिए तत्पर हुए। विदेशी राज्यों ने वहां के व्यवसायों में अपनी पूंजी भी बड़ी मात्रा में लगानी शुरू की। अमेरिका, ब्रिटेन, चीन, बेल्जियम, फ्रांस, जर्मनी और जापान के पूंजीपति इस देश में पूंजी लगाकर वहाँ के व्यवसायों से नफा कमाने के लिए प्रवृत्त हुए। विशेषतया, जापान ने इस बात का बहुत प्रयत्न किया, कि इन्डोनीसिया के साथ अपने व्यापार का विकास करे। इस समय तक जापान व्यावसायिक दृष्टि से बहुत अधिक उन्नति कर चुका था। उसका माल पाश्चात्य देशों के माल के मुकाबिले में बहुत सस्ता पड़ता था। अतः इन्डो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीसिया के बाजारों में जापानी माल की माँग बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लग गई थी। व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ जापानी लोगों में यह विचार भी विकसित होने लगा था, कि इन्डोनीसिया भी उनके साम्राज्य-प्रसार का उपयुक्त क्षेत्र है।

जनसंख्या में वृद्धि—संसार के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी इस समय जनसंख्या बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। इस दृष्टि से जावा और मदुरा (जावा के उत्तर में एक छोटा-सा द्वीप) सबसे आगे थे। १८१९ में इन दो द्वीपों की आबादी ४५,००,००० के लगभग थी। १८५० के लगभग तक वह बढ़ कर १,००,००,००० हो गई थी। तीन चौथाई सदी बाद सन् १९३० में जावा और मदुरा की जनसंख्या ४,१०,००,००० तक पहुँच गई थी। १८१९ से १९३० तक एक सदी से कुछ ही अधिक समय में इन द्वीपों की आबादी में दस गुना के लगभग की वृद्धि हुई थी। जावा और मदुरा के क्षेत्रफल को दृष्टि में रखते हुए यह आबादी बहुत ही अधिक थी। वहाँ ८०० व्यक्तियों का एक वर्गमील में निवास था। इसी भारत समय में एक वर्गमील में निवास करने वाले लोगों की संख्या २३० के लगभग थी। संसार का कोई भी देश ऐसा नहीं था, जहाँ आबादी इतनी अधिक सघन हो, जितनी कि जावा और मदुरा में थी। इसमें सन्देह नहीं, कि इन द्वीपों की जमीन बहुत अधिक उपजाऊ है, पर इतनी अधिक आबादी का भरण-पोषण कर सकना उनके लिए सम्भव नहीं था। इसीलिए डच सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि इन द्वीपों के निवासियों को इन्डोनीसिया के अन्य प्रदेशों में बसने के लिए प्रेरित करे। सुमात्रा, बोर्नियो आदि में जनसंख्या अधिक नहीं थी। पर डच सरकार के प्रयत्नों के बावजूद भी १९३० में केवल १३,००,००० जावा-निवासी अन्य प्रदेशों में जाकर आबाद हुए थे। इन प्रसंग में यह भी निर्दिष्ट करना उपयोगी होगा, कि १९३० में इन्डोनीसिया की कुल आबादी छः करोड़ के लगभग थी। इसमें से चार करोड़ से भी अधिक आदमी केवल जावा और मदुरा में निवास करते थे, जब कि इन दो द्वीपों का क्षेत्रफल केवल ५१,०२२ वर्गमील है, और इन्डोनीसिया के अन्य प्रदेश क्षेत्रफल में ६,८४,२३६ वर्गमील के लगभग हैं। इन्डोनीसिया की जनसंख्या की समस्या का इससे भली-भांति अन्दाज किया जा सकता है।

ईसाई धर्म का प्रचार—इन्डोनीसिया के बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, यद्यपि बाली द्वीप में पौराणिक हिन्दू धर्म का प्रचार है। पर सुमात्रा, बोर्नियो आदि के पर्वत-प्रधान एवं जांगल प्रदेशों में ऐसी भी अनेक जातियों का निवास है, जो अपने पुराने देवी देवताओं की पूजा करती हैं। जब डच लोगों ने इन्डोनीसियन द्वीपों को अपने प्रभाव में लाना शुरू किया, तो यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि ईसाई मिशनरी भी वहाँ अपने धर्म का प्रचार करने में तत्पर हों। डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की सहायता इन मिशनरियों को प्राप्त थी। डच लोग प्रोटेस्टेन्ट धर्म के अनुयायी थे, अतः शुरू में जो ईसाई पादरी इन्डोनीसिया में धर्म-प्रचार के कार्य के लिये आए, वे भी प्रोटेस्टेन्ट ही थे। बीसवीं सदी में रोमन केथोलिक पादरियों ने भी इन द्वीपों में कार्य शुरू किया। पर ईसाई लोगों को इन द्वीपों में विशेष सफलता नहीं हुई। १९४१ तक वे केवल बीस लाख आदमियों को ईसाई धर्म में दीक्षित कर सके थे। पर कुल जनसंख्या के तीन प्रतिशत भाग का ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेना भी साधारण बात नहीं थी। ईसाइयों की सफलता का मुख्य कारण यह था, कि उन्होंने विशेषतया उन लोगों में कार्य किया, जो मुस्लिम व हिन्दू धर्मों के प्रभाव से वंचित थे और सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े हुए थे। जिस प्रकार भारत में गोंड, भील आदि जातियाँ पिछड़ी हुई दशा में हैं, और उनमें ईसाई लोग विशेष रूप से कार्य करते रहे हैं, वैसे ही इन्डोनीसिया के ईसाई पादरी भी वहाँ की पिछड़ी हुई जातियों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कार्य करते थे, और उनमें अपने धर्म का प्रचार करने में उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई थी।

(४) स्वातन्त्र्य-आन्दोलन का विकास

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना—बीसवीं सदी में इन्डोनीसिया में राजनीतिक अधिकारों के लिये भी संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। संसार के अन्य देशों के समान इस समय इन्डोनीसिया में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन बल पकड़ रहा था। पाश्चात्य देशों में शिक्षा प्राप्त कर जो इन्डोनीसियन नवयुवक अपने देश को वापस आते थे, वे नवयुग की प्रवृत्तियों से भली-भाँति परिचित होते थे। हालैण्ड में भी ऐसे राजनीतिक दलों की सत्ता थी, जो अपने साम्राज्य के अन्तर्गत देशों के शासन में उदार नीति का अनुसरण करने के पक्षपाती थे। इसका यह परिणाम हुआ, कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में इन्डोनीसियन स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने अच्छा प्रबल रूप धारण कर लिया। १९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर इस आन्दोलन को और भी अधिक बल मिला। ब्रिटेन, फ्राँस आदि मित्रराज्य इस समय डंके की चोट के साथ यह घोषित कर रहे थे, कि वे लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों के लिये ही जर्मनी और आस्ट्रिया के खिलाफ युद्ध में तत्पर हुए हैं। १९१७ में जब अमेरिका महायुद्ध में शामिल हुआ, तो उसके राष्ट्रपति विल्सन ने भी इन्हीं सिद्धान्तों की दुहाई दी। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि इन सिद्धान्तों का प्रभाव इन्डोनीसिया पर भी पड़े। महायुद्ध की समाप्ति पर इन द्वीपों में अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए। १९२० में जावा और सुमात्रा में डच शासन के विरुद्ध बाकायदा विद्रोह हो गया। यह विद्रोह अनेक वर्षों तक जारी रहा, और इसका दमन करने में डच सरकार को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। १९३० के बाद इन्डोनीसिया में विद्रोह की प्रवृत्ति कुछ मन्द पड़ गई। इसका कारण यह था, कि इस समय जापान मंचूरिया में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर हो गया था, और इन्डोनीसियन नेता इस बात को अनुभव करते थे, कि उनके देश की अव्यवस्थित दशा से लाभ उठाकर जापान उसे भी अपने साम्राज्यवाद का शिकार बना सकता है। साथ ही, १९२७ में डच सरकार ने इन्डोनीसिया में आंशिक स्वराज्य की स्थापना का भी उद्योग किया था।

डच सरकार के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह इन्डोनीसिया के स्वातन्त्र्य आन्दोलन की सर्वथा उपेक्षा कर सके। इसीलिए महायुद्ध के काल में १९१६ में वहाँ फोल्क्सराड (विधान सभा या पार्लियामेन्ट) की स्थापना भी कर दी गई थी। शुरू में फौल्क्सराड का कार्य कानून व शासन के मामले में परामर्श देना ही था, उसे स्वयं कानून बना सकने का अधिकार नहीं दिया गया था। १९२७ में डच सरकार ने इन्डोनीसिया के शासन में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये। इस समय वहां बाकायदा विधान सभा की स्थापना की गई, जिसके दो तिहाई सदस्य निर्वाचित होते थे और एक तिहाई सदस्यों को डच सरकार मनोनीत करती थी। विधान सभा का अध्यक्ष भी डच सरकार द्वारा नियुक्त होता था। इन मनोनीत सदस्यों में ५० फी सदी डच होते थे, ५० फी सदी से कुछ कम इन्डोनीसियन लोग और शेष इन्डोनीसिया में बसे हुए अन्य विदेशी लोग होते थे। इन विदेशियों में प्रधान स्थान चीनी और अरब लोगों का था। इन्डोनीसिया का शासन करने के लिए एक सिविल सर्विस संगठित थी। शुरू में इसके प्रायः सभी सदस्य डच हुआ करते थे। हालैण्ड में इन डच कर्मचारियों को शासन कार्य की भली-भाँति शिक्षा दी जाती थी, और उन्हें इन्डोनीसिया की भाषा, रीति-रिवाज आदि से भी परिचित करा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया जाता था। बाद में इन्डोनीसियन लोगों को भी सिविल सर्विस में लिया जाने लगा। १९४१ तक यह दशा आ गई थी, कि इन्डोनीसिया की सिविल सर्विस में ८४ फी सदी के लगभग कर्मचारी इन्डोनीसियन हो गये थे। पर उच्च राजकीय पदों पर अब भी डच कर्मचारी ही विद्यमान थे। शासन की दृष्टि से इन्डोनीसिया की हालत प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि १९३५ के शासन-सुधार से पूर्व भारत में ब्रिटिश शासन की थी। १९२७ के शासन-सुधारों द्वारा डच सरकार ने यह प्रयत्न भी किया था, कि इन्डोनीसिया को अनेक प्रान्तों में विभक्त कर उनमें प्रान्तीय स्वायत्त शासन की स्थापना की जाय। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इन्डोनीसियन नेता इन सुधारों से संतुष्ट नहीं थे। वे इन्हें अपर्याप्त समझते थे, और अपने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये उत्सुक थे। डच शासन से और हानि चाहे कुछ भी क्यों न हुई हो, पर यह लाभ भी हुआ था, कि सम्पूर्ण इन्डोनीसिया में राष्ट्रीय एकता की भावना उत्पन्न हो गई थी। इस क्षेत्र के विविध द्वीप सदियों के बाद एक बार फिर एक शासन में आये थे, और डच शासन के विरुद्ध एक होकर संघर्ष करने के कारण उनमें अपने एक होने की अनुभूति भली-भाँति विकसित हो गई थी।

१९३९ में जब बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ हुआ, तो इन्डोनीसियन लोगों में राष्ट्रीय भावना और स्वतन्त्रता की आकांक्षा सुचारु रूप से उत्पन्न हो चुकी थी। वहाँ अनेक राजनीतिक दल भी संगठित थे, जिनमें डॉ० अहमद सुकर्ण द्वारा स्थापित राष्ट्रीय दल सर्वप्रधान था। इन्डोनीसिया के राष्ट्रीय नेता हालैण्ड द्वारा स्थापित शिक्षणालयों के विरोधी थे। वे उन्हें राष्ट्रीयता के लिये विघातक समझते थे, और इसीलिये उन्होंने ऐसे राष्ट्रीय शिक्षणालय स्थापित किये थे, जो सरकारी सहायता नहीं लेते थे, और राष्ट्रीय शिक्षा देने का प्रयत्न करते थे। १९२९ में सुकर्ण के राष्ट्रीय दल को अवैध भी घोषित कर दिया गया था, पर इससे इन्डोनीसिया का राष्ट्रीय आन्दोलन मन्द नहीं हुआ। आगे चल कर जब महायुद्ध के समय जापान ने इस देश से डच शासन का अन्त कर दिया, तो सुकर्ण और उसके साथियों को वह सुअवसर प्राप्त हो गया जिसकी वे प्रतीक्षा में थे। इसीलिये जब इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हुई, तो सुकर्ण ही उसके प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

(५) इन्डोनीसिया के समीपवर्ती के अन्य द्वीप

यद्यपि इन्डोनीसिया के क्षेत्र के बहुसंख्यक द्वीप हालैन्ड के अधीन थे, पर कतिपय द्वीप ऐसे भी थे, जो पोर्तुगाल और ग्रेट ब्रिटेन के अधीन थे। पोर्तुगाल के अधीन द्वीपों में तिमोर प्रमुख था, और बोर्नियो तथा सरावक में ब्रिटेन का शासन था। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) तक इस क्षेत्र के कुछ द्वीप जर्मनी के भी अधीन थे। इन पर से जर्मनी का शासन महायुद्ध के समय में समाप्त हो गया था। पर पोर्तुगाल और ब्रिटेन का शासन बाद में भी देर तक अपने अधीनस्थ द्वीपों पर कायम रहा। इस प्रकरण में हम इन्हीं के सम्बन्ध में संक्षेप के साथ प्रकाश डालेंगे।

पोर्तुगाल द्वारा अधिकृत प्रदेश—सोलहवीं सदी के शुरू में पोर्तुगीज लोगों ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के द्वीपों में अपने व्यापार का विकास प्रारम्भ किया था, यह हम पहले लिख चुके हैं। पर पोर्तुगाल ने इस क्षेत्र में अपने साम्राज्य के विस्तार पर विशेष ध्यान नहीं दिया था, क्योंकि उसका ध्यान व्यापार पर ही अधिक था। फिर भी जो कतिपय प्रदेश बाद में उसके प्रभुत्व में आ गये थे, वे भी अठारहवीं सदी में उसके हाथों से निकल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर अब हालैण्ड की अधीनता में आ चुके थे। उन्नीसवीं सदी में तिमोर द्वीप का पूर्वी भाग और उसके समीप के कतिपय छोटे-छोटे द्वीप ही पोर्तुगाल के प्रभुत्व में शेष रह गये थे। पर इनके सम्बन्ध में भी हालैण्ड और पोर्तुगाल में प्रायः झगड़ा होता रहता था। १८५६ और १८६० में इन दोनों देशों ने परस्पर सन्धि करके इन झगड़ों का अन्त किया। इन सन्धियों द्वारा हालैण्ड ने अनेक छोटे-छोटे द्वीप पोर्तुगाल से खरीद लिये, और तिमोर द्वीप में दोनों राज्यों की सीमा का ठीक प्रकार से निर्धारण कर दिया गया। बीसवीं सदी के दक्षिण-पूर्वी एशिया में पोर्तुगाल का प्रभुत्व नगण्य-सा था। राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से पोर्तुगीज लोगों द्वारा अधिकृत प्रदेशों का कोई महत्त्व नहीं था।

ब्रिटेन द्वारा अधिकृत प्रदेश—सतरहवीं सदी में जब हालैण्ड की ईस्ट इण्डिया कम्पनी दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों में अपने व्यापारिक तथा राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थी, तभी ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए प्रयत्नशील थी। सुमात्रा के कुछ प्रदेशों को उसने अपने अधिकार में कर भी लिया था। क्योंकि अठारहवीं सदी में ब्रिटश ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने में संलग्न थी, अतः उसे दक्षिण-पूर्वी एशिया की ओर ध्यान देने की अधिक फुरसत नहीं मिल सकी। नैपोलियन के युद्धों के अवसर पर जब हालैण्ड फ्रांस के अधीन हो गया, तो ब्रिटेन ने हालैण्ड के इन्डोनीसियन साम्राज्य को अपने अधिकार में कर लिया। १८११ से १८१६ तक इन द्वीपों पर ब्रिटेन का प्रभुत्व कायम रहा। इनका शासन करने के लिये ब्रिटिश सरकार की ओर से सर टामस स्टैम्फोर्ड रैफल्स को नियत किया गया, जो एक अत्यन्त कुशल व शक्तिशाली शासक था। वीएना की कांग्रेस (१८१४) के निर्णयों के अनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया के ये द्वीप हालैण्ड को वापस दे दिये गये। इससे सर रैफल्स को बहुत निराशा हुई। वह इन प्रदेशों को ब्रिटेन के प्रभुत्व में रखना चाहता था। विवश होकर उसने हालैण्ड के साथ यह समझौता किया, कि मलाया में ब्रिटिश लोगों के साम्राज्य-विस्तार में हालैण्ड बाधा न डाले, और बदले में ब्रिटेन इन्डोनीसियन द्वीपों में अपने अधिकारों का परित्याग कर दे। इस समझौते के अनुसार सुमात्रा, जावा आदि द्वीप हालैण्ड को प्राप्त हुए, और मलाया में अपनी शक्ति की स्थापना के लिए ब्रिटेन को खुली छुट्टी मिल गई। सर रैफल्स ने मलाया में किस प्रकार ब्रिटेन के प्रभुत्व को स्थापित किया, इस पर हम अठारहवें अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

पर ब्रिटिश लोगों को दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध द्वीपों को अविकल रूप से हालैण्ड के लिए छोड़ दिया हो, यह बात नहीं थी। बोर्नियो के उत्तर-पश्चिम में एक द्वीप है, जिसे लाबुआन कहते हैं। यद्यपि अठारहवीं सदी में ब्रिटिश लोगों ने वहाँ अपना व्यापारिक केन्द्र स्थापित कर लिया था, पर उसे विकसित करने में वे विशेष सफलता नहीं प्राप्त कर सके थे। वह प्रायः उपेक्षित दशा में ही था। पर १८४० में ब्रिटिश लोगों ने इस पर फिर ध्यान देना शुरू किया, और व्यापार-केन्द्र के रूप में इसका विकास किया।

बोर्नियो द्वीप में एक राज्य था, जिसे ब्रुनेई कहते थे। यहां एक मुस्लिम सुलतान का शासन था। किसी समय ब्रुनेई की सल्तनत बहुत शक्तिशाली थी, और न केवल बोर्नियो के बड़े भाग पर अपितु लाबुआन आदि अन्य अनेक द्वीपों पर भी उसका शासन था। पर उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रुनेई राज्य की दशा बहुत खराब हो गई थी, और उसके सुलतान की निर्बलता से लाभ उठा कर १८८० में ब्रिटिश सरकार ने उसे अपने आधिपत्य में ले लिया था। यद्यपि ब्रुनेई के सुलतान की राजगद्दी को कायम रखा गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, पर ब्रिटेन की अधीनता में उसकी स्थिति प्रायः वही रह गई थी, जो भारत में देसी रियासतों के राजाओं की थी।

बोर्नियो के उत्तर-पश्चिमी समुद्र-तट पर सरावक नाम का एक अन्य राज्य था। उन्नीसवीं सदी में इसकी दशा भी बहुत खराब थी। सर जेम्स ब्रुक (१८०३-१८६८) नामक एक अंग्रेज ने इस की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर इसे अपनी अधीनता में कर लिया था। सर जेम्स ब्रुक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी में था, और उसी की ओर से दक्षिण-पूर्वी एशिया में भेजा गया था। सरावक के सुलतान के विरुद्ध जो अनेक विद्रोह हो रहे थे, उन्हें शान्त करने में इसने सुलतान की सहायता की, और बाद में अपनी सैनिक शक्ति का उपयोग कर सरावक के राज्य पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया। अब ब्रुक सरावक पर एक स्वतन्त्र राजा के समान शासन करने लगा। १८६३ में उसने ब्रिटिश सरकार के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने सरावक पर सर जेम्स ब्रुक के अधिकार को स्वीकृत कर लिया। सरावक के इस अंग्रेज राजा की स्थिति भी ब्रिटेन के अधीनस्थ राजा के समान थी, और इस प्रदेश पर ब्रिटेन का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता था।

ब्रुनेई और सरावक के अतिरिक्त बोर्नियो द्वीप के उत्तरी भाग पर भी ब्रिटिश सरकार ने अपना आधिपत्य स्थापित किया। यह प्रदेश (उत्तरी बोर्नियो) प्राय जंगलों से आच्छादित था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में इस पर अपना आधिपत्य स्थापित करने और इसका आर्थिक विकास करने के लिए "नार्थ बोर्नियो कम्पनी" की स्थापना की गई। यह प्रदेश रबड़ के लिए बहुत उपयुक्त था। ब्रिटिश नार्थ बोर्नियो कम्पनी ने यहाँ न केवल रबड़ के वृक्षों का विकास किया, अपितु साथ ही ब्रिटिश सरकार की संरक्षा में इसके शासन का भी संचालन किया। इस प्रकार बोर्नियो द्वीप के उत्तर-पश्चिमी और उत्तरी भागों पर ब्रिटेन का आधिपत्य स्थापित हुआ। पर दक्षिणी बोर्नियो हालैण्ड की ही अधीनता में रहा।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में एक अन्य द्वीप है, जिसे न्यू गिनी कहते हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह इस क्षेत्र के अन्य सब द्वीपों की अपेक्षा बड़ा है। १८८० में इसके दक्षिण-पूर्वी भाग पर ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्व कायम कर लिया। न्यू गिनी के ब्रिटेन द्वारा अधिकृत प्रदेश को पापुआ कहते हैं। १८८० में ही न्यू गिनी द्वीप के उत्तर-पूर्वी भाग पर जर्मनी ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। १८१४-१८ के महायुद्ध में जब जर्मनी की पराजय हुई, तो यह प्रदेश राष्ट्रसंघ की अधीनता में आस्ट्रेलिया के सुपुर्द कर दिया गया। न्यू गिनी का पश्चिमी भाग हालैण्ड की अधीनता में था।

न्यू गिनी और बोर्नियो के कतिपय प्रदेशों के अतिरिक्त दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अन्य भी अनेक द्वीपों पर ब्रिटेन का आधिपत्य कायम था। इनमें से कोकोस (कीलिंग) द्वीपसमूह (सुमात्रा के दक्षिण में कई सौ मील की दूरी पर स्थित) सबसे महत्त्वपूर्ण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सतरहवां अध्याय

दक्षिण-पूर्वी एशिया—इन्डोचायना

(१) प्राचीन इतिहास

दक्षिण-पूर्वी एशिया में फ्रांस के अधीन इन्डोचायना का जो राज्य था, उसका क्षेत्रफल २,८८,००० वर्ग मील है, और १९३८ में उसकी आबादी २,३७,००,००० थी। इस राज्य के पांच मुख्य भाग थे, तोन्किन, अनाम, कोचीन-चायना, कम्बोडिया और लाओस। फ्रांस की अधीनता में होने के कारण ये पांचों प्रदेश यद्यपि एक ही राज्य के अंग थे, पर प्राचीन समय में राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से ये एक नहीं थे। तोन्किन और अनाम पर चीनी सभ्यता का प्रभाव था, और कम्बोडिया तथा लाओस के प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता का। तोन्किन और अनाम चीन की दक्षिणी सीमा के बहुत समीप हैं। तोन्किन तो उसके साथ ही लगा हुआ है। इसी कारण चीन के अनेक शक्तिशाली सम्राट् इन प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने में भी समर्थ हुए थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक भी ये चीन के मञ्चू साम्राज्य के अधीन थे। दक्षिणी इन्डोचायना के विविध राज्यों की स्थिति भी उस समय चीन के सम्राट् के करद राज्यों के सदृश थी। ये मञ्चू सम्राट् की अधीनता को स्वीकृत करते थे।

तीसरी सदी ई०पू० में चिन वंश के शक्तिशाली सम्राट् शी-हुआंग-ती ने तोन्किन को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। उसने अनाम पर भी आक्रमण किया था, और उसके उत्तरी भाग को भी अपने विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया था। चिन वंश की शक्ति के क्षीण होने पर (२०६ ई० पू०) ये प्रदेश चीनी साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो गये। चिन वंश के पतन के पश्चात् चीन में हान वंश का शासन कायम हुआ था। इसका सबसे अधिक शक्तिशाली सम्राट् बू-ती था। उसने चीन के साम्राज्य का फिर से विस्तार किया, और तोन्किन तथा अनाम को जीतकर अपने अधीन कर लिया। बू-ती का शासनकाल १४० ई० पू० से ८७ ई० पू० तक था। चीन के इतिहास में वह दिग्विजयी सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध है। यद्यपि तोन्किन और अनाम उसके अधीन थे, पर उनमें अपने पृथक् राजाओं की सत्ता भी विद्यमान थी। भारतवर्ष के सम्राट् समुद्रगुप्त के अधीनस्थ विविध राजाओं के समान तोन्किन और अनाम के राजा भी सम्राट् बू-ती की अधीनता में अपनी पृथक् सत्ता रखते थे। हान वंश के क्षीण होने पर इन प्रदेशों के राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये (२० ई० प०) तीसरी सदी ई० प० के प्रारम्भ में जब चीन की शक्ति का पुनरुद्धार हुआ, तो तोन्किन और अनाम फिर से चीन के अधीन हुए। इस समय इन राज्यों में चीन की सभ्यता और संस्कृति का विशेष रूप से प्रचार हुआ। तोन्किन और अनाम के उच्च वर्गों के लोग चीनी भाषा बोलने और चीनी साहित्य के अध्ययन में गौरव अनुभव करने लगे। तीसरी सदी से नवीं सदी के अन्त तक ये राज्य चीन की ही अधीनता में रहे। इस काल में चीन में अनेक राजवंशों ने शासन किया, पर तोन्किन और अनाम अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में सफल नहीं हुए। दसवीं सदी के प्रारम्भ में जब तांगवंश का पतन हुआ, और चीन का विशाल साम्राज्य अनेक राज्यों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विभक्त हो गया, तो इन राज्यों को अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्थापित करने का अवसर मिला। पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी इन राज्यों में चीनी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव कायम रहा। तेरहवीं सदी में जब चीन पर मंगोल लोगों के आक्रमण हुए, और चंगेज खाँ ने विशाल मंगोल साम्राज्य को स्थापित किया, तो तोन्किन और अनाम भी मंगोल आक्रमणों से अपनी रक्षा नहीं कर सके। पर मंगोल विजेताओं के लिये यह सम्भव नहीं था, कि इतने सुदूरस्थ प्रदेशों पर वे अपने शासन को कायम रख सकते। जिस प्रकार भारत पर आक्रमण करने के बाद भी मंगोल लोगों ने यहां अपना स्थायी आधिपत्य स्थापित नहीं किया था, वैसे ही अनाम और तोन्किन पर भी उन्होंने अपना शासन स्थायी रूप से कायम नहीं किया। पन्द्रहवीं सदी के शुरू में चीन के मिंगवंशी सम्राट् युंग-लो ने फिर तोन्किन और अनाम पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। इस समय के बाद ये राज्य चीन के सम्राटों को भेंट, उपहार, कर आदि द्वारा सन्तुष्ट करते रहे। तोन्किन और अनाम किस अंश तक चीन की अधीनता में रहें, यह बात चीन के सम्राट् की शक्ति पर आश्रित रहती थी। जो सम्राट् अधिक शक्तिशाली होते थे, इन प्रदेशों पर उनका प्रभुत्व अधिक दृढ़ होता था। पर तोन्किन और अनाम के राजाओं की पृथक् सत्ता कायम थी, और वे चीनी साम्राज्य की अधीनता में रहते हुए भी अपने राज्यों का शासन स्वयं किया करते थे।

तोन्किन और अनाम के राज्यों में चीनी सभ्यता और संस्कृति का प्रभुत्व था। पर इन प्रदेशों की कोई अपनी संस्कृति न हो, यह बात नहीं थी। चौदहवीं सदी में अनाम के लोगों ने अपनी पृथक् लिपि का विकास किया, जिसके अक्षर चीनी लिपि से भिन्न थे। इस लिपि में अनाम का अपना साहित्य लिखा जाने लगा, और धीरे-धीरे अनामी साहित्य का विकास हुआ। चित्रकला आदि में भी इन राज्यों की अपनी पृथक् शैली थी। साथ ही, इन प्रदेशों पर भारतीय सभ्यता और संस्कृति का भी प्रभाव था। भारतीय व्यापारी और धर्म-प्रचारक बड़ी संख्या में अनाम के समुद्र-तट पर आते-जाते थे, और उनका प्रभाव वहां की जनता पर पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था।

प्राचीन समय में अनाम के दक्षिणी भाग में चम्पा नामक भारतीय राज्य की सत्ता थी। कुछ समय के लिये चम्पा के राज्य की उत्तरी सीमा तोन्किन से भी जा लगी थी, और सम्पूर्ण अनाम चम्पा राज्य के अन्तर्गत हो गया था। चम्पा का पहला भारतीय राजा श्रीमार था। इसका समय दूसरी सदी ई० प० में था। श्रीमार और उसके उत्तराधिकारी चम्पा के राजा भारतीय थे, संस्कृत उनकी भाषा थी, और उनके नाम भी भारतीय थे। इन राजाओं द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए संस्कृत भाषा के अनेक शिलालेख दक्षिणी अनाम में उपलब्ध हुए हैं। चम्पा के राजाओं में श्रीमद्रवर्मन् का नाम बहुत प्रसिद्ध है। वह वेदों का विद्वान् था, और उसने शिव के एक विशाल मन्दिर का निर्माण कराया था, जिसमें भद्रेश्वर स्वामी शिव की मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई थी। यह मन्दिर बाद में चम्पा के धर्म और संस्कृति का महान् केन्द्र बन गया था, और इसकी कीर्ति सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में व्याप्त थी। यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चम्पा के इन भारतीय राजाओं के सम्बन्ध में अधिक विस्तार के साथ लिख सकें। चीन के जो शक्तिशाली सम्राट् तोन्किन और अनाम के विविध राजाओं को अपनी अधीनता में लाने में तत्पर थे, उन्होंने चम्पा के राजाओं को भी अपना वशवर्ती एवं करद बनाने में सफलता प्राप्त की थी।

चम्पा के पश्चिम में कम्बोडिया का राज्य था, जिसे भारतीय लोग कम्बुज कहते थें। चम्पा के समान कम्बुज भी भारत का ही एक उपनिवेश था। चौथी सदी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कौन्डिन्य नामक भारतीय ब्राह्मण ने उसके दक्षिणी भाग में एक राज्य स्थापित किया था, जिसे चीनी ऐतिहासिकों ने फूनान के नाम से लिखा है। फूनान के निवासी शैव धर्म के अनुयायी थे। वहां के राजा रुद्रवर्मन् और उसकी माता कुल-प्रभावती द्वारा उत्कीर्ण कराये हुए अनेक शिलालेख इस प्रदेश से उपलब्ध हुए हैं। फूनान के उत्तर में भारतीयों का एक अन्य उपनिवेश था, जिसे कम्बुज कहते थे। बाद में फूनान राज्य को भी कम्बुज के राजाओं ने विजय कर लिया, और यह सारा प्रदेश ही कम्बुज या कम्बोडिया कहाने लगा। छठी सदी के अन्त तक कम्बुज और फूनान के भारतीय राज्य परस्पर मिलकर एक हो गये थे। कम्बुज देश के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनके शासनकाल में इस धर्म की बहुत उन्नति हुई। न केवल राजा अपितु अन्य धनी मानी लोग भी वहां शैव मन्दिरों के निर्माण में तत्पर थे। कुछ ही समय में कम्बुज शैव धर्म और भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया। शिव, विष्णु, दुर्गा आदि पौराणिक देवी-देवताओं की वहां सर्वत्र पूजा होने लगी। वेद, पुराण, रामायण, महाभारत आदि का वहां उसी प्रकार अध्ययन होने लगा, जैसा कि भारत में होता था। सातवीं सदी में महेन्द्र वर्मा, ईशान वर्मा, और जयवर्मा कम्बुज देश के राजा थे। ईशान वर्मा ने कम्बुज में अनेक आश्रम बनवाये। जैसे बौद्ध धर्म के मठ बिहार कहाते थे, वैसे ही पौराणिक धर्म के मठों को आश्रम कहते थे। इनमें बहुत-से संन्यासी निवास करते थे, और बौद्ध भिक्षुओं की तरह धर्म-प्रचार, विद्याध्ययन तथा शिक्षा-कार्य में व्यापृत रहते थे। राजा ईशान वर्मा के समय में ही विष्णु और शिव की सम्मिलित मूर्तियां बनायी गईं। इससे सूचित होता है, कि कम्बुज देश के शैव और वैष्णव शिव और विष्णु में अविरोध मानते थे। नवीं सदी में कम्बुज देश का राजा यशोवर्मा था। उसने यशोधरपुर नाम से अपनी नई राजधानी बनायी थी। उसके भग्नावशेष अब भी अङ्कोर-थोम में उपलब्ध है। इसके चारों ओर ३३० फीट चौड़ी खाई है, जिसके भीतर की ओर एक विशाल प्राचीर बनी हुई है। नगर वर्गाकार है, जिसकी प्रत्येक भुजा लम्बाई में दो मील से भी अधिक है। नगर के द्वार विशाल व सुन्दर हैं। इनके दोनों ओर रक्षकों के लिये मकान बने हैं। तीन सिर वाले विशाल हाथी द्वारों की मीनारों को अपनी पीठ पर थामे हुए हैं। सौ फीट चौड़े और मील भर लम्बे पांच राजमार्ग द्वारों से नगर के मध्य तक गये हैं। पक्की चिनाई के भिन्न-भिन्न आकृति वाले अनेक सरोवर अब तक भी अङ्कोर-थोम के खण्डहरों में विद्यमान हैं। नगर के ठीक बीच में शिव का एक विशाल मन्दिर है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड पर एक-एक ऊँची मीनार है। बीच की मीनार की ऊंचाई भग्न दशा में भी १५० फीट के लगभग है। ऊंची मीनार के चारों ओर बहुत-सी छोटी-छोटी मीनारें हैं। इनके चारों ओर एक-एक नर मूर्ति बनी हुई है। ये समाधिस्थ शिव की मूर्तियां हैं। इस विशाल शिव मन्दिर में जगह-जगह पर सुन्दर चित्रकारी की गई है। पौराणिक धर्म के किसी मन्दिर के इतने पुराने और विशाल अवशेष भारत में भी कहीं उपलब्ध नहीं होते। बारहवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कम्बुज देश का राजा सूर्यवर्मा द्वितीय था। उसने एक अत्यन्त विशाल विष्णु मन्दिर का निर्माण कराया, जो अङ्कोर-वट के रूप में अब तक भी विद्यमान है। आजकल यह एक बौद्ध विहार है, पर शुरू में इसका निर्माण वैष्णव मन्दिर के रूप में हुआ था। इसके चारों ओर की खाई की चौड़ाई ७०० फीट है। झील के समान चौड़ी इस खाई को पार करने के लिए पश्चिम की ओर एक पुल बना है। पुल पार करने पर एक विशाल द्वार आता है, जिसकी चौड़ाई १००० फीट से भी अधिक है। खाई और द्वार को पार करने के बाद जो मन्दिर आता है, वह भी बहुत विशाल है। उसकी चौड़ाई १८० फीट के लगभग है। समयान्तर में कम्बुज देश में पौराणिक धर्म का ह्रास हो गया, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसका स्थान बौद्ध धर्म ने ले लिया। कम्बोडिया या कम्बुज देश पूर्ण रूप से भारत का उपनिवेश था, और इसी रूप में वह सोलहवीं सदी के लगभग तक विद्यमान रहा। पर कम्बुज देश के भारतीय राजाओं की राजनीतिक शक्ति बहुत समय तक कायम नहीं रह सकी। सोलहवीं सदी में उस पर सिआम और अनाम के राज्यों ने आक्रमण शुरू कर दिये, और इनके हमलों के कारण उसकी शक्ति बहुत क्षीण हो गई। सोलहवीं सदी में जब पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार आदि के लिए इस देश में आना शुरू किया, तब कम्बुज देश की राजनीतिक तथा सामरिक शक्ति बहुत ही निर्बल दशा में थी।

इस प्रकार स्पष्ट है, कि वर्तमान समय में जिस प्रदेश को इन्डोचायना कहते हैं, प्राचीन समय में वह अनेक राज्यों में विभक्त था। उसके उत्तरी राज्य चीनी सभ्यता के प्रभाव में थे, और दक्षिणी राज्यों में भारतीय सभ्यता की सत्ता थी। राजनीतिक दृष्टि से यह देश अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था, जो आपस में संघर्ष करते रहते थे। प्राचीन समय में चम्पा और कम्बुज में अनेक ऐसे शक्तिशाली राजा हुए, जिन्होंने इन्डोचायना के बहुत बड़े भाग पर चक्रवर्ती सम्राटों के रूप में शासन किया। उत्तरी इन्डोचायना पर चीन का प्रभुत्त्व बहुत समय तक कायम रहा, यद्यपि वहां के राजा चीन के करद राजाओं के रूप में शासन करते रहे।

(२) फ्रांस के प्रभुत्व की स्थापना

यूरोपियन जातियों से सम्पर्क—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोचायना के समुद्र-तट पर भी सोलहवीं सदी में पोर्तुगीज लोगों ने आना शुरू किया था। पर पोर्तुगीज लोगों ने इस देश में अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व के विस्तार का उद्योग नहीं किया। पोर्तुगीजों के बाद हालैण्ड, स्पेन, ब्रिटेन और फ्रांस के व्यापारी इस देश में व्यापार के लिये आये, पर उन्होंने भी वहां अपने राजनीतिक प्रभुत्व को स्थापित करने की कोई कोशिश नहीं की। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक इन्डोचायना की स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रही।

फ्रांस का प्रभुत्व—इन्डोचायना पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व कायम करने का उद्योग फ्रेञ्च लोगों ने किया। फ्रेञ्च पादरी इस क्षेत्र में देर से ईसाई धर्म के प्रचार का प्रयत्न कर रहे थे। सतरहवीं सदी में पेरिस में एक मिशनरी सोसायटी की स्थापना हुई थी, जिसका उद्देश्य विदेशों में रोमन कैथोलिक धर्म का प्रचार करना था। इसने इन्डोचायना के दक्षिणी भाग कोचीन-चायना में कार्य शुरू किया। फ्रेंच पादरियों के साथ-साथ फ्रेञ्च व्यापारी भी इस प्रदेश में आने लगे। धीरे-धीरे बहुत-से फ्रेञ्च पादरी और व्यापारी कोचीन-चायना और अनाम में पहुंच गये। ये लोग केवल धर्म-प्रचार और व्यापार से ही संतुष्ट नहीं रहे, इन्होंने इन प्रदेशों के राजनीतिक मामलों में भी हस्तक्षेप शुरू कर दिया। अठाहरवीं सदी में ब्रिटिश और फ्रेंच लोग भारत के विविध राजाओं और नवाबों का पक्ष लेकर इस देश की राजनीति में अपना प्रभाव स्थापित कर रहे थे। कोचीन-चायना और अनाम में भी फ्रेंच लोगों ने इसी नीति का अनुसरण करना शुरू किया। अनाम की राजगद्दी के एक झगड़े को लेकर १७८२ में फ्रांस के एक पादरी ने यह निश्चय किया, कि अन्यतम उम्मीदवार गिआलोंग की मदद की जाए, ताकि जब फ्रांस की सहायता से वह अनाम का राजा बन जाए, तो वह फ्रांस के प्रभाव में रहे और ईसाई धर्म के प्रचार में भी उससे सहायता मिले। उस समय फ्रांस में बूर्बों वंश के राजा लुई १६वें का शासन था। वह अनाम की राजगद्दी के इस उम्मीदवार की सहायता करने को तैयार हो गया। पर शीघ्र ही (१७८९) फ्रांस में राज्यक्रान्ति हो गई, और लुई १६वें को अपनी राजगद्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परित्याग करना पड़ा। फ्रांस के सम्राट् की ओर से तो कोई फ्रेंच सेनाएं इस समय अनाम नहीं आ सकीं, पर पादरियों और व्यापारियों की प्रेरणा पर बहुत-से फ्रेंच स्वयं-सेवक इस समय अनाम पहुंच गये, और उन की सहायता से ही गिआलोंग अनाम के राज-सिंहासन को प्राप्त करने में समर्थ हुआ। आगे चलकर यह गिआलोंग अत्यन्त शक्तिशाली सम्राट् बना, और वह न केवल सम्पूर्ण अनाम को अपितु तोन्किन, कोचीन-चायना, लाओस और कम्बोडिया को भी अपने प्रभुत्व में लाने में समर्थ हुआ। क्योंकि सम्राट् गिआलोंग ने फ्रेंच लोगों की सहायता से अपनी राजगद्दी प्राप्त की थी, अतः स्वाभाविक रूप से इस समय (अठारहवीं सदी के अन्त में) उसके राज्य में फ्रांस का प्रभाव बढ़ना शुरू हो गया, और फ्रेंच पादरी बहुत निश्चिन्तता के साथ वहाँ धर्म-प्रचार के कार्य में व्यापृत हो गये।

उन्नीसवीं सदी में फ्रेंच पादरियों का प्रभाव इन प्रदेशों में जिस ढंग से बढ़ रहा था, अनाम की सरकार उसे पसन्द नहीं करती थी। धर्म प्रचार और व्यापार की आड़ में पाश्चात्य देशों के लोग चीन में जिस ढंग से अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे, उससे अनाम के लोग भी बहुत चिन्तित थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि १८५८ में अनाम में कार्य करने वाले फ्रेंच पादरियों पर अनेक स्थानों पर हमले किये गये। इसी समय ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाएं चीन में अपनी शक्ति का प्रयोग कर वहां के सम्राट् को इस बात के लिये विवश कर रही थीं, कि वह इन पाश्चात्य देशों को व्यापार आदि के सम्बन्ध में विशेष सुविधाएं प्रदान करें। पूर्वी एशिया में सर्वत्र यूरोपियन जातियों के प्रति विरोध की भावना बहुत प्रबल रूप धारण कर रही थी। इस दशा में यदि अनाम के लोगों ने भी अपने देश में विद्यमान फ्रेंच पादरियों के प्रति अपने रोष को प्रकट किया हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही था। पर फ्रेंच लोगों ने अपने देश के पादरियों के प्रति किये गए व्यवहार को सहन नहीं किया। फ्रांस की सेनाएं कोचीन-चायना में प्रविष्ट हो गईं, और उन्होंने उसके अनेक प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। अनाम का राजा उनका मुकाबिला नहीं कर सका, और १८६३ में वह फ्रेंच लोगों के साथ सन्धि कर लेने के लिए विवश हो गया। १८६३ की सन्धि के अनुसार कोचीन-चायना फ्रांस के अधीन हो गया, और अनाम के राजा ने एक अच्छी बड़ी रकम हरजाने के रूप में फ्रांस को प्रदान करना स्वीकार किया।

इस प्रकार १८६३ में इण्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ। इस क्षेत्र में फ्रांस ने साम्राज्य-विस्तार की अपनी नीति को जारी रखा, और शीघ्र ही कम्बोडिया पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। १८७० में प्रशिया (जर्मनी) और फ्रांस में युद्ध हुआ, जिसमें फ्रांस की बुरी तरह से पराजय हुई। इस दशा में फ्रांस के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इण्डोचायना में अपनी शक्ति के विस्तार पर अधिक ध्यान दे सके: पर शीघ्र ही फ्रांस साम्राज्यवाद के मार्ग पर फिर अग्रसर हो गया। १८७३ में एक फ्रेंच सेना ने तोन्किन में प्रवेश किया, और उसके कुछ प्रदेशों में अपनी सत्ता स्थापित कर ली। १८७४ में फ्रेंच लोगों ने अनाम के राजा को इस बात के लिए विवश किया कि वह तोन्किन में फ्रांस को व्यापार आदि के विशेष अधिकार प्रदान करे। साथ ही, अनाम के राजा ने यह भी स्वीकार किया, कि अपनी विदेशी नीति का संचालन वह फ्रांस के परामर्श के अनुसार किया करेगा। राजनीतिक दृष्टि से यह एक अद्भुत स्थिति थी। अनाम चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था, और मंचू सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकृत करता था। पर चीन के निर्बल सम्राटों के लिए यह संभव नहीं था, कि वे अनाम जैसे दूरवर्ती राज्य की फ्रेंच लोगों के प्रभाव व प्रभुत्व से रक्षा कर सकें। १८७४ की सन्धि से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाभ उठाकर फ्रेंच व्यापारी बड़ी संख्या में तोन्किन जाने शुरू हुए। यदि वे केवल व्यापार से ही संतुष्ट रहते, तो तोन्किन के लोगों का कोई नुकसान नहीं था। पर फ्रेंच व्यापारी इस प्रदेश में अपने राजनीतिक प्रभुत्त्व को स्थापित करने के लिए भी प्रयत्नशील थे। वे तोन्किन की जनता के प्रति दुर्व्यवहार करते थे, और वहाँ सब प्रकार से मनमानी करने को तत्पर रहते थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि तोन्किन के लोग उनका विरोध करें। १८७४ के बाद तोन्किन में अनेक स्थानों पर झगड़े शुरू हो गए, और सर्वत्र अव्यवस्था-सी छा गई। चीन की सरकार अपने साम्राज्य के अधीनवर्ती तोन्किन प्रदेश की इस अव्यवस्थित दशा की उपेक्षा नहीं कर सकती थी। उसने वहाँ अपनी सेनाएं भेज दीं, और तोन्किन के प्रश्न को लेकर चीन और फ्रांस में लड़ाई शुरू हो गई। यद्यपि उनमें बाकायदा युद्ध की घोषणा नहीं की गई थी, पर इस समय चीन और फ्रांस की सेनाएं आपस में युद्ध में व्यापृत थीं। चीन की सरकार के लिए यह सुगम नहीं था, कि अपनी राजधानी पेकिंग से इतनी दूर दक्षिण में स्थित तोन्किन प्रदेश में फ्रेंच सेनाओं का मुकाबिला कर सकें। आखिर उसे दबना पड़ा, और १८८३ में अनाम का राजा फ्रांस की अधीनता स्वीकृत कर लेने को विवश हो गया। इस समय से अनाम (तोन्किन इस समय अनाम के राजा के ही अधीन था) फ्राँस के आधिपत्य में आ गया। १८९३ में लाओस पर भी फ्राँस ने अपना अधिकार कायम कर लिया। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही प्रायः सम्पूर्ण इण्डोचायना फ्राँस की अधीनता में आ गया था।

(३) इण्डोचायना में फ्रांस का शासन

इण्डोचायना में फ्रांस का शासन—तोन्किन और अनाम अब चीनी साम्राज्य से पृथक् होकर फ्राँस की अधीनता में आ गये थे। कोचीन-चायना और कम्बोडिया पहले ही फ्रांस के अधीन थे। १८९३ में लाओस भी फ्राँस के कब्जे में आ गया था। ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य के समान फ्राँस भी एशिया में अपना एक ऐसा साम्राज्य विकसित करने में समर्थ हुआ, जो आर्थिक दृष्टि से उसके लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। अब फ्राँस के लिए मुख्य समस्या यह थी, कि इण्डोचायना के शासन की क्या व्यवस्था की जाए। १८८७ में इस राज्य का शासन करने के लिए फ्रेंच सरकार की ओर से एक गवर्नर-जनरल की नियुक्ति की गई। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि कम्बोडिया, अनाम-तोन्किन और लाओस में वहाँ के पुराने राजवंशों की सत्ता अभी विद्यमान थी। फ्रेंच आधिपत्य में इनके राजाओं की वही स्थिति थी, जो कि ब्रिटिश शासन में भारत की देशी रियासतों के राजाओं की थी। फ्रेंच सरकार इन राज्यों के राजाओं पर नियन्त्रण रखने के लिए अपने 'रेजिडेन्ट' नियुक्त करती थी, और ये राजा फ्रेंच गवर्नर-जनरल के हाथों में कठपुतली के समान थे। पर कोचीन-चायना में किसी पुराने राजवंश की सत्ता नहीं थी। यह प्रदेश सीधा फ्रेंच गवर्नर-जनरल के शासन में था। उसका शासन करने के लिए एक सिविल सर्विस का संगठन किया गया था, जिसमें फ्रेंच लोगों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। इन्डोचायना के सम्बन्ध में फ्राँस की यह नीति थी, कि वहाँ फ्रेंच भाषा का प्रचार किया जाए, शिक्षा फ्रेंच भाषा द्वारा ही दी जाए, और सरकार का सब कार्य फ्रेंच भाषा में ही हो। इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि इन्डोचायना के लोग धीरे-धीरे फ्रेंच रंग में रंगते गए, और उन पर फ्राँस का प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया।

१९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर हजारों अनामी सिपाही फ्राँस की सेना में भरती किये गए, और उन्हें यूरोप के रणक्षेत्रों में लड़ने के लिए ले जाया गया। इसी प्रकार हजारों अनामी मजदूर भी इस काल में यूरोप ले जाये गए। यह अवश्यम्भावी था, कि यूरोप के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आये हुए इन इन्डोचाइनीज लोगों पर पाश्चात्य विचारों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का असर पड़े। फ्रांस में उच्च शिक्षा प्राप्त करके जो इन्डोचाइनीज लोग अपने देश को लौटते थे, वे फ्राँस के लोकतन्त्रवाद से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते थे : १९१४–१८ के महायुद्ध के बाद संसार में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृतियाँ बल पकड़ रही थीं। उनका प्रभाव इन्डोचायना पर न पड़े, यह सम्भव नहीं था। अतः १९१९ में वहाँ भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हो गया, और फ्रेंच सरकार ने अनुभव किया कि स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर हुए बिना इन्डोचायना के लोगों को कदापि सन्तोष नहीं होगा। इसी लिए वहाँ धीरे-धीरे स्वशासन को स्थापित करने की नीति को अपनाया गया। कोचीन-चायना में प्रतिनिधि-सभा की स्थापना की गई, और उसके सदस्यों को निर्वाचित करने का अधिकार जनता को भी प्रदान किया गया। सिविल सर्विस में भी इण्डोचायना के लोगों की संख्या बढ़ायी जाने लगी। १९३० में अनाम के राजा ने भी पाश्चात्य देशों के ढंग पर अपने राज्य के शासन का पुनःसंगठन किया। अनाम के इस राजा की शिक्षा पेरिस में हुई थी, और वह आधुनिक विचारों व प्रवृत्तियों से भली-भाँति परिचित था। उसके प्रयत्न से अनाम के शासन में भी अनेक सुधार हुए। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि १९३१ के बाद भी कम्बोडिया, अनाम और कोचीन-चायना का शासन ऐसा नहीं था, जिससे वहाँ के राष्ट्रवादी देशभक्त लोग सन्तोष अनुभव कर सकते। कोचीन-चायना में जो प्रतिनिधि सभा स्थापित की गई थी, उसमें जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। इस सभा के व्यवस्थापन-सम्बन्धी अधिकार भी पर्याप्त नहीं थे। इस दशा में वहाँ के देशभक्त इससे कैसे सन्तुष्ट हो सकते थे। यद्यपि कहने को अनाम और कम्बोडिया में वहाँ के अपने राजवंशों का शासन था, पर वस्तुतः वे भी फ्राँस के ही अधीन थे। इन्डोचायना का फ्रेंच गवर्नर-जनरल इन राज्यों में नियुक्त रेज़िडेन्टों द्वारा उन पर पूरा-पूरा नियन्त्रण रखता था, और इनके राजाओं की सत्ता नाममात्र की ही थी। इस दशा में इन्डोचायना में सर्वत्र विदेशी फ्रेंच शासन के विरुद्ध विद्रोह की भावना निरन्तर प्रबल होती जाती थी।

ईसाई धर्म का प्रचार—जब इन्डोचायना पर फ्रांस का प्रभुत्व स्थापित हो गया, तो इससे ईसाई धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली। १९२० तक इस देश में ईसाइयों की संख्या १३,००,००० से भी अधिक हो चुकी थी, जो वहाँ की कुल आबादी के ५ प्रतिशत से भी अधिक थी। इन्डोचायना के प्रायः सब ईसाई रोमन कैथोलिक धर्म के अनुयायी थे, और फ्रेञ्च पादरियों ने ही उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया था।

आर्थिक दशा—तोन्किन का प्रदेश कोयले की खानों की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध है। फ्रेञ्च लोगों ने इसका भली-भांति उपयोग किया, और वहां बहुत-सी कोयले की खानें खोदी गईं। क्योंकि तोन्किन में कोयला प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होता था, अतः वहां व्यवसायों को विकसित कर सकना भी सुगम था। फ्रेंच पूंजी द्वारा इस प्रदेश में व्यवसायों का खूब अच्छी तरह विकास हुआ। इण्डोचायना के खनिज द्रव्यों में टिन और जस्ता विशेष महत्त्व रखते हैं। ये वहां प्रचुर परिणाम में प्राप्तव्य हैं, और फ्रेञ्च लोगों ने इनके व्यवसाय को विकसित करने पर विशेष ध्यान दिया। रबड़ के वृक्षों की खेती पर भी वहां ध्यान दिया गया। इन्डोचायना से जो माल विदेशों में बिक्री के लिए जाता था, उसमें टिन, जस्ता और रबड़ सबसे मुख्य थे। फ्रेञ्च लोगों ने इस देश की आर्थिक उन्नति के लिए रेलवे लाइनों और सड़कों का भी निर्माण किया, और इस में सन्देह नहीं कि इससे इन्डोचायना की आर्थिक उन्नति में बहुत सहायता मिली। चीन के लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में वहां मजदूरी की खोज में आने लगे, और वहां के व्यापार से आकृष्ट होकर बहुत-से भारतीय भी वहां जाकर बसने शुरू हुए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अठारहवां अध्याय

दक्षिण-पूर्वी एशिया—अन्य देश

(१) सियाम या थाईलैण्ड

इण्डोचायना के पश्चिम में सियाम देश है, जिसे थाइलैण्ड भी कहा जाता है। क्षेत्रफल में यह २००,००० वर्गमील के लगभग है, और १९३९ में इसकी जनसंख्या १,५६,००,००० थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया में सियाम ही एक ऐसा देश है, जो किसी पाश्चात्य देश के सीधे शासन में नहीं रहा, और जिसकी राजनीतिक स्वतन्त्रता कायम रही, यद्यपि वहां भी अनेक विदेशी राज्यों ने व्यापार-सम्बन्धी विशेषाधिकार प्राप्त किए हुए थे और वहाँ निवास करने वाले विदेशी नागरिक सियाम के कानूनों व अदालतों के अधीन नहीं होते थे। एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति सियाम में भी विद्यमान थी, और इस देश को यह अधिकार भी नहीं था, कि वह अपने बन्दरगाहों में माल के आयात व निर्यात पर स्वेच्छापूर्वक टैक्स लगा सके। इस प्रकार सियाम की राजनीतिक स्थिति प्रायः वही थी, जो मञ्चू शासन में चीन की थी।

प्राचीन इतिहास—सियाम के प्राचीन इतिहास का आरम्भ भी उस समय से होता है, जब वहां भारतीय लोगों ने अपने उपनिवेश बसाने प्रारम्भ किये थे। कम्बोडिया या कम्बुज देश में फूनान नाम से जिस भारतीय औपनिवेशिक राज्य की स्थापना हुई थी, उसने सियाम के बड़े भाग को भी जीतकर अपने अधीन कर लिया था। फूनान साम्राज्य की शक्ति के क्षीण होने पर सियाम का हिन्दू राज्य स्वतन्त्र हो गया। सियाम के इस हिन्दू राज्य को द्वारवती कहते थे, और इस की राजधानी का नाम अयोध्या था। अब तक भी यह 'अयुदिया' कहाती है। पर द्वारवती का हिन्दू राज्य अधिक शक्तिशाली नहीं था। पहले उसे फूनान ने अपने अधीन किया था, और बाद में कम्बुज देश तथा सुमात्रा के हिन्दू राजा उसे अपनी अधीनता में लाते रहे। बारहवीं और तेरहवीं सदियों में थाई नाम की जाति ने उत्तर की ओर से सियाम में प्रवेश किया। ये थाई लोग दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त के निवासी थे, और सियाम पर इनके आक्रमणों का प्रायः वही रूप था, जो कि रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत विविध प्रदेशों पर फ्रांक, एंगल, लोम्बार्ड आदि जातियों के आक्रमणों का था। जिस प्रकार फ्रांक लोगों के आक्रमण से पुराना गॉल देश फ्रांस बन गया और वहां फ्रांक लोगों की प्रभुता हो गई, वैसे ही थाई लोगों के प्रवेश से प्राचीन द्वारवती में थाई लोगों का प्रभुत्व हो गया, और थाई लोगों की इस प्रधानता के कारण ही बाद में यह देश थाईलैण्ड कहाने लगा। शुरू में इस देश में थाई लोगों ने बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की स्थापना की। पर बाद में ये विविध थाई राज्य एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की अधीनता में आ गये, जिसकी राजधानी अयोध्या ही रही। राजनीतिक दृष्टि से यद्यपि थाई लोग विजेता थे, पर सिआम में आकर उन्होंने प्राचीन भारतीय सभ्यता और धर्म को स्वीकार कर लिया था।

सिआम के थाई राज्य पर बरमा के राजा निरन्तर आक्रमण करते रहते थे। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में सियाम और बरमा का यह संघर्ष निरन्तर जारी रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो बार बरमा की सेनाओं ने अयोध्या पर कब्जा किया, और बुरी तरह से उसका विनाश किया। १७६७ में बरमा की सेनाओं ने अयोध्या का इतनी बुरी तरह से विनाश किया था, कि बाद में जब सियाम ने अपनी स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त किया, तो नये सियामी राज्य की राजधानी अयोध्या को न बनाकर बैंगकोक को बनाया गया, जो अब तक भी उसकी राजधानी है। बरमा की राजधानी से अपने देश को स्वतन्त्र कराने वाले वीर नेता का नाम चक्री था, और उस द्वारा सियाम में एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ। आगे चलकर इस वंश के राजाओं ने बीसवीं सदी में सियाम में वैध राजसत्ता की स्थापना का भी प्रयत्न किया।

पाश्चात्य देशों से सम्पर्क—दक्षिणी-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान सियाम में भी सोलहवीं सदी के प्रारम्भ में पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार के लिए आना प्रारम्भ किया था। उसके समुद्रतट पर पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार के लिये अनेक केन्द्र कायम किये। पोर्तुगीज व्यापारियों के साथ-साथ ईसाई पादरियों ने भी सियाम में प्रवेश किया। बाद में डच और इंगलिश व्यापारी भी सियाम में गये, पर एशिया के अन्य देशों के समान इस देश में उन्होंने अपने राजनीतिक प्रभुत्व की स्थापना का उद्योग नहीं किया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक पोर्तुगीज, डच और इंगलिश लोगों ने अपना कार्यक्षेत्र व्यापार और धर्म-प्रचार तक ही सीमित रखा था। इसका कारण यह था, कि सियाम में इस समय एक सुसंगठित केन्द्रीय शासन की सत्ता थी, और पाश्चात्य लोगों को वहां यह अवसर नहीं था, कि वे राज्य के विविध झगड़ों से लाभ उठाकर उसमें हस्तक्षेप कर सकें। साथ ही, पाश्चात्य लोग एशिया के अन्य क्षेत्रों में अपने साम्राज्य के विस्तार में तत्पर थे, और सियाम की ओर ध्यान देने की उन्हें अधिक फ़ुरसत नहीं थी। पर चीन के समान सियाम के साथ भी पाश्चात्य देशों ने ऐसी सन्धियां कीं, जिनके अनुसार विदेशी व्यापार के आयात व निर्यात माल पर टैक्स की दरें निश्चित कर दी गईं। सियाम की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि इन सन्धियों में परिवर्तन किये बिना इन टैक्सों की दरों में अदल-बदल कर सके, या अपनी इच्छानुसार विदेशी व्यापार का संचालन कर सके। इसी प्रकार विदेशों के साथ की गई इन सन्धियों द्वारा विदेशी नागरिकों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी-विषयक अधिकार भी प्रदान किये गये। विदेशी राज्यों के साथ ये सन्धियां उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में की गई थीं। सबसे पूर्व ऐसी सन्धियां ग्रेट ब्रिटेन के साथ १८२२ और १८२६ में की गई थीं, और फिर १८३३ में संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ। बाद में (१८५५-५६) ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस के साथ नई सन्धियां की गईं, जिनके द्वारा इन पाश्चात्य राज्यों ने सियाम में अनेक विशेषाधिकार प्राप्त किये। इन सन्धियों के कारण सियाम की राजनीतिक स्वतन्त्रता बहुत कुछ मर्यादित हो गई थी।

सियाम के राजा—यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि चक्री द्वारा स्थापित राजवंश के राजाओं के शासन के सम्बन्ध में संक्षेप के साथ भी लिख सकें। पर कुछ महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख करना आवश्यक है। १८५१ में सियाम के राजसिंहासन पर राजा मगकूट (राम चतुर्थ) आरूढ़ हुआ। १८२४ से १८५१ तक यह एक बौद्ध बिहार में रहा था। इतने दीर्घ समय तक बौद्ध बिहार में रहने के कारण उसे विद्या व ज्ञान प्राप्त करने का अच्छा अवसर हाथ लगा था। उसने न केवल पाली और संस्कृत का भलीभाँति अध्ययन किया था, पर साथ ही ईसाई पादरियों के सम्पर्क में आकर इंगलिश और लैटिन से भी परिचय प्राप्त किया था। पाश्चात्य संसार के ज्ञान व साहित्य से भी वह परिचित था। इसीलिए जब वह १८५१ में सियाम का राजा बना, तो उसने अपनी स्थल व जल सेनाओं का पुनःसंगठन करने के लिये यूरोपियन अफसरों का सहयोग लिया। देश के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन में परामर्श देने के लिये भी अनेक यूरोपियन लोग नियत किये गए। उसने सियाम की मुद्रापद्धति में अनेक सुधार किये, और एक नई टकसाल की स्थापना की। पाश्चात्य भाषाओं के अध्ययन को भी उसने प्रोत्साहित किया, और अपने देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिए उसने यूरोपियन व्यापारियों से नई सन्धियां कीं। ये सन्धियां १८५५ में की गई थीं, और इन्हीं के द्वारा पाश्चात्य देशों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी का अधिकार प्रदान किया गया था। इन्हीं सन्धियों द्वारा आयात-निर्यात माल पर टैक्स की दरों का भी निर्धारण किया गया था। मंगकूट सियाम के विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिये उत्सुक था, पर इसके लिए उसने पाश्चात्य देशों के साथ ऐसी सन्धियां कीं, जिनसे उसके राज्य की राजनीतिक स्वतन्त्रता ही अनेक अंशों में मर्यादित एवं नियन्त्रित हो गई।

१८६८ में राजा मंगकूट की मृत्यु हुई, और उसका लड़का चूललम्बकर्ण (राम पञ्चम) सियाम के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। उसने अपने पिता की नीति को जारी रखा। सियाम से बाहर जाकर उसने अनेक विदेशी राज्यों की यात्रा की, और इससे उसका दृष्टिकोण अधिक विशाल व उदार हो गया। यही कारण है, कि उसने सियाम के बहुत-से नवयुवकों को पाश्चात्य देशों में शिक्षा के लिये भेजा, और देश के शासन में सुधार करने के लिये अनेक यूरोपियन परामर्शदाताओं को नियत किया। राजा चूललम्बकर्ण के शासनकाल में ही दासप्रथा का सियाम से अन्त किया गया। शासन के सम्बन्ध में जो सुधार उसने किये, उनमें न्यायव्यवस्था का पुनःसंगठन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था। साथ ही, उसने मन्त्रिमण्डल का बाकायदा निर्माण करना शुरू किया, और सरकार के विविध विभागों के आय-व्यय पर नियन्त्रण रखने के लिये नियमित रूप से बजट बनाने की भी व्यवस्था की। सियाम के विविध प्रदेशों को केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में लाने के लिये उसने बाकायदा सिविल सर्विस का संगठन किया, और विविध राजकीय कर्मचारियों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाने लगी। इन सब सुधारों का यह परिणाम हुआ, कि सियाम का शासन सुचारु रूप से संगठित हो गया, और सरकार के संगठन के सम्बन्ध में उसकी दशा प्रायः वही हो गई, जो कि पाश्चात्य संसार के उन सुव्यवस्थित देशों की थी, जिनमें अभी लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात नहीं हुआ था। राज्य शक्ति के बढ़ने के साथ-साथ सियाम के लोगों ने यह भी अनुभव करना शुरू किया, कि १८५५ की सन्धियों द्वारा विदेशी लोगों को जो विशेषाधिकार देश में प्राप्त हैं, वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की दृष्टि से वांछनीय नहीं हैं। इसीलिए उनके खिलाफ आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, और राजा चूललम्बकर्ण की सरकार इन सन्धियों में ऐसे संशोधन करा सकने में समर्थ हुई, जिनसे विदेशी राज्यों का प्रभुत्व व प्रभाव कम हो गया।

४२ साल के सुदीर्घ शासन के बाद १९१० में राजा चूललम्बकर्ण की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका लड़का वज्रायुद्ध (राम षष्ठ) सियाम की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। उसकी शिक्षा पाश्चात्य देशों में हुई थी, और वह आधुनिक युग की प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित था। उसने सियाम के शासन में अनेक सुधार किए और इस बात का प्रयत्न किया कि एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी और तटकर के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव सियाम में अभी शेष था, उसे दूर किया जाए। १९२५ में राजा वज्रायुध की मृत्यु हो गई, और उसका छोटा भाई सियाम का राजा बना। १९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार में सर्वत्र लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियाँ जोर पकड़ रही थीं। सियाम भी उनसे अछूता नहीं रहा। राजा चूललम्बकर्ण के शासनकाल में सियाम में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना तो हो गई थी, पर शासन पर जनता का कोई भी नियन्त्रण नहीं था। सियाम के राजा एकतन्त्र व स्वेच्छाचारी शासकों के रूप में ही देश का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शासन किया करते थे। इस दशा में जनता में असन्तोष का होना सर्वथा स्वाभाविक था। राजा वज्रायुध के समय में ही जनता ने वैध राजसत्ता की स्थापना के लिए आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया था। अब १९३२ में यह आन्दोलन बाकायदा विद्रोह के रूप में परिणत हो गया। सियाम में अनेक स्थानों पर जनता ने विद्रोह किए। आधुनिक शिक्षा प्राप्त किये हुए नवयुवक इन विद्रोहों के नेता थे। राजा के लिए यह असम्भव था, कि शक्ति का प्रयोग करके इन विद्रोहों को शान्त कर सके। उसे शासन-सुधार करने के लिए विवश होना पड़ा। १९३२ का अन्त होने से पूर्व ही सियाम में नये शासन-विधान की स्थापना की गई, और उसके अनुसार जनता को बहुत-से महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए। पर इन सुधारों से भी जनता को सन्तोष नहीं हुआ। उग्र राष्ट्रवादी देशभक्तों ने अपने आन्दोलन को जारी रखा। आगे चलकर सियाम ने लोकतन्त्रवाद की ओर किस प्रकार पग बढ़ाया, इस पर हम पच्चीसवें अध्याय में यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

सियाम की स्वतन्त्र स्थिति—लोकतन्त्रवाद की दृष्टि से सियाम ने चाहे विशेष उन्नति न की हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि वह अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को कायम रख सकने में समर्थ रहा। विदेशी राज्यों के साथ की गई विविध सन्धियों द्वारा तट-कर और एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के सम्बन्ध में उसकी स्वतन्त्र सत्ता जिस ढंग से मर्यादित हुई थी, उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में सियाम इन सन्धियों में भी संशोधन करवा चुका था, और उसकी स्थिति एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य के समान हो गई थी। उन्नीसवीं और बीसवीं सदियों में भी सियाम जो पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का शिकार होने से बचा रहा, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था, कि उसके पश्चिम में स्थित बरमा पर ब्रिटेन का आधिपत्य था, और पूर्व में इन्डोचायना पर फ्रांस का। ब्रिटेन और फ्रांस दोनों की ही यह हार्दिक इच्छा थी, कि वे सियाम को जीतकर अपने अधीन कर लें। पर यदि ब्रिटेन उसे अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न करता, तो फ्रांस उसका विरोध करता, और यदि फ्रांस उसे अपने साम्राज्यवाद का शिकार बनाना चाहता, तो ब्रिटेन इस बात को किसी भी दशा में सहन न कर सकता। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटेन और फ्रांस एक दूसरे के कट्टर शत्रु थे, और साम्राज्यवाद के क्षेत्र में इन दोनों देशों में प्रबल विरोध विद्यमान था। इसी विरोध का यह परिणाम हुआ, कि न फ्रांस सियाम को अपने कब्जे में ला सका, और न ब्रिटेन ही वहां अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सका। पर फ्रांस और ब्रिटेन के इस विरोध के बावजूद भी फ्रांस सियाम के कतिपय प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले आने में समर्थ हुआ। १८९३ में उसने मेकोंग नदी के पूर्व के कुछ प्रदेश पर अपना अधिकार कर उसे लाओस के साथ सम्मिलित कर दिया, और १९०७ में सात हजार वर्ग मील का प्रदेश सियाम से लेकर कम्बोडिया में मिला दिया। इसी प्रकार १९०९ में ब्रिटेन ने सियाम के कुछ प्रदेश मलाया में सम्मिलित कर लिये।

जनसंख्या की समस्या—संसार के अन्य देशों के समान सियाम में भी इस समय आबादी बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी। पर सियाम की जनसंख्या की एक अन्य समस्या यह थी, कि वहां चीनी लोग बहुत बड़ी संख्या में आकर बसने लगे थे। १९४० में सियाम में बसे हुए चीनी लोगों की जनसंख्या २५,००,००० के लगभग थी। १,५६,००,००० की कुल आबादी में २५,००,००० चीनियों की सत्ता (१६ प्रतिशत के लगभग) एक विकट समस्या को उत्पन्न कर रही थी। जाति, भाषा आदि की दृष्टि से चीनी लोग सियाम के निवासियों से सर्वथा भिन्न थे। जब सियाम में लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात हुआ, तो १६ प्रतिशत चीनी लोग वहां के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या बन गए। थाई जाति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के राष्ट्रीय नेता यह नहीं चाहते थे, कि चीनी लोग सियाम में आकर बसें, और अल्पसंख्यक जातियों की समस्या को उत्पन्न करें। इसीलिए सियाम की सरकार ने अनेक ऐसे कानूनों का निर्माण किया, जिनका उद्देश्य चीनी लोगों के सियाम में आकर बसने को रोकना था।

(२) मलाया

मलाया सियाम की खाड़ी के दक्षिण-पूर्व में है। उसका क्षेत्रफल २५,२८६ वर्ग-मील है। १९३६ में उसकी जनसंख्या ५५,७९,००० थी। भौगोलिक दृष्टि से मलाया का महत्त्व बहुत अधिक है। यूरोप, पश्चिमी एशिया और भारत से पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया आने का सबसे छोटा रास्ता मलाया के जलडमरूमध्य से होकर जाता है। इस समय पृथ्वी पर तीन जलमार्ग ऐसे हैं, जिन्होंने विविध देशों की आपस की दूरी को कम करने में बहुत सहायता दी है। पनामा की नहर के कारण प्रशान्त महासागर से अटलान्टिक महासागर जाने के लिए दक्षिणी अमेरिका का चक्कर लगानें की आवश्यकता नहीं रह गई है। इसी प्रकार स्वेज नहर के कारण अटलान्टिक सागर से हिन्द महासागर आने के लिए अफ्रीका का चक्कर काटना आवश्यक नहीं रह गया है। पर पनामा और स्वेज की ये नहरें मनुष्य की कृति हैं। इसके विपरीत मलाया का जलमडरूमध्य प्राकृतिक है, और उसके कारण पश्चिमी तथा पूर्वी एशिया का जलमार्ग बहुत छोटा हो गया है। यही कारण है, कि सामरिक दृष्टि से मलाया का बहुत महत्त्व है। मलाया पर जिस देश का आधिपत्य होगा, उसके लिए पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपना प्रभुत्व कायम रखना बहुत सुगम होगा। इसीलिए मलाया के जलडमरूमध्य में स्थित सिंगापुर को ब्रिटिश लोगों ने अपनी जलसेना का प्रधान केन्द्र बनाया था।

प्राचीन इतिहास—दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य अनेक देशों के समान मलाया के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ वहां पर स्थापित हुए भारतीय उपनिवेशों के साथ ही होता है। मलाया के इन प्राचीन भारतीय उपनिवेशों का प्रथम परिचय हमें चीनी साहित्य द्वारा मिलता है। चीनी लेखकों के अनुसार मलाया का एक प्राचीन राज्य 'लंग किया सू' था। उसकी स्थापना दूसरी सदी ई० प० में हुई थी। छठी सदी के प्रारम्भ में इसका राजा भगदत्त था, और उसने आदित्य नाम का एक राजदूत चीन के सम्राट् की सेवा में भेजा था। इस प्राचीन काल में मलाया का कुछ भाग कम्बुज देश के भारतीय उपनिवेश फूनान के भी अधीन था। पुरातत्व-सम्बन्धी अवशेषों द्वारा भी मलाया के प्राचीन भारतीय उपनिवेशों का परिचय मिलता है। मलाया में गुनांग जरई पर्वत की उपत्यका में एक विशाल हिन्दू मन्दिर के खण्डहर अब तक भी विद्यमान हैं। इसके समीप ही एक बौद्ध बिहार के अवशेष भी पाये गये हैं। दोनों स्थानों पर संस्कृत के अनेक शिलालेख मिले हैं, जो पांचवीं सदी के हैं। श्रीविष्णुवर्मन् नाम के एक प्राचीन राजा की मुद्राएं भी इस प्रदेश से मिली हैं। प्राचीन स्तूपों, स्तम्भों और अन्य प्रकार की इमारतों के भी बहुत-से अवशेष मलाया में मिलते हैं, जिनसे इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता, कि कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा आदि के समान यह देश भी प्राचीन समय में भारत का उपनिवेश था, और यहां भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति भली-भांति स्थापित थी। बाद में मलाया के भारतीय उपनिवेश सुमात्रा के श्रीविजय साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे।

चौदहवीं सदी में अरब के मुसलमान व्यापारियों ने इस प्रदेश में व्यापार के लिए आना शुरू किया। उस समय तक दक्षिण-पूर्वी एशिया के हिन्दू व भारतीय राज्यों की शक्ति बहुत निर्बल हो चुकी थी। जिस प्रकार भारत के हिन्दू राज्य इस समय मुस्लिम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्क और अफगान आक्रान्ताओं का मुकाबिला कर सकने में असमर्थ रहे, वैसे ही मलाया, जावा, सुमात्रा आदि के हिन्दू राजा भी अरबों की शक्ति के सम्मुख नहीं ठहर सके। चौदहवीं सदी का अन्त होने से पूर्व ही अरबों ने मलक्का पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। मलक्का मलाया का सबसे महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह था। जो स्थान इस क्षेत्र में अब सिंगापुर का है, वही प्राचीन समय में मलक्का का था। मलक्का को अपने कब्जे में करके अरब लोगों ने पूर्वी एशिया के व्यापार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, और साथ ही मलाया में अपने धार्मिक तथा राजनीतिक प्रभाव का विस्तार शुरू किया। मलाया में हिन्दू और बौद्ध धर्म इस समय बहुत क्षीण हो चुके थे। वहां के निवासियों ने अरबों के सम्पर्क में आकर इस्लाम को स्वीकार कर लिया।

पाश्चात्य देशों से सम्पर्क—सोलहवीं सदी के शुरू में पोर्तुगीज लोगों ने व्यापार के लिये इस प्रदेश में आना शुरू किया। उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के व्यापार के लिये मलक्का का कितना अधिक महत्त्व है। १५११ में अल्बुकर्क के नेतृत्त्व में पोर्तुगीज लोगों ने मलक्का पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। १५११ से १६४१ तक मलक्का पोर्तुगाल के आधिपत्य में रहा, और इसे अपना केन्द्र बनाकर पोर्तुगीज लोग इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में अपने व्यापार का विस्तार करते रहे। सतरहवीं सदी में हालैण्ड के लोग इस क्षेत्र में अपने व्यापार का विस्तार करने के लिए प्रवृत्त हुए, और १६४१ में उन्होंने मलक्का को पोर्तुगीजों से जीत लिया।

ब्रिटिश प्रभुत्त्व—अठारहवीं सदी के अन्त में जब फ्राँस और ब्रिटेन में युद्ध प्रारम्भ हुए, और नैपोलियन की विजयों के कारण हालैण्ड पर फ्राँस का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो ब्रिटेन ने हालैण्ड के समुद्र पार के प्रदेशों को अपने अधीन कर लिया। इसी समय १७९५ में मलक्का भी ब्रिटिश लोगों के हाथों में चला गया। वीएना की काँग्रेस (१८१४) के निर्णयों के अनुसार जब इन्डोनीसिया के विविध द्वीप फिर हालैण्ड को वापस मिले, तो १८१९ में मलक्का भी डच लोगों को दे दिया गया। पर इसी साल अंग्रेज लोगों ने मलाया के अन्यतम राज्य जोहोर के सुलतान से उस प्रदेश को क्रय कर लिया, जिसमें आजकल सिंगापुर स्थित है। मलक्का को कुछ साल तक अपने कब्जे में रखने के कारण अंग्रेज लोगों ने भलीभाँति अनुभव कर लिया था, कि इस बन्दरगाह का व्यापारिक व सामरिक दृष्टि से कितना अधिक महत्त्व है। इसीलिये वे मलक्का के जलडमरूमध्य में अपना एक अड्डा बनाने को उत्सुक थे। सिंगापुर को उन्होंने इसी दृष्टि से जोहोर के सुलतान से क्रय किया था। १८२४ में अंग्रेजों ने डच लोगों के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार सुमात्रा में अपने प्रभुत्त्व में विद्यमान प्रदेशों के बदले में उन्होंने मलक्का को भी प्राप्त कर लिया। १८२४ के इस समझौते के अनुसार ब्रिटेन और हालैण्ड में यह भी तय हुआ, कि मलाया में अपने प्रभुत्त्व का विस्तार करने में अंग्रेज लोगों को खुली छुट्टी रहेगी, और ब्रिटिश लोग सुमात्रा, जावा आदि इन्डोनीसियन द्वीपों में डच लोगों को अपनी शक्ति का विस्तार करने देंगे। मलक्का के जलडमरूमध्य पर अपना कब्जा कायम करके अंग्रेजों ने सिंगापुर की उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दिया। इस समय दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो प्रदेश अंग्रेजों के प्रभुत्त्व में थे, उनका प्रधान शासक सर टामस स्टाम्फोर्ड रैफल्स था। नैपोलियन के युद्धों के अवसर पर जब इन्डोनीसिया के द्वीपों पर अंग्रेजों का प्रभुत्त्व कायम हो गया था, तो उनका शासन रैफल्स के ही सुपुर्द था। रैफल्स बहुत ही चाणाक्ष और कुशल राजनीतिज्ञ था। वह समझता था, कि दक्षिण-पूर्वी और पूर्वी एशिया में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना का जो यह सुवर्णीय अवसर उपस्थित हुआ है, उसका पूरा-पूरा उपयोग किया जाना चाहिये। वह स्वप्न लेता था, कि भारत के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान इस क्षेत्र में भी शीघ्र ही ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना हो जायगी। वीएना की काँग्रेस के निर्णय से उसे बहुत निराशा हुई थी। पर जोहोर के सुलतान से सिंगापुर खरीदकर उसने यह प्रयत्न किया, कि उसे एक ऐसे बन्दरगाह के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जो न केवल पूर्वी एशिया के व्यापार का प्रधान केन्द्र बने, अपितु साथ ही ब्रिटेन की जलशक्ति का भी प्रधान अड्डा हो। इसीलिये उसने निश्चय किया, कि सिंगापुर में सब देशों के व्यापारी खुले तौर पर व्यापार कर सकें, और वहाँ पर आने वाले व्यापारिक माल पर किसी प्रकार का कर न लिया जाए। सर रैफल्स की नीति का यह परिणाम हुआ, कि शीघ्र ही सिंगापुर दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे बड़ा व्यापारिक केन्द्र बन गया। कुछ समय बाद अंग्रेजों ने सिंगापुर की किलाबन्दी भी शुरू कर दी और उसे अपनी जलशक्ति का प्रधान अड्डा बना दिया।

यहाँ हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि हम संक्षिप्त रूप से भी उस प्रक्रिया का उल्लेख कर सकें, जिससे अंग्रेजों ने धीरे-धीरे सम्पूर्ण मलाया पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक मलाया की यह दशा थी, कि वहाँ बहुत-से छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे, जो आपस में निरन्तर लड़ते रहते थे। इन राज्यों में भी राजगद्दी के झगड़े बहुधा होते रहते थे, और विविध सरदार अपने राजा या सुलतान के विरुद्ध विद्रोह करते रहने में भी तत्पर रहते थे। सिंगापुर और उसके समीप के कतिपय द्वीप व प्रदेश ब्रिटिश सरकार के अधीन थे। इन्हें स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट कहा जाता था। स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट (अन्तरीप की बस्ती) के अन्तर्गत निम्नलिखित द्वीप और प्रदेश थे—सिंगापुर, मलक्का, पेनांग, वेलेज्ली प्रोविन्स और डिन्डिग्स। इनमें से पेनांग पर ब्रिटिश लोगों ने १७८६ में अपना अधिकार स्थापित किया था, सिंगापुर को १८१९ में जोहोर के सुलतान से क्रय किया था, और मलक्का को १८२४ में हालैण्ड के साथ की गई सन्धि (लण्डन की सन्धि) द्वारा सुमात्रा के कतिपय प्रदेशों के बदले में अधिगत किया गया था। वेलेज्ली प्रोविन्स मलक्का के उत्तर में और पेनांग के दक्षिण में स्थित है, और पेनांग के साथ ही इस प्रदेश को भी ब्रिटिश लोगों ने अपने अधिकार में कर लिया था। डिन्डिग्स की स्थिति पेनांग के समीप ही दक्षिण में है। स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट के ये प्रदेश शासन की दृष्टि से १८६७ तक भारत के साथ सम्बद्ध थे। १८६७ में इन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक क्राउन कोलोनी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, और इनका शासन ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश विभाग (कोलोनियल डिपार्टमेन्ट) द्वारा किया जाने लगा। स्टेट्स सेटलमैण्ट का कुल क्षेत्रफल १२६० वर्गमील है, और १९३९ में इसकी जन-संख्या १३,८०,००० थी।

मलाया में केवल स्ट्रेट्स सेटलमैण्ट का प्रदेश ही ऐसा था, जो ब्रिटेन के सीधे शासन में था। मलाया के अन्य प्रदेश दो भागों में विभक्त थे। फिडरेटेड मलाया स्टेट्स (संघ में संगठित मलाया के राज्य) और अनफिडरेटेड मलाया स्टेट्स (संघ में संगठित नहीं हुए मलाया के राज्य)। दोनों प्रकार के राज्य ब्रिटेन की अधीनता को स्वीकृत करते थे, और ब्रिटिश अधीनता में उनकी स्थिति प्रायः वैसी ही थी, जैसे कि भारत में देसी रियासतों की थी। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग तक मलाया के ये विविध राज्य स्वतन्त्र थे, और इन पर विविध राजवंशों के मुस्लिम सुलतानों का शासन था। पर इन राज्यों की दशा अच्छी नहीं थी। इनमें अनेक प्रकार के झगड़े जारी रहते थे। इनकी राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर ब्रिटेन ने इनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप किया, और इनके साथ इस प्रकार की सन्धियां कीं, जिनसे कि ये राज्य ब्रिटेन की संरक्षा व प्रभुत्व में आ गये। भारत में बड़ौदा, ग्वालियर, पटियाला, भूपाल आदि के राजाओं के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी इसी प्रकार की सन्धियां ब्रिटिश सरकार ने की थीं। इन सन्धियों के परिणामस्वरूप मलाया के विविध राज्यों में ब्रिटिश रेजीडेन्ट नियुक्त किये गये, और उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे इन राज्यों के शासन पर नियन्त्रण रखें। १८९६ में मलाया के चार राज्यों का एक संघ (फिडरेशन) बनाया गया। ये चार राज्य निम्नलिखित थे—पेराक, सेलागोंर, नेग्री सेम्बिलान और पेहांग। संघ में सम्मिलित इन चार राज्यों में उनके अपने सुलतानों की शक्ति निरन्तर कम होती गई, और संघ सरकार की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती गई। फिडरेटेड मलाया स्टेट्स की सरकार के प्रधान को रेजिडेन्ट-जनरल कहते थे, और उसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाती थी। संघ सरकार की राजधानी कुआला लुम्पूर को बनाया गया था, जो कि सेलागोर राज्य का प्रमुख नगर था। कुआला लुम्पूर में रहता हुआ ब्रिटिश रेजिडेन्ट-जनरल अपने अधीन सिविल सर्विस की सहायता से इन चार मलाया राज्यों के शासन का संचालन करता था, और इन राज्यों में सुलतानों के अधिकार नाममात्र को ही थे। उन्हें राजकीय आमदनी का अच्छा बड़ा भाग निजी खर्च के लिये प्रदान कर दिया जाता था, और वे बड़े वैभव व सम्मान के साथ जीवन व्यतीत किया करते थे। पर शासन-सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग वे नहीं कर सकते थे। शासन की दृष्टि से उनकी शक्ति उतनी भी नहीं थी, जितनी कि भारत की देसी रियासतों के राजाओं की थी। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जब संसार में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का आन्दोलन प्रबल हुआ, तो फिडरेटेड मलाया स्टेट्स में इस आन्दोलन ने यह रूप धारण किया, ब्रिटिश रेजिडेन्ट-जनरल (जो अब चीफ सेक्रेटरी कहाने लगा था) की शक्ति का अन्त कर सुलतानों के प्रभुत्त्व की पुनः स्थापना की जाय। इन राज्यों के यूरोपियन निवासी इस आन्दोलन के विरुद्ध थे। उन्होंने शक्ति भर यह प्रयत्न किया, कि मलाया के राज्यों पर ब्रिटिश शासन यथापूर्व कायम रहे। १९३५ में फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के शासन में कतिपय सुधार किये गये, जिनके द्वारा चीफ सेक्रेटरी के पद को नष्ट कर दिया गया और स्टेट्स सैटलमैन्ट के गवर्नर को ही यह कार्य भी सुपुर्द किया गया, कि वह फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के हाई कमिश्नर के रूप में उनके शासन पर नियन्त्रण रखे। इस प्रकार १९३५ के सुधारों द्वारा मलाया के राज्यों के राष्ट्रीय नेताओं को आंशिक रूप से संतुष्ट किया गया। पर इन सुधारों से मलाया के लोग पूर्ण रूप से संतुष्ट नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने अपने आन्दोलन को जारी रखा। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध असन्तोष मलाया में निरन्तर बढ़ता गया।

मलाया में पाँच राज्य ऐसे थे, जो फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के अन्तर्गत नहीं थे। इनके नाम निम्नलिखित हैं—जोहोर, केलान्तन, त्रेन्गानू, केदाह और पेलिस। जोहोर मलाया के दक्षिणी प्रदेश में है, और शेष चारों राज्य सुदूर उत्तर में। उनके बीच में फिडरेटेड मलाया स्टेट्स के चारों राज्यों की स्थिति थी। नाम को ये पांचों राज्य स्वतन्त्र थे, पर वस्तुतः इन पर ब्रिटेन का उसी ढंग से प्रभुत्त्व था, जैसे कि भारत में देसी रियासतों पर था। इनसे इस ढंग की सन्धियां ब्रिटिश सरकार ने की थीं, जिनके कारण इन राज्यों के शासनसूत्र का संचालन ब्रिटेन के हाथों में आ गया था। इन राज्यों में ब्रिटेन के प्रतिनिधि नियुक्त होते थे, और इनके सुलतान ब्रिटिश प्रतिनिधियों के परामर्श के अनुसार ही शासनकार्य करने के लिए विवश थे।

आर्थिक उन्नति—पिछली एक सदी में मलाया ने आर्थिक क्षेत्र में अच्छी उन्नति की है। इसका मुख्य कारण वहाँ की खनिज सम्पत्ति है। मलाया की खानों में टिन प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होती है। संसार भर में जितनी टिन उत्पन्न होती है, उसका २६ प्रतिशत अकेले मलाया की खानों से प्राप्त किया जाता है। इन्डोनीसिया और सियाम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टिन की दृष्टि से मलाया से पीछे हैं। संसार की कुल टिन का १४ प्रतिशत इन्डोनीसिया से और १० प्रतिशत सियाम से प्राप्त होता है। टिन सम्बन्धी ये अंक १९३८ की उत्पत्ति के आधार पर दिये गए हैं। मलाया की यह टिन विदेशों में प्रचुर परिमाण में बिकती थी, और इससे मलाया की आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिलती थी। इस देश की आर्थिक समृद्धि का दूसरा हेतु रबड़ थी। मोटरकारों के निर्माण के कारण अमेरिका, यूरोप आदि में रबड़ की मांग बहुत अधिक बढ़ गई थी, क्योंकि मोटरों के पहिये रबड़ द्वारा ही बनते हैं। १९३८ में संसार में जितनी रबड़ उत्पन्न होती थी, उसका ९० प्रतिशत भाग दक्षिण-पूर्वी एशिया में उत्पन्न होता था। दक्षिण-पूर्वी एशिया में उत्पन्न होने वाली कुल रबड़ का ४० प्रतिशत से भी अधिक भाग अकेले मलाया में पैदा होता था। इससे यह भली-भांति समझा जा सकता है, कि संसार के बाजारों के लिए मलाया की रबड़ का महत्त्व कितना अधिक था। टिन और रबड़ के अतिरिक्त नारियल और चावल के उत्पादन में भी मलाया का प्रमुख स्थान था। इनकी भी संसार के बाजारों में अच्छी मांग थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया का व्यापार सिंगापुर में केन्द्रित था, और संसार के प्रायः सभी देशों के व्यापारी सिंगापुर के व्यापार में हाथ बटाने के लिए वहाँ आकर बसने लगे थे। यही कारण है, कि १९४० तक सिंगापुर की जनसंख्या ६,००,००० से भी ऊपर पहुंच गई थी।

आबादी की समस्या— संसार के अन्य देशों के समान मलाया की जनसंख्या भी इस समय निरन्तर बढ़ रही थी। वहां की खानों आदि में काम करने के लिए चीन और भारत से मजदूर लोग बड़ी संख्या में वहां पहुंच रहे थे। टिन की खानों और रबड़ के बगीचों में मजदूरों की बहुत अधिक मांग थी। इसलिए इनमें काम करने के लिए चीनी और भारतीय मजदूर बड़ी संख्या में वहां पहुंचने लगे थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि मलाया में विदेशी लोगों की संख्या वहां के अपने लोगों की अपेक्षा अधिक बढ़ गई। १९३७ में मलाया की कुल जनसंख्या ५५,७९,००० थी। इसमें १६ फी सदी के लगभग भारतीय थे, और ३४ प्रतिशत के लगभग चीनी। इतनी बड़ी संख्या में भारतीय और चीनी लोगों की सत्ता मलाया के लिए राष्ट्रीय दृष्टि से एक विकट समस्या थी। शुरू में ये विदेशी लोग अकेले ही मलाया में आते थे, अपने परिवार वे साथ में वहां नहीं लाते थे। पर ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, चीनी और भारतीय मलाया में स्थायी रूप से बस गये, और उनके परिवार भी वहां आ गए। इस स्थिति में चीनी और भारतीय लोगों का एक ऐसा वर्ग मलाया में हो गया, मलाया ही जिनकी मातृभूमि थी। पर भाषा, जाति, सभ्यता आदि की दृष्टि से ये मलाया के लोगों से सर्वथा भिन्न थे। भारत और चीन की सरकारें अपने मलाया-प्रवासी देशबन्धुओं के हितों की उपेक्षा करें, यह सम्भव नहीं था। इसीलिए इन देशों ने मलाया के आन्तरिक मामलों में भी दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी, और मलाया की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की दृष्टि से यह बात बहुत वाञ्छनीय नहीं थी।

धार्मिक दशा—मलाया के निवासी इस्लाम को स्वीकृत कर चुके थे। पर वहां जो चीनी और भारतीय लोग आकर बस रहे थे, वे मुस्लिम नहीं थे। बहुसंख्यक चीनी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, और भारतीय लोग हिन्दू धर्म को मानने वाले थे। दक्षिणी भारत से न केवल गरीब लोग ही मजदूरी प्राप्त करने की कोशिश में मलाया गये थे, अपितु बहुत-से व्यापारी, महाजन और पूंजीपति भी वहाँ जाकर आबाद हो गये थे। इस प्रकार मलाया में बौद्ध, मुस्लिम और हिन्दू—तीन धर्मों की सत्ता थी। ईसाई पादरी भी वहां अपने धर्म का प्रचार करने के लिए तत्पर थे, और पिछड़ी हुई जातियों के बहुत-से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग ईसाई धर्म को अपनाते जा रहे थे । इन चार धर्मों की सत्ता के कारण मलाया में धार्मिक समस्या भी अधिक-अधिक जटिल होती जा रही थी।

सिंगापुर का सामरिक अड्डा—ब्रिटिश लोगों ने सिंगापुर का केवल व्यापारिक केन्द्र के रूप में ही विकास नहीं किया था, अपितु साथ ही पूर्वी एशिया में उसे अपना प्रमुख सामरिक अड्डा भी बनाया था। हिन्द महासागर और प्रशान्त महासागर में ब्रिटिश साम्राज्य बहुत अधिक विस्तृत था। भारत, लंका और बरमा उसके अधीन थे। मलाया, बोर्नियो, पूर्वी गिनी आदि पर भी उसका प्रभुत्व था, चीन में अनेक प्रकार के व्यापारिक व अन्य विशेषाधिकार भी ब्रिटेन ने प्राप्त किये हुए थे। इस सुविस्तृत साम्राज्य की रक्षा तभी सम्भव थी, जबकि हिन्द और प्रशान्त महासागरों के बीच में ब्रिटेन का कोई शक्तिशाली सामरिक केन्द्र हो। इसके लिए सिंगापुर सबसे अधिक उपयुक्त स्थान था। ब्रिटेन ने वहाँ अपनी जलसेना और जंगी जहाजों को प्रचुर मात्रा में स्थापित किया था, और उसकी किलाबन्दी इतनी मजबूत कर ली थी, कि ब्रिटेन को इस बात का पूरा भरोसा था, कि कोई विदेशी जलसेना सिंगापुर को विजय नहीं कर सकती। ब्रिटिश सरकार को यह ध्यान नहीं था, कि स्थलमार्ग से भी सिंगापुर पर आक्रमण किया जा सकता है। १९३९-४५ के महायुद्ध के अवसर पर जापान ने किस प्रकार स्थलमार्ग द्वारा मलाया को अपने अधीन किया, और ब्रिटिश सेनाओं को सिंगापुर छोड़ने के लिए विवश किया, इस पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(३) बरमा

दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे अधिक पश्चिमी देश बरमा है, जो क्षेत्रफल में २,६१,६१० वर्गमील है, और १९३९ में जिसकी आबादी १,६६,००,००० थी। १९३९ तक बरमा भारत का ही एक प्रान्त था। बाद में उसे ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित किया गया, और अब वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र राज्य है। बरमा के सम्बन्ध में हम अधिक विस्तार से नहीं लिखेंगे, क्योंकि हमारे पाठक उसके इतिहास से भली-भाँति परिचित होंगे। भारत के आधुनिक इतिहास के सम्बन्ध में जो पुस्तकें हमारे देश में पढ़ायी जाती हैं, उनमें बरमा का आधुनिक इतिहास भी दिया जाता है। पर यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए, कि एशिया के भूगोल और इतिहास में बरमा का सम्बन्ध भारत की अपेक्षा दक्षिण-पूर्वी एशिया के साथ अधिक है।

प्राचीन इतिहास—बरमा के प्राचीन इतिहास का प्रारम्भ भी वहाँ पर स्थापित हुए भारतीय उपनिवेशों द्वारा ही हुआ था। अराकान की प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार वहाँ का पहला राजा वाराणसी से आया था, और उसने पहले-पहल रामावती द्वीप को बसाया था। यही प्रदेश अब राम्ब्यी कहाता है। अराकान के समान मध्य और उत्तरी बरमा में भी अनेक भारतीय राज्य स्थापित थे। बौद्ध अनुश्रुति के अनुसार सम्राट् अशोक के समय बौद्ध धर्म का विदेशों का प्रसार करने के लिए आचार्य मोद्गलिपुत्र तिष्य ने जो महान् आयोजन किया था, उसके कारण कतिपय बौद्ध भिक्षु बरमा में भी धर्म प्रचार के लिये गये थे। तीसरी सदी ई० पू० से पहले ही बरमा में अनेक भारतीय उपनिवेश स्थापित हो चुके थे। इनके निवासी शैव धर्म के अनुयायी थे। अशोक के समय में (तीसरी सदी ई० पू०) में वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार शुरू हुआ, और धीरे-धीरे बरमा के भारतीय उपनिवेशों के प्रायः सब निवासी बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्यकाल में बरमा का सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य पागन का था। यह नगर वर्तमान माण्डले के दक्षिण में इरावदी नदी के तट पर स्थित था। ग्यारहवीं सदी में अनाव्रत नाम के वीर पुरुष ने वहाँ एक नये राजवंश का प्रारम्भ किया। दो सदी के लगभग तक अनाव्रत द्वारा स्थापित पागन राज्य बरमा में बहुत शक्तिशाली रहा। अराकान, तनासरिम और शान राज्यों के प्रदेश पागन के राजाओं के अधीन थे। इस वंश के राजाओं ने दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त पर भी आक्रमण किया था, और कुछ समय के लिए यह प्रदेश भी पागन के राज्य के अन्तर्गत रहा था। तेरहवीं सदी में जब मंगोल जाति का उत्कर्ष हुआ और चंगेज खाँ के नेतृत्व में विशाल मंगोल साम्राज्य की स्थापना हुई, तो पागन का राज्य भी मंगोल आक्रमणों से अछूता नहीं रह सका। दक्षिणी चीन से मंगोल सेनाओं ने बरमा पर भी आक्रमण किया, और पागन राज्य की शक्ति का अन्त कर दिया। पागन राज्य के पतन के बाद सोलहवीं सदी तक बरमा अनेक छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त रहा, और वहां कोई भी ऐसा राजा नहीं रहा, जो अन्य सब राज्यों को जीत कर अपने प्रभुत्व की स्थापना में समर्थ हो। इस समय बरमा में जो विविध राज्य थे, उनमें आवा, पेगू, तुंगू और अराकान के राज्य प्रमुख थे।

बरमा के इन विविध राज्यों में अराकान का राज्य समुद्र के तट पर स्थित था। इसलिये वहाँ पहले अरब और बाद में पोर्तुगीज व्यापारी व्यापार के लिये आने-जाने लगे। अरब व्यापारियों के सम्पर्क में आकर बहुत-से अराकानी लोगों ने इस्लाम धर्म को भी स्वीकार किया। अराकान के मल्लाह बंगाल की खाड़ी को पार कर भारतवर्ष में आते-जाते थे, और इस कारण मुगल बादशाहत के साथ भी इस राज्य का सम्बन्ध था। बरमा के विविध राज्यों में तुंगू सबसे अधिक शक्तिशाली था। सोहलवीं सदी के उत्तरार्ध में उस के राजा ने पोर्तुगीज लोगों की सहायता से अपनी सेना का नये सिरे से संगठन किया। पोर्तुगीज लोग बन्दूक और तोप का प्रयोग जानते थे। पर इस समय तक बरमा के लोग बारूद के प्रयोग से अपरिचित थे। अतः तुंगू के राजा के लिये यह सुगम हो गया, कि वह बरमा के अन्य राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर सके। धीरे-धीरे तुंगू ने अराकान के अतिरिक्त सम्पूर्ण बरमा को जीतकर अपने अधीन कर लिया। बरमा की सेनाओं ने सियाम पर भी आक्रमण किए, और सियाम की राजधानी अयोध्या पर अपना अधिकार कर लिया। सतरहवीं सदी के उत्तरार्ध में तुंगू के राज्य का ह्रास शुरू हुआ, और आवा का राजवंश बहुत प्रबल हो गया। १८८५ में जब बरमा पर ब्रिटिश लोगों ने अपना आधिपत्य स्थापित किया, तो बरमा आवा के इसी राजवंश के शासन में था। आवा राज्य के जिस राजा ने बरमा के अन्य राज्यों को अपनी अधीनता में लाने में विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसका नाम अलोम्प्रा था। अठारहवीं सदी के मध्य भाग में जब क्लाइव भारत में ब्रिटिश शासन की नींव डाल रहा था, अलोम्प्रा ने पेगू और तैनेसरीम आदि को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। १७८४ में उसने अराकान को भी जीत लिया। १७९३ तक प्रायः सम्पूर्ण बरमा आवा के राजा के अधीन हो गया था, और बरमा की सेनाएं पश्चिम की ओर चटगाँव पर भी आक्रमण करने को तत्पर हो गई थीं।

ब्रिटिश आधिपत्य—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में बरमा एक स्वतन्त्र राज्य था, और आवा का राजवंश उस पर सुव्यवस्थित रूप से शासन कर रहा था। यूरोपियन लोगों ने उसके समुद्र तट के बन्दरगाहों पर अपने व्यापारिक अड्डे कायम किये हुए थे, पर देश के शासन पर उनका कोई प्रभाव नहीं था। रंगून के बन्दरगाह में अंग्रेजों की व्यापारिक कोठी विद्यमान थी। पर इस समय तक भारत में ईस्ट इण्डिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम्पनी की शक्ति भलीभाँति स्थापित हो चुकी थी, और पूर्वी भारत के अनेक प्रदेश उसके आधिपत्य में आ गये थे। उधर बरमा में एक ऐसे राजवंश का शासन था, जो प्रायः सम्पूर्ण देश को अपने अधीनता में ला चुका था, और जो असम तथा चटगांव की ओर भी अपनी शक्ति के विस्तार के लिये तत्पर था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अंग्रेजों और बरमी सरकार में संघर्ष हो। १८१७ में बरमा की सेनाओं ने असम पर आक्रमण किया। वहां बरमा की सेनाओं को अच्छी सफलता मिली। अंग्रेजों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे बरमा के इस शक्ति-प्रदर्शन को सह सकें। परिणाम यह हुआ, कि १८२४ में ब्रिटेन और बरमा का प्रथम युद्ध शुरू हुआ। अंग्रेजों के जहाजी बेड़े ने रंगून पर कब्जा कर लिया, पर वे बरमा में अधिक आगे नहीं बढ़ सके। इसी बीच में बरमा के सेनापति बन्दुला ने बंगाल पर आक्रमण किया, और वहाँ अंग्रेजी सेनाओं को परास्त किया। दो साल के निरन्तर युद्ध के बाद ब्रिटेन और बरमा में सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार अराकान और तैनेसरीम के प्रदेश बरमा से अंग्रेजों ने प्राप्त किए, और असम से बरमा की सेनाएं वापस बुला ली गईं। आवा में ब्रिटिश रेजीडेन्ट की नियुक्ति की गई, और बरमा ने १५,००,००० रुपया हरजाने के रूप में ब्रिटिश सरकार को देना स्वीकार किया। १८२६ की इस सन्धि की शर्तों से यह स्पष्ट है, कि बरमा के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबिला कर सके। उसने युद्ध में अच्छी वीरता प्रदर्शित की थी, पर अन्त में विवश होकर उसे ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के सम्मुख सिर झुका देना पड़ा था।

पर १८२६ की यह सन्धि देर तक कायम नहीं रह सकी। व्यापार के निमित्त से जो ब्रिटिश व्यापारी रंगून में बसे हुए थे, वे अपने को बरमा के लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट समझते थे। वे बरमा के लोगों से बहुत उद्दण्डता के साथ पेश आते थे। इसका परिणाम यह हुआ, कि बरमा की सरकार ने उनके साथ कठोरता का व्यवहार किया। ब्रिटेन के व्यापारिक हितों की रक्षा के नाम पर १८५२ में ब्रिटिश सरकार ने फिर बरमा के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। रंगून, प्रोम, पेगू आदि पर ब्रिटिश सेनाओं का कब्जा हो गया। १८५२ के इस युद्ध के परिणामस्वरूप दक्षिणी बरमा ब्रिटेन के आधिपत्य में चला गया। पर उत्तरी बरमा पर अब भी आवा के राजवंश का शासन रहा, यद्यपि अब इस वंश के राजा भी इस समय पूर्णरूप से स्वाधीन नहीं रहे थे। उनकी स्थिति अधीनस्थ राजाओं के सदृश हो गई थी। आवा में ब्रिटिश रेजिडेन्ट नियुक्त था, और वह देश के शासन में हस्तक्षेप करता रहता था।

१८२६ की सन्धि द्वारा अराकन और तैनेसरीम ब्रिटेन के आधिपत्य में आये थे, और १८५२ के युद्ध की समाप्ति पर पेगू का प्रदेश ब्रिटेन की अधीनता में आ गया था। स्वतन्त्र बरमा के पास अब समुद्र-तट का सर्वथा अभाव था। समुद्र-तट पर ब्रिटिश व्यापारियों ने अपने व्यापारिक केन्द्रों को भलीभांति स्थापित कर रखा था, पर वे इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। वे उत्तरी बरमा में भी अपना व्यापारिक प्रभुत्व स्थापित करना चाहते थे, और इस बात के लिये प्रयत्न कर रहे थे कि आवा के राज्य में व्यापार के लिये विशेषाधिकार प्राप्त करें। १८७८ में आवा के राजसिंहासन पर थेबो आरूढ़ हुआ। वह एक शक्तिशाली और महत्वाकांक्षी राजा था। उसने अपने राज्य में ब्रिटिश लोगों के हस्तक्षेप को अनुचित समझा, और स्वतन्त्र राजा के समान आचरण प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटिश लोग चाहते थे, कि बरमा के विदेशी व्यापार पर उनका एकाधिपत्य हो। पर थेबो ने फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि से भी व्यापारिक सन्धियां करने का प्रयत्न किया। थेबो के राज्य की पूर्वी सीमा इन्डोचायना के साथ लगती थी, और इस देश पर फ्रांस अपने प्रभु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्व की स्थापना में तत्पर था। अतः थेबो ने यह यत्न किया, कि ब्रिटेन के मुकाबिले में फ्रांस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करे। १८८३ में बरमा के एक प्रतिनिधि-मण्डल ने पेरिस की यात्रा की, और १८८५ में एक फ्रेंच प्रतिनिधि-मण्डल बरमा आया। थेबो ने ब्रिटिश रेजिडेन्ट को अपनी राजधानी में रखने से इन्कार कर दिया था, और वह ब्रिटिश व्यापारियों के मुकाबिले में फ्रेंच लोगों के साथ सम्पर्क स्थापित करने का पक्षपाती था। इस समय फ्रांस और ब्रिटेन साम्राज्यवाद के क्षेत्र में एक दूसरे के प्रधान प्रतिस्पर्धी थे। इस दशा में यह सम्भव नहीं था, कि ब्रिटेन बरमा में फ्रांस के बढ़ते हुए प्रभाव को सहन कर सके। अतः १८८५ में ही ब्रिटिश सेनाओं ने उत्तरी बरमा पर आक्रमण कर दिया। बरमी सरकार उनका मुकाबिला नहीं कर सकी। शीघ्र ही, आवा और माण्डले (इस समय स्वतन्त्र बरमा की राजधानी माण्डले बन चुका था) पर ब्रिटिश सेनाओं का कब्जा हो गया। १ जनवरी, १८८६ को ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की, कि बरमा पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना की जाती है। बरमा के राजा को गिरफ्तार करके भारत भेज दिया गया, और उसके राज्य को ब्रिटिश साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। इस प्रकार बरमा की स्वतन्त्र सत्ता का अन्त हुआ।

ब्रिटिश लोगों ने बरमा को जीतकर उसे ब्रिटिश भारत के एक प्रान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया। ज्यों-ज्यों ब्रिटिश भारत के शासन में स्वशासन की स्थापना हुई, त्यों-त्यों बरमा के शासन में भी जनता का सहयोग बढ़ता गया। १९०९ के मिन्टो-मार्ले सुधार और १९१९ के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार बरमा पर भी लागू किये गए। १९१९ के सुधारों के अनुसार भारत के केन्द्रीय शासन में जो विधानसभा स्थापित की गई थी, बरमा के प्रतिनिधि भी उसमें शामिल होते थे। पर भारत के समान बरमा में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन के आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ते जाते थे। इन्डियन नेशनल कांग्रेस में बरमा भी सम्मिलित था, और वहां अनेक क्रान्तिकारी दल भी ब्रिटिश शासन से अपने देश को स्वतन्त्र कराने के लिये प्रयत्नशील थे। बरमा के राष्ट्रीय नेता जहाँ अपने देश को ब्रिटेन के आधिपत्य से स्वतन्त्र कराने को इच्छुक थे, वहाँ भारत के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भी उन्हें पसन्द नहीं था। साइमन कमीशन (१९२७-२८) के सम्मुख भी बरमा के नेताओं ने अपनी पृथक् सत्ता और भारत से सम्बन्ध-विच्छेद की मांग पेश की थी। इसीलिये १९३१ में बरमा के शासन की समस्याओं को हल करने और वहाँ के राष्ट्रीय नेताओं से समझौता करने के लिये पृथक् गोलमेज कान्फरेन्स का आयोजन किया गया। १९३७ में बरमा भारत से पृथक् हो गया, और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत उसकी पृथक् सत्ता स्वीकृत कर ली गई। इस समय बरमा के शासन के सम्बन्ध में जो व्यवस्था हुई, उसके अनुसार वहाँ आंशिक रूप से स्वराज्य की स्थापना की गई। पर बरमा के लोग इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। वे पूर्ण स्वराज्य चाहते थे। इसीलिये वहां स्वतन्त्रता का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता जा रहा था।

आर्थिक क्षेत्र में आधुनिक युग में बरमा ने अच्छी उन्नति की। रेलवे और सड़कों के निर्माण के कारण बरमा में व्यापार का विकसित होना अधिक सुगम हो गया। बरमा की नदियाँ नौकानयन के योग्य हैं, ग्रेट ब्रिटेन में बने हुए वाष्पशक्ति से चलने वाले जहाज उनमें दूर-दूर तक आने-जाने लगे। पेट्रोलियम बरमा का प्रमुख खनिज पदार्थ है। इसके लिये बहुत-से तेलकूप वहां तैयार किये गए, और बरमा का पैट्रोलियम प्रचुर परिमाण में विदेशों में जाने लगा। खेती के पैदावार में चावल एक ऐसा अन्न था, जो बहुत बड़ी मात्रा बरमा से भारत आदि देशों में विक्रय के लिये जाता था। पैट्रोलियम और चावल के निर्यात के कारण बरमा की आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिली। इसमें सन्देह नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में आधुनिक युग की प्रवृत्तियों का प्रभाव बरमा में निरन्तर बढ़ता जा रहा था। एक ओर जहां उसका आर्थिक विकास हो रहा था, वहां साथ ही उसमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी जोर पकड़ रही थी। धीरे-धीरे बरमा में वे परिस्थितियां उत्पन्न हो रही थीं, जिन्होंने आगे चलकर उसे एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया।

(४) दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

दक्षिण-पूर्वी एशिया के इतिहास की इस अत्यन्त संक्षिप्त रूपरेखा को लिख चुकने के बाद अब यह उपयोगी होगा, कि हम उपसंहार के रूप में उन बातों का निर्देश कर दें, जो इस क्षेत्र की राजनीति में विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं :—

(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देश और द्वीप विदेशी राज्यों के प्रभुत्व व प्रभाव में थे। फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर अमेरिका का शासन था। इन्डोनीसिया हालैण्ड के अधीन था, और इन्डोचायना पर फ्रांस का आधिपत्य था। बरमा, मलाया, और इन्डोनीसिया के कतिपय द्वीप ब्रिटेन के अधीन ने। तिमोर द्वीप का कुछ भाग और अन्य कतिपय द्वीप पोर्तुगाल के कब्जे में थे। सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया में केवल सियाम ही एक ऐसा देश था, जो किसी विदेशी राज्य के शासन में नहीं था। पर वहाँ भी एक्स्ट्राटैरिटोरिएलिटी और व्यापारिक विशेषाधिकारों के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिससे सियाम को भी पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य नहीं समझा जा सकता था।

(२) उन्नीसवीं सदी में इस क्षेत्र के विविध प्रदेशों व द्वीपों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए पाश्चात्य देशों में परस्पर विरोध व संघर्ष जारी रहा। पर बीसवीं सदी में इस विरोध व संघर्ष का अन्त हो गया था। जो प्रदेश जिस राज्य के अधीन था, वहां उसकी सत्ता को अन्य राज्यों ने स्वीकार कर लिया था। इस स्थिति के कारण निम्नलिखित थे—(क) बीसवीं सदी में ब्रिटेन और फ्रांस में साम्राज्यवाद-सम्बन्धी संघर्ष का अन्त हो गया था। यूरोप में जर्मनी की शक्ति से दोनों देश समान रूप से चिन्तित व भयभीत थे। १८७० के फ्रांको-प्रशियन युद्ध के बाद यूरोप में जर्मनी की शक्ति जितनी तेजी के साथ बढ़ रही थी, वह यूरोप के अन्य राज्यों के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक थी। बीसवीं सदी में जर्मनी साम्राज्य-प्रसार के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील हुआ। एशिया में अपने प्रभुत्व का प्रसार करने के लिए उसने आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की के साथ मिलकर एक गुट का निर्माण किया, और बर्लिन से बगदाद तक रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिए योजना तैयार की। जर्मनी के इस उत्कर्ष से ब्रिटेन का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था, क्योंकि ईरान से लेकर बोर्नियो तक ब्रिटेन का प्रभुत्व व प्रभाव स्थापित था। फ्रांस तो जर्मनी के उत्कर्ष में अपनी क्षति समझता ही था। इस दशा में ब्रिटेन और फ्रांस ने १९०४ में एक सन्धि कर ली थी, जिसका उद्देश्य यह था कि ये दोनों राज्य अपनी विदेशी राजनीति का संचालन पारस्परिक सहयोग द्वारा किया करेंगे। १९०४ की इस सन्धि के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी फ्रांस और ब्रिटेन के विरोध व संघर्ष का अन्त हो गया था। (ख) यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हालैण्ड का किसी अन्य राज्य से विरोध नहीं था। इसीलिए ब्रिटेन और फ्रांस उसके इन्डोनीसियन साम्राज्य के विरोधी नहीं थे। साथ ही, वे यह भी समझते थे, कि जर्मनी और जापान जैसे शक्तिशाली राज्यों के मुकाबिले में इन प्रदेशों का हालैण्ड की अधीनता में रहना ही कहीं अधिक अच्छा है। यदि ये प्रदेश हालैण्ड के हाथ से निकल जाएं, तो जर्मनी और जापान इन्हें अपने प्रभुत्व में लाने का प्रयत्न करते, यह निश्चित था। अतः फ्रांस, ब्रिटेन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका इन प्रदेशों पर हालैण्ड के अधिकार से सन्तुष्ट थे। वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा जापान की जलशक्ति को सीमित कर दिया गया था, अतः ब्रिटेन और अमेरिका यह समझते थे, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में उनके साम्राज्यों को जापान से विशेष भय नहीं है। (ग) सियाम का स्वतन्त्र राज्य इन्डोचायना और बरमा के बीच में बफर राज्य के समान था। फ्रांस और ब्रिटेन इस बात से संतुष्ट थे, और वे समझते थे कि सियाम के स्वतन्त्र रहने में ही उन दोनों का लाभ है। (घ) फिलिप्पीन द्वीप-समूह अमेरिका के अधीन था, अतः अमेरिका समझता था, कि प्रशान्त महासागर में एक ऐसा प्रदेश उसके हाथ में हैं, जिससे वह जापान की बढ़ती हुई महत्त्वाकांक्षाओं का सफलतापूर्वक मुकाबिला व विरोध कर सकता है।

(३) यद्यपि दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी देश साम्राज्यवादी देशों की साम्राज्यलिप्सा के शिकार थे, पर सर्वत्र राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन जोर पकड़ते जा रहे थे। शासक देशों ने इन राज्यों में जो सुधार किये थे, उनसे राष्ट्रप्रेमी देशभक्त लोगों को सन्तोष नहीं था। जापान के उदाहरण को सम्मुख रखकर इन सब देशों में यह आकांक्षा प्रबल रूप से विद्यमान थी, कि वे न केवल स्वतन्त्रता प्राप्त करें, अपितु जापान के सदृश ही उन्नत व समृद्ध देश बन जाएं। इसीलिए १९३९-४५ के महायुद्ध के अवसर पर जब फ्रांस, ब्रिटेन, हालैण्ड और अमेरिका के साम्राज्यों का पतन हुआ, तो दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब देशों ने प्रसन्नता अनुभव की।

(४) जापान की साम्राज्य-प्रसार विषयक भूख अभी शान्त नहीं हुई थी। यद्यपि कोरिया, फार्मूसा और प्रशान्त महासागर के अनेक द्वीप उसके अधीन थे, और चीन के शांतुंग और मञ्चूरिया प्रान्तों में उसे अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे, पर जापान इनको अपने लिए पर्याप्त नहीं समझता था। व्यावसायिक और सामरिक दृष्टि से जापान ब्रिटेन और फ्रांस का समकक्ष था। पर साम्राज्य के क्षेत्र में वह इन देशों के मुकाबिले में बहुत पीछे था। जर्मनी के समान जापान भी अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक था। यदि नाजी जर्मनी पूर्वी यूरोप को अपने साम्राज्य का स्वाभाविक क्षेत्र समझता था, तो जापान भी पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया को अपने साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र मानता था। इसीलिए १९३१ में उसने मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न किया, और इसीलिये १९३९-४५ के महायुद्ध में उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया से पश्चिमी देशों के साम्राज्यों का अन्त किया। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ भली-भांति समझते थे, कि उनके एशियन साम्राज्य का सबसे बड़ा शत्रु जापान है। इसीलिए उन्होंने सिंगापुर को अपनी सामुद्रिक शक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र बनाया था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नीसवां अध्याय

जापान का वशवर्ती मञ्चूकुओ राज्य

(१) जापान की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति

पिछले अध्यायों में हमने इस विषय पर विशद रूप से प्रकाश डाला है, कि सन् १९३१ तक पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों की क्या स्थिति थी। एशिया के आधुनिक इतिहास में सन् १९३१ का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इस साल जापान ने अपने साम्राज्य-विस्तार की उस प्रक्रिया को शुरू किया, जिसने दस वर्षों के लगभग समय में प्रायः सम्पूर्ण पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया को व्याप्त कर लिया। बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ १९३९ में हुआ था, पर जहाँ तक एशिया का सम्बन्ध है, वहाँ वस्तुतः इस महायुद्ध का श्रीगणेश १९३१ में ही हो गया था। १९३१ में जापान ने मञ्चूरिया से चीन के शासन का अन्त किया, और अपनी संरक्षकता में उस प्रदेश में मञ्चूकुओ नामक नये राज्य की स्थापना की। यह राज्य नाम को स्वतन्त्र होते हुए भी वस्तुतः जापान का वशवर्ती था। इसके बाद जापान और चीन के द्वितीय युद्ध का प्रारम्भ हुआ, और चीन के अनेक प्रदेशों में जापान ने अपनी शक्ति व प्रभुत्व का विस्तार किया। इसी बीच में जब १९३९ में यूरोप में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, तो जापान ने जर्मनी और इटली का पक्ष लेकर मित्रराज्यों के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी, और महायुद्ध के इस अवसर से लाभ उठाकर सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। संसार के आधुनिक इतिहास में जापान का यह उत्कर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

कौन-सी ऐसी प्रवृत्तियाँ थीं, जो जापान को साम्राज्य विस्तार के लिये प्रेरित कर रही थीं, इस पर पहले भी इस इतिहास में प्रकाश डाला जा चुका है। पर इन प्रवृत्तियों परिस्थितियों तथा कारणों में से कतिपय पर इस प्रसंग में फिर विचार करना उपयोगी है—

(१) **जनसंख्या की वृद्धि और व्यावसायिक उन्नति**—१९३१ में जापान की आबादी ७,००,००,००० के लगभग थी। १८५४ में जब कमोडोर पेरी द्वारा जापान का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क स्थापित हुआ था, इस देश की जनसंख्या तीन करोड़ से भी कम थी। तीन चौथाई सदी के लगभग समय में जापान की जन-संख्या में २५० प्रतिशत के लगभग वृद्धि हुई थी। इस बढ़ती हुई आबादी की आजीविका का समुचित प्रबन्ध करने का यही उपाय था, कि जापानी लोग अन्य प्रदेशों में जाकर बसें, क्योंकि जापान की अपनी जमीन इतने लोगों का बोझ उठा सकने के लिए पर्याप्त नहीं थी। अमेरिका और आस्ट्रेलिया आदि देशों में जापानी लोग नहीं बस सकते थे, क्योंकि वहाँ की गौराङ्ग सरकारें एशियन लोगों को अपने देशों में प्रविष्ट नहीं होने देना चाहती थीं। फार्मूसा और कोरिया आदि जो प्रदेश जापान की अधीनता में थे, वहाँ जापानी लोग व्यापारी, इन्जीनियर, शिक्षक और शासक के रूप में अवश्य आबाद हो रहे थे, पर वहाँ कृषक और मजदूर आदि के रूप में जापानी लोगों के लिए बसने की विशेष गुंजाइश नहीं थी। चीन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फिलिप्पीन, मलाया आदि में कुछ जापानी लोग विविध प्रकार के कार्यों के लिए अवश्य गए थे, पर १९३५ में इन प्रदेशों में प्रवास करने वाले जापानियों की संख्या दस लाख से अधिक नहीं थी। इस दशा में जापान की सरकार अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या की आजीविका का यही एक मात्र उपाय समझती थी, कि अपने देश को व्यावसायिक दृष्टि से अधिक से अधिक उन्नत किया जाय। १९१४-१८ के महायुद्ध के अवसर पर जापान को अपनी व्यावसायिक उन्नति का सुवर्णीय अवसर हाथ लग गया था, क्योंकि उस समय एशिया के विविध बाजारों में यूरोप का माल आना बन्द हो गया था। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर १९२१ के लगभग यूरोपियन माल भारत आदि देशों में फिर प्रचुर परिमाण में आने लगा था। ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि देशों के अफ्रीका और एशिया में अपने-अपने साम्राज्य व प्रभाव-क्षेत्र थे। इनमें जापान का तैयार माल उतनी निश्चिन्तता के साथ नहीं बिक सकता था, जितना कि पाश्चात्य साम्राज्यवादी देशों का। जापानी माल का मुकाबिला करने के लिए ब्रिटेन, फांस आदि देश उसके माल पर अधिक तटकर लगाने की नीति का अनुसरण कर रहे थे। ब्रिटेन ने साम्राज्यान्तर्गत रियायती कर की नाति का अवलम्बन कर जापान के विदेशी व्यापार में रुकावटें उत्पन्न कर दी थीं। इस दशा में जापान का यह अनुभव करना स्वाभाविक था, कि उसका भी अपना साम्राज्य होना चाहिए, जहाँ वह अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सके, और जहाँ से कच्चा माल वह सस्ती कीमत पर खरीद सके। इसी मूलभूत कारण से जापान फार्मूसा और कोरया को अपने आधिपत्य में लाने के लिए प्रवृत्त हुआ था। क्योंकि १९३१ तक व्यावसायिक दृष्टि से जापान ब्रिटेन का समकक्ष हो गया था, अतः केवल फार्मूसा और कोरिया से सन्तुष्ट रह सकना उसके लिये सम्भव नहीं था। वह चाहता था, कि फ्रांस, ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के समान उसका साम्राज्य भी विशाल हो। वह इस समय संसार के प्रधान राज्यों में से एक था। पर साम्राज्य की दृष्टि से वह अन्य शक्तिशाली राज्यों के मुकाबिले में बहुत पीछे था। १९३१ में वह जो साम्राज्यवाद के मार्ग पर अग्रसर हुआ, उसमें यह प्रधान कारण था।

(२) **पूंजीवाद का विकास**—व्यावसायिक उन्नति के साथ-साथ जापान में पूंजीवाद की असाधारण रूप से वृद्धि हुई थी। १८९३-९५ में जब चीन और जापान का प्रथय युद्ध हुआ, तो उसकी कम्पनियों में लगी हुई पूंजी की कुल मात्रा केवल ३०,८०,००,००० येन थी। १९२५ में यह पूंजी बढ़ कर १३,७९,९७,५८,००० येन हो गई थी। तीस साल के थोड़े-से अरसे में जापान की व्यावसायिक और व्यापारिक कम्पनियों की पूंजी में ५० गुना के लगभग वृद्धि हुई थी। बहुत-सी कम्पनियां ऐसी थीं, जिनमें लगी हुई पूंजी की मात्रा अधिक नहीं थी। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि जापान की कुल कम्पनियों की १.५ प्रतिशत कम्पनियां ऐसी थीं, जिनमें कुल पूंजी का ६५ प्रतिशत विनियुक्त था। इसका स्पष्ट अभिप्राय यह है, कि जापान का सम्पूर्ण आर्थिक जीवन कुछ थोड़ी-सी कम्पनियों में केन्द्रित था, जिनके मालिक जापान के व्यावसायिक व व्यापारिक जीवन के वास्तविक स्वामी थे। इन विशालकाय कम्पनियों में सुमीतोमो, मित्सुई और मित्सुविशी कम्पनियाँ सर्वप्रधान थीं। मित्सुई कम्पनी की अपनी पूंजी ३०,००,००,००० येन थी। पर उसके अधीन और उससे सम्बद्ध कम्पनियों की पूंजी ८०,००,००,००० येन तक पहुँच जाती थी। सुमीतोमो कंम्पनी की अपनी पूंजी १५,००,००,००० येन थी, पर उसकी अधीनस्थ कम्पनियोंकी पूंजी १८,००,००,००० येन तक पहुंची हुई थी। मित्सुविशी कम्पनी के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। सब प्रकार के व्यवसाय और कारोबार इन विशाल काय कम्पनियों की अधीनता में संचालित होते थे। बैंकिंग, बीमा, मिलें,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खानें, भवन-निर्माण आदि सब प्रकार के कारोबार पर इन कम्पनियों का प्रभुत्व था। इनके मालिक राजनीति से पृथक् रहकर आर्थिक क्षेत्र तक ही अपने को सीमित रखते हों, यह बात नहीं थी। ये देश की राजनीति में भी खुले तौर पर भाग लेते थे, और विविध राजनीतिक नेता इनके हाथों में कठपुतली के समान थे। सैयुकाई, मिन्सेइतो आदि राजनीतिक दलों पर इनका प्रभुत्त्व था। जापान के सैनिक नेता भी इन पूँजीपतियों के प्रभाव में थे। रुपये के जोर पर इन पूँजीपतियों के लिये यह बहुत सुगम था, कि ये देश के राजनीतिक और सैनिक नेताओं को अपनी मुट्ठी में रख सकें। यही कारण है, कि इस समय जापान में अनेक ऐसी घटनाएं हुईं, जिनमें सरकार के प्रमुख कर्मचारियों और मन्त्रियों तक ने पूँजीपतियों के साथ मिल कर अनुचित रूप से लाभ उठाने का प्रयत्न किया। इस बात से यह भलीभांति समझा जा सकता है कि जापान के राजनीतिक जीवन में बड़े पूँजीपतियों का कितना अधिक महत्त्व था। ये पूँजीपति अपने व्यवसायों और कारोबार के लिए यह आवश्यक समझते थे, कि जापान साम्राज्य-प्रसार के लिए तत्पर हो। साम्राज्य के अभाव में इनके लिए अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सकना और कच्चे माल को कम कीमत पर प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था। पूँजीवाद साम्राज्यवाद को जन्म देने का प्रधान कारण होता है और जापान में इस समय पूँजीवाद इस हद तक विकसित हो चुका था, कि वह वहां की सरकार को साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रेरित कर रहा था। इस समय जापान की राजनीति का निर्धारण करते हुए इन बड़े पूँजीपतियों के हितों को विशेष रूप से दृष्टि में रखा जाता था, और इन पूँजीपतियों का हित इसी बात में था कि जापान साम्राज्य-विस्तार के लिए प्रवृत्त हो।

(३) **मन्दी के युग का प्रभाव**—१९२९ के लगभग सारे संसार में मन्दी के युग का प्रारम्भ हुआ। वस्तुओं की कीमतें गिरने लगीं, और एक अर्थ-संकट उपस्थित हो गया। यहां हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि इस आर्थिक संकट के कारणों पर प्रकाश डाल सकें। १९१४-१८ के महायुद्ध में जर्मनी आदि जो देश परास्त हुए थे, उन्हें भारी-भारी रकमें हरजाने के रूप में अदा करनी थीं। युद्ध में इन देशों का आर्थिक जीवन बुरी तरह से अस्त-व्यस्त हो गया था। हरजाने के बोझ से इनकी मुद्रापद्धति बुरी तरह से अव्यवस्थित हो गई थी। महायुद्ध के विजेता देशों के लिए यह सुगम नहीं था, कि वे अपने माल को अन्य देशों में ऊंची कीमतों पर बेच सकें, क्योंकि सर्वत्र बेरोजगारी फैल रही थी। कीमतें गिरने की जो प्रक्रिया १९२९ में शुरू हुई, वह १९३१ तक जारी रही। १९३१ तक कीमतें इस हद तक गिर गई थीं, कि कारखानों को भारी नुकसान होने लगा था। व्यापार, व्यवसाय और सब प्रकार के कारोबारों में नुकसान ही नुकसान नजर आता था। जापान भी इस विश्वव्यापी अर्थसंकट से नहीं बच सका। उसके माल की कीमतें भी निरन्तर गिरने लगीं। पर गिरी हुई कीमतों पर भी उसका माल विदेशों में नहीं बिक पाता था। जापान के रेशम की अमेरिका में बहुत खपत थी। पर आर्थिक संकट का जो असर अमेरिका पर पड़ रहा था, उसके कारण अमेरिकन जनता की क्रयशक्ति निरन्तर कम होती जाती थी। अब उसके लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह जापानी रेशम को खरीद सके। जापान का अन्य माल भी विदेशी बाजारों में बिक सकना कठिन हो गया जा। इस दशा में बहुत-से जापानी कारखाने बन्द हो रहे थे, और लाखों मजदूर बेकार होते जाते थे। जापान की कृषि-जन्य वस्तुओं की कीमतें भी गिर रही थीं। १९२९ और १९३० के बीच में जापान में अनाज की कीमतें लगभग आधी हो गई थीं। इस दशा का सर्वसाधारण किसानों पर क्या प्रभाव हुआ, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। केवल किसान और मजदूर ही नहीं, अपितु दुकानदार और मध्य श्रेणी के व्यवसायी भी मन्दी के झपेट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आ रहे थे। नफा न होने के कारण उन पर कर्ज का बोझ निरन्तर बढ़ता जाता था। अनुमान किया गया है, कि १९३२ में जापान की मध्य श्रेणी के लोगों की कर्जदारी की मात्रा २,५०,००,००,००० येन से भी अधिक हो गई थी। जापान में आर्थिक संकट कितना उग्र था, इसका अनुमान इस एक बात से भलीभाँति किया जा सकता है। आर्थिक संकट के इस काल में जापान के नेता व सर्वसाधारण लोग यही समझते थे कि इससे छुटकारा पाने का सर्वोत्तम उपाय साम्राज्य-प्रसार ही है।

(४) **सेना का रुख**—पहले जापान की सेना में कतिपय कुलीन परिवारों का प्राधान्य था। चोशू और सत्सुमा कुल जापान की स्थल और जलसेना में जो प्रमुख स्थिति रखते थे, उसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। पर पाश्चात्य देशों के अनुकरण में जब जापान में भी बाधित सैनिक सेवा की पद्धति का आरम्भ किया गया, तो जापान की सेना के स्वरूप में परिवर्तन आने लगा। जल और स्थल सेना के आफिसर के पदों पर ऐसे व्यक्ति भी नियुक्त होने लगे, जो चोशू और सत्सुमा सदृश कुलीन परिवारों के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे। अपनी सैनिक योग्यता व प्रतिभा के बल पर सर्वसाधारण लोग भी उच्च सैनिक पद प्राप्त करने लगे। १९२० और १९२७ के बीच में सर्वसाधारण जनता के साथ सम्बन्ध रखने वाले सैनिक अफसरों की संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई और उनकी संख्या ३० प्रतिशत तक पहुंच गई। इन अफसरों के कारण सेना के संगठन व दृष्टिकोण में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी था। ये भलीभाँति अनुभव करते थे, कि अर्थसंकट के काल में जापान की जनता को कैसी मुसीबतों का सामना करना पड़ रहा था। ये यह भी समझते थे कि जापान की सरकार पूंजीपतियों के हितों को दृष्टि में रखकर अपनी नीति का निर्धारण कर रही है, और यह बात सर्वथा अनुचित है। कुछ सैनिक अफसरों ने यहां तक कहना शुरू कर दिया था, कि सरकार का संचालन राजनीतिक नेताओं के हाथों में न होकर सेना के हाथ में होना चाहिए, क्योंकि सेना राज्य और शासन के सम्बन्ध में सर्वथा निष्पक्ष नीति का अवलम्बन कर सकती है, और उसका जनता के किसी वर्ग के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं होता। बहुसंख्यक जनता भी सैनिक नेताओं के इन विचारों के साथ सहमति रखती थी। राजनीतिक नेता जिस ढंग से पूंजीपतियों के हाथों में कठपुतली बन रहे थे, उससे जनता में बहुत अधिक असन्तोष था। इस दशा में सेना का प्रभाव बढ़ जाना सर्वथा स्वाभाविक बात थी। जापानी सरकार की पुरानी परम्परा के अनुसार जल सेना और युद्ध के मन्त्रियों को यह अधिकार था, कि वे सीधे सम्राट् से भेंट कर सकें, और अपनी योजनाओं और नीति का उससे समर्थन प्राप्त कर सकें। इसलिये जिन बातों के सम्बन्ध में सैनिक नेता मन्त्रिमण्डल के राजनीतिज्ञों के साथ मतभेद रखते थे, उन्हें वे स्वयं सम्राट् के सम्मुख उपस्थित कर सकते थे, और उस द्वारा उन्हें स्वीकृत करा सकते थे। इस दशा का यह परिणाम था, कि सरकार में उनकी शक्ति बहुत अधिक हो गई थी। क्योंकि इस समय बहुत-से सैनिक अफसर सर्वसाधारण जनता से सम्बन्ध रखते थे, अतः जनता की भावनाओं से वे भलीभाँति परिचित थे, और उनका यह विचार था कि जापान को अर्थसंकट से बचाने का एकमात्र उपाय यही है, कि साम्राज्य-विस्तार करने के लिए प्रयत्न किया जाय। वाशिंगटन कान्फरेन्स के बाद जापान के राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्ति की जिस नीति का अनुसरण कर रहे थे, सैनिक नेता उसे नापसन्द करते थे। १९३१ में जापान साम्राज्यवाद के मार्ग पर जिस प्रकार तेजी के साथ अग्रसर हुआ, उसके लिए राजनीतिज्ञों की अपेक्षा सैनिक नेताओं की उत्तरदायिता अधिक थी।

विश्वव्यापी अर्थसंकट के कारण जापान की सरकार को अपने खर्च चलाने में भी कठिनता अनुभव होने लगी थी। वह आवश्यक समझती थी, कि सरकारी खर्च में कभी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जाय। बचत का सबसे सरल उपाय उसे यही समझ पड़ता था, कि सैनिक खर्च को घटाया जाय। पर सैनिक नेता इससे सहमत नहीं थे। सैनिक खर्च को घटाने का यह परिणाम होता, कि सैनिकों और अफसरों के लिए उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता। इस दशा में सेना व उसके नेताओं का यह विचार था कि सैनिक खर्च को कम करने के बजाय सेना को अपना कर्तृत्व प्रदर्शित करने का मौका दिया जाना चाहिए। सेना का यह कर्तृत्व साम्राज्य-विस्तार के क्षेत्र में ही सम्भव था। सैनिक नेता कहते थे, कि जापान की आर्थिक समस्या को हल करने का सबसे उत्तम उपाय साम्राज्य का विस्तार करना ही है।

(५) **राष्ट्रभक्ति की भावना**—केवल जापान की सेना ही नहीं, अपितु जनता भी साम्राज्य-विस्तार के लिए उत्सुक थी। जापान में अनेक ऐसी समितियां स्थापित हो रही थीं, जो सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को अत्यन्त निर्बल समझती थीं। अनेक देशभक्तों का कहना था, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स के निर्णयों को स्वीकार कर सरकार ने जापान को सर्वथा पंगु बना दिया है। उग्र राष्ट्रीय भावना साम्राज्यवाद की प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है। जापान में राष्ट्रीयता की भावना बहुत ही उग्र रूप धारण कर रही थी। उग्र राष्ट्रीय भावना से आविष्ट जापानी नवयुवक अपनी सरकार की विदेशी नीति के बहुत खिलाफ थे, और साम्राज्यविस्तार के लिए व्याकुल थे। नवयुवक देशभक्तों की ये समितियां कितना प्रचण्ड रूप धारण कर रही थीं, इसको स्पष्ट करने के लिए केवल यह बात ही पर्याप्त होगी कि १९३० में जापान के प्रधानमन्त्री हामागुची को केवल इसलिए कत्ल कर दिया गया था, क्योंकि ये राष्ट्रवादी देशभक्त उनकी अन्तर्राष्ट्रीय नीति को निर्बल समझते थे।

इसमें सन्देह नहीं, कि अनेक जापानी राजनीतिज्ञ अपने देश के उत्कर्ष के लिए साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण करने के विरोधी थे। १९२७ में जापान के परराष्ट्रमन्त्री बैरन शिदेहारा ने अपनी नीति को स्पष्ट करते हुए कहा था—"हमारे लिए यह बात अत्यन्त महत्त्व की है, कि हम अपनी सम्पूर्ण शक्ति और ध्यान को विदेशी व्यापार की वृद्धि में लगाएं, पर इसके लिए हमें किसी अन्य राष्ट्र के हितों में अन्याय्य रूप से बाधा डालने की आवश्यकता नहीं है। हमें बाजार चाहिएं, अन्य राज्यों के प्रदेश नहीं चाहियें।" यह ठीक है, कि १९२२ के बाद जापान की सरकार का ध्यान अपने देश के विदेशी व्यापार की वृद्धि पर लगा हुआ था। जापानी माल के सबसे बड़े ग्राहक अमेरिका और चीन थे। इसीलिए जापानी सरकार इन देशों के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने के लिए उत्सुक थी। पर १९२९-३१ के विश्वव्यापी अर्थसंकट ने जापान के विदेशी व्यापार को भारी धक्का पहुंचाया था। यद्यपि इस समय भी जापान के राजनीतिक नेता साम्राज्य-प्रसार के लिए इच्छुक नहीं थे, पर जनता और सेना उनकी इस नीति से असहमत थी। देशभक्तों की समितियां और सैनिक नेता समझते थे, कि एकमात्र साम्राज्य-विस्तार द्वारा ही जापान का कल्याण सम्भव है।

(२) मंचूरिया की स्थिति

जापान के लिए अपने साम्राज्य को विस्तृत करने का सबसे उपयुक्त क्षेत्र मञ्चूरिया था। १९३१ में उसने इसी प्रदेश में अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति को चरितार्थ करना प्रारम्भ किया। अतः यह आवश्यक है, कि हम पहले मञ्चूरिया की स्थिति पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करें। १९३१ के शुरू में मञ्चूरिया की क्या स्थिति थी, इसे हम निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) मञ्चूरिया चीन का अंग था। चीन के राजनीतिक नेता इसे अपना अधीनस्थ प्रदेश न समझकर अपने राष्ट्र का एक अंग मानते थे। वे इसे मञ्चूरिया न कहकर 'तीन पूर्वी प्रान्त' नाम से कहा करते थे। कुओमिन्तांग सरकार इस प्रदेश को चीनी रिपब्लिक का एक अविच्छेद्य अंग समझती थी। चांग त्सो लिन की मृत्यु के बाद उसका पुत्र चांग ह्सुएह लिअांग मञ्चूरिया का सूबेदार व सिपहसालार बना था। उसके पिता चांग त्सो लिन ने नानकिंग की सरकार के साथ समझौता नहीं किया था। पर चांग ह्सूएह लिअांग समय की गति को समझता था, और उसने नानकिंग की कुआमिन्तांग सरकार को मंचूरिया का असली स्वामी मान लिया था। कुओमिन्तांग सरकार के साथ जो समझौता चांग ह्सूएह लिअांग ने किया था, उसके अनुसार मञ्चूरिया के वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन नानकिंग की अखिल चीनी सरकार के सुपुर्द कर दिया गया था, यद्यपि आन्तरिक शासन में चांग ह्सुएह लिअांग को पूर्ण अधिकार प्राप्त थे। जापानी लोग इस बात से बहुत असंतुष्ट थे। जब तक मञ्चूरिया का सिपहसालार केन्द्रीय चीनी सरकार के आधिपत्य से सर्वथा स्वतन्त्र था, वे उस पर जोर डालकर अपनी बातें उससे मनवा सकते थे। नानकिंग की अपेक्षा मुकदन (मञ्चूरिया की राजधानी) पर उनका जोर अधिक चल सकता था। इसीलिए जापानी लोगों ने चांग ह्सुएह लिअांग को यह चेतावनी भी दी थी, कि वह नानकिंग की केन्द्रीय सरकार के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करे।

(२) हम पिछले अध्यायों में बता चुके हैं, कि उत्तरी मञ्चूरिया रूस का प्रभाव-क्षेत्र था, और दक्षिणी मञ्चूरिया जापान के प्रभाव-क्षेत्र में था। विविध संधियों द्वारा रूस और जापान ने मञ्चूरिया के उत्तरी और दक्षिणी प्रदेशों में जो अनेक विशेषाधिकार प्राप्त किए हुए थे, उन्हें यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। पर यह स्पष्ट है, कि एक प्रदेश में तीन राज्य एक साथ नहीं रह सकते थे। जब तक चीन की केन्द्रीय सरकार निर्बल थी, रूस और जापान के लिए मञ्चूरिया में मनमानी कर सकना सम्भव था। पर कुओमिन्तांग दल के शक्ति प्राप्त कर लेने के बाद चीन में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबलता प्राप्त कर रही थी। मार्शल चियांग काई शेक की सरकार इस बात के लिए प्रयत्नशील थी, कि चीन से विदेशी राज्यों के प्रभाव व प्रभुत्व का अन्त कर चीन में अविकल रूप से राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना की जाय। कुओमिन्तांग दल के कार्यकर्त्ता मञ्चूरिया में बड़ी तत्परता के कार्य कर रहे थे। अपने देश में विदेशियों के विशेषाधिकारों की सत्ता उन्हें सह्य नहीं थी।

(३) इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन और जापान में मंचूरिया के प्रश्न पर विरोध के कारण उत्पन्न होने लगें। ये विरोध के कारण निम्नलिखित थे—(क) लिआओ-तुंग प्रायद्वीप का पट्टा २५ साल के लिए पहले रूस ने प्राप्त किया था। रूस-जापान युद्ध (१९०४–५) के परिणामस्वरूप इसे जापान ने हस्तगत कर लिया था। १९१५ में चीन और जापान में जो समझौता हुआ था, उसके अनुसार इस पट्टे की अवधि २५ साल से बढ़ाकर ९९ साल कर दी गई थी। पर चीन की नई राष्ट्रीय सरकार का कहना था, कि १९१५ का समझौता जापान ने अपनी शक्ति का प्रयोग करके और चीन की विवशता से लाभ उठाकर करा लिया था, अतः वह चीनी सरकार को मान्य नहीं हो सकता। २५ साल के असली पट्टे का काल १९२३ में समाप्त हो गया था। १९२३ के बाद लिआओ-तुंग पर जापान के कब्जे को चीनी सरकार अन्याय्य समझती थी। पर जापान का कहना था, कि १९१५ का समझौता न्याय्य और उचित है, और चीनी समकार को उसे स्वीकृत करना चाहिए। (ख) यही विवाद दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में भी था। इस रेलवे का पट्टा भी शुरू में रूस ने २५ साल के लिए प्राप्त किया था, और १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के बाद इस रेलवे पर जापान ने अपना अधिकार कर लिया था। १९१५ में इसकी अवधि भी २५ से ९९ साल कर दी गई थी। चीनी सरकार का कहना था, कि १९२३ में २५ साल का काल समाप्त हो जाने के कारण इस रेलवे पर जापान का स्वामित्व न्याय्य व उचित नहीं रहा है। पर जापान १९१५ के समझौते के आधार पर इस रेलवे पर अपने आधिपत्य की अवधि ९९ साल मानता था। (ग) रेलवे के क्षेत्र पर जापानी पुलिस का अधिकार था। साथ ही, मंचूरिया में निवास करने वाले जापानियों को एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी-सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त थे। जापानी लोगों को मञ्चूरिया में जमीन और मकान किराये पर लेने के भी अधिकार मिले हुए थे। यह स्वाभाविक था, कि इन अधिकारों को क्रिया में परिणत करने के प्रश्न पर चीन और जापान में अनेक प्रकार की समस्याएं व विवाद उत्पन्न होते रहें।

(४) वाशिंगटन कान्फरेन्स में जापान ने चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को स्वीकृत किया था, और साथ ही यह भी मान लिया था, कि वह उसमें किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करेगा। पर जापान मञ्चूरिया को चीन का अंग नहीं समझता था। वह कहता था, कि मंचूरिया चीन का अधीनस्थ राज्य है, और उसमें विविध संधियों द्वारा जो विशेषाधिकार जापान को प्राप्त हैं, उन्हें वह चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के नाम पर छोड़ देने को कदापि तैयार नहीं होगा। इसीलिए वह १९१५ के समझौते को आधार बनाकर लिआओ-तुंग प्रायःद्वीप और दक्षिणी मंचूरियन रेलवे पर अपने आधिपत्य का दावा करता था, और उसे चांग ह्सुएह लिआंग की यह बात थी पसन्द नहीं थी, कि उसने नानकिंग की केन्द्रीय चीनी सरकार के हाथों में मंचूरिया की परराष्ट्र नीति का संचालन सौंप दिया था। जापानी सरकार इस बात के लिये कटिबद्ध थी, कि मंचूरिया में ९९ साल के लिए जो विशेषाधिकार उसने प्राप्त कर लिये थे, वे अक्षुण्ण रहें।

(५) चीनी सरकार का यह प्रयत्न था, कि मंचूरिया पर उसका आधिपत्य अधिक-अधिक दृढ़ होता जाय। कुओमिन्तांग दल के राष्ट्रीय कार्यकर्ता वहां प्रचार-कार्य में लगे थे। चीन के देशभक्तों का यत्न था, कि मंचूरिया पूर्णतया चीन का एक अंग बन जाय। इस उद्देश्य की पूर्ति में अन्य भी अनेक बातें सहायक हो रही थीं :—(क) १९३० में मंचूरिया की कुल आबादी २,९०,००,००० थी। इसमें से २,६०,००० जापानी और ८,००,००० कोरियन थे। रूसी लोगों की संख्या भी १,००,००० थी। कुछ लोग मंचू या मंगोल जाति के भी थे। पर मंचूरिया की आबादी का बड़ा भाग चीनी लोगों का था। वहां बसे हुए चीनी लोगों की संख्या १९३० में २,००,००,००० के लगभग तक पहुँच गई थी। ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता था, चीनी लोग अधिकाधिक संख्या में वहां बसते जाते थे। दक्षिणी मंचूरिया रेलवे के निर्माण के कारण चीनी लोगों के लिए मंचूरिया में जाकर बस सकना और अधिक सुगम हो गया था। जापानी लोग इस प्रदेश में लोहे, कोयले आदि की जिन खानों का विकास कर रहे थे, उनमें चीनी मजदूर बड़ी संख्या में काम करते थे। रेलवे के विस्तार के कारण मंचूरिया के कृषिजन्य पदार्थों की मांग भी बहुत बढ़ गई थी। इस दशा में बहुत-से चीनी किसान वहां की उपजाऊ भूमि पर खेती करने के लिए भी पहुँच गए थे। इतनी बड़ी संख्या में चीनी लोगों के आबाद हो जाने के कारण मंचूरिया वास्तविक अर्थों में भी चीन का एक अंग बनता जा रहा था। (ख) चीनी सरकार इस बात के लिए भी प्रयत्नशील थी, कि दक्षिणी मंचूरिया में अपनी ओर से भी नई रेलवे लाइनों का निर्माण करे। जापान द्वारा अधिकृत दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे समुद्र तट पर दैरन के बन्दरगाह पर समाप्त हो जाती थी। दैरन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान के कब्जे में था, और वह उत्तर-पूर्वी चीन तथा मंचूरिया का सर्वप्रधान बन्दरगाह था। उत्तरी चीन, मंचूरिया और मंगोलिया के विदेशी व्यापार का वही सबसे बड़ा केन्द्र था। पर चीनी सरकार दैरन के मुकाबिले में हुलु-ताओ के बन्दरगाह को विकसित करने में तत्पर थी। वह दक्षिणी मंचूरिया और उसके समीपवर्ती प्रदेश में ऐसी रेलवे लाइनों को बना रही थी, जो हुलु-ताओ में जाकर समाप्त होती थीं। जापान चीन की इस योजना से बहुत चिन्तित था। वह समझता था, कि चीनी सरकार उसकी अपनी रेलवे लाइन और दैरन के बन्दरगाह को नष्ट करने के लिए प्रयत्नशील है। इससे मंचूरिया के क्षेत्र में चीन और जापान का विरोध निरन्तर बढ़ता जाता था।

(६) मञ्चूरिया में अन्य भी अनेक बातें चीन और जापान में विरोध उत्पन्न कर रही थीं। जापान ने मञ्चूरिया में अपनी ओर से एक शक्तिशाली सेना स्थापित की हुई थी, जिसे क्वांतुंग सेना कहते थे। क्वांतुंग का अर्थ है, सीमा के पूर्व में स्थित। दक्षिणी मञ्चूरिया का एक नाम क्वांतुंग भी था, क्योंकि यह प्रदेश चीन की विशाल दीवार के पूर्व में स्थित है। क्वांतुंग में विद्यमान जापानी सेना अपना यह कर्तव्य समझती थी, कि मंचूरिया में जापान को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनकी उत्साहपूर्वक रक्षा करे। वह न केवल लिआओ-तुंग और दक्षिणी मञ्चूरियन रेलवे पर ही अपना अधिकार समझती थी, अपितु मञ्चूरिया में जहां कहीं भी जापानी लोग व्यापार आदि के निमित्त से निवास करते थे, उनके हितों की रक्षा करना भी अपना स्वयंसिद्ध अधिकार मानती थी। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन की कुओमिन्तांग सरकार और क्वांतुंग सेना में बहुधा विरोध होता रहे। जापान की क्वांतुंग सेना उग्र साम्राज्यवादी थी। इसके बहुत-से आफिसर सर्वसाधारण जनता के साथ सम्बन्ध रखते थे। उन्हें मालूम था, कि १९२९-३१ के घोर आर्थिक संकट के कारण उनके परिवारों के लोगों को कैसे कष्टों का सामना करना पड़ रहा है। अपने बन्धुओं को आर्थिक कष्ट से बचाने का एकमात्र उपाय इन सैनिक आफिसरों को यही समझ पड़ता था, कि मञ्चूरिया में जापान के साम्राज्य का विस्तार किया जाय।

(७) जापान समझता था, कि मंचूरिया उसका प्रभावक्षेत्र है, और वहां उसे जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनकी रक्षा करना उसका कर्तव्य है। उसका यह भी विचार था, कि कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए इस प्रदेश पर अपना अधिकार कायम रखना आवश्यक है। इसके विपरीत चीन मंचूरिया को अपना अंग मानता था, और वहां विदेशी राज्यों के विशेषाधिकारों को अपने राष्ट्रीय गौरव के प्रतिकूल समझता था। इस दशा में वहां अनेक ऐसी घटनाएं होनी शुरू हुईं, जिन्होंने चीन और जापान के विद्वेष को बहुत बढ़ा दिया। हमने इसी प्रकरण में ऊपर लिखा है, कि मंचूरिया में ८,००,००० के लगभग कोरियन लोग भी आबाद थे। ये मुख्यतया कृषि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। क्योंकि कोरिया इस समय जापान के अधीन था, अतः कोरियन लोग जापान की प्रजा थे। मञ्चूरिया की उपजाऊ जमीन से आकृष्ट होकर बहुत-से कोरियन लोग इस समय वहां आकर आबाद हो रहे थे। चीनी सरकार समझती थी, कि कोरियन लोगों का मञ्चूरिया में आबाद होना उस प्रदेश पर जापान के प्रभुत्व में वृद्धि करना है। अतः उन्होंने अनेक ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके कारण कोरियन लोगों के लिए मंचूरिया में जमीन प्राप्त कर सकना कठिन हो गया। साथ ही, जो कोरियन लोग मंचूरिया में जमीनें प्राप्त कर चुके थे, उनके मार्ग में भी चीनी सरकार ने रुकावटें डालनी शुरू कीं। एक स्थान पर कोरियन लोग खेतों में सिंचाई के लिए नहरें और नालियां बनाने में तत्पर थे। चीनियों ने बल का प्रयोग कर वहां से कोरियन लोगों को बाहर निकाल दिया। इस पर जापान की पुलिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने अपनी कोरियन प्रजा की सहायता की। इस मामले ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया, कि कोरिया और जापान के समाचार-पत्रों ने चीन के खिलाफ आग उगलनी शुरू कर दी। कोरिया और जापान में अनेक स्थानों पर चीनी लोगों के खिलाफ दंगे हुए। इसी तरह चीन में भी इस घटना से जापान के विरुद्ध विद्वेषाग्नि बहुत प्रचण्ड हो गई।

जून, १९३१ में नाकामुरा नामक जापानी सैनिक आफिसर की मंचूरिया में हत्या हो गई। यह हत्या किन कारणों से हुई और इसके लिये चीनी सरकार किस हद्द तक दोषी थी, इस पर विचार करने की यहां आवश्यकता नहीं है। पर इस प्रकार की घटनाएं चीन और जापान के विद्वेष को और भी अधिक प्रचण्ड बना रही थीं। कहा जाता है, कि अगस्त, १९३१ में उन मामलों की संख्या ३०० के लगभग पहुंच गई थी, जिन पर मञ्चूरिया के क्षेत्र में चीन और जापान में झगड़ा था। इस कथन में चाहे अतिशयोक्ति भी क्यों न हो, पर यह निश्चित है कि इस समय मञ्चूरिया के प्रश्न पर चीन और जापान के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये थे। यह स्थिति आ गई थी कि मंचूरिया पर या तो जापान ही का कब्जा रह सकता था, और या चीन ही का। मञ्चूरिया-सम्बन्धी झगड़ों को शान्ति व समझौते से निबटा सकना सम्भव नहीं रह गया था। अब इनका निर्णय केवल युद्ध द्वारा ही हो सकता था, और इसके लिए १८ सितम्बर, १९३१ को एक उपयुक्त अवसर भी उपस्थित हो गया।

(३) मंचूकुओ की स्थापना

मंचूरिया के प्रश्न पर जो अग्नि चीन और जापान में धीरे-धीरे सुलग रही थी, सितम्बर, १९३१ में वह प्रचण्डता के साथ धधक उठी। १८ सितम्बर को दक्षिणी मंचूरियन रेलवे की लाइन पर एक बम्ब फेंका गया, जिससे रेलवे लाइन का कुछ भाग नष्ट हो गया। यह घटना बहुत साधारण थी, और इससे जापान की रेलवे को बहुत अधिक क्षति नहीं पहुंची थी। पर इसके परिणाम बहुत भयंकर हुए। जापान का कहना था, कि यह बम्ब चीनी सिपाहियों ने फेंका है। पर चीनी सरकार इस बात को स्वीकार नहीं करती थी। वास्तविक बात चाहे कुछ भी क्यों न हो, १८ सितम्बर, १९३१ की इस घटना से लाभ उठाकर जापान की क्वांतुंग सेना ने मंचूरिया की राजधानी मुकदन पर कब्जा कर लिया, और १९३१ का अन्त होने से पूर्व ही प्रायः सम्पूर्ण मंचूरिया पर अपने आधिपत्य को स्थापित कर लिया। मंचूरिया के सूबेदार चांग हसुएह-लिआंग के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह जापानी सेनाओं का मुकाबिला कर सके। कुछ ही समय में क्वांतुंग सेना ने मंचूरिया के सब प्रमुख नगरों पर कब्जा कर लिया। चीनी सेनाएं देहातों में कहीं-कहीं जापान की सेनाओं का मुकाबिला करती रहीं, पर उन्हें परास्त कर सकना जापान के लिए कठिन बात नहीं थी।

१८ फरवरी, १९३२ को मंचूरिया में एक पृथक् राज्य की स्थापना कर दी गई। इस नये राज्य का नाम मंचूकुओ रखा गया। मंचूरिया के तीनों पूर्वी प्रान्तों और जहोल (मंचूरिया की दक्षिणी सीमा पर स्थित अन्यतम प्रान्त) के प्रदेश को इस नये राज्य में शामिल किया गया। यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि जहोल पर जापान ने अपना आधिपत्य १९३३ में स्थापित किया था। फरवरी, १९३२ में मंचूकुओ के जिस पृथक् राज्य का निर्माण किया गया था, जहोल प्रान्त उसके अन्तर्गत नहीं था। क्योंकि बाद में जहोल को भी मंचूकुओ में शामिल कर दिया गया, इसीलिये उसका भी यहां उल्लेख कर दिया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मञ्चूकुओ के शासन के लिए चीन के पदच्युत सम्राट् को वहां का राजा बनाया गया। १९११ में चीन की राज्यक्रांति के समय मंचू वंश का यह सम्राट् नाबालिग था। इस समय तक यह बालिग हो चुका था, और चीन में स्थित जापानी दूतावास में जापानी सरकार की संरक्षा में निवास कर रहा था। जापान ने इसी सम्राट् पू यी को मंचूकुओ का राजा नियत किया। एक दृष्टि से यह उचित भी था। चीन के मंचू राजवंश के सम्राट् वस्तुतः मंचूरिया के ही रहने वाले थे, और वहीं से चीन पर आक्रमण करके उन्होंने उस देश को अपने अधीन कर लिया था। जापान का दावा था, कि मंचूरिया चीन का अंग नहीं है, अपितु उसका विजित प्रदेश है। मंचूकुओ को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करके उसकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना की जा रही है, यह जापानी लोगों का मन्तव्य था। ९ मार्च, १९३२ के दिन मंचूकुओ के लिये संविधान का निर्माण किया गया, जिसमें जनता के आधारभूत अधिकारों के प्रतिपादन के साथ-साथ राज्य के शासन, व्यवस्थापन और न्याय विभागों का विशद रूप से निर्धारण किया गया। शासन विभाग का प्रधान सम्राट् पू यी को बनाया गया।

१५ सितम्बर, १९३२ का जापान ने मंचूकुओ राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकृत कर लिया। पर चीन की सरकार मंचूकुओ की सत्ता को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थी। यद्यपि मंचूकुओ को फिर से अपने अधिकार में ले आने की शक्ति उसमें नहीं थी, पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि व समझौते द्वारा उसने इस राज्य की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया। क्रियात्मक दृष्टि से इस समय मंचूरिया चीन से पृथक् हो गया था। यद्यपि नाम को वह एक स्वतन्त्र राज्य था, पर वस्तुतः वह पूर्णतया जापान के प्रभाव व प्रभुत्व में था। जापान की क्वांतुंग सेना वहां पर विद्यमान थी, और मंचूकुओ राज्य की सत्ता इस जापानी सेना पर ही आश्रित थी। राज्य के विविध विभागों में जापानी लोगों को सलाहकार के रूप में नियत किया गया था, और मंचूकुओ की राजनीति का वास्तविक संचालन इन्हीं जापानी सलाहकारों के हाथों में था। मंचूकुओ की स्थापना के कारण रूस के सम्मुख भी एक विकट समस्या उत्पन्न हो गई थी, क्योंकि उत्तरी मंचूरिया में रूस को अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे। पर रूस की कम्युनिस्ट सरकार इस समय जापान के साथ युद्ध में उलझने की स्थिति में नहीं थी। मंचूकुओ के सम्बन्ध में रूस का क्या रुख था, इस पर हम आगे चल कर यथास्थान प्रकाश डालेंगे। पर इसमें सन्देह नहीं, कि १९३२ में सम्पूर्ण मंचूरिया मंचूकुओ राज्य के अन्तर्गत था, और इसकी स्वतन्त्र सरकार जापान के निरीक्षण और संरक्षण में अपने देश का शासन करने में लगी थी।

यद्यपि चीन की सरकार इतनी शक्तिशाली नहीं थी, कि मंचूकुओ में सैन्यबल से जापान का प्रतिरोध कर सके, पर उसने जापान के साम्राज्यवाद के प्रति अपना विरोध प्रगट करने के लिये अन्य उपायों का आश्रय लिया। चीन में जापानी माल के बहिष्कार का आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया। बहिष्कार का यह आन्दालन किस अंश तक सफल हो रहा था, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि जहां सितम्बर, १९३१ में १,२७,०६,००० येन का जापानी माल चीन में आया था, वहां दिसम्बर, १९३१ में इस माल की मात्रा घटकर केवल ४२,९९,००० येन की रह गई थी। चीन में सर्वत्र ऐसी समितियां कायम थीं, जो जनता को जापानी माल का बहिष्कार करने के लिए प्रेरित कर रही थीं। शंघाई इस आन्दोलन का प्रधान केन्द्र था, क्योंकि वह चीन के विदेशी व्यापार का प्रमुख बन्दरगाह था। जापानी लोग चीन के बहिष्कार आन्दालन से इतने अधिक उद्विग्न हुए, कि उन्होंने शंघाई के म्युनिसिपल अधिकारियों से यह माँग की, कि उन्हें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र में बहिष्कार का प्रचार करने वाली जो समितियां विद्यमान हैं, उन्हें भंग कर दिया जाय। जापान की शक्ति के सम्मुख शंघाई के राजपदाधिकारी सर्वथा असहाय थे। उन्होंने जापान की मांग को स्वीकृत कर लिया। पर जापान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हो गया। उसके जंगी जहाजों ने शंघाई पर आक्रमण कर दिया, और एक जापानी सेना ने शंघाई नगरी के एक भाग पर कब्जा भी कर लिया। इस लड़ाई में बहुत-से चीनी लोग मारे गये, और बहुत-सी सम्पत्ति का विनाश हुआ। शंघाई पर यह जापानी आक्रमण जनवरी, १९३२ में हुआ था। १ फरवरी, १९३२ को चीन की राजधानी नानकिंग पर भी जापानी सेना ने बम्ब वर्षा की। मई, १९३२ तक इसी ढंग से चीन और जापान में संघर्ष चलता रहा। इस समय इन दोनों देशों में बाकायदा युद्ध की घोषणा नहीं हुई थी, पर उनमें उसी ढंग की लड़ाई जारी थी, जैसे कि युद्ध के समय में होती है। १९३२ तक चीन में जापानी माल को बहिष्कृत करने का आन्दोलन बहुत कुछ शिथिल हो गया था, और उधर मंचूकुओ की सरकार की स्थापना भी व्यवस्थित रूप से हो गई थी।

(४) राष्ट्रसंघ और मञ्चूकुओ

१९१४-१८ के महायुद्ध की समाप्ति पर संसार में चिरशान्ति की स्थापना और राज्यों के पारस्परिक झगड़ों को शान्तिमय उपायों द्वारा निबटाने के उद्देश्य से राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। चीन और जापान दोनों ही राष्ट्रसंघ के सदस्य थे। जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता को स्वीकृत करते हुए यह बात भी मंजूर कर ली थी, कि वह अन्य किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करेगा, और अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को निबटाने के लिए सैन्यबल का प्रयोग नहीं करेगा। सितम्बर, १९३१ में जब जापान ने मंचूरिया की राजधानी मुकदन पर कब्जा किया, तो चीन ने उसके विरुद्ध राष्ट्रसंघ से अपील की। राष्ट्रसंघ की कौंसिल के अधिवेशन उस समय हो रहे थे। २१ सितम्बर को चीनी सरकार की अपील कौंसिल के सम्मुख पेश हुई। ३० सितम्बर को राष्ट्रसंघ की कौंसिल ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया, कि ज्यों ही परिस्थितयां अनुकूल हों, मुकदन से जापानी सेनाओं को हटा लिया जाय। ज्यों ही परिस्थितयां अनुकूल हों, ये शब्द प्रस्ताव में जान-बूझ कर इसलिये रखे गये थे, ताकि जापान भी इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर सके। जापान ने कौंसिल के प्रस्ताव को मान लिया, और वह सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। अक्टूबर, १९३१ में जब कौंसिल का फिर अधिवेशन हुआ, तो मञ्चूरिया की समस्या उसके सम्मुख पुनः उपस्थित की गई। अब तक जापान की सेनाएं मुकदन में मौजूद थी। जापान का कहना था, कि मंचूरिया में चीन का शासन अत्यन्त निर्बल और विकृत है, वहां डाकुओं की संख्या बहुत बढ़ गई है, और शासनसूत्र अत्यन्त शिथिल हो गया है। इस दशा में जापानी लोगों के जान व माल की रक्षा करने के लिये यह आवश्यक है, कि मुकदन में और अन्यत्र भी जापानी सेनाए कायम रहें। पर राष्ट्रसंघ की कौंसिल इस बात से सहमत नहीं थी। १० अक्टूबर को उसने एक अन्य प्रस्ताव स्वीकृत किया, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि क्वांतुंग सेना को केवल उस प्रदेश तक ही अपने को सीमित रखना चाहिये, जहां जापान की रेलवे लाइन विद्यमान है, मुकदन और अन्य प्रदेशों से यह सेना शीघ्र ही हटा ली जानी चाहियें। जापान ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया, यद्यपि राष्ट्रसंघ की कौंसिल में यह प्रस्ताव बहुमत द्वारा स्वीकृत हो गया था। नवम्बर, १९३१ में राष्ट्रसंघ की कौंसिल के सम्मुख मञ्चूरिया का मामला फिर पेश हुआ। इस बार भी जापान ने इस बात पर जोर दिया कि मञ्चूरिया में चीनी शासन की शिथिलता के कारण उसके लिये यह सम्भव नहीं है, कि वह अपनी सेनाओं को वहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से हटा सके। अन्त में १० दिसम्बर, १९३१ को कौंसिल ने यह निश्चय किया, कि मंचूरिया की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की जाय, जो वहां जाकर वस्तुस्थिति का अध्ययन करे और अपनी रिपोर्ट को कौंसिल के सम्मुख उपस्थित करे। इस समय जापानी सेनाओं ने चिन्चो के अतिरिक्त अन्य सम्पूर्ण मञ्चूरिया पर अपना कब्जा कर लिया था। जापान ने यह स्वीकार कर लिया, कि वह इस बीच में चिन्चो पर कब्जा करने का प्रयत्न नहीं करेगा। पर मंचूरियन कमीशन की रिपोर्ट तैयार होने से पूर्व ही ३ जनवरी, १९३२ को जापानी सेनाओं ने चिन्चो पर भी अपना कब्जा कर लिया। राष्ट्रसंघ के निर्णयों का जापान की दृष्टि में उतना महत्त्व नहीं था, जितना कि मंचूरिया में अपने साम्राज्य-सम्बन्धी हितों का था। इसीलिये वह राष्ट्रसंघ की उपेक्षा कर अपने साम्राज्य-विस्तार में तत्पर था।

मंचूरिया के मामले का अनुसन्धान करने के लिये जो कमीशन राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त हुआ था, उसके प्रधान लार्ड लिटन थे। ब्रिटेन के इस प्रतिनिधि के अतिरिक्त मंचूरियन कमीशन में फ्रांस, अमेरिका, इटली और जर्मनी के प्रतिनिधियों को स्थान दिया गया था। ४ सितम्बर, १९३२ को पेकिंग में इस कमीशन ने अपनी रिपोर्ट पर हस्ताक्षर कर दिये। इस कमीशन ने यह प्रस्ताव किया कि क्योंकि मंचूरिया में चीन, जापान और रूस तीनों के विशेष हित विद्यमान हैं, अतः इन तीनों के हितों और विशेषाधिकारों की रक्षा की समुचित व्यवस्था की जानी आवश्यक है। मंचूरिया में एक ऐसी सरकार कायम की जानी चाहिये, जो न केवल अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र हो, पर साथ ही जिसका संगठन इस ढंग का हो, जिससे कि चीन की राष्ट्रीय प्रभुता अखण्डित एवं अविभाजित रहे। मंचूरियन कमीशन एक इस प्रकार के मध्य मार्ग का अनुसरण करने के पक्ष में था, जिसके कारण न तो मंचूरिया चीन का अंगमात्र ही रह जाता था, और न ही वह एक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य बन पाता था। पर जापान लिटन कमीशन की रिपोर्ट को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं था। १५ सितम्बर, १९३२ को उसने मंचूकुओ राज्य की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता को स्वीकार कर लिया था। इस दशा में उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह किसी ऐसे प्रस्ताव को स्वीकार कर सके, जिससे कि मंचूकुओ की इस स्थिति में अन्तर आता हो। बहुत वाद-विवाद के बाद फरवरी, १९३३ में राष्ट्रसंघ ने लिटन कमीशन की रिपोर्ट को स्वीकृत कर लिया। उसने अपने सदस्य-राज्यों को आदेश दिया, कि वे मंचूकुओ राज्य की स्वतन्त्र एवं पृथक् सत्ता को स्वीकार न करें और उसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध भी स्थापित न करें। जापान से भी उसने यह अनुरोध किया, कि वह चीन से अपनी सेनाएं हटा ले और उसके खिलाफ अपनी सैन्य शक्ति का उपयोग न करे। चीन के साथ झगड़े की जो भी बातें हैं, उनका निबटारा करने के लिये जापान बातचीत व शान्तिमय उपायों का ही प्रयोग करे, शक्ति का नहीं। पर जापान किसी भी दशा में इस बात के लिये तैयार नहीं था, कि वह मंचूकुओ से अपने प्रभुत्व का परित्याग कर दे। मार्च, १९३३ में उसने राष्ट्रसंघ को यह सूचना दे दी, कि वह भविष्य में उसका सदस्य रहने को तैयार नहीं है। वह राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया, और चीन में अपने साम्राज्य का प्रसार करने के लिये तत्पर हुआ। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद पृथिवी के विविध देशों को एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की अधीनता में लाने का जो प्रयत्न राष्ट्रसंघ के निर्माण द्वारा किया गया था, उस पर यह भारी आघात था। राष्ट्रसंघ की शक्ति इससे बहुत निर्बल हो गई थी। बाद में जर्मनी और इटली भी साम्राज्यवाद के मार्ग को ग्रहण करके राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गये, और यह अन्तर्राष्ट्रीय संगठन अत्यन्त शिथिल हो गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) मंचूकुओ पर जापान का प्रभुत्व

जापान की क्वांतुंग सेना के प्रयत्न से मंचूरिया में जो नया पृथक् राज्य मंचूकुओ के नाम से स्थापित हुआ था, वह कहने को तो स्वतन्त्र था, पर वस्तुतः वह जापान का एक अधीनस्थ व संरक्षित राज्य था। १५ सितम्बर, १९३२ के दिन जब जापानी सरकार ने मंचूकुओ की स्वतन्त्र सत्ता को बाकायदा स्वीकार किया था, तभी इन दानों राज्यों की सरकारों ने एक ऐसे शर्तनामे पर हस्ताक्षर कर दिये थे, जिसमें उन सब विशेषाधिकारों का विशद रूप से उल्लेख किया गया था, जो कि जापान ने मंचूरिया में चीन के साथ की गई विविध सन्धियों द्वारा प्राप्त किये हुए थे। १९१५ की सन्धि द्वारा लिआओ-तुंग प्रायद्वीप और दक्षिणी मंचूरियन रेलवे को ९९ साल के पट्टे पर प्राप्त करने का भी इसमें स्पष्ट शब्दों में उल्लेख किया गया था। मंचूकुओ राज्य की सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली थी, कि इस शर्तनामे में जापान के जिन विशेषाधिकारों का परिगणन किया गया है, उनको वह बिना किसी ननु नच के मानेगी और उनको अक्षुण्ण रखेगी। चीन की कुओमिन्तांग सरकार से जापान के झगड़े की जड़ ये विशेषाधिकार ही थे, जिन्हें नष्ट करने के लिये मार्शल चियांग काई शेक की सरकार कटिबद्ध थी। पर अब मंचूकुओ के एक पृथक् राज्य बन जाने के कारण जापान के ये विशेषाधिकार पूर्ण रूप से सुरक्षित हो गये थे। इन विशेषाधिकारों के मंचूकुओ द्वारा स्वीकृत कर लेने के बदले में जापान की सरकार ने यह जिम्मा लिया था, कि वह नवस्थापित मंचूकुओ राज्य में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखेगी, और विदेशी आक्रमणों से उसकी रक्षा करेगी।

मंचूकुओ में अपने इन विशेषाधिकारों की रक्षा के लिये जापान के पास शक्ति की कमी नहीं थी। वह निम्नलिखित साधनों द्वारा इनकी रक्षा करने में समर्थ था—(१) लिआओ-तुंग का जो प्रदेश ९९ साल के पट्टे पर जापान के पास था, उसमें उसकी अपनी सरकार थी। इस प्रदेश में पुलिस, न्यायालय आदि सब जापान के अपने थे। (२) दक्षिणी मंचूरियन रेलवे के क्षेत्र में भी जापानी सैनिक पुलिस की सत्ता थी, और इस क्षेत्र के शासन-प्रबन्ध में भी उसका हाथ था। (३) क्वांतुंग सेना मंचूकुओ में विद्यमान थी, और १९३१ के बाद इस की संख्या और शक्ति दोनों में बहुत वृद्धि कर दी गई थी (४) दक्षिणी मंचूरियन रेलवे के क्षेत्र में जिन अनेकविध व्यवसायों का संचालन रेलवे कम्पनी द्वारा किया जाता था, उनका उल्लेख हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। इन व्यवसायों का संचालन जापानी लोगों द्वारा होने के कारण रेलवे के क्षेत्र में जापान का प्रभुत्व बहुत व्यापक था। (५) जापानी लोगों के लिये एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति को अब भी स्वीकृत किया जाता था, और इस पद्धति को क्रिया में परिणत करने के लिये मंचूकुओ में उपयुक्त साधन विद्यमान थे। जापानी सरकार द्वारा मंचूकुओ में सर्वत्र कान्सल नियुक्त किये गये थे, और जापानी लोग अपने को इन्हीं कान्सलों के शासन में मानते थे। (६) मंचूकुओ राज्य की नई राजधानी हिसर्नकिंग को बनाया गया था, और यहां जापान की ओर से एक राजदूत की नियुक्ति की गई थी। लिआओ-तुंग प्रायद्वीप का गवर्नर, क्वांतुंग सेना का सेनापति और राजदूत के पद एक ही व्यक्ति के हाथों में रहते थे। इन तीनों महत्त्वपूर्ण पदों के एक ही व्यक्ति के हाथों में रहने के कारण उसकी स्थिति इतनी शक्तिशाली हो जाती थी, कि वह मंचूकुओ राज्य को भलीभाँति अपने प्रभाव में रख सकता था। क्वांतुंग सेना के प्रधान सेनापति की हैसियत से मंचूकुओ में स्थित जापानी राजदूत वहां की सरकार को कठपुतली के समान नचा सकता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मंचूकुओ की सरकार पर जापान का कितना अधिक प्रभुत्व था, इसे इसी एक बात से समझा जा सकता है, कि उसकी सिविल सर्विस के उच्च कर्मचारियों में ६० फी सदी जापानी थे। मंचूकुओ की सिविल सर्विस के निम्न श्रेणी के कर्मचारियों में भी जापानियों की संख्या (१९३६ में) ५० प्रतिशत के लगभग थी। यह ठीक है, कि ये जापानी कर्मचारी मंचूकुओ की नौकरी में थे। ये उसी से वेतन प्राप्त करते थे, और उसी के आदेशों को क्रिया में परिणत करते थे। सरकार के विविध विभागों के प्रधान मंचूकुओ के ही लोग थे, अतः यह कहा जा सकता था, कि सरकारी नौकरी में जापानी लोगों की नियुक्ति का कारण शासन-सम्बन्धी उनकी विशेष योग्यता ही थी। पर साथ ही यह भी स्पष्ट है, कि सरकार के कर्मचारियों में इतने अधिक जापानियों की सत्ता क्रियात्मक दृष्टि से मंचूकुओ में जापान के प्रभुत्त्व को स्थापित करने में सहायता पहुंचाती थी, और ये जापानी कर्मचारी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए जापान के हितों को अपनी दृष्टि में रखते थे। मंचूकुओ राज्य में जो भी महत्त्वपूर्ण सरकारी पद थे, उन सब पर जापानी लोग नियुक्त थे। सेना, पुलिस आदि में तो जापानियों की प्रमुख स्थिति थी ही, साथ ही, शिल्प, व्यवसाय और न्याय आदि के विभागों में भी जापानी अफसरों का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान था। मंचूकुओ की आभ्यन्तर और बाह्य राजनीति के निर्धारण में जापानी लोगों का विशेष हाथ था।

मंचूकुओ के रूप में जिस पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई थी, उसके साथ जापान के अतिरिक्त अन्य राज्यों का भी सम्बन्ध था। इनके विषय में मंचूकुओ की सरकार ने मार्च, १९३२ में जिस नीति का निर्धारण किया था, उसके प्रधान तत्व निम्नलिखित थे—(१) विदेशी राज्यों के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया जायगा, वह न्याय और शान्ति के सिद्धान्तों पर आश्रित होगा। इन सम्बन्धों को स्थापित करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पूर्ण रूप से अनुसरण किया जायगा। (२) चीन की सरकार ने मंचूरिया में अन्य राज्यों के साथ जो विविध सन्धियां की हुई थीं उन्हें पूर्ण रूप से माना जायगा और उन सन्धियों के कारण चीनी सरकार ने अपने ऊपर जो जिम्मेवारियां ली थी मंचूकुओ की सरकार उन सब को स्वीकृत करेगी। (३) मंचूरिया में विदेशी राज्यों ने जो विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे, न केवल उन्हें माना ही जायगा, अपितु साथ ही मंचूकुओ की सरकार विदेशी राज्यों के नागरिकों के जीवन व माल की रक्षा के लिये भी पूरी तरह से जिम्मेदार होगी। (४) विदेशी लोगों को मंचूकुओ में आने और बसने की सुविधा दी जायगी, और सब राज्यों के लोगों के साथ एक समान व न्याययुक्त बरताव किया जायगा। (५) विदेशी राज्यों के साथ व्यापार को प्रोत्साहित किया जायगा। (६) जहाँ तक आर्थिक जीवन का सम्बन्ध है, विदेशी राज्यों के लोगों को मंचूकुओ में सब प्रकार की सुविधाएं दी जाएंगी।

इसमें सन्देह नहीं, कि यदि इस नीति का भलीभांति अनुसरण किया जाता, तो मंचूकुओ के सम्बन्ध में किसी भी विदेशी राज्य को शिकायत का अवसर न होता। पर वस्तुतः मंचूकुओ जापान का संरक्षित व वशवर्ती राज्य था। यह स्वाभाविक था, कि उसमें अन्य देशों के मुकाबिले में जापान को विशेष सुविधाएं प्राप्त हों। फरवरी, १९३५ में मंचूरियन पेट्रोलियम कम्पनी की स्थापना की गई। इसका उद्देश्य यह था, कि यह विदेशों से क्रूड आयल को मंगाए और उसे साफ करने की व्यवस्था करे। इस कम्पनी की पूंजी ५०,००,००० येन निश्चित की गई थी। इस पूंजी में से ३०,००,००० येन मंचूकुओ की सरकार और दक्षिणी मंचूरियन रेलवे कम्पनी ने लगाये, और शेष २०,००,००० येन जापान की चार विभिन्न आयल कम्पनियों ने। इस दशा में पेट्रोलियम के महत्त्वपूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवसाय को संचालित करने का अधिकार मुख्यतया जापानी लोगों को प्राप्त हो गया। क्योंकि इस कम्पनी का पेट्रोलियम के व्यवसाय पर एकाधिकार स्थापित किया गया था, अतः अन्य देशों को इससे शिकायत होना सर्वथा स्वाभाविक था, विशेषतया उस दशा में जबकि अनेक विदेशी कम्पनियां पहले से ही मंचूरिया में पेट्रोलियम के व्यवसाय में संलग्न थीं। अन्य देशों का कहना था, कि मंचूरियन पेट्रोलियम कम्पनी के निर्माण के कारण उन्हें पेट्रोल के कारोबार में पहले के समान सुविधा नहीं रह गई है, और यह बात उस नीति के विरुद्ध है, जिसका प्रतिपादन मंचूकुओ सरकार द्वारा किया गया था। पर मंचूकुओ और जापान की सरकारें इसका यह उत्तर देती थीं, कि जिन देशों ने मंचूकुओ की पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता तक को भी स्वीकृत नहीं किया हैं, उन्हें उससे आर्थिक सुविधाएं प्राप्त करने की आशा रखने का कोई अधिकार नहीं है। इस युक्ति को सर्वथा गलत भी नहीं कहा जा सकता। मंचूकुओ की एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता एक यथार्थ बात थी। इसी कारण धीरे-धीरे अन्य देश भी उसकी यथार्थ (द फैक्टो) सत्ता को स्वीकृत करने के लिए विवश होते जाते थे। रूस के राज-प्रतिनिधि अब हि्सनकिंग (मंचूकुओ की राजधानी) में रहने लगे थे, और मंचूकुओ का राजप्रतिनिधि भी साइबीरियन रिपब्लिक (रूसी सोवियत संघ के अन्तर्गत) में नियुक्त कर दिया गया था। अमेरिका के जो कान्सल मंचूरिया में १९३१ से पहले नियुक्त थे, उन्हें भी वहाँ से वापस नहीं बुलाया गया था। चीन, रूस अमेरिका आदि जिन राज्यों का पूर्वी एशिया के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, वे मंचूकुओ की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। इसीलिए यद्यपि उन्होंने इस नये राज्य की वधानिक सत्ता को स्वीकार नहीं किया था, तथापि वे इसकी यथार्थ सत्ता को स्वीकृत करने के लिये विवश थे।

धीरे-धीरे कतिपय देशों ने मंचूकुओ की वैधानिक सत्ता को भी स्वीकृत करना प्रारम्भ कर दिया था। सबसे पूर्व मई, १९३४ में व्यापारिक आवश्यकताओं से विवश होकर अल-साल्वदोर रिपब्लिक ने मंचूकुओ की पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को वैधानिक रूप से स्वीकृत कर लिया था। इसके बाद कई अन्य राज्यों ने भी उसका अनुसरण किया।

मंचूकुओ पर जापान का प्रभाव व प्रभुत्व स्पष्ट रूप से विद्यमान था। इस दशा में यह समस्या अवश्यभावी थी, कि उत्तरी मंचूरिया में रूस को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उनके सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय। उत्तरी मंचूरिया की पूर्वी चाइनीज रेलवे रूस के प्रभुत्व में थी, और उसके निर्माण के लिए रूस ने बहुत अधिक धन व्यय किया था। इस रेलवे लाइन के क्षेत्र में रूस को अनेक राजनीतिक विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। पर १९३२ तक सम्पूर्ण मंचूरिया मंचूकुओ राज्य की सरकार के अधिकार में आ चुका था। क्योंकि इस राज्य पर जापान का प्रभुत्व था, अतः रूस अपने विशेषाधिकारों की रक्षा तभी कर सकता था, जबकि वह जापान के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये तैयार हो। पर इस युग में रूस किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष में उलझने की स्थिति में नहीं था। वह विविध योजनाओं द्वारा अपने सैनिक व आर्थिक उत्कर्ष के लिये प्रयत्न कर रहा था, और सब देशों के साथ मैत्री और सुलह की नीति का अनुसरण करना चाहता था। इस दशा में रूसी सरकार ने यही उचित समझा, कि पूर्वी चाइनीज रेलवे का विक्रय करके मंचूरिया से अपने विशेषाधिकारों का अन्त कर दे। १९३४ में इस मामले का फैसला कर लिया गया। जिन शर्तों पर रूस ने पूर्वी मंचूरियन रेलवे को मंचूकुओ की सरकार को बेच देना मंजूर किया, वे निम्नलिखित थीं—(१) मंचूकुओ सरकार १४,००,००,००० येन इस रेलवे की कीमत के रूप में रूस को प्रदान करे। (२) जिन रूसी रेलवे कर्मचारियों को पूर्वी मंचूरियन रेलवे की नौकरी से पृथक् किया जायगा, उन्हें ३,५०,००,००० येन हर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्जाने के रूप में प्रदान किया जाय। मंचूकुओ सरकार इन रकमों को ठीक समय पर अदा कर देगी, जापान इस बात की गारन्टी दे। १७,५०,००,००० येन की भारी रकम को अदा कर सकने का मंचूकुओ सरकार के सम्मुख केवल यही उपाय था, कि वह पूर्वी चाइनीज रेलवे को जमानत के तौर पर रख कर यह रकम जापान से कर्ज ले। उसने इसी उपाय का अवलम्बन किया, और उत्तरी मंचूरिया की यह रेलवे लाइन रूस के बजाय जापान के हाथों में आ गई। चीन की सरकार इस सौदे के खिलाफ थी, उसने इसका विरोध भी किया। पर उसका विरोध सर्वथा निरर्थक था। २३ मार्च, १९३५ को पूर्वी चाइनीज रेलवे रूस के बजाय जापान के अधिकार में आ गई। अब मंचूकुओ राज्य के किसी भी प्रदेश पर रूस का कोई विशेषाधिकार नहीं रहा।

मंचूकुओ के पृथक् राज्य के स्थापित हो जाने पर जापान ने उसमें किस प्रकार अपने प्रभुत्व को स्थापित करना शुरू किया, इस सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों का उल्लेख भी आवश्यक है—

(१) जापान के पूँजीपतियों ने बहुत बड़ी मात्रा में मंचूकुओ के विविध व्यवसायों में पूँजी लगानी प्रारम्भ की। १९३२ में जो जापानी पूँजी इस राज्य में लगी हुई थी, उसकी मात्रा केवल ९,७२,००,००० येन थी। इसके बाद मंचूकुओ में जापानी पूँजी निरन्तर बढ़ती गई। १९३८ तक वहाँ ४३,१०,००,००० येन नई पूँजी लगायी गई। यह पूँजी प्रधानतया रेलवे लाइनों और लोहे तथा कोयले के व्यवसायों में लगायी गई थी। १९३१ से पहले मंचूरिया कृषि-प्रधान देश था, उसमें व्यवसायों का विकास अधिक नहीं हुआ था। पर १९३२ से वहाँ व्यवसायों का बड़ी शीघ्रता से विकास शुरू हुआ।

(२) जापान और मंचूकुओ में पारस्परिक व्यापार पहले भी विद्यमान था। पर १९३२ तक जापान मंचूरिया में जितना तैयार माल बिक्री के लिये भेजता था, उससे कहीं अधिक कच्चा माल उससे क्रय करता था। यही कारण है, कि १९३२ में मंचूरिया से जापान को निर्यात होने वाले माल की मात्रा वहाँ से आयात होने वाले माल की अपेक्षा २,६०,००,००० येन अधिक थी। पर मंचूरिया से चीनी शासन का अन्त कर वहाँ अपनी संरक्षा में मंचूकुओ राज्य की स्थापना में जापान का प्रधान उद्देश्य आर्थिक था। वह इस प्रदेश पर अपना राजनीतिक प्रभाव स्थापित करके उससे अपनी आर्थिक समस्या को हल करना चाहता था। इस उद्देश्य में जापान को सफलता हुई। १९३८ में जापान से मंचूकुओ जाने वाले माल की मात्रा वहाँ से आने वाले माल की अपेक्षा २७,००,००० येन अधिक हो गई।

(३) जापान ने यह भी यत्न किया, कि अपनी निरन्तर बढ़ती हुई आबादी के एक भाग को मंचूकुओ में आबाद करे। १९३१ में मंचूरिया में जितने जापानी लोग आबाद थे, १९३७ में उसकी अपेक्षा दुगुने के लगभग जापानी इस देश में बस गये थे। १९३५ की जनगणना के अनुसार मंचूकुओ में बसे हुए जापानियों की संख्या ५,०१,१५१ थी। जापानी लोगों के अतिरिक्त कोरिया और फार्मूसा के भी बहुत-से लोग अब इस राज्य में आकर आबाद होने लगे। कोरिया और फार्मूसा इस समय जापान के अधीन थे। अतः स्वाभाविक रूप से मंचूकुओ में वहाँ के लोगों को बसने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दी जाती थीं। जापानी सरकार ने बाकायदा एक ऐसी योजना का निर्माण किया था, जिसके अनुसार मञ्चूकुओ के विविध प्रदेशों में जापानी लोगों को आबाद किया जाता था। १९३६ के अन्त तक मञ्चूकुओ में पांच जापानी बस्तियां बसायी जा चुकी थीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनके निवासियों की संख्या ४,२४५ थी। इन बस्तियों में बसे हुए जापानी कृषि द्वारा अपना निर्वाह करते थे। १९३६ में मञ्चूकुओ में जापानी बस्तियों का श्रीगणेश मात्र किया गया था। जापानी सरकार की योजना यह थी, कि अगले बीस सालों में १०,००,००० जापानी परिवारों का मञ्चूकुओ के विविध क्षेत्रों में बसा दिया जाय, ताकि जापान की बढ़ती हुई आबादी के कुछ अंश को इस संरक्षित राज्य में आबाद किया जा सके। यदि जापान १९४० में महायुद्ध के चक्कर में न फंस जाता, तो निःसन्देह उसकी यह योजना अविकल रूप से सफल हो सकती।

जापानी सरकार यह भी अनुभव करती थी, कि मञ्चूकुओ को जापानी लोगों के आबाद होने के लिए उसी दशा में उपयुक्त बनाया जा सकता है, जबकि वहां चीनी लोगों के प्रविष्ट होने में रुकावटें उपस्थित की जाएं। यह स्पष्ट है, कि यदि चीनी लोग भी मंचूकुओ में निर्बाध रूप से आबाद होते रहते, तो इस राज्य में जापानी लोगों की स्थिति सुरक्षित नहीं समझी जा सकती थी, क्योंकि चीन की सरकार मञ्चूरिया को अपने देश का अंग मानती थी और चीनी लोगों में जापान के प्रति विरोध की भावना बहुत प्रबल थी। अतः १९३५ में मंचूकुओ की सरकार ने अनेक इस प्रकार के कानून बनाए, जिनके कारण चीनी लोगों के लिए यह तो सम्भव रहा, कि वे सामयिक रूप से मजदूरी आदि के लिए मंचूकुओ में आ-जा सकें, पर उनके लिए इस देश में स्थायी रूप से आबाद हो सकना सम्भव नहीं रह गया।

पर मञ्चूकुओ में चीनी लोगों की कमी नहीं थी। उसकी आबादी में चीनी लोगों की बहुसंख्या थी। इसलिए मञ्चूकुओ की सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि इस नये राज्य के सब निवासियों को सम्राट् के प्रति अनुरक्त करके उनमें राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न किया जाय। मञ्चूकुओ के लोगों में यह प्रचार किया गया, कि सम्राट् के प्रति भक्ति रखना और सरकारी आज्ञाओं का पालन करना उनका परम कर्तव्य है। यह विचार जापान की अपनी परम्परा के अनुकूल था। जापान में सम्राट् को दैवी माना जाता था, और जनता उसके प्रति असाधारण श्रद्धा रखती थी। मञ्चूकुओ में भी यह प्रयत्न किया गया, कि वहाँ निवास करने वाले विविध जातियों के लोग सम्राट् को अपना अधीश्वर समझें। चीनी लोगों के लिए भी यह नई बात नहीं थीं। १९११ तक वे मञ्चू सम्राट् को अपना स्वामी मानते रहे थे। अतः उनके लिए यह कठिन नहीं था, कि अब वे मंचू वंश के सम्राट् को अपना अधिपति मानने लगें, और उसकी आज्ञापालक प्रजा बन कर रहें।

(६) मंचूकुओ राज्य की प्रगति

मंचूकुओ राज्य के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या देश में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करने के सम्बन्ध में थी। जिस समय मञ्चूरिया चीन के अधीन था, वहाँ व्यवस्थित शासन का अभाव था। इस कारण वहाँ डाकुओं का बहुत जोर था। डाकुओं के दल के दल देश में सर्वत्र लूटमार करते फिरते थे। किसानों और गरीब लोगों की इतनी आमदनी नहीं थी, कि वे शान्ति के साथ अपना जीवन बिता सकें। अतः सर्वसाधारण किसान लोग भी मौका मिलने पर डकैती से बाज नहीं आते थे। विशेषतया, जब फसल खराब हो जाती थी या बाढ़ आदि के कारण फसल नष्ट हो जाती थी, तो भूख से पीड़ित लोग डाकाजनी पर उतर आते थे और देहातों में अव्यवस्था उत्पन्न कर देते थे। जब मंचूरिया चीन से पृथक् हो गया और जापान की संरक्षता में वहां नई सरकार की स्थापना हुई, तो अव्यवस्था और डाकाजनी की यह प्रवृत्ति और भी अधिक बढ़ गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत-से चीनी लोग जो नई सरकार से असंतुष्ट थे, गुरीला पद्धति का अनुसरण कर लूट-मार पर उतर आए और देश में अव्यवस्था मचाने लगे। चांग ह्सूएह लियांग की सेना इस समय भंग कर दी गई थी। उसके बहुत-से सिपाही भी अब बेकार हो गए थे। ये सिपाही सैनिक दृष्टि से सुशिक्षित थे, और अस्त्र-शस्त्र भी इनके पास मौजूद थे। ये उन देशभक्तों के साथ मिल गये, जो मंचूकुओ सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे। मंचूकुओ में प्रधानतया सोयाबीन की खेती होती थी, और वहाँ की सोयाबीन न केवल जापान में अपितु चीन और यूरोप में भी बिका करती थी। पर इस समय विदेशों में मंचूकुओ की सोयाबीन की माँग बहुत कम रह गई थी। चीन मंचूकुओ के साथ व्यापारिक सम्बन्ध नहीं रखना चाहता था। विश्वव्यापी अर्थसंकट के कारण जर्मनी आदि यूरोपियन देश भी इस समय इस स्थिति में नहीं थे, कि वे मंचूकुओ से सोयाबीन को अधिक परिमाण में खरीद सकें। इस दशा का यह परिणाम हुआ, कि मंचूकुओ में सोयाबीन की पैदावार में कमी होने लगी। १९३० में वहाँ ५३,००,००० टन सोयाबीन उत्पन्न हुई थी। १९३४ में उसकी मात्रा घटकर ३३,५०,००० टन रह गई थी। मंचूकुओ के किसानों पर इस दशा का क्या प्रभाव पड़ा होगा, इसकी कल्पना सहज में की जा सकती है। बहुत-सी जमीन परती पड़ गई थी, और बहुत-से किसान बेकार हो गए थे। इस दशा में यदि मंचू-कुओ में डाकाजनी की प्रवृत्ति में और अधिक वृद्धि हो गई हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मंचूकुओ की सरकार ने डकैती और अव्यवस्था की प्रवृत्ति को नष्ट करने के लिए बहुत सख्त उपायों का प्रयोग किया। देहातों के लिए यह योजना बनायी गई, कि गांवों के चारों ओर मिट्टी की ऊँची-ऊँची दीवारें बना दी जाएं, ताकि डाकू लोग गांवों पर आक्रमण न कर सकें। १९३३ तक २००० से भी अधिक गांवों के चारों ओर दीवारें बनाकर उन्हें छोटे-छोटे दुर्गों के रूप में परिवर्तित कर दिया गया था। इस प्रकार सरकार ६०,००,००० के लगभग मनुष्यों की डाकुओं से रक्षा करने में समर्थ हुई। साथ ही, डाकुओं और देशभक्त गुरीला सैनिकों का दमन करने के लिए क्वाँतुंग सेना में बहुत अधिक वृद्धि की गई। इस जापानी सेना के दस्ते मंचूकुआ में सर्वत्र नियुक्त कर दिये गए थे। शहरों और देहातों में सब स्थानों पर क्वांतुंग सेना की छावनियां डाल दी गई थीं, और इसमें सन्देह नहीं कि सैन्यशक्ति का प्रयोग कर जापान की सरकार और उसकी संरक्षित मंचूकुओ सरकार देश में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना में बहुत अंश तक समर्थ हुई थी। पर इस सम्बन्ध में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि मंचूरिया में निवास करने वाले बहुत-से चीनी लोग देशभक्त गुरीला सैनिकों के साथ सहानुभूति रखते थे, और बहुधा वे उनकी सहायता के लिए भी तत्पर रहते थे। १९३६ के बाद संसार के प्रायः सभी देशों में कीमतें फिर ऊँची उठनी शुरू हो गईं। मन्दी का युग समाप्त होकर एक बार फिर तेजी का दौर शुरू हुआ। मंचूकुओ भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं रहा। उसकी सोयाबीन और अन्य कृषिजन्य पदार्थों की संसार के बाजारों में मांग बढ़ने लगी, और आर्थिक संकट के दूर हो जाने पर वहाँ शान्ति और व्यवस्था के स्थापित होने में बहुत सहायता मिली। १९३६ में अनेक राज्यों ने मञ्चूकुओ के साथ व्यापार को फिर से प्रारम्भ कर दिया। इस दशा में वहां डाकाजनी और अव्यवस्था में भी बहुत कमी आ गई।

मञ्चूकुओ की सरकारने देश की उन्नति के लिये जिन विभिन्न उपायोंका अवलम्बन किया, उनमें से कतिपय का यहां उल्लेख करना आवश्यक है। उसने देश की मुद्रापद्धति का पुनः संगठन किया। इससे पूर्व मञ्चूकुओ में अनेक प्रकार के सिक्के प्रचलित थे। अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युआन नामक नये सिक्के को वहां जारी किया गया, जिसका मूल्य जापान के येन के आधार पर निश्चित किया गया। युआन और येन के मूल्य को एक दूसरे के साथ सम्बद्ध कर दिया गया। जिस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत विविध देशों के सिक्कों की कीमतें ब्रिटिश पौंड के साथ सम्बद्ध थीं, वैसे ही मञ्चूकुओ के युआन को जापान के येन के साथ सम्बद्ध कर दिया गया।

इस समय मञ्चूकुओ में अनेक नई रेलवे लाइनों का भी निर्माण किया गया। १९३२ से १९३६ तक के चार साल के अरसे में मञ्चूकुओ की रेलवे लाइनों में ४० प्रतिशत वृद्धि हुई। आर्थिक दृष्टि से जहां ये नई रेलवे लाइनें अत्यन्त उपयोगी थीं, वहां साथ ही इनका सैनिक महत्व भी कम नहीं था। मञ्चूकुओ सरकार भली-भांति समझती थी, कि भविष्य में रूस और चीन के साथ उसका संघर्ष अवश्यम्भावी है। अतः इन रेलवे लाइनों का निर्माण इस ढंग से किया गया था, जिससे कि युद्ध के समय में भी इनसे लाभ उठाया जा सके। क्योंकि इन लाइनों का निर्माण जापानी पूंजी द्वारा किया गया था, अतः इनका प्रबन्ध दक्षिणी मंचूरियन रेलवे कम्पनी के सुपुर्द कर दिया गया था, जो कि एक जापानी कम्पनी थी। जिस पूर्वी चाइनीज रेलवे लाइन को, रूस से १४,००,००,००० येन में क्रय किया गया था, उसका प्रबन्ध भी अब दक्षिणी मंचूरियन रेलवे कम्पनी के हाथों में दे दिया गया। इस प्रकार यह विशाल जापानी रेलवे कम्पनी मंचूकुओ की सब रेलवे लाइनों का प्रबन्ध करने लगी। मंचूकुओ की सरकार ने देश में सड़कों के निर्माण पर भी बहुत ध्यान दिया। देश के सुशासन और वहां डकैती का दमन करने के लिये इन सड़कों का बहुत उपयोग था। हवाई जहाजों की उन्नति के लिए भी मञ्चूकुओ की सरकार ने प्रयत्न किया, और मञ्चूरियन एविएशन कम्पनी नाम से एक नई कम्पनी की स्थापना की गई, जिसकी ओर से देश के प्रायः सभी मुख्य नगरों में हवाई जहाजों की सर्विस चलायी गई। इसी प्रकार टैलीफोन और टैलीग्राफ के विस्तार के लिये भी सरकार द्वारा अनेक नई व्यवस्थाएं की गईं। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि चीन से पृथक् होकर और जापान जैसे उन्नत देश की संरक्षा में आकर मञ्चूकुओ की सरकार ने देश की आर्थिक उन्नति के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

पर इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि मञ्चूकुओ की सरकार देश की उन्नति की अपेक्षा सैन्यशक्ति को अधिक महत्व देती थी। सरकारी आमदनी का ४० प्रतिशत भाग सेना पर व्यय किया जाता था। इसके मुकाबिले में शिक्षा पर खर्च की मात्रा कुल सरकारी खर्च का केवल २.२ प्रतिशत थी। मञ्चूकुओ में उच्च शिक्षा की संस्थाओं की बहुत कमी थी। सरकार ने प्रारम्भिक शिक्षा के लिये बहुत-से नये शिक्षणालय अवश्य खोले थे, पर उसने उच्च शिक्षा की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया था। मञ्चूकुओ के जिन विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करनी होती थी, वे जापान के विश्वविद्यालयों में जाकर भरती हुआ करते थे। इससे उनमें जापान की सभ्यता और संस्कृति में प्रति अनुराग उत्पन्न होने में सहायता मिलती थी, और वे जापानी रंग में रंग जाते थे। जापानी सरकार को यह बात अभीष्ट भी थी, क्योंकि मञ्चूकुओ के शिक्षित वर्ग को अपने प्रभाव में रखकर ही जापान इस राज्य पर अपना प्रभुत्व कायम रख सकता था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीसवां अध्याय

चीन में जापान के आधिपत्य का विस्तार

(१) मंगोलिया और जापान

यद्यपि जापान मञ्चूरिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था, पर उसकी साम्राज्य-प्रसार की भूख इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करके ही संतुष्ट नहीं हो गई थी। उसने प्रयत्न किया, कि उत्तर-पूर्वी चीन और मंगोलिया में भी अपने प्रभुत्व का प्रसार किया जाय। वस्तुतः, जापान सम्पूर्ण चीन को अपने प्रभाव तथा प्रभुत्व में ले आना चाहता था। वह भली-भाँति अनुभव करता था, कि चीन में जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना का विकास हो रहा है, और कुओमिन्तांग दल जिस ढंग से वहां एक सुव्यवस्थित और सुदृढ़ शासन स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है, उसका यह परिणाम अवश्यम्भावी है कि वह मंचूरिया को भी फिर से अपने अधीन करने का प्रयत्न करे। नवस्थापित मंचूकुओ राज्य की दक्षिणी सीमा चीन के साथ लगती थी, अतः स्वाभाविक रूप से जापान यह समझता था, कि मञ्चूकुओ राज्य पर अपने आधिपत्य को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है, कि मंगोलिया और उत्तरी चीन को भी अपने प्रभाव में लाया जाय। इसीलिए १९३७ में चीन और जापान का बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। १९३२ और १९३७ के बीच में भी जापान चीन में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था। पर इस काल में चीन और जापान में युद्ध की घोषणा नहीं हुई थी। उनके राजदूत और अन्य राजप्रतिनिधि भी एक दूसरे के राज्य में विद्यमान थे। पर जापान धीरे-धीरे चीन को अपने प्रभुत्व में ले आने में तत्पर था। १९३२ से १९३७ तक चीन के जिन प्रदेशों में जापान ने अपने प्रभुत्व का विस्तार किया, वे आभ्यन्तर मंगोलिया और उत्तरी चीन के होपेई, शान्सी और शांतुंग प्रान्त थे। इन प्रदेशों में चीन ने किस प्रकार अपने प्रभुत्व को स्थापित किया, इसी विषय पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

जहोल की विजय—१९३३ के प्रारम्भ में जापान की क्वांतुंग सेना ने शानहैकवान पर आक्रमण किया। इस आक्रमण का उद्देश्य जहोल प्रान्त को अपने आधिपत्य में लाने का उपक्रम करना था। मंचूरिया के भूतपूर्व सिपहसालार चांग-ह्सुएह लियांग ने घोषणा की, कि जब तक उसकी सेना का एक भी सैनिक जीवित है, शानहैकवान पर जापानी सेना का कब्जा नहीं होने दिया जायगा। पर चीन की सेनाओं के लिए यह संभव नहीं था, कि वे क्वांतुंग सेना के सम्मुख ठहर सकतीं। वे परास्त हो गईं, और शानहैकवान को जीतकर जापान की सेना ने जहोल पर आक्रमण कर दिया। ३ मार्च, १९३३ को जहोल की राजधानी चेंगतेह पर जापान का कब्जा हो गया। जहोल के प्रदेश को मंचूकुओ राज्य में सम्मिलित कर दिया गया, और मंचूरिया के समान उसपर भी जापान का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

मंगोलिया में हस्तक्षेप—मंगोलिया किस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर—दो भागों में विभक्त था, इस पर हम पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। बाह्य मंगोलिया में मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक के नाम से एक समाजवादी राज्य की स्थापना हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुकी थी, जो रूस के प्रभाव में था। पर आभ्यन्तर मंगोलिया चीन के अन्तर्गत था, यद्यपि क्रियात्मक दृष्टि से वहां अनेक मंगोल सरदार स्वतन्त्र रूप से शासन करते थे। पर चीनी लोग इन प्रदेशों में तेजी के साथ आबाद हो रहे थे, और वे मंगोलिया की कृषियोग्य भूमि को अपने कब्जे में लाते जाते थे। मंगोल लोगों का मुख्य पेशा पशुपालन था, और खेती की ओर उनका विशेष ध्यान नहीं था। पर मंगोलिया में बसने वाले चीनी लोग प्रधानतया किसान थे, और वे धीरे-धीरे मंगोल लोगों की जमीनों पर अपना अधिकार स्थापित करते जाते थे। कुओमिन्तांग दल की अनेक शाखाएं आभ्यन्तर मंगोलिया की विविध बस्तियों में कायम थीं, और यह राष्ट्रवादी चीनी पार्टी मंगोलियन लोगों को चीनी सभ्यता और संस्कृति के रंग में रंग देने में तत्पर थी।

यह स्थिति थी, जब कि जापानी लोगों ने आभ्यन्तर मंगोलिया में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ किया। जहोल प्रदेश की बहुसंख्यक आबादी मंगोल जाति की थी। वस्तुतः, वह भी मंगोलिया का एक अंग था। जहोल के मंचूकुओ राज्य के अन्तर्गत हो जाने के कारण जापान के वशवर्ती इस राज्य में मंगोल लोगों की संख्या बहुत पर्याप्त हो गई थी। जहोल में निवास करने वाले मंगोलों की संख्या २०,००,००० के लगभग थी। मंगोलों की इतनी आबादी आभ्यन्तर मंगोलिया में भी नहीं थी, यद्यपि इस प्रदेश का क्षेत्रफल जहोल की अपेक्षा कई गुना था। जापानियों ने जहोल को मंचूकुओ का एक पृथक् प्रान्त बना दिया, और इस प्रान्त को आन्तरिक स्वशासन में स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। यह स्वाभाविक था, कि जहोल में बसने वाले मंगोल लोगों को प्रान्तीय स्वतन्त्रता पाकर हार्दिक प्रसन्नता हो। ऐसी स्वतन्त्रता इन्हें चीनी शासन में भी प्राप्त नहीं थी। जापानी लोग समझते थे, कि जहोल में बसने वाले अपने बन्धुओं को प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त करते देखकर आभ्यन्तर मंगोलिया के मंगोल निवासियों में भी यह प्रवृत्ति उत्पन्न होगी, कि वे चीन की अधीनता से मुक्त होकर जापान के प्रभाव में आने की बात का स्वागत करें। पर आभ्यन्तर मंगोलिया के विविध सरदारों ने शक्तिशाली एवं साम्राज्यवादी जापान की प्रभुता में आने की अपेक्षा चीन की निर्बल सरकार के अधीन रहना अधिक हितकर समझा। इस समय चीन की कुओमिन्तांग सरकार ने भी मंगोल लोगों के सम्बन्ध में जापान की नीति का अनुसरण किया। आभ्यन्तर मंगोलिया को प्रान्तीय स्वतन्त्रता दे दी गई, और विविध मंगोल सरदारों ने इससे सन्तोष अनुभव किया। १९३४ में मंगोल लोग तीन पृथक् राज्यों में विभक्त थे—बाह्य मंगोलिया की रिपब्लिक, जो रूस के प्रभाव में थी। (२) आभ्यन्तर मंगोलिया, जो चीन के अधीन था और जिसे प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त थी। (३) हिसान्गान, यह जहोल प्रान्त का नया नाम था, जो अब मंचूकुओ के अन्तर्गत हो चुका था, और जिसे वहां की सरकार द्वारा प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई थी।

पर जापानी लोग आभ्यन्तर मंगोलिया पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उत्सुक थे। जब उन्होंने देखा, कि विविध मंगोल सरदार चीन की अधीनता में प्रान्तीय स्वतन्त्रता प्राप्त करके सन्तुष्ट हैं, तो उन्होंने शक्ति के प्रयोग का निश्चय किया। मंचूकुओ और मंगोलिया की सीमाएँ एक-दूसरे के साथ लगती थीं। इस सीमा के संबंध में झगड़ों का उत्पन्न होते रहना कोई कठिन बात नहीं थी। हम पहले लिख चुके हैं, कि आभ्यन्तर मंगोलिया के तीन प्रान्त थे, चहर, सुइयुआन और निन्सिआ। इनमें से चहर का प्रान्त मंचूकुओ की पश्चिमी सीमा पर स्थित था। १९३५ के शुरू में सीमा-सम्बन्धी झगड़े से लाभ उठाकर जापान की क्वांतुंग सेना ने चहर प्रान्त के एक प्रदेश पर कब्जा कर लिया। जून, १९३५ में एक अन्य सीमा-सम्बन्धी झगड़े को निमित्त बनाकर क्वांतुंग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना ने चीनी सरकार को निम्नलिखित बातों को मानने के लिए विवश किया—(१) चहर प्रान्त में कुओमिन्तांग दल की जो शाखाएँ विद्यमान हैं, उन्हें भंग कर दिया जाय। (२) भविष्य में चीनी लोग चहर प्रान्त के पूर्वी प्रदेशों में न बस सकें। (३) पूर्वी चहर से चीनी सेनाओं को हटा लिया जाय। इन शर्तों को मान लेने का यह परिणाम हुआ, कि चहर प्रान्त पर से चीन का प्रभुत्व प्रायः समाप्त हो गया। इसी समय चहर में क्वांतुंग सेना की एक छावनी भी स्थापित कर दी गई, और यह प्रान्त भली-भाँति जापान के प्रभाव में आ गया।

जापानी सरकार केवल चहर प्रान्त को ही अपने प्रभाव तथा प्रभुत्व में लाकर सन्तुष्ट नहीं हो गई। उसने आभ्यन्तर मंगोलिया के सरदारों की कौंसिल के सम्मुख यह मांग भी पेश की, कि अपने प्रदेशों में जापान को हवाई अड्डों का निर्माण करने और एक वायरलेस स्टेशन स्थापित करने की अनुमति प्रदान करें। इसके अतिरिक्त आभ्यन्तर मंगोलिया की सरकार से जापान ने यह भी मांग की, कि वह अपने प्रदेशों में सेना और शासन के सम्बन्ध में परामर्श देने के लिए जापानी सलाहकारों को नियुक्त करे। मंगोलियन सरकार जापान के सम्मुख असहाय थी। परिणाम यह हुआ, कि उसने जापान की मांगों को स्वीकार कर लिया। यद्यपि आभ्यन्तर मंगोलिया में प्रान्तीय स्वराज्य स्थापित था, और वह नाम को चीन की अधीनता में था, पर जुलाई, १९३५ के बाद इस प्रदेश पर जापान का प्रभुत्व भली-भाँति स्थापित हो गया था, और क्वांतुंग सेना की अनेक छावनियां इस प्रदेश में कायम कर दी गई थीं।

बाह्य मंगोलिया और जापान—मंचूकुओ राज्य की सीमा उत्तर-पश्चिम में बाह्य मंगोलिया के साथ भी छूती थी। आभ्यन्तर मंगोलिया के चहर प्रान्त के क्वांतुंग सेना के अधिपत्य में आ जाने के बाद बाह्य मंगोलिया के साथ मंचूकुओ और जापान का सम्पर्क और भी अधिक व्यापक हो गया था। जापान की इच्छा थी, कि बाह्य मंगोलिया में भी अपने प्रभाव का विस्तार किया जाए। उसकी सीमा पर भी क्वांतुंग सेना के साथ संघर्ष के कारणों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक था। अतः जापान ने मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक से यह मांग की, कि (१) बाह्य मंगोलिया में जापानी लोगों को व्यापार करने और बसने की अनुमति दी जाय। (२) बाह्य मंगोलिया की सीमा को नये सिरे से निर्धारित किया जाय, ताकि भविष्य में सीमा-सम्बन्धी झगड़ों की सम्भावना न रहे। पर मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक जापान की इन मांगों को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुई। उसका कहना था कि बाह्य मंगोलिया की सीमा पहले ही सुचारू रूप से निर्धारित है, और उस पर पुनः विचार करना निरर्थक है। साथ ही, वह जापानी लोगों को व्यापार आदि के लिए अपने प्रदेश में बसने देने की अनुमति प्रदान करने को भी उद्यत नहीं थी। परिणाम यह हुआ, कि बाह्य मंगोलिया के सीमा-सम्बन्धी झगड़ों ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। ८ फरवरी, १९३६ को एक अच्छी बड़ी जापानी सेना मंगोलिया की सीमा में छः मील अन्दर तक घुस गई। यह सेना अस्त्र-शस्त्रों से भली-भाँति सुसज्जित थी। पर बाह्य मंगोलिया की सेना ने इसका डट कर मुकाबिला किया, और उसे अपने प्रदेश से बाहर निकाल देने में सफलता प्राप्त की। जापान के विरुद्ध इस संघर्ष में रूस मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक की पीठ पर था। अब रूस और बाह्य मंगोलिया ने परस्पर सन्धि करके यह निश्चय किया, कि वे किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध होने की दशा में एक दूसरे की सहायता करेंगे। मार्च, १९३६ में मार्शल स्टालिन ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की, कि यदि जापान की सहायता से मञ्चूकुओ राज्य ने मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक के विरुद्ध युद्ध किया, तो रूस इसे अपने खिलाफ युद्ध समझेगा और बाह्य मंगोलिया की पूर्ण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूप से सहायता करेगा। इस दशा में जापान के लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वह आभ्यन्तर मंगोलिया के समान मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक में भी अपने प्रभाव का विस्तार कर सके।

(२) उत्तरी चीन और जापान

चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति—आभ्यन्तर मंगोलिया में अपने प्रभाव व प्रभुत्व को स्थापित कर चुकने के बाद जापान ने उत्तरी चीन में अपने आधिपत्य को कायम करने का प्रयत्न शुरू किया। इससे पूर्व कि हम जापान के इस प्रयत्न का वर्णन करें, यह उपयोगी होगा कि चीन के सम्बन्ध में जापान की नीति पर प्रकाश डाला जाय। जिस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका सम्पूर्ण अमेरिकन महाद्वीप के सम्बन्ध में अपनी विशेष उत्तरदायिता समझता था, और यूरोप के साम्राज्यवादी देश अमेरिकन महाद्वीप के किसी भी प्रदेश में अपने प्रभुत्व का विस्तार न कर सकें, इस उद्देश्य से उसने मुनरो सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, इसी प्रकार जापान का विचार था, कि पूर्वी एशिया में उसका विशिष्ट स्थान है, और उसकी यह उत्तरदायिता है कि इस क्षेत्र में कोई पाश्चात्य राज्य अपने प्रभुत्व को स्थापित न कर सके। इसी उद्देश्य से १८ एप्रिल, १९३४ को जापानी सरकार के परराष्ट्र विभाग ने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण बातों का यहां उद्धृत करना उपयोगी है—

"यह कहने की आवश्यकता नहीं है, कि जापान विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को स्थापित व प्रोत्साहित करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है, पर साथ ही हम समझते हैं कि यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिए हम अपनी उत्तरदायिता पर अकेले भी तत्पर रहें। ऐसा करना हमारा कर्त्तव्य भी है। साथ ही, जापान के अतिरिक्त केवल चीन ही एक ऐसा देश है, जो पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित रखने में जापान का हाथ बंटा सकता है।

"यही कारण है, कि जापान समग्र रूप से इस बात के लिये इच्छुक है, कि चीन में एकता कायम हो, उसकी राजकीय सीमाएं अक्षुण्ण रहें, और उसमें शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रहे। इतिहास से यह बात भलीभाँति स्पष्ट है, कि ये बातें तब तक सम्भव नहीं हैं, जब तक कि चीन में जागृति न हो, और चीन स्वयं इनके लिये प्रयत्न न करे।

"यदि चीन जापान का विरोध करने के लिए किसी अन्य राज्य के प्रभाव का उपयोग करेगा, या यदि चीन कोई ऐसा प्रयत्न करेगा जिसका उद्देश्य एक राज्य को दूसरे राज्य के खिलाफ प्रयुक्त करना होगा, तो इस कारण जापान उसका विरोध करेगा। मंचूरिया और शंघाई में जो घटनाएं पिछले सालों में हुई हैं, उनके बाद भी यदि विदेशी राज्य शिल्प-विषयक और आर्थिक सहायता के नाम पर कोई कार्य संयुक्त रूप से करेंगे, तो उनके ये कार्य राजनीतिक महत्त्व प्राप्त किये बिना नहीं रह सकेंगे। इस प्रकार के कोई भी कार्य, यदि उन्हें सामूहिक रूप से किया जायगा, ऐसी जटिलताओं को उत्पन्न किये बिना नहीं रहेंगे, जिनके कारण चीन के विभाजन की और इसी प्रकार की अन्य समस्याएं उत्पन्न हो जायेंगी। इस प्रकार के कार्यों का प्रभाव जापान और पूर्वी एशिया पर भी बहुत गम्भीर होगा।

"अतः जापान सिद्धान्त रूप से इस प्रकार के कार्यों का विरोध करेगा। पर यदि कोई विदेशी राज्य आर्थिक तथा व्यापारिक विषयों पर वैयक्तिक रूप से चीन के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी प्रकार का समझौता करना चाहेगा, तो जापान को उसमें हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होगी।

"पर यदि कोई विदेशी राज्य चीन को जंगी हवाई जहाज देगा, चीन में हवाई अड्डे बनायेगा, चीन की स्थल व जल सेना को प्रशिक्षण देने एवं संगठित करने के लिये शिक्षक भेजेगा, या चीन को सैनिक सलाहकार देगा, या राजनीतिक प्रयोजनों को सम्मुख रखकर चीन को कर्ज देगा, तो इससे चीन, जापान और अन्य राज्यों के मैत्री-पूर्ण सम्बन्धों में बाधा उपस्थित होगी और उसका परिणाम पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था को क्षति पहुंचाना होगा। जापान इस प्रकार की सब योजनाओं का विरोध करेगा।"

जापान के परराष्ट्र विभाग की इस विज्ञप्ति पर टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं हैं। इसके द्वारा जापान ने अपनी नीति को स्पष्ट रूप से प्रतिपादित कर दिया था। वह इस बात के विरुद्ध था, कि पाश्चात्य देश संयुक्त रूप से किसी भी प्रकार चीन की सहायता के लिये तत्पर हों। १९३४ तक जापान राष्ट्र-संघ से पृथक् हो चुका था। राष्ट्रसंघ में सम्मिलित विविध राज्य इस बात के लिये प्रयत्नशील थे, कि वे चीन की सहायता करें। राष्ट्रसंघ ने चीन को सहायता देने के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की थी, जिसके अध्यक्ष डा० राखमान थे। यह कमीशन अपना कार्य समाप्त कर चुका था, और इसकी रिपोर्ट प्रकाशित होने को थी। इस दशा में जापान अपनी इस नीति को स्पष्ट कर देना चाहता था, कि वह राष्ट्रसंघ में सम्मिलित राज्यों द्वारा चीन को सम्मिलित रूप से दी जाने वाली सहायता का विरोध करेगा। इस समय अनेक विदेशी राज्य चीन के सैनिक उत्कर्ष के लिये सहायता देने में तत्पर भी थे। जनरल फॉन सीक्ट नाम का एक जर्मन सेनापति नानकिंग सरकार का प्रधान सैनिक सलाहकार था, और चीन ने अमेरिका से बहुत बड़ी संख्या में जंगी जहाजों का क्रय किया था। अमेरिका की एक कम्पनी चीन में हवाई जहाजों के निर्माण के लिये एक विशाल कारखाना स्थापित करने के लिये भी प्रयत्नशील थी। जर्मनी और अमेरिका के अतिरिक्त इटली भी चीन के सैनिक उत्कर्ष में दिलचस्पी ले रहा था। स्वाभाविक रूप से जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह चीन में इन विदेशी राज्यों के सैनिक प्रभाव को सहन कर सके। उसका विचार था, कि चीन में किसी अन्य विदेशी राज्य का प्रभाव जापान के अपने हितों के लिये विघातक है। इसीलिए उसने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी, कि यदि चीन किसी अन्य राज्य की सहायता से अपने सैनिक उत्कर्ष का प्रयत्न करेगा, तो जापान उसे कदापि सहन नहीं कर सकेगा।

जापान के परराष्ट्रमन्त्री श्री हीरोता ने २८ अक्टूबर, १९३५ के दिन चीन के सम्बन्ध में अपनी नीति को और अधिक स्पष्ट करते हुए तीन बातों व मन्तव्यों का निरूपण किया था—(१) चीन और जापान को चाहिए, कि वे परस्पर मैत्री-सम्बन्ध से रहें। इसके लिए आवश्यक है, कि चीन की सरकार अब तक जापान के विरुद्ध जिन कार्यों को करती रही है, और जिन उपायों का प्रयोग करती रही है, भविष्य में उनका परित्याग कर दे। (२) चीन और जापान की मैत्री के लिये यह अनिवार्य है, कि चीन की सरकार मंचूकुओ की पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता को स्वीकार कर ले और उसके साथ बाकायदा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करे। (३) चीन से कम्युनिज्म को नष्ट करने के कार्य में जापान चीन की सरकार की सहायता करने को पूर्ण रूप से उद्यतर हे।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि जापान चीन के साथ मैत्री-सम्बन्ध को स्थापित करने के लिये तो इच्छुक था, पर उसकी मैत्री का अभिप्राय यह था कि चीन जापान की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छा के अनुसार चले। क्वांतुंग सेना ने मंचूकुओ के रूप में जो पृथक् राज्य स्थापित किया था, चीन उसे स्वीकृत कर ले; और चीन की सरकार को अपने आर्थिक व सैनिक उत्कर्ष के लिये जिस विदेशी सहायता की आवश्यकता हो, उसे वह जापान से ही प्राप्त करे। पर इस समय चीन में राष्ट्रीय भावना भली भांति विकसित हो चुकी थी। कुओमिन्तांग दल के नेता अनुभव करते थे, कि जापान चीन में अपने साम्राज्यवाद का प्रसार करने को उत्सुक है। इसलिये वे जापान की अपेक्षा अमेरिका, जर्मनी और इटली की सहायता को अधिक महत्त्व देते थे, और राष्ट्रसंघ के सहयोग से अपने देश की उन्नति के पक्ष में थे। इसके विपरीत जापान की यह इच्छा थी, कि जिन अर्थों में मंचूकुओ उसका वशवर्ती राज्य है, उसी प्रकार धीरे-धीरे सम्पूर्ण चीन को अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में ले आया जाय।

उत्तरी चीन में हस्तक्षेप—आभ्यन्तर मंगोलिया को अपने प्रभुत्त्व में ले आने के बाद १९३५ की समाप्ति से पूर्व ही जापान ने उत्तरी चीन पर भी अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। इस समय जापान चीन के जिन प्रदेशों को प्रभाव में लाने के लिये तत्पर हुआ, वे निम्नलिखित थे—होपेई (इसी प्रान्त को हम पहले चिहली नाम से लिखते रहे हैं, कुओमिन्तांग सरकार ने इसका नाम परिवर्तित करके होपेई कर दिया था) शान्सी और शान्तुंग। इन प्रान्तों में से होपेई प्रान्त (जिसकी उत्तरी सीमा मंचूकुओ राज्य के साथ लगती थी) पर १९३३ में ही जापान अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न शुरू कर चुका था। मंचूरिया को अपने प्रभुत्त्व में ले आने के बाद क्वांतुंग सेना ने होपेई की ओर प्रस्थान किया था, और २५ मई, १९३३ को इस प्रान्त के सम्बन्ध में निम्नलिखित समझौता करने के लिए चीनी सरकार को विवश किया था—(१) होपेई प्रान्त के उत्तरी भाग में चीन अपनी सेनाएं न रख सके। (२) जापान को यह अधिकार हो, कि वह अपने हवाई जहाजों द्वारा इस बात का निरीक्षण कर सके कि चीन की सेनाएं उत्तरी होपेई में विद्यमान तो नहीं हैं। (३) जब जापान को यह भरोसा हो जाय, कि उत्तरी होपेई को चीनी सेनाओं ने खाली कर दिया है, तब वह स्वेच्छापूर्वक अपनी सेनाओं को चीन की विशाल दीवार के दक्षिणी प्रदेशों से हटा ले। (४) उत्तरी होपेई में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने का कार्य चीन की पुलिस के हाथों में रहे, पर इस पुलिस में ऐसे व्यक्ति न हों, जो जापान के विरोधी हों।

चीन और जापान का यह समझौता इतिहास में तन्गकू समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। यह समझौता बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के द्वारा उत्तरी चीन में जापान के प्रभाव प्रभुत्त्व का सूत्रपात हुआ था। इसके अनुसार चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह तीन्त्सिन और पेकिंग के उत्तर में अपनी सेनाओं को रख सके। यद्यपि जापान ने भी इस समझौते के अनुसार उत्तरी होपेई के प्रदेश से अपनी सेनाओं को वापस लौटा लेने की बात को स्वीकार किया था, पर बोक्सर युद्ध के बाद जापान और चीन में जो सन्धि हुई थी, उनके अनुसार जापान को यह अधिकार था, कि वह पेकिंग और तीन्त्सिन में अपनी सेनाएं रख सके। तन्गकू समझौते द्वारा उसने अपने इस अधिकार का परित्याग नहीं कर दिया था। इसलिये तन्गकू समझौते के बाद भी जापान की सेनाएं पेकिंग और तीन्त्सिन के क्षेत्रों में कायम रहीं, और इन सेनाओं की सत्ता के कारण उसके लिये यह सर्वथा सुगम था, कि इन क्षेत्रों में वह अपने प्रभाव में निरन्तर वृद्धि करता रह सके। जुलाई, १९३३ में जापान ने चीन को इस बात के लिये विवश किया, कि उत्तरी होपेई में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये जो पुलिस संगठन हैं, उसमें उन लोगों को भी भरती किया जाय, जो कि जापान के समर्थक हैं। १९३३ के तन्गकू समझौते से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्व जब क्वांतुंग सेना ने होपेई पर आक्रमण किया था, तो कतिपय चीनी सैनिकों ने इस अवसर पर जापान की सहायता की थी। अब जापान ने चीन की सरकार को इस बात के लिये विवश किया, कि इन विद्रोही सैनिकों को भी उत्तरी होपेई की पुलिस में जगह दी जाय। इसका परिणाम यह हुआ, कि इस प्रदेश की पुलिस में उन लोगों का प्राधान्य हो गया, जो चीनी सरकार के विरोधी और जापान के पक्षपाती थे। जुलाई, १९३५ में इस प्रदेश के सम्बन्ध में जापान ने चीनी सरकार के साथ एक अन्य समझौता किया, जो हो-उमेत्सू समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) जो राजकर्मचारी जापान के विरोधी हैं, उन्हें अपने पदों से पृथक् कर दिया जाय। (२) इस प्रदेश में स्थित कुओमिन्तांग दल की शाखाओं को भंग कर दिया जाय। (३) जापान-विरोधी जो कार्यवाही व प्रचार आदि इस प्रदेश में हो रहे हैं, उनको बन्द किया जाय।

हो-उमेत्सू समझौते का यह परिणाम हुआ, कि होपेई प्रान्त के उत्तरी क्षेत्र में विद्यमान पेकिंग और तीन्त्सिन के प्रदेशों में जापान का प्रभुत्व तथा प्रभाव भलीभांति स्थापित हो गया। यद्यपि ये प्रदेश अब भी चीन के अंग थे, और नानकिंग सरकार का शासन वहां विद्यमान था, पर क्रियात्मक दृष्टि से ये अब पूर्ण रूप से जापान के आधिपत्य में आ गये थे। दिसम्बर, १९३५ में जापान ने इन प्रदेशों को चीन से पृथक् करने के लिये एक नया कदम उठाया। उसने आन्दोलन प्रारम्भ किया, कि उत्तरी चीन के ये प्रदेश नानकिंग सरकार की अधीनता से मुक्त होकर अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिये उत्सुक हैं। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ, कि १९३५ का अन्त होने से पूर्व ही उत्तरी होपेई का शासन करने के लिये एक 'स्वतन्त्र कौंसिल' की स्थापना कर दी गई। यह कौंसिल पूर्ण रूप से पेकिंग और तीन्त्सिन में स्थित जापानी सेना के प्रभाव में थी, और उसी के इशारे पर अपने प्रदेश का शासन-कार्य संपादित करती थी। उत्तरी होपेई की स्वतन्त्र कौंसिल ने जापानी सरकार के आदेशानुसार यह व्यवस्था की, कि उसके क्षेत्र में आने वाले जापानी माल पर तट-कर की मात्रा में कमी कर दी जाय। इस व्यवस्था के अनुसार होपेई में विदेशी माल पर जो कर लगता था, जापान के लिये उसकी दर को घटाकर २५ फी सदी कम कर दिया गया। तट-कर के सम्बन्ध में यह नीति जहाँ जापान के लिए अत्यन्त हितकर थी, वहां अन्य विदेशी राज्यों को इससे भारी नुकसान था। अब उनके लिए यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे जापान के मुकाबिले में अपने माल को उत्तरी चीन के इन प्रदेशों में बेच सकें। साथ ही, चीनी सरकार की आमदनी पर भी इसका बहुत बुरा असर होता था। इतना ही नहीं, जापान के व्यापारी रियायती कर देकर अपने माल को पहले होपेई ले जाते थे, और फिर वहां से उसे उत्तरी चीन के अन्य प्रदेशों में पहुंचा देते थे। क्योंकि होपेई की सीमा अन्य प्रान्तों के साथ मिलती हुई थी, अतः जापानी व्यापारियों को उनमें अपने माल को पहुंचाने में कोई भी कठिनाई नहीं होती थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि उत्तरी चीन के विविध प्रान्तों के बाजार सस्ते जापानी माल से भरने लग गये। अन्य विदेशी राज्यों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे जापान के मुकाबिले में अपने माल को उत्तरी चीन में बेच सकें। इस दशा से न केवल चीन को ही हानि थी, अपितु ब्रिटेन और अमेरिका आदि को भी इससे बहुत नुकसान उठाना पड़ रहा था। अमेरिका ने जापान की सरकार से इस मामले में शिकायत करते हुए यह कहा, कि होपेई में जापान के प्रति रियायती कर की नीति का अनुसरण करना अत्यन्त अनुचित है। चीन में व्यापार के लिए सब देशों को समान अवसर रहेगा, इस बात को जापान स्वीकृत कर चुका था। रियायती कर के कारण इसमें रुकावट उत्पन्न होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। पर जापान ने अमेरिका की शिकायत पर कोई ध्यान नहीं किया। अब उसने यह माँग पेश की, कि होपेई के समान चीन में अन्यत्र भी जापानी माल पर लिये जाने वाले तट-कर की मात्रा में २५ प्रतिशत की कमी कर दी जानी चाहिये।

होपेई को अपने प्रभाव में ले आने से जापान को यह भी अवसर मिल गया, कि वह चीन में अफीम और उससे निर्मित अन्य नशीली वस्तुओं का भी प्रचार कर सके। चीनी लोगों को अफीम का सेवन करने की आदत थी, और इस आदत के लिए मुख्य उत्तरदायिता ब्रिटिश लोगों के ऊपर थी। ब्रिटिश लोगों ने अपनी आर्थिक आमदनी में वृद्धि के उद्देश्य से चीन में अफीम का प्रचार किया था, और इसी कारण चीन में अफीम युद्ध का सूत्रपात हुआ था। इस युद्ध पर हम इस इतिहास में पहले प्रकाश डाल चुके हैं। चीन की सरकार इस बात के लिये प्रयत्नशील थी, कि अपने देश में अफीम के प्रचार को कम किया जाय। इस सम्बन्ध में उसे आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त हुई थी। पर मंचूरिया और जहोल के प्रदेशों पर जापान का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के बाद अफीम के उत्पादन और उपयोग में असाधारण रूप से वृद्धि होने लगी। अफीम के व्यापार में आर्थिक लाभ बहुत अधिक था। जापान ने इसे खूब प्रोत्साहित किया। जहोल का प्रदेश अफीम की खेती का बहुत बड़ा केन्द्र था। वहां उत्पन्न हुई अफीम न केवल उत्तरी चीन में अपितु अन्यत्र भी बहुत बड़ी मात्रा में भेजी जाती थी। यह व्यापार मुख्यतया कोरियन लोगों के हाथों में था। मंचूकुओ में उत्पन्न हुई अफीम को कोरियन लोग चीन में सर्वत्र ले जाते थे, और उसकी बिक्री से खूब धन कमाते थे। अफीम से बनने वाली विविध नशीली वस्तुओं को तैयार करने के कारखाने जापानी लोगों द्वारा स्थापित थे। चीन की सरकार यदि कोरियन व्यापारियों को अफीम बेचते हुए पकड़ती थी, तो वह स्वयं उन्हें दण्ड नहीं दे सकती थी। कोरियन लोग जापान की प्रजा थे, और एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अभी तक भी चीन से पूर्णतया अन्त नहीं हुआ था। अतः चीन के अफीम-कानून को तोड़ने पर कोरियन व्यापारियों के विरुद्ध जापानी अदालतों में मुकदमा चलता था, और वहां उन्हें इतनी कम सजा दी जाती थी कि वे उसकी जरा भी परवाह नहीं करते थे। जब उत्तरी होपेई भी जापान के प्रभुत्व में आ गया, तब तो अफीम के इस व्यापार में और भी अधिक वृद्धि हुई। जापान की सरकार ने स्वयं अपने देश में तो अफीम और उससे निर्मित नशीली वस्तुओं के प्रयोग को राजशक्ति द्वारा बन्द कर दिया था, पर जापानी लोग चीन में इन वस्तुओं के प्रचार के लिये प्रयत्नशील थे, क्योंकि इनसे उन्हें भारी आर्थिक लाभ था। अफीम के अतिरिक्त कोकीन का भी वे चीन में प्रचार कर रहे थे।

जापान की सरकार केवल उत्तरी होपेई को ही अपने प्रभाव और प्रभुत्व में लाकर संतुष्ट नहीं हुई। वह चाहती थी, कि दक्षिणी होपेई, शान्सी और शान्तुंग प्रान्तों को भी अपने आधिपत्य में ले आये। पर १९३७ तक उसने इसके लिए विशेष प्रयत्न नहीं किया। इसके दो कारण थे—(१) उत्तरी चीन के इन प्रान्तों की जनता पूर्ण रूपसे चीनी थी। मंचूरिया, जहोल और मंगोलिया के समान इन प्रदेशों के निवासी ऐसे नहीं थे, जिन्हें चीनी लोगों से भिन्न कहा जा सके। इन प्रान्तों में रहने वाले चीनी लोगों में राष्ट्रीयता की भावना भी भली-भांति विकसित हो चुकी थी। कुओमिन्तांग दल का उन पर बहुत अधिक प्रभाव था। इस दशा में जापान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि उन्हें सुगमता से अपने प्रभाव में ला सके। सैन्यशक्ति के प्रयोग द्वारा उन्हें अपने वश में लाया जा सकता था, पर शस्त्रबल के प्रयोग का परिणाम चीन के साथ बाकायदा युद्ध होता, जिसके लिये अभी जापान तैयार नहीं था। (२) चीन के इन प्रदेशों में अन्य विदेशी राज्यों ने भी अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। चीन के साथ विविध समयों में अमे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों ने जो सन्धियां की थीं, उनका उल्लेख हम इस इतिहास में पहले कर चुके हैं। इन सन्धियों के कारण इन प्रदेशों में इन विदेशी राज्यों को अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। इस दशा में यदि जापान इन प्रदेशों पर अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न करता, तो उसे इन राज्यों के साथ भी संघर्ष में आना पड़ता। जापान के लिए यह सुगम नहीं था, कि वह विविध पाश्चात्य देशों के आर्थिक हितों और विशेषाधिकारों की सर्वथा उपेक्षा कर सकता। अतः वह सम्भल कर कदम बढ़ाना चाहता था।

चीन के लोग अपने देश में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्त्व से बहुत चिन्तित थे। १९३५ में चीन के नवयुवकों और विद्यार्थियों ने पेकिंग में एक सभा की स्थापना की, जिस का उद्देश्य चीन पर बढ़ते हुए जापानी प्रभाव का विरोध करना था। इसी प्रकार की सभाएं चीन में अन्यत्र भी स्थापित हुईं। चीनी सरकार ने भी इस समय जापान की इस नीति का विरोध किया, कि पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था कायम रखने की उत्तरदायिता केवल उसी पर है। चीनी सरकार राष्ट्रसंघ पर बहुत विश्वास रखती थी, और उसका विचार था कि इस अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की सहायता से वह जापान की शक्ति का मुकाबिला कर सकती है। पर राष्ट्रसंघ इस समय निरन्तर अशक्त होता जा रहा था। अमेरिका पहले ही उससे पृथक् हो चुका था। बाद में जापान, जर्मनी और इटली भी उससे पृथक् हो गए थे। चीनी सरकार ने अपनी रक्षा के लिये एक ऐसी संस्था पर भरोसा किया था, जो स्वयं निरन्तर अशक्त होती जा रही थी। इस समय जापान, जर्मनी और इटली—तीन देश ऐसे थे, जो राष्ट्रसंघ की सर्वथा उपेक्षा कर शक्ति के प्रयोग द्वारा अपने उत्कर्ष में तत्पर थे। १९३७ में जापान ने चीन में अपने प्रभुत्त्व की स्थापना के लिये पुनः प्रयत्न प्रारम्भ किया, जिसके कारण चीन-जापान के युद्ध का सूत्रपात हुआ। इस युद्ध पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इक्कीसवां अध्याय

चीन और जापान का युद्ध

(१) १९३७ में चीन की दशा

जुलाई, १९३७ में चीन और जापान का दूसरा युद्ध शुरू हुआ। जापान जिस ढंग से चीन में अपने साम्राज्य का प्रसार करने के लिए प्रयत्नशील था, उसका यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि इन दोनों देशों में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो। मञ्चूरिया और जहोल के प्रदेशों को जीतकर जापान उनमें मञ्चूकुओ राज्य की स्थापना कर चुका था। यह राज्य पूर्णतया जापान का वशवर्ती था। होपेई प्रान्त के उत्तरी भाग में भी जापान का आधिपत्य स्थापित था, और सम्पूर्ण हो पेई, शान्सी और शांतुंग प्रान्तों में जापान की साम्राज्यवादी नीति निरन्तर जोर पकड़ती जा रही थी। इस दशा में चीन और जापान के युद्ध को देर तक टाला नहीं जा सकता था। १९३९ में जब यूरोप में बीसवीं सदी के दूसरे महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ, तो पूर्वी एशिया में चीन और जापान का यह युद्ध जारी था। महायुद्ध में जापान ने जर्मनी और इटली की फासिस्ट शक्तियों का साथ दिया, और चीन ने ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका का। इस दशा में चीन और जापान का यह युद्ध १९३९-४५ के महायुद्ध का ही एक अंग बन गया। पर इससे पूर्व कि हम १९३७ में प्रारम्भ हुए चीन-जापान युद्ध पर प्रकाश डालें, यह आवश्यक है कि इस युद्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व चीन की राजनीतिक दशा क्या थी, इसको स्पष्ट कर दिया जाय। चीन में मञ्चू शासन का अन्त होकर किस प्रकार रिपब्लिक की स्थापना हुई, और बाद में कुओमिन्तांग दल ने किस प्रकार नानकिंग को राजधानी बनाकर देश में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन की स्थापना का उद्योग किया, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। पर नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन चीन में सर्वत्र मान्य नहीं था। यद्यपि वह चीन की सबसे प्रबल सरकार थी, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसी को मान्यता प्राप्त थी, और राष्ट्रसंघ में उसीके प्रतिनिधि चीन का प्रतिनिधित्व करते थे, पर चीन के विविध प्रान्तों में अन्य भी अनेक सरकारों की सत्ता थी, जो या तो नानकिंग के प्रभुत्व को स्वीकार ही नहीं करती थीं, और या कुओमिन्तांग सरकार के अधिपति चियांग काई शेक के एकाधिपत्य के विरुद्ध थीं। इस प्रकरण में हम चीन की इसी राजनीतिक दशा पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे।

चीन की विविध राजनीतिक शक्तियां—१९३३ में चीन की प्रधान राजनीतिक शक्तियां निम्नलिखित थीं—(१) नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार—इसका अधिपति महासेनापति (जनरलीसमो) चियांग काई शेक था। यह चीन की प्रधान सरकार थी, और चीन के बड़े भाग पर इसीका शासन था। (२) कैन्टन की वामपक्षी सरकार—यह सरकार भी कुओमिन्तांग दल की ही थी, पर डाक्टर सन यात सेन द्वारा स्थापित कुओमिन्तांग दल की कार्यनीति के सम्बन्ध में इसके नेताओं का चियांग काई शेक के साथ मतभेद था। इसके प्रमुख नेता वांग चिंग वेई और चेन कुंग पो थे। (३) कम्युनिस्ट सरकार कियांगसी, आन्हुई और फूक्विएन प्रान्तों के अनेक प्रदेशों पर इस सरकार का अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। कम्युनिस्ट लोग कुओमिन्तांग दल की सरकार को मानने के लिए तैयार नहीं थे, और सम्पूर्ण चीन में समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार शासन तथा समाज-सम्बन्धी व्यवस्था स्थापित करने के पक्षपाती थे। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी का प्रधान नेता माओ त्से तुंग था। (४) उत्तरी चीन में पहले अनेक ऐसे सिपहसालारों की सत्ता थी, जो नाम को चीन की केन्द्रीय सरकार की अधीनता को स्वीकृत करते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि से अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र रूप से शासन किया करते थे। इस प्रकार के सिपहसालारों मे चाँग-हसु-ऐह-लियांग सर्वप्रधान था। उसका उल्लेख हम पहले अनेक बार इस इतिहास में कर चुके हैं। पर मञ्चूरिया और जहोल में जापान का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण इन उत्तरी सिपहसालारों की शक्ति कम हो गई थी, और ये नानकिंग सरकार के वशवर्ती हो गये थे।

१९३३ में यद्यपि चीन में ये विविध राजनीतिक शक्तियां विद्यमान थीं, पर कुओमिन्तांग दल की सरकार नानकिंग में इतने सुव्यवस्थित रूप से स्थापित हो चुकी थी, कि उसके लिए चीन की अन्य राजनीतिक शक्तियों को अपने वश में ला सकना बहुत कठिन नहीं रह गया था। चियांग काई शेक का कुओमिन्तांग दल राष्ट्रीय एकता को बहुत महत्त्व देता था। उसकी दृष्टि में लोकतन्त्रवाद का उतना महत्त्व नहीं था, जितना कि चीन की राष्ट्रीय एकता का था। इसीलिये कुओमिन्तांग सरकार चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील थी। इस सम्बन्ध में १९३३ से १९३६ तक जो यत्न उसने किया, उसका उल्लेख करना आवश्यक है।

कैन्टन की वामपक्षी सरकार—चीन के दक्षिणी क्षेत्र में क्वांग्तुंग और क्वांगसी प्रान्तों में कुओमिन्तांग दल के वामपक्षी नेताओं ने एक पृथक् सरकार की स्थापना की हुई थी, जिसकी राजधानी कैन्टन थी। यद्यपि कैन्टन की यह सरकार कम्युनिस्ट नहीं थी, पर इसके नेता चियांग काई शेक की दक्षिणपक्षी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। इन नेताओं का विचार था, कि चियांग काई शेक डॉ० सन यात सेन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों का भलीभांति अनुसरण नहीं कर रहा है। कुओमिन्तांग दल की नीति में इस प्रकार के परिवर्तन आवश्यक हैं, जिनका प्रयोजन न केवल चीन की राष्ट्रीय शक्ति में वृद्धि हो, अपितु साथ ही देश में लोकतन्त्र शासन का विकास और सर्वसाधारण जनता की आर्थिक उन्नति भी हो। क्वांग्तुंग और क्वांग्सी प्रान्तों की सेनाओं का सहयोग कैन्टन सरकार को प्राप्त था, और क्वांग्तुंग प्रान्त के सिपहसालार चेन ची तांग की सैन्य शक्ति इस सरकार के साथ थी। कैन्टन सरकार का संचालन करने के लिए एक पृथक् राजनीतिक कौंसिल की सत्ता थी, जिसके प्रधान नेता कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे। वे प्रायः कुओमिन्तांग दल की इस केन्द्रीय समिति के अधिवेशनों में सम्मिलित भी होते थे, और चियांग काई शेक से उनका जो विरोध था, उसे प्रकट करने में भी संकोच नहीं करते थे। १९३१ में जब जापान ने मञ्चूरिया पर अपने प्रभुत्व का प्रसार शुरू किया, तो नानकिंग और कैन्टन की सरकारों (जिन दोनों के नेता कुओमिन्तांग दल के सदस्य थे) ने परस्पर मिलकर समझौता कर लिया, और नानकिंग की सरकार का संचालन तीन व्यक्तियों की एक समिति के सुपुर्द कर दिया गया, जिसके सदस्य चियांग काई शेक, वांग चिंग वेई और हू हान मिन थे। इनमें से वांग चिंग वेई कैन्टन की वामपक्षी सरकार का प्रधान नेता था। पर कुओमिन्तांग दल के वाम और दक्षिणी पक्षों का यह सहयोग देर तक कायम नहीं रहा। शीघ्र ही, उनमें फूट पड़ गई और वामपक्षी लोगों ने वांग चिंग वेई के नेतृत्व में कैन्टन में अपनी पृथक् सरकार का पुनःसंगठन कर लिया। पर कैन्टन की यह सरकार नानकिंग की केन्द्रीय सरकार के आधिपत्य को स्वीकृत करती थी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और इसके नेता कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्य कारिणी समिति के अधिवेशनों में सम्मिलित होकर यह यत्न भी करते थे, कि चियांग काई शेक के प्रभुत्व के विरुद्ध आवाज उठाते रहें। इस प्रकार कैन्टन की सरकार यद्यपि क्रियात्मक दृष्टि से अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र थी, तथापि नानकिंग की केन्द्रीय सरकार के साथ उसका सम्बन्ध कायम था।

नानकिंग और कैन्टन की कुओमिन्तांग सरकारें जो आपस में मिल कर एक नहीं हो पाती थीं, उसका प्रधान कारण चियांग काई शेक का व्यक्तित्व था। कुओमिन्तांग दल में इस महासेनापति की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। उसका न केवल नानकिंग सरकार पर एकाधिपत्य था, अपितु साथ ही कुओमिन्तांग दल में भी उसकी स्थिति अद्वितीय थी। दल के अन्य नेताओं के लिए उसका विरोध कर सकना कठिन था। वह स्वयं उस एजेण्डा को तैयार करता था, जिस पर दल की कार्यकारिणी समिति को विचार करना होता था। दल के सब प्रस्ताव भी उसकी इच्छानुसार ही स्वीकृत होते थे। चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग दल में प्रायः वही स्थिति थी, जो कि जर्मनी के नाजी दल में हिटलर की और इटली के फैसिस्ट दल में मुसोलिनी की थी। यही कारण है, कि कैन्टन के वामपक्षी नेताओं की कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति और राष्ट्रीय महासभा में कोई भी सुनवाई नहीं हो पाती थी। कैन्टन के वांग चिंग वेई आदि वामपक्षी नेताओं को यह निरर्थक प्रतीत होता था, कि वे दल की विविध सभा-समितियों में उपस्थित हों। परिणाम यह हुआ, कि १९३३ के बाद कुओमिन्तांग दल की राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन निरन्तर स्थगित होते गए, और इस दल पर चियांग काई शेक का आधिपत्य पूर्णतया स्थापित हो गया।

कैन्टन सरकार के नेताओं को चियांग काई शेक से एक अन्य शिकायत यह थी, कि उसने उत्तरी चीन में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व को नष्ट करने के लिए समुचित उपायों का प्रयोग नहीं किया था। जिस प्रकार जापान ने मंचूरिया, जहोल और होपेई में अपने आधिपत्य को कायम कर लिया था, उसे कैन्टन के वामपक्षी नेता अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। उनका विचार था, कि यदि जापान के प्रभुत्व के विरुद्ध जनता में आन्दोलन किया जाय, और चियांग काई शेक ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया हुआ है उसका विरोध किया जाय, तो कुओमिन्तांग दल पर महासेनापति का जो अतुल प्रभाव है, उसे आघात पहुंचाया जा सकता है। कैन्टन की सरकार ने चीन में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व के विरुद्ध न केवल जनता में आन्दोलन ही किया, अपितु १९३६ के प्रारम्भ में अपनी सेनाओं को भी जापान का मुकाबिला करने के लिये तैयार किया। क्यांग्तुंग और क्यांग्सी की सेनाओं ने जापान के विरुद्ध लड़ाई करने के लिए उत्तर की ओर प्रस्थान किया, और नानकिंग सरकार की सेनाओं को भी अपने इस प्रयत्न में सहयोग देने के लिये निमन्त्रित किया। पर चियांग काई शेक चीन की राष्ट्रीय एकता को अधिक महत्त्व देता था। उसकी दृष्टि में जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व को रोकने की अपेक्षा भी कैन्टन सरकार के इस स्वच्छन्द आचरण का प्रतिरोध करना अधिक आवश्यक था। परिणाम यह हुआ, कि उसने क्वांतुंग और क्वांग्सी की सेनाओं का मुकाबिला किया। ये सेनाएँ परास्त हो गईं, और जापान की शक्ति को नष्ट करने के लिये इन सेनाओं ने उत्तर की ओर प्रस्थान करने का जो उद्योग किया था, वह निष्फल हो गया। चियांग काई शेक केवल कैन्टन की सेनाओं को परास्त करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गया, अपितु उसकी सेनाओं ने क्वांग्तुंग पर भी आक्रमण किया और उसे अपने अधीन कर लिया। चियांग काई शेक स्वयं कैन्टन आया, और उसने वहां की सरकार का पुनःसंगठन किया। क्वांग्तुंग के शासन का संचालन करने के लिए ऐसे सैनिक और अन्य राजकर्मचारियों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को नियत किया गया, जो चियांग काई शेक के पक्षपाती थे। सितम्बर, १९३६ में चियांग काई शेक ने क्वांग्सी के सेनापतियों के साथ भी समझौता कर लिया। यद्यपि इस प्रान्त को शासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्र रखा गया, पर इसमें सन्देह नहीं कि १९३५ के अन्त तक कैन्टन सरकार अविकल रूप से नानकिंग सरकार के अधीन हो गई थी। क्वांतुंग प्रान्त (जिसकी राजधानी कैन्टन थी) में ऐसी सरकार की स्थापना कर दी गई थी, जो पूर्ण रूप से चियांग काई शेक की वशवर्ती थी, और क्वांग्सी प्रान्त की सरकार भी नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता को स्वीकार करने लगी थी।

इस प्रकार १९३६ तक दक्षिणी चीन को अपना वशवर्ती बना सकने में चियांग काई शेक को असाधारण रूप से सफलता प्राप्त हो गयी थी। वह चीन की जिस राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्नशील था, उसकी स्थापना में इससे बहुत अधिक सहायता मिली।

कम्युनिस्ट सरकार के साथ संघर्ष—कैन्टन की सरकार कुओमिन्तांग दल के वामपक्ष की थी, अतः नानकिंग सरकार के साथ उसका सम्बन्ध विद्यमान था। पर चीन में चियांग काई शेक की सबसे प्रबल विरोधी कम्युनिस्ट सरकार थी, जो किसी भी प्रकार कुओमिन्तांग दल के साथ समझौता करने को तैयार नहीं थी। १९२७ में कम्युनिस्ट लोग कुओमिन्तांग दल से पृथक् हो गए थे, और उन्होंने चीन के अनेक प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व को स्थापित कर लिया था। १९३१ में उनकी शक्ति का प्रधान केन्द्र कियांग्सी प्रान्त था। यह प्रान्त क्वांगतुंग प्रान्त के उत्तर में स्थित है। इसमें कम्युनिस्ट लोगों ने अपनी पृथक् सरकार संगठित कर ली थी, और फूकिएन (कियांग्सी के पूर्व में), हूनान (कियांग्सी के पश्चिम में) तथा आन्हुई (कियांग्सी के उत्तर में) प्रान्तों के भागों में भी उसकी शक्ति स्थापित थी। कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार की सत्ता को स्वीकृत नहीं करती थी, और उसके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखती थी। १९३२ में चीन की इस कम्युनिस्ट सरकार के अधीनस्थ प्रदेशों का क्षेत्रफल ३,३०,००० वर्गमील के लगभग था, और उनमें निवास करने वाले लोगों की संख्या ९,००,००,००० से कम नहीं थी। इससे यह भली भाँति समझा जा सकता है, कि १९३२ में भी चीन में कम्युनिस्टों का प्रभाव कितना व्यापक था। तीन लाख वर्ग-मील से भी अधिक के विशाल प्रदेश में कम्युनिस्ट लोग रूस के ढंग की समाजवादी व्यव-स्था को कायम करने में तत्पर थे।

चियांग काई शेक कम्युनिज्म का प्रबल विरोधी था। वह चीन की राष्ट्रीय एकता के लिए यह आवश्यक समझता था, कि कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार को युद्ध में परास्त कर उस द्वारा अधिकृत प्रदेशों को नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार की अधीन-ता में ले आया जाय। उसकी दृष्टि में जापान का उत्तरी चीन में निरन्तर बढ़ता हुआ प्रभुत्व चीन के लिये उतना हानिकारक नहीं था, जितना कि कम्युनिस्ट सरकार की सत्ता। वह उसे चीन की राष्ट्रीय एकता के लिये विघातक समझता था। यही कारण है, कि उसने अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग जापान के विरुद्ध न करके कम्युनिस्टों के विरुद्ध किया। जब जापानी लोग मंचूरिया, जहोल और होपेई में अपने प्रभुत्व की स्थापना में तत्पर थे, चियांग काई शेक की सेनाएं कम्युनिस्टों के साथ युद्ध में व्यापृत थीं। १९३३ में महासेनापति चियांग काई शेक ने चार बार कियांग्सी की कम्युनिस्ट सरकार पर आक्रमण किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। इस समय कम्युनिस्ट लोग निरन्तर शक्ति प्राप्त करते जा रहे थे। १९३३ के अन्त में ऐसा प्रतीत होने लगा था, कि सम्पूर्ण फूकिएन प्रान्त कम्युनिस्ट लोगों के हाथों में चला जायगा। पर १९३४ में चियांग काई शेक ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी सम्पूर्ण सैनिक शक्ति को कम्युनिस्ट लोगों का विनाश करने में लगा दिया। उसने कम्युनिस्टों के विरुद्ध क्रूर एवं भयंकर उपायों का अवलम्बन किया। अब कम्युनिस्टों के लिये यह सम्भव नहीं रह गया, कि वे नानकिंग सरकार की शक्ति का मुकाबिला कर सकें। जिन प्रदेशों पर चियांग काई शेक की सेनाएं अपना अधिकार स्थापित कर लेती थीं, उनके निवासियों पर वे भयंकर अत्याचार करती थीं। जिस आदमी पर कम्युनिस्ट होने का जरा भी सन्देह होता था, उसे मौत के घाट उतार दिया जाता था। १९३४ में लाखों व्यक्ति कुओमिन्ताँग सेनाओं की क्रोधाग्नि के शिकार हुए। कम्युनिस्टों के विनाश के लिये चियाँग काई शेक ने केवल अपनी सैन्यशक्ति का ही उपयोग नहीं किया, अपितु अन्य भी अनेक साधन प्रयुक्त किये। इनमें निम्नलिखित साधन उल्लेखनीय हैं—(१) फैसिस्ट ढंग पर 'नीली कुड़ती' नाम से एक आतंकवादी दल का संगठन किया गया, जिसका उद्देश्य कुओमिन्तांग दल के विरोधियों का विनाश करना था। यह नीली कुड़ती (ब्लू शर्ट) दल, जिन लोगों पर कम्युनिज्म के प्रति सहानुभूति रखने का सन्देह भी होता था, उन्हें मौत के घाट उतार देने और उनकी सम्पत्ति को नष्ट कर देने में जरा भी संकोच नहीं करता था। (२) कुओमिन्तांग सरकार की सेना में राजनीतिक शिक्षा का प्रचार किया गया। उसमें उन विचारों को प्रसारित किया गया, जिनका प्रतिपादन कुओमिन्तांग दल द्वारा किया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ, कि चियांग काई शेक की सेना कम्युनिस्टों को देश का शत्रु समझने लगी। उन्हें नष्ट करने के लिए उसमें अद्भुत उत्साह का संचार हुआ। (३) जिन प्रदेशों को नानकिंग सरकार कम्युनिस्टों से विजय करती जाती थी, उनके पुराने जमींदारों और पूंजीपतियों को संगठित किया जाता था, ताकि वे कुओमिन्तांग दल की सहायता कर सकें। इन लोगों को कम्युनिस्ट सरकार द्वारा भारी नुकसान उठाना पड़ा था, अतः स्वाभाविक रूप से इनकी सहानुभूति कुओमिन्तांग दल के साथ थी। ये लोग कम्युनिस्टों का विनाश करने में नानकिंग सरकार की उत्साहपूर्वक सहायता करते थे। (४) चीन में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया गया, जिसे 'नव-जीवन आन्दोलन' कहते थे। इस का उद्देश्य यह था, कि चीन के नवयुवकों में अपने देश के प्राचीन आदर्शों, व्यवहार, रीतिरिवाजों और संस्थाओं के प्रति निष्ठा की भावना को उत्पन्न किया जाए। कम्युनिस्ट लोग चीन में जिस व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे, वह कार्ल मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों पर आश्रित थी। यह व्यवस्था चीन के शिक्षित नवयुवकों को बहुत आकर्षक प्रतीत होती थी। कुओमिन्तांग दल के नेताओं को यह अनुभव होता था, कि नवयुवकों को कम्युनिज्म के प्रति जो आकर्षण है, उसे दूर करने का उपाय यह है, कि उन्हें कन्फ्यूसियस आदि प्राचीन चीनी आचार्यों के सिद्धान्तों के प्रति आकृष्ट किया जाय, ताकि वे कम्युनिज्म को एक विदेशी सिद्धान्त समझ कर उसके विरुद्ध हो जाएं। चीन के नवजीवन आन्दोलन का यही प्रधान उद्देश्य था। इस आन्दोलन के नेताओं का विश्वास था, कि यदि चीन के नवयुवकों में अपने देश की प्राचीन विचारसरणी और सामाजिक मान्यताओं के प्रति आस्था उत्पन्न कर दी जाय, तो वे कम्युनिज्म के प्रति आकृष्ट नहीं होंगे।

कम्युनिस्टों का महाप्रस्थान—चियांग काई शेक जिस ढंग से कम्युनिस्ट लोगों के विनाश के लिये तत्पर था, उससे अब यह सम्भव नहीं रह गया था, कि कियांग्सी प्रान्त और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर वे अपने प्रभुत्व को कायम रख सकें। १९३४ के अन्त में उन्होंने अनुभव किया, कि अब वे कुओमिन्तांग सेनाओं का सफलतापूर्वक मुकाबिला नहीं कर सकेंगे। पर वे यह भी जानते थे, कि चियांग काई शेक उनके साथ किसी भी प्रकार का समझौता करने को तैयार नहीं होगा। अब उनके सम्मुख केवल दो मार्ग थे, या तो के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नानकिंग सरकार की सेनाओं का मुकाबिला करते हुए अपने जीवन का अन्त कर देते, और या कियांग्सी प्रान्त को छोड़कर कहीं अन्यत्र अपनी शक्ति का पुनःसंगठन करते। उन्होंने दूसरे मार्ग का अवलम्बन किया। कम्युनिस्ट सेनाओं और अन्य कम्युनिस्ट लोगों ने इस समय कियांग्सी के उत्तर की ओर 'महाप्रस्थान' शुरू किया। चीन के उत्तर-पश्चिम में एक प्रान्त है, जिसका नाम शेन्सी है। यह आभ्यन्तर मंगोलिया के दक्षिण और सिन्किआंग के पूर्व में स्थित है। शेन्सी प्रान्त में भी कम्युनिस्ट लोगों का जोर था। इस दशा में कियांग्सी के कम्युनिस्टों ने यही उचित समझा, कि वे चियांग काई शेक की सेनाओं का मुकाबिला करने का प्रयत्न न कर उत्तर दिशा में शेन्सी प्रान्त की ओर प्रस्थान कर दें, और वहाँ जाकर अपनी शक्ति का पुनःसंगठन करें। इसके लिये उन्होंने उस पार्वत्य मार्ग का अवलम्बन किया, जो चीन के पश्चिमी प्रदेशों के दुर्गम पहाड़ों में से होकर गुजरता था। इसी मार्ग का अनुसरण करके वे नानकिंग सरकार की सेनाओं से अपनी रक्षा कर सकते थे। कियांग्सी से कम्युनिस्ट सेनाएं पहले पश्चिम की ओर क्वेई-चू में गईं। फिर वहाँ से दक्षिण-पश्चिम की ओर यूनान प्रान्त से होती हुई उत्तर की ओर श्जेच्वान प्रान्त में गईं, और फिर पूर्वी तिब्बत व कान्सू होती हुई शेन्सी पहुंच गईं। यह मार्ग बहुत विकट था, और इसमें उन्हें ६,००० मील के लगभग यात्रा करनी पड़ी थी। कम्युनिस्ट सेनाओं को जिस दुर्गम मार्ग से गुजरना पड़ रहा था, वहाँ न कोई सड़कें थीं और न नदियों पर पुल ही थे। इस दुर्गम पथ पर यात्रा करते हुए हजारों कम्युनिस्ट मार्ग के कष्टों द्वारा मृत्यु को प्राप्त हो गए। एक साल से भी अधिक समय तक यात्रा के घोर कष्ट उठाते हुए जो कम्युनिस्ट शेन्सी पहुंचने में समर्थ हुए, उनकी संख्या केवल २०,००० के लगभग थी।

येनान का कम्युनिस्ट राज्य—१९३६ के शुरू तक कम्युनिस्ट लोग शेन्सी पहुंच गये थे, और वहां येनान नगरी को राजधानी बनाकर उन्होंने अपनी सरकार का पुनः संगठन कर लिया था। शेन्सी प्रान्त का उत्तरी भाग और कान्सू प्रान्त का उत्तर-पूर्वी भाग उनकी अधीनता में था। अपने इस राज्य में कम्युनिस्ट लोगों ने समाजवादी व्यवस्था को स्थापित किया, और चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार से लोहा लेने के लिए तैयारी शुरू कर दी।

कम्युनिस्टों का यह नया राज्य जापान द्वारा अधिकृत उत्तरी चीन के बहुत समीप था। अतः यह स्वाभाविक था, कि कम्युनिस्ट नेताओं का ध्यान चीन पर निरन्तर बढ़ते हुए जापानी प्रभुत्व की ओर आकृष्ट हो। वे अनुभव करते थे, कि चीनी लोगों को आपस के मतभेदों को भुलाकर और परस्पर मिलकर जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबिला करना चाहिए। उनका कहना था, कि नागकिंग की कुओमिन्तांग सरकार और कम्युनिस्टों को मिलकर चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना करनी चाहिए, और जापान के साम्राज्यवाद के रूप में देश का जो घोर शत्रु चीन पर निरन्तर प्रभुत्व कायम करता जा रहा है, उसका मुकाबिला करना चाहिए। १९३६ में कम्युनिस्ट सरकार के नेता माओ त्से तुंग ने अपनी पार्टी के उद्देश्यों को निम्नलिखित प्रकार से प्रकट किया था—(१) विदेशी आक्रान्ता का मिलकर मुकाबिला करना, (२) जनता को शासन-सम्बन्धी अधिकार प्रदान करना, और (३) देश की आर्थिक उन्नति करना। पर चियांग काई शेक कम्युनिस्टों के साथ किसी भी प्रकार समझौता करना नहीं चाहता था। वह शेन्सी प्रान्त में भी उन्हें परास्त करके सम्पूर्ण चीन पर कुओमिन्तांग का शासन स्थापित करने के लिए कटिबद्ध था। जिस समय कम्युनिस्ट सेनाएं कियांग्सी प्रान्त से उत्तर की ओर महाप्रस्थान कर रहीं थीं, चियांग काई शेक ने चीन के अन्य अनेक प्रान्तों पर भी अपना आधिपत्य कायम कर लिया था। जब कम्युनिस्ट लोग कियांग्सी से महाप्रस्थान

GC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करते हुए क्वेई-चू, यूनान और श्जेच्वान प्रान्तों में गये, तो वहां के सिपहसालारों ने कम्युनिस्टों से अपने प्रदेशों की रक्षा करने के लिए नानकिंग सरकार से सहायता की अभ्यर्थना की। यह सहायता इन प्रान्तों के सिपहसालारों को सहर्ष दी गई, पर इसके बदले में चियांग काई शेक ने इन पर अपने अधिकार को बहुत दृढ़ कर लिया। १९३५ के अन्त तक यह स्थिति आ गई थी, कि सम्पूर्ण दक्षिणी और पश्चिमी चीन पर नानकिंग सरकार का शासन स्थापित हो गया था। क्वांग्तुंग और क्वांग्सी की वामपक्षी सरकार पर भी १९३६ में चियांग काई शेक का प्रभुत्व कायम हो गया था। राष्ट्रीय एकता अब सम्पन्न ही होने वाली है, यह बात सबको स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होने लगी थी। विशाल चीन में अब केवल दो भूखण्ड ऐसे रह गये थे, जो नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार के अधीन नहीं थे। उत्तरी चीन के मंचूरिया, जहोल और होपेई प्रान्तों पर जापान का प्रभुत्व था, और आभ्यन्तर मंगोलिया का अच्छा बड़ा भाग भी जापान के प्रभाव में था। शेन्सी और कान्सू प्रान्तों पर कम्युनिस्टों का अधिकार था। चियांग काई शेक का विचार था, कि जापान का मुकाबिला करने के लिए यह आवश्यक है, कि पहले कम्युनिस्टों को परास्त कर दिया जाय, ताकि चीन की राष्ट्रीय एकता पूर्ण हो जाय। जब सम्पूर्ण स्वतंत्र चीन नानकिंग सरकार के अधीन हो जायगा, तो देश की आन्तरिक उन्नति द्वारा चीन को इतना समृद्ध व शक्तिशाली बनाया जा सकेगा, जिससे कि जापान के लिए उसमें अपने साम्राज्य को विस्तृत कर सकना सम्भव ही नहीं रहेगा। इसके विपरीत कम्युनिस्ट लोग यह समझते थे, कि जापान ही चीन का सबसे बड़ा शत्रु है। उसका सफलतापूर्वक मुकाबिला तभी किया जा सकता है, जबकि चीन के विविध दल परस्पर मिलकर एक हो जाएं, और देश में एक ऐसी सरकार की स्थापना हो, जो लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित हो। चियांग काई शेक और माओ त्से तुंग के विचारों में इतना अधिक भेद था, कि उनमें समझौता हो सकना क्रियात्मक नहीं था।

चियांग काई शेक की गिरफ्तारी—इस दशा में चियांग काई शेक ने अपनी सेनाएं कम्युनिस्टों पर आक्रमण करने के लिए भेजीं। इन सेनाओं का प्रधान सेनापति चांग ह्सुएह लिआंग को नियत किया गया। पर कम्युनिस्ट लोग अपने देशबन्धुओं से नहीं लड़ना चाहते थे। उन्होंने चांग ह्सुएह लिआंग की सेनाओं से कहा, कि चीनियों को आपस में लड़ने से क्या लाभ है? उन्हें तो यह चाहिए, कि वे परस्पर मिलकर जापान का मुकाबिला करें, और उत्तरी चीन से जापान के प्रभुत्व को नष्ट कर दें। इस में सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट नेता देशभक्ति की भावना से आविष्ट थे। उन्हें यह व्यर्थ प्रतीत होता था, कि चीन की सेनाओं की शक्ति गृह-युद्ध में नष्ट की जाय। यह स्वाभाविक था, कि चांग ह्सुएह लिआंग की सेनाओं पर कम्युनिस्टों के प्रचार का असर पड़े। परिणाम यह हुआ, कि इन सेनाओं ने युद्ध में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई। जो सेनाएं कम्युनिस्टों का विनाश करने के लिए भेजी गई थीं, उन्होंने उन से युद्ध करने के स्थान पर मेल करना प्रारम्भ कर दिया। चांग ह्सुएह लिआंग तथा अन्य सेनापति भी कम्युनिस्ट प्रचार के प्रभाव में आ गये। जब यह बात चियांग काई शेक को ज्ञात हुई, तो उसने स्वयं शेन्सी प्रान्त की ओर प्रस्थान किया। उसने यत्न किया, कि चांग ह्सुएह लिआंग की सेनाएं पूर्ण रूप से कम्युनिस्टों से युद्ध करें, पर उसे सफलता नहीं हुई। उनके रुख को देखकर चांग ह्सुएह लिआंग ने एक अत्यन्त साहस का कार्य किया। उसने चियांग काई शेक को गिरफ्तार कर लिया। वस्तुतः, इस समय नानकिंग सरकार की सेना कम्युनिस्टों के साथ युद्ध को जारी रखना इतना निरर्थक समझती थी, कि उसके सेनापति ने चियांग काई शेक को गिरफ्तार तक करने में संकोच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया। चांग ह्सुएह लिआंग और उसके सहकारियों की यह इच्छा थी, कि वे चियाँग काई शेक को अपनी नीति में परिवर्तन करने के लिए विवश करें। उनकी मुख्य माँगें निम्नलिखित थीं—(१) चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जाय। चीन जो सैनिक एकाधिकार (डिक्टेटरशिप) की ओर अग्रसर हो रहा है, वह उचित नहीं है। एकाधिकार का अन्त करके लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जानी चाहिये। (२) कम्युनिस्टों की इस बात को स्वीकार किया जाय, कि आपस की लड़ाई को बन्द करके सम्मिलित रूप से जापान के साम्राज्यवाद का मुकाबिला किया जाय। (३) जापान के विरुद्ध शीघ्र ही युद्ध शुरू किया जाय।

पर चियांग काई शेक किसी भी प्रकार से इन शर्तों को मानने के लिये उद्यत नहीं था। इन शर्तों को मानने का तो सवाल ही पैदा नहीं होता था, क्योंकि चियांग काई शेक उन लोगों से किसी प्रकार बातचीत तक करने को भी तैयार नहीं था, जिन्होंने कि उसे गिरफ्तार किया था। उसका कहना था, कि उसे गिरफ्तार करने वाले सेनापति चांग ह्सुएह लिआंग और यांग चेंग उसके अधीनस्थ सैनिक कर्मचारी हैं। उनका कर्त्तव्य उसकी आज्ञाओं का पालन करना है, और उसके साथ समझौता करने के लिए शर्तें पेश करने का उन्हें कोई भी अधिकार नहीं है। यदि वे नानकिंग सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके उसे अपना कैदी समझते हैं, तो उन्हें पूरा अधिकार है, कि वे या तो उसे जान से मार दें, और या उसके साथ जैसा उचित समझें, बरताव कर सकें। चियांग काई शेक को १२ दिसम्बर, १९३६ के दिन गिरफ्तार किया गया था। तेरह दिन बाद २५ दिसम्बर को उसे कैद से मुक्त कर दिया गया। इस बीच में मदाम चियांग काई शेक अपने भाई टी० वी० सुंग के साथ शेन्सी प्रान्त की राजधानी सिआन (जहां कि अब नानकिंग सेना का हेड-क्वार्टर था) पहुंच गई थी। उनकी प्रेरणा से चियांग काई शेक इस बात के लिए तैयार हो गया, कि चांग ह्सुएह लिआंग और कम्युनिस्ट सेनापति चाउ एन-लाई के साथ बात-चीत करे। पर उसने इन सेनापतियों के साथ किसी भी प्रकार का समझौता नहीं किया। इस बीच में चांग ह्सुएह लिआंग को चियांग काई शेक की डायरी पढ़ने का अवसर प्राप्त हुआ। डायरी को पढ़कर उसे यह भलीभाँति समझ में आ गया कि चियांग काई शेक वस्तुतः देशभक्त है, और उसका उद्देश्य चीन का हित करना ही है। वह चीन की राष्ट्रीय एकता पर क्यों इतना अधिक जोर देता है, यह बात भी उसने सुचारु रूप से समझ ली। कम्युनिस्ट नेता भी यह स्वीकार करते थे, कि जापान के विरुद्ध संघर्ष करने के लिये चियांग काई शेक की उपयोगिता निर्विवाद है। उनका यह विचार था, कि यदि इस महा-सेनापति को कत्ल कर दिया जायगा, तो चीन में इससे बहुत अधिक रोष फैलेगा और कम्युनिस्ट पार्टी बदनाम हो जायगी। इसमें सन्देह नहीं, कि चीन में चियांग काई शेक की स्थिति बहुत ऊँची थी। लोग उसे अपना राष्ट्रीय नेता मानते थे। इस दशा में चांग ह्सुएह लिआंग और कम्युनिस्ट नेताओं ने यही उचित समझा, कि उसे मुक्त कर दिया जाय। चियांग काई शेक नानकिंग वापस लौट आया, और चांग ह्सुएह लिआंग भी उसके साथ नानकिंग आ गया। वहां उस पर विद्रोह के लिए मुकदमा चलाया गया, और उसे दण्ड भी दिया गया। पर यह दण्ड केवल नियन्त्रण को कायम रखने के लिए ही दिया गया था, और बाद में चियांग काई शेक के आदेश से उसे माफ भी कर दिया गया था। इसमें सन्देह नहीं, कि सिआन की इस घटना ने चांग ह्सुएह लिआंग को एक बार फिर चियांग-काई शेक का अनुरक्त सेनापति बना दिया था।

२५ दिसम्बर, १९३६ को जब चियांग काई शेक को कैद से रिहा कर दिया गया, तो कम्युनिस्टों और नानकिंग सरकार में युद्ध का अन्त हो गया। इस समय चीन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोकमत गृह-कलह को बन्द कर जापान के विरुद्ध संघर्ष को प्रारम्भ कर देने के पक्ष में था। चियांग काई शेक जैसे स्वच्छन्द व स्वेच्छाचारी महासेनापति के लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वह लोकमत की सर्वथा उपेक्षा कर सके। कम्युनिस्ट इस बात के लिये प्रबल आन्दोलन करने में तत्पर थे, कि विविध दलों को आपस के मतभेदों को भुलाकर जापान के प्रभुत्त्व को नष्ट करने के लिये सम्मिलित रूप से प्रयत्न करना चाहिए। परिणाम यह हुआ, कि कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग दलों में समझौते की बात शुरू हुई। यह बातचीत अभी समाप्त नहीं हुई थी, कि जुलाई, १९३७ में चीन और जापान में युद्ध का सूत्रपात हो गया। इस युद्ध के कारणों पर हम अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे। पर अब कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग दलों की सम्मिलित शक्ति जापान का मुकाबिला करने के लिये सन्नद्ध थी। २५ दिसम्बर, १९३६ के बाद शेन्सी की कम्युनिस्ट सरकार और नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार में संघर्ष का अन्त हो गया था, और इन दोनों सरकारों में एक प्रकार की सुलह हो गई थी। इस प्रकार १९३७ में चीन-जापान युद्ध के प्रारम्भ होने के समय चीन में दो पृथक् सरकारें विद्यमान थीं—शेन्सी की कम्युनिस्ट सरकार और नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार। इन दोनों की अपनी-अपनी पृथक् सेनाएं थीं, और दोनों अपने-अपने क्षेत्रों में अपने विचारों के अनुसार शासन और सामाजिक व्यवस्था के विकास में तत्पर थीं।

यहाँ यह भी निर्दिष्ट कर देना आवश्यक है, कि १९३७ में चीन के बड़े भाग पर नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन स्थापित था। यह बात ध्यान देने योग्य है, कि महासेनापति चियांग काई शेक की गिरफ्तारी के अवसर पर भी क्वांग्सी, क्वांग्तुंग, हूनान, क्वेइ-चू आदि सुदूरस्थ प्रान्तों की सेनाओं ने नानकिंग सरकार के खिलाफ कोई विद्रोह नहीं किया। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि इस समय चीन में राष्ट्रीय एकता पर्याप्त अंशों में स्थापित हो गई थी। राष्ट्रीयता और देशभक्ति की भावनाएं चीन में बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थीं, और लोग अनुभव करते थे, कि चीन में एक सुव्यवस्थित केन्द्रीय सरकार का संगठन होना चाहिए। एक शक्तिशाली सुव्यवस्थित सरकार के लिए ही यह सम्भव हो सकता है, कि वह चीन में जापान की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति का सफलता-पूर्वक मुकाबिला कर सके। इस समय चीन की जनता यह भी अनुभव करती थी, कि देश की केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों को आधुनिक ढंग से सुव्यवस्थित रूप में संगठित किया जाना चाहिए। जनता लोकतन्त्रवाद का अनुसरण करके चीन की सरकार के पुनःसंगठन के पक्ष में थी, पर चियांग काई शेक की प्रवृत्ति सब राजशक्ति को अपने हाथों में रखने की थी। इस दृष्टि से वह हिटलर और मुसोलिनी का समकक्ष था।

आर्थिक समस्या—चीन की सरकार के सम्मुख जहाँ राष्ट्रीय एकता की स्थापना और जापान के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभुत्त्व का मुकाबिला करने की महत्वपूर्ण राजनीतिक समस्याएं विद्यमान थीं, वहाँ साथ ही उसकी आर्थिक समस्या भी कम महत्व की नहीं थी। चीन की राजकीय आमदनी निरन्तर कम होती जा रही थी। इसके मुख्य कारण निम्न-लिखित थे—(१) मञ्चूरिया और जहोल के प्रान्त उसकी अधीनता से निकल गये थे। इनसे अब कोई भी आमदनी नहीं होती थी। होपेई की कौंसिल ने जापान के आयात माल पर तट-कर की मात्रा में २५ प्रतिशत की कमी कर दी थी। इससे होपेई के मार्ग से जापानी माल बहुत बड़ी मात्रा में चीन आने लगा था। आयात माल पर तट-कर द्वारा जो आमदनी चीन की सरकार को होती थी, उसे इससे भारी आघात पहुँच रहा था। (३) चीन में इस समय अनेक नदियों में भयंकर बाढ़ें आईं, और उनसे बहुत बड़े क्षेत्र की फसलें नष्ट हो गईं। फसलों के विनाश से जहां राजकीय आमदनी में कमी आई, वहां साथ ही बाढ़-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ितों की सहायता के लिए सरकार को भारी रकम भी खच करनी पड़ी। (४) १९२९-३२ के विश्वव्यापी अर्थसंकट का, जिसका उल्लेख हम इतिहास में पहले कर चुके हैं, चीन की आर्थिक दशा पर भी बहुत बुरा असर हुआ। (५) आर्थिक संकट के कारण १९३४ में ब्रिटेन ने अपने सिक्के पौंड का, जो पहले सुवर्ण पर आश्रित था, सुवर्ण से सम्बन्ध हटा दिया था। जून, १९३४ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी अपने सिक्के डालर की कीमत को गिरा दिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि पौंड और डालर के बदले में सोने और चांदी की कीमतें बढ़ने लगीं। इस समय तक चीन का सिक्का चाँदी पर आश्रित था, और चीन में चाँदी सस्ती सी। इस कारण अमेरिका भारी परिमाण में चीन से चाँदी खरीदने लगा, और चीन की बहुत-सी चाँदी विदेशों में जाने लग गई। इस दशा में चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह अपनी मुद्रा-पद्धति को चाँदी पर आश्रित रख सके। ४ नवम्बर, १९३५ के दिन चीन ने भी विवश होकर अपने सिक्के और चाँदी में सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया। चीन के चार बड़े बैंकों को यह अधिकार दिया गया, कि वे पत्र-मुद्रा जारी कर सकें। जिस समय चीन की मुद्रा-पद्धति चाँदी पर आश्रित थी, पत्रमुद्रा उसी परिमाण में जारी की जा सकती थी, जितनी कि चाँदी राज्यकोष में विद्यमान हो। कागजी नोट के बदले में जब चाहे तब चाँदी प्राप्त की जा सकती थी। पर अब चीन के कागजी नोट चाँदी पर आश्रित नहीं रह गए। मुद्रा-पद्धति के चाँदी पर आश्रित न रहने का यह परिणाम हुआ, कि चीन में वस्तुओं की कीमतें निरन्तर बढ़ने लगीं। जनता को इससे बहुत अधिक कष्ट का सामना करना पड़ा। विदेशी व्यापार पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, और सरकारी आमदनी में कमी आने लगी। हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि अपनी मुद्रापद्धति को संभालने के लिये इस समय चीन की सरकार ने जिन उपायों का आश्रय लिया, उनका संक्षेप में भी उल्लेख कर सकें। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि इस समय चीन की सरकार के सम्मुख आर्थिक समस्या भी अत्यन्त विकट रूप से विद्यमान थी, और इसी कारण देश की उन्नति की विविध योजनाओं को पूर्ण कर सकना उसके लिए सुगम नहीं रहा था।

(२) युद्ध का सूत्रपात

अब चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो गई थी। नानकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन प्रायः सम्पूर्ण चीन पर विद्यमान था। उत्तर-पश्चिमी चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने भी नानकिंग सरकार के साथ समझौता कर लिया था। चीन में जो राष्ट्रीय एकता स्थापित हुई थी, उसका मूल कारण यह था, कि वहाँ के सब राजनीतिक दलों के नेता, प्रान्तीय सूबेदार और सेनापति यह अनुभव करने लगे थे, कि चीन में जापान जिस ढंग से अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार कर रहा है, उसका मुकाबिला किया जाना चाहिये। जापान के प्रति विरोध व विद्वेष की भावना चीन में निरन्तर प्रबल होती जाती थी। यही कारण है, कि अनेक चीनी देशभक्त जापानियों पर हमले करने में भी तत्पर रहते थे। हैन्को में एक जापानी पुलिसमैन (जो उस नगर में स्थापित जापानी कान्सलेट की सर्विस में था) की हत्या कर दी गई। स्वेतो नगर के एक जापानी रेस्तराँ में एक बम्ब मिला, जिसे सम्भवतया किसी चीनी देशभक्त ने वहाँ रख दिया था। पेकिंग से कुछ दूरी पर फेंगताई में एक जापानी आफिसर पर हमला कर दिया गया। इसी प्रकार की अनेक घटनाएं चीन के विविध नगरों में होती रहती थीं, जो इस बात की परिचायक हैं कि चीन के लोगों में जापानियों के प्रति विद्वेष की भावना किस हद्द तक बढ़ गई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दशा में चीन और जापान में किसी भी छोटी-सी घटना को लेकर लड़ाई शुरू हो सकती थी। दोनों देश लड़ाई के लिये तैयार थे। जापान चीन में अपने प्रभुत्व को और अधिक विस्तृत करना चाहता था। दूसरी ओर चीन की जनता में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल थी, और चीन की कुओमिन्ताँग तथा कम्युनिस्ट सरकारें परस्पर मिलकर जापान का मुकाबिला करने के लिए तत्पर थीं। आखिर, ७ जुलाई, १९३७ को वह घटना घटित हुई, जिसने बारूदखाने में चिनगारी का काम किया, और चीन तथा जापान की विद्वेषाग्नि को युद्ध के रूप में प्रज्वलित कर दिया।

लुकूचिआओ की घटना—जिस घटना द्वारा चीन और जापान के युद्ध का श्री-गणेश हुआ, वह लुकूचिआओ में घटित हुई थी। यह स्थान पेकिंग के समीप है, और यहां जापानी सेना लड़ाई का अभ्यास करने में तत्पर थी। बोक्सर युद्ध के बाद अन्य राज्यों के साथ चीन ने जो सन्धियाँ की थीं, उनके अनुसार जापान को भी यह अधिकार प्राप्त था, कि वह पेकिंग और तीन्त्सिन में अपनी सेनाएं रख सकें। इसलिए जापान की एक सेना पेकिंग में विद्यमान थी, और वह युद्ध का अभ्यास करने के लिए लुकूचिआओ को प्रयुक्त कर रही थी। १९३५ में पेकिंग में स्थित जापानी सेना की संख्या बहुत बढ़ा दी गई थी। यह बात विवादग्रस्त है, कि क्या पुरानी सन्धियों के आधार पर जापान को यह अधिकार था, कि वह सैनिक अभ्यास के लिए लुकूचिआओ को प्रयुक्त कर सके। ७ जुलाई, १९३७ को चीनी सिपाहियों और लुकूचिआओ में विद्यमान जापानी सैनिकों में गोली चल गई। इसके लिये कौन उत्तरदायी था, यह निश्चित कर सकना बहुत कठिन है। जापानी लोगों का कथन है, कि गोलाबारी का प्रारम्भ चीनी सैनिकों ने किया था, और चीनी लोग इसके लिये जापानी सैनिकों को दोषी ठहराते हैं। दोष चाहे किसी का हो, पर यह स्पष्ट है कि लुकूचिआओ की इस घटना ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया, और इसके कारण चीन और जापान के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। तीन सप्ताह तक दोनों देशों की सरकारों में समझौते की बातचीत जारी रही। जापान की मांग थी, कि पेकिंग और तीन्त्सिन के क्षेत्र से चीनी सेनाएं हट ली जाएं। इससे पहले उत्तरी होपेई से चीनी सेनाएं हटा ली जा चुकी थीं। अब जापान चाहता था, कि दक्षिणी होपेई (पेकिंग और तीन्त्सिन दक्षिणी होपेई के ही नगर हैं) को भी चीनी सेनाओं से खाली कर दिया जाय। चीन की सरकार जापान की इस मांग को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं हुई। परिणाम यह हुआ, कि दोनों देशों में युद्ध प्रारम्भ हो गया।

कम्युनिस्टों से समझौता—हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं, कि २५ दिसम्बर, १९३६ के बाद कुओमिन्तांग और कम्युनिस्टों में लड़ाई बन्द हो गई थी, और उन्होंने समझौते की बात शुरू कर दी थी। कम्युनिस्ट लोग गृह कलह के विरुद्ध थे, और देश की सम्पूर्ण शक्ति को जापान के विरुद्ध युद्ध में लगा देने के लिए उत्सुक थे। लुकूचि-आओ की घटना के बाद जब चीन और जापान में युद्ध की सम्भावना सर्वथा स्पष्ट हो गई, तो चियांग काई शेक ने भी यह अनुभव किया कि कम्युनिस्टों के साथ सुलह कर लेने में ही चीन का लाभ है। इस स्थिति में दोनों दलों में समझौता होने में देर नहीं लगी। इस समझौते की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) उत्तर पश्चिमी-चीन के जिन प्रदेशों (शेन्शी और कान्सू) पर कम्युनिस्टों का अधिकार है, वहां उनका शासन कायम रहे। (२) इन प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का अपना स्वतन्त्र व पृथक् राज्य राज्य रहे, जो चीन का अंग होते हुए भी शासन की दृष्टि से कम्युनिस्टों के अधीन हो। (३) कम्युनिस्ट सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना का ही अंग मान लिया जाय, और कम्युनिस्ट सेनापति जापान के साथ युद्ध करते हुए महासेनापति चियांग काई शेक के आदेशों का पालन करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन के आधुनिक इतिहास में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों का यह समझौता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके कारण जापान के विरुद्ध संघर्ष के काल में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में सिद्धान्तों और विचारधारा में मौलिक भेद होते हुए भी परस्पर समझौता हो गया था, और वे एक साथ मिलकर जापान का मुकाबिला करने के लिये तत्पर हो गए थे। कम्युनिस्ट सेना को चीन की राष्ट्रीय सेना में 'आठवीं सेना' नाम दे दिया गया था, और वह भी महासेनापति चियांग काई शेक की आज्ञानुवर्तिनी बन गई थी।

(३) युद्ध का इतिवृत्त

हमारे लिए इस इतिहास में यह सम्भव नहीं हैं, कि चीन और जापान के युद्ध का वृत्तान्त विशद रूप से लिख सकें। पर उसकी कतिपय महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है। इस युद्ध की घटनाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) युद्ध के प्रारम्भ से नानकिंग पर जापान के आधिपत्य की स्थापना तक। १५ दिसम्बर, १९३७ को जापानी सेनाओं ने नानकिंग पर अपना अधिकार कायम कर लिया था। (२) अक्टूबर, १९३८ तक जापान ने हैन्को और कैन्टन को भी जीत लिया था। चीन की सरकार ने पहले (नानकिंग के जापानियों के हाथ में चले जाने पर) हैन्को को अपनी राजधानी बनाया था, और जब हैन्को पर भी जापान का कब्जा हो गया, तो चीन की राजधानी चुंगकिंग (पश्चिमी चीन के श्जेच्वान प्रान्त में) को बना दिया गया था। (३) चुंगकिंग को राजधानी बना लेने के बाद चीन की कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्रों से जापान के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा। यद्यपि जापान इस समय उत्तरी, पूर्वी और दक्षिणी चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था, पर पश्चिमी तथा उत्तर-पश्चिमी चीन को वह अपनी अधीनता में नहीं ला सका। इन प्रदेशों में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों की सत्ता कायम रही। इसी बीच में बीसवीं सदी का द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) प्रारम्भ हो गया, और जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया की विजय में प्रवृत्त हुआ। रूस, अमेरिका और ब्रिटेन चीन की सहायता में तत्पर रहे, और इन शक्तिशाली देशों से सहायता प्राप्त कर चीन की कम्युनिस्ट और कुओमिन्तांग सरकारें जापान के विरुद्ध संघर्ष में व्यापृत रहीं।

पुस्तकालय

उत्तरी चीन और नानकिंग पर जापान का प्रभुत्व—युद्ध के शुरू होते ही २७ जुलाई, १९३७ को जापानी सेनाओं ने पेकिंग पर कब्जा कर लिया। पेकिंग होपेई प्रान्त की राजधानी था, और उसे जीत लेने पर सम्पूर्ण होपेई प्रान्त जापान के अधीन हो गया। इसके बाद जापानी सेनाओं ने चहर और सुईयुआन प्रान्तों पर आक्रमण किया, और उन्हें भी जीत लिया। ये प्रान्त आभ्यन्तर मंगोलिया के अंग थे, और ये पहले भी जापान के प्रभाव-क्षेत्र में थे। पर अब उनमें जापानी सेनाएं प्रविष्ट हो गईं, और वे पूरी तरह से जापान की अधीनता में आ गये। चहर और सुईयुआन पर कब्जा करने के बाद जापानी सेनाओं ने शान्सी प्रान्त पर आक्रमण किया। यह प्रान्त होपेई के पश्चिम ओर शेन्सी प्रान्त के पूर्व में स्थित है। शेन्सी कम्युनिस्ट सरकार के अधीन था, अतः शान्सी पर आक्रमण करने वाली जापानी सेनाओं का कम्युनिस्ट सेनाओं ने डट कर मुकाबिला किया। कम्युनिस्टों के कारण जापानी लोग शान्सी के पश्चिमी प्रदेशों को अपने अधिकार में नहीं ला सके। इस प्रकार युद्ध के शुरू होने के बाद कुछ ही दिनों में जापान ने होपेई, चहर, सुईयुवान और पूर्वी शान्सी पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। अपने नये जीते हुए प्रदेशों का शासन करने के लिए जापान ने दो नई सरकारों का संगठन किया। २९ अक्टू-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बर, १९३७ को 'मंगोलिया की स्वतन्त्र सरकार' संगठित की गई, और चहर तथा सुई-युआन प्रान्तों का शासन इसके सुपुर्द कर दिया गया। इसी प्रकार १४ दिसम्बर, १९३७ को पेकिंग में एक पृथक् सरकार संगठित की गई, और होपेई प्रान्त तथा शान्सी प्रान्त के पूर्वी प्रदेश इस पेकिंग सरकार के अधीन कर दिए गए। पेकिंग सरकार का प्रधान वांग केह मिन को नियुक्त किया गया, जो कि कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष से पूर्व पेकिंग सरकार का अर्थमन्त्री रह चुका था। इन विजित प्रदेशों के शासन के लिए जो नई सरकारें संगठित की गई थीं, उनके प्रमुख राजकर्मचारी चीनी लोग ही थे, यद्यपि वे जापानी सलाहकारों के परामर्श के अनुसार ही अपने-अपने क्षेत्र में शासन करते थे।

मंगोलिया, होपेई और पूर्वी शान्सी के प्रान्तों को अपने अधीन करने के साथ-साथ जापानियों ने चीन के समुद्रतट पर भी आक्रमण किया। नवम्बर, १९३७ में एक शक्तिशाली जापानी सेना ने समुद्रमार्ग द्वारा शंघाई पर हमला किया। चियांग काई शेक की सेनाओं ने वहां डटकर जापानी आक्रमण का मुकाबिला किया। पर चीन के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह जापानी आक्रमण की गति को रोक सके। नवम्बर मास के समाप्त होने से पूर्व ही चीनी सेनाओं ने शंघाई को खाली कर दिया, और उस पर जापान का कब्जा हो गया। शंघाई को जीत लेने के बाद नानकिंग पर आक्रमण कर सकना कठिन नहीं था। नानकिंग के युद्ध में भी चीनी सेनाएं परास्त हुई, और १५ दिसम्बर, १९३७ के दिन जापान ने नानकिंग पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। नानकिंग कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी था। जापानी सेनाओं के प्रवेश से पूर्व ही चियांग काई शेक ने वहां से अपनी सरकार को हटा लिया था, और सरकार के सब कार्यालय हैन्को पहुँचा दिये गये थे। नानकिंग में जापानी सेनाओं ने जनता पर बहुत भयंकर अत्याचार किए। सेना द्वारा इस समृद्ध एवं वैभवशाली नगर को बुरी तरह से लूटा गया। इस लूट के विशद वृतान्त यूरोप और अमेरिका के समाचार-पत्रों में प्रकशित हुए, जिन्हें पढ़कर पाश्चात्य संसार का लोकमत जापान के बहुत विरुद्ध हो गया।

हैन्को और कैन्टन की विजय—उत्तरी चीन, शंघाई और नानकिंग पर कब्जा कर लेने के बाद जापान ने चीन के एक अच्छे बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। जापान सम्भवतः चीन में इससे अधिक आगे नहीं बढ़ना चाहता था। जिस प्रकार १९३१ में मंचूरिया में उसने अपने वशवर्ती एक नये राज्य की स्थापना कर ली थी, उसी प्रकार शायद वह इन प्रदेशों में भी ऐसे एक या अधिक राज्य स्थापित कर देना चाहता था, जो मञ्चूकुओ के समान ही उसके वशवर्ती हों और जिनका चीन के साथ कोई सम्बन्ध न रहे। इस समय वह चीन में इससे अधिक आगे बढ़ने के लिए इच्छुक नहीं था। पर चीन में राष्ट्रीयता की भावना इतनी अधिक प्रबल हो चुकी थी, कि वहां का लोकमत अपने 'मध्यदेश' में एक विदेशी शक्ति के प्रभुत्व को किसी भी रूप में सहन करने के लिए तैयार नहीं था। यही कारण है, जो नानकिंग की विजय के साथ चीन-जापान के युद्ध की समाप्ति नहीं हो गई। अब जापान के सम्मुख केवल यही मार्ग शेष था, कि वह सम्पूर्ण चीन को अपनी अधीनता में ले आने के लिए संघर्ष को जारी रखे। अन्यथा, चीन में उसकी स्थिति सुरक्षित नहीं रह सकती थी।

चीन की कुओमिन्तांग सरकार की नई राजधानी हैन्को थी। अतः जापानी सेनाओं ने उसकी ओर आगे बढ़ना शुरू किया। हैन्को पर आक्रमण दो दिशाओं से किया गया। नानकिंग की जापानी सेनाओं ने पूर्व की ओर से और पेकिंग की सेनाओं ने उत्तर की ओर से हैन्को की तरफ प्रस्थान किया। इस समय शांतुंग प्रान्त का सूबेदार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हान फू-चू था। उसे चाहिए था, कि वह पेकिंग से दक्षिण की ओर बढ़ती हुई जापानी सेनाओं का डटकर मुकाबिला करता। पर उसने अपने कार्य में शिथिलता प्रदर्शित की। परिणाम यह हुआ, कि पेकिंग की सेनाओं ने शांतुंग पर भी अपना अधिकार स्थापित कर लिया। हान फू-चू पर कर्तव्यपालन न करने के लिए मुकदमा चलाया गया, और उसे प्राणदण्ड दिया गया। जिस समय पेकिंग की उत्तरी सेनाएं और नानकिंग की सेनाएं हैन्को की ओर आगे बढ़ने में तत्पर थीं, उसी समय समुद्र के मार्ग से जापान की एक अन्य सेना कैन्टन पर भी आक्रमण कर रही थी। १७ अक्टूबर, १९३८ को उसने कैन्टन पर कब्जा कर लिया। २१ अक्टूबर, १९३८ को हैन्को भी जीत लिया गया, और चीन की सरकार अपनी इस नई राजधानी को भी छोड़कर चुंगकिंग चले जाने को विवश हुई। हैन्को को जीतने में जापान को जो इतना अधिक समय लगा, उसमें चीनी सेनाओं का प्रतिरोध जहां महत्त्वपूर्ण कारण था, वहाँ साथ ही पश्चिमी चीन की दुर्गमता भी उसमें कारण थी।

नानकिंग की नई सरकार— जब जापान की सेनाएं हैन्को के समीप पहुंच गईं, तो अनेक चीनी नेता यह समझने लगे कि, जापान के साथ युद्ध को जारी रखना व्यर्थ है। उनकी दृष्टि में अब वह समय आ गया था, जबकि जापान के साथ समझौता करने में ही देश का हित था। इस दल का नेता वांग चिंग वेई था। पर चियांग काई शेक और अन्य नेता जापान के विरुद्ध युद्ध को जारी रखने के पक्ष में थे। परिणाम यह हुआ कि वांग चिंग वेई और उसके अनुयायी कुओमिन्तांग सरकार से पृथक् हो गए। चियांग काई शेक और उसके पक्षपातियों ने उन्हें देशद्रोही घोषित कर दिया। इस समय जापान की ओर से स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की जा रही थी, कि हैन्को को जीत लेने के बाद उसकी सेनाओं का कार्य समाप्त हो जायगा और जापान यह प्रयत्न करेगा कि जिन प्रदेशों को कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता से स्वतन्त्र कर दिया गया है, उनमें एक ऐसी चीनी सरकार की स्थापना की जाय, जो जापान को अपना शत्रु न समझे और जो उसके साथ सहयोग करते हुए देश की उन्नति में तत्पर हो। पूर्वी एशिया में जापान और चीन दो ही प्रमुख राज्य हैं, और उनमें विरोधभावना की सत्ता एशिया के उत्कर्ष के लिये हानिकारक है। अतः पूर्वी एशिया में चिरशान्ति की स्थापना के लिए यह आवश्यक है, कि चीन की सरकार जापान के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखे। जापान का उद्देश्य चीन में अपना प्रभुत्व स्थापित करना नहीं है, वह उसका सहयोगी एवं मित्र बनकर रहना चाहता है। वांग चिंग वेई जापान की इस नीति से बहुत प्रभावित हुआ, और उसने नानकिंग में एक नई चीनी सरकार को संगठित करना स्वीकार कर लिया। वांग चिंग वेई द्वारा स्थापित इस नानकिंग सरकार पर हम इसी अध्याय में आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

चीन के दो विभाग—हैन्को के पतन के बाद चीन दो भागों में विभक्त हो गया—(१) स्वतन्त्र चीन, और (२) जापान द्वारा अधिकृत चीन। उत्तर में पेकिंग से शुरू कर मध्य में हैन्को होती हुई दक्षिण में कैन्टन तक यदि एक रेखा खींची जाय, तो इस रेखा के पश्चिमी प्रदेश 'स्वतन्त्र चीन' थे, और इस रेखा से पूर्व की ओर के प्रदेश जापान द्वारा अधिकृत थे। स्वतन्त्र चीन के भी दो विभाग थे। कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी चुंगकिंग थी, और कम्युनिस्ट सरकार की येनान (उत्तरी शेन्सी प्रान्त में)। १९३६ के बाद इन दोनों स्वतन्त्र चीनी सरकारों में सहयोग की भावना निरन्तर कम होती गई। चीन के पूर्वी प्रदेशों पर जापान का आधिपत्य स्थापित हो चुका था, और स्वतन्त्र चीन की इन दोनों सरकारों के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान को चीन से बाहर निकाल सकें। इस दशा में उनमें विद्वेष का भाव पुनः जागृत होने लग गया था। इस विद्वेष का एक कारण यह भी था, कि इस समय स्वतन्त्र चीन का बाह्य संसार से समुद्र मार्ग द्वारा कोई सम्बन्ध नहीं रहा था। उत्तर-पश्चिमी चीन में जो कम्युनिस्ट सरकार स्थापित की, उसके लिए स्थलमार्ग द्वारा रूस के साथ सम्बन्ध कायम रख सकना अधिक सुगम था। वह रूस से अस्त्र-शस्त्र आदि की सहायता अधिक सुगमता के साथ प्राप्त कर सकती थी। इसके विपरीत चुंगकिंग में स्थापित कुओमिन्तांग सरकार के लिए पाश्चात्य देशों से सहायता प्राप्त करने के केवल तीन मार्ग थे—(१) फ्रेंच इंडोचायना से फ्रेंच यूनान रेलवे द्वारा और फिर मोटर रोड से होकर चुंगकिंग को युद्ध सामग्री पहुँचायी जा सकती थी। यह मार्ग सुगम था, पर इसकी सफलता इस बात पर निर्भर थी, कि फ्रांस किस हद् तक चुंगकिंग सरकार की सहायता करने को तैयार है। (२) बरमा के उत्तरी मार्गों द्वारा भी स्वतन्त्र चीन को सहायता पहुँचायी जा सकती थी। पर ये मार्ग अभी भली-भाँति विकसित नहीं हुए थे। महायुद्ध के दौरान में ब्रिटिश और अमेरिकन लोगों ने उत्तरी बरमा में मोटर रोड का निर्माण इसी उद्देश्य से किया था, ताकि जापान के विरुद्ध कुओमिन्तांग सरकार की सहायता की जा सके। (३) हांगकांग से वायुयानों द्वारा भी चुंगकिंग को युद्ध सामग्री भेजी जा सकती थी। महायुद्ध के समय पर ब्रिटेन और अमेरिका आदि ने इसी मार्ग का आश्रय लेकर चुंगकिंग सरकार की मदद करने का प्रयत्न किया था। पर वायुयानों द्वारा प्रचुर परिमाण में स्वतन्त्र चीन को सहायता पहुंचा सकना सम्भव नहीं था। क्योंकि कुओमिन्तांग सरकार का पाश्चात्य देशों के साथ सम्पर्क बहुत कम रह गया था, अतः जापान का मुकाबिला करने के सम्बन्ध में उसकी शक्ति निरन्तर क्षीण होती जाती थी। इसके विपरीत रूस से सहायता प्राप्त करने की सुविधा होने के कारण येनान की कम्युनिस्ट सरकार अपने को उतना असहाय अनुभव नहीं करती थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि चियांग काई शेक की सरकार कम्युनिस्टों से ईर्ष्या करने लगे, और उसे यह भय हो कि कहीं कम्युनिस्ट लोग इतने प्रबल न हो जायें, कि वे सम्पूर्ण चीन में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना का स्वप्न लेने लगें।

गुरीला युद्ध—चीन के जो प्रदेश जापान द्वारा अधिकृत थे, उनमें इस प्रकार की सरकारें स्थापित हो गई थीं, जो ऊपर से देखने में पूर्णतया चीन की अपनी सरकारें थीं। मंगोलिया की स्वतन्त्र सरकार का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मंचूकुओ के समान मंगोलिया के चहर और सुईयुआन प्रान्तों में भी एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर दिया गया था। पेकिंग को राजधानी बनाकर उत्तरी चीन में और नानकिंग को राजधानी बनाकर दक्षिणी चीन में दो पृथक् राज्य कायम हुए थे, जिनका शासन चीनी लोगों के ही हाथ में था। पर मंचूकुओ के समान पेकिंग और नानकिंग के राज्य भी जापान के वशवर्ती थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि इन राज्यों में निवास करने वाले राष्ट्रवादी देशभक्त लोग जापान की कठपुतलियों के समान आचरण करने वाली पेकिंग और नानकिंग की सरकारों के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए तत्पर हो जाएं। उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे सम्मुख युद्ध में जापान का मुकाबिला कर सकें, अतः उन्होंने गुरीला युद्ध-नीति का आश्रय लिया। देशभक्त चीनी लोगों के अनेक गिरोह जापान की सेनाओं पर आक्रमण करने लगे और उन्होंने ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी, जिसके कारण उत्तरी और दक्षिणी चीन में जापानियों की स्थिति बहुत अरक्षित हो गई।

युद्ध की प्रगति—हैन्को के पतन के बाद जापानी लोग चीन में युद्ध को समाप्त कर देना चाहते थे। उनका विचार था, कि अपनी निरन्तर पराजयों के कारण चीनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों को यह अनुभव करने में कठिनाई नहीं होगी, कि युद्ध को जारी रखना निरर्थक है, और वे सन्धि के लिए तैयार हो जायेंगे। पर उन्हें निराशा का सामना करना पड़ा। महासेनापति चियांग काई शेक ने यही निश्चय किया, कि जापान के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखा जाय। परिणाम यह हुआ, कि जापान ने भी हैन्को से आगे बढ़ना शुरू किया। नवम्बर, १९३८ में योचो पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो गया, और उसके कुछ मास बाद इचांग जापान की अधीनता में चला गया। मार्च, १९३९ में कियांग्सी प्रान्त की राजधानी नानचांग जापानियों के हाथों में चली गई, और नवम्बर, १९३९ में जापानी सेनाओं ने पेखोई के बन्दरगाह को जीत लिया। यह बन्दरगाह कैन्टन के दक्षिण में स्थित है। पेखोई के बाद नानिंग पर आक्रमण किया गया। नानिंग क्वांग्सी प्रान्त में है। यह चीन के सबसे दक्षिणी प्रदेश में इन्डोचायना की उत्तरी सीमा पर स्थित है। नानिंग पर कब्जा करने में जापान का यह उद्देश्य था, कि फ्रेंच इन्डोचायना के मार्ग द्वारा स्वतन्त्र चीन को युद्ध सामग्री भेज सकना सम्भव न रहे। वायुयानों की दृष्टि से चीन की शक्ति जापान के सम्मुख नगण्य थी। अतः जापान की वायुसेना स्वतन्त्र चीन के नगरों और व्यवसाय-केन्द्रों पर स्वेच्छापूर्वक आक्रमण करती रह सकती थी। चुंगकिंग सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह जापान के हवाई हमलों को किसी भी प्रकार से रोक सके। १९३९ में यूरोप में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया था। अब पाश्चात्य देशों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे पूर्वी एशिया के मामलों पर अधिक ध्यान दे सकें। यह स्थिति जापान के लिये बहुत अनुकूल थी। उसने इसका पूर्ण रूप से उपयोग किया, और चीन में अपनी शक्ति को भलीभांति सुदृढ़ कर लिया। पर कुछ समय बाद ही जापान भी इस महायुद्ध में शामिल हो गया। महायुद्ध के अवसर पर चीन ने किस प्रकार जापान का मुकाबिला किया, और किस प्रकार कुओमिन्तांग तथा कम्युनिस्ट सरकारों ने जापान के विरुद्ध संघर्ष किया, इस विषय पर हम यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

(४) स्वतन्त्र चीन

जनता का प्रवास—चीन और जापान के युद्ध की मुख्य घटनाओं पर हमने पिछले प्रकरण में संक्षेप से प्रकाश डाला है। अब हम इस बात पर विचार करेंगे, कि स्वतन्त्र चीन के जिन प्रदेशों पर चुंगकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का शासन था, उनकी क्या दशा थी। जापानी सेनाओं के आक्रमण के कारण जब नानकिंग की सरकार पश्चिम की ओर चले जाने के लिये विवश हुई, तो बहुत-से देशभक्त लोगों ने भी अपने घरबार को छोड़कर पश्चिम की ओर प्रस्थान कर दिया। पश्चिमी चीन में प्रवास करने वाले इन लोगों की संख्या लाखों में थी। जो लोग इस समय अपने घर-बार को छोड़कर कुओमिन्तांग सरकार का अनुसरण कर पश्चिम की ओर गये, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं।

(१) विद्यार्थी और अध्यापक लोग—चीन के ज्ञान और विद्या के सब महत्त्वपूर्ण केन्द्र पूर्वी तट के समीपवर्ती नगरों में स्थित थे। इन प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में हजारों विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे और विज्ञान, शिल्प कला आदि सब प्रकार की शिक्षा का इनमें प्रबन्ध था। चीन के इन विद्यार्थियों और शिक्षकों में राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त प्रबल थी। चीन में राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिये जो भी आन्दोलन हुए, चीनी विद्यार्थियों ने उनमें प्रमुख भाग लिया था। जापान के विरुद्ध भावना को उत्पन्न करने में भी उनका प्रमुख हाथ था। इस दशा में उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे जापान द्वारा अधिकृत प्रदेशों में रह सकें। कुओमिन्तांग सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ-साथ उन्होंने भी पश्चिम की ओर बड़ी संख्या में प्रस्थान किया, और चीन के जो अनेक कालिज तथा विश्वविद्यालय पहले पूर्वी चीन में स्थापित थे, अब पश्चिमी चीन में कायम किये गये। चीनी विद्यार्थी और शिक्षक अपने साथ में बहुत-सी पुस्तकें तथा अन्य शिक्षा-सामग्री भी ले गये। चीन में यातायात के साधनों की बहुत कमी थी। अतः बहुत से लोग पैदल यात्रा करने को विवश थे। पर पैदल जाते हुए भी उन्होंने इस बात का यत्न किया, कि वे पुस्तकों और प्रयोगशालाओं के उपकरणों को अधिक से अधिक संख्या में अपने साथ में ले जाएं। पश्चिमी चीन के श्जेच्वान, क्वेई-चू और यूनान प्रान्तों के जिन नगरों और ग्रामों को जापानी आक्रमणों से सुरक्षित समझा गया, वहां इन कालिजों और विश्वविद्यालयों की पुनःस्थापना कर दी गई।

(२) चीनी लोगों की यह नीति थी, कि जिन प्रदेशों पर जापानी सेनाओं का प्रभुत्व स्थापित होने की सम्भावना हो, उनकी फसलों को उजाड़ दें और उनके कारखानों को नष्ट कर दें, ताकि जापानी लोग उनका उपयोग न कर सकें। अतः कारखानों के मालिकों ने यह यत्न किया, कि पूर्वी चीन के कारखानों की मशीनरी को उखाड़ कर उसे पश्चिमी चीन में ले जाएं और वहाँ अपने कारखानों को नये सिरे से स्थापित करें। यह सम्भव नहीं था, कि युद्ध की परिस्थिति में सब मशीनरी को पश्चिम की ओर ले जाया जा सके। पर जिस अंश तक भी सम्भव हुआ, चीनी लोगों ने अपने कारखानों की मशीनरी को पश्चिमी चीन में पहुंचा दिया। रेल, मोटर, ठेला आदि जिस किसी साधन से भी सम्भव हुआ, उन्होंने अपनी मशीनों को पश्चिम पहुंचाया। इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि पश्चिमी चीन में बहुत-से कारखानों का विकास हुआ, और बहुत-से पूंजीपति व व्यवसायपति पूर्वी चीन को छोड़कर पश्चिम के विविध प्रान्तों में जा बसे।

(३) विद्यार्थियों, शिक्षकों और पूंजीपतियों के अतिरिक्त बहुत-से सम्पन्न लोग भी इस समय अपने परम्परागत घरों का परित्याग कर पश्चिमी चीन में चले आये। सम्भवतः, इन्हें अपने घर-बार को छोड़ने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं थी। पर इनका कुओमिन्तांग सरकार के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था, और जिस ढंग से इस समय चीन के विविध लोग पश्चिम की तरफ प्रस्थान में तत्पर थे, उसमें ये भी शामिल हो गये थे। ये समझते थे, कि जापानी सेनाओं के शासन में इनके जान और माल की रक्षा सम्भव नहीं होगी। इसलिए अन्य लोगों के समान ये भी पश्चिम में जा बसने के लिए तत्पर थे।

पश्चिमी चीन की उन्नति—लाखों की संख्या में बहुत-से विद्यार्थी, शिक्षक, पूंजीपति और सम्पन्न लोग इस समय पूर्वी चीन को छोड़कर पश्चिम के विविध प्रान्तों में बसने के लिये आ गये थे। इसके अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए। इन परिणामों को हम संक्षेप में इस प्रकार निर्दिष्ट कर सकते हैं:—

(१) पश्चिमी चीन में अनेक नये कालिज और विश्वविद्यालय स्थापित हुए। अब तक पश्चिमी चीन शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। पर अब वह चीन के ज्ञान और विज्ञान का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया।

(२) पश्चिमी चीन में बहुत-से नये कारखाने खोले गये। कुओमिन्तांग सरकार के लिए यह आवश्यक था, कि जापान के साथ युद्ध को जारी रखने के लिये युद्ध सामग्री को अपने क्षेत्र में ही तैयार किया जाय। विदेशों से अस्त्र शस्त्र आदि को प्राप्त कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि पश्चिमी चीन का पाश्चात्य संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था। इस परिस्थिति में चियांग काई शेक की सरकार तभी युद्ध को जारी रख सकती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, जबकि वह सब आवश्यक वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न करने का प्रयत्न करे। बहुत-से पूँजीपति अपने कारखानों की मशीनरी को पश्चिमी चीन में ले आये थे। परये कारखाने युद्ध की दृष्टि से पर्याप्त नहीं थे। अतः कुओमिन्तांग सरकार ने प्रयत्न किया, कि पश्चिमी चीन का आर्थिक दृष्टि से अधिक से अधिक विकास करे। इसके लिए उसने तीन कमीशनों की नियुक्ति की—(क) व्यावसायिक और खनिज द्रव्य कमीशन, इसके लिये एक करोड़ चीनी डालरों की पूंजी की व्यवस्था की गई। (ख) कृषि कमीशन, इसके लिए तीन करोड़ चीनी डालरों की पूंजी दी गई। (ग) व्यापार कमीशन, इसके लिए दो करोड़ चीनी डालर पूँजी दी गई। इन कमीशनों का उद्देश्य यह था, कि व्यवसाय, खान, कृषि और व्यापार की उन्नति के लिए योजनाएं तैयार करें, और उन योजनाओं को क्रिया में परिणत करें। इन कमीशनों ने अपने कार्य के लिये अनेक विदेशी विशेषज्ञों की सहायता प्राप्त की, और शीघ्र ही पश्चिमी चीन आर्थिक उन्नति के क्षेत्र में बहुत अधिक उन्नति कर गया। कृषि और व्यवसाय की उन्नति के बिना यह किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था, कि पश्चिमी चीन अपनी विशाल सेनाओं और पूर्वी चीन से आये हुए लोगों की आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकता। पर कृषि और व्यवसाय की उन्नति एक दम नहीं की जा सकती, इसके लिए समय की अपेक्षा होती है। यही कारण है, कि इस काल में पश्चिमी चीन के लोगों को बहुत-सी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। वहाँ वस्तुओं की मांग बहुत अधिक थी, पर उनकी उपलब्धि बहुत कम थी। इसका परिणाम यह हुआ, कि वस्तुओं की कीमतें बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगीं, और सर्वसाधारण जनता के लिए अपनी आवश्यकता की सामान्य वस्तुओं को भी प्राप्त कर सकना कठिन हो गया।

(३) इस समय चीन में बहुत-सी नई सड़कों और रेलवे लाइनों का निर्माण किया गया। युद्ध के सुचारु रूप से संचालन के लिए यातायात और आवागमन के साधनों का उन्नत होना बहुत आवश्यक था। कुओमिन्तांग सरकार ने इस ओर विशेष रूप से ध्यान दिया।

(४) अब तक पूर्वी चीन सभ्यता, संस्कृति और आर्थिक जीवन का केन्द्र था। पश्चिमी प्रान्त इन क्षेत्रों में बहुत पिछड़े हुए थे। आधुनिक युग के विचारों, संस्थाओं और आदर्शों का उन पर प्रभाव नाममात्र को ही था। इस दशा में चुंगकिंग के राजधानी बन जाने से इन प्रान्तों की सर्वतोमुखी उन्नति में बहुत अधिक सहायता मिली।

चुंगकिंग सरकार का शासन—जिस समय चीन की कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी नानकिंग में थी, तब भी उसका स्वरूप लोकतन्त्र नहीं था। मञ्चू राजवंश का अन्त कर चीन में रिपब्लिक की स्थापना अवश्य हो गई थी, पर चीन की रिपब्लिकन सरकार का संगठन लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार नहीं किया गया था। सम्भवतः, रिपब्लिक के नेताओं को इन सब बातों का अवकाश ही नहीं मिला था, कि वे देश में लोकतन्त्रवाद का विकास कर सकें। शुरू में उनकी सम्पूर्ण शक्ति विविध सिपहसालारों को अपने वश में लाने में लगी रही। बाद में चीन में अनेक ऐसी स्वतन्त्र सरकारें स्थापित हो गईं, जो नानकिंग के आधिपत्य को नहीं मानती थीं। चियांग काई शेक की शक्ति अब इन सरकारों को अपने अधीन कर राष्ट्रीय एकता की स्थापना में लग गई। चीन में राष्ट्रीय एकता अभी पूर्ण रूप से स्थापित नहीं हो पायी थी, कि जापान के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ हो गया। इस दशा में यदि चीन में लोकतन्त्र संस्थाओं का विकास न हो सका हो, तो इसे अस्वाभाविक व अनुचित नहीं कहा जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है, कि जब चुंगकिंग को राजधानी बनाकर कुओमिन्तांग दल ने अपना कार्य प्रारम्भ किया, तो चीन की शासन-व्यवस्था में लोकतन्त्रवाद की और भी अधिक कमी हो गई। युद्ध की आवश्यकताओं ने इस समय चीन की सम्पूर्ण राजशक्ति को महासेनापति चियांग काई शेक के हाथों में केन्द्रित कर दिया था। उसकी स्थिति एक एकाधिकारी (डिक्टेटर) के समान हो गई थी, और वह न केवल सैनिक क्षेत्र में अपितु शासन-कार्य में भी पूर्णतया स्वच्छन्द हो गया था। चियांग काई शेक के सम्मुख कुओमिन्ताँग दल भी सर्वथा अशक्त हो गया था, और वह इस शक्तिशाली महासेनापति के हाथों में कठपुतली के समान आचरण करने लगा था। इस समय चीन में चियांग काई शेक की शक्ति जो इस प्रकार असीम हो सकी, उसमें निम्नलिखित परिस्थितियां सहायक थीं :—

(१) युद्ध की परिस्थितियों के कारण देश के शासन में सेना और सेनापतियों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। चियांग काई शेक स्वतन्त्र चीन की सेनाओं का प्रधान सेनापति था, और चीन की राष्ट्रीय सेना के बहुसंख्यक युवक सेनापति उसे अत्यधिक आदर की दृष्टि से देखते थे। हम पहले लिख चुके हैं, कि कुओमिन्तांग दल के उत्कर्ष के समय नानकिंग के समीप एक सैनिक एकेडमी की स्थापना की गई थी, जिसका संस्थापक और संचालक चियांग काई शेक ही था। इस सैनिक एकेडमी में शिक्षा प्राप्त करने वाले आफिसर अपने को चियांग काई शेक का शिष्य समझते थे, और उसे अपना मार्ग-प्रदर्शक मानते थे। जब नानकिंग जापानियों के हाथों में चला गया, तो अन्य अनेक शिक्षणालयों के समान यह सैनिक एकेडमी भी पश्चिमी चीन में ले आयी गई थी। इस समय चीन की राष्ट्रीय सेना के बहुसंख्यक उच्च आफिसर ऐसे थे, जिन्होंने चियांग काई शेक द्वारा स्थापित सैनिक एकेडमी में शिक्षा प्राप्त की थी। यह स्वाभाविक था, कि वे पूर्णतया उसके अनुयायी हों और उसके सिद्धान्तों, आदर्शों और नीति के समर्थक हों। इस सैनिक एकेडमी की स्थापना से पूर्व चीन के विविध सेनापतियों में प्रायः प्रतिद्वन्द्विता की भावना रहती थी और किसी एक सेनापति की स्थिति ऐसी नहीं होती थी, जो अन्य सब सेनापतियों को पूर्ण रूप से अपनी आज्ञा में रख सके। पर अब यह स्थिति बदल चुकी थी।

(२) कुओमिन्तांग दल में बहुत-से लोग ऐसे थे, जो व्यक्तिगत रूप से चियांग काई शेक के प्रति अनुरक्त थे। इनमें चेन ली-फू और चेन कुओ-फू के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों चेन-बन्धु कम्युनिज्म के कट्टर विरोधी थे, और दक्षिणपक्षी प्रवृत्तियों के पक्षपाती थे। कुओमिन्तांग दल में इनका बहुत ऊंचा स्थान था। चेन कुओ-फू चीन के केन्द्रीय पोलिटिकल इन्स्टिट्यूट का अध्यक्ष था। यह संस्था कुओमिन्तांग दल के कार्यकर्ताओं को ट्रेन किया करती थी। इस संस्था में नवयुवकों को यह सिखाया जाता था, कि अपने नेताओं के आदेशों को आंख मीच कर मानना उनका सबसे बड़ा कर्तव्य है। चीन की प्राचीन विचारसरणी भी यही शिक्षा देती थी। कन्फ्यूसियस की यह प्रधान शिक्षा थी, कि अपने गुरुजनों और पुरखाओं के प्रति भक्ति रखी जाय, और बिना किसी ननु-नच के उनकी शिक्षाओं का अनुसरण किया जाय। चेन कुओ-फू द्वारा संचालित पोलिटिकल इन्स्टिट्यूट में जो नवयुवक राजनीतिक शिक्षा प्राप्त करते थे, वे कुओमिन्तांग दल के विचारों और सिद्धान्तों में आँख मीच कर विश्वास रखते थे, और उन्हें क्रिया में परिणत करना अपना कर्तव्य समझते थे। चेन ली-फू चुंगकिंग सरकार में शिक्षामन्त्री के पद पर अधिष्ठित था। उसकी भी यही नीति थी, कि चीन के विविध शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को अपने नेताओं तथा गुरु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनों की आज्ञाओं के पालन की शिक्षा दी जाय। इस नीति का यह परिणाम था, कि चीन के नवयुवकों और विद्यार्थियों में स्वतन्त्र विचार और परम्परागत आदर्शों की सत्यता व उपयोगिता में सन्देह करने की प्रवृत्ति में कमी होती जाती थी, और वे अपने नेताओं को असाधारण आदर एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगते थे। क्योंकि चियांग काई शेक चीन का सर्वप्रधान नेता था, अतः उसके प्रति भक्ति व सम्मान की भावना निरन्तर बढ़ती जाती थी, और जो नवयुवक चीन की सेना तथा सरकार में विविध पदों को प्राप्त करते थे, वे उसके आदेशों को मानना अपना परम कर्तव्य समझते थे।

(३) चियांग काई शेक के अपने विचार दक्षिणपक्षी थे, और वह स्वयं कम्युनिज्म का कट्टर विरोधी था। इसीलिए उसने कुओमिन्तांग दल से कम्युनिस्टों को बहिष्कृत कर दिया था, और अपनी शक्ति का आधार चीन के उन पूंजीपतियों, जमींदारों और सम्पन्न श्रेणी के लोगों को बनाया था, जिनकी सर्वसाधारण जनता से जरा भी सहानुभूति नहीं थी। यही कारण है, कि कुओमिन्तांग सरकार देहात में निवास करने वाले किसानों की दशा को उन्नत करने के लिए कोई भी कार्य नहीं कर रही थी। उसका सम्पूर्ण ध्यान इस बात पर था, कि कल-कारखानों का विकास हो, शहरों की उन्नति हो, और रेलवे लाइनों व सड़कों आदि का इस ढंग से निर्माण किया जाय, ताकि शहरों के व्यवसायपति उनसे लाभ उठा सकें। चीन की देहाती जनता में इस समय तक अधिक जागृति नहीं हुई थी, इसलिए यदि उनके हित के लिए चियांग काई शेक ने कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं किया, तो इससे उसकी शक्ति व प्रभाव में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। पर शहरों की मध्य श्रेणी, पूंजीपति एवं जमींदार आदि सम्पन्न वर्ग के लोगों के लिए कुओमिन्तांग दल जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उससे यह वर्ग उसका पक्षपाती बन गया था। चियांग काई शेक के अतुल प्रभाव के लिए सम्पन्न वर्ग का समर्थन बहुत सहायक था।

इन सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि चीन में कुओमिन्तांग दल की स्थिति जर्मनी की नाजी पार्टी और इटली की फैसिस्ट पार्टी के समान अद्वितीय हो गई। चीनी सरकार की नीति का निर्धारण जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि नहीं करते थे। यह कार्य कुओमिन्तांग दल के हाथों में था, और इस दल पर चियांग काई शेक का एकाधिपत्य था। महासेनापति चियांग काई शेक जो कुछ सोचता था, जो कुछ निर्धारित करता था, कुओमिन्तांग दल की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति बिना किसी विवाद के उसे स्वीकार कर लेती थी। जापान के विरुद्ध युद्ध की परिस्थिति में कुओमिन्तांग दल पर चियांग काई शेक का आधिपत्य और भी अधिक बढ़ गया था। यही कारण है, कि चुंगकिंग सरकार में चियांग काई शेक की स्थिति एक एकाधिपति (डिक्टेटर) के सदृश थी।

पर यह नहीं समझना चाहिए, चुंगकिंग सरकार में जनता को अपनी सम्मति को अभिव्यक्त करने के लिए कोई भी अवसर नहीं था। जब चीन की स्वतंत्र सरकार का प्रधान कार्यालय हैन्को में था, तभी जनता की राजनीतिक कौंसिल (पीपल्स पोलिटिकल कौंसिल) की वहां स्थापना कर दी गई थी। शुरू में इसके २०० सदस्य थे, बाद में उनकी संख्या बढ़ाकर २४० कर दी गई थी। जब सरकार हैन्को से चुंगकिंग चली गई, तो इस कौंसिल के अधिवेशन भी चुंगकिंग में होने लगे। इसके सदस्यों की नियुक्ति जनता निर्वाचन द्वारा नहीं करती थी, उन्हें मनोनीत किया जाता था। पर उन्हें मनोनीत करते हुए यह ध्यान में रखा जाता था, कि कुओमिन्तांग के अतिरिक्त अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टियों को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। कम्युनिस्ट दल तक के व्यक्ति इस कौंसिल में मनोनीत किये गये थे। इस कौंसिल के संगठन का प्रधान उद्देश्य यह था, कि सब दलों और विचारों के लोग परस्पर मिलकर जापान के विरुद्ध संघर्ष में सहयोग दे सकें। निस्सन्देह, इस कौंसिल से यह लाभ अवश्य था, कि इस द्वारा कुओमिन्तांग दल के विरोधियों को भी अपनी नीति तथा विचारों को प्रकट करने का अवसर मिल जाता था।

येनान की कम्युनिस्ट सरकार--स्वतन्त्र चीन के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों में कम्युनिस्ट लोगों की पृथक् सरकार स्थापित थी, जिसकी राजधानी येनान थी। कम्युनिस्ट सरकार जापान के विरुद्ध संघर्ष में चियांग काई शेक के आदेशों के अनुसार चलती थी, और उसकी सेनाएं चीन की राष्ट्रीय सेना का अंग मानी जाती थीं। चुंगकिंग की पोलिटिकल कौंसिल में भी कम्युनिस्ट दल को स्थान प्राप्त था। पर शासन की दृष्टि से कम्युनिस्ट सरकार अपने क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थी, और वह समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार अपने राज्य का संगठन करने में तत्पर थी। बड़े व्यवसायों को राज्य के अधिकार में कर लिया गया था, और देहातों में स्थानीय सोवियतों की स्थापना कर दी गई थी। सर्वसाधारण जनता इस नई व्यवस्था से बहुत संतुष्ट थी, और कम्युनिस्ट सरकार के प्रति अनुरक्त थी। चुंगकिंग और येनान की दो सरकारों में यह भिन्नता बहुत महत्त्व की है। चियांग काई शेक की नीति व कार्यक्रम से जनता को विशेष सहानुभूति नहीं थी, क्योंकि इससे उसे अपना कोई लाभ प्रतीत नहीं होता था। इसके विपरीत कम्युनिस्ट शासन में जनता जहां एक तरफ राष्ट्रीय आदर्श को सम्मुख रखकर जापान के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थी, वहां साथ ही वह यह भी अनुभव करती थी, कि इस शासन से उसका अपना भी हित और कल्याण है। इसीलिए वह जापान के विरुद्ध संघर्ष में बड़े-से बड़ा त्याग करने के लिए तैयार थी। यही कारण है, कि कम्युनिस्ट लोग जापान के विरुद्ध गुरीला युद्ध में जनता का सहयोग प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सेनाएं गुरीला युद्ध में कोई भी निपुणता नहीं प्राप्त कर सकीं, क्योंकि जनता उनके साथ सहयोग करते हुए कोई उत्साह अनुभव नहीं करती थी। इसीलिये जापान द्वारा अधिकृत चीन के जिन प्रदेशों में गुरीला युद्ध की आवश्यकता अनुभव की गई, उनमें कम्युनिस्ट लोगों को आगे किया गया।

क्योंकि कम्युनिस्ट सरकार के लिए स्थल मार्ग द्वारा रूस से युद्ध-सामग्री की सहायता प्राप्त कर सकना अधिक सुगम था, अतः उसकी स्थिति चुंगकिंग सरकार की अपेक्षा अधिक सुदृढ़ थी। पर इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि रूस चीन को युद्ध-सामग्री की जो भी सहायता देता था, वह चुंगकिंग सरकार को दी जाती थी, और चुंगकिंग सरकार ही उसके एक अंश को येनान सरकार को प्रदान किया करती थी। रूसी लोग येनान की कम्युनिस्ट सरकार के प्रति पक्षपात प्रदर्शित नहीं करते थे। क्योंकि कुओमिन्तांग सरकार चीन की प्रमुख सरकार थी, अतः रूस की ओर से दी जाने वाली युद्ध सामग्री उसी के सुपुर्द की जाती थी। बहुधा येनान सरकार को यह शिकायत भी रहती थी, कि चुंगकिंग सरकार रूस से प्राप्त होने वाली युद्ध सामग्री को कम्युनिस्ट सेनाओं को नहीं देती है। जिस समय १९४० में बरमा के मार्ग से ब्रिटेन और अमेरिका की युद्ध सामग्री प्रचुर परिमाण में चुंगकिंग पहुँचने लगी, तो चियांग काई शेक की सरकार का कम्युनिस्टों के साथ विरोध अधिक प्रत्यक्ष हो गया। कई बार ऐसे अवसर भी उपस्थित हुए, जबकि कुओमिन्तांग सरकार कम्युनिस्ट सेनाओं का सहयोग प्राप्त करने के बजाय उनका विरोध करने के लिए उद्यत हुई। वस्तुतः, चियांग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काई शेक और उसके साथी हृदय से कम्युनिस्टों के विरोधी थे। जापान के प्रभुत्व से अपने देश की रक्षा के कार्य में भी उन्हें कम्युनिस्टों का सहयोग अभीष्ट प्रतीत नहीं होता था। इसीलिए जब वांग चिंग वेई के नेतृत्व में जापान की संरक्षा में नानकिंग सरकार का सुचारु रूप से संगठन हो गया, तो चुंगकिंग सरकार कम्युनिस्टों की अपेक्षा उस सरकार के साथ अधिक सहयोग करने लगी। बाद में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में जो घोर संघर्ष हुआ, उसके मूल कारण इस समय में भी विद्यमान थे, और यही कारण है कि चियांग काई शेक ने कभी जापान के विरुद्ध कम्युनिस्ट दल के सहयोग का हृदय से स्वागत नहीं किया।

चियांग काई शेक ने कम्युनिस्ट सेनाओं का जो सहयोग लिया, उसका कारण उसकी सैनिक विवशता ही थी। १९३८ में जब हैन्को पर जापानी सेनाओं का अधिकार हो गया, तो कुओमिन्तांग सरकार की स्थिति बहुत दयनीय हो गई थी। चीन के बहुत बड़े भाग पर जापान का प्रभुत्व कायम हो गया था, और जापानी सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती जाती थीं। इस दशा में चियांग काई शेक ने विवश होकर कम्युनिस्टों को यह अनुमति प्रदान की, कि वे यांगत्से नदी के दक्षिण में गुरीला युद्ध को प्रारम्भ कर सकें। यांगत्से नदी के दक्षिण में विद्यमान कियांग्सी और हूनान प्रान्तों में १९३४ तक कम्युनिस्टों का शासन रह चुका था। वहां उन्होंने समाजवादी व्यवस्था भी कायम कर दी थी। यद्यपि चियांग काई शेक की कम्युनिस्ट-विरोधी नीति के कारण वे लोग इन प्रदेशों का परित्याग कर उत्तर-पश्चिम के शेन्सी प्रान्त में चले जाने के लिये विवश हुए थे, पर कियांग्सी प्रान्त और उसके समीपवर्ती प्रदेशों में अब तक भी कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्मृति विद्यमान थी। वहां ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो कि कम्युनिस्टों के साथ सहानुभूति रखते थे। विशेषतया, सर्वसाधारण किसान मजदूर जनता कम्युनिस्ट शासन के दिनों को अभिमानपूर्वक याद करती थी। इस दशा में कम्युनिस्ट लोगों के लिए यह अत्यन्त सुगम था, कि वे कियांग्सी की जनता के सहयोग से इस प्रान्त में गुरीला युद्ध को शुरू कर सकें। इस प्रान्त में जापान के विरुद्ध संघर्ष को जारी रखने का कार्य कम्युनिस्टों के सुपुर्द किया गया, और उन्होंने 'चीन की चतुर्थ सेना' के रूप में वहां अपने गुरीला सैनिकों को जापान से युद्ध जारी रखने के लिए नियुक्त किया। इसमें संदेह नहीं, कि कम्युनिस्ट लोग गुरीला युद्ध में बहुत प्रवीण थे, और उन्हें जापान के विरुद्ध संघर्ष में इस क्षेत्र में अच्छी सफलता भी प्राप्त हुई। कियांग्सी प्रान्त में कम्युनिस्ट सेनाओं के प्रविष्ट हो जाने से चीन में कम्युनिस्टों के दो क्षेत्र हो गये—(१) उत्तर-पश्चिमी चीन, और (२) कियांग्सी प्रान्त। चीन के अगले इतिहास को भलीभांति समझने के लिये इस बात को ध्यान में रखने की आवश्यकता है, क्योंकि भविष्य में जब कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में संघर्ष का फिर से प्रारम्भ हुआ, तो कम्युनिस्टों की शक्ति के ये दो महत्वपूर्ण केन्द्र थे, और इन्हीं से उन्होंने अन्य प्रदेशों में अपनी शक्ति का विस्तार किया था।

(५) जापान द्वारा अधिकृत चीन

चियांग काई शेक की सेनाओं को परास्त कर जापान ने चीन में पेकिंग और नानकिंग को केन्द्र बनाकर जिन दो सरकारों की स्थापना की थी, उनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका हैं। पेकिंग की सरकार की स्थापना १४ दिसम्बर, १९३७ को हुई थी, और नानकिंग सरकार की २८ मार्च, १९३८ को। इन दो सरकारों के अतिरिक्त जापान की अधीनता में एक तीसरी सरकार भी थी, जिसका शासन आभ्यन्तर मंगोलिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर विद्यमान था। जापान की इच्छा थी, कि इन तीनों सरकारों को मिला कर एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना कर दी जाय, जिसे अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से चीन की वैध सरकार माना जाय, और जो चियांग काई शेक का स्वतन्त्र रूप से मुकाबिला कर सके। इसी उद्देश्य से २२ सितम्बर, १९३८ को 'चीन की संयुक्त कौंसिल' का संगठन किया गया, जिसका केन्द्र नानकिंग को बनाया गया। पर इस संयुक्त कौंसिल के निर्माण द्वारा अधिकृत चीन की विविध सरकारों की पृथक् सत्ता का अन्त नहीं कर दिया गया। ये सरकारें कायम रहीं, यद्यपि यह कौंसिल उन सब पर नियन्त्रण रखती थी, और उनमें सहयोग स्थापित करने का प्रयत्न करती थी।

हम पहले लिख चुके हैं, कि जब हैन्को पर जापान का अधिकार हुआ, तो वांग चिंग वेई इस पक्ष में था, कि चीन को जापान के साथ समझौता कर लेना चाहिए। युद्ध को और अधिक जारी रखना उसकी दृष्टि में निरर्थक था। चियांग काई शेक ने उसे देशद्रोही समझा, और वह अपने अनेक साथियों के साथ कुओमिन्तांग सरकार से पृथक् हो गया। वांग चिंग वेई ईमानदारी के साथ यह समझता था, कि चियांग काई शेक डॉ० सन यात सेन की नीति एवं आदर्शों का पालन नहीं कर रहा है, और उसके नेतृत्व में चीन लोकतन्त्रवाद के मार्ग से हटकर फैसिज्म की ओर अग्रसर हो रहा है। वांग चिंग वेई यह भी समझता था, कि चीन का हित और कल्याण इसी बात में है, कि वह अपनी उन्नति के लिये जापान का सहयोग प्राप्त करे। उसे विश्वास था, कि जापानी सरकार से बातचीत करके एक ऐसी सन्धि की जा सकती है, जिससे चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे, और जापान का सहयोग प्राप्त कर चीन लोकतन्त्र शासन की स्थापना और अपनी राष्ट्रीय उन्नति में समर्थ हो सके। इसीलिए उसने चियांग काई शेक का साथ छोड़कर जापान के साथ सन्धि करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। पर यह कार्य बहुत सुगम नहीं था, क्योंकि वांग चिंग वेई जापान से कोई ऐसा समझौता नहीं करना चाहता था, जिसमें चीन की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण न रहती हो। दूसरी तरफ जापान इस बात के लिए उत्सुक था, कि चीन की सरकार उसके प्रभाव में रहे, और पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में उसी की नीति का अनुसरण करे। वस्तुतः, जापान की यह इच्छा थी, कि मंचूकुओ, चीन और जापान को मिलाकर एक ऐसा गुट बनाया जाय, जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में परस्पर मिलकर काम करे। इस नीति के निर्धारण में जापान का प्रमुख हाथ हो, और चीन तथा मंचूकुओ विदेशी राजनीति में जापान के अनुयायी रहें। केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ही नहीं, अपितु आर्थिक जीवन में भी ये दोनों राज्य जापान के सहयोगी बन कर रहें। इसी उद्देश्य से जापान यह चाहता था, कि चीन और मंचूकुओ की मुद्रापद्धतियां येन से सम्बद्ध रहें। जापान की यह इच्छा नहीं थी, कि वह चीन के साथ एक अधीनस्थ राज्य का सा व्यवहार करे। जिन अर्थों में ब्रिटेन ने भारत और बरमा पर या फ्रांस ने इण्डोचायना पर अपना आधिपत्य स्थापित किया हुआ था, उन अर्थों में जापान चीन को अपनी अधीनता में नहीं लाना चाहता था। उसकी यह आकांक्षा नहीं थी, कि चीन पर जापान का शासन कायम हो। पर वह यह अवश्य चाहता था, कि चीन में ऐसी सरकार का शासन हो, जो जापान की संरक्षा और सहयोग को महत्त्व दे। चीन पहले भी सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न देश नहीं था। ब्रिटेन, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों ने न केवल उसमें अपने अनेक प्रकार के विशेषाधिकार कायम किये हुए थे, अपितु चियांग काई शेक की सरकार अमेरिका और ब्रिटेन की संरक्षा तथा साहाय्य पर भी निर्भर थी। पाश्चात्य देशों ने जिस ढंग से एशिया के प्रायः सभी देशों पर अपना प्रभाव व प्रभुत्त्व स्थापित किया हुआ था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जापान उसके विरुद्ध था। वह चाहता था, कि पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त हो, और इस भूखण्ड की विविध सरकारें जापान को अपना संरक्षक, नेता एवं सहयोगी स्वीकार करें।

वांग चिंग वेई जापान की इस नीति से सहमत था। इसीलिए उसने जापान से सहयोग की नीति को स्वीकार किया। मार्च, १९४० में नानकिंग में चीन की केन्द्रीय सरकार का संगठन किया गया, और वांग चिंग वेई को इस सरकार का प्रधान बनाया गया। नानकिंग सरकार के साथ जापान ने जो समझौता किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) जापान ने वांग चिंग वेई की सरकार को चीन की वैध सरकार के रूप में स्वीकृत किया, और उसे यह वचन दिया कि चियाँग काई शेक की चुंगकिंग सरकार को परास्त करके सम्पूर्ण चीन में अपना शासन स्थापित करने के कार्य में वह वांग चिंग वेई की सरकार की सब प्रकार से सहायता करेगा।

(२) जिस-समय चियांग काई शेक की पराजय के कारण चीन में गृह-कलह का अन्त हो जायगा, जापान अपनी सेनाओं को चीन से हटा लेगा। उस समय तक जो जापानी सेनाएं चीन में रहेंगी, उनका कार्य भी केवल वांग चिंग वेई की सरकार को सहायता पहुँचाना ही होगा। (३) चियांग काई शेक की सेनाओं के परास्त हो जाने के बाद जापानी सेनाएं तब तक उत्तर-पश्चिमी चीन में रह सकेंगी, जब तक कि उस प्रदेश में कम्युनिस्ट लोगों को परास्त न कर दिया जाय। (४) आर्थिक मामलों में वांग चिंग वेई की सरकार जापान के साथ सहयोग करेगी, और मुद्रापद्धति व आर्थिक नीति का संचालन जापान के परामर्श के अनुसार करेगी। इस समझौते के अनुसार जापान की दृष्टि में वांग चिंग वेई की नानकिंग सरकार चीन की असली तथा वैध सरकार थी, और चियांग काई शेक के साथ उसका संघर्ष एक गृहयुद्ध के अतिरिक्त अन्य कोई हैसियत नहीं रखता था। जापान की दृष्टि में चियांग काई शेक की सरकार और कम्युनिस्टों के विरुद्ध युद्ध का संचालन वांग चिंग वेई की सरकार ही कर रही थी, और जापान केवल उसकी सहायता कर रहा था। इस समय यूरोप में द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) का प्रारम्भ हो चुका था, और जर्मनी, इटली आदि राज्यों की सहानुभूति जापान के साथ थी। इसीलिये १ जुलाई, १९४१ तक अनेक यूरोपियन राज्यों ने, जो कि इस समय जर्मनी के साथ थे, वांग चिंग वेई की सरकार को स्वीकृत कर लिया था। इन राज्यों के नाम निम्नलिखित हैं—जर्मनी, इटली, स्पेन, रूमानिया, स्लोवाकिया और क्रोटिया। यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं, कि इस समय रूमानिया, स्लोवाकिया और क्रोटिया जर्मनी के अधिकार में थे, और इनकी सरकारें पूर्णतया जर्मनी की वशवर्ती थीं। इटली और स्पेन जर्मनी के मित्र थे। इसी कारण महायुद्ध के अवसर पर इन सब राज्यों की सहानुभूति जापान के साथ थी।

राजनीतिक दृष्टि से वांग चिंग वेई की सरकार स्वतन्त्र थी, पर जापान उसकी आर्थिक नीति का का संचालन इस ढंग से कर रहा था, जिससे उसका अपना लाभ हो। चीन के आर्थिक विकास के लिए जापानी मन्त्रिमण्डल की अधीनता में एक बोर्ड स्थापित किया गया था, जिसकी अधीनता में अनेक जापानी कम्पनियां चीन में व्यापार और व्यवसायों की उन्नति के लिए काम कर रही थीं। इन कम्पनियों को चीन में विशेष अधिकार प्रदान किये गये थे। चीन की मुद्रापद्धति को जापान के येन के साथ सम्बद्ध कर दिया गया था, और जापानी सरकार का यह प्रयत्न था, कि चीन के साथ उसके व्यापार में निरन्तर वृद्धि हो। इस प्रयत्न में उसे सफलता भी प्राप्त हुई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। १९३७ में जापान से जो माल चीन में गया था, उसका मूल्य केवल १९,००,००,००० येन था। १९३८ में चीन में आये जापानी माल की मात्रा बढ़कर ३४,३०,००,००० येन तक पहुंच गई थी। बाद में चीन में जापानी आयात माल की मात्रा में और भी अधिक वृद्धि हुई। पर जापान से आने वाले माल के मुकाबिले में चीन से जापान जाने वाले माल की मात्रा में इतनी तेजी के साथ वृद्धि नहीं हुई थी। १९३७ में चीन से जापान जाने वाले माल का मूल्य १७,००,००,००० येन था। १९३८ में बह बढ़कर १७,९०,००,००० येन हो गया था। इससे स्पष्ट है, कि चीन जापान से जो माल मंगा रहा था, उसकी मात्रा चीन से जापान जाने वाले माल की अपेक्षा बहुत अधिक थी। जापान को यही बात अभीष्ट भी थी। जापान चीन में अपने आधिपत्य को इसीलिए स्थापित करना चाहता था, ताकि वहां वह अपने तैयार माल के लिए सुरक्षित बाजार प्राप्त कर सके। इस उद्देश्य में उसे अच्छी सफलता प्राप्त हो गई थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बाईसवां अध्याय

महायुद्ध और जापान

(१) महायुद्ध से पूर्व जापान की अन्तर्राष्ट्रीय नीति

चियांग काई शेक की शक्ति का अन्त करने और वांग चिंग वेई के नेतृत्व में नई चीनी सरकार की स्थापना करने में जापान का क्या उद्देश्य था, इसे पिछले अध्याय में भलीभांति स्पष्ट किया जा चुका है। जापान पूर्वी एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। उसकी इच्छा थी, कि मंचूकुओ, मंगोलिया और चीन में ऐसी सरकारों का शासन कायम हो, जो जापान को अपना नेता मानें और अपनी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का निर्माण जापान की इच्छा के अनुसार किया करें। इस उद्देश्य में उसे आंशिक रूप से सफलता प्राप्त भी हो गई थी। पर जापान यह भलीभांति समझता था, कि पूर्वी एशिया में उसकी आकांक्षाओं की पूर्ति में तीन ओर से बाधा उपस्थित हो सकती है। (१) उत्तरी एशिया पर रूस का आधिपत्य था। रूसी सोवियत संघ की सीमाएं मंचूकुओ और मंगोलिया के साथ मिलती थीं। उत्तर-पश्चिमी चीन में येनान को राजधानी बनाकर जो कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, भौगोलिक दृष्टि से उसका रूस के साथ सन्निकट सम्बन्ध था। स्वाभाविक रूप से रूस येनान की कम्युनिस्ट सरकार का समर्थक था। इस दशा में जापान को यह आशांका थी, कि पूर्वी एशिया को अपने प्रभाव में लाने के प्रयत्न में रूस उसका विरोध कर सकता है। (२) चीन के समुद्रतट पर अनेक स्थानों पर ब्रिटेन का अधिकार था। हांगकांग सीधा ब्रिटेन के शासन में था, और पूर्वी एशिया में यह ब्रिटेन की शक्ति का प्रधान केन्द्र था। शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में ब्रिटेन का स्थान सर्वप्रधान था, और तीन्त्सिन, कैन्टन आदि बन्दरगाहों में भी ब्रिटेन की अनेक बस्तियां कायम थीं। चीन के विदेशी व्यापार में भी ब्रिटेन का स्थान बहुत महत्त्व-पूर्ण था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ब्रिटेन चीन में निरन्तर बढ़ती हुई जापानी प्रभुता का विरोधी हो। (३) संयुक्त-राज्य अमेरिका के लिये यह बात बहुत अधिक महत्त्व की थी, कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र और पूर्वी एशिया में किस राज्य की शक्ति प्रधान है। संयुक्त-राज्य अमेरिका अपने विशाल भूखण्ड में निरन्तर पश्चिम की ओर बढ़ता जा रहा था, और उसकी बस्तियां प्रशान्त महासागर के पूर्वी तट पर कैलिफोर्निया आदि में भलीभांति विकसित हो गई थीं। साथ ही, फिलिप्पीन द्वीपसमूह उसकी अधीनता में था। यदि जापान मंचूकुओ, मंगोलिया और चीन को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में ले आने की योजना में सफल हो जाता, तो अमेरिका के लिये यह बात बहुत हानिकारक होती। इससे फिलिप्पीन द्वीपसमूह पर अपना कब्जा रख सकना उसके लिये कठिन हो जाता, और प्रशान्त महासागर में भी उसकी स्थिति सुरक्षित न रहने पाती। इस प्रकार रूस, ब्रिटेन और अमेरिका-तीन ऐसे देश थे, जो जापान के साम्राज्य-विस्तार में सबसे अधिक बाधक हो सकते थे। इसीलिये इन देशों के साथ जापान ने किस ढंग के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध विकसित किये, यह बात ध्यान देने के योग्य है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट—रूस के मुकाबिले में अपनी स्थिति को सुरक्षित करने के लिए जापान ने जर्मनी से मिलकर एक गुट बनाया, जो इतिहास में एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। यह पैक्ट २५ नवम्बर, १९३६ को किया गया था। इसका उद्देश्य यह था, कि जर्मनी और जापान मिलकर यूरोप और एशिया में कम्युनिज्म के प्रसार का विरोध करें। इस पैक्ट के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जापान ने एक ऐसे शक्तिशाली देश के साथ मैत्री स्थापित कर ली थी, जो इस समय यूरोप में बहुत अधिक प्रबल था। हिटलर द्वारा जर्मनी में जिस नाजी व्यवस्था की स्थापना की गई थी, वह कम्युनिज्म के सर्वथा विपरीत थी। अतः हिटलर को यह भय था, कि यदि कोई पार्टी उसके विरुद्ध खड़ी हो सकती है, तो वह केवल कम्युनिस्ट दल ही है। नाजी दल के नेता जर्मनी में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते हुए बहुधा यह कहा करते थे, कि "यदि राष्ट्रीय समाजवादी (नाजी) दल शिथिल हो जाता है, तो जर्मनी में एक करोड़ कम्युनिस्ट लोग मैदान में आ जाएंगे।" अतः वे अनुभव करते थे, कि संसार में जो देश कम्युनिज्म के विरोधी हैं, उन्हें परस्पर मिलकर अपना पृथक् गुट बना लेना चाहिये, और इस गुट का उद्देश्य कम्युनिज्म के प्रचार का विरोध होना चाहिए। १९३७ में इटली भी इस गुट में शामिल हो गया, और जर्मनी, जापान तथा इटली की सम्मिलित शक्ति कम्युनिज्म के विरोध में प्रयुक्त होने लगी। इस एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के कारण ही जापान रूस की ओर से बहुत कुछ निश्चिन्त हो गया था। इस पैक्ट के कारण ही रूस चीन में निरन्तर बढ़ते हुए जापान के प्रभुत्व का स्पष्ट रूप से विरोध नहीं कर सकता था। जापान का विरोध करने का उसके सम्मुख केवल यही मार्ग था, कि वह चीन को अधिक से अधिक सहायता प्रदान करे। युद्ध-सामग्री द्वारा तो वह चीन की सहायता करता ही था। साथ ही, रूस के भय से जापान को अपनी अच्छी बड़ी सेना मञ्चूकुओ की उत्तरी सीमा पर रखनी पड़ती थी। यह बात भी चीन के लिए अत्यधिक सहायक थी। मंचूकुओ की उत्तरी सीमा पर जो जापानी सेना विद्यमान थी, उसकी संख्या चार लाख के लगभग थी। इतनी बड़ी जापानी सेना रूस की दक्षिण-पूर्वी सीमा पर इसीलिए रखी गई थी, कि कहीं रूस मंचूकुओ व मंगोलिया पर आक्रमण न कर दे। पर इस समय रूस जापान के सम्बन्ध में बहुत कुछ निष्पक्ष एवं उदासीन नीति का अनुसरण कर रहा था, क्योंकि एन्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के कारण जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई थी।

ब्रिटेन और जापान—१९०२ में इंगलैण्ड और जापान में जो सन्धि हुई थी, उसका उल्लेख हम इस इतिहास में विशद रूप से कर चुके हैं। इस सन्धि के कारण ब्रिटेन और जापान एक दूसरे के घनिष्ठ मित्र बन गए थे, और युद्ध के अवसर पर उन्होंने एक दूसरे की सहायता का वचन दिया था। १९१४-१८ के महायुद्ध में जापान ब्रिटेन के पक्ष में लड़ाई में शामिल हुआ था, और इन देशों की यह मित्रता तीस साल से भी अधिक समय तक कायम रही थी। पर इस समय ब्रिटेन और जापान के राजनीतिक सम्बन्ध पहले के समान मैत्रीपूर्ण नहीं रह गये थे, क्योंकि जापान चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए प्रयत्नशील था, और ब्रिटेन इस बात को पसन्द नहीं करता था। चीन के अनेक प्रदेश ब्रिटेन के अधिकार में थे, और चीन में जापान की शक्ति के विस्तार से ब्रिटेन के इस प्रभुत्व में बाधा पड़ती थी। पर जापान को ब्रिटेन की शक्ति का विशेष भय नहीं था। यूरोप की राजनीति में ब्रिटेन जिस प्रकार शक्तिहीन हो गया था, उसके कारण जापान उसे विशेष महत्त्व नहीं देता था। २९ सितम्बर, १९३८ को ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ एक समझौता किया था, जो इतिहास में 'म्यूनिख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समझौता' के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा ब्रिटेन ने चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में हिटलर की सब मांगों को अविकल रूप से स्वीकार कर लिया था। ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देशों की सर्वथा उपेक्षा कर जर्मनी इस समय जिस प्रकार यूरोप में अपने प्रभुत्त्व के विस्तार में तत्पर था, उससे जापानी लोगों का यह विचार दृढ़ हो गया था, कि ब्रिटेन की शक्ति अब सर्वथा क्षीण हो गई है। इसलिए पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान ब्रिटेन से किसी भी प्रकार के विरोध की आशंका नहीं रखता था। २९ सितम्बर, १९३८ को यूरोप में 'म्यूनिख समझौता' हुआ था, जिसमें ब्रिटेन को जर्मनी के सामने नीचा देखना पड़ा था। इस घटना के केवल अठारह दिन बाद २७ अक्टूबर को जापानी सेनाओं ने कैन्टन पर अपना अधिकार कायम कर लिया था। कैन्टन हांग-कांग के समीप है, और यह भी ब्रिटिश व्यापार का एक महत्वपूर्ण केन्द्र था। कैन्टन पर जापान का कब्जा इस बात का प्रमाण था, कि जापान ब्रिटिश शक्ति की कोई विशेष परवाह नहीं करता। वस्तुतः, इस समय जापान यह भली-भांति अनुभव कर रहा था, कि ब्रिटेन के साथ उसकी मैत्री का कायम रह सकना असम्भव है। यूरोप में ब्रिटेन और जर्मनी एक दूसरे के प्रबल विरोधी थे और जापान जर्मनी और इटली का मित्र था। इस दशा में उसनेब्रिटेन के साथ अपनी मैत्री को कायम रखने के लिए कोई प्रयत्न नहीं किया।

जापान और अमेरिका—प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान और अमेरिका के हित आपस में टकराते थे, यह हमने अभी ऊपर लिखा है। यही कारण है, कि जुलाई, १९३७ में जब जापान चीन में अपनी शक्ति के विस्तार के लिए प्रवृत्त हुआ, तो अमेरिका के राष्ट्रपति श्री रूजवेल्ट ने शिकागो में भाषण करते हुए यह उद्घोषित किया था, कि "ऐसा प्रतीत होता है, दुर्भाग्यवश यह बात सच है कि संसार में अराजकता की महामारी फैलने लग गई है। युद्ध छूत की बीमारी के समान होता है। जहां से युद्ध का प्रारम्भ होता है, उससे बहुत दूर के राज्य और लोग भी उसकी लपेट में आ जाते हैं। हमारा यह पक्का इरादा है, कि हम अपने को युद्ध से बचाये रखें। पर हम इस बात का भरोसा नहीं रख सकते, कि हम युद्ध के विनाश-कारी परिणामों से या युद्ध की लपेट में आ जाने से अपने को बचाये रख सकेंगे। अतः यह आवश्यक है, कि संसार में शान्ति रखने के लिए पूरा-पूरा प्रयत्न किया जाय।" इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि अमेरिका के राजनीतिज्ञ यह भली-भांति अनुभव करते थे, कि जापान ने चीन में जिस युद्ध का प्रारम्भ किया है, उसके प्रभाव से बच सकना उनके लिए सम्भव नहीं रहेगा। इस युद्ध में उनकी सहानुभूति चीन के साथ थी, और वे युद्ध-सामग्री और धन द्वारा चियांग काई शेक की सहायता के लिए तत्पर थे।

राष्ट्रसंघ और चीन-जापान युद्ध—जिस समय जुलाई, १९३७ में चीन और जापान में युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार ने जापान के विरुद्ध राष्ट्रसंघ से अपील की। यह अपील राष्ट्रसंघ की इस्टर्न एडवाइजरी कमेटी (पूर्वी सलाहकार समिति) के सुपुर्द कर दी गई। कमेटी ने चीन और जापान के युद्ध पर भलीभाँति विचार किया, और इस युद्ध के लिए जापान को दोषी ठहराया। उसने यह भी सिफारिश की, कि इस युद्ध का अन्त करने के लिए यह उपयोगी होगा, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स (१९२२) के परिणामस्वरूप नौ राज्यों (अमेरिका, बेल्जियम ग्रेट ब्रिटेन, चीन, फ्रांस, इटली, हालैण्ड, पोर्तुगाल और जापान) ने मिलकर जो सन्धि की थी, और जिसके अनुसार उन्होंने एक दूसरे के प्रदेशों की अक्षुण्णता के सिद्धान्त को स्वीकृत किया था, उन नौ राज्यों की एक कान्फरेन्स बुलाई जाय और यह कान्फ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेन्स चीन और जापान की समस्या पर विचार करे। ६ अक्टूबर, १९३७ के अधिवेशन में राष्ट्रसंघ की एसेम्बली ने ईस्टर्न एडवाइजरी कमेटी की रिपोर्ट एवं सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। बेल्जियम की राजधानी ब्रुसल्स में नौ राज्यों की कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, और तीन नवम्बर, १९३७ को उसका अधिवेशन आरम्भ हुआ। जापान इस कान्फरेन्स में शामिल नहीं हुआ। संसार के अन्य प्रधान राज्यों में से जर्मनी और रूस को भी इस कान्फरेन्स में शामिल होने का निमन्त्रण दिया गया था। पर जर्मनी इसमें शामिल नहीं हुआ। वह अपने को चीन और जापान—दोनों का मित्र समझता था, और इस प्रयत्न में लगा था कि उनमें सुलह करायी जाय। रूस ब्रुसल्स कान्फरेन्स में शामिल हुआ। जापान की अनुपस्थिति के कारण यह सम्भव नहीं था, कि ब्रुसल्स कान्फरेन्स सफल हो सके। उसमें चीन और जापान की समस्या पर विचार किया गया, और उन सिद्धान्तों को निर्धारित किया गया, जिनका अनुसरण करके पूर्वी एशिया में शान्ति स्थापित की जा सकती हैं। इसके लिए क्या कार्यवाही आवश्यक है, इस सम्बन्ध में भी सिफारिशें तैयार कर ली गईं। २४ नवम्बर, १९३७ को ब्रुसल्स कान्फरेन्स ने अपना कार्य समाप्त कर दिया, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला, और चीन तथा जापान का युद्ध पूर्ववत् जारी रहा। वस्तुतः इस समय तक राष्ट्रसंघ सर्वथा शक्तिहीन हो चुका था। संयुक्तराज्य अमेरिका, जर्मनी, इटली और जापान जैसे शक्तिशाली राज्य उससे पृथक् हो चुके थे, और संसार में शान्ति स्थापित रख सकने के कार्य में राष्ट्रसंघ का कोई प्रभाव नहीं रह गया था। विविध राज्य अपनी रक्षा लिए अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि में तत्पर थे, और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फिर से अराजकता का प्रादुर्भाव हो गया था। मई, १९३६ तक इटली अफ्रीका में अपने अच्छे बड़े साम्राज्य को स्थापित कर चुका था, और उसने अबीसीनिया के स्वतन्त्र राज्य (जो कि राष्ट्रसंघ का सदस्य था) को जीतकर अपने अधीन कर लिया था। जर्मनी आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को जीतकर अपनी अधीनता में लाने में तत्पर था, और राष्ट्रसंघ इन साम्राज्यवादी देशों को नियन्त्रित व मर्यादित करने में सर्वथा अशक्त था। इस दशा में यदि चीन में जापान के साम्राज्य-प्रसार को रोकने में भी वह असमर्थ रहा, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

राजनीतिक गुटबन्दियां—राष्ट्रसंघ से निराश होकर संसार के विविध राज्य अपनी रक्षा के लिए अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने और आपस में गुट बनाने में तत्पर थे। जर्मनी, इटली और जापान का गुट इसी प्रवृत्ति का परिणाम था। अन्य पाश्चात्य राज्य भी इस समय गुटबन्दियों के निर्माण में तत्पर थे। १९३४ में रूस भी राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया था। फ्रांस और रूस ने यह कोशिश की, कि वे आपस में मिलकर एक ऐसा समझौता कर लें, जिसके अनुसार उन दोनों में से किसी एक पर यदि जर्मनी हमला करे, तो दूसरा उसका साथ दे। वे चाहते थे, कि ब्रिटेन भी इस समझौते में शामिल हो जाय। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति इस समय यूरोप के राज्यों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या थी। फ्रांस और रूस को उससे बहुत भय था। पर ब्रिटिश राजनीतिज्ञ जर्मनी की शक्ति से बहुत चिन्तित नहीं थे। उनका विचार था, कि यूरोप के विविध राज्यों में सन्तुलन को कायम रखने के लिए जर्मनी का शक्तिशाली होना आवश्यक है। चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड आदि पूर्वी यूरोपियन राज्यों पर इस समय फ्रांस का जिस ढंग से प्रभाव विद्यमान था, उसे ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ यूरोप के शक्ति-संतुलन के लिए हानिकारक समझते थे। यही कारण है, कि मई, १९३५ में रूस और फ्रांस ने परस्पर मिलकर जो गुट बनाया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटेन उसमें शामिल नहीं हुआ। पोलैण्ड, चेकोस्लोवाकिया, रूमानिया और युगोस्लाविया के साथ फ्रांस की पहले ही पारस्परिक सहायता की सन्धियां विद्यमान थीं। अब फ्रांस के इस गुट में रूस भी शामिल हो गया। १९३६ में जर्मनी, जापान और इटली ने मिलकर अपने जिस गुट का निर्माण किया था, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस समय संसार के प्रमुख राज्य दो गुटों में संगठित हो गए थे। एक गुट का नेता जर्मनी था, और दूसरे का फ्रांस। इन गुटों का आधार दो बातें थीं, एक तो विचारों और आदर्शों की समानता, और दूसरी हितों की एकता। इटली, जर्मनी और जापान फैसिज्म के अनुयायी थे। ये राज्य अपने-अपने साम्राज्यों के विस्तार के लिए भी उत्सुक थे। उनको वर्साय की सन्धि से समान रूप से शिकायत थी, और उसका उल्लंघन करके अपनी शक्ति को बढ़ाने में उनका एक समान लाभ था। इसके विपरीत फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड आदि राज्यों को पेरिस की सन्धि परिषद् द्वारा किए गए निर्णयों से बहुत लाभ पहुंचा था। उन निर्णयों को कायम रखने में उन सबका फायदा था। साथ ही, ये राज्य लोकतन्त्र के पक्षपाती थे। रूस में कम्युनिस्ट शासन होने के कारण उसकी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था लोकतन्त्र राज्यों से भिन्न थी। पर उसका हित इसी बात में था, कि इटली, जर्मनी और जापान का उत्कर्ष न होने पाए। जर्मनी की नाजी शक्ति रूस के कम्युनिज्म की विरोधी थी। यही कारण है, कि रूस ने फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ फ्रांस और उसके साथियों के पक्ष में होना स्वीकार किया। १९३६ के अन्त तक ब्रिटेन और अमेरिका इन दोनों गुटों से अलग रहे थे। पर ब्रिटेन के लिए देर तक यूरोप के राजनीतिक दांवपेंचों से अलग रह सकना सम्भव नहीं रहा। १९३६-३७ में यूरोप में युद्ध के बादल घिरने शुरू हो गए थे। स्पेन में जनरल फ्रांको के उत्कर्ष के कारण सम्पूर्ण यूरोप में सनसनी छा गई थी। फ्रेंच लोगों की इच्छा थी, कि स्पेन के गृह-कलह में फ्रांको के विरुद्ध वहां की रिपब्लिकन सरकार की सहायता करे। जर्मनी और इटली खुले तौर पर फ्रांको की मदद कर रहे थे। पर ब्रिटेन यही उचित समझता था, कि स्पेन के आन्तरिक झगड़े में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया जाय। १९३७ और १९३८ में ब्रिटेन की यही कोशिश रही, कि यूरोप के किसी गुट में शामिल न हुआ जाय। पर जर्मनी और इटली की साम्राज्य-विस्तार की नीति जो रूप धारण करती जा रही थी, उससे ब्रिटेन का रुख धीरे-धीरे फ्रांस की ओर होता जाता था। अबीसीनिया की विजय के बाद इटली की यह आकांक्षा थी, कि पूर्वी भूमध्यसागर पर भी उसका प्रभुत्व कायम हो जाय, और स्वेज की नहर के प्रबन्ध में भी उसका हाथ रहे। ब्रिटेन यह सहन नहीं कर सकता था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटेन का रुख इटली के खिलाफ हो गया। इसी बीच में जर्मनी ने आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को विजय कर लिया। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद यूरोप में जो व्यवस्था कायम हुई थी, उसके अनुसार ब्रिटेन और फ्रांस का यह कर्तव्य था, कि चेकोस्लोवाकिया के जर्मनी द्वारा विजय करने में बाधा उपस्थित करे। पर इस समय ब्रिटेन की यह नीति थी, कि मध्य यूरोप के झगड़ों से उसे पृथक् रहना चाहिए। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चेम्बरलेन ने यत्न किया, कि फ्रांस भी चेकोस्लोवाकिया के मामले में हस्तक्षेप न करे। परिणाम यह हुआ, कि मध्य यूरोप में जर्मनी अपने प्रभुत्व का विस्तार करता गया, और फांस, ब्रिटेन तथा रूस ने उसके मार्ग में बाधा नहीं डाली। पर ब्रिटेन देर तक अपसी तटस्थता की नीति का अनुसरण नहीं कर सका। आस्ट्रिया और चेकोस्लोवाकिया को जीत कर भी हिटलर की साम्राज्य-पिपासा शांत नहीं हुई। उसने शीघ्र ही लिथुएनिया और पोलैण्ड की तरफ कदम बढ़ाया। अब यूरोप की स्थिति ऐसी हो गई थी, कि ब्रिटेन को तटस्थता की नीति का परित्याग कर जर्मनी के खिलाफ फ्रांस के पक्ष में शामिल होने के लिए विवश होना पड़ा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार १९३९ के शुरू तक संसार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दो पक्ष या गुट स्पष्ट रूप से विकसित हो गये थे। एक गुट में फ्रांस, ब्रिटेन और रूस शामिल थे, और दूसरे गुट में जर्मनी, इटली और जापान थे। पूर्वी एशिया की राजनीति में भी इन गुटों का बहुत महत्व है। इसीलिए हमने इनका संक्षिप्त रूप से उल्लेख करना आवश्यक समझा है। जिस प्रकार ब्रिटेन, रूस और फ्रांस यूरोप में जर्मनी और इटली के साम्राज्य-विस्तार से चिन्तित थे, वैसे ही ये राज्य पूर्वी एशिया में जापान के विस्तार को चिन्ता की दृष्टि से देख रहे थे। पर अभी संयुक्त-राज्य अमेरिका यूरोप की गुटबन्दियों से पृथक् था। इसमें सन्देह नहीं, कि उसकी सहानुभूति ब्रिटेन और फ्रांस के पक्ष में थी, और यूरोप में फैसिज्म और साम्राज्यवाद के उत्कर्ष को वह संसार की शान्ति के लिए हानिकारक समझता था। पर अभी अमेरिका ने यह स्पष्ट नहीं किया था, कि वह जर्मनी और इटली के खिलाफ फ्रांस और ब्रिटेन की सहायता किस रूप में और किस हद तक करने को तैयार है। यूरोप की अपेक्षा पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अमेरिका की दिलचस्पी कहीं अधिक थी। इस क्षेत्र की घटनाओं के साथ अमेरिका अपना अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध अनुभव करता था। यही कारण है, कि अमेरिका ने महायुद्ध (१९३९-४५) में पूर्वी एशिया के प्रश्न पर ही प्रवेश किया। यूरोप के महायुद्ध से लाभ उठाकर जब जापान पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए प्रवृत्त हुआ, तभी अमेरिका भी खुले तौर पर फैसिस्ट राज्यों के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो गया।

(२) चीन में पाश्चात्य देशों के प्रभाव-क्षेत्र और जापान

जिस समय जापानी सेनाएं चीन में अपने प्रभुत्व की स्थापना के लिए तत्पर थीं, तब चीन के विविध प्रदेशों में विद्यमान पाश्चात्य देशों के प्रभाव-क्षेत्रों की क्या दशा थी, इस विषय पर भी प्रकाश डालने की आवश्यकता है, क्योंकि इनका जापान की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था। चीन के अनेक बन्दरगाहों में पाश्चात्य देशों को व्यापार आदि की विशेष सुविधाएं प्राप्त थीं। शंघाई और तीन्त्सिन में पाश्चात्य लोगों की अत्यन्त समृद्ध बस्तियां विद्यमान थीं, और अन्यत्र कैन्टन आदि में भी पाश्चात्य व्यापारी बड़ी संख्या में निवास कर रहे थे। चीन के साथ की गई पुरानी सन्धियों के अनुसार अनेक स्थानों पर विदेशी राज्यों की शक्तिशाली सेनाएं भी स्थापित थीं, और यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन-जापान के युद्ध के अवसर पर विदेशी राज्यों के इन प्रभाव-क्षेत्रों पर भी युद्ध का असर पड़े। युद्ध के समय यह असम्भव था, कि ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस आदि की सम्पत्ति गोलाबारी से सर्वथा सुरक्षित रहे, या उनका कोई नागरिक लड़ाई की चपेट में न आ जाय। जापानी सेनाएं यह अवश्य यत्न करती थीं, कि चीनी सेनाओं से युद्ध करते हुए पाश्चात्य देशों के नागरिकों की जान और माल को नुकसान न पहुंचने पाए। पर बहुधा उनका यह प्रयत्न सफल नहीं होने पाता था। इसके कारण निम्नलिखित थे—(१) बहुत-से पाश्चात्य व्यापारी उन नगरों तथा प्रदेशों में बसे हुए थे, जहां युद्ध जारी था। युद्ध के समय यह असंभव था, कि ये व्यापारी और अन्य विदेशी लोग लड़ाई की चपेट में न आ जाएं। (२) शंघाई, तीन्त्सिन आदि नगरों में विदेशियों की अनेक बस्तियां ऐसी थीं, जिनका प्रबन्ध व शासन भी विदेशी लोगों के ही हाथों में था। चीन के बहुत-से गुरीला सैनिक जापानी सेनाओं से अपनी रक्षा करने के उद्देश्य से इन विदेशी बस्तियों में आश्रय ले लेते थे, और क्योंकि इन विदेशी लोगों की सहानुभूति चियांग काई शेक की सरकार के पक्ष में थी, अतः ये उन्हें सहर्ष आश्रय दे देते थे। इस दशा में अनेक बार जापानी सेनाएं चीन की विदेशी बस्तियों में हस्तक्षेप करने के लिए विवश हो जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थीं। (३) चीन-जापान युद्ध के कारण पाश्चात्य देशों के व्यापार को बहुत नुकसान पहुच रहा था। बहुधा विदेशी व्यापारी यह प्रयत्न करते थे, कि जापानी सेनाओं के आदेशों की उपेक्षा कर वे चीन में अपने माल को पहुंचाएं। इस दशा में जापानी सेनाओं के साथ उनका संघर्ष आवश्यक हो जाता था। (४) अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस चियांग काई शेक की सरकार को युद्ध-सामग्री और धन द्वारा सहायता दे रहे थे। यह सहायता हांगकांग से वायु-मार्ग द्वारा, और इन्डोचायना व उत्तरी बरमा से रेल और मोटर द्वारा पहुंचायी जाती थी। जापान स्वाभाविक रूप से यह यत्न करता था, कि यह सहायता चियांग काई शेक की सरकार को न पहुंचने पाए। इस कारण भी विदेशियों के साथ जापान के संघर्ष के अवसर पर उपस्थित होते रहते थे।

पर साथ ही जापानी सरकार इस बात के लिए भी उत्सुक थी, कि चीन के मामले को लेकर उसका ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के साथ युद्ध शुरू न हो जाय। इसीलिये जब इन पाश्चात्य राज्यों के जान व माल को चीन में जापानी सेनाओं द्वारा कोई नुकसान पहुँचता था, तो जापानी सरकार उसकी क्षति-पूर्ति का प्रयत्न करती थी। ब्रिटेन को क्षतिपूर्ति द्वारा संतुष्ट रखने की जापानी सरकार को उतनी चिन्ता नहीं थी, जितनी कि अमेरिका को सन्तुष्ट रखने की थी। जापान अनुभव करता था, कि ब्रिटेन उसका प्रतिरोध करने के लिये पर्याप्त शक्ति नहीं रखता है। यूरोप में जर्मनी और इटली अपने साम्राज्य-विस्तार के लिये जिस प्रकार मनमानी कर रहे थे, और ब्रिटेन उनके मार्ग में बाधा उपस्थित करने का कोई भी प्रयत्न जो नहीं करता था, उससे जापान को विश्वास हो गया था, कि ब्रिटेन चीन में भी उसके मार्ग में बाधक नहीं हो सकेगा। पर अमेरिका की शक्ति के सम्बन्ध में जापान का विचार दूसरा था। वह अनुभव करता था, कि प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र के साथ अमेरिका का जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं है। इसीलिये १९३७ में चीन-जापान युद्ध के प्रारम्भिक काल में जापान उन प्रदेशों के विषय में पहले ही अमेरिका को सूचित कर देता था, जहां कि सैनिक कार्यवाही प्रारम्भ की जाने वाली होती थी। अमेरिका भी इन प्रदेशों से अपने नागरिकों को हटा लेने की व्यवस्था कर देता था। १९३७ में जुलाई से नवम्बर तक के चार महीनों में ५,००० से भी अधिक अमेरिकन लोगों को चीन के युद्ध-क्षेत्रों से हटा लिया गया था। १२ दिसम्बर, १९३७ को कतिपय अमेरिकन जहाज नानकिंग से अमेरिकन नागरिकों को ले जाने में तत्पर थे। वे जापानी सेनाओं की गोलाबारी के शिकार हो गये, और उनमें से चार डूब भी गये। अमेरिका में इस दुर्घटना से बहुत अधिक असन्तोष फैला। पर जापान की सरकार का कहना था कि इन चार जहाजों का डूबना एक आकस्मिक दुर्घटना है, और जापान की सेनाओं ने जान बूझकर इन जहाजों पर हमला नहीं किया था। जापान की सरकार ने इस दुर्घटना के लिये अमेरिका से बाकायदा क्षमा मांग ली, और उसके लिये समुचित रूप से क्षतिपूर्ति करना भी स्वीकार कर लिया। अनेक जापानी नेताओं ने स्पष्ट शब्दों में इस घटना के लिये खेद प्रगट किया, और अमेरिका को इस सम्बन्ध में कोई और कार्यवाही करने की आवश्यकता नहीं हुई। इसी प्रकार की अन्य भी अनेक घटनाएं इस समय युद्ध के दौरान में हुईं, पर उनके कारण जापान और अमेरिका के सम्बन्धों में विशेष अन्तर नहीं आने पाया।

१९३९ में जब यूरोप में युद्ध के प्रारम्भ होने की सम्भावना बहुत स्पष्ट हो गई, तो जापान विदेशी राज्यों की और अधिक उपेक्षा करने लगा। १० फरवरी, १९३९ को हैनान द्वीप पर जापान ने अपना अधिकार कर लिया। यह विशालकाय द्वीप हांगकांग के दक्षिण और इन्डोचायना के पूर्व में स्थित है। हैनान द्वीप चीन का ही एक अंग था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसके सम्बन्ध में चीन और फ्रांस में यह सन्धि हो चुकी थी, कि इस द्वीप पर वे किसी अन्य विदेशी राज्य का प्रभुत्व नहीं होने देंगे। हैनान पर जापानी सेनाओं का प्रभुत्व हो जाने के कारण इन्डोचायना में फ्रांस की स्थिति बहुत अधिक असुरक्षित हो गई थी। साथ ही, ब्रिटेन के लिये भी हैनान पर जापान का कब्जा बहुत अधिक हानिकारक था। सिंगापुर से हांगकांग जाने वाला सामुद्रिक मार्ग हैनान के समीप से होकर गुजरता था, और इस द्वीप पर जापान का कब्जा हो जाने से उसके लिये यह बहुत सुगम हो गया था, कि वह हांगकांग आने-जाने वाले ब्रिटिश जहाजों पर आक्रमण कर सके। फ्रांस और ब्रिटेन ने हैनान पर कब्जा कर लेने की बात पर जापानी सरकार के सम्मुख अपने रोष को प्रकट किया, पर जापान ने इसकी कोई परवाह नहीं की। इसके कुछ दिन बाद जापानी सेनाओं ने स्पार्टली द्वीप-समूह पर भी अपना अधिकार कर लिया। इन द्वीपों पर जापान का प्रभुत्व भी फ्रांस और ब्रिटेन के लिये हानिकारक था। पर अपना विरोध व रोष प्रकट कर देने के अतिरिक्त उनके सम्मुख अन्य कोई मार्ग नहीं था।

१९३९ के फरवरी मास के अन्तिम दिनों में जापान ने यह यत्न किया, कि शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के शासन में अपने अधिकार को और अधिक बढ़ाया जाय। चीन के बहुत-से गुरीला सैनिक इस बस्ती में आकर आश्रय ग्रहण करते थे, और वहां रहकर जापानी सेना से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो जाते थे। जापान की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा थी, कि वह इस बस्ती में चियांग काई शेक की सरकार और येनान की कम्युनिस्ट सरकार के पक्षपाती लोगों को आश्रय ग्रहण न करने दे। इसके लिये उसने शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती के अधिकारियों पर यह जोर देना शुरू किया, कि वे इस बस्ती के शासन में जापान का सहयोग प्राप्त करें, और उसकी इच्छा के अनुसार ही अपने शासन का संचालन करें। पर अमेरिका के विरोध के कारण उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इसी प्रकार मई, १९३९ में कुलांग्सू द्वीप की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती को अपने प्रभाव में लाने के लिये जापानी सेनाओं ने प्रयत्न किया। कुलांग्सू द्वीप अमोय के बन्दरगाह से कुछ दूरी पर स्थित है, और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती में अमेरिकन, फ्रेंच और ब्रिटिश लोगों की प्रमुखता थी। यहां पर भी कुओमिन्तांग दल के लोग आश्रय ग्रहण किया करते थे, और जापान का प्रतिरोध करने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। पर जापान को कुलांग्सू द्वीप पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में भी सफलता नहीं हो सकी। इसका कारण यह था, कि अमेरिका, फ्रांस और ब्रिटेन ने भी वहां अपनी सेनाओं की संख्या बढ़ा दी, और जापान के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इन पाश्चात्य सेनाओं के विरुद्ध युद्ध किये बिना कुलांग्सू द्वीप को अपनी अधीनता में ला सके। शंघाई और कुलांग्सू द्वीप की अन्तर्राष्ट्रीय बस्तियों के सम्बन्ध में जापान जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उससे यह प्रगट है, कि वह अमेरिका का स्पष्ट रूप से विरोध नहीं करना चाहता था, और उसकी यह नीति थी कि जहां तक हो सके, पाश्चात्य राज्यों के साथ संघर्ष में आने से बचा जाये।

पाश्चात्य राज्यों के साथ संघर्ष का एक अन्य अवसर तीन्त्सिन की विदेशी बस्तियों के सम्बन्ध में उपस्थित हुआ। तीन्त्सिन बन्दरगाह उत्तरी चीन के समुद्र-तट पर स्थित है, और उत्तरी चीन पर १९३७ में ही जापान के प्रभुत्व की स्थापना हो चुकी थी। तीन्त्सिन में ब्रिटिश और फ्रेंच लोगों की दो बस्तियां थीं, जिनके निवासी उत्तरी चीन पर जापान के प्रभुत्व की उपेक्षा करने में संकोच नहीं करते थे। इन बस्तियों में ब्रिटेन और फ्रांस के अनेक बैंक विद्यमान थे, जो विदेशी विनिमय के लिये जापान की संरक्षा में विद्यमान पेकिंग सरकार द्वारा प्रचारित मुद्रापद्धति को स्वीकृत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं करते थे। पेकिंग में जापान द्वारा एक फिडरल रिजर्व बैंक की स्थापना की गई थी, और यही बैंक उत्तरी चीन की मुद्रापद्धति का संचालन करता था। तीन्त्सिन पेकिंग सरकार के क्षेत्र के अन्तर्गत था, पर वहां की ये विदेशी बस्तियां फिडरल रिजर्व बैंक द्वारा प्रचारित सिक्कों और नोटों को स्वीकार करने के बजाय चियांग काई शेक की कुओमिन्ताँग सरकार द्वारा प्रचारित मुद्रापद्धति को स्वीकार करने का आग्रह करती थीं। साथ ही, इन विदेशी बैंकों के पास कुओमिन्तांग सरकार की बहुत-सी चांदी व अन्य धन जमा था। अब क्योंकि तीन्त्सिन के क्षेत्र से चियांग काई शेक के शासन का अन्त हो चुका था, और वहां एक नई चीनी सरकार की स्थापना हो गई थी, अतः स्वाभाविक रूप से पेकिंग सरकार इस धन पर अपना अधिकार समझती थी। पर तीन्त्सिन के ये ब्रिटिश और फ्रेंच बैंक इस धन को कुओमिन्तांग सरकार की सम्पत्ति मानते थे, और इसका उपयोग चियांग काई शेक को युद्ध-सामग्री पहुंचाने के लिये करना अपना कर्त्तव्य समझते थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान तीन्त्सिन की इन विदेशी बस्तियों को अपने अधिकार में ले आने का प्रयत्न करे। ९ एप्रिल, १९३९ में तीन्त्सिन के तट-कर के प्रधान अधिकारी की हत्या हो गई। यह अधिकारी चीनी था, और पेकिंग सरकार की ओर से तीन्त्सिन में नियुक्त था। इस चीनी अधिकारी के हत्याकारियों ने तीन्त्सिन की ब्रिटिश बस्ती में आश्रय ग्रहण किया। इस दशा में जापानी सेना ने तीन्त्सिन की ब्रिटिश बस्ती के अधिकारियों से यह मांग की, कि वे इन हत्याकारियों को (जिनकी संख्या चार थी) गिरफ्तार करके जापानियों के सुपुर्द कर दें। ब्रिटिश अधिकारियों ने इस मांग को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इसपर जून, १९३९ में जापान ने तीन्त्सिन के ब्रिटिश अधिकारियों को यह चुनौती दी, कि यदि वे जापान की इस मांग को स्वीकृत नहीं करेंगे, तो तीन्त्सिन की ब्रिटिश बस्ती के सब मार्गों को अवरुद्ध कर दिया जायगा। ब्रिटिश अधिकारियों ने जापान की इस चुनौती की कोई परवाह नहीं की। परिणाम यह हुआ, कि जापान के जंगी जहाजों ने तीन्त्सिन आने-जाने के सामुद्रिक मार्ग पर कब्जा कर लिया। अब ब्रिटिश जहाजों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे अपने माल को तीन्त्सिन ला सकें या वहां से कोई माल बाहर ले जा सकें। जो ब्रिटिश लोग तीन्त्सिन से बाहर आते-जाते थे, उनकी भी तलाशी ली जाने लगी और वहाँ की ब्रिटिश बस्ती में भोजन तक का पहुंचना भी कठिन हो गया।

इस दशा में ब्रिटिश अधिकारियों को जापान के साथ समझौता करने के लिये विवश होना पड़ा। तोक्यों में समझौते की बातचीत शुरू हुई। यह समझौता क्रैगी-अरीता समझौते के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अनुसार ब्रिटेन के प्रतिनिधि श्री क्रैगी ने इस बात को स्वीकार किया, कि जापान के लिये यह आवश्यक है कि चीन में अपने अधिकृत प्रदेशों में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिये और अपनी सैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये वह ऐसे कदम भी उठाए, जिनसे कि चीन में रहने वाले ब्रिटिश नागरिकों की स्वतन्त्रता में बाधा उपस्थित होती हो। इसी समझौते के अनुसार तीन्त्सिन के ब्रिटिश अधिकारियों ने उन लोगों को भी जापान के सुपुर्द कर दिया, जिन पर कि तट-कर के चीनी अधिकारी की हत्या करने का सन्देह था। इन हत्याकारियों को जापान के सुपुर्द करने के मामले में ब्रिटेन को बहुत नीचा देखना पड़ा था। पर उसने यह कह कर सन्तोष कर लिया, कि और अधिक जाँच के बाद इस बात के प्रमाण मिल गये हैं, कि वस्तुतः इन अभियुक्तों का चीनी अधिकारी की हत्या में हाथ था।

चीन में विद्यमान पाश्चात्य देशों के अधिकार-क्षेत्रों के सम्बन्ध में जैसी समस्याएं शंघाई, तीन्त्सिन और कलांग्सू में उत्पन्न हुई थीं, वैसा ही स्वातो, वेञ्चो और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूचो आदि में भी प्रादुर्भूत हुईं। इन सब स्थानों पर भी पाश्चात्य देशों की बस्तियां थीं, और उनमें विदेशी लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। चीन पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करते हुए जापान को इन विदेशियों के प्रति बहुत सावधानी से बरतना पड़ रहा था। यह जानते हुए भी कि ये विदेशी लोग चियांग काई शेक की सरकार के साथ पूर्ण रूप से सहानुभूति रखते हैं, और हर प्रकार से उसकी सहायता करने को उद्यत रहते हैं, वह खुले तौर पर उनके विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर सकता था।

(३) अमेरिका और जापान

इसी अध्याय में हम ऊपर लिख चुके हैं, कि पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्रों में संयुक्तराज्य अमेरिका और जापान के हित आपस में टकराते थे। पूर्वी एशिया में जापान जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उस पर भी हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। जापान की चीन-सम्बन्धी नीति के मुख्य तत्त्व निम्नलिखित थे:—(१) चीन में चियांग काई शेक के नेतृत्व में विद्यमान कुओमिन्तांग सरकार के स्थान पर एक ऐसी चीनी सरकार की स्थापना की जाय, जो जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो, और जो जापान को अपना शत्रु न समझकर उसे अपना मित्र, संरक्षक एवं सहयोगी माने। (२) चीन में पाश्चात्य देशों का जो प्रभाव व प्रभुत्त्व है, उसका अन्त किया जाय। न केवल चीन से अपितु पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों से भी पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त कर उन्हें स्वतन्त्र किया जाय, और ये स्वतन्त्र हुए एशियन देश जापान के सहयोग और संरक्षण में अपनी शासन-नीति तथा आर्थिक व्यवस्था का संचालन करें। (३) चीन और जापान मिल कर पूर्वी और उत्तरी एशिया में कम्युनिज्म का मुकाबिला करें। बैकाल की झील के पूर्व में रूस अपनी शक्ति का विस्तार न कर सके। जापान जर्मनी और इटली के साथ मिलकर एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट बना चुका था, अतः स्वाभाविक रूप से वह कम्युनिज्म का विरोधी था, और इस कार्य में वह चीन से सहयोग की आशा रखता था। (४) चीन में व्यापार करने और उसका आर्थिक विकास करने के सम्बन्ध में पाश्चात्य देशों को जो खुली छुट्टी मिली हुई है, उसका अन्त किया जाय। मंचूकुओ, आभ्यन्तर मंगोलिया, चीन और जापान मिलकर एक आर्थिक गुट (ब्लाक) का निर्माण करें। यह गुट आर्थिक दृष्टि से अपने आप में आत्म-निर्भर रहे, और किसी अन्य देश की सहायता पर निर्भर न करे। चीन, मंचूकुओ और मंगोलिया में किसी अन्य देश को अपनी पूंजी लगाने और इनका आर्थिक विकास करने का अधिकार न रहे, और यदि किसी देश को इस कार्य के लिये अनुमति दी जाय, तो पहले जापान की सहमति प्राप्त कर ली जाए। इस आर्थिक नीति से चीन को भी लाभ होगा, क्योंकि जापान उसके आर्थिक विकास के लिये सब आवश्यक पूंजी जुटा सकेगा। राजनीतिक दृष्टि से भी यह बात चीन के लाभ की होगी, क्योंकि जापान की सैनिक शक्ति सदा चीन की रक्षा व सहायता के लिये तत्पर रहेगी।

जापान ने चीन-सम्बन्धी अपनी नीति को 'नई व्यवस्था' (न्यू आर्डर) का नाम दिया था। उसका यह भी कहना था, कि वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा चीन के विषय में जिस नीति का प्रतिपादन किया गया था, वह अब क्रियात्मक नहीं रह गई है। १९२२ के बाद संसार की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में बहुत अन्तर आ चुका है, और पूर्वी एशिया में अनेक ऐसी नई बातें उत्पन्न हो गई हैं, जिनके कारण अब वाशिंगटन कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित नीति पुरानी पड़ गई है। पर संयुक्त-राज्य अमेरिका इस बात से सहमत नहीं था। उसका कहना था, कि यह ठीक है कि १९२२ के बाद से पूर्वी एशिया की स्थिति में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहुत अन्तर आ गया है, पर इस अन्तर को लाने की प्रधान उत्तरदायिता जापान के ऊपर ही है। जापान ने पिछले वर्षों में चीन के सम्बन्ध में जिस नीति का अनुसरण किया है, उसके कारण चीन की राजनीतिक दशा बहुत कुछ परिवर्तित हो गई है। पर अमेरिका इस बात को स्वीकार नहीं कर सकता, कि पूर्वी एशिया में किसी राज्य को यह अधिकार प्राप्त है, कि वह उन प्रदेशों का, जो कि उसकी अधीनता में नहीं है या जिन पर किसी भी स्वतन्त्र सरकार का शासन है, स्वयं विधायक बन जाय और उनके भाग्य का निर्माण अपनी इच्छा के अनुसार करने लगे। अमेरिका की इस नीति का स्पष्ट अभिप्राय यह था, कि वह जापान की 'नई व्यवस्था' का प्रबल विरोधी था, और चीन में उसे स्थापित नहीं होने देना चाहता था।

चीन में जापान द्वारा स्थापित की गई नई व्यवस्था का विरोध करने का अमेरिका के पास केवल यही उपाय था, कि वह चियांग काई शेक की सरकार की अधिक से अधिक सहायता करे। इसीलिये १५ दिसम्बर, १९३८ को उसने चियांग काई शेक की सरकार की मदद के लिये २,५०,००,००० डालर प्रदान किये थे। इसी समय ब्रिटेन ने कुओमिन्तांग सरकार की सहायता के लिये ६०,००,००० रुपये के लगभग की रकम प्रदान की। बरमा रोड इस समय तक बन कर तैयार हो चुकी थी, और दक्षिणी चीन के यूनान प्रान्त से मोटर मार्ग द्वारा चुंगकिंग सरकार को युद्ध-सामग्री व अन्य सहायता पहुंचायी जा सकती थी। ब्रिटेन ने ये साठ लाख रुपये चीन को इसी उद्देश्य से दिये थे, कि वे इनसे मोटर गाड़ियां खरीद कर युद्ध सामग्री को ढो सकने में समर्थ हो सके। १९३८ का अन्त होने से पूर्व ही अमेरिका और ब्रिटेन धन द्वारा चियांग काई शेक की सरकार की स्पष्ट रूप से सहायता करने को तत्पर हो गये थे। अमेरिका और ब्रिटेन पहले भी कुओमिन्तांग सरकार की युद्ध-सामग्री व धन द्वारा सहायता कर रहे थे, पर १९३८ के बाद इस सहायता में बहुत अधिक वृद्धि की गई। बरमा रोड के निर्माण के कारण अब इन देशों के लिये यह सुगम हो गया, कि वे चुंगकिंग को युद्ध-सामग्री भेज सकें। पहले इस सरकार को मुख्य रूप से सहायता रूस द्वारा प्राप्त होती थी, पर बरमा रोड के तैयार हो जाने पर अमेरिका और ब्रिटेन चुंगकिंग की सहायता के लिये पूर्ण रूप से कटिबद्ध हो गये, और इन देशों से युद्ध-सामग्री प्रचुर परिमाण में चियांग काई शेक की सेनाओं को पहुँचने लगी। १९३९ में जब यूरोप में महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो उसका असर पूर्वी एशिया पर क्या पड़ा, इस पर हम अगले प्रकरण में विचार करेंगे। पर महायुद्ध में जर्मनी और इटली जिस ढंग से सफल हो रहे थे, उससे अमेरिका बहुत चिन्तित था। १९४१ तक वह स्वयं महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, पर वह यूरोप की फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ युद्धसामग्री और धन द्वारा मित्रराष्ट्रों की सहायता करता रहा। इसके लिये उसने 'लीज-लैंड बिल' नाम से एक बिल अपनी कांग्रेस (पार्लियामेन्ट) में स्वीकृत किया, जिसका उद्देश्य उन राज्यों की युद्ध-सामग्री और धन द्वारा सहायता करना था, जिनकी सत्ता अमेरिका की अपनी सुरक्षा के लिये आवश्यक थी। इस बिल के अनुसार अमेरिका के राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया गया था, कि वह इस प्रकार के राज्यों को कितनी सहायता दी जाय और यह सहायता किन शर्तों पर दी जाय, इसका निश्चय कर सके। यह बिल जनवरी, १९४१ में स्वीकृत हुआ था। इसके अनुसार जहां यूरोप में ब्रिटेन और फ्रांस आदि को अमेरिका द्वारा सहायता दी गई, वहां साथ ही चीन की चुंगकिंग सरकार को भी प्रभूत परिमाण में युद्ध-सामग्री और धन की सहायता देने की व्यवस्था की गई। जापान ने अमेरिका की इस सहायता को अपने लिये अत्यन्त हानिकारक समझा, और इसके कारण अमेरिका के साथ उसके सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। पर जापान अब भी यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहता था, कि अमेरिका के साथ उसके सम्बन्ध न बिगड़ने पाएं। उसका विचार था, कि पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान और अमेरिका हितों में इतना अधिक विरोध नहीं है, कि उसके कारण इन देशों में युद्ध की आवश्यकता हो। इस बात को दृष्टि में रखकर जापान ने अमेरिका के साथ सन्धि की जो बातचीत शुरू की, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में आगे चलकर करेंगे।

(४) महायुद्ध और जापान

सितम्बर, १९३९ में पौलैण्ड के प्रश्न पर यूरोप में महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया। जर्मनी चाहता था, कि आस्ट्रिया और चेको-स्लोवाकिया के समान पोलैण्ड को भी अपने प्रभुत्त्व में ले आये। उसे भरोसा था, कि ब्रिटेन आदि अन्य यूरोपियन राज्य इस मामले में भी उसके विरुद्ध लड़ाई के लिए तत्पर नहीं होंगे। पर जर्मनी यूरोप में जिस ढंग से अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था, उसे ब्रिटेन अधिक सहन नहीं कर सकता था। परिणाम यह हुआ, कि पौलैण्ड के प्रश्न पर यूरोप के फैसिस्ट राज्यों और लोकतन्त्र राज्यों में युद्ध का प्रारम्भ हो गया। इस युद्ध का वृत्तान्त यहां लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि शीघ्र ही पोलैण्ड के बड़े भाग पर जर्मन सेनाओं का कब्जा हो गया। कुछ ही महीनों में नार्वे, डेनमार्क, हालैण्ड, बेल्जियम और फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गये। फ्रांस की सहायता के लिये जो ब्रिटिश सेनाएं यूरोप आयी हुई थीं, वे बड़ी कठिनता से ब्रिटेन वापस लौट सकने में समर्थ हुईं। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि जर्मनी की शक्ति अजेय है, और यूरोप का कोई भी देश उसका मुकाबिला नहीं कर सकता। यूरोप के महायुद्ध की इन घटनाओं का प्रभाव पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया पर पड़ना आवश्यक था। इस क्षेत्र में हालैण्ड, फ्रांस और ब्रिटेन के जो सुविस्तृत साम्राज्य विद्यमान थे, उनका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। हालैण्ड और फ्रांस पर जर्मनी का प्रभुत्त्व स्थापित हो चुका था, अतः उनके लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे एशिया में अपने साम्राज्यों की रक्षा कर सकें। फ्रांस की इन्डोचायना में और हालैण्ड की इन्डोनीसिया में अपनी-अपनी पृथक् सरकारें थीं। पर इन सरकारों की सैनिक शक्ति इतनी अधिक नहीं थी, कि वे जापान जैसे शक्तिशाली देश का मुकाबिला कर सकतीं। ब्रिटेन पर अभी जर्मनी का कब्जा नहीं हुआ था, पर उस पर जर्मन वायुसेना इतनी तीव्रता के साथ आक्रमण कर रही थी, कि ब्रिटेन के लिये भी अपनी रक्षा कर सकना सुगम नहीं रह गया था। इस स्थिति में उसके लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वह सुदूर पूर्व में विद्यमान अपने सुविस्तृत साम्राज्य की रक्षा पर विशेष ध्यान दे सके। महायुद्ध ने ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर दी थीं, जो जापान के लिये एक सुवर्णीय अवसर के समान थीं। इनका उपयोग कर जापान पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी उस नई व्यवस्था की स्थापना कर सकता था, जिसका उद्देश्य इन प्रदेशों से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त कर उनमें ऐसी सरकारों की स्थापना करना था, जो जापान को अपना मित्र, सहयोगी और संरक्षक समझें, और जो जापान की सहमति से ही अपनी अन्तर्राष्ट्रीय एवं आर्थिक नीति का संचालन करें।

रूस के साथ सन्धि—जापान की इस आकांक्षा के पूर्ण होने में यदि किसी शक्तिशाली राज्य के विरोध की सम्भावना हो सकती थी, तो वह रूस था। रूस की कम्युनिस्ट व्यवस्था से जापान का विद्वेष था। रूसी सरकार येनान की कम्युनिस्ट सरकार की सहायता के लिए तत्पर थी। जर्मनी और इटली के साथ मिलकर जापान ने १९३६ में जिस एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट का निर्माण किया था, उसका उद्देश्य भी कम्युनिज्म का विरोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करना ही था। इस स्थिति में यदि जापान दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपनी नई व्यवस्था की स्थापना के लिए उद्योग करता, तो उसे रूस के विरोध की प्रबल आशंका थी। अतः उसने यह आवश्यक समझा, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने से पूर्व रूस की ओर से निश्चिन्त हो लिया जाय। इससे पूर्व २३ अगस्त, १९३९ को महायुद्ध के प्रारम्भ से कुछ दिन पहले जर्मनी ने भी रूस के साथ एक समझौता कर लिया था, जिसका प्रयोजन यह था, कि जर्मनी और रूस एक दूसरे पर आक्रमण न करें। जर्मनी मध्य यूरोप में जिस ढंग से अपनी शक्ति का विस्तार कर रहा था, उससे उसे यह सर्वथा स्पष्ट था कि फ्रांस और ब्रिटेन के साथ उसका युद्ध अवश्यम्भावी है। इस दशा में स्वाभाविक रूप से उस की यह इच्छा थी, कि वह रूस के साथ युद्ध में फंसने की सम्भावना को दूर करने की व्यवस्था कर दे। इसीलिए उसने अगस्त, १९३९ में रूस के साथ एक समझौता कर लिया था। यह समझौता १९३६ के एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट के सर्वथा विपरीत था, पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिस्थितियों ने इस समय रूस और जर्मनी को एक सूत्र में बांध दिया था। रूस और जर्मनी के इस समझौते के कारण पूर्वी एशिया में जापान की स्थिति और भी अधिक अरक्षित हो गई थी, क्योंकि अब रूस की सेनाओं को यूरोप से बहुत कुछ छुट्टी मिल गई थी, और उन्हें जर्मनी के आक्रमण का कोई भय नहीं रह गया था। अब रूस अपनी सैन्यशक्ति को पूर्वी एशिया में केन्द्रित कर सकता था, और वहां जापान की बढ़ती हुई शक्ति का प्रतिरोध कर सकता था। अतः जापान के लिए यह और भी अधिक आवश्यक हो गया था, कि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार करने से पूर्व रूस की तरफ से निश्चिन्त होने का प्रयत्न करे। इसी उद्देश्य से १९४१ के प्रारम्भ में जापान के परराष्ट्र-मंत्री श्री मत्सुओका ने यूरोप की यात्रा की। इस यात्रा के सिलसिले में श्री मत्सुओका मास्को भी गए, और वहाँ उन्होंने १३ एप्रिल, १९४१ के दिन रूस के साथ एक सन्धि की, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) रूस और जापान दोनों एक दूसरे की सीमाओं को अनुल्लंघनीय मानते हैं, और इस बात की प्रतिज्ञा करते हैं कि वे एक दूसरे की सीमाओं का व्याघात करने का कोई प्रयत्न नहीं करेंगे। (२) रूस मंचूकुओ पर जापान के प्रभाव-क्षेत्र को स्वीकृत करता है, और जापान बाह्य मंगोलिया पर रूस के प्रभाव-क्षेत्र को मानता है। यदि कोई अन्य राज्य रूस या जापान के विरुद्ध युद्ध में व्यापृत हो जाय, तो ऐसे युद्ध में रूस या जापान उस राज्य की सहायता नहीं करेंगे और तटस्थ नीति का अवलम्बन करेंगे।

जापान की दृष्टि से यह सन्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी। इसके अनुसार उसे यह भरोसा हो गया था, कि यदि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के किसी मामले पर उसका अमेरिका के साथ युद्ध प्रारम्भ हो जाय, तो कम से कम रूस इस युद्ध में तटस्थ रहेगा और जापान को इन दो प्रबल शक्तियों का एक साथ मुकाबिला करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। इससे दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' स्थापित करने के प्रयत्न में जापान का मार्ग बहुत कुछ निष्कण्टक हो गया था। रूस के लिए भी यह सन्धि बहुत लाभदायक थी। उसे भी अब यह भरोसा हो गया था, कि यदि भविष्य में जर्मनी के साथ यूरोप में उसका संघर्ष शुरू हो, तो उसे दो मोरचों पर एक साथ लड़ाई लड़ने की आवश्यकता नहीं होगी। एशिया में जापान युद्ध की स्थिति से लाभ उठा कर उसके खिलाफ लड़ाई शुरू नहीं कर देगा, इस सम्बन्ध में रूस भी निश्चिन्त हो गया था। इस प्रकार रूस की ओर से निश्चिन्त होकर जापान दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपनी नई व्यवस्था को कायम करने के लिए प्रवृत्त हुआ। जापान को दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असाधारण सफलता प्राप्त हुई, उसमें एप्रिल, १९४१ का यह समझौता (रूस और जापान की परस्पर अनाक्रमण विषयक सन्धि) एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

इन्डोचायना और जापान—जून, १९४० में जर्मनी की सेनाओं ने पेरिस पर कब्जा कर लिया था। जर्मनी के संरक्षण में मार्शल पेतां के नेतृत्व में फ्रांस में एक ऐसी सरकार कायम कर दी गई थी, जो नाजी लोगों की नीति का अनुसरण कर देश का शासन करने को तैयार थी। इस दशा में इन्डोचायना की फ्रेंञ्च सरकार के सम्मुख एक विकट समस्या उपस्थित हो गई। पर वहां के फ्रेंच शासकों ने यही उचित समझा, कि वे मार्शल पेतां का अनुसरण करें, और उसी की नीति को अपनाएं। जापान ने इन्डोचायना की सरकार की निर्बलता से लाभ उठाया, और उसे निम्नलिखित बातों को मानने के लिए विवश किया—(१) इन्डोचायना से कोई युद्ध-सामग्री चुंगकिंग सरकार को न पहुँचायी जाए। जापानी सरकार को अधिकार हो, कि वह इस सम्बन्ध में निरीक्षण रख सके। (२) बरमा रोड द्वारा जो युद्ध सामग्री चुंगकिंग सरकार को पहुंचाई जा रही है, उसमें वायुमार्ग द्वारा बाधा उपस्थित करने के लिए जापान इन्डोचायना के हवाई अड्डों को प्रयुक्त कर सके। कुछ समय बाद जापान ने इन्डोचायना की सरकार से यह अधिकार भी प्राप्त कर लिया, कि वह इन्डोचायना के प्रदेश में अपनी सेनाएं भेज सके, और वहां से उन्हें चुंगकिंग सरकार के विरुद्ध लड़ाई के लिए प्रयुक्त कर सके। साथ ही, इन्डोचायना की सरकार ने जापान को यह अनुमति भी प्रदान कर दी, कि वह उसके हवाई अड्डों को चियांग काई शेक की सेनाओं के विरुद्ध संघर्ष के लिए प्रयोग में ला सके। फ्रांस इस समय हिटलर की सेनाओं द्वारा परास्त किया जा चुका था। उसकी सैन्यशक्ति छिन्न-भिन्न हो गई थी। पेरिस पर जर्मनी का कब्जा था। मार्शल पेतां के नेतृत्व में विशी को राजधानी बनाकर जो स्वतन्त्र फ्रेंच सरकार कायम हुई थी, वह पूर्णतया जर्मनी की वशवर्ती थी। इन्डोचायना की फ्रेंच सरकार विशी सरकार के अधीन थी, अतः स्वाभाविक रूप से वह जर्मनी के मित्र जापान की मांगों की उपेक्षा नहीं कर सकती थी।

इन्डोनीसिया और जापान—दक्षिण-पूर्वी एशिया में हालैण्ड का जो सुविस्तृत साम्राज्य विद्यमान था, उसे अब इन्डोनीसिया कहते हैं। पहले उसे 'डच ईस्ट इन्डीज' कहा जाता था। आर्थिक और व्यापारिक दृष्टि से जापान का उसके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। जापान का तैयार माल बहुत बड़ी मात्रा में इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों में बिका करता था, और जापान इन द्वीपों से पैट्रोलियम, रबड़ और टिन आदि पदार्थ प्रचुर मात्रा में क्रय किया करता था। क्योंकि अमेरिका से जापान के राजनीतिक सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे, अतः उसके लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि अपनी आवश्यकता के पैट्रोलियम आदि पदार्थ वह अमेरिका से सुविधापूर्वक प्राप्त कर सके। अतः जापान की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा थी, कि इन्डोनीसिया के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धों को और अधिक दृढ़ करे। वस्तुतः, जापान सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया को उसी प्रकार अपने प्रभाव में ले आना चाहता था, जैसे कि वह मंचूकुओ को अपने प्रभाव तथा संरक्षण में ले आने में समर्थ हुआ था। जापान इस प्रदेश को बृहत्तर पूर्वी एशिया के नाम से कहता था, और उसकी यह योजना थी, कि मंचूकुओ, आभ्यन्तर मंगोलिया, चीन, इन्डोनीसिया और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य सब देशों को मिलाकर एक ऐसा गुट या ब्लाक बनाया जाय, जो जापान को अपना सहयोगी तथा संरक्षक माने। यही कारण है, कि जर्मनी द्वारा हालैण्ड पर अधिकार स्थापित करने के कुछ समय पहले जापान के परराष्ट्रमंत्री श्री अरीता (जो कि मत्सुओका से पूर्व इस पद पर विराजमान थे) ने इन्डोनी-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिया के सम्बन्ध में निम्नलिखित नीति का प्रतिपादन किया था—"दक्षिणी समुद्र के क्षेत्र के साथ और विशेषतया नीदरलैण्ड्स ईस्ट इन्डीज के साथ जापान का बहुत अधिक घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध है, और ये दोनों एक दूसरे की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए परस्पर सम्बद्ध हैं। पूर्वी एशिया के अन्य प्रदेशों के साथ भी इन देशों का घनिष्ठ आर्थिक सम्बन्ध विद्यमान है। इसका अभिप्राय यह है, कि जापान और ये सब देश तथा प्रदेश पारस्परिक सहायता और अन्योन्याश्रयिता द्वारा पूर्वी एशिया की समृद्धि में सहायक हैं।" इसी प्रसंग में श्री अरीता ने यह भी स्पष्ट किया था, कि यदि यूरोप में युद्ध की प्रगति के कारण नीदरलैण्ड ईस्ट इन्डीज (इन्डोनीसिया) की स्थिति में कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर आयेगा, तो जापान उसकी उपेक्षा नहीं कर सकेगा। श्री अरीता को भय था, कि जब जर्मनी हालैण्ड पर कब्जा कर लेगा, तो नीदरलैण्ड की अधीनता में विद्यमान ईस्ट इन्डीज की राजनीति का संचालन मित्रराष्ट्र और अमेरिका इस ढंग से करने का प्रयत्न करेंगे, जिससे कि जापान इस देश के पैट्रोल, रबड़, और टिन आदि का उपयोग न कर सके, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जापान की जर्मनी और इटली के साथ मित्रता थी। इसी आशंका को दृष्टि में रखकर जापान पहले ही अपने इस दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देना चाहता था।

अमेरिका का रुख—यूरोप के महायुद्ध द्वारा जो नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी, अमेरिका भी उससे चिन्तित था। वह भलीभांति अनुभव करता था, कि जापान इसका उपयोग अपने उत्कर्ष के लिए कर सकता है, और वह हालैण्ड, फ्रांस तथा ब्रिटेन के संकट से लाभ उठाकर दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को सुगमता से अपने प्रभाव में ला सकता है। इसीलिए उसने अपनी यह नीति सर्वथा स्पष्ट कर दी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो प्रदेश जिस रूप में हैं, जो देश जिस किसी भी राज्य के अधीन हैं, उन्हें वैसे ही रहना चाहिए और उनकी राजनीतिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आना चाहिये। अपनी इस नीति को क्रिया में परिणत करने के लिए अमेरिका ने निम्नलिखित उपायों का अवलम्बन किया—(१) जापान अमेरिका से जो युद्ध-सामग्री मंगाता था, वह उसे देनी बन्द कर दी गई। केवल अस्त्र-शस्त्र ही नहीं, अपितु पैट्रोल, लोहा आदि जो भी वस्तुएं युद्ध के लिए सहायक हो सकती थीं, उन्हें जापान को बेचना व पहुंचाना रोक दिया गया। (२) चीन में महासेनापति चियांग काई शेक की सरकार को दी जाने वाली सहायता की मात्रा पहले की अपेक्षा बहुत बढ़ा दी गई, ताकि अब वह अधिक प्रबलता से जापान के विरुद्ध युद्ध को जारी रख सके और जापान की अच्छी बड़ी सैन्यशक्ति चीन में उलझी रहे। (३) ब्रिटेन को युद्ध-सामग्री और धन की सहायता बहुत बड़ी मात्रा में दी जाने लगी, ताकि यूरोप के रणक्षेत्र में फैसिस्ट राज्य सफल न हो सकें और ब्रिटेन उनका सफलता के साथ मुकाबिला कर सके।

इस नीति का यह परिणाम हुआ, कि अमेरिका जैसा शक्तिशाली देश भी महायुद्ध के मैदान में उतर आया। यद्यपि उसकी सेनाएँ फैसिस्ट शक्तियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिए अभी लड़ाई में शामिल नहीं हुई थीं, पर क्रियात्मक दृष्टि से अमेरिका अब ब्रिटेन और फ्रांस आदि लोकतन्त्रवादी देशों को सब प्रकार की सहायता प्रदान करने के लिए तत्पर हो गया था। महायुद्ध में अमेरिका की सहानुभूति शुरू से ही मित्रराष्ट्रों के पक्ष में थी, पर १९४० के मध्य भाग में, जबकि फ्रांस जर्मनी द्वारा बुरी तरह से परास्त कर दिया गया था और जर्मन हवाई जहाज बड़ी तेजी के साथ ब्रिटेन पर गोलाबारी करने में तत्पर थे, अमेरिका ने अपनी शक्ति भर मित्र-राष्ट्रों की सहायता करनी प्रारम्भ कर दी थी। अमेरिका जो इस समय खुले तौर पर लड़ाई में शामिल नहीं हो गया था, उसके दो कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे—(१) अमेरिका का लोकमत अभी तक युद्ध में शामिल होने के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं था। यूरोप के झगड़ों में हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण ही अमेरिका राष्ट्रसंघ से पृथक् रहा था, और इस समय भी वहां ऐसे राजनीतिक नेताओं की कमी नहीं थी, जो अपने देश को युद्ध से पृथक् रखना ही राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उपयोगी समझते थे। (२) अमेरिका के राजनीतिक तथा सैनिक नेता यह भी अनुभव करते थे, कि अभी उनकी सेना युद्ध के लिए पूरी तरह से तैयार नहीं है। जर्मनी, इटली और जापान की फैसिस्ट सरकारें पिछले दस सालों से युद्ध की तैयारी में तत्पर थीं, और इस काल में संसार के अन्य लोकतन्त्र राज्यों के समान अमेरिका ने भी अपने सैनिक उत्कर्ष पर विशेष ध्यान नहीं दिया था। अतः इस समय अमेरिका युद्ध की तैयारी के लिए अपनी पूर्ण शक्ति के साथ तत्पर था, और वह पूरी तैयारी किए बिना लड़ाई में शामिल होने में संकोच करता था।

इटली, जर्मनी और जापान की सैनिक सन्धि—अमेरिका जिस ढंग से ब्रिटेन, फ्राँस आदि मित्र-राष्ट्रों की सहायता के लिये कटिबद्ध था, उससे फैसिस्ट राज्यों के लिए यह समझ सकना कठिन नहीं था, कि वह समय दूर नहीं है, जब कि अमेरिका खुले तौर पर लड़ाई में शामिल हो जायगा। इटली, जर्मनी और जापान का गुट १९३६ में ही बन चुका था। अब २७ सितम्बर, १९४० को इन तीनों राज्यों ने परस्पर मिल कर एक सैनिक सन्धि की, जिसके अनुसार उन्होंने निश्चय किया, कि (१) यदि अमेरिका पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान के विरुद्ध लड़ाई शुरू करे या इन्डोनीसिया पर जापान द्वारा कब्जा करने के रास्ते में बाधा डाले, तो जर्मनी और इटली अटलान्टिक महासागर के क्षेत्र में उसके विरुद्ध लड़ाई शुरू कर देंगे। (२) इसी प्रकार यदि अमेरिका ब्रिटेन को स्पष्ट रूप से सैनिक सहायता देने लगे, तो जापान प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में उसके खिलाफ युद्ध प्रारम्भ कर देगा। इटली, जर्मनी और जापान की यह सैनिक सन्धि बहुत अधिक महत्त्व रखती है। इसके अनुसार जापान को यह भरोसा हो गया था, कि यदि वह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव एवं प्रभुत्व के विस्तार का उद्योग करेगा, तो अमेरिका अपनी सम्पूर्ण शक्ति को उसके खिलाफ प्रयुक्त नहीं कर सकेगा, क्योंकि अमेरिका को अपनी अच्छी बड़ी जल सेना अटलान्टिक महासागर में भी रखनी होगी। वह अपनी जो जलसेना प्रशान्त महासागर में प्रयुक्त कर सकेगा, उससे जापान को विशेष भय नहीं था।

सितम्बर, १९४० की इस सन्धि के कारण पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान की स्थिति बहुत अधिक सुरक्षित हो गई थी। इस क्षेत्र में जापान को अमेरिका के अतिरिक्त रूस से भी भय था। रूस के हस्तक्षेप से निश्चिन्त होने के लिए ही जापान ने एप्रिल, १९४१ में रूस के साथ तटस्थता की जो सन्धि कर ली थी, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। अमेरिका और रूस दोनों के मुकाबिले में अपनी स्थिति को मजबूत कर लेने के बाद जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार के लिए प्रवृत्त हुआ। इस समय जापान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कितनी सावधानी और बुद्धिमत्ता के साथ कदम बढ़ा रहा था, इसे अवगत करने के लिये ये दो सन्धियां पर्याप्त हैं।

अमेरिका के साथ सन्धि का प्रयत्न—१९४१ के शुरू तक अमेरिका यह अन्तिम रूप से निश्चय कर चुका था, कि फैसिस्ट शक्तियों के विरुद्ध मित्र-राष्ट्रों की पूर्ण रूप से सहायता की जाय। वह अभी महायुद्ध में शामिल नहीं हुआ था, पर उसने तटस्थता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च उदासीनता की नीति का परित्याग कर दिया था। वह समझता था, कि लोकतन्त्रवाद के अनुयायी मित्र-राष्ट्रों के लिए शस्त्रागार का कार्य करके वह उन्हें अच्छी तरह से सहायता पहुंचा सकता है। इसीलिये उसने जनवरी, १९४१ में लीज लैन्ड बिल स्वीकृत किया था, जिसके अनुसार राष्ट्रपति रूजवेल्ट को यह अधिकार दे दिया गया था, कि वह फैसिस्ट राज्यों के विरुद्ध संघर्ष करने वाले देशों की युद्ध-सामग्री और धन द्वारा सहायता की व्यवस्था कर सके। चीन की चुंगकिंग सरकार को यह सहायता प्रचुर मात्रा में दी भी जा रही थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जापान और अमेरिका में विरोध उत्पन्न हो। पर जापान इस बात के लिये उत्सुक था, कि जहां तक सम्भव हो, वह अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश के विरुद्ध युद्ध में व्यापृत होने से बचा रहे। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' स्थापित करने की जापान की आकांक्षा तभी निर्बाध रूप से पूर्ण हो सकती थी, जबकि रूस और अमेरिका से उसके युद्ध की सम्भावना न रहे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में जापान का अमेरिका के साथ कोई विशेष विरोध नहीं था। यदि फिलिप्पीन द्वीप-समूह को अपनी अधीनता में लाने का जापान प्रयत्न न करे, तो इस क्षेत्र में अन्य कोई प्रदेश ऐसा नहीं था, जिसमें अमेरिका का आधिपत्य हो और जिसे जापान की नई व्यवस्था से हानि पहुचने की सम्भावना हो। एप्रिल, १९४१ में जापान रूस के साथ सन्धि कर चुका था। अब उसने यह भी प्रयत्न किया,-कि इसी ढंग की सन्धि अमेरिका के साथ भी कर ली जाए। अमेरिका में जापानी राजदूत के पद पर एड्मिरल नोमूरा विद्यमान थे। उन्होंने अमेरिका के साथ सन्धि की बात-चीत शुरू की, और पारस्परिक समझौते के लिए निम्नलिखित शर्तें पेश कीं—(१) नानकिंग में वांग चिंग वेई के नेतृत्व में जो चीनी सरकार संगठित हुई है, वह जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध में विश्वास रखती है। जापान चीन का पड़ौसी राज्य है, और इन दोनों राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध और सहयोग पूर्वी एशिया में शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के लिए अनिवार्य है। अतः अमेरिका को चाहिए, कि वह चियांग काई शेक की सरकार पर भी इस बात के लिए जोर दे, कि वह जापान के साथ समझौता कर ले। (२) जापान और अमेरिका दोनों देश यह स्वीकार करें, कि उन्हें जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो और जिन्हें वे एक-दूसरे को दे सकते हों, उन्हें वे एक-दूसरे को देते रहेंगे। जापान अमेरिका से पेट्रोल, लोहा आदि पदार्थ प्रचुर परिमाण में प्राप्त किया करता था। इसी प्रकार रेशम आदि अनेक पदार्थ जापान से अमेरिका जाया करते थे। एड्मिरल नोमूरा की इच्छा थी, कि अमेरिका और जापान का यह पारस्परिक व्यापार भविष्य में भी पूर्ववत् जारी रहे। (३) दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के साथ जो सम्बन्ध जापान स्थापित रखना चाहता है, उसका स्वरूप शान्तिमय है। जापान इन देशों को अपनी अधीनता में लाकर उनमें अपना शासन स्थापित नहीं करना चाहता। अतः अमेरिका को चाहिए, कि इन देशों से जापान तेल, रबड़, टिन, निकल आदि जिन पदार्थों को प्राप्त करना चाहता है, उन्हें प्राप्त करने में वह किसी प्रकार की बाधा न डाले। (४) फिलिप्पीन द्वीप-समूह को स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, और अमेरिका तथा जापान दोनों इस स्वतन्त्र राज्य की उदासीन एवं तटस्थ सत्ता को स्वीकार करें।

इस प्रसंग में विचारणीय बात यह है, कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के उद्देश्य क्या वस्तुतः शान्तिमय थे? इस बात का उत्तर देने के लिये यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश इस समय स्वतन्त्र नहीं थे। ये देश ब्रिटेन, फ्रांस, पोर्तुगाल, हालैण्ड और अमेरिका के साम्राज्यवाद के शिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे, और इन सब देशों में अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन जारी थे। अतः यदि जापान महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर इन देशों में अपने प्रभाव का विस्तार करने का प्रयत्न करता, तो उसका परिणाम किन्हीं स्वाधीन राज्यों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को नष्ट करना नहीं हो सकता था। जापान के लिये यह भी सम्भव नहीं था, कि वह इन देशों को उसी प्रकार अपनी अधीनता में ला सकता, जैसे कि ये पाश्चात्य देशों की अधीनता में थे। इस क्षेत्र में जापानी शक्ति के विस्तार का यही परिणाम हो सकता था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त हो जाते, और उनमें जो नई सरकारें कायम होतीं, वे जापान को अपना संरक्षक, मित्र एवं सहयोगी समझतीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों के लिये यह बात कुछ अधिक बुरी न होती। वे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर होने में इससे कुछ सहायता ही प्राप्त करते। मञ्चूकुओ और चीन में जिस ढंग की सरकारें जापान के संरक्षण में कायम हुई थीं, वे उन अर्थों में जापान की अधीनता में नहीं थीं, जिन अर्थों में कि इन्डोचायना, भारत, बरमा और इन्डोनीसिया आदि की सरकारें विविध पाश्चात्य देशों के अधीन थीं। चियांग काई शेक की सरकार को भी चीन की पूर्णतया स्वतन्त्र सरकार कह सकना सम्भव नहीं था। वह ब्रिटेन और अमेरिका के प्रभाव में थी, और उस पर इन पाश्चात्य देशों का आधिपत्य व प्रभाव उसी प्रकार से विद्यमान था, जिस प्रकार कि वांग चुंग वेई की सरकार पर जापान का था। इस स्थिति में पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में जापान की नीति और उद्देश्यों को सर्वथा बुरा कह सकना एक निष्पक्ष ऐतिहासिक के लिये सम्भव नहीं है। वस्तुतः, महायुद्ध की परिस्थितियों ने एशिया के विविध देशों को पाश्चात्य साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने का एक सुवर्णीय अवसर प्रदान किया था। पर पराधीन एशियन देशों के राष्ट्रीय नेताओं की अपनी सैन्य-शक्ति इतनी नहीं थी, कि वे अकेले अपने को पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त कर सकते। इसके लिये उन्हें किसी शक्तिशाली देश की सहायता की आवश्यकता थी। जापान इस स्थिति में था, कि वह इन देशों को सहायता प्रदान कर सके। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के विस्तार का यही परिणाम हुआ, कि इन्डोनीसिया, बरमा, मलाया आदि देशों को अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता प्राप्त करने का अवसर मिला, और वहां जो नई सरकारें कायम हुईं, महायुद्ध की परिस्थितियों के बावजूद भी वे इतनी अधिक स्वाधीन थीं, जितनी कि पाश्चात्य देशों की अधीनता में इन देशों की सरकारें कभी भी नहीं रही थीं। जापान की सहायता द्वारा इन देशों के आन्दोलन को जो बल मिला था और इनमें जो राष्ट्रीय शक्ति विकसित हुई थी, वह इतनी अधिक थी कि यदि जापान इन देशों को अपनी अधीनता में रखने का प्रयत्न करता, तो इनकी राष्ट्रीय चेतना उसे कभी सहन न कर सकती।

युद्ध का सूत्रपात—पर अमेरिका की नीति यह थी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों की जो स्थिति है और उनके शासन का जोस्वरूप है, उसमें कोई भी परिवर्तन न आये। इसका अभिप्राय यह था, कि इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का, इन्डचीायना पर फ्रांस का और बरमा, मलाया आदि पर ब्रिटेन का प्रभुत्व यथापूर्व कायम रहे। इन देशों को भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का अधिकार है, और इन देशों में भी विदेशी साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन विद्यमान हैं—इस तथ्य का अमेरिका की दृष्टि में कोई महत्व नहीं था। इसीलिये अमेरिका के साथ सन्धि करने के प्रयत्न में एड्मिरल नोमूरा को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। अमेरिका इन्डोचायना के मार्ग से चुंगकिंग सरकार को सहायता न दे सके, इस उद्देश्य से जब जापान ने इन्डोचायना में अपनी सेनाएं भेजनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रारम्भ कीं, तो अमेरिका अपने को काबू में नहीं रख सका। २६ जुलाई, १९४१ को अमेरिकन सरकार ने एक आज्ञा प्रकाशित की, जिसके द्वारा जापान के साथ होने वाले अमेरिकन व्यापार पर अविकल रूप से सरकारी नियन्त्रण कायम कर दिया गया। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि अमेरिका में जापान की जो धन-सम्पत्ति है, उस सबको सरकार अपने अधिकार में करलें, और जापानी लोग स्वेच्छापूर्वक उसका उपयोग न कर सकें। ब्रिटेन और उसके उपनिवेशों ने अमेरिका का अनुकरण किया, और उन्होंने भी इसी प्रकार के आदेश जारी कर दिये। हालैण्ड की सरकार ने भी अमेरिका के अनुकरण में जापान के सम्बन्ध में इसी नीति का आश्रय लिया। इसका परिणाम यह हुआ, कि जापान के लिये पैट्रोल जैसे आवश्यक पदार्थ को प्राप्त कर सकना कठिन हो गया। जापान पेट्रोल को अमेरिका, ब्रिटेन या इन्डोनीसिया से ही प्राप्त कर सकता था। इन देशों की नीति के कारण अब उसके लिये पेट्रोल व इसी प्रकार के अन्य पदार्थों को कहीं से भी प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा।

यह स्वाभाविक था, कि जापान अमेरिका, ब्रिटेन और हालैण्ड की इस नीति को अपने प्रति द्वेष व विरोध का परिणाम समझे। पर अभी अमेरिका युद्ध के लिये तैयार नहीं था। वह समझता था, कि अभी उसकी सामरिक तैयारी पूरी नहीं हुई है। इसलिये उसने जापान के साथ सन्धि की बातचीत को जारी रखा। पर जापान ने यह भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि अमेरिका से उसका युद्ध अवश्यम्भावी है, और उसके लिये यह सम्भव नहीं है, कि रूस के समान अमेरिका को भी वह तटस्थता की नीति का अनुसरण करने के लिये राज़ी कर सके। अतः उसने यही निश्चय किया, कि अमेरिका को युद्ध की तैयारी का और अधिक समय न दे। ७ दिसम्बर, १९४१ के दिन उसने पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर दिया। पर्ल हार्बर हवाई द्वीपसमूह में अमेरिकन जलशक्ति का प्रधान केन्द्र था। इस आक्रमण के कारण जापान और अमेरिका की सन्धि-विषयक बातचीत का स्वयमेव अन्त हो गया, और ये दोनों देश महायुद्ध के मैदान में कूद पड़े।

(५) जापान की आन्तरिक राजनीति

जिस समय जापान ने १९३१ में मञ्चूरिया में अपने प्रभुत्व की स्थापना का प्रयत्न प्रारम्भ किया था, उस समय तक के जापान के राजनीतिक इतिहास पर हम चौदहवें अध्याय में संक्षिप्त रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। इससे पूर्व कि हम १९४१ के बाद जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में किस प्रकार अपनी शक्ति एवं प्रभाव का विकास किया, इसका इतिवृत्त लिखें, यह उपयोगी होगा कि १९३१ से १९४१ तक के जापान के राजनीतिक इतिहास की प्रमुख घटनाओं का भी संक्षेप के साथ उल्लेख कर दिया जाय।

१९३२ में जापान की पार्लियामेंट में सैयुकाई दल का बहुमत था, और उसके नेता श्री इनुकाई जापान के प्रधानमन्त्री थे। इस समय जापान में इस बात पर संघर्ष शुरू हो चुका था, कि सरकार का संचालन राजनीतिक दलों और उनके नेताओं के हाथों में रहे या सेना के। इस संघर्ष का उल्लेख हम इस इतिहास में पहले भी कर चुके हैं। १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद संसार के प्रायः सभी देशों में लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति को बल मिला था। बहुत-से राज्यों में लोकतन्त्र रिपब्लिकों की स्थापना हो गई थी, और जहां वंशक्रमानुगत राजा कायम रहे थे, वहां भी शासन कार्य में लोकमत के प्रभाव में वृद्धि हो गई थी। जापान भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं बचा था। १९२० के बाद जापान में किस प्रकार राजनीतिक दलों का विकास हुआ और देश के शासन में इन दलों का प्रभाव कैसे बढ़ता गया, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। १९३० के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप में लोकतन्त्रवाद का ह्रास शुरू हुआ, और फैसिज्म तथा नाजीज्म के रूप में ऐसी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ, जिनका उद्देश्य सरकार के संचालन में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के महत्त्व को कम करके एक नेता और एक दल के प्रभुत्व की स्थापना करना था। यह फैसिस्ट प्रवृत्ति केवल इटली और जर्मनी तक ही सीमित नहीं रही, अपितु यूरोप के अन्य देशों पर भी उसका प्रभाव पड़ा। जर्मनी और इटली में जिस प्रकार हिटलर और मुसोलिनी के रूप में ऐसे नेताओं का प्रादुर्भाव हुआ, जिन्होंने कि विविध राजनीतिक दलों की पृथक् सत्ता और संघर्ष का अन्त कर राज्य की सम्पूर्ण शक्ति अपने हाथों में कर ली, उस ढंग के किसी नेता का प्रादुर्भाव जापान में नहीं हुआ। पर वहां के सैनिक नेता इस बात को भलीभांति अनुभव करते थे, कि राजनीतिक दलों के हाथों में सरकार के संचालन कार्य को रहने देना देश के लिये अत्यन्त हानिकारक है। राजनीतिक दलों की प्रभुता के कारण सरकार का संचालन कतिपय ऐसे लोगों के हाथों में आ जाता है, जो राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं, और सर्वसाधारण मतदाताओं को अपने पक्ष में करके राज-शक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। ये राजनीतिज्ञ अपनी शक्ति का प्रयोग स्वार्थ के लिये करते हैं, और बड़े पूंजीपतियों के साथ मिलकर अपना स्वार्थ-साधन करते हैं। अतः उचित यह है, कि देश के शासन में राजनीतिक दलों और राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व न रहे। सैनिक नेताओं का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, अतः वे जनता के हितों के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकते हैं। १९३० के बाद केवल सैनिक नेता ही यह बात अनुभव नहीं करते थे, अपितु जनता में भी बहुत-से ऐसे लोगों की सत्ता थी जो इन्हीं विचारों के थे। ये लोग उग्र राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत होने के कारण यह विश्वास रखते थे, कि जापान के सब संकटों को दूर करने का एकमात्र उपाय यही है, कि ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका और हालैंड आदि पाश्चात्य देशों के समान जापान भी साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रवृत्त हो। पर साम्राज्य-विस्तार के कार्य में सफलता के लिये राजनीतिक दलों और राजनीतिक नेताओं पर भरोसा नहीं किया जा सकता। इसके लिये देश का शासन उन सैनिक नेताओं के हाथों में होना चाहिये, जो तलवार के धनी हों और जो अपने देश के उत्कर्ष के लिये उग्र उपायों का अनुसरण कर सकने में समर्थ हों। १९३१ में जापान की क्वांतुंग सेना ने मञ्चूरिया पर अपना आधिपत्य स्थापित करना शुरू कर दिया था। मञ्चूरिया में जापान की शक्ति के विस्तार का उत्तरदायित्व क्वांतुंग सेना पर ही था। जब यह मामला जापान के मन्त्रिमन्डल के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किया गया, तो प्रधानमन्त्री इनुकाई ने कहा, कि जापान की आर्थिक दशा ऐसी नहीं है, कि मञ्चूरिया और चीन में किसी बड़े युद्ध का सूत्रपात किया जा सके। इनुकाई चीन और मञ्चूरिया में लड़ाई बढ़ाने का विरोधी था। परिणाम यह हुआ, कि सैनिक नेता और उग्र राष्ट्रवादी लोग उस के विरुद्ध हो गए। कतिपय सैनिक अफसरों के नेतृत्व वे इन राष्ट्रवादियों ने तोक्यो में चक्कर लगाना शुरू कर दिया। ये लोग अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे, और अपने विरोधियों का संहार करने के लिए कटिबद्ध थे। उन्होंने सैयुकाई दल के प्रधान कार्यालय, कोतवाली और प्रधानमन्त्री के निवासस्थान आदि महत्त्वपूर्ण इमारतों पर हमला किया। श्री इनुकाई इन राष्ट्रवादी लोगों द्वारा मार दिये गये, और उनके समान अन्य भी अनेक राजनीतिक नेता उग्र राष्ट्रवादी क्रान्तिकारियों के प्रकोप के शिकार बने। इन हत्याकारियों पर मुक-दमे चलाये गये, उन्हें सजा भी दी गई, पर यह सजा इतनी कम थी, कि उसका जनता पर कोई भी प्रभाव नहीं हो सकता था। इन लोगों को हत्याकारी न समझकर 'पथभ्रष्ट देश-भक्त' माना गया। इस समय जापान में सेना का इतना अधिक जोर था और लोग साम्रा-ज्य-प्रसार के लिए इतने अधिक उतावले थे, कि इन हत्याकारियों को कठोर दण्ड दे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकना सम्भव ही नहीं था। इन हत्याओं में केवल सेना का ही हाथ नहीं था। इस समय जापान में फैसिस्ट ढंग की एक राजनीतिक संस्था भी स्थापित हो चुकी थी, और उसकी अधीनता में एक रक्त-बन्धुत्व संघ (ब्लड ब्रदरहुड लीग) ऐसे कार्यों में तत्पर था, जिनका प्रयोजन अपने राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों की हत्या करना था। इस संघ में सैनिक आफिसर, विद्यार्थी और उग्र विचारों के नवयुवक सम्मिलित थे, और उन्होंने अपना यह ध्येय बनाया हुआ था, कि सरकार के संचालन का कार्य ऐसे लोगों के हाथों में ले आया जाय, जो साम्राज्य-प्रसार के कट्टर पक्षपाती हों। ब्लड ब्रदरहुड लीग की स्थापना सन् १९३० में हुई थी, और उसके संस्थापकों में लेफ्टिनेन्ट फूजिमा और निशो इनूये प्रमुख थे। फूजिमा सैनिक आफिसर था, और इनूये एक बौद्ध भिक्षुक था।

इनूकाई की हत्या में बाद जनरल सैतो के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया। सैतो का मन्त्रिमण्डल किसी एक राजनीतिक दल पर आश्रित नहीं था। उसमें सैनिक नेताओं की प्रधानता थी, और एड्मिरल अराकी उसका अत्यधिक प्रभावशाली सदस्य था। यह मन्त्रिमण्डल १९३४ तक कायम रहा। जिस समय जापान मञ्चूरिया और आभ्यन्तर मंगोलिया के पूर्वी प्रदेशों में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था, यही मन्त्रिमण्डल जापान में विद्यमान था। १९३४ में इस मन्त्रिमण्डल के अन्यतम मंत्री पर आर्थिक गबन के सम्बन्ध में कुछ आक्षेप किये गये, और उसके कारण नये मन्त्रिमण्डल के निर्माण की आवश्यकता हुई। अब एडमिरल ओकोदा के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हुआ। यह मन्त्रिमण्डल भी किसी एक राजनीतिक दल के समर्थन पर आश्रित नहीं था। पर फरवरी, १९३६ में जब जापान की पार्लियामेंट का नया निर्वाचन हुआ, तो उसमें पुराने राजनीतिक दलों की शक्ति फिर बढ़ गई। इस नई पार्लियामेंट में विविध दलों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी :—मिन्सेइतो ३०५, सैयुकाई १७४, शोवाकाई (फैसिस्ट प्रवृत्ति का नया दल) २० और अन्य दल ६७। पार्लियामेंट के निर्वाचन के परिणाम से वे लोग बहुत अधिक असन्तुष्ट हुए, जो जापान में राजनीतिक दलों के प्रभुत्व का अन्त कर सैनिक नेताओं के आधिपत्य के पक्षपाती थे। प्रधानमन्त्री एड्मिरल ओकोदा ने इस समय यही उचित समझा, कि लोकमत के अनुसार देश का शासन किया जाय और पार्लियामेन्ट के नये निर्वाचन द्वारा जनता ने जिन राजनीतिक दलों के प्रति विश्वास प्रगट किया है, उनको देश के शासन में अधिक महत्व दिया जाय। पर सेना के नेता और ब्लड ब्रदरहुड लीग के सदस्य इस बात को सहन करने के लिये उद्यत नहीं थे। वे खुले तौर पर विद्रोह करने को तैयार हो गये। २६ फरवरी, १९३६ के दिन १५०० सैनिकों ने अस्त्र-शस्त्रों के साथ तोक्यो में विद्रोह कर दिया। उन्होंने प्रधानमन्त्री, ओकोदा, एड्मिरल सैतो, एड्मिरल सुजुकी, श्री० ताकाहाशी, काउन्ट मकिनो आदि सरकार के प्रधान अधिकारियों तथा मन्त्रियों पर हमला बोल दिया, और अनेक सरकारी नेता इन विद्रोहियों के कोप के शिकार हुए। प्रधानमन्त्री ओकोदा बड़ी कठिनता से अपनी प्राण-रक्षा करने में समर्थ हुआ। विद्रोही सैनिकों के एक अन्य गिरोह ने हाईकोर्ट, पार्लियामेण्ट, पुलिस हेडक्वार्टर्स, जल एवं स्थल सेनाओं के प्रधान कार्यालय और राजप्रासाद आदि सरकारी इमारतों पर भी आक्रमण किया। सैनिकों का यह विद्रोह २९ फरवरी तक जारी रहा। क्योंकि अनेक मन्त्री और अन्य उच्च राजपदाधिकारी इस विद्रोह में मारे गये थे, अतः सम्राट् और उसकी सरकार ने इस बार विद्रोह को शान्त करने में बहुत अधिक तत्परता प्रदर्शित की। विद्रोही सैनिकों को गिरफ्तार किया गया, उन पर मुकदमे चलाये गये, और १७ सैनिक आफिसरों को प्राणदण्ड दिया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर इस विद्रोह द्वारा सेना ने एड्मिरल ओकोदा के प्रति जो रोष प्रकट किया था, उसके कारण उसके मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र दे देना पड़ा। ९ मार्च, १९३६ को श्री० हीरोता के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन किया गया। हीरोता का मन्त्रिमण्डल भी देर तक अपने पद पर कायम नहीं रह सका। उसके पतन के बाद दो अन्य मन्त्रिमण्डल बने, पर उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। ३१ मई, १९३७ को जापान के प्रधानमन्त्री के पद पर प्रिंस कोनोये की नियुक्ति हुई। कोनोये को जहां सैनिक नेता पसन्द करते थे, वहां राजनीतिक नेताओं का समर्थन भी उसे प्राप्त था। प्रिंस कोनोये वस्तुतः जापान का राष्ट्रीय नेता था, और उसी ने पूर्वी एशिया तथा बृहत्तर पूर्वी एशिया (दक्षिण-पूर्वी एशिया) के सम्बन्ध में उस नीति का सूत्रपात किया था, जिसका उल्लेख हम पहले 'नई व्यवस्था' के नाम से कर चुके हैं। प्रिंस कोनोये ने इस नई व्यवस्था के सम्बन्ध में निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था—(१) चीन में चियांग काई शेक के नेतृत्व में स्थापित सरकार का अन्त कर एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाय, जो जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो, और जो जापान को अपना मित्र, सहयोगी एवं संरक्षक स्वीकार करे। (२) चीन में पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त करने के साथ-साथ पूर्वी एशिया के सम्पूर्ण प्रदेशों से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त किया जाय। (३) रूस अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार बैकल झील से पूर्व के प्रदेश में न कर सके। पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' की स्थापना के लिये जापान ने चीन में जिन युद्धों का प्रारम्भ किया था, उनका उल्लेख इस इतिहास में पहले किया जा चुका है। इन युद्धों का संचालन प्रिंस कोनोये के मन्त्रिमण्डल द्वारा ही किया जा रहा था। चीन में जापान की शक्ति के विस्तार का प्रधान श्रेय इसी मन्त्रिमण्डल को है।

प्रिंस कोनोये का मन्त्रिमण्डल ५ जनवरी, १९३८ तक कायम रहा। मन्त्रियों के पारस्परिक मतभेद के कारण इस मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, और डॉ० हीरानूमा के नेतृत्व में नये मन्मिण्डल का निर्माण हुआ। यद्यपि डॉ० हीरानूमा स्वयं सैनिक अफसर नहीं था, पर वह उग्र राष्ट्रवादी था, और जापान की शक्ति के विस्तार का प्रबल पक्षपाती था। उसने चीन-जापान युद्ध का बड़ी उग्रता के साथ संचालन किया, पर वह भी देर तक अपने पद पर कायम नहीं रह सका। अगस्त, १९३९ में जब जर्मनी और रूस ने परस्पर तटस्थता की सन्धि कर ली, (इस सन्धि का उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं) तो जापान में उससे बहुत असंतोष हुआ। जर्मनी, इटली और जापान ने परस्पर मिलकर जो एण्टि-कोमिन्टर्न पैक्ट बनाया हुआ था, यह सन्धि स्पष्टतया उसके विरुद्ध थी। इस सन्धि के कारण जापान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी, और इसीलिये डॉ० हीरानूमा के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह अपने विरोधियों से अपने मन्त्रिमण्डल की रक्षा कर सके। परिणाम यह हुआ, कि २८ अगस्त, १९३९ को उसने त्यागपत्र दे दिया, और जनरल नोबूयूकी आबे के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का संगठन हुआ। जनरल आबे के मन्त्रिमण्डल के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी, कि जापान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति को फिर से मजबूत करने का प्रयत्न करे। इसके लिये उसने यह निर्धारित किया, कि जहां तक सम्भव हो यूरोप के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों से पृथक् रहा जाय, और संयुक्तराज्य अमेरिका के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया जाय, ताकि पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' को कायम करने की योजना को जापान निश्चित रूप से पूरा कर सके। पर अमेरिका और जापान में विरोध इतना अधिक था, कि उनमें समझौता हो सकना सुगम नहीं था। १५ जनवरी, १९४० को जनरल आबे के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, और एड्मिरल मित्सुमासा योनाई के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ।

इस समय यूरोप में महायुद्ध का प्रारम्भ हो चुका था, और जर्मनी बड़ी तेजी के साथ यूरोप के विविध देशों को अपनी अधीनता में ले आने में तत्पर था। जापान के उग्र राष्ट्रवादी नेता अनुभव करते थे, कि पूर्वी एशिया में 'नई व्यवस्था' स्थापित करने का यही सुवर्णीय अवसर है। ब्रिटेन, फ्रांस और हालैंड की इस समय जो दुर्दशा है, उससे लाभ उठाकर जापान को अब चीन और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में अपनी शक्ति के विस्तार के लिये प्रयत्नशील होना चाहिये। इन उग्र राष्ट्रवादी नेताओं का विचार था, कि एड्मिरल योनाई का मन्त्रिमण्डल महायुद्ध के अवसर का सुचारु रूप से जापान के उत्कर्ष के लिये उपयोग करने में असमर्थ है। इन नेताओं के विरोध के कारण १८ जुलाई, १९४० को योनाई के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, और प्रिंस कोनोये ने एक बार फिर जापानी सरकार के शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया।

प्रिंस कोनोये जापान की 'नई व्यवस्था' सम्बन्धी नीति का प्रवर्त्तक था। उसके शासनकाल में जापान ने पूर्वी और बृहत्तर पूर्वी एशिया में नई व्यवस्था की स्थापना के लिये जो उद्योग किया, उसके सम्बन्ध में इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त है, कि उसी के मन्त्रिमण्डल ने एप्रिल, १९४१ में रूस के साथ तटस्थता की सन्धि की और संयुक्त-राज्य अमेरिका के साथ समझौता करने के लिये अत्यधिक गम्भीरता के साथ उद्योग किया। इन सन्धियों का क्या उद्देश्य था, इस पर हम इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। प्रिंस कोनोये वस्तुतः अमेरिका के साथ सन्धि करना चाहता था। पर जब अमेरिका की सरकार ने अपने प्रदेश में विद्यमान सम्पूर्ण जापानी सम्पत्ति पर सरकारी अधिकार कायम कर लिया, और ब्रिटेन तथा हालैण्ड ने उसका अनुसरण किया (इसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं), तो प्रिंस कोनोये के लिये यह सम्भव नहीं रह गया कि वह अमेरिका के साथ सन्धि की बात को आगे बढ़ा सके। पर प्रिंस कोनोये अब भी निराश नहीं हुआ। उसने यत्न किया कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट से मुलाकात करे, और मिल कर स्वयं सब बातों का निर्णय करे। पर राष्ट्रपति रूजवेल्ट प्रिंस कोनोये से भेंट करने के लिये भी तैयार नहीं हुआ। प्रिंस कोनोये की अमेरिका सम्बन्धी नीति की यह भारी असफलता थी। विवश होकर उसे अपने पद से त्यागपत्र दे देना पड़ा, और जनरल हिदेका तोजो के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ। जनरल तोजो उग्र राष्ट्रवादी एवं साम्राज्यवादी था। उसका मन्त्रिमण्डल १९४४ तक कायम रहा। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति का जो असाधारण रूप से विस्तार हुआ, उसका श्रेय जनरल तोजो के मन्त्रिमण्डल को ही प्राप्त है। पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर जनरल तोजो की सरकार ने ही महायुद्ध में प्रवेश किया था।

१९३१ से १९४१ तक के काल में जापान के राजकीय व्यय में बहुत अधिक वृद्धि हुई। इसका कारण मञ्चूरिया और चीन के युद्धों में अत्यधिक खर्च का होना था। १९३१-३२ में जापान का कुल राजकीय व्यय १,४७,७०,००,००० येन था। १९३६-३७ में इस व्यय की मात्रा बढ़कर २,२८,२०,००,००० येन तक पहुंच गई थी। १९३६ के बाद जापान के राजकीय व्यय में और भी अधिक वृद्धि हुई, क्योंकि इस समय जापानी सेना चीन के साथ युद्ध में व्यापृत थी। इतने खर्च को केवल टैक्सों से ही प्राप्त नहीं किया जा सकता था, अतः सरकार को राष्ट्रीय ऋण का आश्रय लेना पड़ा। जापान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के राष्ट्रीय ऋण में कितनी तेजी के साथ वृद्धि हो रही थी, इसका अन्दाज निम्नलिखित तालिका द्वारा भलीभांति किया जा सकता है :—

वर्ष	राष्ट्रीय ऋण की मात्रा
१९३०	४,५२,३०,००,००० येन
१९३७	९,२५,८०,००,००० येन
१९४०	११,०३,३०,००,००० येन

इस राष्ट्रीय ऋण को प्रधानतया जापान के पूंजीपतियों द्वारा ही प्राप्त किया गया था। जर्मनी के समान जापान भी इस समय अपनी व्यावसायिक उन्नति के लिये विशेष रूप से तत्पर था। सरकार मुख्यतया ऐसे व्यवसायों पर विशेष रूप से ध्यान दे रही थी, जो युद्ध के लिये उपयोगी हों।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेईसवां अध्याय

दक्षिण—पूर्वी एशिया में महायुद्ध का प्रसार

(१) जापान द्वारा पाश्चात्य देशों के साम्राज्यों का अन्त

पर्ल हार्बर—७ दिसम्बर, १९४१ के दिन जापान ने पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया। यह बन्दरगाह प्रशान्त महासागर के हवाई द्वीप-समूह में स्थित है, और अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति का प्रधान केन्द्र है। अमेरिका को इस बात की आशंका नहीं थी, कि जापान इस प्रकार अकस्मात् पर्ल हार्बर पर आक्रमण कर देगा। इसमें सन्देह नहीं, कि अमेरिका और जापान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते जा रहे थे। जापान के राजदूत द्वारा अमेरिका के साथ सन्धि और समझौता करने का जो प्रयत्न किया था, वह असफल हो चुका था। प्रिंस कोनोये के साथ मुलाकात तक करने से भी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने इन्कार कर दिया था। इस दशा में इन दोनों देशों में युद्ध होना अनिवार्य हो गया था। जापान पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व का अन्त कर वहां ऐसी सरकारें स्थापित करना चाहता था, जो जापान को अपना मित्र, सहयोगी और संरक्षक मानें। अमेरिका जापान की इस नीति को किसी भी प्रकार सहने के लिये तैयार नहीं था। अतः जापान ने यह निश्चय किया, कि प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अमेरिका की जो जलशक्ति विद्यमान हैं, उसे एक दम पंगु बना दिया जाय, ताकि अमेरिका के लिये जापान के मार्ग में बाधा उपस्थित कर सकना सम्भव न रहे। पर्ल हार्बर के इस हवाई हमले में अमेरिका के अनेक जंगी जहाज डूब गये, और अनेक तहस-नहस हो गये। इस आक्रमण में २,११७ अमेरिकन आफिसर और सैनिक मारे गये, ३७६ घायल हुए, और ९६० लापता हो गये। जो जंगी जहाज इस हमले द्वारा डूबे या नष्ट हुए, उनकी संख्या १४ थी। १२७ अमेरिकन हवाई जहाज भी इस आक्रमण के कारण नष्ट हुए। जापान के इस अकस्मात् हमले से अमेरिका की आधी के लगभग सामुद्रिक शक्ति नष्ट हो गई।

इसमें सन्देह नहीं, कि जिस उद्देश्य से जापान ने अकस्मात् पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया था, उसमें उसे सफलता हुई। जापान यही चाहता था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार में अमेरिका की जलशक्ति बाधक न हो सके। पर्ल हार्बर पर आक्रमण के कारण प्रशान्त महासागर में विद्यमान अमेरिकन जलशक्ति इतनी अधिक पंगु हो गई थी, कि उसके लिये जापान का प्रतिरोध कर सकना सम्भव नहीं रहा था। पर अन्ततोगत्वा इससे जापान को नुकसान ही हुआ। अमेरिका में बहुत-से लोग ऐसे थे, जो महायुद्ध से पृथक् रहने में ही अपने देश का हित समझते थे। उनका विचार था, कि यूरोप के झगड़ों में अमेरिका को नहीं पड़ना चाहिये और उसके लिये यही पर्याप्त है, कि वह फैसिस्ट शक्तियों के खिलाफ मित्र-राज्यों की युद्ध-सामग्री और धन द्वारा सहायता करता रहे। यद्यपि राष्ट्रपति रूजवेल्ट लीज लेन्ड बिल द्वारा सब प्रकार से मित्र-राष्ट्रों की सहायता करने को उद्यत था, पर अमेरिका की जनता में युद्ध में शामिल होने के लिये विशेष उत्साह नहीं था। पर पर्ल हार्बर पर जापानी आक्रमण ने स्थिति को एकदम परिवर्तित कर दिया। अब सम्पूर्ण अमेरिकन जनता फैसिस्ट राज्यों के खिलाफ युद्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शामिल होने के लिए तैयार हो गई, और इस विशाल रिपब्लिक की सम्पूर्ण शक्ति मित्र-राज्यों के पक्ष में प्रयुक्त होने लगी। धन, जन और युद्ध-सामग्री की दृष्टि से अमेरिका का भण्डार वस्तुतः अक्षय था। आधुनिक युद्धों में सफलता प्राप्त करने के लिए जहां सैनिकों की आवश्यकता होती है, वहां साथ ही अपार आर्थिक साधनों और अत्यधिक युद्ध-सामग्री की उपलब्धि भी अनिवार्य होती है। महायुद्ध में जो फैसिस्ट राज्यों की पराजय और मित्र-राज्यों की विजय हुई, उसका प्रधान कारण अमेरिका की अनन्त धनशक्ति और जनशक्ति ही थी। यदि जापान इस प्रकार अकस्मात् पर्ल हार्बर पर आक्रमण न कर देता, तो यह बात संदिग्ध है, कि अमेरिका की यह शक्ति किस अंश तक मित्र राज्यों को उपलब्ध हो सकती। यद्यपि राष्ट्रपति रूजवेल्ट की सरकार मित्र-राज्यों की सब प्रकार से सहायता करने के लिए कटिबद्ध थी, पर अमेरिका में ऐसे लोग भी विद्यमान थे, जो महायुद्ध में शामिल होने के लिये विशेष उत्साह नहीं रखते थे, और अमेरिका जैसे लोकतन्त्र देश में इन लोगों के मत की सर्वथा उपेक्षा नहीं की जा सकती थी।

अन्यत्र जापानी आक्रमण—जापान केवल पर्ल हार्बर में विद्यमान अमेरिकन जंगी जहाजों को डुबो कर ही सन्तुष्ट नहीं हो गया। १० दिसम्बर, १९४१ को उसके हवाई जहाजों ने मलाया के समुद्रतट पर स्थित ब्रिटिश जंगी जहाजों पर भी हमला किया। प्रिंस आफ वेल्स और रिपल्स नामक दो बड़े ब्रिटिश जंगी जहाज वहां डुबो दिये गए। इन जहाजों के डूबने का यह परिणाम हुआ, कि चीन का दक्षिणी समुद्रतट सर्वथा अरक्षित दशा में हो गया, और ब्रिटेन के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह जापान की बढ़ती हुई शक्ति का सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सके। ७ दिसम्बर को जब जापान के हवाई जहाजों ने पर्ल हार्बर पर हमला किया था, तभी साथ ही सुआम (फिलिप्पीन के पूर्व में स्थित एक द्वीप), शंघाई और सिंगापुर पर भी वायुमार्ग द्वारा आक्रमण हुए थे। इनके अतिरिक्त फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर भी अनेक स्थानों पर बम्ब-वर्षा की गई थी। शंघाई की अन्तर्राष्ट्रीय बस्ती पर तो उसी समय जापानी सेनाओं ने कब्जा भी कर लिया था। हम पहले लिख चुके हैं, कि ८ दिसम्बर, १९४१ के दिन ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और नीदरलैण्ड वैस्ट इन्डीज की डच सरकार ने जापान के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा कर दी थी।

फिलिप्पीन—पर्ल हार्बर की अमेरिकन सामुद्रिक शक्ति को पंगु बनाकर जापान ने फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर हमला करना प्रारम्भ किया। बहुत-से जहाज और नौकाएं आदि एकत्र कर दो लाख से भी अधिक जापानी सैनिकों को फिलिप्पीन में उतार दिया गया। जनरल मैक्आर्थर के नेतृत्व में अमेरिकन सेनाओं ने बड़ी वीरता के साथ उनका मुकाबिला किया, पर जापानी सेना के सम्मुख वे टिक नहीं सकीं। १९४२ के शुरू के सप्ताहों में सम्पूर्ण फिलिप्पीन द्वीप-समूह जापान के हाथों में चला गया। जनरल मैक्आर्थर ने आस्ट्रेलिया जाकर आश्रय ग्रहण किया, और वहां से जापान का प्रतिरोध करने के लिए तैयारी शुरू की।

इसी बीच में जापान की सेनाएं हांग कांग पर भी हमला कर रही थीं। चीन के पूर्वी समुद्रतट पर विद्यमान यह विशाल एवं समृद्ध नगर ब्रिटिश शक्ति का प्रमुख केन्द्र था। जापान की शक्ति के सम्मुख हांगकांग देर तक नहीं टिक सका। सन् १९४२ के शुरू में उस पर भी जापान का कब्जा हो गया। फिलीप्पीन और हांग कांग की विजय में जापान ने अद्भुत साहस और सैनिक क्षमता का परिचय दिया। जहाजों द्वारा समुद्र के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रास्ते सेनाएं उतार कर स्थल में शत्रु को कैसे परास्त किया जा सकता है, इसका उत्तम उदाहरण इस युद्ध में पहले-पहल जापान ने ही उपस्थित किया। शंघाई और हांग कांग पर जापान का कब्जा हो जाने से चीन के ये दो प्रधान नगर पाश्चात्य देशों के प्रभुत्व से मुक्त हो गये थे। फिलिप्पीन द्वीप-समूह अमेरिका के अधीन था। उसे जीतकर जापान ने प्रशान्त सहासागर के इस विशाल द्वीप-समूह से भी पाश्चात्य आधिपत्य का अन्त कर दिया।

सिंगापुर—पर्ल हार्बर में अमेरिका की सामुद्रिक शक्ति को अस्तव्यस्त करके और फिलिप्पीन द्वीप-समूह तथा हांग कांग पर कब्जा करके जापान के लिए दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार करने का मार्ग सर्वथा निष्कण्टक हो गया था। इस क्षेत्र में ब्रिटिश शक्ति का प्रधान केन्द्र सिंगापुर था। यह बन्दरगाह मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में छोटे-से द्वीप में स्थित है। मलाया प्रायद्वीप के साथ एक बांध द्वारा इसका सम्बन्ध भी है। ब्रिटिश लोगों ने यहां सुदृढ़ किलाबन्दी की हुई थी, जिसमें पचास करोड़ के लगभग रुपया खर्च हुआ था। ब्रिटिश लोगों को अभिमान था, कि कोई शत्रु देश सिंगापुर के इस अड्डे पर आक्रमण नहीं कर सकता। यहां उनके जंगी जहाज बड़ी संख्या में विद्यमान थे। विशाल ब्रिटिश साम्राज्य में पूर्व से पश्चिम या पश्चिम से पूर्व की ओर जाने वाले जहाज़ यह भरोसा रखते थे, कि उनकी स्थिति सर्वथा सुरक्षित है। सिंगापुर के किलानुमा बन्दरगाह में विद्यमान ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति उनकी रक्षा के लिए सदा उद्यत रहती थी। इसमें सन्देह नहीं, कि समुद्र के रास्ते से हमला करके सिंगापुर को जीत सकना सुगम नहीं था। पर मलाया से होकर स्थल-मार्ग द्वारा भी सिंगापुर पर हमला किया जा सकता है, यह बात ब्रिटिश लोगों ने कभी सोची भी नहीं थी। उनका ख्याल था कि मलाया सघन व दुर्गम जंगलों से परिपूर्ण है। ये जंगल मलेरिया और अन्य घातक बुखारों से सदा आक्रान्त रहते हैं। इनमें से गुजरकर कोई शत्रु सेना कभी सिंगापुर पर हमला करने का साहस नहीं कर सकती। पर जापानियों ने सिंगापुर पर आक्रमण करने के लिए इसी मार्ग का अवलम्बन किया। इन्डोचायना में जापानी सेनाएं उसी समय आ गई थीं, जबकि फ्रांस के पराजित होने पर वहां मार्शल पेतां के नेतृत्व में विशी सरकार की स्थापना हुई थी। पर्ल हार्बर पर आक्रमण के बाद जापानी सेनाओं ने इन्डोचायना से थाईलैण्ड में प्रवेश किया, और उसकी ये सेनाएं मलाया के जंगलों में से होती हुई ३१ जनवरी, १९४२ को सिंगापुर पहुंच गई। १५ फरवरी को सिंगापुर की ब्रिटिश सेनाओं ने जापान के सम्मुख घुटने टेक दिये।

ईस्ट इन्डीज—सिंगापुर की विजय के कारण ईस्ट इन्डीज की स्थिति बहुत संकटमय हो गई। ईस्ट इन्डीज के बड़े भाग (इन्डोनीसिया) पर हालैण्ड का आधिपत्य था, और हालैण्ड इस समय जर्मनी के कब्जे में आ चुका था। इन्डोनीसिया में जो भी डच सेनाएं विद्यमान थीं, वे जापान का मुकाबिला कर सकने में असमर्थ थीं। हालैण्ड अपने विशाल एशियन साम्राज्य की रक्षा के लिए अमेरिका और ब्रिटेन की सहायता पर ही निर्भर कर सकता था। पर्ल हार्बर के ध्वंस के कारण अमेरिका की और सिंगापुर के पतन से ब्रिटेन की अपनी स्थिति ही अत्यन्त संकटमय हो गई थी, अतः उनके लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे नीदरलैंड्स ईस्ट इन्डीज की रक्षा में डच सरकार की सहायता कर सकें। १४ फरवरी, १९४२ को जापानी सेनाओं ने सुमात्रा में पालेम्बांग पर आक्रमण किया। यहां पेट्रोलियम के बहुत-से तेलकूप थे। डच सेनाओं ने इनको तहस-नहस कर दिया, ताकि ये जापानी लोगों के हाथों में न पड़ जाएं। तेल को साफ करने और उसे जमा करके रखने के लिए जो बहुत-सी मशीनरी और टंकियां यहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यमान थीं, वे सब डच लोगों ने नष्ट कर दीं। इनकी कीमत का अनुमान २५,००,००,००० रुपया किया गया है। पालेम्बांग पर जापानी सेनाओं का कब्जा हो जाने के कुछ ही दिनों बाद सम्पूर्ण सुमात्रा जापान के अधिकार में चला गया। इसी समय के लगभग अन्य जापानी सेनाओं ने बोर्नियो, जावा, बाली, अम्बोयना, तिमोर, सेलेबस आदि द्वीपों पर भी आक्रमण किये। फरवरी, १९४२ तक ईस्ट इन्डीज के ये सब द्वीप जापान के प्रभुत्त्व में आ गए थे, और इन्डोनोसिया में हालैण्ड का जो विशाल साम्राज्य स्थापित था, वह उसकी अधीनता से मुक्त हो गया था। मार्च, १९४२ में जापानी सेनाओं ने न्यू गिनी द्वीप पर भी आक्रमण किया। इस द्वीप का एक भाग हालैण्ड की अधीनता में था, और एक ब्रिटेन के। अब इन दोनों भागों पर जापान का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया, और न्यू गिनी पर जापान का कब्जा हो जाने से आस्ट्रेलिया की स्थिति भी सुरक्षित नहीं रह गई। आस्ट्रेलिया इस द्वीप से केवल ४०० मील की दूरी पर स्थित है, और न्यू गिनी से जापानी वायुसेना के लिए यह अत्यन्त सुगम था, कि वह आस्ट्रेलिया पर बम्ब वर्षा कर सके।

बरमा—मलाया और सिंगापुर पर जापान अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर चुका था। अब उसकी सेनाएँ बरमा की ओर अग्रसर हुईं। उनका मुकाबिला कर सकने की शक्ति ब्रिटिश लोगों के पास नहीं थी। जापानी सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और ८ मार्च, १९४२ को रंगून पर उनका कब्जा हो गया। बरमा और सिंगापुर से ब्रिटिश सैनिकों और नागरिकों को बचाकर लौटा लाने की समस्या अत्यन्त विकट थी। बहुत-से अंग्रेजों को हवाई जहाजों द्वारा भारत लाया गया। अनेक साहसी स्त्री-पुरुष जंगल के रास्ते से भी बरमा से असम आने में समर्थ हुए।

पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त—७ दिसम्बर, १९४१ को जापान महायुद्ध में शामिल हुआ था। तीन मास के स्वल्प काल में उसने सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के प्रभुत्त्व का अन्त कर दिया था। जापान की सेनाएं जो इतनी शीघ्रता और सुगमता से इस विशाल भूखण्ड से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त कर सकीं, उसके प्रमुख कारण निम्नलिखित थे—(१) इन देशों के निवासियों की सहानुभूति अपने विदेशी शासकों के साथ नहीं थी। अमेरिका और यूरोप के गौरङ्ग लोग यह समझते थे, कि एशिया के निवासी उनकी अपेक्षा हीन हैं, और उन पर शासन करने का उन्हें दैवी अधिकार प्राप्त है। इन देशों में पाश्चात्य शासकों की इतनी सेनाएं तो थीं, जो अधीनस्थ जातियों के विद्रोहों को शान्त करके उन्हें अपनी अधीनता में रख सकती थीं। पर जब जापान जैसा विज्ञान-कला-सम्पन्न शत्रु उनके खिलाफ उठ खड़ा हुआ, तो उसकी पराजय वे तभी कर सकती थीं, जबकि इन क्षेत्रों के निवासियों का भी पूरा-पूरा सहयोग उन्हें प्राप्त हो। पर एशियन लोगों का सहयोग और सद्भावना प्राप्त करने का कोई भी प्रयत्न पश्चिमी देशों के गोराङ्ग लोगों ने नहीं किया था। आधुनिक युग की लड़ाइयों में कोई पक्ष तभी सफल हो सकता है, जब जनता की सामूहिक सहायता भी उसे प्राप्त हो। आधुनिक युग की यह सबसे प्रबल शक्ति ब्रिटिश और डच लोगों को एशिया के क्षेत्र में प्राप्त नहीं थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन अच्छे प्रबल रूप में विद्यमान थे। यही कारण है, कि जापानी सेनाओं के आक्रमण का इन देशों ने स्वागत किया। इस समय जापान स्पष्ट रूप से यह घोषित कर रहा था, कि उसका उद्देश्य पाश्चात्य साम्राज्यवाद से एशिया को स्वतन्त्र कराना है। उसकी यह नीति थी, कि पाश्चात्य प्रभुत्त्व का अन्त कर इन देशों में ऐसी राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र सरकारें कायम की जाएं, जो जापान को अपना पथ-प्रदर्शक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मित्र समझें, और जो पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करने में जापान के साथ सहयोग करने को उद्यत हों। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि जापान दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को पाश्चात्य लोगों की अधीनता से मुक्त कराने में विशेष कठिनता का अनुभव न करे। (२) पाश्चात्य देश इस समय यूरोप के महायुद्ध में व्यापृत थे। फ्रांस और हालैण्ड जर्मनी द्वारा अधिकृत हो चुके थे, और ब्रिटेन पर भी जर्मनी के आक्रमण बड़ी तेजी के साथ जारी थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया में जिन पाश्चात्य देशों का शासन था, उनकी अपनी स्थिति ही अत्यन्त दयनीय और अरक्षित थी। इस दशा में उनके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे सुदूर एशिया में विद्यमान अपने साम्राज्यों की रक्षा पर ध्यान दे सकें। (३) इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाश्चात्य देशों की सैन्य-शक्ति प्रचुर परिमाण में विद्यमान थी। ब्रिटिश, डच और अमेरिकन लोग अपने-अपने साम्राज्यों की रक्षा के लिए बेखबर नहीं थे। वहां उन्होंने अपनी शक्ति को भली भांति स्थापित किया हुआ था। पर इस क्षेत्र के अधीनस्थ देशों में जो पाश्चात्य लोग शासक के रूप में नियुक्त थे, वे धीरे-धीरे अपने कर्तव्यों के प्रति विमुख होने लग गए थे। अधीनस्थ लोगों पर शासन करने के कारण उनमें स्वेच्छाचारिता और निरंकुशता की प्रवृत्ति विकसित हो गई थी, और उनकी शासननीति कुछ-कुछ उसी ढंग की हो गई थी, जैसी कि मध्यकाल के स्वेच्छाचारी राजाओं और उनके अमीर-उमराओं की हुआ करती थी। वे भोगविलास और उच्छृंखल जीवन के अभ्यस्त हो गए थे, और उनमें वह शक्ति नहीं रह गई थी, जो कि जापान जैसे प्रबल शत्रु का मुकाबिला कर सकने के लिए अपेक्षित थी।

दक्षिण-पूर्वी एशिया में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त संसार के आधुनिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। गौराङ्ग लोग उच्च हैं, और एशिया तथा अफ्रीका के लोग हीन हैं—इस मन्तव्य का थोथापन इससे भली भांति स्पष्ट हो गया। महायुद्ध में यद्यपि अन्ततोगत्त्वा जापान पराजित हुआ, पर एक बार दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों को अपने बन्धन काटकर स्वतन्त्र होने का अवसर प्राप्त हो गया, और उन्होंने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये अद्भुत कार्य-क्षमता और शक्ति प्रदर्शित की। इसी कारण इन्डोनीसिया, बरमा आदि पर पाश्चात्य देश फिर से अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सके।

(२) दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रति जापान की नीति

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से पाश्चात्य राज्यों के शासन का अन्त कर जापान ने उनमें पहले सैनिक शासनों की स्थापना की। युद्ध की परिस्थिति में यह आवश्यक था, कि इन देशों में शान्ति और व्यवस्था कायम रखी जाए, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सैनिक शासन की स्थापना के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग क्रियात्मक नहीं था। मलाया, बरमा, बोर्नियो, जावा, सुमात्रा, फिलिप्पीन आदि सर्वत्र उच्च सैनिक अफसरों को शासन कार्य के लिये नियुक्त किया गया। ये सैनिक शासक इन देशों में व्यवस्था कायम रखने में सफल हुए। राज्य-परिवर्तन के कारण देशों में अराजकता व अव्यवस्था की जो प्रवृत्तियां बलवती हो जाती हैं, उन्हें प्रबल होने का अवसर जापानी सैनिक अधिकारियों ने नहीं दिया। इन देशों की बहुसंख्यक जनता की सहानुभूति जापानी लोगों के साथ थी। ब्रिटिश, डच, अमेरिकन और फ्रेंच लोग इन देशों के निवासियों को अपने से हीन समझते थे, और 'नेटिव' व 'एशियाटिक' कहकर उनसे घृणा करते थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि जनता को उनके शासन का अन्त होने से प्रसन्नता और सन्तोष अनुभव हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन देशों में जापानी लोगों ने सैनिक शासन को देर तक कायम नहीं रखा। शीघ्र ही सर्वत्र 'स्वराज्य' की स्थापना कर दी गई। फिलिप्पीन द्वीपसमूह और बरमा में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन अच्छे प्रबल रूप में विद्यमान थे। वहां ऐसे देशभक्त नेताओं की कमी नहीं थी, जो अपने देश के शासन की बागडोर को भलीभांति संभाल सकते थे। अतः शीघ्र ही इन दोनों देशों में स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना कर दी गई। मलाया के विविध राज्यों को मिलाकर एक केन्द्रीय संघ में संगठित किया गया, और उसके शासन के लिये एक विधान-सभा का निर्माण किया गया। इन्डोनीसिया के शासन का कार्य भी वहां के राष्ट्रीय नेताओं के सुपुर्द कर दिया गया। इन देशों के गौराङ्ग पाश्चात्य शासकों का मत था, कि इनके निवासी स्वशासन के सर्वथा अयोग्य हैं, और पाश्चात्य शासन के अन्त का केवल यह परिणाम होगा, कि सर्वत्र अराजकता छा जायगी। पर जापान ने इन देशों के राष्ट्रीय नेताओं को यह अवसर दिया, कि वे सरकार के कार्य को अपने हाथों में ले लें। ये नेता अपने कार्य में पूर्णरूप से सफल हुए, और एक बार 'स्वराज्य' प्राप्त कर लेने से इन देशों में इतनी अधिक राष्ट्रीय शक्ति विकसित हो गई कि युद्ध में जापान के परास्त हो जाने पर भी पाश्चात्य देशों के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वे इन देशों को फिर-से अपने साम्राज्यवाद का शिकार बना सकें। बरमा, मलाया, फिलिप्पीन, इन्डोनीसिया आदि देशों में जापान के प्रयत्न से जिन स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना हुई, उनके सम्बन्ध में हम पच्चीसवें अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डालेंगे।

इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के लिये जापान का उत्कर्ष बहुत अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ। जापान की सेनाओं ने ब्रिटेन, अमेरिका और हालैण्ड की सेनाओं को परास्त कर दक्षिण-पूर्वी एशिया को स्वाधीन होंने का अवसर प्रदान किया था। यह ठीक है, कि जापान इस भूखण्ड को अपने संरक्षण में रखना चाहता था। उसकी यह नीति थी, कि इन देशों में जो राष्ट्रीय सरकारें कायम हों, वे जापान को अपना मित्र, सहयोगी एवं संरक्षक मानें और आर्थिक क्षेत्र में जापान के साथ सहयोग करें। पर जापान की यह आकांक्षा पाश्चात्य देशों के साम्राज्य-वाद से अनेक अंशों में भिन्न थी। (१) जापान के लोग भी एशियन हैं। वे एशिया के अन्य निवासियों को अपनी तुलना में उस ढंग से हीन नहीं समझते थे, जैसे कि पाश्चात्य गौराङ्ग लोग उन्हें हीन मानते थे। (२) जापान ने यह यत्न नहीं किया, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में अपना आधिपत्य या साम्राज्य स्थापित करे। जापान की सैनिक शक्ति के सम्मुख इन देशों की शक्ति सर्वथा नगण्य थी। यदि जापान चाहता, तो अत्यन्त सुगमता से इन देशों को अपनी राजनीतिक प्रभुता में ला सकता था, और इन पर उसी ढंग से अपने गवर्नर-जनरलों द्वारा शासन कर सकता था, जैसे कि बरमा, भारत आदि में ब्रिटिश लोग करते थे। पर महायुद्ध की विकट परिस्थिति में भी जापान ने इन देशों में स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों की स्थापना की, और इन पर अपने राजनीतिक प्रभुत्व को कायम करने का उद्योग नहीं किया। (३) जापान ने यह यत्न अवश्य किया, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया से इन देशों के साथ आर्थिक सहयोग कायम करे। इन्डोनीसिया से पेट्रोलियम प्राप्त करने और मलाया आदि से रबड़, टिन आदि युद्धोपयोगी पदार्थों को प्राप्त करने की उसने भरपूर कोशिश की। उसने इन देशों की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारों के साथ इस प्रकार के समझौते भी किये, जिनके अनुसार इन देशों की सरकारों ने पेट्रोलियम, टिन, रबड़ आदि पदार्थों को जापान को देना स्वीकार किया। पर यह बात सर्वथा स्वाभाविक थी। इन्डोनीसिया, मलाया आदि में जो सरकारें कायम हुई थीं, उन्हें भी इसी में लाभ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, कि महायुद्ध में पाश्चात्य देशों को सफलता प्राप्त न होने पाए। पाश्चात्य देशों की सफलता का यही परिणाम हो सकता था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता फिर से खतरे में पड़ जाती। अतः उन्होंने न केवल आर्थिक क्षेत्र में जापान के साथ सहयोग किया, अपितु ऐसी राष्ट्रीय सेनाओं का भी संगठन किया, जो पाश्चात्य देशों के विरुद्ध संघर्ष करने में तत्पर थीं। इन्डोनीसिया आदि में जब पाश्चात्य देशों की सेनाएं एक बार फिर विजेता के रूप में प्रविष्ट हुईं, तो वहां की राष्ट्रीय सेनाओं ने इन विदेशी आक्रान्ताओं का शक्ति भर मुकाबिला किया।

पर इस प्रसंग में यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया को पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराने में जापान का अपना स्वार्थ भी कम नहीं था। आर्थिक आवश्यकताओं से जापान इस बात के लिये विवश था, कि वह अपने साम्राज्य या प्रभाव-क्षेत्र का विस्तार करे। मंचूकुओ को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करके जापान के एक नये ढंग के साम्राज्यवाद का श्रीगणेश किया था। मंचूकुओ एक स्वतंत्र राज्य था, पर वह जापान के प्रभाव में था। वांग चिंग वेई के नेतृत्व में नानकिंग में जो स्वतन्त्र चीनी सरकार कायम हुई थी, वह भी जापान के प्रभाव में थी। मंचूकुओ और चीन की राजशक्ति के प्रयोग को अपने हाथ में न लेने पर भी इन देशों की सरकारों पर जापान का प्रभाव स्पष्टरूप से विद्यमान था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के सम्बन्ध में भी जापान की यही नीति थी, कि उनमें जो स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारें कायम हों, वे मंचूकुओ और नानकिंग की सरकारों के समान जापान के प्रभाव में रहें। वस्तुतः, जापान पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक ऐसे गुट की स्थापना करना चाहता था, जिसमें सम्मिलित देश राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र रहते हुए भी जापान को अपना पथप्रदर्शक, नेता एवं संरक्षक मानें। पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा, कि जापान की यह नीति दक्षिण-पूर्वी एशिया को गुलामी से मुक्त कराके राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता पहुँचने वाली थी। पाश्चात्य साम्राज्यवाद की जंजीरों को तोड़कर इन देशों के लोगों को जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का सुवर्णीय अवसर हाथ लगा था, उसके कारण उनमें राष्ट्रीय गौरव, आत्मसम्मान और देश-प्रेम की भावनाएं इस हद तक उत्पन्न हो गई थीं, कि वे जापान की अधीनता को सुगमता के साथ स्वीकार नहीं कर सकते थे।

(३) जापान की पराजय

बरमा को जीतने के लगभग दो साल बाद मार्च, १९४४ में जापान ने भारत पर आक्रमण करना शुरू किया। यह आक्रमण आजाद हिन्द सरकार के सहयोग से किया गया था। भारत के प्रसिद्ध नेता श्री सुभाषचन्द्र बोस ब्रिटिश सरकार की नजरबन्दी से छूटकर जर्मनी पहुँच गये थे। उनका विचार था, कि ब्रिटेन के चंगुल से भारत को मुक्त कराने का यह सुवर्णीय अवसर है। यदि महायुद्ध में ब्रिटेन की पराजय हो जाय, तो भारत के स्वतन्त्र होने में कोई बाधा नहीं रह जायगी। इसलिये उन्होंने यूरोप में विद्यमान भारतीयों का एक संगठन बनाया, और युद्ध के कार्य में जर्मनी के साथ सहयोग प्रारम्भ किया। जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया से श्वेतांग देशों के प्रभुत्व का अन्त कर दिया, तो श्री सुभाषचन्द्र बोस जापान चले आये। सिंगापुर, मलाया आदि में लाखों भारतीय बसे हुए थे। ब्रिटेन की जो फौजें इस क्षेत्र में जापानियों के हाथ पड़ गई थीं, उनमें भी भारतीय सैनिकों की संख्या बहुत अधिक थी। श्रीयुत बोस ने इन्हें देशभक्ति और राष्ट्रीयता का संदेश दिया। ब्रिटेन की सेना में ये भारतीय केवल वेतन, सांसारिक समृद्धि और गौरव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की खातिर भरती हुए थे। देश-प्रेम और राष्ट्रीयता का इनमें सर्वथा अभाव था। श्रीयुत बोस के तेजस्वी भाषणों से इनकी आंखें खुल गई। जापान की विजयों के कारण दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों ने जो राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, उसका उदाहरण इनके प्रमुख विद्यमान था। ये स्वेच्छापूर्वक बहुत बड़ी संख्या में आजाद हिन्द फौज में शामिल हुए। आजाद हिन्द सरकार का बाकायदा संगठन किया गया। श्रीयुत बोस इस सरकार के 'नेताजी' बने, और इस आजाद हिन्द सरकार ने भारत को ब्रिटेन के प्रभुत्व से मुक्त कराने के कार्य को अपने हाथों में लिया। असम की पूर्वी सीमा पर मणिपुर की रियासत पर बाकायदा हमला किया गया। कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा, कि ब्रिटिश सेना इस क्षेत्र में नहीं टिक सकेगी। पर अन्त में उसकी विजय हुई। आजाद हिन्द सेना और उसके जापानी सहायकों को पीछे हटना पड़ा, और भारत में ब्रिटेन की सत्ता सुरक्षित हो गई। १९४२ से १९४४ तक के दो सालों में जापान ने भारत पर आक्रमण करने का कोई प्रयत्न नहीं किया था, यह उसकी भारी भूल थी। इस अरसे में ब्रिटेन ने भारत के धन व जन की अपार शक्ति को भलीभांति संगठित कर लिया था। भारत और आस्ट्रेलिया में अमेरिका और ब्रिटेन ने अपने संयुक्त मोरचे कायम कर लिये थे, और इनको आधार बनाकर मित्र-राज्यों ने जापान के खिलाफ लड़ाई शुरू करने की योजना तैयार कर ली थी।

१९४२ में जब जापान ने बरमा से ब्रिटिश शासन का अन्त किया था, तो ब्रिटेन की सैनिक शक्ति बहुत अस्त-व्यस्त दशा में थी। सिंगापुर, मलाया और बरमा आदि से भागकर जो ब्रिटिश लोग भारत पहुंच रहे थे, उन्हें संभाल सकना भी भारत की ब्रिटिश सरकार के लिये एक विकट समस्या थी। १९४२ में भारत में स्वराज्य के आन्दोलन ने भी बहुत प्रचण्ड रूप धारण कर लिया था। अगस्त, १९४२ में राष्ट्रीय महासभा ने भी विदेशी ब्रिटिश सरकार का प्रतिरोध करने के लिये अधिक उग्र उपायों का प्रयोग करने का निश्चय कर लिया था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध जनता में तीव्र भावना उत्पन्न हो चुकी थी, और स्वराज्य-प्राप्ति की यह उत्कण्ठा अनेक रूपों में प्रगट होने लगी थी। देशभक्त भारतीय युवक ब्रिटिश सत्ता को छिन्न-भिन्न करने के लिये बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार हो गये थे। सरकार के प्रतिरोध ने इतना रूप उग्र धारण कर लिया था, कि रेल, तार और डाक तक में अनियमितता आ गई थी और कई स्थानों पर तो जनता खुले तौर पर विद्रोह के लिये कटिबद्ध हो गई थी। पर जापान ने भारत पर आक्रमण कर इसे भी इन्डोनीसिया, बरमा आदि के समान पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त कराने के इस सुवर्णीय अवसर का कोई उपयोग नहीं किया। बाद में मार्च, १९४४ में जब आजाद हिन्द फौज ने भारत को स्वतन्त्र कराने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो ब्रिटिश और अमेरिकन सेनाओं ने भारत में अपनी शक्ति को भलीभांति संगठित व सुव्यवस्थित कर लिया था।

अगस्त, १९४४ तक जापान के भारत पर आक्रमण कर सकने का भय सर्वथा दूर हो गया था। इसके विपरीत, ब्रिटिश सेना ने बरमा की ओर आगे बढ़ना शुरू कर कर दिया था। इम्फाल असम की सीमा का प्रमुख नगर है। यदि आजाद हिन्द सेना व जापान इसे जीत सकते, तो असम पर कब्जा करने का मार्ग उनके लिये खुल जाता। पर इसमें उन्हें असफलता हुई, और ब्रिटिश तथा अमेरिकन सेनाओं ने बरमा की ओर बढ़ना शुरू कर दिया। जनवरी, १९४५ तक उत्तरी बरमा मित्र-राज्यों के अधिकार में चला गया। ३ मई, १९४५ को रंगून पर भी मित्र-राज्यों का कब्जा हो गया। यद्यपि जापानी और बरमी सैनिकों की अनेक टोलियां इसके बाद भी बरमा में युद्ध करती रहीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर अब बरमा पर एक बार फिर से ब्रिटेन का आधिपत्य स्थापित हो गया था। बरमा की विजय से मित्र-राज्यों के लिए न केवल मलाया की ओर आगे बढ़ सकना सम्भव हो गया, अपितु चीन की चुंगकिंग सरकार को स्थलमार्ग द्वारा सहायता पहुंचा सकना भी सुगम हो गया। रेलवे और मोटर द्वारा उत्तरी बरमा के साथ पश्चिम-दक्षिणी चीन का सम्बन्ध था, और चीन का यह प्रदेश इस समय भी चियांग काई शेक की चुंगकिंग सरकार के अधीन था।

जनवरी, १९४५ में अमेरिकन सेनाओं ने फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर हमले शुरू किये। एक लाख से भी अधिक अमेरिकन सैनिक जहाजों द्वारा लूजोन द्वीप पर उतार दिये गए। शीघ्र ही मनीला पर कब्जा कर लिया गया, और धीरे-धीरे सम्पूर्ण फिलिप्पीन द्वीप-समूह अमेरिका के प्रभुत्व में आ गया। अब अमेरिकन सेनाओं ने फिलिप्पीन को आधार बनाकर जापान के अधिक समीप के टापुओं पर आक्रमण प्रारम्भ किए। इससे चीन में भी चियांग काई शेक की जापान-विरोधी सरकार को बल मिला। प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों से जापानी सेनाओं को बाहर निकालने के लिए ब्रिटिश और अमेरिकन जल एवं वायु सेनाएं अपूर्व कार्यशक्ति प्रदर्शित करने लगीं। जिस वायुवेग से जापान का उत्कर्ष हुआ था, उसका पतन भी उसी गति से हुआ। १९४५ के मध्य तक यह दशा आ चुकी थी, कि जापान को अपनी स्थिति बिलकुल डांवाडोल प्रतीत होने लग गई थी। बरमा को अपने अधीन कर ब्रिटिश लोगों ने मलाया पर आक्रमण किया। इस समय मित्र-राज्यों की सेनाओं के तीन मुख्य आधार थे, भारत, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी चीन। इन तीनों क्षेत्रों को अपना केन्द्र बनाकर मित्रराज्यों की जल तथा वायु शक्ति बड़ी तीव्रता के साथ जापान और उसके प्रभाव में विद्यमान दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों पर आक्रमण करने में तत्पर थीं। इन आक्रमणों का मुकाबिला कर सकना जापान की सेनाओं के लिए सम्भव नहीं था। मई, १९४५ में यूरोप के रणक्षेत्र में जर्मनी की पराजय हो गई थी, और ७ मई, १९४५ को जर्मनी ने आत्मसमर्पण कर दिया था। इस दशा में मित्र-राज्यों की सम्पूर्ण शक्ति जापान को परास्त करने के लिए लग गई, और अकेले जापान के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह मित्रराज्यों की सम्मिलित शक्ति का प्रतिरोध कर सके।

जुलाई, १९४५ में जापान पर घोर बंबवर्षा शुरू की गई। हवाई जहाजों द्वारा न केवल जापान के कल-कारखानों, रेलवे लाइनों और युद्ध सामग्री के भण्डारों पर बम्ब बरसाये जाने लगे, अपितु जापानी जहाजों का भी डुबोया जाना शुरू किया गया। जुलाई, १९४५ के दो सप्ताहों में जापान के ४१६ जहाज समुद्रतल में पहुंचा दिए गए, और ५५६ हवाई जहाज नष्ट कर दिए गए। २७ और २८ जुलाई को जापान की जलसेना पर जबर्दस्त हमला किया गया, और इन दो दिनों में जापान के ५०० जहाज डुबो दिए गए। चीन और जापान के मध्यवर्ती समुद्र में बड़ी संख्या में बारूदी सुरंगे बिछा दी गईं। चीन में महासेनापति चियांग काई शेक की सेनाओं ने आगे बढ़ना शुरू किया, और चीन के उन पूर्वी प्रदेशों से, जहां जापान का प्रभुत्व विद्यमान था, जापानी सेनाएं पीछे हटने लगीं। २६ जुलाई, १९४५ को श्री ट्रुमैन (राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु के बाद श्री ट्रुमैन अमेरिका के राष्ट्रपति बन गए थे), श्री चर्चिल और चियांग काई शेक की ओर से एक घोषणा जापान की जनता के नाम प्रकाशित की गई, जिसमें यह कहा गया कि जापान को साम्राज्य-विस्तार का इरादा छोड़ देना चाहिए। जापान के अपने प्रदेशों पर मित्र-राज्यों की सेनाएं कब्जा नहीं करना चाहतीं, जापान की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रखी जाएगी, और वहां सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जायगी। अतः जापान को चाहिए, कि युद्ध को जारी न रखकर वह मित्रराज्यों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर जापान के नेताओं ने इस घोषणा की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। उनका विचार था, कि अब भी वे मित्रराज्यों को परास्त करने में समर्थ हो सकते हैं। उन्होंने युद्ध को जारी रखने में ही अपने देश का हित समझा।

८ अगस्त, १९४५ को रूस ने भी जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। मञ्चूरिया (मंचूकुओ का पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य) पर रूसी सेनाओं ने अधिकार कर लिया, और उत्तरी चीन का यह सम्पूर्ण प्रदेश कम्युनिस्ट रूस के प्रभाव में आ गया। इन सब विषम परिस्थितियों में भी जापान लड़ाई को जारी रखने के लिए तैयार था। पर इस समय अमेरिका ने एक नये अस्त्र का प्रयोग किया, जिसके कारण जापान में आतंक छा गया। यह अस्त्र एटम बम्ब था। वैज्ञानिक लोग यह भली भांति जानते थे, कि सब पदार्थ परमाणुओं (एटम) के संयोग से बने होते हैं। परमाणु उस सूक्ष्म तत्त्व का नाम है, जिसके टुकड़े नहीं किये जा सकते। ये सूक्ष्म परमाणु एक शक्ति से आपस में जुड़े रहते हैं। यदि इनको एक दूसरे से पृथक् किया जा सके, तो जो शक्ति प्रादुर्भूत होगी, वह इतनी जबर्दस्त होगी कि संसार की कोई भी ज्ञात शक्ति उसका मुकाबिला नहीं कर सकेगी। अग्नि, वायु जल और विद्युत्—सब प्राकृतिक शक्तियां ही हैं, पर परमाणु-शक्ति इनकी अपेक्षा भी बहुत अधिक बलवती है। इस शक्ति का प्रयोग मनुष्य कैसे कर सके, यह जानने के लिए वैज्ञानिक लोग जी-जान से जुटे हुए थे। जर्मन वैज्ञानिक भी इस खोज में तत्पर थे, और हिटलर को आशा की, कि वे एटम बम्ब का आविष्कार करने में समर्थ हो जाएंगे। अमेरिकन वैज्ञानिक भी इसी कोशिश में लगे थे। जर्मनी को इसमें देर हो गई, और मित्रराज्यों की सेनाओं ने पहले ही उसे परास्त कर दिया। कुछ समय बाद अमेरिकन वैज्ञानिक अपने प्रयत्न में सफल हो गए, और उन्होंने एटम बम्ब तैयार कर लिया। अमेरिका ने इस बम्ब का प्रयोग जापान को परास्त करने के लिए किया। ५ अगस्त, १९४५ को पहला एटम बम्ब हिरोशीमा नगर पर गिराया गया। इससे चार वर्गमील का प्रदेश सर्वथा नष्ट हो गया। हिरोशीमा नगर का नाम व निशान भी शेष नहीं बचा। एटम बम्ब का असर इस चार वर्गमील के प्रदेश के चारों ओर भी दूर-दूर तक पड़ा। इसके प्रभाव से लाखों आदमी बीमार पड़ गए, उनके शरीरों पर फुन्सियां निकल आई, और कई प्रकार की बीमारियां सर्वत्र फैल गईं। पर जापान के सैनिक नेताओं ने अब भी आत्मसमर्पण नहीं किया। मित्रराज्यों की ओर से तीस लाख परचे हवाई जहाजों द्वारा जापान पर गिराये गए, जिनमें एटम बम्ब की भयंकरता का वर्णन करके यह कहा गया था, कि अब लड़ाई को जारी रखना सर्वथा निरर्थक है। अब जापान का हित इसी में है, कि वह आत्मसमर्पण कर दे। पर जापान पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। रूस ने भी इसी बीच में उसके खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी थी। ९ अगस्त, १९४५ को दूसरा एटम बम्ब नागासाकी पर गिराया गया। इसके कारण यह विशाल नगर एकदम तहस-नहस हो गया। अब जापान के सम्राट् ने अनुभव किया, कि लड़ाई को जारी रखने से देश सर्वथा नष्ट हो जायगा। उचित यही है, कि आत्मसमर्पण करके लड़ाई का अन्त कर दिया जाय। १५ अगस्त, १९४५ को जापान ने मित्रराज्यों के सम्मुख बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, और पूर्वी एशिया में महायुद्ध का अन्त हो गया।

१९४२ में जापान सर्वत्र विजयी था। चीन के बड़े भाग में ऐसी सरकारें कायम थीं, जो जापान के साथ सहयोग करने को उद्यत थीं। मंचूकुओ का राज्य जापान को अपना संरक्षक व सहयोगी मानता था, और नानकिंग की सरकार राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होती हुई भी जापान के प्रभाव में थी। दक्षिण-पूर्वी एशिया से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त हो गया था, और इस क्षेत्र के विविध देशों में जो नई राष्ट्रीय सरकारें कायम हुई थीं, वे पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से अपनी रक्षा करने के लिए जापान की सहायता पर निर्भर करती थीं। पर १९४५ के मध्य तक जापान की शक्ति पूर्णतया क्षीण हो गई थी, और सैनिक क्षेत्र में उसे सर्वत्र परास्त होना पड़ा था। जापान की इस पराजय का मुख्य कारण उसके विरोधियों की अपार शक्ति ही थी। अमेरिका के युद्ध में प्रविष्ट हो जाने से मित्रराज्यों के धन तथा जन की शक्ति में असाधारण रूप से वृद्धि हो गयी थी। महायुद्ध में जापान जर्मनी और इटली का पक्ष लेकर शामिल हुआ था। जर्मनी ने यूरोप के जिन देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था, उनकी जनता जर्मन शासन के विरुद्ध थी। फ्रांस, पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, ग्रीस, यूगोस्लाविया आदि देशों में सर्वसाधारण जनता यह अनुभव करती थी, कि जर्मनी का शासन उनके राष्ट्रीय गौरव की दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। उनमें ऐसे देशभक्तों की भी कमी नहीं थी, जो अपना सर्वस्व कुर्बान करके भी विजेता जर्मनी के खिलाफ संघर्ष को जारी रखने के लिए उद्यत थे। जर्मनी के लिए यह तो सम्भव था, कि वह लड़ाई के मैदान में शत्रु-सेना को परास्त कर सके। पर यह बात सुगम नहीं थी, कि जर्मनी सर्वसाधारण जनता की स्वातन्त्र्य-भावना का पूरी तरह से दमन कर सके। इसमें सन्देह नहीं, कि जर्मनी ने अपने अधिकृत और विजित देशों में नाजी सिद्धान्तों को मानने वाले वहीं के लोगों का शासन स्थापित किया था। पर यह भी सर्वथा सत्य है, कि जर्मनी ने जिस ढंग से यूरोप के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य कायम कर लिया था, वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के अनुकूल नहीं था। यही कारण है, कि यूरोप के महायुद्ध में नाजी और फैसिस्ट शक्तियों की पराजय हुई। जब एक बार ब्रिटेन, रूस और अमेरिका की सम्मिलित शक्ति यूरोप में जर्मनी और इटली को परास्त करने में समर्थ हो गई, तो उसके लिए यह बहुत कठिन नहीं रहा, कि वह पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान को भी परास्त कर सके। इस क्षेत्र में जापान ने जो कार्य किया था, वह राष्ट्रीय भावना के अनुरूप था। पर जापान को इतना समय नहीं मिला, कि वह इन देशों की नई राष्ट्रीय सरकारों के साथ सहयोग करके इनके आर्थिक जीवन का सुचारु रूप से विकास कर सके, और इनकी धन व जनशक्ति को पाश्चात्य देशों का मुकाबिला करने के लिए प्रयुक्त कर सके। यदि यूरोप में जर्मनी कुछ वर्षों तक मित्र-राज्यों का मुकाबिला कर सकने में समर्थ रहता, तो जापान को भी एशिया में अपनी शक्ति को सुदृढ़ बनाने का अवसर मिल जाता। पर युद्ध के संचालन में जर्मनी ने अनेक भूलें की थीं। डनकर्क की दुर्घटना के बाद जर्मनी ब्रिटेन पर सुगमता के साथ आक्रमण कर सकता था। मई, १९४० में जब फ्रांस के परास्त हो जाने के बाद ब्रिटिश सेनाएं बड़ी कठिनता से इंगलैंड लौट सकने में समर्थ हुईं, तो ब्रिटेन की शक्ति इतनी अस्त-व्यस्त थी, कि जर्मनी सुगमता से उसे अपना वशवर्ती बना सकता था। पर हिटलर ने इस अवसर का सही रूप से उपयोग नहीं किया। रूस के विरुद्ध लड़ाई में उलझ पड़ना जर्मनी की दूसरी भयंकर भूल थी। १९३९ में जर्मनी और रूस में तटस्थता की सन्धि हो चुकी थी। पर हिटलर के हृदय में कम्युनिज्म के प्रति घोर विद्वेष था। यदि वह इस विद्वेष की उपेक्षा कर यह समझ सकता, कि रूस के प्रति तटस्थता की नीति का अनुसरण करने में ही जर्मनी का हित है, तो शायद नाजीज्म का अन्त इतना दुर्दशापूर्ण न होता। ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के विरुद्ध एक साथ लड़ सकना जर्मनी की शक्ति के बाहर था। १९१४-१८ के महायुद्ध के समान १९३९-४५ के महायुद्ध में भी जर्मनी और उसके साथियों के खिलाफ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संसार के बहुत-से देश (इनकी कुल संख्या ४४ थी) मिलकर युद्ध कर रहे थे। विश्व के इतने देशों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबिला कर सकना जर्मनी और उसके फैसिस्ट साथियों के लिए सम्भव नहीं था।

जर्मनी के परास्त हो जाने के बाद यह असम्भव था, कि जापान अकेला संसार के ४४ राज्यों की संयुक्त शक्ति के मुकाबिले में खड़ा रह सके। इसमें सन्देह नहीं, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश यह अनुभव करते थे, कि महायुद्ध में पाश्चात्य देशों की विजय से उनकी नई प्राप्त हुई राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसीलिए जापान के साथ उनकी सहानुभूति भी थी। पर तीन साल के थोड़े-से समय में जापान और इन देशों के लिए सम्भव नहीं था, कि वे अपने व्यवसायों को इतना अधिक उन्नत कर लें, कि अमेरिका जैसे समृद्ध एवं व्यवसाय-प्रधान देश की शक्ति का सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सकें। दक्षिण-पूर्वी एशिया के लोगों के लिए तीन साल के काल में यह भी सम्भव नहीं था, कि वे अपनी सेनाओं को इस ढंग से संगठित कर लें, कि वे ब्रिटेन और अमेरिका की अपार जल व वायुशक्ति का सामना कर सकें। परिणाम यह हुआ, कि जर्मनी के समान जापान को भी मित्रराज्यों से परास्त होना पड़ा। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में कुछ समय के लिए राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के कारण जो असाधारण देश-प्रेम व स्वातन्त्र्य की भावना विकसित हो गई थी, उसे दबा सकना पाश्चात्य देशों के लिए सुगम नहीं था। इसीलिए ये देश जापान की पराजय के बाद भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा करने में अनेक अंशों में सफल हुए। इन देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता किस अंश तक कायम रही, इस विषय पर हम पच्चीसवें अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौबीसवां अध्याय

चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना

(१) महायुद्ध और चीन

दिसम्बर, १९४१ में जब जापान ने महायुद्ध में प्रवेश किया, तब चीन की क्या स्थिति थी, इस विषय पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मञ्चूरिया में एक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य विद्यमान था, जिसे 'मञ्चूकुओ' कहते थे। यह राज्य जापान के प्रभाव में था। नानकिंग को राजधानी बनाकर एक स्वतन्त्र चीनी सरकार की स्थापना हो चुकी थी, जो जापान के साथ सहयोग करने में ही अपने देश का हित समझती थी। नानकिंग की इस चीनी सरकार के नेता अपने को डॉ० सन यात सेन का अनुयायी कहते थे, और यह समझते थे कि चियांग काई शेक के नेतृत्व में चुंगकिंग में जो सरकार विद्यमान है, वह कुओमिन्तांग दल के आदर्शों व सिद्धान्तों का अनुसरण नहीं कर रही है। इस सरकार के नेताओं की दृष्टि में चीन की उन्नति के लिये यह उपयोगी था, कि वे जापान के साथ सहयोग को महत्त्व दें और अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों को अपना पथ-प्रदर्शक व मित्र न समझकर जापान के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करें। चीन के पूर्वी समुद्र-तट के सब प्रदेश नानकिंग सरकार के अधीन थे। महासेनापति चियांग काई शेक के नेतृत्व में जो स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार स्थापित थी, उसकी राजधानी चुंगकिंग थी। उत्तर-पश्चिमी चीन में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित थी, जिसके प्रधान नेता माओ त्से तुंग थे। इस सरकार की राजधानी येनान थी। कम्युनिस्ट लोगों की यह सरकार राजनीतिक व सैनिक दृष्टि से अपनी पृथक् सत्ता रखते हुए भी चुंगकिंग की राष्ट्रीय सरकार के साथ सहयोग करने के लिये तैयार थी। इसका यह मत था, कि स्वतन्त्र चीन के सब दलों के लोगों को आपस के मतभेदों को भुलाकर जापान के विरुद्ध संघर्ष करने में अपनी सारी शक्ति को लगा देना चाहिये, और चुंगकिंग की केन्द्रीय सरकार का संगठन लोकतंत्र सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिये। सब दलों के लोगों को यह अवसर होना चाहिये, कि वे लोकमत को अपने पक्ष में करके सरकार पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर सकें। कम्युनिस्ट लोग चुंगकिंग सरकार की अधीनता में रहते हुए जापान के विरुद्ध युद्ध-कार्य में पूर्ण रूप से सहयोग करने को उद्यत थे। पर चियांग काई शेक जापान के विरुद्ध संघर्ष की अपेक्षा चीन की आन्तरिक राजनीति को अधिक महत्त्व देता था, और उसे इस बात का भय था, कि कहीं कम्युनिस्ट लोग चीन में अधिक प्रबल न हो जाएं। इसलिए वह जापान के विरुद्ध संघर्ष में कम्युनिस्टों के सहयोग को बहुत महत्व नहीं देना चाहता था।

चीन के सम्पूर्ण समुद्रतट पर जापान का अधिकार हो जाने के कारण चियांग काई शेक की सरकार का अन्य देशों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं रह गया था। इस दशा में अमेरिका, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देश उसे केवल दो मार्गों से सहायता पहुँचा सकते थे—(१) इन्डोचायना से, और (२) उत्तरी बरमा से। जब फ्रांस पर जर्मनी का आधिपत्य स्थापित हो गया, और मार्शल पेतां के नेतृत्व में विशी को राजधानी बनाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ऐसी फ्रेन्च सरकार की स्थापना हुई, जो जर्मनी के साथ मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने को तैयार थी, तो श्री देकू को इन्डोचायना का गर्वनर-जनरल नियत किया गया। श्री देकू मार्शल पेतां के पक्षपाती थे, और इसी बात में अपने देश का हित समझते थे, कि जर्मनी और उसके साथियों के साथ मैत्री-सम्बन्ध रखा जाय। इसीलिये उन्होंने जापान के विरुद्ध चियांग काई शेक की सहायता न करने की नीति का अनुसरण किया। जापानी सेनाओं को इन्डोचायना में अनेक प्रकार की सुविधाएं दी गईं, और मित्र-राज्यों के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वे इन्डोचायना के मार्ग से चुंगकिंग सरकार को युद्ध-सामग्री आदि पहुंचा सकें। इस दशा में १९४१ में चियांग काई शेक को सहायता पहुंचा सकने का केवल एक ही मार्ग ब्रिटेन और अमेरिका के लिये शेष रह गया था। यह मार्ग उत्तरी बरमा से होकर जाता था। पर जब १९४२ के प्रारम्भ में जापान ने बरमा को विजय कर लिया, तो चुंगकिंग को सहायता पहुंचा सकने का यह मार्ग भी अवरुद्ध हो गया। अमेरिकन और ब्रिटिश लोग यह भलीभांति अनुभव करते थे, कि जापान को परास्त करने के लिये चियांग काई शेक की सहायता अत्यन्त आवश्यक है। यदि चियांग काई शेक की सरकार का पतन हो जायगा, तो जापान को दो बड़े लाभ होंगे—(१) जापान की जो सेनाएं चुंगकिंग सरकार का प्रतिरोध करने के लिये चीन में विद्यमान हैं, वे खाली हो जाएंगी, और जापान उनका उपयोग युद्ध के अन्य क्षेत्रों में कर सकेगा। (२) चीन की सम्पूर्ण जनता यदि नानकिंग सरकार के शासन में आ जायगी, तो जापान के लिये यह बहुत सुगम होगा, कि वह इस विशाल देश की धन व जन-शक्ति का उपयोग मित्र-राज्यों को परास्त करने में कर सके। इसलिये ब्रिटेन और अमेरिका इस बात के लिए उत्सुक थे, कि वे चुंगकिंग सरकार को अधिक से अधिक सहायता प्रदान करते रहें, ताकि वह जापान के मुकाबिले में अपनी स्थिति को कायम रख सके। अतः इन राज्यों ने वायु-मार्ग द्वारा चियांग काई शेक की सरकार को सहायता पहुंचाना प्रारम्भ किया। हिमालय की उच्च पर्वतमाला को पार कर अमेरिका और ब्रिटेन के हवाई जहाज भारत से चुंगकिंग जाने लगे, और उन्होंने वायुमार्ग द्वारा युद्ध सामग्री को चुंगकिंग पहुंचाना शुरू किया। जनवरी, १९४४ में १३,३९९ टन युद्ध-सामग्री भारत से चीन पहुंचायी गई। एक साल बाद जनवरी, १९४५ में वायुमार्ग द्वारा चीन पहुंचायी जाने वाली युद्ध-सामग्री की मात्रा ४३,८९६ टन तक पहुंच गई। हवाई जहाजों द्वारा इतनी अधिक युद्ध-सामग्री का चीन भेजना इस बात का प्रमाण है, कि अमेरिका और ब्रिटेन चियांग काई शेक की राष्ट्रीय सरकार की सत्ता को कितना अधिक महत्त्व देते थे। पर वायुमार्ग द्वारा भारी माल को हिमालय के पार भेज सकना सुगम नहीं था। इसीलिये मोटर, ट्रक, टैंक आदि भारी उपकरणों को पर्याप्त मात्रा में चीन नहीं भेजा जा सकता था।

१९४२ में चुंगकिंग सरकार का पाश्चात्य देशों के साथ सम्बन्ध प्रायः नहीं के बराबर रह गया था। इस स्थिति में यह स्वाभाविक था, कि चियांग काई शेक की अधीनता में विद्यमान चीन की जनता में असन्तोष निरन्तर बढ़ता जाये। चुंगकिंग सरकार के लिये अपने मित्र राज्यों से युद्ध-सामग्री की सहायता प्राप्त कर सकना भी सुगम नहीं था। उसके अपने प्रदेश में कल-कारखानों का प्रायः अभाव था, और यह सम्भव नहीं था, कि चियांग काई शेक की सरकार युद्ध-सामग्री को स्वयं तैयार कर सके। जो थोड़े बहुत कारखाने पश्चिमी चीन में विद्यमान थे, उन पर भी जापानी हवाई जहाज बहुधा आक्रमण करते रहते थे। आर्थिक उत्पत्ति की दशा चीन के इस भाग में अत्यन्त अस्त-व्यस्त थी। किसान लोग खेती भी इन प्रदेशों में निश्चिन्त रूप से नहीं कर सकते थे। जब फसल तैयार होने को होती थी, जापानी हवाई जहाज खेतों पर अग्निवर्षक बम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरा देते थे, और तैयार फसल को भस्म कर देते थे। पश्चिमी चीन में सभी प्रकार के पदार्थों की निरन्तर कमी होती जा रही थी। इस दशा में यदि चियांग काई शेक की सरकार के कर्मचारी देशभक्ति, स्वार्थ-त्याग और राष्ट्रीय हित की भावनाओं से प्रेरित होकर कार्य करते, तो वे स्थिति को बहुत कुछ संभाल सकते थे। पर उनका ध्यान जापान के विरुद्ध संघर्ष करने की अपेक्षा स्वार्थ-साधन की ओर अधिक था। युद्ध की परिस्थिति से लाभ उठाकर वे अपनी वैयक्तिक समृद्धि के लिये तत्पर थे। सेनाओं की सहायता के लिये जो युद्ध-सामग्री वायु-मार्ग द्वारा चुंगकिंग पहुंचायी जाती थी, उसका भी अच्छा बड़ा भाग चोर बाजार में पहुंच जाता था, और चियांग काई शेक की सरकार के प्रमुख राज-कर्मचारी पूंजीपतियों के साथ मिलकर उसे चोर बाजार में बेच देते थे। आर्थिक उत्पत्ति की कमी के कारण पश्चिमी चीन के बाजारों में सब प्रकार के पदार्थों की मांग सदा बनी रहती थी, और युद्ध कार्य में सहायता पहुंचाने के लिये आया हुआ माल ऊंची कीमत पर बड़ी सुगमता के साथ बिक जाता था। इस प्रकार चोर बाजार में युद्ध-सामग्री को बेचकर चीन के अनेक सेनापति और उच्च राजकर्मचारी अपनी वैयक्तिक समृद्धि के लिये प्रयत्नशील थे। युद्ध को चलाने के लिये जो रुपया अपेक्षित था, उसे टैक्सों द्वारा वसूल कर सकना सुगम नहीं था। अतः चुंगकिंग सरकार अपने खर्च को चलाने के लिये सबसे अधिक सुगम व क्रियात्मक उपाय यह समझती थी, कि अधिक से अधिक मात्रा में पत्र-मुद्राओं को जारी कर दिया जाय। इसका यह परिणाम था, कि चीन में मुद्रा की कीमत निरन्तर गिरती जाती थी, और वस्तुओं की कीमत में निरन्तर वृद्धि होती जाती थी।

इस विकट दशा में भी येनान की कम्युनिस्ट सरकार इस बात के लिये उत्सुक थी, कि जापान के विरुद्ध लड़ाई में चुंगकिंग सरकार के साथ सहयोग करे। पर चियांग काई शेक और कुओमिन्तांग दल के उसके साथी कम्युनिस्टों के साथ सहयोग की अपेक्षा उनके विरुद्ध संघर्ष को अधिक महत्त्व देते थे। यही कारण है, कि वायुमार्ग द्वारा प्राप्त होने वाली युद्ध सामग्री का भी वे कम्युनिष्टों के विरुद्ध उपयोग करने में संकोच नहीं करते थे। चुंगकिंग और येनान की सरकारों में सहयोग निरन्तर कम होता जाता था, और चियांग काई शेक की सर्वोत्कृष्ट सेनाएं जापान के विरुद्ध लड़ाई में न लगकर कम्युनिस्टों से युद्ध में अपनी शक्ति का उपयोग करने में कोई अनौचित्य अनुभव नहीं करती थीं। जिस समय ब्रिटेन और अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के विरुद्ध घनघोर युद्ध में व्यापृत थे, चीन में चियांग काई शेक और उसकी राष्ट्रीय सेनाएं जापान के खिलाफ लड़ाई न करके येनान की कम्युनिस्ट सेनाओं के विरुद्ध युद्ध में संलग्न थीं।

चुंगकिंग सरकार जापान के विरुद्ध लड़ाई करने में यद्यपि इतनी शिथिलता प्रदर्शित कर रही थी, पर ब्रिटेन और अमेरिका की दृष्टि में उसका महत्त्व बहुत अधिक था। चीन और जापान की लड़ाई दस साल से भी अधिक समय से चल रही थी। युद्ध में जापान द्वारा निरन्तर परास्त होते रहने पर भी चियांग काई शेक ने उसके साथ किसी प्रकार का समझौता नहीं किया था। पाश्चात्य देशों के राजनीतिज्ञ यह भली भांति अनुभव करते थे, कि इतने सुदीर्घ काल तक जापान के विरुद्ध निरन्तर संघर्ष करके कुओमिन्तांग सरकार ने असाधारण शक्ति और धैर्य का परिचय दिया है। वे यह भी जानते थे, कि यदि वांग चिंग वेई के समान चियांग काई शेक भी जापान के साथ समझौता कर लेता, तो जापान के लिए चीन की अपरिमित जन और धनशक्ति का पूर्णरूप से उपयोग कर सकना बहुत सुगम हो जाता। जिस प्रकार भारत पर ब्रिटेन का प्रभुत्व उसकी सैन्यशक्ति की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व का रहा है, और ब्रिटेन भारत के सैनिकों को अपने साम्राज्य के प्रसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए प्रयुक्त करता रहा है, उसी प्रकार जापान भी चीन की शक्ति को अपने उत्कर्ष के लिए सुगमता के साथ प्रयुक्त कर सकता था। पर चियांग काई शेक के प्रतिरोध के कारण यह बात जापान के लिये सम्भव नहीं हो सकी। अतः ब्रिटेन और अमेरिका के राजनीतिक नेता उसकी सरकार को बहुत अधिक महत्त्व देते थे, और उसे सब प्रकार से सहायता देने को उद्यत थे। चुंगकिंग सरकार को अपने पक्ष में रखने के लिये ११ जनवरी, १९४३ को ब्रिटेन और अमेरिका ने चियांग काई शेक के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का चीन से अन्त कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, इन देशों को चीन में जो अन्य अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त थे, इस सन्धि द्वारा उनकी भी समाप्ति कर दी गई। साथ ही, यह भी स्वीकार किया गया, कि चीन राजनीतिक दृष्टि से पाश्चात्य देशों का समकक्ष है, और संसार का एक प्रमुख एवं शक्तिशाली राज्य है। इसलिए जब बाद में संयुक्त राष्ट्र-संघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) का संगठन किया गया, तो उसकी सुरक्षा परिषद् (सिक्योरिटी कौंसिल) में चीन को भी स्थायी रूप से सदस्यता प्रदान की गई। सुरक्षा परिषद् के अन्य स्थायी सदस्य संयुक्त-राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, रूस और फ्रांस हैं। चीन को भी उनका समकक्ष बनाकर मित्र-राज्यों ने यह प्रदर्शित किया, कि वे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में चीन को कितना अधिक महत्त्व देते हैं। महायुद्ध के अवसर पर मित्र-राज्यों की जो अनेक कान्फरेन्सें हुईं, उनमें चीन को भी निमन्त्रित किया गया। कैरो की कान्फरेन्स (नवम्बर, १९४३) में मित्र-राज्यों के प्रतिनिधियों ने यहाँ तक स्वीकार किया, कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद चीन को वे सब प्रदेश प्राप्त करा दिये जायेंगे, जो १८९४ में उसके अधीन थे। इसका अभिप्राय यह था, कि प्रथम चीन-जापान युद्ध के समय से जो विविध प्रदेश चीन के हाथ से निकलकर जापान के प्रभाव व अधीनता में आ गये थे, वे सब चीन को पुनः प्राप्त हो जायेंगे। मित्र-राज्य इस बात के लिए बहुत अधिक उत्सुक थे, कि चियांग काई शेक की सरकार जापान के विरुद्ध लड़ाई को जारी रखे, और किसी भी प्रकार उसके साथ समझौता न कर ले। पाश्चात्य देशों से पर्याप्त सहायता प्राप्त न हो सकने के कारण चुंगकिंग सरकार जितनी दुर्दशाग्रस्त थी, उसके कारण यह असम्भव नहीं था कि वह भी जापान के साथ समझौता करने का प्रयत्न करती। इसीलिये ब्रिटेन और अमेरिका जिस तरह भी सम्भव हो, उसे जापान के खिलाफ लड़ाई को जारी रखने के लिये तैयार करने में तत्पर थे।

चीन के रणक्षेत्र में युद्ध को जारी रखने के लिये अमेरिका की ओर से जो सेनाएं विद्यमान थीं, या जो युद्ध-प्रयत्न वहाँ जारी था, उसका प्रधान अधिकारी जनरल स्टिलवेल था। वह इस बात के लिये उत्सुक था, कि चुंगकिंग सरकार की सम्पूर्ण शक्ति को जापान के खिलाफ लड़ाई के लिये प्रयुक्त किया जाय। अतः उसकी इच्छा थी, कि (१) चियांग काई शेक की जो राष्ट्रीय सेनाएं येनान की कम्युनिस्ट सरकार के विरुद्ध संघर्ष में व्यापृत हैं, उनका प्रयोग जापान से लड़ाई के लिये किया जाय। (२) जापान के खिलाफ लड़ाई के कार्य में माओ त्से तुंग की कम्युनिस्ट सेनाओं का सहयोग प्राप्त किया जाय, और चीनी लोग युद्ध के समय में आपस के मतभेदों को भुलाकर संयुक्त रूप से जापान से युद्ध करें। (३) चीन की सेनाओं को नये ढंग की सैनिक शिक्षा दी जाय, ताकि वे जापान से लड़ने में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकें। यह कार्य अमेरिकन सेनापति अपने हाथों में लें, और जब चीन की सेना युद्ध कार्य में भलीभाँति निपुण हो जाये, तो चुंगकिंग सरकार और येनान सरकार की सेनाएं सम्मिलित रूप से जापान के खिलाफ आगे बढ़ना प्रारम्भ कर दें। जिस प्रकार भारत और आस्ट्रेलिया को आधार बनाकर मित्र-राज्यों की सेनाएं जापान के विरुद्ध लड़ाई की योजनाएं बना रही थीं, वैसे ही जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रल स्टिल्वेल चाहता था, कि पश्चिमी चीन को भी जापान के खिलाफ लड़ाई शुरू करने के लिये आधार बनाया जाय। पर महासेनापति चियांग काई शेक स्टिल्वेल की इस नीति से सहमत नहीं था। वह इतनी बात के लिये तो तैयार था, कि जापान पर हवाई आक्रमणों के लिये पश्चिमी चीन को आधार के रूप में प्रयुक्त किया जा सके, पर उसे यह बात स्वीकार नहीं थी, कि येनान की कम्युनिस्ट सेनाएं भी पूर्वी चीन पर आक्रमण करें, और इस प्रकार पूर्वी चीन के प्रदेशों पर कम्युनिस्ट लोगों को भी अपने प्रभुत्व की स्थापना का अवसर मिले। महायुद्ध की समाप्ति और जापान की पराजय के बाद चीन की आन्तरिक राजनीति जो रुख धारण करेगी, चियांग काई शेक की दृष्टि में उस का महत्त्व बहुत अधिक था। वह किसी भी दशा में इस बात के लिये तैयार नहीं था, कि येनान के कम्युनिस्टों को चीन में अपने उत्कर्ष का मौका मिले। यही कारण है, कि उस ने स्टिल्वेल का विरोध किया, जिसके कारण अमेरिकन सरकार को विवश होकर स्टिल्वेल को वापस बुलाना पड़ा। अमेरिकन लोग चियांग काई शेक को किसी भी दशा में नाराज़ करने के लिये तैयार नहीं थे। इसीलिये इस महासेनापति के साथ विरोध होने की दशा में जनरल स्टिल्वेल को नीचा देखना पड़ा था।

जनरल स्टिल्वेल को वापस बुला लेने के बाद अमेरिका की ओर से श्री हर्ले को चीन में राजदूत बनाकर भेजा गया। उसे यह समझने में देर नहीं लगी, कि चुंगकिंग सरकार की आन्तरिक दशा बहुत अस्तव्यस्त है, और उसके मुकाबिले में येनान की कम्युनिस्ट सरकार बहुत अधिक सुव्यवस्थित एवं शक्तिशाली है। अतः उसने इस बात का उद्योग किया, कि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में परस्पर समझौता हो जाए, और ये दोनों दल आपस में मिलकर काम करने लगें। पर उसे भी अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। जनरल हर्ले भी चुंगकिंग और येनान की सरकारों में समझौता नहीं करा सका। पर उसके प्रयत्न का यह लाभ अवश्य हुआ, कि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में गृहयुद्ध प्रारम्भ नहीं हुआ, यद्यपि चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार जापान को परास्त करने के लिये किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को कर सकने में असमर्थ रही।

(२) अमेरिका द्वारा चीन में एकता की स्थापना का उद्योग

जनरल हर्ले को चीन में अमेरिकन राजदूत के पद पर विशेष रूप से इसीलिये नियुक्त किया गया था, ताकि वह चुंगकिंग सरकार और कम्युनिस्ट सरकार में समझौता कराके उनकी संयुक्त शक्ति को जापान के विरुद्ध युद्ध करने के लिये प्रयुक्त कर सके। जनरल हर्ले ने अपने इस प्रयत्न में जो सिद्धान्त सम्मुख रखे थे, वे निम्नलिखित थे :— (१) चुंगकिंग की राष्ट्रीय सरकार की सत्ता अक्षुण्ण रहे, और उसकी सर्वोच्च स्थिति में कोई अन्तर न आने पाए। (२) चियांग काई शेक स्वतन्त्र चीनी रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर कायम रहे, और चीन की सब राष्ट्रीय सेनाओं का प्रधान सेनापति भी वही रहे। (३) येनान की कम्युनिस्ट सरकार चुंगकिंग की केन्द्रीय सरकार के आधिपत्य को स्वीकार करे, और कम्युनिस्ट सेनाएं युद्ध के कार्य में चियांग काई शेक की राष्ट्रीय सेनाओं के साथ पूर्ण रूप से सहयोग करें। ७ नवम्बर, १९४४ को जनरल हर्ले स्वयं येनान गया, और वहां जाकर उसने कम्युनिस्ट नेताओं से बातचीत प्रारम्भ की। कम्युनिस्ट लोग जापान से लड़ाई करने के उद्देश्य से चुंगकिंग सरकार के साथ समझौता करने को तैयार थे। उन्होंने समझौते के लिये एक मसविदा भी तैयार किया, जिसके अनुसार यह प्रस्तावित किया गया, कि चुंगकिंग की सरकार विविध राजनीतिक दलों की मिली-जुली सरकार हो, और देश के शासन पर कुओमिन्तांग दल का एकाधिपत्य न रहे। कम्युनिस्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेताओं का कहना था, कि चीन की राष्ट्रीय सरकार और कुओमिन्तांग दल दो पृथक् सत्ताएं हैं, और कम्युनिस्ट आदि अन्य राजनीतिक दलों की भी सरकार की दृष्टि में वही स्थिति होनी चाहिये, जो कुओमिन्तांग दल की है। कुओमिन्तांग को अन्य राजनीतिक दलों की अपेक्षा अधिक ऊंची स्थिति प्राप्त नहीं होनी चाहिये। चीन में लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना के लिये यह आवश्यक है, कि शासन का संचालन लोकमत के अनुसार हो, और विविध राजनीतिक दलों को यह अवसर हो, कि वे अपने विचारों तथा सिद्धान्तों का स्वतन्त्रता के साथ प्रचार कर सकें। पर चियांग काई शेक और उनके साथी इन बातों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं थे। उनका कथन था, कि पहले कम्युनिस्ट लोगों को यह स्पस्टरूप से स्वीकार कर लेना चाहिये, कि वे चुंगकिंग सरकार के अधीन हैं, और उन्हें अपनी सेनाएं पूर्णरूप से चियांग काई शेक की सेनाओं के साथ सम्मिलित कर देनी चाहियें। यह हो जाने के बाद ही कम्युनिस्ट दल को अन्य राजनीतिक दलों के समकक्ष रूप से स्वीकृत किया जा सकता है। पर कम्युनिस्ट लोग समझते थे, कि यदि वे बिना किसी शर्त के अपनी सेनाओं को उस चुंगकिंग सरकार के अधीन कर देंगे, जिस पर कुओमिन्तांग दल का एकाधिपत्य है, तो उसका परिणाम केवल यह होगा, कि कम्युनिस्ट दल की सत्ता ही खतरे में पड़ जायगी। वे चुंगकिंग में विविध राजनीतिक दलों की मिली-जुली सरकार स्थापित कर लेना चाहते थे, ताकि कुओमिन्तांग दल का एकाधिपत्य कायम न रहने पाए। जनरल हर्ले के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वह चियांग काई शेक को कम्युनिस्टों की इस मांग को स्वीकृत कर लेने के लिये प्रेरित कर सके। पर उसने समझौते की बातचीत को जारी रखा, और इसी कारण चीन के इन दो प्रधान दलों में परस्पर गृहयुद्ध प्रारम्भ नहीं होने पाया।

इसी बीच में (अगस्त, १९४५ में), जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया, और महायुद्ध (१९३९-४५) का अन्त हो गया। पर महायुद्ध की समाप्ति के साथ चीन की समस्या का भी अन्त नहीं हो गया। जापान की पराजय के कारण नानकिंग की उस सरकार का स्वयंमेव अन्त हो गया, जो वांग चिंग वेई के नेतृत्व में कायम की गई थी। वांग चिंग वेई की मृत्यु १९४४ में हो गई थी, पर नानकिंग की सरकार अभी कायम थी। महायुद्ध की समाप्ति पर यह समस्या उत्पन्न हुई, कि नानकिंग सरकार द्वारा अधिकृत प्रदेशों पर अब किसका आधिपत्य स्थापित हो, चुंगकिंग की कुओमिन्तांग सरकार का या येनान की कम्युनिस्ट सरकार का। कम्युनिस्ट सरकार इस स्थिति में थी, कि वह बड़ी सुगमता से उत्तरी और पूर्वी चीन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकती थी। पर चियांग काई शेक कभी इस बात को सहन नहीं कर सकता था। अतः नानकिंग सरकार द्वारा अधिकृत प्रदेशों पर कब्जा करने के प्रश्न पर कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ अवश्यम्भावी था। अमेरिका का हित इस बात में था, कि चीन में सुव्यवस्थित और सुदृढ़ शासन स्थापित हो, और चीन पूर्वी एशिया का प्रमुख राज्य बने। महायुद्ध के समय में मित्र-राज्यों ने चियांग काई शेक और उसकी सरकार को बहुत अधिक महत्त्व दिया हुआ था। अतः अमेरिका और ब्रिटेन इस बात के लिये उत्सुक थे, कि चीन में गृह-कलह न होने पाए, और जापान की पराजय के बाद सम्पूर्ण चीन में एक शक्तिशाली केन्द्रीय शासन स्थापित करने का जो सुवर्णीय अवसर उपस्थित हुआ है, उसका पूर्ण रूप से उपयोग किया जाय। इसीलिये उन्होंने कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में समझौता कराने के अपने प्रयत्न को जारी रखा।

२६ नवम्बर, १९४५ को जनरल हर्ले ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, और दिसम्बर, १९४५ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जनरल मार्शल को विशेषतया इस उद्देश्य से चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भेजा, कि वे वहां के दोनों प्रमुख दलों में समझौता कराने का उद्योग करें। उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे चीन जाकर न केवल कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में सामयिक सन्धि कराएं, अपितु साथ ही यह भी उद्योग करें कि चीन में एक ऐसी लोकतन्त्र सरकार स्थापित हो जाय, जिसके शासन को सम्पूर्ण चीन स्वीकृत करता हो।

अमेरिका चीन में शासन-सम्बन्धी एकता को कायम करने के लिये जिस प्रकार प्रयत्नशील था, उसकी उपेक्षा कर सकना चियांग काई शेक और उसके साथियों के लिये सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने चीन में 'पीपल्स कान्सल्टेटिव कान्फरेन्स' नाम से एक नई संस्था का निर्माण किया, जिसके सदस्यों की संख्या ३६ नियत की गई। यह व्यवस्था की गई, कि इस कान्फरेन्स में कुओमिन्तांग दल के ८, कम्युनिस्ट दल के ७ और अन्य विभिन्न दलों के २१ व्यक्ति सदस्य-रूप से लिये जाएं। निःसन्देह, यह लोकतन्त्र शासन के मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण कदम था। यद्यपि चीन में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों का प्राधान्य था, पर इस कान्फरेन्स में इन दोनों दलों के मुकाबिले में अन्य पार्टियों तथा स्वतन्त्र व्यक्तियों को अधिक स्थान प्रदान किये गये थे। यदि यह कान्फरेन्स सफल हो जाती, तो चीन राष्ट्रीय एकता और लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अवश्य अग्रसर हो सकता। पर पीपल्स कान्सल्टेटिव कान्फरेन्स केवल बाईस दिन तक ही कायम रह सकी। अपने इस छोटे-से जीवनकाल में भी इसने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न कर लिया। यह कार्य था कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में यह समझौता कराने का, कि उनकी सेनाएं आपस के युद्ध को बन्द कर दें, और चीन का जो प्रदेश जिस सेना के कब्जे में है, वह उसी के कब्जे में रहे। १० जनवरी, १९४६ को इस कान्फरेन्स की ओर से तीन व्यक्तियों की एक उपसमिति नियत की गई, जिसे यह कार्य सुपुर्द किया गया कि वह कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सेनाओं में युद्ध न होने दे। यह व्यवस्था की गई, कि इन तीन व्यक्तियों में एक कुओमिन्तांग दल का हो, एक कम्युनिस्ट हो, और एक अमेरिकन हो। इस प्रकार अमेरिका के प्रयत्न से चीन में गृहकलह कुछ समय के लिये स्थगित हो गया, और सुदीर्घ काल के बाद चीन में सामयिक रूप से शान्ति की स्थापना हुई।

पर १० जनवरी, १९४६ के समझौते से चीन की वास्तविक समस्या का हल नहीं हुआ था। चीन में स्थायी शान्ति के लिये निम्नलिखित बातें आवश्यक थीं—(१) अब तक चियांग काई शेक की सरकार अकेले कुओमिन्तांग दल की ही सरकार थी। आवश्यकता इस बात की थी, कि एक राजनीतिक दल के शासन का अन्त करके चीन में ऐसी सरकार स्थापित की जाए, जो लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित हो। (२) चीन की सेनाएं राष्ट्रीय न होकर राजनीतिक दलों की सेनाएं थीं। चियांग काई शेक की सेनाएं कुओमिन्तांग दल की थीं, और माओ त्से तुंग की सेनाएं कम्युनिस्ट दल की। चीन की राष्ट्रीय एकता के लिये यह आवश्यक था, कि उसकी सेनाओं का किसी दल-विशेष के साथ सम्बन्ध न हो; वे चीन की राष्ट्रीय सेनाएं हों और राजनीतिक दलबन्दी से सर्वथा पृथक् रहते हुए राष्ट्रीय सरकार की आज्ञानुवर्तिनी हों। पर इन बातों को क्रिया में परिणत कर सकना सुगम नहीं था। जनरल मार्शल ने भरसक कोशिश की, कि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में समझौता कराके एक केन्द्रीय चीनी सरकार की स्थापना कराये। पर जनरल हर्ले के समान जनरल मार्शल को भी निराश होना पड़ा। जनवरी, १९४७ में वह चीन की राष्ट्रीय एकता से निराश होकर अमेरिका वापस लौट गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका के योग्यतम राजनीतिज्ञ जो चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना में निरन्तर असफल हो रहे थे, उसके कारण निम्नलिखित थे—(१) कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों के लोग एक दूसरे के प्रति घोर अविश्वास रखते थे। (२) चियांग काई शेक और उसके साथी कम्युनिज्म के विरोधी थे, और किसी भी रूप में समाजवादी व्यवस्था को सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे। इसके विपरीत कम्युनिस्ट लोग चीन में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये कटिबद्ध थे। समाज संगठन के प्रश्न पर इतना गहरा मतभेद होने की दशा में यह असम्भव था, कि इन दो परस्पर-विरोधी विचारधाराओं में किसी भी प्रकार से समझौता हो सके।

(३) लोकतन्त्र शासन की स्थापना का प्रयत्न

यद्यपि कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में किसी प्रकार का समझौता नहीं हो सका, पर चियांग काई शेक के लिये यह असम्भव था, कि वह चीन में लोकतन्त्र शासन की स्थापना के कार्य को कोई महत्त्व न दे। जापान के विरुद्ध युद्ध की परिस्थितियों के कारण चीन की राष्ट्रीय सरकार का शासनसूत्र पूर्णरूप से चियांग काई शेक के हाथों में आ गया था। वह एकाधिपति (डिक्टेटर) के रूप में देश का शासन करता था, और सम्पूर्ण राज्यशक्ति उसी में केन्द्रित थी। १९३६ के बाद चीन में न कोई निर्वाचन हुए थे, और न किसी अन्य प्रकार से लोकमत के अनुसार शासन करने का उद्योग किया गया था। युद्ध के समय चियांग काई शेक की ओर से बहुधा यह घोषणा की जाती थी, कि युद्ध की समाप्ति पर जब शान्ति स्थापित हो जायगी, तो चीन में पुनः लोकतन्त्र शासन कायम किया जायगा और सरकार का संगठन लोकमत के अनुसार किया जायगा। इसीलिये अब युद्ध की समाप्ति के लगभग एक साल बाद नवम्बर, १९४६ में चियांग काई शेक के आदेश के अनुसार राष्ट्रीय महासभा (नेशनल एसेम्बली) का संगठन किया गया। इसके सदस्यों की संख्या २१५० थी। इनमें से ९५० सदस्य वे थे, जिनका निर्वाचन अब से दस साल पूर्व १९३६ में हुआ था। इनके अतिरिक्त अन्य सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित न होकर सरकार द्वारा मनोनीत किये गये थे। इन्हें नियुक्त करते हुए सरकार की ओर से यह यत्न किया गया था, कि जहां राष्ट्रीय महासभा में विविध राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों को स्थान प्राप्त हो, वहां चीन के प्रमुख व्यक्ति भी उसकी सदस्यता पा सकें। २५ दिसम्बर, १९४६ को राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन प्रारम्भ हुआ। कम्युनिस्ट सदस्य इस अधिवेशन में सम्मिलित नहीं हुए। पर उनकी अनुपस्थिति की कोई परवाह न कर राष्ट्रीय महासभा ने चीन के लिये नये शासन-विधान का निर्माण कर लिया और यह व्यवस्था की, कि नया संविधान २५ दिसम्बर, १९४७ से लागू कर दिया जाय। चीन के इस नये लोकतन्त्र शासन-विधान पर यहां प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसे क्रिया में परिणत करने के लिये चियांग काई शेक और उसके साथियों को अवसर ही नहीं मिल सका। कम्युनिस्ट लोग राष्ट्रीय महासभा में सम्मिलित नहीं हुए थे, और शीघ्र ही उन्होंने चीन के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कुओमिन्तांग दल की सम्पूर्ण शक्ति कम्युनिस्ट लोगों का मुकाबिला करने में ही लग गई, और उन्हें इस बात का अवकाश नहीं मिला, कि वे राष्ट्रीय महासभा द्वारा तैयार किये गये शासन-विधान के अनुसार चीन में लोकतन्त्र शासन का विकास कर सकें। यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि इस शासन-विधान का निर्माण डा० सन यात सेन के सिद्धान्तों और आदर्शों को दृष्टि में रख कर किया गया था, और राजशक्ति के उपयोग का अधिकार राज्य के पांच विभागों या युआनों को दिया गया था। ये युआन निम्नलिखित थे—व्यवस्थापक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युआन, शासन युआन, न्याय युआन, परीक्षा युआन और नियन्त्रण युआन। डा० सन यात सेन के शासन-सम्बन्धी विचारों पर हम इस इतिहास में पहले प्रकाश डाल चुके हैं, अतः इन पांच युआनों के सम्बन्ध में यहां अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है।

जनवरी, १९४८ में नये शासन-विधान के अनुसार व्यवस्थापन युआन (पार्लियामेंट) का निर्वाचन हुआ। चियांग काई शेक को चीन की रिपब्लिक का राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया, और उपराष्ट्रपति के पद पर जनरल ली त्सुंग जेन को चुना गया। जनरल ली कट्टर सुधारवादी थे, और चियांग काई शेक से उनका प्रबल मतभेद था। चियांग काई शेक के विरोध के बावजूद भी उनका उप-राष्ट्रपति निर्वाचित होना इस बात का प्रमाण है, कि चीन में इस समय भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो चियांग काई शेक का अन्धानुसरण करने को उद्यत नहीं थे। यदि इस समय चीन में राष्ट्रीय एकता स्थापित हो सकती, और कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों के लोग आपस में समझौता करके लोकतन्त्र शासन के विकास के लिए उद्योग करते, तो निःसन्देह चीन लोकतन्त्र के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो सकता। पर यह सम्भव नहीं था, कि इन दो दलों में परस्पर समझौता हो सके। जिस समय चीन की केन्द्रीय सरकार दिसम्बर, १९४६ के शासन विधान के अनुसार विविध युआनों के संगठन में तत्पर थी, तभी कम्युनिस्ट सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ रही थीं और चीन के बड़े भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में संलग्न थीं। जुलाई, १९४९ तक चीन के बड़े भाग पर कम्युनिस्ट लोगों का शासन कायम हो गया था, और डा० सन यात सेन द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुसार निर्मित नये शासन विधान को क्रिया में परिणत होने का कोई अवसर ही नहीं रह गया था। यहां यह निर्दिष्ट कर देने की आवश्यकता नहीं है, कि चीन जो लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सका, उसमें महासेनापति चियांग काई शेक का दुराग्रह और स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियां भी महत्वपूर्ण कारण थीं।

(४) कम्युनिस्ट दल का उत्कर्ष

अमेरिका के प्रयत्न के बावजूद भी कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में समझौता नहीं हो सका था। जब तक जापान के साथ युद्ध जारी रहा, इन दोनों दलों के गृहकलह ने उग्र रूप धारण नहीं किया। पर जापान के आत्मसमर्पण करते ही जब उत्तरी और पूर्वी चीन पर पुनः अधिकार स्थापित करने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो चुंगकिंग और येनान की सरकारों के पारस्परिक विरोध ने बहुत उग्र रूप धारण कर लिया। कुछ ही समय बाद इन दोनों दलों की सेनाओं में गृह-युद्ध प्रारम्भ हो गया, और अन्त में इस युद्ध में कम्युनिस्टों की विजय हुई।

हम पहले लिख चुके हैं, कि ८ अगस्त, १९४६ को रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी। १९३९—४५ के महायुद्ध में रूस मित्र-राज्यों के पक्ष में था, और जर्मनी की नाजी शक्ति को परास्त करने में उसका कर्तृत्व अत्यन्त महत्वपूर्ण था। जर्मनी के खिलाफ लड़ाई में रूस ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगायी हुई थी, इसीलिए उसने जापान के विरुद्ध युद्ध उद्घोषित करना उचित नहीं समझा था। एप्रिल, १९४१ में रूस और जापान में एक सन्धि हुई थी, जिसके अनुसार दोनों राज्यों ने तटस्थता की नीति का अनुसरण करना स्वीकार किया था। यह सन्धि पांच साल के लिए ही की गई थी, और दोनों राज्यों को यह अधिकार था, कि सन्धि की अवधि के समाप्त होने के एक साल पूर्व इस सन्धि को समाप्त कर देने का नोटिस दे सकें। ब्रिटेन और अमेरिका चाहते थे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि रूस जापान के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दे, ताकि जापान को परास्त कर सकना उनके लिए सुगम हो जाय। पर रूस यह भलीभांति जानता था, कि उत्तर-पूर्वी चीन में जापान की शक्तिशाली क्वांन्तुंग सेना अक्षुण्ण रूप से विद्यमान है, और यदि रूस जापान के खिलाफ लड़ाई में शामिल हो जायगा, तो यह सेना पूर्वी साइबीरिया पर सुगमता के साथ अपना आधिपत्य स्थापित कर लेगी, और एशियन रूस का पूर्वी समुद्रतट भी जापान के कब्जे में चला जायगा। रूस को एक अच्छी बड़ी सेना जापान का सामना करने के लिए साइबीरिया भेजनी पड़ेगी, और इसका परिणाम केवल यह होगा कि वह जर्मनी के विरुद्ध अपनी सम्पूर्ण सैन्य-शक्ति का उपयोग नहीं कर सकेगा। फरवरी, १९४१ में याल्टा नामक स्थान पर मित्र-राज्यों के प्रमुख नेताओं की एक कान्फरेन्स हुई। इसमें रूस ने यह स्वीकार किया, कि जब जर्मनी महायुद्ध में परास्त हो जायगा, तो उसके दो या तीन महीने बाद रूस जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर देगा, ताकि जापान को परास्त करने में वह भी सहायक हो सके। रूस समझता था, कि जापान के विरुद्ध लड़ाई शुरू करने के लिए इतने समय की आवश्यकता होगी, क्योंकि यूरोप से हजारों मील दूर पूर्वी साइबीरिया में अपनी सेनाओं और युद्ध-सामग्री को प्रचुर परिमाण में पहुंचाने के लिए दो या तीन महीने का समय अवश्य लग जायगा। याल्टा कान्फरेन्स में ही ब्रिटेन और अमेरिका ने रूस के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार उन्होंने यह स्वीकार किया था, कि जापान की पराजय के बाद पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में नई व्यवस्था करते हुए रूस की निम्नलिखित मांगों को स्वीकार किया जायगा—(१) मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक (जिसमें समाजवादी व्यवस्था कायम थी) को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्वीकृत किया जाय। (२) १९०४-५ के रूस-जापान युद्ध के परिणाम-स्वरूप रूस से जो प्रदेश और प्रभाव-क्षेत्र जापान ने प्राप्त कर लिये थे, वे रूस को प्रदान कर दिये जायें। (३) सखालिन द्वीप का दक्षिण भाग और उसके समीपवर्ती द्वीप रूस को पुनः प्राप्त हों। (४) पोर्ट आर्थर रूस को पट्टे पर दे दिया जाय, ताकि वह वहां अपनी जलशक्ति का अड्डा बना सके। (५) मञ्चूरिया पर चीनी सरकार का अधिकार हो, पर उसकी दो प्रमुख रेलवे लाइनों का संचालन एक ऐसी कम्पनी द्वारा किया जाय, जिस पर चीन और रूस दोनों का सम्मिलित आधिपत्य हो।

याल्टा कान्फरेन्स में ब्रिटेन और अमेरिका के साथ उपर्युक्त समझौता करके रूस ने यह तय कर लिया था, कि जर्मनी की पराजय के कुछ मास बाद वह भी जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर देगा। ७ मई, १९४५ को जर्मनी ने आत्मसमर्पण किया, और उसके ठीक तीन मास बाद ८ अगस्त, १९४५ को रूस ने जापान के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दी। रूस की सेनाओं ने उत्तर की ओर से मंचूरिया में प्रवेश किया। कुछ दिन बाद १५ अगस्त, १९४५ को जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, और रूस को अधिक युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई। पर जापान के साथ सामयिक सन्धि २ सितम्बर, १९४५ से पूर्व सम्पन्न नहीं की जा सकी। इसका परिणाम यह हुआ, कि ८ अगस्त से २ सितम्बर तक (लगभग तीन सप्ताह तक) रूसी सेनाएं जापान द्वारा अधिकृत प्रदेशों में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। इस अवसर से लाभ उठाकर रूस ने सम्पूर्ण मञ्चूरिया पर अपना कब्जा कर लिया, और उसकी एक अन्य सेना कोरिया में प्रविष्ट हो गई। २ सितम्बर तक उसने सम्पूर्ण उत्तरी कोरिया (३५ वीं पेरेलल तक) पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया। तीन सप्ताह के थोड़े-से काल में मञ्चूरिया और उत्तरी कोरिया के सुविस्तृत प्रदेश रूसी कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गये। यद्यपि रूस के इस आधिपत्य का चीन के कम्युनिस्टों के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं था, पर हमने इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतने विशद रूप में उल्लेख इसलिए किया है, क्योंकि चीन में कम्युनिस्ट दल के उत्कर्ष में इससे बहुत अधिक सहायता मिली थी।

१५ अगस्त. १९४५ को जापान ने आत्मसमर्पण किया था। यद्यपि महायुद्ध में जापान परास्त हो गया था, पर मञ्चूरिया और पूर्वी चीन पर उसका आधिपत्य अभी अविकल रूप से विद्यमान था। मञ्चूरिया और कोरिया में रूसी सेनाएं निरन्तर आगे बढ़ रही थीं, पर मञ्चूकुओ और नानकिंग की सरकारें अभी पूर्ववत् कायम थीं। जापान के आत्मसमर्पण का यह परिणाम अवश्यम्भावी था, कि मञ्चूरिया और पूर्वी चीन से उन सरकारों का अन्त हो जाता, जो कि जापान को अपना संरक्षक, मित्र एवं सहयोगी मानती थीं। साथ ही, यह भी आवश्यक था कि इन प्रदेशों में जो जापानी सेनाएं विद्यमान थीं, वे हथियार डाल दें और मित्रराज्यों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दें। मंचूरिया और उत्तरी कोरिया में रूसी सेनाएं प्रविष्ट हो गई थीं, और रूस ने वहां अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पर प्रश्न यह था, कि पूर्वी चीन पर अब किसका अधिकार हो और वहां की जापानी सेनाएं किसके सम्मुख आत्मसमर्पण करें। मित्रराज्यों ने इस बात का फैसला कर लिया था, कि पूर्वी चीन पर चीन की स्वतन्त्र सरकार की सेनाओं का अधिकार कायम होगा। पर चीन की स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की सेनाएं दो प्रकार की थीं, कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट। इन दोनों सेनाओं में किसी भी प्रकार समझौता अब तक नहीं हो सका था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ये दोनों सेनाएं पूर्वी चीन के अधिक से अधिक प्रदेश पर अपना कब्जा कायम करने का प्रयत्न करें। कम्युनिस्ट सेनाएं अधिक व्यवस्थित और संगठित थीं। उत्तर-पश्चिमी चीन पर तो उनका अधिकार था ही; साथ ही, जापान द्वारा अधिकृत चीन के भी अनेक स्थानों पर कम्युनिस्ट सेनाएं गुरिल्ला पद्धति से युद्ध में व्यापृत थीं। इस दशा में उनके लिए यह अधिक सुगम था, कि वे पूर्वी चीन के बड़े भाग पर अपना कब्जा कायम कर लें। पर चियांग काई शेक इस बात को नहीं सह सकता था। अमेरिकन लोग भी यह नहीं चाहते थे, कि जापान को परास्त कर पूर्वी चीन के जिन प्रदेशों को उस की अधीनता से स्वतन्त्र कराया गया है, उन पर अब कम्युनिस्टों का आधिपत्य स्थापित हो जाय। अतः उन्होंने इस समय चियांग काई शेक की दिल खोल कर सहायता की। बहुत बड़ी संख्या में मोटर गाड़ियां, ट्रक, हवाई जहाज आदि चुंगकिंग सरकार को प्रदान किये गये, ताकि कुओमिन्तांग दल की सेनाएं तेजी के साथ पूर्वी चीन पहुंच सकें, और कम्युनिस्टों से पहले ही उस पर अपना कब्जा कर लें। इस अवस्था में यह स्वाभाविक था, कि चुंगकिंग सरकार और येनान सरकार में फिर से गृहयुद्ध का प्रारम्भ हो, क्योंकि कम्युनिस्ट लोग यह नहीं चाहते थे, कि चियांग काई शेक सम्पूर्ण पूर्वी चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर ले। परिणाम यह हुआ, कि सितम्बर, १९४५ में कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारों में लड़ाई शुरू हो गई। जापान की पराजय के बाद भी चीन में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी।

अमेरिका नहीं चाहता था, कि चीन में गृहयुद्ध जारी रहे। इसीलिये उसने दिसम्बर, १९४५ में जनरल मार्शल को इस उद्देश्य से चीन भेजा था, ताकि वह चीन के इन दोनों दलों में समझौता कराके वहां लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग करे। जनरल मार्शल को अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हो सकी, यह हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं। जनवरी, १९४६ में चीन के दोनों दलों ने जो सामयिक रूप से समझौता किया, उसका विवरण भी हम ऊपर दे चुके हैं। पर कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट दलों में समझौता हो सकना सुगम बात नहीं थी। नवम्बर, १९४६ में चियांग काई शेक ने देश के लिये नये शासन-विधान का निर्माण करने के प्रयोजन से जिस राष्ट्रीय महासभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आयोजन किया था, कम्युनिस्ट दल ने उसका बहिष्कार कर दिया था। इस बीच में कम्युनिस्ट सेनाएं उत्तरी और पूर्वी चीन के अनेक प्रदेशों पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुकी थीं। कुछ मास पूर्व, १९४६ के शुरू में रूसी सेनाओं ने मञ्चूरिया और उत्तरी कोरिया को खाली कर दिया था, और इन प्रदेशों पर भी चीन के कम्युनिस्टों ने अपना कब्जा कायम कर लिया था। इस प्रकार चीन के अच्छे बड़े भाग पर चीनी कम्युनिस्टों का अधिकार हो गया था। अब चियांग काई शेक चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना के लिये केवल दो ही उपायों का अवलम्बन कर सकता था—(१) या तो वह कम्युनिस्टों के साथ समझौता करके इस बात के लिए तैयार हो, कि चीन में एक ऐसी लोकतन्त्र सरकार की स्थापना की जाय, जिसका निर्माण लोकमत के अनुसार हो और कुओमिन्तांग, कम्युनिस्ट व अन्य सब राजनीतिक दलों को जो एक दृष्टि से देखे। (२) और या वह कम्युनिस्टों को युद्ध में परास्त करके उनके द्वारा अधिकृत प्रदेशों को अपने कब्जे में ले आये। १९४७ तक समझौते के लिये जो प्रयत्न चीन में हुए, उनका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। १९४८ में भी ये प्रयत्न जारी रहे, पर सफल नहीं हो सके। इस समय चीन दो भागों में विभक्त था। कुछ प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का कब्जा था, और कुछ पर कुओमिन्तांग दल का। १९४८ के शुरू में चीन में जिस लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग हुआ था, उसका सम्बन्ध केवल कुओमिन्तांग दल द्वारा अधिकृत चीन के साथ ही था। शेष चीन में कम्युनिस्ट लोग समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में तत्पर थे।

१९४९ के प्रारम्भ में एक बार फिर दोनों दलों में समझौते का उद्योग किया गया। १४ जनवरी, १९४९ को कम्युनिस्ट दल की ओर से समझौते की निम्नलिखित शर्तें पेश कीं गईं—(१) चियांग काई शेक और ली त्सुंग जेन को अपने पदों से पृथक् कर दिया जाए। (२) कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकारें एक साथ अपनी सेनाओं को लड़ाई बन्द कर देने का आदेश दें। (३) देश के लिए एक नया शासन-विधान बनाया जाय, जिसे बनाने का कार्य जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के सुपुर्द हो। (४) जब तक नया शासन-विधान तैयार न हो, शासन-कार्य का संचालन करने के लिए एक ऐसी सरकार का संगठन किया जाय, जिसमें सब प्रमुख राजनीतिक दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। (५) सेना का नये सिरे से संगठन किया जाय। (६) युद्ध के लिये जिन चीनी नेताओं को दोषी पाया जाय, उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था की जाय। यह स्पष्ट है, कि महासेनापति चियांग काई शेक इन शर्तों को स्वीकार नहीं कर सकता था। पर इस समय चीन में उसकी स्थिति बहुत हीन हो चुकी थी। कम्युनिस्टों के विरुद्ध लड़ाई के लिए वह अमेरिका से यथेष्ट सहायता प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं हुआ था। इस समय अमेरिका इस स्थिति में नहीं था, कि चीन के गृहयुद्ध में एक पक्ष की खुले रूप से सहायता कर सके। यदि अमेरिका कुओमिन्तांग दल की सहायता करता, तो कम्युनिस्ट लोगों को रूस से सहायता प्राप्त करने का पूरा भरोसा था। इस दशा में अमेरिका ने प्रायः तटस्थता की नीति का अनुसरण किया, और इस कारण चियांग काई शेक की राजनीतिक स्थिति बहुत कुछ डांवाडोल हो गई। १२ जनवरी, १९४९ को उसने अपनी सरकार का सब कार्यभार उपराष्ट्रपति ली त्सुंग जेन के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि राष्ट्रपति के पद पर अब भी चियांग काई शेक कायम रहा, पर नानकिंग सरकार (जापान के आत्मसमर्पण के कुछ समय बाद कुओमिन्तांग सरकार चुंगकिंग से नानकिंग चली आयी थी) का संचालन जनरल ली के हाथों में आ गया। इस समय नानकिंग सरकार का प्रधानमंत्री सन फो था। उसने कम्युनिस्टों के साथ समझौते की बातचीत को जारी रखा। पर उसे भी अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य में सफलता नहीं हो सकी। १९ एप्रिल, १९४९ को समझौते की बातचीत अन्तिम रूप से समाप्त हो गई, और कम्युनिस्टों और कुओमिन्तांग सरकार की सेनाओं में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया।

यहां हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि चीन के इस गृहयुद्ध की प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त रूप से भी उल्लेख कर सकें। उत्तरी चीन के सब प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का पहले ही कब्जा था। जनवरी, १९४९ में समझौते की बातचीत शुरू होने से पहले कम्युनिस्ट लोग तीन्सिन और पेकिंग पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर चुके थे। समझौते की बातचीत के असफल हो जाने पर एप्रिल, १९४९ में कम्युनिस्ट सेनाओं ने यांगत्से नदी को पार कर लिया, और नानकिंग और शंघाई कम्युनिस्टों के अधिकार में चले गए। कुछ समय बाद कम्युनिस्ट सेनाओं ने हैन्को को जीत लिया, और अक्टूबर, १९४९ में दक्षिणी चीन के प्रसिद्ध नगर कैन्टन पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया।

१७ सितम्बर, १९४९ को ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के परराष्ट्र विभागों ने यह स्वीकृत कर लिया, कि अब चीन में कुओमिन्तांग दल की शक्ति तथा सत्ता का पूर्ण-रूप से ह्रास हो गया है। इस दल का चीन में कुछ भी प्रभाव नहीं रहा है, और इसका कोई ऐसा व्यवस्थित संगठन नहीं है, जिसे पाश्चात्य राज्य सहायता दे सकें। वस्तुतः, महायुद्ध के समय में ही अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के अनेक राजनीतिज्ञ यह अनुभव करने लग गये थे, कि कुओमिन्तांग दल के नेताओं में बहुत अधिक विकृति आ चुकी है, और वे अपनी राजशक्ति का उपयोग देश के हित और कल्याण के लिए न करके स्वार्थ-साधन के लिए करने में तत्पर हैं। चीन की जनता भी उनके पक्ष में नहीं थी। इसके विपरीत कम्युनिस्ट लोग जहां सुव्यवस्थित और सुसंगठित थे, वहां साथ ही देश के हित-साधन में भी तत्पर थे। इस दशा में यदि उन्हें कुओमिन्तांग सरकार को परास्त कर सकने में असाधारण रूप से सफलता प्राप्त हुई हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

नवम्बर, १९४९ तक यह दशा आ गई थी, कि कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता में केवल निम्नलिखित प्रदेश रह गये थे—(१) श्जेचुआन का प्रान्त, जिसकी राजधानी चुंगकिंग थी, (२) दक्षिण-पूर्वी चीन के क्वांग्सी प्रान्त का कुछ भाग, (३) फार्मूसा द्वीप, और (४) हैनान द्वीप। ये चार प्रदेश जहां कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता में थे, वहां पश्चिमी चीन के अनेक प्रदेशों पर एक बार फिर विविध सिपहसालारों ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। चीन के गृहकलह की दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि विविध शक्तिशाली सेनापति अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र शासकों के समान आचरण करने लगें। इस दशा में कम्युनिस्ट सरकार के सम्मुख मुख्य कार्य यह था, कि इन सब प्रदेशों को जीतकर सम्पूर्ण चीन में राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जाय। इस कार्य में उसे विशेष कठिनता का सामना नहीं करना पड़ा। १९४९ के अन्त से पूर्व ही कम्युनिस्ट सेनाओं ने आभ्यन्तर मंगोलिया के निन्गिसआ प्रदेश को जीत लिया, और मार्च, १९५० तक उन्होंने सब स्वतन्त्र सिपहसालारों को परास्त कर अपने अधीन कर लिया। इसी प्रकार कम्युनिस्ट सेनाओं ने श्जेचुआन और क्वांग्सी में विद्यमान कुओमिन्तांग सेनाओं के विरुद्ध भी संघर्ष को जारी रखा। मार्च, १९५० तक यह स्थिति आ गई थी, कि कुओमिन्तांग दल का प्रभुत्व केवल फार्मूसा और हैनान के द्वीपों तक ही सीमित रह गया था। चीन के विशाल प्रदेशों में कोई भी ऐसा नहीं रहा था, जो चियांग काई शेक या उसके कुओमिन्तांग दल के अधिकार में हो। बाद में हैनान पर भी कम्यु-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निस्ट सेनाओं ने कब्जा कर लिया। इस समय केवल फार्मूसा द्वीप ही एकमात्र ऐसा महत्त्वपूर्ण प्रदेश है, जो चियांग काई शेक या कुओमिन्तांग दल के आधिपत्य में है। चीन में राष्ट्रीय एकता को स्थापित करने के कार्य में कम्युनिस्ट दल को असाधारण रूप से सफलता प्राप्त हुई है।

सम्पूर्ण चीन को अपने अधिकार में लाकर कम्युनिस्ट लोगों ने वहां किस ढंग की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था स्थापित की, इस महत्त्वपूर्ण विषय पर हम इस ग्रन्थ के उनतीसवें अध्याय में प्रकाश डालेंगे। पर यहां यह उपयोगी होगा कि हम कम्युनिस्ट दल की सफलता के कारणों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालें। जापान की पराजय के बाद जो चीन की राजशक्ति कम्युनिस्ट लोगों के हाथों में आ गई, उसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(१) कम्युनिस्ट लोगों में उग्र देशभक्ति और राष्ट्रीय भावना विद्यमान थी। चीन में जापान का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ रहा था, वे उसके प्रबल विरोधी थे। वे चाहते थे, कि चीन के सब राजनीतिक दल आपस के मतभेदों को भुलाकर सम्मिलित रूप से जापान का मुकाबिला करें। इस कारण चीन की जनता भी उनके पक्ष में थी। चियांग काई शेक और उसके साथी जापान के विरुद्ध युद्ध की तुलना में चीन में अपनी स्थिति को मजबूत बनाने को अधिक महत्त्व देते थे। इसीलिए वे पाश्चात्य देशों से प्राप्त होने वाली सहायता का उपयोग जापान के विरुद्ध न करके कम्युनिस्टों के खिलाफ करते थे। चीन की जनता इस बात को पसन्द नहीं करती थी। (२) महायुद्ध के समय जो प्रदेश येनान की कम्युनिस्ट सरकार के हाथों में थे, उनकी आर्थिक और राजनीतिक अवस्था बहुत सन्तोषजनक थी। कम्युनिस्ट लोग इन प्रदेशों का युद्ध के लिए शोषण न करके इनकी उन्नति में संलग्न थे। इसके विपरीत चुंगकिंग की कुओमिन्तांग सरकार द्वारा शासित प्रदेशों की आर्थिक दशा बहुत ही अस्त-व्यस्त थी। कीमतें वहां इतनी अधिक बढ़ गई थीं, कि सर्वसाधारण जनता के लिए अपना निर्वाह भी कर सकना असम्भव हो गया था। (३) कम्युनिस्ट सरकार का जनता के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था। वह अपनी शक्ति के लिए जनता की सद्भावना व सहयोग पर निर्भर करती थी। इसके विपरीत कुओमिन्तांग दल के नेता सर्वसाधारण जनता की सर्वथा उपेक्षा कर अपने वैयक्तिक उत्कर्ष के लिये तत्पर थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पच्चीसवां अध्याय

दक्षिण-पूर्वी एशिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये संघर्ष

(१) इन्डोचायना

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के लिए गत महायुद्ध (१९३९-४५) एक वरदान के समान था। इन्डोचायना, मलाया, इन्डोनीसिया, बरमा, फिलिप्पीन आदि जो देश सुदीर्घ समय से पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार थे, जापान की विजयों के कारण उन्हें स्वतन्त्र होने का सुवर्णीय अवसर प्राप्त हो गया था। जापान ने इन देशों में कुछ समय के लिए अपना सैनिक शासन स्थापित किया, पर बाद में इनमें ऐसी स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकारें कायम हो गईं, जो पाश्चात्य देशों के विरुद्ध जापान के साथ सहयोग करने को तैयार थीं। महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण इन देशों में जापानी सेनाएं स्थापित थीं, और इनके शासन पर जापान का पर्याप्त प्रभाव था। पर एक बार पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो जाने के कारण इन देशों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की जो भावना अत्यन्त उग्र रूप से विकसित हो गई थी, उसे कुचल सकना न जापान के लिए सम्भव था, और न पाश्चात्य देशों के लिए। महायुद्ध के अवसर पर युद्ध की परिस्थितियों से विवश होकर जब जापान ने इन देशों में अपने प्रभाव को अधिक व्यापक करने का प्रयत्न किया, तो वहां ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जिन्होंने जापान का विरोध करने के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति को लगा दिया। जापान की पराजय के बाद ये देश जब एक बार फिर पाश्चात्य दशों की सेनाओं के अधिकार में आ गये, तो इन्हीं राष्ट्रवादी देशभक्तों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद का मुकाबिला करने के लिए असाधारण तत्परता प्रदर्शित की। एशिया के आधुनिक इतिहास में दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों का राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संघर्ष अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अध्याय में हम इसी संघर्ष के वृतान्त का संक्षिप्त रूप से उल्लेख करेंगे।

महायुद्ध में इण्डो-चायना की स्थिति—फ्रांस ने किस प्रकार इण्डोचायना पर अपना आधिपत्य स्थापित किया, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके है। इण्डोचायना फ्रांस के उसी प्रकार अधीन था, जैसे कि भारत और बरमा ब्रिटेन के। जून, १९४० में फ्रांस जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था, और पेरिस नाजी सेनाओं के कब्जे में आ गया था। फ्रांस में कतिपय ऐसे राजनीतिक नेता विद्यमान थे, जो दिल से नाजी विचारधारा के साथ सहानुभूति रखते थे। उनकी दृष्टि में नाजीज्म की अपेक्षा कम्युनिज्म अधिक खतरनाक था, और उन्हें कम्युनिज्म के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबिला करने का सर्वोत्तम उपाय यही समझ पड़ता था, कि नाजी जर्मनी के साथ समझौता कर लिया जाए। मार्शल पेतां और श्री लवाल इनके प्रधान नेता थे। इन्होंने फ्रांस में एक नई सरकार का संगठन किया, और विशी को उसकी राजधानी बनाया। फ्रांस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की इस नई सरकार ने २१ जून, १९४० को हिटलर के प्रतिनिधियों से सन्धि कर ली। इस सन्धि के अनुसार फ्रांस को दो भागों में विभक्त किया गया, जर्मनी द्वारा अधिकृत फ्रांस और स्वाधीन (विशी सरकार के अधीन) फ्रांस। सम्पूर्ण उत्तरी फ्रांस, जिसमें पेरिस भी सम्मिलित था, जर्मनी के अधिकार में रहा। दक्षिणी फ्रांस पर मार्शल पेतां की सरकार स्वतन्त्र रूप से शासन करती रही। २१ जून, १९४० की सन्धि के अनुसार विशी सरकार ने यह भी स्वीकार किया, कि फ्रांस के पास जो कुछ भी युद्ध-सामग्री शेष है, वह सब जर्मनी के सुपुर्द कर दी जाय। यद्यपि फ्रांस जर्मनी के अधिकार में आ गया था, पर उसका विशाल साम्राज्य अभी जर्मनी की पहुंच से बहुत दूर था। जो फ्रेंच लोग मार्शल पेतां की नीति से असन्तुष्ट थे, उनका नेता जनरल द गॉल था। ये लोग ब्रिटेन में एकत्र हुए, और वहां उन्होंने आजाद फ्रेंच सरकार का संगठन किया। द गॉल ने यत्न किया, कि फ्रांस के विशाल साम्राज्य के विविध प्रदेश आजाद फ्रेंच सरकार का साथ दें। पर मार्शल पेतां की सरकार यह नहीं चाहती थी। उसका विचार था, कि अब फ्रेंच लोगों को महायुद्ध में पूर्णतया तटस्थ रहना चाहिए, और जर्मनी के साथ जो सन्धि हुई है, उसका अविकल रूप से पालन करना चाहिए। इण्डो-चायना के गवर्नर-जनरल श्री कार्तू ने जनरल द गॉल का साथ देने का फैसला किया। इस पर विशी सरकार ने उसे पदच्युत कर दिया, और श्री देकू को इण्डो-चायना का नया गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया।

श्री देकू को यह भय नहीं था, कि जर्मन जलसेना इण्डोचायना पर आक्रमण कर उसे अपने अधीन कर सकेगी। पर जापान महायुद्ध में जर्मनी और इटली के साथ सहानुभूति रखता था। यद्यपि अभी जापान महायुद्ध में तटस्थ था, पर उसकी आंख इण्डोचायना पर थी, और वह उसे अपने प्रभुत्व में ले आने के लिए उत्सुक था। ब्रिटेन और अमेरिका इण्डोचायना के मार्ग से चियांग् काई शेक की चुंगकिंग सरकार को सहायता पहुंचाने में तत्पर थे, और यह बात जापान को किसी भी प्रकार सह्य नहीं थी। जापान चुंगकिंग सरकार का अन्त कर सम्पूर्ण चीन को एक ऐसी सरकार की अधीनता में ले आना चाहता था, जो जापान को अपना संरक्षक, मित्र एवं सहयोगी समझे। अतः उसने फ्रांस के पतन का उपयोग चुंगकिंग की सरकार का प्रतिरोध करने के लिए किया, और ३० अगस्त, १९४० को श्री देकू के साथ एक समझौता किया, जिसके अनुसार (१) इण्डोचायना की फ्रेंच सरकार ने जापान को यह अनुमति प्रदान की, कि वह अपनी सेनाएं तोन्किन के प्रदेश में रख सके, और (२) जापान इण्डोचायना को सैन्य-संचालन के लिए आधार के रूप में प्रयुक्त कर सके। इस समझौते का उद्देश्य यह था, कि ब्रिटेन और अमेरिका इण्डोचायना के मार्ग से चुंगकिंग सरकार को सहायता न पहुंचा सकें, और जापान इस देश का चीन के विरुद्ध युद्ध के लिए उपयोग कर सके।

३० अगस्त, १९४० के समझौते से लाभ उठाकर जापान ने अपनी सेनाएं इन्डोचायना में भेजनी प्रारम्भ कर दीं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के सम्बन्ध में जापान की जो नीति थी, उसके अनुसार वह इस भूखण्ड से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त कर देना चाहता था, और वहां ऐसी सरकारें कायम करना चाहता था, जो जापान के प्रभाव में हों। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जापान यह आवश्यक समझता था, कि इन्डो-चायना में अपनी इतनी अधिक सेनाएं भेज दी जाएं, जो उपयुक्त अवसर उपस्थित होने पर सियाम (थाइलैंड), मलाया, बरमा आदि पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर सकें। इसी कारण १९४० का अन्त होने से पूर्व ही बहुत-सी जापानी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेनाएं इण्डोचायना पहुंच गईं, और वहां की फ्रेन्च सरकार जापान के सम्मुख सर्वथा असहाय हो गई। यद्यपि इस समय इण्डोचायना में फ्रांस का राजनीतिक प्रभुत्व विद्यमान था, पर श्री देकू की सरकार जापान का किसी भी प्रकार विरोध कर सकने में सर्वथा असमर्थ थी। पर यह नहीं समझना चाहिए, कि इण्डोचायना में ऐसे फ्रेंच लोगों का सर्वथा अभाव था, जो इस समय जापान के सैनिक प्रभुत्व का प्रतिरोध करने में तत्पर हों। बहुत-से फ्रेंच नागरिक देकू की नीति से असन्तुष्ट थे, और इस प्रकार के गुरीला युद्ध में संलग्न थे, जिसका प्रयोजन इण्डोचायना में विद्यमान जापानी सेनाओं को नुकसान पहुंचाना था।

राष्ट्रीय आन्दोलन का विकास—महायुद्ध (१९३९—४५) के प्रारम्भ से पूर्व भी इन्डोचायना में राष्ट्रीय स्वाधीनता का आन्दोलन विद्यमान था। यद्यपि इन्डोचायना के सब निवासी जाति, नसल, भाषा, संस्कृति आदि की दृष्टि से एक नहीं थे, पर उन सब में फ्रांस के शासन के विरुद्ध भावना और राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा समान रूप से विद्यमान थी। इण्डो-चायना में जो अनेक दल स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील थे, उन्हें हम निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं (१) फाम-पुइन्हो दल – यह इन्डोचायना का नरम दल था, जो फ्रांस के साथ सम्बन्ध कायम रखते हुए शासन-सुधार से सन्तुष्ट था। इस दल के लोग चाहते थे, कि इन्डोचायना फ्रांस के साम्राज्य के अन्तर्गत रहे, पर धीरे-धीरे देश के शासन में इस प्रकार के सुधार कर दिये जाएं, जिनसे इण्डोचाइनीज लोगों को शासन में हाथ बटाने का अवसर प्राप्त हो सके (२) क्रान्तिकारी दल—इसमें अनाम के नवयुवक देशभक्त सम्मिलित थे। ये अपने देश को फ्रांस की अधीनता से मुक्त करके पूर्ण स्वराज्य की स्थापना के पक्षपाती थे। १९२८ तक इस दल में कम्युनिस्ट लोग भी शामिल रहे। पर बाद में कम्युनिस्टों का राष्ट्रीय क्रान्तिकारी दल से मतभेद हो गया और उन्होंने अपना पृथक् दल संगठित कर लिया। (३) आतंकवादी दल—इस दल के लोग फ्रेंच शासन का अन्त करने के लिए आतंकवादी उपायों का अवलम्बन करने के पक्षपाती थे, और इन्डोचायना के बाहर कैन्टन (चीन में) को अपना आश्रयस्थान बना कर अपने कार्य में तत्पर थे।

महायुद्ध के समय ये दल अपने-अपने ढंग से इण्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील रहे। क्रान्तिकारी दल के सदस्य और विशेषतया कम्युनिस्ट लोग महायुद्ध को अपने देश की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए एक सुवर्णीय अवसर समझते थे, और इसी कारण उन्होंने गुप्त उपायों से देकू की सरकार का प्रतिरोध करना प्रारम्भ कर दिया था। इन लोगों ने अनेक गुप्त समितियां संगठित कर ली थीं, जो फ्रेंच शासन और जापान के सैनिक प्रभुत्व का समान रूप से प्रतिरोध कर रही थीं। इन क्रान्तिकारियों ने गुरीला युद्ध-नीति का अनुसरण कर फ्रांस और जापान के आफिसरों पर आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये थे, और विदेशी शक्तियों के कार्य को कठिन बना दिया था। महायुद्ध के समय में इन लोगों के लिए यह तो सम्भव नहीं था, कि ये खुले तौर पर मैदान में आकर स्पष्ट रूप से फ्रांस या जापान की शक्ति का मुकाबिला कर सकें, पर गुरीला पद्धति का अनुसरण कर ये अपने देश को स्वतन्त्र कराने में तत्पर थे।

विएत-मिन्ह सरकार की स्थापना—मार्च, १९४५ में महायुद्ध की परिस्थिति ऐसी हो गई थी, कि जापान के लिए अपने विशाल साम्राज्य और प्रभाव-क्षेत्रों को संभाल सकना सम्भव नहीं रहा था। जर्मनी देर तक मित्र-राज्यों का मुकाबिला करता रह सकेगा, इसकी भी कोई आशा नहीं रह गई थी। अगस्त, १९४४ में फ्रांस जर्मनी के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधिपत्य से स्वतन्त्र हो गया था, और जनरल द गॉल के नेतृत्व में वहां फ्रांस की सरकार का पुनःसंगठन कर लिया गया था। मार्शल पेतां की विशी सरकार का पतन हो गया था, और इन्डोचायना में श्री देकू की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई थी। इस दशा में जब १९४५ में जापान ने अपनी सेनाओं को धीरे-धीरे दक्षिण-पूर्वी एशिया से हटाना शुरू किया, तो मार्च मास में इन्डोचायना से भी उसने अपनी सेनाएं वापस बुला लीं। जापान की सेनाओं के वापस चले जाने पर श्री देकू के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह इण्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व को कायम रख सके। इस दशा में राष्ट्रवादी देश-भक्तों ने इण्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, और विएत-मिन्ह नाम से अपनी स्वतन्त्र सरकार का संगठन कर लिया। इस सरकार के नेता डॉ० हो ची मिन्ह थे, जो कट्टर राष्ट्रवादी होने के साथ-साथ कम्युनिज्म के भी समर्थक थे। हो ची मिन्ह के क्रान्तिकारी अनुयायी देर से इन्डोचायना की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्न-शील थे, और महायुद्ध की परिस्थितियों से लाभ उठाकर और गुरीला युद्ध पद्धति का अनुसरण कर फ्रेञ्च आधिपत्य का प्रतिरोध करने में तत्पर थे। अगस्त, १९४५ में जब जापान ने आत्मसमर्पण कर दिया, तो हो ची मिन्ह और उनके क्रान्तिकारी अनुयायियों को अपनी मनोकामना की पूर्ति का सुअवसर मिला। उन्होंने अनाम के राजा या सम्राट् बाओ दाई की सत्ता की सर्वथा उपेक्षा कर इन्डो-चायना में 'विएत-नाम' नाम से रिपब्लिकन राज्य की घोषणा कर दी, और अपने को फ्रेंच आधिपत्य से पूर्ण रूप से मुक्त कर लिया। हम इस पुस्तक में पहले लिख चुके हैं, कि इण्डोचायना अनेक राज्यों व प्रदेशों में विभक्त था। इनमें से कम्बोडिया, लाओस और अनाम में प्राचीन राजवंशों का शासन था। फ्रेन्च आधिपत्य में इन राज्यों के राजाओं की वही स्थिति थी, जो भारत के ब्रिटिश शासकों की अधीनता में ग्वालियर, रामपुर आदि रियासतों के राजाओं की थी। अनाम के राजा को 'सम्राट्' कहा जाता था, यद्यपि वह इण्डोचायना के फ्रेंच गवर्नर-जनरल के हाथों में कठपुतली मात्र ही था। इस समय अनाम का सम्राट् बाओ दाई था। पर जब हो ची मिन्ह के नेतृत्व में विएत-नाम रिपब्लिक की स्थापना हो गई, तो सम्राट् बाओ दाई के लिए अपने पद पर कायम रह सकना सम्भव नहीं रहा। २५ अगस्त, १९४५ को उसने सम्राट् पद का परित्याग कर दिया, और २ सितम्बर, १९४५ को विएत-नाम रिपब्लिक का शासन सम्पूर्ण अनाम पर वैध एवं व्यवस्थित रूप से स्थापित हो गया।

इन्डो-चायना के सम्बन्ध में फ्रांस की नीति—पर फ्रांस के लिए यह सम्भव नहीं था, कि इन्डो-चायना के अपने साम्राज्य को वह इस ढंग से अपनी अधीनता से मुक्त हो लेने दे। यद्यपि महायुद्ध के समय मित्रराज्य डंके की चोट के साथ यह उद्घोषित किया करते थे, कि ये मानव स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के लिए नाजी तथा फैसिस्ट शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं, पर महायुद्ध में विजयी हो जाने के बाद उन्होंने अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को ताक में रख दिया था। ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड और अमेरिका दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने खोये हुए साम्राज्यों की पुनःस्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। फ्रांस ने इन्डोचायना के सम्बन्ध में जिस नीति का निर्धारण किया था, उसके मुख्य तत्त्व निम्न-लिखित थे—(१) फ्रांस के विशाल साम्राज्य को एक यूनियन के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जिसमें फ्रांस के अतिरिक्त उसके अधीनस्थ देश भी अन्तर्गत हों। (२) इन्डो-चायना भी इस फ्रेंच यूनियन का एक अंग हो। (३) इन्डो-चायना के विविध संरक्षित राज्यों और कोचीन-चायना को मिलाकर एक संवर्ग (फिडरेशन) बनाया जाय, और इस फिडरेशन में राजकीय पदों को प्राप्त करने का इन्डो-चायना के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर प्रदान किया जाय। (४) इन्डो-चायनीज फिडरेशन की परराष्ट्र-नीति और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेना का संचालन फ्रेञ्च सरकार के हाथों में रहे। राज्य के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में इन्डो-चाइनीज फिडरेशन को स्वतन्त्रता प्राप्त हो। (५) फ्रेन्च यूनियन में सर्वत्र सरकारी नौकरी प्राप्त करने का यूनियन के सब नागरिकों को समान रूप से अवसर हो।

फ्रेन्च यूनियन की यह योजना ब्रिटिश कामनवेल्थ की योजना से अनेक अंशों में मिलती थी। महायुद्ध के बाद फ्रांस के लिए यह संभव नहीं रहा था, कि वह अपने साम्राज्य के अन्तर्गत इन्डो-चायना आदि देशों पर पहले के समान अपना आधिपत्य स्थापित रख सके। अतः उसने फ्रेञ्च यूनियन की योजना तैयार की थी, जिसके द्वारा इन्डो-चायना आदि देशों को अपने आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती थी। पर विदेशी मामलों और सेना पर उनका नियन्त्रण नहीं होता था। यह सम्भव नहीं था, कि इन्डो-चायना के राष्ट्रवादी नेता फ्रेन्च यूनियन की इस योजना को स्वीकृत कर सकते। वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। उनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की भावना इस हद तक विकसित हो चुकी थी, कि वे फ्रांस के आधिपत्य को आंशिक रूप से भी स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थे।

फ्रांस के आधिपत्य की पुनःस्थापना—मार्च, १९४५ में जापानी सेनाएं इन्डो-चायना को छोड़कर चली गई थीं। यदि इसके बाद फ्रेन्च सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में तुरन्त इन्डो-चायना पहुंच जातीं, तो फ्रांस के लिए यह सम्भव होता, कि वह एक बार फिर इस देश पर पहले के समान अपने आधिपत्य को स्थापित कर सके। पर अभी महायुद्ध की परिस्थितियाँ ऐसी नहीं थीं, कि फ्रेन्च सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में सुदूर पूर्व में पहुंच सकतीं। अगस्त, १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण कर देने पर इन्डो-चायना पर अधिकार स्थापित करने का कार्य मित्रराज्यों की ओर से ब्रिटेन और चीन के सुपुर्द किया गया। यह व्यवस्था की गई, कि ब्रिटिश सेनाएं दक्षिणी इन्डो-चायना पर और चीनी सेनाएं उत्तरी इन्डो-चायना पर कब्जा कर लें, ताकि सर्वत्र व्यवस्था स्थापित की जा सके। पर मार्च और अगस्त के बीच के महीनों में इन्डो-चायना में कोई भी ऐसी राजशक्ति नहीं थी, जो हो ची मिन्ह की विएत-नाम सरकार का मुकाबिला कर सकती। परिणाम यह हुआ, कि इस काल में हो चो मिन्ह के दल ने अनाम में अपनी स्थिति को बहुत मजबूत कर लिया। अगस्त, १९४५ तक न केवल अनाम अपितु तोन्किन और कोचीन-चायना भी हो ची मिन्ह की अधीनता में आ गये थे।

ब्रिटिश सेनाओं ने सबसे पूर्व सैगोन पर अपना कब्जा कायम किया। इससे पूर्व सैगोन विएत-नाम सरकार के अधीन था। ब्रिटिश सेनाओं ने सैगोन पर तो अपना अधिकार कायम कर लिया, पर उनके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे इन्डो-चायना में और अधिक आगे बढ़ सकें, क्योंकि विएत-नाम सरकार की सेनाएं उनका मुकाबिला करने के लिए तत्पर थीं। ब्रिटिश सेनाओं ने इसके लिए विशेष प्रयत्न भी नहीं किया। सैगोन को अपने कब्जे में करके उन्होंने उसे फ्रांस के सुपुर्द कर दिया, और अब इन्डो-चायना के अन्य प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व की पुनःस्थापना का कार्य फ्रांस की सेनाओं के हाथों में आ गया। १९४६ के शुरू तक फ्रेन्च सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में सैगोन पहुंच गई थीं, और फ्रेन्च सरकार स्वाभाविक रूप से इस प्रयत्न में लगी थी, कि इन्डो-चायना पर फिर से अपने आधिपत्य को स्थापित कर ले। फ्रेन्च लोगों ने यत्न किया, कि विएतनाम सरकार के नेताओं को फ्रेञ्च यूनियन की योजना को स्वीकृत कर लेने के लिए तैयार करें। पर अपने इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं हुई। अब फ्रांस के सम्मुख केवल यही मार्ग अवशिष्ट था, कि वह विएत-नाम सरकार को सैन्य शक्ति द्वारा परास्त करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विएत-नाम और फ्रांस—उत्तरी इन्डो-चायना में जापान के प्रभाव का अन्त कर व्यवस्था स्थापित करने का कार्य चीनी सरकार के सुपुर्द किया गया था। चीनी लोगों ने यह यत्न नहीं किया, कि वे विएत-नाम सरकार के खिलाफ संघर्ष करें या उसके शासन-कार्य में किसी प्रकार से हस्तक्षेप करें। अतः उत्तरी इन्डो-चायना में विएत-नाम सरकार की सत्ता अक्षुण्ण रूप से कायम रही। पर फ्रांस इस बात के लिये उत्सुक था, कि जिस प्रकार सैगोन में उसकी सेनाएं प्रविष्ट हो गई हैं, वैसे ही उत्तरी इन्डो-चायना में भी प्रविष्ट हो जाएं और चीनी सेनाओं का स्थान फ्रेन्च सेनाएं ले लें। पर यह बात तभी सम्भव थी, जब कि या तो फ्रांस विएत-नाम सरकार के विरुद्ध युद्ध करे, और या किसी प्रकार के समझौते द्वारा विएत-नाम सरकार को इसके लिये राजी कर ले। ६ मार्च, १९४६ को फ्रांस ने विएत-नाम सरकार के साथ एक समझौता किया, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) फ्रांस यह स्वीकार करता है, कि विएत-नाम रिपब्लिक की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य की है, और उसे यह अधिकार है, कि वह अपनी पृथक् सरकार, पृथक् पार्लियामेंट और पृथक् सेना रख सके। (२) विएत-नाम रिपब्लिक इन्डो-चाइनीज फिडरेशन के अन्तर्गत रहेगी, और इन्डो-चाइनीज फिडरेशन फ्रेञ्च यूनियन का अंग बनकर रहेगा। (३) विएत-नाम रिपब्लिक का शासन किन-किन प्रदेशों में हो, यह बात लोकमत (रिफरेन्डम) द्वारा निश्चित की जायगी। (४) फ्रेन्च सेनाएं तोन्किन में प्रवेश कर सकेंगी। (५) इस समझौते के बाद जब फ्रांस और विएत-नाम रिपब्लिक के पारस्परिक सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण हो जायें, तो परस्पर बातचीत द्वारा इस बात का निर्णय किया जाय, कि विएत-नाम का अन्य विदेशी राज्यों के साथ क्या और किस प्रकार का सम्बन्ध रहे।

६ मार्च, १९४६ का यह समझौता हनोई समझौते के नाम से प्रसिद्ध है, और इन्डो-चायना के आधुनिक इतिहास में इसका बहुत अधिक महत्त्व है। यद्यपि विएत-नाम सरकार के नेता पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे और अपने देश पर किसी प्रकार के फ्रेंच प्रभुत्व को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थे, पर समय की परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर उन्होंने यही उचित समझा, कि वे फ्रांस के साथ समझौता कर लें, और फ्रेन्च यूनियन के अन्तर्गत रहते हुए अपने देश की उन्नति के लिए प्रयत्नशील हों। हनोई समझौते के परिणामस्वरूप फ्रेन्च सेनाएं तोन्किन में प्रविष्ट हो गईं, और हनोई नगर में उन्होंने अपनी छावनी डाल दी। अब दक्षिण में सैगोन पर और उत्तर में हनोई पर फ्रेन्च सेनाओं ने अपना कब्जा कर लिया था, पर इनके बीच का सब प्रदेश विएत-नाम सरकार के शासन में था।

पर ६ मार्च, १९४६ का यह समझौता देर तक कायम नहीं रह सका। जिन प्रश्नों पर फ्रेन्च और विएत-नाम सरकारों में परस्पर मतभेद उत्पन्न हुआ, वे निम्नलिखित थे—(१) सैगोन में फ्रेन्च सेनाओं की सत्ता के कारण फ्रांस ने कोचीन-चायना में एक पृथक् सरकार की स्थापना कर दी थी, जो विएत-नाम रिपब्लिक की अधीनता में नहीं थी। कोचीन-चायना विएत-नाम रिपब्लिक के अन्तर्गत हो या नहीं, इसका निर्णय रिफरेन्डम द्वारा किया जाना चाहिये था। पर फ्रांस ने अपनी सैन्य-शक्ति के जोर पर इस प्रदेश में एक पृथक् सरकार का निर्माण कर लिया था, जिसे विएत-नाम की सरकार स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थी। (२) फ्रेन्च लोग समझते थे, कि इन्डो-चायना में जिस फिडरेशन का निर्माण किया जाना है, उसका अध्यक्ष फ्रांस द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर होगा, जो कि फिडरेशन के अन्तर्गत सब राज्यों पर अपना नियन्त्रण रखेगा। इसके विपरीत विएत-नाम रिपब्लिक के नेताओं का यह विचार था, कि इन्डो-चाइनीज फिडरेशन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अन्तर्गत सब राज्यों की स्थिति स्वतन्त्र राज्यों के सदृश होगी, और वे केवल आर्थिक क्षेत्र में सहयोग करने के उद्देश्य से ही फिडरेशन में सम्मिलित होंगे।

इन मतभेदों को दूर करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये। १९४६ में कई बार फ्रांस और विएत-नाम रिपब्लिक के प्रतिनिधियों की सम्मिलित कान्फरेन्सें हुईं। पर ये मतभेद दूर नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ, कि हनोई समझौता भंग हो गया, और फ्रांस और विएत-नाम रिपब्लिक में युद्ध का सूत्रपात हुआ। विएत-नाम सरकार के नेताओं की सैन्य-शक्ति इतनी नहीं थी, कि वे फ्रेन्च सेनाओं का सम्मुख-युद्ध में मुकाबिला कर सकते। १९४६ में बहुत-सी फ्रेन्च सेनाएं सैगोन और हनोई पहुंच गई थीं। इन सेनाओं को परास्त कर सम्पूर्ण तोन्किन, अनाम और कोचीन-चायना में अपने प्रभुत्व की स्थापना कर सकना विएत-नाम सरकार के लिये सुगम नहीं था। पर विएत-नाम में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना इतनी अधिक प्रबल थी, कि फ्रांस के लिए उसे दबा सकना भी सम्भव नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि हो ची मिन्ह और उसके साथियों ने गुरीला युद्ध-नीति का आश्रय लिया, और फ्रेन्च सेनाओं के कार्य को बहुत अधिक कठिन बना दिया। फ्रांस और विएत-नाम रिपब्लिक का यह युद्ध दिसम्बर, १९४६ में शुरू हो गया था।

बाओ दाई की सरकार—हो ची मिन्ह के विरुद्ध युद्ध शुरू हो जाने पर फ्रेञ्च सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि इन्डो-चायना में एक ऐसी सरकार कायम कर दी जाय, जो उसके हाथों में कठपुतली के समान हो। महायुद्ध के बाद संसार में सर्वत्र राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां जिस-ढंग से प्रबल हो गयी थीं, उसके कारण फ्रांस के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि सम्पूर्ण इन्डोचायना पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सके। अतः उसने यह निश्चय किया, कि इन्डो-चायना में एक ऐसी सरकार कायम कर दी जाय, जो कम्युनिज्म की विरोधी हो और जो फ्रांस के आदेशों का अनुसरण करती हुई हो ची मिन्ह के विरुद्ध युद्ध को जारी रखने का कार्य कर सके। हम इसी प्रकरण में ऊपर लिख चुके हैं, कि २५ अगस्त, १९४५ को अनाम के सम्राट् बाओ दाई ने अपने राजसिंहासन का परित्याग कर दिया था, क्योंकि विएत-नाम रिपब्लिक की स्थापना हो जाने के कारण उसके लिये अपने पद पर रह सकना सम्भव नहीं रह गया था। इन्डो-चायना को छोड़कर बाओ दाई यूरोप चला गया था, और लण्डन में अपना समय व्यतीत कर रहा था। दिसम्बर, १९४७ में ब्रिटेन में स्थित फ्रेन्च राजदूत की बाओ दाई के साथ मुलाकात हुई। वहां उसके सम्मुख यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया, कि वह अपने देश को वापस जाकर उसके शासन को फिर से संभाल ले। इन्डो-चायना में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो हो ची मिन्ह की समाजवादी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। फ्रांस को आशा थी, कि ये सब कम्युनिस्ट-विरोधी लोग बाओ दाई का समर्थन करेंगे, और उनकी सहायता से वह एक ऐसी सरकार का निर्माण कर सकने में समर्थ हो सकेगा, जो विएत-मिन्ह दल की विरोधी होगी। फ्रेन्च सेनाओं की सहायता से बाओ दाई की सरकार विएत-नाम रिपब्लिक को परास्त कर सकेगी, और इन्डो-चायना में एक ऐसा शासन स्थापित हो जायगा, जो न केवल कम्युनिज्म को विरोधी होगा, अपितु साथ ही फ्रांस का वशवर्ती भी होगा।

मार्च, १९४९ में फ्रांस के राष्ट्रपति श्री ऑरयोल और बाओ दाई में इन्डो-चायना के सम्बन्ध में बाकायदा सन्धि हो गई। इस सन्धि के अनुसार इण्डो-चायना के शासन का अधिकार फ्रांस ने बाओ दाई के सुपुर्द कर दिया। यद्यपि बाओ दाई फ्रांस की ओर से इन्डो-चायना का शासक बना दिया गया था, पर इस देश के बड़े भाग पर हो ची मिन्ह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सरकार का कब्जा था। बाओ दाई इन्डो-चायना पर अपना प्रभुत्व तभी स्थापित कर सकता था, जब कि वह विएत-नाम रिपब्लिक की सेनाओं को युद्ध में परास्त कर दे। इस कार्य में फ्रांस उसकी सहायता करने के लिये उद्यत था। एक लाख से भी अधिक फ्रेन्च सैनिक बाओ दाई की सहायता के लिये इण्डो-चायना भेज दिये गये। ये सैनिक सब प्रकार के आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थे, और हो ची मिन्ह की सरकार के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह उनका सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सकती। फिर भी हो ची मिन्ह और बाओ दाई की सेनाओं में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस, कम्युनिस्ट चीन आदि अनेक देशों ने हो ची मिन्ह की सरकार को इन्डो-चायना की वैध सरकार के रूप में स्वीकृत किया, और अमेरिका, फ्रांस तथा ब्रिटेन आदि ने बाओ दाई की सरकार को। शुरू में हो ची मिन्ह की विएत-नाम सरकार पूर्णरूप से कम्युनिस्ट नहीं थी। उसका उद्देश्य इन्डो-चायना में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करना ही था। पर फ्रांस, ब्रिटेन, अमेरिका आदि के विरोध के कारण और बाओ दाई के नेतृत्व में एक विरोधी सरकार की स्थापना हो जाने से इन्डो-चायना में जो लोग कम्युनिज्म के पक्षपाती थे, वे हो ची मिन्ह की सरकार का समर्थन करने लगे, और कम्युनिज्म के विरोधी इन्डो-चाइनीज लोग बाओ दाई की सरकार के पक्ष में हो गये। इस प्रकार इन्डो-चायना में भी कम्युनिज्म और पूंजीवादी प्रवृत्तियों में उसी प्रकार के संघर्ष का प्रारम्भ हुआ, जैसा कि इस समय संसार के बहुत-से देशों में जारी था।

(२) थाईलैण्ड

महायुद्ध से पूर्व दक्षिण-पूर्वी एशिया में सियाम या थाईलैण्ड ही एक ऐसा राज्यथा, जो राजनीतिक दृष्टि से किसी पाश्चात्य देश के अधीन नहीं था। बरमा (ब्रिटेन के अधीन) और इन्डो-चायना (फ्रांस के अधीन) के बीच में उसकी स्थिति प्राय: वैसी ही थी, जैसी कि भारत और रूस के बीच में अफगानिस्तान की थी। सियाम के राजनीतिक इतिहास पर हम अठारहवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। १९३० के बाद जापान जिस प्रकार पूर्वी एशिया में अपनी शक्ति के विस्तार में तत्पर था, सियाम के लोग उससे भलीभांति परिचित थे। मंचूरिया से चीन के शासन का अन्त कर जापान ने वहाँ मंचूकुओ नामक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की थी। बाद में द्वितीय चीन-जापान युद्ध के परिणामस्वरूप जापान ने पूर्वी और दक्षिणी चीन पर भी अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इन बातों को देखकर सियाम के राजनीतिक नेताओं का यह विश्वास दृढ़ हो गया था, कि जापान का भविष्य बहुत उज्ज्वल है, और वह समय दूर नहीं है जब कि जापान सम्पूर्ण पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया का नेतृत्व करेगा और पाश्चात्य देश उसकी शक्ति के सम्मुख खड़े नहीं रह सकेंगे। इसी कारण सियाम की सरकार जापान के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उत्सुक थी। १९३२ में जब मंचूरिया के प्रश्न पर राष्ट्र-संघ में जापान के विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित किया गया, तो सियाम इस प्रस्ताव पर उदासीन रहा। मई, १९३८ में सियाम और जापान ने परस्पर मिलकर एक सन्धि की, जिसके अनुसार जापानी नागरिकों को सियाम में व्यापार करने, कारोबार खोलने, मकान और जमीन को किराये पर लेने, जायदाद खरीदने व पट्टे पर लेने और बसने के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई। जून, १९४४ में सियाम ने जापान के साथ एक अन्य सन्धि की। इस सन्धि का उद्देश्य यह था, कि इन्डोचायना के वे पश्चिमी प्रदेश, जहाँ थाई लोग बहुसंख्या में निवास करते थे, अब सियाम को प्राप्त हो जाएं। जून, १९४० में फ्रांस का पतन हो गया था, और इन्डोचायना की फ्रेञ्च सरकार के साथ जापान ने समझौता कर लिया था, जिसके अनुसार जापानी सेनाएं इन्डो-चायना में प्रवेश कर गई थीं, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्रांस द्वारा शासित यह देश जापान के प्रभाव में आ गया था। फ्रांस की निर्बलता से लाभ उठाकर सियाम ने यह उपयुक्त समझा, कि इन्डो-चायना के जिन पश्चिमी प्रदेशों में थाई लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं, उन्हें अपने देश के साथ मिला लिया जाय। इसके लिए उसे सैन्यशक्ति के प्रयोग की आवश्यकता नहीं हुई। इन्डो-चायना की फ्रेन्च सरकार इस समय इस स्थिति में नहीं थी, कि वह जापान की उपेक्षा कर सकती। क्योंकि जापान सियाम का मित्र था, और यह चाहता था, कि थाई लोगों द्वारा आबाद प्रदेश सियाम को प्राप्त हो जाएं, अतः इन्डोचायना की सरकार ने इस कार्य में बाधा नहीं डाली और सियाम को अपने विस्तार का अवसर हाथ लग गया।

जापान ने थाई लोगों द्वारा आबाद प्रदेशों को इन्डोचायना से सियाम को दिलाने में सहायता की थी, अतः सियाम और जापान के पारस्परिक सम्बन्ध और भी अधिक मित्रतापूर्ण हो गये। दिसम्बर, १९४१ में जब जापान ने महायुद्ध में प्रवेश किया, तो सियाम ने भी उसका साथ दिया। २१ दिसम्बर, १९४१ को जापान और सियाम में एक नई सन्धि की गई, जिसके अनुसार सियाम ने भी ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। महायुद्ध के समय में सियाम की सरकार पूर्णरूप से जापान की वशवर्ती रही। जापान ने स्थलमार्ग द्वारा जो मलाया और बरमा पर आक्रमण किया था, उसके लिये उसकी सेनाओं ने सियाम के स्थलमार्ग का स्वच्छन्द रूप से उपयोग किया था। सियाम की सरकार ने जापान की सेनाओं को अपने प्रदेश में से गुजरने की अनुमति ही नहीं दी थी, अपितु उनकी पूर्णरूप से सहायता भी की थी। इस समय सियाम की सरकार का प्रधान नेता लुआंग पिबुल संग्राम था, जो जापान का समर्थक था। पर वहां ऐसे लोगों का भी अभाव नहीं था, जो अपने देश में जापान के प्रभाव व प्रभुत्व के विरोधी थे। महायुद्ध के अन्तिम दिनों में इन लोगों ने जापान के विरुद्ध मित्रराज्यों की सहायता भी की थी।

महायुद्ध में जब जापान परास्त हो गया, तो सियाम पर कब्जा करने का कार्य मित्रराज्यों की ओर से ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया। ब्रिटिश सेनाओं ने सियाम पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और वहां की सरकार के सम्मुख निम्नलिखित मांगें पेश कीं—(१) सियाम की सरकार पूर्णतया ब्रिटेन के नियन्त्रण में रहे। (२) सियाम का विदेशी व्यापार ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा संचालित हो। (३) जब तक कि मित्रराज्य सियाम को संयुक्त राष्ट्रसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गेनिजेशन) का सदस्य बनाना स्वीकार न करलें, सियाम की स्थिति ब्रिटेन के संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) के सदृश रहे। पर सियाम के राष्ट्रवादी नेता ब्रिटेन की इन मांगों को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान सियाम में भी महायुद्ध के समय राष्ट्रीयता की भावना अत्यन्त उग्र रूप धारण कर चुकी थी। सियाम में भी राष्ट्रवादी देशभक्तों का एक ऐसा दल विद्यमान था, जो अपने देश पर जापान के बढ़ते हुए प्रभाव को अत्यन्त अनुचित समझता था। इस दल के नेता श्री लुआंग प्रदीत थे। श्री लुआंग प्रदीत और उनके अनुयायी जब अपने देश पर जापान के प्रभाव को भी सहने के लिये तैयार नहीं थे, तो उनके लिए यह कैसे सम्भव हो सकता था, कि वे सियाम को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य बनने दें। उन्होंने ब्रिटेन का प्रचण्ड रूप से विरोध किया। आखिर, १ जनवरी, १९४६ को ब्रिटेन और सियाम में सन्धि हो गई, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ७ दिसम्बर, १९४१ को सियाम की जो सीमाएं थीं, वे ही अब भी रहें। (२) सियाम में १९४१ तक ब्रिटिश लोगों को व्यापार आदि के सम्बन्ध में जो विशेष अधिकार प्राप्त थे, उन्हें फिर से स्वीकृत किया जाय। (३) महायुद्ध के समय सियाम के कारण ब्रिटेन को जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुकसान उठाना पड़ा था, सियाम की सरकार उसकी क्षतिपूर्ति करने के लिए उपयुक्त हरजाना प्रदान करे।

श्री लुआंग प्रदीत और उनके साथियों ने भी इस सन्धि को स्वीकृत कर अपने देश को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य बनने से बचा लिया। २८ एप्रिल, १९४७ को सियाम या थाईलैण्ड संयुक्त राष्ट्र-संघ का सदस्य बना लिया गया, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी प्रायः वही स्थिति कायम रही, जो महायुद्ध से पहले थी।

महायुद्ध की समाप्ति पर सियाम के शासन में भी अनेक सुधार किये गये। अठारहवें अध्याय में हम सियाम के शासन पर प्रकाश डाल चुके हैं। वहां राजसत्ता कायम थी, यद्यपि राजा की शक्ति को मर्यादित करने के लिये पार्लियामेन्ट भी वहां विद्यमान थी। १९४६ में सियाम के लिए जो नया शासन-विधान बना, उसमें पार्लियामेन्ट में दो सभाएं रखी गईं। यह व्यवस्था की गई, कि दोनों सभाओं के सब सदस्यों की नियुक्ति निर्वाचन द्वारा की जाया करे। मन्त्रिमण्डल को भी पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी बनाया गया। राष्ट्रीय स्वाधीनता की दृष्टि से सियाम पहले भी एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य था। १९४६ के शासन-विधान के कारण वहां लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति भी बहुत कुछ चरितार्थ हो गई। पर लोकतन्त्र शासन की स्थापना के कारण सियाम की समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। महायुद्ध के कारण संसार के बहुसंख्यक देशों में जो आर्थिक संकट प्रादुर्भूत हुआ था, उसका असर सियाम पर भी पड़ा, और वहां भी अनेक ऐसे दल संगठित हुए, जो समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे।

(३) मलाया

महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन की अधीनता में मलाया की क्या दशा थी, इस विषय पर हम इस ग्रन्थ के अठारहवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता की आकांक्षा विद्यमान थी, और अनेक मलायन नेता अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील थे। जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त किया, तो मलाया में भी राष्ट्रीय आन्दोलन को बहुत बल मिला। मलाया से ब्रिटिश शासन का अन्त कर जब जापान ने वहां अपना सैनिक शासन स्थापित किया, तो मलाया के राष्ट्रभक्त लोग उसका भी विरोध करने के लिए तत्पर हो गये। हम पहले लिख चुके हैं कि मलाया में नौ राज्य थे, जिनमें वहां के पुराने वंशक्रमानुगत सुलतानों का शासन था। इन सुलतानों की ब्रिटेन की अधीनता में वही स्थिति थी, जो भारत में देशी रियासतों के राजाओं की थी। इन राज्यों के अतिरिक्त स्ट्रेट सैटलमेन्ट का राज्य सीधा ब्रिटेन के शासन में था। ब्रिटिश आधिपत्य के युग में इन दस राज्यों के निवासियों में अपने एक होने की अनुभूति भलीभांति विकसित नहीं हुई थी। पर जब जापान ने इन सब राज्यों को ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त कराके अपने सैनिक शासन में ले लिया, तो मलाया के लोगों में राष्ट्रीय एकता की अनुभूति उत्पन्न हुई और उन्होंने एक साथ मिलकर राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी जापानी लोगों ने बाद में स्वराज्य की स्थापना की, और इस देश के शासन का कार्य मलाया के लोगों के सुपुर्द कर दिया।

अगस्त, १९४५ में जापान के आत्म-समर्पण कर देने के पश्चात् सितम्बर, १९४५ में जब ब्रिटिश सेनाओं ने मलाया में प्रवेश किया, तो उन्होंने देखा कि इस देश में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी सरकार स्थापित है, जिस पर राष्ट्रवादी देशभक्तों का अधिकार है। इस स्थिति में ब्रिटिश लोगों के लिए यह बहुत सुगम नहीं था, कि वे मलाया पर पहले के समय अपना आधिपत्य स्थापित कर सकते। मलाया के देशभक्तों के लिए यह तो सम्भव नहीं था, कि वे शक्तिशाली ब्रिटिश सेनाओं का सम्मुख-युद्ध में मुकाबिला कर सकते, पर गुरीला युद्धनीति का आश्रय लेकर वे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए प्रयत्न अवश्य कर सकते थे। इस दशा में ब्रिटिश सरकार के लिए वह अनिवार्य हो गया, कि वह मलाया के सम्बन्ध में एक ऐसी नीति का अनुसरण करे, जिसे मलाया के राष्ट्रीय नेता स्वीकृत करने के लिए तैयार हों। अक्टूबर, १९४५ में ब्रिटिश सरकार की ओर से मलाया के सम्बन्ध में यह योजना प्रकाशित की गई, कि (१) मलाया के विविध राज्यों को मिलाकर एक यूनियन का निर्माण किया जाय, जिसमें वहां के नौ पुराने राज्य (जिन पर सुलतानों का शासन था) और स्ट्रेट्स में सैटलमेंट अन्तर्गत हों। (२) सिंगापुर को इस यूनियन से बाहर रखा जाय, और वहां पर पहले के सदृश ब्रिटेन का शासन जारी रहे। (३) मलाया यूनियन का एक गवर्नर हो, जिसकी नियुक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा की जाय। यूनियन के शासन पर नियन्त्रण रखना इस गवर्नर का कार्य हो। (४) मलाया यूनियन में एक विधान सभा का निर्माण किया जाय, और इस सभा को देश के लिए कानून आदि बनाने के उपयुक्त अधिकार प्राप्त हों।

पर मलाया के राष्ट्रीय नेता ब्रिटिश सरकार की इस योजना को स्वीकृत करने के लिए उद्यत नहीं थे। इन नेताओं ने ब्रिटिश योजना का विरोध करने के लिए एक संगठन का निर्माण किया, जो 'यूनाइटेड मलाया नेशनल आर्गेनिजेशन' के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रिटिश सरकार के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह मलाया के राष्ट्रीय नेताओं के विरोध की उपेक्षा कर सकता। अतः उसकी ओर से मलाया के सम्बन्ध में एक नई योजना बनायी गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) मलाया के दसों राज्यों की पृथक् सत्ता कायम रहे, और उनकी पृथक् सरकारें तथा पृथक् विधान सभाएं भी हों, पर उन को मिलाकर एक मलाया फिडरेशन (संवर्ग) का निर्माण किया जाय। फिडरेशन की पृथक् सकार और पृथक् संघसभा (फिडरल कौंसिल) बनायी जाय। (२) मलाया के शासन पर देखभाल रखने के लिये ब्रिटिश सरकार की ओर से एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की जाय। इस हाई कमिश्नर का कार्य राज्य-कार्य में परामर्श देना हो, सरकार पर इसका सीधा नियन्त्रण न हो। शासनकार्य में मलाया के विविध राज्यों की सरकारों और संघ-सरकार को अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रता व पूर्ण अधिकार प्राप्त हों।

युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन के नेताओं को ब्रिटिश सरकार की यह नई योजना पसन्द थी, पर मलाया में ऐसे उग्र राष्ट्रवादी लोगों की भी कमी नहीं थी, जो अपने देश की पूर्ण स्वाधीनता के लिए उत्सुक थे, और जो किसी भी रूप में ब्रिटिश आधिपत्य को सहने के लिये तैयार नहीं थे। इन्होंने 'मलाया नेशनलिस्ट पार्टी' के नाम से एक दल का संगठन किया, और ब्रिटिश योजना का विरोध करना प्रारम्भ किया। मलाया नेशनलिस्ट पार्टी की मुख्य मांगें निम्नलिखित थीं—(१) मलाया के संघराज्य में सिंगापुर को भी सम्मिलित किया जाय। (२) सम्पूर्ण मलाया के लिये जिस केन्द्रीय विधानसभा का निर्माण किया जाये, उसके सब सदस्य निर्वाचित हों। संघ के अन्तर्गत विविध राज्यों की विधान सभाओं के सदस्य भी निर्वाचन द्वारा नियुक्त हों, और (३) मलाया के सब स्थायी निवासियों को नागरिकता के अधिकार समान रूप से प्रदान किए जाएं। मलाया नेशनलिस्ट पार्टी न केवल ब्रिटिश आधिपत्य की विरोधी थी, अपितु साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही मलाया से सुलतानों के शासन का अन्त कर लोकतन्त्र शासन को भी स्थापित करना चाहती थी। युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन के नेता नरम दल के थे, वे ब्रिटेन के आधिपत्य को भी स्वीकृत करने के लिए उद्यत थे, और प्राचीन वंशक्रमानुगत सुलतानों की सत्ता को भी कायम रखना चाहते थे।

ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह राष्ट्रवादी नेताओं (मलाया नेशनलिस्ट पार्टी) की मांगों को स्वीकृत कर सके। परिणाम यह हुआ, कि उसने १९४७ की योजना (जिसे युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गनिजेशन ने स्वीकृत कर लिया था) के अनुसार मलाया के शासन का पुनःसंगठन कर दिया। पर इससे मलाया की राजनीतिक समस्याओं का अन्त नहीं हो गया। १९४७ की योजना को क्रिया में परिणत करने के बाद मलाया की नई सरकार को जिन मुख्य समस्याओं का सामना करना पड़ा, वे निम्न-लिखित थीं—(१) मलाया के उग्र राष्ट्रवादी नेता अपने देश पर ब्रिटिश आधिपत्य को किसी भी रूप में सहन करने को तैयार नहीं थे। उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपने संघर्ष को जारी रखा। (२) मलाया के अपने लोगों के अतिरिक्त इस देश में चीनी और भारतीय भी कितनी अधिक संख्या में निवास करते हैं, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। मलाया जाति के लोगों में राष्ट्रीयता की जो भावना प्रबल हो रही थी, उसके कारण उन्हें चीनी व भारतीय लोगों का अपने देश में बड़ी संख्या में निवास करना पसन्द नहीं था। मलाया देश मलाया के अपने लोगों के लिये है, यह भाव उनमें निरन्तर प्रबल होता जाता था। (३) जब चीन में समाजवादी व्यवस्था कायम हो गई, और कम्युनिस्ट लोगों का चीन पर आधिपत्य स्थापित हो गया, तो मलाया में भी कम्युनिस्ट दल प्रबल होने लगा। विशेषतया, मलाया में निवास करने वाले चीनी लोगों में कम्युनिज्म का प्रचार बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगा, और वहां का कम्युनिस्ट दल अपने देश में समाजवादी शासन कायम करने के लिए प्रयत्नशील हो गया। मलाया के इस कम्युनिस्ट दल के साथ वहां के राष्ट्रवादी देशभक्तों की भी सहानुभूति थी, क्योंकि ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त करने के लिये वे भी कम्युनिस्टों के समान ही प्रयत्नशील थे। परिणाम यह हुआ, कि उग्र राष्ट्रवादी नेताओं और कम्युनिस्टों के सम्मिलित प्रयत्न के कारण मलाया की सरकार के लिए अपने देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर सकना बहुत कठिन हो गया।

(४) बरमा

जिस समय दिसम्बर, १९४१ में जापान ने महायुद्ध में प्रवेश किया, तब बरमा की क्या स्थिति थी, इस विषय पर हम अठारहवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। बरमा में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध प्रबल भावना विद्यमान थी, और अनेक उग्र राष्ट्रीय दल ब्रिटिश शासन का अन्त कर अपने देश की स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील थे। यही कारण है, कि जब जापान ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करते हुए बरमा पर आक्रमण किया, तो अनेक बरमी देशभक्त दलों ने प्रसन्नता और सन्तोष का अनुभव किया। उन्होंने समझा, कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है, और इसीलिए ब्रिटेन के आधिपत्य का अन्त करने में उन्होंने जापान के साथ सहयोग करने में भी संकोच नहीं किया। फरवरी, १९४२ तक जापान ने बरमा के बड़े भाग को ब्रिटेन की अधीनता से स्वतन्त्र कर दिया था, और देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखने के लिए प्रारम्भ में एक सैनिक शासन का संगठन किया था। पर जापानी लोग बरमा को अपनी अधीनता में रखने के बजाय वहां एक ऐसी बरमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकार कायम करना चाहते थे, जो पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करने में जापान के साथ सहयोग करने को तैयार हो। इसीलिये उन्होंने १ अगस्त, १९४२ के दिन बरमा में एक स्वतन्त्र बरमी सरकार का संगठन किया, जिसका अधिपति डॉ० बा मो को बनाया गया। डॉ० बा मो ब्रिटिश आधिपत्य के युग में बरमा के प्रधान-मंत्री रह चुके थे, और राष्ट्रीय दल के प्रधान नेता थे। उस समय भी ब्रिटिश सरकार के साथ कार्य कर सकना उनके लिये सम्भव नहीं हुआ था, और इसीलिए ब्रिटिश शासकों ने उन्हें गिरफ्तार भी कर लिया था। डा० बा मो का विचार था, कि जापान के साथ सहयोग करके बरमा न केवल अपने लिये स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है, अपितु साथ ही एशिया से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करने में भी सहायक हो सकता है।

पर बरमा में इस प्रकार के नेताओं की भी कमी नहीं थी, जो अपने देश में जापान के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्व को पसन्द नहीं करते थे। इसमें सन्देह नहीं, कि जापान ने बरमा को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त कराया था। पर डॉ० बा मो की स्वतन्त्र बरमी सरकार जापान के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त नहीं थी। महायुद्ध के अवसर पर संसार के प्रायः सभी देशों में इस प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे, जिनका उद्देश्य फैसिज्म की प्रवृत्ति का विरोध करना था। इटली और जर्मनी के समान जापान भी फैसिस्ट विचारधारा का अनुयायी था, और उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में जिन 'स्वतन्त्र सरकारों' की स्थापना की थी, वे फैसिस्ट विचारों से प्रभावित थीं। रूस के नेतृत्व में इस समय सर्वत्र एण्टि-फैसिस्ट प्रवृत्तियाँ प्रबल हो रही थीं, और फैसिस्ट-विरोधी लोगों की सहानुभूति कम्युनिस्टों के साथ थी। बरमा में जो लोग जापान के प्रभाव का अन्त कर विशुद्ध बरमी सरकार की स्थापना के लिये प्रयत्नशील थे, उनके प्रधान नेता जनरल आंग सान थे। उन्होंने 'एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग' (फैसिस्ट-विरोधी जन-स्वातन्त्र्य सभा) नाम से एक नई संस्था का संगठन किया था, जिसका उद्देश्य बरमा से जापान के प्रभुत्व व प्रभाव का अन्त कर स्वतन्त्र बरमी रिपब्लिक को स्थापित करना था।

जनवरी, १९४५ में मित्रराज्यों की सेनाओं ने बरमा पर आक्रमण किया, और कुछ ही समय में इस देश पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पर ब्रिटेन के लिये अब यह सुगम नहीं था, कि वह बरमा पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सके। बरमा के लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना बहुत प्रबल हो चुकी थी, और वे किसी भी प्रकार ब्रिटेन के शासन को सहन करने के लिए तैयार नहीं थे। विशेषतया, एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के नेता अपने देश की स्वाधीनता के लिए बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने को तैयार थे, और वे किसी भी रूप में ब्रिटिश आधिपत्य को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हो सकते थे।

पर ब्रिटिश लोग बरमा को फिर से अपनी अधीनता में ले आने के लिए कटिबद्ध थे। जापानी आक्रमण के कारण बरमा की ब्रिटिश सरकार भारत चली आई थी, और शिमला में रहकर उस दिन की प्रतीक्षा कर रही थी, जबकि उसे फिर से बरमा पर शासन का अवसर मिलेगा। रंगून की विजय के बाद मई, १९४५ में इस ब्रिटिश 'बरमी सरकार' की ओर से एक योजना प्रकाशित की गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं —(१) बरमा की वही स्थिति रहेगी, जो कि जापान के आक्रमण से पूर्व १९४१ में थी। शुरू में बरमा पर ब्रिटिश गवर्नर का सीधा शासन कायम किया जाएगा, और सम्पूर्ण राजशक्ति उसी के हाथों में होगी। (२) १९३५ में बरमा के शासन के लिये जो विधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत किया गया था, उसे फिर से लागू किया जायगा, और जब बरमा में पूर्ण रूप से शान्ति एवं व्यवस्था कायम हो जायगी, तब इस विधान के अनुसार व्यवस्थापिका सभा का नया निर्वाचन होगा, और फिर से मंत्रिमंडल का निर्माण किया जायगा। पर इस स्थिति को लाने में तीन वर्ष के लगभग समय लग जायगा। (४) बरमा के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की यह नीति है, कि अन्ततोगत्वा वहां औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना की जाय। यदि बरमा के विविध राजनीतिक दल औपनिवेशिक स्वराज्य के सम्बन्ध में परस्पर सहमत होकर किसी नये शासन-विधान का निर्माण कर सकने में समर्थ हो जाएं, तो ब्रिटिश सरकार उसे स्वीकृत कर लेगी।

मई, १९४५ की इस ब्रिटिश योजना से बरमा के देशभक्त संतुष्ट नहीं हुए। जापान की विजयों के कारण बरमा एक बार स्वाधीनता का आस्वाद ले चुका था। वहां के उग्र राष्ट्रवादी नेता जापान द्वारा स्थापित बरमी सरकार से भी सन्तुष्ट नहीं थे। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि ये लोग अब ब्रिटिश आधिपत्य व शासन को सह सकें। परिणाम यह हुआ, कि आंग सान और उनके अनुयायियों ने ब्रिटिश शासन का विरोध करना शुरू किया, और ब्रिटिश लोगों के लिये बरमा पर पहले के समान अपना शासन स्थापित कर सकना असम्भव हो गया। इस दशा में अगस्त, १९४६ में बरमा के नये ब्रिटिश गवर्नर सर हुबर्ड रान्स ने यह आवश्यक समझा, कि बरमा के राष्ट्रवादी नेताओं के साथ समझौता कर लिया जाय। उसने बरमा के शासन के लिये एक 'शासन-सभा' (एक्जीक्युटिव कौंसिल) का संगठन किया, जिसमें ग्यारह सदस्य रखे गये। इनमें से छः एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के थे, और पाँच अन्य राजनीतिक दलों के। इस कौंसिल के निर्माण से बरमा के नेताओं ने सन्तोष अनुभव किया। पर यह व्यवस्था सामयिक रूप से की गई थी, और यह निश्चय किया गया था, कि बरमा के शासन के सम्बन्ध में स्थायी व्यवस्था करने के लिए लंदन में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा, जिसमें बरमा के नेता अपने देश की भावी व्यवस्था के विषय में निर्णय करने के लिये स्वतन्त्रता होंगे। २० दिसम्बर, १९४६ को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री द्वारा घोषणा की गई, कि बरमा को यह निर्णय करने को पूरी स्वतन्त्रता होगी, कि वह ब्रिटिश कामनवेल्थ का अंग बन कर रहना चाहता है, या उसके साथ कोई भी सम्बन्ध न रखकर पूर्ण स्वाधीनता चाहता है। वस्तुतः, इस समय ब्रिटेन के चतुर राजनीतिज्ञों ने यह भली-भांति अनुभव कर लिया था, कि बरमा पर अपना आधिपत्य कायम रख सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है। बरमा में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतनी प्रबल हो चुकी थी, कि सैन्य-शक्ति का उपयोग कर इस देश को अपने अधीन रखना असम्भव था।

लण्डन कान्फरेन्स में बरमा की ओर से जो प्रतिनिधि-मण्डल सम्मिलित हुआ, उसके प्रधान नेता श्री आंग सान थे। इस कान्फरेन्स ने जनवरी, १९४७ में जो निर्णय किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) बरमा का शासन-विधान तैयार करने के लिये एक संविधान परिषद् का निर्वाचन किया जाये। इस परिषद् को अधिकार हो, कि वह अपने देश के लिये शासन-विधान का निर्माण कर सके। (२) जब तक बरमा की संविधान परिषद् अपना कार्य समाप्त न कर ले, तब तक के काल के लिये एक सामयिक सरकार का संगठन किया जाय। (३) इस काल के लिये बरमा में एक विधान सभा हो, जिसके सदस्यों की संख्या १८० हो। संविधान परिषद् के जो सदस्य निर्वाचित हों, उन्हीं में से १८० को सरकार इस सामयिक विधानसभा के सदस्य रूप से मनोनीत कर ले। (४) इस काल में बरमा को यह अधिकार हो, कि वह लण्डन में अपनी ओर से एक हाई कमिश्नर की नियुक्त कर सके, जो बरमा के हितों का ध्यान रखे। (४) संयुक्त-राष्ट्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघ में बरमा भी एक सदस्य के रूप में सम्मिलित हो, और ब्रिटिश सरकार इस बात का प्रयत्न करे, कि बरमा को संयुक्त राष्ट्र-संघ का सदस्य बना लिया जाय। (६) बरमा को यह अधिकार हो, कि वह अन्य देशों के साथ अपना सीधा राजनयिक सम्बन्ध स्थापित कर सके।

बरमा के सब राजनीतिक नेता लण्डन कान्फरेन्स के इन निर्णयों से सन्तुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे, कि बरमा में तुरन्त पूर्ण स्वराज्य स्थापित हो, और सामयिक रूप से भी बरमा का ब्रिटेन के साथ कोई सम्बन्ध न रहे। पर आंग सान और उसके अनुयायी लण्डन कान्फरेन्स के इन निर्णयों से संतुष्ट थे, और उनका विचार था, कि बरमा को अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है। इसके अनुसार एप्रिल, १९४६ में बरमा की संविधान परिषद् का निर्वाचन किया गया, जिसमें एण्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। २४ सितम्बर, १९४७ को बरमा का नया शासन-विधान बन कर तैयार हो गया, और १७ अक्टूबर को बरमा और ब्रिटेन में एक सन्धि की गई, जिसमें ब्रिटेन ने बरमा की संविधान परिषद् द्वारा तैयार किये गये शासन-विधान को स्वीकृत कर लिया। बरमा की संविधान परिषद् ने यह निर्णय किया, कि बरमा का ब्रिटिश कामनवेल्थ के साथ कोई सम्बन्ध न रहे, और वह पूर्णरूप में स्वतन्त्र हो। जनवरी, १९४८ से यह नया शासन-विधान बरमा में लागू कर दिया गया, और तब से बरमा की स्थिति ब्रिटिश कामनवेल्थ से बाहर एक स्वतन्त्र राज्य की हो गई है।

बरमा के नये शासन-विधान की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) राष्ट्रपति का निर्वाचन पाँच साल के लिए किया जाय। पार्लियामेंट की दोनों सभाओं के सदस्य एक स्थान पर एकत्र होकर बैलट द्वारा राष्ट्रपति का निर्वाचन किया करें। (२) पार्लियामेंट में दो सभाएं हों, प्रतिनिधि सभा और राष्ट्र-सभा। प्रतिनिधि सभा के सब सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किये जायें। राष्ट्र-सभा में बरमा की अल्पसंख्यक जातियों को प्रतिनिधित्व देने की विशेष रूप से व्यवस्था की जाय। इस सभा के सदस्यों की संख्या १२५ हो, जिनमें से ७२ अल्पसंख्यक जातियों का प्रतिनिधित्व करने वाले हों। (३) मन्त्रिमण्डल प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी हों।

संविधान-परिषद् ने अपना कार्य अभी समाप्त नहीं किया था, कि १९ जुलाई, १९४७ को आंग सान और उसके साथी छः मन्त्रियों (जो कि सामयिक रूप से स्थापित शासन सभा के सदस्य थे) की हत्या कर दी गई। इस हत्या के नेता श्री यू सो थे, जो कि आंग सान के दल के मुख्य विरोधी थे। पर इन हत्याओं से एण्टिफैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग की शक्ति कम नहीं हुई। आंग सान के बाद श्री थाकिन नू ने बरमा के प्रधान मन्त्री का कार्य संभाला, और संविधान परिषद् के कार्य को जारी रखा।

जनवरी, १९४८ से बरमा पूर्णरूप से स्वतन्त्र राज्य है। पर स्वतन्त्रता के बाद उसे अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा है—(१) दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान बरमा में भी कम्युनिस्ट दल विद्यमान है, जो बरमा के नये शासन विधान से संतुष्ट नहीं था। यह दल बरमा में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने के लिये प्रयत्न-शील रहा। (२) बरमा में अनेक इस प्रकार की अल्पसंख्यक जातियां विद्यमान हैं, जो बरमा से पृथक् होकर अपना पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित करना चाहती थीं। इनमें करन लोग मुख्य हैं। इन अल्पसंख्यक जातियों के लोग अपने पृथक् राज्य स्थापित करने के लिये बरमी सरकार के साथ संघर्ष में तत्पर रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) इन्डोनीसिया

महायुद्ध (१९३९-४५) के प्रारम्भ तक के इन्डोनीसिया के इतिहास पर हम इस ग्रन्थ के सोलहवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यद्यपि यह देश हालैण्ड के अधीन था, पर वहां राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उत्कट अभिलाषा विकसित हो रही थी। मई, १९४१ में यूरोप के रणक्षेत्र में हालैण्ड जर्मनी द्वारा परास्त कर दिया गया था, और वहां की रानी विल्हल्मिना अपनी सरकार के साथ हालैण्ड छोड़कर ब्रिटेन चली आयी थी। इस समय तक जापान महायुद्ध में सम्मिलित नहीं हुआ था, फिर भी हालैण्ड की पराजय का उसके साम्राज्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता था। इन्डोनीसिया में स्वाधीनता का आन्दोलन अब अधिक प्रबल हो गया था। इस समय चाहिये तो यह था, कि हालैण्ड इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों के साथ सहानुभूति प्रकट करता, और उनकी स्वाधीनता की आकांक्षा को पूर्ण कर उनकी सहायता मित्र-राज्यों के लिये प्राप्त करता। पर हालैण्ड की साम्राज्यवादी सरकार (इन्डोनीसियन डच सरकार) ने स्वाधीनता के आन्दोलन को कुचलने के लिये उग्र उपायों का अवलम्बन किया। पुलिस की शक्ति बढ़ा दी गई, अनेक देशभक्त नेताओं को गिरफ्तार किया गया, और अनेक ऐसे कानून जारी किये गये, जिनका उद्देश्य जनता को भाषण करने व अन्य प्रकार से अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने से रोकना था। पर यह सम्भव नहीं था, कि इन्डोनीसिया की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचला जा सकता। अन्ततोगत्वा, डच सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि इन्डोनीसिया की जनता को सन्तुष्ट रखने के लिये शासन में सुधार किये जाएं। इस उद्देश्य से एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष श्री विस्मान थे। विस्मान कमीशन ने जनता के प्रतिनिधियों की गवाही लेकर इस बात पर विचार करना प्रारम्भ किया, कि इन्डोनीसिया के शासन में कौन-से ऐसे सुधार किये जा सकते हैं, जिनसे जनता की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सन्तुष्ट किया जा सके।

पर इन्डोनीसिया में राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये आन्दोलन इतना प्रबल हो चुका था, कि विस्मान कमीशन की नियुक्ति द्वारा उसे सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता था। इस बीच में यूरोप के रणक्षेत्र में जर्मनी और इटली निरन्तर विजयी हो रहे थे। फ्रांस, बेल्जियम आदि देशों पर जर्मनी का कब्जा हो गया था, और ब्रिटेन पर हवाई आक्रमण बहुत उग्र रूप धारण कर रहे थे। इस स्थिति में इन्डोनीसिया के देशभक्त यह अनुभव करते थे, कि अपने देश से डच साम्राज्यवाद का अन्त करने का यह सुवर्णीय अवसर है, और उन्हें इसका पूरी तरह से उपयोग करना चाहिये। दिसम्बर, १९४१ में जापान भी मित्र-राज्यों के खिलाफ युद्ध में शामिल हो गया। जापान का दावा था, कि महायुद्ध में वह इस उद्देश्य से शामिल हुआ है, ताकि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया से पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद का अन्त कर इस क्षेत्र के सब देशों में स्वाधीन सरकारों की स्थापना की जाय। इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों को जापान से बहुत आशा थी। वे अनुभव करते थे, कि डच आधिपत्य का अन्त करने का क्रियात्मक उपाय यही है, कि जापान की सेनाएं इन्डोनीसिया पर आक्रमण करें, और डच सेना को परास्त कर उनके देश को स्वतन्त्र करें। यही कारण है, कि जब जापानी सेनाओं ने फिलिप्पीन आदि देशों को विजय किया, तो इन्डोनीसियन लोगों ने अत्यधिक उल्लास का अनुभव किया।

जापानी सेनाएं विद्युत्गति से दक्षिण-पूर्वी एशिया में आगे बढ़ रही थीं। इस समय प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में जापान का मुकाबिला कर सकने की शक्ति किसी भी देश में नहीं थी। डच लोगों के लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वे जापानी आक्रमण से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकते। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि जो विविध द्वीप हालैण्ड के अधीन थे, उन पर एक-एक करके हमला किया गया। जल और वायु के मार्गों से जापानी सेनाएं इन द्वीपों में प्रविष्ट हो गईं, और मार्च, १९४२ तक सम्पूर्ण इन्डोनीसिया डच आधिपत्य से मुक्त होकर जापानी सेनाओं के कब्जे में आ गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी शुरू में जापान ने अपना सैनिक शासन स्थापित किया, ताकि देश में शान्ति और व्यवस्था कायम रह सके।

पर जापान स्थायी रूप से इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में नहीं रखना चाहता था। इस देश के सर्वप्रधान राष्ट्रीय नेता डॉ सुकर्ण थे। शीघ्र ही, उनके नेतृत्व में इन्डोनीसिया में एक स्वतन्त्र राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर दी गई। जिस समय अगस्त, १९४५ में महायुद्ध में परास्त होकर जापान ने मित्र-राज्यों के सम्मुख आत्म-समर्पण किया, तब डॉ० सुकर्ण के नेतृत्व में इन्डोनीसिया में एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्य की स्थापना हो चुकी थी।

महायुद्ध में परास्त होकर भी हालैण्ड के राजनीतिक नेताओं को यह सुबुद्धि नहीं आयी थी, कि अब इन्डोनीसिया को अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं है। ६ दिसम्बर, १९४२ को (जब कि इन्डोनीसिया हालैण्ड की अधीनता से मुक्त हो चुका था, और वहां स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की जा रही थी) ब्रिटेन में स्थित डच सरकार की ओर से एक उद्घोषणा प्रकाशित की गई, जिसमें उस नीति का प्रतिपादन किया गया, जिसका अनुसरण हालैण्ड महायुद्ध की समाप्ति पर इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में करेगा। इस उद्घोषणा में यह कहा गया था, कि महायुद्ध की समाप्ति पर डच साम्राज्य की नई व्यवस्था करने के लिए एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा। इस कान्फरेन्स में इस बात पर विचार होगा, कि हालैण्ड और उसके साम्राज्य के देशों के शासन का क्या स्वरूप हो। डच सरकार का विचार यह था, कि डच साम्राज्य को एक कामनवेल्थ के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए, जिसके अन्तर्गत सब राज्य अपने आन्तरिक मामलों में पूर्णतया स्वतन्त्र हों। डच कामनवेल्थ की इस कल्पना के अनुसार इन्डोनीसिया को अपने आन्तरिक शासन में तो स्वतन्त्रता मिल जाती थी, पर अब वहां के देशभक्त पूर्ण स्वराज्य के बिना किसी भी प्रकार सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। १९४३ के अन्त से पूर्व ही इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र रिपब्लिक की सुचारु रूप से स्थापना हो चुकी थी, उसके शासन-विधान का भी निर्माण हो गया था, और नई रिपब्लिकन सरकार ने देश के शासन-कार्य को भलीभाँति सम्भाल लिया था।

महायुद्ध में जापान की पराजय हो जाने पर इन्डोनीसिया पर कब्जा करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द किया गया। मित्र-राज्यों की ओर से दक्षिण-पूर्वी एशिया में जापान के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिये 'दक्षिण-पूर्वी एशिया कमान्ड' का संगठन हुआ था, और इसी कमान्ड की ओर से ब्रिटिश सेनाओं को यह कार्य सुपुर्द किया गया था, कि वे इन्डोनीसिया की जापानी सेनाओं को परास्त कर इस देश पर अपना सैनिक आधिपत्य स्थापित करें। साथ ही, यह व्यवस्था भी की गई थी, कि इन्डोनीसिया के जो द्वीप मित्र-सेनाओं के कब्जे में आते जाएं, उन्हें पुनः डच सरकार के शासन में दे दिया जाय। इसके लिए हालैण्ड की ओर से 'नीदरलैण्ड्स इन्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन' नामक संगठन का निर्माण किया गया था। इन्डोनीसिया के जो-जो द्वीप मित्र-राज्यों के आधिपत्य में आते जाते थे, उन पर इस डच संस्था का शासन स्थापित कर दिया जाता था। पर जावा, मदुरा और सुमात्रा के द्वीपों पर इन्डोनीसियन रिपब्लिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का शासन सुव्यवस्थित रूप से कायम था। यह हम पहले लिख चुके हैं, कि इन्डोनीसिया की कुल आबादी का दो तिहाई के लगभग भाग जावा और मदुरा के द्वीपों में निवास करता है। इसका अभिप्राय यह हुआ, कि जनसंख्या की दृष्टि से ६६ प्रतिशत से भी अधिक इन्डोनीसियन लोग डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के शासन में थे। मित्र-राज्यों की ओर से इन्डोनीसिया पर सैनिक आधिपत्य स्थापित करने का कार्य ब्रिटिश सेनाओं के सुपुर्द था। जावा, मदुरा और सुमात्रा में जो ब्रिटिश सेनाएं आयीं, उन्होंने जापानी अधिकारियों, सैनिकों और नागरिकों को तो अपने कब्जे में ले लिया, पर उन्होंने यह उचित नहीं समझा कि इन द्वीपों में स्थापित इन्डोनीसियन रिपब्लिकन सरकार का प्रतिरोध करें। ब्रिटिश सेनाओं की यह नीति वस्तुतः बुद्धिमत्तापूर्ण थी। इन्डोनीसियन लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतने प्रबल रूप में विकसित हो चुकी थी, कि वे किसी भी दशा में अपनी स्वतन्त्रता के परित्याग के लिए उद्यत नहीं थे। यदि ब्रिटिश सेना डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार का प्रतिरोध करने का प्रयत्न करती, तो उसे न केवल इन्डोनीसियन सेना का अपितु देश की जनता का भी कड़ा मुकाबिला करना पड़ता। इस प्रकार १९४६ के मध्य में इन्डोनीसिया की राजनीतिक स्थिति यह थी कि जावा, मदुरा और सुमात्रा द्वीपों में एक ऐसी स्वतन्त्र रिपब्लिक की सत्ता थी, जो किसी भी प्रकार डच लोगों के आधिपत्य को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं थी। अन्य द्वीपों पर नीदरलैंड इण्डीज सिविल एड्मिनिस्ट्रेशन का शासन था, और इस संस्था ने अपने अधिकृत प्रदेशों पर उसी ढंग का शासन फिर से स्थापित कर लिया था, जैसा कि १९४२ से पूर्व वहां विद्यमान था।

सम्पूर्ण इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का शासन दो ही प्रकार से स्थापित किया जा सकता था। डच सेनाएं युद्ध में इन्डोनीसियन रिपब्लिक को परास्त करके उस द्वारा अधिकृत प्रदेशों को अपनी अधीनता में लाने का प्रयत्न कर सकती थीं, या डॉ० सुकर्ण आदि रिपब्लिकन नेताओं से समझौता करके डच सरकार एक ऐसा मार्ग निकाल सकती थी, जिससे इन्डोनीसिया की स्वतन्त्रता भी कायम रहे और इस देश पर हालैण्ड का आधिपत्य भी बना रहे। डच नेताओं ने इन दोनों उपायों का उपयोग किया। डच सेनाएं बहुत बड़ी संख्या में इन्डोनीसिया भेज दी गईं। वहां जाकर उन्होंने रिपब्लिकन सेनाओं के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ कर दिया। पर इन्डोनीसिया की सेनाएं भी इस समय निर्बल नहीं थीं। उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना कूट-कूट कर भरी हुई थी, और जापान जो बहुत-सी युद्ध-सामग्री इन द्वीपों में छोड़ गया था, उसका उपयोग कर इन्डोनीसियन सेनाओं ने अपने को बहुत शक्तिशाली भी बना लिया था। उन्होंने डटकर डच सेनाओं का मुकाबिला किया। पर युद्ध के साथ-साथ हालैण्ड की सरकार ने इन्डोनीसिया के रिपब्लिकन नेताओं के साथ समझौते की बातचीत को भी जारी रखा।

डच सरकार को डॉ० सुकर्ण और उनके साथियों से बहुत विद्वेष था। उसका विचार था कि क्योंकि इन नेताओं ने महायुद्ध के समय जापान के साथ सहयोग किया था, अतः उनसे किसी भी प्रकार का समझौता करना उचित नहीं है। पर इन्डोनीसिया में डॉ० सुकर्ण का प्रभाव इतना अधिक था, कि डच सरकार उनकी उपेक्षा नहीं कर सकती थी। अतः उसने समझौते की बातचीत का यह मार्ग निकाला, कि राष्ट्रपति सुकर्ण (डॉ० सुकर्ण इन्डोनीसियन रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित थे) से बातचीत न कर प्रधानमन्त्री सहरीर के साथ समझौते का प्रयत्न किया जाए। पर ऐसा करना डच सरकार का दुराग्रह मात्र था, क्योंकि श्री सहरीर डॉ० सुकर्ण के ही अनुयायी थे। अन्त में डच सरकार को अपना हठ छोड़ने के लिये विवश होना पड़ा। उसने यह स्वीकार किया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इन्डोनीसियन रिपब्लिक एक सुव्यवस्थित राज्य है, और उसके विविध राजपदाधिकारी एक ही सरकार के विविध अंग हैं। उनमें भेद कर सकना क्रियात्मक दृष्टि से सम्भव नहीं है। नवम्बर, १९४६ में डच सरकार और इन्डोनीसियन रिपब्लिकन सरकार में सामयिक रूप से सन्धि हो गई। उन्होंने युद्ध को स्थगित कर दिया और इस बात का प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि परस्पर बातचीत द्वारा इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था का निर्धारण करें, जो दोनों पक्षों को मान्य हो।

अब दोनों सरकारों में समझौते की बातचीत शुरू हुई। २५ मार्च, १९४७ को वे एक समझौते पर पहुंचने में समर्थ भी हो गईं। यह लिंगजाति समझौते के नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। इसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) इन्डोनीसिया के जिन प्रदेशों पर डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार का कब्जा है, उन्हें स्वतन्त्र इन्डोनीसियन रिपब्लिक के रूप में स्वीकार किया जाय। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, ये प्रदेश जावा, मदुरा और सुमात्रा के द्वीप थे। (२) दक्षिण-पूर्वी एशिया में डच सरकार की अधीनता में जो अन्य प्रदेश हैं, उनको और स्वतन्त्र इन्डोनीसियन रिपब्लिक को एक साथ मिला कर 'इन्डोनीसिया का संयुक्त राज्यसंघ' बनाया जाय। इस राज्यसंघ के अन्तर्गत विविध राज्यों को अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वाधीनता रहे। पर केन्द्रीय शासन के साथ सम्बन्ध रखने वाले मामलों पर संघ सरकार का नियन्त्रण रहे। (३) इन्डोनीसियन संयुक्त राज्यसंघ और हालैण्ड को मिला कर एक 'यूनियन' कायम किया जाय। विदेशी राजनीति, सेना आदि विषय इस यूनियन के अधीन रहें। डॉ० सुकर्ण के नेतृत्व में विद्यमान रिपब्लिकन सरकार का शासन जावा, सुमात्रा और मदुरा पर कायम था। इन तीनों द्वीपों के अतिरिक्त बोर्नियो का द्वीप ऐसा था, जिसे इस लिंगजाति समझौते के अनुसार एक पृथक् रिपब्लिक के रूप में परिणत करने का निश्चय किया गया था। जावा, मदुरा, सुमात्रा और बोर्नियो के अतिरिक्त जो अन्य बहुत-से छोटे-बड़े द्वीप इन्डोनीसिया के अन्तर्गत थे, उन्हें मिलाकर एक तीसरी रिपब्लिक का निर्माण करने की व्यवस्था की गई थी, जिसे 'विशाल पूर्व' (ग्रट ईस्ट) का नाम दिया गया था। इस प्रकार इन्डोनीसियन राज्यसंघ के अन्तर्गत तीन रिपब्लिकें शामिल की गई थीं।

यह स्पष्ट है, कि लिंगजाति समझौते के अनुसार इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई थी, उससे इस देश के राष्ट्रीय नेताओं को पूर्ण सन्तोष नहीं हो सकता था। इस द्वारा सम्पूर्ण इन्डोनीसिया डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के अधीन नहीं होता था। बोर्नियो और ग्रेट ईस्ट में जो नई रिपब्लिकें कायम की गई थीं, उन पर डच लोगों का प्रभाव बहुत दृढ़ रहता था। इसके अतिरिक्त इन्डोनीसियन राज्यसंघ की परराष्ट्रनीति और सेना आदि पर हालैण्ड का प्रभाव पूर्ववत् कायम रहता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अनेक राष्ट्रवादी देशभक्त लिंगजाति समझौते से असन्तोष अनुभव करें। परिणाम यह हुआ, कि मार्च, १९४७ में हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक में पुनः संघर्ष प्रारम्भ हो गया, और डच सेनाओं ने अपनी शक्ति के प्रयोग द्वारा डॉ० सुकर्ण की सरकार को परास्त कर जावा, मदुरा और सुमात्रा पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का उद्योग प्रारम्भ कर दिया। भारत ने इसी समय संयुक्त राष्ट्रसंघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) के सम्मुख इन्डोनीसिया का मामला पेश किया। उसका कथन था, कि जावा, मदुरा और सुमात्रा पर डच सेनाओं का आक्रमण सर्वथा अनुचित है, और डच सरकार इन्डोनीसियन लोगों पर घोर अत्याचार कर रही है। पर डच सरकार का कहना था, कि इन्डोनीसिया का मामला हालैण्ड के साम्राज्य की आन्तरिक समस्या है। वह जिस नीति का वहां अनुसरण कर रही है, उसका उद्देश्य अपने साम्राज्य के अन्यतम देश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में शान्ति और व्यवस्था कायम करना ही है। संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् (सिक्योरिटी कौंसिल) ने इस प्रश्न पर विचार कर यह आदेश जारी किया, कि दोनों पक्षों द्वारा लड़ाई को तुरन्त बन्द कर दिया जाय। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई, कि इन्डोनीसिया की समस्या पर विचार करने के लिये एक कमेटी बनायी जाए, जिसके तीन सदस्य हों। इस कमेटी के एक सदस्य को हालैण्ड मनोनीत करे, दूसरे को इन्डोनीसियन रिपब्लिक मनोनीत करे और वे दोनों सदस्य मिल कर एक तीसरे सदस्य को नियुक्त करें। इसके अनुसार हालैण्ड ने बेल्जियम को, इन्डोनीसियन रिपब्लिक ने आस्ट्रेलिया को और उन दोनों ने मिलकर अमेरिका को कमेटी का सदस्य चुना। इस कमेटी ने सबसे पहले लड़ाई को रुकवाया, और फिर यह व्यवस्था की, कि दोनों पक्ष युद्ध को बन्द कर शान्ति स्थापित रखें। शान्ति स्थापित करके जनवरी, १९४८ में इस कमेटी ने इन्डोनीसिया की समस्या को स्थायी रूप से सुलझाने का उद्योग शुरू किया। बेल्जियम, आस्ट्रेलिया और अमेरिका के प्रतिनिधियों ने हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक में जो समझौता कराया, उसका आधार निम्नलिखित बातें थीं—(१) इन्डोनीसिया में एक राज्यसंघ कायम किया जाय। जावा, सुमात्रा और मदुरा (डॉ० सुकर्ण की सरकार द्वारा अधिकृत द्वीप) पृथक् रूप से या संयुक्त रूप से इस राज्य-संघ में सम्मिलित हों। (२) इन्डोनीसियन राज्यसंघ और हालैण्ड को मिलाकर एक यूनियन बनाया जाय, जो विदेशी राजनीति और सेना आदि पर नियन्त्रण रखे।

पर यह समझौता भी देर तक कायम नहीं रह सका। डच सरकार का प्रयत्न यह था, कि इन्डोनीसिया की विविध जातियों और प्रदेशों को डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के खिलाफ उभाड़ दे। वह इन्डोनीसियन लोगों में फूट डालकर उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं को कुचल डालने के लिये प्रयत्नशील थी। इसी उद्देश्य से डच सरकार ने इन्डोनीसिया के अनेक प्रदेशों में ऐसी सरकारें कायम करने का उद्योग किया, जो हालैण्ड के पक्ष में और डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार के विरोध में थीं। इससे इन्डोनीसिया की समस्या और भी अधिक जटिल हो गई। वहां न केवल डच सरकार के विरुद्ध युद्ध जारी रहा, अपितु उसके विविध प्रदेशों में गृहकलह भी प्रारम्भ हो गया। इस स्थिति से लाभ उठाकर दिसम्बर, १९४८ में डच सेनाओं ने बाकायदा इन्डोनीसिया पर चढ़ाई कर दी। जोग-जाकर्ता (इन्डोनीसिया की राजधानी) पर उन्होंने कब्जा कर लिया, और रिपब्लिकन सरकार के अनेक नेता गिरफ्तार कर लिये गये। पर इससे भी इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी देशभक्तों ने अपने संघर्ष को बन्द नहीं किया। संसार के लोकमत की सहानुभूति इस समय इन्डोनीसिया के साथ थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख यह मामला फिर उपस्थित किया गया। सुरक्षा परिषद् ने हालैण्ड को आदेश दिया, कि इन्डोनीसियन रिपब्लिक के नेताओं को रिहा कर दिया जाय, और डच सरकार जो सैनिक कार्यवाही इन्डोनीसिया में कर रही है, उसे बन्द कर दे। पर हालैण्ड ने सुरक्षा परिषद् के इस आदेश की कोई परवाह नहीं की। इस पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने एक बार फिर इन्डोनीसिया की समस्या को हल करने के लिये एक समझौता-कमीशन की नियुक्ति की। हालैण्ड चाहता था, कि इस कमीशन की वह कोई परवाह न करे, और इन्डोनीसिया को अपनी अधीनतामें लाने के लिये युद्ध को जारी रखे। पर उसके लिये यह सम्भव नहीं था, कि संसार के लोकमत की पूर्णरूप से अवहेलना कर सके। अन्तर्राष्ट्रीय दबाव के कारण अन्ततोगत्वा हालैण्ड इस बात के लिये विवश हुआ, कि गिरफ्तार हुए इन्डोनीसियन नेताओं को रिहा कर दे, और इस देश की समस्या का हल युद्ध द्वारा न कर समझौते द्वारा करने का उद्योग करे। ३ अगस्त, १९४९ को डॉ० सुकर्ण की रिपब्लिकन सरकार और हालैण्ड में साम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यिक रूप से समझौता हो गया, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) दोनों पक्ष पारस्परिक युद्ध को स्थगित कर दें, (२) इन्डोनीसियन नेताओं को रिहा कर दिया जाय, और (३) इन्डोनीसिया की समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिये हालैण्ड की राजधानी हेग में एक गोलमेज परिषद् का आयोजन किया जाय।

इसी बीच में जनवरी, १९४९ में भारतीय सरकार ने दिल्ली में एक एशियन कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें एशिया के १७ देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए। इन्डोनीसिया की समस्या पर इसमें विशद रूप से विचार किया गया। इस कान्फरेन्स ने जो सुझाव पेश किए, संयुक्त राष्ट्र-संघ ने उन्हें क्रियात्मक व उचित माना। इन्डोनीसिया की समस्या के हल होने में इस कान्फरेन्स से बहुत सहायता मिली।

इन्डोनीसिया के सम्बन्ध में जो गोलमेज परिषद् हेग में हुई, उसने २ नवम्बर, १९४९ को अपना कार्य समाप्त कर लिया। गोलमेज परिषद् में जो निर्णय किये गए, उनके अनुसार इन्डोनीसिया को एक राज्यसंघ के रूप में परिवर्तित किया गया, जिसमें सबसे प्रधान स्थान डॉ० सुकर्ण के नेतृत्व में स्थापित रिपब्लिक को दिया गया। इस रिपब्लिक की अधीनता में पूर्वी सुमात्रा और ग्रेट ईस्ट के द्वीपों के अतिरिक्त अन्य सब इन्डोनीसियन प्रदेशों को दे दिया गया। इस सुविशाल इन्डोनीसियन रिपब्लिक को यह अधिकार दिया गया, कि वह अपने शासन-विधान का स्वयं निर्माण कर सके, और इसके लिए एक संविधान परिषद् का निर्वाचन करा सके। पर हेग कान्फरेन्स में जिस प्रश्न पर विशेष रूप से निर्णय किया जाना था, वह इन्डोनीसियन संघ और हालैण्ड के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में था। इस महत्त्वपूर्ण मामले के सम्बन्ध में जो निर्णय हेग कान्फरेन्स द्वारा किये गए, वे निम्नलिखित थे—(१) हालैण्ड और इन्डोनीसिया, दोनों राज्यों की स्थिति सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सदृश हो। (२) ये दोनों सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य स्वेच्छापूर्वक एक यूनियन का निर्माण करें, जिसमें दोनों राज्यों की स्थिति समान मानी जाय। (३) यह यूनियन परराष्ट्र नीति और आर्थिक मामलों के सम्बन्ध में उपयुक्त अधिकार रखे, और यूनियन में सम्मिलित दोनों राज्य विदेशी राजनीति और आर्थिक उन्नति के लिए परस्पर सहयोग से कार्य करें। (४) हालैण्ड और इन्डोनीसिया दोनों राज्यों का शासन-विधान लोकतन्त्रवाद पर आश्रित हो। (५) इन्डोनीसिया का जो राष्ट्रीय ऋण है, उसे अदा करने की जिम्मेवारी इन्डोनीसियन सरकार पर रहे। (६) दोनों राज्यों में जिस प्रश्न पर विवाद हो, उसका निर्णय पंचनिर्णय की पद्धति द्वारा किया जाय। (७) यूनियन का अध्यक्ष साम्राज्ञी जूलियाना व उसके वंशज रहें।

हेग की गोलमेज कान्फरेन्स के इन निर्णयों को दोनों पक्षों ने स्वीकार कर लिया। इनके अनुसार जहां इन्डोनीसिया का हालैण्ड के साथ सम्बन्ध कायम रहा, वहां राष्ट्रीय स्वाधीनता को उसकी आकांक्षा भी पूर्ण हो गई। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान इन्डोनीसिया में भी अभी अनेक समस्याएं विद्यमान रहीं, जिनमें सबसे प्रमुख कम्युनिस्टों की और राष्ट्रीय एकता की स्थापना की थीं।

(६) फिलिप्पीन द्वीप-समूह

फिलिप्पीन द्वीप-समूह पर किस प्रकार संयुक्त-राज्य अमेरिका का प्रभुत्व स्थापित हुआ, और फिलिप्पीन लोगों की राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना से विवश होकर किस प्रकार अमेरिका की सरकार इस द्वीप-समूह में आंशिक स्वराज्य स्थापित करने के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्यत हुई, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। १९४२ के प्रारम्भ में जब जापान ने इस देश पर आधिपत्य स्थापित किया, तो वहां वैध शासन विद्यमान था। मानुआल क्वेजोन फिलिप्पीन के राष्ट्रपति थे, और श्री ओसमेना उपराष्ट्रपति। फिलिप्पीन की पार्लियामेंट (इसे अमेरिकन शैली के अनुसार कांग्रेस कहा जाता था) में दो सभाएं थीं, सीनेट और प्रतिनिधि सभा। फिलिप्पीन की यह लोकतन्त्र सरकार आंशिक रूप से स्वतन्त्र होती हुई भी अमेरिका की अधीनता में थी, और वहां के देशभक्त इससे सन्तोष अनुभव नहीं करते थे। जापानी सेनाओं के विजयी होने के कारण न केवल जनरल मैक्आर्थर अपनी अमेरिकन सेनाओं के साथ फिलिप्पीन से चले गये, अपितु राष्ट्रपति क्वेजोन और उपराष्ट्रपति ओसमेना ने भी अमेरिका जाकर आश्रय लिया। वहां पहुंचकर उन्होंने प्रवासी फिलिप्पीन सरकार की सत्ता को कायम रखा।

पर फिलिप्पीन में ऐसे देशभक्तों की कमी नहीं थी, जो जापान की विजय को अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिये सुवर्णीय अवसर समझते थे। उनका विचार था, कि अमेरिका की पराजय से उन्हें स्वाधीन होने का जो अवसर प्राप्त हुआ है, उसका भली-भांति उपयोग करना चाहिये। श्री लॉरेल इनके नेता थे। उनके नेतृत्व में स्वाधीन फिलिप्पीन सरकार का संगठन किया गया। एक्विनो, ओसिआस्, वर्गास्, रोक्लास् आदि अनेक नेताओं ने इस सरकार का साथ दिया। पुराने समय की फिलिप्पीन कांग्रेस के बहुसंख्यक सदस्य इस नई राष्ट्रीय स्वतन्त्र सरकार के साथ सहयोग करने को उद्यत हुए। श्री लॉरेल स्वाधीन फिलिप्पीन रिपब्लिक के राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, और उनकी सरकार जापान के साथ सहयोग करने में ही अपने देश का हित समझने लगी।

पर फिलिप्पीन में एक ऐसा दल भी विद्यमान था, जो जापान के साथ सहयोग को अनुचित समझता था। यह दल 'हुक बली हप' (जनता की सेना) कहाता था। इस दल के लोग जहां जापान के विरोधी थे, वहां साथ ही अमेरिकन आधिपत्य के भी विरुद्ध थे। श्री लॉरेल द्वारा स्थापित सरकार को ये उच्च और सम्पन्न वर्ग की सरकार समझते थे, और अपने देश में एक ऐसे शासन की स्थापना के लिये उत्सुक थे, जो स्तुतः जनता द्वारा संचालित हो, और जिसमें जनता को अपनी आर्थिक उन्नति का अवसर प्राप्त हो। इस समय संसार के प्रायः सभी देशों में ऐसे दल विद्यमान थे, जिनका झुकाव कम्युनिज्म की ओर था, जो केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता को पर्याप्त नहीं समझते थे, अपितु ऐसी सामाजिक व्यवस्था के पक्षपाती थे, जिसमें सर्वसाधारण जनता को आर्थिक उन्नति के लिये उपयुक्त अवसर प्राप्त होता हो। यही कारण था, जो हुक बली हप दल को बाद में कम्युनिस्ट घोषित किया गया, और अमेरिकन लोगों ने उसका उग्ररूप से विरोध किया। क्योंकि महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान फैसिस्ट शक्तियों के पक्ष में था, और जर्मनी समाजवादी रूस की शक्ति तथा सत्ता को नष्ट करने के लिये जी-जान से कोशिश कर रहा था, अतः हुक बली हप दल के समाजवादी लोग लारेल की रिपब्लिकन सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे, और उनका प्रयत्न यह था कि अपने देश को जापान के प्रभाव व प्रभुत्त्व से मुक्त कर वहां एक ऐसी सरकार की स्थापना की जाय, जो न केवल सच्चे अर्थों में पूर्णतया स्वाधीन हो, पर साथ ही समाजवादी व्यवस्था को कायम करने के लिये भी प्रयत्नशील हो।

अक्टूबर, १९४४ में अमेरिकन सेनाओं ने फिलिप्पीन पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया था, और जनवरी, १९४५ तक प्रायः सभी फिलिप्पीन द्वीप अमेरिकन सेनाओं के कब्जे में आ गये थे। इस दशा में प्रवासी फिलिप्पीन सरकार अमेरिका से अपने देश को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वापस आ गई। क्योंकि इसी बीच में राष्ट्रपति क्वेजोन की अमेरिका में मृत्यु हो गई थी, अतः श्री ओसमेना ने राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर लिया था। २७ फरवरी, १९४५ को राष्ट्रपति ओसमेना अपने राजकर्मचारियों के साथ फिलिप्पीन चले आये, और उन्होंने शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। पर श्री ओसमेना की सरकार की सत्ता अमेरिकन सेनाओं की सहायता पर ही आश्रित थी, और उन्होंने ही उसे फिलिप्पीन के शासन का कार्य सुपुर्द किया था। महायुद्ध के कारण फिलिप्पीन द्वीप-समूह का आर्थिक जीवन सर्वथा अस्त-व्यस्त हो गया था। १९४२ के शुरू में उस पर जापान ने आक्रमण किया था, और केवल ढाई साल बाद अमेरिकन सेनाओं ने घोर युद्ध द्वारा वहां पुनः अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। जापान को फिलिप्पीन से कोई द्वेष नहीं था। उसने इस देश पर केवल इसलिये आक्रमण किया था, क्योंकि उस पर अमेरिका का प्रभुत्व विद्यमान था और जापान पूर्वी एशिया से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त करना चाहता था। फिलिप्पीन लोग अनुभव करते थे, कि उन्हें युद्ध के कारण जो क्षति उठानी पड़ी है, और उनका आर्थिक जीवन जिस बुरी तरह में अस्त-व्यस्त हो गया है, उसके लिये अमेरिका ही उत्तरदायी है, और उसी का यह कर्त्तव्य है कि आर्थिक पुनर्निर्माण में उनकी सहायता करे। जिस समय (१९४१ तक) फिलिप्पीन पर अमेरिका का शासन था, उसका आर्थिक जीवन पूर्णतया अमेरिका पर आश्रित था। फिलिप्पीन द्वीप-समूह से जो माल विदेशों में बिकने के लिये जाता था, उसका ९५ प्रतिशत अमेरिका जाता था। वस्तुतः, अमेरिका ने फिलिप्पीन के आर्थिक उत्पादन को इस ढंग से नियन्त्रित किया हुआ था, जिससे कि वह वहां से कच्चे माल को खरीदकर उसके बदले में अपने तैयार व्यावसायिक माल को वहां बेच सके। इसी कारण फिलिप्पीन में कल-कारखानों और व्यवसायों का विकास प्रायः न के बराबर था। फिलिप्पीन अपनी आवश्यकता की सब वस्तुओं को स्वयं उत्पन्न नहीं करता था। सब प्रकार के तैयार माल के लिये वह अमेरिका पर आश्रित था। यही कारण है कि जापान द्वारा विजय के बाद जब फिलिप्पीन का अमेरिका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध नष्ट हो गया, तब फिलिप्पीन लोगों को घोर आर्थिक संकट का सामना करना पड़ा। महायुद्ध के समय फिलिप्पीन लोग यह बात प्रबल रूप से अनुभव करने लगे थे, कि उन्हें आर्थिक दृष्टि से आत्म-निर्भर होना चाहिये।

राष्ट्रपति ओसमेना ने फिलिप्पीन के शासन-सूत्र को सम्भाल कर यह प्रयत्न किया, कि देश में शान्ति और व्यवस्था को स्थापित करे और अमेरिका के साथ इस प्रकार के सम्बन्धों को कायम करे, जिनसे कि राष्ट्रवादी देशभक्तों को शिकायत का अवसर न रहे। ओसमेना के सम्मुख मुख्य समस्याएं निम्नलिखित थीं—(१) श्री लॉरेल आदि जिन नेताओं ने महायुद्ध के समय प्रवासी फिलिप्पीन सरकार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र सरकार की स्थापना करली थी, और जापान के साथ सहयोग किया था, उनके प्रति क्या बरताव किया जाय। यह समस्या बहुत विकट थी, क्योंकि पुरानी कांग्रेस के बहुसंख्यक सदस्य श्री लॉरेल के साथ थे, और उन्होंने जापान के साथ पूर्ण रूप से सहयोग करने में ही अपने देश का हित समझा था। (२) हुक बली हप दल अब तक भी अपने प्रयत्न में संलग्न था। यह दल किसी भी रूप में अमेरिका के प्रभुत्व व प्रभाव को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं था, और समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील था। (३) फिलिप्पीन लोगों में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना बहुत प्रबल रूप में विद्यमान थी। अतः अमेरिका के साथ इस ढंग का समझौता किया जाना आवश्यक था, जिससे कि फिलिप्पीन की राष्ट्रीय स्वाधीनता में बाधा न पड़ती हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब फिलिप्पीन पर अमेरिकन सेनाओं ने जनवरी, १९४५ में कब्जा कर लिया था, तो श्री लॉरेल और उनके साथी जापान चले गये थे। जापान के आत्मसमर्पण के बाद इन्हें गिरफ्तार करके फिलिप्पीन लाया गया, और यह प्रयत्न किया गया कि जापान के साथ सहयोग करने के अपराध में उन पर मुकदमा चलाया जाय। पर उनमें अनेक ऐसे प्रभावशाली व सम्पन्न व्यक्ति भी थे, जिन्हें दण्ड दे सकना सुगम बात नहीं थी। १९४५ में जब ओसमेना ने फिलिप्पीन के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया, तो पुरानी काँग्रेस का भी पुनरुद्धार किया गया। कांग्रेस के सदस्यों का नया निर्वाचन शीघ्र नहीं किया जा सकता था, अतः यह निश्चय हुआ कि अभी पुरानी कांग्रेस को ही कायम रखा जाय। इस कांग्रेस के बहुसंख्यक सदस्य जापान के साथ सहयोग कर चुके थे, अतः यह सम्भव नहीं था, कि इस ढंग के कानून कांग्रेस द्वारा स्वीकृत कराये जा सकें, जिनके अनुसार श्री लॉरेल और उनके साथियों को दण्ड दिया जाय। साथ ही, जनता यह भी अनुभव करती थी कि महायुद्ध की परिस्थितियों में श्री लॉरेल ने स्वाधीन फिलिप्पीन सरकार कायम करके कोई अनुचित कार्य नहीं किया था। इस दशा में राष्ट्रपति ओसमेना के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वह श्री लॉरेल और उनके साथियों के विरुद्ध मुकदमे चलाकर उन्हें दण्ड दे सके।

१९४५ के बाद हुक बली हप दल फिलिप्पीन में निरन्तर प्रबल होता गया। इस दल के प्रधान नेता लुई तारुक और कास्तो अलेक्जान्द्रिनो थे। फिलिप्पीन सरकार ने यत्न किया, कि इस समाजवादी दल को शक्ति के प्रयोग द्वारा कुचल दिया जाय। जब इसमें सफलता नहीं हुई, तो उसने यह यत्न किया कि इस दल के साथ समझौता कर ले। कुछ समय के लिए हुक बली हप दल और फिलिप्पीन सरकार में समझौता हो भी गया। पर यह सम्भव नहीं था, कि फिलिप्पीन की पूंजीवादी सरकार और कम्युनिस्टों में कोई समझौता देर तक कायम रह सके। १९४९ में उनमें फिर संघर्ष प्रारम्भ हो गया। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान फिलिप्पीन में भी हुक बली हप के रूप में कम्युनिस्ट दल की सत्ता थी, जो अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थी।

महायुद्ध की समाप्ति पर अमेरिका ने फिलिप्पीन को स्वाधीनता प्रदान कर दी थी। पर इस स्वाधीनता से इस देश से अमेरिकन प्रभाव व प्रभुत्व का अन्त नहीं हो गया है। १९४६ में अमेरिकन कांग्रेस ने फिलिप्पीन के लिये एक ट्रेड एक्ट (व्यापार कानून) स्वीकृत किया था, जिसके कारण इस देश पर अमेरिका का आर्थिक प्रभुत्व पूर्ववत् कायम रहा। इस कानून के अनुसार अमेरिकन नागरिकों को यह अधिकार दिया गया था, कि वे फिलिप्पीन में जमीन जायदाद खरीद सकें और वहां स्वेच्छापूर्वक व्यापार, व्यवसाय आदि का संचालन कर सकें। अमेरिकन लोग फिलिप्पीन में यह अवसर अधिकार रखते हैं, कि वे वहां कल-कारखाने खोल सकें। क्योंकि अमेरिकन लोगों के पास पूंजी की प्रचुरता है, अतः वे अपनी पूंजी के जोर पर फिलिप्पीन को अपने आर्थिक कब्जे में रखने में समर्थ हैं।

इतना ही नहीं, अमेरिका ने इस बात की भी जिम्मेदारी ली है, कि वह भविष्य में विदेशी आक्रमणों से फिलिप्पीन की रक्षा करेगा। इसके लिए उसने फिलिप्पीन में अनेक स्थानों पर सैनिक केन्द्र कायम करने का अधिकार प्राप्त पर लिया है। ये सैनिक केन्द्र फिलिप्पीन में अमेरिकन सैनिक प्रभुत्वके आधार हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छब्बीसवां अध्याय

जापान की नई व्यवस्था

(१) परास्त जापान के सम्बन्ध में मित्र-राज्यों की नीति

महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान के परास्त होने से पूर्व ही मित्र-राज्यों ने यह फैसला कर लिया था, कि जापान के परास्त हो जाने पर उसके सम्बन्ध में किस नीति का अनुसरण किया जायगा। अनेक उद्घोषणाओं द्वारा इस नीति को स्पष्ट कर देने का भी प्रयत्न मित्र-राज्यों की ओर से किया गया था। फरवरी, १९४५ में याल्टा कान्फरेन्स के परिणामस्वरूप यह घोषणा की गई थी, कि कोरिया को जापान की अधीनता से मुक्त कराके एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा; दक्षिणी सखालिन तथा उसके समीपवर्ती विविध द्वीप रूस के सुपुर्द कर दिये जायेंगे; मंचूरिया, पूर्वी चीन, हैनान और फार्मूसा को जापान की अधीनता से मुक्त कर दिया जायगा; चीन में स्वतन्त्र चीनी सरकार की स्थापना होगी, और हैनान तथा फार्मूसा द्वीपों को चीन में सम्मिलित रखा जायगा। मंचूरिया भी चीन के अन्तर्गत होगा, पर जापान द्वारा मंचूकुओ राज्य की स्थापना से पूर्व वहां रूस को जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, वे उसे पुनः प्रदान किये जायेंगे। महायुद्ध के दौरान दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन विविध देशों को जापान ने अपने अधीन कर लिया है, उन सबको उसके प्रभुत्व से मुक्त करके जापान की सत्ता केवल उन द्वीपों तक ही सीमित कर दी जायेगी, जो वस्तुतः उसके अंग हैं, और जो १८९४-९५ तक उसके अधिकार में थे। जुलाई, १९४५ में पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा यह घोषित किया गया, कि जापान की सैनिक शक्ति को सदा के लिये नष्ट कर दिया जायगा, और यह प्रयत्न किया जायगा, कि सभ्य संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी लोकतन्त्र शासन की स्थापना हो, और वहाँ भी भाषण एवं विचार आदि की स्वतन्त्रता का सूत्रपात हो। साथ ही, ऐसी व्यवस्था भी की जायगी, कि भविष्य में फिर कभी जापान साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्न न कर सके।

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया, तो यह प्रश्न उत्पन्न हुआ, कि परास्त जापान के शासन की क्या व्यवस्था की जाय। यह प्रश्न अधिक विकट नहीं था, क्योंकि जापान में अब तक भी सम्राट् की सरकार का सुव्यवस्थित शासन विद्यमान था। मित्र-राज्यों ने जापान के विविध द्वीपों पर अभी सैनिक दृष्टि से कब्जा नहीं किया था, और न ही वहां कोई ऐसे दल थे जो सम्राट् के शासन का अन्त कर एक नई सरकार की स्थापना के लिये प्रयत्नशील हों। मित्र-राज्यों ने जापान में सम्राट् की सरकार को कायम रखा, पर उस पर नियन्त्रण रखने और सैनिक दृष्टि से जापान की सैन्य-शक्ति पर अपना कब्जा कायम करने की सारी जिम्मेदारी जनरल मैक्आर्थर के हाथों में दे दी। जनरल मैकआर्थर प्रशान्त महासागर व पूर्वी एशिया के क्षेत्र में मित्रराज्यों के प्रधान सेनापति थे, और उस क्षेत्र की सब सैन्य-शक्ति उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थी। अब जापान के शासन को नियन्त्रित करने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द कर दिया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनरल मैक् आर्थर को अपने कार्य में परामर्श देने के लिये मित्र-राज्यों की एक कौंसिल नियत की गई, जिसे 'अलाइड कौंसिल ऑफ जापान' कहते थे। इस कौंसिल में निम्नलिखित राज्यों के प्रतिनिधि सदस्य-रूप से नियुक्त किये गये—(१) अमेरिका, इसका प्रतिनिधि इस कौंसिल के प्रधान का कार्य भी करता था। (२) चीन, (३) रूस और (४) ब्रिटेन। यह समझा जाता था, कि ब्रिटेन का प्रतिनिधि अपने देश के अतिरिक्त आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड और भारत का भी प्रतिनिधित्व करता है। इस कौंसिल का प्रधान कार्यालय जापान की राजधानी तोक्यो में स्थापित किया गया था। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस कौंसिल का कार्य केवल परामर्श देना ही था। सब बातों का अन्तिम निर्णय जनरल मैक् आर्थर के ही हाथों में था। अलाइड कौंसिल ऑफ जापान का पहला अधिनेशन ५ एप्रिल, १९४६ को तोक्यो में हुआ था।

इस कौंसिल के अतिरिक्त एक अन्य भी समिति थी, जिसका निर्माण जापान-सम्बन्धी विषयों पर विचार करने और नीति के निर्धारण के उद्देश्य से किया गया था। इसे फार ईस्टर्न कमीशन (सुदूर पूर्व कमीशन) कहते थे, और इसका प्रधान कार्यालय संयुक्तराज्य अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में था। इसके सदस्य निम्नलिखित ग्यारह राज्यों के प्रतिनिधि होते थे—(१) अमेरिका, इसका प्रतिनिधि कमीशन के प्रधान का कार्य भी करता था। (२) चीन, (३) आस्ट्रेलिया, (४) कनाडा, (५) फ्रांस, (६) भारत, (७) हालैण्ड, (८) न्यूजीलैण्ड, (९) फिलिप्पीन, (१०) रूस, और (११) ब्रिटेन। प्रशान्त महासागर और पूर्वी एवं दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र के साथ जिन राज्यों का सम्बन्ध था, उन सबको इस कमीशन में सदस्यता का अधिकार दिया गया था। पर यह करते हुए अधीनस्थ देशों (इन्डोनीसिया, बरमा, इन्डो-चायना आदि) को दृष्टि में नहीं रखा गया था। इस कमीशन का मुख्य कार्य यह निर्धारित करना था, कि जापान की अधीनता एवं प्रभाव से मुक्त हुए देशों और द्वीपों के शासन के सम्बन्ध में क्या व्यवस्था की जाय, और जापान में जो नई सरकार कायम हो उसका क्या स्वरूप हो, और वह किस नीति का अनुसरण करे। यह निर्णय किया गया था, कि सुदूर पूर्व कमीशन अपने निर्णय बहुमत द्वारा करे, पर कोई निर्णय तब तक मान्य न हो, जब तक कि अमेरिका, चीन, रूस और ब्रिटेन उसके साथ सहमत न हों। इसका अभिप्राय यह था, कि इन राज्यों में से प्रत्येक को कमीशन के निर्णयों को वीटो कर देने का अधिकार प्राप्त था। क्योंकि जापान का शासन और व्यवस्था पूरी तरह जनरल मैक् आर्थर के एकाधिकार में दे दी गई थी, अतः यह कमीशन पहले अपने निर्णयों को अमेरिकन सरकार के पास भेजता था और अमेरिकन सरकार उन्हें जनरल मैक् आर्थर के पास पहुंचाती थी। कमीशन के निर्णयों के सम्बन्ध में भी अन्तिम अधिकार जनरल मैक् आर्थर के हाथों में ही था। यद्यपि जापान में सम्राट् और उसकी सरकार की सत्ता विद्यमान थी, पर वे पूरी तरह से मैक् आर्थर के नियन्त्रण में थे, और मित्र-राज्यों के इस प्रधान सेनापति ने यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया था, कि अपनी किसी भी आज्ञा को मनवाने के लिये सैन्य-शक्ति के प्रयोग में वह जरा भी संकोच नहीं करेगा।

जनरल मैक् आर्थर ने जापान में जिस नीति का अनुसरण किया, वह पोट्सडम कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित की गई थी। इसके मुख्य अंग निम्नलिखित थे—(१) जापान की सैन्य-शक्ति को सर्वथा पंगु बना देना। (२) युद्ध के लिये जो जापानी लोग जिम्मेवार थे और जिन्होंने युद्ध के अवसर पर विविध प्रकार के अपराध किये थे, उन्हें दण्ड देना। (३) जापान में लोकतन्त्र शासन स्थापित करना, और (४) जापान के आर्थिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन को इस प्रकार से संचालित करना, ताकि उसका उपयोग सैन्य-शक्ति के लिये न किया जा सके।

इस नीति को क्रियान्वित करने के लिये जनरल मैक् आर्थर ने कोई भी कसर उठा नहीं रखी। जापान के युद्ध व सैनिक विभागों को अब यह कार्य सुपुर्द किया गया, कि वे अपनी सम्पूर्ण सैन्यशक्ति को नष्ट-भ्रष्ट कर दें। इसी उद्देश्य से बाधित सैनिक शिक्षा और बाधित सैनिक सेवा की पद्धतियों को नष्ट किया गया। जो लाखों सैनिक जापान की सेना में थे, उन्हें सेवामुक्त कर दिया गया। जापान के जो लाखों सैनिक प्रशान्त महासागर के विविध द्वीपों और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध प्रदेशों में फैले हुए थे, उन सब को जापान वापस बुला लिया गया और वहां उन्हें सैनिक सेवा से पृथक् कर दिया गया। जंगी जहाजों, हवाई जहाजों और युद्ध के अन्य सब भारी सामान को या तो मित्र-राज्यों को दे दिया गया और या उन्हें नष्ट कर दिया गया। यह भी व्यवस्था की गई, कि जिन सैनिक अफसरों ने जापान की सेना को इतना उन्नत एवं शक्तिशाली बनाने का कार्य किया था, उन्हें किसी राजकीय पद पर न रहने दिया जाय। जापानी लोग समझते थे, कि उनका सम्राट् दैवी अधिकार द्वारा देश पर शासन करता है, वह साक्षात् देवता है, और जापानी लोग अन्य सब जातियों की अपेक्षा अधिक ऊंचे व उत्कृष्ट हैं। इन विचारों के खिलाफ जबर्दस्त प्रचार किया गया। स्वयं सम्राट् द्वारा एक उद्घोषणा प्रकाशित करायी गई, जिसमें यह कहा गया, कि सम्राट् को दैवी मानना या देवता के रूप में उसकी पूजा करना सर्वथा अनुचित है। यह बात भी गलत है, कि जापानी लोग अन्य लोगों की अपेक्षा ऊँचे व उत्कृष्ट हैं। विविध शिक्षणालयों के जो अध्यापक उग्र राष्ट्रीय विचार रखते थे, उन्हें अपने पदों से पृथक् कर दिया गया। ऐसी पाठ्य-पुस्तकों को कोर्स से हटाया गया, जो उग्र राष्ट्र-भक्ति का प्रतिपादन करती थीं। उन सब सभा-समितियों को गैर-कानूनी घोषित किया गया, जिनका उद्देश्य जापान की राष्ट्रीय शक्ति को उन्नत करना था। इन सब बातों का प्रयोजन यही था, कि जापान सैनिक दृष्टि से शक्तिहीन हो जाय, और वहाँ के लोग फिर कभी पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा प्रशान्त महासागर को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न न करें। जापान में कुछ लोग ऐसे भी थे, जिन्हें उनके उदार राजनीतिक विचारों के कारण पुरानी सरकार ने कैद कर रखा था। उन सबको अब रिहा कर दिया गया। इन लोगों से जापान में लोकसत्तावादी विचारों के प्रसार में बड़ी सहायता मिली।

युद्ध के समय जापान के जो प्रमुख राजनीतिक व सैनिक नेता थे, प्रायः उन सबको गिरफ्तार किया गया, और उन पर युद्ध के अपराधी (वार क्रिमिनल) होने का आरोप लगाया गया। यद्यपि रूस की यह माँग थी, कि सम्राट् को सर्वप्रधान अपराधी करार कर उस पर भी मुकदमा चलाया जाय, पर जापान की जनता में अपने सम्राट् के प्रति जो असाधारण भक्ति-भावना थी, उसे दृष्टि में रखकर सम्राट् पर युद्ध के अपराध का अभियोग नहीं चलाया गया और उसकी सत्ता को अक्षुण्ण रूप में कायम रखा गया। जनरल तोजो, मार्क्विस किदो, मत्सुओका, हीरानुमा आदि प्रमुख व्यक्तियों पर युद्ध के अपराध में मुकदमे चलाये गये, और इसके लिए एक विशेष न्यायालय की रचना की गई। इन मुकदमों पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

(२) जापान की नई सरकार

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपने प्रभुत्व की व स्थापना के लिये जापान प्रयत्नशील था। इसीलिये उसने मंचूरिया और चीन में युद्ध का प्रारम्भ किया था, और इसीलिये दिसम्बर, १९४१ में वह जर्मनी और इटली का पक्ष ले कर महायुद्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शामिल हुआ था। इस काल में जापान में भी उसी प्रकार की फैसिस्ट प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी, जैसी कि मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में और हिटलर के नेतृत्व में जर्मनी में हुई थी। यद्यपि जापान में हिटलर और मुसोलिनी के समान किसी एक शक्तिशाली एकाधिकारी (डिक्टेटर) का प्रादुर्भाव नहीं हुआ था, पर सम्राट् के प्रति जो असाधारण श्रद्धा का भाव जापानी जनता में विद्यमान था, उसके कारण जापान के लोग अपने राजनीतिक भेद-भावों व मतभेदों को भुलाकर सम्राट् के नेतृत्व में अपनी राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि में तत्पर हो गये थे। इसी कारण जापान में 'इम्पीरियल रूल असिस्टेन्स एसोसियेशन' (सम्राट् के शासन के लिए सहायक सभा) नामक एक संस्था का संगठन हुआ था, जिसका उद्देश्य राजनीतिक दलों के मतभेदों की उपेक्षा कर सम्राट् की शक्ति के विकास में सहायता पहुंचाना था। १९४१ में जापान के प्रधानमन्त्री के पद पर प्रिंस कोनोये विद्यमान था। पर जापान के महायुद्ध में प्रवेश करने के कुछ समय पूर्व ही उसका स्थान जनरल तोजो ने ले लिया था। तोजो जापान के सैनिक दल का नेता था, और उसके प्रधानमन्त्री बन जाने के कारण जापान की सरकार में उन लोगों का प्रभाव बहुत बढ़ गया था, जो सैनिक शक्ति का उपयोग कर जापान के उत्कर्ष के पक्षपाती थे। फैसिस्ट विचारधारा का अनुसरण कर जनरल तोजो और इम्पीरियल रूल असिस्टेन्स एसोसियेशन इस बात के प्रयत्न में थे, कि जापान की जनता के विविध वर्ग राष्ट्रीय उन्नति और साम्राज्य-विस्तार में सहायक हों। इसीलिये कारखानों में काम करने वाले मजदूरों का 'देशभक्त व्यावसायिक सोसायटी' के रूप में संगठन किया गया था, ताकि मजदूर लोग अपनी शक्ति का उपयोग अपने वेतन बढ़वाने के लिये व अन्य सुविधाएं प्राप्त करने के लिए हड़तालें करने में न करके अधिकतम आर्थिक उत्पत्ति करने में किया करें। इसी प्रकार जापान के व्यवसायों व कल-कारखानों का स्वामित्व जिन बड़े पूंजीपतियों के हाथों में था, और जिनको 'जैबत्सू' कहा जाता था, उनसे भी यह आशा की जाती थी, कि राष्ट्रीय उत्कर्ष के कार्य में वे सरकार के साथ सहयोग करेंगे।

जापान की पराजय के बाद यह स्वाभाविक था, कि मित्र-राज्य वहां से इस फैसिस्ट शासन का अन्त कर लोकतन्त्र सरकार की स्थापना का उद्योग करें। इसके लिये उन्होंने जो कार्य किये, उन्हें संक्षिप्त रूप से इस प्रकार परिगणित किया का सकता है—(१) १८८९ में सम्राट् मेइजी द्वारा जापान में जिस शासनव्यवस्था का सूत्रपात किया गया था, उसके अनुसार सब राजकीय शक्ति सम्राट् में केन्द्रित थी। सम्राट् न केवल शासन-विभाग का प्रधान अध्यक्ष था, अपितु व्यवस्थापन और न्याय विभागों का प्रधान भी वही था। यद्यपि बाद में जापान ने लोकतन्त्रवाद की ओर पग बढ़ाया था, पर अब तक भी सम्राट् को दैवी एवं साक्षात् देवता माना जाता था। ३ मई, १९४७ से जापान में जिस नये शासन-विधान का प्रारम्भ किया गया, उसके अनुसार पार्लियामेंट को राजकीय शक्ति का प्रधान आधार बनाया गया। कानून बनाने की सम्पूर्ण शक्ति पार्लियामेंट को दी गई, और सम्राट् की स्थिति को 'ध्वजमात्र' बना दिया गया। नये शासन-विधान में यह प्रतिपादित किया गया, कि सम्राट् राज्य में ध्वजमात्र है, और उस द्वारा जनता की एकता ही सूचित होती है। राज्य की प्रभुत्वशक्ति जनता में निहित है, और सम्राट् अपने पद को 'जनता की इच्छा' द्वारा ही प्राप्त करता है। जापान का सम्राट् जो पहले दैवी अधिकार द्वारा शासन करता था, उसके स्थान पर उसकी सत्ता व स्थिति अब जनता की इच्छा पर आश्रित हो गई। (२) जापान में जिस पार्लियामेंट की व्यवस्था की गई, उसमें दो सभाएं रखी गईं, प्रतिनिधि सभा और परामर्श सभा। दोनों सभाओं के सब सदस्य जनता के वोटों द्वारा चुने जाएं, यह व्यवस्था की गई। पुराने शासन-विधान के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार पार्लियामेंट की दूसरी सभा में उच्च कुलों के व्यक्ति तथा सम्राट् द्वारा मनोनीत लोग ही सदस्य हुआ करते थे। पर १९४७ के नये शासन-विधान द्वारा यह व्यवस्था की गई, कि पार्लियामेंट की दूसरी सभा के सदस्य भी जनता द्वारा निर्वाचित हों। (३) सम्राट् के राजप्रासाद के खर्च को भी पार्लियामेन्ट के नियन्त्रण में लाया गया। राजकीय आय-व्यय पर प्रतिनिधि सभा का नियन्त्रण पूर्ण रूप से स्थापित किया गया, और ब्रिटिश पार्लियामेंट के हाउस आफ कामन्स के समान जापान की प्रतिनिधि सभा की शक्ति भी द्वितीय सदन की अपेक्षा अधिक रखी गई। (४) न्याय विभाग का स्वतन्त्र रूप से संगठन किया गया, और उसे शासक वर्ग के प्रभाव से मुक्त रखा गया। जापान में सुप्रीम कोर्ट का संगठन करके उसे यह अधिकार दिया गया, कि वह यह निर्णय कर सके कि सरकार द्वारा प्रचारित कोई आदेश व आज्ञा और पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत कोई कानून संविधान (कोंस्टिट्यूशन) के अनुकूल है या नहीं। (५) शासन-विधान में जनता के अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया, और यह व्यवस्था की गई कि इन आधारभूत अधिकारों का कोई भी राजकीय शक्ति अतिक्रमण न कर सके। (६) वोट के अधिकार को बहुत अधिक विस्तृत किया गया, और स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार प्रदान किया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि ३ मई, १९४७ के इस नये शासन-विधान द्वारा जापान लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर बहुत आगे बढ़ गया। यद्यपि वहां सम्राट् की सत्ता कायम रखी गई, पर इङ्गलैण्ड के राजा के समान जापान का सम्राट् भी नये शासन-विधान के कारण पूर्ण रूप से 'वैध' एवं 'ध्वजमात्र' बन गया। पार्लियामेंट के नये स्वरूप के कारण जापान का व्यवस्थापन विभाग ग्रेट ब्रिटेन के विधान-मण्डल की अपेक्षा भी अधिक लोकतन्त्र हो गया, और स्वतन्त्र न्याय विभाग के कारण जापान की जनता को यह अवसर प्राप्त हुआ, कि वह राजकीय स्वच्छन्दता एवं उच्छृंखला से अपने आधारभूत अधिकारों की भलीभाँति रक्षा कर सके।

जापान को लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए एक अन्य उपाय भी इस समय अपनाया गया। यह उपाय देश को धर्मनिरपेक्ष (सिक्युलर) राज्य बनाने के रूप में था। हम पहले लिख चुके हैं, कि जापान में सम्राट् को दैवी माना जाता था, और पितरों की पूजा वहां के धर्म का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग थी। पितृपूजा के लिए वहां बहुत-से मन्दिर विद्यमान थे, और राज्य की ओर से जनता में पितृपूजा और परम्परागत प्रथाओं एवं धार्मिक विश्वासों के अनुसरण को प्रोत्साहित किया जाता था। इसी उद्देश्य से पितृपूजा-सम्बन्धी बहुत-से मन्दिरों का खर्च भी राज्य की ओर से प्रदान किया जाता था। यद्यपि जापान के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, पर अत्यन्त प्राचीन धार्मिक मर्यादाओं का पालन वे निष्ठापूर्वक किया करते थे। राज्य की ओर से धर्म के इस अङ्ग को (जिसे 'शिन्तो' कहते थे) संरक्षण एवं प्रोत्साहन मिलता था, क्योंकि इसके कारण जनता में सम्राट् के प्रति भक्ति की भावना को दृढ़ करने में सहायता मिलती थी। क्योंकि १९४७ के नये शासन विधान के अनुसार सम्राट् के 'दैवी अधिकार' का विरोध किया गया था, और उसकी सत्ता को 'जनता की इच्छा' पर आश्रित प्रतिपादित किया गया था, अतः इसके परिणामस्वरूप शिन्तोवाद को बहुत आघात लगा। साथ ही, इस समय यह भी व्यवस्था की गई, कि शिन्तो को राजकीय आमदनी में से सहायता न दी जाय, और पितृपूजा-सम्बन्धी मन्दिरों की रक्षा व पूजा के खर्च का राजकीय कोष के साथ कोई सम्बन्ध न रहे। इसमें सन्देह नहीं, कि जापान के लिए यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अगस्त, १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण कर देने पर वहाँ की पार्लियामेन्ट का चुनाव १९४६ की बसन्त ऋतु में कराया गया। अभी नया शासन-विधान बनकर तैयार नहीं हुआ था। इस समय जापान के प्रधानमन्त्री के पद पर श्री शिदेहारा विराजमान थे, जो अत्यन्त उदार विचारों के व्यक्ति थे। वे जापान के सैनिक आधिपत्य के पक्षपाती नहीं थे, और शान्ति की नीति का अनुसरण करने के समर्थक थे। जापान के आत्म-समर्पण के बाद उन्हीं को वहां का प्रधानमन्त्री नियत किया गया था। १९४६ के प्रारम्भ में जब पुराने शासन-विधान के अनुसार पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हो गया, तो श्री शिदेहारा ने त्यागपत्र दे दिया और श्री योशीदा ने उनका स्थान ग्रहण किया। इन्हीं के समय में नये शासन-विधान का निर्माण हुआ, और जापान में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात किया गया। इस नये शासन-विधान का निर्माण १९४६ के चुनाव द्वारा निर्वाचित पार्लियामेन्ट ने ही किया था।

१९४७ की शरद ऋतु में नये शासन-विधान के अनुसार जापान की पार्लियामेन्ट का पुनः निर्वाचन किया गया। इस चुनाव के परिणामस्वरूप जहां जापान के पुराने राजनीतिक दलों (सैयूकाई और मिन्सेइतो) के बहुत-से प्रतिनिधि पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हुए, वहाँ साथ ही एक नई राजनीतिक पार्टी भी मैदान में आ गई, जिसे 'सामाजिक लोकतन्त्रवादी दल' (सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी) कह सकते हैं। इस दल के प्रधान नेता श्री कातायामा थे, जो कि जापान के मजदूरों के एक लोकप्रिय नेता थे। श्री कातायामा की सोशल डैमोक्रेटिक पार्टी में बहुत-से ऐसे लोग भी शामिल थे, जो केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता व राजनीतिक अधिकारों को अपर्याप्त समझते थे। इनका यह विचार था, कि जहां सब लोगों को राजनीतिक दृष्टि से समान होना चाहिये, वहाँ साथ ही आर्थिक दृष्टि से भी उनमें समानता होनी चाहिये। ये लोग प्रगतिशील एवं समाजवादी विचारों के थे। इस प्रकार संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी इस समय समाजवादी विचारधारा जोर पकड़ने लगी थी, और इस विचारधारा के अनुयायी भी पार्लियामेन्ट में निर्वाचित हुए थे।

१९४७ के चुनाव में पार्लियामेन्ट की प्रतिनिधिसभा में विविध दलों के सदस्यों की संख्या निम्नलिखित प्रकार से थी—सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी १४३, सैयुकाई (लिबरल) दल १३३, मिन्सेइतो दल १२७, और १६६ स्वतन्त्र व अन्य पार्टियों के उम्मीदवार। क्योंकि प्रतिनिधि सभा में सबसे अधिक सदस्य सोशल डैमोक्रेटिक पार्टी के थे, अतः उनके नेता श्री० कातायामा ने प्रधानमन्त्री के पद को ग्रहण किया, और उन्होंने मिन्सेइतो दल व कतिपय अन्य छोटे दलों के सहयोग से अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। पर क्योंकि उनके अपने दल के सदस्यों की संख्या प्रतिनिधि सभा में पर्याप्त नहीं थी, अतः उनके लिए यह सम्भव नहीं था कि वे आर्थिक व सामाजिक क्षेत्र में अपने विचारों को क्रिया में परिणत कर सकें। परिणाम यह हुआ, कि फरवरी १९४८ में उन्होंने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और मिन्सेइतो दल के नेता श्री अशीदा हितोशी ने प्रधानमन्त्री के पद को ग्रहण किया।

पर श्री अशीदा हितोशी के लिये भी मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकना सुगम नहीं था। इस समय जापान के विविध राजनीतिक दल अपनी सत्ता के लिये पूंजीपतियों और अन्य सम्पन्न लोगों की सहायता को बहुत अधिक महत्व देते थे। लोकतन्त्र शासन की यह निर्बलता होती है, कि विविध राजनीतिक दलों के नेता अपनी-अपनी शक्ति व सत्ता के लिए पूंजीपतियों की सहायता व सहयोग पर निर्भर करने लगते हैं। महायुद्ध से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहले जापान के अनेक राजनीतिक दल जागीरदारों और पूंजीपतियों के हाथों में कठ-पुतली मात्र थे, और उनकी शक्ति जैबित्सु के अतर्गत विविध समृद्ध परिवारों की सहायता पर ही आश्रित थी। महायुद्ध के दौरान में जापान की सरकार पर पूंजीपतियों और जागीरदारों का प्रभाव कुछ कम हो गया था, क्योंकि इस काल के मन्त्रिमण्डलों में सैनिक नेताओं की प्रमुखता थी। जापान के आत्मसमर्पण कर देने के बाद वहाँ बड़े पूंजीपति परिवारों का महत्व अधिक नहीं रह गया था, क्योंकि उनके अनेक प्रमुख व्यक्तियों को युद्ध के लिये अपराधी मानकर उन पर मुकदमे चलाये गये थे, और जनरल मैकआर्थर की यह नीति थी कि जापान में जैबित्सु की शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया जाय। पर महायुद्ध के बाद जब जापान के आर्थिक जीवन का पुनः विकास प्रारम्भ हुआ, तो सम्पन्न लोगों की एक नई श्रेणी विकसित होनी प्रारम्भ हो गई, जिसकी आमदनी व समृद्धि का मुख्य आधार सरकारी ठेके थे। अमेरिकन सेनाओं की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिये और जनरल मैक्आर्थर के आदेशों के अनुसार आर्थिक विकास के लिये दिये जाने वाले ठेके सम्पन्न जापानी व्यक्तियों को ही प्रदान किये जाते थे, और इन सरकारी ठेकों द्वारा इन ठेकेदारों को असाधारण आमदनी थी। ये ठेकेदार उचित या अनुचित सब प्रकार के उपायों से अपनी आमदनी को बढ़ाने का प्रयत्न करते थे, और इस प्रयत्न में राजनीतिक दलों के नेताओं को रिश्वत आदि द्वारा अपने साथ मिलाए रखते थे। इसलिए अशीदा हतोशी का मंत्रिमण्डल देर तक कायम नहीं रह सका। उस पर रिश्वत आदि ग्रहण करने के अनेक अपराध लगाये गये, और अक्टूबर, १९४८ में उसने त्यागपत्र दे दिया। अब सैंयुकाई दल के नेता श्री योशीदा शिगेरू ने नये मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। जनवरी, १९४९ में जापान की पार्लियामेंट का पुनः निर्वाचन हुआ, जिसमें श्री योशीदा के दल के उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए। प्रतिनिधि सभा में इस दल को बहुसंख्या प्राप्त हो गई, जिसके कारण योशीदा के मंत्रिमण्डल की स्थिति बहुत अधिक सुरक्षित हो गई। अब सैंयुकाई पार्टी को अन्य दलों के सहयोग की विशेष आवश्यकता नहीं रही।

जापान के आत्मसमर्पण कर देने के बाद उसके शासन में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए, और जिन विविध सरकारों ने उसका शासन किया, उनके उल्लेख के साथ-साथ यह निर्दिष्ट कर देना भी आवश्यक है, कि यद्यपि इस समय जापान का शासन सम्राट् के नाम पर होता था, और वहां जापानी मन्त्रिमण्डल भी विद्यमान थे, पर शासन-सूत्र का वास्तविक संचालन जनरल मैक् आर्थर के ही हाथों में था। उसी के आदेश के अनुसार जापान में सब कार्य होते थे, और जापानी सरकार में यह साहस नहीं था, कि वह उस के किसी भी आदेश की उपेक्षा कर सके।

(३) जापान के नेताओं पर मुकदमे

पोट्सडम कान्फरेन्स में मित्र-राज्यों के नेताओं ने यह भी निर्णय किया था, कि जर्मनी, इटली और जापान के उन व्यक्तियों पर मुकदमा चलाया जाय, जिन्होंने कि युद्ध के लिये विशेष रूप से कार्य किया था। इस निर्णय के अनुसार परास्त राज्यों के नेताओं पर जो अभियोग लगाये गये थे, उन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) युद्ध के लिये साजिश करना, (२) युद्ध के समय में ऐसे अपराध करना, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हों, (३) शान्ति और व्यवस्था के खिलाफ अपराध करना, और (४) मानव समाज और मनुष्यता के विरुद्ध अपराध करना। इन मुकदमों का निर्णय करने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई थी। जापान के अभियुक्तों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुकदमा चलाने के लिए जो न्यायालय संगठित हुआ था, उसका एक न्यायाधीश भारतीय भी था। इस सज्जन का नाम है, श्री राधाविनोद पाल। जापान के जिन नेताओं को इस न्यायालय के सम्मुख अभियुक्त के रूप में पेश किया गया, उनमें जनरल तोजो (भूतपूर्व प्रधानमन्त्री) श्री मत्सुओका (भूतपूर्व परराष्ट्र-मन्त्री,) जनरल कीमुरा, श्री हीरोता, मार्क्विस किदो और श्री हीरानुमा जैसे प्रमुख व्यक्ति भी शामिल थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय के अनुसार जिन जापानी नेताओं को फांसी के तख्ते पर लटकाया गया, उनकी संख्या सात थी। अन्य बहुत-से बड़े जापानी सेनापतियों और राजनीतिज्ञों को आजन्म कारावास की सजा दी गई।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अन्यतम न्यायाधीश श्री राधा विनोद पाल ने अपने निर्णय में यह बात भलीभांति स्पष्ट कर दी थी, कि युद्ध के लिए केवल जापानी अभियुक्तों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उन्होंने जो कुछ भी किया, वह अपने देश के हित को दृष्टि में रखकर ही किया था। उनका प्रधान अपराध यही है, कि वे एक परास्त देश के नेता हैं। श्री पाल अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों के निर्णय से सहमत नहीं थे। इसमें सन्देह नहीं, कि परास्त देशों के नेताओं पर मुकदमा चलाकर उन्हें दण्ड देना संसार के इतिहास में एक नई बात थी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नई परम्परा का प्रारम्भ हुआ। पराजित राज्यों से बदला लेने की भावना इस परम्परा में स्पष्ट रूप से प्रकट होती है, और इसका प्रयोजन यही समझा जा सकता है, कि अपने शत्रु का सर्वनाश करने का प्रयत्न किया जाय। यदि महायुद्ध में ब्रिटेन और अमेरिका परास्त होते, तो श्री चर्चिल और राष्ट्रपति रूजवेल्ट पर भी इसी प्रकार के मुकदमे चलाये जा सकते थे। जिस ढंग के अभियोग जनरल तोजो आदि पर लगाये गये थे, वैसे ही चर्चिल आदि पर भी लागू हो सकते थे। इस समय संसार में असहिष्णुता की प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। लोग अपने से विरोध रखने वाले राजनीतिक विचारों को सहन नहीं करना चाहते। अपनी विरोधी पार्टी की सत्ता को सहन न कर सकना इस युग की राजनीति की एक विशेषता हो गई है। फ्रांस की सरकार ने मार्शल पेतां पर भी इसीलिये मुकदमा चलाया था। पेतां ने जिस नीति को अपनाया था, उनकी सम्मति में वह देश के हित के लिए ही थी। पर बाद में उन्हें देशद्रोही माना गया। यही प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी पायी जाती हैं। तोजो, गोयरिंग आदि परास्त देशों के नेताओं पर मुकदमे चलाना इसी असहिष्णुता का परिणाम था। संसार के लिए इस प्रवृत्ति को हितकर नहीं कहा जा सकता।

मित्र-राज्य केवल जापान के बड़े नेताओं पर मुकदमे चलाकर और उन्हें दण्ड देने की व्यवस्था करके ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि उन सब लोगों को उच्च सरकारी पदों तथा आर्थिक जीवन के महत्त्वपूर्ण पदों से पृथक् कर दिया जाय, जिन्होंने महायुद्ध के समय में मित्रराज्यों के विरुद्ध विशेष तत्परता प्रदर्शित की थी। १९४६ और १९४७ में अनेक ऐसे आर्डिनान्स जारी किये गए, जिनका उद्देश्य इस प्रकार के सब व्यक्तियों को अपने पदों से पृथक् कर देना था। जापान के व्यापार और व्यवसाय के क्षेत्रों से जिन प्रमुख व्यक्तियों को इन आर्डिनान्सों द्वारा पदच्युत किया गया, उनकी संख्या २२०० से भी अधिक थी। इनका मुख्य अपराध यही था, कि महायुद्ध के समय में इन्होंने अपने देश के लिए उत्साह के साथ कार्य किया था, और अपने कल-कारखानों तथा आर्थिक जीवन के संचालन में अपने कर्तव्यों का समुचित रूप से पालन किया था। २२०० के लगभग इन बड़े आदमियों के अतिरिक्त जिन साधारण लोगों को इन आर्डिनान्सों के द्वारा अपने-अपने कार्यों से पृथक् कर दिया गया था, उनकी संख्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५,००,००० के लगभग थी। महायुद्ध के समय में जो लोग विविध राजकीय पदों पर नियत थे, जो कल-कारखानों में इन्जीनियर, शिल्पी और विशेषज्ञ आदि के रूप में कार्य कर रहे थे, और जो जापान के आर्थिक जीवन को संभाले हुए थे, उनके बहुत बड़े भाग को इस अपराध पर अपने कार्य से पृथक् किया गया, कि उन्होंने युद्ध-कार्य में अपने 'अपराधी' नेताओं के साथ सहयोग किया था। मित्र-राज्य और विशेषतया अमेरिका परास्त जापान के साथ बरताव करते हुए कितनी अयुक्ति-युक्त नीति का अनुसरण कर रहे थे, यह इसका स्पष्ट उदाहरण है।

(४) जापान के सम्बन्ध में नई नीति

अगस्त, १९४५ में जब जापान ने मित्र-राज्यों के सम्मुख आत्मसमर्पण कर दिया, तो उसके सम्बन्ध में मित्र-राज्यों की यह नीति थी, कि उसे सैनिक और आर्थिक दृष्टि से इतना अधिक पंगु और निर्बल बना दिया जाय, कि वह भविष्य में फिर कभी साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्न न कर सके। इसीलिये जनरल मैक्-आर्थर ने यह व्यवस्था की थी, कि जापान के कल-कारखानों में जो उत्कृष्ट प्रकार की मशीनें हैं, उन्हें वहां से उखाड़कर चीन, फिलिप्पीन आदि देशों को युद्ध के हरजाने के रूप में दे दिया जाय। पर मित्र-राज्य देर तक इस नीति का अनुसरण नहीं कर सके। इसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(१) चीन में कम्युनिस्ट दल की शक्ति किस प्रकार बड़ी तेजी के साथ बढ़ रही थी, इसका उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। चियांग काई शेक का कुओमिन्तांग दल कम्युनिस्टों द्वारा निरन्तर परास्त हो रहा था, और बाद में यह स्थिति आ गई थी कि फार्मूसा के अतिरिक्त शेष सारा चीन कम्युनिस्टों के अधिकार में आ गया था। मित्र-राज्यों और विशेषतया अमेरिका को यह भय था, कि यदि जापान सैनिक और आर्थिक दृष्टि से निर्बल हो जायगा, तो वहां भी कम्युनिस्टों की शक्ति बढ़ने में सहायता मिलेगी। (२) महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकतन्त्रवादी और समाजवादी (कम्युनिस्ट) देशों का विरोध सबसे महत्त्वपूर्ण बात हो गई। यद्यपि महायुद्ध में रूस, अमेरिका और ब्रिटेन एक साथ मिलकर फैसिस्ट शक्तियों की पराजय के लिए तत्पर थे, पर उनमें सौमनस्य देर तक कायम नहीं रह सका। समाज का आर्थिक संगठन किस प्रकार का हो, इस विषय पर ब्रिटेन और अमेरिका सदृश लोकतन्त्र राज्यों और रूस सदृश समाजवादी राज्यों में गहरा मतभेद था। यह मतभेद शीघ्र ही विरोध एवं विद्वेष के रूप में परिवर्तित हो गया, और संसार के प्रमुख राज्य दो गुटों में विभक्त हो गये। एक गुट का नेता रूस था, और दूसरे का संयुक्त-राज्य अमेरिका। जब चीन पर कम्युनिस्ट सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो प्रशान्त महासागर और दक्षिण-पूर्वी तथा पूर्वी एशिया में अमेरिका की स्थिति बहुत निर्बल और अरक्षित हो गई, और इस क्षेत्र में रूस के समाजवादी गुट का प्रभाव व प्रभुत्व बहुत अधिक बढ़ गया। इस स्थिति में अमेरिका ने यह अनुभव किया, कि यदि जापान को आर्थिक व सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बना दिया जाय, तो वह कम्युनिज्म की शक्ति का मुकाबिला करने के कार्य में अमेरिका का प्रधान सहायक हो सकता है। महायुद्ध के समय में मित्र-राज्यों और विशेषतया अमेरिका का यह विचार था, कि चीन पूर्वी एशिया का नेतृत्व कर सकता है, और उसकी लोकतन्त्र राष्ट्रीय सरकार को नाजी व फैसिस्ट प्रवृत्तियों के खिलाफ प्रयुक्त करने के साथ-साथ कम्युनिज्म के विरुद्ध भी प्रयोग में लाया जा सकता है। इसीलिये संयुक्त राष्ट्र-संघ में चीन को ब्रिटेन, अमेरिका, रूस और फ्रांस के समान ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। पर जब चीन जैसे विशाल देश में कम्युनिस्टों का आधिपत्य स्थापित हो गया, तो प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र में कम्युनिज्म की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबिला करने का केवल यही उपाय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका के सम्मुख रह गया, कि वह जापान को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे। (३) १९५० में कोरिया में एक नये युद्ध का सूत्रपात हुआ। दक्षिणी कोरिया अमेरिका के प्रभुत्व में था, और उत्तरी कोरिया में कम्युनिस्ट सरकार की सत्ता थी। दक्षिणी कोरिया को कम्युनिस्टों से रक्षा करने के लिए जब अमेरिका और मित्र-राज्यों ने उसकी लोकतन्त्र सरकार की सहायता प्रारम्भ की, तो इसके लिये जापान को 'आधार' बनाया गया। जापान से दक्षिणी कोरिया की सहायता तभी समुचित रूप से की जा सकती थी, जब कि वह देश आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली हो।

जिस प्रकार रूस के कम्युनिस्टों से पश्चिमी यूरोप की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका ने पश्चिमी जर्मनी को फिर से शक्तिशाली बनाने का उद्योग शुरू किया, वैसे ही चीनी कम्युनिस्टों से पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया की रक्षा करने के लिए उन्होंने जापान को फिर से शक्तिशाली बनाने की नीति का अनुसरण प्रारम्भ किया। यही कारण है, कि इस समय अमेरिका और ब्रिटेन जैसे लोकतन्त्र देश जापान को अपना शत्रु न समझकर उसे अपना मित्र मानते हैं, और इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं, कि वह एक बार फिर पूर्ववत् शक्तिशाली बनकर रूस और चीन के कम्युनिज्म का मुकाबला कर सकने में समर्थ हो जाए। पर जापान में भी कम्युनिस्ट विचारों का जोर निरन्तर बढ़ रहा है, और यह बात विवादास्पद है कि जापान कहां तक कम्युनिज्म के प्रतिरोध में अमेरिका का सहायक हो सकेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ताईसवां अध्याय

कोरिया की समस्या

(१) कोरिया की नई व्यवस्था

१ दिसम्बर, १९४३ को कैरो कान्फरेन्स के परिणाम-स्वरूप अमेरिका, ब्रिटेन और चीन की ओर से एक उद्घोषणा प्रकाशित हुई थी, जिसमें यह कहा गया था, कि महायुद्ध में जापान के परास्त हो जाने पर कोरिया को जापान की अधीनता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिणत कर दिया जायगा। याल्टा और पोट्सडम की उद्घोषणाओं में इसी बात को फिर दोहराया गया था, और कोरिया के सम्बन्ध में मित्र-राज्यों की यह नीति सर्वथा स्पष्ट थी, कि जापान की पराजय के बाद उसकी राष्ट्रीय स्वाधीनता को पुनः स्थापित किया जायगा। उन्नीसवीं सदी में कोरिया चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत एक अधीनस्थ राज्य की स्थिति रखता था। जापान ने उसे किस प्रकार अपने अधीन किया, इस पर इस ग्रन्थ के छठे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। १९४५ तक कोरिया पूर्णतया जापान की अधीनता में रहा था, और जापानी लोग उसे अपनी आर्थिक समृद्धि के लिए प्रयुक्त करने में तत्पर थे। पर कोरियन लोगों में अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना विद्यमान थी, और वे जापान की अधीनता से मुक्त होने के लिए प्रयत्नशील थे। जहां विदेशों में विद्यमान बहुत-से सुशिक्षित कोरियन देशभक्त अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिये उद्योग में लगे थे, वहां कोरिया के अन्दर भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध में जापान की गिरती कला से लाभ उठा कर स्वराज्य के संघर्ष में तत्पर थे।

कैरो कान्फरेन्स में अमेरिका, ब्रिटेन और चीन ने यह बात तो स्वीकार कर ली थी, कि महायुद्ध के बाद कोरिया को एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा, पर उनका यह भी मत था कि शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने के लिए अनेक वर्षों तक वहां मित्र-राज्यों का आधिपत्य कायम रखने की आवश्यकता होगी। धीरे-धीरे जब कोरियन लोग अपने देश का शासन स्वयं संभाल सकने के लिए समर्थ हो जायेंगे, तभी वहां स्वराज्य स्थापित किया जा सकेगा। जब अगस्त, १९४५ में रूस ने भी जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, तो यह आवश्यक हो गया, कि उसे भी कोरिया के सम्बन्ध में की जाने वाली नई व्यवस्था में हाथ बंटाने का अधिकार हो। उत्तरी चीन में जापान की सबसे अधिक शक्तिशाली स्थल-सेना क्वाँगतुंग सेना विद्यमान थी। इसे रूसी सेनाओं ने ही परास्त किया था। इस दशा में उसे ही सबसे पूर्व यह अवसर मिला, कि वह उत्तरी कोरिया में जापानी सेनाओं को परास्त कर उस प्रदेश को अपने कब्जे में ले आये। इस स्थिति में मित्र-राज्यों ने कोरिया के सम्बन्ध में आपस में यह समझौता किया, कि ३८ वीं पेरेल्लल के उत्तर में रूसी सेनाएं अपना कब्जा कायम रखें, और ३८वीं पेरेल्लल के दक्षिण में अमेरिकन सेनाएं। पर यह सैनिक कब्जा केवल सामयिक रूप से ही हो, और रूसी व अमेरिकन सेनाओं का यह कार्य हो, कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में जापान के सैनिक तथा अन्य प्रकार के प्रभुत्व का अन्त कर कोरिया को जापानी अधीनता से मुक्त करें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह स्वाभाविक था, कि जापान की अधीनता से मुक्त होने के बाद कोरिया में सर्वत्र स्वाधीनता की भावना अत्यन्त प्रबल रूप धारण कर ले। इसी कारण वहां सर्वत्र जनता ने बड़ी-बड़ी सभाएं कीं, और उत्साहपूर्ण जुलूस निकाल कर अपनी प्रसन्नता को प्रकट किया। जो अनेक कोरियन देशभक्त जापान की जेलों में बन्द थे, वे इस समय रिहा कर दिये गये। इनमें प्रसिद्ध क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट नेता पाक हेन एन भी था। उसने जेल से मुक्त होकर कोरिया में कम्युनिस्ट दल का पुनः संगठन शुरू किया। सब बड़े नगरों में कम्युनिस्ट नेतृत्त्व में जन-समितियां (पीपल्स कमेटी) संगठित की जानी प्रारम्भ हुईं, और ६ सितम्बर, १९४५ को सिऊल नगर में जनता के प्रतिनिधियों की एक विशाल कांग्रेस का आयोजन किया गया। इसमें १००० से भी अधिक प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस कांग्रेस ने यह निश्चय किया, कि कोरिया को एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन राज्य के रूप में परिवर्तित किया जाय। इसके लिए एक केन्द्रीय जनसमिति का भी संगठन कर लिया गया। इस केन्द्रीय समिति में कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। यदि मित्र-राज्य इस समय कोरिया के मामले में हस्तक्षेप न करते, तो कोरियन देशभक्त स्वयं अपने देश के शासनसूत्र को संभाल लेते, और कोरिया एक स्वतन्त्र रिपब्लिक के रूप में परिणत हो जाता।

पर मित्र-राज्यों के निर्णय के अनुसार दक्षिणी कोरिया पर अमेरिकन सेनाओं ने और उत्तरी कोरिया पर रूसी सेनाओं ने अपना कब्जा कायम कर लिया था। यह कब्जा केवल सैनिक ही नहीं था, अपितु राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी भी था। अमेरिकन और रूसी सेनाएं अपने-अपने क्षेत्रों में शासन कार्य को भी संचालित करने लगी थीं। इस स्थिति में दिसम्बर, १९४५ में ब्रिटेन, रूस और अमेरिका के परराष्ट्र-मन्त्री मास्को में एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स का प्रयोजन यह था, कि सम्पूर्ण कोरिया में एक स्वतन्त्र एवं लोकतन्त्र राज्य की स्थापना के प्रश्न पर विचार किया जाय। इस सम्बन्ध में रूस और अमेरिका ने दो पृथक् योजनाएं पेश कीं। बहुत वाद-विवाद के बाद अन्त में यह निश्चय हुआ, कि रूस और अमेरिका का एक संयुक्त कमीशन बनाया जाय, जो कि सम्पूर्ण कोरिया के लिये एक सामयिक लोकतन्त्र सरकार को संगठित करने का कार्य करे। इस कोरियन सरकार के निर्माण के लिये देश के विविध लोकतन्त्र राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त किया जाय, और उनके परामर्श के अनुसार सब कार्य हों। अधिक से अधिक पांच साल तक कोरिया पर रूस और अमेरिका की ट्रस्टीशिप कायम रहे, और इस अवधि में कोरिया की अपनी सरकार को शासनसूत्र के संचालन की सारी उत्तरदायिता दे दी जाय। कोरिया की जनता ने मास्को कान्फरेन्स के इस निर्णय का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया। इससे उन्होंने अनुभव किया, कि कोरिया में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के स्थापित होने में अब अधिक विलम्ब नहीं है।

मार्च, १९४६ में संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन ने सिऊल में अपना कार्य प्रारम्भ किया। पर शुरू में ही रूस और अमेरिका में मतभेद प्रकट होने लग गये। सामयिक कोरियन सरकार के संगठन में किन राजनीतिक दलों का सहयोग लिया जाय, इस प्रश्न पर रूस और अमेरिका के लिये एकमत हो सकना सुगम नहीं था। रूसी प्रतिनिधि समझते थे, कि कोरिया में सबसे अधिक शक्तिशाली दल कम्युनिस्टों का है, और वही दल जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत अमेरिकन प्रतिनिधियों की दृष्टि में कोरिया के दक्षिण-पक्षी (कम्युनिस्ट-विरोधी) दलों का अधिक महत्त्व था। इस समय कोरिया के लोग दो मुख्य दलों में विभक्त थे। एक दल कम्युनिस्ट व्यवस्था का पक्षपाती था, और दूसरा दल अमेरिका ब्रिटेन के ढंग की लोकतन्त्र सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के पक्ष में था। यह सुगम नहीं था, कि इन दोनों दलों में समझौता हो सके। स्वाभाविक रूप से रूस के प्रतिनिधियों की यह इच्छा थी, कि सामयिक कोरियन सरकार का निर्माण करते हुए कम्युनिस्ट दल को प्रमुख स्थान दिया जाय। अमेरिकन प्रतिनिधि इसके-विरुद्ध थे। इस दशा में संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन का अपने उद्देश्य में सफल हो सकना संभव नहीं था।

रूस और अमेरिका दोनों ही कोरिया के अपने-अपने क्षेत्रों में अपने विचारों व आदर्शों के अनुसार सामयिक सरकारों के संगठन में तत्पर थे। यदि संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन एकमत होकर सम्पूर्ण कोरिया के लिये एक सरकार की स्थापना में समर्थ हो जाता, तो कोरिया की एकता अक्षुण्ण रहती। पर जब यह कमीशन अपने कार्य में असफल हो गया, तो रूस और अमेरिका के सम्मुख एक ही मार्ग शेष रह गया। इन दोनों ने अपने-अपने क्षेत्रों में ऐसी सरकारें संगठित करनी शुरू कर दीं, जो उनके अपने आदर्शों के अनुकूल थीं। उत्तरी कोरिया व्यवसायों और कल-कारखानों का केन्द्र था। वहां मजदूर श्रेणी की प्रचुरता थी, जो कम्युनिस्ट विचारधारा की अनुयायी थी। दक्षिण कोरिया की जनता मुख्यतया कृषि पर निर्भर थी। यद्यपि वहां भी कम्युनिज्म की सत्ता थी, पर इस क्षेत्र में कम्युनिस्टों का उतना जोर नहीं था, जितना कि उत्तरी कोरिया में था। अतः रूसी सेनाओं के संरक्षण में उत्तरी कोरिया में एक ऐसी शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार का सुगमता के साथ संगठन हो गया, जिसमें कम्युनिस्ट लोगों की प्रधानता थी। कम्युनिस्ट लोगों ने अन्य राजनीतिक दलों के साथ सहयोग कर एक नई पार्टी का संगठन किया, जिसे 'नवीन जनता दल' (न्यू पीपल्स पार्टी) का नाम दिया गया। इस नये दल ने एक सामयिक सरकार का संगठन किया, जिसके नेता श्री किम इर सेन थे। ये श्री किम इर सेन कम्युनिस्ट दल के प्रभावशाली व सुयोग्य नेता थे। इस सामयिक सरकार ने देश के शासन-सूत्र को भली-भाँति संभाल लिया, और इस प्रकार के अनेक सुधारों का सूत्रपात किया, जिनका उद्देश्य कोरिया की जनता का हित और कल्याण था। कोरिया की अधिकांश भूमि जापानी जागीरदारों की सम्पत्ति थी। इस भूमि को जापानी मालिकों से छीन कर कोरियन किसानों में विभक्त कर दिया गया। कोरियन लोगों के पास भी जो बड़ी-बड़ी जागीरें थीं, उनकी भूमि भी किसानों में बांट दी गई। भूमि-सम्बन्धी इस सुधार के कारण जो भूमि सर्वसाधारण किसानों (जिनके पास अब तक खेती के लिये कोई भी जमीन नहीं थी) में विभक्त की गई, उसका क्षेत्रफल १०,००,००० चो (एक चो—२·४५ एकड़) से भी अधिक था, और इससे जिन किसानों को लाभ पहुंचा, उनकी संख्या ७,२५,००० से भी अधिक थी। किम इर सेन की सरकार केवल जमीन को किसानों में बांट कर ही संतुष्ट नहीं हो गई, उसने यह भी प्रयत्न किया, कि किसानों को खेती के लिये आवश्यक उपकरण भी प्राप्त हों। जमीन के सम्बन्ध में व्यवस्था करके श्री किम इर सेन की सरकार ने व्यवसायों की उन्नति पर ध्यान दिया। अब तक कोरिया के प्रायः सभी कल-कारखाने जापानी लोगों के स्वत्व में थे। इन सब पर राज्य ने अपना स्वत्व स्थापित कर लिया। बात की बात में कोरिया के सब कल-कारखाने, बैंक और बीमा कम्पनियां आदि राज्य की सम्पत्ति बन गईं। जो छोटे व्यवसाय कोरियन लोगों के हाथों में थे, उन पर उन्हीं का अधिकार कायम रहने दिया गया। राज्य के स्वत्व में विद्यमान बड़े कल-कारखानों व अन्य आर्थिक संस्थानों में कार्य करने वाले मजदूरों के लिये इस प्रकार के कानून बनाये गये, जो मजदूरों तथा अन्य कर्मचारियों के लिये बहुत अधिक हितकर व सुविधाजनक थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सितम्बर, १९४६ में उत्तरी कोरिया की सामयिक सरकार ने अपने देश के लिये नये शासनविधान का भी निर्माण कर लिया। इसमें यह व्यवस्था की गई, कि सब बालिग पुरुषों और स्त्रियों को वोट का अधिकार प्राप्त हो, और वोट देने के लिये गुप्त पर्चियों (बैलट) का प्रयोग किया जाय। नया शासन-विधान समाजवादी और लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुसार बनाया गया था। देश को अनेक प्रान्तों में और प्रान्तों को अनेक जिलों में विभक्त करके यह व्यवस्था की गई थी, कि प्रान्तों, जिलों और नगरों का शासन-प्रबन्ध जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के हाथों में रहे। इसी के अनुसार नवम्बर, १९४६ में उत्तरी कोरिया में निर्वाचन किये गये। इस चुनाव में नवीन जनता दल को असाधारण सफलता प्राप्त हुई।

इस प्रकार जापान की अधीनता से मुक्त होने के लगभग एक साल बाद तक उत्तरी कोरिया में एक ऐसी सरकार की स्थापना हो गई थी, जो पूर्णतया राष्ट्रीय एवं स्वतन्त्र थी। यद्यपि रूसी सेनाएं अभी इस क्षेत्र में विद्यमान थीं, पर देश के शासन में वे कोई हस्तक्षेप नहीं करती थीं। सरकार का संचालन पूर्ण रूप से कोरियन लोगों के हाथों में था, और इस कोरियन सरकार का निर्माण लोकमत के अनुसार हुआ था। इसमें सन्देह नहीं, कि रूसी सेनाओं की सत्ता के कारण कोरिया की कम्युनिस्ट पार्टी को बल मिलता था, पर साथ ही यह बात भी निर्विवाद है, कि उत्तरी कोरिया के व्यवसाय-प्रधान क्षेत्रों में कम्युनिस्ट लोग अधिक शक्तिशाली थे, और जापानी लोगों की जागीरों को भूमिविहीन किसानों में विभक्त कर तथा जापानी लोगों के कल-कारखानों और बैंकों आदि को राज्य के स्वत्त्व में लाकर सरकार ने एक ऐसा कार्य किया था, जिसके कारण सर्वसाधारण जनता की सहानुभूति उसे अविकल रूप से प्राप्त हो गई थी।

(२) दक्षिणी कोरिया में रिपब्लिक की स्थापना

हम ऊपर लिख चुके हैं, कि ३८ वें पेरेलल के दक्षिण में (दक्षिणी कोरिया में) जापानी प्रभुत्त्व का अन्त करने का कार्य अमेरिकन सेनाओं के सुपुर्द किया गया था। इस अमेरिकन सेना के सेनापति जनरल जॉन हॉज थे, जो जनरल मैक् आर्थर की अधीनता में अपना कार्य करते थे। जिस प्रकार जापान में शासन के संचालन का कार्य जापानी सरकार के हाथों में रखा गया था, जिस प्रकार दक्षिणी कोरिया में भी शुरू में वहां का शासन जापानी कर्मचारियों के हाथों में ही रखा गया। ये जापानी कर्मचारी जनरल हॉज के आदेशों के अनुसार शासन का संचालन करते थे। जनवरी, १९४६ तक यह व्यवस्था कायम रही। जनवरी, १९४६ में दक्षिणी कोरिया के शासन के लिए एक अमेरिकन सैनिक सरकार का संगठन किया गया, जिसमें कोरियन लोगों का सहयोग भी प्राप्त किया गया। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस समय तक उत्तरी कोरिया में सर्वत्र जन-समितियां संगठित हो चुकी थीं, और जनता इन समितियों द्वारा अपने शासन-कार्य का स्वयं संचालन करने लग गई थी। अमेरिकन सैनिक सरकार शासन-कार्य में जिन कोरियन लोगों का सहयोग प्राप्त कर रही थी, वे प्रायः धनी एवं सम्पन्न लोग थे। इनके अतिरिक्त वे कोरियन लोग जो विदेशों में रहने के कारण अंग्रेजी भाषा और अमेरिकन आचार-विचार से भली भांति परिचित थे, इस सैनिक सरकार को सहयोग देने का कार्य कर रहे थे। अमेरिकन लोगों ने यह प्रयत्न नहीं किया, कि रूसी लोगों के समान सर्वसाधारण कोरियन जनता का सहयोग देश के शासन के लिये प्राप्त करें। फरवरी, १९४६ में जब उत्तरी कोरिया में एक ऐसी सामग्रिक सरकार की स्थापना हो गई थी, जिसकी शासन-शक्ति पूर्णरूप से जनता के हाथों में थी, दक्षिणी कोरिया में एक परामर्श-समिति (एडवा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इजरी कौंसिल) का निर्माण किया गया। पर इस कौंसिल में केवल उन लोगों को स्थान दिया गया, जो घोर दक्षिण-पक्षी विचारों के थे। कम्युनिस्ट और वामपक्षी लोगों के इसमें सम्मिलित होने का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था, जबकि उदार लोकतन्त्र विचारों के राजनीतिक दलों तक को इसमें स्थान नहीं दिया गया था।

नवम्बर, १९४६ में जब उत्तरी कोरिया में नये शासन-विधान के अनुसार नई निर्वाचित सरकार का संगठन हो गया, तब दक्षिणी कोरिया में अमेरिकन सैनिक सरकार ने एक सामयिक विधान-सभा का संगठन करने की व्यवस्था की। इस विधान सभा के विषय में यह निश्चय किया गया, कि इसके आधे सदस्य अमेरिकन सैनिक सरकार द्वारा मनोनीत किये जाएं, और आधे निर्वाचन द्वारा नियुक्त हों। पर इन निर्वाचित सदस्यों के लिये भी यह व्यवस्था की गई थी, कि उन्हें सब बालिग स्त्री पुरुष अपने वोटों द्वारा न चुनकर कतिपय सम्पन्न व शिक्षित लोग परोक्ष निर्वाचन-पद्धति द्वारा निर्वाचित करें। यह स्वाभाविक था, कि दक्षिणी कोरिया की सर्वसाधारण जनता इस विधान सभा और इसके सदस्यों की नियुक्ति की योजना का विरोध करती। परिणाम यह हुआ, कि नवम्बर, १९४६ के निर्वाचन से पूर्व ही सम्पूर्ण दक्षिणी कोरिया में अशान्ति और विद्रोह के चिन्ह प्रकट होने लगे। अक्टूबर, १९४६ में दक्षिणी कोरिया के मजदूरों ने आम हड़ताल की घोषणा कर दी। कई स्थानों पर दंगे और विद्रोह हुए। वामपक्षी दलों का कहना था, कि अमेरिकन सैनिक सरकार जान बूझकर इस बात का यत्न कर रही है, कि जनता के वास्तविक प्रतिनिधि विधान सभा में निर्वाचित न हो सकें, और केवल ऐसे लोग ही विधान सभा में आयें, जो अमेरिकन प्रभुत्व को कोरिया में स्थापित रखने में सहायक हों। इसके विपरीत अमेरिकन सैनिक सरकार का कहना था, कि दक्षिणी कोरिया में जो हड़तालें, दंगे एवं विद्रोह हो रहे हैं, वे सब कम्युनिस्ट लोगों की कृति हैं। यह स्वाभाविक था, कि विधान सभा में जो ५० प्रतिशत सदस्य निर्वाचन द्वारा नियुक्त होने थे, वे सब अनुदार एवं दक्षिणपक्षी विचारों के हों। ऐसा ही हुआ। केवल कम्युनिस्ट और वामपक्षी लोगों का ही नहीं, अपितु उदार लोकतन्त्रवादी लोगों का भी यह कहना था, कि नवम्बर, १९४६ का यह चुनाव एक तमाशामात्र था, और इसके कारण दक्षिणी कोरिया की वास्तविक जनता को विधान-सभा में अपने प्रतिनिधि भेज सकने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था।

इस प्रकार १९४६ के अन्त तक कोरिया में दो सरकारों की स्थापना हो गई थी। दोनों का रूप सामयिक था। उत्तरी कोरिया की सरकार लोकतन्त्रवाद पर आश्रित थी, और उसमें कम्युनिस्टों व अन्य वामपक्षी दलों का प्रभुत्व था। दक्षिणी कोरिया की सरकार में कुलीन श्रेणी के लोगों, जागीरदारों, पूंजीपतियों एवं अन्य दक्षिणपक्षी लोगों का जोर था, और वह अमेरिकन सरकार के संरक्षण व तत्त्वावधान में कायम की गई थी। एप्रिल, १९४७ में रूस के परराष्ट्रमन्त्री श्री मोलोतोव ने प्रस्ताव किया, कि संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन फिर से अपना कार्य प्रारम्भ करे, और सम्पूर्ण कोरिया के लिए एक लोकतन्त्र सरकार के संगठन का प्रयत्न करे। २१ मई, १९४७ को संयुक्त कमीशन ने अपने कार्य को फिर से शुरू किया, पर उसे अपने उद्देश्य में सफलता नहीं हो सकी। उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के दोनों भागों में पृथक्-पृथक् सरकारें कायम रहीं, और उन्हें एक करने के कार्य में संयुक्त कमीशन असफल रहा।

इस दशा में नवम्बर, १९४७ में अमेरिका की ओर से कोरिया की समस्या को संयुक्त राष्ट्र-संघ की जनरल एसेम्बली में पेश कर दिया गया। अमेरिका के प्रस्ताव पर जनरल एसेम्बली ने ११ नवम्बर, १९४७ को कोरिया के सम्बन्ध में यह निर्णय किया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि संयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से एक सामयिक कमीशन (यूनाइटेड नेशन्स टैम्परेरी कमीशन) की नियुक्ति की जाय, जो कोरिया में लोकमत के अनुसार नया निर्वाचन कराने का कार्य करे। इस कमीशन को यह अधिकार हो, कि वह कोरिया में जहां चाहे आ-जा सके, और निर्वाचन का निरीक्षण कर सके। रूस ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। उसका कहना था, कि मास्को कान्फरेन्स द्वारा मार्च, १९४६ में जिस संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन की नियुक्ति की गई थी, उसे अपना कार्य करने देना चाहिए, और इस कमीशन को यह यत्न करना चाहिये, कि वह कोरिया के सब लोकतन्त्र दलों के सहयोग से एक ऐसी कोरियन सरकार का संगठन करे, जो जनता के लोकमत का वास्तविक प्रतिनिधित्व करती हो। रूस के विरोध के बावजूद संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा नियुक्त सामयिक कमीशन ने कोरिया में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

उत्तरी कोरिया में सामयिक कमीशन का बहुत विरोध हुआ। वहां के राजनीतिक नेता इसके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग करने को तैयार नहीं हुए। वे नहीं चाहते थे कि लोकमत के अनुसार जन-समितियों के रूप में जो संगठन उत्तरी कोरिया में स्थापित हो चुका है, उसमें किसी भी प्रकार से बाधा उपस्थित हो। दक्षिणी कोरिया में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कम्युनिस्ट व वामपक्षी विचारधारा के अनुसार अपने क्षेत्र में जन-समितियों की स्थापना के पक्षपाती थे। अमेरिकन सैनिक सरकार ने इन्हें गिरफ्तार करके जेलों में डाला हुआ था। इस प्रकार गिरफ्तार हुए लोगों संख्या ३०,००० के लगभग थी। जब संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा नियुक्त सामयिक कमीशन ने देखा, कि उत्तरी कोरिया के लोग उसके साथ किसी भी प्रकार से सहयोग करने को तैयार नहीं हैं, तो उसने निश्चय किया, कि केवल दक्षिणी कोरिया में ही संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रस्ताव के अनुसार निर्वाचन कराये जाएं। अतः १० मई, १९४८ को कोरिया में निर्वाचन की व्यवस्था की गई। पर अमेरिकन सैनिक सरकार द्वारा अधिकृत इस प्रदेश में भी सामयिक कमीशन के खिलाफ भावना इतनी प्रबल थी, कि निर्वाचन से पहले ७ मई से १० मई तक के तीन दिनों में दक्षिणी कोरिया में अनेक स्थानों पर दंगे हुए। दंगे व विद्रोह के अपराध में सरकार ने जिन लोगों को गिरफ्तार किया, उनकी संख्या इन तीन दिनों में ५,४२४ तक पहुंच गई। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिये, कि दक्षिणी कोरिया की कुल आबादी २,००,००,००० के लगभग थी। दो करोड़ की जनसंख्या में ५४२४ व्यक्तियों का गिरफ्तार किया जाना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है, कि दक्षिणी कोरिया में भी संयुक्त राष्ट्र-संघ के निर्णय के विरुद्ध असन्तोष की भावना बहुत अधिक प्रबल थी।

१० मई, १९४८ के निर्वाचन के द्वारा दक्षिणी कोरिया में जिस राष्ट्रीय महासभा (नेशनल असेम्बली) का चुनाव हुआ, उसने देश के लिए नये शासन-विधान का निर्माण करने का कार्य अपने हाथों में ले लिया। १२ जुलाई, १८४८ तक राष्ट्रीय महासभा ने नया शासन-विधान तैयार भी कर लिया। इसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) कोरिया में रिपब्लिकन शासन की स्थापना की जाय। (२) कोरियन रिपब्लिक का शासन एक राष्ट्रपति के अधीन हो, जिसका चुनाव नेशनल एसेम्बली द्वारा किया जाय। राष्ट्रपति को कार्य में सहायता देने के लिए एक उपराष्ट्रपति भी हो। राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनों का चुनाव नेशनल एसेम्बली द्वारा चार वर्ष के लिए किया जाया करे। नेशनल एसेम्बली को यह अधिकार हो, कि महा-अपराध करने पर राष्ट्रपति पर अभियोग चला सके, और उन्हें अपने पद से पृथक् कर सके। (३) राज्य की व्यवस्थापन शक्ति नेशनल एसेम्बली में निहित हो, जिसके सदस्यों की नियुक्ति जनता के वोटों द्वारा हो। (४) राष्ट्रपति को यह अधिकार हो, कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को प्रधानमन्त्री के पद पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियत करे, जिसे नेशनल एसेम्बली के बहुसंख्यक सदस्यों का विश्वास प्राप्त हो, और यह प्रधानमन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया करे। (५) राष्ट्रपति को अधिकार हो, कि वह नेशनल एसेम्बली के किसी भी निर्णय को वीटो कर सके। (६) शासन विधान के एक पृथक् अध्याय में जनता के जन्मसिद्ध अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया। (७) न्याय विभाग का पृथक् रूप से संगठन करने की व्यवस्था की गई, और न्यायालयों को शासन विभाग के प्रभाव से स्वतन्त्र रखा गया। सुप्रीम कोर्ट को यह अधिकार दिया गया, कि वह किसी कानून, आदेश व प्रस्ताव के संविधान के अनुकूल या प्रतिकूल होने के सम्बन्ध में निर्णय दे सके।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि १२ जुलाई, १९४८ का यह शासनविधान लोकतन्त्र सिद्धान्तों के अनुकूल था, और इसके अनुसार प्रायः उसी ढंग की शासन व्यवस्था को कायम करने का प्रयत्न किया गया था, जैसी कि समाजवाद का अनुसरण न करने वाले अमेरिका, ब्रिटेन आदि देशों में कायम है। १० मई, १९४८ को निर्वाचित हुई नेशनल एसेम्बली ने डॉ० सिंगमन ऱ्ही को कोरिया का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया। प्रधानमन्त्री के पद पर श्री लो बोम सोक को नियुक्त किया गया। इस प्रकार दक्षिणी कोरिया में संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा नियुक्त सामयिक कमीशन के निरीक्षण एवं तत्वाधान में एक बाकायदा रिपब्लिकन सरकार कायम हो गई। यद्यपि उत्तरी कोरिया ने नेशनल एसेम्बली के चुनाव में कोई हिस्सा नहीं लिया था, पर डॉ० ऱ्ही की इस सरकार का दावा था, कि वह सम्पूर्ण कोरिया की वैध सरकार है, और वैधानिक रूप से उसका सम्पूर्ण कोरिया पर अधिकार है। उसका यह भी दावा था, कि क्योंकि उसका निर्माण संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा निश्चित की गई व्यवस्था के अनुसार हुआ था, अतः अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसी को अन्य देशों द्वारा मान्यता दी जानी चाहिये। चीन की सरकार (चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार) ने तुरन्त डॉ० ऱ्ही की सरकार को कोरिया की वैध सरकार के रूप में स्वीकार कर लिया। फिलिप्पीन की सरकार ने भी इस विषय में चीन का अनुसरण किया। डॉ० ऱ्ही की सरकार ने अब अमेरिका के सैनिक अधिकारियों के साथ इस प्रयोजन से बातचीत शुरू की, कि वे कोरिया के शासन-सूत्र को पूर्णरूप से रिपब्लिकन सरकार के सुपुर्द कर दें, ताकि कोरिया अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से पूर्ण रूप से स्वतन्त्र राज्य बन जाय, और जापान के आधिपत्य का अन्त करने के लिए जो अमेरिकन शासन वहां सामयिक रूप से स्थापित किया गया था, उसकी आवश्यकता न रहे।

(३) उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार

उत्तरी कोरिया में कम्युनिस्ट और अन्य वामपन्थी दलों के नेतृत्व में जिस सामयिक सरकार का संगठन हुआ था, उसका उल्लेख हम इसी अध्याय में ऊपर कर चुके हैं। इस सरकार का शासन ३८ वीं पेरलल के उत्तर में विद्यमान था। जब संयुक्त सोवियत-अमेरिकन कमीशन सम्पूर्ण कोरिया के लिए एक सरकार के संगठन में असफल हो गया, तो उत्तरी कोरिया के राजनीतिक नेताओं ने निश्चय किया, कि वे भी अपने देश के लिए स्थायी सरकार का निर्माण करें। इस उद्देश्य से विविध राजनीतिक दलों और अन्य सार्वजनिक संगठनों के नेता एक सभा में एकत्र हुए, और उन्होंने यह निश्चय किया, कि एक सर्वोच्च जन-महासभा (सुप्रीम पीपल्स एसेम्बली) का निर्वाचन किया जाय, जो कि देश के लिए नये शासन-विधान का निर्माण करे। इस निर्णय के अनुसार २५ अगस्त, १९४८ को उत्तरी कोरिया में महासभा के सदस्यों का निर्वाचन किया गया। इस महासभा में जिन विविध दलों व राजनीतिक संस्थाओं के उम्मीदवार निर्वाचित हुए, उनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संख्या ३२ थी। पर ये सभी वामपक्ष के विचारों के थे, और समाजवादी व्यवस्था के समर्थक थे। इस महासभा ने कोरिया के लिए एक नये शासन विधान को स्वीकृत किया। इस के अनुसार कोरिया के सम्बन्ध यह व्यवस्था की गई थी, कि वहां कोरियन जनता की लोकतन्त्र रिपब्लिक (कोरियन पीपल्स डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) की स्थापना की जाय। शासन-विधान का रूप प्रायः उसी ढंग का था, जैसा कि समाजवादी देशों में होता है। रूस के शासन-विधान की छाया स्पष्ट रूप से इस कोरियन संविधान पर विद्यमान थी। इस कोरियन पीपल्स रिपब्लिक के मन्त्रिमण्डल के प्रधान पद पर श्री किम इर सेन को नियुक्त किया गया था। डॉ० र्‌ही की दक्षिणी कोरियन रिपब्लिक के समान उत्तरी कोरिया की इस पीपल्स रिपब्लिक का भी यह दावा था, कि वह सम्पूर्ण कोरिया की वास्तविक और वैध सरकार है।

१० दिसम्बर, १९४८ को उत्तरी कोरिया की सुप्रीम पीपल्स एसेम्बली ने रूस और अमेरिका की सरकारों से एक समय में ही यह निवेदन किया, कि वे अपनी-अपनी सेनाएं कोरिया से वापस बुला लें। रूसी सरकार ने इस बात को स्वीकार कर लिया, और दिसम्बर, १९४८ में सब रूसी सेनाएं कोरिया से वापस बुला ली गईं। पर अमेरिका श्री किम इर सेन की उत्तरी कोरियन पीपल्स रिपब्लिक को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं था। वह दक्षिणी कोरिया में डॉ० र्‌ही के नेतृत्व में एक पृथक् सरकार की स्थापना करा चुका था, और इसी को सम्पूर्ण कोरिया की वास्तविक व वैध सरकार समझता था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि उत्तरी और दक्षिणी कोरिया की सरकारों में परस्पर संघर्ष का प्रारम्भ हो।

उत्तरी कोरिया में किम इर सेन की सरकार ने समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, वे निम्नलिखित थे—(१) जमींदारी प्रथा का उन्मूलन किया गया, और २४,५१,०३७ एकड़ कृषियोग्य भूमि बिना मुआवजे के जमींदारों से लेकर किसानों में वितरित कर दी गई। (२) बड़े कल-कारखानों, यातायात के साधनों, बैंकों, बीमा कम्पनियों और अन्य बड़े व्यवसायों को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दिया गया। (३) व्यवसायों के राष्ट्रीयकरण के साथ ही मजदूरों की दशा को सुधारने के लिये अनेक नये कानून बनाये गये। दफ्तरों व कारखानों में काम करने का समय आठ घण्टा प्रतिदिन निश्चित किया गया, और खतरनाक कारखानों व खानों में कार्य करने का अधिकतम समय सात घण्टा प्रतिदिन। यह भी व्यवस्था की गई, कि १४ साल से कम आयु के बालक मजदूरी न कर सकें, क्योंकि उन्हें अपना समय शिक्षा में व्यतीत करना चाहिए।

इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त उत्तरी कोरिया की सरकार ने १९४८ में एकवर्षीय योजना और १९४९ में द्विवर्षीय योजना तैयार कीं। इन योजनाओं का उद्देश्य कोरिया की आर्थिक उत्पत्ति में वृद्धि करना था। इन्हें अपने उद्देश्य में सफलता भी प्राप्त हुई। इन योजनाओं के परिणामस्वरूप उत्तरी कोरिया के कारखानों का उत्पादन १९४६ के मुकाबिले में ३॥ गुना बढ़ गया। कागज, शीशा, बिजली का सामान और मशीनरी आदि को तैयार करने के अनेक नये कारखाने वहां खोले गये, और इनके लिये नवीनतम ढंग के उपकरणों को प्रयोग में लाया गया। इसमें सन्देह नहीं, कि उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार को अपने देश की आर्थिक उन्नति में और जनता के जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में अच्छी सफलता प्राप्त हुई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) कोरिया का गृह-युद्ध

कोरिया में किस प्रकार दो विभिन्न सरकारों की स्थापना हुई, इस विषय पर हम इसी अध्याय में ऊपर प्रकाश डाल चुके हैं। दक्षिणी कोरिया की सरकार संयुक्त-राज्य अमेरिका के प्रभाव में थी, और उसी की सहायता पर निर्भर रहकर अपना कार्य कर रही थी। यह सरकार कम्युनिज्म के विरुद्ध थी, और अपने क्षेत्र में पूंजीवाद एवं वैयक्तिक सम्पत्ति पर आश्रित लोकतन्त्र शासन स्थापित करने में तत्पर थी। इसके विपरीत उत्तरी कोरिया की सरकार समाजवादी (कम्युनिस्ट) व्यवस्था को मानने वाली थी, और अपनी शक्ति के लिये रूस की सहायता व सहानुभूति पर भरोसा रखती थी। दोनों सरकारों का यह दावा था, कि वे सम्पूर्ण कोरिया की न्याय्य सरकारें हैं। इस दशा में उनमें परस्पर युद्ध का प्रारम्भ होना सर्वथा स्वाभाविक और अवश्यम्भावी था। जून, १९५० में कोरिया की दोनों सरकारों में युद्ध शुरू हो गया। इस युद्ध के लिये उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में कौन उत्तरदायी था, इसका निश्चय कर सकना सुगम नहीं है। उत्तरी कोरिया की सरकार युद्ध के लिये दक्षिणी कोरिया को दोषी ठहराती थी। उसका कहना था, कि राष्ट्रपति र्‌ही ने अमेरिका के इशारे पर युद्ध को शुरू किया है, और दक्षिणी कोरिया की सेनाओं ने ३८वीं पेरेलल को पार कर अनेक स्थानों पर कब्जा कर लिया है। उत्तरी कोरिया को अपने देश की रक्षा करने के उद्देश्य से ही ३८वीं पेरेलल को पार कर दक्षिणी कोरिया की सेनाओं पर आक्रमण करने के लिये विवश होना पड़ा है। इसके विपरीत दक्षिणी कोरिया की सरकार उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार को युद्ध के लिए दोषी ठहराती थी। संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् ने कोरियन युद्ध के लिए उत्तरी सरकार को उत्तरदायी माना, और अपने सदस्य-राज्यों से यह अपील की, कि वे कोरियन युद्ध में सिंगमन र्‌ही की सरकार की सहायता करें। युद्ध में पहल चाहे किसी की ओर से हुई हो, पर इस बात में कोई सन्देह नहीं, कि कोरियन गृह-कलह का आधारभूत कारण सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका की परस्पर-विरोधी राजनीति ही थी। अमेरिका यह चाहता था, कि कोरिया में समाजवादी व्यवस्था कायम न होने पाये, और वहां ऐसी सरकार कायम रहे जो समाजवाद (कम्युनिज्म) की विरोधी हो, और जो अमेरिकन ढंग की पूंजीवादी लोकतन्त्र व्यवस्था की पक्षपाती हो। इसके विपरीत रूस और कम्युनिस्ट चीन कोरिया को कम्युनिस्ट प्रभाव में ले आने के लिये उत्सुक थे। कोरिया की जनता में भी उन लोगों का बहुत जोर था, जो अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के पक्षपाती थे।

कोरिया का गृह-युद्ध और संयुक्त राष्ट्रसंघ—२५ जून, १९५० को कोरिया के गृह-युद्ध का मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख पेश हुआ, जिसमें यह प्रस्ताव स्वीकृत किया गया कि राष्ट्र-संघ की ओर से कोरिया में सैनिक कार्यवाही की जाय। इस प्रस्ताव के पक्ष में ९ वोट आये। सुरक्षा परिषद् की इस बैठक में रूस का प्रतिनिधि उपस्थित नहीं था, और चेकोस्लाविया ने किसी भी पक्ष में अपना वोट नहीं दिया था। इस प्रस्ताव द्वारा सुरक्षा परिषद् ने यह भी घोषित किया, कि कोरिया के गृहयुद्ध में उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार का दोष है, और उसे अपनी सेनाएं तुरन्त ३८वीं पेरेलल के उत्तर में वापस लौटा लेनी चाहियें। सुरक्षा परिषद् की इसी बैठक में एक अन्य प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया, कि संयुक्त राष्ट्र-संघ कोरियन रिपब्लिक (दक्षिणी कोरिया) को ऐसी सहायता दे, जिसके द्वारा वह उत्तरी कोरिया के सशस्त्र आक्रमण का प्रतिरोध कर सके और उस देश में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सके। इस प्रस्ताव में पक्ष में सात वोट आये, क्योंकि यूगोस्लाविया, भारत और ईजिप्ट ने इसके पक्ष में वोट नहीं दिया था, और रूस बैठक में अनुपस्थित था। ७ जुलाई, १९५० को सुरक्षा-परिषद् की एक अन्य बैठक हुई, जिसमें यह निश्चय किया गया कि कोरियन रिपब्लिक को संयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से सैनिक सहायता देने के लिये एक संयुक्त सैनिक कमाण्ड का संगठन किया जाय, जिसका सेनापतित्व संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के हाथों में हो।

अब अमेरिका को यह अवसर मिल गया, कि वह संयुक्त राष्ट्र-संघ के नाम पर कोरिया में हस्तक्षेप कर सके। उसकी सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में कोरिया पहुंच गई, और उन्होंने कोरिया के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ कर दिया। अमेरिका की इच्छा थी, कि उसकी सेनाएं सम्पूर्ण कोरिया पर कब्जा कर लें, जिससे कि इस देश के उत्तरी भाग से कम्युनिस्टों के शासन का अन्त हो जाए। अमेरिका जैसे शक्तिशाली देश का मुकाबिला कर सकना कोरिया के कम्युनिस्टों के लिये सम्भव नहीं था। पर चीन इस अवसर पर उत्तरी कोरिया की सहायता के लिये आगे बढ़ा, और अच्छी बड़ी संख्या में चीनी स्वयं-सेवक कोरियन कम्युनिस्टों का पक्ष लेकर लड़ने के लिये भरती किये जाने लगे। नवम्बर, १९५० में चीनी स्वयंसेवक सेना कोरिया पहुंच गई, जिसके कारण वहां युद्ध की स्थिति ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया। यद्यपि रूस इस युद्ध में तटस्थ रहा, पर चीन की स्वयं-सेवक सेना की सहायता के कारण उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार ने अमेरिकन सेनाओं का डट कर मुकाबिला किया, और उन्हें अधिक आगे नहीं बढ़ने दिया। कोरियन युद्ध की स्थिति इस समय इतनी गम्भीर होती जा रही थी, कि अनेक बार ऐसा प्रतीत होने लगता था, कि यह गृह-युद्ध शीघ्र ही विश्वव्यापी महायुद्ध का रूप धारण कर लेगा। इस संकटमय परिस्थिति में भारत ने बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया। उसकी प्रेरणा से चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने समझौता करने का निश्चय किया, और सामयिक सन्धि करके युद्ध को बन्द कर देने के लिए तीन शर्तें पेश कीं—(१) कोरिया से सब विदेशी सेनाओं को वापस बुला लिया जाए, (२) अमेरिका की सेनाएं फार्मूसा से भी हटा ली जाएं, और (३) चीन की कम्युनिस्ट सरकार को संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा मान्यता दी जाए, और उसे संघ की सदस्यता प्रदान कर दी जाए। पर अमेरिका के लिये इन शर्तों को स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं था। उसके प्रयत्न से संयुक्त राष्ट्र-संघ ने कोरिया के मामले में चीन की कम्युनिस्ट सरकार को आक्रान्ता (एग्रेसर) घोषित कर दिया (१ फरवरी, १९५१), जिसके कारण स्थिति और भी अधिक बिगड़ गई।

एक साल तक कोरिया का गृह-युद्ध चलता रहा, जिसमें संयुक्त राष्ट्र-संघ (या अमेरिका) की सेनाएं दक्षिणी कोरिया की रिपब्लिकन सरकार की सहायता कर रही थीं, और चीन की स्वयंसेवक सेना उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार की। पर इस बीच में युद्ध को बन्द कर सामयिक सन्धि करने के प्रयत्न निरन्तर जारी रहे। इन प्रयत्नों की सफलता में मुख्य बाधा यह समस्या थी, कि युद्ध में बन्दी हुए सैनिकों का प्रत्यावर्तन किस ढंग से किया जाये। चीन और कोरिया के कम्युनिस्टों का यह कहना था, कि कम्युनिस्ट पक्ष के जो सैनिक व अन्य लोग कैद हुए हैं, उन्हें उत्तरी कोरिया वापिस भेज देना चाहिये। पर अमेरिका का कहना था, कि उत्तरी कोरिया के बहुत-से कैदी अपने देश को लौट कर नहीं जाना चाहते। उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें कम्युनिस्टों के सुपुर्द कर देना कभी-भी स्वीकार्य नहीं हो सकता। इस समस्या को हल करने के लिये भी भारत ने बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया, और उसके प्रयत्न से ही संयुक्त राष्ट्र-संघ ने एक ऐसे कमीशन की नियुक्ति की, जिसके सब सदस्य तटस्थ देशों से लिये गये थे। इस कमीशन का अध्यक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत के जनरल थिमैय्या को नियुक्त किया गया। २७ जुलाई, १९५३ को दक्षिणी कोरिया और उत्तरी कोरिया में सामयिक सन्धि हो गई, जिसके परिणामस्वरूप गृह-युद्ध का अन्त हुआ। कैदियों को वापस लौटाने के सम्बन्ध में कुछ समय तक दोनों राज्यों में कटुता उत्पन्न होती रही, पर अन्त में इस समस्या का भी शान्तिपूर्वक हल हो गया। बहुत-से कोरियन लोग इस समय अन्य देशों में भी जाकर बस गये, क्योंकि उन्हें अपने पुराने देश में लौट जाना स्वीकार्य नहीं था।

१९५३ के बाद भी कोरिया दो राज्यों में विभक्त रहा। उत्तरी कोरिया का क्षेत्रफल ४७,२२५ वर्गमील है, और उसकी जनसंख्या १,२५,००,००० है। वहां कम्युनिस्ट ढंग की राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था कायम है। दक्षिणी कोरिया का क्षेत्रफल ३८,४५२ वर्गमील है, और उसकी जनसंख्या २,९३००,००० के लगभग है। यह राज्य अमेरिका के प्रभाव में है, और इसकी शासन-व्यवस्था भी पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के ढंग की है। व्यावसायिक दृष्टि से यह उत्तरी कोरिया का मुकाबिला नहीं कर सकता।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद उत्पन्न हुई परिस्थितियों के कारण कोरिया अपनी राष्ट्रीय एकता को कायम रख सकने में असमर्थ रहा है। वह दो राज्यों में विभक्त हो गया है, और इन दोनों में परस्पर-विरोधी विचारधाराओं पर आश्रित सरकारों का शासन है। इन दोनों राज्यों में एकता की स्थापना और सम्पूर्ण कोरिया में एक शासन कायम करने के लिये जो भी प्रयत्न अब तक हुए, वे सफल नहीं हो सके। २७ जुलाई, १९५३ की सामयिक सन्धि में यह व्यवस्था भी की गई थी, कि गृह-युद्ध का अन्त हो जाने के बाद कोरिया के सम्बन्ध में स्थायी निर्णय करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा, पर इस कान्फरेन्स का संगठन नहीं किया जा सका। एप्रिल-जून १९५४, में पूर्वी एशिया की समस्याओं पर विचार करने के लिये जो कान्फरेन्स जिनीवा में हुई थी, वह भी कोरिया के सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्णय नहीं कर सकी, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। इस प्रकार कोरिया की समस्या अब तक भी भली-भांति हल नहीं हो सकी है, और वहां दो राज्यों की सत्ता जारी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अठ्ठाईसवां अध्याय

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का प्रसार

(१) चीन में कम्युनिस्ट शासन

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर चीन में किस प्रकार गृहयुद्ध (१९४६-४९) हुआ, और उसमें महासेनापति चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग दल की पराजय होकर किस प्रकार कम्युनिस्ट दल की विजय हुई, इस विषय पर हम इस पुस्तक के चौबीसवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना न केवल एशिया के आधुनिक इतिहास की अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है, अपितु संसार के इतिहास की दृष्टि से भी उसका अत्यधिक महत्व है। इसलिए यह उपयोगी होगा, कि हम कम्युनिस्ट चीन के सम्बन्ध में कुछ अधिक विशद रूप से विचार करें।

कम्युनिस्ट सरकार—गृहयुद्ध में विजयी होकर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने समाजवादी आदर्शों के अनुसार देश में शासन को स्थापित किया। इसके लिए जनता के प्रतिनिधियों की एक महासभा का आयोजन किया गया, जिसे 'चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा' (चायनीज पीपल्स पोलिटिकल कान्सल्टेटिव कान्फरेन्स) कहा जाता है। इस महासभा के ६६२ सदस्य थे, जो विविध राजनीतिक दलों और प्रान्तों का प्रतिनिधित्व करते थे। महासभा का अधिवेशन २१ सितम्बर, १९४९ को शुरू हुआ, और दस दिन तक चलता रहा। इसमें न केवल चीन के लिए नये संविधान का निर्माण किया गया, अपितु साथ ही उन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक आदर्शों का भी निर्धारण किया गया, जिन्हें चीन की नई सरकार को अपने सम्मुख रखना है। चीन का नया संविधान समाजवादी सिद्धान्तों के अनुसार बनाया गया, और यह निश्चय किया गया कि देश में समाजवादी व्यवस्था को कायम किया जाय।

चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा ने देश की केन्द्रीय सरकार का प्रधान (चयरमैन) माओ त्से तुंग को निर्वाचित किया। माओ त्से तुंग चीन के कम्युनिस्ट दल के प्रधान नेता हैं, और कुओमिन्तांग दल को परास्त करने के कार्य में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। कम्युनिस्ट चीन में उनका वही स्थान है, जो कम्युनिस्ट रूस में लेनिन और स्टालिन का था। इसी महासभा ने केन्द्रीय सरकार के लिये छः उपप्रधानों का भी निर्वाचन किया, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—मदाम सन यात सेन, श्री चांग लांग, जनरल चू तेह, श्री काओ कांग, श्री ल्यू शाओ-ची और जनरल ली चिह-शेंग। मदाम सन यात सेन कुओमिन्तांग दल के संस्थापक डॉ० सन यात सेन की पत्नी हैं, और चियांग काई शेक के साथ उनका मतभेद था। उनका विचार था, कि चियांग काई शेक के नेतृत्व में कुओमिन्तांग दल ने अपने संस्थापक की नीति एवं आदर्शों का परित्याग कर दिया है। श्री चांग लांग चीन की डेमोक्रेटिक लीग के अध्यक्ष थे। यह लीग वामपक्ष की अनुयायी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते हुए भी कम्युनिस्ट दल से पृथक् स्थिति रखती थी। जनरल चूतेह कम्युनिस्ट सेनाओं के प्रधान सेनापति थे, और कुओमिन्तांग सेनाओं को परास्त करने के लिए कम्युनिस्ट दल की ओर से जिस जन-स्वातन्त्र्य सेना का संगठन किया गया था, उसके प्रधान संचालक थे। श्री काओ कांग मञ्चूरिया की प्रादेशिक सरकार के प्रधान (चैयरमैन) थे। श्री ल्यू शाओ ची कम्युनिस्ट दल के नेता थे, और उसकी केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति के सदस्य थे। जनरल ली चिह-शेंग क्रान्तिकारी कुओमिन्तांग दल के अध्यक्ष थे। कुओमिन्तांग दल के सभी सदस्य महासेनापति चियांग काई शेक के अनुयायी नहीं थे। उसके अनेक व्यक्ति चियांग काई शेक की नीति से मतभेद रखते थे, और यह समझते थे, कि महासेनापति ने डॉ० सन यात सेन के आदर्शों का परित्याग कर दिया है। इन लोगों ने अपनी पृथक् पार्टी का संगठन कर लिया था, और जनरल ली चिह-शेंग इन्हीं के नेता थे।

एक प्रधान और छः उपप्रधानों के अतिरिक्त 'चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा' ने एक केन्द्रीय जन शासन कौंसिल (सेन्ट्रल पीपल्स गवर्नमेंट कौंसिल) का भी निर्वाचन किया, जिसके ५६ सदस्य थे। यह कौंसिल महासभा की उपसमिति की स्थिति रखती थी, जिसका कार्य चीनी सरकार की नीति का निर्धारण करना था। ५६ सदस्यों के अतिरिक्त चीनी रिपब्लिक के प्रधान और उपप्रधान अपने पदाधिकार से इस कौंसिल के सदस्य होते थे। इस प्रकार इस कौंसिल के सदस्यों की कुल संख्या ६३ थी। यह कौंसिल केन्द्रीय चीनी सरकार की नीति का निर्धारण ही नहीं करती थी, अपितु इसे यह भी अधिकार दिया गया था, कि यह राज्य के लिए कानूनों का निर्माण भी कर सके।

केन्द्रीय जन-शासन कौंसिल के निरीक्षण में कार्य करने के लिए चार कौंसिलों का निर्माण किया गया था। ये चार कौंसिलें निम्नलिखित थीं—(१) शासन सभा (स्टेट एडमिनिस्ट्रेटिव कौंसिल)—इस सभा के सदस्यों की संख्या २१ नियत की गई। इसकी वही स्थिति रखी गई, जो लोकतन्त्र राज्यों में मन्त्रिमन्डल की होती है। यह व्यवस्था की गई, कि चीन का प्रधानमन्त्री इस शासनसभा का अध्यक्ष हो, और उसे अपने कार्य में सहायता प्रदान करने के लिए चार उप-प्रधानमन्त्री रहें। प्रधानमन्त्री और चार उप-प्रधानमन्त्रियों के अतिरिक्त इस शासन सभा के १५ अन्य सदस्य नियत किये गये। साथ ही, इस सभा के सचिव के रूप में एक अन्य पदाधिकारी को नियत किया गया, जिसे सेक्रेटरी-जनरल कहते हैं। कम्युनिस्ट चीनी सरकार के प्रधानमन्त्री के पद पर श्री चाऊ एन-लाई को नियत किया गया। (२) जन क्रान्तिकारी सैनिक कौंसिल (पीपल्स रेवोल्युशनरी मिलिटरी कौंसिल)—इस कौंसिल को सैन्य-संचालन का कार्य सुपुर्द किया गया। (३) सर्वोच्च जन न्यायालय (सुप्रीम पीपल्स कोर्ट)—इस न्यायालय को चीन के न्याय विभाग के संचालन का कार्य दिया गया। (४) जन निरीक्षण विभाग—इसे यह कार्य प्रदान किया गया, कि यह शासन के विविध अंगों का निरीक्षण करे। यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं है, कि चार कौंसिलों व विभागों का निर्माण करते हुए डॉ० सन यात सेन के शासन-सम्बन्धी विचारों व आदर्शों को दृष्टि में रखा गया था। ये विभाग प्रायः उसी ढंग से बनाये गए थे, जैसे कि डॉ० सन यात सेन ने प्रतिपादित किया था।

३० सितम्बर, १९४९ को 'चीनी जनता की राजनीतिक परामर्शदात्री महासभा' ने अपना कार्य समाप्त कर दिया, और एक अक्टूबर, १९४९ को चीन में समाजवादी रिपब्लिक की बाकायदा स्थापना कर दी गई। चीन के कम्युनिस्ट दल की दृष्टि में एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अक्टूबर, १९४९ का दिन बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कम्युनिस्ट चीन में यह माना जाता है, कि इस दिन से चीन के इतिहास में एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ है।

गृहयुद्ध की परिस्थिति के कारण यह सम्भव नहीं था, कि चीन में सर्वत्र शान्ति व व्यवस्था स्थापित हो सकती। यद्यपि कुओमिन्तांग दल और उसकी सैन्य-शक्ति को परास्त किया जा चुका था, पर चीन जैसे विशाल देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित कर सकना सुगम बात नहीं थी। यही कारण है, कि कम्युनिस्ट चीन में सर्वसाधारण जनता के वोटों द्वारा किसी केन्द्रीय पार्लियामेंट का निर्वाचन नहीं किया जा सका। चीनी जनता की केन्द्रीय परामर्शदात्री महासभा के सदस्यों की नियुक्ति जनता द्वारा निर्वाचित होकर नहीं हुई थी। पर इसमें सन्देह नहीं, कि इस महासभा के सदस्य उन विविध दलों का प्रतिनिधित्व करते थे, जो समाजवादी व्यवस्था के पक्षपाती व वामपक्ष के थे। महासभा ने कम्युनिस्ट चीन के शासन के सम्बन्ध में जिस नीति व आदर्शों को स्वीकार किया था, उनके अनुसार यह व्यवस्था की गई थी, कि चीन के जिन-जिन प्रान्तों व प्रदेशों में शान्ति और व्यवस्था कायम होती जाय, उनमें जनता (प्रत्येक बालिग स्त्री और पुरुष) के वोटों द्वारा स्थानीय व प्रान्तीय सभाओं का निर्वाचन कर लिया जाय, और इन सभाओं को कानून बनाने व शासन पर नियन्त्रण रखने के अधिकार प्रदान किये जाएं। इस नीति के अनुसार बाद में चीन के सभी प्रदेशों में जनता द्वारा निर्वाचित सभाओं की स्थापना की गई।

कम्युनिस्ट शासन में चीन की उन्नति—१ अक्टूबर, १९४९ को चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था के अनुसार लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हुई थी। इस समय से अगले दो वर्षों में चीन ने जो असाधारण उन्नति की, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। चीन की इस प्रगति पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना उपयोगी होगा।

(१) विशाल चीन में राजनीतिक एकता स्थापित करने में कम्युनिस्ट सरकार को असाधारण सफलता मिली है। क्षेत्रफल की दृष्टि से चीन बहुत बड़ा देश है। इसकी जनसंख्या ६५,००,००,००० से भी अधिक है। जनसंख्या की दृष्टि से संसार का अन्य कोई देश चीन का मुकाबिला नहीं करता। इतने विशाल देश में राजनीतिक एकता कायम करना साधारण बात नहीं है। मञ्चू सम्राटों के शासन-काल में चीन के विविध प्रदेश सम्राट् की अधीनता को स्वीकार करते थे, पर साम्राज्य के अन्तर्गत अनेक राज्य व प्रदेश क्रियात्मक दृष्टि से स्वतन्त्र थे और मञ्चू सम्राटों का उन पर प्रभुत्व केवल नाममात्र को ही था। १९११ में जब चीन में राज्यक्रान्ति हुई, तो विकेन्द्रीभाव (डीसेन्ट्रलिजेशन) की प्रवृत्तियां बहुत प्रबल हो गई, और विविध सिपहसालार अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र हो गये। कुओमिन्तांग दल ने चीन में राष्ट्रीय एवं राजनीतिक एकता को स्थापित करने का बहुत प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। कम्युनिस्ट सरकार इस कार्य में वस्तुतः सफल हुई है। फार्मूसा के अतिरिक्त चीन के सब प्रदेश इस समय कम्युनिस्ट शासन में हैं। १९५० के मार्च मास तक हैनान और फार्मूसा द्वीपों के अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण चीन पर कम्युनिस्ट सरकार का आधिपत्य स्थापित हो गया था। बाद में हैनान पर भी कम्युनिस्ट सेनाओं ने अपना कब्जा कर लिया। १९५१ के मध्य भाग में तिब्बत में कम्युनिस्ट सेनाओं ने प्रवेश किया, और वहां की सरकार ने पेकिंग की केन्द्रीय कम्युनिस्ट सरकार की अधीनता स्वीकृत कर ली। मञ्चू शासन के काल में और उससे पूर्व भी तिब्बत चीन का अधीनस्थ राज्य माना जाता था। १९१२ के बाद चीन में कोई शक्तिशाली व व्यवस्थित केन्द्रीय सरकार नहीं रह गई थी, और तिब्बत की स्थिति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रियात्मक दृष्टि से एक स्वतन्त्र राज्य के समान हो गई थी। पर अब तिब्बत फिर चीन का अंग बन गया है, और विशाल चीन में अविकल रूप से राजनीतिक एकता कायम हो गई है। कम्युनिस्ट सरकार इस प्रयत्न में है, कि फार्मूसा को भी कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता से मुक्त कर उसे भी अपने अधीन कर ले, और इस प्रकार सम्पूर्ण चीन को एक शासन में ले आये। इसमें सन्देह नहीं, कि चीन को एक शासन में ले आने और और उसके विविध प्रदेशों में व्यवस्थित शासन स्थापित करने में कम्युनिस्ट लोगों को अद्भूत सफलता प्राप्त हुई है।

(२) राष्ट्रीय दृष्टि से चीन के सब निवासी एक नहीं हैं। चीनी लोगों के अतिरिक्त इस देश में तिब्बती, मंगोल, मुस्लिम, मियाओ, यिस आदि अनेक जातियों के लोग भी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं। इन विविध प्रकार के लोगों में राष्ट्रीय एकता को स्थापित कर सकना सुगम कार्य नहीं है। कम्युनिस्ट सरकार ने अल्पसंख्यक जातियों के सम्बन्ध में यह नीति निर्धारित की, कि उन्हें अपनी जातीय विशेषताओं (भाषा, धर्म परम्परा, रीति-रिवाज आदि) को विकसित करने का पूरा अवसर दिया जायगा, और चीन के लोकतन्त्र गणराज्य में उनकी स्थिति बहुसंख्यक चीनी लोगों के समान व समकक्ष मानी जायगी। इस नीति को क्रिया में परिणत करने के लिये कम्युनिस्ट सरकार ने प्रत्येक अल्पसंख्यक जाति के लोगों को पृथक् व स्वतन्त्र राज्यों के रूप में संगठित करने का प्रयत्न किया, जो विशाल चीनी लोकतन्त्र गणराज्यों के अन्तर्गत रहते हुए भी अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। अल्पसंख्यक जातियों के इन पृथक् स्वतन्त्र राज्यों की स्थिति को स्पष्ट करने के लिये आभ्यन्तर मंगोलिया के उदाहरण को सम्मुख रखना उपयोगी होगा। आभ्यन्तर मंगोलिया के निवासी मंगोल जाति के हैं, और उनकी संख्या ८,००,००० से अधिक है। मंगोल लोगों के अतिरिक्त इस प्रदेश में चीनी लोग भी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं, और आभ्यन्तर मंगोलिया में बसे हुए चीनी लोगों की संख्या १५ लाख से कम नहीं है। यह स्पष्ट, है कि आभ्यन्तर मंगोलिया में मंगोल लोग बहुसंख्या में न होकर अल्पसंख्या में हैं। पर चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने इस प्रदेश को एक स्वतन्त्र व पृथक् राज्य के रूप में परिणत किया, ताकि मंगोल लोग वहां अपनी जातीय विशेषताओं का सुचारु रूप से विकास कर सकें। मंगोल लोगों को उनकी अपनी भाषा में शिक्षा दी जाती है, और मंगोल भाषा में साहित्य का बहुत तेजी के साथ विकास हो रहा है। मंगोल भाषा में अनेक पत्र-पत्रिकाएं भी प्रकाशित होने लगी हैं, और आभ्यन्तर मंगोलिया के सब शिक्षणालयों में मंगोल भाषा का अध्ययन अनिवार्य कर दिया गया है। इसी प्रकार की नीति तिब्बत, सिन्किआंग आदि अन्य प्रदेशों में भी अपनायी गई है, क्योंकि इन प्रदेशों के निवासी जातीय दृष्टि से चीनी लोगों से भिन्न हैं। कम्युनिस्ट लोगों की इस नीति के कारण विशाल चीन में रहने वाले अल्पसंख्यक जातियों के लोग सन्तोष अनुभव करते हैं।

(३) माओ त्से तुंग की सरकार ने चीन में समाजवादी व्यवस्था के अनुसार आर्थिक नीति का अनुसरण किया। इसके लिये उसने जो महत्त्वपूर्ण कदम उठाये, वे निम्नलिखित हैं :—(क) जापानी लोगों के स्वामित्व में जो कारखाने, खानें, रेलवे, जहाज, बैंक व अन्य व्यवसाय थे, उन सबको राज्य ने अपने स्वामित्व में ले लिया (ख) इसी प्रकार कुओमिन्तांग दल के पूंजीपतियों और सम्पन्न लोगों के हाथों में विद्यमान कल-कारखानों व अन्य व्यवसायों को उनसे छीनकर राज्य के स्वामित्व में ले आया गया। इसका यह परिणाम हुआ, कि चीन के कुल व्यवसायों का ५० प्रतिशत के लगभग भाग राज्य के स्वामित्व में आ गया। (ग) कम्युनिस्ट सरकार ने यह प्रयत्न नहीं किया, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवसायों और व्यापार का संचालन व्यक्तियों के हाथों में सर्वथा न रहने दिया जाय। चीन के जो व्यवसायपति और व्यापारी कुओमिन्तांग दल के साथ सम्बन्ध नहीं रखते थे, उन्हें यह अवसर दिया गया, कि वे पहले के समान अपने व्यापार और व्यवसायों का संचालन करते रहें। पर उनके सम्बन्ध में भी यह व्यवस्था की गई, कि वे कल-कारखानों आदि के प्रबन्ध के मामले में उसी नीति का अनुसरण करें, जो कि राज्य द्वारा संचालित कल-कारखानों में प्रयुक्त की जाती है। राज्य द्वारा संचालित कारखानों, बैंकों रेलवे आदि में मजदूरों का बहुत अधिक महत्त्व है। कारखानों के कर्मचारी उनके प्रबन्ध में भी हाथ बंटाते हैं, और वे आर्थिक उत्पत्ति में वृद्धि करने के लिये स्वयं प्रयत्नशील रहते हैं।

(४) भूमि-सम्बन्धी कानून में सुधार करने के लिए चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने विशेष रूप से उद्योग किया। चीन में जमीन सम्पन्न जमींदारों की वैयक्तिक सम्पत्ति थी। ये जमींदार भोग-विलास में जीवन व्यतीत करते थे, और कृषि की उन्नति पर जरा भी ध्यान नहीं देते थे। किसानों की दशा बहुत खराब थी। चीन की ८० प्रतिशत जनता अपनी आजीविका के लिये कृषि पर आश्रित थी, पर बहुसंख्यक किसान खेती से इतनी आमदनी प्राप्त नहीं कर पाते थे, जिससे कि वे अपना निर्वाह भलीभांति कर सकें। कम्युनिस्ट सरकार ने यह व्यवस्था की, कि जमीन पर से जमीदारों के स्वत्त्व को नष्ट कर दिया जाय, और जमींदारों को अपनी भूमि के बदले में किसी भी प्रकार का मुआवजा न दिया जाय। वे केवल इतनी जमीन अपने पास रख सकें, जिस पर कि वे स्वयं खेती कर सकें, और जो उनके गुजारे के लिये पर्याप्त हो। जमींदारों से जो जमीन ली गई, वह उन किसानों में बांट दी गई, जो स्वयं उस पर खेती करने के लिए तैयार थे। इस नीति का परिणाम यह हुआ, कि करोड़ों गरीब चीनी किसान खेती के लिये जमीन प्राप्त करने में समर्थ हुए। जमीन की व्यवस्था करने का कार्य स्थानीय ग्राम-सभाओं के सुपुर्द किया गया। देहातों में जो स्थिति पहले शक्तिशाली व सम्पन्न जमींदारों की थी, वह अब ग्राम-सभाओं को प्राप्त हुई। इन ग्राम-सभाओं के सदस्य ग्राम के किसान ही हों, यह व्यवस्था भी की गई। पर यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि भूमि-सम्बन्धी इन सुधारों को सारे देश में एकदम लागू कर सकना सुगम व क्रियात्मक नहीं था। चीन जैसे विशाल देश में इन क्रान्तिकारी सुधारों को एक साथ प्रारम्भ कर सकना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं था। अतः कम्युनिस्ट सरकार ने यह व्यवस्था की, कि धीरे-धीरे इन सुधारों को चीन के विविध प्रदेशों में लागू किया जाय। कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के दो साल बाद १ अक्टूबर, १९५१ तक यह स्थिति आ गई थी, कि चीन की (अल्पसंख्यक जातियों के प्रदेशों को छोड़कर) दो तिहाई से भी अधिक जमीन से जमींदारों के स्वत्त्व का अन्त कर उसे किसानों में विभक्त कर दिया गया था। जिन लोगों को इन भूमि-सम्बन्धी सुधारों से लाभ पहुंचा था, उनकी संख्या ३० करोड़ से भी अधिक थी। इसमें सन्देह नहीं, कि दो साल के थोड़े-से समय में कृषि-सम्बन्धी इतने महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी सुधार करके कम्युनिस्ट सरकार ने चीन के देहातों की दशा में बड़ा भारी परिवर्तन ला दिया था। अब चीन का किसान जमींदार का अर्धदास न होकर अपनी उपज का स्वयं मालिक हो गया, और इसी कारण वह अधिक से अधिक पैदावार का प्रयत्न करने लगा। चीन में अनाज की समस्या के हल होने में इससे बहुत अधिक सहायता मिली। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है, कि शुरू में चीन के सब किसान आमदनी की दृष्टि से एक समान स्थिति नहीं रखते थे। वहां ऐसे भी किसान मौजूद थे, जो अधिक सम्पन्न थे और जो यान्त्रिक शक्ति की सहायता से बड़े-बड़े खेतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में खेती किया करते थे। कम्युनिस्ट सरकार ने इन किसानों से अतिरिक्त भूमि को छीनकर उसे भूमिविहीन किसानों में विभक्त करने की नीति को तुरन्त नहीं अपनाया, क्योंकि उसका ख्याल था कि देश की वर्तमान स्थिति में इन सम्पन्न किसानों से अनाज की पैदावार में सहायता मिलती है।

(५) चीन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या यह थी, कि वहां नदियों में बहुत बाढ़ें आती रहती थीं, और इन बाढ़ों के कारण जहां लाखों एकड़ जमीन से खेती नष्ट हो जाती थी, वहां लाखों आदमी भी बेघरबार के हो जाते थे। कम्युनिस्ट सरकार ने नदियों पर बांध बांधकर व अनेक अन्य उपायों का अवलम्बन कर इन बाढ़ों को रोकने का प्रयत्न किया। अपने शासन के पहले दो वर्षों में कम्युनिस्ट सरकार ने नदियों पर जो बांध बंधवाये, उनका आकार बहुत विशाल है। यदि एक मीटर (एक मीटर = ४० इञ्च के लगभग) ऊंचा और एक मीटर चौड़ा बांध भूमध्य रेखा के साथ-साथ बांधा जाय, तो उसके २४ चक्कर लगाने में जितने बांध की आवश्यकता होगी, उतने बाँध कम्युनिस्ट सरकार ने चीन की नदियों पर बंधवाये। इन बांधों का परिणाम यह हुआ, कि चीन की नदियों में बाढ़ों की आशंका बहुत कम हो गई। फसलों का नष्ट होना रुक गया, और चीन में अनाज की पैदावार बहुत बढ़ गई। चीन जो अपनी खाद्य समस्या को बहुत कुछ हल कर सका है, उसका एक मुख्य कारण यह है, कि बाढ़ों के कारण करोड़ों रुपये साल की फसलें अब वहां नष्ट नहीं हो जातीं। इन बांधों के लिये कम्युनिस्ट सरकार ने देहात की जनता का सहयोग लिया था, और इनका निर्माण करते हुए मुख्यतया श्रम को ही प्रयुक्त किया गया था।

(६) कृषि और व्यवसाय की उन्नति के कारण चीन के विदेशी व्यापार में भी बहुत अधिक वृद्धि हुई। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग (१८७७) से १९४९ तक चीन विदेशों में जो माल विक्रय के लिये भेजता था, उससे कहीं अधिक विदेशों से क्रय करता था। उसके आयात माल की मात्रा निर्यात माल की मात्रा से अधिक होती थी। इसका परिणाम यह था, कि चीन निरन्तर अधिक-अधिक गरीब होता जाता था। पर १९३९ के बाद कम्युनिस्ट शासन में इस स्थिति में परिवर्तन आया, और चीन के निर्यात माल की मात्रा आयात माल की अपेक्षा अधिक हो गई। चीन का विदेशी व्यापार मुख्यतया रूस और अन्य समाजवादी देशों के साथ था।

(७) शिक्षा के विस्तार पर भी कम्युनिस्ट सरकार ने विशेष ध्यान दिया। १९४९ तक चीन में शिक्षा का बहुत कम प्रचार था। शिक्षित व साक्षर लोगों की संख्या वहां १४ प्रतिशत से अधिक नहीं थी। कम्युनिस्ट शासन के प्रयत्न से वहां शिक्षा में जिस ढंग से उन्नति शुरू हुई, उसका अनुमान इस बात से किया जाता है, कि अक्टूबर, १९५१ में चीन के प्रारम्भिक शिक्षणालयों में ३,७०,००,०००, माध्यमिक स्कूलों में १५,७०,००० और कालिजों व विश्वविद्यालयों में १,१८,००० विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे। इनके अतिरिक्त जो किसान और मजदूर अपने अतिरिक्त समय में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उनकी संख्या ४,००,००,००० के लगभग थी। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट सरकार ने चीन में निरक्षरता के विनाश और शिक्षा के प्रसार के लिये बहुत महत्वपूर्ण कार्य किया है।

(८) जनता का शासन स्थापित हो जाने के कारण चीन में असाधारण शक्ति का संचार हुआ। विदेशी साम्राज्यवाद से तो चीन पूर्णतया मुक्त हो ही चुका था, साथ ही वह अब संसार के प्रमुख शक्तिशाली राज्यों में भी गिना जाने लगा। जनसंख्या की दृष्टि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चीन का संसार के राज्यों में प्रथम स्थान हैं। इस विशाल जनता की सामूहिक शक्ति के कारण चीन में जो आर्थिक उन्नति हुई, उससे यह देश भौतिक साधनों की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने में समर्थ हुआ। कोरिया के युद्ध में उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार की सहायता करने में जो असाधारण सैन्य-शक्ति चीन ने प्रदर्शित की, उसके कारण किसी भी राज्य के लिये चीन की उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रहा।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध—चीन के लोकतन्त्र गणराज्य (चाइनीज डेमोक्रेटिक पीपल्स रिपब्लिक) की स्थापना १ अक्टूबर, १९४९ को हुई थी। अगले दिन २ अक्टूबर को रूस के सोवियत यूनियन ने चीन की नई कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकृत कर लिया, और उस के साथ राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिया। बल्गारिया, रूमानिया, हंगरी, उत्तरी कोरिया, चेकोस्लोवाकिया, पोलैण्ड, मंगोलियन पीपल्स रिपब्लिक, पूर्वी जर्मनी (जर्मन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक), अल्बानिया और विएतनाम की सरकारों ने रूस का अनुसरण किया, और माओ त्से तुंग के नेतृत्व में स्थापित चीनी सरकार की सत्ता को स्वीकार किया। इन सब राज्यों में समाजवादी व्यवस्था विद्यमान थी, और चीन की समाजवादी सरकार को मान्यता प्रदान करके इन्होंने किसी असाधारण मार्ग का अनुसरण नहीं किया था। पर कई ऐसे राज्यों ने भी चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक को स्वीकृत किया, जिनमें कम्युनिस्ट व समाजवादी व्यवस्था स्थापित नहीं थी। इनमें भारत, स्वीडन, डेन्मार्क, बरमा, इन्डोनीसिया, स्विट्जरलैण्ड, फिनलैण्ड और पाकिस्तान के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त बाद में ब्रिटेन, सीलोन, नार्वे, इजराईल, अफगानिस्तान और नीदरलैण्ड ने भी चीन की कम्युनिस्ट सरकार को स्वीकृत करके उनके साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये। संसार के प्रमुख राज्यों में संयुक्त राज्य अमेरिका ही ऐसा था, जो चीन की कम्युनिस्ट सरकार को चीन की वैध सरकार मानने के लिये उद्यत नहीं था। इसी कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी अब तक चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक को स्थान नहीं मिल सका था। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ में चिरकाल तक चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार के प्रतिनिधियों को ही स्थान प्राप्त था, यद्यपि इस सरकार की सत्ता केवल फार्मूसा द्वीप तक ही सीमित है, और वास्तविक चीन में कहीं भी उसका अधिकार नहीं है। संयुक्त राष्ट्र-संघ में चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक को स्थान देने के लिये जो भी प्रस्ताव उपस्थित हुए, अमेरिका ने उनका विरोध किया, और इसी कारण अब तक कम्युनिस्ट चीन को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना समुचित स्थान प्राप्त नहीं हो सका था। पर इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट सरकार अपनी स्थिति को बहुत मजबूत बना चुकी है, और न केवल चीन के मामले में अपितु एशिया के सम्बन्ध में कोई भी ऐसी व्यवस्था सम्भव नहीं है, जिसमें कम्युनिस्ट चीन का सहयोग प्राप्त न हो।

(२) फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार

१ अक्टूबर, १९४९ को जब कम्युनिस्ट पार्टी ने पेकिंग को राजधानी बना कर चाइनीज पीपल्स रिपब्लिक की स्थापना की थी, तब दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमी चीन पर कुओमिन्तांग सरकार का आधिपत्य विद्यमान था। इस कुओमिन्तांग सरकार की राजधानी कैन्टन थी। अक्टूबर, १९४९ में कम्युनिस्ट सेनाओं ने कैन्टन को जीत लिया था, और कुछ ही समय में दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमी चीन से कुओमिन्तांग के शासन का अन्त कर दिया था। इस दशा में चीन में कोई भी ऐसा प्रदेश शेष नहीं रहा था, जो कुओमिन्तांग सरकार के हाथों में हो। हैनान और फार्मूसा—ये दो द्वीप ही ऐसे थे, जो अब इस सरकार की अधीनता में रह गये थे। इस दशा में ८ दिसम्बर, १९४९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कुओमिन्तांग सरकार चीन से फार्मूसा चली गई थी, और तैपेई को राजधानी बना कर उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

हम यह पहले लिख चुके हैं, कि २२ जनवरी, १९४९ को महासेनाधिपति चियांग काई शेक ने कुओमिन्तांग सरकार का सब कार्यभार उपराष्ट्रपति ली त्सुंग जेन के सुपुर्द कर दिया था। यद्यपि राष्ट्रपति के पद पर अब भी चियांग काई शेक विराजमान थे, पर कुओमिन्तांग दल के संचालन का उत्तरदायित्व जनरल ली के हाथों में आ गया था। १ मार्च, १९५० को चियांग काई शेक ने कुओमिन्तांग सरकार का कार्यभार पुनः ग्रहण कर लिया, और फार्मूसा की राजधानी तैपेई को केन्द्र बनाकर अपना कार्य प्रारम्भ किया। बाद में जब कम्युनिस्ट सेनाओं ने हैनान द्वीप को भी जीत लिया, तो चियांग काई शेक की कुओमिन्तांग सरकार का शासन मुख्यतया फार्मूसा तक ही सीमित रह गया। फार्मूसा द्वीप के समीपवर्ती १३ अन्य छोटे-छोटे द्वीप और पेस्कादोंस द्वीपसमूह के अन्तर्गत ९४ छोटे-छोटे द्वीप भी कुओमिन्तांग सरकार के शासन में हैं।

फार्मूसा और उसके साथ के इन द्वीपों का कुल क्षेत्रफल १३,८८५ वर्गमील है, और इनकी जनसंख्या १,३२,९७,००० के लगभग है। जहाँ माओ त्से-तुंग की कम्युनिस्ट सरकार के शासन में ६५ करोड़ के लगभग मनुष्य हैं, वहां चियांग काई शेक की सरकार की अधीनता में विद्यमान मनुष्यों की संख्या सवा करोड़ के लगभग है। पर सैनिक दृष्टि से इस कुओमिन्तांग सरकार की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसकी सेना में सात लाख के लगभग सैनिक हैं, जो सब प्रकार के आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से भलीभांति सुसज्जित हैं। संयुक्त-राज्य अमेरिका जैसे शक्तिशाली एवं वैभवपूर्ण देश की सहायता तैपेई की इस कुओमिन्तांग सरकार को प्राप्त है। अमेरिका और संयुक्त राष्ट्रसंघ की दृष्टि में तैपेई सरकार ही चीन की वैध तथा वास्तविक सरकार थी, और अमेरिका यह सर्वथा उचित समझता था, कि इस सरकार को अपने देश से विद्रोही कम्युनिस्टों के शासन का अन्त करने के लिये खुले तौर पर सहायता दे। यही कारण है, कि अमेरिका युद्ध-सामग्री, जंगी जहाज, वायुयान और धन आदि से चियांग काई शेक की पूर्ण रूप से सहायता करता रहा। चियांग काई शेक का भी यह विश्वास है, कि वह एक बार फिर सम्पूर्ण चीन को कुओमिन्तांग शासन की अधीनता में ले आने में समर्थ हो सकेगा। चीन के इतिहास में अनेक बार कुओमिन्तांग दल को नीचा देखना पड़ा है। कुछ वर्षों के लिये जापानी लोग भी चीन के बड़े भाग को अपने प्रभाव एवं प्रभुत्व में लाने में समर्थ हो गये थे, और चियांग काई शेक की सरकार को पश्चिमी चीन में चुंगकिंग में आश्रय लेने के लिये विवश होना पड़ा था। इस समय कम्युनिस्ट दल के उत्कर्ष के कारण कुओमिन्तांग दल को फार्मूसा में आश्रय लेना पड़ा है। पर चियांग काई शेक और उसके अनुयायियों का यह विश्वास है, कि वे पहले के समान एक बार फिर चीन को अपने शासन में ले आने में समर्थ होंगे। अमेरिका की सहायता के कारण उनके पास सैनिकों, युद्ध-सामग्री और धन की कमी नहीं है। कम्युनिस्टों को परास्त कर पाश्चात्य ढंग की लोकतन्त्र व्यवस्था को स्थापित कर सकने के कार्य में कुओमिन्तांग दल को सफलता होगी या नहीं, इस बात का निर्णय भविष्य ही कर सकेगा।

जिस समय से कुओमिन्तांग सरकार ने फार्मूसा को अपना आश्रय-स्थान बनाया है, उसकी नीति में भारी परिवर्तन हुआ है। १ सितम्बर, १९५० को कुओमिन्तांग सरकार ने अपनी नीति की जो घोषणा की थी, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) हमारा उद्देश्य कम्युनिस्ट विद्रोह को कुचलना है। संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा जिन आदर्शों का प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादन किया गया है, हम उन्हें स्वीकृत करते हैं, और उन्हीं के अनुसार चीन का पुनः निर्माण करना चाहते हैं। (२) हम चाहते हैं, कि सब लोगों को विचार करने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की पूरी स्वतन्त्रता हो। धर्म के मामले में भी सब लोग स्वतन्त्र हों, और जनता में राष्ट्रीय अनुभूति और लोकतन्त्रवाद की भावना का विकास हो। (३) समाज की व्यवस्था इस ढंग की हो, जिससे कि सब लोगों को आजीविका के साधन उपलब्ध हो सकें। आर्थिक जीवन और विविध व्यवसायों को इस ढंग से विकसित किया जाय, जिससे कि राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि हो। जमीन से वसूल किये जाने वाले लगान में कमी की जाय, और भूमि-सम्बन्धी कानून के सुधार को विशेष रूप से महत्त्व दिया जाय। (४) जब हम चीन को कम्युनिस्ट लोगों के पंजे से मुक्त करने में समर्थ होंगे, कम्युनिस्ट नेताओं और उनके सहयोगियों के प्रति जरा भी दया प्रदर्शित नहीं करेंगे। पर जिन लोगों ने विवश होकर कम्युनिस्टों का साथ दिया है, उनके प्रति हम सहानुभूति रखेंगे, और उन्हें पश्चात्ताप करके सन्मार्ग पर आने का अवसर प्रदान करेंगे।

फार्मूसा में दो अन्य दल हैं, जो कुओमिन्तांग सरकार के साथ सहयोग कर रहे हैं। ये दल लोकतन्त्र समाजवादी दल (डेमोक्रेटिक सोशलिस्ट पार्टी) और चीनी युवक दल (चाइना यूथ पार्टी) हैं। लोकतन्त्र समाजवादी दल चाहता है, कि समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के लिए लोकतन्त्रवाद के उपायों का अनुसरण किया जाय। कम्युनिस्ट लोग जिस प्रकार के उग्र और क्रान्तिकारी उपायों से समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना चाहते हैं, यह दल उसका विरोधी है।

तैपेई में बाकायदा कुओमिन्तांग सरकार विद्यमान है। इस सरकार के राजदूत न केवल संयुक्त राज्य अमेरिका आदि विविध देशों में मौजूद हैं, अपितु संयुक्त राष्ट्र-संघ में भी इसी सरकार के प्रतिनिधि रहते रहे। अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से यह स्थिति बड़ी अद्भुत थी। संसार के बहुत-से देश जहां पेकिंग की कम्युनिस्ट सरकार को चीन की वैध व वास्तविक सरकार मानते थे, वहां ऐसे देशों की भी कमी नहीं थी, जो तैपेई की कुओमिन्तांग सरकार को ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार स्वीकृत करते थे।

(३) दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का प्रसार

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में जापान के परास्त होने पर पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म को बहुत अधिक बल मिला है। इस महायुद्ध के परिणामस्वरूप चीन न केवल जापान व अन्य साम्राज्यवादी देशों के प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त हुआ, अपितु वहां कम्युनिस्ट व्यवस्था की भी स्थापना हुई। इसी प्रकार दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देश जहां महायुद्ध के कारण पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद से छुटकारा पाने में समर्थ हुए, वहां उनमें कम्युनिस्ट प्रवृत्तियां भी निरन्तर बल पकड़ती गईं। इसमें सन्देह नहीं, कि इस क्षेत्र के अन्य किसी देश में अभी पूर्णरूप से समाजवादी व्यवस्था स्थापित नहीं हुई है। पर यह सर्वथा स्पष्ट है, कि इस क्षेत्र में कम्युनिस्ट दल निरन्तर शक्ति पकड़ रहे हैं। इस इतिहास में हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में कम्युनिस्ट दलों के विकास पर संक्षिप्त रूप से भी प्रकाश डाल सकें। पर यह निर्विवाद है, कि कम्युनिज्म का विकास व विस्तार एक ऐसी घटना है, जिसे एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

इन्डोचायना—डॉ० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व के विरुद्ध किस प्रकार संघर्ष प्रारम्भ हुआ, इस पर हम इस इतिहास के पच्चीसवें अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रकाश डाल चुके हैं। जापान के परास्त हो जाने पर १७ अगस्त, १९४५ को डॉ० हो ची मिन्ह और उनके अनुयायियों ने इन्डोचायना में 'विएत-नाम' नाम से एक रिपब्लिक की घोषणा कर दी थी, और डॉ० हो को इस रिपब्लिक का राष्ट्रपति उद्-घोषित कर दिया गया था। यह विएत-नाम रिपब्लिक इन्डोचायना में फ्रांस के प्रभुत्व को स्वीकृत नहीं करती थी। स्वभावतः, फ्रांस इस रिपब्लिक की सत्ता को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ, और उसने बाओ दाई के नेतृत्व में एक ऐसी इन्डोचाइनीज सरकार की स्थापना का प्रयत्न किया, जो फ्रांस के प्रभुत्व को स्वीकृत करने और उसके साथ समझौता करके देश का शासन करने के लिए उद्यत थी। फ्रेंच सेनाओं की सहायता से बाओ दाई की सरकार ने डॉ० हो ची मिन्ह की रिपब्लिकन सरकार के साथ किस प्रकार संघर्ष किया, इस विषय पर भी हम इस इतिहास में पहले प्रकाश डाल चुके हैं।

पर यहां उल्लेखनीय बात यह है, कि डॉ० हो ची मिन्ह की सरकार न केवल फ्रांस के प्रभुत्व का अन्त कर इन्डोचायना की राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना के लिए तत्पर थी, पर साथ ही वह कम्युनिस्ट व्यवस्था की भी पक्षपाती थी। उसने अपने देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन को कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार परिवर्तित किया, और इन्डोचायना के एक भाग में उसी ढंग की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न किया, जैसी कि माओ त्से तुंग की सरकार ने चीन में स्थापित की थी। भूमि के सम्बन्ध में उसने इस ढंग से सुधार किये, जिनसे कृषि की भूमि पर से जमींदारों का स्वत्व समाप्त हो गया, और खेत किसानों में विभक्त कर दिये गये। बड़े कल-कारखानों और व्यवसायों को राज्य के स्वामित्व में ले आया गया, और आर्थिक जीवन पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया। डॉ० हो ची मिन्ह की सरकार को कम्युनिस्ट चीन की सहायता प्राप्त थी, और ऊत्तरी विएत-नाम में डॉ० हो की वही स्थिति थी जो चीन में माओ त्से तुंग की है।

मलाया—महायुद्ध के बाद मलाया के सम्बन्ध में वहां के ब्रिटिश शासकों ने क्या व्यवस्था की, इस प्रश्न पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। मलाया के राष्ट्रवादी देशभक्त इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। महायुद्ध के समय में जब मलाया ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त हो गया था, तो वहां राष्ट्रीय स्वाधीनता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियों को बहुत बल मिला था। उस समय वहां अनेक ऐसे दलों का संगठन हो गया था, जो न केवल मलाया की राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रयत्नशील थे, पर साथ ही इस बात के लिए भी उत्सुक थे, कि मलाया से विदेशी पूंजीपतियों और मध्यकालीन सामन्तपद्धति का अन्त करके एक ऐसा शासन स्थापित किया जाय, जो समाजवादी प्रवृत्तियों के अनुरूप हो। कम्युनिस्ट दल का भी इस समय मलाया में विकास हो गया था। जापान के परास्त हो जाने पर जब ब्रिटिश सेनाओं ने मलाया पर अपने शासन को फिर से स्थापित किया, तो कम्युनिस्ट लोगों के सम्मुख केवल यही मार्ग रह गया था, कि वे युद्ध की नीति का अनुसरण कर ब्रिटिश सेनाओं का मुकाबिला करें। कम्युनिस्ट लोगों ने अपने स्वयंसेवक सैनिकों का व्यवस्थित रूप से संगठन किया, और ब्रिटिश शासकों के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। १६ जून, १९४८ को तीन अंग्रेज (जो रबड़ के बगीचों के मालिक थे) कम्युनिस्ट लोगों द्वारा कतल कर दिये गये। ब्रिटिश लोग इसे कब सहन कर सकते थे? २० जून से २४ जून तक पांच दिनों में ८०० से भी अधिक कम्युनिस्ट लोग गिरफ्तार किये गये, और उन्हें कठोर दण्ड दिये गये। पर कम्युनिस्टों ने भी अपने संघर्ष को जारी रखा। १९४८-४९ में मलाया में कम्युनिस्ट लोगों की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी कि ब्रिटेन को उन्हें वश में लाने के लिए नई सेनाएं भेजने की आवश्यकता हुई थी। यद्यपि ब्रिटिश सैन्यशक्ति के मुकाबिले में मलाया के कम्युनिस्ट अपनी पृथक् सरकार कायम करने में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफल नहीं हुए, पर इसमें सन्देह नहीं कि वहां कम्युनिस्ट लोग पर्याप्त शक्ति रखते थे, और ब्रिटिश शासक उनके गुरीला युद्ध से बहुत अधिक परेशानी अनुभव करते थे। ब्रिटेन की सैन्यशक्ति के लिए मलाया के कम्युनिस्टों को नष्ट कर सकना सुगम नहीं था।

अन्य देशों में कम्युनिस्ट दल—इन्डोचायना और मलाया के समान बरमा, इन्डोनीसिया और फिलिप्पीन में भी कम्युनिस्ट दल विद्यमान हैं। बरमा के कम्युनिस्ट भी गुरीला युद्ध का आश्रय लेकर बरमी सरकार को परेशान करने में तत्पर हुए थे। वहां अनेक ऐसी अल्पसंख्यक जातियां विद्यमान हैं, जो बरमा के केन्द्रीय शासन के अधीन न रहकर अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील थीं। कम्युनिस्ट लोग इनके समर्थक थे। इन्डोनीसिया में स्वतन्त्र व व्यवस्थित सरकार कायम हो जाने के कारण कम्युनिस्ट दल निर्बल पड़ गया था, पर उसकी सत्ता बाद में भी विद्यमान रही। यही बात फिलिप्पीन द्वीपसमूह के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। थाईलैण्ड में कम्युनिस्ट दल अभी तक अपने पैर नहीं जमा सका है। वहां के शासक कम्युनिज्म के कट्टर विरोधी हैं, और किसी भी प्रकार इस दल को सहन करने के लिए उद्यत नहीं हैं। पर फिर भी वहां ऐसे लोग विद्यमान हैं, जो कम्युनिज्म के पक्षपाती हैं।

दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश—इन्डोनीसिया, थाईलैण्ड, मलाया, फिलिप्पीन और बरमा कब तक कम्युनिज्म से बचकर अपने-अपने क्षेत्रों में लोकतन्त्रवाद के अनुसार अपना विकास करते रह सकेंगे, यह बात अभी निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती। संयुक्तराज्य अमेरिका सदृश कम्युनिज्म-विरोधी देश इस बात के लिए उत्सुक है, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्य कम्युनिज्म के प्रभाव से बचे रहें, और कम्युनिस्ट प्रभाव-क्षेत्र के अन्तर्गत न होने पाएं। इसीलिये अमेरिका इन देशों को अपनी आर्थिक उन्नति एवं विकास के लिए उदारतापूर्वक सहायता देने के लिए तत्पर है। पर साथ ही यह बात भी स्पष्ट है, कि इस क्षेत्र में कम्युनिज्म निरन्तर उन्नति कर रहा है। पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त होने के बाद इस क्षेत्र के देश इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं, कि लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों के अनुसार अपनी उन्नति करें। पर पूंजीवाद और वैयक्तिक सम्पत्ति पर आश्रित लोकतन्त्रवाद इन देशों को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने में कहां तक सहायक हो सकेगा, इसी बात से इस प्रश्न का निर्णय होगा, कि ये देश कम्युनिज्म के प्रभाव से बच सकते हैं या नहीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्तीसवां अध्याय

कम्युनिस्ट चीन

(१) चीन की नई आर्थिक नीति (१९४९-१९५७)

सन् १९४९ में चीन से कुओमिन्तांग सरकार के शासन का अन्त हुआ था, और उसके साथ ही विदेशी प्रभाव की भी उस देश से समाप्ति हो गई थी। कम्युनिस्ट शासन में चीन ने जिस आर्थिक नीति को अपनाया, एशिया के आधुनिक इतिहास में उसका बहुत महत्त्व है, क्योंकि उसके कारण कृषि और उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में वहां असाधारण उन्नति हुई है। चीन की नई आर्थिक नीति को भली-भांति समझने के लिये यह जान लेना उपयोगी होगा, कि १९४९ से पूर्व वहाँ की आर्थिक दशा क्या थी। (१) उस समय चीन कृषिप्रधान देश था, और वहां के ९० प्रतिशत के लगभग निवासी अपनी आजीविका के लिये कृषि पर ही आश्रित थे। (२) जमीन जमींदारों के स्वत्त्व में थी, और जमींदार किसानों को जब चाहें बेदखल कर सकते थे। (३) किसान चार प्रकार के थे, धनी, मध्य स्थिति के, निर्धन और भूमिहीन। धनी किसान मजदूरों से खेती कराते थे, और दूसरों के श्रम से लाभ उठा कर स्वयं सम्पन्न व सुखी जीवन व्यतीत करते थे। मध्य स्थिति के किसान स्वयं खेती करते थे, पर उस द्वारा उन्हें अच्छी आमदनी प्राप्त हो जाती थी। निर्धन किसान अपना खर्च चला सकने में असमर्थ रहते थे, और सदा कर्ज के बोझ से दबे रहते थे। भूमिहीन किसान धनी लोगों के खेतों पर मजदूरी करके अपना निर्वाह करते थे। धनी और मध्य स्थिति के किसान संख्या में बहुत कम थे। इनकी संख्या ३० प्रतिशत से अधिक नहीं थी। (४) चीन में जो भी बड़े कल-कारखाने थे, वे प्रायः सब विदेशी पूंजीपतियों के स्वत्त्व में थे। जापान ने मंचूरिया में और ब्रिटेन तथा अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों ने शंघाई, कैन्टन आदि नगरों में अनेक कारखाने कायम किये हुए थे, जिनसे उन्हें भरपूर मुनाफा होता था। कुछ कारखाने चीनी पूंजीपतियों के स्वत्त्व में भी थे, पर उनकी संख्या अधिक नहीं थी। (५) चीन के विदेशी व्यापार पर भी विदेशियों का प्रभुत्त्व था। मुकदन, शंघाई, पोर्ट आर्थर, कैन्टन आदि नगरों में प्रायः सब बड़ी दुकानें व बैंक विदेशियों द्वारा ही संचालित थे। (६) चीन की मुद्रापद्धति बहुत बिगड़ गई थी, उसकी कीमत असाधारण रूप से गिर जाने के कारण वस्तुओं की कीमतें बहुत बढ़ गई थीं। चाय के एक प्याले के लिये लाखों युवान कीमत अदा करनी पड़ती थी। जनता को अपनी मुद्रापद्धति में जरा भी विश्वास नहीं रह गया था। (७) द्वितीय महायुद्ध की परिस्थितियों के कारण बहुत-से कल-कारखाने बन्द हो गये थे। महायुद्ध की समाप्ति पर जब कम्युनिस्टों और कुओमिन्तांग सरकार में गृहकलह प्रारम्भ हुआ, तो विदेशी पूंजीपति और इन्जीनियर आदि चीन छोड़कर चले गये, जिसके कारण वहां के बहुसंख्यक कारखाने बन्द हो गये, और उनमें काम करने वाले लाखों मजदूर पूर्णतया बेकार हो गये।

चीन की यह आर्थिक दशा थी, जबकि १९४९ में कम्युनिस्ट सरकार ने वहां के शासनसूत्र को अपने हाथों में लिया। इस समय कम्युनिस्टों ने जिस आर्थिक नीति का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसरण किया, उसके मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित थे—(१) यत्न किया जाय, कि चीन कृषिप्रधान देश न रहकर व्यवसाय-प्रधान देश बन जाये, ताकि जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठ सके। (२) व्यावसायिक उन्नति के लिये यह अनिवार्य है कि देहाती लोगों की क्रयशक्ति में वृद्धि हो। जब तक जनसाधारण के पास क्रय-शक्ति की कमी होगी, कल-कारखानों में तैयार हुये माल को अपने देश में खपा सकना सम्भव नहीं होगा। (३) कृषि पर निर्भर रहकर आजीविका कमाने वाले देहाती लोगों की क्रयशक्ति में तभी वृद्धि हो सकती है, जबकि खेती के लिये नये वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जाय, और खेती के नये वैज्ञानिक साधन तभी प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जब कि खेतों का आकार बड़ा हो और कृषि का कार्य सहकारी समितियों या राज्य के हाथों में रहे। (४) आर्थिक नीति का अन्तिम लक्ष्य यह है, कि खेती, व्यापार व व्यवसाय-सब समाज व राज्य के स्वामित्व में आ जाएं, ताकि मनुष्यों के सामूहिक प्रयत्न द्वारा अधिकतम उत्पादन किया जा सके। पर समाजवादी व्यवस्था एक दम स्थापित नहीं की जा सकती। व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों के कारण किसान व दूकानदार समाजवाद को सुगमता से नहीं अपना सकते, अतः यह आवश्यक है, कि समाजवादी व्यवस्था की स्थापना को अन्तिम लक्ष्य रखते हुए भी संक्रान्ति-काल के लिये एक ऐसी नीति को अपनाया जाय, जिसमें खेतों, शिल्पों, दूकानों एवं व्यवसायों पर व्यक्तियों का स्वत्त्व सुरक्षित रहे। पर इस संक्रान्ति-काल में भी लोग इस ढंग से कार्य करें, जो सार्वजनिक हित में सहायक हो और वे अपने अधीन काम करने वाले मजदूरों का शोषण न कर सकें। (५) देश की व्यावसायिक उन्नति शीघ्रता के साथ हो सके, इसके लिये आवश्यक है कि भारी कल-कारखानों की स्थापना कर विशेष ध्यान दिया जाय, और वे बुनियादी उद्योग शीघ्र से शीघ्र स्थापित किये जाएं, जो कि मशीनरी तैयार करने में सहायक होते हैं। जब सब प्रकार की मशीनरी अपने देश में ही तैयार होने लगेगी, तो खेती और कल-कारखानों के विकास के लिये आवश्यक सब उपकरण अपने देश में ही प्राप्त किये जा सकेंगे, और साथ ही देश की रक्षा के लिये आवश्यक अस्त्र-शस्त्रों के लिये भी विदेशों पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रहेगी। (६) मुद्रापद्धति में इस ढंग के सुधार किये जाएं, जिससे वस्तुओं की कीमतों में स्थिरता आ सके।

आर्थिक नीति के यही मुख्य सिद्धान्त थे, जिन्हें सम्मुख रखकर चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने कार्य शुरू किया। सबसे पूर्व खेती की उन्नति और भूमि-सुधार पर ध्यान दिया गया। इसी प्रयोजन से जमींदारी प्रथा को नष्ट किया गया। जमींदारों से जमीनें लेते हुए उन्हें कोई मुआवजा नहीं दिया गया। जिन धनी किसानों के पास आवश्यकता से अधिक जमीन थी, वह उनसे ले ली गई, और इसके लिये उन्हें भी कोई मुआवजा नहीं दिया गया। जमींदारों और धनी किसानों से केवल जमीन ही नहीं ली गई, अपितु उनके पास आवश्यकता से अधिक जो पशु तथा खेती के अन्य उपकरण थे, वे भी उनसे छीन लिये गये। यदि उनके स्वामित्व में ऐसे मकान थे जो उनकी आवश्यकता से अधिक थे, तो वे भी उनसे ले लिये गये। फिर जमीन का पुनः वितरण किया गया। यदि एक गांव की जनसंख्या ५०० थी, और वहां २००० बीघा जमीन थी, तो यह जमीन सबको बराबर-बराबर बांट दी गई। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति के हिस्से में चार-चार बीघा जमीन आयी। पांच व्यक्तियों वाले परिवार को बीस बीघा जमीन मिली, और सात व्यक्तियों के परिवार को २८ बीघा। कृषि के उपकरण, पशु और मकान जो जमींदारों व धनी किसानों से छीन लिये गये थे, वे भी उन लोगों में बांट दिये गये, जिनके पास इन साधनों का अभाव था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमि-सम्बन्धी इन सुधारों की घोषणा १९५० में की गई थी, और १९५३ तक ये सुधार चीन के बहुसंख्यक प्रदेशों में लागू किये जा चुके थे। भूमि का पुनः वितरण करते हुए जो जमीन किसानों में बांटी गई, वह ११,६५,००,००० एकड़ थी, और जिन व्यक्तियों ने उससे लाभ उठाया, उनकी जनसंख्या तीस करोड़ के लगभग थी। जमींदारी प्रथा के अन्त और किसानों का भूमि पर स्वत्त्व स्थापित हो जाने के बाद अब किसानों को केवल मालगुजारी ही सरकार को देनी थी, जिसकी मात्रा उस लगान से बहुत कम थी, जो पहले उन्हें जमींदारों को प्रदान करना होता था। इससे जो अतिरिक्त आमदनी चीन के किसानों को होने लगी, उसकी मात्रा १२,३०,००,००,००० रुपये के बराबर थी। दूसरे शब्दों में इसे यूं कहा जा सकता है, कि अब चीन के किसानों को बारह अरब के लगभग रुपया अधिक मिलने लगा, जिसका उपयोग वे वस्त्र, पुस्तक, कागज आदि वस्तुओं की खरीद के लिये कर सकते थे। चीन के कल-कारखानों में तैयार होने वाली वस्तुओं के लिये यह एक नया बाजार तैयार हो गया, जो उनके अपने देश में ही विद्यमान था। पहले यह आमदनी उन बड़े जमींदारों को प्राप्त होती थी, जो अत्यधिक धनी थे और जो इसका उपयोग ऐसे भोगविलास के सामान को क्रय करने में किया करते थे, जो विदेशों से चीन में बिक्री के लिये आता था। इस माल की मांग अब समाप्त हो गई, और उसका स्थान कपड़े आदि उन वस्तुओं ने ले लिया, जो चीन के अपने कारखानों में तैयार होती थीं, और जो सर्वसाधारण जनता के उपयोग की थीं। इससे चीन के उद्योगों को बहुत लाभ पहुंचा।

पर चीन की कम्युनिस्ट सरकार जमींदारी प्रथा का अन्त करके और भूमि का पुनःवितरण करके ही सन्तुष्ट नहीं हो गई। उसका यह विश्वास था, कि चीन का किसान तभी सुखी व समृद्ध हो सकता है, जब कि खेती के लिये समाजवादी व्यवस्था को अपनाया जाय। भूमि का पुनःवितरण होने से प्रत्येक किसान परिवार के हिस्से में जो जमीन आयी, वह बहुत थोड़ी थी। इसलिये खेतों के आकार बहुत छोटे-छोटे थे। पैदावार की वृद्धि के लिये यह आवश्यक था, कि खेतों के आकार बड़े हों, ताकि उनमें खेती के लिये ट्रैक्टर आदि का उपयोग किया जा सके और अन्य वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग भी संभव हो। अतः सरकार ने यह यत्न किया, कि (१) किसानों को सहकारी व सामूहिक खेती के लाभ समझाये जाएं, और (२) ऐसे क्रमिक पग निर्धारित किये जाएं, जिन्हें अपना कर धीरे-धीरे समाजवादी व्यवस्था के अनुसार खेती की जा सके। इसके लिये उसने जो मार्ग तय किया, उसकी चार मंजिलें थीं—(१) परस्पर-सहायता मण्डलियों (म्युचुअल एड टीमों) का संगठन, (२) सहकारी खेती, (३) सामूहिक खेती, और (४) कम्यूनों का संगठन। सबसे पूर्व किसानों को परस्पर-सहायता मण्डलियों में संगठित किया गया, और इन मण्डलियों में संगठित होकर किसान एक दूसरे की सहायता के लिये तत्पर हुए। इस स्टेज में भूमि पर किसानों का व्यक्तिगत स्वत्त्व कायम रहा, खेती के उपकरण और पशु आदि भी उनकी अपनी सम्पत्ति रहे, पर खेती करते हुए वे एक दूसरे के स्वत्त्व में विद्यमान पशुओं आदि का उपयोग कर सकने में समर्थ हुए। मान लीजिये कि किसी गाँव के पचास किसान एक परस्पर-सहायता मण्डली में संगठित हैं। वे अपनी जमीनों पर खेती करते हुए यह ध्यान रखेंगे, कि सब किसानों के खेतों की जुताई तथा बुवाई भली-भांति हो जाय। पशु, हल, श्रम और बीज आदि के अभाव के कारण कोई खेत बिना जुता या बिना बोया न रहने पाये। खेतों की निलाई, सिंचाई तथा फसल काटने आदि के कामों में भी सब किसान एक दूसरे की सहायता करें। इस पद्धति में जो किसान अपने पास विद्यमान पशु, हल आदि से दूसरे किसान की सहायता करता था, उसे उसका प्रतिफल दिया जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। कृषि की उन्नति के मार्ग पर सहकारी समितियों का संगठन दूसरा कदम था। जो किसान परस्पर-सहायता मण्डली की दशा से आगे बढ़कर सहकारी समितियों में संगठित हो जाते थे, वे अपने-अपने खेतों पर व्यक्तिगत स्वत्त्व रखते हुए भी खेती सामूहिक रूप से करते थे। जो फसल तैयार होती थी, उसे किसानों में उनकी जमीन तथा श्रम के हिसाब से बांट दिया जाता था। फसल का आधा भाग पहले उनमें उनकी जमीन के अनुपात से बांट दिया जाता था, और शेष आधा भाग इस हिसाब से कि उन्होंने खेती के लिये कितना श्रम किया। जब किसान सहकारी समितियों में संगठित हो गए, और इसके लाभों को उन्होंने भली-भांति समझ लिया, तो सामूहिक खेती को प्रारम्भ करना अधिक कठिन नहीं रहा। शीघ्र ही, किसान इस बात के लिये तैयार हो गये, कि जमीन पर से उनके वैयक्तिक स्वत्त्व का अन्त कर दिया जाए, सब जमीन समाज के स्वत्त्व में आ जाए, और किसानों को उनके श्रम के आधार पर ही आमदनी प्राप्त हो। सन् १९५८ तक चीन का लोकमत सामूहिक खेती के लिये पूर्णतया तैयार हो चुका था, और इसी कारण वहां की कम्युनिस्ट सरकार इस स्थिति में आ गई थी कि वहां सर्वत्र कम्यूनों का संगठन कर अपने आदर्शों एवं विचारसरणी के अनुसार नई समाजवादी आर्थिक व्यवस्था को स्थापित कर सके।

खेती के साथ-साथ उद्योग-धन्धों और कल-कारखानों के सम्बन्ध में चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने जिस नीति का अनुसरण किया, वह भी बड़े महत्त्व की है। इस द्वारा कल-कारखानोंपर राज्य के स्वामित्त्व तथा नियन्त्रण में निरन्तर वृद्धि होती गई, और धीरे-धीरे चीन में ऐसे उद्योग रह ही नहीं गये, जो व्यक्तियों के स्वत्त्व में हों। अगले प्रकरण में अग्रगामी लम्बी छलांग का निरूपण करते हुए कम्युनिस्ट सरकार की औद्योगिक नीति पर विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा।

कृषि और कल-कारखानों के समान व्यापार के क्षेत्र में भी राज्य का स्वत्त्व व नियन्त्रण निरन्तर बढ़ता गया। विदेशी व्यापार को तो शुरू में ही सरकार ने पूर्णतया अपने स्वत्त्व में ले लिया था। १९४९ और उसके बाद के कतिपय वर्षों में आन्तरिक व्यापार के क्षेत्र में स्वतन्त्र व्यापारी अच्छी बड़ी संख्या में रहे। शंघाई, कैन्टन, पेकिंग, नानकिंग आदि बड़े नगरों में इस समय उनके बड़े डिपार्टमैन्टल स्टोर विद्यमान थे, जिनका संचालन पूंजीपति व्यापारियों तथा व्यापारी-कम्पनियों के अधीन था। छोटी-छोटी दुकानें तो सर्वत्र विद्यमान थीं ही। सरकार ने व्यापार के क्षेत्र में भी समाजवादी सिद्धान्तों को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। छोटे दूकानदारों को सहकारी समितियों में संगठित हो जाने के लिये प्रेरित किया और बड़े नगरों में ऐसे सरकारी डिपार्टमैन्टल स्टोर स्थापित किये गये, जिनमें सब वस्तुओं की कीमत नियत थी, और ग्राहकों को अनेकविध सुविधाएँ भी प्रदान की जाती थी। बच्चों की देख-रेख के लिए वहां नर्सरियाँ भी स्थापित की गईं, ताकि माताएं निश्चिन्त होकर सामान खरीद सकें। प्राइवेट डिपार्टमैन्टल स्टोरों के लिये सरकारी स्टोरों का मुकाबिला कर सकना कठिन था, अतः उनके स्वामियों ने यही उचित समझा कि वे स्वेच्छापूर्वक अपने स्टोर सरकार के सुपुर्द कर दें, और स्वयं उनमें मैनेजर आदि के रूप में कार्य करने लगें। धीरे-धीरे चीन में यह स्थिति आ गई, कि खेती और कल-कारखानों के समान व्यापार पर भी राज्य का स्वत्त्व स्थापित हो गया। पर छोटे-छोटे दूकानदार और शिल्पी स्वतन्त्र रूप से कार्य करते रहे, यद्यपि वे भी धीरे-धीरे सहकारी समितियों में संगठित होते गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश की आर्थिक दशा को सम्भालने के लिये चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने अन्य भी अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। सब बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया, और १९४९ में जितने भी प्राइवेट बैंक वहां विद्यमान थे, उन सबको एक बड़े राष्ट्रीय बैंक के रूप में संगठित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त 'पीपल्स बैंक आफ चायना' के नाम से एक सरकारी बैंक की स्थापना की गई, जिसके कारण बैंकिंग का सब कारोबार सरकार के हाथों में आ गया। १९४९ में चीन की पत्रमुद्रा की विदेशी विनिमय के लिए कोई भी कीमत नहीं थी। १९५३ में मुद्रा-पद्धति को सुव्यवस्थित रूप दिया गया, और युआन (चीनी सिक्का) की कीमत अन्य देशों की मुद्रा में नियत की गई। १९५४ में एक रुपए के बदले में ५००० युआन प्राप्त किये जा सकते थे। पर १९४९ में तो युआन की कोई भी कीमत नहीं थी। बाद में मुद्रापद्धति का नये ढंग से संगठन किया गया, और एक युआन की कीमत दो रुपये के बराबर तय कर दी गई। वेतन, मजदूरी, वस्तुओं की कीमतें आदि सब नये युआनों में नियत की गईं, और चीन की मुद्रापद्धति ने एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया, जिसके कारण जहां वस्तुओं की कीमतों में अधिक अन्तर नहीं आता, वहां साथ ही विदेशी मुद्राओं में भी उनका मूल्य स्थिर रहता है।

चीन के आर्थिक औद्योगिक व विकास में रूस ने बहुत महत्त्वपूर्ण सहायता दी थी। बड़े-बड़े कारखानों के लिए उसी ने मशीनरी प्रदान की थी, जिसकी कीमत चीन को तुरन्त नहीं देनी पड़ी। आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में जो सन्धि चीन ने रूस के साथ की थी, उसके अनुसार मशीनरी की कीमत पन्द्रह वर्षों में सालाना किस्तों द्वारा अदा की जानी थी। क्योंकि चीन में नई मशीनरी को प्रयुक्त कर सकने वाले इन्जीनियरों की कमी थी, अतः शुरू में रूसी इन्जीनियर ही चीन में आकर कारखानों में मशीनरी लगाते थे और वे ही उनका संचालन भी करते थे। पर तीन चार सालों में चीनी इन्जीनियरों को सब काम सिखाकर वे अपने देश को वापस लौट जाते थे। बाद में चीन में मशीनरी भी बड़ी मात्रा में बनने लग गई, और वहां ऐसे इन्जीनियर भी तैयार हो गए, जो इन मशीनों को चला सकते हैं।

नई आर्थिक नीति के कारण खेती और व्यवसाय के क्षेत्र में जो उन्नति चीन ने की, उसका परिचय सरकार द्वारा प्रकाशित विवरणों से समय-समय पर मिलता रहा है। इनके अनुसार खेती के उत्पादन में १९४९ के बाद प्रति वर्ष निरन्तर वृद्धि होती रही है। १९५७ में वहां जो अनाज उत्पन्न होता था, वह १९४९ की तुलना में डेढ़ गुने से भी अधिक था। कपास के उत्पादन में १९४९ की तुलना में ४॥ गुने की वृद्धि हुई थी। १९५८ में चीन में अनाज के उत्पादन की मात्रा २५ करोड़ टन थी, और कपास की २१ लाख टन। इस प्रकार वहां जो अनाज उत्पन्न होता था, वह ११० सेर प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष के हिसाब से बैठता था। अनाज का यह उत्पादन चीन की अपनी आवश्यकता की दृष्टि से पर्याप्त था, और उसे भोजन-सामग्री के लिए किसी अन्य देश पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गई थी, बशर्ते कि प्राकृतिक प्रकोप के कारण खेती की पैदावार में कमी न हो जाए। कल-कारखानों में भी चीन ने असाधारण उन्नति की, जिसके कारण उसका औद्योगिक उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया।

कोरिया के गृह-युद्ध में चीन ने उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार की दिल खोलकर सहायता की थी। जुलाई, १९५३ में जब इस युद्ध का अन्त हो गया, तो चीन किसी युद्ध में व्यापृत नहीं रह गया। देश में भी इस समय तक भलीभांति व्यवस्था स्था-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पित हो चुकी थी। अतः चीन की कम्युनिस्ट सरकार अब अपने देश की आर्थिक उन्नति पर विशेष रूप से ध्यान दे सकने की स्थिति में आ गई थी। इसीलिये अब प्रथम पञ्च-वर्षीय आयोजना का निर्माण किया गया, जिसकी अवधि १९५३ से १९५७ तक थी। चीन की सरकार का दावा है कि इस काल में वहां के आर्थिक उत्पादन में ४५ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी। इस दावे में यदि कुछ अत्युक्ति भी हो, तो यह तो प्रायः सर्वमान्य है कि चीन की प्रथम पञ्चवर्षीय आयोजना द्वारा वहां के औद्योगिक उत्पादन में १५ प्रतिशत वार्षिक और खेती की पैदावार में ४ प्रतिशत वार्षिक की गति से वृद्धि हुई थी। इस काल में चीन के सब कल-कारखानों और बैंकों को सरकार के स्वत्त्व में ले लिया गया था, और खेती के लिये सारे देश में सहकारी समितियां संगठित कर दी गई थीं। आर्थिक दृष्टि से इस समय चीन प्रायः आत्म-निर्भर हो गया था, और निस्सन्देह कम्युनिस्ट सरकार की यह असाधारण सफलता थी।

१९५३ में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस की कम्युनिस्ट सरकार की नीति में मौलिक परिवर्तन आना प्रारम्भ हो गया था। ख्रुश्चेव के नेतृत्त्व में रूस के कम्युनिस्टों ने एक नई नीति का सूत्रपात किया था, जिसमें विचारों की स्वतन्त्रता को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। १९५६ के शुरू में सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी की २०वीं कांग्रेस मास्को में हुई थी, जिसमें चीन का एक शिष्ट-मण्डल भी उपस्थित था। इस कांग्रेस में ख्रुश्चेव ने स्टालिन के स्वेच्छाचार, निरंकुश शासन और असीम शक्ति का स्पष्ट शब्दों में विरोध करते हुए उदार नीति का अनुसरण करने पर जोर दिया था। रूस की इस नीति का असर चीन पर भी पड़ा, और वहाँ भी इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि चीन की राजकीय नीति में भी परिवर्तन किया जाना चाहिये। इसीलिये एप्रिल, १९५६ में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने उस नीति का प्रतिपादन किया, जिसे "सैंकड़ों फूलों को एक साथ खिलने देने" की नीति कहते हैं। इसके अनुसार जनता को यह अवसर प्रदान किया गया कि वह राजकीय कार्यों की उन्मुक्त रूप से आलोचना कर सके, और अपनी सम्मति को स्वतन्त्र रूप से प्रकट कर सके। चीन में माओ त्से तुंग की प्रायः वही स्थिति थी, जो पहले रूस में स्टालिन की थी। स्टालिन के समान माओ की आलोचना एवं विरोध कर सकना भी किसी के लिये सम्भव नहीं था। पर एप्रिल, १९५६ में चीन के कम्युनिस्टों ने यह निर्णय किया कि देश में किसी एक व्यक्ति के नेतृत्त्व के स्थान पर 'सामूहिक नेतृत्त्व' की स्थापना की जाय।

इस नीति से प्रभावित होकर चीन में अनेक ऐसे व्यक्ति भी प्रकाश में आने लगे, जो कम्युनिस्ट कार्यक्रम को सन्देह की दृष्टि से देखते थे। अपने विचारों को इन्होंने स्वतन्त्र रूप से प्रगट करना प्रारम्भ कर दिया, और कुछ समय के लिये ऐसा प्रतीत होने लगा कि चीन में अब उन लोगों का जोर बढ़ रहा है जो कम्युनिस्ट व्यवस्था के विरोधी हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य भी इन लोगों के प्रभाव में आने लगे, जिससे पार्टी के नेताओं का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक था। इसी समय (१९५७-५८) तिब्बत और सिंगकियांग में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलनों को सूत्रपात हुआ, और वहां चीन के शासन के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गए। चीन की कम्युनिस्ट सरकार ने समझा, कि ये उस उदार नीति के परिणाम हैं, जिसका अनुसरण १९५६ में चीन ने प्रारम्भ किया था। अगस्त, १९५७ में रूस ने ऐसे प्रक्षेपणास्त्रों का आविष्कार कर लिया था, जिन्हें एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में फेंका जा सकता था। अक्तूबर, १९५७ में रूस द्वारा प्रथम स्पुतनीक छोड़ा गया था, जो अन्तरिक्ष में जाकर पृथ्वी का चक्कर लगाने लगा था। चीन के कम्युनिस्ट नेताओं ने समझा कि अब कम्युनिस्ट रूस वैज्ञानिक क्षेत्र में पूंजीवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशों की तुलना में आगे बढ़ गया है, और विश्व भर में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने का यह उपयुक्त अवसर है। उन्होंने न केवल तिब्बत और सिंगकियांग के विद्रोहों को कुचल डालने में सफलता प्राप्त की, अपितु अपने आन्तरिक विरोधियों का दमन कर एक ऐसी नई नीति को अपनाया जिसका उद्देश्य अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को अविकल रूप से स्थापित करना था। सैंकड़ों फूलों को एक साथ खिलने देने की नीति का उन्होंने परित्याग कर दिया, और बहुत-से ऐसे व्यक्तियों को गिरफ्तार करना प्रारम्भ कर दिया, जिन्होंने कि पिछले दिनों में कम्युनिस्ट नीति की आलोचना करने का साहस किया था।

(२) अग्रगामी लम्बी छलांग

मई, १९५८ में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं कांग्रेस द्वारा देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के सम्बन्ध में वह कार्यक्रम स्वीकृत किया गया, जो 'अग्रगामी लम्बी छलांग' के नाम से प्रसिद्ध है। कम्युनिज्म जिस समाजवादी व्यवस्था में विश्वास रखता है, उसके अनुसार खेती, उद्योग, कल-कारखाने, व्यापार एवं अन्य आर्थिक उत्पादन व्यक्तियों के हाथों में न रह कर समाज के स्वत्व में रहने चाहियें। इसके लिये वह ऐसे कम्यूनों की स्थापना का पक्षपाती है, जो आर्थिक जीवन का स्वयं संचालन करें। सब खेती, उद्योग व कल-कारखाने इन कम्यूनों के स्वत्व में हों और इन्हीं द्वारा संचालित किये जाएं। प्रत्येक कम्यून अपने निवासियों की उन सब आवश्यकताओं को स्वयं पूरा करने का प्रयत्न करे, जनका उत्पादन उसके अपने क्षेत्र में संभव हो। खेती और कल-कारखानों द्वारा जो भी उत्पादन हो, उस पर सम्पूर्ण कम्यून का सामूहिक स्वामित्त्व रहे। उत्पादन के सब साधन—भूमि, उपकरण, पशु, मशीनरी आदि कम्यून की सम्पत्ति हो, और वहां जो कुछ भी उत्पादन किया जाए उस सबको भी कम्यून की ही सम्पत्ति माना जाए। सम्पत्ति का उपभोग भी कम्यून में सम्मिलित सब व्यक्ति सामूहिक रूप से ही किया करें।

कम्युनिस्ट विचारों के अनुसार यही आदर्श व्यवस्था है, जिस द्वारा सब कोई अपने श्रम के अनुरूप यथोचित आमदनी प्राप्त कर सकते हैं, और कोई किसी का शोषण भी नहीं कर सकता। रूस में कम्युनिस्ट क्रान्ति १९१७ में हुई थी, पर ४० साल व्यतीत हो जाने पर १९५७ तक भी रूसी लोग इस कम्युनिस्ट आदर्श को क्रियान्वित नहीं कर सके थे। विज्ञान और शिल्प के क्षेत्र में रूस ने जो असाधारण उन्नति इस समय तक कर ली थी, उससे उत्साहित होकर चीन की कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने देश में कम्युनिज्म के आदर्श को क्रियान्वित करने का प्रयत्न किया। अग्रगामी लम्बी छलांग की नीति इसी का परिणाम थी। यह नीति इस तथ्य पर आधारित थी, कि चीन में जनसंख्या का आधिक्य है, और उसका समुचित रूप से प्रयोग कर पूंजी तथा मशीनरी की कमी को पूरा किया जा सकता है। १९५७ में चीन की प्रथम पञ्चवर्षीय आयोजना का काल समाप्त हो गया था, अब द्वितीय पञ्चवर्षीय आयोजना (१९५८-१९६२) का निर्माण करते हुए उसका यह लक्ष्य निर्धारित किया गया कि पांच वर्षों की इस अवधि में आर्थिक उत्पादन में सौ प्रतिशत वार्षिक की वृद्धि की जाए। इसीलिये अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिये यह तय किया गया कि (१) खेती के लिये जो सहकारी समितियां संगठित थीं, उनके स्थान पर अब कम्यूनों का संगठन किया जाए। चीन में खेती की इन सहकारी समितियों की संख्या ७,५०,००० के लगभग थी। उनके स्थान पर अब २६,००० के लगभग कम्यून संगठित किये गये। इसके लिये जनता में घोर आन्दोलन किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, और लोगों को कम्यूनों के लाभ समझाये गये। सर्वसाधारण देहाती जनता ने इन्हें अपने लिये लाभकर भी समझा, क्योंकि इन द्वारा उन्हें अपनी आजीविका, स्वास्थ्य और बुढ़ापे आदि के संबन्ध में एक प्रकार की निश्चिन्तता प्राप्त हो जाती थी। वे इनके लिये तैयार हो गये। कम्यूनों का जीवन सैनिक बैरकों के सदृश था। बिगुल बजने पर सुबह लोग उठ खड़े होते थे और नित्य कर्मों से निवृत्त होकर पहले कसरत करते थे, फिर सामूहिक भोजनालय से उन्हें नाश्ता दिया जाता था, जिसे खा कर वे खेतों या देहाती कारखानों में काम के लिये चले जाते थे। दोपहर के समय उन्हें ताजा व गरम भोजन दिया जाता था। सांझ के समय उन्हें फिर कसरत करायी जाती थी और सामूहिक भोजनालय में भोजन करके वे विश्राम के लिये अपने-अपने घरों को चले जाते थे। मनोरंजन के लिये भी अनेक-विध साधनों की व्यवस्था कम्यूनों की ओर से की जाती थी। इस पद्धति में व्यक्तिगत जीवन की अधिक गुंजाइश नहीं थी, और काम करने के संबन्ध में भी लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं थी। पर यदि वे श्रम को ही आमदनी का एकमात्र साधन समझें, तो उन्हें अपनी योग्यता व शक्ति के अनुसार उपयुक्त काम एवं अधिक योग्यता का काम प्राप्त कर सकने की पर्याप्त गुंजाइश रहती थी, जिससे वे अपनी आमदनी बढ़ा भी सकते थे। १९६१ तक चीन में यह स्थिति आ गई थी कि वहां के प्रायः सभी देहाती क्षेत्रों में कम्यून स्थापित हो गये थे, और वहां की जनता कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार जीवन व्यतीत करने लग गई थी। खेती का सब कार्य कम्यूनों द्वारा ही किया जाने लगा था, और इस क्षेत्र में व्यक्तिगत अध्यवसाय का प्रायः अभाव हो गया था।

(२) औद्योगिक उन्नति के लिये यह आवश्यक समझा गया कि चीन में इस्पात तथा लोहे के उत्पादन में वृद्धि की जानी चाहिये। पर इसके लिये जिस मशीनरी की आवश्यकता थी, उसे जुटा सकना सुगम नहीं था। लोह-व्यवसाय के लिये जो भारी मशीनरी अपेक्षित है, चीन उसे विदेशों से ही प्राप्त कर सकता था। कम्युनिस्ट नेताओं ने विचार किया, कि इस उद्योग के लिये भी चीन की भारी जनसंख्या का उपयोग किया जाए। पुराने समय में चीन में लोहे का उत्पादन भी गृह-उद्योगों द्वारा किया जाता था। अब फिर इन गृह-उद्योगों का आश्रय लेकर लोहे के उत्पादन का प्रयत्न किया गया, जिसके कारण हजारों की संख्या में छोटे-छोटे कारखाने खोले गये, जिनमें पुरानी परिपाटी के अनुसार लोहे का उत्पादन किया जाने लगा। यद्यपि इन कारखानों द्वारा तैयार लोहा उत्कृष्ट प्रकार का नहीं होता था, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस द्वारा चीन में लोहे के उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई, और इस क्षेत्र में भी चीन बहुत कुछ आत्मनिर्भर हो गया।

(३) नदियों पर बांध बांधने तथा उनसे नहरें निकालने के लिये भी मानव श्रम का प्रचुर परिमाण में प्रयोग किया गया गया। चीन में प्रायः बाढ़ें आती रहती थीं, जिनके कारण खेती नष्ट हो जाती थी और गांवों की जमीन उजड़ जाती थी। नदियों पर बांध बांधने के लिये लाखों स्वयंसेवकों को भरती किया गया, और अनेक ऐसे बांध तैयार किये गये जिनके लिये किसी मशीनरी का उपयोग न कर केवल मानव श्रम को प्रयुक्त किया गया था। चीन के बड़े से बड़े राजनीतिक नेता एवं राजकर्मचारी स्वेच्छापूर्वक इन बांधों के निर्माण में हाथ बटाते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि चीन की जनता में अपने देश की आर्थिक उन्नति के लिये अपूर्व उत्साह का सञ्चार हो गया, और वहां अनेक ऐसे कार्य सम्पन्न हो सके, जिन्हें पूंजी व धन के अभाव में पूरा कर सकना अन्यथा कदापि सम्भव नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) खेती के अतिरिक्त उद्योगों और कल-कारखानों के क्षेत्र में भी अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम का अनुसरण किया गया। १९४९ में चीन के बहुसंख्यक कल-कारखाने विदेशी पूंजीपतियों के स्वत्त्व में थे। कम्युनिस्ट शासन के स्थापित हो जाने पर अब विदेशी पूंजीपतियों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था कि वे कम्युनिस्ट चीन में रहते हुए अपने कल-कारखानों का संचालन कर सकते। स्वाभाविक रूप से ये कारखाने अब कम्युनिस्ट सरकार के स्वत्त्व में आ गये थे। इसी प्रकार चीन के जो बड़े पूंजीपति कम्युनिज्म के विरोधी होने के कारण कुओमिन्तांग सरकार के साथ-साथ फार्मूसा चले गये थे, उनके कारखानों पर भी राज्य का स्वत्त्व कायम कर दिया गया था। पर कतिपय चीनी पूंजीपति ऐसे भी थे, जो राष्ट्रीय विचारों के थे और जो फार्मूसा नहीं गये थे। कुओमिन्तांग सरकार के विरुद्ध इन्होंने कम्युनिस्टों का साथ भी दिया था। अतः शुरू में इनका अपने कारखानों पर स्वत्त्व कायम रखा गया था। पर 'राष्ट्रीय' पूंजीपतियों के स्वत्त्व में विद्यमान इन कारखानों पर भी राज्य का नियन्त्रण स्थापित किया गया। इस नियन्त्रण का स्वरूप यह था कि सरकार इन्हें कपड़ा आदि माल तैयार करने का आर्डर देती थी, और किस कीमत पर इनसे तैयार माल क्रय किया जायगा, यह पहले से ही निर्धारित कर दिया जाता था। निश्चित मूल्य पर कच्चा माल देने की जिम्मेदारी भी सरकार अपने ऊपर ले लेती थी। कारखानों में काम करने वाले मजदूरों व अन्य कर्मचारियों को किस दर से वेतन दिया जाए, स्वास्थ्य व बीमा आदि पर क्या खर्च किया जाए, यह भी सरकार द्वारा निर्धारित कर दिया जाता था। कच्चे माल की कीमत, मजदूरी की दर आदि का हिसाब करके सरकार जिस मूल्य पर कारखानों द्वारा तैयार किये गये माल को खरीदती थी, उसमें पूंजीपति को अपनी पूंजी पर आठ प्रतिशत के लगभग मुनाफा प्राप्त करने की गुंजाइश रखी जाती थी। इससे पूंजीपति को भी संतोष होता था, क्योंकि माल को बाजार में बेचने की चिन्ता उसे नहीं करनी पड़ती थी, और न ही कच्चे तथा तैयार माल की कीमतों में वृद्धि या कमी आ जाने का ही उसे भय रहता था। आठ प्रतिशत मुनाफा भी उसके लिये पर्याप्त था। व्यक्तिगत स्वत्त्व में विद्यमान ये कारखाने पूर्णतया राज्य के नियन्त्रण में रखे गये थे। इनके संचालन के लिये पुराने ढंग के बोर्ड ऑफ डाइरेक्टर्स के स्थान पर अब ऐसे बोर्डों की स्थापना की गई थी, जिनके एक तिहाई सदस्य पूंजीपतियों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे, एक तिहाई सदस्यों को कारखाने में काम करने वाले मजदूर व कर्मचारी चुनते थे, और एक तिहाई को सरकार मनोनीत करती थी। विदेशी और कुओमिन्तांग के पक्षपाती पूंजीपतियों के चीन से चले जाने के कारण जो कारखाने सरकार के स्वत्त्व में आ गये थे, उनका संचालन तो पूर्णतया सरकार के ही हाथों में था, यद्यपि उनके प्रबन्ध में भी मजदूरों का सहयोग लिया जाता था। क्योंकि सरकार की नीति समाजवादी व्यवस्था की दिशा में अग्रसर होने की थी, अतः 'अग्रगामी लम्बी छलांग' के काल में उन कल-कारखानों को भी पूर्णतया सरकार के स्वत्त्व में ले लिया गया, जो पहले 'राष्ट्रीय' पूंजीपतियों के हाथों में थे। कम्युनिस्टों को इसके लिये किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। पूंजीपतियों को मुनाफे के रूप में जो आमदनी प्राप्त होती थी, उसका व्यय वे स्वेच्छापूर्वक नहीं कर सकते थे, क्योंकि मोटर कार, रिफ्रिजरेटर आदि विलास की वस्तुओं का क्रय कर सकना सरकार के नियन्त्रण में था। ये वस्तुएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं थीं, और सरकार इन्हें सेना, अस्पताल आदि के लिये ही प्रयोग में लाने की अनुमति देती थी, व्यक्तिगत उपयोग के लिये नहीं। बैंकों पर सरकार का स्वत्त्व स्थापित हो जाने के कारण पूंजीपति अपनी आमदनी को यदि बैंकों में जमा करते थे, तो इससे भी उनकी मुनाफे की रकम सरकार के ही हाथों में आ जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। इस दशा में पूंजीपति यह अनुभव करने लगे कि कल-कारखानों पर उनका स्वत्त्व निरर्थक-सा ही है। परिणाम यह हुआ, कि बहुत-से पूंजीपतियों ने स्वेच्छापूर्वक अपने कारखानों का स्वत्त्व सरकार के सुपुर्द कर दिया। अब बड़े कल-कारखानों को भी कम्यूनों का रूप प्रदान कर दिया गया, और औद्योगिक क्षेत्रों तथा शहरों में भी पूर्णरूप से कम्युनिस्ट व्यवस्था क्रियान्वित कर दी गई।

पर 'अग्रगामी लम्बी छलांग' की नीति को सफल बनाने के लिये चीन के कम्युनिस्ट नेताओं को अनेक विघ्न-बाधाओं का सामना करना पड़ा। यह नीति इतनी अधिक क्रान्तिकारी थी, कि अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म की दृष्टि में भी यह क्रियात्मक नहीं थी। स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् ख्रुश्चेव के नेतृत्त्व में सोवियत रूस जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, उसका उद्देश्य विश्व के पूंजीवादी देशों के साथ भी सह-अस्तित्त्व से रहना और अपने देश में समाजवादी सिद्धान्तों का प्रयोग कर जनता को इतना सुखी तथा समृद्ध बना देना था कि पूंजीवादी देशों के लोग भी समाजवादी व्यवस्था की ओर स्वयमेव आकृष्ट होने लगें। कम्युनिस्टों की इसी नई प्रवृत्ति के कारण १९५५ में बांदुंग कान्फरेन्स के अवसर पर चाउ एन लाई ने पञ्चशील के उन पांच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, जिनमें सह-अस्तित्त्व की बात पर बहुत जोर दिया गया था। सोवियत रूस इस समय एक ऐसी नीति के अनुसरण में तत्पर था, जो सर्वथा उदार थी। माओ त्से-तुंग द्वारा जिस अग्रगामी लम्बी छलांग का सूत्रपात किया गया था, ख्रुश्चेव की दृष्टि में वह न केवल अक्रियात्मक थी, अपितु अनुचित भी थी। उसका मत था कि चीन में यह कार्यक्रम कभी सफल नहीं हो सकता। कम्यूनों की स्थापना कर कम्युनिज्म की जिस आदर्श व्यवस्था को स्थापित करने के लिये माओ त्से-तुंग तत्पर था, वह अभी रूस जैसे उन्नत देश के लिये भी क्रियात्मक नहीं थी। इस दशा में यह कैसे सम्भव था, कि चीन जैसा अविकसित देश इसे सफलता के साथ क्रियान्वित कर सके। चीन की आर्थिक और औद्योगिक उन्नति के लिये रूस द्वारा प्रचुर परिमाण में आर्थिक सहायता दी जा रही थी, और उसके वैज्ञानिक व इन्जीनियर वहां बड़े कल-कारखानों की स्थापना में तत्पर थे। ख्रुश्चेव समझता था, कि अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम के असफल हो जाने पर रूस द्वारा दी गई सब आर्थिक सहायता व्यर्थ हो जायेगी और कम्युनिज्म बदनाम हुए बिना नहीं रहेगा। इस दशा में ख्रुश्चेव ने माओ त्से-तुंग की नीति का खुले तौर पर विरोध करना प्रारम्भ कर दिया, और ऐसा प्रतीत होने लगा कि इन दो विशाल कम्युनिस्ट देशों और इनकी कम्युनिस्ट पार्टियों में विरोध हो जाना अवश्यम्भावी है। चीन में भी ऐसे लोगों तथा कम्युनिस्ट नेताओं की कमी नहीं थी, जो अग्रगामी लम्बी छलांग को अक्रियात्मक समझते थे, और उसका विरोध करने में तत्पर थे। पर माओ त्से-तुंग अपने विचारों और कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये कटिबद्ध था। चीन में अग्रगामी लम्बी छलांग की नीति का प्रधान विरोधी फेंग ते-हुआई था, जो वहां के पोलिटिकल ब्यूरो का महत्त्वपूर्ण सदस्य था और रक्षामन्त्री भी। सितम्बर, १९५९ में उसे अपदस्थ कर दिया गया, और उसके साथ ही अन्य भी अनेक ऐसे व्यक्तियों को अपने पदों से पृथक् कर दिया गया जो माओ त्से-तुंग की नीति के विरोधी थे। रूस और चीन का विरोध इस समय इतना अधिक बढ़ गया कि रूस ने अपने सब इन्जीनियर और वैज्ञानिक चीन से वापस बुला लिये, और उसे आर्थिक सहायता देना पूर्णरूप से बन्द कर दिया।

पर माओ त्से-तुंग ने इससे कोई विशेष चिन्ता अनुभव नहीं की। उसे जनता की शक्ति में अपार विश्वास था। जन शक्ति द्वारा ही उसने कुओमिन्तांग के शासन का अन्त किया था, जापान को परास्त किया था और सम्पूर्ण चीन को एक सूत्र में संगठित किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। वह समझता था कि कम्युनिज्म की आदर्श व्यवस्था की स्थापना के लिये नवीनतम वैज्ञानिक साधनों का उतना उपयोग नहीं है, जितना कि जन शक्ति के प्रयोग का है। इसी जन शक्ति को संगठित करने के प्रयोजन से १९५९ में उन्होंने चीन के राष्ट्रपति (सेन्ट्रल पीपल्स गवर्नमैन्ट कौंसिल के चेयरमैन) के पद से त्यागपत्र दे दिया, और कम्युनिस्ट पार्टी के नेता के रूप में अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम को सफल बनाने में अपनी सब शक्ति को प्रयुक्त करना प्रारम्भ किया। पर उसका कार्य सुगम नहीं था। खेती को पूर्णरूप से राज्य के अधीन कर लेने के कारण किसानों को श्रम के लिये कोई प्रेरक हेतु नहीं रह गया था। किसानों को अपनी भूमि से विशेष लगाव होता है। वह अपने खेतों पर इसी आशा से मेहनत करते हैं, कि अपनी मेहनत का फल वे स्वयं प्राप्त कर सकेंगे। अब खेती का काम कम्यूनों के हाथों में था, जिनका नेतृत्त्व कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं द्वारा किया जा रहा था। इस दशा में किसान अपने कार्य में शिथिलता करने लगे, जिसके कारण खेती की पैदावार में कमी आने लगी। कम्युनिस्ट नेताओं ने समझा, कि अनाज की पैदावार में यथेष्ट वृद्धि न होने का एक कारण यह है कि पक्षी खेती का विनाश करते हैं, और चूहों आदि द्वारा तैयार अनाज नष्ट कर दिया जाता है। उन्होंने जनता को प्रेरित किया कि पक्षियों तथा चूहों आदि का संहार किया जाए। चीन की जनता इनके विनाश में लग गई। खेती के लिये जमीन प्राप्त करने के लिये बहुत-से जंगलों को काट डाला गया, जिससे अनाज की पैदावार में वृद्धि की जा सके। पर प्रकृति ने इस समय कम्युनिस्ट नेताओं का साथ नहीं दिया। १९५८-६१ के तीन वर्षों में वर्षा बहुत कम हुई, जिसके कारण अनाज की पैदावार में कमी आ गई। यह कमी इतनी अधिक थी कि जनता के लिये पेट भर भोजन प्राप्त करना कठिन हो गया, जिसके कारण सरकार को विदेशों से अनाज मंगाने के लिये विवश होना पड़ा। आस्ट्रेलिया और कनाडा से १,५०,००,००० टन अनाज मंगवाया गया, जिसकी कीमत विदेशी मुद्रा में प्रदान की गई। भोजन की कमी की समस्या को हल करने के लिये राशन पद्धति का आश्रय लिया गया। पर भोज्य पदार्थों की न कीमत बढ़ने दी गई, और न ही अनाज को काला बाजार में बिकने दिया गया। संकट के इस काल में भी चीन की कम्युनिस्ट सरकार देश में व्यवस्था स्थापित करने में समर्थ रही। १९६५ के शुरू तक चीन में भोजन की कमी किसी न किसी रूप में कायम रही, पर धीरे-धीरे लोग कम्यूनों द्वारा खेती के लिये अभ्यस्त हो गये, और वह समय आ गया जब कि एक बार फिर चीन अनाज व अन्य खाद्य पदार्थों में आत्मनिर्भर हो गया।

रूसी वैज्ञानिकों और इन्जीनियरों के चीन से वापस बुला लिये जाने के कारण उद्योगों तथा कल-कारखानों के विकास में भी बाधा उपस्थित हुई। जो १४०० के लगभग विशेषज्ञ रूस वापस बुला लिये गये थे, वे कल-कारखानों तथा मशीनरी के नक्शों को भी अपने साथ ले गये थे। पर सरकार ने इस संकट का भी वीरता के साथ सामना किया। चीनी इन्जीनियरों ने कारखानों तथा मशीनरी के नये नक्शे तैयार किये, और उनके आधार पर बड़ी मशीनरी भी चीन में बनायी जाने लगी। मिट्टी के तेल को साफ करने के अनेक नये कारखाने इस समय चीन में स्थापित किये गये, और चीन का औद्योगिक विकास अबाधित गति से जारी रहा। चीन ने इसी काल में आणविक शक्ति का भी आविष्कार कर लिया, और आणविक बम्ब बना सकने में भी उसने सफलता प्राप्त कर ली। रूस चाहता था, कि कोई अन्य देश इस बम्ब का निर्माण न कर सके। इस समय तक अमेरिका, ब्रिटेन और रूस ही ऐसे देश थे, जिन्हें आणविक शक्ति का रहस्य ज्ञात था। ये देश अन्य राज्यों के साथ ऐसी सन्धियां करने में तत्पर थे, जिनका प्रयोजन इस शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को संहारक प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त न होने देना था। चीन इस प्रकार की सन्धि के लिये उद्यत नहीं हुआ, और वह अपने ही प्रयत्न से आणविक बम्ब का निर्माण करने में समर्थ हो गया। १९६४ में चीन ने जापान की राजधानी टोक्यो में एक व्यापारिक प्रदर्शिनी का आयोजन किया, जिसमें दस हजार से भी अधिक औद्योगिक वस्तुएं प्रदर्शित की गई थीं। अग्रगामी लम्बी छलांग की नीति का अनुसरण कर चीन ने औद्योगिक क्षेत्र में कितनी अधिक उन्नति कर ली थी, ये वस्तुएं उसका प्रत्यक्ष प्रमाण थीं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि यह असाधारण उन्नति किसी भी विदेशी राज्य की सहायता के बिना की गई थी।

चीन के सब कम्युनिस्ट नेता अग्रगामी लम्बी छलांग की नीति के समर्थक नहीं थे, यह अभी ऊपर लिखा जा चुका है। इसी कारण देश के अनेक वर्गों में इससे असंतोष की भी सत्ता थी। अनेक स्थानों पर इस असंतोष ने विद्रोह का रूप भी धारण कर लिया, और १९५९-६० में कई प्रदेशों में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। होनान और शांतुंग प्रान्तों में इन विद्रोहों ने गम्भीर रूप प्राप्त कर लिया, और बहुत-से सैनिकों ने भी विद्रोहियों का साथ दिया। पर सरकार को इन विद्रोहों को शान्त करने में बहुत कठिनाई नहीं हुई। तिब्बत में भी इसी समय में विद्रोह का सूत्रपात हुआ। तिब्बत के इस विद्रोह पर हम पृथक् रूप से प्रकाश डालेंगे। यद्यपि यह विद्रोह अग्रगामी लम्बी छलांग का परिणाम नहीं था, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के समय चीन में जो संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई थी, दलाई लामा तथा उसके साथियों ने उससे लाभ उठाया और उन्होंने चीन के विरुद्ध सशस्त्र विद्रोह प्रारम्भ कर दिया।

अग्रगामी लम्बी छलांग की नीति को कार्यान्वित करने के कारण शुरू में चीन को जिस प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा था, उसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है कि अपने देश की बेकारी तथा भोजन की कमी से विवश होकर बहुत-से चीनी लोगों ने हांगकांग में जाकर आश्रय ग्रहण किया था। १९६१ में इन प्रवासियों की संख्या १,४२,००० तक पहुंच गई थी। चीन की सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह लोगों को अपने देश से बाहर चले जाने से रोक सके। हांगकांग के लिये इन शरणार्थियों को काम दे सकना और उनके जीवन निर्वाह की व्यवस्था कर सकना एक समस्या बन गई थी।

पर धीरे-धीरे कम्युनिस्ट सरकार ने स्थिति पर काबू पा लिया। कम्यूनों के संगठन द्वारा देश में आदर्श कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने का जो प्रयत्न माओ त्से-तुंग ने प्रारम्भ किया था, अनेकविध विघ्न बाधाओं के बावजूद चीन की सरकार उस पर दृढ़ रही, और अन्त में वह अपने प्रयत्न में सफल भी हो गई। १९६५ के अन्त तक चीन में यह स्थिति आ गई थी, कि वहां लोगों को भोज्य सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थी, बेकारी का अन्त हो गया था, सब कोई को कपड़े तथा निवास-स्थान प्राप्त करा दिये गये थे, शिक्षा का तेजी के साथ प्रसार किया जा रहा था और निरक्षर लोगों का प्रायः अभाव हो गया था। वस्तुओं की कीमतें गिरने लग गई थीं, और चीन विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली देशों में गिना जाने लगा था। निःसन्देह, अग्रगामी लम्बी छलांग की यह आश्चर्यजनक सफलता थी।

(३) किमाय पर गोलाबारी

सन् १९४९ के बाद अनेक वर्षों तक चीन की आन्तरिक राजनीति में कोई ऐसी घटनाएं नहीं हुईं, जिनके उल्लेख की इस ग्रन्थ में आवश्यकता हो। कम्युनिस्ट शासन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे राजनीतिक दलों की सत्ता सम्भव नहीं होती, जो शक्ति प्राप्त करने के लिए परस्पर संघर्ष में तत्पर रहते हों। चीन में कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य भी कतिपय दलों की सत्ता है, पर कम्युनिस्टों से इनका मौलिक मतभेद नहीं है। इसी कारण ये सरकार के साथ सहयोग करते हैं, और समाजवादी व्यवस्था की स्थापना में सहायता प्रदान करते हैं। माओ त्से-तुंग कम्युनिस्ट चीन के सर्वमान्य नेता हैं। शुरू से वे ही राष्ट्रपति (सेन्ट्रल पीपल्स गवर्नमैंट कौंसिल के चेयरमैन) के पद पर रहे। पर १९५९ में उन्होंने स्वेच्छा-पूर्वक अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, और उनके स्थान पर कामरेड ल्यू शाओ-ची नये राष्ट्रपति चुने गए। माओ त्से-तुंग के त्याग-पत्र का मुख्य कारण यह था, कि वे अपनी सब शक्ति तथा समय कम्यूनों की सफलता के लिए प्रयुक्त करना चाहते थे। चीन की कम्यु-निस्ट पार्टी के नेता के रूप में बाद में भी उनका देश की सरकार पर अतुल प्रभाव रहा, और वास्तविक रूप में वे ही उसके संचालक रहे।

पर १९४९ के बाद चीन के इतिहास में कतिपय घटनाएं ऐसी हुई, जिनका उल्लेख करना उपयोगी है। फार्मूसा और उसके समीप के कतिपय द्वीप १९४९ के बाद भी कुओ-मिन्तांग सरकार के शासन में रहे, यह चौबीसवें अध्याय में लिखा जा चुका है। कुओ-मिन्तांग सरकार की शक्ति का मुख्य आधार अमेरिका का उसकी पीठ पर होना है। को-रिया के गृहयुद्ध (१९५०-५३) में कम्युनिस्ट चीन उत्तरी कोरिया का सहायक था। उस समय अमेरिका ने अनुभव किया, कि पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म के प्रसार को तभी रोका जा सकता है, जबकि फार्मूसा और उसके समीपवर्ती द्वीपों में अपनी शक्ति को केन्द्रित किया जाय। इसीलिये १९५३ में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह आदेश दिया, कि अमेरिका का सातवां जंगी जहाजी बेड़ा फार्मूसा के क्षेत्र में स्थापित किया जाय, और यह व्यवस्था की गई कि वह कुओमिन्तांग सरकार की सब प्रकार से सहायता करे। यह स्वा-भाविक था, कि चीन की कम्युनिस्ट सरकार इसका प्रतिरोध करती। कुओमिन्तांग सर-कार के अधीन दो द्वीप हैं, जो चीन के बहुत समीप हैं। किमाय चीन की भूमि से केवल १२ मील की दूरी पर अमोय नामक बन्दरगाह के सामने है, और मात्सू द्वीप किमाय के १५० मील उत्तर में चीन की भूमि से १० मील की दूरी पर स्थित है। १९५५ में कम्यु-निस्ट सरकार ने इन्हें जीतने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, क्योंकि अपनी भूमि के इतने समीप के इन द्वीपों पर कुओमिन्तांग व अमेरिका का प्रभुत्व उसे अपने लिए अत्यन्त हानिकारक प्रतीत होता था। चीन द्वारा इन द्वीपों पर गोलाबारी शुरू कर दी गई, जिससे अमेरिका बहुत चिन्तित हुआ। अमेरिकन कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया, कि फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार की अधीनता में विद्यमान द्वीपों की रक्षा के लिए अपनी सेना का प्रयोग किया जाय। क्योंकि किमाय और मात्सू द्वीप भी कुओमिन्तांग के अधीन थे, अतः अमेरिका अपना यह कर्त्तव्य समझता था, कि कम्युनिस्ट आक्रमणों से इनकी भी रक्षा की जाय। इसी कारण कुछ समय के लिए चीन की सरकार ने अपने हाथ रोक लिए, और इन द्वीपों पर आक्रमण करना बन्द कर दिया।

पर इस क्षेत्र में देर तक शान्ति कायम नहीं रह सकी। २३ अगस्त, १९५८ को चीन ने फिर किमाय और मात्सू पर गोलाबारी शुरू कर दी। यह गोलाबारी इतनी भीषण थी, कि तीन सप्ताह तक कोई भी जहाज फार्मूसा से किमाय नहीं आ सका, और वहां के निवासियों के लिये जीवन की आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कर सकना भी सम्भव नहीं रहा। पर अमेरिका इस समय सब प्रकार से कुओमिन्तांग सरकार की सहायता के लिये तत्पर था। उसी के जंगी बेड़े की मदद से फार्मूसा और किमाय में फिर से सम्बन्ध स्था-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पित हुआ। चीन के लिए यह असह्य था, कि अमेरिका का बेड़ा उसकी भूमि के इतने समीप तक आने-जाने लगे। इसीलिए रूस के प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने सितम्बर, १९५८ में राष्ट्रपति आइजनहावर को एक पत्र लिखा, जिसमें उन्होंने चीन की परिस्थिति पर चिन्ता प्रकट करते हुए यह सूचित किया, कि चीन पर किये गए किसी भी आक्रमण को रूस अपने ऊपर आक्रमण समझेगा, और उसकी पूर्णरूप से सहायता करेगा। भारत के प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी इस अवसर पर चीन का समर्थन किया, और यह घोषणा की, कि कोई भी देश अपने समुद्रतट से बारह मील की दूरी पर स्थित द्वीप को किसी अन्य देश की सैन्यशक्ति का केन्द्र नहीं बनने दे सकता। इस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति बहुत गम्भीर हो गई थी, और ऐसा प्रतीत होने लगा था, कि पूर्वी एशिया में युद्ध छिड़ जाने में अधिक देर नहीं है। इस समस्या का समाधान करने के लिए वारसा में अमेरिका और कम्युनिस्ट चीन के राजदूतों ने परस्पर बातचीत प्रारम्भ की (१४ सितंबर, १९५८), और अन्य राज्यों ने भी दोनों पक्षों पर यह जोर देना शुरू किया कि वे किमाय और मात्सू के मामले को शान्तिपूर्वक निबटा लें। इसी का यह परिणाम हुआ, कि ७ अक्टूबर, १९५८ के दिन चीन के प्रधानमन्त्री चाउ एन लाई ने मानवता के नाम पर किमाय पर गोलाबारी को बन्द कर दिया।

यह कह सकना कठिन है, कि चीन कब तक अपनी भूमि के इतने समीप अमेरिकन तथा कुओमिन्तांग की शक्ति को सहन कर सकेगा। फार्मूसा, पैस्केडर्स द्वीप-समूह, किमाय, मात्सू आदि जो द्वीप इस समय कुओमिन्तांग सरकार के अधीन हैं, वस्तुतः वे चीन के ही अंग हैं। इनको अधिगत करना चीन अपने देश की राष्ट्रीय एकता के लिए अनिवार्य समझता है। कम्युनिस्ट चीन तब तक शान्ति की सांस नहीं ले सकता, जब तक कि वह इनको भी अपने शासन में न ले आये। पर अभी कम्युनिस्ट सरकार अपनी आन्तरिक उन्नति में इतनी अधिक संलग्न है, कि इन द्वीपों के प्रश्न पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संकट का प्रादुर्भाव कर लेना उसे उचित प्रतीत नहीं होता। यदि वह अपनी शक्ति का प्रयोग कर इन द्वीपों को विजय करने का प्रयत्न प्रारंभ करे, तो अमेरिका अवश्य ही कुओमिन्तांग सरकार की सहायता करेगा, जिससे महायुद्ध का प्रारंभ हो जाना अनिवार्य हो जायेगा। अभी चीन इसके लिए तैयार नहीं है। इसी कारण कोरिया, विएत-नाम और जर्मनी के समान चीन भी इस समय दो भागों में विभक्त है। पर यह दशा देर तक नहीं रह सकेगी, क्योंकि चीन जैसा शक्तिशाली देश अपने अंग-भंग को देर तक सहन नहीं कर सकता।

(४) तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व

तिब्बत के पुराने इतिहास पर हम दसवें अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। यह देश चीनी साम्राज्य का अंग था, यद्यपि इसके शासक अपने आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र थे। बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में चीन की केन्द्रीय सरकार के लिए यह संभव नहीं रहा था, कि वह इस सुदूरवर्ती प्रदेश पर अपने आधिपत्य को कायम रख सकती। मञ्चू सम्राट् अब निर्बल हो गये थे, और राज्यक्रान्ति द्वारा जब उनके शासन का अन्त होकर चीन में रिपब्लिक की स्थापना हुई (१९११), तो आन्तरिक झगड़ों के कारण रिपब्लिकन सरकार के लिए भी तिब्बत पर अपने आधिपत्य को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा था। भारत के ब्रिटिश शासकों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और तिब्बत पर अपने प्रभाव व प्रभुत्व का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया। १९१३-१४ में ब्रिटिश, चीन और तिब्बत के प्रतिनिधियों की एक कान्फरेन्स शिमला में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुई, जिसमें तिब्बत और चीन की सीमा का निर्णय किया गया, और साथ ही ब्रिटेन और तिब्बत के संबन्धों का। १९१३-१४ की शिमला कान्फरेन्स के परिणामस्वरूप तिब्बत पर ब्रिटेन का प्रभाव भलीभांति स्थापित हो गया था, और चीन की तुलना में अब तिब्बत ब्रिटेन के अधिक प्रभाव में आ गया था। पर चीन की सरकार इस देश को अपना अंग समझती थी, और शिमला कान्फरेन्स के निर्णयों से असहमत थी। इसीलिए चीन के प्रतिनिधियों ने इस कान्फरेन्स के निर्णयों पर अपने हस्ताक्षर नहीं किये थे, और वे उससे उठकर चले गये थे। १९१३ से १९३३ तक चीन की रिपब्लिकन सरकार निरन्तर इस प्रयत्न में रही, कि तिब्बत पर फिर से अपने आधिपत्य को स्थापित कर ले। पर वह सफल नहीं हो सकी, क्योंकि उस समय चीन की अपनी दशा सुव्यवस्थित नहीं थी। १९३३ के बाद जब जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया, तब तो वहां की सरकार के लिए तिब्बत की ओर ध्यान दे सकना और भी अधिक कठिन हो गया। अंग्रेजों ने इस स्थिति से लाभ उठाकर तिब्बत को अपना एक संरक्षित राज्य बना लिया, और उसका चीन के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। १९३३ में तिब्बत के तेरहवें दलाई लामा की मृत्यु हो गई थी, और नये दलाई लामा के नाबालिग होने के कारण इस देश का शासन एक रीजेन्सी कौंसिल के हाथों में आ गया था। तिब्बत में प्रायः रीजेन्सी कौंसिल का ही शासन रहता है, क्योंकि जब किसी नये व्यक्ति को पुराने दलाई लामा का अवतार मानकर उसे इस पद पर नियुक्त किया जाता है, तो वह बच्चा ही होता है।

१९४९ में जब चीन में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित हुई, और उसने सारे देश में एक सुव्यवस्थित शासन कायम कर लिया, तो स्वाभाविक रूप से उसका ध्यान तिब्बत की ओर भी गया, और इस प्रदेश को अपने आधिपत्य में ले आने के लिए १९५० में चीनी सेनाओं ने तिब्बत में प्रवेश किया। तिब्बत के लिये चीनी सेनाओं का मुकाबिला कर सकना असम्भव था। वह अब चीन के अधिकार में आ गया। इस समय तक भारत से ब्रिटिश शासन का अन्त हो चुका था। यदि वहां अंग्रेजों का शासन कायम होता, तो शायद वे तिब्बत पर चीन के आधिपत्य का विरोध भी करते। पर स्वतन्त्र भारत की सरकार अपनी ही समस्याओं में इतनी उलझी हुई थी, कि अपने पड़ौस के इस प्रदेश की घटनाओं पर उसने कोई ध्यान नहीं दिया, और तिब्बत चीन की अधीनता में चला गया। चीन ने उसके स्वायत्त शासन को कायम रखा, और चीनी साम्राज्य के अंग रूप से उसके शासन की परम्परागत विशेषताओं को जारी रखा। तिब्बत पर अपना अधिकार स्थापित कर दलाई लामा के साथ जो समझौता चीनी सरकार ने किया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) तिब्बत पर दलाई लामा का शासन पूर्ववत् कायम रहेगा। (२) तिब्बत में परम्परागत रूप से जो धार्मिक व राजनीतिक संस्थाएं चली आ रही हैं, उन्हें कायम रखा जायगा। (३) तिब्बत की स्थिति चीन की जनवादी रिपब्लिक के अन्तर्गत स्वायत्त प्रदेश की रहेगी, और आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में उसे सब अधिकार प्राप्त रहेंगे। (४) चीन की सेनाएं तिब्बत में प्रवेश कर सकेंगी, और तिब्बत की सेना को चीन की सेना में विलीन कर दिया जायगा। यह समझौता १९५१ में किया गया था, और इसके कारण तिब्बत की स्थिति चीन के एक प्रान्त के समान हो गई थी। दलाई लामा को संतुष्ट करने के लिये उसे चीन की रिपब्लिक का अन्यतम उपराष्ट्रपति भी निर्वाचित कर दिया गया था, और तिब्बत के प्रतिनिधि भी चीन की पार्लियामेन्ट में सम्मिलित कर लिये गये थे। पर इस समझौते से तिब्बत की जनता सन्तुष्ट नहीं हो सकी। उसने इसे अपने देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये विघातक समझा। विशेषतया, तिब्बत का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कुलीन और लामा वर्ग इससे बहुत असंतोष अनुभव करता था, क्योंकि इसके कारण तिब्बत पर उसके प्रभाव तथा अधिकारों को आघात पहुँचता था।

भारत तिब्बत का पड़ौसी है, और १९४७ से पूर्व ब्रिटिश शासन के काल में तिब्बत पर ब्रिटिश प्रभाव भी विद्यमान था। क्योंकि स्वतन्त्र भारत की सरकार भारत में ब्रिटिश सरकार की उत्तराधिकारिणी थी, अतः चीन ने यह आवश्यक समझा कि तिब्बत के सम्बन्ध में स्वतन्त्र भारत की सरकार के साथ एक नई सन्धि की जाय। इस समय चीन इस बात के लिए उत्सुक था, कि भारत के साथ उसके सम्बन्ध अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहें, ताकि भारत की सरकार चीन की तिब्बत के प्रति नई नीति का किसी भी प्रकार विरोध न करे। इसी लिये चीन में, 'चीन-भारत मैत्री संघ' और भारत में, 'भारत-चीन मैत्री संघ' की स्थापना की गई, और इन दोनों देशों का वातावरण एक दूसरे के प्रति बहुत सौहार्द्र-पूर्ण हो गया।

यह परिस्थिति थी, जब कि २९ एप्रिल, १९५४ के दिन भारत ने तिब्बत के सम्बन्ध में चीन के साथ एक नई सन्धि की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) तिब्बत के व्यापार के लिये चीन नई दिल्ली, कलकत्ता और कालिम्पोंग में अपनी एजेन्सियाँ कायम कर सकेगा। (२) इसी प्रकार यातुंग, ग्यान्त्से और गरटोक में भारतीय सरकार अपनी व्यापारिक एजेन्सियां स्थापित कर सकेगी। (३) पुरानी परम्परा के अनुसार भारत में कालिम्पोंग, सिलीगुड़ी और कलकत्ता में तिब्बती लोग व्यापार के लिये आते-जाते रहेंगे, और तिब्बत के यातुंग, ग्यान्त्से और फरी के बाजार भारतीयों के लिये खुले रखे जायेंगे। (४) भारत के तीर्थयात्री तिब्बत में स्थित कैलाश और मानसरोवर की यात्रा के लिये स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जासकेंगे, और इसी प्रकार तिब्बत के यात्री बनारस, सारनाथ, गया और रांची आदि बौद्ध तीर्थस्थानों की यात्रा बिना किसी रोक-टोक के कर सकेंगे। पुरानी परम्परा के अनुसार भारत के बौद्धों के लिये ल्हासा की यात्रा में भी कोई बाधा नहीं डाली जायगी। इन बातों के अतिरिक्त १९५४ की इस सन्धि में भारत और चीन में उन पांच सिद्धान्तों को भी स्वीकृत किया, जो पञ्चशील के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये पांच सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—एक दूसरे देश की प्रादेशिक सीमाओं और सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता की स्वीकृति, एक दूसरे के प्रदेश पर अनाक्रमण, एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना, एक दूसरे को समान समझना, और शान्तिपूर्वक सह-अस्तित्व। इस प्रकार १९५४ की सन्धि द्वारा भारत ने तिब्बत के क्षेत्र में अपने उन सब विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया, जो स्वतन्त्र भारत की सरकार ने अंग्रेजों से विरासत में प्राप्त किये थे। चीन की विदेश राजनीति की यह असाधारण सफलता थी। १९५४ की इस सन्धि के कारण भारत और चीन के सम्बन्ध बहुत मधुर हो गए। अक्टूबर, १९५४ में पण्डित नेहरू ने चीन की यात्रा की, जहां उनका धूमधाम के साथ स्वागत हुआ। दो साल बाद १९५६ में चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई भी भारत आए। भारत और चीन की सीमाएं हजारों मील तक एक साथ लगती हैं। चीनी गणराज्य का तिब्बत प्रदेश भारत की उत्तरी-सीमा पर स्थित है। इन दो पड़ौसी राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अत्यन्त महत्त्व की बात थी, और यह कहा जाने लगा था, कि जब तक एशिया के इन दो विशाल व शक्तिशाली राज्यों में मैत्री बनी रहेगी, प्राच्य संसार में युद्ध की कोई सम्भावना नहीं हो सकती। तिब्बत में अपने विशेषाधिकारों और विशिष्ट स्थिति का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर भारत सरकार ने चीन की सद्भावना को प्राप्त कर लिया था। तिब्बत पर अपने प्रभुत्व को स्थापित कर चीन ने उसके प्रति ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति का अनुसरण किया, जिससे दलाई लामा का शासन वहां पूर्ववत् कायम रहा। तिब्बत में बौद्ध धर्म का बहुत महत्त्व है। वहां के निवासी धर्मप्राण हैं, लामाओं का उनकी दृष्टि में बहुत आदर है। चीन ने तिब्बत के लामातन्त्र शासन को स्वीकार किया, और उसे हटाने का कोई प्रयत्न नहीं किया। दलाई लामा को चीनी गणराज्य में अन्यतम उप-राष्ट्रपति का भी पद प्रदान किया गया, और तिब्बत के प्रतिनिधि भी चीन की केन्द्रीय पीपल्स कांग्रेस में सदस्य-रूप से सम्मिलित किये गए। बहुत-से तिब्बती विद्यार्थी भी इस समय पेकिंग आदि की यूनिवर्सिटियों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाने लगे।

पर तिब्बत और चीन के सम्बन्ध देर तक मैत्रीपूर्ण नहीं रह सके। यद्यपि नाम को तिब्बत का शासक दलाई लामा होता था, पर वस्तुतः वहां की शासन-शक्ति कतिपय उच्च सामन्त वर्ग के हाथों में रहती थी। इसका कारण यह था, कि दलाई लामा की गद्दी पर उस अवतारी बालक को बिठाया जाता है, जिसे पिछले दलाई लामा का अवतार समझा जाता है। स्वाभाविक रूप से दलाई लामा के पद पर आरूढ़ यह व्यक्ति सोलह, सतरह साल तक तो नाबालिग होने के कारण राज्यकार्य को स्वयं सम्भाल सकने की ही स्थिति में नहीं होता। वयस्क हो जाने पर जब यह स्वयं शासन सम्भालने के योग्य होता है, तो प्रायः वह देर तक जीवित नहीं रह पाता है। राज्यशक्ति का उपभोग करने वाले सामन्त लोग यह नहीं चाहते, कि उनके हाथों से यह शक्ति निकल जाए। यही कारण है, कि अब तक जो चौदह दलाई लामा हुए हैं, उनमें से कम ही वयस्क होकर स्वयं शासन कर सके हैं। वर्तमान दलाई लामा १९३५ में तिब्बत की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ था, पर १९५२ तक भी वह नाबालिग ही था। इस दशा में तिब्बत की शासन-शक्ति उस रीजेन्सी कौंसिल के हाथों में थी, जिसका निर्माण वहां के बड़े सामन्तों व जागीरदारों द्वारा हुआ था। इन लोगों को यह पसन्द नहीं था, कि तिब्बत एक ऐसे गणराज्य के अन्तर्गत हो जाए, जहां कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित है। कम्युनिज्म जागीरदारी प्रथा को सहन नहीं कर सकता। तिब्बत की बहुसंख्यक जनता अर्धदास (सर्फ) की स्थिति में अपना निर्वाह करती थी, और वह अत्यन्त दुर्दशाग्रस्त थी। भूमि पर या तो बड़े जागीरदारों का स्वत्त्व था, और या लामाओं का। उन्हें भय था, कि तिब्बत में भी शीघ्र कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना का प्रयत्न किया जायगा, जिसके कारण उनकी सत्ता सुरक्षित नहीं रह पायगी। साथ ही, यह भी स्वीकार करना होगा कि तिब्बत में राष्ट्रीयता की भावना भी विद्यमान थी, और वहां के उच्च वर्ग के लोग यह नहीं चाहते थे कि उनका देश चीन की अधीनता में आ जाए। नये ढंग की शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान का प्रवेश अभी तिब्बत में नहीं हुआ था, इसी कारण नव-जागरण की प्रवृत्तियाँ भी वहां प्रादुर्भूत नहीं हो सकी थीं। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन ही वहां की शिक्षा का प्रधान अंग था। बहुसंख्यक जनता सर्वथा निरक्षर एवं गरीब थी। इस दशा में यह तो आशा नहीं की जा सकती थी, कि तिब्बत के लोग राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर चीन के विरुद्ध उठ खड़े होते। पर वहां की जनता में दो वर्ग ऐसे थे, जिन्हें अपने देश का चीन का अंग बन जाना पसन्द नहीं था, विशेषतया उस दशा में जबकि वहां की सरकार कम्युनिस्ट हो। ये वर्ग जागीरदारों और लामाओं के थे। इनका विचार था, कि तिब्बत के कम्युनिस्ट चीन का अंग बन जाने के अनन्तर वहां उनकी सत्ता व प्रभुत्त्व कायम नहीं रह सकेंगे। इसीलिए १९५१ में ही उन्होंने चीन के विरुद्ध संघर्ष की तैयारी शुरू कर दी थी, और दलाई लामा की अपार सम्पत्ति का एक भाग सिक्किम भेज दिया था। १९५८ का अन्त होने से पूर्व ही तिब्बत में चीन के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ हो गया, और शीघ्र ही उसने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया। दलाई लामा ने भी विद्रोहियों का साथ दिया, और प्रमुख जागीर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दारों तथा लामाओं के साथ उसने भारत की ओर प्रस्थान कर दिया। दुर्गम घाटियों और दर्रों से होकर दलाई लामा ने तिब्बत की सीमा को पार कर लिया। भारतीय सरकार ने उसे आश्रय देना स्वीकार किया, और हिमालय के प्रसिद्ध पार्वत्य नगर मसूरी में उसके निवास की ऐसी व्यवस्था कर दी, जो उसकी स्थिति के अनुरूप थी। दलाई लामा के साथ तिब्बत की स्थानीय सरकार के अनेक प्रमुख पदाधिकारी और मन्त्री भी भारत चले आये। पर इससे तिब्बत में विद्रोह का अन्त नहीं हो गया, और वहां संघर्ष जारी रहा। पर वहां के लोगों के लिए देर तक चीन का मुकाबिला कर सकना सम्भव नहीं था। १९५९ का अन्त होने से पूर्व ही तिब्बत का विद्रोह दबा दिया गया, और वहां शान्ति व व्यवस्था स्थापित कर दी गई। दलाई लामा का अनुसरण कर इस समय जो बहुत-से तिब्बती नागरिक भारत में आश्रय प्राप्त करने के लिए चले आये, उनकी संख्या ४५,००० के लगभग है। भारत सरकार ने इनके लिए अनेक शरणार्थी कैम्प स्थापित किए, और उन पर उदारतापूर्वक धन खर्च किया।

पर तिब्बत की सम्पूर्ण जनता चीन का अंग होकर रहने के विरुद्ध नहीं थी। जो सैकड़ों तिब्बती विद्यार्थी चीन की यूनिवर्सिटियों में नये ढंग की उच्च शिक्षा प्राप्त कर अपने देश को वापस लौटे थे, वे नये युग की विचारसरणी व प्रवृत्तियों से भलीभांति परिचित हो गये थे। उन्हें अपने देश की आर्थिक दुर्दशा का ज्ञान था। वे अनुभव करते थे कि तिब्बत से जागीरदारी प्रथा का अन्त होना चाहिए, जनता का जो बड़ा भाग अर्ध-दास की स्थिति में जीवन व्यतीत कर रहा है उसे स्वतन्त्र किया जाना चाहिये, जमीन पर किसानों का स्वत्व स्थापित होना चाहिए, शासन को वास्तविक रूप से लोकतन्त्रवाद के अनुसार पुनःसंगठित किया जाना चाहिए, शिक्षणालयों में ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जानी चाहिये, और नये वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर तिब्बत का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास किया जाना चाहिये। सदियों पूर्व स्थापित हुए लामातन्त्र शासन को जारी रखना इन्हें पसन्द नहीं था। ये चाहते थे कि तिब्बत में भी चीन के ढंग की लोकतन्त्र सरकार स्थापित की जाये और सड़कें, हवाई अड्डे, रेलवे, कल-कारखाने आदि का निर्माण कर तिब्बत को भी एक आधुनिक देश बनाया जाय। लामा वर्ग में भी कतिपय ऐसे व्यक्ति थे, जो अपने देश में नई प्रवृत्तियों के प्रवेश के समर्थक थे। दलाई लामा के समान ही तिब्बत में पञ्छन लामा की भी गद्दी है, जिसे वहां के धार्मिक जीवन में अत्यन्त उच्च स्थिति प्राप्त है। प्रायः पञ्छन लामा दलाई लामा के प्रतिस्पर्धी रहे हैं। तत्कालीन पञ्छन लामा की शिक्षा-दीक्षा चीन में हुई थी, जिसके कारण उसका झुकाव चीन की ओर था। उसने १९५८-५९ के विद्रोह के समय चीन का साथ दिया। कम्युनिज्म की विचार-सरणी के अनुसार जिन लाखों अर्धदासों को स्वतन्त्रता प्राप्त हुई, उन्होंने भी अपने देश की नई सरकार का स्वागत किया। इसी कारण विद्रोह को शान्त कर जो नई प्रादेशिक सरकार तिब्बत में संगठित की गई, उसमें पञ्छन लामा को प्रधान का पद दिया गया, और सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधियों को महत्त्वपूर्ण स्थान दिये गए। इस प्रकार चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में तिब्बत के लोग अपने देश में एक ऐसी व्यवस्था की स्थापना में तत्पर हुए, जिससे जमीन पर किसानों का स्वत्व हो जाए, कोई व्यक्ति अर्धदास न रहे, सहकारी समितियों तथा कम्यूनों में संगठित होकर किसान, शिल्पी और अन्य लोग आर्थिक उत्पादन के लिए उन्नत साधनों व उपकरणों का प्रयोग कर सकें और देश का शासन जनता के प्रतिनिधियों के हाथों में आ जाये।

१९५८-५९ में तिब्बत में जो घटनाएं हुईं, उनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। दलाई लामा के नेतृत्व में तिब्बत का एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ग अब यह दावा करने लगा है, कि उनके देश पर चीन का आधिपत्य चीन की साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का परिणाम है। तिब्बत को अधिकार है कि वह भी पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करे, और अपनी परम्पराओं के अनुसार वहां लामातन्त्र शासन को जारी रखे। अमेरिका, ब्रिटेन आदि पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों को स्वाभाविक रूप से दलाई लामा की इस मांग से सहानुभूति है, क्योंकि कम्युनिस्ट चीन की शक्ति उन्हें कदापि सह्य नहीं है। पर वे स्पष्ट रूप से इस माँग का समर्थन नहीं कर सकते, क्योंकि अमेरिका की दृष्टि में चीन की वैध सरकार अब तक भी फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार है, और यह सरकार भी तिब्बत पर अपने दावे का परित्याग करने के लिए उद्यत नहीं है। संयुक्त राष्ट्र-संघ में भी तिब्बत के मामले को पेश कर सकना कठिन था, क्योंकि कम्युनिस्ट चीन को इस संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हुई थी। दलाई लामा और उसके साथियों से भारत की सहानुभूति है, पर १९५४ की सन्धि के अनुसार भारत तिब्बत को चीन का अंग मान चुका है, और दलाई लामा का पक्ष लेकर कोई कार्यवाही करना चीन के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करना समझा जायगा। पर दलाई लामा की ओर से इस बात के लिये प्रयत्न जारी हैं, कि अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों का समर्थन प्राप्त कर तिब्बत के मामले को संयुक्त राष्ट्र-संघ में पेश किया जाए, और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग व सहानुभूति से अपनी खोयी हुई सत्ता को फिर से प्राप्त किया जाए।

तिब्बत की घटनाओं का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ है, कि अब चीन की दक्षिणी सीमा ने एक गम्भीर समस्या का रूप धारण कर लिया है। तिब्बत एक विशाल देश है, जिसकी दक्षिणी सीमा बरमा, भारत और नेपाल के साथ लगती है। जब तक तिब्बत में लामातन्त्र सरकार की सत्ता थी, इस सीमा का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। उस समय न तिब्बत की कोई शक्तिशाली सेना थी, और न वहां की सरकार ही इस स्थिति में थी, कि सीमा के साथ के क्षेत्र में अपने शासन पर ध्यान दे सकती। यह सीमा हिमालय की ऊंची चोटियों से होकर गुजरती है, और इसके समीपवर्ती प्रदेश प्रायः गैर-आबाद हैं। इसीलिये कभी यह आवश्यकता अनुभव नहीं हुई, कि इस सीमा को बाकायदा निर्धारित किया जाए, और उस पर सीमा-सूचक प्रस्तर आदि लगाये जाएं, यद्यपि स्थानीय परम्परा के अनुसार यह सर्वथा अस्पष्ट नहीं था, कि कहां तिब्बत की सीमा समाप्त होती है, और कहां बरमा, भारत तथा नेपाल के प्रदेश शुरू होते हैं। १९५८-५९ के तिब्बती विद्रोह के कारण चीन की कम्युनिस्ट सेनाएं तिब्बत की दक्षिणी सीमा तक भी चली आईं। यह प्रश्न अब बड़े महत्त्व का हो गया, कि तिब्बत के प्रदेशों का क्षेत्र कहां तक है, और किस सीमा से आगे चीनी सेनाओं को नहीं बढ़ना चाहिये। साथ ही, विद्रोह को शान्त कर जब चीन ने तिब्बत में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना शुरू की, तो यह प्रश्न भी सम्मुख आया कि दक्षिण में कहाँ तक का प्रदेश तिब्बत के अन्तर्गत है। यह स्वाभाविक था, कि इस प्रश्न पर चीन का भारत आदि देशों से मतभेद हो। भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा पर स्थित कतिपय ऐसी चौकियों व स्थानों पर चीन ने कब्जा कर लिया, जो कि वस्तुतः भारत के हैं। इसी प्रकार तिब्बत और सिन्कियांग में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये चीन ने एक नई सड़क का निर्माण किया। यह सड़क लद्दाख के अक्साई-चीन प्रदेश से होकर जाती है। क्योंकि लद्दाख भारत का अंग है, अतः भारतीय सरकार ने चीन पर यह आरोप लगाया, कि उसने भारत के अन्यतम प्रदेश को हस्तगत कर लिया है, और उस पर अपनी सड़क बना ली है। सीमा की इस समस्या को लेकर भारत और चीन के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। भारत में ऐसे राजनीतिक दलों की भी सत्ता है, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कांग्रेस सरकार की तटस्थता की नीति को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पसन्द नहीं करते। इन्होंने इस समस्या का खूब उपयोग किया, और चीन के विरुद्ध प्रचार प्रारम्भ कर दिया। पर पंडित नेहरू के नेतृत्त्व में कांग्रेस सरकार इस प्रयत्न में रही, कि सीमा की समस्या का शान्तिपूर्वक समाधान हो जाए, और एशिया के इन विशाल देशों में मैत्री-सम्बन्ध कायम रहे। बरमा, पाकिस्तान और नेपाल चीन के साथ अपने सीमा-विषयक विवादों का समाधान कर चुके हैं, पर भारत को अभी इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हुई है।

संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता इस समय तक कम्युनिस्ट चीन को प्राप्त नहीं हुई थी, जिसके कारण उसके अन्य देशों के साथ हुए झगड़ों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय व संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा भी नहीं कराया जा सकता था। यद्यपि कम्युनिस्ट चीन एशिया का सबसे बड़ा व सबसे अधिक शक्तिशाली राज्य है, फर अमेरिका के विरोध के कारण उसे संयुक्त राष्ट्र-संघ का सदस्य नहीं बनाया जा सका था। रूस ने इसके लिये अनेक बार प्रयत्न किया, और भारत ने भी कई बार इस प्रश्न को उठाया। संयुक्त राष्ट्र-संघ के संविधान के अनुसार चीन के प्रतिनिधि को सुरक्षा-परिषद् की स्थायी सदस्यता प्राप्त है। यह स्थान फार्मूसा की कुओमिन्ताँग सरकार के प्रतिनिधि को दिया जाता रहा, क्योंकि संयुक्त राष्ट्र-संघ की दृष्टि में वही चीन की वैध सरकार थी। यदि कुओमिन्तांग के बजाय कम्युनिस्ट सरकार को चीन की वैध सरकार मान लिया जाता, और उसी का प्रतिनिधि स्थायी रूप ने सुरक्षा-परिषद् में स्थान प्राप्त कर लेता, तो संयुक्त राष्ट्र-संघ में कम्युनिस्टों की शक्ति बहुत बढ़ जाती, और चीन को भी परिषद् के निर्णयों को वीटो कर सकने का अधिकार प्राप्त हो जाता। इसी कारण अमेरिका कम्युनिस्ट चीन की वैध सत्ता को स्वीकार करने और उसे संयुक्त राष्ट्र-संघ का सदस्य बनाने का विरोध करता रहा। इस विषय में अमेरिका के भूतपूर्व परराष्ट्र-सचिव श्री डलेस ने अपनी नीति को इस प्रकार स्पष्ट किया था (१९५७)—"कम्युनिस्टों ने चीन में अपनी सत्ता को हिंसात्मक उपायों द्वारा प्राप्त किया था, वहां की कम्युनिस्ट सरकार हिंसा पर ही आश्रित है।...उसने कोरिया में संयुक्त राष्ट्र-संघ के विरुद्ध युद्ध किया है, इन्डोचायना के युद्ध में कम्युनिस्टों की सहायता की है, और शक्ति का प्रयोग कर तिब्बत पर आधिपत्य कायम किया है।...वह सरकार अमेरिका की कट्टर शत्रु है।...हम किसी भी प्रकार उसे मान्यता नहीं दे सकते।" अमेरिका के इसी रुख के कारण कारण एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय समस्या इतनी अधिक उलझी हुई रही। पर यह असम्भव था, कि कम्युनिस्ट चीन की सत्ता की देर तक इस प्रकार उपेक्षा की जा सकती। १९७१ में उसे राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्राप्त हो गई। यह कैसे हुआ, इस पर अगले अध्याय में प्रकाश डाला जायगा।

(५) चीन की सीमा-सम्बन्धी समस्या

तिब्बत के विद्रोह (१९५८-५९) और दलाई लामा के भारत में आश्रय ग्रहण कर लेने से जो परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, उनके कारण चीन की सीमा-सम्बन्धी समस्या ने गम्भीर रूप ग्रहण कर लिया था, यह पिछले प्रकरण में लिखा जा चुका है। जब तक तिब्बत पर दलाई लामा का स्वतन्त्र शासन था, इस सीमा का विशेष महत्त्व नहीं था। तिब्बत एक विशाल देश है, और उसकी दक्षिणी सीमा बरमा, भारत, नेपाल और पाकिस्तान के साथ लगती है। कहां तिब्बत की सीमा समाप्त होती है, और कहां इन देशों की सीमाएं प्रारम्भ होती हैं—यह बात परम्परा द्वारा निर्धारित थी। क्योंकि तिब्बत एक धर्म-प्रधान देश था, और उसकी सैन्य-शक्ति नाम को ही थी, अतः इस सीमा का अतिक्रमण कर अपने विस्तार की कल्पना भी वह नहीं कर सकता था। पर जब तिब्बत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर चीन का प्रभुत्व व शासन स्थापित हो गया, और चीनी सेनाएं तिब्बत में प्रविष्ट हो गईं, तो स्थिति में भारी परिवर्तन आ गया। अब इस सीमा का निश्चित रूप से निर्धारित करना आवश्यक हो गया।

भारत और चीन का सीमा-सम्बन्धी विवाद—क्योंकि दलाई लामा ने तिब्बत को छोड़कर भारत में आश्रय ग्रहण किया था, उसके साथ बहुत-से तिब्बती लोग भी भारत चले आये थे, और चीन के शासन के विरुद्ध तिब्बत में विद्रोह का सूत्रपात हो गया था, अतः चीन की सेनाएं दक्षिण की ओर निरन्तर आगे बढ़ती हुईं भारत की उत्तरी सीमा तक चली आई थीं। दक्षिण की ओर आगे बढ़ते हुए उन्होंने कतिपय ऐसे स्थानों पर भी कब्जा कर लिया, जो वस्तुतः भारत की सीमा के अन्तर्गत हैं। भारत और चीन के बीच की इस सीमा के चार भाग हैं—(१) पश्चिमी क्षेत्र—जिसमें इस सीमा की लम्बाई १००० मील के लगभग है। यह सीमा लद्दाख और तिब्बत के बीच में है। इसके साथ का प्रदेश प्रायः गैर आबाद है, और ऊंचे पहाड़ों एवं पर्वत-शिखरों में परिपूर्ण है। चीन का पश्चिमी प्रदेश सिन्किआंग कहाता है और वहां से तिब्बत आने के लिए एक मार्ग चिरकाल से विद्यमान था, जो लद्दाख के बीच में से होकर गुजरता था। भारत और तिब्बत दोनों के व्यापारी इसका उपयोग किया करते थे। १९५१ में तिब्बत पर कब्जा करके चीन ने इस मार्ग को एक ऐसी सड़क के रूप में परिवर्तित कर दिया, जिस पर मोटरें आ-जा सकती हैं। यद्यपि यह मार्ग लद्दाख के अन्यतम प्रदश अक्साई-चीन के बीच से जाता है, पर चीन ने इस सड़क के निर्माण के लिये भारत से अनुमति प्राप्त नहीं की, और यह दावा करके कि अक्साई-चीन तिब्बत में है, उस पर कब्जा कर लिया। इस प्रदेश का क्षेत्रफल ६००० वर्ग मील के लगभग है। चीन का इस पर कब्जा कर लेना, वहाँ सड़क का निर्माण करना, और वहां अपनी सेनाएं स्थापित कर लेना एक ऐसी बात थी, जो भारत और चीन के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के प्रति विश्वासघात था। १९५८ तक चीन ने इस प्रदेश पर अपना पूरा-पूरा अधिकार स्थापित कर लिया था। (२) मध्य-क्षेत्र—जिसमें इस सीमा की लम्बाई ३२० मील के लगभग है। यह सीमा भारत के हिमाचल प्रदेश, पंजाब और उत्तरप्रदेश के साथ लगती है। इस सीमा पर बाराहोती और निहंग का दर्रा—ये दो स्थान हैं, जिन्हें चीन अपने क्षेत्र में होने का दावा करता है (३) सिक्किम और भूटान का क्षेत्र—सिक्किम और भूटान भारत के संरक्षित राज्य हैं, और इनके साथ तिब्बत की सीमा की लम्बाई क्रमशः १४० मील और २५० मील है। (४) पूर्वी क्षेत्र—इस क्षेत्र में तिब्बत और भारत की सीमा लम्बाई में ७१० मील के लगभग है। यही वह सीमा है, जिसका निर्धारण १९१४ की शिमला कानफरेन्स द्वारा किया गया था, और जो "मैक्महोन लाइन" के नाम से प्रसिद्ध है। इसके दक्षिण में भारत के 'उत्तर-पूर्वी-सीमावर्ती क्षेत्र' (NEFA) की सत्ता है, जिसे अब अरुणाचल कहते हैं। चीन मैक्मोहन द्वारा निर्धारित सीमा को स्वीकार नहीं करता, और नेफा के प्रदेश पर अपने अधिकार का दावा करता है। न केवल कम्युनिस्ट चीनी सरकार अपितु फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार भी इस सीमा को स्वीकार करने से इन्कार करती है, और यह समझती है कि ब्रिटिश लोगों ने नेफा के प्रदेश पर जो अपना अधिकार कायम कर लिया था, उसका कारण चीन की निर्बलता ही थी। चीन की दृष्टि में यह प्रदेश चीन का ही अंग है।

तिब्बत के विद्रोही सैनिकों का पीछा करती हुई चीनी सेनाएं जब दक्षिण की ओर आगे बढ़ने लगीं, तो उन्होंने पूर्वी क्षेत्र में मैक्मोहन लाइन को अनेक स्थानों पर पार कर ऐसे प्रदेशों पर भी कब्जा कर लिया, जो वस्तुतः भारत के अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार मध्य-क्षेत्र में उन्होंने बाराहोती में प्रवेश कर लिया, और निहंग के दर्रे का भी वे प्रयोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने लग गई। पश्चिमी क्षेत्र में अक्साई-चीन के बड़े भाग को चीन पहले ही अपने कब्जे में ला चुका था। इस परिस्थिति में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि चीन और भारत में सीमा-सम्बन्धी विवाद एक महत्त्वपूर्ण व गम्भीर समस्या का रूप ग्रहण कर ले। यदि इस समय चीन समझदारी से काम लेता, और परस्पर विचार-विनिमय द्वारा सीमा-सम्बन्धी विवाद का समाधान करने का प्रयत्न करता, तो इन देशों में मैत्री-सम्बन्ध पूर्ववत् कायम रहता। पर चीन ने अपनी सैनिक-शक्ति का प्रयोग करने में संकोच नहीं किया। २७ सितम्बर, १९५८ को ५१ चीनी सैनिकों ने नेफा के लोहित डिविजन में प्रवेश कर लिया, और ७ अगस्त, १९५९ के दिन चीनी सैनिकों का एक दस्ता नेफा के खिजमाने नामक स्थान में प्रविष्ट हो गया। कुछ समय बाद चीन की एक सेना ने लोंग-जू पर आक्रमण कर दिया। लोंग-जू नेफा के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण चौकी है, जहां भारत के सैनिक विद्यमान थे। २६ अक्टूबर, १९५९ को चीनियों ने लद्दाख में स्थित एक भारतीय सैनिक दल पर धावा बोल दिया, जिसमें १९ भारतीय सैनिक मारे गये। चीन के ये आक्रमण पूर्णतया अकस्मात् हुए थे। इनके लिए कोई भी समुचित कारण नहीं था। भारत का लोकमत इससे बहुत उद्विग्न हुआ, और पार्लियामेंट में सरकार से अनुरोध किया गया कि इस सम्बन्ध में शीघ्र आवश्यक सैनिक कार्यवाही की जाए।

पर भारत की नीति सदा शान्तिमय रही है। प्रधानमन्त्री नेहरू का यह प्रयत्न रहा, कि सीमा-सम्बन्धी विवाद का बातचीत द्वारा और शान्तिमय उपायों से ही समाधान किया जाए। इसी बीच में ९ नवम्बर, १९५९ के दिन चीन के प्रधानमंत्री चाउ एन लाई ने यह प्रस्ताव किया, कि भारत और चीन की सीमा पर भारत और चीन की सेनाएं जिन-जिन स्थानों पर है, वहां से वे दोनों १२½ मील पीछे की ओर हट जायें और इस प्रकार उनके बीच का २५ मील चौड़ा प्रदेश ऐसा हो जाए, जिस पर दोनों में से किसी भी देश की सेनाएं न रहें। इससे यह लाभ होगा, कि सेनाओं में परस्पर टक्कर होने की कोई सम्भावना नहीं रह जायगी। फिर बातचीत द्वारा यह निर्णय करने का प्रयत्न किया जाए, कि भारत और चीन के बीच की वास्तविक सीमा कौन-सी है। ऊपर से देखने पर यह प्रस्ताव युक्तियुक्त प्रतीत होता है, पर भारत इसे स्वीकार नहीं कर सकता था। इसका कारण यह था, कि इसे स्वीकार कर लेने का यह परिणाम होता कि भारत को अनेक ऐसे स्थानों से भी अपनी सेनाएं पीछे हटा लेनी पड़तीं, जो वस्तुतः भारत के अन्तर्गत हैं, और कतिपय ऐसे प्रदेशों पर चीन का अधिकार स्वीकार कर लिया जाता, जिन पर कि उसने सैनिक बल का प्रयोग करके अपना कब्जा किया हुआ था। भारत की ओर से इस समय यह प्रस्ताव किया गया, कि लद्दाख के क्षेत्र में जिस प्रदेश पर चीन ने अपना कब्जा किया हुआ है, वहां से वह अपनी सेनाओं को हटा ले, और अपने कर्मचारियों को भी वहाँ से वापस बुला लें। साथ ही, भारत भी उस सीमा तक वापस हो जाए, जिसे १९५६ में चीन द्वारा प्रकाशित किये गये नकशों में चीन और भारत के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा प्रदर्शित किया गया है। पूर्वी क्षेत्र के सम्बन्ध में भारत का यह प्रस्ताव था, कि लोंग-जू में न भारतीय सेना रहे और न चीन की सेना। इसे एक उदासीन स्थान मान लिया जाय। भारत के प्रस्ताव बहुत युक्तिसंगत थे। जिन सीमावर्ती प्रदेशों के सम्बन्ध में चीन और भारत में मतभेद व विवाद था, उनपर से दोनों ही राज्यों के सैनिक कब्जे और अधिकार का इससे अन्त हो जाता था, और इस प्रकार उत्पन्न हुए शान्त वातावरण में वे बात-चीत द्वारा अपने झगड़े को निबटा सकते थे। पर चीन ने भारत के इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। साथ ही, उसने इस समय यह प्रस्ताव पेश किया, कि लोंग-जू के समान खिजमाने (नेफा), लपथल और निहंग (उत्तर-प्रदेश),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिपकी का दर्रा (हिमाचल प्रदेश), दमचॉक (लद्दाख) और चूरा तथा चूजे (पंजाब) को भी उदासीन स्वीकार किया जाए, और इन सब स्थानों पर भी न चीनी सेनाएं कब्जा कर सकें और न भारतीय सेनाएं। भारत चीन के इस प्रस्ताव को कैसे स्वीकार कर सकता था? ये सब स्थान भारत के राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत थे, और सदा से इन पर भारतीय सरकार का शासन विद्यमान रहा था। अब यह भली-भांति अनुभव किया जाने लगा, कि भारत और चीन के बीच की सीमा एक गम्भीर समस्या का रूप ग्रहण कर चुकी है, और चीन की विस्तारवादी प्रवृत्ति का प्रतिरोध करने के लिये और अपनी उत्तरी सीमा की रक्षा के लिए भारत को भी सैनिक शक्ति का प्रयोग करना होगा। सदियों से भारत अपनी उत्तरी सीमा को सुरक्षित समझता रहा था। वह हिमाचल की दुर्गम पर्वत-माला को अपना प्रहरी मानता था, और इस ओर से निश्चिन्तता अनुभव करता था। पर अब भारत के उत्तर में तिब्बत जैसे शान्तिप्रिय राज्य की सत्ता नहीं रह गई थी। उसका स्थान अब चीन ने ले लिया था, जो सैनिक दृष्टि से अत्यन्त शक्तिशाली राज्य है, और जो अपने शासन-क्षेत्र के विस्तार के लिए सेना के प्रयोग में संकोच नहीं करता।

पर समझौते द्वारा सीमा-सम्बन्धी इस विवाद का अन्त करने की आशा का अभी अन्त नहीं हुआ था। मार्च, १९६० में चाउ एन लाई भारत आये। उनके साथ चीन के विदेश-मंत्री मार्शल चेन-यी भी थे। भारत ने यत्न किया, कि बातचीत द्वारा शान्तिमय ढंग से इस समस्या का समाधान हो जाए। यह निर्णय किया गया, कि दोनों देशों के राज-पदाधिकारियों की एक समिति इस प्रयोजन से नियुक्त की जाय कि वह सब विवादग्रस्त विषयों पर विचार करके किसी सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करे, और अपनी रिपोर्ट सितम्बर, १९६० तक प्रस्तुत कर दे। दोनों पक्षों ने अपनी ओर से ऐसी ऐतिहा-सिक सामग्री पेश की, जो उनके दावों को पुष्ट करती थी। प्राचीन और मध्य युगों में कौन-सा प्रदेश किसके प्रभुत्व में था, इस सम्बन्ध में नये-नये तथ्य प्रकाश में लाये गये। पर यह समिति सीमा के विषय में किसी ऐसे निर्णय पर नहीं पहुंच सकी, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। वस्तुतः, चीन भारत के इतने अधिक प्रदेशों पर अपने न्याय्य अधिकार का दावा करता है, कि उनके सम्बन्ध में उसके साथ समझौता हो सकना सुगम नहीं है। वह मैक्महोन लाइन को स्वीकार नहीं करता, और उत्तर-पूर्वी सीमा प्रदेश (नेफा) के बड़े भाग को चीन का अंग समझता है। लद्दाख में भी सम्पूर्ण अक्साई-चीन को वह चीन का प्रदेश मानता है, और इस प्रदेश के बड़े भाग पर उसका कब्जा भी विद्यमान है। हिमाचल प्रदेश, पंजाब और उत्तर प्रदेश की उत्तरी सीमा पर भी अनेक ऐसे स्थान हैं, चीन जिन पर दावा करता है। इसके विपरीत भारत का कथन है, कि चीन और भारत के बीच की सीमा परम्परा द्वारा निर्धारित है, और इस सीमा का आधार हिमालय की वह पर्वत-श्रृंखला है, जो दोनों देशों के बीच में विद्यमान है। इस श्रृंखला में पानी का बहाव जहां उत्तर की ओर होता हो वे प्रदेश चीन के हैं, और जहां पानी का बहाव दक्षिण की ओर होता हो वे प्रदेश भारत के हैं। इन दोनों देशों के बीच की यह स्वाभाविक सीमा है, और इसी के आधार पर सीमा-सम्बन्धी विवाद का अन्त किया जा सकता है। पर चीन यह मानने को उद्यत नहीं है। भूटान को भी वह भारत का संरक्षित राज्य नहीं मानता। उसका कथन है, कि भूटान एक पृथक्, स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है, और भारत का उस पर कोई अधिकार नहीं होना चाहिये। जहां तक भूटान और चीन की सीमा का सम्बन्ध है, चीन को सीधे भूटान के साथ इसका निर्णय करना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि चीन और भारत का सीमा-सम्बन्धी विवाद इस समय (१९६०) बहुत गम्भीर रूप ग्रहण कर चुका था, पर इन देशों के मैत्री-सम्बन्ध का अभी अन्त नहीं हुआ था। यह सही है, कि कुछ स्थानों पर चीन और भारत के सैनिकों में मुठभेड़ भी हो गई थी, और अनेक भारतीय सैनिक इनमें काम भी आ चुके थे, पर भारत सरकार को यह आशा थी कि इस समस्या को हल कर सकना बहुत कठिन नहीं है। चीन भारत पर आक्रमण कर बलपूर्वक उन प्रदेशों पर कब्जा करने का प्रयत्न करेगा जिनके अपना होने का वह दावा करता है, इसकी भी कोई आशंका भारत को नहीं थी। चीन के प्रधान-मंत्री चाउ एन लाई ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी, कि तिब्बत की दक्षिणी सीमा पर जो चीनी सैनिक तैनात किये गये हैं, उनका प्रयोजन केवल यह है कि तिब्बत के विद्रोही लोग इस प्रदेश में उत्पात न करने पायें, और उन पर काबू पाया जा सके। भारत और चीन की सीमा पर शान्ति कायम रहना दोनों देशों के लिये हितकर है, और इस प्रयोजन से स्थापित चीनी सेना से भारत को किसी भी प्रकार की आशंका नहीं होनी चाहिए। पर चीन का वास्तविक उद्देश्य दूसरा ही था। वह शक्ति का प्रयोग कर भारत के उन प्रदेशों को अपने स्वत्व में ले आना चाहता था, जिन्हें वह अपना मानता था। इसीलिए जुलाई, १९६२ में उसने गाल्विन घाटी (लद्दाख) में आगे बढ़ना शुरू कर दिया, और अनेक ऐसी सैनिक चौकियों पर आक्रमण किये जो भारत के हाथों में थीं। पर इस प्रयत्न में उसे विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि यहां भारतीय सेना ने चीन का डटकर मुकाबिला किया। लद्दाख में विफल होकर चीन ने नेफा के क्षेत्र में सैनिक कार्रवाई शुरू की, और दिसम्बर, १९६२ में थागला की पर्वतमाला को पार कर भारत में प्रवेश प्रारम्भ कर दिया। सितम्बर मास में चीन के ये आक्रमण जारी रहे, और उसे भारत के क्षेत्र में अनेक स्थानों पर कब्जा कर लेने में सफलता भी प्राप्त हुई।

२० अक्टूबर, १९६३ के दिन चीन ने भारत पर बड़े पैमाने पर आक्रमण का प्रारम्भ किया। वह देर से भारत की सीमा पर सेनाओं का संग्रह कर रहा था। बहुत बड़ी मात्रा में युद्ध-सामग्री भी वहां सञ्चित कर दी गई थी। भारत की सीमा तक अनेक नई सड़कों का भी चीन ने निर्माण कर लिया था, जिनसे युद्ध-सामग्री और सेना को भारत पहुंचाना उसके लिये सम्भव हो गया था। २० अक्टूबर को चीन की सेनाओं ने खिजमाने (ऊंचाई ९६०० फीट) और ढोला (ऊँचाई १२,६०० फीट) पर कब्जा कर लिया। ये दोनों स्थान मैक्महोन लाइन के दक्षिण में स्थित हैं, और भारत के अन्तर्गत हैं। इसी समय लद्दाख के चिपचैप क्षेत्र पर भी चीन ने आक्रमण किया, और भारतीय सेना को अपनी चौकियों को छोड़कर अधिक सुरक्षित स्थानों पर पीछे हट जाने को विवश किया। नेफा और लद्दाख दोनों प्रदेशों पर एक साथ आक्रमण इस बात को सूचित करता है, कि चीन इस समय उन सब क्षेत्रों को बलपूर्वक अपने स्वत्व में ले आने के लिए कटि-बद्ध था, जिन्हें कि वह अपना मानता था। चीन का भारत पर यह आक्रमण निरन्तर जारी रहा। ३१ अक्टूबर के दिन उसने तवांग पर कब्जा कर लिया। यह स्थान बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है, और मैक्महोन लाइन के १६ मील दक्षिण में स्थित है। चीनी सेनाएं केवल तवांग पर कब्जा कर के ही सन्तुष्ट नहीं हो गईं। शीघ्र ही बालोंग, सेला और बोमदिला भी उनके हाथों में आ गये। चीनी सेनाएं इस समय लहरों में आगे बढ़ रही थीं। वे निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और पार्वत्य प्रदेश को पार कर उस क्षेत्र में आ पहुचीं, जहां ऊंची पर्वत-शृंखलाओं का अन्त होकर छोटी-छोटी पहाड़ियां शुरू हो जाती हैं। असम का मैदान अब केवल ६० मील की दूरी पर रह गया। इस आक्रमण के कारण सारे भारत में घोर उद्वेग उत्पन्न हो गया, और सरकार ने संकटकाल (Emergency)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की घोषणा कर दी। संसार के प्रायः सभी देशों से इस समय सहायता की अपील की गई, और देश भर में चीन का जी-जान से मुकाबिला करने के लिए अनुपम उत्साह का संचार हो गया। जनता ने जी खोल कर सरकार को धन प्रदान किया, और हजारों लाखों नव-युवक सेना में भरती होने के लिए मैदान में आ गये। चीन का आक्रमण केवल नेफा तक ही सीमित नहीं था। उसकी सेनाओं ने लद्दाख पर भी हमले शुरू कर दिये। दौलत-बेग ओल्दी पर उनका कब्जा हो गया, और चिशुल के हवाई अड्डे पर चीन ने गोलाबारी शुरू कर दी। इस संकटकाल में भारत ने अनुपम कर्त्तृत्व प्रदर्शित किया। संयुक्त-राज्य अमेरिका और ब्रिटेन इस समय पूर्णतया भारत के साथ थे। उन्होंने यत्न किया, कि भारत को प्रचुर मात्रा में युद्ध सामग्री भेजी जाए, और अस्त्र-शस्त्रों की भारत को कोई कमी न रहने पाए। इस युद्ध में रूस ने भी चीन को दोषी ठहराया, और संसार के प्रायः सभी देशों ने भारत के प्रति सहानुभूति प्रगट की। इस दशा में चीन के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह देर तक युद्ध को जारी रख सकता। उसने यह भली-भाँति अनुभव कर लिया, कि अन्त में उसे पराजय का सामना करना पड़ेगा, और सैन्यशक्ति से वह भारत को परास्त नहीं कर सकेगा। इस दशा में चीन ने यह उपयोगी समझा, कि स्वयं ही युद्ध को बन्द कर दे। उसने घोषणा की (२० नवम्बर, १९६२), कि वह तत्काल युद्ध का अन्त कर देगा, और १ दिसम्बर से चीन की सेनाएं उन स्थानों से वापस लौटना शुरू कर देंगी, जिन पर कि पिछले दिनों के आक्रमणों में उन्होंने कब्जा कर लिया था। ७ नवम्बर, १९५९ के दिन जिन सीमावर्ती स्थानों पर चीन का वास्तविक रूप से कब्जा था, वे उनसे भी १२½ मील पीछे हट जायेंगी। इस घोषणा के परिणामस्वरूप चीन उन सब स्थानों का तो परित्याग कर देने के लिये उद्यत था, जिन्हें सीमा के पूर्वी और मध्य-क्षेत्रों में उसने बलपूर्वक अपने अधिकार में कर लिया था, पर अक्साई-चीन के बड़े भाग पर (६,००० वर्गमील के लगभग के प्रदेश पर) उसका कब्जा अब भी कायम रहता था।

चीन की इस घोषणा के उत्तर में श्री नेहरू ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया, कि भारत और चीन—दोनों देश अपनी सेनाओं को उस सीमा पर ले जाएं, जहां कि वे ८ सितम्बर, १९६२ के दिन विद्यमान थी। ऊपर से देखने पर यह प्रतीत होता है, कि चीन का प्रस्ताव भारत के लिये अधिक अच्छा था, क्योंकि उसमें उन स्थानों पर चीनी सेनाओं को लौटा लेने की बात कही गई थी, जो दो साल पूर्व चीन के कब्जे में थे। पर कठिनाई यह थी, कि इस पर्वतप्रधान क्षेत्र में यह निर्णय कर सकना सुगम नहीं था, कि दो साल पूर्व कौन-से स्थान चीन के हाथों में थे और कौन-से भारत के। चीन अनेक ऐसे स्थानों के अपने कब्जे में होने का दावा कर रहा था, जो कभी उसके हाथ में आये ही नहीं थे। इस स्थिति में पण्डित नेहरू का यह प्रस्ताव क्रियात्मक दृष्टि से बहुत उचित था, कि चीनी आक्रमण प्रारम्भ होने से पूर्व ८ दिसम्बर, १९६२ को भारत और चीन के बीच जो वास्त-विक सीमा थी, उस पर दोनों देश अपनी-अपनी सेनाएं ले जाएं। पर चीन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। पर अपने प्रस्ताव के अनुसार १ दिसम्बर, १९६२ के दिन चीन ने अपनी सेनाओं को वापस लौटाना शुरू कर दिया, और उन प्रदेशों को खाली कर दिया, जिन पर पिछले दिनों उसने दखल कर लिया था। नेफा से उसकी सेनाएं वापस हो गईं, और मैक्महोन लाइन के उत्तर में चली गईं। पश्चिमी क्षेत्र में भी वे कुछ पीछे हट गईं, यद्यपि खाली किये हुए स्थानों पर उन्होंने अपनी कतिपय चौकियां कायम रखीं। इस प्रकार चीन के आक्रमण का तो अन्त हो गया, यद्यपि भारत और चीन की सीमा का विवाद समाप्त नहीं हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न यह है, कि चीन ने अपनी सेनाएं भारत से क्यों वापस बुलाईं। सम्भवतः, इतिहास में यह पहला अवसर था, जब कि किसी आक्रान्ता देश ने स्वयं ही युद्ध बन्द करके अपनी सेना को उन प्रदेशों से लौटा लिया था, जिन पर कि उसका कब्जा हो चुका था। चीन की इस नीति के कारण सम्भवतः निम्नलिखित थे—(१) युद्ध के समय भारतीय जनता ने अपूर्व उत्साह का परिचय दिया था। लोग अपने राजनीतिक और साम्प्रदायिक भेदभावों को भुला कर आक्रान्ता का मुकाबिला करने के लिये सन्नद्ध हो गये थे। चीन अनुभव करता था, कि भारत की राष्ट्रीय भावना को कुचल कर इस देश को परास्त कर सकना उसके लिए सुगम नहीं है। (२) भारत पर आक्रमण करने के लिये जिस सेना व युद्ध-सामग्री की आवश्यकता थी, उसे युद्ध-स्थल तक पहुंचाने के लिये हजारों मीलों की दूरी पार करनी होती थी। अभी चीन के पास वे साधन विद्यमान नहीं थे, जिनसे वह इस कार्य को भली-भांति कर सके। (३) संसार का लोकमत भारत के साथ था। अमेरिका, ब्रिटेन और अनेक अन्य देश भारत की सहायता के लिये तैयार थे, और रूस को भी चीन का भारत पर आक्रमण पसन्द नहीं था। इस दशा में चीन को यह साहस नहीं हुआ, कि वह भारत पर अपने आक्रमण को जारी रख सके।

चीन के आक्रमण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक तूफान-सा आ गया था। ऐसा प्रतीत होने लगा था, कि एशिया में अब शान्ति कायम नहीं रह सकेगी। इस दशा में सीलोन की प्रधानमन्त्री श्रीमती भन्डारनायक ने एक कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसका उद्देश्य भारत और चीन की सीमा-सम्बन्धी समस्या को बातचीत और समझौते के उपायों द्वारा सुलझाना था। इस कान्फरेन्स में सीलोन, कम्बोडिया, बरमा, इन्डोनीसिया, संयुक्त अरब रिपब्लिक और घाना के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए, और १०, ११, १२ दिसम्बर, १९६३ को इसके अधिवेशन कोलम्बो (सीलोन) में हुए। कोलम्बो कान्फरेन्स ने जो निर्णय किये, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) लद्दाख में चीनी सेनाएं १२½ मील पीछे हट जाएं। भारत की सेनाएं उसी प्रदेश में रहें, जहां वे इस समय विद्यमान हैं। चीनी की सेनाओं के पीछे हट जाने के कारण जो प्रदेश खाली हो जाएं, उनका शासन दोनों देशों द्वारा सम्मिलित रूप से किया जाए, पर यह शासन सैनिक नहीं होना चाहिये। (२) पूर्वी क्षेत्र में जो प्रदेश जिस देश के वास्तविक नियन्त्रण में हैं, वे उसी के हाथों में रहें। यह ध्यान में रखना चाहिये, कि इस समय तक चीन की सेनाएं नेफा को खाली कर चुकी थीं, और यह प्रदेश फिर से भारत के अधिकार में आ गया था। (३) मध्यक्षेत्र में जो स्थान विवादग्रस्त हैं, उनके सम्बन्ध में शान्तिमय उपायों से बातचीत द्वारा निर्णय करने का प्रयत्न किया जाए। कोलम्बो कान्फरेन्स ने यह भी निर्णय किया, कि अपने सुझावों को स्वीकृत कराने के लिये श्रीमती भण्डारनायक चीन और भारत दोनों देशों की यात्रा करेंगी, और उनकी सरकारों को इन्हें स्वीकार कर लेने के लिये प्रेरित करेंगी। कोलम्बो कान्फरेन्स द्वारा यह भी भलीभांति स्पष्ट कर दिया गया था, कि सीमा-सम्बन्धी विवाद का अन्तिम निर्णय चीन और भारत को स्वयं ही करना है, और यह कार्य परस्पर बातचीत द्वारा ही सम्पन्न किया जा सकता है। पर समझौते की बातचीत के लिए समुचित वातावरण उत्पन्न हो सकना तभी सम्भव है, जबकि पहले युद्ध बन्द कर दिया जाए, और फिर से सैनिक संघर्ष शुरू होने की कोई सम्भावना न रहे। कोलम्बो कान्फरेन्स द्वारा प्रस्तुत सुझावों का प्रयोजन यह शान्तिमय वातावरण उत्पन्न करना ही था।

भारत ने कोलम्बो कान्फरेन्स के प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। पर चीन उन्हें मानने के लिये तैयार नहीं हुआ। उसे जिन बातों पर ऐतराज था, वे निम्नलिखित थीं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) चीन की सेनाएं मैक्महोन लाइन के उत्तर में चली गयी थीं, और सम्पूर्ण नेफा भारत के अधिकार में आ गया था। कोलम्बो प्रस्तावों के अनुसार भारत को यह अधिकार था, कि वह अपनी सेनाएं मैक्महोन लाइन तक ले जा सके। पर चीन को यह स्वीकार्य नहीं था। (२) लद्दाख में चीन यह तो मानता था, कि अपनी सेनाओं को १२½ मील पीछे हटा ले। पर इस प्रकार जो प्रदेश खाली हो जाता था, कोलम्बो प्रस्तावों के अनुसार उस पर भारत और चीन का सम्मिलित नियन्त्रण स्थापित होना चाहिये था। चीन इससे भी असहमत था, और वह इस प्रदेश पर केवल अपना (असैनिक) नियन्त्रण रखने के पक्ष में था। चीन का यह भी कहना था, कि कोलम्बो प्रस्ताव कोई पंचनिर्णय नहीं हैं, जिन्हें अविकल रूप से स्वीकार कर लेना दोनों पक्षों का कर्तव्य हो। उनका प्रयोजन केवल ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न कर देना है, जिनके कारण दोनों पक्ष बातचीत व समझौते के लिये एक स्थान पर एकत्र हो सकें। यदि कोई पक्ष कोलम्बो प्रस्तावों की किसी बात से असहमत हो, तब भी बातचीत द्वारा उसके सम्बन्ध में एकमत होने की गुंजाइश हो सकती है। अतः समझौते की बातचीत शुरू करने के लिये पहले से ही किन्हीं शर्तों (जैसे कोलम्बो प्रस्तावों की अविकल रूप से स्वीकृति) को निर्धारित करना अनुचित है। पर भारत का यह मत था, कि कोलम्बो कान्फरेन्स द्वारा जो प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये हैं, उन्हें अविकल रूप से स्वीकृत कर लेने पर ही वे परिस्थितियां उत्पन्न होती हैं, जिनमें कि समझौते की बातचीत सम्भव है। पण्डित नेहरू ने यह भी प्रस्ताव किया, कि इस सीमा-सम्बन्धी विवाद का समाधान करने के लिए पंच-निर्णय की पद्धति को अपनाया जाये, पर चीन इससे भी सहमत नहीं हुआ। परिणाम यह है, कि चीन और भारत की सीमा-सम्बन्धी समस्या अभी पूर्ववत् विद्यमान है। चीन अब भी भारत की उत्तरी सीमा पर सेना व युद्ध-सामग्री को एकत्र करने में तत्पर है। २० नवम्बर, १९६२ की घोषणा के अनुसार यद्यपि चीन ने अपनी सेनाओं को १२।। मील पीछे हटा लिया था, पर खाली किये हुए इन प्रदेशों पर अपने असैनिक नियन्त्रण के नाम पर उसने बहुत-सी चौकियां वहां बना ली हैं, और इनमें बहुत-सी युद्ध-सामग्री भी सञ्चित कर दी है।

पर बाद में भी कोलम्बो कान्फरेन्स में सम्मिलित राज्यों द्वारा समझौते का प्रयत्न जारी रहा, पर वह सफल नहीं हो सका, क्योंकि चीन का रुख इसके विरुद्ध था।

चीन और बरमा की सीमा—चीन की दक्षिणी सीमा बरमा, नेपाल और पाकिस्तान के साथ भी लगती है। इन देशों के साथ सीमा के सम्बन्ध में निर्णय करने में चीन को विशेष कठिनाई नहीं हुई। २८ जनवरी, १९६० को चीन ने बरमा के साथ एक नई सन्धि की, जिसके द्वारा सीमा के सम्बन्ध में भी निर्णय कर लिया गया। इस निर्णय द्वारा (१) हिपमॉ, गॉलुम और कॉगफांग के प्रदेश चीन को प्रदान कर दिये गये। ये तीनों प्रदेश बरमा के उत्तर-पूर्व में कचिन और वा राज्यों में स्थित हैं। (२) नामवान के प्रदेश पर बरमा के अधिकार को चीन ने स्वीकृत कर लिया। (३) चीन का यह दावा था, कि लुफांग के क्षेत्र में खनिज पदार्थों को प्राप्त करने के लिये खानें खोद सकने का अधिकार उसे प्राप्त है। इस दावे का उसने परित्याग कर दिया।

नेपाल के साथ सीमा का निर्णय—१९६० में ही चीन ने नेपाल के साथ भी सीमा के सम्बन्ध में समझौता किया। एक ऐसी समिति की नियुक्ति की व्यवस्था की गई, जो सम्पूर्ण सीमा का स्पष्ट रूप से निर्धारण करे, और नेपाल और चीन, दोनों के प्रतिनिधि इस समिति में समान संख्या में रहें। सीमा का निर्धारण करते हुए यह समिति परम्परा, व्यवहार और प्रथा को दृष्टि में रखे। पुरानी परम्परा के अनुसार दोनों देशों की जो सीमा रही है, उसे निर्धारित कर यह समिति वहां सीमा-सूचक प्रस्तर लगवा देशों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताकि भविष्य में सीमा-सम्बन्धी कोई विवाद उत्पन्न न हो सके। इसी समिति की नियुक्ति कर दी गई, और उसने अपने कार्य को समाप्त भी कर लिया है। नेपाल में कोई ऐसे प्रदेश नहीं थे, जिन्हें अपने होने का दावा चीन द्वारा किया जाता हो। इसी कारण इस समिति का कार्य कठिन नहीं था। माउन्ट एवरेस्ट की चोटी नेपाल में स्थित है या तिब्बत में—इस प्रश्न पर इन देशों में मतभेद था। इस सम्बन्ध में यह निर्णय कर लिया गया कि यह चोटी चीन-नेपाल-सीमा पर स्थित है, और इस पर उत्तर और दक्षिण दोनों ओर से पहुंचने का यत्न किया जा सकता है। इस पर चढ़ने का उत्तरी मार्ग चीन के अधिकार में रहेगा, और दक्षिणी मार्ग नेपाल के हाथों में।

सीमा-सम्बन्धी समस्या को हल करते हुए चीन ने नेपाल के साथ एक नई सन्धि भी की, जिसके अनुसार दोनों देशों ने पञ्चशील के सिद्धान्तों को स्वीकार किया। नेपाल की औद्योगिक उन्नति के लिये चीन द्वारा १४ करोड़ रुपये की आर्थिक सहायता प्रदान करने का निश्चय किया गया, और दोनों देशों में व्यापार की वृद्धि के लिये एक ऐसी सड़क के निर्माण की योजना बनायी गई, जो काठमांडू से ल्हासा को मिला देगी। अक्टूबर, १९६१ में नेपाल के राजा महेन्द्र वीर विक्रम शाह ने चीन की यात्रा की, जहां धूम-धाम के साथ उनका स्वागत किया गया। इस समय से चीन और नेपाल के सम्बन्ध बहुत मधुर हो गये हैं, और इन सम्बन्धों में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

पाकिस्तान के साथ सीमा का निर्णय—भारत के जम्मू-काश्मीर राज्य का बड़ा भाग इस समय पाकिस्तान के कब्जे में है। वैधानिक दृष्टि से यह प्रदेश भारत का है, यद्यपि यह पाकिस्तान के हाथों में है। लद्दाख के समान इस प्रदेश की उत्तरी सीमा भी चीन के साथ लगती है। १९६३ में चीन ने इस सीमा के सम्बन्ध में पाकिस्तान के साथ एक समझौता कर लिया, जिसके अनुसार (१) पाकिस्तान ने २०५९ वर्गमील प्रदेश चीन को प्रदान कर दिया। यह प्रदेश जम्मू-काश्मीर राज्य के अन्तर्गत है, और वैधानिक दृष्टि से पाकिस्तान को यह अधिकार नहीं था कि इसे वह चीन को प्रदान कर सके। (२) ७५० वर्गमील का प्रदेश पाकिस्तान ने प्राप्त किया, जिसके कारण खुंजरात और ओप्रांग की घाटियों पर पाकिस्तान का अधिकार हो गया। (३) एक संयुक्त समिति की नियुक्ति की गई, जिसने चीन और पाकिस्तान के बीच की सीमा का स्पष्ट रूप से निर्धारण किया।

वस्तुतः, पाकिस्तान को इस समझौते का कोई अधिकार नहीं था, क्योंकि इसके द्वारा जो प्रदेश चीन को प्रदान किये गये, वे जम्मू-काश्मीर राज्य के अन्तर्गत हैं, और वैधानिक दृष्टि से भारत के अन्तर्गत हैं। इसीलिये इस समझौते के विरुद्ध भारत ने संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख अपील भी दायर की, जो अभी विचारधीन है।

(६) चीन और रूस में विरोध

चीन और रूस दोनों ही कम्युनिस्ट व्यवस्था के अनुयायी है, और कम्युनिस्ट गुट के सबसे महत्त्वपूर्ण तथा शक्तिशाली सदस्य रहे हैं। १९५६ तक इन दोनों देशों के सम्बन्ध बहुत मधुर थे। चीन को रूस की सहायता प्राप्त थी। उसके औद्योगिक विकास और आर्थिक उन्नति के लिये रूस द्वारा करोड़ों रुपये खर्च किये गये, और बहुत-से वैज्ञानिक एवं विशेषज्ञ वहां कल-कारखानों की स्थापना के लिये भेजे गये। औद्योगिक क्षेत्र में चीन जो असाधारण उन्नति कर सका, उसका प्रधान श्रेय रूस द्वारा दी गई सहायता को ही प्राप्त है। चीन ने सैनिक क्षेत्र में जो उन्नति की, उस की सेना जो नवीन युद्ध-सामग्री द्वारा सज्जित हो सकी, उसका कारण भी रूस द्वारा दी गयी सहायता ही थी। पर रूस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और चीन का वह मैत्री-सम्बन्ध देर तक कायम नहीं रह सका। जनवरी, १९६८ तक यह स्थिति आ चुकी थी, कि रूस ने अपने विशेषज्ञ चीन से वापस बुला लिये थे, नई आर्थिक सहायता प्रदान करना उसने बन्द कर दिया था, और कम्युनिस्ट पार्टियों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में इन दोनों देशों के मतभेद स्पष्ट तथा उग्र रूप से प्रकट होने लग गये थे। कम्युनिस्ट गुट अब दो भागों में विभक्त हो गया है। एक का नेता रूस है, और दूसरे का चीन। विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। यह आवश्यक है, कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीत्ति के इस नये मोड़ पर कुछ अधिक विस्तार के साथ विचार किया जाए, क्योंकि एशिया के आधुनिक इतिहास में इसका बहुत महत्त्व है।

सन् १९५३ में स्टालिन की मृत्यु हुई थी। जब तक स्टालिन रूस का भाग्यविधाता रहा, चीन और रूस की विचारधारा एवं नीति में कोई भेद नहीं था। माओ त्से तुंग चीन में उसी नीति का अनुसरण कर रहा था, जिसे स्टालिन ने रूस में प्रयुक्त किया था। स्टालिन के समान माओ का भी यह विश्वास है, कि विश्व में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिये क्रान्ति आवश्यक है, और कम्युनिज्म के प्रसार के लिये उग्र एवं हिंसात्मक साधनों का प्रयोग किये बिना काम नहीं चलेगा। १९५६ में ख्रुश्चेव रूस के प्रधानमन्त्री बने। इस समय से रूस की नीति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। यह परिवर्तन किन कारणों से हुआ, यह प्रश्न बहुत महत्त्व का है। (१) रूस में कम्युनिस्ट क्रान्ति १९१७ में हुई थी। ४० वर्ष के सुदीर्घ काल में रूस में कम्युनिस्ट व्यवस्था भली-भांति स्थापित हो गई थी। इसे स्थापित करने के लिये रूस को उग्र उपायों का अवलम्बन करना पड़ा था। कम्युनिज्म के विरोधियों का विनाश करने के लिये स्टालिन ने कुछ भी उठा नहीं रखा था। रूस की औद्योगिक उन्नति के लिये उसने वस्त्र, भोजन आदि के उत्पादन की उपेक्षा की, और जनता को कष्टों के साथ जीवन बिताने के लिये विवश किया। पर १९५६ तक रूस असाधारण उन्नति कर चुका था। अब उसे यह आवश्यकता नहीं रह गई थी, कि वह वस्त्र, अनाज आदि उपभोग्य पदार्थों के उत्पादन की अपेक्षा मशीनरी, अस्त्र-शस्त्र एवं औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन को अधिक महत्त्व दे। उसकी स्थिति एक सम्पन्न व समृद्ध देश की हो चुकी थी, जिसके कारण उसे उन उपायों के अवलम्बन की आवश्यकता नहीं रह गई थी, जिन्हें स्टालिन ने अपनाया था। (२) द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर स्टालिन का विश्वास था, कि पूंजीवादी देशों में भी क्रान्ति का प्रादुर्भाव अनिवार्य है। विशेषतया-यूरोप के वे देश जिनकी आर्थिक दशा युद्ध के कारण अस्त-व्यस्त हो गई थी, कम्युनिज्म को अपनाये बिना अपनी स्थिति को नहीं संभाल सकेंगे। पर पश्चिमी जर्मनी और इटली आदि ने पूंजीवाद का अनुसरण करके भी अपने को संभाल लिया, और औद्योगिक क्षेत्र में अच्छी उन्नति कर ली। भारत, सीलोन, बरमा, इन्डोनेसिया आदि जो देश महायुद्ध के पश्चात् पाश्चात्य साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हुए थे, उनमें भी कम्युनिस्ट क्रान्तियां नहीं हुईं, और वे भी पूंजीवाद का आश्रय लेकर अपनी आर्थिक उन्नति में तत्पर रहे। इन देशों का झुकाव कम्युनिज्म की ओर नहीं हुआ, और अमेरिका, ब्रिटेन आदि पूंजीवादी देश आर्थिक सहायता प्रदान कर इन्हें अपने प्रभाव में ले आने में समर्थ हुए। इस दशा में ख्रुश्चेव ने यह अनुभव किया, कि रूस को भी इन देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिये, ताकि ये पूर्णतया पूंजीवादी देशों के प्रभाव में न आ जाएं। इन्हें सहायता देने का यह परिणाम होगा, कि रूस के साथ इन का मैत्री-सम्बन्ध बढ़ेगा, इनकी कम्युनिस्ट पार्टियों को बल मिलेगा, और धीरे-धीरे ये कम्युनिस्ट व्यवस्था की उत्कृष्टता का अनुभव कर कम्युनिज्म को अपनाने के लिये प्रेरित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सकेंगे। (३) आणविक शक्ति के ज्ञान के कारण मनुष्य जाति के हाथों में ऐसे अस्त्र-शस्त्र आ गये थे, जिनके प्रयोग से मानव सभ्यता की सत्ता ही खतरे में पड़ जाती थी। ये अस्त्र-शस्त्र प्रधानतया रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका के पास हैं। भविष्य में किसी भी महायुद्ध में इनका प्रयोग अवश्यम्भावी है। यदि कम्युनिज्म के प्रसार के लिये युद्ध के मार्ग का अनुकरण किया जाये, तो इन आणविक शस्त्रों का दोनों पक्षों की ओर से अवश्य प्रयोग किया जायगा, जिसका परिणाम दोनों के लिये संहारक होगा। इस दशा में यह वाञ्छनीय है, कि पूंजीवादी देशों के प्रति सह-अस्तित्व की नीति को अपनाया जाए, और कम्युनिस्ट पद्धति की उत्कृष्टता को प्रमाणित करके ही इस विचारधारा व व्यवस्था के प्रसार का प्रयत्न किया जाए। नये स्वतन्त्र हुए एशिया और अफ्रीका के देशों को आर्थिक तथा शिक्षा-विषयक सहायता देकर उन्हें कम्युनिज्म के प्रभाव में लाया जा सकता है, और उनके विद्यार्थियों को रूस में उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्रदान कर व उनकी कम्युनिस्ट पार्टियों को प्रोत्साहित करके इन देशों में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न किया जा सकता है, जो क्रान्ति व हिंसात्मक साधनों का अवलम्बन किये बिना भी इनमें कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने में सफल हो सके।

सम्भवतः, यही कारण थे जिनसे ख्रुश्चेव के नेतृत्व में रूस ने एक नई नीति का अनुसरण करना प्रारम्भ किया। इस नीति से रूस ने विभिन्न एशियन, अफ्रीकन और यूरोपियन देशों के प्रति क्या व्यवहार किया, इसका उल्लेख करना यहां उपयोगी नहीं होगा। इतना ही निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि युगोस्लाविया के प्रति रूस ने मैत्री का हाथ बढ़ाया; भारत, इन्डोनीसिया, सीलोन, अमेरिका आदि की ख्रुश्चेव ने यात्रा की, और जहां कहीं भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष हो रहा था, उसकी सहायता करनी प्रारम्भ की। ख्रुश्चेव का मत था, कि वर्तमान परिस्थितियों में युद्ध द्वारा कम्युनिज्म का प्रसार कर सकना सम्भव नहीं है, और शान्ति में ही संसार की जनता का हित व कल्याण है। इसीलिए रूस युद्ध से बचने के लिये तत्पर रहा है। क्यूबा के प्रश्न को लेकर जब अमेरिका और रूस में युद्ध अवश्यम्भावी प्रतीत होने लगा था (१९६२), तब भी ख्रुश्चेव ने बहुत संयम और समझदारी से काम लिया और क्यूबा में उसने जो सैनिक अड्डे कायम किये थे, उन्हें हटा लेना स्वीकार कर युद्ध को रोक दिया।

पर रूस की यह नई नीति चीन को पसन्द नहीं आई। चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था १९४९ में कायम हुई थी। रूस के समान उसे अभी इतना समय नहीं मिला था, कि वह इस व्यवस्था को भली-भांति स्थापित कर सके। वहाँ अभी ऐसे लोग बड़ी संख्या में विद्यमान थे, जो कम्युनिस्ट व्यवस्था के विरोधी थे। उसे अभी संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता भी प्राप्त नहीं हुई है। अमेरिका और अन्य शक्तिशाली देश कम्युनिस्ट सरकार को चीन की वैध सरकार स्वीकार नहीं करते थे। फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार को अमेरिका का समर्थन प्राप्त था, और वह इस प्रयत्न में था कि चीन पर आक्रमण कर वहां कम्युनिज्म का अन्त कर दे। बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के शत्रुओं का चीन को भय बना हुआ था, जिसके कारण वह पूंजीवादी देशों के साथ सह-अस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार्य नहीं समझता था। इस दशा में वह उसी नीति का अनुसरण करना उपयोगी मानता था, जिसे १९५३ तक रूस में स्टालिन ने अपनाया था। इसीलिये ख्रुश्चेव की नीति का समर्थन करना उसके लिये सम्भव नहीं हुआ, और धीरे-धीरे चीन और रूस में मतभेद बढ़ता गया। चीन की दृष्टि में ख्रुश्चेव की नीति संशोधनवादी (Revisionist) थी, और रूस मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रदर्शित मार्ग से दूर हट रहा था। माओ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्से तुंग आणविक शस्त्रों के प्रयोग से भय अनुभव नहीं करता। उसका मत है, कि युद्ध के बिना पूंजीवाद का विनाश और कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना सम्भव नहीं है। बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद रूस में कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई, और दूसरे महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर चीन, कोरिया, विएतनाम और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों में। यदि तीसरा महायुद्ध हुआ, तो उसके बाद संसार के शेष देशों में भी कम्युनिस्ट राज्य-क्रान्ति हो जायगी, और विश्व से पूंजीवाद का अन्त होकर समाजवादी व्यवस्था स्थापित हो जायगी। यह आशंका सर्वथा निर्मूल है, कि तृतीय महायुद्ध में आणविक शक्ति का उपयोग किये जाने के कारण मानव जाति विनष्ट हो जायगी। यदि किन्हीं देशों में क्रान्ति का दमन करने के लिए अमेरिका ने युद्ध का प्रारम्भ किया, तो वह आणविक शस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकेगा, क्योंकि रूस के पास भी ऐसे अस्त्र विद्यमान हैं, और अमेरिका को यह भय होगा कि रूस द्वारा इन शस्त्रों के प्रयोग के कारण उसकी अपनी सत्ता भी खतरे में पड़ जायगी। महायुद्ध में दोनों पक्ष अपने स्वार्थ के कारण आणविक शस्त्रों का प्रयोग नहीं कर सकेंगे, और यदि उन्होंने इन्हें प्रयुक्त भी किया, तो भी कोई विशेष हानि नहीं होगी। यदि महायुद्ध में आधी मनुष्य जाति नष्ट भी हो गई, तो जो लोग शेष बचेंगे वे समाजवादी व्यवस्था के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करेंगे, और यह बात मानव सभ्यता के लिये हितकर ही होगी, हानिकारक नहीं।

रूस और चीन में मतभेद और विरोध के अन्य भी अनेक कारण हैं—(१) रूस और चीन एक दूसरे के पड़ोसी हैं। उनकी सीमा साथ लगती है, और इस सीमा की लम्बाई ४००० मील से भी अधिक है। चीन के सिंगकियांग प्रदेश में जो जातियां निवास करती हैं, वही रूस के पड़ोस के प्रदेशों में भी रहती हैं। मध्य एशिया का कुछ भाग चीन के अन्तर्गत है, और कुछ रूस के। इन दोनों में निकट सम्पर्क भी विद्यमान है। रूस के अन्तर्गत मध्य एशियन प्रदेशों ने बहुत प्रगति कर ली है, और चीन के ये प्रदेश बहुत पिछड़े हुए हैं। अतः उनमें प्रायः असंतोष उत्पन्न होता रहता है। चीन इसके लिये रूस को उत्तरदायी ठहराता है। (२) मंगोलिया के दो भाग हैं—बाह्य मंगोलिया और आभ्यन्तर मंगोलिया। बाह्य मंगोलिया की स्थिति एक स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की है, और आभ्यन्तर मंगोलिया चीन के अन्तर्गत है। चीन का यह यत्न रहा है, कि बाह्य मंगोलिया को भी वह अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आये। पर रूस को यह पसन्द नहीं है। वह इस राज्य की स्वतन्त्र स्थिति को कायम रखना चाहता है, और साथ ही इस पर अपने प्रभाव को भी जारी रखने का इच्छुक है। एक ही जाति द्वारा आबाद इन दो मंगोलियन प्रदेशों के लिये यह बात अस्वाभाविक है, कि उनमें से एक चीन के अन्तर्गत रहे, और दूसरा उससे सर्वथा पृथक् व स्वतन्त्र हो। (३) चीन और भारत में सीमा-सम्बन्धी जो विवाद हैं, उसमें चीन को यह आशा थी कि कम्युनिस्ट होने के नाते रूस उसका न केवल समर्थन करेगा, अपितु उसकी सहायता भी करेगा। वह समझता था कि रूस उसके पक्ष को न्याय्य स्वीकार करेगा, और भारत जैसे देश को, जिसने कम्युनिस्ट व्यवस्था को नहीं अपनाया है—दोषी ठहराया। पर इस विवाद में रूस न केवल तटस्थ रहा, अपितु उसने भारत का समर्थन भी किया, यद्यपि यह समर्थन प्रच्छन्न रूप में था। (४) रूस इस प्रयत्न में रहा है, कि निःशस्त्रीकरण और आणविक बम्ब के प्रतिरोध के सम्बन्ध में अमेरिका और अन्य विदेशी राज्यों के साथ ऐसा समझौता कर ले, जिससे अस्त्र-शस्त्रों में कमी की जा सके। इस विषय में उसे सफलता भी हुई है। चीन इसका विरोधी है। उसका कहना है, कि या तो आणविक शस्त्रों के निर्माण को सब राज्य बन्द कर दें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्यथा अन्य राज्यों को भी यह अवसर हो कि वे इस प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण व सञ्चय कर सकें। कुछ गिनती के राज्यों का इन हथियारों का स्वामी हो जाना उसे समुचित प्रतीत नहीं होता। (५) क्योंकि रूस और चीन की सीमा साथ-साथ लगती है, अतः इस सीमा के विषय में भी इन देशों में उसी ढंग का विवाद है, जैसा कि भारत और चीन के बीच की सीमा के बारे में है।

ये सब बातें हैं, जिनके कारण अब चीन और रूस के सम्बन्धों में कटुता आ गई है, और कम्युनिस्ट गुट में एकता नहीं रह सकी है। उत्तरी कोरिया और दक्षिणी विएतनाम के कम्युनिस्ट राज्य चीन के समर्थक हैं। यूरोप में अल्बानिया भी चीन की नीति का समर्थन करता है। कतिपय अन्य देशों की कम्युनिस्ट पार्टियां भी चीन की नीति व विचारधारा को सही समझती हैं, पर बहुसंख्यक देशों के कम्युनिस्ट रूस के समर्थक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीसवां अध्याय

चीन में महान सांस्कृतिक क्रान्ति का काल

(१) सांस्कृतिक क्रान्ति का श्रीगणेश

सन् १९११ में चीन में राज्यक्रान्ति हुई थी, जिस द्वारा मञ्चू वंश के निरंकुश व स्वेच्छाचारी शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की गई थी। सन् १९४९ में कम्युनिस्ट पार्टी ने देश के शासन को अधिगत कर लिया था, और कुओमिन्तांग को बहिष्कृत कर समाजवाद के अनुसार राजनीतिक आर्थिक व्यवस्था की स्थापना का प्रारम्भ किया था। सन् १९६६ में चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, और यह क्रान्ति इस समय (१९७३) तक भी पूर्ण नहीं हुई है। चीन के आधुनिक इतिहास में सन् १९६६ का महत्त्व १९११ और १९४९ के ही समान है, क्योंकि इस वर्ष में वहां ऐसे परिवर्तनों का प्रारम्भ हुआ, जिन्होंने देश को एक नये क्रान्तिकारी मार्ग पर डाल दिया है।

माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन ने समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के लिये जो अग्रगामी लम्बी छलांग (Great leap forward) ली थी, पिछले अध्याय में उस पर प्रकाश डाला जा चुका है। अनेक विघ्न-बाधाओं के बावजूद चीन अपने इस नये कार्यक्रम पर दृढ़ रहा था, और इसमें उसने अच्छी सफलता भी प्राप्त कर ली थी। पर रूस सदृश बहुसंख्यक कम्युनिस्ट देश चीन की इस क्रान्तिकारी नीति को आशंका की दृष्टि से देखते थे, और यह समझते थे, कि माओ त्से-तुंग एक ऐसे मार्ग के अनुसरण में तत्पर है जो न केवल अक्रियात्मक है अपितु अनुचित भी है। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में भी बहुत-से ऐसे लोग थे, जो इस नीति के विषय में माओ त्से-तुंग से असहमत थे। अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम को क्रियान्वित करते समय जो अनेक विघ्न-बाधाएं उपस्थित हुई थीं, उन्हें दूर करने के लिये चीन में कतिपय ऐसी व्यवस्थाएं भी की गई थीं, जो माओ त्से-तुंग के विचारों के प्रतिकूल थीं। अनेक स्थानों पर किसानों को ऐसे खेत दे दिये गये थे, जिनकी पैदावार के वे स्वयं मालिक थे और जिसे वे स्वेच्छापूर्वक बाजार में बेच सकते थे। अधिक कार्य व श्रम करने पर अधिक पारिश्रमिक प्रदान करने की नीति को भी वहां अपना लिया गया था। माओ त्से-तुंग के विचार में ये बातें कम्युनिस्ट व्यवस्था के आदर्शों के अनुकूल नहीं थीं। अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिये चीन को जिस कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, उन्हें देख कर बहुत-से कम्युनिस्ट नेताओं ने माओ त्से-तुंग की नीति का विरोध भी करना प्रारम्भ कर दिया था, और कतिपय ऐसे लेख व पुस्तिकाएं भी वहां प्रकाशित होनी शुरू हो गई थीं, जिनमें माओ के विरोध में विचार प्रगट किये गये थे।

माओ के इन विरोधियों में सर्वप्रधान ल्यू शाओ ची ये, जो माओ के प्रमुख सहयोगी थे और १९५९ में जिन्हें चीन के राष्ट्रपति पद पर नियुक्त किया जा चुका था। उनका मत था, कि अब चीन में कम्युनिस्ट क्रान्ति पूर्ण हो चुकी है, पूंजीवाद का अन्त हो गया है, और समाजवादी व्यवस्था भलीभांति स्थापित हो गई है। अब चीन के सम्मुख केवल यह कार्य शेष है कि देश की आर्थिक उन्नति के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा दी जाए,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताकि चीन भी रूस तथा पूंजीवादी पाश्चात्य देशों के समकक्ष हो सके। इस आर्थिक उन्नति के लिये चीन को भी वही मार्ग अपनाना होगा, जिस द्वारा रूस, अमेरिका, पश्चिमी जर्मनी आदि देशों ने आर्थिक क्षेत्र में असाधारण उन्नति करने में सफलता प्राप्त की है। यह मार्ग है, नये वैज्ञानिक साधनों को अपनाना और आर्थिक उत्पादन के लिये नवीन तकनीकी तरीकों को स्वीकार करना। ल्यू शाओ ची और उनके साथी यह मानते थे, कि देश की आर्थिक उन्नति के लिये वैज्ञानिक साधनों तथा नये तकनीकी आविष्कारों का प्रयोग तभी सम्भव है, जबकि ये कार्य उन व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न किये जाएं, जो इनके विशेषज्ञ हैं। आर्थिक उन्नति का नेतृत्व इन विशेषज्ञों के ही हाथों में रहना चाहिये।

पर माओ त्से-तुंग का मत इससे भिन्न था। उनका कहना था, कि कम्युनिस्ट क्रान्ति अभी पूर्ण नहीं हुई है। चीन के समाज में जो विषमताएं पहले विद्यमान थीं, उनका तो अब अन्त हो गया है, पर उनके स्थान पर नई विषमताएं उत्पन्न हो गई हैं। देश में एक ऐसा विशिष्ट वर्ग विकसित हो गया है, जो सर्वसाधारण जनता से पृथक् है। इस वर्ग में वे वैज्ञानिक, इन्जीनियर, शिल्पी, प्रशासक तथा कम्युनिस्ट पार्टी के नेता हैं, जो शिक्षा, ज्ञान तथा प्रशासन कार्य में विशिष्टता प्राप्त कर लेने के कारण अपने को सर्व-साधारण जनता से ऊंचा तथा पृथक् समझने लगे हैं। इन द्वारा देश में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है, जो सर्वसाधारण जनता की शक्ति तथा क्षमता में विश्वास नहीं रखता, अपितु यह समझता है कि केवल इसी वर्ग के व्यक्तियों में वह योग्यता है जिससे देश की उन्नति के लिये उपयोगी नीति व कार्यक्रम को निर्धारित किया जा सकता है। सर्वसाधारण जनता में अभी यह क्षमता नहीं है, कि वह यह समझ सके कि उसे अपनी उन्नति के लिये किन उपायों व साधनों का उपयोग करना चाहिये। माओ त्से-तुंग की दृष्टि में यह विचारसरणी कम्युनिस्ट क्रान्ति के लिये अत्यन्त हानिकारक थी। उनके मत में यह एक प्रकार का प्रतिक्रियावाद था, जिसका परिणाम यह हो सकता था, कि चीन कम्युनिज्म के क्रान्तिकारी मार्ग का परित्याग कर फिर से पूंजीवाद को अपनाने लग जाए। उनके विचार में ख्रुश्चेव के नेतृत्व में कम्युनिस्ट रूस ने कम्युनिज्म के मार्ग का परित्याग कर दिया था, और ल्यू शाओ ची तथा उनके साथी चीन में भी ऐसे मार्ग का अनुसरण करने के पक्षपाती थे, जो कम्युनिस्ट आदर्शों के विपरीत था। माओ त्से-तुंग का सर्वसाधारण जनता की शक्ति में अगाध विश्वास था। उनका कहना था, कि जनशक्ति का उपयोग करके ही चीन ने जापान को परास्त किया है, कुओमिन्तांग की शक्ति का अन्त किया है और उसके नेतृत्व में ही अब आदर्श कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित किया जा सकता है। चीन भी कहीं रूस के समान प्रतिक्रियावादी मार्ग का अनुसरण न करने लगे, इस बात का भरोसा तभी सम्भव है, जब कि सर्वसाधारण जनता की क्रान्तिकारी शक्ति पर विश्वास रखा जाए। देश की उन्नति के लिये योजनाएं बनाने का कार्य भी सर्व-साधारण जनता द्वारा ही किया जाना चाहिये, केवल सम्पन्न सुशिक्षित वैज्ञानिक व विशेषज्ञ वर्ग द्वारा ही नहीं, क्योंकि इस वर्ग के लोगों को जनसाधारण की आवश्यकताओं का समुचित ज्ञान नहीं होता।

इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट क्रान्ति और अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम के बावजूद चीन में सुशिक्षित, सम्भ्रान्त तथा विशेषज्ञ लोगों का एक ऐसा विशिष्ट वर्ग विकसित हो गया था, जो जनसाधारण से पृथक् था। इनका रहन-सहन सर्वसाधारण जनता से ऊंचे स्तर का था, इनके बच्चे अधिक अच्छे विद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करते थे, इनके लिये यह भी सम्भव था कि अपने मित्रों-सम्बन्धियों तथा कृपापात्रों को उच्च पद प्राप्त करा सकें, और स्वयं ऐसा जीवन व्यतीत करें जो जनसाधारण के जीवन से भिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। ये समझते थे कि देश की उन्नति के लिये जिन योजनाओं की आवश्यकता है, उसका निर्माण करने की क्षमता केवल इन्हीं लोगों में है, और सर्वसाधारण को इन द्वारा निर्धारित नीति एवं कार्यक्रम में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

मनुष्यों में यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वे अपने तथा अपने पारिवारिक जनों के हितों को विशेष महत्त्व दें। कम्युनिस्ट चीन भी इसका अपवाद नहीं था। हजारों साल से चीन के समाज में अनेक प्रकार की विषमताएं तथा वर्गभेद विद्यमान थे। कम्युनिस्ट क्रान्ति और अग्रगामी लम्बी छलांग भी इन विषमताओं को दूर नहीं कर सकी थी। इसी का यह परिणाम था, कि चीन में भी संभ्रान्त लोगों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था, सर्वसाधारण जनता की तुलना में अपनी विशिष्ट स्थिति जिसे सर्वथा स्वाभाविक व उचित प्रतीत होती थी। इसीलिये अब तक भी चीन में एक ऐसे समाज का निर्माण नहीं हो सका था, जो कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार हो। जिस ढंग की कम्युनिस्ट व्यवस्था गत पन्द्रह वर्षों (१९४९-१९६४) में चीन में स्थापित हुई थी, उसमें नगरों का तो सुचारु रूप से विकास हो गया था, पर देहातों की उन्नति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। प्रायः सब बड़े कल-कारखाने नगरों में स्थापित थे। देहातों से आकर लोग बड़ी संख्या में नगरों में निवास करने लगे थे, और शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि की सब सुविधाएं भी नगर-निवासियों को प्राप्त थीं। चीन के वैज्ञानिक, इन्जीनियर, विशेषज्ञ, विद्वान्, राजकोय पदाधिकारी और कम्युनिस्ट पार्टी के नेता—सब प्रायः नगरों में निवास करते थे, और देहातों की दुर्दशा की ओर उनका ध्यान नहीं जाता था। माओ त्से-तुंग ने इस दशा को देख कर यह अनुभव किया, कि चीन भी उसी मार्ग को अपना सकता है, रूस ने जिसका अनुसरण किया है, और वहां भी प्रतिक्रियावादी प्रवृत्तियां जोर पकड़ सकती हैं। ल्यू शाओ ची जैसे पुराने कम्युनिस्ट नेताओं के रुख को देख कर उन्हें यह आशंका हो गयी थी कि चीन में भी कम्युनिज्म का भविष्य सर्वथा उज्ज्वल नहीं है। १९६२ में ही उन्होंने इस सम्भावना की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करना प्रारम्भ कर दिया था। अपने एक भाषण में उन्होंने कहा था, कि चीन के सरकारी पदाधिकारी और कम्युनिस्ट पार्टी के नेता अपने कर्तव्यों से विमुख होते जा रहे हैं, वे आराम से जीवन बिताना चाहते हैं, जनसाधारण से अपने को पृथक् रखते हैं, और अपने को जनता से ऊंचा समझते हैं। इस स्थिति में जनसाधारण का यह कर्तव्य है, कि वह शासक वर्ग तथा नेताओं के कार्यों पर दृष्टि रखे, उनकी आलोचना में तत्पर रहे और उन्हें कर्तव्यविमुख न होने दे।

पर ल्यू शाओ ची और उनके साथियों का मत इससे भिन्न था। वे समझते थे कि चीन की सर्वसाधारण जनता अभी समुचित रूप से सुशिक्षित नहीं है। उसके लिये यह सम्भव ही नहीं है कि वह शासक वर्ग तथा कम्युनिस्ट नेताओं को सही मार्ग पर चलने के लिये विवश कर सके। यह सही है कि शासकों तथा पार्टी के नेताओं को कर्तव्यपालन के लिये प्रेरित किया जाना चाहिये। उनमें जो शिथिलता आती जा रही है, उसे दूर करना अनिवार्य है। पर यह कार्य कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा ही किया जा सकता है, जनसाधारण द्वारा नहीं। इसी प्रयोजन से ल्यू शाओ ची ने कतिपय कम्युनिस्ट नेताओं की ऐसी मण्डलियां संगठित कीं, जिन्हें पार्टी में नवजीवन का संचार करने का कार्य सुपुर्द किया गया, और उन्हें यह भी कहा गया कि वे शासक तथा विशिष्ट वर्ग को अपने कर्तव्यों से विमुख न होने दें। पर इन मण्डलियों के सदस्य भी सम्भ्रान्त वर्ग के ही थे, और माओ त्से-तुंग की सम्मति में वे उस कार्य के अयोग्य थे, जो उन्हें सुपुर्द कियागया था। माओ को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनसाधारण की शक्ति में विश्वास था, और उनके मत में सर्वसाधारण जनता ही शासक वर्ग तथा नेता वर्ग को सही मार्ग पर स्थिर रख सकती थी।

सन् १९६१ में पेकिंग से एक नाटक प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक वू हान थे जो पेकिंग के डेपुटी मेयर थे। इसमें परोक्ष रूप से माओ त्से-तुंग की नीति तथा कार्य-कलाप की आलोचना की गई थी। चीन में इस नाटक की बहुत चर्चा हुई, और यह समझा गया कि इस द्वारा मार्शल फेंग ते-हुआई की नीति का समर्थन करने का प्रयत्न किया गया है। यह पहले लिखा जा चुका है कि फेंग ते-हुआई अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम के विरोधियों के नेता थे, और इसी कारण १९५९ में उन्हें रक्षामन्त्री के पद से पृथक् कर दिया गया था। वू हान के नाटक के कारण जो विवाद प्रारम्भ हुआ था, उसके सम्बन्ध में तथ्य का पता करने के लिये एक कमेटी की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष पेंग चेन थे। ये पेकिंग के मेयर थे, और वू हान के समर्थक माने जाते थे। १९६६ में इस कमेटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, जो उसमें वास्तविक प्रश्न को टालने का प्रयत्न किया गया था। मई, १९६६ में पेंग चेन को पेकिंग के मेयर पद से पृथक् कर दिया गया, और चीन में उस वाद विवाद ने उग्र रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया, जिसकी शुरू-आत वू हान के नाटक से हुई थी। इस वादविवाद का रूप यह था, कि बहुत-से लोग विवादग्रस्त नीति एवं कार्यक्रम पर स्वतन्त्रतापूर्वक अपने-अपने विचार प्रगट करने लग गये थे, और अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिये हस्तलिखित पोस्टरों, हैण्डबिलों तथा पुस्तिकाओं का आश्रय लेने लगे थे। चीन के आधुनिक इतिहास में जिसे सांस्कृतिक क्रान्ति कहते हैं, उसका श्रीगणेश इसी पद्धति से हुआ।

वस्तुतः, वू हान द्वारा लिखित नाटक उस प्रवृत्ति का मूर्त रूप था, जो अग्रगामी लम्बी छलांग के काल में चीन के बुद्धिजीवी तथा सम्भ्रान्त वर्ग में उत्पन्न हो गई थी। इस वर्ग के व्यक्ति माओ त्से-तुंग की नीति व कार्यक्रम को अक्रियात्मक तथा उपहासास्पद समझते थे, और अपने उत्कर्ष के लिये प्रयत्नशील थे। वे अपने को जनता का स्वाभाविक नेता मानते थे, और यह समझते थे कि देश की उन्नति के लिये योजनाएं बनाना उन्हीं का काम है। पर कुओमिन्तांग तथा जापान के विरुद्ध संघर्ष करते हुए चीन की सेना ने जनसाधारण की शक्ति का जिस ढंग से उपयोग किया था, उसके कारण जनता में अपने महत्त्व तथा स्थिति की चेतना उत्पन्न हो गई थी, और वह उसकी अभिव्यक्ति के लिये उद्यत रहती थी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि १९६६ में वू हान के नाटक के सम्बन्ध में विवाद प्रारम्भ होने पर लोगों ने अपने विचारों को खुले तौर पर प्रगट करना शुरू कर दिया। ये विचार प्रायः परस्पर-विरोधी होते थे। जो जिस ढंग से सोचता, अपने मत को हाथ से लिखकर किसी प्रमुख स्थान पर चिपका देता। लोग इन्हें शौक से पढ़ते, और उन पर विचार विमर्श करते। विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षणालय इस विचार-विमर्श तथा वादविवाद के प्रधान केन्द्र थे। वहाँ वादविवादों ने इतना उग्र रूप प्राप्त कर लिया, कि कुछ समय के लिये प्रायः सभी शिक्षणालय बन्द कर दिये गये। वस्तुतः, इस समय चीन की सर्वसाधारण जनता में एक नई क्रान्ति का सूत्रपात हो गया था, जिसका लक्ष्य अपने असंतोष को स्वच्छन्दता के साथ प्रगट करना था। सब में इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो गई थी, कि उन्हें समाज के नवनिर्माण के लिये कुछ न कुछ करना है। माओ त्से-तुंग चाहता था, कि यह नई लहर अपने लिये स्वयं मार्ग ढूँढ ले और जनसाधारण को अपनी शक्ति प्रदर्शित करने का स्वच्छन्द रूप से अवसर प्राप्त हो सके। इसी लिये वह पेकिंग छोड़ कर हैंग्चो चले गये, और वहां रह कर इस बात की प्रतीक्षा करने लगे, कि देश में जो नई आंधी उठ रही है, उसका क्या परिणाम निकलता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) रेड गार्ड्स और क्रान्तिकारी समितियां

इसी समय चीन में नवयुवकों के उस संगठन का प्रारम्भ हुआ, जो रेड गार्ड्स के नाम से प्रसिद्ध है। विद्यार्थी इसमें बहुत बड़ी संख्या में शामिल हुए। रेड गार्ड्स का मुख्य कार्य यह था, कि वे सब कोई की स्वतन्त्रतापूर्वक आलोचना करें, किसी की भी परवाह न करें, जिस किसी को समाजवाद व क्रान्ति का विरोधी समझें उस पर आक्रमण करें, और उग्र विचारों का सर्वत्र प्रचार करें। विद्यार्थियों में जो असंतोष था, उसका इन रेड गार्ड्स ने पूर्ण रूप से उपयोग किया। माओ त्से-तुंग का समर्थन इन्हें प्राप्त था, और ये उन सब व्यक्तियों की आलोचना करने में तत्पर थे, जिन्हें राज्यसंस्था, कम्युनिस्ट पार्टी, कल-कारखानों तथा शिक्षणालयों में कोई भी पद प्राप्त था। सम्भ्रान्त वर्ग के ये विशेष रूप से आलोचक थे, चाहे वे वैज्ञानिक हों, चाहे विश्वविद्यालयों के प्राध्यापक हों और चाहे उच्च राजकीय पदों पर हों। ये उनकी निर्बलताओं, कर्तव्य के प्रति उपेक्षा और शक्ति के दुरुपयोग की खुले तौर पर निन्दा करना अपना कर्तव्य समझते थे। ल्यू शाओ ची तथा उनके साथियों ने इन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया, उनकी शिकायतें सुनीं और उनके साथ अनेक रियायतें भी कीं। पर उन्हें सफलता नहीं मिली, और रेड गार्ड्स निरन्तर जोर पकड़ते गये। कुछ समय पश्चात् माओ त्से-तुंग पेकिंग वापस लौट आये, और उन्होंने रेड गार्ड्स को एक वैध संगठन के रूप में स्वीकार कर लिया। उनसे प्रेरणा प्राप्त कर रेड गार्ड्स सारे देश में फैल गए, और उन्होंने सर्वत्र अपने विचारों का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। वे ल्यू शाओ ची के विरुद्ध जनता को भड़काते और उसे क्रान्तिकारी उपायों का अवलम्बन करने के लिये प्रेरित करते। पर कुछ समय पश्चात् रेड गार्ड्स में भी मतभेद और झगड़े प्रारम्भ हो गये। ये झगड़े जहां रेड गार्ड्स में आपस में थे, वहां साथ ही मजदूरों किसानों और सैनिकों से भी थे। रेड गार्ड्स संगठन में विद्यार्थियों और नवयुवकों की बहु-संख्या थी। बहुधा मजदूरों आदि के संगठनों से उनका मतभेद हो जाता था, क्योंकि आलोचना करते हुए वे कोई भी मर्यादा नहीं रखते थे। कम्युनिस्ट पार्टी के बहुत-से नेता रेड गार्ड्स से परेशान थे, विशेषतया इस कारण क्योंकि वे हिंसा का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करते थे। नेताओं, राजपदाधिकारियों और विशेषज्ञों की आलोचना करते हुए वे बहुधा आपे से बाहर हो जाते थे। पर माओ त्से-तुंग इस दशा से चिन्ता अनुभव नहीं करते थे। वे समझते थे कि चीन में जो यह तूफान उठा है, अन्त में उसका परिणाम अच्छा होगा। सम्भ्रान्त वर्ग में जो शिथिलता आ गई है, उसके दूर होने में इससे अवश्य सहायता मिलेगी। पर रेड गार्ड्स की हिंसात्मक प्रवृत्तियों का उन्होंने भी विरोध किया, और सबसे यह अनुरोध किया कि वे हिंसा का आश्रय न लेकर अपने आन्दोलन को केवल विचार-विमर्श, वादविवाद तथा आलोचना तक ही सीमित रखें।

पर ल्यू शाओ ची और उनके साथी कम्युनिस्ट नेता रेड गार्ड्स की गतिविधियों से बहुत उद्विग्न थे। वे समझते थे कि इस संगठन के कार्यकलाप द्वारा देश में जो अव्यवस्था उत्पन्न हो रही है, उसका परिणाम बहुत भयंकर होगा। अतः पहले उन्होंने यत्न किया कि कम्युनिस्ट पार्टी के प्रचार विभाग को अधिक जागरूक किया जाए, ताकि जनता को वस्तुस्थिति का बोध कराया जा सके। विश्वविद्यालयों व शिक्षण-संस्थाओं में इस विभाग ने विशेष रूप से प्रचार प्रारम्भ किया, पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला। रेड गार्ड्स का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ता गया। इस दशा में ल्यू शाओ ची ने बड़े साहस से काम लिया, और रेड गार्ड्स संगठन को अवैध घोषित कर दिया (जुलाई, १९६६)। पर इससे भी रेड गार्ड्स का आन्दोलन समाप्त नहीं हुआ। माओ त्से-तुंग से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहारा प्राप्त कर यह आन्दोलन जारी रहा, और कम्युनिस्ट पार्टी में उग्र मतभेद प्रारम्भ हो गये। रेड गार्ड्स के प्रश्न को लेकर ल्यू शाओ ची और माओ त्से-तुंग में मतभेद इतना अधिक बढ़ गया, कि ल्यू शाओ ची को राष्ट्रपति पद से पृथक् कर दिया गया (अगस्त, १९६६)। उनके विरुद्ध अनेक प्रकार के आक्षेप किये जाने लगे, और उन्हें प्रतिक्रियावादी तथा कम्युनिस्ट आदर्शों के विरोधी के रूप में बदनाम किया जाना प्रारम्भ हुआ। ल्यू शाओ ची के अनेक साथी और सहयोगी भी इस समय माओ त्से-तुंग तथा रेड गार्ड्स के कोप के शिकार बने।

रेड गार्ड्स के रूप में जो नया तूफान इस समय चीन में व्याप्त हो रहा था, माओ त्से-तुंग उसे देश के लिए लाभदायक समझते थे। उनका कहना था, कि राजशक्ति जनसाधारण के हाथों में रहनी चाहिये, कतिपय सम्भ्रान्त व्यक्तियों के हाथों में नहीं, चाहे ये सम्भ्रान्त व्यक्ति कितने ही योग्य तथा विशेषज्ञ क्यों न हों। रेड गार्ड्स के कारण इस समय चीन में इस ढंग की अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, कि न राजकीय पदाधिकारियों के लिये स्थिति पर काबू पा सकना सम्भव रहा था और न कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के लिए। परिणाम यह हुआ कि अनेक स्थानों पर क्रान्तिकारी जनसाधारण ने शक्ति हस्तगत कर ली, और ऐसी क्रान्तिकारी समितियों का संगठन प्रारम्भ कर दिया, जिनका कार्य देश के राजनीतिक, आर्थिक व सामाजिक जीवन का संचालन करना था। ऐसी पहली क्रान्तिकारी समिति शंघाई में संगठित की गई (फरवरी, १९६७)। विद्यार्थियों और मजदूर वर्ग के बहुत-से संगठनों ने इस समिति का साथ दिया, और शंघाई के शासन को इसने अपने हाथों में ले लिया। कुछ ही समय में देश के अन्य बहुत-से स्थानों पर इसी ढंग की क्रान्तिकारी समितियां संगठित कर ली गई, और सम्पूर्ण चीन में क्रान्तिकारी समितियों का एक जाल-सा बिछ गया। ये समितियां कल-कारखानों, राजकीय कार्यालयों, नगरों, शिक्षणालयों, सैनिक संस्थाओं आदि सर्वत्र संगठित कर ली गई थीं, और इनकी संचालन व प्रबन्ध इन समितियों द्वारा ही किया जाने लगा था। जिन लोगों ने इन समितियों का विरोध किया, उनके विरुद्ध उग्र उपाय प्रयुक्त किये गये, और विरोधियों का दमन करने में कोई भी कसर उठा नहीं रखी गई।

१९६७ के अन्त तक प्रायः सम्पूर्ण चीन में क्रान्तिकारी समितियां संगठित कर ली गई थीं। इन समितियों के सदस्यों की नियुक्ति किसी ऐसी निर्वाचन-प्रक्रिया द्वारा नहीं की जाती थी, जिसमें लोगों से बाकायदा वोट लिए जाएं। विद्यार्थियों, मजदूरों, किसानों और सैनिकों के जो बहुत-से संगठन चीन में विद्यमान थे, वे समितियों की सदस्यता के लिए व्यक्तियों को नामजद किया करते थे, और नामजद हुए व्यक्तियों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में खुले रूप से विचार-विमर्श किया जाता था। जो व्यक्ति सबको स्वीकार्य हों, वे ही समिति के सदस्य बना लिये जाते थे। पूंजीवादी लोकतन्त्र राज्यों में चुनाव के लिए जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है, चीन के क्रान्तिकारी जनसाधारण उसे समुचित नहीं मानते। उनका यह यत्न रहता था, कि क्रान्तिकारी समितियों की सदस्यता केवल ऐसे व्यक्ति ही प्राप्त कर सकें, जिनको सब कोई स्वीकार्य समझें और जिनके गुण-दोषों का सुचारु रूप से विवेचन कर लिया गया हो। यह नहीं समझना चाहिये कि चीन को इन क्रान्तिकारी समितियों की सदस्यता के लिये कोई संघर्ष नहीं होता था। कौन व्यक्ति इनकी सदस्यता के लिए उपयुक्त है, इस विषय में प्रायः उग्र मतभेद रहते थे, और कोई व्यक्ति तभी क्रान्तिकारी समिति की सदस्यता को प्राप्त करता था, जब कि खुले विचार-विमर्श तथा आलोचना के अनन्तर जनसाधारण उसे समिति के लिए उपयुक्त स्वीकार कर लें। ये क्रान्तिकारी समितियां ही थीं, जिन द्वारा सर्वसाधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता की शक्ति अभिव्यक्त होती थी। इनके संगठन के कारण बड़े-बड़े कारखानों का संचालन भी जनसाधारण के हाथों में आ गया था। इनके सदस्य प्रायः तीन प्रकार के होते थे, कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता, कम्युनिस्ट सेना (जिसे लोक मुक्ति सेना या पीपल्स लिबरेशन आर्मी कहते हैं और जिसका संगठन येनान में कम्युनिस्ट सरकार के स्थापित होने के समय ही कर लिया गया था) के प्रतिनिधि और जनसाधारण के प्रतिनिधि। कारखानों की क्रान्तिकारी समितियों में साधारण मजदूरों का प्रतिनिधित्व प्रायः ४५ प्रतिशत होता था, कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं का ३६ प्रतिशत, सेना का १४ प्रतिशत और कारखाने के विशेषज्ञों व वैज्ञानिक कर्मचारियों (प्रबन्धकर्त्ता, इन्जीनियर आदि) का ५ प्रतिशत। क्रान्तिकारी समितियों के इस ढंग के संगठन के कारण कारखानों की व्यवस्था व संचालन का कार्य पूर्णतया जनसाधारण के प्रतिनिधियों द्वारा किया जाने लगा। कारखानों में जो वैज्ञानिक व इन्जीनियर आदि कार्य करते थे, उनके लिए भी यह आवश्यक था, कि कुछ समय वे भी साधारण मजदूरों की तरह काम किया करें, ताकि उनमें अपने को जनसाधारण से ऊंचा व पृथक् समझने की भावना न रह जाए।

क्रान्तिकारी समितियों द्वारा किसी बात का निर्णय करने के लिये वोट लेने की पद्धति को नहीं अपनाया गया था। जब कोई विषय निर्णय के लिये प्रस्तुत किया जाता, तो उस पर खुले तौर पर विचार-विमर्श व वादविवाद किया जाता। सबको अपनी सम्मति प्रकट करने का अवसर दिया जाता, और यह यत्न किया जाता कि निर्णय निर्विरोध रूप में हों।

क्रान्तिकारी समितियों का संगठन और उन द्वारा देश के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक जीवन का संचालन सांस्कृतिक क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम था। पर इसके लिए चीन में घोर संघर्ष की आवश्यकता हुई। कभी-कभी यह संघर्ष हिंसात्मक रूप भी धारण कर लेता था, पर बहुधा इसका रूप यह होता था, कि सब कोई अपने विचारों को हस्तलिखित पोस्टरों, हैण्डबिलों और पुस्तिकाओं द्वारा प्रगट करते थे, एक दूसरे के मत की कड़ी आलोचना करते थे और अपने विरोधियों पर खुले तौर पर आक्षेप करते थे। यदि कहीं यह संघर्ष हिंसात्मक रूप प्राप्त कर लेता था, तो स्थिति को संभालने के लिए पीपल्स लिबरेशन आर्मी का प्रयोग किया जाता था, क्योंकि यह कम्युनिस्ट सेना देश में सर्वाधिक सुसंगठित तथा अनुशासित संगठन था। यह सेना माओ त्से-तुंग के प्रति अनुरक्त थी, और उन द्वारा निर्धारित नीति तथा कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिए सदा तत्पर रहती थी। जनसाधारण द्वारा क्रान्तिकारी समितियों के सुचारु रूप से संगठन में सबसे बड़ी बाधा रेड गार्ड्स के आपसी मतभेदों व विरोधों द्वारा उपस्थित की गई थी। रेड गार्ड्स में बहुसंख्या विद्यार्थियों और नवयुवकों की थी, जो भली-भांति अनुशासित नहीं थे। उनके विचार भी एकसदृश नहीं थे। कुछ रेड गार्ड अत्यधिक उग्र विचारों के थे और उन्होंने अपने पृथक् संगठन बना लिये थे। यूनिवर्सिटियों और बड़े शिक्षा-केन्द्रों में रेड गार्ड्स के अनेक संगठन कायम हो गये थे, जो बहुधा परस्पर संघर्ष में व्यापृत रहते थे। पेकिंग की त्सिंघुआ यूनिवर्सिटी चीन के शिक्षा केन्द्रों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। वहां रेड गार्ड्स के अनेक संगठन विद्यमान थे, जिन के पारस्परिक संघर्ष ने गम्भीर रूप प्राप्त कर लिया था। माओ त्से-तुंग ने इस संघर्ष को दूर करने का प्रयत्न किया। जुलाई, १९६७ में उन्होंने रेड गार्ड्स के विविध नेताओं से बातचीत भी की, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। इस पर पेकिंग के जनसाधारण की एक मण्डली त्सिंघुआ यूनिवर्सिटी आई और उसने रेड गार्ड्स के परस्पर-विरोध का अन्त करने का यत्न किया। इस मण्डली में पेकिंग के कारखानों में काम करने वाले उन मजदूरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रतिनिधि सम्मिलित थे, जो अपने-अपने कारखानों में क्रान्तिकारी समितियों का संगठन कर चुके थे। पीपल्स लिबरेशन आर्मी के कुछ प्रतिनिधि भी उनके साथ थे। उनकी इच्छा थी, कि यूनिवर्सिटी के कैम्पस में विद्यार्थियों की एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया जाए और वहां बातचीत द्वारा रेड गार्ड्स के परस्पर-विरोध का अन्त करने का प्रयत्न किया जाए। पर विद्यार्थी इसके लिये उद्यत नहीं हुए। उनका कहना था, कि हमें किसी भी बाह्य हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं है। हमें स्वयं अपने क्रान्तिकारी मार्ग का निर्धारण करना है, और इस विषय में हम किसी के भी परामर्श की आवश्यकता नहीं समझते। पर पेकिंग के जनसाधारण के प्रतिनिधियों की मण्डली निराश नहीं हुई। उसने निश्चय किया कि यूनिवर्सिटी के कैम्पस में पहुँच कर वहां विद्यार्थियों से सम्पर्क स्थापित किया जाए और उनके मतभेदों व झगड़ों का अन्त किया जाए। विद्यार्थियों ने समझा कि यह उनकी स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप है और जनसाधारण की मण्डली उन्हें क्रान्तिकारी मार्ग से हटाने के लिये प्रयत्न कर रही है। जो भी अस्त्र-शस्त्र उनके पास थे, उन्हें लेकर वे जनसाधारण की मण्डली का मुकाबिला करने के लिए कटिबद्ध हो गये और उन्होंने मंडली के सदस्यों पर आक्रमण प्रारंभ कर दिया। मण्डली के अनेक सदस्य चाहते थे कि विद्यार्थियों के इस सशस्त्र आक्रमण का शक्ति के प्रयोग द्वारा प्रतिरोध किया जाए। पीपल्स लिबरेशन आर्मी के सैनिक अपना कर्त्तव्य समझते थे कि इस अवसर पर वे शक्ति का प्रयोग करने में संकोच न करें। पर मण्डली के बहुसंख्यक सदस्यों का विचार था, कि रेड गार्ड्स क्रान्ति के पक्षपाती हैं, और यदि इस समय वे पथभ्रष्ट हो गये हैं, तो उन्हें सही मार्ग पर लाने के लिए शक्ति का प्रयोग किये बिना भी काम चल सकता है। विद्यार्थियों के हिंसात्मक आक्रमण के बावजूद भी जनसाधारण की मण्डली तथा पीपल्स लिबरेशन आर्मी के सैनिक शान्त रहे, और धीरे-धीरे विद्यार्थियों ने यह अनुभव कर लिया कि यह मण्डली उनके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने के लिए नहीं आयी है, और उस पर हिंसात्मक आक्रमण करना सर्वथा निरर्थक है। वे बातचीत के लिए तैयार हो गये, और कई दिनों तक विद्यार्थियों और जनसाधारण की मण्डली के सदस्यों में विचार-विमर्श होता रहा। जो कार्य माओ त्से-तुंग नहीं कर सके थे, उसे सम्पन्न करने में इस मण्डली को सफलता प्राप्त हो गई, और धीरे-धीरे विद्यार्थी आपस के मतभेदों को दूर करने तथा अनुशासित रूप में क्रान्ति के मार्ग पर अग्रसर होने के लिये उद्यत हो गये। यूनिवर्सिटी के कैम्पस में विद्यार्थियों की एक सार्वजनिक सभा का आयोजन किया गया, जिसमें कतिपय ऐसे प्रस्ताव प्रस्तुत किए गए जिन्हें निर्विरोध रूप से सबने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार त्सिंघुआ यूनिवर्सिटी के रेड गार्ड्स के मतभेदों तथा परस्पर-विरोध का अन्त हुआ। अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त कर पेकिंग के जनसाधारण की मण्डली के कतिपय प्रतिनिधियों ने माओ त्से-तुंग से भेंट की, और उनकी सफलता के समाचार से प्रसन्न होकर माओ त्से-तुंग ने उन्हें कुछ आम उपहार के रूप में प्रदान किये। ये आम पाकिस्तान के एक डेलिगेशन ने माओ को भेंट किये थे। रेड गार्ड्स के परस्पर-विरोधों और संघर्षों को दूर करने के लिए चीन में किस ढंग से प्रयत्न किया जा रहा था, उसका यह एक उत्तम उदाहरण है।

क्रान्तिकारी समितियों को संगठित करते हुए तथा देश को सांस्कृतिक क्रान्ति के मार्ग पर अग्रसर करते हुए जो अनेक संघर्ष चीन में हुए, वे सब रेड गार्ड्स के मतभेदों तथा परस्पर विरोधों के ही परिणाम नहीं थे। फरवरी, १९६७ में कम्युनिस्ट पार्टी के अनेक उच्च पदाधिकारियों ने कतिपय बड़े नगरों में क्रान्ति के नाम पर स्वयं शक्ति प्राप्त कर ली थी, और ऐसी क्रान्तिकारी समितियां संगठित कर ली थीं, जिसमें जनसाधारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए कोई भी स्थान नहीं था। उच्च स्थिति प्राप्त किये हुए ये कम्युनिस्ट नेता समझते थे, कि वे सर्वसाधारण जनता के प्रतिनिधि हैं, और उसकी ओर से स्वयं निर्णय कर सकते हैं। पर यह उनकी भूल थी। सांस्कृतिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप जो चेतना इस समय चीन के जनसाधारण में उत्पन्न हो गई थी, उसके कारण लोग इन कम्युनिस्ट पदाधिकारियों की स्वेच्छाचारिता को सहन नहीं कर सके, और वे उनका प्रतिरोध करने के लिए सन्नद्ध हो गए। चीन में वूहान नाम का एक नगर है, जो हान और यांग-त्से नदियों के संगम पर स्थित है। यह एक बड़ा औद्योगिक केन्द्र है। यहां भी कम्युनिस्ट पार्टी के कतिपय उच्च पदाधिकारियों ने एक क्रान्तिकारी समिति का संगठन कर सब शक्ति अपने हाथों में ले ली थी। क्रांति की भावना से अभिभूत जनसाधारण उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए, और उनके संघर्ष ने अत्यन्त उग्र एवं हिंसात्मक रूप प्राप्त कर लिया। स्थिति को सम्भालने के लिए पीपल्स लिबरेशन आर्मी को हस्तक्षेप करना पड़ा, और बल का प्रयोग करके ही वह वहां शान्ति स्थापित करने में समर्थ हुई। इस प्रकार के सशस्त्र संघर्ष अन्य भी अनेक स्थानों पर हुए। वस्तुतः, सांस्कृतिक क्रान्ति के तूफान द्वारा चीन में बहुत-से लोगों तथा संगठनों ने स्वछन्द रूप से आचरण प्रारम्भ कर दिया था, जिसके कारण उनमें संघर्ष का उत्पन्न हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। माओ त्से-तुंग को सर्वसाधारण जनता की जिस सूझ-बूझ तथा शक्ति पर अगाध विश्वास था, अन्त में वह सफल हुई, और १९६७ की शरद ऋतु तक चीन के आंतरिक संघर्षों में बहुत कमी आ गई। पर इसके बाद भी अनेक ऐसी घटनाएं होती रहीं, जो रेड गार्ड्स के आपसी मतभेदों का परिणाम थीं। देश में व्यवस्था भलीभांति तभी स्थापित हो सकती थी, जब कि रेड गार्ड्स के आपसी संघर्षों का अन्त हो जाए। इसके लिए यह उपयोगी समझा गया, कि विद्यार्थियों और नवयुवकों को जनसाधारण के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर दिया जाए। सर्वसाधारण लोग मजदूरों के रूप में कल-कारखानों में काम करते हैं, और किसानों के रूप में खेतों में। मजदूरों और किसानों के बीच में रह कर और उनके साथ काम करके ही उनके मनोभावों तथा समस्याओं को समझा जा सकता है। विद्यार्थी और शहरों के नवयुवक रेड गार्ड्स में सम्मिलित थे, और क्रान्ति के समर्थक भी थे। पर जनसाधारण से सीधा सम्पर्क न होने के कारण वे प्रायः सैद्धान्तिक विवादों में व्यापृत रहते थे। उनके मतभेदों तथा परस्पर-विरोधों का यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। अतः यह निश्चय किया गया, कि रेड गार्ड्स को किसानों तथा मजदूरों के साथ काम करने और उनके बीच में रहने के लिए प्रेरित किया जाए। अक्टूबर, १९६८ तक बहुत-से विद्यार्थी और नवयुवक जनसाधारण के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने लग गये थे, जिसके कारण उनके मतभेद व विरोध स्वयं दूर होने शुरू हो गए थे। इस समय तक प्रायः सम्पूर्ण चीन में ऐसी क्रान्तिकारी समितियाँ भी संगठित कर ली गई थीं, जो सच्चे अर्थों में जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करती थी। परिणाम यह हुआ, कि चीन में एक बार फिर शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई, और सांस्कृतिक क्रान्ति के कारण जो भारी तूफान देश में उठ खड़ा हुआ था, वह धीरे-धीरे शान्त होने लग गया।

१९६६ से १९६८ तक चीन के इतिहास में सांस्कृतिक क्रान्ति का काल था। इस में अन्ततोगत्वा जनसाधारण की विजय हुई, और क्रान्तिकारी शक्तियां प्रतिक्रियावादियों को कुचल डालने में समर्थ हुईं। यह सही है, कि इस क्रान्तिमय संघर्ष में हिंसात्मक साधन भी प्रयुक्त किये गये। पर साथ ही यह भी सत्य है कि हिंसात्मक संघर्ष केवल कुछ बड़े नगरों तक ही सीमित रहा, और उसने कभी देशव्यापी रूप प्राप्त नहीं किया। वस्तुतः, सांस्कृतिक क्रान्ति में दो विभिन्न विचारधाराएं परस्पर संघर्ष में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापृत थीं। १६४६ में चीन में जो कम्युनिस्ट क्रान्ति हुई थी, उस द्वारा पूंजीपतियों तथा जमींदारों के हाथों से शक्ति छीन ली गई थी और सर्वसाधारण जनता ने शक्ति प्राप्त कर ली थी। पर अभी चीन में वर्ग-संघर्ष का अन्त नहीं हुआ था। उच्च सरकारी पदाधिकारियों, वैज्ञानिकों, कम्युनिस्ट नेताओं तथा बुद्धिजीवी लोगों के रूप में एक ऐसा नया वर्ग वहां विकसित हो गया था, जो अपने को जनसाधारण से पृथक् समझता था, और सर्वसाधारण किसान-मजदूर जनता के हितों की तुलना में अपने वर्ग के हितों को अधिक महत्व देता था। ल्यू शाओ ची इसी वर्ग के प्रतिनिधि थे। सांस्कृतिक क्रान्ति इसी वर्ग के विरुद्ध जनसाधारण का संघर्ष था। पर इस संघर्ष में सर्वसाधारण जनता ने नये संभ्रान्त वर्ग के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग नहीं किया। सोवियत रूस में कितने ही कम्युनिस्ट नेताओं को उनके विचारों के कारण न केवल पदच्युत ही किया गया, अपितु मृत्युदण्ड भी दिया गया। पर चीन में माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में जो सांस्कृतिक क्रान्ति हुई, उसमें ल्यू शाओ ची सदृश विरोधियों को मृत्युदण्ड देने की कोई आवश्यकता नहीं समझी गई। उन्हें पदच्युत अवश्य किया गया, पर कारागार तक का दण्ड उन्हें नहीं दिया गया। चीन में जिन कम्युनिस्ट नेताओं को क्रान्ति का विरोधी समझा गया, उन्हें या तो अपदस्थ कर दिया गया, या उन्हें उच्च पद से हटाकर कोई साधारण पद दे दिया गया, और या उन्हें कल-कारखानों तथा खेतों में काम करने के लिये भेज दिया गया, ताकि सर्वसाधारण किसान-मजदूर जनता के बीच में रह कर वे जनता की मनोभावनाओं, विचारों तथा समस्याओं को समझ सकें और अपने मन्तवयों में परिवर्तन करने का अवसर प्राप्त कर सकें। माओ त्से-तुंग ने इस नीति को स्पष्ट करते हुए एक बार कहा था, कि जब कोई डाक्टर किसी रोगी की चिकित्सा करता है, तो वह उसके रोग का इलाज करने का प्रयत्न करता है, ताकि रोगी स्वस्थ होकर जीवित रह सके। इसमें सन्देह नहीं, कि संभ्रान्त वर्ग के जिन बहुत-से व्यक्तियों को उच्च पदों से च्युत करके किसानों और मजदूरों के साथ काम करने के लिये भेजा गया था, उनमें से कतिपय के विचारों में बाद में परिवर्तन आ गया, और उन्हें फिर से उन पदों पर नियुक्त कर दिया गया जिनसे कि उन्हें च्युत किया गया था।

चीन के कम्युनिस्टों का दावा है, कि सांस्कृतिक क्रान्ति के कारण उनका देश वर्ग-संघर्ष से प्रायः मुक्त हो गया है। पूंजीवादी देशों में जमींदारों और पूंजीपतियों के रूप में जो शोषक वर्ग हुआ करता है, चीन में उसका अन्त तो १६४६ की क्रान्ति के समय ही हो गया था। पर सोवियत रूस और उसके अनुयायी कम्युनिस्ट देशों में जो एक नया सम्भ्रान्त वर्ग विकसित हो गया है, जो जनसाधारण से अपने को पृथक् रखता है, चीन में उस वर्ग का भी अन्त कर दिया गया है, और इसके लिये उस प्रकार के हिंसात्मक साधनों की आवश्यकता नहीं हुई जैसे कि क्रान्ति के समय प्रयुक्त हुआ करते हैं। इस का कारण यह था, कि कम्युनिस्ट चीन में सोवियत रूस के समान जो नया सम्भ्रान्त वर्ग विकसित हो गया था, उसके बहुसंख्यक व्यक्ति प्रतिक्रियावादी या संशोधनवादी (Revisionist) नहीं थे। वे सर्वसाधारण जनता से अपने को उच्च समझने लग गये थे, क्योंकि उन्हें जनसाधारण के साथ सम्पर्क में आने के समुचित अवसर प्राप्त नहीं होते थे। आवश्यकता केवल यह थी, कि उन्हें ये अवसर प्रदान किये जाएं, ताकि किसान-मजदूर जनता के घनिष्ट सम्पर्क में आने के कारण उनके विचारों तथा मनोवृत्ति में परिवर्तन आ सके। साथ ही, उन्हें यह बोध कराया जाना जरूरी था, कि वे गलत मार्ग का अनुसरण करने में प्रवृत्त हैं। इसका उपाय उनके कार्यों, तथा मनोवृत्ति की खुल कर आलोचना करना ही था। सांस्कृतिक क्रान्ति के समय जनसाधारण को इस बात की खुली छूट मिल गई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी, कि वे देश के शासकों, कल-कारखानों के प्रबन्धकों और कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं की स्वतन्त्र रूप से आलोचना करें और उन्हें उनकी कमियों तथा दोषों का बोध कराएं। सम्भ्रान्त वर्ग के बहुसंख्यक व्यक्तियों पर इस आलोचना का अच्छा प्रभाव पड़ा और अपनी भूलों का बोध हो जाने पर वे स्वयं भी अपनी आलोचना करने में प्रवृत्त हुए। चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के विरोधियों का कहना है, कि वहां इन लोगों पर इस प्रकार के दबाव डाले गये, जिससे विवश होकर इन्होंने स्वयं अपनी आलोचना प्रारम्भ कर दी, और अपनी जान बचाने के लिये माओ त्से-तुंग की हां में हां मिलाना शुरू कर दिया। पर चीन के वे अनेक क्रान्तिकारी कम्युनिस्ट नेता जिन्होंने कभी कुओमिन्तांग तथा जापान के विरुद्ध संघर्ष में अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी और जो कम्युनिज्म की सफलता के लिये बड़े से बड़े बलिदान करने को उद्यत थे, अब अकस्मात् इतने गिर गये थे कि अपनी जान बचाने के लिये वे स्वयं अपनी भूलें स्वीकार करने लग गये थे, यह एक ऐसी बात है जिसे सही नहीं माना जा सकता। सम्भवतः, सत्य यह है कि मनुष्य अपने व्यक्तिगत हितों तथा उत्कर्ष को सर्वाधिक महत्व देने की प्रवृत्ति रखता है और चीन के सम्भ्रान्त लोग भी इस प्रवृत्ति से बच नहीं सके थे। पर जनसाधारण की शक्ति के सम्मुख उन्हें झुक जाना पड़ा, और उन द्वारा अपने कृत्यों की कड़ी आलोचना सुनकर वे अपनी भूलों को स्वीकार करने के लिये विवश हो गये।

सन् १९६६ में सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में जो तूफान चीन में उठ खड़ा हुआ था, वह अब प्रायः शान्त हो गया है। पर इस क्रान्ति की प्रक्रिया अब भी जारी है, और माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन एक ऐसे वर्गविहीन समाज के निर्माण में तत्पर है, जिसका रूस में भी अभाव है।

(३) सम्भ्रान्त वर्ग के प्रशिक्षण के लिये स्थापित शिक्षणालय

प्रशासकों, राजपदाधिकारियों, कल-कारखानों के प्रबन्धकों, यूनिवर्सिटियों के प्राध्यापकों, वैज्ञानिकों, इन्जीनियरों और कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं के रूप में जो एक नया सम्भ्रान्त वर्ग चीन में विकसित हो गया था, और जनसाधारण की तुलना में जो अपने को ऊंचा समझने लगा था, उसकी मनोवृत्ति को बदलने तथा सर्वसाधारण किसान-मजदूर जनता के साथ उसका सम्पर्क स्थापित करने के प्रयोजन से चीन में जो अनेक शिक्षणालय सांस्कृतिक क्रान्ति के समय स्थापित किये गये, उन पर प्रकाश डालना उपयोगी है। जिन लोगों को हमने अभी ऊपर सम्भ्रान्त वर्ग का कहा है, उनके लिये यह आवश्यक है कि वे कुछ समय इन शिक्षणालयों में व्यतीत करें। इस समय की अवधि प्रायः छः मास रखी गई है, यद्यपि शुरू में अनेक व्यक्तियों को एक व दो साल के लिये भी इनमें रखा गया था। प्रत्येक सरकारी विभाग अपने पदाधिकारियों में से कुछ को इन शिक्षणालयों में भेजता रहता है। यूनिवर्सिटियों के प्रोफेसर, कल-कारखानों में काम करने वाले इन्जीनियर, प्रबन्धक और वैज्ञानिक भी बारी-बारी से इनमें भेजे जाते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं को भी इनमें जाकर रहना होता है। ये अपने परिवारों को भी अपने साथ रहने के लिये शिक्षणालय में ला सकते हैं, या इन्हें यह अनुमति रहती है कि सप्ताह में एक बार जाकर अपने पारिवारिक जनों में मिल आएं। शिक्षणालय में रहते हुए इन्हें वह वेतन मिलता रहता है, जो कि सरकारी पद पर काम करते हुए, कल-कारखाने में काम करते हुए या यूनिवर्सिटी में प्राप्त होता था। शिक्षणालय में रहते समय सम्भ्रान्त वर्ग के ये व्यक्ति किसानों और मजदूरों की तरह ही काम करते हैं। इन्हें सब काम अपने हाथ से करना पड़ता है। खेत में हल चलाना, फसल काटना, टोकरी उठाना,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कपड़े बुनना आदि कार्य ये उसी ढंग से करते हैं, जैसे कि साधारण किसानों और मजदूरों द्वारा किये जाते हैं। इससे इन्हें जनसाधारण के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिलता है, और ये किसानों तथा मजदूरों के मनोभावों तथा समस्याओं को भलीभांति समझने लगते हैं। इन शिक्षणालयों के साथ जहां खेत रहते हैं, वहां अनेक कारखाने भी कायम किये जाते हैं, ताकि सम्भ्रान्त वर्ग के व्यक्ति उनमें अपने हाथ से काम कर सकें। यह स्वाभाविक है, कि शुरू में ये व्यक्ति हाथ से काम करने में कष्ट अनुभव करें। पर धीरे-धीरे इन्हें इस प्रकार के कार्य की आदत पड़ जाती है, और ये उसमें आनन्द प्राप्त करने लगते हैं। इस प्रकार उनकी मनोवृत्ति में परिवर्तन होने लगता है, और वे अपने को जनसाधारण का अंग समझने लगते हैं। अपने उच्च होने की जो भावना उनमें उत्पन्न हो गई थी, धीरे-धीरे वह दूर हो जाती है।

साधारण किसानों और मजदूरों के साथ मिलकर मेहनत-मजदूरी करने के साथ-साथ इन शिक्षणालयों में सम्भ्रान्त वर्ग के लोगों को मार्क्स, लेनिन और माओ त्से-तुंग की विचार-सरणी का भी अध्ययन कराया जाता है। इनके सम्बन्ध में वहां प्रवचन दिये जाते हैं, और उन पर विचार-विमर्श तथा वाद-विवाद होता है। इससे उन्हें कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को समझने में सहायता मिलती है। इन शिक्षणालयों में छोटे-बड़े राजकर्मचारी, सब स्तरों के वैज्ञानिक, प्राध्यापक और इन्जीनियर तथा कम्युनिस्ट पार्टी के ऊंचे तथा साधारण सदस्य-सब एक साथ निवास करते हैं, और एक जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। इससे उनमें छोटे-बड़े का भेद मिट जाता है। सरकार के उच्च पदाधिकारियों में प्रायः यह प्रवृत्ति रहती है, कि दूसरों से बरतते हुए वे रूआब से काम लें, अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को नीची निगाह से देखें और जनसाधारण से कोई सम्पर्क न रखें। पर इन शिक्षणालयों में सब प्रकार के लोगों के साथ रहने और उनके साथ मिलकर मामूली प्रकार के श्रम करने से उनमें सब के प्रति समानता की भावना विकसित होने लगती है, और अपने पृथक् वर्ग का विचार मन्द पड़ जाता है। इसीलिये सम्भ्रान्त वर्ग के इन व्यक्तियों को बार-बार इन शिक्षणालयों में भेजा जाता है, और वहां निवास करते हुए भी अनेक बार उनसे यह अपेक्षा की जाती है कि वे अपने प्रधान कार्यस्थल पर जाकर ऐसे कार्य करें, जो उनके अधीनस्थ कर्मचारियों व चपड़ासी आदि साधारण श्रमिकों द्वारा किये जाते हैं। जिस कार्यालय या यूनिवर्सिटी में वे सामान्यतया बड़े अफसर या प्रोफेसर का काम करते हैं, वहां कभी-कभी फर्श व सड़क साफ करने, मैला उठाने और टट्टियां धोने तक का काम उनसे लिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि न उनमें अपने उच्च व सम्भ्रान्त होने का विचार रह जाता है, और न श्रम को हीन समझने का।

निःसंदेह, ये शिक्षणालय चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। केवल पूंजीवादी देशों में ही नहीं, अपितु सोवियत रूस और पूर्वी यूरोप के विविध कम्युनिस्ट राज्यों में भी जनसाधारण की दशा को उन्नत करने का, गरीबी हटाने का, विषमता दूर करने का और आर्थिक योजनाएं तैयार करने का कार्य ऐसे व्यक्तियों द्वारा किया जाता है, जो जनसाधारण के साथ कोई सम्पर्क नहीं रखते और जिन्हें उनकी समस्याओं का कोई प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। इसीलिये वे समस्याओं की गहराई में नहीं जा पाते। पर चीन में यह दशा नहीं है। वहां सैंकड़ों की संख्या में ऐसे शिक्षणालय स्थापित हैं, जिनमें निवास के कारण सम्भ्रान्त व उच्च शिक्षित व्यक्तियों में अपनी उच्चता तथा जनसाधारण से पृथक्त्व की भावना विकसित ही नहीं होने पाती। इन शिक्षणालयों में उन्हें यही सिखाया जाता है, कि वे देश की उन्नति के लिये सर्वसाधारण किसान-मजदूर लोगों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्भर करें, उन्हें भली-भांति समझें, उन्हीं के समान अपना जीवन बिताएं, उनके साथ मिलें-जुलें, उनके काम में हाथ बटाएं और अपने को उनके साथ एक कर लें।

पर सांस्कृतिक क्रान्ति अभी अपने उद्देश्यों में पूर्ण रूप से सफल नहीं हुई है। अक्टूबर, १९६८ में माओ त्से-तुंग ने अपने एक भाषण में कहा था—"हमने एक भारी विजय प्राप्त कर ली है। पर परास्त वर्ग भविष्य में भी अपने संघर्ष को जारी रखेगा। यह सम्भ्रान्त वर्ग अभी पूर्णतया नष्ट नहीं हुआ है। वह अब भी विद्यमान है। अतः हम अभी यह नहीं कह सकते, कि हमारी पूर्ण रूप से विजय हो गई है। अभी कितनी ही दशाब्दियों तक हमें सावधान रहना होगा।"

(४) चीन की आन्तरिक उथल-पुथल

अग्रगामी लम्बी छलांग और सांस्कृतिक क्रान्ति के काल में चीन में जो महत्त्वपूर्ण आन्तरिक उथल-पुथल हुई, पिछले प्रकरणों में उनका निर्देश किया जा चुका है। पर इस विषय पर कुछ अधिक विस्तार से लिखना चीन के गत वर्षों के इतिहास को समझने के लिये उपयोगी होगा। चीन में जिस ढंग से कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित की जा रही थी, उसमें यह स्वाभाविक था कि प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं में मतभेद उत्पन्न होने लगें और ये मतभेद उग्र विरोध का रूप प्राप्त कर लें। फेंग ते हुआई, ल्यू शाओ ची और लिन पियाओ के उदाहरण से इस बात को भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है। ये तीनों कम्युनिस्ट पार्टी के महत्त्वपूर्ण नेता थे, और माओ त्से-तुंग के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर इन्होंने कुओमिन्तांग तथा जापान के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया था। पर बाद में माओ की नीति तथा कार्यक्रम से इनका विरोध हो गया, और इनको अपदस्थ कर दिया गया।

फेंग ते हुआई कम्युनिस्टों की आठवीं सेना के उपसेनापति थे, और जापान के विरुद्ध-युद्ध में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। कोरिया के गृहयुद्ध में उत्तरी कोरिया की सहायता करने के लिये चीन में जिस स्वयंसेवक सेना का संगठन किया गया था, फेंग ते हुआई ही उसके सेनापति थे। १९५४ से वह चीन के सुरक्षा-मन्त्री के पद पर नियुक्त कर दिये गये थे, और चीन की सरकार में उन्हें अत्यन्त उच्च स्थिति प्राप्त हो गई थी। पर जब माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन में अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम को क्रियान्वित करना प्रारम्भ किया गया, तो फेंग ते हुआई ने उसका विरोध किया। इस काल में ख्रुश्चेव रूस में जिस नीति का अनुसरण करने में तत्पर थे, फेंग उसके समर्थक थे। वह चाहते थे कि चीन में भी उसी का अनुसरण किया जाए और देश की उन्नति के लिये सोवियत रूस के कम्युनिस्टों के मार्ग को अपनाया जाए। इसीलिये १९५९ में उन्हें सुरक्षा-मन्त्री के पद से च्युत कर दिया गया था। १९६६ में जब चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति प्रारम्भ हुई, तो रेड गार्ड्स ने फेंग ते हुआई को गिरफ्तार कर लिया (२६ दिसम्बर, १९६६), और उन्हें पकड़ कर पेकिंग ले आया गया। उनकी नीति और कार्यक्रम की कड़ी आलोचना की गई, और सार्वजनिक सभाओं में उनके विरूद्ध जहर उगला गया।

ल्यू शाओ ची चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के प्रमुख नेताओं में थे, और प्रारम्भ से ही माओ त्से-तुंग के सहयोगी थे। उनकी शिक्षा रूस में हुई थी, और चीन में कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना तथा उत्कर्ष में उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। १९४५ तक चीन की कम्युनिस्ट पार्टी में उन्होंने तृतीय स्थान प्राप्त कर लिया था। केवल माओ त्से-तुंग और मार्शल चू तेह की ही स्थिति उनसे ऊपर थी। १९५६ में जब चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की कांग्रेस का आठवाँ अधिवेशन हुआ, तो ल्यू शाओ ची को पार्टी का वाइस चेयर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैन निर्वाचित किया गया। चीन की आर्थिक उन्नति के लिये जो द्वितीय पंचवर्षीय आयोजना बनायी गई थी, और जिस द्वारा अग्रगामी लम्बी छलांग का कार्यक्रम देश के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था, उसके प्रस्तावक ल्यू शाओ ची ही थे। इस कार्यक्रम को क्रियान्वित करने में अपना सब समय तथा शक्ति लगा देने के लिये १९५९ में जब माओ त्से-तुंग ने चीन के राष्ट्रपति पद से त्याग पत्र दे दिया, तो उनके स्थान पर ल्यू शाओ ची को राष्ट्रपति निर्वाचित किया गया और चीन के शासन में उन्होंने सर्वोच्च स्थान प्राप्त लिया। १९६६ में जब चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात हुआ, तो माओ त्से-तुंग तथा ल्यू शाओ ची में मतभेद उत्पन्न होने लगे। इस समय चीन में जिस ढंग से रेड गार्ड्स का संगठन हो रहा था, और उनमें सम्मिलित विद्यार्थी और नवयुवक जिस प्रकार सब कोई पर आक्षेप करने तथा सब की कटु आलोचना में तत्पर थे, ल्यू शाओ ची उसे देश के लिये हानिकारक समझते थे। पर माओ त्से तुंग का विचार था कि रेड गार्ड्स के रूप में चीन की सर्वसाधारण जनता अपनी शक्ति को प्रकट कर रही है और अन्त में उससे देश का भला ही होगा। पर ल्यू शाओ ची ने रेड गार्ड्स के संगठनों को अवैध घोषित कर दिया, और यह आज्ञा जारी की कि शिक्षणालयों के अध्यापक और विद्यार्थी न इन संगठनों में शामिल हों और न गुप्त रूप से कोई सभाएं ही करें। पर रेड गार्ड्स के रूप में जो शक्तिशाली तूफान चीन में उठ खड़ा हुआ था, ल्यू शाओ ची उसे दबा सकने में असमर्थ रहे। बड़ी-बड़ी सार्वजनिक सभाओं में उनकी कड़ी आलोचना की गई, उन पर अनेक-विध आक्षेप किये गये, उनकी नीति की खुले तौर पर निन्दा की गई, और अगस्त, १९६६ में उन्हें चीन के राष्ट्रपति पद से च्युत कर दिया गया। १८ दिसम्बर, १९६६ के दिन पेकिंग में एक विशाल सभा का आयोजन किया गया, जिसमें एक लाख के लगभग नर-नारी एकत्र थे। इस सभा में ल्यू शाओ ची की कटु आलोचना की गई और उन्हें देश का शत्रु तथा कम्युनिज्म का विरोधी घोषित किया गया। पर ल्यू शाओ ची की शक्ति तथा प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। कम्युनिस्ट पार्टी में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो उन्हें आदर की दृष्टि से देखते थे और उनकी बुद्धिमत्ता तथा समझदारी पर आस्था रखते थे। माओ त्से-तुंग को भय था कि उन्हें केन्द्र बनाकर सांस्कृतिक क्रान्ति के विरोधी लोग शक्ति प्राप्त न कर लें। इसलिये उनके विरुद्ध उग्र आन्दोलन प्रारम्भ किया गया। उनके सम्बन्ध में यह कहा गया कि वे देश के शत्रु, प्रतिक्रियावादी, कम्युनिस्ट पार्टी के विरोधी और एक पतित व्यक्ति हैं। किसी व्यक्ति को बदनाम करने के लिये जो बुरे से बुरे आक्षेप उस पर किये जा सकते हैं, वे ल्यू शाओ ची पर किये गये और उनके व्यक्तिगत चरित्र पर भी छींटें उछाले गये। उनके सब साथियों और समर्थकों के विरुद्ध भी प्रचार प्रारम्भ किया गया, और उनमें से ३५ प्रमुख व्यक्तियों को गिरफ्तार भी कर लिया गया (२६ मार्च, १९६७)। पो-ई-पो इनमें एक थे, जो उस समय उप-प्रधानमन्त्री के पद पर थे। ल्यू शाओ ची को 'चीन का ख्रुश्चेव' कह कर बदनाम किया गया, और उनकी लिखी पुस्तकों की (जिन्हें पहले कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाली महत्त्वपूर्ण पुस्तकें माना जाता था) तुलना विष वृक्षों से की गई। इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि ल्यू शाओ ची जनता की दृष्टि में गिर गया, और चीन में कोई ऐसा समर्थ व प्रभावशाली व्यक्ति नहीं रह गया, जो माओ त्से-तुंग की नीति तथा कार्यक्रम के विरोध में उंगली उठा सके। ल्यू शाओ ची के कार्यकलाप के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने के लिए एक कमेटी की भी नियुक्ति की गई, जिसकी रिपोर्ट में यह कहा गया कि वह सदा से कम्युनिज्म का विरोधी रहा है और उसने कुओमिन्तांग के सम्मुख हथियार तक डाल देने का समर्थन न किया था। ल्यू शाओ ची को कम्युनिस्ट पार्टी से भी बहिष्कृत कर दिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया, और पार्टी तथा सरकार में जो भी पद उन्हें प्राप्त थे, उन सब से उन्हें च्युत कर दिया गया (अक्टूबर, १९६८)।

लिन पियाओ का माओ त्से तुंग के साथियों और समर्थकों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था। कम्युनिस्ट पार्टी की आठवीं सेना में वह भी एक उच्च पद पर थे, और जापान के विरुद्ध-युद्ध में उन्होंने अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी। जापान से लड़ते हुए वे बुरी तरह से घायल हो गये थे। अग्रगामी लम्बी छलांग के कार्यक्रम का विरोध करने के कारण जब फेंग ते-हुआई को रक्षामन्त्री के पद से च्युत कर दिया गया, तो लिन पियाओ को उनका पद प्रदान किया गया, और उन्होंने चीन की सेना का नये ढंग से संगठन किया (१९५९)। माओ त्से-तुंग की नीति तथा कार्यक्रम में उन्हें अगाध विश्वास था, और उन्होंने उसकी सफलता के लिये अपनी पूरी शक्ति लगा दी थी। इसीलिये जनवरी, १९६५ में उन्हें चीन का प्रमुख उप-प्रधानमन्त्री भी बना दिया गया था, और देश में आन्तरिक व्यवस्था को स्थापित रखने और शत्रुओं से देश की रक्षा करने की सब जिम्मेवारी उनके सुपुर्द कर दी गई थी। कम्युनिस्ट पार्टी और देश के शासन में जो महत्व पहले ल्यू शाओ ची को प्राप्त था, वह अब लिन पियाओ ने प्राप्त कर लिया था, और उन्हें माओ त्से-तुंग का उत्तराधिकारी माना जाने लगा था। उन्होंने माओ के लेखों तथा भाषणों से सूक्तियों तथा बचनों को एकत्र कर एक पुस्तिका भी सम्पादित की थी, जिसका अनुशीलन करना चीन के कम्युनिस्ट अपना कर्तव्य समझते थे। इसमें सन्देह नहीं कि लिन पियाओ को माओ में अन्धभक्ति थी। इसीलिये उन्होंने एक बार कहा था—"माओ त्से-तुंग के विचारों को यदि हम समझते हैं, तब तो हमें उन्हें क्रियान्वित करना ही चाहिये। पर यदि हम उन्हें अभी न भी समझ सकते हों, तब भी हमें उन्हें आँख मीचकर स्वीकार कर लेना चाहिये।" अक्टूबर, १९६८ में जब ल्यू शाओ ची को सब पदों से च्युत कर दिया गया, यह स्पष्ट रूप से घोषणा कर दी गई कि लिन पियाओ ही माओ त्से-तुंग के उत्तराधिकारी हैं। उन्हें चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के उपनेता (वाइस चेयरमैन) के पद पर भी नियुक्त कर दिया गया, और चीन में उन्हें द्वितीय स्थान प्राप्त हो गया। केवल माओ त्से-तुंग की ही स्थिति उनकी तुलना में अधिक ऊंची रह गई। पर लिन पियाओ का यह महत्त्व देर तक कायम नहीं रह सका। कुछ समय पश्चात् माओसे उनके मतभेद उत्पन्न होने शुरू हो गये। इन मतभेदों के क्या कारण थे, यह स्पष्ट नहीं है। सांस्कृतिक क्रान्ति के समय चीन के अनेक औद्योगिक केन्द्रों और नगरों में जो उपद्रव हुए थे, उनको दमन करने के लिये सैन्य शक्ति का भी प्रयोग करना पड़ा था। इससे आन्तरिक राजनीति में सेना के प्रभाव में वृद्धि हो गई थी। क्रान्तिकारी समितियों के संगठन में पीपल्स लिबरेशन आर्मी को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त था, और यह आर्मी अपने प्रतिनिधियों द्वारा देश की राजनीति को भी प्रभावित कर सकती थी। लिन पियाओ जहाँ चीन के उपराष्ट्रपति थे, वहां साथ ही पीपल्स लिबरेशन आर्मी के प्रधान सेनापति तथा देश के सुरक्षा-मन्त्री भी थे। सेना के बहुत-से अफसर उनके प्रति अनुरक्त थे, और उन्हें अपना नेता स्वीकार करते थे। माओ त्से-तुंग का प्रभाव सेना पर उतना अधिक नहीं था, जितना कि कम्युनिस्ट पार्टी पर था। इस कारण क्रान्तिकारी समितियों में सेना का बढ़ता हुआ प्रभाव उन्हें पसन्द नहीं था। माओ और लिन के मतभेद का एक कारण सम्भवतः यह प्रश्न था कि देश की राजनीति में सेना का क्या स्थान रहे। १९७१ में चीन की विदेशी राजनीति में भी कतिपय महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रारम्भ हो गये थे। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति चीन के रुख में परिवर्तन आने लग गया था। चीन की दृष्टि में अमेरिका सबसे शक्तिशाली, पूंजीवादी देश था, और उसके साम्राज्यवाद का विनाश चीन की विदेश नीति का मह-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वपूर्ण अंग था। पर पिछले कुछ वर्षों से चीन रूस को अपना सबसे बड़ा शत्रु समझने लगा था। यद्यपि ये दोनों देश कम्युनिस्ट व्यवस्था के अनुयायी थे, पर चीन की दृष्टि में रूस ने कम्युनिज्म के मार्ग का परित्याग कर दिया था, और वह भी साम्राज्य-प्रसार के लिये तत्पर हो गया था। चीन और रूस के विरोध के कारणों पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। १९६९ के प्रारम्भ तक यह स्थिति आ गई थी, कि विदेशी राजनीति में चीन रूस को अमेरिका की तुलना में भी अपना अधिक बड़ा विरोधी मानने लगा था, और इसी कारण अमेरिका के राष्ट्रपति निक्सन ने जब चीन की यात्रा के लिये इच्छा प्रकट की, तो माओ त्से-तुंग ने उनका स्वागत करने में भी संकोच नहीं किया। पर लिन पियाओ की दृष्टि में यह उचित नहीं था। अमेरिका के प्रति चीन का यह रुख उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होंने मि० निक्सन की चीन-यात्रा का विरोध किया। लिन और उनके साथी यह समझते थे, कि चीन को रूस के साथ समझौते का प्रयत्न करना चाहिये, न कि अमेरिका जैसे पूंजीवादी और साम्राज्यवादी देश के साथ। इस प्रश्न पर माओ और लिन में विरोध इतना अधिक बढ़ गया, कि लिन और उनके साथियों के लिये चीन में रह सकना निरापद नहीं रहा। १२ सितम्बर, १९७१ के दिन चीन का एक हवाई जहाज वाह्य मंगोलिया में गिर गया, जिसके कारण उसके सब यात्रियों की मृत्यु हो गई। स्पष्ट है, कि यह जहाज चीन से रूस जा रहा था। इस दिन के बाद लिन पियाओ और उनके अनेक साथियों का नाम चीन की राजनीति में कभी सुनाई नहीं पड़ा। यह समझा जाता है, कि लिन और उनके साथी उस जहाज में सवार थे, जो १२ सितम्बर, १९७१ के दिन बाह्य मंगोलिया में गिर कर नष्ट हो गया था।

कम्युनिस्ट चीन की राजनीति और सरकार में चाउ एन लाई का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। माओ त्से-तुंग के वे शुरू से सहयोगी रहे, और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के संगठन में उन्होंने महत्त्व का कार्य किया। उसकी शिक्षा पेरिस में हुई थी, और चीन की व्हाम्पोआ मिलिटरी एकेडमी में उन्होंने सैनिक शिक्षक का भी कार्य किया था। कुओ-मिन्तांग तथा जापान के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष में उन्होंने हाथ बटाया था, और १९४९ में जब चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुआ, तो उन्हें कम्युनिस्ट सरकार में प्रधानमन्त्री का पद प्रदान किया गया। १९४९ से अब (१९७३) तक वे इस पद पर विराजमान हैं। गत २४ वर्षों में चीन की राजनीति में अनेक तूफान आये, ल्यू शाओ ची, लिन पियाओ आदि बहुत-से कम्युनिस्ट नेता इन तूफानों के शिकार हो गये, पर चाउ एन लाई की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। इसका कारण राजनीति और राजनय में उनकी दक्षता है। चीन की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का संचालन प्रधानतया चाउ एन लाई के ही हाथों में रहा है। अन्य देशों के राजनीतिक नेता जितना उन्हें जानते हैं, उतना शायद चीन के किसी अन्य नेता को नहीं जानते। इस समय चीन की राजनीति में उनका स्थान दूसरे नम्बर पर है, और केवल माओ त्से-तुंग को ही उनकी तुलना में अधिक महत्त्व प्राप्त है।

चीन की आन्तरिक उथल-पुथल का विवरण देते हुए माओ त्से-तुंग के सम्बन्ध में भी कुछ शब्द लिखना आवश्यक है। वे चीन के सर्वमान्य नेता हैं। चीन में कहीं भी चले जाइये, सर्वत्र उनकी विशाल मूर्तियां और बड़े-बड़े चित्र दिखाई देंगे कल-कारखानों, सरकारी कार्यालयों, शिक्षणालयों और सार्वजनिक स्थानों पर न केवल उनके चित्र ही दिखायी देंगे, पर उनके वचन भी बड़े-बड़े अक्षरों में अंकित किये हुए मिलेंगे। चीन में यदि कोई नया आविष्कार किया जाता है, कोई नया बाँध या पुल बनाया जाता है, खेतों की पैदावार में वृद्धि होती है, रेगिस्तानों को लहलहाते खेतों में परिवर्तित किया जाता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या कोई व्यक्ति खेलों की प्रतियोगिता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता है, तो इस सब को माओ त्से-तुंग की शिक्षाओं का परिणाम कहा जाता है। चीन की जनता में अपने नेता के प्रति जो यह अगाध श्रद्धा है, उन पर जो विश्वास है, उसका कारण वह असाधारण उन्नति है जो उनकी अधिनायकता में चीन ने की है। कुओमिन्तांग के शासन-काल में चीन की जो दुर्दशा थी, उस पर इस ग्रन्थ में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। माओ त्से-तुंग ने न केवल जापान को परास्त किया, पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद तथा प्रभाव-क्षेत्रों का चीन से अन्त किया और सारे देश को एक शासनसूत्र में संगठित किया, अपितु उसे संसार के सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यों में भी स्थान दिला दिया। आर्थिक दृष्टि से इस समय चीन उन्नति तथा समृद्धि के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर हो रहा है, उसकी सैन्य-शक्ति भी बहुत अधिक है। वह न केवल आणविक बम्ब का आविष्कार कर चुका है, अपितु हाईड्रोजन बम्ब बनाने में भी उसे सफलता हुई है। कम्युनिस्ट आदर्शों तथा व्यवस्था को कार्यान्वित करने में वह रूस से भी दो कदम आगे है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी उसे प्राप्त हो चुकी है, और अमेरिका जैसा पूंजीवादी व शक्तिशाली देश भी उसके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिये उत्सुक हैं। चीन की यह सब उन्नति तथा सफलता जिस व्यक्ति के नेतृत्त्व में हुई हो, वहां के लोग यदि उसके प्रति असाधारण सम्मान का भाव रखें, तो यह अस्वाभाविक नहीं है। यह स्वीकार करना होगा, कि चीन में माओ त्से-तुंग की स्थिति एक डिक्टेटर की है। जिस किसी ने भी उसका विरोध करने का साहस किया, उसे मुंह की खानी पड़ी। ल्यू शाओ ची और लिन पियाओ जैसे शक्तिशाली व्यक्ति उनके सम्मुख टिक नहीं सके। चीन के सार्वजनिक जीवन में माओ का महत्त्व इतना बढ़ गया है, कि उसने व्यक्तिपूजा का रूप प्राप्त कर लिया है। माओ स्वयं भी इस तथ्य को अनुभव करते हैं। इसीलिये वे बार-बार इस बात पर जोर देते हैं कि मनुष्य जाति के इतिहास में जनता और केवल जनता ही सब शक्ति का वास्तविक स्रोत है। सम्भवतः, उनके व्यक्तिगत महत्त्व का भी यही कारण है कि उन्होंने जनता की शक्ति को समुचित महत्त्व दिया है। अग्रगामी लम्बी छलांग और सांस्कृतिक क्रान्ति को जो भी सफलता प्राप्त हुई, उसका मूल कारण जनसाधारण की शक्ति पर निर्भर करना ही था। वर्तमान समय में चीन में यह प्रवृत्ति है कि माओ त्से-तुंग की व्यक्तिपूजा में कमी की जाए, और लोग व्यक्ति के स्थान पर जनता को अधिक महत्त्व दें। इसी कारण उनके चित्र आदि भी अब चीन में इतनी अधिक संख्या में दिखायी नहीं देते, जितने कि सांस्कृतिक क्रान्ति के चरमोत्कर्ष के समय में थे।

(५) चीन का संविधान

कम्युनिस्ट चीन के शासन का क्या रूप है, इस विषय पर भी अत्यन्त संक्षेप के साथ कुछ प्रकाश डालना उपयोगी है। कम्युनिस्ट चीन 'पीपल्स रिपब्लिक आफ चाइना' (चीन का जनवादी गणराज्य) कहाता है, और उसके संविधान का निर्माण २० सितम्बर, १९५४ के दिन किया गया था। बाद में उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन व संशोधन अवश्य किये गये, पर चीन की शासन व्यवस्था का आधार अब तक भी वही संविधान है, जो १९५४ में निर्मित हुआ था। इस संविधान के अनुसार चीन की सर्वोच्च शासन-संस्था नेशनल पीपल्स कांग्रेस है, जिसके सदस्य चार साल के लिये चुने जाते हैं। १९६४ में इस कांग्रेस के सदस्यों की कुल संख्या ३०४० थी। इनके चुनाव की एक विशेष विधि है। चीन में जो बहुत-से प्रान्त तथा स्वायत्त क्षेत्र (Autonomous Regions) है, उन सबसे उनकीसंख्या जन के अनुसार कांग्रेस के सदस्य इस हिसाब से चुने जाते हैं, कि एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदस्य लगभग चार लाख व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करें। पर यह आवश्यक है, कि किसी प्रान्त से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या १० से कम न हो। चीन में अनेक ऐसे नगर हैं, जिनका शासन केन्द्रीय सरकार के अधीन है। इनके अतिरिक्त वहां बहुत-से औद्योगिक नगर तथा औद्योगिक जिले भी है, जिनकी जनसंख्या दो से तीन लाख तक है। इनसे प्रति पचास हजार व्यक्तियों के एक प्रतिनिधि के हिसाब से काँग्रेस के सदस्य चुने जाने की व्यवस्था है। चीन में जो बहुत-से अल्पसंख्यक वर्ग है जिन्हें वहां नेशनल माइनोरिटी कहा जाता है, उनके ३०० प्रतिनिधि, सेना के १२० प्रतिनिधि और समुद्र-पार विदेशों में बसे हुए चीनी नागरिकों के ३० प्रतिनिधि नेशनल पीपल्स कांग्रेस में लिये जाते हैं। संविधान के अनुसार पीपल्स काँग्रेस का अधिवेशन साल में कम-से-कम एक बार अवश्य बुलाया जाना चाहिये। यह कांग्रेस संविधान में भी संशोधन कर सकती है, यद्यपि संवैधानिक संशोधनों के लिये दो तिहाई सदस्यों का उनके पक्ष में होना आवश्यक है। साधारण कानूनों की स्वीकृति के लिये ५१ प्रतिशत सदस्यों की सहमति पर्याप्त मानी जाती है। काँग्रेस केवल देश के लिये कानून नहीं बनाती, अपितु सरकार के प्रमुख पदाधिकारियों का चुनाव भी करती है। वह उन्हें अपने पदों से पृथक् भी कर सकती है। देश के लिये आर्थिक योजनाएं बनाना, सन्धियों को स्वीकृत करना और युद्ध घोषित करना भी पीपल्स कांग्रेस के ही कार्य हैं।

पर नेशनल पीपल्स कांग्रेस की सदस्य-संख्या इतनी अधिक है और उसके अधिवेशन इतने कम व इतने कम समय के लिये होते हैं कि वह देश के व्यवस्थापन व शासन के कार्य सुचारु रूप से नहीं कर सकती। अतः संविधान द्वारा एक स्थायी समिति (स्टैंडिंग कमेटी) की व्यवस्था की गई है, जिसके सदस्य पीपल्स कांग्रेस द्वारा चुने जाते हैं, और जो देश के लिये कानून बनाने, आदेश जारी करने तथा शासन-विभाग पर नियन्त्रण रखने के कार्य करती है। चीन की सरकार में इस स्थायी समिति का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है, क्योंकि यह एक ऐसी संस्था है जिसके अधिवेशन बहुधा होते रहते हैं और वही देश के शासन का संचालन करती है।

कम्युनिस्ट चीन के कार्यकारिणी (शासन) विभाग के दो अंग हैं, चेयरमैन और स्टेट कौंसिल। अन्य गणराज्यों में जिसे राष्ट्रपति (प्रेजिडेन्ट) कहा जाता है, चीन में उसी को चेयरमैन कहते हैं। उसे नेशनल पीपल्स कांग्रेस चार साल के लिये चुनती है। माओ त्से-तुंग चिरकाल तक इस पद पर रहे हैं। कुओमिन्तांग सरकार से संघर्ष करते हुए कम्युनिस्ट पार्टी ने अपनी जो सामयिक सरकार संगठित की थी, माओ को ही उसका चेयरमैन निर्वाचित किया गया था। १९४८ में जब चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो गया, तब भी वह इस पद पर रहे। १९५९ में जब उन्होंने स्वेच्छापूर्वक इस पद का परित्याग कर दिया, तो ल्यू शाओ ची को चीन की पीपल्स रिपब्लिक का चेयरमैन चुना गया। नेशनल पीपल्स कांग्रेस के निर्णयों को क्रियान्वित कराना चीन में चेयरमैन का ही कार्य समझा जाता है। वह नाम का ही अध्यक्ष नहीं होता, अपितु उसके हाथों में वास्तविक शक्ति भी रहती है। एक वाइस-चेयरमैन के निर्वाचन की भी चीन के संविधान में व्यवस्था है, जो चेयरमैन के कार्यों में सहायता करने के साथ-साथ उसकी अनुपस्थिति में चेयरमैन के कार्यों को भी सम्पन्न करता है। चीन के शासन विभाग में स्टेट कौंसिल की स्थिति मन्त्रिपरिषद् के समान है। प्रधानमन्त्री, उप-प्रधानमन्त्री (जिनकी संख्या निश्चित नहीं है, और जो प्रायः चार से दस तक होते हैं), विविध मन्त्री, विविध कमीशनों (यथा योजना कमीशन, सैनिक कमीशन आदि) के अध्यक्ष और मुख्य सचिव (सैक्रेटरी जनरल) इस कौंसिल के सदस्य होते हैं। ये भी पीपल्स कांग्रेस द्वारा चुने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। और अपने कामों के लिये उसी (जब कांग्रेस के अधिवेशन न हो रहे हों, तो स्थायी समिति) के प्रति उत्तरदायी होते हैं। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि चीन में उस ढंग की उत्तरदायी या सांसद प्रणाली के शासन की सत्ता है, जैसी कि ब्रिटेन, भारत आदि देशों में हैं। मन्त्रियों के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को चीन में स्वीकृत नहीं किया जाता, और न स्टेट कौंसिल के सदस्यों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की इच्छा पर निर्भर करती है। स्टेट कौंसिल को ही 'सेन्ट्रल पीपल्स गवर्नमेंट' कहते हैं।

कम्युनिस्ट चीन में न्याय का कार्य पीपल्स कोर्टों द्वारा किया जाता है, जो अनेक स्तरों के हैं। ३० कोर्ट उच्च स्तर के, २०० कोर्ट मध्यवर्ती स्तर के और २००० कोर्ट निम्न स्तर के संगठित किये गये हैं, जिन सबसे ऊपर सुप्रीम पीपल्स कोर्ट की सत्ता है। सुप्रीम पीपल्स कोर्ट नेशनल पीपल्स कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी है, और अन्य कोर्ट सुप्रीम पीपल्स कोर्ट के प्रति।

चीन के शासन में कम्युनिस्ट पार्टी का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। पार्टी का अपना पृथक् संगठन है, और उसके सदस्य देश के शासन को सब स्तरों पर प्रभावित करते हैं।

(६) चीन की विदेश नीति

१९४९ में जब चीन विदेशी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हुआ और वहां कम्युनिस्ट शासन की स्थापना हुई, तो उसकी सरकार ने एक ऐसी विदेशनीति का अनुसरण किया, जिसे उग्र आक्रमणात्मक कह सकते हैं। उस समय पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों में स्वाधीनता के लिये संघर्ष चल रहे थे। उनके प्रति चीन की नीति यह थी, कि जहां कहीं भी राष्ट्रवादी तत्त्व साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर हों, और इस संघर्ष द्वारा कम्युनिज्म की शक्ति के बढ़ने की सम्भावना हो, वहां चीन द्वारा ऐसे संघर्ष को सहायता प्रदान की जाए। इसीलिये उसने कोरिया के गृह-युद्ध में उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार का समर्थन किया, और उसकी सहायता के लिये 'स्वयंसेवक' सेनाएं भेजीं। अमेरिका की सहायता प्राप्त होने पर भी दक्षिणी कोरिया की सरकार जो उत्तरी कोरिया को परास्त नहीं कर सकी, चीन की स्वयंसेवक सेना उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण थी। इन्डोचायना के क्षेत्र में डॉ० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में 'विएत-नाम' नाम से जो एक स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना हो सकी, उसमें भी चीन द्वारा दी गई सहायता का महत्त्व था। इन्डोनीसिया, मलाया और बरमा में भी कम्युनिस्ट पार्टियां विद्यमान थीं, और चीन उनकी सहायता करने में तत्पर था। वह समझता था, कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में जो परिस्थितियां विद्यमान हैं। उनका उपयोग कर इस क्षेत्र के देशों में कम्युनिज्म का प्रसार कर सकना सम्भव है। इसीलिये इस काल (१९४९-१९५३) में चीन की विदेश नीति उग्र एवं आक्रमणात्मक रही।

१९५३ में चीन की विदेश नीति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। इस समय चीन की सरकार अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने और उसकी आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के लिये भगीरथ प्रयत्न में लगी थी। इस के लिये वह रूस से आर्थिक तथा तकनीकी सहायता प्राप्त कर रही थी, और बहुत-से रूसी वैज्ञानिक व इन्जीनियर कल-कारखानों की स्थापना के लिये चीन आये हुए थे। अतः रूस की उपेक्षा कर सकना चीन के लिये सम्भव नहीं था। इस समय रूस की नीति पश्चिम के पूंजीवादी देशों के साथ सहयोग करने की थी। द्वितीय महायुद्ध में रूस को अपार क्षति उठानी पड़ी थी, और अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह अपनी आर्थिक दशा को संभालने में तत्पर था। १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस की राजनीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए और पूंजीवादी पाश्चात्य देशों के साथ सह-अस्तित्त्व की भावना बहुत प्रबल हो गई। चीन पर भी इसका प्रभाव पड़ा और उसने भी उग्र आक्रमणात्मक नीति का परित्याग कर शान्तिमय सह-अस्तित्त्व की नीति की दिशा में अग्रसर होना प्रारम्भ किया। इसी के परिणामस्वरूप जुलाई, १९५३ में कोरिया के गृहयुद्ध का अन्त हो सकना सम्भव हो सका, और विएत-नाम की समस्या का समाधान करने के लिये भी चीन ने पूंजीवादी पाश्चात्य राज्यों के साथ सहयोग किया। सुदूर पूर्व की समस्याओं को हल करने के प्रयोजन से जो कान्फरेन्स जिनीवा में आयोजित की गई थी (१९५४), उसमें चीन के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुए और उन्होंने ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस के प्रतिनिधियों के साथ विएत-नाम के प्रश्न पर विचार विमर्श किया। जिनीवा कान्फरेन्स द्वारा विएत-नाम के युद्ध का अन्त करने के साथ-साथ यह निश्चय किया गया, कि इस देश को दो भागों में विभक्त कर दिया जाए। शान्तिमय सह-अस्तित्त्व की नीति का अनुसरण करने के कारण ही चीन ने तिब्बत के सम्बन्ध में सन्धि की (१९५४), और पञ्चशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इसी काल (एप्रिल, १९५५) में चीन ने बांदुंग कान्फरेन्स के आयोजन में सक्रिय रूप से भाग लिया। इस कान्फरेन्स पर दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विवरण देते हुए विस्तार के साथ आगे प्रकाश डाला जायगा। १९५४-५५ में चीन ने पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों की सद्भावना प्राप्त करने के लिये बहुत प्रयत्न किया, और इस प्रयत्न में उसे सफलता भी प्राप्त हुई। इस क्षेत्र के देशों की सद्भावना प्राप्त करना चीन न केवल अपने राष्ट्रीय हितों के लिये उपयोगी समझता था, अपितु उनमें कम्युनिज्म के प्रति अनुकूल भावना के प्रादुर्भाव में भी यह नीति सहायक थी।

पर शान्तिमय सह-अस्तित्त्व की चीन की नीति देर तक कायम नहीं रही। १९५७ के अन्त तक चीन की विदेश नीति में परिवर्तन के चिन्ह प्रगट होने लग गए थे, और उसने सह-अस्तित्व की नीति का परित्याग कर एक बार फिर उग्र आक्रमणात्मक नीति का अनुसरण प्रारम्भ कर दिया था। इस समय तक चीन आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में सन्तोषजनक उन्नति कर चुका था। अपने कल-कारखानों के लिये उसे रूस पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गई थी, और चीन में यह विचार विकसित हो गया था कि उसकी सुरक्षा-सम्बन्धी स्थिति भलीभांति सुरक्षित हो गई है। अब वह अपनी प्रसारवादी नीति को क्रियान्वित करने की स्थिति में आ गया था। इसीलिए उसने तिब्बत में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जिसके कारण वहाँ विद्रोह हो गया और दलाई लामा ने अपने हजारों अनुयायियों के साथ भारत की ओर प्रस्थान कर दिया। तिब्बती विद्रोहियों का पीछा करती हुई चीनी सेनाएं भारत की सीमा पर आ पहुंचीं, जिसके कारण भारत और तिब्बत की सीमा पर मुठभेड़ शुरू हो गई। चीन ने मैक्महोन लाइन का प्रतिवाद कर यह दावा करना प्रारम्भ किया कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने शक्ति का प्रयोग कर चीन के जिन प्रदेशों को अधिगत कर लिया था, स्वतन्त्र भारत को उन्हें चीन को वापस लौटा देना चाहिए। इन प्रदेशों को अधिगत करने के लिए चीन ने सैन्य-शक्ति का भी उपयोग किया, जिसके कारण भारत के साथ उसके सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं रह गये। लाओस, विएतनाम, कम्बोडिया आदि दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को भी चीन ने प्रोत्साहन देना प्रारम्भ किया। चीन के इन प्रयत्नों पर अगले अध्यायों में विशद रूप से प्रकाश डाला जायगा। यहां इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है, कि अग्रगामी लम्बी छलांग के काल में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीन की विदेश नीति स्पष्ट रूप से आक्रमणात्मक हो गई थी, और सांस्कृतिक क्रान्ति के युग में भी उसकी विदेश नीति का यही रूप रहा।

चीन की यह आक्रमणात्मक नीति अनेक क्षेत्रों में क्रियान्वित की गई। अक्टूबर, १९६२ में चीनी सेनाओं ने भारत पर आक्रमण कर दिया, जिसके कारण भारत और चीन के सम्बन्धों में बहुत कटुता आ गई। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों को चीन का समर्थन प्राप्त था। १९५७ के बाद चीन ने इस क्षेत्र की राजनीति में अधिक दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ कर दी। जिनीवा कान्फरेन्स (१९५४) के निर्णयों के अनुसार विएतनाम दो राज्यों में विभक्त हो गया था। उत्तरी विएत-नाम में कम्युनिस्ट शासन था, और दक्षिणी विएत-नाम में पाश्चात्य पूंजीवादी ढंग का लोकतन्त्र शासन। इसे अमेरिका का समर्थन प्राप्त था। पर वहां भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुयायी थे। इन्होंने विएत-कांग नाम से अपना एक संगठन बना लिया, और दक्षिणी विएत-नाम की सरकार के विरुद्ध गुरीला युद्ध प्रारम्भ कर दिया (१९५८)। कुछ ही समय में उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई, और उन्होंने दक्षिण-विएत-नाम के अच्छे बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। १९६० में विएत-कांग ने राष्ट्रीय आजाद मोरचे (Notional Liberation Front) का संगठन किया, जिसका उद्देश्य दक्षिणी विएत-नाम में भी कम्युनिस्ट शासन स्थापित करना और अपने देश के दो पृथक् भागों का अन्त कर उत्तरी विएत-नाम के साथ मिल कर एक हो जाना था। विएत-कांग का मुकाबिला करने के लिए अमेरिका ने दक्षिणी विएत-नाम की सरकार, जिसके राष्ट्रपति न्गो दिन्ह दियम थे, को सहायता देना प्रारम्भ किया। १९६० में दक्षिणी विएत-नाम में अमेरिकन सैनिकों की संख्या केवल ७०० थी। १९६३ में यह संख्या १६,५०० तक पहुंच गई और १९६८ तक पाँच लाख से भी अधिक अमेरिकन सैनिक दक्षिणी विएत-नाम में आ गये। अमेरिका के मुकाबले में चीन ने विएत-कांग के राष्ट्रीय आजाद मोरचे और विएत-नाम की कम्युनिस्ट सरकार को सहायता देनी प्रारम्भ की, यद्यपि कोई चीनी सैनिक वहां नहीं भेजे गए। चीन की सहायता का रूप यह था कि विएत-नाम के कम्युनिस्टों को युद्ध नीति में प्रशिक्षित किया जाए और उन्हें आवश्यक युद्ध सामग्री प्राप्त होती रहे। वस्तुतः, इस काल में दक्षिण-पूर्वी एशिया में अमेरिका अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने में तत्पर था। वह यह सहन नहीं कर सकता था, कि विश्व के इस क्षेत्र में भी कम्युनिज्म पैर जमा सके। इसी प्रयोजन से उसने दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन (SEATO) जैसे गुटों का निर्माण किया था, और वह इस क्षेत्र के देशों को सब प्रकार से सहायता देने में तत्पर था। अतः यह कहना अधिक समुचित होगा कि पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में चीन की विदेश नीति आक्रमणात्मक होने के बजाय प्रतिरोधात्मक थी, क्योंकि उसका उद्देश्य अमेरिका के साम्राज्यवाद का प्रतिरोध करना ही था।

१९५७ के बाद चीन की विदेशनीति के प्रधान तत्त्व निम्नलिखित थे—(१) वह सोवियत रूस का विरोधी था। यद्यपि रूस भी कम्युनिस्ट व्यवस्था का अनुयायी है, और प्रारम्भ में रूस और चीन एक दूसरे के सहयोगी थे, पर बाद में उनके मतभेदों तथा विरोधों में निरन्तर वृद्धि होती गई और चीन रूस को अपना प्रबल शत्रु तथा विरोधी मानने लगा। चीन और रूस के विरोध के कारणों पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। (२) चीन संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद का प्रबल विरोधी था। उसकी दृष्टि में अमेरिका एशिया और अफ्रीका के पिछड़े हुए देशों में अपने प्रभाव-क्षेत्र का प्रसार करने में तत्पर था, और इन देशों को कम्युनिज्म के प्रभाव से बचाने के लिये कटिबद्ध था। यह स्वाभाविक था कि चीन अमेरिका की इस प्रवृत्ति का विरोध करे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संयुक्त राष्ट्रसंघ में कम्युनिस्ट चीन को जो सदस्यता प्राप्त नहीं हुई थी, उसका प्रधान कारण अमेरिका का विरोध ही था। अमेरिका की दृष्टि में फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी उसे ही प्राप्त थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ में कम्युनिस्ट चीन के बहिष्कार के लिए अमेरिका ही मुख्य रूप से उत्तरदायी था। इस दशा में इन दोनों देशों में विरोध का होना सर्वथा स्वाभाविक था। (३) सीमा-सम्बन्धी विरोध के कारण चीन और भारत के सम्बन्ध भी बहुत कटु हो गये थे। १९५७ से पहले इन दोनों देशों के सम्बन्ध बहुत मधुर थे। भारत में भारत-चीन मैत्री संघ स्थापित था, और चीन में चीन-भारत मैत्री संघ। 'हिन्दी चीनी भाई-भाई' का नारा दोनों देशों में बुलन्द किया जाता था। पर दलाई लामा के भारत प्रवास के पश्चात् ये सम्बन्ध बिगड़ने शुरू हो गये, और १९६२ में सीमा-सम्बन्धी विवाद के कारण चीन ने भारत पर आक्रमण भी कर दिया। इसके पश्चात् चीन ने पाकिस्तान के साथ अपने मैत्री सम्बन्ध प्रगाढ़ करने शुरू किये, और १९६५ के भारत-पाकिस्तान युद्ध में चीन का समर्थन पाकिस्तान को प्राप्त हुआ। यद्यपि चीन ने अपनी सेनाएं पाकिस्तान की सहायता के लिये नहीं भेजी, पर चीन अस्त्र-शस्त्रों द्वारा पाकिस्तान की सहायता करता रहा और उसके सैनिक-विशेषज्ञों ने पाकिस्तान की सेनाओं को प्रशिक्षित करने का कार्य भी किया। १९७१ के भारत-पाकिस्तान युद्ध के अवसर पर भी पाकिस्तान को यह आशा थी, कि चीन उसकी खुलकर सहायता करेगा। पर उसकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई, यद्यपि चीन इस युद्ध के लिए भारत को दोषी ठहराता था। पाकिस्तान से मैत्री के कारण ही चीन ने अब तक बांगला देश को मान्यता प्रदान नहीं की है, और उसी के वीटो के कारण बांगलादेश संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बन सका है। (४) फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार का कम्युनिस्ट चीन प्रबल विरोधी है। चीन की कम्युनिस्ट सरकार फार्मूसा को चीन का अंग मानती है, और यह समझती है कि फार्मूसा से कुओमिन्तांग के शासन का अन्त कर उसे अपने देश के साथ मिला लेना चीन की विदेश नीति का महत्त्वपूर्ण अंग है। (५) कम्युनिस्ट चीन अफ्रीका महाद्वीप के विविध राज्यों के साथ भी अपने सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील है। १९५६ में अफ्रीका में केवल चार देश ऐसे थे, जो पूर्णतया स्वतन्त्र कहे जा सकते थे। ये देश ईजिप्ट, लाइबीरिया, लिबिया और अबीसीनिया थे। अन्य देश पाश्चात्य राज्यों के अधीन थे, और उनमें स्वाधीनता के लिये आन्दोलन जारी थे। चीन को इनके स्वाधीनता-संघर्ष के प्रति सहानुभूति थी। विविध अफ्रीकन राज्य किस प्रकार स्वतन्त्र हुए, इसका यहां उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है। पाश्चात्य पूंजीवादी देश इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में रखने के लिए प्रयत्नशील थे, और सोवियत रूस भी अफ्रीका में अपने प्रभाव का विस्तार करने में तत्पर था। नये स्वतन्त्र हुए अफ्रीकन राज्यों की नीति एकसदृश नहीं थी, इसीलिये उनके अनेक संगठन बन गए थे जिनकी नीति में विरोध था। पाश्चात्य पूंजीवादी राज्य और सोवियत रूस ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और विविध अफ्रीकन राज्यों को अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न किया। कम्युनिस्ट चीन भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहा। १९६४ में चाउ एन लाई ने अफ्रीका की यात्रा की, और वहां के राज्यों को आर्थिक तथा तकनीकी सहायता देने के लिए आठ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, जिनमें यह कहा गया था कि चीन उससे सहायता प्राप्त करने वाले राज्यों की सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता को स्वीकार करेगा, और जो सहायता उन्हें देगा उसका आधार पारस्परिक हित और लाभ ही होगा। जो आर्थिक सहायता दी जायगी, उसकी रकम पर या तो सूद बिलकुल ही नहीं लिया जाएगा या सूद की दर बहुत ही कम होगी। ऋण की राशि को ये राज्य सुगम किस्तों में वापस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकेंगे। पिछड़े हुए अफ्रीकन राज्यों की औद्योगिक उन्नति के लिये जो मशीनरी व अन्य उपकरण चीन द्वारा प्रदान किये जायेंगे, यदि उन्हें सन्तोषजनक न पाया जाए तो सरकार उनके स्थान पर अन्य मशीनरी आदि प्रदान कर देगी। चीन की सरकार यह जिम्मा भी लेती है कि वह अफ्रीकन व्यक्तियों को मशीनरी आदि के प्रयोग में निष्णात कर देगी, ताकि कुछ समय पश्चात् चीन के तकनीकी विशेषज्ञों को अफ्रीका में रहने की आवश्यकता न रह जाए। पिछड़े हुए देशों को सहायता प्रदान करने में चीन का यह उद्देश्य नहीं है कि ये देश चीन के प्रभाव-क्षेत्र में आ जाएं। वह केवल यह चाहता है कि ये देश चीन से सामयिक रूप से सहायता प्राप्त कर शीघ्र ही पूर्णतया आत्मनिर्भर हो जाएं। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार चीन ने अफ्रीका के अनेक नये स्वतन्त्र हुए राज्यों को आर्थिक व तकनीकी सहायता देना प्रारम्भ किया। इनमें तन्जानिया मुख्य है। चीन से सहायता प्राप्त करने के कारण ब्रिटेन और अमेरिका ने तन्जानिया को पूँजी व मशीनरी आदि प्रदान करना बन्द कर दिया (१९६४)। इसमें सन्देह नहीं, कि अन्य उन्नत देशों के समान चीन भी अफ्रीका की राजनीति में उतर आया है, और वहां के अनेक देशों की आर्थिक व औद्योगिक उन्नति में सहयोग प्रदान करने में तत्पर है। (६) आणविक और हाइड्रोजन बम्बों के निर्माण को कतिपय उन्नत देशों तक सीमित रखने के लिये अमेरिका और सोवियत रूस ने जो भी प्रयत्न किए, कम्युनिस्ट चीन ने उनका विरोध किया। उसका मत है, कि यदि इन देशों को इन आयुधों के निर्माण का अधिकार है, तो अन्य देशों को इनके निर्माण के अवसर से वञ्चित नहीं किया जाना चाहिये। चीन स्वयं इनका निर्माण कर चुका है, और उसका प्रयत्न है कि वह इस क्षेत्र में भी अमेरिका और रूस से पीछे न रहे।

गत दो वर्षों में चीन की विदेशनीति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं, जिन पर प्रकाश डालना उपयोगी है। यूरोप और पश्चिमी एशिया के क्षेत्रों में अमेरिका और रूस के हित परस्पर टकराते हैं, और उत्तरी तथा पूर्वी एशिया के क्षेत्र में चीन और रूस के। पूर्वी एशिया में चीन और अमेरिका के हितों में भी विरोध है। पहले कम्युनिस्ट चीन का अमेरिका से विरोध बहुत उग्र था। अमेरिका की दृष्टि में फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार थी। पर अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास की वर्तमान दशा में अमेरिका के लिये यह सम्भव नहीं था कि वह कम्युनिस्ट चीन की उपेक्षा एवं विरोध की अपनी नीति पर दृढ़ रह सके और पूर्वी एशिया की यथार्थ स्थिति की उपेक्षा करता रहे। परिणाम यह हुआ कि अमेरिका के राष्ट्रपति मि० निक्सन ने चीन जाकर दोनों देशों के बीच विद्यमान तनाव को कम करने का निश्चय किया। जुलाई, १९७१ में निक्सन के विशेष प्रतिनिधि हैनरी किसिंजर गुप्त रूप से पेकिंग गए, और वहां उन्होंने चाउ एन लाई से भेंट की। इस भेंट का प्रयोजन यह था, कि मि० निक्सन की चीन-यात्रा के लिए कम्युनिस्ट सरकार से निमन्त्रण प्राप्त किया जाए। १९ जुलाई, १९७१ के दिन वाशिंगटन से यह घोषणा की गई, कि अमेरिका के राष्ट्रपति ने पेकिंग सरकार के निमन्त्रण पर चीन की यात्रा स्वीकार कर ली है, और वह मई, १९७२ से पूर्व किसी समय चीन जाएंगे। निक्सन की चीन यात्रा अमेरिका और चीन के पारस्परिक सम्बन्धों में मृदुता लाने के लिए एक महत्त्वपूर्ण पग थी। रूस को इससे बहुत उद्वेग हुआ। गत वर्षों में चीन और रूस के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते गए थे। उनमें न केवल कम्युनिस्ट सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने के विषय में ही मतभेद उत्पन्न हो गए थे, अपितु उनके राष्ट्रीय हित भी आपस में टकराने लगे थे। साइबीरिया और सिन्किआंग के क्षेत्रों में उनकी सेनाओं में मुठभेड़ भी हो गई थी। रूस ने समझा कि निक्सन की चीन यात्रा का प्रयोजन यह है कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके साथ मैत्री स्थापित कर विश्व के शक्ति-सन्तुलन को अमेरिका के पक्ष में करने का प्रयत्न किया जाए। यदि रूस के विरोध में अमेरिका और चीन एक हो जाएं, तो इसका परिणाम रूस के लिए विघातक हो सकता है। इस आशंका के निवारण के लिए १२ अक्टूबर, १९७१ के दिन राष्ट्रपति निक्सन ने घोषित किया कि चीन की यात्रा के पश्चात् वे मास्को भी जायेंगे, और उन समस्याओं पर विचार-विमर्श करेंगे जिनका दोनों देशों के साथ सम्बन्ध है। पूर्व योजना के अनुसार फरवरी, १९७२ में निक्सन चीन गए और वहां उन्होंने माओ तथा चाऊ से भेंट की। यह पहला अवसर था, जब कि अमेरिका का कोई राष्ट्रपति कम्युनिस्ट चीन की यात्रा के लिए गया था। चीन के नेताओं के साथ निक्सन की जो बातचीत हुई, उसे गुप्त रखा गया है। पर यात्रा की समाप्ति पर जो संयुक्त वक्तव्य दोनों पक्षों की ओर से प्रकाशित किया गया, उसकी निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—(१) दोनों देशों में व्यापार तथा मानव सम्पर्क में वृद्धि की जाएगी। अमेरिका का एक सीनियर प्रतिनिधि समय-समय पर चीन जाता रहेगा, ताकि दोनों देश एक दूसरे के सम्पर्क में रह सकें। (२) शान्तिमय सह-अस्तित्त्व के जिन पांच सिद्धान्तों को चाउ एन लाई ने प्रतिपादित किया था, दोनों देश उनका समर्थन करते हैं। ये सिद्धान्त निम्नलिखित हैं—सब राज्यों की सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता तथा प्रादेशिक अखण्डनीयता के प्रति आस्था, अन्य राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्त-क्षेप न करना, किसी राज्य पर आक्रमण न करना, सब राज्यों की समानता तथा सबके हितों का परस्पर सहयोग द्वारा सम्पादन और शान्तिमय सह-अस्तित्त्व। (३) चीन ने इस बात को स्वीकार किया कि महाशक्ति (Super-Power) बनने का प्रयत्न वह नहीं करेगा। (४) अमेरिका ने यह वचन दिया कि ज्यों ही पूर्वी एशिया के क्षेत्र में तनाव कम हो जाएगा, वह अपनी सेनाएं फार्मूसा (तैवान) से वापस बुला लेगा। (५) चीन और अमेरिका दोनों यह चाहते हैं, कि भारत और पाकिस्तान दोनों देश अपनी-अपनी सेनाएं उन स्थानों पर वापस बुला लें, जहां कि वे १९७१ के भारत-पाकिस्तान युद्ध से पहले स्थित थीं। (६) दोनों देशों ने इस तथ्य को स्वीकार किया कि इन्डोचायना, जापान और कोरिया के प्रश्नों पर उनमें ऐकमत्य नहीं हो सका है। इसमें सन्देह नहीं, कि राष्ट्रपति निक्सन की चीन यात्रा से अमेरिका और चीन में चिर काल से चले आ रहे तनाव में कुछ न कुछ कमी अवश्य हुई है। चीन और अमेरिका समान रूप से सोवियत रूस के विरोधी हैं, इस दशा में उनका एक दूसरे के समीप आना अस्वाभाविक नहीं है।

कम्युनिस्ट चीन अब संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कर चुका है। २६ अक्टूबर, १९७१ के दिन संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल एसेम्बली ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया, जिस द्वारा कम्युनिस्ट चीन को संघ की सदस्यता प्रदान कर दी गई और फार्मूसा को संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। यह प्रस्ताव अलबानिया द्वारा पेश किया गया था। ७६ वोट इस प्रस्ताव के पक्ष आये थे, और ३५ विरोध में। १७ सदस्य-राज्यों ने इस प्रस्ताव पर किसी पक्ष में वोट नहीं दिया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कर लेने के कारण अब कम्युनिस्ट चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लिया है। इससे पूर्व भी अनेक बार यह प्रयत्न किया गया था कि कम्युनिस्ट चीन को संघ की सदस्यता प्राप्त करायी जाए। पर अमेरिका के विरोध के कारण ये प्रयत्न सफल नहीं हो सके थे। अब भी अमेरिका की यह इच्छा थी, कि फार्मूसा को भी संघ का सदस्य रहने दिया जाए, और कम्युनिस्ट चीन को संघ की सदस्यता प्रदान कर देने के कारण फार्मसा की सदस्यता का अन्त न हो जाए। पर कम्युनिस्ट चीन की सरकार यह स्वीकार करने को तैयार नहीं थी कि फार्मूसा को भी राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त रहे। चीन नाम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो राज्यों या चीन की दो वैध सरकारों की सत्ता की बात उसे किसी भी प्रकार सह्य नहीं थी। संघ की सुरक्षा परिषद् में जो स्थान पहले फार्मूसा को स्थायी रूप से प्राप्त था, वह भी अब कम्युनिस्ट चीन को प्रदान कर दिया गया। नवम्बर, १९७१ के द्वितीय सप्ताह में कम्युनिस्ट चीन का प्रतिनिधि मण्डल चियाओ कुआन-हुआ के नेतृत्व में न्यूयार्क पहुँच गया था, और वहां जाकर उसने संयुक्त राष्ट्रसंघ में अपना स्थान ग्रहण कर लिया था।

यद्यपि अभी कम्युनिस्ट चीन संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के समान एक महाशक्ति नहीं बन सका है, पर इसमें सन्देह नहीं कि विश्व की राजनीति में उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया की कम्युनिस्ट पार्टियां उसके नेतृत्व को स्वीकार करती हैं, और इस क्षेत्र के अनेक राज्यों पर उसके प्रभाव की सत्ता है। पूर्वी यूरोप में अलबानिया उसका समर्थक है, और वहां की कम्युनिस्ट पार्टी सोवियत रूस के बजाय चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के साथ सहयोग करती है। अफ्रीका के अनेक देशों के साथ उसका मैत्री सम्बन्ध है, और अमेरिका जैसी महाशक्ति भी उसके साथ मधुर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है। दक्षिणी एशिया में पाकिस्तान उसका सहयोगी है, और नेपाल सदृश कतिपय अन्य देश (जिनकी सीमाएं चीन के साथ लगती हैं) भी उसके साथ मैत्री स्थापित किये हुए हैं। किसी अन्य देश की सहायता पर निर्भर न कर केवल अपनी शक्ति द्वारा चीन ने जो असाधारण उन्नति की है, उसके कारण अब उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया है और एशिया के सर्वाधिक शक्तिशाली देशों में उसे स्थान प्राप्त हो गया है। कम्युनिस्ट आदर्शों को क्रियान्वित करने के लिए सांस्कृतिक क्रान्ति द्वारा जो प्रयत्न उसने किया है, वह भी अपने आप में अनुपम है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकतीसवां अध्याय

मंगोलिया और साइबीरिया

(१) मंगोलिया का जनवादी गणराज्य

मंगोलिया के पुराने इतिहास पर इस ग्रन्थ के दसवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। चीन की राज्यक्रान्ति (१९११) के समय तक देश यह चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत था, और वहां जिन अनेक सरदारों का शासन था, वे मञ्चू सम्राटों को अपना अधिपति स्वीकार करते थे। इनमें एक हुतुख्तू था, जिसकी राजधानी उर्ग (उलान बाटोर) थी। १९११ की राज्यक्रान्ति के कारण जब मञ्चू राजवंश का अन्त हो गया, तो इस हुतुख्तू ने स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी, क्योंकि उसका कथन था कि मंगोलिया मञ्चू सम्राट् को अपना अधिपति स्वीकार करता था, चीन को नहीं। चीन से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने के लिये हुतुख्तू ने रूस के साथ एक सन्धि की, जिसके द्वारा रूस के ज़ार (सम्राट्) ने मंगोलिया की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर उसकी रक्षा की उत्तरदायिता अपने ऊपर ले ली। पर मंगोलिया के सम्बन्ध में कोई भी निर्णय तब तक स्थायी नहीं हो सकता था, जब तक कि चीन भी उससे सहमत न हो। अतः मंगोलिया, रूस और चीन में एक समझौता किया गया, जिसके अनुसार हुतुख्तू की अधीनता में विद्यमान मंगोलिया (जिसे बाह्य मंगोलिया कहते हैं) को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्रदान कर दी गई, और शेष मंगोलिया (आभ्यन्तर मंगोलिया) को चीन का अन्यतम प्रान्त मान लिया गया। १९१७ की राज्यक्रान्ति द्वारा जब रूस में जारशाही का अन्त होकर बोल्शेविक शासन स्थापित हुआ, तो एक चीनी सेना ने बाह्य मंगोलिया पर आक्रमण कर उर्ग को जीत लिया। इस देश की स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता का अब अन्त हो गया, और उसे चीन के अन्यतम प्रान्त के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। पर बाह्य मंगोलिया की यह स्थिति देर तक कायम नहीं रही। ३१ मार्च, १९२१ के दिन वहां भी राज्यक्रान्ति हो गई, और सुक बाटोर नामक एक सैनिक नेता के नेतृत्व में बाह्य मंगोलिया ने चीन के शासन का अन्त कर पूर्ण स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। रूस के कम्युनिस्ट नेताओं का समर्थन सुक बाटोर को प्राप्त था, और उन्हीं की सहायता से बाह्य मंगोलिया चीन के शासन का अन्त करने में समर्थ हुआ था। कुछ समय तक हुतूख्तू को उर्ग की राजगद्दी पर कायम रखा गया, पर १९२४ में जब उसकी मृत्यु हो गई तो किसी अन्य व्यक्ति को उसके स्थान पर नियुक्त नहीं किया गया, और बाह्य मंगोलिया को एक रिपब्लिक (मंगोलिया का जनवादी गणराज्य) घोषित कर दिया गया। रूस ने इस नये गणराज्य की वैध सत्ता को तुरन्त मान्यता प्रदान कर दी, यद्यपि चीन उसे स्वीकृत करने को उद्यत नहीं हुआ। बोल्शेविक क्रान्ति के समय रूस के बहुत-से कम्युनिस्ट-विरोधी लोग मंगोलिया चले आये थे, और उनका पीछा करती हुई कम्युनिस्ट सेनाओं ने भी मंगोलिया में प्रवेश कर लिया था। उनकी सहायता से ही मंगोलिया अपनी स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ हुआ था। अतः जो मंगोलियन रिपब्लिक अब स्थापित हुई, वह भी कम्युनिस्ट व्यवस्था की अनुयायी बनी। यह रिपब्लिक रूस से पृथक् अवश्य थी, पर इस पर कम्युनिस्ट रूस का प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यमान था। मंगोलिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कम्युनिज्म के विरोधी थे। इसलिये कुछ समय तक वहां भी कम्युनिस्टों और उनके विरोधियों में संघर्ष चलता रहा। पर १९३५ तक कम्युनिस्ट लोगों ने वहां पूर्णरूप से सत्ता प्राप्त कर ली थी, और उनके नेता चोई बल सांग ने वहां के शासन को भलीभांति व्यवस्थित रूप प्रदान कर दिया था।

जापान चीन में अपने आधिपत्य को स्थापित करने के लिये किस प्रकार से प्रयत्नशील था, इसका विवरण इस ग्रन्थ के उन्नीसवें और बीसवें अध्यायों में दिया जा चुका है। १९३२ तक मञ्चूरिया जापान के अधीन हो चुका था, और वहां उसने मञ्चूकुओ नाम से एक पृथक् राज्य की स्थापना कर दी थी, जो जापान का वशवर्ती था। १९३४ में उसने आभ्यन्तर मंगोलिया पर भी अपना प्रभुत्त्व कायम कर लिया था। अब उसने बाह्य मंगोलिया की स्वतन्त्र रिपब्लिक की ओर रुख किया, जिसके कारण इस नई रिपब्लिक की स्वतन्त्रता संकट में पड़ गई। इस दशा में रूस और बाह्य मंगोलिया ने परस्पर सन्धि कर के यह निश्चय किया, किसी अन्य राज्य के साथ युद्ध होने की दशा में वे एक दूसरे की सहायता करेंगे। मार्च, १९३६ में मार्शल स्टालिन ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की, कि यदि मञ्चूकुओ या जापान ने मंगोलिया के जनवादी गणराज्य पर आक्रमण किया, तो रूस उसे अपने ऊपर आक्रमण समझेगा और मंगोलिया की पूर्णरूप से सहायता करेगा। अब जापान के लिये यह सम्भव नहीं रहा कि वह आभ्यन्तर मंगोलिया के समान बाह्य मंगोलिया में भी अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व का विस्तार कर सके। २७ फरवरी, १९४६ के दिन मंगोलियन रिपब्लिक और सोवियत रूस ने स्थायी मैत्री और परस्पर सहायता की सन्धि की, जिसके कारण ये दोनों राज्य एक दूसरे के बहुत समीप आ गये। क्योंकि ये दोनों कम्युनिस्ट व्यवस्था के अनुयायी थे, और इस समय विश्व में केवल ये दो राज्य ही ऐसे थे, जिनमें कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित थी, अतः इनमें प्रगाढ़ मैत्री का होना सर्वथा स्वाभाविक था। अगस्त, १९४५ में जब रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और रूसी सेनाएं आभ्यन्तर मंगोलिया और मञ्चूकुओ पर से जापानी प्रभुत्त्व का अन्त करने के लिये अग्रसर होने लगीं, तो मंगोलियन रिपब्लिक की सेनाओं ने भी उनका साथ दिया। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर विश्व की नई व्यवस्था किस ढंग से की जाए, इस विषय पर विचार करने के लिये मित्रपक्ष के राज्यों की जो कान्फरेन्स याल्टा में हुई थी (फरवरी, १९४५), उसके एक निर्णय के अनुसार मंगोलियन रिपब्लिक में इस प्रश्न पर लोकमत लिया गया, कि इस राज्य को एक पूर्णतया स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति में रहना है या चीन के साथ मिलकर एक संवर्ग-राज्य (फिडरेशन) में सम्मिलित होना है। इस प्रश्न पर लोकमत लेने की आवश्यकता इस कारण थी, क्योंकि चीन ने अब तक भी मंगोलियन रिपब्लिक की वैध सत्ता को स्वीकार नहीं किया था और वह उसे अपने राज्य का अन्यतम अंग समझता था। महायुद्ध में चीन मित्रपक्ष में सम्मिलित था, और जापान के विरुद्ध युद्ध में उसका कर्तृत्व महत्त्वपूर्ण था। चीन की कुओमिन्तांग सरकार की उपेक्षा कर सकना अन्य मित्रराज्यों के लिये सम्भव नहीं था। मंगोलियन रिपब्लिक के निवासियों ने बहुत बड़े बहुमत से यह निर्णय किया, कि उनका देश चीन का अंग न होकर एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में रहेगा। इसी कारण उसे एक सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त हो गई, और यह प्रस्ताव किया गया कि वह भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त कर ले। पर चीन की कुओमिन्तांग सरकार ने इसका विरोध किया। राष्ट्रसंघ में चियांग काई शेक की सरकार को ही चीन की वध सरकार माना जाता था, अतः उसके विरोध के कारण अक्टूबर, १९६१ तक मंगोलियन रिपब्लिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी। कुओमिन्तांग सरकार कम्युनिज्म की प्रबल विरोधी थी, जिसके कारण उसे यह स्वीकार्य नहीं था, कि कम्युनिस्ट व्यवस्था का अनुसरण करने वाली मंगोलियन रिपब्लिक संयुक्त राष्ट्रसंघ में सम्मिलित हो।

१९४९ में जब माओ त्से-तुंग के नेतृत्व में कम्युनिस्टों ने चीन में अपनी सरकार स्थापित कर ली, तो रूस के समान कम्युनिस्ट चीन ने भी मंगोलियन रिपब्लिक की वैध सत्ता को मान्यता प्रदान कर दी। ४ अक्टूबर, १९५२ के दिन चीन ने मंगोलिया से एक सन्धि की, जिस द्वारा इन दोनों राज्यों ने आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग से काम करने की बात को स्वीकार किया। इसके बाद मई, १९६० और मार्च, १९६३ में इन दोनों राज्यों ने अन्य सन्धियां की, जिन द्वारा उन्होंने परस्पर मैत्री सम्बन्ध रखने और एक दूसरे को सहायता प्रदान करते रहने की बात स्वीकृत की। मंगोलियन रिपब्लिक की सीमा चीन के साथ लगती है, और उसके सम्बन्ध में भी इन राज्यों में कतिपय मतभेद थे। २६ दिसम्बर, १९६२ को इन मतभेदों को दूर कर दोनों के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा सुस्पष्ट रूप से निर्धारित कर ली गई। मंगोलियन रिपब्लिक के पड़ौस में केवल रूस और चीन की स्थिति है। क्योंकि इन दोनों राज्यों के साथ उसके मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गये थे, अतः उसे सेना पर अधिक खर्च करने की आवश्यकता नहीं रह गई। १९४० में मंगोलियन रिपब्लिक की सरकारी आमदनी का ४६ प्रतिशत देश की रक्षा पर खर्च किया जाता था। पर १९६० तक उसमें बहुत कमी आ गई थी, और वह कुल आमदनी का केवल ६·४ प्रतिशत रह गया था। १९५६ के पश्चात् जब चीन और रूस में विरोधभाव का सूत्रपात हुआ, तो चीन और मंगोलियन रिपब्लिक के सम्बन्ध भी मृदु नहीं रह सके, और यह राज्य अपनी सुरक्षा के लिये रूस पर अधिकाधिक निर्भर होता गया।

मंगोलियन रिपब्लिक में केवल एक राजनीतिक पार्टी की सत्ता है। इसे मंगोलियन पीपल्स रेवोल्युशनरी पार्टी कहते हैं। यह पार्टी कम्युनिज्म में विश्वास रखती है, और देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने में इसने अच्छी सफलता प्राप्त की है। जिस संविधान के अनुसार मंगोलियन रिपब्लिक का शासन वर्तमान समय में किया जाता है, उसका निर्माण १९६० में किया गया था। वहां के व्यवस्थापन विभाग में एक सदन है, जिसे पीपल्स कांग्रेस कहते हैं। इसकी सदस्य-संख्या २८७ है, जिनका चुनाव करने के लिये सब वयस्क स्त्री-पुरुषों को वोट का अधिकार प्राप्त है। पर क्योंकि मंगोलिया में केवल एक पार्टी की सत्ता है, अतः वहां चुनाव में विविध उम्मीदवारों के खड़े होने का प्रश्न ही नहीं उठता। पार्टी की ओर से उम्मीदवारों की एक सूची तैयार कर दी जाती है, और मतदाता सूची में जो नाम हों, उनके पक्ष में अपने वोट दे देते हैं। मंगोलियन रिपब्लिक में शासन का कार्य उसी प्रकार से एक प्रेसिडियम के हाथों में है, जैसे कि रूस व चीन सदृश अन्य कम्युनिस्ट राज्यों में है।

यद्यपि मंगोलियन रिपब्लिक एक विशाल राज्य (क्षेत्रफल १५,६५,००० वर्ग-मील) है, पर उसकी जनसंख्या केवल १२ लाख के लगभग है। वहां के निवासियों का आर्थिक जीवन पशुधन पर आश्रित है, और वहां की भूमि का ७० प्रतिशत भाग चरागाहों के रूप में है। कृषि और कल-कारखानों का विकास अभी वहां बहुत कम हुआ है। पर वहां की कम्युनिस्ट सरकार पञ्चवर्षीय आयोजनाओं का निर्माण कर देश की चौमुखी आर्थिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील है। पूंजी और मशीनरी इस राज्य के लिये कोई समस्या नहीं है, क्योंकि रूस द्वारा ये उसे प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। पर श्रमिकों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहां बहुत कमी है। मंगोलियन लोगों की बहुसंख्या पशुपालन में अपना समय व्यतीत करती है। कल-कारखानों में कार्य करने की उसमें क्षमता नहीं है। पहले चीनी मजदूर बहुत बड़ी संख्या में मंगोलिया में मजदूरी करने के लिये आया करते थे। पर जब से चीन और रूस के सम्बन्धों में कटुता आने लगी, उनकी संख्या निरन्तर कम होती गई, और १९६६ के पश्चात् चीनी श्रमिकों ने मंगोलिया आना सर्वथा बन्द कर दिया।

कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना लेने के कारण मंगोलियन रिपब्लिक के सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में बहुत परिवर्तन हो गया है। वहां के लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, और उनमें लामाओं की संख्या बहुत अधिक थी। १९३० से पूर्व वहां एक लाख से भी अधिक लामा थे, जो अविवाहित रहकर बौद्ध विहारों में निवास किया करते थे। कम्युनिस्ट सरकार का यह पसन्द नहीं था, कि १२ लाख की आबादी के इस देश की जनता का इतना बड़ा भाग भिक्षु जीवन व्यतीत करे। इसलिये वहां धर्म के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया गया, जिसके कारण लामाओं की संख्या निरन्तर कम होती गई। बहुत-से लामाओं ने गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कर खेती व उद्योग-धन्धों आदि को अपना लिया। वर्तमान समय में मंगोलिया में केवल एक विहार शेष रह गया है, जो वहां की राजधानी उलन बाटोर में है। वहां रहने वाले लामाओं की संख्या भी अब केवल ११० रह गई है। अन्य विहारों को प्रायः कलाभवनों व अन्य उपयोगी संस्थाओं में परिवर्तित कर दिया गया है। शिक्षा पर भी मंगोलिया की कम्युनिस्ट सरकार ने विशेष ध्यान दिया है। इसी का यह परिणाम है, कि अब वहां कोई भी व्यक्ति अशिक्षित नहीं रहा है। १९२१ में मंगोलिया में केवल एक शिक्षणालय की सत्ता थी। पर अब वहां पाठशालाओं, विद्यालयों व उच्च शिक्षा की संस्थाओं का एक जाल-सा बिछ गया है, जिनमें विद्यार्थियों की संख्या दो लाख के लगभग है। उलन बाटोर में एक यूनिवर्सिटी की भी स्थापना कर दी गई है (१९४२), जिसमें २५०० से भी ऊपर विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते हैं। नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिये हजारों मंगोलियन विद्यार्थी रूस तथा पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट राज्यों में भेजे जाते हैं। मंगोलिया के शिक्षणालयों में रूसी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ायी जाती है। इसमें सन्देह नहीं, कि कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना कर मंगोलिया ने बहुत उन्नति की है।

(२) साइबीरिया

चीन के उत्तर में प्रशान्त महासागर से लगाकर यूराल पर्वतमाला तक विस्तीर्ण उत्तरी एशिया का जो विशाल भूखण्ड है, उसे साइबीरिया कहते हैं। क्षेत्रफल में यह ४७, ३०,००० वर्गमील के लगभग है, और इस समय रूसी समाजवादी सोवियत रिपब्लिक के अन्तर्गत है। एशिया के आधुनिक इतिहास में इसको भी समुचित स्थान प्रदान करना आवश्यक है। सोलहवीं सदी तक इसकी आबादी बहुत कम थी और उसके निवासी प्रायः असभ्य और जंगली थे। वहां अनेक ऐसे जन्तुओं का निवास था, जिनकी खालें (फरें) बहुत कीमती होती थीं। यूरोप के बाजारों में ये फरें बहुत ऊंची कीमत पर बिकती थीं। इनसे आकृष्ट होकर बहुत-से रूसी शिकारी और व्यापारी साइबीरिया जाने लगे, और वहां के निवासियों को अपने वश में लाने में उन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई। धीरे-धीरे ईसाई प्रचारकों ने भी साइबीरिया जाना शुरू कर दिया। उनका यत्न था, कि वहां के असभ्य लोगों को ईसाई धर्म में दीक्षित किया जाए। उस समय साइबीरिया में सड़कों का सर्वथा अभाव था। रूस के शिकारी, व्यापारी और पादरी नदियों के साथ-साथ आगे बढ़ते थे, और अनुकूल स्थानों पर डेरे डालकर रहने लगते थे। साइबीरिया में रूस के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रवेश व प्रसार का रूप प्रायः वैसा ही था, जैसा कि अमेरिका में ब्रिटिश व अन्य यूरोपियन लोगों का। यूराल पर्वतमाला को पार कर रूसी लोग पूर्व की ओर बढ़ते गये, और धीरे-धीरे प्रशान्त महासागर के तट तक जा पहुंचे। सतरहवीं सदी के शुरू (१६१८) तक रूसी लोगों की बस्तियां ओब नदी के तट पर तोब्लोस्क और तारा में स्थापित हो गई थीं। इतिश नदी से आगे तक भी कुछ रूसी लोग पहुच चुके थे, और उन्होंने तोम्स्क तथा कुजनेत्सक में अपनी बस्तियां कायम कर ली थीं। तोम्स्क को आधार बनाकर वे येनीसेई और अन्गारा नदियों की ओर बढ़े। १६३० में उन्होंने याकुत्स्क को आबाद किया, और अगले बीस वर्षों में वे प्रशान्त महासागर के तट पर ओवरवोस्क तक पहुंच गये। इन सब प्रदेशों के निवासी रूसी लोगों द्वारा जीत लिये गये, और साइबीरिया पर रूस का आधिपत्य स्थापित हो गया। शुरू में रूसी लोग साइबीरिया के उन्हीं प्रदेशों में गये, जहां फरें बहुतायत से मिलती थीं। पर बाद में उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस भूखण्ड के अनेक प्रदेश खेती के लिये भी उपयुक्त हैं। ये प्रदेश प्रधानतया दक्षिणी साइबीरिया में स्थित थे। बहुत-से रूसी किसान इनमें खेती के लिये आने लगे, और अठाहरवीं सदी के मध्य भाग में साइबीरिया में रूस के द्वितीय प्रसार का प्रारम्भ हुआ। दक्षिणी साइबीरिया में आगे बढ़ते हुए रूसी लोग आमूर नदी की घाटी में भी पहुंचने लगे। यह घाटी खेती के लिये बहुत उपयुक्त थी। पर इस पर चीन का अधिकार स्वीकृत किया जाता था, और वहां चीनी लोग अच्छी बड़ी संख्या में आबाद थे। प्रशान्त महासागर के समीप के इस सुदूरवर्ती प्रदेश को चीन के मुकाबिले में अधिकृत कर सकना रूस की शक्ति में नहीं था। परिणाम यह हुआ कि यद्यपि रूसी लोग सतरहवीं सदी के मध्य भाग में इस प्रदेश में पहुंच चुके थे, पर १६८९ में वे इसे छोड़ देने के लिये विवश हो गये। उन्नीसवीं सदी के मध्य (१८४८) में चीन की राजनीतिक निर्बलता से लाभ उठाकर रूसी लोगों ने आमूर के क्षेत्र में अपने अधिकार को पुनःस्थापित कर लिया, और इस प्रकार रूस के लिये उत्तरी चीन तथा कोरिया में अपने आधिपत्य का विस्तार करने का मार्ग निष्कण्टक हो गया। आमूर के क्षेत्र के रूस के हाथ में आ जाने के कारण प्रशान्त महासागर का ऐसा समुद्रतट भी उसे प्राप्त हो गया, जो नौकानयन की दृष्टि से साल के बारहों महीनों में अनुकूल परिस्थिति रखता है। इस प्रदेश में अपने आधिपत्य को सुदृढ़ करने और आर्थिक दृष्टि से उसका विकास करने के प्रयोजन से रूस ने वहां अनेक रेलवे लाइनों का निर्माण भी प्रारम्भ किया।

प्रशान्त महासागर के समीपवर्ती सुदूर पूर्व के प्रदेशों में रूस जो अपना आधिपत्य स्थापित कर रहा था, उसका विरोध केवल चीन द्वारा ही किया जा सकता था। ये प्रदेश चीन के राज्य क्षेत्र के साथ लगे हुए थे, और चीनी लोग खेती आदि के लिये वहां बस भी रहे थे। पर चीन की राजनीतिक शक्ति इस समय बहुत क्षीण थी और वह पाश्चात्य देशों से संघर्ष में तत्पर था। १८५६ में पाश्चात्य देशों से चीन का जो युद्ध हुआ, रूस ने उसमें भाग लिया था। वह इस काल में उत्तर की ओर से चीन की सीमा की तरफ निरन्तर अग्रसर हो रहा था। पर चीन की सरकार उस का प्रतिरोध करने की स्थिति में नहीं थी। १८५८ में उसने यह स्वीकार कर लिया कि आमूर नदी की घाटी का प्रदेश रूस के अधिकार में रहे। पाश्चात्य देशों के विरुद्ध युद्ध का अन्त होने पर १८६० में जब उनके साथ सन्धियां की गई, तो चीन ने यह भी स्वीकार कर लिया कि उसूरी के पूर्व का प्रदेश भी रूस के पास रहे। यह प्रदेश पहले चीन के अन्तर्गत था, पर उसकी निर्बलता से लाभ उठाकर रूसी लोगों ने वहां भी अपनी बस्तियां बसानी प्रारम्भ कर दी थीं। सुदूर पूर्व के इन प्रदेशों पर अपना वैध अधिकार स्थापित कर रूस ने प्रशान्त महासागर के तट पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्लादीवोस्तोक के प्रसिद्ध बन्दरगाह का निर्माण किया, जो सुदूर पूर्व में रूस के व्यापार तथा नाविक शक्ति का प्रधान केन्द्र बन गया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में साइबीरिया और सुदूर पूर्व के इन प्रदेशों को विकसित करने में रूस ने बहुत तत्परता प्रदर्शित की। इनका आर्थिक महत्त्व केवल खेती और फरों के लिये ही नहीं था, अपितु वहां खनिज पदार्थ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। रूस द्वारा वहां खानें खोदी गईं, और अनेक कल-कारखाने भी वहां स्थापित किये गये।

१९१७ में जब रूस में जारशाही के विरुद्ध बोल्शेविक क्रान्ति हुई, तो उसका प्रभाव साइबीरिया पर भी पड़ा। वहां के किसानों और मज़दूरों ने क्रान्ति का साथ दिया। पर ऐसे लोगों की भी वहां कमी नहीं थी, जो कम्युनिज्म के विरोधी थे। १९१७ की राज्य-क्रान्ति को पूर्ण रूप से सफल होने में समय लगा था। रूस में कुछ वर्षों तक गृहयुद्ध चलता रहा था, जिसमें कम्युनिस्ट और उनकी विरोधी शक्तियां सशस्त्र संघर्ष में व्यापृत रही थीं। साइबीरिया में भी कम्युनिस्ट-विरोधी लोगों ने अनेक स्थानों पर अपनी-अपनी सरकारें कायम कर ली थीं। इनमें सर्वप्रधान एडमिरल कोचक की सरकार थी, जिसने साइबीरिया के बहुत बड़े क्षेत्र में पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। पर रूस के गृह-युद्ध में अन्त में कम्युनिस्ट सफल हुए, और साइबीरिया में कोचक का शासन देर तक कायम नहीं रह सका। कम्युनिस्टों ने कृषियोग्य भूमि पर किसानों का स्वत्त्व स्थापित कर दिया था, जिसके कारण वे क्रान्ति के समर्थक हो गये थे। परिणाम यह हुआ, कि साइबीरिया में कम्युनिज्म के पक्षपातियों ने एक क्रान्तिकारी समिति का संगठन कर लिया, और कोचक की सेनाओं को परास्त कर इस क्षेत्र के शासन को अपने हाथों में ले लिया। १९२० में इस क्षेत्र में 'सुदूर पूर्व रिपब्लिक' के नाम से एक पृथक् व स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना कर दी गई, जो १९२२ तक कायम रहा। इस बीच में रूस में कम्युनिस्टों ने अपने विरोधियों को प्रायः परास्त कर दिया था, और वे अपने देश में एक सुव्यवस्थित सरकार की स्थापना में सफल हो गये थे। इस दशा में 'सुदूर पूर्व रिपब्लिक' को भी रूस की समाजवादी सोवियत रिपब्लिक के अन्तर्गत कर लिया गया। कम्युनिस्टों ने रूस की जो नई व्यवस्था की, उसके अनुसार उसे एक संघ-राज्य के रूप में परिवर्तित किया गया था, जिस में अनेक रिपब्लिकों सम्मिलित हैं। इनमें सबसे बड़ी 'रूसी सोवियत संवर्गात्मक समाजवादी रिपब्लिक (The Russian Soviet Federated Socialist Republic) है, जिसका विस्तार पूर्व में प्रशान्त महासागर से लगा कर पश्चिम में यूरोप तक है। उत्तरी तथा पूर्वी एशिया के जिन प्रदेशों पर रूस का अधिकार है, वे सब इस रिपब्लिक के अन्तर्गत हैं। साइबीरिया तथा प्रशान्त महासागर के समीपवर्ती रूसी प्रदेशों में बहुत-सी ऐसी जातियों का निवास है, जो रूसी लोगों से भिन्न हैं। इनमें तुर्क, तातार, मंगोल, लैप्प और फिन्नो-उग्रियन प्रमुख हैं। इन सब द्वारा आबाद प्रदेशों को पृथक् स्वायत्त रिपब्लिकों, स्वायत्त प्रदेशों और राष्ट्रीय क्षेत्रों (National Areas) के रूप में संगठित कर दिया गया है। इन तीनों की संख्या क्रमशः १६, ५ और १० है। इन विविध स्वायत्त रिपब्लिकों आदि का पृथक् रूप से संगठन इस प्रयोजन से किया गया है, ताकि इनके निवासियों को अपनी जातीय व सांस्कृतिक विशेषताओं को विकसित करने का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त हो सके और शासन की दृष्टि से भी वे किसी अन्य की अधीनता में न रहें। इस प्रकार सोवियत रूस ने उत्तरी तथा एशिया के अपने अधीनस्थ प्रदेशों में एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर दी है, जिस द्वारा वहाँ के निवासियों को स्वायत्त शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साइबीरिया में जिन रूसी लोगों ने अपने बड़े-बड़े कृषि फार्म कायम कर लिये थे, वे सुगमता से उन पर किसानों का अधिकार स्थापित हो जाने की बात को सहन करने के लिये तैयार नहीं हुए। उन्होंने जब कम्युनिस्ट सरकार का विरोध किया, तो उनके विरुद्ध शक्ति का प्रयोग किया गया। हजारों भूमिपति गिरफ्तार कर लिये गये, और उनमें से बहुतों को गोली से उड़ा दिया गया। बाद में जब सरकार ने खेतों पर से किसानों के स्वत्त्व का अन्त कर सामूहिक खेती का प्रारम्भ किया, तो साइबीरिया में अनेक स्थानों पर किसानों ने विद्रोह कर दिया। इनमें अल्ताई प्रदेश का विद्रोह बहुत गम्भीर था, और वह चार वर्षों (१९३०-३४) तक जारी रहा। पर कम्युनिस्ट सरकार को इन विद्रोहों का दमन करने में सफलता प्राप्त हुई, और रूस के अन्य प्रदेशों के समान साइबीरिया में भी कम्युनिस्ट विचारधारा के अनुसार खेती तथा कल-कारखानों का संचालन प्रारम्भ किया गया। इस क्षेत्र की औद्योगिक उन्नति पर इस समय विशेष ध्यान दिया गया, जिसके कारण कुजनेत्स्क में कोयले की अनेक खानें खुदवायी गईं, और यह रूस के सबसे बड़े कोयला-क्षेत्रों में गिना जाने लगा। ताम्बे टिन, आदि धातुओं की भी अनेक खानें इस समय खोदी गईं, और इस विशाल भूखण्ड के जंगलों से कीमती लकड़ी को प्राप्त करने के व्यवसाय को प्रारम्भ किया गया। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के काल में साइबीरिया की बहुत अधिक उन्नति हुई। यूरोपियन रूस पर जर्मनी के आक्रमणों ने अत्यन्त उग्र रूप प्राप्त कर लिया था, जिसके कारण यह आवश्यकता अनुभव की गई कि वहां के बड़े कल-कारखानों को साइबीरिया में ले जाया जाए, क्योंकि यह प्रदेश जर्मन आक्रमणों से सुरक्षित था। महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी इस प्रक्रिया को जारी रखा गया, जिसके कारण साइबीरिया में अनेक बड़े नगरों और औद्योगिक केन्द्रों का विकास हुआ। नोवोसिबिर्स्क जैसे नगरों की जनसंख्या अब दस लाख से भी ऊपर पहुंच गई।

रूस के इतिहास में १९३६-३८ के वर्षों का विशेष महत्त्व है। इस काल में उन बहुत-से कम्युनिस्ट नेताओं पर मुकदमे चलाये गये, जो स्टालिन की नीति के विरोधी थे। इन्हें दोषी पाया गया, और बहुतों को प्राणदण्ड दिया गया। इनमें मार्शल ब्ल्यूखेर भी थे, जो चिर काल से साइबीरिया की सेनाओं के प्रधान सेनापति थे। प्रशान्त महासागर के समीपवर्ती प्रदेशों व नगरों में जो बहुत-से चीनी और कोरियन लोग बसे हुए थे, उन्हें इस समय रूस के राज्यक्षेत्र से बहिष्कृत कर दिया गया, क्योंकि उन्हें कम्युनिज्म का विरोधी समझा गया था। स्टालिन के विरोधी होने के कारण जिन हजारों रूसी नागरिकों के विरुद्ध इस समय मुकदमे चलाये गये थे, उनमें से जिन्हें प्राणदण्ड न देकर जेल की सजा दी गई, उन्हें साइबीरिया भेज दिया गया, और वहां उनसे सामूहिक खेतों तथा कल-कारखानों में साधारण श्रमिकों के समान काम लिया गया। इनमें बहुसंख्यक व्यक्ति ऐसे थे, जो शिल्प के विशेषज्ञ थे। उनके साइबीरिया में आ जाने पर इस क्षेत्र की औद्योगिक उन्नति में बहुत सहायता मिली।

क्योंकि साइबीरिया और उसके समीपवर्ती सुदूर पूर्व के प्रदेश रूस के अन्तर्गत हैं, अतः उनका आधुनिक इतिहास रूस से पृथक् नहीं है। पर एशिया महाद्वीप के इस खण्ड की सीमाएं चीन के साथ लगती हैं, और इसके अनेक प्रदेश ऐसे हैं जो पहले चीन के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और जिन पर अपने दावे का कम्युनिस्ट चीन ने भी पूर्णतया परित्याग नहीं किया है। १८६० की सन्धि द्वारा आमूर नदी के उत्तर के जिन प्रदेशों को रूस ने चीन से प्राप्त कर लिया था, उनका क्षेत्रफल ४,००,००० वर्गमील के लगभग है। कृषि और खनिज पदार्थों की दृष्टि से ये प्रदेश बहुत समृद्ध हैं, और वहां पहले जो चीनी लोग बसे हुए थे, उन्हें १९३६-३८ के काल में रूस द्वारा वहां से बहिष्कृत कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया गया था। पर भविष्य में कभी भी इनके सम्बन्ध में समस्या उत्पन्न हो सकती है, विशेषतया उस दशा में जब कि चीन और रूस के सम्बन्ध अब मैत्रीपूर्ण नहीं रह गये हैं। १९६० की सन्धि के अनुसार इस क्षेत्र और चीन की सीमा आमूर नदी के साथ-साथ निर्धारित की गई थी। इस सीमा के सम्बन्ध में रूस और चीन में प्रायः मतभेद होते रहते हैं, विशेषतया उन द्वीपों के बारे में जो आमूर नदी के बीच में हैं। गत वर्षों में अनेक बार ये मतभेद उग्र रूप धारण कर चुके हैं, और इन देशों की सेनाओं में वहां झड़पें भी हुई हैं। चीन और रूस दोनों की ही अच्छी बड़ी सेनाएं इस सीमावर्ती क्षेत्र में विद्यमान हैं, और वहां उन्होंने किलाबन्दी भी की हुई है।

यद्यपि साइबीरिया के सुविस्तृत प्रदेशों के प्राकृतिक प्रसाधनों का विकास करने के लिये रूस ने बहुत प्रयत्न किया है, पर अभी इनका भलीभांति विकास सम्पन्न नहीं हुआ है। इसके लिये पूंजी और मशीनरी की बहुत बड़े परिमाण में आवश्यकता है, जिसे जुटा सकना अकेले रूस के लिये सम्भव नहीं है। इसके लिये वह जापान का सहयोग प्राप्त करना चाहता है। गत वर्षों में इस सम्बन्ध में जापान और रूस में अनेक बार बातचीत हुई है, यद्यपि अब तक उसका कोई सुनिश्चित परिणाम नहीं निकल सका है। जापान को अपने कल-कारखानों के लिये जिस तेल और कोयले की आवश्यकता है, उन्हें वह रूस से सुगमतापूर्वक प्राप्त कर सकता है, क्योंकि तेल उसे पश्चिमी एशिया से मंगाना पड़ता है, जहां से उसकी ढुलाई में बहुत खर्च बैठता है। साइबीरिया के विकास के सम्बन्ध में जापान और रूस के सहयोग का यही रूप होगा, कि जापान उसके लिये मशीनरी प्रदान करे और साथ ही पूंजी का एक भाग भी। बदले में वह रूस से तेल और कोयला प्राप्त करे। पर चीन इसमें भी रुकावट डाल सकता है, क्योंकि रूसके समान जापान से भी उसके सम्बन्ध अभी सौहार्द्रपूर्ण नहीं हुए हैं। एक ऐसे प्रदेश में जिस पर चीन भी अपना दावा करता है और जो वस्तुतः कभी चीनी साम्राज्य के अन्तर्गत भी था, इन दो विदेशी राज्यों का सम्मिलित आर्थिक प्रयत्न चीन की दृष्टि में समुचित नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बत्तीसवां अध्याय

गत वर्षों में पूर्वी एशिया के अन्य देशों की प्रगति

(१) जापान की स्वतन्त्रता

द्वितीय महायुद्ध में जर्मन पक्ष की पराजय हो गई थी, और अगस्त, १९४५ में जापान ने भी बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया था। परास्त हुए जापान के शासन के लिए मित्र-राज्यों ने जो व्यवस्था की थी, उस पर इस ग्रन्थ के छब्बीसवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। जनरल मैक-आर्थर प्रशान्त महासागर और पूर्वी एशिया के क्षेत्र में मित्र-राज्यों के प्रधान सेनापति थे, और इस क्षेत्र की सब सैन्य शक्ति उन्हीं के हाथों में केन्द्रित थी। अब जापान के शासन को नियन्त्रित व संचालित करने का कार्य भी उन्हीं के सुपुर्द कर दिया गया। मई, १९४७ में जापान के लिए नये संविधान का निर्माण किया गया, जिस द्वारा वहां पाश्चात्य ढंग के लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात किया गया। पर क्योंकि अभी जापान पर मित्र-राज्यों और विशेषतया अमेरिका का सैनिक कब्जा विद्यमान था और जनरल मैक आर्थर का हैड क्वार्टर भी वहां स्थापित था, अतः १९४७ के संविधान द्वारा स्थापित हुई जापानी सरकार सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र नहीं थी। उसकी नीति का निर्धारण और संचालन मैक आर्थर और उन्हें परामर्श देने वाली 'अलाइड कौंसिल आफ जापान' द्वारा ही किया जाता था। जापान की यह पराधीन और परवशवर्ती दशा मार्च, १९५२ तक रही।

१९५१ की शान्ति सन्धि—८ सितम्बर, १९५१ के दिन मित्र-पक्ष के राज्यों ने जापान के साथ एक सन्धि की। यह सन्धि अमेरिका के सन फ्रांसिस्को नामक नगर में की गई थी, और इस पर जापान के अतिरिक्त ४८ राज्यों ने हस्ताक्षर किये थे। २६ अक्टूबर, १९५१ को जापान की पार्लियामेंट ने बहुमत द्वारा इस सन्धि की पुष्टि कर दी थी, और २८ अप्रैल, १९५२ के दिन इसे क्रियान्वित भी कर दिया गया था। इस सन्धि की मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) जापान ने उन सब देशों की स्वाधीनता को को स्वीकार कर लिया, जो पहले उसकी अधीनता में थे। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व कोरिया, फार्मूसा, पेस्केडोरस द्वीप समूह कुरील द्वीय समूह, दक्षिणी सखालिन और प्रशान्त महासागर के बहुत से छोटे-बड़े द्वीप जापान के अधीन थे। युद्ध में जापान के परास्त हो जाने पर ये सब उसकी अधीनता से मुक्त हो गए थे। याल्टा कान्फरेन्स द्वारा किये गये निर्णय के अनुसार दक्षिणी सखालिन और कुरील द्वीपसमूह रूस के आधिपत्य में दे दिये गये थे। कोरिया की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य की हो गई थी, और फार्मूसा और उसके समीपवर्ती द्वीपों को चीन का अंग मान लिया गया था। १९५१ की शान्ति-सन्धि द्वारा जापान ने इन प्रदेशों की इस नई स्थिति को स्वीकार कर लिया। (२) यह निश्चय किया गया कि सन्धि की सम्पुष्टि के ९० दिनों के अन्दर-अन्दर सब विदेशी सेनाएं जापान से हटा ली जायेंगी। पर जापान और अमेरिका के बीच हुए एक समझौते के अनुसार अमेरिका अपनी सेनाएं जापान में रख सकेगा। ये अमेरिकन सेनाएं इस प्रयोजन से जापान में रहेंगी, ताकि कोई अन्य देश उस पर आक्रमण न कर सके। (३) व्यापार के विस्तार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के सम्बन्ध में जापान पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाएगा, और वह स्वतन्त्रतापूर्वक अन्य देशों के साथ व्यापार कर सकेगा। (४) बड़े जहाजों के निर्माण में जापान तेजी से काम नहीं लेगा। (५) यद्यपि महायुद्ध के लिए जापान को उत्तरदायी व दोषी ठहराया गया, पर यह निश्चय किया गया कि उससे कोई हरजाना वसूल न किया जाए। पर जापान के आक्रमण के कारण जिन देशों को नुकसान पहुंचा था, उन्हें यह अधिकार दिया गया कि अपने नुकसान को पूरा करने के लिए वे जिन विशेषज्ञों की आवश्यकता समझें उन्हें वे जापान से प्राप्त कर सकें। इसी प्रकार अपनी क्षतिपूर्ति के लिये उन्हें जिस सामान की जरूरत हो, उसे भी वे जापान से प्राप्त कर सकें, यद्यपि इस प्रकार लिये गये सामान की समुचित कीमत वे जापान को प्रदान करेंगे। (६) जापान को अधिकार होगा, कि अपनी सुरक्षा की दृष्टि से वह अन्य देशों के साथ सामूहिक समझौते कर सके।

८ सितम्बर, १९५१ के दिन जब सन फ्रांसिस्को में जापान के साथ की गई शान्ति-सन्धि पर हस्ताक्षर किये गये, तभी अमेरिका और जापान के एक सुरक्षा समझौते पर भी हस्ताक्षर किये, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (१) अमेरिका जापान की भूमि पर तथा उसके चारों ओर के समुद्र में इस प्रयोजन से अपनी सेनाएं रख सकेगा, ताकि जापान पर किसी अन्य देश के आक्रमण की आशंका न रहे। (२) जापान के समीप में स्थित रुक्यू द्वीपसमूह और बोनिन द्वीप अमेरिका की देख-रेख में रहेंगे। (३) आवश्यकता पड़ने पर जापान में स्थित अमेरिकन सेना देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित रखने में भी सहायता देगी।

पुस्तकालय कॉगड़ी विश्वविद्यालय

आन्तरिक राजनीति—जापान के इतिहास में सितम्बर, १९५१ की शान्ति-संधि और अमेरिका से किये गए सुरक्षा-समझौते का बहुत महत्व है। इन्हीं के कारण एप्रिल, १९५२ में जापान ने स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली थी, और उस पर से मित्र-पक्ष के राज्यों के प्रभुत्व का अन्त हो गया था, यद्यपि इसके बाद भी अमेरिका की सेनाएं जापान तथा उसके समीपवर्ती सामुद्रिक-क्षेत्र में कायम रहीं। दिसम्बर, १९५६ में जापान को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त हो गई थी, और १९५७ में वह सुरक्षा परिषद् का सदस्य भी निर्वाचित हो गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भी जापान में वही संविधान लागू रहा, जिसका निर्माण १९४७ में किया गया था। इसके अनुसार अब जापान में वैध राजतन्त्र शासन की सत्ता है, जिसमें सम्राट् की स्थिति नाममात्र की ही है। वह जनता की एकता का सूचक और राजशक्ति का प्रतीक मात्र है। वास्तविक शासन शक्ति मन्त्रि परिषद् के हाथों में है। जो अपने कार्यों के लिए जनता द्वारा निर्वाचित पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी है। पार्लियामेंट में दो सदन है, परामर्श सभा और प्रतिनिधि सभा। परामर्श सभा के सदस्यों की संख्या २५० है, और प्रतिनिधि सभा की ४६७। १९४७ में जब जापानमें नया संविधान लागू हुआ था, तो वहां की मुख्य राजनीतिक पार्टियां सैयुकाई (लिबरल), सोशल डेमोक्रैटिक और मिन्सेइतो थी। १९४७-४८ में कुछ समय के लिए सोशल डेमोक्रैटिक या सोशलिस्ट पार्टी अपनी मन्त्रि परिषद् बनाने में समर्थ हुई थी, यद्यपि प्रतिनिधि सभा में उसकी बहुसंख्या नहीं थी। पर १९४९ के चुनाव में लिबरल या लिबरल डेमोक्रैटिक पार्टी ने प्रतिनिधि सभा में बहुमत प्राप्त कर लिया, और उसके नेता योशीदा ने प्रधानमन्त्री का पद पर नियुक्त हुए। तब से वर्तमान समय (१९७३) तक जापान का शासन लिबरल-डेमोक्रैटिक पार्टी के ही हाथों में रहा, यद्यपि इस काल में सोशलिस्ट पार्टी की शक्ति में निरन्तर वृद्धि होती रही है। लिबरल-डेमोक्रैटिक पार्टी को ब्रिटेन की कन्ज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेंटिव पार्टी के समान समझा जा सकता है, और सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी को वहां की मजदूर पार्टी के। १९६७ के आम चुनाव में सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी और अन्य वामपंथी पार्टियों के उम्मीदवारों ने ४० प्रतिशत वोट प्राप्त किये थे, यद्यपि उनके केवल १७५ सदस्य प्रतिनिधि सभा में चुने जा सके थे। इस चुनाव के पश्चात् जापान की प्रतिनिधि सभा में विविध पार्टियों के सदस्यों की संख्या इस प्रकार थी—लिबरल-डेमोक्रैटिक २७६, सोशलिस्ट या सोशल डेमोक्रैटिक १३७, डैमोक्रैटिक सोशलिस्ट ३१, कोमीतो २५, कम्युनिस्ट ५, निर्दलीय ७। दिसंबर, ७२ में जापान में प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का जो नया चुनाव हुआ, उसमें भी लिबरल-डेमोक्रैटिक पार्टी की विजय हुई और वह पार्लियामेन्ट में स्पष्ट बहुमत प्राप्त करने में समर्थ हो गई। इस पार्टी के नेता श्री तनका ही इस समय (१९७३) जापान के प्रधानमन्त्री हैं। वामपक्षी पार्टियां जापान में जो अधिक जोर नहीं पकड़ सकी है, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि १९५२ के पश्चात् जापान ने आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में बहुत उन्नति की है। इससे जनसाधारण की आमदनी में पर्याप्त वृद्धि हुई है, और वहां की बहुसंख्यक जनता अपनी स्थिति से संतुष्ट है। १९५१ में जापान ने अमेरिका के साथ जो सुरक्षा-समझौता किया था, उसके कारण वहां की जनता में बहुत उद्वेग उत्पन्न हो गया था। कम्युनिस्टों ने इससे लाभ उठाना चाहा, और इस समझौते के विरुद्ध अनेक प्रदर्शन भी किये। पर वे अधिक जोर नहीं पकड़ सके। यद्यपि कम्युनिस्ट पार्टी जापान में भी विद्यमान है, पर वह अधिक शक्तिशाली नहीं है। वहां की वामपक्षी पार्टियों में सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी ही मुख्य है, जो ब्रिटेन की मजदूर पार्टी के समान देश की आर्थिक नीति में ऐसे परिवर्तन कराना चाहती है जो मजदूर वर्ग के लिए हितकर हों।

जापान में नगरों और औद्योगिक केन्द्रों के निवासी प्रायः सोशलिस्ट पार्टी के अनुयायी हैं। पर लिबरल डेमोक्रैटिक पार्टी को देहात के लोगों का समर्थन प्राप्त है। देहाती लोग स्वभाव से ही परिवर्तन व क्रान्ति के विरोधी होते हैं। पर खेती के सम्बन्ध में लिबरल डेमोक्रैटिक पार्टी ने जिस नीति का अनुसरण किया, उसके कारण किसानों का समर्थन उसे प्राप्त हो गया। जमींदारी प्रथा का अन्त कर जापान की सरकार ने किसानों को अपने खेतों का मालिक बन सकने का अवसर प्रदान किया, जिससे किसान वर्ग का संतुष्ट होना सर्वथा स्वाभाविक था। जापान के किसान भी कर्ज के बोझ से लदे हुए थे। पर जब जापान के सिक्के की कीमत गिरने लगी और खेती की पैदावार की कीमतें बढ़ने लगी, तो किसानों के लिये कर्ज से छुटकारा पा सकना सुगम हो गया और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होने लगा। इस दशा में यदि देहाती जनता लिबरल-डेमोक्रैटिक पार्टी की सरकार से संतोष अनुभव करें, तो इसे अनुचित नहीं कहा जा सकता। पर बीस साल से भी अधिक समय तक सोशलिस्ट व अन्य वामपक्षी पार्टियाँ जो एक बार भी अपनी मन्त्रि परिषद् नहीं बना सकीं, उसके कारण उन्हें असन्तोष व उद्वेग अनुभव होने लगा, और सरकार का विरोध करने के लिए वे ऐसे उपायों का अवलम्बन करने लगीं जो लोकतन्त्र राज्यों के लिए समुचित नहीं हैं। पार्लियामेंट की कार्यवाही ने विघ्न डालना, अध्यक्ष (स्पीकर) को अपना आसन ग्रहण न करने देना, प्रवेश-द्वारों को रोक कर खड़े हो जाना, सरकार के पक्षपाती सदस्यों को सभा भवन में न आने देना सदृश उपायों का प्रयोग कर सोशलिस्ट लोग लिबरल-डेमोक्रैटिक पार्टी की मन्त्रि परिषद् का विरोध करने में प्रवृत्त हुए। १९५१ में जापान ने अमेरिका के साथ जो सुरक्षा-समझौता किया था, मई, १९६० में उसकी पार्लियामेंट द्वारा पुनः सम्पुष्टि की जानी थी। जब इस विषय को प्रतिनिधि सभा के सम्मुख प्रस्तुत किया गया, तो सोशलिस्ट पार्टी ने उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोर विरोध किया। उसका विरोध केवल भाषणों तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु वामपक्षी सदस्यों ने धरना देकर पार्लियामेंट की कार्यवाही को रोकने का प्रयत्न किया, जिस पर सरकार ने पुलिस की सहायता से इन सदस्यों को सभा भवन से बाहर निकलवा दिया और विरोधी पक्ष की अनुपस्थिति में सुरक्षा-समझौते की सम्पुष्टि करा दी। पिछले बीस वर्षों में जापान में इस प्रकार की घटनाएं अनेक बार हुई हैं, और सरकार के विरोधी पक्ष ने धरना आदि उपायों का आश्रय लेकर मान्त्र परिषद् के प्रतिरोध का प्रयत्न किया है।

गत वर्षों में जापान की आन्तरिक राजनीति में कोई ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाएं नहीं हुईं, जिनके उल्लेख की इस ग्रन्थ में आवश्यकता हो। १९५४ में अमेरिका ने प्रशान्त महासागर में आणविक शक्ति के प्रस्फोट का एक परीक्षण किया था, जिससे उत्पन्न रेडियेशन से जापान के कतिपय मल्लाहों पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा था। इससे जापान में बहुत बेचैनी हुई और लोग सरकार की कटु आलोचना करने में तत्पर हो गये। सम्भवतः, इसी कारण योशीदा के लिए प्रधानमन्त्री के पद पर रह सकना सम्भव नहीं रहा, और हातोयामा के नेतृत्व में एक अन्य लिबरल-डेमोक्रेटिक पार्टी का संगठन हुआ (नवम्बर, १९५४), और यह पार्टी अपनी मन्त्रिपरिषद् बनाने में समर्थ हुई। लिबरल डेमोक्रेटिक पार्टी के संगठन तथा नेतृत्व में बाद में भी अनेक बार परिवर्तन हुए, यद्यपि जापान की सरकार इसी पार्टी के हाथों में रही।

जापान की आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति—द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जापान संसार के सबसे अधिक उन्नत औद्योगिक देशों में गिना जाता था, और उस द्वारा तैयार किया गया कपड़ा, रेशम आदि माल बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों में बिका करता था। उसके जहाज़ सवारी तथा माल को ढोने के लिये संसार के सब महासमुद्रों में आया जाया करते थे, और जापानी माल के मुकाबिले में यूरोप का माल बिक सकना कठिन हो गया था। पर महायुद्ध के कारण जापान के कल-कारखानों का बुरी तरह से विनाश हुआ था। १९४५-४६ में जापान का आर्थिक उत्पादन उस स्तर पर आ गया था, जिस पर कि वह १९२५ या उससे कुछ पहले था। खेतों और कल-कारखानों की पैदावार में कमी आ जाने के कारण जनता की बहुत अधिक दुर्दशा हो गई थी, और ऐसा प्रतीत होने लगा था कि जापान को अपनी दशा को संभालने में बहुत समय लग जायगा। पर जापान की पराजय के अनन्तर मित्र-राज्यों की ओर से जिन सेनाओं ने जापान पर कब्जा कर लिया था, और उसका शासन करने के लिये जो सामयिक व्यवस्था अपनायी गई थी, उनसे जापान की आर्थिक दशा के संभलने में बहुत सहायता मिली। जापानी लोग स्वयं बड़े कर्मठ और परिश्रमी हैं। अमेरिका सदृश समृद्ध देश से सहायता प्राप्त कर उन्होंने बहुत शीघ्र अपने को सम्भाल लिया, और १९४६ से १९५३ तक के सात सालों में जापान की राष्ट्रीय आमदनी दो गुना हो गई। जापान में सिक्के की मात्रा भी इस समय निरन्तर बढ़ रही थी, पर आर्थिक उत्पादन में भी वृद्धि होने के कारण उससे कोई हानिकारण परिणाम उत्पन्न नहीं हुए थे। जमींदारी प्रथा को नष्ट कर किसानों को अपने खेतों का स्वामी बना देने से खेती की पैदावार में इस काल में समुचित रूप से वृद्धि हुई, और अनाज का उत्पादन पहले की तुलना में ६६ प्रतिशत अधिक हो गया। इसी समय में कल-कारखानों द्वारा तैयार किये जाने वाले माल में ९६ प्रतिशत की वृद्धि हुई, और इस्पात, कपड़े, कैमरे, रेडियो आदि वस्तुएं प्रचुर परिमाण में तैयार की जाने लगीं। जापान का माल विदेशों में भी अधिकाधिक मात्रा में बिकने के लिये जाने लगा। इस क्षेत्र में जापान ने कितनी अधिक उन्नति की, इस का अनुमान इस बात से किया जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है, कि १९५३ में जापान के निर्यात माल की मात्रा १९४५ की तुलना में चौदह गुना अधिक थी।

जापान की यह आर्थिक और औद्योगिक उन्नति १९५३ के बाद भी जारी रही। इस काल में उसकी राष्ट्रीय आमदनी में १० प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि होती रही। सम्भवतः, कोई भी अन्य देश ऐसा नहीं है, जिसने इतनी तेजी से आर्थिक उन्नति की हो। सरकार द्वारा जनसंख्या में वृद्धि को रोकने के लिए परिवार-आयोजन का आन्दोलन भी इस काल में चलाया गया, जो पर्याप्त रूप से सफल हुआ। आर्थिक पैदावार में वृद्धि की दर जनसंख्या में वृद्धि की दर से अधिक होने के कारण जनसाधारण का जीवन-स्तर ऊंचा उठने लगा, और पूंजीवादी व्यवस्था के कायम रहते हुए भी किसान-मज़दूर जनता सन्तोष अनुभव करने लगी। कल-कारखानों के विकास के कारण बहुत-से लोगों को शहरों में काम मिलने लगा, और वे अपनी आजीविका के लिये खेती पर ही निर्भर नहीं रह गये। १९५३ में जापान के ४५ प्रतिशत श्रमिक अपने निर्वाह के लिये खेती, जंगल और मत्स्य पालन पर आश्रित थे। १९६६ तक इनमें लगे हुए श्रमिकों की संख्या २५ प्रतिशत से भी कम रह गई थी। पर इससे जापान में खेती की पैदावार में कोई कमी नहीं आयी थी। १९५५ में वहां खेती की कुल पैदावार ९० लाख टन थी, जो १९६२ में बढ़कर १ करोड़ ३० लाख टन हो गई थी। बाद में इस मात्रा में वृद्धि ही होती रही, कमी नहीं। औद्योगिक क्षेत्र में जो उन्नति १९५१ के बाद जापान ने की, वह वस्तुतः आश्चर्यजनक है। १९५३ और १९६६ के बीच के १३ वर्षों में जापान के औद्योगिक उत्पादन में पाँच गुने की वृद्धि हुई। यह वृद्धि प्रधानतया भारी मशीनरी, मोटर-कार, मोटर साइकिल, इस्पात, टैलीविजन और जहाजों के निर्माण में हुई। १९५५ के बाद जापान ने जहाजों के निर्माण के उद्योग में विश्व में सर्वोच्च स्थान प्राप्त कर लिया। १९६६ में वहाँ जो नये जहाज बने, उनका कुल वजन ७४,९७,००० टन था। इनमें से ४५,६०,००० टन के जहाज विदेशों के लिये बनवाये गये थे। १९५३ में जापान में जो टैलीविजन सैट बने, उनकी संख्या १४,००० थी। १९६६ में यह संख्या बढ़कर ५५,००,००० तक पहुंच गई थी। मोटरकार, मोटर साइकिल, रेशम सिन्थटिक पदार्थ आदि के उत्पादन में भी वहां बहुत अधिक वृद्धि हुई, और शीघ्र ही जापान ने औद्योगिक क्षेत्र में वही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया, जो द्वितीय महायुद्ध से पूर्व उसे प्राप्त था। आर्थिक उन्नति के साथ-साथ जापान का विदेशी व्यापार भी निरन्तर बढ़ता गया, और वहां तैयार हुआ माल बड़ी मात्रा में विदेशों में बिकने के लिए जाने लगा। १९६७ में जापान के निर्यात माल की कीमत आयात माल की कीमत की तुलना में दो गुनी से भी अधिक थी। अधिक मात्रा में अपने माल को विदेशों में बेच सकने के कारण जापान की आर्थिक समृद्धि में बहुत सहायता मिली, और उसके सिक्के ने अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर लिया। जापान का विदेशी व्यापार प्रधानतया अमेरिका और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के साथ है। चीन उसका पड़ौसी है, महायुद्ध से पहले उसका एक तिहाई से भी अधिक विदेशी व्यापार चीन के साथ था। पर चीन में कम्युनिस्ट सरकार स्थापित हो जाने पर जब जापान ने फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार को ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार स्वीकार कर लिया, तो कम्युनिस्ट चीन और जापान में व्यापार-सम्बन्ध नाम मात्र को ही रह गया। पर जापान के लोग अपने विदेशी व्यापार के लिए चीन की उपेक्षा नहीं कर सकते। इसी लिए सितम्बर, १९७२ में जब जापान के प्रधानमन्त्री तनका ने कम्युनिस्ट चीन की यात्रा की, तो इन दोनों देशों में न केवल राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने का ही निश्चय किया गया, अपितु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने परस्पर व्यापार में वृद्धि करने की दिशा में भी पग उठाया। जिस ढंग से जापान अपनी आर्थिक एवं औद्योगिक उन्नति करने में तत्पर है, उससे यह आशा करना सर्वथा उचित है कि वह शीघ्र ही संसार के सर्वाधिक उन्नत देशों में गिना जाने लगेगा, और वहां के निवासियों का जीवन-स्तर पाश्चात्य देशों की तुलना में कम नहीं रहेगा।

(२) जापान की विदेश-नीति

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय तक जापान प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में अमेरिका का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी था और वह पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्राज्य के विस्तार के लिये भी तत्पर था। अगस्त, १९४५ में महायुद्ध में परास्त होकर जब जापान ने मित्र-राज्यों के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया, तो अमेरिका और मित्र-राज्यों की उसके प्रति यह नीति थी, कि सैनिक व आर्थिक दृष्टि से उसे इतना पंगु बना दिया जाए कि भविष्य में फिर कभी वह साम्राज्य का निर्माण करने का प्रयत्न न कर सके। इसीलिये जनरल मैक् आर्थर ने शुरू में यह योजना बनायी थी, कि जापान के कल-कारखानों में उत्कृष्ट किस्म की जो भी मशीनें हों, उन्हें वहां से उखाड़ कर चीन, फिलिप्पीन आदि देशों को हरजाने के रूप में दे दिया जाए। पर यह योजना देर तक क्रियान्वित नहीं की जा सकी। इसके कारण निम्नलिखित थे—(१) चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो जाने के कारण अमेरिका को यह भय हो गया था, कि यदि जापान की सैनिक तथा आर्थिक शक्ति क्षीण हो जायगी, तो वहां भी कम्युनिस्ट पार्टी जोर पकड़ने लगेगी और वह भी चीन के मार्ग का अनुसरण करने में तत्पर हो जायगा। (२) चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो जाने से प्रशान्त महासागर और पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्रों में अमेरिका की स्थिति बहुत निर्बल हो गई थी, और रूस के कम्युनिस्ट गुट का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इस दशा में अमेरिका ने यह अनुभव किया कि यदि जापान को सैनिक व आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बना दिया जाए, तो कम्युनिज्म की बढ़ती हुई शक्ति का प्रतिरोध करने में वह अमेरिका का सहायक हो सकेगा। महायुद्ध के समय अमेरिका का यह विचार था, कि चीन पूर्वी व दक्षिण-पूर्वी एशिया का नेतृत्व कर सकता है, और उसकी कुओमितांग सरकार को फासिस्ट शक्तियों के विरुद्ध प्रयुक्त करने के साथ-साथ कम्युनिज्म के अवरोध के लिये भी काम में लाया जा सकता है। पर चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो जाने से स्थिति बिल्कुल बदल गई। अमेरिका की दृष्टि में अब जापान ही एक मात्र ऐसा देश था, जिसकी शक्ति को कम्युनिज्म के विरुद्ध प्रयुक्त किया जा सकता था। (३) १९५० में कोरिया के गृहयुद्ध का सूत्रपात हुआ। दक्षिणी कोरिया को कम्युनिस्टों से रक्षा करने के लिये जब अमेरिका ने वहां की पूंजीवादी लोकतन्त्र सरकार की सहायता करना प्रारम्भ किया, तो उसने इसके लिये जापान को आधार बनाया। जापान को आधार बना कर दक्षिणी कोरिया की सहायता तभी की जा सकती थी, जब यह 'आधार' भी सुदृढ़ हो।

इसीलिये सितम्बर, १९५१ में जापान के साथ मित्रराज्यों द्वारा शान्ति-सन्धि कर ली गई थी, और इस सन्धि द्वारा जापान की स्वतन्त्रता व सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्नता को स्वीकार कर लिया गया था। इसीलिये इसी समय अमेरिका ने जापान के साथ सुरक्षा समझौता भी किया था, जिसके अनुसार जापान ने अपने राज्यक्षेत्र में अमेरिका को सैनिक अड्डे बनाने और वहां अमेरिकन सेनाएं रखने की अनुमति प्रदान कर दी थी। अमेरिका और जापान में हुए एक समझौते द्वारा जापान ने यह भी स्वीकार कर लिया था, कि इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिकन अड्डों पर अमेरिका का ही शासन रहेगा, और जापान की सरकार इनमें किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं कर सकेगी। जापान के लिये ये समझौते अत्यन्त अपमान-जनक थे। इनके कारण उसके अपने राज्यक्षेत्र में अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र कायम हो गये थे, और उनमें उसे एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी के अधिकार भी प्राप्त थे। पर जापान अब एक स्वतन्त्र देश था, और १९५६ में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी उसे प्राप्त हो गई थी। सोवियत रूस द्वारा जापान को संघ का सदस्य बनाये जाने का विरोध किया गया था, क्यों कि अमेरिका के सैनिक अड्डे इस देश में विद्यमान थे। इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि १९५१ में जापान के साथ सन फ्रांसिस्को से जो शान्ति-सन्धि की गई थी, रूस ने उस पर हस्ताक्षर नहीं किये थे। जापान जो १९५६ से पूर्व संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं कर सका था, उसका कारण भी रूस का विरोध ही था। वह समझता था, कि जापान पूर्णतया अमेरिका के प्रभाव में है, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उसी का साथ देगा। पर ख्रुश्चेव के रूस का प्रधानमन्त्री बन जाने पर (१९५६) अमेरिका और रूस के शीत युद्ध में शिथिलता आने लगी, और रूस ने अमेरिका की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाना प्रारम्भ कर दिया। इसीलिये जापान को संघ की सदस्यता प्राप्त हो सकी।

१९५१ के बाद अमेरिका जापान को प्रचुर परिमाण में आर्थिक सहायता देने में तत्पर था, और उसका यह यत्न था कि दोनों देशों के व्यापार में वृद्धि हो। महायुद्ध से पूर्व जापान के विदेशी व्यापार में चीन का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण था। जापान चीन से कच्चा माल प्राप्त करता था, और अपने तैयार माल को वहां बेचा करता था। पर अब चीन के साथ उसका व्यापार नाम मात्र को रह गया था, क्योंकि चीन में कम्युनिस्टों का शासन था। इस दशा में अमेरिका ने जापान के साथ व्यापार को बढ़ाने का प्रयत्न किया, पर उससे जापान को विशेष लाभ नहीं हुआ। जापान एक उद्योगप्रधान देश है, और वह ऐसे बाजार प्राप्त करना चाहता था जहां उसका तैयार माल सुगमता से बिक सके। यदि अमेरिका जापान का तैयार माल प्रचुर परिमाण में खरीदता, तो वहाँ के उद्योग-पतियों को शिकायत होती। परिणाम यह हुआ, कि जापान के कल-कारखानों द्वारा तैयार किये गये माल की बिक्री के लिये विदेशों में कोई सुरक्षित बाजार नहीं रह गये। इस दशा में वहां ऐसे आन्दोलन जोर पकड़ने लगे, जो असंलग्नता या तटस्थता की नीति के पक्षपाती थे, और यह चाहते थे कि जापान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति को अपना कर चीन के साथ अपने विदेशी व्यापार की वृद्धि के लिये प्रयत्न करे। साथ ही, जापान का लोकमत यह सहन करने को भी तैयार नहीं था, कि अमेरिका के सैनिक अड्डे अपने राज्यक्षेत्र में कायम रहें। अमेरिकन सेनाओं का जापान में रहना वहां के देशभक्तों को अत्यन्त अपमानजनक प्रतीत होता था। समय-समय पर ऐसी घटनाएं भी होती रहती थीं, जिनके समाचार जापान में अमेरिका के प्रति विरोध की भावना को उत्पन्न करते रहते थे। प्रशान्त महासागर में अमेरिका द्वारा आणविक बम्बों के जो परीक्षण किये जा रहे थे, जापानी लोग उन्हें अपने देश की सुरक्षा के लिये विधायक समझते थे। हिरोशिमा को वे अभी भूले नहीं थे। अमेरिका ने अपने सैनिक अड्डों में आण-विक आयुधों को भी बड़ी मात्रा में संचित कर दिया था, ताकि आवश्यकता पड़ने पर रूस और चीन के विरुद्ध उन्हें प्रयुक्त किया जा सके। पर ये आयुध रूस के पास भी थे। जापानी लोगों को भय था, कि यदि कभी आणविक युद्ध हुआ, तो उन्हें घोर विपत्ति का सामना करना पड़ेगा, क्योंकि रूस जापान में विद्यमान अमेरिकन सैनिक अड्डों पर आण-विक आक्रमण करने में संकोच नहीं करेगा। इसीलिये जापान में अनेक स्थानों पर जनता ने अमेरिका के विरुद्ध प्रदर्शन किये, और कहीं-कहीं इन प्रदर्शनों ने हिंसात्मक रूप भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण कर लिया। सरकार के लिये भी यह सम्भव नहीं रहा, कि वह लोकमत की उपेक्षा कर सके। प्रत्येक प्रश्न पर अमेरिका का साथ देने की नीति का परित्याग कर अब उसने अनेक विषयों में स्वतन्त्र आचरण करना शुरू कर दिया, और जापान पर अमेरिका के प्रभाव में कमी आने लग गई। इसीलिये जब स्वेज की नहर की समस्या का हल करने के लिये अमेरिका ने 'स्वेज नहर प्रयोक्ता एसोसियेशन' के निर्माण का प्रस्ताव किया, तो जापान ने उसका समर्थन नहीं किया। जापान का लोकमत जो अमेरिका के विरुद्ध-होता जा रहा था, उसी का यह परिणाम हुआ कि जब १९६० में जापान और अमेरिका के बीच किये गए सुरक्षा-समझौते को पुनः संपुष्ट करने का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो जापान में उसके विरुद्ध अत्यन्त उग्र प्रदर्शन किये गये, और पार्लियामैन्ट उसकी सम्पुष्टि तभी कर सकी, जबकि पुलिस ने शक्ति का प्रयोग कर विरोधी दलों के सब सदस्यों को बहिष्कृत कर दिया। जापान का लोकमत इस समय अमेरिका के इतना विरुद्ध हो गया था, कि अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर को जापान-यात्रा के अपने कार्यक्रम को रद्द करना पड़ा (१९६०)।

जापान और अमेरिका के बिगड़ते हुए सम्बन्धों को दृष्टि में रख कर अब रूस ने जापान में अधिक दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ कर दी। रूस और जापान के सम्बन्ध मैत्री-पूर्ण नहीं थे। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर कुरील द्वीपसमूह और दक्षिणी सखालिन (जो पहले जापान के अन्तर्गत था) पर रूस ने कब्जा कर लिया था। इन द्वीपों का जापान के लिये बहुत महत्त्व था, क्योंकि इन्हें आधार बनाकर वह अपने मत्स्य व्यवसाय का संचालन किया करता था। इनके रूस के पास चले जाने के कारण जापान को बहुत नुकसान पहुंचा था, और उसकी सरकार यह मांग कर रही थी कि कुरील द्वीपसमूह के वे द्वीप तो उसे मिल ही जाने चाहियें, जिन्हें मछलियां पकड़ने के लिये आधार के रूप में प्रयुक्त किया जाता था। जापान का यह भी कहना था, कि दस हजार के लगभग जापानी कैदी अब तक भी रूस के जेलखानों में बन्द हैं, यद्यपि रूस इससे इन्कार करता था। परस्पर-विरोध के इन तथा कतिपय अन्य कारणों के बावजूद रूस और जापान अब एक दूसरे के समीप आने लगे। जापान में अमेरिका के विरुद्ध जो भावना प्रबल हो रही थी, रूस ने उससे लाभ उठाया, और जापान के साथ राजनयिक सम्बन्ध स्थापित किये। रूस के समान चीन ने भी जापान की ओर मैत्री का हाथ बढ़ाना शुरू किया। इसीलिये मई, १९६४ में चीन ने एक व्यापारिक और औद्योगिक मिशन जापान भेजा। वहां जाकर उसने जापान के अनेक बड़े नगरों में औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन किया, और यह प्रयत्न किया कि जापान से उसका व्यापार फिर से स्थापित हो जाए। इसी समय रूस के तत्कालीन उपप्रधानमन्त्री मिकोयन जापान गये और वहां उन्होंने व्यापार की वृद्धि के विषय में बातचीत की। उन्होंने जापान के सम्मुख यह सुझाव भी रखा, कि साइबीरिया के औद्योगिक विकास के लिये रूस और जापान परस्पर सहयोग से काम करें। वहां कल-कारखाने स्थापित करने के लिये जिस मशीनरी की आवश्यकता हो उसे जापान प्रदान करे, और बदले में रूस जापान को तेल दे। पर सम्मिलित रूप से साइबीरिया के औद्यो-गिक विकास की योजना ने अभी पर्याप्त प्रगति नहीं की है, और जापान रूस के अधिक समीप नहीं आ सका है। संसार के अन्य देशों के समान जापान में भी कम्युनिस्ट पार्टी विद्यमान है, पर अभी इस पार्टी की शक्ति बहुत कम है। कम्युनिस्टों के अतिरिक्त अन्य जापानियों का रूस के प्रति झुकाव नहीं है। वे यह नहीं भूले हैं, कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से कुछ समय पूर्व रूस ने अकस्मात् ही जापान पर आक्रमण कर दिया था, यद्यपि इन दोनों देशों में अनाक्रमण की सन्धि विद्यमान थी। जापान के उत्तरी द्वीप होक्कैदो के बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समीप जो अनेक छोटे-छोटे द्वीप सखालिन तक चले गये हैं, उन पर रूस का प्रभुत्व भी जापान को समुचित व न्याय्य प्रतीत नहीं होता। दक्षिणी सखालिन पर भी वह अपना अधिकार समझता है। इस दशा में जापान और रूस के सम्बन्ध अधिक मधुर नहीं हो पाये हैं।

पर जापान और चीन के सम्बन्धों के विषय में यह बात नहीं कही जा सकती। यद्यपि चीन में भी कम्युनिस्ट शासन विद्यमान है, पर आर्थिक आवश्यकताओं से विवश होकर जापान अपने पड़ौसी इस कम्युनिस्ट राज्य के अधिकाधिक समीप आता जा रहा है। जापान जिस ढंग से औद्योगिक उन्नति के लिये तत्पर है, उसके लिये उसे कोयले, लोहे की कच्ची धातु आदि कच्चे माल की बहुत बड़ी मात्रा में आवश्यकता है। इसे वह चीन से सुगमता से प्राप्त कर सकता है। इसीलिये वह चीन के साथ अपने व्यापार को बढ़ाने के लिये उत्सुक है, और गत वर्षों में अनेक जापानी मिशन कम्युनिस्ट चीन की यात्रा करते रहे हैं। पहले जापान के सोशलिस्ट नेता तथा उद्योगपति ही चीन जाया करते थे, पर सितम्बर, १९७२ में जापान के प्रधानमन्त्री तनका भी चीन गये, और एक स्वागत समारोह में भाषण करते हुए उन्होंने उन अपराधों के लिये क्षमायाचना की, जो दो महायुद्धों के मध्यवर्ती काल में जापान द्वारा चीन के प्रति किये गये थे। साथ ही, उन्होंने इस बात के लिये भी इच्छा प्रगट की, कि अब इन दोनों देशों के सम्बन्ध मधुर हो जाएं। तनका की चीन यात्रा की समाप्ति पर दोनों देशों की ओर से जो संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की गई, उसमें स्पष्ट रूप से यह घोषित किया गया कि अब दोनों देश एक दूसरे के साथ औपचारिक रूप से राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने को उद्यत हैं। इस अवसर पर जापान ने यह भी घोषित किया, कि फार्मूसा (तैवान) कम्युनिस्ट चीन के राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत है, और पेकिंग की सरकार ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार है। इसी समय जापान ने फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार से अपने सम्बन्ध का अन्त कर दिया। निस्सन्देह, अब कम्युनिस्ट चीन और जापान एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं, और जापान के आधुनिक इतिहास में यह बात बहुत महत्त्व की है।

यद्यपि जापान से अमेरिका के प्रभाव का अभी पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ है, पर यह भी स्पष्ट है कि वह अब अमेरिका से दूर हटता जा रहा है। राष्ट्रीय भावना और समाजवादी विचाधारा का विकास उसे आन्तरिक और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्रता से आचरण करने के लिये प्रेरित कर रहे हैं। जापान की सरकार के लिये अब यह सम्भव नहीं रहा है कि जनता की अमेरिका-विरोधी भावनाओं की उपेक्षा कर सके। यह सर्वथा सम्भव है कि भविष्य में जापान अमेरिका के प्रभाव से मुक्त होकर तटस्थता की नीति को उसी ढंग से अपना ले, जैसे कि उसे दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों ने अपनाया है।

(३) फार्मूसा (तैवान)

चीन के दक्षिण-पूर्व में फार्मूसा नाम का एक द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल १३,८८५ वर्गमील है, और जनसंख्या १,३५,००,००० के लगभग है। यह द्वीप चीन का अंग माना जाता था, पर १८९४-९५ के चीन-जापान युद्ध की समाप्ति पर यह जापान की अधीनता में चला गया था। द्वितीय महायुद्ध के समय यह जापान के ही अधीन था। महायुद्ध में जब जापान परास्त हो गया, तो चीन ने फिर से उस पर अधिकार स्थापित कर लिया (२५ अक्टूबर, १९४५)। उस समय चीन में कुओमिन्तांग सरकार की सत्ता थी, अतः फार्मूसा पर भी कुओमिन्तांग का ही शासन स्थापित हुआ। पर चीन में इस समय कम्युनिस्टों की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति निरन्तर बढ़ रही थी, और कुओमिन्तांग के लिए उनके सम्मुख टिक सकना सम्भव नहीं रह गया था। चियांग काई शेक को यह समझने में देर नहीं लगी, कि अब वह चीन में अपनी शक्ति को कायम नहीं रख सकेंगे। अतः उन्होंने फार्मूसा जाकर अपनी सरकार को स्थापित करने का निश्चय किया, और जो भी अस्त्र-शस्त्र, व सैनिक उनके पास थे, उन सब को वह फार्मूसा ले जाने के लिये प्रयत्नशील हो गये। दिसम्बर, १९४९ तक कुओमिन्तांग सरकार भी चीन से फार्मूसा चली आई, और चियांग काई शेक के नेतृत्व में वहां 'चीन की रिपब्लिक' की स्थापना की गई। फार्मूसा में स्थित यह कुओमिन्तांग सरकार अपने को सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार मानती है, और यह आशा रखती है कि एक दिन वह कम्युनिस्ट शासन का अन्त कर सारे चीन को अपने शासन में ले आयगी। अमेरिका भी फार्मूसा की सरकार के इस दावे का समर्थन करता रहा है, और चियांग काई शेक वहां जो अपनी सरकार की स्थिति को कायम रखने में समर्थ रहे हैं, अमेरिका की सहायता व समर्थन ही उसका प्रधान कारण है। २६ अक्टूबर, १९७१ से पहले तक संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी फार्मूसा को ही प्राप्त थी, और उसी का प्रतिनिधि सुरक्षा परिषद् में स्थायी स्थान प्राप्त किये हुए था। अमेरिका के विरोध के कारण कम्युनिस्ट चीन को संघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हो सकी थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ की दृष्टि में फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार थी।

कम्युनिस्ट चीन के मुकाबले में फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार जो अपने को कायम रख सकी, उसका प्रधान कारण अमेरिका का उसकी पीठ पर होना था। महायुद्ध के समय चीन को अमेरिका से भरपूर सहायता प्रदान की गई थी, और यह सहायता कुओमिन्तांग सरकार को ही दी जाती थी, यद्यपि उत्तर-पश्चिमी चीन में तब कम्युनिस्टों की भी पृथक् सरकार विद्यमान थी और वह जापान के विरुद्ध युद्ध में विशेष तत्परता प्रदर्शित कर रही थी। जब कुओमिन्तांग सरकार फार्मूसा चली गई, तब भी अमेरिका द्वारा उसे सहायता दी जाती रही। शुरू में हैनान द्वीप (जो चीन के दक्षिण-पूर्व में स्थित है) भी कुओमिन्तांग सरकार के अधीन था, और चीन के पूर्वी समुद्रतट के समीप विद्यमान कतिपय अन्य द्वीपों पर भी उसका शासन था। एप्रिल, १९५० में कम्युनिस्टों ने हैनान पर आक्रमण किया, और उसे जीत लिया। इस समय यह आशा की जा रही थी, कि कम्युनिस्ट फार्मूसा पर भी आक्रमण करेंगे, और कुओमिन्तांग के लिये उनका सामना करना सम्भव नहीं होगा। कोरिया में भी इसी समय (१९५०) युद्ध का सूत्रपात हो गया था। इस दशा में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने सातवें जंगी बेड़े को यह आदेश दिया, कि फार्मूसा पर कम्युनिस्ट आक्रमण होने की दशा में उसका डट कर सामना किया जाए और फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार की अविकल रूप से रक्षा की जाए। १९५१ में अमेरिका की ओर से एक सैनिक मिशन इस प्रयोजन से फार्मूसा भेजा गया, कि वह जहां उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करे, वहां साथ ही कुओमिन्तांग सरकार को वहां के शासन तथा आर्थिक दशा को सुव्यवस्थित करने के सम्बन्ध में भी परामर्श दे। इसी साल (१९५१) सन फ्रांसिस्को में जो शान्ति-सन्धि हुई, उसमें जापान ने यह स्वीकार किया कि फार्मूसा पर उसका किसी प्रकार का कोई अधिकार नहीं है। उसने फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार के साथ पृथक् रूप से सन्धि भी कर ली, जिसके कारण चीन और जापान के युद्ध का औपचारिक व वैध रूप से अन्त हो गया। दिसम्बर, १९५४ में अमेरिका ने फार्मूसा के साथ पारस्परिक सुरक्षा समझौता (Mutual Security Pact) किया, जिस द्वारा अमेरिका ने इस द्वीप की सुरक्षा की उत्तरदायिता अपने ऊपर ले ली। अब न केवल कुओमिन्तांग सरकार को प्रचुर परिमाण में सैनिक एवं आर्थिक सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देनी प्रारम्भ की गई, अपितु अमेरिका की जल सेना भी इस क्षेत्र में आ गई। अमेरिका के अफसरों ने कुओमिन्तांग की सेना को प्रशिक्षित करने का कार्य भी अपने हाथों में लिया, और आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से उसे सुसज्जित कर दिया। अमेरिका से भरपूर सहायता प्राप्त कर फार्मूसा की कुओमिन्तांग सरकार को यह आशा बनी रही, कि वह न केवल कम्युनिस्ट चीन के आक्रमणों से अपनी रक्षा करता रह सकेगा, अपितु कभी कम्युनिस्टों को परास्त कर सम्पूर्ण चीन को अपने अधिकार में ले आने में भी समर्थ हो जायगा। फार्मूसा की चीनी रिपब्लिक का राष्ट्रपति पद शुरू से ही चियांग काई शेक के हाथों में रहा है। वह वहां के राष्ट्रपति होने के साथ-साथ कुओमिन्तांग पार्टी के सर्वमान्य नेता और कर्ता धर्ता भी हैं।

पर गत वर्षों में फार्मूसा की कुओमिन्ताँग सरकार की स्थिति बहुत डाँवाडोल हो गई है। २८ अक्टूबर, १९७१ के दिन कम्युनिस्ट चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो गई, और फार्मूसा को संघ से बहिष्कृत कर दिया गया। बहुत-से राज्यों ने उस की वैध सत्ता को मान्यता देने से इन्कार कर दिया गया, और पेकिंग की सरकार को ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार के रूप में स्वीकार कर लिया। फार्मूसा की चीनी रिपब्लिक को अब तक भी अमेरिका द्वारा मान्यता प्राप्त है, यद्यपि वह भी कम्युनिस्ट चीन के साथ अपने सम्बन्धों को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील है।

(४) हांगकांग

चीन के दक्षिण-पूर्व में हाँगकाँग नाम का द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल २९ वर्गमील है। यह चीन के समुद्रतट से केवल ३½ मील की दूरी पर है। हाँगकाँग द्वीप के ठीक सामने कौलून प्रायद्वीप है, और उसके साथ लगा हुआ चीन का वह भूभाग है, जिसे नया क्षेत्र (New Territory) कहते हैं। कौलून और नया क्षेत्र का क्षेत्रफल ३६५ वर्गमील है। इस प्रकार हाँगकाँग नाम का जो उपनिवेश इस समय ग्रेट ब्रिटेन की अधीनता में है और ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग है, वह क्षेत्रफल में ३८८ वर्गमील के लगभग है। क्षेत्रफल में इतना कम होते हुए भी पूर्वी एशिया के इतिहास में हांगकांग का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। यह एक बड़ा औद्योगिक केन्द्र है, प्रसिद्ध बन्दरगाह है, और इसकी जनसंख्या ४० लाख से भी अधिक है। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में चीन में जो अफीम युद्ध (१८३९-४२) हुआ था, उस पर इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। युद्ध की समाप्ति पर नानकिंग में जो सन्धि (१८४२) हुई, उस द्वारा हांगकांग द्वीप ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। ब्रिटिश व्यापारियों ने उसे अपना केन्द्र बनाया, और वहां से चीन के साथ अपने व्यापार को जारी रखा। १८५६ में पाश्चात्य देशों का चीन के साथ दूसरा युद्ध हुआ, जिसकी समाप्ति पर पेकिंग में की गई सन्धि के अनुसार कौलून प्रायद्वीप ग्रेट ब्रिटेन ने प्राप्त कर लिया। जून, १८९८ में ब्रिटेन ने चीन की सरकार के साथ एक अन्य समझौता किया, जिस द्वारा कौलून के साथ लगा हुआ प्रदेश (नया क्षेत्र) उसे ९९ साल के पट्टे पर प्राप्त हुआ। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी का अन्त होने से पहले ही ब्रिटेन ने चीन के उस प्रदेश को अधिकृत कर लिया था, जिसे हांगकांग की क्राउन कोलोनी कहते हैं। तब से अब तक यह ब्रिटेन के अधीन है, यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर कुछ समय के लिये यह जापान के कब्जे में आ गया था।

बीसवीं सदी के पूर्वार्ध में चीन की राजनीतिक दशा अत्यन्त अस्त-व्यस्त थी, और अनेक साम्राज्यवादी देश उसे अपने अधीन करने और वहां अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र कायम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने में व्यापृत थे। इस काल में हांगकांग एक व्यापारिक केन्द्र के रूप में निरन्तर उन्नति करता गया, क्योंकि वहां ब्रिटेन द्वारा एक व्यवस्थित शासन स्थापित था। पर हांगकांग की जो उन्नति इस समय में है, वह द्वितीय महायुद्ध के बाद के काल में हुई है। १९३९ में उसकी जनसंख्या केवल १६,००,००० थी, जापान के कब्जे के समय घटकर जो केवल छः लाख रह गई थी। इस समय यह आबादी बढ़कर ४० लाख से भी ऊपर पहुंच गई है। उद्योग, व्यापार और कल-कारखानों में भी हांग कांग ने बहुत उन्नति की है। कम्युनिस्ट चीन अपने विदेशी व्यापार के लिये उसे एक महत्त्वपूर्ण स्रोत समझता रहा है। चीन को जिस मशीनरी आदि की आवश्यकता होती है, उसे वह हांगकांग के बाजार से प्राप्त करता रहा है, और अपने माल को विदेशों में बेचने के लिये भी उसने इस ब्रिटिश उपनिवेश का उपयोग किया है। अपने राज्यक्षेत्र के साथ लगे हुए इस प्रदेश को जीतकर अपनी अधीनता में ले आने का कोई प्रयत्न कम्युनिस्ट चीन ने जो अब तक नहीं किया, उसका यह एक मुख्य कारण है। चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो जाने पर वहां के बहुत-से पूंजीपतियों और उद्योग-पतियों ने हांगकांग आकर आश्रय ग्रहण कर लिया था, और वहां उन्होंने बहुत-से नये कल-कारखानों की स्थापना कर ली थी। कुओमिन्तांग और कम्युनिस्ट सरकार के संघर्ष-काल में बहुत-से चीनी मजदूर भी भागकर हांगकांग चले आये थे। पूंजी और श्रम-दोनों के प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होने के कारण हांगकांग के लिये औद्योगिक उन्नति कर सकना बहुत सुगम हो गया, और शीघ्र ही वह एक महत्त्वपूर्ण औद्योगिक केन्द्र बन गया। १९५४ में वहां कल-कारखानों की संख्या केवल २६०० थी। पर १९६८ में वहां ११,३४८ कार-खाने विद्यमान थे, जिनमें पांच लाख के लगभग मजदूर कार्य करते थे। हांगकांग के कार-खाने जो माल तैयार करते हैं, उसका ९० प्रतिशत भाग विदेशों में विक्रय के लिये भेज दिया जाता है। वह एक फ्री पोर्ट है, जहां आयात और निर्यात माल पर कोई कर नहीं लिया जाता। इस कारण अनेक देशों ने अपने तैयार माल की बिक्री के लिये वहां केन्द्र स्थापित किये हुए हैं। अमेरिका, रूस, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देश अपना माल वहां भेज देते हैं, और वहां से उसे दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों में बिक्री के लिये भेज दिया जाता है। औद्योगिक उत्पादन में लगे हुए श्रमिकों के निवास आदि की हांगकांग की सरकार ने समुचित व्यवस्था की है, और इस प्रयोजन से बहुत-सी नई इमारतें बनवायी हैं। चीन में सांस्कृतिक क्रान्ति के समय जो अव्यवस्था उत्पन्न हो गई थी, उसके कारण बहुत-से चीनी नागरिकों ने हांगकांग में आकर आश्रय ग्रहण किया था। इनमें से बहुसंख्यक लोग अब हांगकांग में ही बस गये हैं, क्योंकि मजदूरी प्राप्त करने की वहां समुचित सुविधा है।

१९९७ में हांगकांग का नया क्षेत्र (New Territory) चीन को प्राप्त हो जायगा पर कौलून (क्षेत्रफल-३।। वर्गमील) और हांगकांग द्वीप (क्षेत्रफल २९ वर्गमील) तब भी सम्भवतः ब्रिटेन के ही हाथों में रहेंगे। कम्युनिस्ट चीन का इनके प्रति क्या रुख होगा, यह कह सकना कठिन है। पर अधिक सम्भावना यही है, कि चीन इन्हें अधिगत करने का प्रयत्न नहीं करेगा, क्योंकि यह ब्रिटिश कोलोनी उसके विदेशी व्यापार का महत्त्वपूर्ण साधन है।

(५) कोरिया

कोरिया किस प्रकार जापान के अधीन हुआ, द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् उसने कैसे स्वतन्त्रता प्राप्त की, वह किस प्रकार दो भागों में विभक्त हुआ, और कोरिया के इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो भागों में किस प्रकार गृह-युद्ध हुआ—इन विषयों पर इस ग्रन्थ में पहले प्रकाश डाला जा चुका है। महायुद्ध के पश्चात् उत्पन्न हुई परिस्थितियों के कारण कोरिया अपनी राष्ट्रीय एकता को कायम रखने में असमर्थ रहा था, और उसके दो भागों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं पर आश्रित दो सरकारें स्थापित हो गई थीं। एप्रिल-जून, १९५४ में पूर्वी एशिया की समस्याओं पर विचार करने के प्रयोजन से जिनीवा में जिस कान्फ-रेन्स का आयोजन किया गया था, वह कोरिया के सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्णय नहीं कर सकी थी, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। परिणाम यह हुआ कि कोरिया दो राज्यों में विभक्त रहा, और ये दोनों राज्य अब तक भी पृथक् रूप से कायम हैं।

उत्तरी कोरिया का कम्युनिस्ट राज्य 'कोरियन जनता की लोकतन्त्र रिपब्लिक' कहाता है। वहां यद्यपि अनेक वामपक्षी समाजवादी पार्टियों की सत्ता है, पर उनमें को-रियन वर्कर्स पार्टी प्रमुख है। इसके नेता किम इल-सोंग हैं, जो कम्युनिस्ट कोरिया के शासन में सर्वोच्च स्थिति रखते हैं। १९४८ से अब तक वही इस राज्य के प्रधानमन्त्री के पद पर विद्यमान हैं। उनकी इस स्थिति का कारण वर्कर्स पार्टी (कम्युनिस्ट पार्टी) का नेता व मुख्य सचिव होना ही है। कम्युनिस्ट चीन के समान कम्युनिस्ट कोरिया के नेताओं में भी अनेक वार संघर्ष हुए, पर कोई अन्य व्यक्ति किम इल-सोंग के मुकाविले में टिक नहीं सका। कम्युनिस्ट कोरिया के इन आन्तरिक संघर्षों का उल्लेख करना विशेष उपयोगी नहीं है। १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् रूस में यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, कि शासन में किसी एक व्यक्ति की सर्वोच्च सत्ता समुचित नहीं है। ख्रुश्चेव आदि रूसी नेता व्यक्ति पूजा के विरोधी थे। रूस की इस नई प्रवृत्ति का कम्युनिस्ट कोरिया पर भी प्रभाव पड़ा। वहां के शासन में किम इल-सोंग ने जो असाधारण शक्ति प्राप्त की हुई थी, कतिपय लोगों ने उसका विरोध करने का यत्न किया, पर इन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। इन्हें अपने पदों से च्युत कर दिया गया, और किम इल-सोंग की स्थिति पूर्ववत् कायम रही।

किम इल-सोंग उत्तरी कोरिया में जो अपनी स्थिति को कायम रख सकने में समर्थ हुए, उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह था, कि उनके नेतृत्त्व में देश की आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के कार्यक्रम को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। गृह-युद्ध (१९५०-५३) के कारण उत्तरी कोरिया के कल-कारखानों और खेती को बहुत नुकसान पहुंचा था। उसकी नहरें तथा बांध नष्ट हो गये थे, जिसके परिणामस्वरूप अनाज के उत्पादन में बहुत कमी आ गई थी। बहुत-सी खानें और कल-कारखाने क्षत-विक्षत हो गये थे, और उनमें माल तैयार कर सकना सम्भव नहीं रहा था। किम इल-सोंग के नेतृत्त्व में उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार ने आर्थिक समस्या पर बहुत ध्यान दिया, और पहली त्रिवर्षीय आयोजना (१९५४-५६) द्वारा देश के भारी उद्योगों में तीन गुना की वृद्धि हो गई। इसके बाद देश की आर्थिक उन्नति के लिये पञ्चवर्षीय आयोजना (१९५६-६०) और सप्तवर्षीय आयोजना (१९६१-६७) का निर्माण किया गया। बाद में इस आयो-जना के काल को १९७० तक के लिये बढ़ा दिया गया। इन आयोजनाओं के परिणाम-स्वरूप उत्तरी कोरिया ने आर्थिक और औद्योगिक क्षेत्र में असाधारण प्रगति कर ली है, और इनके जो लक्ष्य निर्धारित किये गये थे वे प्रायः पूर्ण हो गये हैं। उत्तरी कोरिया के कल-कारखाने राज्य की सम्पत्ति हैं, और वहां खेती का उत्पादन सहकारी समितियों तथा सामूहिक फार्मों द्वारा होता है। कम्युनिस्ट कोरिया को अपनी औद्योगिक उन्नति के लिये जिस आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, उसे वहां की सरकार ने मुख्यतया चीन से प्राप्त किया, यद्यपि सनिक संगठन के लिये वह रूस पर निर्भर रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सोवियत रूस और कम्युनिस्ट चीन में विरोध उत्पन्न हो जाने के अनन्तर कम्युनिस्ट कोरिया का झुकाव प्रायः चीन की ओर रहा। इसीलिये युगोस्लाविया, क्यूबा और चीन-भारत सीमा विवाद के प्रश्नों पर उसने चीन का साथ दिया। कोरिया की कम्युनिस्ट पार्टी का झुकाव चीन की ओर है, और उसकी सरकार का केवल कम्युनिस्ट राज्यों के साथ ही राजनयिक सम्बन्ध स्थापित है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता उसे प्राप्त नहीं हुई है। उत्तरी कोरिया का विदेशी व्यापार भी मुख्यतया कम्युनिस्ट राज्यों के साथ ही है।

दक्षिणी कोरिया में पूंजीवादी लोकतन्त्र शासन की स्थापना हुई थी, और अमेरिका की सहायता उसे प्राप्त थी। मई, १९४८ में वहां जिस संविधान के अनुसार सरकार का संगठन किया गया था, उसका उल्लेख इस ग्रन्थ के सताईसवें अध्याय में किया जा चुका है। इस सरकार में राजशक्ति राष्ट्रपति के हाथों में रखी गई थी, और इस पद सिंगमन र्‌ही निर्वाचित हुए थे। उन्हें अमेरिका का समर्थन प्राप्त था, और वे सब शक्ति अपने हाथों में रखने के लिये प्रयत्नशील थे। पर दक्षिणी कोरिया में उनके विरोधियों की भी कमी नहीं थी। ऐसा प्रतीत होता था, कि १९५२ के चुनाव में वे राष्ट्रपति पद पर नहीं चुने जा सकेंगे। परिणाम यह हुआ, कि चुनाव (जो २३ जून, १९५२ के दिन होना था) को स्थगित कर दिया गया, और मार्शल लॉ की घोषणा कर दी गई। नेशनल एसेम्बली के अनेक सदस्य, जो र्‌ही के विरोधी थे, गिरफ्तार कर लिये गये। इसी समयसंविधान में कतिपय महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये, जिनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) राष्ट्रपति का चुनाव नेशनल एसेम्बली द्वारा न करके सर्वसाधारण मतदाताओं के वोटों द्वारा किया जाया करे। (२) नेशनल एसेम्बली में दो सदन हुआ करें। (३) मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाया करे, प्रधानमन्त्री द्वारा नहीं। (४) नेशनल एसेम्बली को अधिकार हो, कि वह अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार करके मन्त्रिपरिषद् को अपदस्थ कर सके। संशोधित संविधान के अनुसार अगस्त, १९५२ में राष्ट्रपति का चुनाव किया गया, और सिंगमन र्‌ही पुनः इस पद पर निर्वाचित हो गये। सर्वसाधारण मतदाताओं के वोटों द्वारा राष्ट्रपति निर्वाचित होकर सिंगमन र्‌ही ने अपनी शक्ति को और बढ़ाना शुरू किया, और नवम्बर, १९५४ में उन्होंने दक्षिणी कोरिया के संविधान में कतिपय नये संशोधन कराये—(१) प्रधानमन्त्री के पद को हटा दिया जाए, और मन्त्रिपरिषद् की अध्यक्षता राष्ट्रपति द्वारा ही की जाया करे। (२) सिंगमन र्‌ही के लिये यह कानून लागू न हो, कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक एक साथ राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित नहीं हो सकता। इन संशोधनों के कारण सिंगमन र्‌ही की शक्ति में बहुत अधिक वृद्धि हो गई, और १९५६ के चुनाव में वे तीसरी बार राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये। उनकी शक्ति अब इतनी बढ़ गई थी, कि १९६० के चुनाव में वे फिर राष्ट्रपति पद के लिये खड़े हुए और सफल भी हो गये। पर इस समय लोकमत उनके पक्ष में नहीं था। लोगों का विचार था, कि चुनाव निष्पक्ष नहीं हुआ है। परिणाम यह हुआ, कि दक्षिणी कोरिया में सर्वत्र सरकार के विरुद्ध प्रदर्शन किये गये, और विद्यार्थी तथा नवयुवक सिंगमन र्‌ही के विरुद्ध उठ खड़े हुए। परिस्थिति इतनी गम्भीर हो गई, कि न केवल मन्त्रिपरिषद् ने अपितु सिंगमन र्‌ही ने भी अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया।

सरकारके त्यागपत्र दे देने और स्थान-स्थान पर प्रदर्शन होने के कारण जो संकट इस समय उपस्थित हो गया था, उसे दृष्टि में रखकर दक्षिणी कोरिया के लिये अब एक नये संविधान का निर्माण किया गया (जून, १९६०), जिसके अनुसार (१) शासन की सांसद पद्धति को अपनाया गया। राष्ट्रपति के पद को कायम रखा गया, परशासन शक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके हाथों से ले ली गई। (२) यह व्यवस्था की गई, कि पार्लियामेन्ट (नेशनल एसेम्बली) में दो सदन हों – प्रतिनिधि सभा और परामर्श सभा। प्रतिनिधि सभा में जिस पार्टी का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया जाया करे, और वह मन्त्रि-परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति किया करे। मन्त्रिपरिषद् पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी हो। (३) राष्ट्रपति का चुनाव पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों के सदस्यों की संयुक्त बैठक द्वारा किया जाया करे। २९ जुलाई, १९६० के दिन नये संविधान के अनुसार पार्लियामेन्ट का चुनाव हुआ, जिसमें डेमोक्रेटिक पार्टी की विजय हुई। अब मि० युन राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, और डा० जॉन चांग को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया, क्योंकि डेमोक्रेटिक पार्टी के वे ही प्रधान नेता थे। पर यह नई सरकार भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सकी। दक्षिणी कोरिया में न केवल अनेक ऐसी राजनीतिक पार्टियों की सत्ता थी जो परस्पर संघर्ष में व्यापृत रहती थीं, अपितु इन पार्टियों में अनुशासन का भी अभाव था। इस दशा में वहां किसी भी लोकतन्त्र शासन का सफल हो सकना सुगम नहीं था। १६ मई, १९६१ के दिन कतिपय सैनिक अफसरों ने डा० चांग की सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और उसे अपदस्थ कर एक क्रान्तिकारी सैनिक कमेटी का संगठन कर लिया और शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। जनरल चांग दो युग इस नई सैनिक सरकार के प्रधान नेता थे। उन्होंने देश की पार्लियामेन्ट को भंग कर दिया, मार्शल लॉ जारी किया, विविध राजनीतिक पार्टियों के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया, डा० चांग की मन्त्रिपरिषद् के सब सदस्य जेल में डाल दिये, और एक क्रान्तिकारी न्यायालय की स्थापना की। इस न्यायालय को यह कार्य सुपुर्द किया गया कि उन सरकारी कर्मचारियों, मन्त्रियों तथा राजनीतिक नेताओं पर मुकदमे चलाये, जिन पर कि रिश्वतखोरी तथा भ्रष्टाचार के आरोप थे। सैनिक सरकार ने कम्युनिज्म के विरोध, भ्रष्टाचार के अन्त और अमेरिका के साथ घनिष्ठ मैत्री को अपनी नीति तथा कार्यक्रम में मुख्य स्थान दिया। पर जनरल चांग दो युग भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सके। जनरल पार्क चुंग ही ने एक षड्यन्त्र द्वारा १ जुलाई, १९६१ के दिन उन्हें अपदस्थ कर दिया, और उन्हें तथा उनके साथी चालीस अन्य सैनिक अफसरों को गिरफ्तार कर सब राजशक्ति अपने हाथों में ले ली। पर दक्षिणी कोरिया की जनता अपने देश में सैनिक शासन को सहन करने के लिये उद्यत नहीं थी। जनरल पार्क की सैनिक सरकार के विरुद्ध अनेक स्थानों पर प्रदर्शन शुरू हो गये, और इन प्रदर्शनों ने हिंसात्मक रूप ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि देश के बहुसंख्यक सैनिक अफसर जनरल पार्क के पक्षपाती थे, पर उनके लिये स्थिति को संभाल सकना कठिन हो गया, और अमेरिका के राजदूत ने उनसे अनुरोध किया कि वे देश के राजनीतिक नेताओं के साथ मिलकर काम करें और एक ऐसी असैनिक सरकार को स्थापित करें जो कोरिया की जनता को स्वीकार्य हो। अमेरिका की ओर से जनरल पार्क को यह भी जता दिया गया, कि यदि उन्होंने ऐसा न किया, तो अमेरिका के लिये उनकी सरकार को आर्थिक सहायता प्रदान कर सकना सम्भव नहीं होगा। इस दशा में जनरल पार्क को झुक जाना पड़ा, और उन्होंने घोषित किया कि शीघ्र ही कोरिया के लिये नये संविधान का निर्माण किया जायगा और १९६३ का अन्त होने से पूर्व ही नये संविधान के अनुसार चुनाव करा लिये जायेंगे। जनरल पार्क द्वारा जो नया संविधान तैयार कराया गया, १६ दिसम्बर, १९६२ को उस पर लोकमत लिया गया। ७९,४३,५०५ वोट उसके पक्ष में आये, और २०,०८,२०९ वोट विरोध में। इस संविधान के अनुसार शासन-शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में रखी गई, और पार्लियामेन्ट में केवल एक सदन की व्यवस्था की गई, जिसकी सदस्य-संख्या १७५ निश्चित की गई। जन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रल पार्क ने एक नई राजनीतिक पार्टी का संगठन किया, जिसे डेमोक्रेटिक रिपब्लिक पार्टी कहते हैं। नवम्बर, १९६३ में नये चुनाव हुए, जिसमें जनरल (मिस्टर) पार्क डेमोक्रेटिक रिपब्लिक पार्टी की ओर से राष्ट्रपति पद के लिये खड़े हुए। बहुत बड़े बहुमत से वे राष्ट्रपति चुन लिये गये, और इस प्रकार कोरिया से सैनिक शासन का अन्त होकर नये लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात हुआ। अब जो नई रिपब्लिक स्थापित हुई, वह दक्षिणी कोरिया के इतिहास में 'कोरिया की तीसरी रिपब्लिक' के नाम से प्रसिद्ध है। १९६३ से अब तक दक्षिणी कोरिया में इसी रिपब्लिक की सत्ता है, और मि० पार्क चुंग ही ही उसके राष्ट्रपति हैं। १९६७ में वे एक बार फिर इस पद पर निर्वाचित हो गये थे, और अपने देश में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में उन्होंने अच्छी सफलता प्राप्त की है। पर दक्षिणी कोरिया में मि० पार्क की सरकार के विरोधियों की भी कमी नहीं है। वहां अनेक ऐसी राजनीतिक पार्टियों की सत्ता है, जो राष्ट्रपति की शक्ति को कम कर देश में सांसद पद्धति की सरकार को स्थापित करने की पक्षपाती हैं। सिंगमन ह्ही से लगाकर डा० चांग तक जो अनेक व्यक्ति कोरिया के कर्णधार रहे, उनके अनुयायी अच्छी बड़ी संख्या में अभी विद्यमान हैं, और उन द्वारा संगठित पार्टियाँ मि० पार्क की सरकार का विरोध करने में तत्पर रहती हैं।

कोरिया की सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या दक्षिणी और उत्तरी कोरिया को संयुक्त कर राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की है। आर्थिक दृष्टि से यह अत्यन्त उपयोगी है, क्योंकि उत्तरी कोरिया की जनसंख्या कम (९४,००,००० के लगभग) है, और वहां कल-कारखानों की प्रचुरता है। इसके विपरीत दक्षिणी कोरिया की जनसंख्या बहुत अधिक (२,९३,००,००० के लगभग) है, और वहां के निवासी अपनी आजीविका के लिये प्रधानतया कृषि पर निर्भर हैं। उत्तरी कोरिया के उद्योगों के लिये श्रमिकों की कमी है, जब कि दक्षिणी कोरिया के बहुत-से नागरिक बेकार हैं। यदि कोरिया के ये दोनों भाग मिलकर एक राष्ट्र बन जाएं, तो देश की आर्थिक समस्या के हल होने में बहुत सहायता मिल सकती है। इसके लिये अनेक बार प्रयत्न किये गये हैं, पर उन्हें सफलता नहीं हुई। ४ जुलाई, १९७२ के दिन सियूल (दक्षिणी कोरिया की राजधानी) और प्योगयोंग (उत्तरी कोरिया की राजधानी) से एक साथ एक संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की गई थी, जिसमें दोनों राज्यों की सरकारों ने यह स्वीकार किया था कि वे हिंसात्मक उपायों का परित्याग कर शान्तिमय साधनों से कोरिया की राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्न करेंगी। इस प्रयोजन से दोनों सरकारों के प्रतिनिधि अनेक बार बातचीत भी कर चुके हैं, यद्यपि अब तक उन्हें सफलता नहीं हुई है।

उत्तरी कोरिया के समान दक्षिणी कोरिया को भी अभी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त नहीं हुई। पर उसके बहुत-से राज्यों के साथ राजनयिक सम्बन्ध विद्यमान हैं। ये राज्य ऐसे हैं, जो पूंजीवादी लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेतीसवां अध्याय

विएत-नाम, कम्बोडिया और लाओस

(१) इन्डोचायना से फ्रांस के प्रभुत्त्व का अन्त

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय फ्रांस के लिये इन्डोचायना पर अपना आधिपत्य स्थापित रख सकना सम्भव नहीं रह गया था, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी प्रदेश जापान की अधीनता में आ गये थे। जब महायुद्ध में जापान का अपकर्ष प्रारम्भ हुआ, तो इन्डोचायना के राष्ट्रवादी एवं कम्युनिस्ट लोगों ने विदेशी प्रभुत्त्व से स्वतन्त्र हो जाने का प्रयत्न शुरू किया, जिसके परिणामस्वरूप 'विएत-नाम' रिपब्लिक की स्थापना हुई (अगस्त, १९४५)। पर फ्रेंच लोग अपने साम्राज्य के इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश को छोड़ देने के लिये उद्यत नहीं हुए। इसीलिये उन्होंने अपनी सेनाएं इन्डोचायना भेज दीं, और विएत-नाम रिपब्लिक की सरकार से संघर्ष प्रारम्भ किया (१९४६)। अन्त में उन्होंने उसके साथ सन्धि कर ली, जिसके अनुसार यह स्वीकार किया गया, कि विएत-नाम रिपब्लिक इन्डोचायनीज फिडरेशन के अन्तर्गत होकर रहेगी, और यह फिडरेशन फ्रेञ्च यूनियन का अंग बन कर रहेगा (६ मार्च, १९४६)। पर यह सन्धि देर तक कायम नहीं कर सकी। शीघ्र ही, फ्रांस और विएत-नाम की सरकारों में मतभेद हो गया, जिसके कारण दोनों में फिर से युद्ध प्रारम्भ हो गया (दिसम्बर, १९४६)। अब फ्रांस ने यह प्रयत्न किया, कि विएत-नाम रिपब्लिक के मुकाबिले में एक ऐसी सरकार स्थापित कर दी जाय, जो उसके हाथों में कठपुतली के समान हो। इसीलिये उसने अनाम के पदच्युत सम्राट् बाओ दाई को फिर से इन्डोचायना बुलवाया, और उनके नेतृत्व में एक नई सरकार का संगठन किया गया। विएत-नाम के नेता डॉ० हो ची मिन्ह की प्रवृत्ति समाजवाद (कम्युनिज्म) की ओर थी। अतः वहां के कम्युनिस्ट-विरोधी लोगों ने भी बाओ दाई का साथ दिया। मार्च, १९४९ में फ्रांस और बाओ दाई में एक बाकायदा सन्धि की गई, जिसके अनुसार इन्डोचायना का शासनाधिकार बाओ दाई के सुपुर्द कर दिया गया, और उसने फ्रांस के प्रभाव व प्रभुत्त्व में रहना स्वीकार कर लिया। इन्डोचायना की इन घटनाओं पर हम इस ग्रन्थ के पच्चीसवें अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। उन्हें यहां दोहराना निरर्थक होगा।

पर बाओ दाई का कार्य सुगम नहीं था। इन्डोचायना के बड़े भाग पर डॉ० हो ची मिन्ह की कम्युनिस्ट सरकार का शासन था, और बाओ दाई उसे परास्त किये बिना इन्डोचायना को अपने शासन में नहीं ला सकता था। इस कार्य में फ्रांस भी उसकी सब प्रकार से सहायता करने के लिये उद्यत था। एक लाख से भी अधिक फ्रेञ्च सैनिक बाओ दाई की सहायता के लिए इन्डोचायना आ गये। परिणाम यह हुआ, कि हो ची मिन्ह की विएत-नाम सरकार और बाओ दाई की सरकार में बाकायदा युद्ध प्रारम्भ हो गया। रूस तथा कम्युनिस्ट चीन आदि ने डॉ० हो की सरकार का समर्थन किया, और ब्रिटेन तथा अमेरिका आदि ने बाओ दाई की सरकार का। शुरू में हो ची मिन्ह की सरकार पूर्णतया कम्युनिस्ट नहीं थी, उसका उद्देश्य इन्डोचायना में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की स्थापना करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही था। पर फ्रांस तथा ब्रिटेन आदि के विरोध और बाओ दाई के नेतृत्व में एक विरोधी सरकार की स्थापना हो जाने के कारण इन्डोचायना में जो लोग कम्युनिज्म के पक्षपाती थे, वे हो ची मिन्ह का समर्थन करने लगे और कम्युनिज्म के विरोधी बाओ दाई का। इन दोनों सरकारों में कई सालों तक संघर्ष चलता रहा। इस संघर्ष के परिणामों को भली भांति समझने के लिए यह जान लेना उपयोगी होगा, कि १९४९ के अन्त में दक्षिणी विएत-नाम पर बाओ दाई की सरकार का शासन था, और उत्तरी विएत-नाम पर डॉ० हो ची मिन्ह की सरकार का। पर इन्डोचायना के सम्पूर्ण प्रदेश विएत-नाम के अन्तर्गत नहीं थे। अनाम, टोन्किन और कोचीन-चायना के प्रदेशों को ही सम्मिलित रूप से विएत-नाम कहा जाता था। इनके अतिरिक्त पुराने इन्डोचायना में लाओस और कम्बोडिया—ये दो प्रदेश और थे, जिनमें इस समय भी वहां के पुराने राजवंशों का पृथक्-पृथक् शासन था, और ये फ्रांस के आधिपत्य को उसी प्रकार से स्वीकार करते थे, जैसे कि दक्षिणी विएत-नाम में बाओ दाई। इन्डोचायना का अधीनस्थ फ्रेञ्च राज्य इस समय (१९४९ का अन्तिम भाग) चार भागों में विभक्त था, लाओस, कम्बोडिया, दक्षिणी विएत-नाम और उत्तरी विएत-नाम। इनमें से केवल उत्तरी विएत-नाम ही ऐसा था, जो फ्रांस के आधिपत्य में नहीं था, और जहां कम्युनिस्ट ढंग की पीपल्स रिपब्लिक स्थापित थी। शेष तीनों में वंशक्रमानुगत राजाओं की सत्ता थी, जो फ्रांस की अधीनता स्वीकार करते थे, यद्यपि आन्तरिक शासन मे उन्हें स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

हो ची मिन्ह की विएत-नाम सरकार और बाओ दाई की सरकार में कई सालों तक युद्ध चलता रहा। फ्रेञ्च सेनाओं को इस युद्ध में मुंह की खानी पड़ी, और वे कम्युनिस्ट शक्ति को परास्त नहीं कर सकीं। जब सैन्य-शक्ति के प्रयोग द्वारा विएत-नाम की समस्या हल नहीं हो सकी, तो शान्तिपूर्वक उसका हल करने का प्रयत्न किया गया। मार्च, १९५३ में स्टालिन की मृत्यु हो गई थी, और रूस की नई सरकार सुलह व समझौते की नीति की समर्थक थी। कम्युनिस्टों से समझौता कर सकना अब अधिक सुगम हो गया था। इस समय कोरिया में भी गृह-युद्ध जारी था, जहां उत्तरी कोरिया की कम्युनिस्ट सरकार दक्षिणी कोरिया की लोकतन्त्र सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थी। यही दशा विएत-नाम में भी थी। पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के इन क्षेत्रों में शान्ति स्थापित करने के लिए जिनीवा में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया (एप्रिल, १९५४), जिसमें उन सब राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र हुए, जो इन युद्धों में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाग ले रहे थे। जिनीवा कान्फरेन्स के प्रयत्न से विएत-नाम में युद्ध का अन्त हुआ, और एक समझौते द्वारा यह निश्चय किया गया, कि इस देश को दो भागों में विभक्त कर दिया जाय। १७ वें अक्षांश (पेरेलल) के उत्तर में विएत-नाम के जो प्रदेश हैं, उनमें डॉ० हो ची मिन्ह की पीपल्स रिपब्लिक कायम रहे, और उसके दक्षिण में बाओ दाई का शासन रहे। यह व्यवस्था सामयिक रूप से ही की गई थी। जिनीवा कान्फरेन्स द्वारा यह भी तय कर दिया गया था, कि जुलाई, १९५६ से पूर्व विएत-नाम के दोनों भागों में आम चुनाव कराये जाएं, और जनता की सम्मति के अनुसार दोनों भागों को मिलाकर सारे देश में एक शासन की स्थापना की जाए। जिनीवा में हुए इस समझौते के अनुसार फ्रेञ्च सेनाओं ने उत्तरी विएत-नाम के उन सब प्रदेशों को खाली कर दिया, जो उसके कब्जे में थे (मई, १९५५)। सितम्बर, १९५५ में उत्तरी विएत-नाम की सरकार का पुनःसंगठन किया गया, जिसमें राष्ट्रपति का पद डॉ० हो ची मिन्ह के पास रहा, और प्रधानमन्त्री के पद पर फाम वान दोम को नियत किया गया। यद्यपि जिनीवा कान्फरेन्स को यह अभिप्रेत था, कि विएत-नाम के दोनों भाग मिल कर एक हो जाएं, पर यह सम्भव नहीं था। उत्तरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाग में कम्युनिस्ट लोग अपनी सत्ता को सुदृढ़ कर चुके थे, और दक्षिणी भाग में पाश्चात्य ढंग का लोकतन्त्र शासन स्थापित था। नये निर्वाचनों द्वारा भी कोई ऐसी व्यवस्था नहीं हो सकी, जो दोनों भागों को स्वीकार्य हो। परिणाम यह हुआ, कि उत्तरी और दक्षिणी विएत-नाम दो पृथक् राज्यों के रूप में कायम रहे।

पर दक्षिणी विएत-नाम में बाओ दाई का शासन देर तक स्थिर नहीं रह सका। १९५५ में जब वहां शासन के स्वरूप के सम्बन्ध में लोकमत लिया गया, तो जनता ने बहुत बड़े बहुमत से रिपब्लिक की स्थापना का समर्थन किया। इस दशा में बाओ दाई को दक्षिणी विएत-नाम का राजसिंहासन छोड़ देने के लिये विवश होना पड़ा, और वह फ्रांस चला गया। रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हो जाने पर शासन-शक्ति श्री न्गो दिन्ह दियम के हाथों में आ गई, जो दक्षिणी विएत-नाम रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर विराजमान हुए। न्गो दिन्ह दियम बाओ दाई के समय में प्रधानमन्त्री के पद पर थे, और सरकार का संचालन उन्हीं के हाथों में था, क्योंकि बाओ दाई तो प्रायः फ्रांस में रहा करता था। न्गो की सफलता का प्रधान कारण यह था, कि अपने विरोधियों के दमन में उन्होंने असाधारण क्षमता प्रदर्शित की थी। जिनीवा कान्फरेन्स के बाद जब फ्रेञ्च सेनाएं विएत-नाम से वापस होने लगी थीं, तो बाओ दाई द्वारा शासित दक्षिणी राज्य में गृह-कलह प्रारम्भ हो गया था। वहां अनेक गैर-सरकारी सेनाओं की सत्ता थी, जिनमें काओ दाई, हाओ होआ और बिन् जुएन मुख्य थीं। इनमें से प्रथम दो का आधार धार्मिक सम्प्रदाय थे, और बिन् जुएन का निर्माण कतिपय साहसी व उद्दण्ड व्यक्तियों द्वारा किया गया था। ये सेनाएं दक्षिणी विएत-नाम के विभिन्न प्रदेशों में अपनी-अपनी सत्ता की स्थापना के लिए तत्पर हो गई थीं, और इनका प्रयत्न यह था कि सम्पूर्ण देश पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लें। न्गो दिन्ह दियम ने इन्हें काबू में लाने के लिये अनुपम पराक्रम प्रदर्शित किया, और उसे अपने प्रयत्न में सफलता भी मिली। यही कारण था, कि बाओ दाई के शासन का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना करने के पक्षपाती क्रान्तिकारी नेताओं ने न्गो दिन्ह दियम को अपना मुखिया स्वीकार कर लिया, और उन्हें ही राष्ट्रपति पद प्रदान कर दिया। लोकमत के अनुसार १९५५ में दक्षिणी विएत-नाम में जिस रिपब्लिक की स्थापना हुई, वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न है, और फ्रांस की प्रभुता को वह स्वीकार नहीं करती। उत्तरी विएत-नाम की समाजवादी रिपब्लिक के लिए फ्रेञ्च प्रभुता को स्वीकृत करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। डॉ० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में वहां चीन के ढंग की कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित की गई थी।

पुराने इन्डोचायना में लाओस और कम्बोडिया के राज्य भी अन्तर्गत थे। इन दोनों राज्यों में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन था। इनकी स्थिति प्रायः वही थी जो कि ब्रिटिश युग के भारत में देशी रियासतों की थी। द्वितीय महायुद्ध के बाद १९४९ में दक्षिणी विएत-नाम के समान इन्हें भी फ्रेञ्च यूनियन में सम्मिलित किया गया था, पर दक्षिणी विएत-नाम के समान ये भी देर तक फ्रेञ्च आधिपत्य में नहीं रह सके। १९५४ की जिनीवा कान्फरेन्स के बाद इन्होंने भी स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, और इन पर से भी फ्रांस के प्रभुत्व का अन्त हो गया। ये दोनों राज्य इस समय से पूर्ण स्वतन्त्र हो गये, और इसमें वैध राजतन्त्र शासन की स्थापना की गई। लाओस की पार्लियामेन्ट में केवल एक सदन रखा गया, और कम्बोडिया की पार्लियामेन्ट में दो सदन बनाये गये। दोनों राज्यों में पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिपरिषदों की स्थापना की गई। महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में लाओस को भी कम्युनिस्टों की समस्या का सामना करना पड़ा। जापान की पराजय के बाद जब फ्रेञ्च सेनाओं ने लाओस पर फिर से कब्जा किया, तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहां की जनता के कम्युनिस्ट-भिन्न वर्ग ने उनके साथ सहयोग की नीति का अनुसरण किया। पर कम्युनिस्ट लोग पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे, और किसी भी प्रकार से अपने देश की स्वतन्त्रता को मर्यादित नहीं करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने उत्तरी लाओस में अपने को संगठित किया, और दक्षिण की ओर आगे बढ़ना शुरू कर दिया। १९५४ में उन्होने दिअन-विअन-थू के रण क्षेत्र में फ्रेञ्च सेना को परास्त कर लाओस के दो उत्तरी प्रान्तों पर कब्जा कर लिया। १९५४ की जिनीवा कान्फरेन्स द्वारा इस युद्ध का भी अन्त हुआ, पर उत्तरी लाओस के दो प्रान्त (फोंग साली और सामान्यूआ) कम्युनिस्टों के ही कब्जे में रहे। लाओस के कम्युनिस्टों को उत्तरी विएत-नाम की सहायता प्राप्त थी।

(२) विएत-नाम के दो राज्य और उनमें युद्ध

जिनीवा कान्फरेन्स (१९५४) में विएत-नाम के सम्बन्ध में जो निर्णय किये गये थे, उनका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। उत्तरी विएत-नाम में डॉ० हो ची मिन्ह की कम्युनिस्ट सरकार की सत्ता स्वीकार कर ली गई थी, और दक्षिणी विएत-नाम में बाओ दाई के शासन के सम्बन्ध में निर्णय करने का प्रश्न जनता के लोकमत पर छोड़ दिया गया था। २३ अक्टूबर, १९५५ को इस प्रश्न पर रिफरेन्डम लिया गया। ९८ प्रतिशत वोट बाओ दाई को पदच्युत किये जाने और न्गो दिन्ह दियम के हाथ में शासन-शक्ति प्रदान कर देने के पक्ष में आये। रिफरेन्डम का निर्णय ज्ञात होते ही दक्षिणी विएत-नाम को रिपब्लिक घोषित कर दिया गया, और न्गो दिन्ह दियम ने उसके राष्ट्रपति का पद ग्रहण कर लिया। इसी समय नई रिपब्लिक के लिये संविधान तैयार करने का कार्य हाथ में लिया गया, और २६ अक्टूबर १९५६ के दिन नये संविधान को लागू कर दिया गया। इस संविधान में अध्यक्षात्मक (राष्ट्रपति के अधीन) शासन पद्धति को अपनाया गया, और यह व्यवस्था की गई कि राष्ट्रपति का चुनाव सर्वसाधारण मतदाता प्रत्यक्ष रूप से अपने वोट के अधिकार का प्रयोग कर किया करे। राष्ट्रपति के कार्यकाल की अवधि पांच साल नियत की गई, और उसे पुनः निर्वाचित हो सकने का अधिकार दिया गया। दक्षिणी विएत-नाम (विएत-नाम रिपब्लिक) के विधानमंडल में केवल एक सदन रखा गया, जिस की सदस्य-संख्या १२३ थी। इस रिपब्लिक में राष्ट्रपति को अमेरिका के राष्ट्रपति की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त थे। वह अपने मन्त्रियों की नियुक्ति स्वयं करता था, और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। न्गो दिन्ह दियम दक्षिणी विएत-नाम के प्रथम राष्ट्रपति चुने गये, और पांच वर्ष की अवधि के समाप्त होने पर उन्हें पुनः इस पद पर निर्वाचित कर लिया गया।

पर रिपब्लिक की स्थापना हो जाने पर भी दक्षिणी विएत-नाम की समस्याओं का अन्त नहीं हुआ। वहां भी कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता थी, और उसे उत्तरी विएत-नाम की कम्युनिस्ट सरकार का समर्थन व सहयोग प्राप्त था। इस पार्टी का यह प्रयत्न था, कि जनता का समर्थन प्राप्त कर दक्षिणी विएत-नाम में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना की जाए। क्योंकि इस राज्य की सर्वसाधारण जनता अत्यन्त गरीब है, अतः स्वाभाविक रूप से उसकी सहानुभूति कम्युनिस्टों को प्राप्त थी। सरकार की अपनी आमदनी इतनी नहीं थी, कि वह देश की आर्थिक उन्नति पर पर्याप्त धन खर्च कर सके। इस कारण उसे विदेशी सहायता पर निर्भर करना पड़ता था। अमेरिका दक्षिणी विएत-नाम को प्रचुर परिमाण में आर्थिक सहायता प्रदान करने में तत्पर था, क्योंकि वह इस राज्य को कम्युनिस्ट प्रभाव से बचाने के लिये उत्सुक था। १९५५ से १९६२ तक के सात वर्षों में एक हजार करोड़ से भी अधिक रुपया अमेरिका द्वारा दक्षिणी विएत-नाम को आर्थिक सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रूप में प्रदान किया गया था। पर इस सहायता द्वारा भी इस राज्य की इतनी उन्नति नहीं हो सकी थी, कि जनता संतोष अनुभव करती। इसी कारण वहां कम्युनिस्ट विचार-धारा निरन्तर प्रबल होती जा रही थी। दक्षिणी विएत-नाम के कम्युनिस्टों ने 'विएत-कांग' नाम से एक नये संगठन का निर्माण किया, और न्गो दिन्ह दियम की सरकार के विरुद्ध गुरीला युद्ध प्रारम्भ कर दिया (१९५८)। धीरे-धीरे उनकी शक्ति बहुत बढ़ गई, और उन्होंने दक्षिणी विएत-नाम के अच्छे बड़े भाग पर कब्जा कर लिया। १९६० में विएत-कांग ने राष्ट्रीय आजाद मोर्चे (National Liberation Front) का संगठन किया, जिसका उद्देश्य दक्षिणी विएत-नाम को न्गो दिन्ह दियम के शासन से आजाद करना था। विएत-कांग का मुकाबला करने के लिये राष्ट्रपति दियम ने अमेरिका से सैनिक सहायता की याचना की। १९६० में दक्षिणी विएत-नाम में अमेरिकन सैनिकों की संख्या केवल ७०० थी। ये सैनिक वहां की सेना को नये आयुधों का प्रयोग करने तथा नई रणनीति का अनुसरण करने का प्रशिक्षण दिया करते थे। १९६३ तक दक्षिणी विएत-नाम में अमेरिकन सैनिकों की संख्या १६,५०० तक पहुंच गई थी, और इसके बाद इस संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई। १९६८ तक पांच लाख से भी अधिक अमेरिकन सैनिक दक्षिणी विएत-नाम में पहुंच चुके थे। दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिस्टों के बढ़ते हुए प्रभाव व शक्ति से अमेरिका बहुत चिन्तित था। इसीलिए वह दियम की सरकार की सैनिकों तथा युद्ध-सामग्री द्वारा सहायता करने में तत्पर था। कम्युनिस्टों के कार्यकलाप के कारण दक्षिणी विएत-नाम की सरकार के लिये एक गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई थी। इसीलिये १९ अक्टूबर, १९६१ के दिन राष्ट्रपति न्गो दिन्ह दियम ने देश में संकटकाल की घोषणा कर दी, और विएत-नाम रिपब्लिक की पार्लियामेंट ने उन्हें "राष्ट्रीय सुरक्षा को कायम रखने तथा उसके लिये राज्य के सम्पूर्ण मानव-साधनों को प्रयुक्त करने" के प्रयोजन से सब शक्ति प्रदान कर दी।

पर न्गो दिन्ह दियम को केवल कम्युनिस्टों की समस्या का ही सामना नहीं करना था। दक्षिणी विएत-नाम की बहुसंख्यक जनता बौद्ध धर्म की अनुयायी है। पर ईसाइयों की संख्या भी वहां पर्याप्त है, जो दस लाख से भी अधिक है। न्गो दिन्ह दियम धर्म से से ईसाई थे, और उनकी सरकार में भी ईसाइयों का प्राधान्य था। इस सरकार से बौद्ध लोगों को अनेक प्रकार की शिकायतें थीं। उनका कहना था कि अपने धर्म के अनुसार पूजा पाठ करने और धर्म-प्रचार आदि के सम्बन्ध में उन्हें समुचित स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं है। सरकार की साम्प्रदायिक नीति के प्रति असंतोष प्रकट करने के लिये १९६२-६३ में सात भिक्षुओं ने सार्वजनिक रूप से अपने को अग्नि में भस्म कर दिया। दियम ने इसे कम्युनिस्टों की करतूत बताया, और यहां तक कहा कि यदि अब कोई बौद्ध भिक्षु अपने को आग में भून डालने का तमाशा करेगा, तो मैं तालियां बजाकर उसकी दाद दूंगा। बौद्ध जनता में राष्ट्रपति दियम की सरकार के विरुद्ध जो असंतोष व विद्रोह-भावना थी, उस का दमन करने के लिये अत्यन्त कठोर उपाय प्रयोग में लाये गये, पर वे सफल नहीं हुए। उधर विएत-कांग की शक्ति भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी, और दियम के लिये स्थिति को संभाल सकना सम्भव नहीं रह गया था। इस दशा में सेना ने दियम की सरकार के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और एक सैनिक षड्यन्त्र द्वारा न्गो दिन्ह दियम तथा उनके भाई की हत्या कर दी गई (१ नवम्बर, १९६३)। सैनिक नेताओं ने एक क्रान्तिकारी सैनिक कौंसिल का निर्माण कर दक्षिणी विएत-नाम के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। इस कौंसिल के अध्यक्ष जनरल दुओंग वान मिन्ह थे। उन्होंने पार्लियामेंट को भंग कर दिया, और उसके स्थान पर देश के प्रमुख व्यक्तियों की एक सभा का निर्माण किया। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह संस्था भी देर तक कायम नहीं रही। ३० जनवरी, १९६४ के दिन जनरल न्गुएन खान्ह के नेतृत्व में कतिपय सैनिक अफसरों ने दुओंग वान मिन्ह की सरकार को अपदस्थ कर दिया और स्वयं शासन-शक्ति प्राप्त कर ली। उन्होंने प्रमुख व्यक्तियों की उस सभा को भी भंग कर दिया, जिसका निर्माण दुओंग वान मिन्ह द्वारा किया गया था। इसके बाद अनेक सैनिक सरकारें दक्षिणी विएत-नाम में कायम हुई, पर षड्यन्त्रों के कारण उनमें स्थिरता नहीं आ सकी। इन सरकारों के निर्माण तथा अन्त का संक्षेप के साथ निर्देश कर सकना भी यहां सम्भव नहीं है। २० जून, १९६५ के दिन जनरल न्युगन वान थियू के नेतृत्व में सैनिक अफसरों के एक अन्य ग्रुप ने सरकार को अपने हाथों में ले लिया, और उन्होंने सामूहिक रूप से शासन का सञ्चालन करने के लिये एक राष्ट्रीय कौंसिल या डाइरेक्टरी का संगठन किया। कुछ समय पश्चात् जून, १९६६ में कतिपय असैनिक नेता भी इस डाइरेक्टरी में ले लिये गये, और यह व्यवस्था की गई कि देश के लिये नया संविधान तैयार करने के प्रयोजन से एक संविधान सभा का निर्माण किया जाए। ११ सितम्बर, १९६६ के दिन संविधान सभा के सदस्यों का चुनाव कराया गया, जिन्हें चुनने के लिये सब नागरिकों को वोट देने का अवसर दिया गया। संविधान सभा ने देश के लिये जो संविधान तैयार किया, उसमें भी पहले के समान अध्यक्षात्मक (राष्ट्रपति के अधीन) शासन पद्धति को अपनाया गया, पर विधानमण्डल में दो सदन रखे गये—सीनेट और प्रतिनिधि सभा। नये संविधान के अनुसार १९६७ में चुनाव कराये गये, जिनमें न्युगन वान थियू राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हुए। उस समय से अब (१९७३) तक जनरल थियू ही दक्षिणी विएत-नाम रिपब्लिक के राष्ट्रपति पद पर विराजमान हैं।

पर थियू की सरकार भी विएत-कांग की शक्ति का दमन कर सकने में असमर्थ रही। अमेरिका इस सरकार को सैनिक सहायता प्रदान करने में तत्पर था। फरवरी, १९६५ में अमेरिका ने यह घोषित कर दिया था, कि अमेरिकन सैनिक कम्युनिस्टों के विरुद्ध युद्ध में सक्रिय रूप से भाग लेगें, और वे उत्तरी विएत-नाम पर भी जल तथा वायु के मार्गों से आक्रमण करेंगे, ताकि वहां की कम्युनिस्ट सरकार विएत-कांग तथा राष्ट्रीय आजाद मोरचे की सहायता न कर सके। अमेरिका द्वारा सैन्य शक्ति के प्रयोग से कम्युनिस्टों का तो दमन नहीं हुआ, पर दक्षिणी विएत-नाम में जो विविध सैनिक गुट परस्पर संघर्ष में व्यापृत थे, वे अवश्य मिल कर एक हो गये। न्युगन वान थियू के नेतृत्व में जो एक सुव्यवस्थित सरकार वहां कायम हो सकी, उसका यह एक महत्त्वपूर्ण कारण था। उत्तरी विएत-नाम, विएत-कांग और राष्ट्रीय आजाद मोरचे से युद्ध करते हुए अमेरिका ने अनुभव किया, कि उनसे समझौते की बातचीत करना उपयोगी होगा। पर यह तभी सम्भव था, जब कि उत्तरी विएत-नाम की सरकार भी इसके लिए उद्यत हो। १९६८ के प्रारम्भ में उत्तरी विएत-नाम द्वारा यह घोषित किया गया, कि यदि अमेरिका बिना किसी शर्त के कम्युनिस्टों पर गोलाबारी करना बन्द कर दे, तो उसके साथ बातचीत शुरू की जा सकती है। इस पर अमेरिका के राष्ट्रपति जान्सन ने ३१ मार्च, १९६८ को यह आज्ञा प्रसारित की, कि कतिपय प्रदेशों पर (जिनका क्षेत्रफल कुल उत्तरी विएत-नाम का ९० प्रतिशत था) अमेरिका द्वारा गोलाबारी करना स्थगित कर दिया जाए। परिणाम यह हुआ, कि १० मई, १९६८ के दिन उत्तरी विएत-नाम और अमेरिका में समझौते के लिए पेरिस में बातचीत शुरू की गई। पेरिस की इस कान्फरेन्स में उत्तरी विएत-नाम, दक्षिणी विएत-नाम, राष्ट्रीय आजाद मोरचे और अमेरिका के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। निरन्तर प्रयत्न के बावजूद भी पेरिस कान्फरेन्स किन्हीं ऐसे निर्णयों पर नहीं पहुंच सकी, जो सब पक्षों को स्वीकार्य हों। जनवरी, १९६९ में जब मि० निक्सन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(जो १९६८ के चुनाव में राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए थे) ने अमेरिका का राष्ट्रपति पद ग्रहण किया, तो उन्होंने घोषित किया कि वे विएत-नाम से अमेरिकन सेनाओं को वापस लौटाने के लिए तैयार हैं, पर सम्मान के साथ। उनके आदेश से कुछ अमेरिकन सेनाएं वापस आयीं भी, पर ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न नहीं हो पायीं, जिनसे कि विएत-नाम में युद्ध की समाप्ति हो सकती। १९६८ में पांच लाख से भी अधिक अमेरिकन सैनिक दक्षिणी विएत-नाम में थे। निक्सन की नीति के कारण १९७१ में उनकी संख्या घट कर १,६२,००० रह गई थी। कम्युनिस्ट विएत-कांग सैनिक दक्षिणी विएत-नाम से न्युगन वान थियू के शासन का अन्त करने और वहां से अमेरिकन प्रभाव को समाप्त के प्रयोजन से निरन्तर युद्ध में व्यापृत थे। अमेरिका जिस ढंग से धीरे-धीरे अपनी सेनाएं हटा रहा था, उससे उन्हें संतोष नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि दिसम्बर, १९७१ में निक्सन ने उत्तरी विएत-नाम पर हवाई जहाजों द्वारा बम्बवर्षा का आदेश दिया। समुद्र के मार्ग से भी अमेरिका के जंगी जहाज उत्तरी विएत-नाम के समुद्र तट के समीप पहुंच गये, और उन्होंने हनोई (उत्तरी विएत-नाम की राजधानी) तथा समीपवर्ती बन्दरगाहों व औद्योगिक केन्द्रों पर बड़े पैमाने पर गोलाबारी शुरू कर दी। इससे युद्ध की स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। अपनी अपार सैन्य-शक्ति द्वारा भी अमेरिका के लिये यह सम्भव नहीं हुआ, कि वह उत्तरी विएत-नाम और राष्ट्रीय आजाद मोरचे को कुचल सके। १९७१-७२ में विएत-नाम के इस युद्ध ने अत्यन्त गम्भीर रूप प्राप्त कर लिया था। इस दशा में २५ जनवरी, १९७२ के दिन राष्ट्रपति निक्सन ने विएत-नाम में शान्ति की स्थापना के प्रयोजन से एक योजना की घोषणा की, जो 'आठ पायन्ट पीस प्लैन' के नाम से प्रसिद्ध है। यह योजना निम्नलिखित थी—(१) विएत-नाम में युद्ध का अन्त करने के सम्बन्ध में जब समझौता हो जाए, तो उसके छः मास के अन्दर-अन्दर अमेरिका अपनी सब सेनाएं विएत-नाम से वापिस लौटा लेगा। (२) अमेरिकन सेनाओं की वापसी के साथ ही दोनों पक्ष युद्ध-बन्दियों को रिहा कर दें। (३) दक्षिणी विएत-नाम के राष्ट्रपति का चुनाव पूर्णतया निष्पक्ष रूप से कराया जाए। जब यह चुनाव हो जाए, तो उत्तरी तथा दक्षिणी विएत-नाम के एकीकरण के सम्बन्ध में दोनों राज्यों की सरकारों में विचार-विमर्श प्रारम्भ कराया जाए। इस विचार-विमर्श के लिये पहले से ही कोई शर्तें न लगायी जाएं, और कोई अन्य राज्य इसमें हस्तक्षेप न करे। (४) १९५४ में जो समझौता इन्डोचायना के सम्बन्ध में और १९६२ में जो समझौता लाओस के विषय में किया गया था, दोनों पक्ष उसका पालन करेंगे। (५) इन्डोचायना के क्षेत्र के सब राज्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता, सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता और प्रादेशिक अखण्डनीयता का आदर करेंगे। (६) युद्ध का अन्त करने के सम्बन्ध में समझौते पर हस्ताक्षर होते ही इन्डोचायना में सर्वत्र युद्ध बन्द कर दिया जाए। (७) समझौते की जिन शर्तों का सम्बन्ध सेना के साथ हो, उनके पालन कराने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था की जाए। (८) इन्डोचायना के सब निवासियों के मूलभूत राष्ट्रीय व नागरिक अधिकारों की रक्षा की गारण्टी अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर दी जाए।

२७ जनवरी, १९७२ को यह योजना पेरिस कान्फरेन्स के समक्ष प्रस्तुत की गई, पर उत्तरी विएत-नाम ने इसे स्वीकार नहीं किया। २ फरवरी, १९७२ के दिन उसकी ओर से एक अन्य योजना पेश की गई, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) अमेरिकन सेनाओं द्वारा विएत-नाम को खाली कर देने की एक पक्की तिथि निश्चित कर दी जाए, और (२) जनरल न्युगन वान थियू दक्षिणी विएत-नाम के राष्ट्रपति पद से तुरन्त त्याग-पत्र दे दें। पर अमेरिका इस योजना को स्वीकृत करने को उद्यत नहीं हुआ। मार्च मास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में दोनों पक्षों में युद्ध का अन्त कर शान्ति-स्थापना के प्रयोजन से बातचीत चलती रही। जब उसका कोई परिणाम नहीं निकला, तो एप्रिल, १९७२ में उत्तरी विएत-नाम की कम्युनिस्ट सेनाओं ने जिनीवा कान्फरेन्स द्वारा निर्धारित अपने राज्य की सीमा-रेखा (१७ वीं पेरेलल) को पार कर दक्षिणी विएत-नाम में प्रवेश प्रारम्भ कर दिया। उत्तर और पश्चिम से बढ़ती हुई कम्युनिस्ट सेनाएं दक्षिणी विएत-नाम में दूर तक चली आईं, और उन्होंने इस राज्य के अनेक प्रान्तों तथा नगरों पर कब्जा कर लिया। राष्ट्रीय आजाद मोरचे के सैनिक दस्ते भी दक्षिणी विएत-नाम के नगरों पर सर्वत्र आक्रमण करने लगे और उनकी कुछ सेनाएं सैंगोन (दक्षिणी विएत-नाम की राजधानी) के बहुत समीप तक पहुंच गईं। इस स्थिति में राष्ट्रपति निक्सन ने अपनी वायु सेना तथा सामुद्रिक शक्ति को आदेश दिया, कि वे बहुत बड़े पैमाने पर उत्तरी विएत-नाम पर बम्ब वर्षा प्रारम्भ कर दें। उसके बन्दरगाहों तथा उनके समीपवर्ती समुद्र में अमेरिका द्वारा बारूदी सुरंगें बिछा दी गईं, जिनके कारण किसी जहाज के लिए उत्तरी विएत-नाम आ-जा सकना सम्भव नहीं रहा। वायुसेना के हमलों से उत्तरी विएत-नाम के कल-कारखाने ध्वस्त होने लगे, और हनोई नगरी को अपार क्षति पहुंची। इससे कम्युनिस्टों की सैनिक शक्ति को बहुत नुकसान पहुँचा, पर उन्होंने दक्षिणी विएत-नाम पर अपने आक्रमण को जारी रखा। अमेरिका की सेनाएं इस समय जिस ढंग से विएत-नाम के युद्ध में हाथ बटा रही थीं, उससे कम्युनिस्टों का पक्ष कुछ कमजोर पड़ने लगा। १ मई, १९७२ के दिन कम्युनिस्ट सेनाओं ने क्वांग त्री को अपने अधीन कर लिया था। यह नगरी दक्षिणी विएत-नाम के उत्तरी प्रान्त की राजधानी थी, और उसकी सैन्य शक्ति वहां केन्द्रित थी। सितम्बर, १९७२ में इस पर से कम्युनिस्टों के कब्जे का अन्त कर दिया गया, और अन्यत्र भी अनेक स्थानों पर कम्युनिस्ट सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। इस बीच में पेरिस कान्फरेन्स का कार्य स्थगित अवश्य हो गया था, पर उसे भंग नहीं किया गया था। अक्टूबर, १९७२ में एक बार फिर पेरिस में युद्ध की समाप्ति तथा शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया गया। यह प्रयत्न बहुत कुछ सफल हो गया, और समझौते का प्रारूप तैयार कर लिया गया। पर इसके अभिप्राय के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में फिर मतभेद उत्पन्न हो गया, और समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किये जा सके। इस पर अमेरिका ने कम्युनिस्टों के विरुद्ध आक्रमण तथा उत्तरी विएत-नाम पर बम्ब-वर्षा में और भी अधिक तेजी ला दी। पर अमेरिका का लोकमत इस युद्ध के खिलाफ होता जा रहा था। विएत-नाम में अमेरिका के धन, युद्ध सामग्री तथा सैनिकों का जिस बुरी तरह से विनाश हो रहा था, अमेरिकन जनता उससे बहुत उद्विग्न हो गई थी। नवम्बर, १९७२ में अमेरिका में राष्ट्रपति का नया चुनाव होना था। मि० निक्सन रिपब्लिकन पार्टी की ओर से इस चुनाव में दूसरी बार खड़े हो रहे थे। लोकमत को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने घोषित किया, कि वे विएत-नाम में युद्ध का अन्त करने के लिए कोई भी कसर उठा नहीं रखेंगे।

विएत-नाम में लड़ाई जोर शोर के साथ जारी थी, पर अमेरिका के प्रतिनिधि पेरिस में युद्ध को बन्द कराने के सम्बन्ध में किसी समझौते पर पहुंचने के लिए जी जान से कोशिश कर रहे थे। अन्त में उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता प्राप्त हो गई, और २६ जनवरी, १९७३ के दिन एक समझौते पर सब पक्षों ने हस्ताक्षर कर दिये। इस शान्ति-समझौते की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) युद्ध विराम होने के ६० दिनों के अन्दर-अन्दर उन सब अमेरिकन कैदियों को रिहा कर दिया जाएगा, जो कि इन्डोचायना के विविध क्षेत्रों में कम्युनिस्टों द्वारा कैद हैं। (२) इसी काल में (६० दिनों के अन्दर-अन्दर) सब अमेरिकन सैनिक दक्षिणी विएत-नाम से वापस बुला लिए जायेंगे। (३) दक्षिणी विएत-नाम और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय आजाद मोरचे की सेनाएं इस समय जहां-जहां विद्यमान हैं, वे वहीं रहती रहेंगी। (४) दक्षिणी विएत-नाम के आन्तरिक मामलों में अमेरिका कोई हस्तक्षेप नहीं करेगा, और वहाँ की सरकार को सैनिक सहायता भी नहीं देगा। (५) दक्षिणी विएत-नाम में अमेरिका तथा अन्य विदेशी राज्यों ने अपने जो सैनिक अड्डे कायम किए हुए हैं, उन्हें ६० दिनों के अन्दर-अन्दर समाप्त कर दिया जाएगा। (६) दक्षिणी विएत-नाम और राष्ट्रीय आजाद मोरचे की सरकारें किसी विदेशी राज्य से किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता प्राप्त नहीं करेंगी। न वे विदेशों से युद्धसामग्री लेंगी और न विदेशी सैनिक-विशेषज्ञ ही स्वीकार करेंगी। (७) दक्षिणी विएत-नाम और राष्ट्रीय आजाद मोरचे की सरकारों के जेलखानों में जो असैनिक व्यक्ति कैद हैं, उन्हें भी शान्ति-समझौते पर हस्ताक्षर होने के पश्चात् ९० दिनों के अन्दर-अन्दर रिहा कर दिया जाएगा। (८) अमेरिका और उत्तरी विएत-नाम यह स्वीकार करते हैं, कि दक्षिणी विएत-नाम को अपने राजनीतिक भविष्य के सम्बन्ध में स्वयं निर्धारण करने का अधिकार है, और यह अधिकार पवित्र तथा अनुल्लंघनीय है। पूर्णतया स्वतन्त्र तथा लोकतन्त्र आधार पर किये गये आम चुनाव के परिणामस्वरूप अपने शासन के सम्बन्ध में वहां की जनता स्वयं निर्णय करेगी, और यह चुनाव अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के अधीन कराया जाएगा, (९) दक्षिणी विएत-नाम और राष्ट्रीय आजाद मोरचे की सरकारें यह स्वीकार करती हैं, कि वे एक दूसरे के विरुद्ध प्रतिशोध की भावना से काम नहीं लेंगी, लोकतन्त्र स्वाधीनताओं को अक्षुण्ण रखेंगी, सब कोई को भाषण तथा राजनीतिक विचारों की अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान करेंगी, और राष्ट्रीय एकता व सद्भावना की स्थापना के लिए पूर्णरूप में प्रयत्न करेंगी। (१०) दक्षिणी विएत-नाम के लिये एक राष्ट्रीय कौंसिल की स्थापना की जायगी, जिसमें दक्षिणी विएत-नाम के राष्ट्रपति न्युगन वान थियू, राष्ट्रीय आजाद मोरचे और दक्षिणी विएत-नाम के ऐसे लोगों को जो किसी पक्ष में नहीं हैं, समान प्रतिनिधित्व प्राप्त रहेगा। (११) शान्ति समझौते पर हस्ताक्षर होने के तीस दिनों के अन्दर-अन्दर एक अन्तर्राष्ट्रीय कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा, और इस कान्फरेन्स को यह कार्य सुपुर्द किया जायगा कि वह युद्ध को बन्द कर शान्ति की स्थापना के सम्बन्ध में समुचित कार्यवाही करे।

इस प्रकार विएत-नाम के युद्ध का अन्त हुआ, जो बीस साल के लगभग समय से चलता आ रहा था। अनुमान किया गया है, कि इस युद्ध में दस लाख से भी अधिक मनुष्यों का संहार हुआ, और अमेरिका ने इसके लिए अनन्त धनराशि खर्च की। अमेरिका की सरकार का अनुमान है, कि १९६५ से १९७२ तक के सात वर्षों के काल में ही अमेरिका के १०,२०५ करोड़ डालर इस युद्ध में खर्च हुए। चीन और रूस ने इस युद्ध में कम्युनिस्टों की सहायता के लिए अपनी सेनाएं तो नहीं भेजीं, पर युद्ध सामग्री वे अवश्य प्रदान करते रहे। अमेरिका सदृश महाशक्ति जो विएत-नाम में कम्युनिस्टों को परास्त कर सकने में असमर्थ रही, उसका एक कारण यह भी है, कि वहां की जनता की सहानुभूति न्युगन वान थियू को सरकार के साथ नहीं थी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद दक्षिणी विएत-नाम में जो राजनीतिक उथल-पुथल होती रही, उस पर ऊपर प्रकाश डाला जा चुका है। उत्तरी विएत-नाम के सम्बन्ध में हम यह बता चुके हैं, कि वहां डॉ० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में एक ऐसी सरकार की स्थापना हो गई थी, जो कम्युनिज्म की अनुयायी थी। १९५४ की जिनीवा कान्फरेन्स द्वारा इस सरकार की वैध सत्ता स्वीकार कर ली गई थी। अब डॉ० हो ची मिन्ह के सम्मुख तीन कार्य थे—अपने राज्य में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करना, आर्थिक और औद्योगिक उन्नति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिये प्रयत्न करना, और विएत-नाम के दोनों भागों को मिलाकर राष्ट्रीय एकता स्थापित करना। डॉ० हो ची मिन्ह ने अपने राज्य में उसी प्रकार की समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना प्रारम्भ किया, जैसी कि चीन में माओ त्से-तुंग द्वारा की जा रही थी। जमीन पर से जमींदारों के व्यक्तिगत स्वत्त्व का अन्त कर पहले किसानों को सहकारी समितियों में संगठित किया गया, और फिर जमीन को राज्य के स्वत्त्व में लाकर कम्यूनों का निर्माण किया गया। उत्तरी विएत-नाम के प्रदेश खेती की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं है। अतः अनाज की आवश्यकता को पूरा करने के लिये असाधारण रूप से प्रयत्न किया गया, और कृषियोग्य भूमि की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया। नये कल-कारखाने खोले गये, ताकि उनमें तैयार हुए माल को विदेशों में बेचकर बदले में अनाज प्राप्त किया जा सके। उत्तरी विएत-नाम की आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के लिए चीन ने भरपूर सहायता प्रदान की, और रूस द्वारा उसे आवश्यक मशीनरी प्राप्त हुई। कल-कारखाने राज्य के स्वामित्त्व में स्थापित किये गये, और उत्तरी विएत-नाम ने कम्युनिस्ट आदर्शों के अनुसार अपने आर्थिक व सामाजिक जीवन का पुनर्निर्माण किया। उसकी शासनव्यवस्था प्रायः उसी प्रकार की है, जैसी कि चीन की है। राष्ट्रपति का चुनाव नेशनल एसेम्बली द्वारा किया जाता है, जिसके अधिवेशन साल में दो बार अवश्य किये जाते हैं। १८ साल से अधिक आयु के प्रत्येक पुरुष व स्त्री को एसेम्बली के सदस्य चुनने के लिये वोट का अधिकार है। एसेम्बली की सदस्य-संख्या ३६८ है, जिनमें से ६३ अल्पसंख्यक वर्गों का प्रतिनिधित्त्व करते हैं। स्थायी समिति (Standing Committee) और मन्त्रिपरिषद् (Great Council) के सदस्य नेशनल एसेम्बली द्वारा चुने जाते हैं। इन की वही स्थिति तथा कार्य हैं, जो चीन में इन संस्थाओं के हैं। जब एसेम्बली के अधिवेशन न हो रहे हों, तो स्थायी समिति उसके सब कार्यों को सम्पादित करती है।

उत्तरी विएत-नाम की कम्युनिस्ट पार्टी का चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इन दोनों राज्यों की सीमाएं एक दूसरे के साथ लगती हैं, अतः उत्तरी विएत-नाम के लिये चीन के विरुद्ध आचरण कर सकना सुगम नहीं है। जब चीन और रूस में मतभेदों तथा विरोध का सूत्रपात हुआ, तो उत्तरी विएतनाम ने एक ऐसी-नीति को अपनाया, जिससे न वह पूर्णतया चीन का अनुयायी रहे और न पूर्णतया रूस का। चीन और रूस के विरोध में उसकी नीति प्रायः तटस्थ रही। आणविक आयुधों का निर्माण अन्य देश न करें, इस सम्बन्ध में जो सन्धि रूस और अमेरिका जैसी महाशक्तियां कराना चाहती थीं, उत्तरी विएतनाम ने उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार किया। क्योंकि चीन ऐसी सन्धि का विरोधी था। पर जब अगस्त, १९५८ में रूस ने चेकोस्लोवाकिया पर आक्रमण किया, तो उत्तरी विएत-नाम ने इस आक्रमण का समर्थन किया, यद्यपि चीन की नीति इसका विरोध करने की थी। उत्तरी और दक्षिणी विएत-नाम के युद्ध में उत्तरी विएतनाम चीन और रूस दोनों से सहायता प्राप्त करता रहा। इस युद्ध में उत्तरी विएतनाम ने जो अनुपम साहस और वीरता प्रदर्शित की, और अमेरिकन बम्ब-वर्षा का जो वह धैर्य के साथ सामना करता रहा, उसके कारण कम्युनिस्ट देशों की दृष्टि में उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया, और रूस तथा चीन दोनों ही उसे अपने साथ रखने का प्रयत्न करते रहे।

५ सितम्बर, १९६९ के दिन उत्तरी विएत-नाम के राष्ट्रपति और कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधान नेता डॉ० हो ची मिन्ह की मृत्यु हो गई, और उनका स्थान फाम वान दोंग ने ग्रहण कर लिया। विएत-नाम के इतिहास में डॉ० हो का स्थान अत्यन्त महत्त्व का है। उनके नेतृत्त्व में न केवल इस देश से विदेशी प्रभुत्त्व का अन्त ही हुआ अपितु उसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े भाग में कम्युनिस्ट व्यवस्था भी स्थापित हुई। विएत-नाम के युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् अब उत्तरी विएत-नाम के सम्मुख प्रमुख कार्य यह है, कि सम्पूर्ण देश में राष्ट्रीय एकता की स्थापना की जाए।

(३) कम्बोडिया

इन्डोचायना से फ्रेंच आधिपत्य का ह्रास होने पर कम्बोडिया को भी स्वतन्त्र होने का अवसर प्राप्त हुआ। महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद पहले उसकी स्थिति फ्रेंच आधिपत्य को स्वीकार करते हुए एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य के सदृश रही। फिर १९५४ में जिनीवा कान्फरेन्स के निर्णयों के परिणामस्वरूप वह भी एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य हो गया। कम्बोडिया में राजतन्त्र शासन की सत्ता थी, और वहां के राजसिंहासन पर राजा नरोधम सिंहानूक (नरोत्तम सिंहनख) विराजमान थे। कम्बोडिया के राजाओं की फ्रेंच आधिपत्य में प्रायः वही स्थिति थी, जो ब्रिटिश काल में भारत में देशी रियासतों के राजाओं की थी। पर अब कम्बोडिया का राजा पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया था। उसका शासन पूर्णतया निरंकुश व स्वच्छन्द नहीं था। वहां वैध राजतन्त्र की सत्ता थी, और मन्त्रिपरिषद् को जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभा के प्रति उत्तरदायी माना जाता था। अन्य लोकतन्त्र राज्यों के समान कम्बोडिया में भी अनेक राजनीतिक पार्टियां संगठित थीं, जो विधानसभा में अपना बहुमत प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहती थीं। कम्युनिस्ट पार्टी भी वहां विद्यमान थी। बहुत-सी पार्टियों की सत्ता के कारण कम्बोडिया के शासन में निरन्तर परिवर्तन होते रहते थे, और कोई भी सरकार स्थायी रूप से देश का शासन करने में समर्थ नहीं हो पाती थी। राजा सिहानूक ने इसके लिए पार्टी सिस्टम को उत्तरदायी समझा, और फरवरी, १९५५ में उन्होंने देश में इस प्रश्न पर लोकमत (रिफरेन्डम) लिया, कि जनता उनके कार्यों तथा नीति का समर्थन करती है या नहीं। जनता ने अत्यधिक बहुमत से सिहानूक का समर्थन किया। इस पर उन्होंने शासन में कतिपय ऐसे सुधार किये, जिनका प्रयोजन बहुत-सी पार्टियों का अन्त कर अपने प्रभाव तथा अधिकारों में वृद्धि करना था। मार्च, १९५५ में उन्होंने स्वेच्छापूर्वक राजगद्दी का परित्याग कर दिया। वे चाहते थे कि कम्बोडिया की राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लें, जो राजा रहते हुए सम्भव नहीं था। अब उनके पिता नरोधम सुरामरित (नरोत्तम सुरामृत) कम्बोडिया की राजगद्दी पर आरूढ़ हुए, और सिहानूक ने संगकुम (समाजवादी जनता पार्टी) के नाम से एक राजनीतिक पार्टी का संगठन किया। इस पार्टी का उद्देश्य कम्बोडिया में वैध राजतन्त्र शासन को सफल बनाना था। ११ सितम्बर, १९५५ को विधानसभा का नया चुनाव कराया गया, जिसमें वोट देने अधिकार सब वयस्क स्त्री-पुरुषों को दिया गया था। चुनाव में संगकुम पार्टी को शत प्रतिशत सफलता प्राप्त हुई, और विधानसभा के सब ९१ सदस्य इसी पार्टी के निर्वाचित हो गये। इसके बाद २३ मार्च, १९५८, १० जून १९६२ और ११ सितम्बर १९६६ के चुनावों में भी इसी पार्टी ने शत प्रतिशत सफलता प्राप्त की। इस प्रकार कम्बोडिया में उन बहुत-सी पार्टियों का अन्त हो गया, जिनके कारण वहां कोई भी सरकार चिरकाल तक अपने पद पर रहने में असमर्थ रहती थी। ३ एप्रिल, १९६० के दिन राजा नरोधम सुरामरित की मृत्यु हो गई। देश का शासन अब पूर्णरूप से सिहानूक के हाथों में आ गया। विधान सभा में अपना शत प्रतिशत वोट होने के कारण प्रधानमन्त्री के रूप में सरकार के सर्वेसर्वा थे, और उनकी नीति का विरोध करने वाला कम्बोडिया में कोई नहीं था। राजसिंहासन पर अब उनकी माता महारानी कोस्समक विराजमान थीं, जिनका कार्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

केवल औपचारिक बातों को सम्पन्न करना था। शासन-सम्बन्धी कोई शक्ति उनके हाथों में नहीं थी।

सिहानूक के नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कम्बोडिया की स्थिति पहले एक तटस्थ राज्य की थी। अमेरिका भी उसकी आर्थिक उन्नति के लिये सहायता देने में तत्पर था, और रूस भी। पर सिहानूक के विचार समाजवादी तथा वामपक्षी थे। इस कारण उनका झुकाव धीरे-धीरे रूस तथा चीन की ओर होता गया। दक्षिणी विएत-नाम की विएत-कांग पार्टी के लोग न्गो दिन्ह दियम की सरकार के विरुद्ध संघर्ष में अब कम्बोडिया की भूमि का प्रयोग करने लगे, जिसके कारण दक्षिणी विएत-नाम और कम्बोडिया के संघर्षों में कटुता आ गई। १९६०-६१ में सिहानूक ने दक्षिणी विएत-नाम से राजनयिक सम्बन्धों का अन्त कर दिया, और अमेरिका द्वारा जो सैनिक सहायता दक्षिणी विएत-नाम को दी जा रही थी, उसका विरोध करना शुरू किया। उसने यह भी शिकायत की, कि अमेरिका कम्बोडिया में उसके विरोधियों की सहायता करने में तत्पर है। यह विरोध इतना बढ़ा, कि उसने अमेरिका के साथ भी अपने राजनयिक सम्बन्धों की समाप्ति कर दी (नवम्बर, १९६३), और अमेरिका द्वारा जो आर्थिक सहायता कम्बोडिया को प्रदान की जा रही थी (जो ३५० लाख डालर वार्षिक थी), उसे लेना भी बन्द कर दिया। इस समय से कम्बोडिया का अमेरिका से सम्बन्ध उच्छिन्न हो गया, और वह सब क्रियात्मक दृष्टियों से कम्युनिस्ट गुट का समर्थक हो गया। उसने दक्षिणी विएत-नाम के राष्ट्रीय आजाद मोरचे की वैध सत्ता को भी स्वीकार कर लिया, और उसके प्रतिनिधियों को अपनी राजधानी में राजनयिक स्थिति प्रदान कर दी। पर अमेरिका के लिये इस दशा को सहन कर सकना सम्भव नहीं हुआ। कम्बोडिया में ऐसे वर्गों की अब भी सत्ता थी, जो सिहानूक की वामपक्षी प्रवृत्तियों के विरोधी थे। अमेरिका ने इन्हें सहायता देना प्रारम्भ किया, जिसके कारण उनकी शक्ति में वृद्धि होने लगी, और एक सैनिक षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप सिहानूक को पदच्युत कर दिया गया। १९७० के प्रारम्भ में सिहानूक यूरोप की यात्रा के लिये गये हुए थे। उनकी अनुपस्थिति में जनरल लॉन नॉल ने अपने कतिपय सैनिक अफसरों के साथ मिलकर सिहानूक के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और कम्बोडिया की शासनशक्ति को अपने हाथों में ले लिया। इस प्रकार अमेरिका कम्बोडिया में एक ऐसी सरकार स्थापित करने में समर्थ हुआ, जो उसकी अनुवर्ती व समर्थक है। सिहानूक के लिये अब अपने देश वापस लौट सकना सम्भव नहीं हुआ, और उन्होंने पेकिंग जाकर अपनी सरकार की स्थापना कर ली। उनके समर्थक बहुत-से वामपक्षी नेता भी पेकिंग चले गये। सिहानूक की यह सरकार अब पेकिंग में विद्यमान है, और चीन आदि अनेक कम्युनिस्ट देशों की दृष्टि में वही कम्बोडिया की वैध सरकार है। पर कम्बोडिया में जनरल लॉन नॉल की सैनिक सरकार का शासन है, जो संविधान की सर्वथा उपेक्षा कर सब शक्ति अपने हाथों में लिये हुए है। अमेरिका इस सरकार को प्रचुर परिमाण में सहायता प्रदान कर रहा है। कम्बोडिया की आर्थिक उन्नति के लिये की जाने वाली सहायता की मात्रा १० करोड़ डालर वार्षिक है, और सैनिक सहायता ४५ लाख डालर प्रति दिन के लगभग है। इस प्रचुर सहायता के कारण जनरल लॉन नॉल अपनी स्थिति को पर्याप्त रूप से सुरक्षित समझते हैं। पर कम्बोडिया में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो कम्युनिस्ट व वामपक्षी विचारों के समर्थक हैं, और अपने देश पर अमेरिका का प्रभाव जिन्हें पसन्द नहीं है। ये पेकिंग-स्थित सिहानूक सरकार को अपने देश की वैध सरकार मानते हैं, और उसका समर्थन करना अपना कर्तव्य समझते हैं। इन्होंने जनरल लॉन नॉल की सरकार के विरुद्ध गुरीला युद्ध प्रारम्भ कर दिया है, जिस के कारण इस समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(एप्रिल, १९७३) तक कम्बोडिया के ७० प्रतिशत प्रदेशों पर कम्युनिस्टों का शासन स्थापित हो गया है। वे फ्नोम पेन्ह के समीप तक पहुँच गये हैं, और कम्बोडिया की यह राजधानी कम्युनिस्ट सेनाओं द्वारा घेर ली गई है। यह कह सकना कठिन है, कि कम्बोडिया के इस गृह-युद्ध का अन्त कब और किस प्रकार होगा। विएत-नाम में युद्ध की अब समाप्ति हो गई है, पर कम्बोडिया का युद्ध अभी जारी है, और अमेरिका उसमें उसी प्रकार से भाग ले रहा है, जैसे कि पहले वह विएत-नाम के युद्ध में ले रहा था।

कम्बोडिया एक छोटा-सा देश है। उसका क्षेत्रफल ७१,००० वर्गमील है, और उसकी जनसंख्या ६३ लाख के लगभग है। पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से उसका महत्त्व कम नहीं है। यदि सिहानूक को वहां की शासनशक्ति अपने हाथों में ले लेने में सफलता प्राप्त हो गई, तो दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक महत्त्वपूर्ण कम्युनिस्ट केन्द्र स्थापित हो जायगा। इसी कारण अमेरिका लॉन नॉल को सब प्रकार से सहायता देने में कटिबद्ध है।

(४) लाओस

विएत-नाम और कम्बोडिया के समान लाओस भी पहले फ्रांस के अधीन था, और इन्डोचायना के अन्तर्गत था। जिनीवा कान्फरेन्स (१९५४) के निर्णयों के अनुसार इसने भी स्वतन्त्रता प्राप्त की, और वहां वैध राजतन्त्र शासन का प्रारम्भ हुआ। पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान लाओस में भी कम्युनिस्ट पार्टी विद्यमान थी, और जापान के विरुद्ध संघर्ष में इस पार्टी ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था। वहां की कम्युनिस्ट पार्टी 'पाथेत लाओ' कहाती थी, और जिनीवा कान्फरेन्स के समय लाओस के दो प्रान्त (फोंग माली और सामन्यूआ) इस पार्टी के अधिकार में थे। लाओस के विषय में निर्णय करते हुए जिनीवा कान्फरेन्स ने यह स्वीकार किया था, कि अभी सामयिक रूप से इन दोनों प्रान्तों पर कम्युनिस्टों का ही अधिकार रहने दिया जाए, और यह यत्न किया जाए कि निकट भविष्य में इन्हें भी शेष लाओस के साथ सम्मिलित किया जा सके। पर कम्युनिस्ट लोग इन प्रान्तों को आधार बना कर सारे देश के शासन को अपनी अधीनता में ले आना चाहते थे, और दक्षिणी विएत-नाम की विएत-कांग पार्टी का सहयोग उन्हें प्राप्त था। साथ ही, उत्तरी विएत-नाम की कम्युनिस्ट सरकार भी उनकी सहायता के लिये तत्पर थी। इस दशा में अमेरिका ने विअन्तिआन (लाओस की राजधानी) की सरकार का समर्थन प्रारम्भ किया, और उससे भरपूर मात्रा में आर्थिक व सैनिक सहायता प्राप्त कर इस सरकार ने फोंग माली और सामन्यूआ में केन्द्रित कम्युनिस्टों के साथ सशस्त्र संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। पर सैन्यशक्ति द्वारा कम्युनिस्टों को परास्त नहीं किया जा सका। दिसम्बर, १९५५ तक दोनों पक्षों में युद्ध जारी रहा। पर जब उसका कोई परिणाम नहीं निकला, तो विअन्तिआन की सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि कम्युनिस्टों के साथ सुलह की नीति बरती जाए और देश के शासन में उनका भी सहयोग प्राप्त किया जाए। इसीलिये नवम्बर, १९५७ में लाओस में एक ऐसी सरकार कायम की गई, जिसमें कम्युनिस्ट भी सम्मिलित थे। इसे 'नेशनल यूनियन' की सरकार कहते थे। पर यह सरकार देर तक कायम नहीं रह सकी। १९५९ में नेशनल यूनियन का अन्त हो गया, और कम्युनिस्टों ने एक बार फिर सरकार के विरुद्ध गुरीला युद्ध का प्रारम्भ कर दिया।

इस समय लाओस में तीन प्रमुख राजनीतिक पार्टियों की सत्ता थी—(१) पाथेत लाओ, जिसके नेता प्रिंस सूफनोवोंग थे, और जो कम्युनिस्ट व्यवस्था तथा समाजवादी विचारधारा की पक्षपाती थी। (२) राजसत्ता का पक्षपाती दल, जिसके नेता प्रिंस बून

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊम थे। (३) मध्यमार्गी दल, जिसका नेतृत्व प्रिंस सुवन्न फूम के हाथों में था और जो पाथेत लाओ के साथ सहयोग का पक्षपाती था। इन तीनों दलों का यह प्रयत्न था, कि लाओस की केन्द्रीय सरकार को हस्तगत कर सम्पूर्ण देश को अपने शासन में ले आयें। इसी कारण लाओस में किसी सरकार का देर तक कायम रहना सुगम नहीं था, और वहां निरन्तर संघर्ष होते रहे। नेशनल यूनियन की सरकार के पतन के पश्चात् विअन्तिआन की सरकार प्रिंस बून ऊम के हाथों में आ गई थी, जो कम्युनिस्टों के दमन के लिये कटिबद्ध थे। पर अगस्त, १९६० में कांग ली नामक एक सैनिक नेता ने षड्यन्त्र द्वारा उनकी सरकार का अन्त कर दिया, और मध्यमार्गी दल के नेता प्रिंस सुवन्न फूम ने एक नई सरकार का निर्माण किया। यह सरकार कम्युनिस्टों से सुलह करने के पक्ष में थी। इसलिये यह भी देर तक कायम नहीं रह सकी, और जनरल फूमी नोस्वान ने एक सैनिक षड्यन्त्र द्वारा इसका भी अन्त कर दिया (दिसम्बर, १९६०)। अब राजसत्ता के पक्षपाती दल के नेता प्रिंस बून ऊम ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया, और उन्होंने नई सरकार का निर्माण किया। फूमी नोस्वान के षड्यन्त्र के कारण पदच्युत हुए प्रिंस सुवन्न फूम अब कम्युनिस्टों से जा मिले, और उन्होंने उनके सहयोग से नई सरकार के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। इससे लाओस में गृहयुद्ध शुरू हो गया और वहां की स्थिति बहुत बिगड़ गई। प्रिंस बून ऊम ने इस स्थिति को संभालने के लिये अमेरिका से सहायता की याचना की। इस पर रूस कम्युनिस्टों और सुवन्न फूम की सहायता के लिये मैदान में उतर आया, और उसने हवाई जहाजों द्वारा युद्ध-सामग्री पाथेत लाओस को पहुंचानी शुरू कर दी। उत्तरी विएत-नाम भी इस अवसर पर शान्त नहीं रहा, और वह भी कम्युनिस्टों की सहायता के लिये तत्पर हो गया। रूस और उत्तरी विएत-नाम की सहायता प्राप्त कर पाथेत लाओ और सुवन्न फूम की सम्मिलित सेनाओं ने लाओस के उत्तरी प्रदेशों पर कब्जा कर लिया, और वे मध्य लाओस में भी बहुत दूर तक आगे बढ़ आईं। अमेरिका से सैनिक सहायता प्राप्त होने पर भी प्रिंस बून ऊम की सरकार उनका सामना कर सकने में असमर्थ रही। पर कम्युनिज्म के विरोधी देश यह सहन करने को उद्यत नहीं थे कि लाओस में भी कम्युनिस्टों की शक्ति बढ़ती जाए। यदि यह राज्य भी कम्युनिस्टों के अधिकार में आ जाता, तो दक्षिणी विएत-नाम और कम्बोडिया के लिये भी कम्युनिज्म के प्रभाव से बचे रहना असम्भव हो जाता। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि देश यह नहीं होने देना चाहते थे। इस युग की राजनीति में रूस का यह प्रयत्न था, कि पूंजीवादी पाश्चात्य देशों के प्रति सह-आस्तित्त्व की नीति को अपनाया जाए। अतः उसने यह उचित समझा कि लाओस के प्रश्न को लेकर दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक नये युद्ध का सूत्रपात न होने देना विश्व में शान्ति को बनाये रखने के लिये आवश्यक है। रूस और चीन में इस समय विरोध प्रारम्भ हो चुका था। इस दशा में ब्रिटेन और रूस की ओर से एक अपील जारी की गई, जिसमें दोनों पक्षों से युद्ध बन्द करने के लिये कहा गया, और यह प्रस्ताव रखा गया, कि जिनीवा कान्फरेन्स का फिर से आयोजन किया जाए, जो लाओस की समस्या का शान्तिमय उपायों से समाधान करने का प्रयत्न करे। १६ मई, १९६१ के दिन १४ राज्यों के प्रतिनिधि जिनीवा में एकत्र हुए, और लम्बी बातचीत के अनन्तर वे इस परिणाम पर पहुंचे कि लाओस का शासन करने के लिये एक ऐसी सरकार का संगठन किया जाए, जिसमें कि वहां की तीनों मुख्य पार्टियों के व्यक्ति सम्मिलित हों। साथ ही, लाओस से सब विदेशी सेनाएं वापस चली जाएं। इस निर्णय के अनुसार २३ जून, १९६२ को लाओस के लिये एक मिले-जुले मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर लिया गया, जिसमें प्रधानमन्त्री का पद मध्यमार्गी दल के नेता प्रिंस सुवन्न फूम को प्राप्त हुआ। २३ जुलाई, १९६२ के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिन एक नई सन्धि पर जिनीवा कान्फरेन्स में सम्मिलित सब राज्यों के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये। इस सन्धि द्वारा लाओस की तटस्थता को सबने स्वीकार कर लिया। जो विविध राज्य इस कान्फरेन्स में सम्मिलित हुए थे, वे निम्नलिखित थे—अमेरिका, ब्रिटेन, रूस, कनाडा, कम्बोडिया, बरमा, चीन, उत्तरी विएत-नाम, दक्षिणी विएत-नाम, पोलैण्ड, थाईलैण्ड, भारत, लाओस की केन्द्रीय सरकार और पाथेत लाओ की सरकार। लाओस में शान्ति स्थापित रखने तथा गृह-कलह का अन्त करने के प्रयोजन से एक अन्तर्राष्ट्रीय कन्ट्रोल कमीशन की भी नियुक्ति की गई, जिसका अध्यक्ष भारत को बनाया गया, और कनाडा तथा पोलैण्ड को उसकी सदस्यता प्रदान की गई।

निस्सन्देह, लाओस के लिये ये निर्णय बड़े महत्त्व के थे। इससे न केवल वहां शान्ति ही स्थापित होती थी, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने में भी बहुत सहायता मिलती थी। रूस के प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव तथा अमेरिका के राष्ट्रपति केनेडी दोनों ही इससे पूर्णतया संतुष्ट थे। पर लाओस में मिली-जुली सरकार का सफल हो सकना सुगम नहीं था। शीघ्र ही, उसमें मतभेद प्रारम्भ हो गये। सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र जारी रहे, और पाथेत लाओ पार्टी उससे पृथक् हो गई। लाओस की उत्तरी सीमा चीन के साथ लगती है, और उसके उत्तर-पूर्व में उत्तरी विएत-नाम की स्थिति है। इन दोनों राज्यों में कम्युनिस्ट सरकारें विद्यमान थीं, जो लाओस के कम्युनिस्टों को प्रोत्साहन देती रहती थीं। कम्युनिस्टों ने सुवन्न फूम की मिली-जुली सरकार के विरुद्ध फिर संघर्ष प्रारम्भ कर दिया, और फरवरी, १९६३ में कर्नल केर्सन वाँग सन्वन्ह की हत्या कर दी गई। यह सैनिक अफसर कम्युनिस्टों का विरोधी था, और उसकी हत्या में कम्युनिस्टों का हाथ था। कुछ समय बाद एप्रिल, १९६३ में मन्त्रिमण्डल के अन्यतम सदस्य क्विनीन फोल्सेना की मौत के घाट उतार दिये गये। यद्यपि वे मध्यमर्गी पार्टी के थे, पर कम्युनिस्टों के प्रति उनकी सहानुभूति थी। इस हत्या का यह परिणाम हुआ, कि उत्तरी लाओस में कम्युनिस्टों ने फिर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। जार्स के मैदान में कम्युनिस्ट सेनाओं और केन्द्रीय सरकार की सेनाओं में बाकायदा लड़ाई शुरू हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय कण्ट्रोल कमीशन के प्रयत्न से यह लड़ाई तो देर तक जारी नहीं रही, पर लाओस में शान्ति स्थापित नहीं हो सकी। समय-समय पर वहां षड्यन्त्र तथा हत्याएं होती रही। उत्तरी लाओस पर कम्युनिस्टों का आधिपत्य कायम रहा, और उन्हें चीन तथा उत्तरी विएत-नाम से सहायता प्राप्त होती रही। विएत-नाम के युद्ध ने जब उग्र रूप धारण किया, तो उत्तरी विएत-नाम तथा विएत-कांग की कम्युनिस्ट सेनाएं दक्षिणी विएत-नाम पर आक्रमण करने के लिये लाओस की भूमि का उपयोग करने लगीं, और प्रिंस सुवन्न फूम की सरकार उन्हें ऐसा करने से नहीं रोक सकीं। इस पर अमेरिकन सेनाओं ने लाओस पर भी बम्बवर्षा शुरू कर दी, ताकि कम्युनिस्टों के दक्षिणी विएत-नाम पर आक्रमण करने के मार्ग को प्रतिरुद्ध किया जा सके। जब तक विएत-नाम के युद्ध की समाप्ति नहीं हो गई, लाओस भी इस युद्ध की झपट से बचा नहीं रह सका। राष्ट्रीय आजाद मोरचे और उत्तरी विएत-नाम की सेनाएं उसकी भूमि का स्वेच्छापूर्वक उपयोग करती रहीं, और अमेरिकन हवाई जहाज उस पर गोलाबारी करते रहे।

इस बीच में लाओस की केन्द्रीय सरकार के लिये भी सुव्यवस्थित रूप से कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा। पाथेत लाओ पार्टी उससे पृथक् हो चुकी थी, यद्यपि राजसत्ता की पक्षपाती दक्षिण पार्टी और मध्यमार्गी पार्टी उसमें सम्मिलित थीं। इन दोनों पार्टियों में संघर्ष चलता रहता था, और ये दोनों ही विधानसभा में बहुमत प्राप्त कर सरकार में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील रहती थीं। पर मध्यमार्गी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टी के नेता प्रिंस सुवन्न फूम प्रधानमन्त्री के पद को संभाले रख सकने में समर्थ रहे। पर उन्हें केवल अपने विरोधी व प्रतिस्पर्धी राजनीतिक नेताओं की ही समस्या का सामना नहीं करना पड़ा। अनेक बार कतिपय सैनिक अफसरों ने भी उनके विरुद्ध उठ खड़े होने का प्रयत्न किया। २९ अक्टूबर, १९६९ को लाओस की वायु सेना के प्रधान सेनापति जनरल थाओ मा के उकसाने पर विअन्तिआन पर हवाई जहाजों द्वारा गोलाबारी की गई, और जनरल कांग ली ने भी इसी समय विद्रोह का प्रयत्न किया। पर ये सैनिक अफसर अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सके, और इन्हें लाओस छोड़कर विदेशों में आश्रय लेने के लिये विवश होना पड़ा।

लाओस में अब भी वंशक्रमानुगत राजतन्त्र शासन की सत्ता है, पर सरकार का संचालन ऐसी मन्त्रिपरिषद् के हाथों में है जो जनता द्वारा निर्वाचित विधानसभा के प्रति उत्तरदायी है। विधानसभा में जो व्यक्ति बहुसंख्यक सदस्यों का नेतृत्व करता हो या जो उनका विश्वास प्राप्त करने में समर्थ हो, राजा उसी को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त करता है। प्रधानमन्त्री जिस मन्त्रि परिषद् का निर्माण करे, उसके लिये यह आवश्यक है, कि वह विधानसभा द्वारा अपने पक्ष में विश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत करा ले।

लाओस का क्षेत्रफल ९१,००० वर्गमील है, और उसकी जनसंख्या २५ लाख के लगभग है। वह चारों ओर से अन्य राज्यों से घिरा हुआ है, और उसके पास कोई भी समुद्रतट नहीं है। उसके उत्तर में चीन, पूर्व में विएत-नाम, पश्चिम में थाईलैण्ड और दक्षिण में कम्बोडिया स्थित है। समुद्रतट न होने के कारण लाओस विदेशी व्यापार के लिये अपने सीमावर्ती राज्यों के सहयोग पर ही निर्भर करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चौंतीसवां अध्याय

इन्डोनीसिया, मलायीसिया और सिंगापुर

(१) इन्डोनीसिया से डच प्रभुत्व का अन्त

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय इण्डोनीसिया पर किस प्रकार जापान का प्रभुत्व स्थापित हुआ, और वहाँ के राष्ट्रीय नेताओं ने जापान के अपकर्ष के समय किस प्रकार डा० सुकर्ण के नेतृत्व में एक स्वतन्त्र रिपब्लिकन सरकार कायम कर ली—इस विषय पर हम इस ग्रन्थ के पच्चीसवें अध्याय में विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। डच लोगों को यह सहन नहीं हुआ, कि उनके साम्राज्य का यह महत्त्वपूर्ण प्रदेश उनके आधिपत्य से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो जाए। इसीलिए उन्होंने सैनिक शक्ति का प्रयोग कर फिर से इन्डोनीसिया को अपने अधीन करने का प्रयत्न किया, जिसके कारण वहां की रिपब्लिकन सरकार और हालैण्ड में युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध का अन्त नवम्बर, १९४९ की गोल मेज परिषद् द्वारा हुआ, जिसके अधिवेशन हेग में हुए थे। हेग की गोल मेज परिषद् द्वारा इस देश की समस्या को निम्नलिखित ढंग से हल किया गया था—(१) इण्डोनीसिया की स्थिति एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य की हो। (२) हालैण्ड के साथ मिलकर इण्डोनीसिया एक यूनियन का निर्माण करे, जिसमें दोनों राज्यों की स्थिति एक समान मानी जाए। (३) यह यूनियन विदेश-नीति और आर्थिक मामलों के सम्बन्ध में उपयुक्त अधिकार रखे, और यूनियन में सम्मिलित दोनों राज्य विदेशी राजनीति और आर्थिक उन्नति के मामलों में परस्पर सहयोग से कार्य करें। (४) दोनों राज्यों में लोकतन्त्र शासन स्थापित रहे। (५) इण्डोनीसिया का जो राष्ट्रीय ऋण है, उसकी अदायगी की उत्तरदायिता इन्डोनीसियन सरकार पर ही रहे। (४) दोनों राज्यों में जिस प्रश्न पर विवाद हो, उसका निर्णय पञ्चनिर्णय-पद्धति द्वारा किया जाए। (७) यूनियन का अध्यक्ष पद हालैण्ड की रानी जूलियाना और उसके वंशजों के पास रहे।

हेग की गोल मेज परिषद् द्वारा किये गए इन निर्णयों (२ नवम्बर, १९४९) के अनुसार इण्डोनीसिया ने स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति प्राप्त कर ली थी। दिसम्बर, १९४९ में 'इण्डोनीसिया के संयुक्त राज्य की रिपब्लिक' (Republic of the United States of Indonesia) नाम से एक नये राज्य की स्थापना हुई, जिसका शासन डा० सुकर्ण के नेतृत्व में संगठित एक सामयिक सरकार के हाथों में था। इस राज्य में वे सब द्वीप शामिल थे, जिन पर पहले हालैण्ड का आधिपत्य था, और जिन्हें 'नीदरलैण्ड्स इन्डीज' के नाम से कहा जाता था। केवल पश्चिमी न्यू गिनी को इस नये राज्य के अन्तर्गत नहीं किया गया था। इस द्वीप की भौगोलिक स्थिति अन्य इण्डोनीसियन द्वीपों की अपेक्षा आस्ट्रेलिया के अधिक समीप है। गत महायुद्ध के समय जापान का मुकाबिला करने और उसे पराजित करने के लिए मित्र-पक्ष की सेनाओं ने इसे अपना केन्द्र बनाया था, और उन्होंने यह भलीभांति अनुभव कर लिया था, कि सामरिक दृष्टि से इसका महत्त्व बहुत अधिक है। इसी कारण हालैण्ड इस द्वीप पर अपना आधिपत्य कायम रखना चाहता था, और हेग की गोल मेज परिषद् द्वारा इसे इण्डोनीसिया के संयुक्त राज्य के अन्तर्गत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं किया गया था। यद्यपि इण्डोनीसिया के राष्ट्रीय नेता इससे सहमत नहीं थे, पर सामयिक रूप से उन्होंने इस बात को स्वीकार कर लिया था।

१९५० में इण्डोनीसिया के लिए नये संविधान का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार राज्य के स्वरूप को संवर्गात्मक (फिडरल) न रख कर एकात्मक (यूनिटरी) कर दिया गया। इसीलिये इसका नाम भी 'इन्डोनीसिया के संयुक्त राज्य की रिपब्लिक' के स्थान पर 'इण्डोनीसिया की रिपब्लिक' रख दिया गया। यद्यपि इण्डोनीसिया में ४ बड़े, २५ अपेक्षाकृत छोटे और हजारों छोटे-छोटे द्वीप अन्तर्गत हैं, पर वहां के राष्ट्रीय नेताओं ने यही उचित समझा, कि उनके राज्य का स्वरूप संवर्गात्मक न होकर एकात्मक हो। नये संविधान में राष्ट्रपति के अधीन शासन (प्रेजिडेन्शल सिस्टम) को स्वीकार किया गया, और कानून बनाने तथा नीति का निर्धारण करने के लिए पार्लियामेन्ट की व्यवस्था की गई। डा० सुकर्ण को राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित किया गया, और उनके सक्षम नेतृत्व में इण्डोनीसिया की रिपब्लिक स्वतन्त्र रूप से उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लगी।

यद्यपि अब इन्डोनीसिया ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, पर हालैण्ड के साथ उसके सम्बन्ध का अन्त नहीं हुआ था। नवम्बर, १९४९ की सन्धि के अनुसार हालैण्ड और इन्डोनीसिया को मिला कर जिस यूनियन का निर्माण किया गया, स्वाभाविक रूप से उसमें हालैण्ड का प्रमुख स्थान था, क्योंकि यह यूनियन पुराने साम्राज्यवाद का ही परिणाम था। भाषा, धर्म, संस्कृति, भौगोलिक एकता आदि सभी दृष्टियों से हालैण्ड और इन्डोनीसिया के लोग एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। उनमें राष्ट्रीय एकता की अनुभूति सर्वथा अक्रियात्मक है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों में चिरकाल तक सम्बन्ध रहा था, और हालैण्ड इण्डोनीसिया पर अपने प्रभाव को कायम रखना चाहता था। इसी के कारण इस यूनियन का निर्माण किया गया था। इस यूनियन का प्रयोजन यह था, कि "हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक अपने सर्वसामान्य हितों का परस्पर सहयोग द्वारा साधन करें। विशेषतया, दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध, आत्मरक्षा, आय-व्यय, और आर्थिक एवं सांस्कृतिक मामलों में परस्पर सहयोग से कार्य किया करें।" पर इन दोनों राज्यों में परस्पर सहयोग सुगम नहीं था, क्योंकि राष्ट्रीय दृष्टि से इनमें एकता का सर्वथा अभाव था। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब भारत, लंका, पाकिस्तान आदि ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, तो इन राज्यों ने भी ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्ध को जारी रखा, और ये ब्रिटिश कामनवेल्थ के सदस्य बने रहे। कामनवेल्थ की एकता के प्रतीक के रूप में इन्होंने ब्रिटेन की रानी और उसके वंशजों की प्रमुखता को भी स्वीकार किया। पर हालैण्ड और इन्डोनीसिया के यूनियन का स्वरूप ब्रिटिश कामनवेल्थ से भिन्न था। जहां उसमें हालैण्ड की रानी और उसके वंशजों को यूनियन का अध्यक्ष माना गया था, वहां साथ ही यह भी स्वीकार किया गया था कि दोनों राज्यों (हालैण्ड और इन्डोनीसियन रिपब्लिक) में मत-भेद व विवाद होने की दशा में उसका निर्णय एक पंचायती कोर्ट (यूनियन कोर्ट आफ आर्बिट्रेशन) द्वारा कराया जाए, जिसके छः सदस्य हों। इनमें से तीन की नियुक्ति हालैण्ड द्वारा की जाया करे और तीन की इण्डोनीसिया द्वारा, और हर साल बारी-बारी से प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों में से किसी एक को कोर्ट का चेयरमैन बनाया जाय। यदि बहुसम्मति द्वारा किसी मामले का निर्णय न हो सके, तो किसी विदेशी व्यक्ति को कोर्ट में ले लिया जाए, और उस मामले पर पुनर्विचार किया जाए। यूनियन के लिये एक मन्त्रि-परिषद (काफरेन्स आफ मिनिस्टर्स) की भी व्यवस्था की गई थी, जिसमें दोनों राज्यों के तीन-तीन मन्त्री सम्मिलित किये जाते थे। साल में दो बार इस परिषद के अधिवेशन किये जाते थे, और आवश्यकता पड़ने पर विशेष अधिवेशन किये जाने की भी व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। परिषद् के अधिवेशन बारी-बारी से हेग और जकर्ता (इण्डोनीसिया की राजधानी) में हुआ करते थे। यूनियन के सर्वसामान्य विषयों पर इस परिषद् में विचार होता था, और उसके निर्णय दोनों राज्यों को मान्य होते थे।

पर हालैण्ड और इन्डोनीसिया का यह यूनियन देर तक कायम नहीं रह सका। शीघ्र ही, इन दोनों राज्यों में मतभेद प्रकट होने लगे, और ये मतभेद निरन्तर उग्र रूप धारण करते गये। जिन मामलों के सम्बन्ध में इनमें उग्र मतभेद हुए, वे दो थे—(१) इण्डोनीसिया के नेता इस प्रयत्न में थे, कि अपने देश में एकात्मक (यूनिटरी) शासन स्थापित किया जाए। इसीलिये अगस्त, १९५० में उन्होंने जिस नये संविधान का निर्माण किया था, उसका स्वरूप एकात्मक ही था। पर हजारों मीलों में बिखरे हुए इन्डोनीसियन द्वीपों में एकात्मक शासन स्थापित कर सकना सुगम बात नहीं थी। अनेक द्वीपों में अपनी पृथक्ता की भावना विद्यमान थी, और वे चाहते थे कि इन्डोनीसिया के संयुक्त-राज्य में शामिल रहने पर भी उनकी स्थिति पृथक् राज्यों के समान रहे। एकात्मक संविधान के निर्माण के कारण अनेक द्वीपों में विद्रोह प्रारम्भ हो गये, और वहां ऐसी स्वतन्त्र सरकारें स्थापित की गईं, जो इन्डोनीसियन रिपब्लिक की अधीनता से पूर्णतया स्वतन्त्र हो जाना चाहती थीं। पहले अम्बोनिया में विद्रोह हुआ, और वहां 'दक्षिणी मोलक्का रिपब्लिक' की स्थापना की गई। बाद में इसी ढंग के विद्रोह बोर्नियो और सुमात्रा आदि में भी हुए। हालैण्ड की सहानुभूति इन विद्रोहियों के साथ थी, और इन्डोनीसियन रिपब्लिक इनका दमन करसम्पूर्ण इन्डोनीसिया पर अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थी। यूनियन की मन्त्रिपरिषद् इस मामले में एकमत नहीं हो सकी, और इन राज्यों में मतभेद निरन्तर बढ़ता गया। (२) पश्चिमी न्यू गिनी को इन्डोनीसियन रिपब्लिक में शामिल नहीं किया गया था। इसकी भौगोलिक स्थिति ऐसी थी, कि न केवल हालैण्ड अपितु आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्य भी इसे इन्डोनीसिया में सम्मिलित नहीं होने देना चाहते थे। जब इन्डोनीसिया हालैण्ड के अधीन था, तो बहुत-से डच लोग वहां खेती, व्यापार, और उद्योग आदि के लिये बस गये थे। ये गौरांग लोग अब इन्डोनीसिया में नहीं रहना चाहते थे, और इनकी यह इच्छा थी कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में ही कहीं अन्यत्र बस जाएं। न्यू गिनी इन्हें अपने बसने के लिये बहुत उपयुक्त प्रतीत होता था। इस कारण ये यह कदापि स्वीकृत नहीं कर सकते थे, कि इस प्रदेश को भी इन्डोनीसिया में सम्मिलित कर लिया जाये। पर इन्डोनीसिया के राष्ट्रवादी नेता न्यू गिनी को भी अपने राज्य में सम्मिलित करने के लिये उत्सुक थे। यह प्रश्न भी ऐसा था, जिस पर यूनियन की मन्त्रिपरिषद् एकमत नहीं हो सकी।

परिणाम यह हुआ, कि धीरे-धीरे हालैण्ड और इन्डोनीसिया के लिये साथ मिलकर एक यूनियन में रह सकना सम्भव नहीं रहा। उनका सम्बन्ध निरन्तर कम होता गया, और यूनियन की मन्त्रिपरिषद् के अधिवेशनों का हो सकना भी कठिन हो गया। इसीलिये अन्त में यह निश्चय किया गया, कि २ नवम्बर, १९४९ की सन्धि का अन्त कर दिया जाए, और हालैण्ड और इन्डोनीसिया के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार किया जाया करे। १० अगस्त, १९५४ के दिन हालैण्ड और इन्डोनीसिया के यूनियन का अन्त हो गया। तब से इन्डोनीसियन रिपब्लिक पूर्णतया स्वतन्त्र है।

यद्यपि इन्डोनीसिया का क्षेत्रफल ५,७५,४५० वर्गमील के लगभग है, पश्चिम से पूर्व की ओर उसका विस्तार ३,००० मील से भी अधिक है, और उसमें बहुत-से छोटे-बड़े

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वीप सम्मिलित हैं, पर उसका संविधान एकात्मक (यूनिटरी) आधार पर बनाया गया था। १९४९ में इन्डोनीसिया में जो संविधान लागू किया गया था, वह संवर्गात्मक था, पर बाद (१९५०) में उसे एकात्मक कर दिया गया। पर इन्डोनीसिया के शासन की मुख्य समस्या यह थी, कि वहां बहुत-सी राजनीतिक पार्टियों की सत्ता थी, जिसके कारण कोई भी पार्टी इस स्थिति में नहीं होती थी कि वह अकेली मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सके। राष्ट्रीय इन्डोनीसियन पार्टी सबसे अधिक शक्तिशाली थी, पर १९५५ के आम चुनाव में वह भी अपने केवल ५७ सदस्य पार्लियामेन्ट में चुनवा सकी थी। वहां कतिपय पार्टियां ऐसी भी थी, जिन्हें साम्प्रदायिक आधार पर संगठित किया गया था। इनमें मसजुमी और नहदतुल उलमा प्रमुख थीं। इन्डोनीसिया के बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, और एक ऐसे देश में जिसकी जनता अभी प्रायः अशिक्षित हो, यह सर्वथा स्वाभाविक है कि लोग साम्प्रदायिक पार्टियों के प्रति आकृष्ट हों। इसी कारण १९५५ के चुनाव में मसजुमी पार्टी भी पार्लियामेन्ट में ५७ सदस्य चुनवाने में समर्थ हो गई थी। कम्युनिस्ट पार्टी भी वहां बहुत शक्तिशाली थी। २० लाख से भी अधिक व्यक्ति इस पार्टी में सम्मिलित थे, और यह भी वहां की राजनीति को प्रभावित करने में समर्थ रहती थी। किसी एक पार्टी के बहुसंख्या में न होने के कारण इन्डोनीसिया की रिपब्लिकन सरकार के मन्त्रिमण्डलों में जो परिवर्तन पिछले वर्षों में होते रहे, उनका उल्लेख कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। पर डा० सुकर्ण के रूप में इस राज्य को एक ऐसा नेता प्राप्त हो गया था, जो चिरकाल तक वहां के राष्ट्रपति पद पर विराजमान रहे, और जो इस स्थिति में भी थे, कि राजनीतिक दलबन्दी की उपेक्षा कर देश के शासन को स्थिर रूप प्रदान कर सकें।

१९५४ में यद्यपि इन्डोनीसिया ने पूर्णतया स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली थी, पर उसकी राजनीतिक एकता अभी पूर्ण नहीं हुई थी। पश्चिमी ईरियन का प्रदेश अभी उसके साथ सम्मिलित नहीं हुआ था। इस प्रदेश को डच न्यू गिनी भी कहते थे, और इस पर से अपने प्रभुत्व का अभी हालैण्ड ने परित्याग नहीं किया था। इन्डोनीसियन लोग समझते थे कि यह प्रदेश भी उनके राज्य का अंग होना चाहिये, और इस पर हालैण्ड का प्रभुत्व राष्ट्रीय दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। जब बातचीत द्वारा इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका, तो इन्डोनीसिया ने शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर इस प्रदेश को अपने साथ सम्मिलित करने का उद्योग प्रारम्भ कर दिया। एप्रिल, १९६२ में डच और इन्डोनीसियन सेनाओं में पश्चिमी ईरियन के लिये लड़ाई प्रारम्भ हो गई। इस दशा में मि० एल्सबर्थ बन्कर (अमेरिका) ने यह सुझाव पेश किया, कि हालैण्ड इस प्रदेश के शासन को संयुक्त राष्ट्र संघ के सुपुर्द कर दे, और वह दो साल के अन्दर-अन्दर उस पर इन्डोनीसिया का अधिकार स्थापित करा दे। इसी सुझाव के अनुसार १ अगस्त, १९६२ के दिन पश्चिमी ईरियन का शासन संयुक्त राष्ट्र-संघ ने अपने हाथों में ले लिया। बाद में १ मई, १९६३ को यह प्रदेश राष्ट्रसंघ द्वारा इन्डोनीसिया को प्रदान कर दिया गया, जिसके कारण अब इस राज्य की राजनीतिक व राष्ट्रीय एकता पूर्ण हो गई है।

यद्यपि इन्डोनीसिया अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थ नीति का अनुसरण कर रहा था, पर उस पर चीन का प्रभाव बहुत अधिक था। इसी कारण भारत के साथ उसके सम्बन्ध अधिक मधुर नहीं रह सके थे। यद्यपि इन्डोनीसिया की स्वतन्त्रता में भारत का कर्तृत्व बहुत अधिक था, पर चीन के प्रभाव के कारण भारत के प्रति उसका व्यवहार समुचित नहीं रह सका था। जकर्ता में जब चौथी अखिल एशियन खेल प्रतिद्वन्द्विता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयोजन हुआ, तो इन्डोनीसिया का भारत के प्रति रुख अच्छा नहीं रहा। वहां कम्युनिस्ट पार्टी के प्रभाव में भी निरन्तर वृद्धि हो रही थी।

(२) स्वतन्त्र इन्डोनीसिया की समस्याएं और प्रगति

द्वितीय महायुद्ध (१९३९—४५) के बाद दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन देशों ने पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त हो स्वतन्त्रता प्राप्त की, उनमें इन्डोनीसिया का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिन एशियन देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित नहीं है, क्षेत्र-फल और जनसंख्या की दृष्टि से इन्डोनीसिया उनमें दूसरा स्थान रखता है। केवल भारत ही इन दृष्टियों से उससे बढ़कर है। इन्डोनीसिया का क्षेत्रफल ५,७५,४५० वर्गमील के लगभग है, और उसकी जनसंख्या ११ करोड़ से भी अधिक है। इनमें से ७,२६,००,००० के लगभग अकेले जावा में निवास करते हैं, और १,८३,००,००० के लगभग सुमात्रा में। अन्य द्वीपों की आबादी इन दो की तुलना में बहुत कम है। इसीलिये इन्डोनीसिया के राजनीतिक जीवन में जावा और सुमात्रा का महत्त्व बहुत अधिक है।

स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद एशियन देशों को जिन विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा है, उनका निर्देशन करने के लिये इन्डोनीसिया को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। ये समस्याएं निम्नलिखित थीं—(१) लोकतन्त्रवाद के अनुरूप शासन, और (२) शक्तिशाली विदेशी राज्यों के प्रभाव और हस्तक्षेप से छुटकारा। महायुद्ध के बाद नये स्वतन्त्र हुए प्रायः सभी एशियन देशों को इन समस्याओं का सामना करना पड़ा है। हजारों मीलों के क्षेत्र में बिखरे हुए जो बहुत-से द्वीप पहले हालैण्ड के साम्राज्य के अन्तर्गत थे, वे इन्डोनीसियन रिपब्लिक के रूप में संगठित कर दिये गये थे। पर इन में राष्ट्रीय एकता को भली-भाँति विकसित करना सुगम नहीं था। भाषा, धर्म, नस्ल, जाति आदि की विभिन्नताएं वहां विद्यमान थीं। इसी कारण इन्डोनीसिया को अपनी एकता स्थापित रखने के लिये अनेक विद्रोहों को शान्त करना पड़ा, और अनेक स्थानीय व 'आजाद' सरकारों के विरुद्ध संघर्ष करने पड़े। यही बात इन्डोचायना और बरमा में भी हुई। फ्रांस की अधीनता में इन्डोचायना एक राज्य था, पर अब वह उत्तरी विएतनाम, दक्षिणी विएतनाम, लाओस, और कम्बोडिया—इन चार स्वतन्त्र राज्यों में विभक्त हो गया है। बरमा के अनेक प्रदेश भी अपनी स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करते रहे हैं। पाकिस्तान के कारण भारत को भी राष्ट्रीय एकता की समस्या का सामना करना पड़ा है। इन देशों में लोकतन्त्रवाद की समस्या भी कम विकट नहीं रही है। एशिया के इन विविध राज्यों में लोकतन्त्रवाद की परम्पराएं भलीभांति विकसित नहीं थीं। इसी कारण इनमें स्थापित रिपब्लिकन सरकारों और जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों के प्रति उत्तर-दायी मन्त्रिमण्डलों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनेक बार वैध सरकारों के विरुद्ध षड्यन्त्र हुए, और राष्ट्रपतियों व प्रधानमन्त्रियों को गोली का शिकार बनाया गया। शक्तिशाली विदेशी राज्यों के हस्तक्षेप से बच रह सकना भी इन राज्यों के लिये सुगम नहीं था। यद्यपि राजनीतिक साम्राज्यवाद का एशिया के इन देशों से अन्त हो गया था, पर अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों से बचे रहना बहुत कठिन कार्य था। आर्थिक व औद्योगिक उन्नति के निमित्त जहां इन राज्यों के लिये अन्य देशों से सहायता प्राप्त करना आवश्यक था, वहां साथ ही आत्मरक्षा के लिये भी इन्हें किसी शक्तिशाली राज्य का सहारा लेने की आवश्यकता थी। अमेरिका और रूस दोनों ही इन्हें अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आने के लिए प्रयत्नशील थे। अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म से बचाव करने के लिए अमेरिका और ब्रिटेन जिन विविध गुटबन्दियों के निर्माण में तत्पर हैं, उनसे पृथक् रह सकना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी इन राज्यों के लिये सुगम नहीं था, विशेषतया उस दशा में जबकि विदेशी सहायता के बिना देश की आर्थिक उन्नति सम्भव न हो। इस दशा में बांदुंग कान्फरेन्स में प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्वीकार कर एशिया के अनेक राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के सम्बन्ध में तटस्थता की जिस नीति का अनुसरण किया, एशिया के आधुनिक इतिहास में उसका बहुत महत्त्व है।

इस इतिहास में दक्षिण-पूर्वी एशिया के सब देशों की उन घटनाओं का उल्लेख कर सकना सम्भव नहीं है, जो कि गत वर्षों में वहां घटी है। पर इण्डोनीसिया के उदाहरण द्वारा आधुनिक एशियन इतिहास की इन प्रवृत्तियों को भली-भांति स्पष्ट किया जा सकता है। अगस्त, १९५४ में हालैण्ड और इन्डोनीसिया के यूनियन का अन्त हो गया था, और इन्डोनीसिया सच्चे अर्थों में एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बन गया था। पर शीघ्र ही उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। दिसम्बर, १९५५ में उत्तरी और मध्य सुमात्रा में सैनिक विद्रोह प्रारम्भ हो गये। इन विद्रोहों का उद्देश्य सुमात्रा में अपनी स्वतन्त्र सरकार स्थापित करना था। उत्तरी सुमात्रा के विद्रोह को सुगमता के साथ शान्त कर दिया गया, पर मध्य सुमात्रा में जो पृथक् सैनिक सरकार इस समय संगठित कर ली गई थी, वह अधिक शक्तिशाली थी। इन्डोनीसिया की केन्द्रीय सरकार के लिये अब मध्य सुमात्रा से कर तक वसूल कर सकना असम्भव हो गया था। १९५७ में बोर्नियो और पूर्वी इन्डोनीसिया के बहुत-से द्वीपों में भी विद्रोह हुए, और विविध सैनिक नेताओं के नेतृत्व में वहां भी पृथक् सरकारें संगठित कर ली गईं। मार्च, १९५७ तक यह दशा आ गई थी, कि डॉ० सुकर्ण की केन्द्रीय सरकार का शासन केवल जावा और उसके समीपवर्ती द्वीपों तक ही सीमित रह गया था। इस स्थिति में इन्डोनीसिया में पार्लियामेन्टरी शासन कायम रह सकना सम्भव नहीं रहा, और डॉ० शस्त्रोमिद्जो के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया (१४ मार्च, १९५७)। जावा में भी सैनिक षड्यन्त्र जारी थे। सुमात्रा, बोर्नियो और अन्य अनेक द्वीप विभिन्न सैनिक नेताओं द्वारा स्थापित सरकारों के शासन में आ गये थे, और जावा तक में डॉ० सुकर्ण की केन्द्रीय सरकार की स्थिति सुरक्षित नहीं रही थी। इस दशा में डॉ० सुकर्ण ने इन्डोनीसिया में सैनिक शासन (मार्शल लॉ) की घोषणा कर दी, और सब राज्य-शक्ति अपने हाथों में लेकर विद्रोही सैनिक नेताओं के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। देश का शासन करने और विद्रोही नेताओं को काबू में लाने के लिये डॉ० सुकर्ण ने एक राष्ट्रीय परामर्श सभा (National Advisory Council) का निर्माण किया, जिसके सदस्यों की संख्या ४३ थी। इसमें जहाँ जल, स्थल और वायु सेनाओं के प्रधान सेनापतियों को स्थान दिया गया, वहां साथ ही सुमात्रा से तीन और जावा, बोर्नियो, मोलक्का, सुन्द्रा द्वीप-समूह आदि से दो-दो प्रतिनिधि लिये गये थे, और जनता के विविध वर्गों के प्रतिनिधियों को भी इसमें मनोनीत किया गया। इस परामर्श सभा का निर्माण करते हुए डॉ० सुकर्ण ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था, कि यह सभा केवल सामयिक रूप से संगठित की गई है, और देश की विशेष परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर ही इसका निर्माण किया गया है। शीघ्र ही, देश के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया जायगा, और ज्यों ही देश में विद्रोहों का अन्त होकर शान्ति स्थापित हो जायगी, लोकसत्तात्मक शासन की फिर से स्थापना कर दी जायगी। जब तक यह स्थिति नहीं आती, इन्डोनीसिया का शासन डॉ० सुकर्ण के हाथों में ही रहेगा, और मन्त्रिमण्डल उसी के प्रति उत्तरदायी होगा। परामर्श सभा का कार्य केवल परामर्श देना होगा, उसे स्वीकार करने के लिये मन्त्रिमण्डल बाध्य नहीं होगा। इस समय डॉ० सुकर्ण ने जो नया मन्त्रिमण्डल बनाया, उसमें प्रधान मन्त्री

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का पद डॉ० जुआन्दा को दिया गया। कतिपय सैनिक अफसरों को भी इस मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया था।

नई सरकार के सम्मुख सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह था, कि इन्डोनीसिया के विविध द्वीपों व प्रदेशों में कायम हुई विविध सरकारों के साथ ऐसे समझौते करे, जिनसे कि वे डॉ० सुकर्ण की केन्द्रीय सरकार की सत्ता को स्वीकार कर लें और देश में राष्ट्रीय एकता कायम रह सके। इसी उद्देश्य से डॉ० जुआन्दा ने सबसे पहले पूर्वी इन्डोनीसिया की यात्रा की (१४ मई, १९५७)। इस प्रदेश में कर्नल सुमुअल ने एक पृथक् सरकार का संगठन कर लिया था, और वह यह मांग कर रहा था कि पूर्वी इन्डोनीसिया में एक पृथक् व स्वायत्त सरकार की सत्ता को स्वीकार किया जाए। कर्नल सुमुअल इस बात के लिये राजी हो गया, कि इन्डोनीसिया के विविध प्रदेशों और उनकी सरकारों (जो इस समय डॉ० सुकर्ण की केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से विद्यमान थीं) के प्रतिनिधियों की एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जाए, और उसमें देश की भावी सरकार के स्वरूप पर विचार-विमर्श हो। अन्य प्रदेशों के सैनिक नेताओं से भी इसी ढंग की बातचीत की गई, जिसके परिणामस्वरूप सितम्बर, १९५७ में जकर्ता में एक कान्फरेन्स का आयोजन हुआ। डॉ० जुआन्दा इस कान्फरेन्स के अध्यक्ष नियुक्त हुए, और इसमें २०० के लगभग प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। कर्नल सुमुअल के अतिरिक्त कर्नल हुसैन (मध्य सुमात्रा के सैनिक शासक), कर्नल सिम्बोलोन (उत्तरी सुमात्रा के भूतपूर्व सैनिक शासक) और अन्य भी अनेक सैनिक नेताओं ने इसमें सम्मिलित होना स्वीकार किया। इस कान्फरेन्स में निम्नलिखित निर्णय हुए :—(१) सैनिक मामलों का निर्णय करने और देश की सब सेनाओं में नियन्त्रण स्थापित करने के लिए सात व्यक्तियों के एक कमीशन की नियुक्ति की जाए। यह कमीशन जो निर्णय करे, उसे सब सैनिक नेता स्वीकार करें। (२) इन्डोनीसिया के विविध प्रदेशों में स्वायत्त शासनों की स्थापना की जाये। ये प्रादेशिक सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में पर्याप्त अधिकार रखें। केन्द्रीय सरकार और प्रादेशिक स्वायत्त सरकारों में क्या सम्बन्ध रहे, इसके निर्धारण के लिए यथोचित कानून बनाये जायें। (३) देश के लिए उन्नति की योजनाओं को बनाते हुए विविध प्रदेशों की जनता की धार्मिक भावनाओं को दृष्टि में रखा जाए। (४) विविध राजनीतिक दलों का संगठन किन सिद्धान्तों के अनुसार हो, किन नियमों के अनुसार वे अपने सदस्य बनायें, और किस प्रकार अपने लिये धन एकत्र करें—इन सब बातों को भी नियन्त्रित किया जाए, ताकि विविध पार्टियों के संगठन देश के लिये हितकारी हों, और उनका सहयोग राज्य की उन्नति के लिए प्राप्त किया जा सके।

इसमें सन्देह नहीं, कि जकर्ता में हुई यह कान्फरेन्स अपने उद्देश्य में बहुत कुछ सफल हुई थी। उसके सभी निर्णय सर्वसम्मति द्वारा किये गये थे। सुमात्रा, बोर्नियो आदि विविध द्वीपों और प्रदेशों में स्वायत्त सरकारों की स्थापना के सिद्धान्त को स्वीकार कर इस कान्फरेन्स ने इन्डोनीसिया को एक संवर्ग (फिडरेशन) के रूप में संगठित करने की बात को तय किया, जो १९५० के संविधान के अनुरूप नहीं थी। १९५० में निर्मित संविधान के अनुसार इन्डोनीसिया को एकात्मक (यूनिटरी) राज्य बनाया गया था, जो कि अनेक सेनापतियों और राजनीतिक दलों को स्वीकार्य नहीं था। हालैण्ड और इन्डोनीसिया के यूनियन के काल में भी इस एकात्मक शासन के विरुद्ध अनेक बार विद्रोह हुए थे। १९५४ में पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी इन्डोनीसिया में अकेन्द्रीभाव की प्रवृत्तियां निरन्तर प्रबल होती रहीं, और उन्हीं के कारण सुमात्रा, बोर्नियो आदि में पृथक् व स्वतन्त्र सरकारें कायम की गई। १९५७ की जकर्ता कान्फरेन्स में सम्मिलित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधियों ने विविध प्रदेशों में स्वायत्त सरकारों की सत्ता को स्वीकार कर एक ऐसा निर्णय किया, जिसके अनुसार इन्डोनीसिया का स्वरूप एकात्मक न रह कर संवर्गात्मक हो जाना अवश्यम्भावी था।

पर इन्डोनीसिया की समस्या जकर्ता कान्फरेन्स (१९५७) द्वारा भी हल नहीं हो सकी। प्रादेशिक स्वायत्त सरकारों और केन्द्रीय सरकार में सम्बन्ध का स्वरूप क्या हो, इस प्रश्न पर फिर मतभेद उत्पन्न हो गये, और इन मतभेदों ने इतना उग्र रूप धारण कर लिया, कि १९५८ में सुमात्रा, सेलेबस आदि में फिर विद्रोह शुरू हो गये और वहां की प्रादेशिक स्वायत्त सरकारें केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा कर स्वतन्त्र रूप से आचरण करने लगीं। १५ फरवरी, १९५८ को मध्य सुमात्रा में विद्रोह हुआ, और डॉ० जफरुद्दीन के नेतृत्व में वहां एक स्वतन्त्र सरकार का संगठन कर लिया गया। उत्तरी सेलेबस की सेनाओं ने भी केन्द्रीय सरकार के मुकाबिले में मध्य सुमात्रा की विद्रोही सरकार का साथ दिया। इन्डोनीसिया की केन्द्रीय सरकार ने इस विद्रोह का दमन करने के लिए बड़ी सख्ती से काम लिया। न केवल जल और वायु सेनाओं द्वारा विद्रोहियों पर आक्रमण किया गया, अपितु यह व्यवस्था भी की गई, कि न वहां कोई माल बाहर से आ सके और न वहां का माल कहीं बाहर जा सके। दो मास के निरन्तर युद्ध के बाद केन्द्रीय सरकार विद्रोह का दमन करने में समर्थ हुई, और सुमात्रा और सेलेबस पर उसका अधिकार स्थापित हो गया। २२ मई, १९५८ तक यह विद्रोह पूरी तरह से दबा दिया जा चुका था।

विद्रोही सेनाओं को परास्त करते समय यह तथ्य भी प्रकाश में आया, कि विद्रोहियों को अनेक विदेशी सरकारों की सहायता प्राप्त थी। उनके पास से जो अस्त्र-शस्त्र उपलब्ध हुए, वे उन्होंने अमेरिका से प्राप्त किये थे। इसमें सन्देह नहीं, कि सुमात्रा, सेलेबस आदि के विद्रोहियों को अमेरिका का सहयोग प्राप्त था, क्योंकि इन्डोनीसियन सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की जिस नीति का अनुसरण कर रही थी, वह अमेरिका को पसन्द नहीं थी। साथ ही, डॉ० सुकर्ण की सरकार और राष्ट्रीय परामर्श सभा में कम्युनिस्टों को भी शामिल किया गया था, जो अमेरिका की दृष्टि में बहुत अनुचित था। कम्युनिज्म के बढ़ते हुए प्रभाव से दक्षिण-पूर्वी एशिया की रक्षा करने के लिए सीटो (साउथ-ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गनिजेशन) के रूप में जो अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी अमेरिका ने बनायी थी, इन्डोनीनिया उसमें शामिल नहीं हुआ था और अमेरिका का यह विचार था, कि सुकर्ण की सरकार पर कम्युनिस्टों का प्रभाव विद्यमान हैं। साथ ही, उसे यह पसन्द नहीं था, कि इन्डोनीसिया में एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार स्थापित हो। इसीलिये वह सुमात्रा, सेलेबस आदि के विद्रोही सैनिक नेताओं को सहायता प्रदान करने में तत्पर था। उसे आशा थी, कि ये सैनिक नेता अमेरिका के प्रभाव में रहेंगे, और दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिस्ट प्रभाव को नहीं बढ़ने देंगे।

केन्द्रीय सरकार ने १९५८ के विद्रोहों का दमन करने में सफलता अवश्य प्राप्त कर ली थी, पर इससे इन्डोनीसिया की समस्याओं का हल नहीं हो गया था। विविध राजनीतिक पार्टियों के झगड़ों तथा सैनिक विद्रोहों के कारण लोकतन्त्र शासन का सफल हो सकना सुगम नहीं था। देश में एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना के प्रयोजन से १२ जनवरी, १९६० के दिन राष्ट्रपति सुकर्ण ने एक अध्यादेश जारी किया, जिस द्वारा उन्होंने राजनीतिक पार्टियों को नियन्त्रित कर सकने और उन्हें बर्खास्त कर सकने के अधिकार प्राप्त कर लिये। इसी समय जनता परामर्श महासभा (People's Consul-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tative Congress) नाम से एक नई सभा के निर्माण की भी व्यवस्था की गई, जिसके सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं की जाती थी। इस सभा के सदस्यों की संख्या २८३ नियत की गई, जिनमें से १३० विविध राजनीतिक पार्टियों का प्रतिनिधित्त्व करते थे और शेष १५३ जनता के विविध वर्गों का। इस सभा में किन पार्टियों के प्रतिनिधि लिये जायें, यह निर्धारित करना सुकर्ण के अपने हाथों में था। सेना, उद्योग, आर्थिक संगठन, किसान, सहकारी समिति, धार्मिक सम्प्रदाय आदि विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति भी सुकर्ण की सहमति से ही किये जाने की व्यवस्था की गई थी। जनता परामर्श महासभा का पहला अधिवेशन नवम्बर, १९६० में हुआ, जिसमें सुकर्ण को 'क्रान्ति के महान् नेता' की उपाधि से विभूषित किया गया, और उनके नेतृत्त्व में एक राष्ट्रीय मोरचे के संगठन का निश्चय किया गया, जिसका उद्देश्य पश्चिमी ईरियन को इन्डोनीसिया के अन्तर्गत करने के लिये प्रचण्ड आन्दोलन करना था। इस समय इन्डोनीसिया के शासन की सब शक्ति डॉ० सुकर्ण के हाथों में आ गई थी, और उनका विरोध कर सकना किसी भी राजनीतिक व सैनिक नेता के लिये सुगम नहीं रहा था। सुकर्ण का जनता पर अनुपम प्रभाव था, क्योंकि उन्हीं के नेतृत्त्व में इन्डोनीसिया ने स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। सेना भी उनके साथ थी, और उसके प्रधान सेनापति जनरल अब्दुल नसूतिअन उनके साथ पूर्ण-रूप से सहयोग करने को उद्यत थे। सुकर्ण अपने विचारों में वामपक्षी थे, और कम्युनिस्टों के प्रति उनकी सहानुभूति थी। इन्डोनीसिया में कम्युनिस्ट पार्टी भली-भांति संगठित थी, और उसके मुख्य सचिव दीप नुसन्तर ऐदित का सहयोग व समर्थन सुकर्ण को प्राप्त था। देश के शासन में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लेने के कारण ही सुकर्ण पश्चिमी ईरियन को हस्तगत करने में समर्थ हो सके (मई, १९६३)। इसके लिये जो संघर्ष उन्हें करना पड़ा, उस पर इसी अध्याय के पिछले प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है।

पश्चिमी ईरियन की समस्या के समाधान के कुछ समय बाद सुकर्ण की सरकार को एक अन्य समस्या का सामना करना पड़ा। इस समय मलाया इस प्रयत्न में था, कि सरावक, बोर्नियो और सिंगापुर को अपने साथ मिलाकर 'मलायीसिया' नाम से एक नये संघराज्य का निर्माण किया जाए। इन्डोनीसिया के रूप में जिस शक्तिशाली राज्य का निर्माण हो गया था, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह तटस्थता की नीति का समर्थक था, और कम्युनिज्म की ओर उस का झुकाव था। इस दशा में ब्रिटिश सरकार यह अनुभव करती थी, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक ऐसे शक्तिशाली राज्य का निर्माण उपयोगी होगा, जो ब्रिटेन के प्रभाव में रहे। मलाया, सिंगापुर, सरावक और उत्तरी बोर्नियो ब्रिटिश कामनवेल्थ में सम्मिलित थे। अतः ब्रिटेन ने यह उचित समझा कि इन चारों राज्यों को मिलाकर एक संवर्ग-राज्य (फिडरेशन) का निर्माण कर दिया जाए। पर इन्डोनीसिया इस योजना के विरुद्ध था। सरावक को वह अपने देश का अंग मानता था, और फिलिप्पीन की दृष्टि में उत्तरी बोर्नियो को उसके राज्य-क्षेत्र के अन्तर्गत होना चाहिये था। अगस्त, १९६३ में मलाया के प्रधानमन्त्री तुंगकू अब्दुल रहमान, इन्डोनीसिया के राष्ट्रपति सुकर्ण और फिलिप्पीन के राष्ट्रपति मक्पगल मनीला में एकत्र हुए और वे इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख निर्णयार्थ प्रस्तुत करने के लिये सहमत हो गए। संघ ने निश्चय किया, कि इस प्रश्न पर उत्तरी बोर्नियो और सरावक की जनता का मत लिया जाए, और उसके अनुसार ही यह तय किया जाए कि इन्हें मलायीसिया के संवर्ग-राज्य में सम्मिलित होना है या नहीं। १४ सितम्बर, १९६३ के दिन उत्तरी बोर्नियो और सरावक में इस प्रश्न पर लोकमत लिया गया, जिसका परिणाम मलायीसिया के संवर्ग-राज्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्ष में था। अब संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार मलायीसिया का निर्माण कर दिया गया। पर सुकर्ण इस नये राज्य की वैध सत्ता को मान्यता प्रदान करने को उद्यत नहीं हुए। इस पर मलायीसिया ने इन्डोनीसिया के साथ अपने राजनयिक सम्बन्धों का अन्त कर दिया, और दोनों राज्यों में युद्ध की तैयारियां शुरू हो गईं। इन्डोनीसिया की सेनाओं ने मलायीसिया के विविध प्रदेशों पर हमले भी प्रारम्भ कर दिये, जिनके कारण स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गई। मलायीसिया की ओर से यह मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ के समक्ष प्रस्तुत किया गया, जहां नार्वे द्वारा प्रस्ताव इन्डोनीसिया के आक्रमण की निन्दा का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। पर रूस ने इस प्रस्ताव को वीटो कर दिया। इस पर अमेरिका और ब्रिटेन ने इन्डोनीसिया को आर्थिक सहायता प्रदान करना बन्द कर दिया, और यह निश्चय किया कि इस देश के साथ कोई व्यापारिक सम्बन्ध न रखे जाएं। ये देश चाहते थे कि सुकर्ण पर आर्थिक दबाव डालकर उन्हें मलायीसिया के विरुद्ध कार्य-वाही न करने के लिये विवश करें। पर सुकर्ण की सरकार ने अमेरिका और ब्रिटेन की कोई परवाह नहीं की, और इन्डोनीसिया में जो ब्रिटिश व अमेरिकन कम्पनियां विद्यमान थीं, उन्हें जब्त कर लिया। इस समय सुकर्ण कम्युनिस्टों के सहयोग व समर्थन को बहुत महत्त्व दे रहे थे, और रूस आदि कम्युनिस्ट देशों का समर्थन उन्हें प्राप्त था। सुकर्ण का कहना था कि इन्डोनीसिया के आधार तीन तत्त्व हैं, राष्ट्रीयता, धर्म (इस्लाम) और कम्युनिज्म। अतः यह सम्भव ही नहीं है, कि वहां की सरकार कम्युनिस्टों की उपेक्षा कर सके। इन्डोनीसिया ने जो स्वतन्त्रता प्राप्त की, कम्युनिस्टों का कर्तृत्व उनमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इस दशा में देश की उन्नति के लिये भी उनका सहयोग बहुत उपयोगी है।

जनवरी, १९६५ में इन्डोनीसिया संयुक्त राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया, और सुकर्ण ने उसके मुकाबिले में एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संघ को संगठित करने का प्रयत्न किया। उन का कहना था, कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का नेतृत्व पूंजीवादी पाश्चात्य देशों के हाथों में है, और संसार के पिछड़े हुए देशों को उसमें सम्मिलित होने से कोई लाभ नहीं है। पर इस योजना में उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई। चीन, उत्तरी कोरिया और उत्तरी विएत-नाम सदृश कतिपय कम्युनिस्ट देशों ने ही इसका स्वागत किया। ये देश भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता से वंचित थे। पर इस योजना का यह लाभ अवश्य हुआ, कि इन्डोनीसिया और चीन एक-दूसरे के बहुत समीप आ गये। जनवरी, १९६५ में इन्डोनीसिया के पर-राष्ट्रमंत्री सुबन्द्रियो चीन की यात्रा के लिये गये और पेकिंग में उन्होंने कम्युनिस्ट चीन की सरकार से बातचीत की। इस बातचीत के परिणामस्वरूप जो विज्ञप्ति दोनों राज्यों की ओर से प्रकाशित की गई, उसमें दोनों ने एक-दूसरे की विदेश-नीति का समर्थन किया। अमेरिका और ब्रिटेन से इन्डोनीसिया का जो विरोध इस समय उत्पन्न हो गया था, उस के कारण मार्च, १९६५ में उन सब पुस्तकालयों और सूचना-केन्द्रों को भी बन्द कर दिया गया, जो कि इन राज्यों द्वारा इन्डोनीसिया के विविध नगरों में स्थापित थे। यह वह समय था, जब कि भारत और चीन के सम्बन्धों में बहुत कटुता आ चुकी थी, और भारत के प्रति विरोध के कारण चीन पाकिस्तान के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने में तत्पर था। सितम्बर, १९६४ में डॉ० सुकर्ण ने पाकिस्तान की यात्रा की, और उसके साथ अपने सम्बन्धों को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया। इसी के परिणामस्वरूप अगस्त, १९६५ में पाकिस्तान और इन्डोनीसिया में आर्थिक और सांस्कृतिक सहयोग की वृद्धि के लिये एक संगठन का निर्माण किया गया। सितम्बर, १९६५ में जब भारत और पाकिस्तान में युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो इन्डोनीसिया भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की सहायता करने को उद्यत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया, और जकर्ता में स्थित भारतीय राजदूत तथा एयर-इण्डिया के कार्यालयों पर आक्रमण किये गये। चीन के साथ मैत्री के कारण अब इन्डोनीसिया भी भारत का विरोधी हो गया था। इस बीच में मलायीसिया पर इन्डोनीसिया के हमले जारी थे। पर उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली, क्योंकि ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड की सहायता मलायीसिया को प्राप्त थी। उनकी सेनाएं इस क्षेत्र के युद्ध में हाथ बटाने के लिये मलायीसिया पहुंच गई थीं।

मलायीसिया के विरुद्ध युद्ध में इन्डोनीसिया की सरकार को जो विफलता हो रही थी, उसके कारण जनता में असंतोष उत्पन्न होने लग गया। लोग इसके लिये सेना और उनके सेनापतियों को दोषी समझते थे। प्रधान सेनापति जनरल अब्दुल नसूतिअन पर कम्युनिस्टों द्वारा आक्षेप किये जाने लगे थे, और वे समझते थे कि अब उन्हें अपने देश की शासन शक्ति को भी पूर्णतया अपने अधिकार में ले आने का प्रयत्न करना चाहिये। १ अक्टूबर, १९६५ के दिन कर्नल उन्तुंग नामक एक सेनानायक के नेतृत्व में जनरल नसूतिअन के विरूद्ध विद्रोह हो गया। अनेक सेनापति इस विद्रोह में उन्तुंग के साथ थे, और कम्युनिस्ट भी उनकी सहायता कर रहे थे। इस विद्रोह में ऐसे अनेक सेनापतियों की हत्या कर दी गई, जिन्हें कम्युनिज्म का विरोधी समझा जाता था। नसूतिअन की हत्या का भी प्रयत्न किया गया। वे तो बाल-बाल बच गये, पर उनकी पुत्री विद्रोहियों द्वारा मौत के घाट उतार दी गई। कर्नल उन्तुंग का यह विद्रोह सफल नहीं हो सका। जनरल सुहर्तो ने उसका दमन करने में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। सुहर्तो नसूतिअन के सहयोगी थे, और कम्युनिस्टों से उनका विरोध था। अब सुहर्तो के नेतृत्व में सेना द्वारा कम्युनिस्टों के विरुद्ध अभियान शुरू किया गया, और जावा में (जहां कम्युनिस्ट विशेष रूप से प्रबल थे) उनका बुरी तरह से विनाश किया गया। अनुमान है, कि इस समय तीन चार लाख के लगभग कम्युनिस्ट सेना के प्रकोप के शिकार हुए। नसूतिअन के स्थान पर अब जनरल सुहर्तो ने इन्डोनीसिया के प्रधान सेनापति का पद ग्रहण कर लिया था, और वे कम्युनिस्टों के विरुद्ध अपनी सैन्य शक्ति को प्रयुक्त करने में तत्पर थे। सुकर्ण को इस समय विकट परिस्थितियों का सामना करना पड़ा। कम्युनिस्टों के प्रति उनका झुकाव था, और वे उनके सहयोग को बहुत महत्त्व देते थे। पर सेना के विरोध के कारण वे अपने को असहाय अनुभव कर रहे थे। कम्युनिस्टों के प्रति विरोध की भावना अब जनता में भी निरन्तर बढ़ती जा रही थी, जिसके कारण चीन के कान्सल-जनरल के कार्यालय तथा न्यू चाइना न्यूज एजेन्सी पर हमले किये गये, और जनता ने चीन-विरोधी प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिये। सुकर्ण के लिये स्थिति को संभाल सकना कठिन हो गया, और उन्होंने सरकार का सञ्चालन सुहर्तो के हाथों में दे दिया (मार्च, १९६६)। सुकर्ण अब भी राष्ट्रपति के पद पर विराजमान रहे, पर वास्तविक शासन शक्ति सुहर्तो के हाथों में आ गई। उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी को अवैध घोषित कर दिया, और उन सब मन्त्रियों तथा राजपदाधिकारियों को नजरबन्द कर लिया, जिन्हें कम्युनिस्टों का समर्थक समझा जाता था। सुबन्द्रियो भी इनमें एक थे। उनके स्थान पर आदम मलिक को इन्डोनीसिया का परराष्ट्र-मन्त्री नियुक्त किया गया। कर्नल उन्तुंग पर मुकदमा चलाया गया, और उन्हें प्राणदण्ड दिया गया (सितम्बर, १९६७)। सुहर्तो की सरकार ने मलायीसिया के युद्ध की समाप्ति कर दी, और चीन के साथ अपने मैत्री-सम्बन्ध का अन्त कर दिया। सुकर्ण द्वारा जिन अनेक राजनीतिक पार्टियों को अवैध घोषित किया गया था, उन्हें अब वैध स्वीकार कर लिया गया और उनके गिरफ्तार नेताओं को रिहा कर दिया गया। सुबन्द्रियो और उनके अनेक साथियों पर भी मुकदमे चलाये गये, और उन्हें भी मृत्युदण्ड दिया गया (दिसम्बर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९६७)। सुकर्ण नाम को अब भी इन्डोनीसिया के राष्ट्रपति थे, पर शासन में उनका कोई भी हाथ नहीं था। पर उनकी यह स्थिति भी देर तक कायम नहीं रही। जनता परामर्श महासभा ने उन्हें राष्ट्रपति के पद से भी च्युत कर दिया, और उनके स्थान पर यह पद सामयिक रूप से जनरल सुहर्तो को प्रदान कर दिया गया (२२ फरवरी, १९६८) यह निश्चय किया गया कि १९६८ में जब जनता परामर्श महासभा के नये चुनाव हो जायेंगे, तो राष्ट्रपति के सम्बन्ध में स्थायी रूप से यह महासभा ही निर्णय करेगी। जनता परामर्श महासभा के नये सदस्यों का चुनाव सम्पन्न हो जाने पर उसने सुहर्तो को स्थायी रूप से राष्ट्रपति चुन लिया, और २६ मार्च, १९६८ के दिन उन्होंने इस पद को ग्रहण कर लिया। तब से सुहर्तो ही इन्डोनीसिया के राष्ट्रपति तथा कर्ता धर्ता हैं।

सुहर्तो के नेतृत्व में इन्डोनीसिया की सरकार ने जिस नीति का अनुसरण करना प्रारम्भ किया, वह सुकर्ण की नीति से सर्वथा भिन्न है। मलायीसिया के प्रश्न पर ३१ जनवरी, १९६५ को इन्डोनीसिया संयुक्त राष्ट्रसंघ से पृथक् हो गया था, पर सुहर्तो के शासन-शक्ति अपने हाथों में ले लेने पर २८ सितम्बर, १९६६ के दिन उसने फिर संघ की सदस्यता प्राप्त कर ली। अपनी आर्थिक उन्नति के लिये उसने पाश्चात्य पूंजीवादी देशों से सहायता लेना भी प्रारम्भ कर दिया। सुकर्ण के समय में जिन विदेशी कम्पनियों तथा औद्योगिक संस्थानों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया था, उन सबको अब उनके विदेशी स्वामियों को वापस लौटा दिया गया।

(३) मलाया और मलायीसिया का संवर्ग-राज्य

सन् १९४१ तक मलाया ब्रिटेन के अधीन था। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय में जापान ने उसे ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्त कर अपने अधीन कर लिया था। महा-युद्ध में जापान की पराजय के बाद ब्रिटेन ने वहां अपने प्रभुत्व को फिर से स्थापित किया। इसके कारण जो समस्याएं वहां उत्पन्न हुईं उन्हें हल करने और मलाया में स्वायत्त शासन की स्थापना करने के लिये जो प्रयत्न किये गये, उनका उल्लेख इस ग्रन्थ के पच्चीसवें अध्याय में किया जा चुका है। १९४७ की योजना के अनुसार मलाया के दसों राज्यों की पृथक् सत्ता कायम रखी गई थी, पर उन्हें मिलाकर एक संवर्ग-राज्य (फिडरेशन) का निर्माण कर दिया था, और इस फिडरल सरकार पर देखभाल करने के लिये ब्रिटेन की ओर से एक हाई कमिश्नर की नियुक्ति की व्यवस्था की गई थी। यद्यपि युनाइटेड मलाया नेशनल आर्गेनाईजेशन ने इस योजना को स्वीकार कर लिया था, पर मलाया के उग्र राष्ट्रवादी इससे असहमत थे। वे अपने देश से ब्रिटेन के आधिपत्य का अन्त कर पूर्ण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील थे। कम्युनिज्म का जोर भी मलाया में निरन्तर बढ़ रहा था। इस दशा में १९४७ की योजना सफल नहीं हो सकी। इस असफलता का मुख्य कारण यह था, कि मलाया के सब निवासी राष्ट्रीय दृष्टि से एक नहीं हैं। उस समय वहां की आबादी का ४४·९ प्रतिशत भाग चीनी था, और १०·४ प्रतिशत भाग भारतीय। मलाया के अपने लोग वहां की कुल आबादी के केवल ३३·३ प्रतिशत थे। उनकी संख्या चीनी लोगों की तुलना में कम थी। इस दशा में वहां एक राष्ट्रीयता का विकास हो सकना सम्भव नहीं था। धार्मिक दृष्टि से भी वहां के निवासियों में भेद हैं। चीनी लोग प्रायः बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं, और मलाया लोग इस्लाम के। भारतीय प्रायः हिन्दू हैं। १९४७ की योजना के अनुसार मलाया के सब निवासियों को वोट का अधिकार प्रदान किया गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि मलाया की विधान सभा में मलाया लोग बहुमत प्राप्त नहीं कर सकते थे। मलाया लोगों में यह भावना विद्यमान थी, कि चीनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और भारतीय मलाया के लिये विदेशी हैं, और वस्तुतः यह देश केवल उनका अपना ही है। पर जो चीनी और भारतीय चिरकाल से इतनी बड़ी संख्या में इस देश में निवास कर रहे थे, उन्हें नागरिकता के अधिकार से वंचित रख सकना भी कठिन था।

१९४७ की योजना की असफलता का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण कम्युनिस्ट लोगों का विद्रोह भी था। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों के समान मलाया में भी कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता थी। जब जापान ने मलाया पर कब्जा कर लिया, तो इस पार्टी ने इन नये विदेशी शासकों के विरुद्ध उग्र आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। क्योंकि इस समय रूस जर्मनी के विरुद्ध महायुद्ध में शामिल हो चुका था, अतः संसार के सभी देशों के कम्युनिस्टों की सहानुभूति मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में हो गई थी। जापान के विरुद्ध संघर्ष में अत्यधिक तत्परता प्रदर्शित करने के कारण मलाया में कम्युनिस्टों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। अतः १९४७ की योजना से वहां के जो राष्ट्रवादी देशभक्त बहुत असंतुष्ट थे, उनमें भी कम्युनिस्टों का प्राधान्य था। १९४८ तक चीन से प्रायः कुओमिन्तांग के शासन का अन्त हो चुका था, और उस देश का शासन कम्युनिस्टों के हाथों में आ गया था। मलाया के कम्युनिस्टों को भी इससे बल मिला। चीन की सहानुभूति और सहायता भी उन्हें प्राप्त थी। इस दशा में मलाया के कम्युनिस्टों ने ब्रिटिश शासन और १९४७ की योजना के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने एक मलायन नेशनल लिबरेशन सेना का संगठन किया, और शस्त्र-शक्ति का प्रयोग कर ब्रिटेन के प्रभुत्व का अन्त कर देने के लिये संघर्ष शुरू कर दिया। इस विद्रोह या युद्ध का उद्देश्य यह था, कि मलाया में भी चीन के ढंग की जनवादी लोकतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना की जाए। ब्रिटेन ने कम्युनिस्टों के विद्रोह को दबाने के लिये उग्र उपायों का प्रयोग किया। १९४८ से १९५५ तक यह संघर्ष चलता रहा, और इसी के कारण १९४७ की योजना के अनुसार विधान सभा आदि की स्थापना भी सम्भव नहीं हो सकी। अन्त में १९५५ तक ब्रिटिश सेनाएं कम्युनिस्टों का दमन करने में सफल हो गईं, यद्यपि जंगलों को आधार बना कर वे ब्रिटेन के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर रहे। पर अब यह दशा आ चुकी थी, कि मलाया में चुनाव करा सकना कठिन नहीं रहा था। १९५५ में मलाया की फिडरल विधान सभा के सदस्यों का चुनाव किया गया, जिसमें ऐसे लोगों को बहुत सफलता प्राप्त हुई, जो कि अपने देश के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। अब ब्रिटेन के लिए यह सम्भव नहीं रहा, कि वह मलाया की स्वतन्त्रता की मांग की उपेक्षा कर सके। जनवरी, १९५६ में मलाया के राजनीतिक नेताओं का एक शिष्ट-मण्डल इस प्रयोजन से लण्डन गया, कि वहां वह ब्रिटिश सरकार के साथ एक ऐसा समझौता करने का प्रयत्न करे जिसके द्वारा मलाया पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर सके। लण्डन में यह निश्चय किया गया, कि एक कमीशन की नियुक्ति की जाय, जो मलाया के लिए एक ऐसे संविधान के सम्बन्ध में सिफारिशें करे, जिससे मलाया की जनता को संतोष हो और वह पूर्ण स्वाधीनता के मार्ग पर अग्रसर हो सके। जून, १९५६ में इस कमीशन ने अपना कार्य प्रारम्भ किया, और इस द्वारा की गई सिफारिशों पर मलाया के शासकों (सुलतानों), ब्रिटिश सरकार और मलाया के राजनीतिक दलों ने विचार-विमर्श किया। इस सब के परिणामस्वरूप मलाया के लिए जिस संविधान का निर्माण हुआ, उस पर प्रकाश डाल सकना यहां सम्भव नहीं है। केवल इतना निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा, कि यह संविधान पूर्ण स्वाधीनता को दृष्टि में रखकर बनाया गया था, और ३१ अगस्त, १९५७ के दिन ब्रिटेन ने मलाया पर से अपने प्रभुत्त्व का अन्त कर उसे सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य बना दिया था। इस समय से मलाया ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली, जिसके शासन का स्वरूप संवर्गात्मक (फिडरल) था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें ग्यारह राज्य सम्मिलित हुए, नौ ऐसे राज्य जिनमें वंशानुगत सुलतानों का शासन था, और दो (पेनान्ग और मलक्का) ऐसे राज्य जो पहले सीधे ब्रिटेन के शासन में थे। सम्पूर्ण मलाया के राजा के पद पर वहां के नौ सुलतान अपने में से किसी एक को पांच वर्षों के लिए निर्वाचित करते थे। पर देश का वास्तविक शासन एक मन्त्रिपरिषद् के हाथों में था, जो जनता द्वारा निर्वाचित विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थी। नये संविधान के अनुसार यह व्यवस्था की गई थी, कि मलाया की पार्लियामेंट में दो सदन हों, सीनेट और विधान सभा। मलाया ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त कर ली थी, और ब्रिटिश कामनवेल्थ में उसकी वही स्थिति हो गई थी, जो भारत, पाकिस्तान, लंका आदि राज्यों की थी। सम्पूर्ण मलाया का पहला राजा टनकू अब्दुल रहमान इब्री अल-मरहम टनकू मुहम्मद को चुना गया, और प्रधानमन्त्री के पद पर अबुल रजाक बिन हुसैन की नियुक्ति की गई।

मलाया प्रायद्वीप के दक्षिणी कोने में सिंगापुर की स्थिति है, जो भौगोलिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महायुद्ध (१९३९-४५) से पूर्व दक्षिण-पूर्वी एशिया में वहां ब्रिटेन की जल-सेना का प्रधान अड्डा था, और उसकी सुदृढ़ किलाबन्दी करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने ३० करोड़ से भी अधिक रुपये खर्च किये थे। महायुद्ध के समय जापान ने सिंगापुर पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। १९४५ में ब्रिटेन इस पर पुनः अपना अधिकार कर सकने में समर्थ हुआ। यद्यपि भौगोलिक दृष्टि से सिंगापुर को भी मलाया के फिडरेशन में सम्मिलित किया जाना चाहिये था, पर ब्रिटेन ने इसकी पृथक् सत्ता को कायम रखा। मलाया ने भी इसमें विशेष विप्रतिपत्ति नहीं की, क्योंकि सिंगापुर के निवासियों में ८० प्रतिशत के लगभग चीनी लोग थे।

मलायीसिया के संवर्ग राज्य का निर्माण—दक्षिण-पूर्वी एशिया में मलाया, सिंगापुर, सरावक और उत्तरी बोर्नियो ऐसे प्रदेश हैं, जो पहले ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और द्वितीय महायुद्ध के बाद जिनमें स्वायत्त शासनों की स्थापना हो गई थी। जातीय दृष्टि से इनके निवासियों में मलाया लोग अच्छी बड़ी संख्या में हैं। अतः यह विचार विकसित हुआ कि इन राज्यों को परस्पर मिला कर एक नये संवर्ग-राज्य (फिडरेशन) का संगठन कर दिया जाए। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में इन्डोनीसिया के रूप में एक ऐसे विशाल एवं शक्तिशाली राज्य का निर्माण हो चुका था, जो राष्ट्रपति सुकर्ण के नेतृत्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति का अनुसरण करता था और जिसका झुकाव कम्युनिज्म तथा चीन की ओर था। इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने यह अनुभव किया, कि इस क्षेत्र में एक ऐसे राज्य का निर्माण करना उपयोगी होगा जो कि ब्रिटेन के प्रभाव में रहे। मलाया, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो और सरावक ब्रिटिश कामनवेल्थ में सम्मिलित थे। अतः ब्रिटेन को यह समुचित प्रतीत होता था, कि इन राज्यों को मिला कर एक नये संवर्ग राज्य का निर्माण कर दिया जाए। मलाया के लोगों को भी यह विचार स्वीकार्य था, क्योंकि इस नये राज्य में उन्हीं की प्रधानता रहती। दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में ब्रूनेई नामक एक अन्य द्वीप है, जहां के बहुसंख्यक निवासी मलाया जाति के हैं। इस पर वंशक्रमानुगत सुलतानों का शासन था, जो ब्रिटेन के प्रभुत्व को स्वीकार करते थे। जिस नये संवर्ग-राज्य के निर्माण की योजना इस समय विचाराधीन थी, ब्रुनेई को भी उसमें सम्मिलित करने का विचार था।

पर दक्षिण-पूर्वी एशिया के इन विविध राज्यों को एक संवर्ग-राज्य में संगठित करने में अनेक बाधाएं थीं। इन्डोनीसिया ने इस प्रस्ताव का उग्र रूप से विरोध किया;

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह समझता था, कि उत्तरी बोर्नियो, सरावक और ब्रुनेई की भौगोलिक दृष्टि से वही स्थिति है, जो इन्डोनीसिया के अन्तर्गत विभिन्न द्वीपों की है। अतः इन्हें इन्डोनीसिया में सम्मिलित किया जाना चाहिये। क्योंकि ये द्वीप पहले ब्रिटेन की अधीनता में थे, केवल इसीलिये ही इन्हें मलाया के साथ मिलाने का प्रस्ताव किया गया था। केवल इन्डोनीसिया ने ही इस नये संवर्ग-राज्य (जिसे मलायीसिया का नाम दिया गया था) के निर्माण का विरोध नहीं किया, अपितु फिलिप्पीन ने भी इसके विरुद्ध आवाज उठाई। उसका कहना था, कि बोर्नियो पर उसका अधिकार होना चाहिये। इसके लिये उसने अनेक ऐतिहासिक युक्तियां प्रस्तुत कीं। उसकी ओर से यह सुझाव भी रखा गया, कि मलाया, फिलिप्पीन और इन्डोनीसिया मिल कर एक संघ बना लें, जिसमें ये सब अपनी स्वतन्त्र व पृथक् सत्ता रखते हुए भी परस्पर सहयोग से काम कर सकें। जब इस प्रश्न पर ऐकमत्य नहीं हो सका, तो मलाया द्वारा मलायीसिया की समस्या को संयुक्त राष्ट्रसंघ के समक्ष प्रस्तुत कर दिया गया। संघ ने यह निर्णय किया कि उत्तरी बोर्नियो, सरावक और ब्रुनेई में इस प्रश्न पर लोकमत लिया जाए और जनता का बहुमत जिस पक्ष में हो, वही सब द्वारा स्वीकार कर लिया जाए। संघ के इस निर्णय के कारण मलायीसिया के निर्माण की बात को १६ सितम्बर, १९६३ तक के लिये स्थगित कर दिया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा इन प्रदेशों की जनता की सम्मति जानने की व्यवस्था की गई, और उस द्वारा नियुक्त प्रतिनिधियों ने १४सितम्बर को यह रिपोर्ट दी कि सरावक और उत्तरी बोर्नियो मलायीसिया के संघ में सम्मिलित होने के पक्ष में है, और ब्रुनेई इसके विरुद्ध है। इस प्रकार १६ सितम्बर, १९६३ के दिन मलायीसिया नाम से एक पृथक् संवर्ग राज्य का निर्माण कर दिया गया, जिसमें मलाया के अतिरक्त बोर्नियो, सरावक और सिंगापुर सम्मिलित हुए। इस प्रकार अब मलायीसिया नाम से जिस राज्य का निर्माण हुआ, उसमें कुल मिला कर १४ राज्य सम्मिलित थे—मलाया फिडरेशन के ११ राज्य, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो और सरावक। पर सिंगापुर देर तक इस संघ-राज्य में सम्मिलित नहीं रहा। ९ अगस्त, १९६५ को वह इससे पृथक् हो गया।

मलायीसिया का इन्डोनीसिया ने किस प्रकार विरोध किया, इस विषय पर इसी अध्याय के पिछले प्रकरण में प्रकाश डाला जा चुका है। सुकर्ण के पतन तथा सुहर्तो के शक्ति प्राप्त कर लेने पर इन्डोनीसिया ने इस नये राज्य का विरोध करना बन्द कर दिया, और दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित हो गई। मलायीसिया का संविधान प्रायः उसी प्रकार का है, जसा कि मलाया के फिडरेशन का था। मलाया के जिन ९ राज्यों में वंशक्रमानुगत सुलतानों का शासन है, उनमें से किसी एक के सुलतान को मलायीसिया का सर्वोच्च अध्यक्ष (यांग दी-परतुअन अगांग) निर्वाचित किया जाता है। यह चुनाव पांच वर्षों के लिये होता है। इस राज्य में एक पार्लियामैन्ट की भी सत्ता है, जिसके दो सदन हैं—सीनेट और प्रतिनिधि सभा। सीनेट के सदस्यों की संख्या ५८ है, और प्रतिनिधि सभा के १४४ सदस्य हैं, जिनमें से १०४ मलाया का, १६ उत्तरी बोर्नियो (जिसे अब सबाह कहते हैं) का, और २४ सरावक का प्रतिनिधित्व करते हैं। मलायीसिया में भी अनेक राजनीतिक पार्टियों की सत्ता है, जिनमें एलायन्स पार्टी मुख्य है। इस राज्य को भी संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त है। इसकी जनसंख्या एक करोड़ के लगभग है, और क्षेत्रफल १,३०,४०७ वर्गमील है।

मलायीसिया के गत वर्षों के इतिहास में तीन बातें उल्लेखनीय हैं, इन्डोनीसिया के साथ युद्ध, सिंगापुर का उससे पृथक् हो जाना और फिलिप्पीन के साथ उसका संघर्ष। इन्डोनीसिया के युद्ध पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। सिंगापुर जो मलायीसिया के संघ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य में सम्मिलित नहीं रह सका, उसका एक मुख्य कारण कुआला लम्पूर (मलाया की राजधानी) और सिंगापुर नगरी में प्रतिस्पर्धा का होना था। फिलिप्पीन उत्तरी बोर्नियो को अपने राज्यक्षेत्र में सम्मिलित करना चाहता था। इस प्रश्न पर फिलिप्पीन और मलायीसिया में विरोध इतना अधिक बढ़ गया, कि दोनों देशों ने अपने अपने राजदूत वापस बुला लिये और फिलिप्पीन के विधान-मण्डल ने एक कानून इस आशय का स्वीकार कर लिया, कि उत्तरी बोर्नियो (सबाह) उसका अन्यतम प्रदेश है (सितम्बर, १९६८)। पर इन राज्यों का संघर्ष अधिक उग्र रूप धारण नहीं कर सका, और सबाह मलायीसिया के ही अन्तर्गत रहा।

(४) सिंगापुर की रिपब्लिक

मलाया प्रायद्वीप के दक्षिण में समुद्रतट से ६ फर्लांग की दूरी पर सिंगापुर का द्वीप है, जो क्षेत्रफल में केवल २५० वर्गमील के लगभग है। इसकी जनसंख्या २० लाख से कुछ ऊपर है, जिनमें १५ लाख के लगभग चीनी तथा २ लाख के लगभग भारतीय हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इस द्वीप की स्थिति एक ब्रिटिश कोलोनी की थी, और महायुद्ध के दौरान में जापान ने इस पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया था। जापान की पराजय के पश्चात् की परिस्थितियों में ब्रिटेन के लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वह इस द्वीप पर पहले के समान शासन कर सके। इसीलिये १९५४ में ब्रिटिश सरकार ने सिंगापुर के के लिये नया संविधान तैयार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसकी सिफारिशों के अनुसार वहां एक विधान सभा के निर्माण की व्यवस्था की गई। इस सभा की सदस्य-संख्या ३२ रखी गई, जिनमें से २५ जनता द्वारा चुने जाते थे और शेष ७ की नियुक्ति सिंगापुर के ब्रिटिश गवर्नर द्वारा मनोनीत कर के की जाती थी। शासन कार्य में गवर्नर की सहायता के लिये एक मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई थी, जिसके सदस्य यद्यपि गवर्नर द्वारा नियुक्त किये जाते थे, पर वे विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होते थे। सिंगापुर के शासन में गवर्नर को अत्यधिक अधिकार प्राप्त थे, और वह संविधान को स्थगित भी कर सकता था। जनता इससे संतुष्ट नहीं थी। इसीलिये पहले मार्च, १९५४ में और फिर मई, १९५७ में सिंगापुर से दो शिष्टमण्डल लण्डन गये और वहां उन्होंने अपने देश के लिये ऐसी शासन व्यवस्था का सूत्रपात कराने का प्रयत्न किया, जिससे जनता को संतोष हो सके। इन प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि सिंगापुर को एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया गया, और उसे भी ब्रिटिश कामनवेल्थ में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्रदान कर दी गई।

१९६३ में जब मलायीसिया के संघ-राज्य का निर्माण हुआ, तो सिंगापुर भी उसमें सम्मिलित हो गया। पर वह देर तक उसमें नहीं रहा, और ९ अगस्त, १९६५ के दिन वह मलायीसिया से पृथक् हो गया। अब वह एक पृथक् सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न गणराज्य (रिपब्लिक) है, यद्यपि कतिपय विषयों में अब भी मलायीसिया के साथ उसके सम्बन्ध विद्यमान हैं। न्यायसम्बन्धी अपीलें अब भी मलायीसिया के फिडरल कोर्ट के समक्ष प्रस्तुत की जा सकती हैं। सिंगापुर की रिपब्लिक की पार्लियामैन्ट के सदस्यों की संख्या ५८ है, जिन्हें सर्वसाधारण जनता वोटों द्वारा चुनती है। मन्त्रिपरिषद् इस पार्लियामैन्ट के प्रति उत्तरदायी है, और राष्ट्रपति की स्थिति शासन में नाममात्र की है। सिंगापुर को संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्राप्त हो चुकी है (२१ सितम्बर, १९६५), और वह ब्रिटिश कामनवेल्थ में भी सम्मिलित है। महायुद्ध के समय तक सिंगापुर दक्षिण-पूर्वी एशिया में ब्रिटिश जलसेना का सबसे बड़ा अड्डा था, पर अब ब्रिटिश सेनाएं वहां से वापस बुलायी जा चुकी हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैंतीसवां अध्याय

दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य राज्य

(१) बरमा

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के पश्चात् बरमा ने किस प्रकार ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त की, और वहां सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य की स्थापना हुई (जनवरी, १९४८), इस विषय पर इस ग्रन्थ के पच्चीसवें अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। बरमा के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के प्रधान नेता आंग सान की हत्या (जुलाई, १९४७) के अनन्तर थाकिन नू प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किये गये थे, और उन्हीं के नेतृत्त्व में संविधान परिषद् द्वारा बरमा के लिये नये संविधान का निर्माण किया गया था। इस संविधान द्वारा बरमा की पार्लियामेन्ट में दो सदनों की व्यवस्था की गई थी—राष्ट्रीयताओं की सभा और प्रतिनिधि सभा। राष्ट्रीयताओं की सभा (Chamber of Nationalities) के सदस्यों की संख्या १२५ थी, जिनमें से ६३ उन राज्यों तथा विशेष क्षेत्रों का प्रतिनिधित्त्व करते थे जो बरमा के गणराज्य के अन्तर्गत थे। प्रतिनिधि सभा के २५० सदस्य होते थे, जिन्हें सर्वसाधारण मतदाता प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों द्वारा चुनते थे। दोनों सदनों के सदस्यों की सदस्यता की अवधि चार साल नियत की गई थी। बरमा के राष्ट्रपति का चुनाव पार्लियामेन्ट के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक द्वारा किया जाता था। शासन का कार्य एक मन्त्रिमण्डल के हाथों में रखा गया था, जो तभी तक अपने पद पर रह सकता था, जब तक कि प्रतिनिधि सभा का विश्वास उसे प्राप्त रहे। संविधान सभा के निर्णय के अनुसार बरमा ने ब्रिटेन से अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर लिया था, और उसने ब्रिटिश कामनवेल्थ की सदस्यता स्वीकार नहीं की थी। १९ एप्रिल, १९४८ के दिन बरमा संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया था।

इन्डोनीसिया के समान बरमा को भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक विकट समस्याओं का सामना करना पड़ा। ये समस्याएं दो प्रकार की थीं—(१) कम्युनिस्टों के विद्रोह, और (२) विविध जातियों और प्रदेशों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में स्वाधीनता के लिये किये गये प्रयत्नों से प्रादुर्भूत। महायुद्ध के समय जब जापान ने बरमा को ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त कर वहां एक स्वतंत्र सरकार की स्थापना कर ली थी, तो बहुत-से बरमी देशभक्तों और राष्ट्रवादी नेताओं ने जापान के साथ सहयोग की नीति का अनुसरण किया था। पर कम्युनिस्ट लोग फासिस्ट शक्तियों के विरोधी थे। इसीलिये बरमा के कम्युनिस्ट भी अपने देश को जापान के प्रभुत्त्व से स्वतन्त्र करने के लिये प्रयत्नशील थे। जापान के अपकर्ष के समय जब ब्रिटिश सेनाओं ने फिर से बरमा पर कब्जा कर लिया, तो कम्युनिस्ट लोग उनके विरुद्ध भी संघर्ष में तत्पर रहे। १९४७ में बरमा की संविधान परिषद् ने देश के लिये जिस संविधान का निर्माण किया था, कम्युनिस्ट पार्टी उससे संतुष्ट नहीं थी, क्योंकि वह वहां समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना चाहती थी। परिणाम यह हुआ, कि उसने अपनी पृथक् सेना का संगठन किया, और रंगून से मांडले तक के और इरावदी नदी के मुहाने के प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कम्युनिस्टों के इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्रोह के कारण एण्टि-फासिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग में भी फूट पड़ गई, और इस लीग में वामपक्षी विचारों के जो लोग सम्मिलित थे, उन्होंने कम्युनिस्टों का साथ देने का निश्चय किया। एण्टि-फासिस्ट लीग की शक्ति बहुत कुछ पीपल्स वालन्टरी आर्गनिजेशन (जन स्वयंसेवक संगठन) पर आश्रित थी। इसके नेता समाजवादी विचारों के थे, और यह चाहते थे कि थाकिन नू की सरकार ब्रिटेन के साथ कोई भी सम्बन्ध न रखे, और रूस आदि कम्युनिस्ट देशों के सहयोग से कार्य करे। नू ने इन्हें सन्तुष्ट करने का बहुत प्रयत्न किया, और यह कहा कि मन्त्रिमण्डल भी समाजवादी कार्यक्रम का पक्षपाती है और देश में समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करना चाहता है। उसने रूस के साथ आर्थिक सम्बन्ध भी स्थापित किए। पर इस से जन स्वयंसेवक संघठन के नेताओं को संतोष नहीं हुआ, और उन्होंने कम्युनिस्टों का साथ देने का निश्चय किया। १९४९ में कम्युनिस्ट विद्रोह ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया था, और उसके कारण नू की सरकार की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई थी।

कम्युनिस्ट विद्रोह अभी शान्त नहीं किया जा सका था, कि अनेक अल्पसंख्यक जातियों ने भी बरमी सरकार के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया। इनमें करन लोग सर्वप्रधान थे। बरमा की कुल आबादी दो करोड़ के लगभग थी, जिसमें करन लोगों की संख्या बीस लाख थी। १९४७ के संविधान में इस बात को स्वीकार कर लिया गया था, कि करन लोगों के लिए एक पृथक् राज्य (करन स्टेट) का निर्माण किया जायगा, जिसकी स्थिति शान और कचीन राज्यों के सदृश होगी। इन राज्यों के समान करन स्टेट को भी स्वायत्त शासन के अधिकार प्राप्त रहेंगे। पर करन स्टेट की सीमाएं क्या हों, यह निर्धारित कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि करन लोग बरमा के अनेक प्रदेशों में बिखर कर बसे हुए थे। यद्यपि उनका निवास प्रधानतया तनसरीम के प्रदेश में था, पर इरावदी के मुहाने के प्रदेश में भी उनकी आबादी कम नहीं थी। करन स्टेट की सीमा का निर्धारण न हो सकने के कारण करन लोगों ने विद्रोह कर दिया। बरमी सेना के करन सिपाहियों ने भी विद्रोहियों का साथ दिया, और मैकतिला, बसीन, तुंगू आदि पर कब्जा कर लिया। तुंगू को राजधानी बनाकर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की भी घोषणा कर दी (१९४९)। करन लोगों के समान इस समय कतिपय अन्य जातियों ने भी विद्रोह प्रारम्भ किये, और यह मांग पेश की, कि हमारे भी पृथक् और स्वायत्त राज्य होने चाहियें। पूर्वी पाकिस्तान की सीमा पर स्थित अरकान प्रदेश में मुसलमानों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास है। वे भी अपने पृथक् राज्य की मांग करने लगे। इसी तनसरीम के मों लोगों ने भी स्वायत्त शासन के लिये विद्रोह का प्रारम्भ कर दिया। १९४९ का साल बरमा की केन्द्रीय सरकार के लिये अत्यन्त विकट था। कम्युनिस्ट, करन, अराकानी और मोंस विद्रोहों के कारण उसका शासन रंगून और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था, और बरमा के विविध प्रदेश विद्रोहियों के कब्जे में आ गये थे। इन विद्रोहों का दमन करने में नू के मन्त्रि-मण्डल को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा। पर विद्रोहियों में एकता का अभाव था। वे परस्पर मिलकर कार्य नहीं कर सके। कम्युनिस्टों में भी इस समय अनेक ऐसे दल थे, जो जहां केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे, वहां साथ ही आपस में भी लड़ रहे थे। शान और कचीन राज्यों ने इस अवसर पर केन्द्रीय सरकार का साथ दिया, और वे विद्रोह में शामिल नहीं हुए। इन्हीं सब बातों का यह परिणाम हुआ, कि कुछ वर्षों के निरन्तर संघर्ष के बाद नू की सरकार विद्रोहों को शान्त कर सम्पूर्ण बरमा पर अपना शासन स्थापित करने में समर्थ हो गई। १९५३ तक कम्युनिस्ट विद्रोह को दबा दिया गया था, और १९५४ तक करन और अन्य जातियों के विद्रोही भी वश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ले आये गये थे। करन लोगों की मांग को पूरा करने के लिये उनकी एक पृथक् स्टेट स्थापित कर दी गई, जिसकी सरकार को विदेशी सम्बन्ध, यातायात, संचार और केन्द्रीय टैक्सों के अतिरिक्त अन्य सब मामलों में स्वायत्त शासन के अधिकार प्रदान किये गये। कम्युनिस्टों के विद्रोहों के केन्द्र ऐसे प्रदेश थे, जिनकी सीमा चीन के साथ नहीं लगती थी। इसीलिये वहां की कम्युनिस्ट सरकार बरमा के कम्युनिस्टों को कोई सहायता नहीं दे सकती थी। यही कारण है, जो उत्तरी कोरिया और उत्तरी विएतनाम के समान बरमा में कोई पृथक् कम्युनिस्ट राज्य स्थापित नहीं हो सका।

१९५२ में बरमा की प्रतिनिधि-सभा का नया चुनाव हुआ। इसमें प्रधानमंत्री नू की एन्टि-फैसिस्ट पीपल्स फ्रीडम लीग पार्टी को अच्छी सफलता प्राप्त हुई। प्रतिनिधि सभा के २३३ सदस्यों में से १८० इसी पार्टी के चुने गए, और नू का मन्त्रिमण्डल कायम रहा। इस चुनाव में कम्युनिस्टों ने भी भाग लिया, यद्यपि अब उन्होंने मजदूर-किसान पार्टी के नाम से एक नये दल का संगठन कर लिया था, क्योंकि कम्युनिस्ट पार्टी को बरमा में अवैध घोषित किया जा चुका था। यद्यपि इस समय तक बरमा में शान्ति स्थापित हो चुकी थी, और केन्द्रीय सरकार का शासन प्रायः सम्पूर्ण देश पर कायम हो गया था, पर अभी विद्रोहों का सर्वथा अन्त नहीं हुआ था। १९५२ के बाद भी करन विद्रोह जारी रहा, और १९५४ में ही उसका अन्त हुआ। कम्युनिस्ट सेनाओं को १९५२ में ही परास्त कर दिया गया था, पर गुरीला नीति का आश्रय लेकर कम्युनिस्ट लोग बाद में भी संघर्ष करते रहे। एप्रिल, १९५६ में बरमा की प्रतिनिधि सभा का नया चुनाव हुआ, जिस में नू की एन्टि-फासिस्ट लीग ने १६९ स्थान प्राप्त किये। यह स्पष्ट है, कि बरमा में अब एण्टि-फासिस्ट लीग का प्रभाव कुछ कम होने लग गया था, जिसके कारण १९५६ के चुनाव में उसे उतनी सफलता नहीं मिली, जितनी कि १९५२ में मिली थी। ऊ नू की बौद्ध धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा थी। उन्होंने रंगून में एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध कान्फरेन्स का भी आयोजन किया था, जिसमें विश्व भर से बौद्ध सम्मिलित हुए थे। बौद्ध धर्म की शिक्षाओं के अनुसार सामयिक रूप से भिक्षु जीवन बिताने के प्रयोजन से १९५६ के चुनाव के पश्चात् उन्होंने एक साल के लिये प्रधानमन्त्री पद से अवकाश ग्रहण कर लिया, और बा स्वे उनके स्थान पर प्रधानमन्त्री नियुक्त हुए। एण्टि-फासिस्ट लीग में कतिपय ऐसे व्यक्ति भी सम्मिलित थे, जो समाजवाद के समर्थक थे। बा स्वे इन्हीं के प्रधान नेता थे। उनके प्रधानमन्त्री बन जाने पर लीग में समाजवाद के पक्षपतियों का प्रभाव बहुत बढ़ गया। इसीलिये एक साल के अवकाश के बाद ऊ नू ने जब प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया, तो उन्हें यह समझने में देर नहीं लगी कि एण्टि-फासिस्ट लीग में उनके विरोधियों की शक्ति में बहुत वृद्धि हो गई है। जनवरी, १९५८ में एण्टी-फासिस्ट लीग के अखिल बरमा संगठन का रंगून में अधिवेशन हुआ। उसके समक्ष अपना भाषण देते हुए ऊ नू ने स्पष्ट रूप से घोषित किया, कि लीग कार्ल मार्क्स की विचारधारा को कदापि स्वीकृत नहीं कर सकती। इस पर बा स्वे और उसके साथी ने केवल मन्त्रिमण्डल से पृथक् हो गये, अपितु लीग की सदस्यता से भी उन्होंने त्यागपत्र दे दिया (४ जून, १९५८)। उन्होंने अपनी एक पृथक् पार्टी संगठित कर ली और ऊ नू का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। प्रतिनिधि सभा में उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया गया, जिसे स्वीकृत न होने देने के लिये ऊ नू ने प्रतिनिधि सभा के कतिपय ऐसे ग्रुपों व सदस्यों का समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जो पहले विरोधी पक्ष में सम्मिलित थे। बा स्वे द्वारा प्रस्तुत अविश्वास का प्रस्ताव बहुत थोड़े बहुमत से अस्वीकृत हुआ, जिसे देखकर ऊ नू यह समझ गये कि प्रतिनिधि सभा में उनकी स्थिति अब डाँवाडोल हो गई है। प्रतिनिधि सभा में अब ऊ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नू का स्पष्ट बहुमत नहीं रह गया था, और इससे लाभ उठाकर राजनीतिक दलों ने जोड़-तोड़ शुरू कर दिये थे। सरकार के विरुद्ध अनेक षड्यन्त्रों का भी सूत्रपात होने लग गया था। २२ सितम्बर, १९५८ के दिन बरमा के गृह-मन्त्री वो मिन आंग ने मन्त्रिमण्डल को यह सूचना दी, कि सैनिक नेताओं द्वारा एक षड्यन्त्र इस प्रयोजन से किया जा रहा है कि प्रधानमन्त्री नू और अन्य नेताओं की हत्या कर दी जाए। इसीलिये २८ अक्टूबर, १९५८ के दिन जब पार्लियामेंट का अधिवेशन शुरू हुआ, तो ऊन नू ने अपने मन्त्रिमण्डल के त्याग-पत्र की घोषणा कर दी, और स्वयं यह प्रस्ताव पेश किया कि देश का शासन जनरल ने विन के सुपुर्द कर दिया जाए। पार्लियामेंट ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, और ने विन ने एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया, जिसके प्रायः सभी सदस्य सैनिक अफसर थे। एक सैनिक नेता द्वारा सरकार को हाथों में ले लेना इस समय इसी कारण आवश्यक हो गया था, क्योंकि देश में शान्ति व सुव्यवस्था भलीभाँति स्थापित नहीं थी। राजनीतिक पार्टियों के विरोध तथा स्थानीय विद्रोहों द्वारा बरमा में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें किसी असैनिक मन्त्रिमण्डल के लिये शासन को संभाल सकना सुगम नहीं रहा था। जनरल ने विन को बरमा में सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त हुई, और इसीलिये फरवरी, १९६० में पार्लियामेंट का नया चुनाव करा सकना संभव हो सका।

१९६० के चुनाव में ऊ नू के मुख्य प्रतिस्पर्धी बा स्वे थे, जिन्हें समाजवादी पार्टी के अतिरिक्त कतिपय प्रभावशाली सैनिक नेताओं का भी समर्थन प्राप्त था। जनता के वोट प्राप्त करने के प्रयोजन से ऊ नू ने घोषित किया, कि यदि उनकी पार्टी चुनाव में सफल हो गई, तो बौद्ध धर्म को बरमा के राजधर्म की स्थिति प्रदान कर दी जायगी, और अराकानी तथा मों जातियों द्वारा आबाद प्रदेशों को भी उसी प्रकार से पृथक् व स्वायत्त राज्यों के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा, जैसे कि शान, करन, कचिन तथा चिन जातियों के प्रदेश पृथक् व स्वायत्त राज्य हैं। चुनाव के समय की गई इन दो प्रतिज्ञाओं के कारण ऊ नू की पार्टी को अच्छी सफलता प्राप्त हुई, और प्रतिनिधि सभा में २५० में से १६६ स्थान उसने प्राप्त कर लिये। बा स्वे इस चुनाव में निर्वाचित भी नहीं हो सके। चुनाव के शान्तिपूर्वक संपन्न हो जाने पर जनरल ने विन ने प्रधानमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, और ऊ नू ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया (एप्रिल, १९६०)। पर अब भी सरकार के सम्मुख अनेक ऐसी विकट समस्याएं विद्यमान थीं, जिनको हल कर सकना सुगम नहीं था। करन लोगों का विद्रोह अभी भलीभांति शान्त नहीं हुआ था। शान प्रदेश में भी अशान्ति विद्यमान थी। करन और शान दोनों जातियों की यह आकांक्षा थी, कि वे अपने पूर्णतया स्वतन्त्र व पृथक् राज्यों का निर्माण करें। केवल स्वायत्त शासन से उन्हें संतोष नहीं था। बरमा की उत्तरी सीमा पर कुओमिन्तांग चीन की सेना के सैनिक अब तक भी विद्यमान थे, और वहाँ उनकी सत्ता को निमित्त बना कर कम्युनिस्ट चीन किसी भी समय बरमा के इस प्रदेश पर आक्रमण कर सकता था। इन समस्याओं का समाधान करने के लिये ऊ नू के मन्त्रिमण्डल ने अनेक प्रयत्न किये, पर उसे सफलता नहीं हुई। विद्यार्थियों तथा नवयुवकों के असंतोष में भी इस समय निरन्तर वृद्धि हो रही थी। ये प्रायः वामपक्षी पार्टियों के प्रभाव में थे, और अपनी दशा से उद्वेग अनुभव कर रहे थे। बरमा में इस समय अनेक शिक्षणालयों में हड़तालें हुईं, और विद्यार्थियों के आन्दोलन को दबा सकना सरकार के लिये कठिन हो गया। १९५९ में शान प्रदेश में विद्रोह हो गया, और वहां के लोग बरमा से पृथक् होकर अपना संपूर्ण-प्रभुत्व-संपन्न राज्य बनाने के लिये संघर्ष में तत्पर हो गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दशा में सेना ने एक बार फिर देश के शासन में हस्तक्षेप किया, और २ मार्च, १९६२ के दिन जनरल ने विन ने शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। ऊ नू और उनके अनेक सहयोगी सैनिक नेताओं द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये, और १९४७ के संविधान के अनुसार निर्मित पार्लियामेंट को भंग कर दिया गया। सरकार का संचालन करने के लिये एक क्रान्तिकारी कौंसिल संगठित की गई, जिसका अध्यक्ष-पद जनरल ने विन ने ग्रहण किया और इस कौंसिल के सब सदस्य (एक के अतिरिक्त) सैनिक अफसर नियत किये गये। सैनिक सरकार ने देश में अनुशासन और व्यवस्था स्थापित करने के कार्य पर विशेष ध्यान दिया। पर बरमा की जनता इस परिवर्तन से संतुष्ट नहीं हुई। वहाँ के शिक्षित वर्ग को यह पसन्द नहीं था, कि लोकतन्त्र शासन के स्थान पर सैनिक सरकार स्थापित हो जाए। परिणाम यह हुआ, कि अनेक स्थानों पर हड़तालें की गईं, और कहीं-कहीं तो सैनिक शासन के विरुद्ध विद्रोह भी प्रारंभ हो गये। रंगून यूनिवर्सिटी के विद्यार्थियों के उपद्रव को शान्त करने के लिये सेना ने शस्त्र-शक्ति का प्रयोग किया, जिसके कारण १५ विद्यार्थी मारे गये और बहुत-से घायल हुए (जुलाई, १९६२)। पर सैनिक शासन से असंतुष्ट लोगों के लिये जनरल ने विन की सैन्यशक्ति का सामना कर सकना कठिन था। कुछ ही समय में नई सरकार देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में सफल हो गई। मार्च, १९६२ से बरमा में सब शासन-शक्ति सैनिक अफसरों द्वारा निर्मित क्रान्तिकारी कौंसिल के ही हाथों में है, और जनरल ने विन इस कौंसिल के अध्यक्ष हैं। शासन की कार्यकारिणी, न्याय और व्यवस्थापन-सम्बन्धी सब शक्तियाँ जनरल ने विन को ही प्राप्त हैं। वे ही देश के लिये कानून प्रचारित करते हैं, और वे ही उन्हें कार्यान्वित कराते हैं। न्याय का कार्य उनकी ओर से न्यायालयों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। शासन में उनकी सहायता करने के लिये मन्त्री अवश्य नियुक्त हैं, पर वे उन्हीं के प्रति उत्तरदायी हैं।

बरमा की उत्तरी सीमा चीन के साथ लगती है। इस सीमा के सम्बन्ध में भी कुछ विवाद तथा मतभेद थे। २८ जनवरी, १९६० के दिन बरमा ने इन विवादों को दूर करने के लिये चीन के साथ एक नई सन्धि कर ली थी, जिसके अनुसार हिपमॉ, गॉलुंग और कांगफांग के प्रदेश चीन को प्रदान कर दिये गये थे। इन प्रदेशों का क्षेत्रफल ५० वर्गमील के लगभग है। म्यित् क्यिना के उत्तर में नाम वान के प्रदेश को भी चीन अपने राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत होने का दावा करता था। पर इस सन्धि द्वारा चीन ने इसे बरमा का अंग स्वीकार कर लिया। कम्युनिस्ट चीन से सन्धि हो जाने के अनन्तर बरमा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति का अनुसरण करने में तत्पर है, और भारत की तुलना में उसका झुकाव चीन के प्रति अधिक है। जनरल ने बिन की सैनिक सरकार समाजवाद में विश्वास रखती है, और वहां एक ऐसे ढंग की आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था की स्थापना में तत्पर है, जो समाजवादी मान्यताओं के अनुरूप है। अब बरमा में केवल एक राजनीतिक पार्टी की सत्ता है, जिसे बरमा समाजवादी कार्यक्रम पार्टी (Burma Socialist Programme Party) कहते हैं। इस की शाखाएं देश में सर्वत्र विद्यमान हैं, और सब सैनिक अफसरों तथा राजकर्मचारियों को इसके विचारों के अनुरूप प्रशिक्षित करने का वहां प्रयत्न किया जाता है। इनसे यह भी अपेक्षा की जाती है, कि ये मजदूरों व किसानों की संगोष्ठियों में सम्मिलित होकर उनके साथ सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न करें।

बरमा का क्षेत्रफल २,६१,७८९ वर्गमील है, और १९६८ में उसकी जनसंख्या २,६३,९०,००० के लगभग थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) थाईलैण्ड (सियाम)

दक्षिण-पूर्वी एशिया में थाईलैण्ड ही एक ऐसा देश है, जो आधुनिक युग में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का शिकार होने से बचा रह सका था। इस देश के आधुनिक इतिहास पर हम इस ग्रन्थ के पच्चीसवें अध्याय में संक्षेप से प्रकाश डाल चुके हैं। बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में थाईलैण्ड ने जापान का साथ दिया था, जिसके कारण उसे कम्बोडिया, बरमा और मलाया के कतिपय प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर प्राप्त हो गया था। उसने ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका आदि मित्र-पक्ष के राज्यों के विरुद्ध युद्ध की भी घोषणा कर दी थी। युद्ध में मित्र-राज्यों के विजयी होने पर कुछ समय के लिए थाईलैण्ड पर भी ब्रिटेन का कब्जा रहा, और जनवरी, १९४६ की सन्धि द्वारा वह अपनी स्वतन्त्रता को फिर से प्राप्त करने में समर्थ हुआ। इस सन्धि की शर्तों का भी पहले उल्लेख किया जा चुका है। १९४६ में ही थाईलैण्ड के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार वहां राजसत्ता को कायम रखा गया, और शासन का कार्य एक ऐसे मन्त्रिमण्डल के सुपुर्द किया गया, जो पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी था। थाईलैण्ड की पार्लियामेंट में दो सदन रखे गये, प्रतिनिधि सभा और सीनेट। प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को जनता द्वारा निर्वाचित किये जाने की व्यवस्था की गई, और सीनेट के सदस्यों की प्रतिनिधि सभा द्वारा। पर नये संविधान द्वारा थाईलैण्ड में जिस वैध राज-सत्ता की स्थापना की गयी थी, वह पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकी। मई, १९४६ तक थाईलैण्ड की पार्लियामेंट के चुनाव सम्पन्न हो चुके थे, और बहुमत के दल के नेता प्रिदी फानोमयोंग ने प्रधानमन्त्री का पद स्वीकार कर अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर लिया था। पर इस नई सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। देश की आर्थिक दशा इस समय बहुत खराब थी, वस्तुओं की कीमतों में निरन्तर वृद्धि हो रही थी, और जनता को राजकर्मचारी वर्ग और मन्त्रियों से रिश्वत, भ्रष्टाचार, पक्षपात आदि की अनेकविध शिकायतें थीं। इसी बीच में ९ जून, १९४६ के दिन थाईलैण्ड के राजा आनन्द महीदन (राम सप्तम) की हत्या हो गई। यह हत्या किन लोगों द्वारा की गई थी, यह तो एक रहस्य ही बना रहा, पर इसके लिए भी प्रिदी के मन्त्रिमण्डल को उत्तरदायी ठहराया गया, जिसके कारण उसके विरोधियों की शक्ति बहुत बढ़ गई। दो मास के स्वल्प काल में ही प्रिदी ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, और उसी की पार्टी के एक अन्य नेता लुओंग थपरोंग ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। पर यह नई सरकार भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सकी। सैनिक नेताओं ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और नवम्बर, १९४७ में शासन की शक्ति को अपने हाथों में ले लिया। प्रिदी थाईलैण्ड छोड़कर विदेश चला गया, और लुओंग थमरोंग व उसके साथियों ने छिपकर अपनी रक्षा की। सैनिक नेताओं की प्रेरणा से अब नाई खुओंग अफईवोंग ने नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया। यह विरोधी पार्टी का नेता था, और प्रिदी और उसकी पार्टी का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था। १९४८ में थाईलैण्ड की पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हुआ। उसमें नाई खुओंग को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हो सका, यद्यपि कतिपय स्वतन्त्र सदस्यों की सहायता से वह सरकार का संचालन करता रहा। पर सैनिक नेता इस स्थिति से भी संतुष्ट नहीं थे। ६ एप्रिल, १९४८ के दिन नाइ खुओंग को सैनिक नेताओं ने प्रधानमन्त्री के पद से पृथक् कर दिया, और फील्ड मार्शल फिबुन संग्राम ने शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। पर इससे भी थाईलैण्ड की समस्या हल नहीं हो सकी। यदि सेना के नेताओं में ऐकमत्य होता, तो थाईलैण्ड में सैनिक शासन अवश्य सफल हो सकता। पर जल-सेना के नेता स्थल-सेना के नेताओं के विरुद्ध थे, और युवक सैनिक अफसर यह पसन्द नहीं करते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे कि पुराने अफसर उन पर हकूमत करें। सेना के इन आन्तरिक विरोधों के कारण फील्ड मार्शल फ़िबुन संग्राम भी देश में एक स्थिर व व्यवस्थित सरकार कायम करने में असमर्थ रहा। फरवरी, १९४९ में बैंगकोक (थाईलैण्ड की राजधानी) में विद्रोह हो गया, जिसमें जल-सेना के अफसरों ने विद्रोहियों की सहायता की। इस विद्रोह को बुरी तरह से कुचला गया, और बहुत-से सैनिक और राजनीतिक नेताओं को गोली से उड़ा दिया गया। १९५० और १९५१ में भी इसी प्रकार के विद्रोह हुए, जिनके कारण देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा। यद्यपि प्रधानमन्त्री के पद पर अब भी फील्ड मार्शल संग्राम ही विराजमान थे, पर उनकी स्थिति अन्य सैनिक नेताओं के सहयोग पर ही निर्भर थी।

सैनिक शासन के होते हुए यह सम्भव नहीं था, कि थाईलैण्ड में लोकतन्त्रवाद पर आधारित संविधान कायम रह सके। इस कारण १९४९ के अन्त में ही १९४६ के संविधान का अन्त कर दिया गया था, और उसके स्थान पर एक नया संविधान लागू किया गया था, जिसके अनुसार पार्लियामेंट के आधे सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और आधों की नियुक्ति नामजदगी द्वारा की जाती थी। नामजद किये जाने वाले सदस्य प्रायः सैनिक अफसर ही होते थे। इस कारण अब थाईलैण्ड की पार्लियामेंट में भी सैनिकों की बहुसंख्या हो गई थी। फील्ड मार्शल संग्राम की सरकार कम्युनिस्टों के विरुद्ध थी। इसीलिए उसने अनेक ऐसे कानून स्वीकृत किये, जिनके कारण थाईलैण्ड में कम्युनिज्म का प्रचार बहुत कठिन हो गया। १९५२ में बहुत-से कम्युनिस्ट गिरफ्तार कर लिये गये, और थाईलैण्ड पूर्णरूप से अमेरिका के कम्युनिस्ट-विरोधी गुट में शामिल हो गया। १९५५ में फील्ड मार्शल संग्राम ने ब्रिटेन और अमेरिका की यात्रा की, और वहाँ यह घोषित किया कि थाईलैण्ड लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर होने के लिए तत्पर है। ब्रिटेन और अमेरिका की यात्रा में संग्राम ने यह भली-भांति अनुभव कर लिया था, कि थाईलैण्ड में चिरकाल तक सैनिक शासन स्थापित नहीं रह सकेगा। इसी कारण उसने एक बार फिर लोकतन्त्र शासन-संस्थाओं के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। राजनीतिक पार्टियों, ट्रेड यूनियनों आदि के फिर से संगठन की अनुमति दी गई, और लोगों को यह अवसर दिया गया कि वे अपने विचारों को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रगट कर सकें। १९५७ में थाईलैण्ड की पार्लियामेंट का नया चुनाव कराया गया, जिस में राजनीतिक पार्टियों ने अपने उम्मीदवार खड़े किये। पर इस चुनाव में कोई भी पार्टी स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सकने में समर्थ नहीं हो सकी। परिणाम यह हुआ, कि थाईलैण्ड में अशान्ति और अव्यवस्था के चिन्ह फिर से प्रगट होने लगे। सैनिक नेताओं की प्रतिद्वन्द्विता और राजनीतिक पार्टियों के विरोधभाव के कारण लोकतन्त्र शासन का सफल हो सकना कठिन हो गया, और एक बार फिर थाईलैण्ड में सैनिक षड्यन्त्र द्वारा सरकार का अन्त कर दिया गया। फील्ड मार्शल संग्राम और उसके अनेक साथी इस समय देश को छोड़कर बाहर चले गये, पार्लियामेंट बर्खास्त कर दी गई, और संविधान को स्थगित कर दिया गया। जिस षड्यन्त्र द्वारा फील्ड मार्शल संग्राम की सरकार का पतन हुआ था, उसका नेता मार्शल सरित थनारात था। पर स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण वह शासन-सूत्र को अपने हाथों में नहीं ले सका। वह चिकित्सा के लिये अमेरिका चला गया, और उसके सहयोगी जनरल थनोम ने नई सरकार का संगठन किया। पर यह सरकार भी देश में शान्ति और व्यवस्था कायम नहीं कर सकी। इस दशा में जनरल सरित ने एक बार फिर थाईलैण्ड के राजनीतिक मञ्च पर प्रवेश किया (अक्टूबर, १९५८), और संविधान और पार्लियामेंट का अन्त कर सैनिक डिक्टेटरशिप स्थापित कर ली। पर कुछ समय पश्चात्

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनरल सरित द्वारा भी लोकतन्त्र शासन के ढांचे का पुनरुद्धार करने का प्रयत्न किया गया। २८ जनवरी, १९५९ के दिन एक अन्तरिम संविधान का निर्माण किया गया, जिस द्वारा एक संविधान सभा के निर्वाचित किये जाने की व्यवस्था की गई। इस सभा के सदस्यों की संख्या २४० थी। इसे जहां देश के लिये स्थायी संविधान तैयार करने का कार्य सुपुर्द किया गया, वहां साथ ही नया संविधान तैयार होने तथा उसके अनुसार चुनाव हो जाने तक इसे ही पार्लियामेंट के रूप में कार्य करते रहने का अधिकार प्रदान किया गया। संविधान सभा को अपना कार्य पूरा करने में ९ साल के लगभग समय लग गया। इसने जो संविधान तैयार किया, वह जून, १९६८ में लागू हुआ। नये संविधान के अनुसार थाईलैण्ड का शासन राजा के हाथों में रखा गया, जिसे एक ऐसी मन्त्रिपरिषद् की सहायता व परामर्श द्वारा शासन-सूत्र का संचालन करना है, जो जनता द्वारा निर्वाचित पार्लियामेंट के प्रति उत्तरदायी हो। इस प्रकार थाईलैण्ड में वैध राजतन्त्र शासन की स्थापना की गई। पार्लियामेंट में दो सदन रखे गये, सीनेट और प्रतिनिधि सभा। यह व्यवस्था की गई, कि प्रतिनिधि सभा के सदस्य सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा चुने जाया करें, और प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रों का निर्माण इस ढंग से किया जाए, जिससे कि प्रतिनिधि सभा का प्रत्येक सदस्य १,५०,००० के लगभग व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व किया करे। सीनेट के सदस्य राजा द्वारा मनोनीत किये जाया करें, और उनकी संख्या प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का ७५ प्रतिशत हुआ करे। प्रतिनिधि सभा की अवधि चार साल नियत की गई, और सीनेट की छः साल।

१९५८ में देश के शासन को अपने हाथों में लेकर मार्शल सरित ने बड़ी योग्यता के साथ सरकार को सञ्चालित किया। स्थायी संविधान अभी बनकर तैयार नहीं हुआ था, अतः सब शासनशक्ति मार्शल सरित के हाथों में रही। देश में शान्ति तथा व्यवस्था स्थापित करने में उन्होंने अनुपम सफलता प्राप्त की। शासन में स्थिरता ले आने के कारण अब देश की आर्थिक व औद्योगिक उन्नति पर ध्यान दे सकना सम्भव हो गया; १९६१ में षड्वार्षिक आयोजना का सूत्रपात किया गया, जिसमें सिंचाई के लिये नहरों तथा बांधों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया गया। यान्ही बाँध इसी समय तैयार किया गया, जो दक्षिण-पूर्वी एशिया का सबसे बड़ा बाँध है। बहुत-सी नई सड़कें भी इस काल में बनवायी गईं, जिनके कारण किसानों के लिये अपनी पैदावार को मण्डियों में लाकर अच्छी कीमत पर बेच सकना सम्भव हो गया। औद्योगिक विकास पर भी ध्यान दिया गया, जिसके परिणामस्वरूप थाईलैण्ड में नगरों की बहुत उन्नति हुई। अनुमान किया गया है कि षड्वर्षीय आयोजना के इस काल में थाईलैण्ड की राष्ट्रीय आमदनी में ६½ प्रतिशत वार्षिक के हिसाब से वृद्धि हुई थी। मार्शल सरित राजनीतिक दलबन्दी के विरोधी थे। इसीलिये राजनीतिक पार्टियों को उन्होंने पनपने नहीं दिया। वे समझते थे कि राजनीतिक नेताओं का कार्यकलाप देश की आर्थिक उन्नति में बाधक ही होता है। संविधान सभा इस समय (१९५९-६८) विद्यमान थी, पर वह अपना कार्य बहुत धीरे-धीरे कर रही थी। मार्शल सरित का विचार था, कि यदि शीघ्र ही देश के लिये नया संविधान बन जायगा, तो उसके अनुसार निर्वाचित पार्लियामेंट में राजनीतिक दलों के झगड़े फिर से प्रारम्भ हो जायेंगे। दिसम्बर, १९६३ में सरित की मृत्यु हो गयी थी, और उनका स्थान जनरल थानोम ने ग्रहण कर लिया था। पर उनकी स्थिति वैसी सुदृढ़ नहीं थी, जैसी की सरित की थी। इसीलिये संविधान सभा अपना कार्य अधिक शीघ्रता से कर सकी, और जून, १९६८ में नया संविधान तैयार कर लिया गया, जिसे २८ जनवरी, १९६९ के दिन लागू भी कर दिया गया। पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हो जाने पर राजा भूमिबल अतुल्यतेज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने थानोम को ही प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया, और उन्होंने मन्त्रिपरिषद् का निर्माण कर नए संविधान के अनुसार देश का शासन प्रारम्भ किया। इस मन्त्रिपरिषद् में परराष्ट्र-मन्त्री के पद पर थानात खोमान की नियुक्ति की गई थी।

थाईलैंड की सरकार कम्युनिज्म की विरोधी है, और विदेशी राजनीति में अमेरिका की पक्षपाती है। इसीलिये सितम्बर, १९५४ में जब दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को कम्युनिज्म से बचाने के प्रयोजन से दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO) का निर्माण किया गया, तो थाईलैण्ड भी उसमें सम्मिलित हो गया, और उसकी राजधानी बैंगकोक में ही इस संगठन के प्रधान केन्द्र को स्थापित किया गया। पर थाईलैण्ड के जिस उत्तर-पूर्वी प्रदेश की सीमा लाओस के साथ लगती है, वहां कम्युनिज्म का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है, और इन्डोचायना के क्षेत्र (विएत-नाम और कम्बोडिया) में जो घटनाएं गत वर्षों में घटी हैं, थाईलैण्ड भी उनसे अप्रभावित हुए बिना नहीं रहा है। विएत-नाम में कम्युनिस्टों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर अमेरिका को यह आशंका हुई, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियाँ विएत-नाम का अनुकरण कर युद्ध प्रारम्भ कर सकती है। अतः उसने यह आवश्यकता अनुभव की, कि इस क्षेत्र के किसी देश में अपने सैनिक अड्डे कायम करने चाहियें। क्योंकि थाईलैंड की सैनिक सरकारें कम्युनिज्म की विरोधी थीं, अतः अमेरिका के लिये उसे अपना सैनिक अड्डा बना सकना सम्भव हो गया, और जब यह देश दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन में सम्मिलित हो गया तो थाईलैण्ड के उत्तरी-पूर्वी तथा मध्य के प्रदेशों में अनेक स्थानों पर अमेरिका ने अपनी हवाई सेना के अड्डे स्थापित कर लिये। उसकी जलसेना भी थाईलैंड के समुद्र में आने-जाने लगी, और तपाओ नामक स्थान पर उसने अपना सामुद्रिक अड्डा भी कायम कर लिया। कुछ ही समय में थाईलैण्ड में विद्यमान अमेरिकन सैनिकों की संख्या ५० हजार के लगभग तक पहुँच गई।

लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर थाईलैंड में जिस उत्तरदायी शासन की स्थापना जनवरी, १९६९ में की गई थी, वह सफल नहीं हो सका। नवम्बर, १९७१ में संविधान की उपेक्षा कर जनरल थानोम (जो उस समय प्रधानमन्त्री के पद पर थे) ने सब राजशक्ति अपने हाथों में ले ली, और उन्होंने जिस मन्त्रिपरिषद् का निर्माण अपनी सहायता के लिये किया, उसमें डॉ० खोमान को कोई स्थान नहीं दिया, क्योंकि वे अपने देश में अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोधी थे। अब खोमान ने अमेरिका के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ किया, जो अब तक जारी है। इसके कारण थाईलैण्ड में बहुत से लोग यह अनुभव करने लगे हैं, कि उनकी सरकार को कम्युनिस्टों के विरोध की नीति का परित्याग कर चीन सदृश कम्युनिस्ट देशों राजनयिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहियें और अमेरिका के सैनिक अड्डों की उनके देश में सत्ता अनुचित है।

थाईलैण्ड का क्षेत्रफल १,९८,२५० वर्गमील है, और उसकी जनसंख्या तीन करोड़ के लगभग है।

(३) फिलिप्पीन

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद फिलिप्पीन द्वीपसमूह में संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रभाव को कायम रखते हुए किस प्रकार एक स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हुई, इस विषय पर पहले (पच्चीसवें अध्याय में) प्रकाश डाला जा चुका है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् फिलिप्पीन रिपब्लिक का जो संविधान बनाया गया (१९४६), उसमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका की अध्यक्षात्मक (राष्ट्रपति के अधीन) शासन पद्धति को अपनाया गया। उसके अनुसार शासन की सब शक्ति राष्ट्रपति में निहित है, जिसे चार साल के लिये चुना जाता है। शासन कार्य में उसकी सहायता के लिये ११ सचिव नियुक्त किये जाते हैं, जो विदेश विभाग, स्वास्थ्य, शिक्षा, व्यापार और उद्योग, राजकीय आयव्यय, खेती आदि विभिन्न राजकीय विभागों की देखभाल करते हैं। मन्त्रिपरिषद् के इन सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। फिलिप्पीन रिपब्लिक के व्यवस्थापन विभाग को कांग्रेस कहते हैं, जिसमें दो सदन हैं, सीनेट और प्रतिनिधि सभा। वोट का अधिकार सब वयस्क स्त्री-पुरुषों को प्राप्त है। राष्ट्रपति का चुनाव मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है।

४ जुलाई, १९४६ के दिन फिलिप्पीन की सरकार ने अमेरिका के साथ एक समझौता किया था, जिस द्वारा अमेरिका के पूंजीपतियों को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वे फिलिप्पीन के प्राकृतिक प्रसाधनों का उपयोग कर वहां औद्योगिक विकास करते रह सकें। इस समझौते की अवधि १९७४ तक है।

१९४६ में स्वतन्त्र फिलिप्पीन रिपब्लिक का पहला चुनाव हुआ। राष्ट्रपति पद के लिये दो उम्मीदवार थे, ओसमेना और रोक्सास। जापान के आधिपत्य का अन्त होने के बाद ओसमेना ही अमेरिका के सहयोग से देश का शासन सम्भाले हुए थे, और वही राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहे थे। पर १९४६ के चुनाव में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, और रोक्सास राष्ट्रपति चुन लिये गये। रोक्सास की सरकार के सम्मुख प्रधान कार्य हुकबली हप पार्टी के सम्बन्ध में एक स्पष्ट नीति का निर्माण करना था, क्योंकि यह वामपक्षी समाजवादी पार्टी फिलिप्पीन में बहुत प्रबल थी, और इसकी अपनी पृथक् सेना भी संगठित थी। रोक्सास ने पहले इसके प्रति समझौते की नीति का अनुसरण करने का प्रयत्न किया, पर उसमें सफलता न होने पर उसे दमन करने की नीति को अपनाया। एप्रिल, १९४८ में रोक्सास की मृत्यु हो गई, और उपराष्ट्रपति क्विरिनो राष्ट्रपति के पद पर आरूढ़ हो गये। क्विरिनो ने भी हुकबली हप पार्टी के प्रति दमन नीति का अनुसरण किया, जिस पर इस समाजवादी पार्टी ने सरकार के विरुद्ध सशस्त्र संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। १९४९ में राष्ट्रपति का नया निर्वाचन हुआ, जिसमें क्विरिनो सफल हुए। इस समय सरकार के सम्मुख प्रधान समस्या हुकबली हप पार्टी के सम्बन्ध में ही थी। इस पार्टी ने एक जनमुक्ति सेना भी संगठित कर ली थी, और वह देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिये संघर्ष में तत्पर थी। फिलिप्पीन में कम्युनिस्टों की शक्ति न बढ़ने पाये, इस प्रयोजन से अमेरिका क्विरिनो की सरकार की धन तथा युद्ध सामग्री द्वारा सहायता करता रहा था। अमेरिका द्वारा प्रदान की जाने वाली सहायता का यह परिणाम हुआ, कि धीरे-धीरे फिलिप्पीन में कम्युनिस्टों की शक्ति क्षीण होती गई, और जनमुक्ति सेना को अवैध घोषित कर दिया गया।

पर जिन कारणों से फिलिप्पीन में हुकबली हप पार्टी ने शक्ति प्राप्त की थी, उनका अभी अन्त नहीं हुआ था। वहाँ की सर्वसाधारण जनता की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय थी। वहाँ के निवासियों का एक बहुत बड़ा वर्ग ऐसा था, जिसकी वार्षिक आमदनी १८० रु० प्रति व्यक्ति से भी कम थी। सरकार द्वारा राष्ट्रीय आमदनी की वृद्धि के लिए जो भी प्रयत्न किये जा रहे थे, उनका लाभ कतिपय धनी एवं सम्पन्न व्यक्तियों को ही प्राप्त हो रहा था, और देश की सब सम्पत्ति मनीला (फिलिप्पीन की राजधानी) में निवास करने वाले कुछ थोड़े से लोगों के पास ही सञ्चित होती जा रही थी। क्विरिनो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सरकार कम्युनिस्टों का दमन कर सकने में तो सफल हो गई थी, पर सर्वसाधारण जनता की गरीबी को दूर करने में वह असमर्थ रही थी। परिणाम यह हुआ, कि उसके प्रति असन्तोष रहने लगा, और १९५३ में जब राष्ट्रपति का नया चुनाव हुआ, तो क्विरिनो हार गये और उनके प्रतिद्वन्द्वी मग्सेसे राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये। जापान के आधिपत्य से स्वतन्त्र होने के पश्चात् फिलिप्पीन में मुख्यतया दो ही पार्टियों की सत्ता थी, राष्ट्रवादी और समाजवादी (हुकबली हप)। पर बाद में राष्ट्रवादी पार्टी से पृथक् होकर कतिपय नेताओं ने एक नये दल का संगठन किया, जिसे लिबरल पार्टी कहते थे। इस पार्टी की नीति अधिक प्रगतिशील थी, और आर्थिक समस्याओं को यह विशेष महत्त्व देती थी। १९४६ के चुनाव में इसी पार्टी की विजय हुई थी, और इसी के प्रत्याशी रोक्लास राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हुए थे। राष्ट्रपति क्विरिनो भी इसी पार्टी के थे। १९५३ के चुनाव में राष्ट्रवादी दल क्विरिनो के मुकाबिले में मग्सेसे को राष्ट्रपति चुनवाने में सफल हुआ था। मग्सेसे अत्यन्त योग्य और लोकप्रिय नेता थे। उन्होंने देश में नई शक्ति का सञ्चार करने और उसे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये विशेष प्रयत्न किया। पर दुर्भाग्य से १७ मार्च, १९५७ के दिन हवाई जहाज की दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। अब उपराष्ट्रपति गार्सिया ने उनका पद ग्रहण किया, और नवम्बर, १९५७ में नये चुनाव होने पर वही राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये। पर देश की समस्याओं का समाधान कर सकने में वे असमर्थ रहे, और इसीलिये १९६१ के चुनाव में उन्हें मुंह की खानी पड़ी। उनके स्थान पर मकपगल अब फिलिप्पीन के राष्ट्रपति बने। पर पूंजीवादी व्यवस्था में भ्रष्टाचार, विषमता, गरीबी आदि की जो विकट समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं, उन्हें हल कर सकना मकपगल के बस की बात नहीं थी। इसीलिये १९६५ के चुनाव में राष्ट्रवादी पार्टी के नेता मार्कोस राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये, और वह अब तक भी इस पद पर विराजमान हैं।

फिलिप्पीन रिपब्लिक कम्युनिज्म की विरोधी और पूंजीवादी व्यवस्था की अनुयायी है। विदेशी राजनीति में वह अमेरिका का समर्थन करती है, और दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SEATO) में सम्मिलित है। १९४६ में अमेरिका के साथ जो समझौता फिलिप्पीन ने किया था, उसके कारण उसके राज्यक्षेत्र में अमेरिकन पूंजीपतियों को अनेकविध विशेषाधिकार प्राप्त हैं। अपनी सुरक्षा के लिये भी फिलिप्पीन अमेरिका की सहायता पर निर्भर करता है। १४ मार्च, १९४७ के दिन अमेरिका और फिलिप्पीन में ९९ साल के लिये एक सन्धि की गई थी, जिस द्वारा अमेरिका को फिलिप्पीन के राज्यक्षेत्र में अपनी स्थल, जल और वायु सेनाओं के अड्डे स्थापित करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया था। एक सप्ताह बाद एक अन्य समझौते द्वारा अमेरिका ने फिलिप्पीन को सैनिक सहायता देने और वहाँ एक सैनिक परामर्श समिति कायम करने की बात स्वीकार की थी। ३० अगस्त, १९५१ को अमेरिका और फिलिप्पीन ने एक परस्पर सहायता सन्धि पर भी हस्ताक्षर किये थे, जिसके कारण ये दोनों देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं, और फिलिप्पीन रिपब्लिक अपनी सुरक्षा के लिये प्रधानतया अमेरिका की सहायता पर निर्भर करती है। संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता फिलिप्पीन ने अक्टूबर, १९४५ में ही प्राप्त कर ली थी और उसके अधिवेशनों में वह प्रायः अमेरिका का ही पक्ष-समर्थन करता है।

फिलिप्पीन रिपब्लिक में जो द्वीप अन्तर्गत है, उनकी संख्या ७,१०७ है। इनमें से बहुसंख्यक द्वीप बहुत छोटे-छोटे हैं। देश का क्षेत्रफल १,१५,६०० वर्गमील है, और उसकी जनसंख्या तीन करोड़ के लगभग है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छत्तीसवां अध्याय

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

(१) कोलम्बो प्लैन

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में कम्युनिज्म का किस प्रकार प्रसार हुआ, इस विषय पर इस ग्रन्थ के पिछले अध्यायों में प्रकाश डाला जा चुका है। चीन, उत्तरी कोरिया और उत्तरी विएत-नाम में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो चुके हैं, और इस क्षेत्र के अन्य देशों में कम्युनिस्ट पार्टियां निरन्तर जोर पकड़ती जा रही हैं। अमेरिका और ब्रिटेन जैसे पाश्चात्य लोकतन्त्रवादी देशों को यह सह्य नहीं है, कि एशिया के अन्य देशों में भी कम्युनिज्म का प्रसार हो। इसी प्रयोजन से उन्होंने कोलम्बो प्लैन और साउथ-ईस्ट ट्रीटी आर्गेनिजेशन का निर्माण किया। एशिया के आधुनिक इतिहास में इन दोनों का बहुत महत्त्व है, अतः इनके सम्बन्ध में विशद रूप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

कोलम्बो प्लैन का पूरा नाम है, दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के सहकारितापूर्वक आर्थिक विकास की योजना (Plan for Co-operative Economic Development in South and South East Asia)। यह योजना कोलम्बो में तैयार की गई थी, इसी कारण इसे कोलम्बो प्लैन भी कहा जाता है। इस योजना का आधार यह विचार है, कि जब तक दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देशों के आर्थिक विकास के लिए सम्मिलित रूप से प्रयत्न नहीं किया जायगा, कम्युनिज्म से उनकी रक्षा कर सकना सम्भव नहीं होगा। अपनी आर्थिक उन्नति के लिए उन्हें सुनिर्धारित योजना के अनुसार काम करना चाहिए, और समृद्ध व उन्नत देशों को इस कार्य में उनकी सहायता करनी चाहिए। इसी विचार को सम्मुख रखकर जनवरी, १९५० में ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत देशों के प्रतिनिधि कोलम्बो में एकत्र हुए, और उन्होंने पिछड़े हुए एशियन देशों की आर्थिक उन्नति के लिए पारस्परिक सहायता की एक योजना तैयार की। जनवरी, १९५० की इस बैठक में निम्नलिखित देशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे—आस्ट्रेलिया, कनाडा, सीलोन, भारत, न्यूजीलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो और सरावक। ये सब देश उस समय ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत थे। शुरू से ही यह विचार भी विद्यमान था, कि इस पारस्परिक सहायता का क्षेत्र केवल ब्रिटिश कामनवेल्थ में सम्मिलित देशों तक ही सीमित नहीं रखा जायगा, अपितु दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देश भी इसमें शामिल किये जा सकेंगे, और जिन किन्हीं भी पाश्चात्य देशों के हित एशिया के क्षेत्र में विद्यमान हैं, वे सब भी इसमें भाग ले सकेंगे। बाद में निम्नलिखित अन्य देश भी इस योजना में सम्मिलित हो गये--बरमा, कम्बोडिया, इन्डोनीसिया, जापान, लाओस, नेपाल, पाकिस्तान, फिलिप्पीन, थाईलैण्ड, दक्षिणी विएत-नाम और संयुक्तराज्य अमेरिका। एशिया के दक्षिणी, दक्षिण-पूर्वी और पूर्वी क्षेत्रों में जो भी ऐसे देश हैं, जिनमें कम्युनिस्ट शासन अब तक स्थापित नहीं हुआ है, वे प्रायः सभी कोलम्बो प्लैन में सम्मि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लित हैं, और ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा और अमेरिका के भी इसमें शामिल हो जाने के कारण इन एशियन देशों को अपने आर्थिक विकास के लिए तीन अत्यन्त समृद्ध एवं उन्नत राज्यों का सहयोग भी प्राप्त है।

कोलम्बो प्लैन में सम्मिलित सब राज्यों के प्रतिनिधियों की एक कौंसिल संगठित है, जिसका प्रधान कार्यालय कोलम्बो में है। विविध राज्य अपने आर्थिक व औद्योगिक विकास के लिये जो योजनाएं तैयार करते हैं, यह कौंसिल उन पर विचार करके यह निर्धारित करती है, कि अन्य देश इन योजनाओं की सफलता के लिये किस ढंग से सहायता कर सकते हैं। यह सहायता दो प्रकार से दी जाती है, धन द्वारा और शिल्प के विशेषज्ञों द्वारा। एशिया के पिछड़े हुए देश समृद्ध राज्यों से आर्थिक सहायता प्राप्त किये बिना अपनी योजनाओं को सफल नहीं बना सकते। अतः कोलम्बो प्लैन में सम्मिलित राज्य (कनाडा, अमेरिका, आस्ट्रेलिया और ग्रेट ब्रिटेन आदि) जहां अपने धन द्वारा इन योजनाओं के लिये आथक सहायता देते हैं, वहां विश्व बैंक आदि अन्तर्राष्ट्रीय धन-सम्बन्धी संस्थाओं द्वारा भी इन्हें आर्थिक सहायता दिलायी जाती है। इसी प्रकार शिल्प-विशेषज्ञों की सहायता के बिना पिछड़े हुए एशियन देश अपनी औद्योगिक उन्नति नहीं कर सकते। नये कल-कारखानों की स्थापना के लिये इन्जीनियर और कैमिस्ट सदृश शिल्प-विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है, जो इन पिछड़े हुए देशों में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं है। कोलम्बो प्लैन द्वारा इन्हें उपलब्ध कराने की भी व्यवस्था की जाती है। नदियों पर बांध बनवा कर सिंचाई के लिये नहरें बनवाना, बिजली के कारखाने खुलवाना, दलदलों व ऊसर प्रदेशों को कृषि-योग्य बनाना, इस्पात, सीमेंट आदि के नये कारखाने खुलवाना आदि ऐसे कार्य हैं, जो विशेषज्ञों द्वारा ही सम्पादित किये जा सकते हैं। उन्नत पाश्चात्य देशों में ये विशेषज्ञ अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। उन्हें प्राप्त कराने के लिये भी कोलम्बो प्लैन द्वारा सहायता की जाती है। इस प्लैन के अधीन भारत को जो सहायता अन्य देशों से प्राप्त हुई है, उससे इस प्लैन की कार्यविधि तथा उपयोगिता को भली भांति समझा जा सकता है। १९५० से १९५७ तक के सात वर्षों में कोलम्बो प्लैन के अधीन भारत को ५५,४५,००,००० रुपयों की सहायता दी गई थी, जिसमें से २५,१८,०९,००० रुपये प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में खर्च किये गये थे, और शेष रुपयों का उपयोग द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के काल में किया गया था। यह सहायता नकद रुपये के रूप में न दी जाकर प्रायः मशीनरी व अन्य उपकरणों के रूप में दी गई थी। तुंगभद्रा प्रोजेक्ट और रायगुण्डम प्रोजेक्ट के लिये आवश्यक मशीनरी आस्ट्रेलिया से आयी थी, और मयूराक्षी प्रोजेक्ट के लिये कनाडा से। ग्रेट ब्रिटेन ने भारत की रिसर्च लेबोरेटरियों के लिये अच्छी बड़ी मात्रा में विविध प्रकार के उपकरण कोलम्बो प्लैन के अधीन प्रदान किये हैं। जो शिल्प-विशेषज्ञ इस प्लैन के अधीन १९५७ तक भारत में भेजे गये थे, उनकी संख्या १३० थी, जिनमें से ८६ अकेले ब्रिटेन के थे। कोलम्बो प्लैन द्वारा यह व्यवस्था भी की गई है, कि पिछड़े हुए एशियन देशों के युवकों को शिल्प-सम्बन्धी शिक्षा के लिये पाश्चात्य देशों में भेजा जाए, ताकि वहां से उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे अपने देशों में कार्य कर सकें। इस प्रकार जो भारतीय १९५७ तक विदेशों में भेजे गये, उनकी संख्या ९८३ थी, जिनमें से ४५२ ब्रिटेन को, २३८ आस्ट्रेलिया को, और २१० कनाडा को भेजे गये थे। १९५७ के बाद इस संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई है। भारत के समान पाकिस्तान, मलाया, इन्डोनीसिया आदि अन्य देशों को भी कोलम्बो प्लैन के अधीन सहायता दी गई है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत केवल अन्य देशों से सहायता प्राप्त ही नहीं करता। अब वह इस स्थिति में आ चुका है, कि अन्य देशों की सहायता भी कर सके। नेपाल ने अपनी प्रथम पंचवर्षीय योजना १९५६ में तैयार की थी, जिसका कुल खर्च ३३ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया था। इसमें १० करोड़ रुपया भारत ने खर्च करना स्वीकार किया था। यह धन मुख्यतया सड़कों के निर्माण पर व्यय किया गया। भारत और नेपाल के बीच की जो सड़क त्रिभुवन राजपथ कहलाती है, वह सहायता के रूप में भारत ने अपने खर्च से तैयार की थी। अन्य सड़कों के निर्माण में भी भारत ने हाथ बंटाया है, और नेपाल में बांध बनाने, नहरें निकालने और बिजली के उत्पादन के लिये कारखाने खोलने में भी भारतीय सरकार ने हिस्सा लिया है। यह सब कार्य कोलम्बो प्लैन के ही अधीन किया गया है। निःसन्देह कोलम्बो प्लैन एक ऐसा संगठन है, जिसके द्वारा एशिया के विविध राज्य पारस्परिक सहायता द्वारा एक दूसरे की उन्नति में सहयोग कर रहे हैं।

वर्तमान समय में निम्नलिखित राज्य इस संगठन के सदस्य हैं--अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, भूटान, बरमा, कम्बोडिया, श्रीलंका, सीलोन, भारत, इन्डोनीसिया, ईरान, जापान, दक्षिणी कोरिया, लाओस, मलायीसिया, मालदीव द्वीपसमूह, नेपाल, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, फिलिप्पीन, सिंगापुर, थाईलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन, अमेरिका और दक्षिणी विएत-नाम। पूर्वी, दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के वे सब देश इस संगठन में सम्मिलित हो गये हैं, जिन्होंने कम्युनिस्ट व्यवस्था को नहीं अपनाया है। अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया और कनाडा सदृश उन्नत व समृद्ध देशों के इसमें सम्मिलित हो जाने के कारण एशिया के पिछड़े हुए देशों के लिये इनसे सहायता प्राप्त कर सकना सुगम हो गया है। उन्नत देशों द्वारा कितनी आर्थिक सहायता इस प्लैन के अधीन प्रदान की जाती है, इसका अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि १९६७-६८ के एक साल में जो आर्थिक सहायता कोलम्बो प्लैन के तत्त्वावधान में आस्ट्रेलिया, कनाडा, ब्रिटेन, जापान न्यूजीलैण्ड और अमेरिका द्वारा प्रदान की गई थी, उसकी मात्रा २८० करोड़ डालर थी। कोलम्बो प्लैन की परामर्श समिति के अधिवेशनों में अनेक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के प्रतिनिधि भी उपस्थित होते हैं, जिनका विश्व की आर्थिक उन्नति के साथ सम्बन्ध है। इनमें एशियन डेवलपमेन्ट बैंक, इन्टरनेशनल बैंक आफ रीकन्स्ट्रक्शन एण्ड डेवलपमेन्ट और इकोनोमिक कमीशन फॉर एशिया एण्ड फार ईस्ट उल्लेखनीय हैं। कोलम्बो प्लैन के विचार-विमर्श के साथ सम्पर्क में आकर इन संगठनों को एशिया के पिछड़े हुए देशों की आवश्यकताओं को समझने का अवसर प्राप्त होता है, और वे इसके लिये ठोस कार्य कर सकते हैं।

आर्थिक सहायता के अतिरिक्त शिल्प, विज्ञान और उद्योगों के विशेषज्ञ भी कोलम्बो प्लैन के अधीन एशिया के पिछड़े हुए देशों में भेजे जाते हैं, और साथ ही यह प्रयत्न भी किया जाता है, कि इन देशों के युवकों को शिल्प, उद्योग आदि में प्रशिक्षित किया जाए। १९५१ से १९५९ तक उन्नत देशों के जो विशेषज्ञ एशिया के पिछड़े हुए देशों में कोलम्बो प्लैन के अधीन भेजे गये थे, उनकी संख्या ८,००० के लगभग थी और १९६७ में १२६२ विशेषज्ञ इन देशों में कार्य कर रहे थे।

(२) साउथ-ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गेनिजेशन (सीटो)

कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने और दक्षिण-पूर्वी एशिया को उसके प्रभाव से बचाने के लिए एक संगठन का निर्माण किया गया है, जिसे दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (साउथ-ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गेनिजेशन) कहते हैं। संक्षेप में इसे सीटो (SEATO)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी कहा जाता है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इस प्रकार के संगठन की कोई आवश्यकता नहीं थी। उस समय भारत, बरमा, लंका, मलाया आदि देश ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और सिंगापुर तथा हांगकांग ब्रिटेन की नौसेना के प्रधान केन्द्र थे। इन्डोनीसिया हालैण्ड के अधीन था, और इण्डोचायना के विविध प्रदेश फ्रांस के। दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रायः सभी देश विविध पाश्चात्य राज्यों की अधीनता में थे। कम्युनिज्म तब रूस तक ही सीमित था। पर महायुद्ध की समाप्ति के कुछ समय बाद चीन में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हो गया (१९४९), और उत्तरी कोरिया भी कम्युनिस्टों के हाथों में चला गया (१९५०-५३)। इसी समय डॉ० हो ची मिन्ह के नेतृत्व में विएत-नाम में कम्युनिस्टों ने संघर्ष शुरू किया, और इस देश के उत्तरी भाग में कम्युनिस्ट सरकार कायम हो गई। दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियां जोर पकड़ने लगीं। इस दशा में पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों ने अनुभव किया, कि इस क्षेत्र के विविध राज्यों को कम्युनिस्ट प्रभाव से बचाने के लिये एक ऐसे संगठन का निर्माण करना चाहिये, जो सामूहिक रूप से कम्युनिज्म के प्रसार से अपनी रक्षा कर सकें। इस क्षेत्र के देश महायुद्ध के बाद के वर्षों में पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त होकर स्वाधीनता प्राप्त कर चुके थे, पर उनमें यह शक्ति नहीं थी, कि वे अकेले आत्मरक्षा कर सकें। इन सब में कम्युनिस्ट पार्टियां विद्यमान थीं, और वे चीन की कम्युनिस्ट सरकार की सहायता का भरोसा कर सकती थीं। कोरिया के गृहयुद्ध में चीन की स्वयंसेवक सेना ने उत्तरी कोरिया की सहायता की थी, और विएत-नाम में भी हो ची मिन्ह की सरकार को कम्युनिस्ट चीन की सहायता प्राप्त थी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ग्रेट ब्रिटेन और अमेरिका जैसे कम्युनिस्ट-विरोधी देश किसी ऐसी व्यवस्था के लिये तत्पर हों, जिसका प्रयोजन दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में कम्युनिज्म के प्रसार को रोकना हो।

यूरोप में कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने के लिए इस समय तक 'नार्थ-अटलाण्टिक ट्रीटी आर्गनिजेशन' (NATO) का संगठन हो चुका था (१९४९), जिसमें कनाडा, डेन्मार्क, बेल्जियम, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लुक्समबुर्ग, हालैण्ड, पोर्तुगाल, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका शुरू में ही सम्मिलित हो गए थे, और बाद में ग्रीस, तुर्की और पश्चिमी जर्मनी भी जिसके सदस्य बन गए थे। इस संगठन का उद्देश्य यूरोप और पश्चिम के क्षेत्र में कम्युनिज्म के प्रसार को रोकना ही था। इसमें सम्मिलित राज्यों ने परस्पर मिलकर यह सन्धि की थी, कि यदि रूस और पूर्वी यूरोप के अन्य कम्युनिस्ट राज्य पश्चिम की ओर बढ़ने का प्रयत्न करें, तो वे मिलकर उनका मुकाबिला करेंगे। कोरिया और विएत-नाम की घटनाओं को दृष्टि में रखकर १९५३ में ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री मि० चर्चिल ने अमेरिका के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया, कि नाटो के समान दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में भी एक संगठन कायम किया जाय, ताकि इस क्षेत्र के राज्यों को कम्युनिज्म से बचाया जा सके। इस समय अमेरिका के राष्ट्रपति मि० आइजनहावर थे। शुरू में उन्होंने इस विचार के प्रति विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। इसका कारण यह था, कि इस क्षेत्र के अनेक राज्य अब तक भी ब्रिटेन और फ्रांस के अधीन थे। मलाया अभी स्वतन्त्र नहीं हुआ था, और इन्डोचायना के प्रदेशों पर भी अभी फ्रांस का प्रभुत्व कायम था। इन देशों में अभी स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष जारी था। इस दशा में अमेरिका को यह आशंका थी, कि नाटो के ढंग के एक नये संगठन को एशिया के देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद को स्थायी बनाने का साधन समझेंगे, और उसका समर्थन नहीं करेंगे। पर विएत-नाम में डॉ० हो ची मिन्ह के उत्कर्ष के कारण अमेरिका की सम्मति बदल गई। १९५४ के प्रारम्भ में उत्तरी विएत-नाम पूरी तरह से कम्युनिस्टों के हाथों में चला गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, और जिनीवा कान्फरेन्स द्वारा इस राज्य की पृथक् सत्ता भी स्वीकृत कर ली गई थी। फ्रांस के लिए अब यह सम्भव नहीं रहा था, कि इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य रख सके। इस दशा में अमेरिका ने अनुभव किया, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों को कम्युनिज्म के प्रभाव से बचाने का यही एकमात्र उपाय है, कि इस क्षेत्र में भी नाटो के ढंग का एक नया संगठन बनाया जाय। एप्रिल, १९५४ में अमेरिका के परराष्ट्र-सचिव मि० डलेस लण्डन गए, और उन्होंने मि० चर्चिल से बातचीत की। इसी का यह परिणाम हुआ, कि फिलिप्पीन द्वीप-समूह के अन्यतम नगर बाग्यिओ में एक सम्मेलन का आयोजन किया गया (६ सितम्बर, १९५४), जिसमें सम्मिलित होने के लिए उन सब देशों को निमन्त्रित किया गया, जो कोलम्बो प्लैन में शामिल थे। पर बरमा, इन्डोनीसिया, भारत और लंका आदि ने इस निमन्त्रण को स्वीकार नहीं किया। जो राज्य इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए, वे निम्नलिखित थे—आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, फिलिप्पीन, थाईलैन्ड, अमेरिका और ब्रिटेन। भारत, बरमा आदि देशों ने बाग्यिओ सम्मेलन में शामिल होने से जो इन्कार किया था, उसका कारण यह था, कि इन्हें अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति पसन्द थी। इससे कुछ समय पूर्व भारत, चीन आदि देशों ने पञ्चशील के सिद्धान्तों को स्वीकार किया था, जिस द्वारा उन्होंने एक दूसरे की सीमाओं का आदर करने, आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप न करने और सह-अस्तित्त्व की नीति का प्रतिपादन किया था। ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिव मि० ईडन के निमन्त्रण का उत्तर देते हुए पंडित नेहरू ने लिखा था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए एक पृथक् संगठन बनाने से पूर्व यह देख लेना चाहिए कि चीन पञ्चशील के सिद्धान्तों का किस प्रकार अनुसरण करता है। उसने पञ्चशील के अन्तर्गत सह-अस्तित्त्व के जिस सिद्धान्त को स्वीकार किया है, उससे यह आशा करनी चाहिए, कि वह दूसरों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। सीटो जैसी गुटबन्दियों से दक्षिण-पूर्वी एशिया में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रखने में सहायता नहीं मिलेगी, अपितु इससे गुटबन्दियों को प्रवृत्ति में वृद्धि होगी, जो शान्ति के लिए सहायक न होकर घातक होगी। भारत तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहता है, और कम्युनिस्ट देशों के साथ भी मैत्री-सम्बन्ध का पक्षपाती है। बरमा, इन्डोनीसिया आदि अन्य एशियन देशों ने भी इसी विचारसरणी का अनुसरण कर बाग्यिओ सम्मेलन में शामिल होना उचित नहीं समझा।

८ सितम्बर, १९५४ के दिन बाग्यिओ सम्मेलन में सम्मिलित आठ राज्यों ने पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा के प्रयोजन से एक समझौता किया, जिसके परिणामस्वरूप साउथ-ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गेनिजेशन की स्थापना हुई। इस समझौते की प्रस्तावना में संयुक्त राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों—शान्ति, स्वाधीनता, लोकतन्त्रवाद, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और कानून के शासन के प्रति दृढ़ विश्वास प्रगट करते हुए आगे की धाराओं में यह तय किया गया, कि (१) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निवटारा शान्तिमय उपायों द्वारा किया जाय, और इसके लिए किसी भी दशा में शक्ति का प्रयोग न किया जाय। (२) स्वतन्त्र शासन-संस्थाओं की दृढ़ता, आर्थिक विकास और सामाजिक कल्याण की वृद्धि के लिए सब राज्य परस्पर सहयोग करेंगे, और एक दूसरे की सहायता करेंगे। (३) इस समझौते में सम्मिलित किसी भी राज्य के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण होने या उसकी आशंका होने को सब राज्य अपने लिए खतरे की दशा समझेंगे, और उसके निवारण के लिये यथोचित कार्रवाई करने को तत्पर रहेंगे। पर ऐसी कोई कार्रवाई तभी की जायगी, जब कि आक्रान्त राज्य की सरकार ऐसा करने के लिए कहे, या ऐसी कार्रवाई से सहमत हो। (४) इस समझौते को कार्यान्वित करने के लिए एक कार्यकारिणी सचिवालय (Executive

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Secretariat) और एक स्थायी सैनिक प्लैनिंग स्टाफ (Permanent Military Planning Staff) का संगठन किया जाय, जिनमें सब राज्यों के प्रतिनिधि लिये जाएं। (५) यह सन्धि अनिश्चित अवधि के लिए है, पर इसमें सम्मिलित कोई भी राज्य एक साल का नोटिस देकर इससे पृथक् हो सकेगा।

इस सन्धि के अनुसार साउथ-ईस्ट एशिया ट्रीटी आर्गनिजेशन के दो विभाग हैं—सैनिक और असैनिक। स्थायी सैनिक प्लैनिंग स्टाफ में सीटो में सम्मिलित सब राज्यों से सैनिक अफसर लिये जाते हैं, और समय-समय पर उनकी सेनाओं की सम्मिलित कवायद भी करायी जाती है, ताकि इनकी स्थल, जल और वायु सेनाओं में सहयोग स्थापित हो सके। सीटो के असैनिक विभाग में जहां एक केन्द्रीय कार्यकारिणी सचिवालय की सत्ता है, वहां आर्थिक, सांस्कृतिक व शोध-सम्बन्धी विषयों में परस्पर सहयोग करने के प्रयोजन से अनेक अन्य संस्थाओं की भी स्थापना की गई है। सीटो का मुख्य उद्देश्य दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों की कम्युनिज्म से रक्षा करना ही है। इसीलिए संयुक्त-राज्य अमेरिका की ओर से इस सन्धि के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए यह कहा गया था, कि इस सन्धि में जहां सशस्त्र आक्रमण और उसकी आशा का उल्लेख है, वहां केवल कम्युनिस्ट देशों के आक्रमण से ही अभिप्राय है, अन्य देशों के आक्रमणों से नहीं। अतः दक्षिण-पूर्वी एशिया के किसी देश पर आक्रमण होने की दशा में अमेरिका तभी उस देश की सहायता करेगा, जबकि वह आक्रमण किसी कम्युनिस्ट राज्य द्वारा किया जायगा। यही कारण है, कि चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ एन लाई ने इस सन्धि की कटु आलोचना की, और पंडित नेहरू ने भी इसके विरोध में अपनी आवाज उठाई। उन्होंने इसे संयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर के विरुद्ध बताया, और यह कहा कि इससे विश्व में शान्ति की स्थापना के बजाय अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि ही होगी। पर सीटो द्वारा अमेरिका ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में एक ऐसी गुटबन्दी कर ली है, जो कम्युनिज्म के विरुद्ध प्रयुक्त करने के लिए है। इस सीटो का प्रधान कार्यालय बैंकाक (थाईलैण्ड) में है।

(३) बादुंग कान्फरेन्स

दक्षिण-पूर्वी एशिया के क्षेत्र में कम्युनिज्म के विरोध के नाम पर अमेरिका, ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया आदि राज्य एक ऐसे गुट के निर्माण में तत्पर थे, जो नये स्वतन्त्र हुए एशियन देशों की स्वतन्त्रता में बाधक हो सकता था। सीटो का नेतृत्व एशियन देशों के हाथों में न हो कर अमेरिका आदि के पास था। इस दशा में नये स्वतन्त्रता प्राप्त किये हुए एशियन देशों ने यह विचार किया, कि वे एक स्थान पर एकत्र हो कर अपने साथ सम्बन्ध रखने वाली समस्याओं पर विचार करें, और आपस में इस ढंग का सहयोग स्थापित करें, जो सब की स्वतन्त्र सत्ता में सहायक हो सके। इसी प्रयोजन से एप्रिल, १९५५ में इन्डोनीसिया के बादुंग नामक नगर में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें निम्नलिखित राज्यों के प्रतिनिधि एकत्र हुए—अफगानिस्तान, बरमा, कम्बोडिया, लंका, चीन, ईजिप्ट, ईथीयोपिया, गोल्ड कोस्ट, भारत, इन्डोनीसिया, ईराक, जापान, जोर्डन, लाओस, लेबनान, लाइबीरिया, लीबिया, नेपाल, तुर्की, पाकिस्तान, ईरान, फिलिप्पीन, सौदी अरेबिया, सियाम, सूडान, सीरिया, उत्तरी विएत-नाम, दक्षिणी विएत-नाम और यमन। इस कान्फरेन्स में न केवल एशिया के प्रायः सभी राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे, अपितु अफ्रीका के स्वतन्त्र राज्यों के प्रतिनिधि भी इसमें आये थे। इन्डोनीसिया के राष्ट्रपति डॉ० सुकर्ण ने १८ एप्रिल, १९५५ के दिन इस कान्फरेन्स का उद्घाटन किया, और वहां के प्रधानमन्त्री डॉ० शस्त्रमिज्दो को सर्वसम्मति से इसका अध्यक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्वाचित किया गया। पर इस कान्फरेन्स में एकत्र सब प्रतिनिधियों का एक मत नहीं था। पाकिस्तान और दक्षिणी विएत-नाम जैसे देश अमेरिका और ब्रिटेन के पक्षपाती थे, और यह स्वाभाविक था, कि चीन जैसे कम्युनिस्ट देश से उनका गहरा मतभेद हो। कम्युनिज्म के विरोधी लोग शुरू से ही इस कान्फरेन्स में विघ्न डालने के लिए तत्पर थे। चीन का प्रतिनिधि-मण्डल हांगकांग से जिस हवाई जहाज में बादुंग जाने के लिए सवार हुआ, वह भारत का था। कुओमिन्तांग सरकार के जासूसों ने इस हवाई जहाज (काश्मीर प्रिंसेस) में एक ऐसा बम्ब रख दिया, जो मार्ग में फट गया, और चीनी प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य इस दुर्घटना के शिकार हो गए। सौभाग्य से श्री चाउ एन लाई इस हवाई जहाज में यात्रा नहीं कर रहे थे। इसीलिए उन्हें कोई नुकसान नहीं पहुंचा, यद्यपि कुओमिन्तांग की सरकार ने उन्हीं की हत्या करने के लिए इस जहाज में बम्ब रखवाया था। बादुंग में भी कम्युनिस्ट राज्यों के प्रतिनिधियों की रक्षा के निमित्त इन्डोनीसिया की सरकार को विशेष प्रबन्ध करना पड़ा, क्योंकि कुओमिन्तांग के जासूस वहां भी पहुंचे हुए थे। इस दशा में बादुंग कान्फरेन्स का वातावरण शुरू में ही उत्तेजनामय हो गया। विभिन्न विचारधाराओं के अनुयायी विविध राज्यों के लिए यह सुगम नहीं था, कि वे एक स्थान पर एकत्र होकर किन्हीं सर्वसम्मत निर्णयों पर पहुंच सकें। कान्फरेन्स में सम्मिलित राज्य दो वर्गों में विभक्त थे—(१) पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के समर्थक देश, और (२) कम्युनिस्ट व अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति के प्रतिपादक देश। पहले वर्ग के देश तुर्की, पाकिस्तान, ईरान, लंका, गोल्ड कोस्ट, जापान, जोर्डन, लेबेनान, लाइबीरिया, लीबिया, फिलिप्पीन, ईरान, सियाम, सूडान और दक्षिणी विएत-नाम थे, और दूसरे वर्ग के देश भारत, चीन, ईजिप्ट, अफगानिस्तान, बरमा, कम्बोडिया, ईथियोपिया, लाओस, नेपाल, सौदी अरेबिया, सीरिया, येमन और उत्तरी विएत-नाम थे। ये दोनों वर्ग दो विभिन्न विचारधाराओं व नीतियों का प्रतिनिधित्व करते थे। तुर्की, पाकिस्तान और ईराक इस समय तक बगदाद पैक्ट में शामिल हो चुके थे, जिसका निर्माण पश्चिमी एशिया में कम्युनिज्म के प्रसार को रोकने के प्रयोजन से किया गया था। तुर्की नाटो का भी सदस्य था, और पाकिस्तान तथा फिलिप्पीन सीटो के भी। इस दशा में बादुंग कान्फरेन्स का कार्य कितना कठिन था, यह भलीभांति समझा जा सकता है।

पर श्री चाऊ एन लाई, पंडित जवाहरलाल नेहरू और डॉ० सुकर्ण ने इस कान्फरेन्स में अनुपम नीतिज्ञता तथा चतुराई प्रदर्शित की, जिसके कारण इसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त हुई। सबसे पूर्व कान्फरेन्स ने उस एजेण्डा का निर्धारण किया, जिसके अनुसार विचार-विमर्श किया जाना था। इस एजेण्डा में निम्नलिखित विषय रखे गये—(१) आर्थिक सहयोग, (२) सांस्कृतिक क्षेत्र में सहयोग, (३) मनुष्यों के आधारभूत अधिकार और सब राज्यों के लिये स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त, (४) एशिया व अफ्रीका के जो प्रदेश अब तक भी स्वतन्त्र नहीं हुए हैं, उनकी समस्याएं, (५) आणविक शक्ति का शान्तिपूर्वक उपयोग, और (६) शान्तिपूर्वक सहअस्तित्व का सिद्धान्त। इन विषयों पर विशद रूप से विचार करने के लिये कान्फरेन्स ने अपने को तीन कमेटियों में विभक्त कर लिया, राजनीतिक कमेटी, आर्थिक कमेटी और सांस्कृतिक कमेटी। आणविक शक्ति के प्रश्न को आर्थिक कमेटी के विचारक्षेत्र में शामिल किया गया। मनुष्यों के आधारभूत अधिकार, स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धान्त, अधीनस्थ प्रदेशों की स्वतन्त्रता और सह-अस्तित्व के प्रश्न राजनीतिक कमेटी के सुपुर्द किये गये।

जिन प्रश्नों पर बादुंग कान्फरेन्स में विशेष मतभेद था, वे निम्नलिखित थे—(१) इस बात पर सब राज्य सहमत थे, कि औपनिवेशिक साम्राज्यवाद की निन्दा की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय, पर तुर्की, पाकिस्तान और लंका का कहना था, कि यदि पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद की निन्दा की जानी है, तो रूस के साम्राज्यवाद का भी विरोध किया जाना चाहिए, क्योंकि पौलैण्ड, हंगरी, रूमानिया आदि पूर्वी यूरोप के देश रूसी साम्राज्यवाद के शिकार हैं। (२) कम्युनिस्ट और तटस्थता की नीति के समर्थक देश उन अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों की निन्दा का प्रस्ताव पास कराना चाहते थे, जो नाटो, सीटो आदि के रूप में संगठित थीं। पर इन गुटबन्दियों में सम्मिलित तुर्की व पाकिस्तान आदि राज्य इससे सहमत नहीं थे। कान्फरेन्स में इन विषयों पर विशेषरूप से विचार किया गया, और अन्त में ऐसे प्रस्ताव स्वीकृत हुए, जिनसे सभी राज्यों ने अपनी सहमति प्रकट की। पाश्चात्य साम्राज्यवाद के साथ-साथ रूसी साम्राज्यवाद के भी विरोध के प्रश्न पर पंडित नेहरू ने यह स्पष्ट किया, कि पोलैण्ड, हंगरी, रूमानिया आदि देश पराधीन न होकर स्वतन्त्र हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी उन्हें प्राप्त है, और बहुत-से देशों ने उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर उनसे डिप्लोमेटिक सम्बन्ध भी स्थापित किये हुए हैं। इस दशा में उन्हें उन अर्थों में साम्राज्यवाद का शिकार नहीं माना जा सकता, जिनमें कि एशिया तथा अफ्रीका के अनेक प्रदेश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार हैं। बादुंग कान्फरेन्स के अन्त में जिस रूप में साम्राज्यवादी-विरोधी प्रस्ताव को स्वीकार किया, उसमें यह कहा गया था, कि "यह कान्फरेन्स औपनिवेशिकता (Colonialism) का सभी रूपों में विरोध करती ह, और उसे एक बुराई मानती हुई उसका शीघ्र से शीघ्र अन्त करना चाहती है।" यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया, क्योंकि पाकिस्तान आदि को इससे यह सन्तोष हो गया कि इसमें रूसी साम्राज्यवाद की ओर भी इशारा किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों (नाटो, सीटो आदि) की समस्या और भी अधिक जटिल थी। चीन, भारत और इन्डोनीसिया आदि का यह मत था, कि इन गुटबन्दियों का विरोध कर पञ्चशील के सिद्धान्तों का समर्थन किया जाए। पर इन गुटबन्दियों में शामिल तुर्की, पाकिस्तान आदि राज्यों ने इसका घोर विरोध किया। बहुत विचार-विमर्श के बाद बादुंग कान्फरेन्स ने एक प्रस्ताव द्वारा पञ्चशील के स्थान पर दस सिद्धान्तों को स्वीकार किया, जो निम्नलिखित थे—(१) मनुष्यों के आधारभूत अधिकारों को स्वीकृत किया जाए। (२) सब राज्यों की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता और राष्ट्रीय सीमाओं की अक्षुण्णता की रक्षा की जाए। (३) छोटे-बड़े सब राज्यों की समानता को स्वीकृत किया जाए। (४) दूसरे राज्यों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न किया जाए। (५) संयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर की मर्यादाओं में रहते हुए प्रत्येक राज्य को यह अधिकार हो, कि वह अकेला या अन्य राज्यों के साथ मिलकर अपनी सुरक्षा की व्यवस्था कर सके। (६) सामूहिक सुरक्षा के लिये किए गए समझौतों द्वारा किसी शक्तिशाली राज्य के स्वार्थों की पूर्ति न होने पाए, और कोई राज्य किसी दूसरे राज्य पर किसी प्रकार का दबाव डालने का प्रयत्न न करे। (७) किसी राज्य पर सैनिक आक्रमण न किया जाए। (८) संयुक्त राष्ट्र-संघ के सिद्धान्तों के अनुसार आपसी झगड़ों का फैसला पारस्परिक बातचीत, पञ्च-निर्णय तथा अदालती निर्णय द्वारा कराया जाए। (९) विविध राज्य परस्पर सहयोग द्वारा एक-दूसरे के हितों को सम्पन्न करें, एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखें, और अच्छे पड़ोसियों के समान एक साथ मिल कर रहें। (१०) न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय जिम्मेदारियों का आदर किया जाए।

ये सिद्धान्त ऐसे हैं, जिनसे किसी भी राज्य का विरोध नहीं हो सकता था। 'अकेले या अन्य राज्यों के साथ मिलकर अपनी सुरक्षा कर सकने' की बात को प्रस्ताव में शामिल कर लेने के कारण तुर्की, पाकिस्तान आदि को भी सन्तोष हो गया था, क्योंकि वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिन अन्तर्राष्ट्रीय गुटों में शामिल हुए थे, उनका संगठन आत्मरक्षा के प्रयोजन से ही किया गया था, और ये राज्य इन गुटबन्दियों को संयुक्त राष्ट्र-संघ के चार्टर के विरुद्ध नहीं समझते थे। पर यह स्पष्ट है, कि राजनीतिक प्रश्नों पर बादुंग कान्फरेन्स में जो निर्णय किये गए, वे एक समझौते के परिणाम थे। चीन, भारत और इन्डोनीसिया इस कान्फरेन्स में पञ्चशील के सिद्धान्तों का समर्थन नहीं करा सके, और उनके स्थान पर ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकृत किया गया, जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों की भी गुंजाइश थी। यद्यपि बादुंग कान्फरेन्स के सब निर्णय सर्वसम्मति द्वारा हुए, पर इनके कारण पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के राज्यों में वास्तविक एकता का प्रादुर्भाव नहीं हो सका। इसमें सम्मिलित एशियन और अफ्रीकन राज्यों की आन्तरिक व विदेशी राजनीति में इतना अधिक अन्तर था, कि उन्हें किसी एक नीति का सामूहिक रूप से अनुसरण करने के लिये प्रेरित कर सकना असम्भव था। इसी कारण इस कान्फरेन्स के बाद भी इन राज्यों की नीति में विरोध जारी रहा, और एशिया के इस क्षेत्र के राज्य पहले के समान ही दो वर्गों में विभक्त रहे, एक वर्ग वह जो कि विदेशी राजनीति में पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों का समर्थक है, और दूसरा वर्ग वह जो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति का पक्षपाती है। भारत और चीन में सीमा-सम्बन्धी विवाद के कारण बाद में बादुंग कान्फरेन्स की भावना बहुत अधिक शिथिल हो गई। चीन का यह प्रयत्न था, कि एशिया और अफ्रीका के देशों की एक अन्य कान्फरेन्स का आयोजन किया जाए, पर उसे इस प्रयत्न में सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

(४) विवेचन

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) का एशिया के आधुनिक इतिहास में बहुत अधिक महत्त्व है। इसके कारण जहां एशियन देशों से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का अन्त हुआ, वहां उनकी अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय परिस्थितियों में भी बहुत परिवर्तन आ गया है। ये परिवर्तन निम्नलिखित हैं—

(१) महायुद्ध में परास्त हो जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जापान का महत्त्व अब अधिक नहीं रह गया है। १९४४ तक जापान संसार के सब से अधिक उन्नत व शक्तिशाली देशों में गिना जाता था। साम्राज्यवादी देशों में भी उसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। पर अब न केवल उसके साम्राज्य का अन्त हो गया है, और उसका क्षेत्रफल केवल उन द्वीपों तक ही सीमित रह गया है जिनमें जापानी लोगों का निवास है, अपितु उसकी सैनिक शक्ति में भी क्षीणता आ गई है। स्वतन्त्र व सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न हो जाने के बाद भी जापान पर से अमेरिकन प्रभाव का पूर्ण रूप से अन्त नहीं हुआ है।

(२) चीन में राष्ट्रीय एकता और समाजवादी (कम्युनिस्ट) व्यवस्था की स्थापना महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्तर है। सत्तर करोड़ से भी अधिक जनसंख्या का यह विशाल देश अब न केवल राष्ट्रीय दृष्टि से सुसंगठित हो गया है, अपितु कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना कर वह अपनी आर्थिक एवं सैनिक शक्ति की वृद्धि में भी तत्पर है। एशिया में जो स्थिति पहले जापान की थी, वह अब चीन ने प्राप्त कर ली है, और उसकी शक्ति की उपेक्षा कर सकना संसार के किसी भी देश के लिए सम्भव नहीं रहा है।

(३) कम्युनिज्म का एशिया में तेजी के साथ प्रसार हो रहा है। साइबीरिया रूस के अन्तर्गत है, और चीन की उत्तरी तथा पश्चिमी सीमाएं रूस के साथ लगती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कारण सम्पूर्ण उत्तरी एशिया में अब कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो गई है, और प्रशान्त महासागर के क्षेत्र में भी कम्युनिज्म का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है। उत्तरी कोरिया और उत्तरी विएत-नाम में कम्युनिस्ट सरकारें स्थापित हो चुकी हैं, और इस क्षेत्र के अन्य देशों में भी शक्तिशाली कम्युनिस्ट पार्टियां संगठित हैं। इनका यही प्रयत्न रहता है, कि अपने-अपने देशों में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित करने के लिए निरन्तर संघर्ष करते रहें। चीन इस प्रयत्न में इनकी सहायता करने के लिए उद्यत रहता है।

(४) पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध देश अब साम्राज्यवाद के चंगुल से मुक्त हो चुके हैं। ब्रिटेन, फ्रांस, हालैण्ड, अमेरिका और जापान के जो साम्राज्य इस क्षेत्र में विद्यमान थे, उनका अब प्रायः अन्त हो गया है, और उनकी अधीनता में विद्यमान इन्डोनीसिया, इन्डोचायना, बरमा, मलाया, कोरिया, फिलिप्पीन आदि देश अब पूर्णतया स्वाधीन एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति प्राप्त कर चुके हैं। इन देशों में अब लोकतन्त्र शासनों की सत्ता है। पर अभी इन देशों की राजनीतिक दशा में स्थिरता नहीं आयी है। मानव संस्थाओं में स्थिरता धीरे-धीरे ही आती है। चिरकाल तक विदेशी शासनों में रहने के कारण इन देशों में लोकतन्त्र परम्पराओं का भलीभांति विकास नहीं हो सका है। द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया के जिन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है, उनमें केवल भारत ही अब तक ऐसा है, जिसकी सरकार में स्थायित्त्व रहा है। अन्यत्र सब जगह षड्यन्त्रों और राज्यक्रान्तियों का जोर रहा है, और विविध राजनीतिक दल तथा उनके नेता केवल वैध उपायों द्वारा ही अपनी सत्ता को स्थापित करने के लिए यत्न नहीं करते रहे। उन्होंने बहुधा षड्यन्त्रों का आश्रय लेकर शासनशक्ति को अपने हाथों में लेने का प्रयत्न किया है।

(५) कम्युनिज्म के प्रसार का भय पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति को बहुत प्रभावित करता है। इस क्षेत्र के देशों की जनता प्रायः गरीब है, और देर तक विदेशी आधिपत्य में रहने के कारण उनका आर्थिक विकास भी भली-भांति नहीं हो सका है। ज्ञान-विज्ञान और औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से भी ये देश बहुत पिछड़े हुए हैं। रूस और चीन जैसे देशों ने कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना कर जो असाधारण उन्नति की है, उसे दृष्टि में रखकर इन देशों की जनता भी कम्युनिज्म के प्रति आकृष्ट होती है, और उसे यह सम्भव प्रतीत नहीं होता कि वह पूंजीवादी व्यवस्था में भलीभांति उन्नति कर सकेगी। इसी कारण इन देशों में कम्युनिस्ट विचार निरन्तर जोर पकड़ते जा रहे हैं, जिससे अमेरिका सदृश पाश्चात्य देशों का चिन्तित होना सर्वथा स्वाभाविक है। कम्युनिस्ट प्रभाव से इस क्षेत्र की रक्षा के लिये ही सीटो और कोलम्बो प्लैन सदृश संस्थाओं का निर्माण किया गया है, और जापान को अमेरिका ने अपनी सैन्यशक्ति का आधार बनाया है। पर पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देश अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति के समर्थक हैं, और वे इन गुटबन्दियों से अलग रहने में ही अपना हित व कल्याण समझते हैं।

(५) द्वितीय महायुद्ध के बाद पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया के जिन देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की है, उनमें धर्म, नसल, भाषा आदि पर आधारित अल्पसंख्यक जातियों की भी अनेक समस्याएं विद्यमान हैं। इन्डोनीसिया, मलायीसिया, बरमा आदि देशों में चीनी लोग बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। सिंगापुर, थाईलैण्ड, बरमा आदि में प्रवासी भारतीयों की संख्या भी कम नहीं है। जब ये राज्य विदेशी शासन में थे, इनमें राष्ट्रीय भावना का भलीभांति विकास नहीं हो पाया था। इस दशा में बहुत-से चीनी और भार-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीय व्यापार, मजदूरी आदि द्वारा आजीविका कमाने के लिये वहां गये, और वहीं बस गये। ग्रेट ब्रिटेन की अधीनता में विद्यमान राज्यों में भारतीय और ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों के लोग सरकारी नौकरी में भी अच्छी बड़ी संख्या में गये, और वहीं पर निवास करने लगे। बहुत-से लोगों ने वहां जमीन जायदाद भी खरीद ली, और वहीं के स्थायी निवासी बन गये। विदेशी लोगों के बड़ी संख्या में बसे होने के कारण इन राज्यों की जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना सुगमता के साथ विकसित नहीं हो सकती। मलायीसिया में बसे हुए भारतीय मलायन लोगों के मुकाबिले में भारत के निवासियों से अधिक सान्निध्य अनुभव करते हैं। यही बात चीनियों के विषय में भी कही जा सकती है। इस बात ने इन देशों की राजनीति में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या उत्पन्न कर दी है। यदि इन देशों में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन स्थापित होना हो, तो यह आवश्यक है कि वहां बसे हुए सब विदेशी लोग वहां की नागरिकता प्राप्त कर लें, और धीरे-धीरे भाषा, संस्कृति आदि की दृष्टि से भी वहीं के हो जाएं। विदेशियों से वहां एक अन्य समस्या भी उत्पन्न होती है। दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों में बसे हुए चीनी लोगों का चीन के साथ घनिष्ठ सम्पर्क है। चीन के कम्युनिस्टों से सम्पर्क होने के कारण इन प्रवासी चीनियों में कम्युनिज्म निरन्तर जोर पकड़ रहा है, और इनके द्वारा अन्य लोग भी इस विचारधारा के प्रभाव में आते जा रहे हैं। कम्युनिज्म के विरोधी इस बात को पसन्द नहीं करते। अतः पिछले कुछ वर्षों में यह प्रयत्न भी किया गया है, कि चीनी लोग इन राज्यों में न रह सकें, और उन्हें अपने मूल देश को वापस चले जाने के लिये विवश किया जाए। इन्डोनीसिया की सरकार ने कतिपय ऐसे कानून स्वीकार भी किये हैं, जिनके कारण चीनी लोगों के लिये देहाती क्षेत्रों में व्यापार कर सकना अब सम्भव नहीं रह गया है, और बहुत-से चीनियों को अपने देश वापस लौट जाना पड़ा है।

(७) पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों में जहां प्रवासी चीनियों और भारतीयों की समस्या है, वहां साथ ही उनमें अल्पसंख्यक जातियों की समस्या भी कम महत्त्व की नहीं है। इन देशों की वर्तमान सीमाओं का आधार केवल यह है, कि हालैण्ड या ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों ने जिन-जिन प्रदेशों व द्वीपों को अपनी अधीनता में लाकर एक शासन के अधीन कर दिया था, स्वतन्त्रता से बाद वे एक स्वाधीन सरकार के शासन में आ गये। दक्षिण-पूर्वी एशिया के जो हजारों छोटे-बड़े द्वीप पहले हालैण्ड के शासन में थे, उनसे ही 'इन्डोनीसिया की रिपब्लिक' का निर्माण किया गया। पर इन सब द्वीपों के निवासी भाषा, ऐतिहासिक परम्परा और संस्कृति आदि की दृष्टि से एक नहीं है। राष्ट्रीय एकता की भावना उनमें भलीभांति विकसित नहीं हुई है। इसी कारण स्वराज्य के इतने समय बाद भी वहां सुव्यवस्थित सरकार की स्थापना नहीं हो सकी है। समय-समय पर सुमात्रा आदि अनेक द्वीपों में विद्रोह होते रहे हैं। बरमा में भी करन लोग चिरकाल तक विद्रोह करते रहे हैं। अन्य भी अनेक अल्पसंख्यक जातियाँ वहां विद्यमान हैं, जो बरमा से पृथक् होकर अपने स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने का प्रयत्न करती रही हैं। इन प्रवृत्तियों का यह परिणाम है, कि अभी दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों में स्थायी व सुव्यवस्थित शासन स्थापित नहीं हो सके हैं। वहां बहुधा राजनीतिक दलों व सैनिक नेताओं के षड्यन्त्र होते रहते हैं, और पाश्चात्य ढंग का लोकतन्त्रवाद वहां सफल नहीं होने पाता।

(८) पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के देश अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के भी क्षेत्र बने हुए हैं। संसार के विविध राज्य इस समय दो गुटों (कम्युनिस्ट और कम्युनिस्ट-विरोधी)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में विभक्त हैं, और ये दोनों ही गुट एशिया के इन विविध देशों को अपने संघर्ष का क्षेत्र समझते हैं। पूर्वी एशिया में इस समय जापान प्रायशः अमेरिका के गुट के प्रभाव में है। यही बात दक्षिणी कोरिया, दक्षिणी विएत-नाम, थाईलैण्ड और फिलिप्पीन के विषय में कही जा सकती है। इसके विपरीत उत्तरी कोरिया और उत्तरी विएत-नाम कम्युनिस्ट गुट में शामिल हो चुके हैं। लाओस के उत्तरी प्रदेश में भी कम्युनिस्ट विद्रोह होते रहे हैं, और उसका कुछ प्रदेश कम्युनिस्टों के हाथों में आ भी चुका है। इन्डोनीसिया, बरमा आदि कतिपय देश अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति का अनुसरण कर रहे हैं, पर वे देर तक इस नीति पर स्थिर रह सकेंगे, यह सुनिश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पञ्चशील के सिद्धान्त वस्तुतः उत्तम हैं, पर कम्युनिज्म एक ऐसी सभ्यता, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और आर्थिक लोकतन्त्रवाद का प्रतीक है, जिसका पुराने ढंग की पूँजीवादी एवं लोकतन्त्र व्यवस्था से विरोध व संघर्ष होना अवश्यम्भावी है। इस दशा में किसी भी देश के लिए पूर्णतया तटस्थता की नीति का अनुसरण कर सकना सुगम नहीं है।

(६) भारत और चीन के नेतृत्व में पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों ने पञ्चशील के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था, और कुछ परिवर्तनों के साथ बादुंग कान्फरेन्स में एशिया और अफ्रीका के प्रायः सभी देशों ने जिनका समर्थन किया था, उन्हें क्रियान्वित हो सकने में अब शिथिलता आने लगी है। इसका प्रधान कारण भारत और चीन का सीमा-सम्बन्धी विवाद है। तिब्बत पर चीन का शासन भलीभांति स्थापित हो जाने के कारण अब चीनी गणराज्य की दक्षिणी सीमा भारत से आ लगी है। ज्ञान-विज्ञान और यातायात के साधनों के भली-भांति विकसित हो जाने के कारण अब हिमालय के सुविस्तृत और दुर्गम प्रदेश देर तक गैर-आबाद नहीं रह सकते। खनिज पदार्थों की उपलब्धि की सम्भावना के कारण अब उनके आर्थिक महत्त्व की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। लद्दाख आदि के जो प्रदेश अब तक प्रायः गैर-आबाद थे, और राजनीतिक व आर्थिक दृष्टि से जिनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था, अब उनकी उपेक्षा कर सकना भारत के लिये सम्भव नहीं रहा है। १९५८ तक चीन और भारत में गहन मैत्री-सम्बन्ध था। दोनों देशों की ओर से यह घोषित किया जाता था, कि हजारों वर्ष तक एक दूसरे के पड़ौसी रहते हुए भी उनमें कभी युद्ध की आवश्यकता नहीं हुई, और भविष्य में भी किन्हीं ऐसे कारणों की कल्पना नहीं की जा सकती, जिनसे उनमें युद्ध की सम्भावना हो। भारत और चीन की यह मैत्री शाश्वत और स्थायी है। ये दोनों देश इस बात के उदाहरण हैं, कि विभिन्न विचारधाराओं और सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुयायी देश भी किस प्रकार सह-अस्तित्त्व के सिद्धान्त के अनुसार परस्पर मैत्री-सम्बन्ध रख सकते हैं। पर १९५९ से इस दशा में परिवर्तन आ गया है। सीमा-विषयक विवादों के कारण चीन और भारत के सम्बन्ध बहुत अधिक बिगड़ गये हैं। चीन लद्दाख के अक्साई-चीन प्रदेश और भूटान के पूर्ववर्ती उत्तर-पूर्वी सीमा प्रदेश (North Eastern Frontier Agency) को अपने क्षेत्र के अन्तर्गत होने का दावा करता है, और इन पर भारत के प्रभुत्व को ब्रिटिश साम्राज्यवाद का परिणाम समझता है। अक्साई-चीन में उसने एक सड़क भी बना ली है, जो तिब्बत और सिन्कियांग को मिलाती है। भारत इसे चीन की साम्राज्य-प्रसार की प्रवृत्ति का परिणाम कहता है, और उसकी मांग यह है कि चीन इस प्रदेश को खाली कर दे। पंडित जवाहरलाल नेहरू और श्री चाउ एन लाइ ने इस समस्या को हल करने के लिए जो भी प्रयत्न किये, वे सफल नहीं हो सके। इस विवाद के कारण चीन और भारत के सम्बन्धों में बहुत कटुता आ गई है, और पञ्चशील के सिद्धान्तों का महत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम हो गया है। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के अनेक देशों में अब दक्षिण पक्ष के दल जोर पकड़ रहे हैं, और समाजवाद की बढ़ती हुई शक्ति को इससे काफी धक्का लगा है।

(१०) दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि-संगठन का अब विशेष महत्त्व नहीं रह गया है। इस संगठन का निर्माण इस प्रयोजन से किया गया था, कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों की कम्युनिज़्म से रक्षा की जा सके। पर अब कम्युनिस्ट गुट में एकता नहीं रह गई है। चीन और रूस में विरोध बहुत बढ़ गया है, और वे एक दूसरे को अपना शत्रु समझने लगे हैं। विचारधारा की एकता के आधार पर अब राज्यों में मैत्री-सम्बन्ध अधिक प्रगाढ़ नहीं रह गये हैं। अब कम्युनिस्ट देश भी अपने-अपने राष्ट्रीय हितों को विचारधारा की तुलना में अधिक महत्व देने लगे हैं, और इसी आधार पर अन्य राज्यों के साथ सन्धियां व समझौते करने में तत्पर हैं। क्योंकि भारत और चीन के सीमा-सम्बन्धी विवाद का अभी अन्त नहीं हुआ है, अतः भारत के विरोध में चीन पाकिस्तान जैसे राज्य के साथ मैत्री को प्रगाढ़ करने में तत्पर है, जो एक इस्लामिक रिपब्लिक है और जहां अभी लोकतन्त्र शासन की भी भलीभांति स्थापना नहीं हुई है। यद्यपि पाकिस्तान सीटो और सेन्टो जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का सदस्य है, जिनका निर्माण ही कम्युनिज्म का प्रतिरोध करने के लिये हुआ है, पर यह बात चीन और पाकिस्तान की मैत्री में बाधक नहीं है। चीन से विरोध होने के कारण ही रूस भारत के साथ अपना मैत्री-सम्बन्ध बढ़ाने में तत्पर है, यद्यपि भारत कम्युनिस्ट व्यवस्था का अनुयायी नहीं है। १९७१-७२ में अमेरिका जैसे प्रमुख पूंजीवादी राज्य ने भी चीन की ओर मैत्री का जो हाथ बढ़ाया, उसके प्रमुख कारण उसके राष्ट्रीय हित ही थे। जापान और चीन पिछली एक सदी में एक दूसरे के शत्रु रहे हैं, पर अब वे अपने सम्बन्धों को मैत्रीपूर्ण बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं, क्योंकि जापान का हित चीन के साथ व्यापार बढ़ाने में है। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को निर्धारित करने वाले दो प्रधान तत्त्व विचारधाराओं का संघर्ष और राष्ट्रीय स्वाधीनता की स्थापना थे। पर अब इनका स्थान विविध राज्यों के राष्ट्रीय हितों ने ले लिया है, और इस तत्व के आधार पर ही ये राज्य विदेशों के साथ सन्धियां व समझौते करने में तत्पर हैं। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों ने परस्पर मिलकर ऐसे संगठनों का निर्माण भी प्रारम्भ किया है, जिनका प्रयोजन परस्पर सहयोग से अपनी उन्नति करना है। ऐसे एक संगठन का निर्माण अगस्त, १९६७ में इन्डोनीसिया, थाईलैन्ड, मलायीसिया और फिलिप्पीन ने किया था, जिसे दक्षिण-पूर्वी एशियन राष्ट्रों का समुदाय (ASEAN) कहते हैं। दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन के कार्यकलाप में शिथिलता आ जाने के कारण इस क्षेत्र के कतिपय राज्यों ने एप्रिल, १९७१ में आत्मरक्षा के प्रयोजन से दक्षिण-पूर्वी एशिया सुरक्षा संगठन का निर्माण किया, जिसमें मलायीसिया, सिंगापुर, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन और न्यूजीलैण्ड सम्मिलित हैं। इसका उद्देश्य बाह्य आक्रमण से मलायीसिया और सिंगापुर की रक्षा के लिये उन्हें सहायता प्रदान करना है।

सियाम और मलाया आदि देशों की गत वर्षों की राजनीतिक घटनाओं का हमने इस इतिहास में बहुत संक्षेप के साथ उल्लेख किया है। इसका कारण यह है, कि एशिया के आधुनिक इतिहास की दृष्टि से इनका विशेष महत्व नहीं है। इनका सम्बन्ध इनके आन्तरिक इतिहास से है, और समग्र एशिया के इतिहास को इन्होंने विशेष रूप से प्रभावित नहीं किया है। पर जिन घटनाओं का विशेष महत्त्व है, उनका उल्लेख हमने यथास्थान कर दिया है। इसमें सन्देह नहीं, कि स्वतन्त्रता प्राप्त करके पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एशिया के विविध देश अब अपने-अपने ढंग से उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहे हैं, और वह समय दूर नहीं है जबकि ये संसार में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लेंगे।

(५) उपसंहार

पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया के इस आधुनिक इतिहास का प्रारम्भ हमने उस समय से किया था, जब कि एशिया महाद्वीप के विविध देश अज्ञान और अविद्या के अन्धकार में डूबे हुए थे। धार्मिक सुधारणा, विद्या का पुनःजागरण, व्यावसायिक क्रान्ति आदि के कारण यूरोप के देशों में जिस प्रकार नवयुग का श्रीगणेश हो रहा था, एशिया में उसके चिन्ह भी अभी प्रकट नहीं हुए थे। उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में जब पश्चिमी यूरोप के विविध देशों में यान्त्रिक शक्ति से चलने वाले विशाल कल-कारखाने स्थापित होने शुरू हो गये थे, रेलवे लाइनों के निर्माण के कारण विविध देश एक दूसरे के बहुत समीप आने लगे थे, और भाप की शक्ति से चलने वाले जहाज महासमुद्रों में स्वच्छन्द रूप से आने-जाने लग गये थे, उस समय एशिया के विविध देश मध्यकालीन परिस्थितियों से आगे नहीं बढ़े थे। सर्वत्र राजाओं के एकच्छत्र एवं निरंकुश शासन विद्यमान थे, लोकतन्त्रवाद व राष्ट्रीयता की प्रवृत्तियों से लोग सर्वथा अपरिचित थे, और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का कहीं भी विकास व प्रवेश नहीं हुआ था। वस्तुतः, एशिया उन्नति की दौड़ में बहुत पीछे रह गया था।

इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि पाश्चात्य देश एशिया में अपने साम्राज्यवाद का सुगमता के साथ विस्तार कर सकें। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस स्पेन, हालैण्ड, पोर्तुगाल आदि यूरोपियन देशों ने इस स्थिति का पूर्णरूप से उपयोग किया, और एशिया के बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। जिन देशों को वे राजनीतिक दृष्टि से अपनी अधीनता में लाने में समर्थ नहीं भी हुए, वहां भी उन्होंने अपने आर्थिक साम्राज्य का विकास किया, और कुछ समय के लिए चीन सदृश देश भी यूरोप के वशवर्ती हो गये। इस दशा में अनेक विचारकों ने यह प्रतिपादित करना प्रारम्भ किया, कि पाश्चात्य लोग नसल व जाति की दृष्टि से एशियन लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं, और ईश्वर ने उन्हें यह कार्य सुपुर्द किया है, कि वे एशिया और अफ्रीका के लोगों पर शासन करें और इन के निवासी पाश्चात्य सभ्यता का अनुसरण करने में ही अपना हित व लाभ समझें।

पर ये विचारक इस बात को भूल गये थे, कि यूरोप के लोगों का उत्कर्ष केवल सामयिक था। इतिहास में अनेक सदियों तक एशियन लोग ज्ञान-विज्ञान, धर्म और सभ्यता के क्षेत्र में यूरोप की अपेक्षा अधिक उन्नत रहे थे, और इसीलिए वे संसार के बहुत बड़े भाग में अपनी सभ्यता का प्रसार करने में समर्थ हुए थे। राजनीतिक व सामरिक दृष्टि से भी अनेक बार एशियन लोगों ने यूरोप के अच्छे बड़े भाग को अपनी अधीनता में रखने में सफलता प्राप्त की थी। उन्नीसवीं सदी में यूरोपियन लोग जो एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुए थे, उसका कारण यह नहीं था, कि पाश्चात्य लोग एशियन लोगों की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हैं। इसका कारण केवल यह था, कि आधुनिक युग में ज्ञान-विज्ञान की जो असाधारण उन्नति हुई, उसका प्रारम्भ यूरोप में हुआ था।

पर ज्ञान-विज्ञान और विचार किसी एक देश की सम्पत्ति होकर नहीं रहते। प्राचीन काल में चीन, भारत और अरब ने जो नये आविष्कार किये थे, उनके कारण इन देशों को सामयिक रूप से यूरोप व अन्य क्षेत्रों में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त हो गया था। इसी प्रकार आधुनिक युग में यूरोप में जो नये आविष्कार हुए, उन्होंने सामयिक रूप से यूरोप को उत्कर्ष का अवसर प्रदान कर दिया था।

एक सदी के लगभग समय में एशिया के विविध देशों ने पाश्चात्य एव आधुनिक ज्ञान-विज्ञान और विचारसारणी को अपना लिया। परिणाम यह हुआ, कि जापान, चीन भारत आदि एशियन देश भी उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हुए, और अब बीसवीं सदी के मध्य भाग में पाश्चात्य देशों के साम्राज्यवाद व उत्कर्ष का प्रायः अन्त हो गया है। जापान और चीन संसार की प्रधान शक्तियों में गिने जाने लगे हैं, और अब वह समय दूर नहीं है, जब कि भारत, इन्डोनीसिया आदि अन्य एशियन देश भी पाश्चात्य देशों के समकक्ष होकर संसार की सभ्यता और राजनीति में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर लें। अब एशिया जाग गया है, और वह उन्नति के मार्ग पर बड़ी तेजी के साथ अग्रसर हो रहा है। वह उद्योग, व्यापार, ज्ञान विज्ञान, सभ्यता आदि सभी क्षेत्रों में उन्नति कर रहा है, और यह असम्भव नहीं कि विगत काल के समान भविष्य में भी संसार का नेतृत्व फिर उसके हाथों में आ जाय। पाश्चात्य देशों ने भौतिक विज्ञानों में जो उन्नति की है, उसके द्वारा वे अपनी समस्याओं को हल नहीं कर सके हैं। संसार में युद्ध का भय अब बहुत अधिक बढ़ गया है, और मनुष्य अपनी वैज्ञानिक खोजों को एक दूसरे का संहार करने के लिए प्रयुक्त करने में तत्पर है। एशिया के निवासी भौतिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक और मानव गुणों को भी महत्व देते रहे हैं। आज जब एशिया भौतिक उन्नति में भी यूरोप और अमेरिका का समकक्ष होकर संसार की राजनीति में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर रहा है, यह अवश्यम्भावी है कि वह मानवता-सम्बन्धी अपने उच्च आदर्शों के अनुसार विश्व की वर्तमान समस्याओं को हल करने का प्रयत्न करे और इस प्रकार मानव समाज के हित व कल्याण में सहायक हो।

पूर्वी और उत्तरी-पूर्वी एशिया का जो आधुनिक इतिहास हमने इस ग्रन्थ में लिखा है, उसके अनुशीलन द्वारा निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—

(१) उन्नीसवीं सदी मे यूरोप का जो उत्कर्ष हुआ और जिसके कारण बीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग तक एशिया और अफ्रीका के बहुसंख्यक देश जो पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार हो गये, उसका प्रधान कारण यूरोप की वह वैज्ञानिक उन्नति थी, जिसका सूत्रपात अठारहवीं सदी में ही हो गया था। मध्यकाल में यूरोप की भी वही दशा थी, जो कि चीन, भारत और जापान आदि एशियाई देशों की थी। वहाँ भी राजाओं के निरंकुश व स्वेच्छाचारी शासनों की सत्ता थी, लोकतन्त्र शासनों का सर्वथा अभाव था, सामाजिक ऊंच-नीच के भेदभाव विद्यमान थे, जनता में अन्धविश्वास प्रचलित थे और आर्थिक उत्पादन के साधन पुराने ढंग के थे। उस काल में यूरोप में भी उसी प्रकार अविद्या और अन्धकार का राज्य था, जैसा कि एशिया में था। पर धीरे-धीरे पाश्चात्य संसार में नवयुग के चिन्ह प्रकट होने शुरू हो गये। वहाँ ऐसे विचारक उत्पन्न हुए, जो कि बुद्धि-स्वातन्त्र्य के पक्षपाती थे, और यह प्रतिपादित करते थे कि मनुष्यों को सत्य-असत्य का निर्णय करने के लिये धर्म-ग्रन्थों का सहारा न लेकर अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये। इसी का यह परिणाम हुआ, कि यूरोप के लोग नये-नये आविष्कार करने के लिये प्रवृत्त हुए, और वैज्ञानिक खोज द्वारा उन्होंने ऐसे उपकरणों का निर्माण कर लिया, जिनके कारण उनके आर्थिक जीवन में भारी क्रान्ति हो गई। इसी को व्यावसायिक या औद्योगिक क्रान्ति कहते हैं। यूरोप जो एशिया के बड़े भाग को अपनी अधीनता में ला सकने में समर्थ हुआ, उसका कारण वहां के लोगों में किन्हीं ऐसी विशेषताओं की सत्ता नहीं थी, जो एशिया के लोगों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न पायी जाएं। जैसे सबसे पहले बारूद का प्रयोग कर मंगोल लोग तेरहवींसदी में अपने विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में समर्थ हुए थे, वैसे ही नये अस्त्र-शस्त्रों तथा अन्य वैज्ञानिक साधनों का उपयोग कर पाश्चात्य लोग उन्नीसवीं सदी में एशिया के प्रायः सभी देशों को अपनी अधीनता में ले आने में सफल हो गये। पर यूरोप का यह उत्कर्ष सामयिक था। ज्ञान-विज्ञान वायु की तरह होते हैं, जो किसी एक देश तक सीमित होकर नहीं रह सकते। व्यावसायिक क्रान्ति सबसे पूर्व पश्चिमी यूरोप में हुई थी। इसी कारण ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड आदि पाश्चात्य यूरोपियन देशों का इतना अधिक उत्कर्ष हो सका। पर जब अन्य देशों ने भी इस नये ज्ञान-विज्ञान को अपना लिया, तो इन देशों का यह प्रभुत्व व उत्कर्ष कायम नहीं रह सका।

(२) राष्ट्रीयता का अभाव भी एशियाई देशों के सामयिक अपकर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। यूरोप में भी राष्ट्रीयता की भावना का विशेष रूप से विकास फ्रांस की राज्यक्रान्ति (१७८९) के बाद के काल में ही हुआ। पर उससे पूर्व भी इङ्गलैण्ड, फ्रांस, स्पेन, पोर्तुगाल, हालैण्ड आदि पश्चिमी यूरोपियन राज्यों का निर्माण राष्ट्रीयता के आधार पर हो चुका था। इन देशों के उत्कर्ष में इस बात से बहुत सहायता मिली। क्योंकि पूर्वी यूरोप के आस्ट्रिया, हंगरी, बल्गारिया, रूमानिया, पोलैण्ड आदि अनेक देशों में अभी राष्ट्रीय भावना भलीभांति विकसित नहीं हुई थी, इसी कारण उन की राष्ट्रीय शक्ति सुचारु रूप से संगठित नहीं हो सकी, और उन्नति की दौड़ में वे ब्रिटेन, फ्रांस आदि की तुलना में पीछे रह गये। यही बात एशियाई देशों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। उन्नीसवीं सदी में चीन, इन्डो-चायना, इन्डोनीसिया, भारत आदि एशियाई देशों में राष्ट्रीयता की भावना का प्रायः अभाव था। उनमें शक्तिशाली केन्द्रीय शासनों की सत्ता नहीं थी, और उनके शासक आपस की लड़ाइयों में तत्पर रहते थे। यही कारण था, जो वे सुगमता के साथ पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार हो गये।

(३) विद्या का पुनःजागरण, धार्मिक सुधारणा, व्यापारिक क्रान्ति, कृषि की उन्नति, व्यावसायिक क्रान्ति, वैज्ञानिक आविष्कार आदि के जिन तत्त्वों ने सतहरवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में पश्चिमी यूरोप में नवयुग का प्रारम्भ किया, उनका सूत्रपात एशियाई देशों में उन्नीसवीं सदी के अन्तिम भाग में शुरू हुआ। इसी कारण कुछ समय के लिये ये देश उन्नति की दौड़ में यूरोप की तुलना में पीछे रह गये, और पाश्चात्य लोग इनको अपने प्रभुत्व में ले आने में समर्थ हुए। पर जब इन एशियाई देशों में भी नवयुग का प्रारम्भ हुआ, इनमें भी राष्ट्रीय भावना और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां उत्पन्न हो गईं, और इनके निवासियों ने भी नये ज्ञान-विज्ञान को अपनाना शुरू कर दिया, तो पाश्चात्य लोगों के लिये इन्हें अपनी अधीनता में रख सकना सम्भव नहीं रहा। बीसवीं सदी के मध्य तक यह स्थिति आ गई थी, कि एशिया के प्रायः सभी देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो गये थे।

(४) एशिया पर पाश्चात्य देशों का प्रभुत्व एक सदी से भी कम समय तक कायम रहा। भारत पर अंग्रेजों का शासन उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में स्थापित हुआ था, और १९४७ में वह स्वतन्त्र हो गया। बरमा, सियाम, इन्डोनीसिया, इन्डो-चायना आदि एशियाई देशों पर यूरोपियन देशों के प्रभुत्व और भी बाद में कायम हुए, और ये सब देश भी बीसवीं सदी के मध्य तक स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हो गये। विश्व के सुदीर्घ इतिहास की दृष्टि से एशिया की गुलामी का काल बहुत ही स्वल्प एवं अगण्य था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैंतीसवां अध्याय

पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास की पृष्ठभूमि

(१) पश्चिमी एशिया

एशिया महाद्वीप के जिस भाग को इस इतिहास में हमने 'पश्चिमी एशिया' के नाम से लिखा है, अंग्रेजी के ग्रन्थों में उसे 'मिडल ईस्ट' (मध्य पूर्व) कहा जाता है। इङ्गलैंड और यूरोप के अन्य देशों की दृष्टि से यह भूखण्ड पूर्व में स्थित है। चीन, जापान और कोरिया आदि पूर्वी एशिया के दशों को अंग्रेजी पुस्तकों में 'फार ईस्ट' (सुदूर पूर्व) की संज्ञा दी जाती है, और तुर्की, अरब, ईरान आदि देशों को 'मिडल ईस्ट' की। पर भारत की दृष्टि से ईरान और ईराक आदि देश पश्चिम में स्थित हैं, अतः इस इतिहास में उन्हें 'पश्चिमी एशिया' लिखना ही अधिक उपयुक्त है। इन्हें हम 'दक्षिण-पश्चिमी एशिया' भी कह सकते हैं, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से ये देश एशिया के दक्षिण-पश्चिमी भाग में स्थित हैं।

पश्चिमी एशिया का यह भूखण्ड पांच समुद्रों के तट पर स्थित है, भूमध्य सागर, काला सागर, कैस्पियन सागर, लाल सागर और ईरान की खाड़ी। राजनीतिक दृष्टि से अनेक राज्य इसके अन्तर्गत हैं, जिनमें संयुक्त अरब रिपब्लिक, तुर्की, ईराक, ईरान, अरब, और इजराईल मुख्य हैं। आधुनिक इतिहास में इन राज्यों की सीमा में बहुत परिवर्तन होते रहे हैं। पश्चिमी एशिया में सम्मिलित इन देशों का क्षेत्रफल २७ लाख वर्गमील के लगभग है, और इनकी जनसंख्या साढ़े नौ करोड़ के लगभग। यदि अफगानिस्तान को भी इस क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया जाय, तो इसका क्षेत्रफल तेईस लाख वर्गमील के लगभग हो जाता है। ऐतिहासिक दृष्टि से ईजिप्ट, सूडान और साइप्रस के प्रदेश भी पश्चिमी एशिया के देशों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं। विशेषतया, आधुनिक काल में इनके इतिहास को तुर्की और अरब के इतिहास से पृथक् नहीं किया जा सकता। यद्यपि ये देश एशिया महाद्वीप के अन्तर्गत नहीं हैं, पर एशिया के आधुनिक इतिहास को लिखते हुए इनके इतिहास पर प्रकाश डालना भी अनिवार्य हो जाता है। अतः यदि इन्हें भी पश्चिमी एशिया के अन्तर्गत कर लिया जाए, तो इस भूखण्ड का क्षेत्रफल ३६ लाख वर्गमील के लगभग हो जाता है, और इसकी जनसंख्या १३ करोड़ के लगभग।

पश्चिमी एशिया के अन्तर्गत विविध देशों का क्षेत्रफल और जनसंख्या नीचे दी गई तालिका से स्पष्ट हो जायगी। पर इस तालिका को पूर्णतया प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है, कि अरब के अनेक प्रदेशों में अभी जनगणना भलीभांति नहीं की जा सकी है। यहां इनकी जो संख्याएं दी गई हैं, वे प्रायः अनुमान पर आश्रित हैं। अन्य देशों में से कुछ की जनसंख्या १९५६ की जनगणना के आधार पर है, और कुछ की १९६१ व १९६५ की जनगणनाओं के आधार पर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देश	क्षेत्रफल (वर्ग मीलों में)	जनसंख्या
तुर्की	३,०१,३०२	३,१३,९१,४२१
ईरान	६,२७,०००	२,५७,८१,०९०
सीरिया	७१,७७२	५६,३४,०००
लेबेनान	३,४००	२१,७९,०००
ईराक	१,६९,२४०	८२,६१,५२७
इजराईल	७,९९३	२७,३७,९००
जोर्डन	३७,७३०	२१,००,८०१
सौदी अरब	९,२७,०००	६०,००,०००
अन्य अरब राज्य	२,६४,७९६	७६,६०,७९२
ईजिप्ट	३,८६,१९८	२,५९,८४,०००
सूडान	९,६७,५००	१,४३,५५,०००
सर्वयोग	३७,६३,९३१	१३,२०,८५,५३१

एशिया के इस भूखण्ड की भौगोलिक और प्राकृतिक परिस्थितियों में बहुत अधिक भेद विद्यमान हैं। इसके कुछ प्रदेश जहां समुद्रतल से भी नीचे की सतह के हैं, वहां इसमें ऐसी पर्वतमालाओं की भी सत्ता है, जिनकी चोटियां ऊंचाई में १७,००० फीट तक हैं। हरे-भरे मैदान, विशाल मरुस्थल, पर्वतमय प्रदेश और पथार सब इसमें विद्यमान हैं। पर इस भूखण्ड के बड़े क्षेत्र के मरुस्थल होने के कारण इसकी जनसंख्या बहुत कम है। क्षेत्रफल में भारत से दुगने से अधिक होने पर भी इसकी जनसंख्या भारत की तुलना में एक चौथाई है। अरब प्रायद्वीप और ईरान के बहुत-से प्रदेश ऐसे हैं, जिनकी जन-संख्या बहुत ही कम है। यही बात सूडान के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। इस भूखण्ड के विविध प्रदेशों में प्रति वर्ग मील जनसंख्या इस प्रकार है, तुर्की १००, ईरान ४०, सीरिया ७१, लेबेनान ६०४, जोर्डन ५५, ईराक ४८, अरब ११, सूडान १२, ईजिप्ट ६७, और इजराईल ३४३।

नसल, धर्म, भाषा और जाति आदि की दृष्टि से भी इस भूखण्ड के निवासियों में बहुत विभिन्नताएं हैं। यद्यपि इसके बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, पर क्रिश्चिएनिटी और यहूदी धर्मों के अनुयायी भी इसमें अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान हैं। खेती की दृष्टि से इस भूखण्ड का बहुत महत्त्व नहीं है, पर तेल की प्रचुरता के कारण इसका आर्थिक महत्त्व बहुत अधिक है।

(२) प्राचीन इतिहास

संसार की प्राचीनतम सभ्यताओं के दो महत्त्वपूर्ण केन्द्र पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में स्थित थे—(१) ईजिप्ट में नील नदी की घाटी, और (२) ईराक में युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी। नील नदी की घाटी बहुत उपजाऊ है, इसी कारण बहुत प्राचीन काल में इस घाटी में एक उन्नत सभ्यता का विकास हुआ था। शुरू में इस घाटी के प्रदेश में बहुत-सी छोटी-छोटी बस्तियां थीं, जो स्वतन्त्र राज्यों के रूप में थीं। प्रत्येक राज्य का अपना पृथक् राजा होता था, और अपने पृथक् देवता। पर ये राज्य देर तक अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता को कायम नहीं रख सके। धीरे-धीरे वे एक राजा की अधीनता में आते गये। यह आवश्यक भी था, क्योंकि नील नदी का जल उन सबके जीवन का आधार था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नील के जल का उपयोग तभी भली-भांति किया जा सकता था, जबकि उससे सिञ्चित सब प्रदेशों पर एक राजा का शासन हो। ईजिप्ट में कुल मिलाकर २६ राजवंशों ने शासन किया, जिनमें चौथे राजवंश के राजा बड़े शक्तिशाली और समृद्ध थे। उन्होंने ही उन विशाल पिरामिडों का निर्माण कराया था, जो आज बीसवीं सदी में भी संसार के आश्चर्यों में गिने जाते हैं। इस राजवंश का काल ३४०० ई० पू० (अब से ४३७३ वर्ष पूर्व) के लगभग माना जाता है। १५०० ई० पू० के लगभग ईजिप्ट के राजाओं ने अपने देश के बाहर भी अपने शासन का विस्तार किया, और पैलेस्टाइन, सीरिया और फिनीशिया आदि को जीत कर अपने अधीन कर लिया। ईजिप्ट के इन प्रतापी राजाओं में थुतमस द्वितीय (१५०१—१४४६ ई० पू०) सब से प्रसिद्ध है। वह एक महान् विजेता था। ईराक भी उसके अधीन था, और उसका समुद्री बेड़ा भूमध्य-सागर में सर्वत्र स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण किया करता था। ईजिप्ट की वैभवशाली एवं समृद्ध सभ्यता के बहुत-से अवशेष इस समय भी पाये जाते हैं।

युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी की सभ्यता भी अत्यन्त प्राचीन है। इसके सबसे प्राचीन निवासी सुमेरियन थे, जो अब से छः हजार साल के लगभग पहले वहां आबाद हुए थे। सुमेरियन लोग खेती में बहुत निपुण थे। खेतों की सिंचाई के लिए उन्होंने युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों से बहुत-सी छोटी-छोटी नहरें निकाली थीं। मकान बनाने में भी वे निपुण थे। मिट्टी की ईंटें बनाकर वे उनसे बड़े और सुन्दर मकान बनाते थे। उन्होंने भी बहुत-सी बस्तियाँ बसायीं थीं, जो नगर-राज्यों के रूप में थीं। बाद में उनमें संघर्ष शुरू हुआ, और छोटे नगर-राज्यों का स्थान विशाल राज्य लेने लगे। सुमेरिया के राज्यों में बैबिलोन सबसे मुख्य था। उसके राजा बड़े प्रतापी थे। धीरे-धीरे उन्होंने युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी के अन्य सब राज्यों को जीतकर अपने अधीन कर लिया। इस प्रकार उस साम्राज्य का प्रारम्भ हुआ, जो इतिहास में बैबिलोनियन साम्राज्य के नाम से विख्यात है। बैबिलोन के प्रतापी राजाओं में हमुरबी (२१०० ई० पू०) सबसे प्रसिद्ध है। उसने अपने साम्राज्य के शासन के लिए जो कानून बनाए और जो आदेश जारी किए, उन्हें उसने एक विशाल शिला पर उत्कीर्ण करा दिया था। यह शिला अब तक भी विद्यमान है। इस शिला पर २८५ कानून व आदेश उत्कीर्ण हैं।

टिग्रिस नदी के उत्तर में एक अन्य जाति का निवास था, जिसे असीरियन कहते थे। ये लोग प्रधानतया पशुपालन द्वारा अपना निर्वाह किया करते थे। इनका प्रधान नगर निनेवा था। असीरियन लोग युद्ध-विद्या में बड़े निपुण थे। वे लोहे का प्रयोग जानते थे, और उससे भाले, तीर आदि बनाकर उन्हें लड़ाई के काम में लाते थे। बैबिलोनियन लोग घोड़ों का प्रयोग नहीं जानते थे, पर असीरियन लोग घुड़सवारी भी शुरू कर चुके थे। लकड़ी और लोहे के रथ बनाकर उनके आगे वे घोड़े जोतते थे, और ये रथ उन्हें लड़ाई में सहायता देते थे। १२०० ई० पू० के लगभग असीरियन लोगों ने युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी पर हमला किया। उनके रथों, घोड़ों और लोहे के बने हुए अस्त्र-शस्त्रों के सम्मुख बैबिलोन के सैनिक नहीं ठहर सके। वे परास्त हो गये, और ईराक की प्राचीन सभ्यता का प्रदेश असीरियन लोगों की अधीनता में आ गया। असीरिया के सम्राटों में अस्सुरबनीपाल (६६९—६२५ ई० पू०) सबसे प्रसिद्ध है। वह न केवल स्वयं विद्वान् था, अपितु विद्वानों का आश्रयदाता भी था। अपनी राजधानी निनेवा में उसने एक विशाल पुस्तकालय का निर्माण कराया, जिसमें सुमेरियन और बैबिलोनियन लोगों के लेखों को बड़ी संख्या में एकत्र किया गया। ये सब लेख मिट्टी की तख्तियों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कीलांकित किये गए हैं। निनेवा के खण्डहरों में २०,००० के लगभग ऐसी तख्तियां मिली हैं, जो अस्सुरबनीपाल के पुस्तकालय के अवशेष हैं।

पर असीरियन लोगों का विशाल साम्राज्य भी देर तक कायम नहीं रह सका। अन्य जातियों ने उस पर आक्रमण शुरू कर दिये। ये नये आक्रान्ता कैल्डियन थे, जिन्होंने निनेवा पर आक्रमण कर उसे भूमिसात् कर दिया था। कैल्डियन लोगों ने फिर बैबिलोन को अपनी राजधानी बनाया। बैबिलोन के इस नये साम्राज्य का सबसे शक्तिशाली राजा नेबूकेडनेजर (६०५—५६२ ई० पू०) था। उसने दूर-दूर तक विजय-यात्राएं की, और पेलेस्टाइन को जीतकर जेरुसलम पर भी कब्जा कर लिया था। अन्य देशों को जीतकर जो अपार सम्पत्ति नेबूकेडनेजर ने प्राप्त की, उसका उपयोग उसने बैबिलोन को विभूषित करने में किया। पर बैबिलोन का यह नया साम्राज्य भी देर तक कायम नहीं रह सका। ५३९ ई० पू० में ईरानी लोगों ने उस पर आक्रमण किया, और उसे जीत लिया।

ये ईरानी लोग उस विशाल आर्य जाति की ही एक शाखा थे, जिसकी सबसे पूर्वी शाखा भारत में प्रविष्ट हुई थी, और जिसकी अन्य शाखाओं ने यूरोप में प्रवेश कर ग्रीस और इटली आदि देशों को आबाद किया था। आर्यों की अन्य शाखाओं के समान ईरानी शाखा के लोग भी विविध देवी-देवताओं की पूजा किया करते थे। बाद में उनमें एक सुधारक का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम जरदुस्ट्र था। जरदुस्ट्र (जोरोस्टर) की शिक्षाएं जिन्दावास्ता में संगृहीत हैं, जो ईरानियों का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। आर्यों की जिस शाखा ने ईरान में प्रवेश किया था, उसका नाम पार्श था। छठी सदी ई० पू० में पार्श लोगों ने अपनी शक्ति का विस्तार शुरू किया। उनके शक्तिशाली राजा साइरस ने न केवल सम्पूर्ण ईरान को अपने अधीन किया, अपितु बैबिलोन की भी विजय की (५३९ ई० पू०)। साइरस केवल बेबिलोन को जीत कर ही संतुष्ट नहीं हुआ, वह पश्चिम दिशा में निरन्तर आगे बढ़ता गया। जिस प्रदेश को आजकल एशिया माइनर कहते हैं, वह उसके सम्मुख नहीं टिक सका। सीरिया और पैलेस्टाइन उसके अधीन हो गये, और उसके साम्राज्य की पश्चिमी सीमा भूमध्य सागर तक पहुँच गई। साइरस के बाद उसके पुत्र कैम्बिसस (५२९—५२१ ई० पू०) ने ईजिप्ट पर भी आक्रमण किया, और उसे जीत कर उसे भी अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया (५२५ ई० पू०)। कैम्बिसस के उत्तराधिकारी डेरियस (५२१—४८८ ई० पू०) ने ईरानी साम्राज्य का और अधिक विस्तार किया। पश्चिम में ईजिप्ट तक के प्रदेश पहले ही ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। डेरियस ने पूर्व दिशा में अपनी शक्ति का विस्तार किया, और अफगानिस्तान व बिलोचिस्तान को जीतता हुआ वह भारत में सिन्ध नदी तक आ पहुंचा। सिन्ध नदी के पश्चिम के भारतीय प्रदेश उसकी अधीनता में आ गये, और उनका शासन करने के लिए डेरियस ने एक क्षत्रप की नियुक्ति की। डेरियस की इच्छा थी, कि वह पश्चिममें ग्रीस पर भी आक्रमण करे। उन दिनों ग्रीस में अनेक छोटे-बड़े राज्य थे, जिनमें एथेन्स और स्पार्टा प्रमुख थे। डेरियस की सेनाओं ने जब ग्रीस पर आक्रमण किया, तो एथेन्स ने उनका डट कर मुकाबिला किया, जिसके कारण ग्रीस के राज्य अपनी स्वतन्त्रता को कायम रख सकने में समर्थ हुए। डेरियस के बाद उसके पुत्र जरक्सीज ने ग्रीस की विजय के लिए भारी तैयारी की। डार्डेनल्स के जल-डमरू-मध्य को पार कर ईरानी सेनाएं ग्रीस में आगे बढ़ती गईं। थर्मापोली के रणक्षेत्र में घनघोर लड़ाई हुई, जिसके कारण जरक्सीज ग्रीस को जीत सकने में असमर्थ रहा। यद्यपि ईरान के सम्राट् ग्रीस को नहीं जीत सके, पर उनका साम्राज्य बहुत विशाल था। इस इतिहास में हमने जिस भूखण्ड को 'पश्चिमी एशिया' नाम दिया है, वह प्रायः सब उसके अन्तर्गत था। इतिहास में यह पहला अवसर था, जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि इतना विशाल भूखण्ड एक शासन की अधीनता में आया था। संसार की प्राचीन सभ्यताओं के अनेक केन्द्र अब इस ईरानी साम्राज्य के अधीन थे। एक साम्राज्य के अन्तर्गत होने के कारण इन विविध प्रदेशों के निवासियों को अब यह अवसर मिला था, कि वे एक-दूसरे के समीप आयें, एक दूसरे के धर्म व सभ्यता से परिचय प्राप्त करें, और उनकी विभिन्न संस्कृतियों में सामञ्जस्य स्थापित हो।

जरक्सीज की मृत्यु के बाद ईरानी साम्राज्य में शिथिलता आने लगी। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे। परिणाम यह हुआ, कि ईजिप्ट और सीरिया ईरान की अधीनता से मुक्त हो गये। अन्य भी अनेक प्रदेशों में विद्रोह हुए। चौथी सदी ईस्वी पूर्व तक ईरान की यही दशा रही, जबकि सिकन्दर ने अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसे भी जीत लिया।

ईरानी सम्राट् ग्रीस को नहीं जीत सके थे। पर वह देर तक अपनी स्वतन्त्रता को कायम नहीं रख सका। ग्रीस के उत्तर में एक पहाड़ी प्रदेश है, जिसे मैसिडोन कहते हैं। इस प्रदेश के प्राचीन निवासी भी ग्रीक जाति की ही एक शाखा के थे। चौथी सदी ई० पू० में मैसिडोन में एक ऐसा राजा हुआ, जिसने अपने देश को बहुत शक्तिशाली बना लिया। इसका नाम फिलिप था। ग्रीस पर आक्रमण कर उसने वहां के सब नगर-राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। फिलिप का पुत्र सिकन्दर था, जो बड़ा वीर और महत्त्वाकांक्षी था। ३३६ ई० पू० में फिलिप की मृत्यु के बाद सिकन्दर मैसिडोन का राजा बना। इस समय में एशिया माइनर से लेकर हिन्दुकुश पर्वतमाला तक के सब प्रदेश ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ईरान का यह विशाल साम्राज्य अब तक भी कायम था, यद्यपि वह बहुत निर्बल हो चुका था। सिकन्दर ने इस साम्राज्य पर आक्रमण किया। एशिया माइनर और ईराक बात की बात में उसके अधीन हो गये। ईरानी सेनाएं उनकी रक्षा नहीं कर सकीं। इन्हें जीत कर सिकन्दर ने ईजिप्ट की विजय की, और फिर ईरान पर आक्रमण किया। सम्राट् डेरियस तृतीय ने सिकन्दर के मार्ग को रोकने का यत्न किया, पर वह सफल नहीं हुआ। ईरान की राजधानी पर्सिपोलिस नगरी सिकन्दर के कब्जे में आ गई। ईरानी साम्राज्य का अन्त कर सिकन्दर ने अफगानिस्तान और भारत पर चढ़ाई की। पश्चिमी एशिया के सब प्रदेश सिकन्दर के विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत थे। यद्यपि उसकी मृत्यु के बाद मैसिडोनियन साम्राज्य कायम नहीं रह सका, पर पश्चिमी एशिया के प्रदेशों पर सिकन्दर के अन्यतम सेनापति सैल्युकस ने अपना अधिकार कायम रखा। इसमें सन्देह नहीं, कि राजनीतिक दृष्टि से सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया चिरकाल तक एक साम्राज्य की अधीनता में रहा, पहले ईरानी साम्राज्य में और फिर सैल्युकस तथा उसके उत्तराधिकारियों के शासन में। सिकन्दर द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य यद्यपि उसकी मृत्यु के बाद अनेक भागों में विभक्त हो गया था, पर पश्चिमी एशिया का बड़ा भाग एक शासन के अधीन था, जिसकी राजधानी बैबीलोन थी। एशिया माइनर, ईराक और ईरान आदि के सब प्रदेश इसके अन्तर्गत थे। ईजिप्ट इसमें सम्मिलित नहीं था, यद्यपि वहाँ भी सिकन्दर के अन्यतम सेनापति ने अपने स्वतन्त्र शासन की स्थापना कर ली थी। पश्चिमी एशिया के इस सम्पूर्ण क्षेत्र में अब ऐसे शासनों की सत्ता थी, जिनके शासक ग्रीक व मैसिडोनियन सभ्यता और संस्कृति के अनुयायी थे।

इस स्थिति का अन्त रोमन साम्राज्य के विस्तार द्वारा हुआ। ४६ ई० पू० के लगभग तक रोम के शक्तिशाली सम्राटों ने पूर्व में अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए ग्रीस, एशिया माइनर, ईजिप्ट और ईराक की विजय कर ली थी। पश्चिमी एशिया के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये प्रदेश अब रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे, पर ईरान इस साम्राज्य के अधीन नहीं था।

पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र में ही ईसाई धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। रोमन साम्राज्य के पूर्वी क्षेत्र में एक प्रदेश था, जिसे जूडिया कहते थे। वहां यहूदी लोगों का निवास था, और उसका मुख्य नगर जेरुसलम था। यहूदी लोगों का धर्म ग्रीक और रोमन लोगों के धर्म से बहुत भिन्न था। यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में यहूदी जाति ने विशेष उन्नति नहीं की, पर धर्म के क्षेत्र में उन्होंने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। उनमें मूसा, डेविड, सोलोमन आदि अनेक पैगम्बर हुए, जिनकी शिक्षाएं बाइबल में संगृहीत हैं। ये पैगम्बर कहते थे, कि ईश्वर एक है और उसकी कोई मूर्ति नहीं होती। इसके विपरीत ग्रीस और रोम के प्राचीन धर्म अनेक देवी-देवताओं में विश्वास रखते थे, और मूर्तियां बनाकर उनकी पूजा किया करते थे। पर यहूदी लोगों का धर्म इससे भिन्न था। इन्हीं लोगों में आगे चलकर एक महापुरुष का जन्म हुआ, जिसका नाम जीसस या यीशु था। यहूदियों में पैगम्बरों की जो पुरानी परम्परा प्रचलित थी, उसका अनुसरण कर जीसस ने भी तीस साल की आयु में अपने विचारों का प्रचार शुरू किया। जीसस का कहना था, कि हमें पृथ्वी को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। परमेश्वर सब का पिता है, सब उसके पुत्र हैं। जिस प्रकार सूर्य सबको समान प्रकाश देता है, वैसे ही ईश्वर की दी हुई वस्तुएं भी सब के लिये हैं। हमें चाहिये, कि पृथ्वी पर 'स्वर्ग का राज्य' स्थापित करें। जीसस ने जो उपदेश दिये, वे बाइबल के 'न्यू टेस्टामैन्ट' में संगृहीत हैं। उसके अनुयायी ईसाई कहाते हैं, और वे बाइबल को अपना धर्मग्रन्थ मानते हैं। जीसस ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य देवी देवता को नहीं मानता था। पर रोम के साम्राज्य में सम्राट् की देवता के रूप में पूजा की जाती थी। जीसस ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य की पूजा करने के लिये उद्यत नहीं था। रोमन साम्राज्य के कर्मचारियों ने इसे राजद्रोह समझा। उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और प्राणदण्ड दिया गया। जीसस के शूली पर चढ़ने के दिन से ही ईस्वी सन् का प्रारम्भ हुआ, जो अब संसार के बड़े भाग में प्रचलित है।

जीसस के जीवनकाल में उसकी शिक्षाओं का प्रचार केवल जूडिया में ही हुआ था। पर उसके शिष्य बड़े कर्मठ थे। रोमन शासकों ने उन पर कठोर अत्याचार किये। उन्हें शूली पर चढ़ाया गया, और आग में जलाया गया। पर सब कष्टों और अत्याचारों को सहते हुए भी ईसाई भिक्षु अपने गुरु की शिक्षाओं के प्रचार में तत्पर रहे। दुःखी और पीड़ित जनता जीसस के अनुयायियों के उपदेशों से शान्ति प्राप्त करती थी। धीरे-धीरे ईसाई धर्म का प्रचार बढ़ता गया। रोमन साम्राज्य की प्रजा में यह नया धर्म निरन्तर तेजी से फैलता गया, और जब ३०६ ईस्वी में कान्स्टेन्टाइन रोम का सम्राट् बना, तो उसने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। इस समय से ईसाई धर्म रोमन साम्राज्य का राजधर्म बन गया, और उसकी बहुत तेजी से उन्नति हुई।

ईस्वी सन् के प्रारम्भ होने के समय एशिया माइनर, ईजिप्ट, सीरिया और ईराक के प्रदेश रोमन साम्राज्य में सम्मिलित थे। इसके बाद अनेक सदियों तक ये रोम के ही अधीन रहे। पर ईरान के प्रदेश को रोम के सम्राट् अपनी अधीनता में नहीं ला सके थे। सैल्युकस और उसके उत्तराधिकारी ईरान पर दो सदी के लगभग तक शासन करते रहे। ईरान के उत्तरी प्रदेशों में पार्थियन जाति का निवास था। ये प्रदेश भी सैल्युकस के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। पर २४८ ई० पू० में पार्थियन लोगों ने सैल्युकस के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सदी ई० पू० में इस राज्य में एक शक्तिशाली राजा का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम मिथ्रेदातस प्रथम (१७१-१३६ ई० पू०) था। उनके आक्रमणों के कारण सैल्युकस के वंशजों का राज्य छिन्न-भिन्न हो गया, और ईरान पर पार्थियन लोगों का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया। मिथ्रेदातस का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। पश्चिम में युफ्रेटिस नदी से शुरू कर पूर्व में कन्धार तक के सब प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। मिथ्रेदातस द्वारा स्थापित यह साम्राज्य २२६ ईस्वी तक कायम रहा। इसी साम्राज्य की शक्ति के कारण प्रतापी रोमन सम्राट् युफ्रेटिस नदी के पूर्व में अपनी शक्ति का विस्तार करने में असमर्थ रहे थे।

पर ईरान के लिये पार्थियन लोगों का शासन विदेशी था। इस कारण तीसरी सदी में ईरानी लोगों ने पार्थियन शासन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और वहां एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जिसे सासानी वंश कहते हैं। इस वंश का पहला राजा आर्दशीर (२२६ ई०) था। इस समय पश्चिमी संसार में दो शक्तिशाली साम्राज्यों की सत्ता थी, रोमन साम्राज्य की और सासानी साम्राज्य की। इन दोनों में निरन्तर संघर्ष जारी रहता था। आर्दशीर के उत्तराधिकारी सापुर प्रथम ने पश्चिम की ओर अपने साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया, जिसके कारण रोमन सम्राट् वेलेरियन के साथ उसके अनेक युद्ध हुए। इनके कारण ईराक और एशिया माइनर के सम्पूर्ण प्रदेशों पर सापुर का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया, और ईरानी साम्राज्य की पश्चिमी सीमा भूमध्य सागर से आ लगी। सातवीं सदी के प्रारम्भ तक ईरानी और रोमन साम्राज्यों में संघर्ष निरन्तर जारी रहा। सासानी वंश के उत्कर्ष के कारण पश्चिती एशिया के प्रायः सब प्रदेश ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये। पर सातवीं सदी के प्रारम्भ में अरब में एक नई शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने सासानी साम्राज्य का अन्त किया, और रोमन साम्राज्य के भी अनेक प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। यह शक्ति इस्लाम की थी, जिसका प्रादुर्भाव मुहम्मद द्वारा किया गया था।

(३) इस्लाम और अरब साम्राज्य

पश्चिमी एशिया के भूखण्ड में अरब का जो प्रायद्वीप है, उसका बड़ा भाग रेगिस्तान के रूप में है। इसी कारण प्राचीन समय में वहां किसी उन्नत सभ्यता का विकास नहीं हुआ। पर इस मरुभूमि में अनेक छोटे-छोटे राज्य प्राचीन काल में विद्यमान थे, जो प्रायः आपस में लड़ते रहते थे। अरब लोग विविध देवी-देवताओं को मानते थे, और अनेक विधि-विधानों व अनुष्ठानों द्वारा उनकी पूजा किया करते थे। यह प्रदेश प्राचीन इतिहास की मुख्य धारा से प्रायः पृथक् रहा, और ईरानी, ग्रीक, रोमन तथा सासानी विजेताओं ने इस पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने को विशेष महत्त्व नहीं दिया।

पर सातवीं सदी ईस्वी में संसार के इतिहास की दृष्टि से अरब का महत्त्व अकस्मात् ही बढ़ गया। इसका कारण इस्लाम का प्रादुर्भाव था। इस्लाम का प्रवर्तक हजरत मुहम्मद था, जो एक ईश्वर पर विश्वास रखता था। विविध देवी-देवताओं की सत्ता को वह स्वीकार नहीं करता था, और न ईश्वर की पूजा के लिये मूर्तियों तथा मन्दिरों की ही आवश्यकता मानता था। मनुष्य मात्र की एकता को मुहम्मद बहुत महत्त्व देता था। उसकी दृष्टि में ऊंच-नीच के भेद की कोई सत्ता नहीं थी। प्रारम्भ में मुहम्मद के विचारों का बहुत विरोध हुआ। उसने अपने विचारों का प्रचार मक्का में प्रारम्भ किया था, जो प्राचीन अरब के राजनीतिक व धार्मिक जीवन का प्रधान केन्द्र था। मक्का के लोग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहम्मद के विचारों को स्वीकार करने के लिये उद्यत नहीं हुए। इसी कारण उसे मक्का से हिजरत करके मदीना चले जाना पड़ा। इस्लाम के इतिहास में इस घटना का बहुत महत्त्व है। इसी (६२२ ईस्वी) से एक नये सम्वत् का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'हिजरी' कहते हैं। मुस्लिम जगत् में इसी संवत् का प्रयोग किया जाता है। मदीना के लोगों ने मुहम्मद के विचारों का स्वागत किया, और बहुत-से व्यक्ति उसके अनुयायी हो गये। कुछ समय बाद मुहम्मद ने अपने अनुयायियों के साथ मक्का पर आक्रमण किया, और उसे विजय कर लिया। धीरे-धीरे सब अरब मुहम्मद के अनुयायी हो गये। मुहम्मद ने जिस नये धर्म का प्रारम्भ किया, उसे इस्लाम कहते हैं। मनुष्यों के कल्याण के लिये जो ईश्वरीय ज्ञान उसने अभिव्यक्त किया, वह कुरान में संगृहीत है। मुसलमान लोग मुहम्मद को ईश्वर का पैगम्बर मानते हैं, और कुरान को ईश्वरीय ज्ञान।

मुहम्मद केवल धर्म सुधारक ही नहीं था, उसने अरब की विविध जातियों को संगठित कर एक सूत्र में बांधने के लिये भी अनुपम कार्य किया। अरब के विविध छोटे-छोटे राज्यों का अन्त कर उसने एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का निर्माण किया, और मुहम्मद के उत्तराधिकारियों ने अरब की इस नई शक्ति का उपयोग साम्राज्य के विस्तार के लिए किया। मुहम्मद के ये उत्तराधिकारी खलीफा कहाते हैं।

६३२ ईस्वी में मुहम्मद की मृत्यु हुई थी। उसके बाद उसका प्रधान शिष्य अबू बकर खलीफा बना। मुस्लिम अरबों की एक शक्तिशाली सेना को साथ लेकर अबू बकर ने इस्लाम की शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया। उसके आक्रमणों के दो उद्देश्य थे, सर्वत्र इस्लाम की विजय और अरब साम्राज्य का विस्तार। उस समय एशिया माइनर और ईराक के प्रदेश पूर्वी रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इस साम्राज्य की राजधानी बाइजेन्टियम थी। चौथी सदी ईस्वी में रोमन साम्राज्य दो भागों में विभक्त हो गया था, और पूर्वी रोमन साम्राज्य के सम्राट् बाइजेन्टियम को राजधानी बनाकर अपना शासन करने लगे थे। ईरान के सासानी सम्राटों के इनके साथ निरन्तर युद्ध होते रहते थे, और अनेक बार उन्होंने रोमन सेनाओं को परास्त भी किया था। सम्राट् सापुर की विजयों का हम ऊपर भी उल्लेख कर चुके हैं। पर बाद में पूर्वी रोमन सम्राट् हेरेक्लियस ने ईरानी साम्राज्य पर आक्रमण कर एशिया माइनर और ईराक के प्रदेशों को फिर से जीत लिया था। यही कारण है, कि जब खलीफा अबू बकर ने अपनी विजय-यात्राएं प्रारम्भ कीं, तो ये प्रदेश पूर्वी रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। हेरेक्लियस पैगम्बर मुहम्मद का समकालीन था, और उसी के समय में उसने एशिया माइनर और ईराक के प्रदेशों की विजय की थी।

5869

निरन्तर युद्धों के कारण सासानी और रोमन—दोनों ही साम्राज्य इस समय निर्बल हो चुके थे। साथ ही, मुस्लिम आक्रान्ताओं में अपूर्व शक्ति थी, और एक ऐसा उत्साह भी जो नये धर्म के प्रचारकों में होता है। पूर्वी रोमन साम्राज्य की सेनाएं अरबों का मुकाबिला नहीं कर सकीं। ६३४ ईस्वी में यारमुक के रणक्षेत्र में वे परास्त हो गईं। ६३५ ईस्वी में दमास्कस पर अरबों का अधिकार हो गया, और ६३८ में जेरुसलम पर। शीघ्र ही, सम्पूर्ण सीरिया, ईराक और एशिया माइनर अरबों के प्रभुत्त्व में आ गये। अब अरबों ने ईरान पर आक्रमण किया। ईरान के सासानी सम्राट् उनके मुकाबिले में नहीं टिक सके। ६३७ ई० में ईरान भी अरबों के अधिकार में आ गया, और वहां से सासानी राजवंश के शासन का अन्त हो गया। अरब सेनाएं पूर्व में निरन्तर आगे बढ़ती गईं। तुर्किस्तान उनके कब्जे में आ गया, और अरब के साम्राज्य की पूर्वी सीमा चीन से जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगी। पर अरबों का साम्राज्य केवल पूर्व की ओर ही नहीं फैला। अरब सेनाओं ने पश्चिम में ईजिप्ट पर भी आक्रमण किया। ६४६ ई० में एलेकजैण्ड्रिया पर उनका कब्जा हो गया, और सम्पूर्ण ईजिप्ट इस्लाम की सेनाओं की अधीनता में आ गया। अरब लोग उत्तरी अफ्रीका में निरन्तर आगे बढ़ते गये। ६९८ में कार्थेज के प्रसिद्ध व प्राचीन नगर पर उनका आधिपत्य स्थापित हो गया। सम्पूर्ण उत्तरी अफ्रीका को जीतते हुए अरब सेनाओं ने ७११ ई० में स्पेन पर आक्रमण किया। ७२० ई० तक सम्पूर्ण स्पेन पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया, और अरब साम्राज्य की पश्चिमी सीमा पिरेनीज की पर्वतमाला तक पहुंच गई। यह पर्वतमाला स्पेन और फ्रांस की सीमा पर विद्यमान है। अरबों की इस दिग्विजय से सारे यूरोप में तहलका मच गया। यूरोप के ईसाइयों को यह चिन्ता हो गई, कि क्या वे विधर्मी अरबों से अपनी रक्षा कर सकेंगे। इस दिग्विजय में अरब सेनाओं को केवल एक युद्ध में नीचा देखना पड़ा था। एशिया माइनर को जीत कर जब अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य की राजधानी बाइजेन्टियम (कोन्स्टेन्टिनोपल) पर आक्रमण किया (७१८ ई०), तो वहां के सम्राट् लिओ तृतीय ने उन्हें परास्त कर दिया। इसी पराजय के कारण अरब सेनाएं पूर्व की ओर से यूरोप में प्रवेश पा सकने में असमर्थ रहीं।

अरब सेनाएं इसी समय पूर्व की ओर भी आगे बढ़ रही थीं। ईरान को वह पहले ही जीत चुकी थीं। ७१२ ई० में एक अरब सेना ने भारत पर आक्रमण किया। इस समय भारत में कोई एक शक्तिशाली राज्य नहीं था। हर्षवर्धन की मृत्यु (६४६ ई०) के बाद कन्नौज के राज्य की शक्ति शिथिल हो गई थी, और वर्धन साम्राज्य के विविध प्रदेशों में अनेक राजाओं ने अपने स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिये थे। इस समय सिन्ध का राजा दाहिर था। उसने डटकर अरब सेना का मुकाबिला किया, पर वह सफल नहीं हो सका। सिन्ध पर अरबों का प्रभुत्व व शासन स्थापित हो गया। विशाल अरब साम्राज्य पूर्व में सिन्ध नदी और चीन की सीमा से शुरू होकर पश्चिम में जिब्राल्टर और पिरेनीज की पर्वतमाला तक विस्तृत था। संसार के इतिहास में इतना विशाल साम्राज्य शायद इससे पूर्व अन्य कोई नहीं बना था। ६३२ ई० में मुहम्मद की मृत्यु हुई थी। एक सदी से भी कम समय में अरब लोग इतना विशाल साम्राज्य कायम करने में समर्थ हो गये थे। पश्चिमी एशिया के सब प्रदेश इस के अन्तर्गत थे। इस साम्राज्य के कारण अरबों का बहुत उत्कर्ष हुआ, और उनके धर्म व सभ्यता ने बहुत अधिक उन्नति की।

सिन्ध से स्पेन तक विस्तृत इस विशाल साम्राज्य के प्रशासन में अरब लोगों ने अनुपम योग्यता प्रदर्शित की। इस समय मुस्लिम अरबों का शासन ऐसे प्रदेशों पर भी कायम था, जिनके बहुसंख्यक निवासी यहूदी, ईसाई और पारसी धर्मों के अनुयायी थे। अरबों ने इन्हें जबरदस्ती मुसलमान बनाने का प्रयत्न नहीं किया। वे केवल इतने से ही संतुष्ट रहे, कि अपनी गैर-मुस्लिम प्रजा से ऐसे टैक्स लिये जाएं, जिन्हें मुसलमानों से वसूल नहीं किया जाता था। अरबों के अपने कानून कुरान पर आश्रित थे, पर ये कानून गैर-मुस्लिमों पर लागू नहीं किये गये। उनके पुराने परम्परागत कानूनों को कायम रखा गया, और उनको प्रयुक्त करने का कार्य भी गैर-मुस्लिमों के हाथों में ही रहा। पर सहिष्णुता की इस नीति के कारण इस्लाम के प्रचार में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। मुसलमानों का सामाजिक संगठन अन्य धर्मों की तुलना में अधिक उत्कृष्ट था। उनमें ऊंच-नीच का कोई भेद विद्यमान नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि विशाल अरब साम्राज्य के निवासी, जिनमें दासों और अर्धदासों की बहुत बड़ी संख्या थी, धीरे-धीरे इस्लाम को स्वीकार करने लगे, और अरबों द्वारा शासित प्रदेशों के बहुसंख्यक निवासी मुस्लिम धर्म में दीक्षित हो गये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने विशाल साम्राज्य में अरब लोग अनेक उन्नत सभ्यताओं के सम्पर्क में आये। उस समय सिन्ध और मध्य एशिया में भारतीय पण्डित बड़ी संख्या में विद्यमान थे। भारत में गणित, ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र आदि विज्ञानों ने अच्छी उन्नति की हुई थी। अरबों ने ये सब विद्याएं भारतीय पण्डितों से सीखीं। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अरबी में अनुवाद कराया। एशिया माइनर और ईजिप्ट में अरबों का सम्पर्क ग्रीक विद्वानों से हुआ। एलेग्जण्ड्रिया का विशाल पुस्तकालय इस युग में ग्रीक अध्ययन का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था। प्लेटो, अरिस्टोटल आदि के ग्रन्थों से परिचय प्राप्त करके अरब लोग भी तत्त्वज्ञान और नीतिशास्त्र के अनुशीलन में तत्पर हुए। प्राचीन ग्रीक ग्रन्थों का भी उन्होंने अरबी भाषा में अनुवाद कराया। चीन के सम्पर्क से अरबों ने कागज बनाने की कला में निपुणता प्राप्त की, जिसके कारण उनके साम्राज्य में किताबों का प्रचार बढ़ने लगा। निस्सन्देह, अरबों का साम्राज्य एक उन्नत और सुसंस्कृत सभ्यता का प्रतिनिधि था। अपने विशाल साम्राज्य में अरबों ने अनेक विद्यापीठ भी कायम किये। इनमें बसरा, बगदाद, कूफा, कैरो और कोर्डोवा के विद्यापीठ प्रमुख थे। प्रारम्भ में इन स्थानों पर धार्मिक विद्यालय कायम हुए, जिनमें कुरान और मुस्लिम धर्म-ग्रन्थों की शिक्षा दी जाती थी। पर भारत, ग्रीस और चीन के सम्पर्क के कारण अरबों ने गणित, ज्योतिष, भूगोल, चिकित्साशास्त्र, दर्शन आदि का भी अध्ययन शुरू किया, और धर्म-शास्त्रों के अतिरिक्त इन विज्ञानों की शिक्षा भी इन विद्यालयों में दी जाने लगी। धीरे-धीरे ये महान् विश्वविद्यालयों के रूप में परिवर्तित हो गये, जिनमें न केवल मुस्लिम विद्यार्थी ही अध्ययन के लिए आते थे, अपितु यूरोप से बहुत-से ईसाई विद्यार्थी भी इनमें आकर अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करते थे।

अरबों ने जिस विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी, वह देर तक कायम नहीं रहा। खलीफा के पद को कौन प्राप्त करे, इस प्रश्न को लेकर मुहम्मद के उत्तराधिकारियों में झगड़े शुरू हो गये। पहले दो खलीफा अबू बकर और उमर थे। ये दोनों मुहम्मद की शिक्षाओं के अनुसार जीवन व्यतीत करते थे। इनका जीवन सरल और सदाचारमय था। अरब जाति और मुस्लिम धर्म के उत्कर्ष के लिये इन खलीफाओं ने अनुपम कार्य किया। ६५६ ई० में अली अरब का खलीफा बना। वह मुहम्मद की पुत्री फातिमा का पति था। इस समय अरब में एक ऐसे दल की सत्ता थी, जो अली के विरुद्ध था। इसने अली के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, और खलीफा पद के लिये झगड़े प्रारम्भ हो गये। ६६१ ई० में अली को कत्ल कर दिया गया, और मुवैया को खलीफा चुना गया। पर इससे समस्या का हल नहीं हो पाया। अली के पक्षपाती इस प्रयत्न में थे, कि खलीफा का पद अली के वंश में ही स्थिर रहे। इसी संघर्ष में अली के पुत्र हसन और हुसैन मृत्यु को प्राप्त हुए। अली की हत्या के बाद खलीफा का पद उसके विरोधियों के हाथों में अवश्य आ गया था, पर अरब में एक ऐसा दल कायम रहा, जो इन खलीफाओं की सत्ता को न्याय्य नहीं मानता था। इस दल के लोग मुस्लिम जगत् में अब तक भी विद्यमान हैं। इस्लाम का शिया सम्प्रदाय, अली के बाद जो व्यक्ति खलीफा के पद पर आरूढ़ हुए, उन्हें स्वीकार नहीं करता, और अली तथा उसके वंशजों को ही वह अपना धार्मिक नेता मानता रहा।

खलीफा के पद के सम्बन्ध में जो झगड़े इस समय प्रारम्भ हुए, उनके कारण अरब साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति बहुत निर्बल हो गई। केवल अली के पक्षपाती ही मुवैया के उत्तराधिकारियों के विरुद्ध नहीं थे, अपितु अरब में अन्य भी अनेक ऐसे दल विद्यमान थे, जो इन खलीफाओं की सत्ता को स्वीकार नहीं करते थे। एक ऐसे दल के नेता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हजरत मुहम्मद के चाचा अब्बास के वंशज थे। ८५० ईस्वी में उन्होंने खलीफा के विरुद्ध विद्रोह कर एक नई खलीफत की स्थापना की, जिसकी राजधानी बगदाद थी। पर ये नये खलीफा सम्पूर्ण अरब साम्राज्य को अपनी अधीनता में रख सकने में असमर्थ रहे। शीघ्र ही, स्पेन अरब साम्राज्य से पृथक् हो गया। यद्यपि यह देश अब भी अरबों के अधीन था, पर वहाँ एक स्वतन्त्र खलीफा शासन करने लगा, जो बगदाद के खलीफा की अधीनता को स्वीकार नहीं करता था। उत्तरी अफ्रीका के विविध प्रदेश यद्यपि नाम को खलीफा के शासन को स्वीकार करते थे, पर वस्तुतः वे ऐसे अरब शासकों के अधीन थे, जो क्रियात्मक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र थे। ६९९ ईस्वी में ईजिप्ट में ऐसे खलीफाओं ने अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित कर लिया था, जो शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे। ईरान के प्रदेश भी बगदाद के खलीफा के शासन से स्वतन्त्र हो गये थे, यद्यपि वे भी अरबों की अधीनता में थे। नवीं सदी के उत्तरार्द्ध तक अरब साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था, और बगदाद के खलीफाओं का शासन ईराक और उसके समीपवर्ती प्रदेशों तक ही सीमित रह गया था। पश्चिमी एशिया के सब प्रदेश यद्यपि अब भी अरबों की अधीनता में थे, पर राजनीतिक दृष्टि से अब उनमें एकता नहीं रह गई थी।

(४) तुर्क और मंगोल

यह स्थिति थी, जब तुर्क लोगों ने पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों पर आक्रमण प्रारम्भ किये। जिस प्रकार भारत के शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य पर हूणों के आक्रमण शुरू हुए थे, और उनके कारण गुप्तों का वैभवपूर्ण साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था, वैसे ही दसवीं सदी में तुर्क जातियों ने उत्तर-पूर्व की ओर से पश्चिमी एशिया के अरब और अन्य मुसलिम राज्यों पर हमले प्रारम्भ कर दिये थे। तुर्क लोग विशाल हूण जाति की ही एक शाखा थे। मध्य एशिया के भारतीय उपनिवेशों के सम्पर्क में आकर उन्होंने बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। अरब सेनाएं तुर्क जातियों का मुकाबिला कर सकने में असमर्थ रहीं। परिणाम यह हुआ, कि अरबों के विविध राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गये, और उनके प्रदेशों पर तुर्कों ने अपने अनेक राज्य कायम कर लिये। यद्यपि अरबों की राजनीतिक शक्ति तुर्कों द्वारा नष्ट हो गई, पर इस्लाम में अब भी अनुपम जीवन था। राजनीतिक दृष्टि से विजेता होते हुए भी तुर्क लोग धर्म के क्षेत्र में अरबों द्वारा परास्त हो गये। जैसे भारत की उच्च सभ्यता के सम्पर्क में आकर यवन, शक, हूण आदि जातियों ने इस देश के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को अपना लिया था, वैसे ही अरबों के सम्पर्क से तुर्कों ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों में अरबों का स्थान अब तुर्कों ने ले लिया था। पश्चिमी एशिया की विजय कर तुर्कों ने अपने जो अनेक राज्य कायम किये, उनमें गजनी का राज्य बहुत प्रसिद्ध है। इसका संस्थापक अलप्तगीन था। गजनी को केन्द्र बनाकर उसने पूर्व की ओर अपने प्रभुत्व का विस्तार किया। अलप्तगीन के उत्तराधिकारी सुबुक्तगीन और महमूद गजनवी बड़े प्रतापी और महत्वाकांक्षी थे। दसवीं सदी के अन्त में इन्होंने भारत पर भी आक्रमण किये। जिस प्रकार तुर्कों की एक शाखा ने गजनी को केन्द्र बनाकर मध्य एशिया, अफगानिस्तान और पश्चिमी भारत में अपने शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी, वैसे ही अन्य तुर्क शाखाओं ने ईरान और अरब के विविध राज्यों को जीतकर अपने अधीन किया। अब तक तुर्क लोग इस्लाम को स्वीकार कर चुके थे। खलीफा जहां अपने राज्य के राजा होते थे, वहां साथ ही वे मुस्लिम जगत् के धर्माचार्य भी माने जाते थे। अतः विजेता तुर्कों ने खलीफाओं का अन्त नहीं किया। बगदाद के खलीफा अपनी राजगद्दी पर विराजमान रहे, पर सब शासन-शक्ति तुर्कों के हाथों में आ गई। उनके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध सरदार ईरान और अरब के विविध प्रदेशों पर खलीफा के नाम पर शासन करने लगे।

तुर्क लोग केवल ईरान और अरब को जीतकर ही संतुष्ट नहीं हुए। उन्होंने पश्चिम में और आगे बढ़कर एशिया माइनर पर भी हमले किये। यह प्रदेश पूर्वी रोमन साम्राज्य के अधीन था। कान्स्टेन्टिनोपल के रोमन सम्राट् तुर्कों की बाढ़ को नहीं रोक सके। १०६१ ईस्वी में तुर्क आक्रान्ता कान्स्टेन्टिनोपल तक पहुँच गये। पूर्वी रोमन सम्राट् माइकेल सप्तम की सेनाएं तुर्कों द्वारा बुरी तरह से परास्त हुईं। अरब लोगों की शक्ति इस समय तक क्षीण हो चुकी थी। पर तुर्कों के रूप में इस्लाम को अपने अनुयायियों की एक ऐसी जाति मिल गई थी, जिसने मुहम्मद के इस धर्म में नये जीवन का सञ्चार कर दिया था। एशिया माइनर पर तुर्कों का कब्जा हो जाने के कारण पूर्वी रोमन साम्राज्य को बहुत धक्का लगा।

तुर्क लोग अरबों के समान सहिष्णु नहीं थे। पैलेस्टाइन ईसाइयों की धर्म-भूमि है। जिस प्रकार विविध देशों के मुसलमान तीर्थयात्रा के लिये मक्का जाते थे, वैसे ही यूरोप भर के ईसाई पैलेस्टाइन में जेरुसलम की यात्रा के लिये आया करते थे। अरब लोग ईसाइयों की तीर्थ यात्रा में कोई बाधा नहीं डालते थे। पर तुर्क लोग असहिष्णु थे। एशिया माइनर के साथ-साथ ईसाइयों की धर्मभूमि पर भी तुर्कों का आधिपत्य हो गया था, जिस कारण अब ईसाइयों के लिए जेरुसलम में तीर्थयात्रा के लिये आ-जा सकना सम्भव नहीं रहा। परिणाम यह हुआ, कि यूरोप भर के ईसाई तुर्कों के खिलाफ धर्मयुद्ध के लिये तत्पर हो गये। ये धर्मयुद्ध क्रूसेड के नाम से प्रसिद्ध हैं। ईसाइयों ने जेरुसलम को तुर्कों से स्वतन्त्र कराने के लिये कुलमिलाकर आठ क्रूसेड (१०९५ से १२०५ ई० तक) किये। एक बार वे जेरुसलम को जीत लेने में समर्थ भी हो गये, पर सलादीन जैसे तुर्क सरदारों की वीरता के कारण वे वहाँ टिक नहीं सके।

दसवीं सदी के अन्त तक पश्चिमी एशिया के प्रायः सभी प्रदेशों पर तुर्कों का प्रभुत्व स्थापित हो गया था। पर तेरहवीं सदी में इस क्षेत्र में एक अन्य जाति का प्रवेश हुआ, जिसे मंगोल कहते हैं। मंगोल चीन के उत्तरी प्रदेशों के निवासी थे। पशुपालन उनका मुख्य व्यवसाय था। उनकी कोई स्थायी बस्तियां नहीं थीं। बारहवीं सदी के अन्तिम भाग में मंगोलों में एक ऐसे नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसने उन्हें एक प्रबल राजनीतिक शक्ति बना दिया। इसका नाम चंगेज खां था। चंगेज ने मंगोलों को संगठित कर चीन पर आक्रमण किया, और १२१४ में उसकी राजधानी पेकिंग को जीत लिया। चीन के पश्चिम में तुर्कों का एक शक्तिशाली राज्य विद्यमान था, जिसकी राजधानी खीवा थी। अरब साम्राज्य को नष्ट कर तुर्कों ने जो अनेक राज्य कायम किये थे, खीवा का राज्य भी उनमें से एक था। खीवा के तुर्क राजाओं ने पड़ौस के अनेक तुर्क राज्यों को जीत कर अपनी शक्ति का बहुत विस्तार कर लिया था। ईरान से तिब्बत की पश्चिमी सीमा तक यह राज्य विस्तृत था। चंगेज खां ने इस शक्तिशाली तुर्क साम्राज्य को भी परास्त किया, जिसके कारण उसका शासन पश्चिम में ईराक की सीमा तक विस्तृत हो गया। पर चंगेज खां की साम्राज्यविस्तार की भूख इतने से भी शान्त नहीं हुई। पश्चिम-उत्तर की दिशा में उसने अपने हमलों को जारी रखा। कैस्पियन सागर के उत्तर में उसने रूस पर आक्रमण किया, जिसके कारण रूस का राजा मंगोल सेना के हाथों में कैद हो गया। पूर्व में भारत की ओर भी मंगोल सेनाओं के आक्रमण इसी समय में हुए। १२२६ ई० में जब चंगेज खां की मृत्यु हुई, तो मंगोल साम्राज्य पूर्व में प्रशान्त महासागर से शुरू होकर पश्चिम में काला सागर तक विस्तृत हो चुका था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चंगेज खां के बाद उसके पुत्र उगदई खां ने साम्राज्य-विस्तार के कार्य को जारी रखा। काला सागर से आगे बढ़कर उसने सम्पूर्ण रूस की विजय की, और पौलण्ड पर आक्रमण कर उसे भी जीत लिया। रोम का पवित्र रोमन सम्राट् मंगोलों की विजयों के कारण उद्विग्न हो गया। उगदई खां शायद पश्चिमी यूरोप में और आगे बढ़ता, पर १२४१ में उसकी मृत्यु हो गई, और उत्तराधिकार के सम्बन्ध में मंगोलों में झगड़े शुरू हो गये। १२५१ ई० मे जब मंगू खाँ विशाल मंगोल साम्राज्य का स्वामी बना, तो उसने अपनी शक्ति का और अधिक विस्तार किया। १२५८ में उसने ईराक पर आक्रमण किया, जो उस समय मुस्लिम खलीफाओं का प्रधान केन्द्र था। खलीफा युद्ध में मारा गया, और मंगोल सेनाओं ने बगदाद का बुरी तरह से विनाश किया। उस समय बगदाद मुस्लिम धर्म और संस्कृति का प्रधान केन्द्र था। वहां के विद्यापीठ में दूर-दूर से विद्यार्थी अध्ययन के लिए आया करते थे, और वहां के पुस्तकालय में हजारों पुस्तकें संगृहीत थीं। मंगोल सेनाओं ने इस पुस्तकालय को आग लगा दी, और विद्यापीठ को नष्ट कर दिया। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि इस समय तक मंगोलों ने इस्लाम को स्वीकार नहीं किया था। १२५९ में मंगू खां की मृत्यु हुई, और कुबले खां मंगोल साम्राज्य का स्वामी बना। क्योंकि मंगोल साम्राज्य बहुत विस्तृत था, अतः अपने साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों का शासन करने के लिये उसने अपने भाई हलकू खाँ को नियत किया। हलकू खाँ ने बगदाद से और आगे बढ़ कर सीरिया और आर्मीनिया की भी विजय की। हलकू खाँ ने यह भी यत्न किया, कि पैलेस्टाइन को जीत कर ईजिप्ट पर भी आक्रमण करे। पर इसमें वह सफल नहीं हो सका। कैरो के खलीफा ने मंगोल सेना को परास्त कर उनकी बाढ़ को रोकने में सफलता प्राप्त की।

कुबले खां के बाद मंगोल साम्राज्य की राजनीतिक एकता कायम नहीं रह सकी, और यह विशाल साम्राज्य अनेक राज्यों में विभक्त हो गया। ये राज्य निम्नलिखित थे—(१) चीन और मंगोलिया का राज्य, जिसकी राजधानी पेकिंग थी। (२) रूस का मंगोल राज्य। (३) ईराक का मंगोल राज्य, जिसका प्रायः सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया पर प्रभुत्त्व था, और एशिया माइनर के तुर्क शासक भी जिसकी अधीनता को स्वीकार करते थे। (४) तुर्किस्तान का मंगोल राज्य। (५) साइबीरिया का मंगोल राज्य।

चौदहवीं सदी में ईरान के मंगोल राज्य में एक वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जो केवल अपने राज्य से ही संतुष्ट नहीं रहा। इसका नाम तैमूर लंग था। पूर्व में इसने भारत पर आक्रमण किया, और उत्तर में साइबीरिया के मंगोल राज्य को जीत कर अपने अधीन किया। पर तैमूर की मृत्यु के बाद ईरान के मंगोल राज्य की शक्ति निर्बल होने लगी, जिसके कारण तुर्क सरदारों को अपना उत्कर्ष करने का अवसर मिल गया। पर ये तुर्क पुराने तुर्कों से भिन्न थे। पुराने तुर्क इतिहास में 'सेलजुक तुर्क' कहाते हैं, और ये नये तुर्क 'ओटोमान तुर्क'। इनका ओटोमान नाम इनके सरदार ओटोमान या उस्मान के नाम पर पड़ा, जिसके नेतृत्व में इन्होंने अपनी शक्ति का पुनरुद्धार किया था। ये नये तुर्क पहले मध्य एशिया में निवास करते थे, पर मंगोल साम्राज्य के ह्रास के समय वहां से एशिया माइनर चले आये थे, जहां सेलजुक तुर्कों का निवास था। सेलजुक तुर्कों के साथ मिलकर इन्होंने अपनी शक्ति का उत्कर्ष प्रारम्भ किया। एशिया माइनर में इन्होंने एक शक्तिशाली तुर्क राज्य की स्थापना की, और धीरे-धीरे अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया। इस समय तक कोन्स्टेन्टिनोपल का पूर्वी रोमन साम्राज्य बहुत निर्बल हो चुका था। ओटोमान तुर्कों ने इस स्थिति से लाभ उठाया। डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य को पार कर उन्होंने मैसिडोनिया, सर्बिया और बल्गारिया को जीत लिया। ये सब प्रदेश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब तुर्कों के अधीन हो गए। पूर्वी यूरोप और एशिया माइनर दोनों पर अब तुर्कों का आधिपत्य स्थापित हो गया। बीच में कोन्स्टेन्टिनोपल और उसके समीप का थोड़ा-सा प्रदेश ही ऐसा बच रहा, जहां पूर्वी रोमन सम्राटों का स्वतन्त्र शासन विद्यमान था। १४५३ ई० में तुर्क सुलतान मुहम्मद द्वितीय ने कोन्स्टेन्टिनोपल को भी जीत लिया, जिसके कारण पूर्वी रोमन साम्राज्य की सत्ता का सदा के लिए अन्त हो गया।

सोलहवीं सदी में तुर्क साम्राज्य का और अधिक विस्तार हुआ। पूर्व में बगदाद को जीतकर तुर्कों ने ईराक के प्रदेश को भी अपने अधिकार में कर लिया। बगदाद खलीफत का केन्द्र था, उसे जीत लेने के कारण अब तुर्क सुलतान ने खलीफा का पद भी प्राप्त कर लिया। दक्षिण में उन्होंने ईजिप्ट और उत्तरी अफ्रीका के अन्य अनेक प्रदेशों की भी विजय की। पर तुर्क सुलतान इतने से भी संतुष्ट नहीं हुए। सुलेमान प्रथम (१५२०—१५६६) के समय में तुर्क सेनाएं पूर्वी यूरोप में आगे बढ़नी शुरू हुईं। १५२१ में बेलग्रेड को जीतकर उन्होंने डेन्यूब नदी को पार किया, और बुडापेस्ट पर कब्जा कर लिया। हंगरी का राजा उनके सम्मुख नहीं टिक सका। १५२९ में तुर्क सेनाओं ने आस्ट्रिया की राजधानी वीएना पर आक्रमण किया। यद्यपि इसे जीतने में वे असमर्थ रहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी यूरोप के अनेक प्रदेश इस समय तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे। ग्रीस, बलगारिया, यूगोस्लाविया और हंगरी के प्रायः सभी प्रदेश इस समय तुर्कों के अधीन थे। ईजिप्ट और उत्तरी अफ्रीका के कतिपय प्रदेश भी उनके प्रभुत्व में थे, और पूर्व में उनके साम्राज्य की सीमा ईरान से छूती थी। तुर्कों का यह साम्राज्य इस युग (सोलहवीं सदी) के किसी भी यूरोपियन राज्य की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली, विस्तृत और वैभवपूर्ण था।

(५) ओटोमन और ईरानी साम्राज्य

सोलहवीं से अठारहवीं सदी तक पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में दो साम्राज्यों की सत्ता रही—ओटोमन साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य। ओटोमन (उस्मान) ने जिस तुर्क साम्राज्य की नींव डाली थी, सुलेमान प्रथम जैसे सुलतानों के प्रयत्न से वह बहुत शक्तिशाली और विशाल हो गया था। पुराने पूर्वी रोमन साम्राज्य का स्थान अब उसने ले लिया था, और पूर्वी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका, ईजिप्ट, एशिया माइनर, सीरिया और ईराक आदि के प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। इस साम्राज्य की शासन-शक्ति तुर्क लोगों के हाथों में थी, पर इसके निवासियों की बहुसंख्या ऐसे लोगों की थी, जो जाति की दृष्टि से तुर्क नहीं थे। साथ ही, इसके अनेक प्रदेशों में ऐसे लोगों का निवास था, जो ईसाई धर्म के अनुयायी थे। पूर्वी यूरोप की प्रायः सम्पूर्ण जनता धर्म से ईसाई थी, और भाषा, कानून, परम्परा, संस्कृति आदि की दृष्टि से उसकी अपने शासकों से किसी भी प्रकार की समानता नहीं थी। इस साम्राज्य के एशियन प्रदेशों में इस्लाम का प्रचार अवश्य था, पर वहां के निवासी अरब लोग थे, जो जातीय दृष्टि से तुर्कों से भिन्न थे।

ईरान पर तैमूरलंग के वंशजों का शासन देर तक कायम नहीं रहा। यद्यपि इस वंश का मूल मंगोल जाति से था, पर ईरान में बस जाने के अनन्तर मंगोल लोगों ने न केवल इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, अपितु साथ ही वहां के निवासियों के साथ वे पूरी तरह से मिल जुल भी गये थे। पुराने ईरानियों और तुर्कों के साथ उनका विशेष भेद नहीं रह गया था। पर फिर भी वे देर तक ईरान पर शासन नहीं कर सके। १४०४ ई० में तैमूरलंग की मृत्यु के बाद उसका पुत्र शाह रुख (१४०४-१४४७) ईरान का स्वामी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बना, और उसके समय में ईरान की शक्ति कायम रही। पर शाह रुख के उत्तराधिकारी निर्बल थे। परिणाम यह हुआ, कि उनके राज्य में झगड़े प्रारम्भ हो गये, जिनसे लाभ उठाकर इस्माईल नाम के ईरानी वीर ने अपने देश की राजशक्ति को हस्तगत कर लिया। इस्माईल द्वारा स्थापित राजवंश सफावी वंश के नाम से प्रसिद्ध है, जिसका काल १५०२ से १७२६ ई० तक है। ओटोमन तुर्कों और सफावी वंश के साम्राज्य प्रायः समकालीन थे, और पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेश प्रायः इन्हीं दोनों के अधिकार-क्षेत्र में विभक्त थे। ओटोमन तुर्क साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य के इतिहास की राजनीतिक घटनाओं का उल्लेख कर सकना इस इतिहास में सम्भव नहीं है, पर यह बात उल्लेखनीय है कि अठारहवीं सदी के अन्त तक इन दोनों साम्राज्यों में निरन्तर संघर्ष जारी रहे। यह संघर्ष प्रधानतया ईराक के प्रदेश के सम्बन्ध में था, जिसे अपनी अधीनता में लाने के लिए इन दोनों साम्राज्यों के शासक प्रयत्नशील थे। साथ ही, ओटोमन तुर्क सुलतानों का यह भी प्रयत्न था, कि अरब प्रायद्वीप के समुद्रतट पर उनका प्रभुत्व स्थापित रहे। ईजिप्ट और उत्तरी अफ्रीका के अनेक प्रदेश उनके अधिकार में थे ही, अतः भौगोलिक आवश्यकता से विवश होकर उनके लिये यह स्वाभाविक था, कि वे अरब के समुद्रतट के प्रदेशों पर भी अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हों। इसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई, पर जहां तक अरब के मरुस्थल-प्रधान प्रदेशों का सम्बन्ध है, उनमें निवास करने वाली अरब जातियां प्रायः स्वतन्त्र ही रहीं। ओटोमन तुर्क उन्हें अपने स्थायी शासन में ला सकने में असमर्थ रहे।

अठारहवीं सदी तक पश्चिमी एशिया के प्रदेशों की यही राजनीतिक स्थिति थी। इस युग में यूरोप का पुनः जागरण हो चुका था। विविध यूरोपियन देशों के साहसी व्यापारी पूर्वी एशिया के पिछड़े हुए प्रदेशों में व्यापार करने और वहां अपनी व्यापारी कोठियां स्थापित करने में तत्पर हो गये थे, और उनके साथ-साथ वहां के राजनीतिज्ञ भी इन प्रदेशों को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में लाने में तत्पर हो चुके थे। पश्चिमी एशिया के प्रदेश भी इस प्रवृत्ति से बचे नहीं रह सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अड़तीसवां अध्याय

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी एशिया की दशा

(१) यूरोप और पश्चिमी एशिया का व्यापार-सम्बन्ध

पाश्चात्य और प्राच्य देशों में बहुत प्राचीन काल से व्यापार-सम्बन्ध चला आता था। इस्लाम के प्रादुर्भाव से पूर्व भारत और रोमन साम्राज्य में सीधे व्यापारिक सम्बन्ध की सत्ता थी। पर इस्लाम के कारण जब अरबों में नवीन स्फूर्ति का संचार हुआ, और शक्तिशाली अरब साम्राज्य की स्थापना हुई, तो भारत व अन्य प्राच्य देशों का यूरोप के साथ सीधा सम्बन्ध कायम रह सकना सम्भव नहीं रहा। इस युग में भारत की सामाजिक दशा हीन होनी प्रारम्भ हो चुकी थी, और हिन्दू लोगों में सामाजिक संकीर्णता भी उत्पन्न होने लग गई थी। इस कारण भी हिन्दू लोग समुद्र के मार्ग द्वारा दूर के प्रदेशों में आने-जाने में संकोच करने लग गये थे। अरबों के सम्पर्क में आकर बहुत-से भारतीय नाविकों ने इस्लाम को भी अपना लिया था। परिणाम यह हुआ, कि पूर्व और पश्चिम का सामुद्रिक व्यापार अब मुसलमानों के हाथों में आ गया। ये मुस्लिम नाविक भारत और अन्य प्राच्य देशों से माल को खरीद कर उसे ईजिप्ट ले जाते थे, जहां से उसे यूरोप में ले जाने का कार्य प्रधानतया इटली के नाविक किया करते थे। जिनोआ और वेनिस के व्यापारी इस युग में सामुद्रिक व्यापार में बहुत निपुण थे। समुद्र के इस मार्ग के अतिरिक्त इस युग में व्यापार के लिये अन्य भी अनेक मार्ग थे। एक मार्ग ईरान की खाड़ी से शुरू होकर बगदाद और अलप्पा होता हुआ एशिया माइनर के समुद्रतट पर पहुंचता था। इस मार्ग से माल को ले जाने के लिये ऊंटों के काफिलों का प्रयोग किया जाता था। अरब लोग सभ्य व सुसंस्कृत थे, और व्यापार के महत्त्व को वे भली-भांति समझते थे। इसी लिये जब तक अरब साम्राज्य कायम रहा, पूर्व और पश्चिम के व्यापार के मार्गों में कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई।

अरब साम्राज्य का किस प्रकार पतन हुआ, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। उसके उत्तराधिकारी तुर्क लोग न अरबों के समान सभ्य थे, और न व्यापार के महत्त्व को ही समझते थे। उनके शासन में न अरबों के लिये पूर्व के व्यापार को जारी रख सकना सम्भव रहा, और न यूरोपियन व्यापारियों के लिये। परिणाम यह हुआ, कि यूरोपियन लोगों को व्यापार के नये मार्ग खोजने की चिन्ता हुई। इस कार्य में पोर्तुगाल और स्पेन के लोगों ने विशेष तत्परता प्रदर्शित की। पोर्तुगाल के लोगों ने विचार किया, कि यदि अफ्रीका के पश्चिमी समुद्रतट के साथ-साथ समुद्रमार्ग द्वारा यात्रा की जाए, तो अफ्रीका का चक्कर काटकर भारत आदि पूर्वी देशों तक पहुंचा जा सकता है। पोर्तुगाल के राजकुल के एक कुमार हेनरी (१३९४-१४६०) ने इस सम्बन्ध में विशेष उत्साह प्रदर्शित किया। उसकी सहायता और प्रोत्साहन से अनेक यूरोपियन मल्लाह अफ्रीका का चक्कर काट कर पूर्वी देशों तक पहुंचने के लिये प्रवृत्त हुए। १४८८ में बार्थालोमियो डियाज नाम का नाविक अफ्रीका के दक्षिणी सिरे तक पहुंचने में समर्थ हुआ, और दस वर्ष बाद वास्को-डीगामा भारत के पश्चिमी तट पर स्थित कालीकट के बन्दरगाह पर पहुंच गया। अब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप से भारत आदि प्राच्य देशों तक आने-जाने के लिये एक ऐसे नये मार्ग का पता चल गया था, जो तुर्कों के आधिपत्य में नहीं था, और जिसका प्रयोग कर यूरोपियन लोग निश्चिन्तता के साथ व्यापार कर सकते थे। इस मार्ग के लिये यूरोपियन व्यापारियों को तुर्क, अरब और ईजिप्सियन मुसलमानों के सहयोग व सद्भावना की कोई भी आवश्यकता नहीं थी। पश्चिमी एशिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित कर लेने के बाद तुर्कों के शासन में भी इस समय तक स्थिरता आ गई थी, और तुर्क लोग भी व्यापार के महत्त्व को समझने लगे थे। विशेषतया, ईजिप्ट के शासक (जो नाम को तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकार करते थे) यह पसन्द नहीं करते थे, कि पूर्वी व्यापार में उनका कोई भी भाग न रहे। यही वृत्ति वेनिस और जिनोआ के लोगों की भी थी। प्राच्य देशों तक पहुंचने के एक सीधे सामुद्रिक मार्ग का पता चल जाने का कारण अब पूर्वी देशों के माल को यूरोप के बाजारों में बेचने के लिये इटली के व्यापारियों का कोई उपयोग नहीं रह गया था। इसी कारण शुरू में ईजिप्ट और इटालियन राज्यों के शासकों ने पोर्तुगाल की समुद्र-यात्राओं का प्रबल रूप से विरोध किया। ईजिप्ट के सुलतान ने यह धमकी दी, कि यदि पोर्तुगीज़ नाविक हिन्द महासागर में आना-जाना बन्द नहीं करेंगे, तो ईजिप्ट में जो भी ईसाई गिरजे हैं, उन सबको नष्ट कर दिया जायेगा। वेनिस के राज्य ने स्पष्ट रूप से यह प्रगट किया, कि यदि ईजिप्ट का सुलतान पोर्तुगीज बेड़े को नष्ट करने के लिये युद्ध प्रारंभ करेगा, तो वेनिस की सहायता उसे प्राप्त रहेगी।

पर पोर्तुगीज लोग इससे घबराये नहीं। भारत के समुद्रतट पर वे अपनी अनेक व्यापारी कोठियां कायम कर चुके थे, और उनके जहाज स्वच्छन्द रूप से हिन्द महासागर में आने-जाने लगे थे। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में उन्होंने सोकोत्रा द्वीप और होरमुज पर भी कब्जा कर लिया था। ये स्थान ऐसे थे, जिन्हें केन्द्र बना कर वे मुस्लिम जहाजी बेड़े का सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सकते थे। इस समय मुस्लिम बेड़े और पोर्तुगीज बेड़े में अनेक युद्ध भी हुए, जिनमें ईजिप्ट का सुलतान पोर्तुगीज नाविक शक्ति को नष्ट कर सकने में असमर्थ रहा। ईजिप्ट और पोर्तुगाल में विरोध का भाव इस समय इतना अधिक बढ़ गया था, कि पोर्तुगीज नौसेनापति अलबुकर्क ने यह योजना बनाने में भी संकोच नहीं किया, कि नील नदी के प्रवाह को बदल कर उसे लाल सागर में मिला दिया जाए, ताकि ईजिप्ट के निवासियों को नील नदी का जल तक प्राप्त न हो सके। पश्चिमी एशिया के व्यापार को हस्तगत करने के लिये पोर्तुगीज लोग इतने अधिक उत्सुक थे, कि इसी प्रयोजन से उन्होंने उस क्षेत्र के अनेक बन्दरगाहों व व्यापार-केन्द्रों पर अपना अधिकार भी स्थापित कर लिया था। १५१५ ईस्वी तक मस्कत, होरमुज और बहराइन उनके कब्जे में आ गये थे। ये स्थान ईरान की खाड़ी में स्थित हैं। पर ईजिप्ट और ओटोमन तुर्कों की शक्ति अभी नष्ट नहीं हुई थी। इसी कारण लाल सागर के मार्ग पर पोर्तुगीज लोग अभी अपना प्रभुत्व स्थापित नहीं कर सके थे। अरब और ईजिप्सियन नाविक अब भी भारत आदि प्राच्य देशों के साथ व्यापार में प्रवृत्त थे। ये प्राच्य देशों के माल को लाल सागर के मार्ग से स्वेज तक ले जाते, और ऊंटों के काफिलों द्वारा उसे वहां से कैरो और अलेग्जेण्ड्रिया पहुंचा दिया जाता। वहाँ से इस माल को वेनिस के व्यापारी खरीद लेते, और यूरोप के बाजारों में उसका विक्रय करते। ईजिप्ट के सुलतानों ने वेनिस के इन व्यापारियों को अनेकविध सुविधाएं प्रदान की हुई थीं। एक निश्चित मात्रा से अधिक उनसे टैक्स वसूल नहीं किया जाता था, और उनके मामलों का निर्णय उनके अपने कानून के अनुसार उन्हीं की अदालतों में किया जाता था। पर अफ्रीका का चक्कर काटकर प्राच्य देशों तक पहुँचने के लिये जो नया मार्ग अब ज्ञात हो चुका था, उस पर अभी पोर्तुगीज़ लोगों का ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकाधिपत्य था। सोलहवीं सदी के पूर्वार्ध तक इंगलैंड, हालैण्ड, फ्रांस आदि के नाविकों ने इस मार्ग का प्रयोग शुरू नहीं किया था।

पर इंगलैण्ड आदि अन्य यूरोपियन देशों के लोग भी इस बात के लिए उत्सुक थे, कि पूर्वी देशों के व्यापार में हाथ बटा कर धन कमाएं। प्राच्य व्यापार के कारण पोर्तुगाल की बहुत उन्नति हो रही थी, और व्यापार की दृष्टि से लिस्बन का महत्व बहुत बढ़ गया था। १५३३ ई० में इंगलैण्ड में एक कम्पनी स्थापित की गई, जिसका उद्देश्य उत्तरी मार्ग द्वारा पूर्वी देशों तक पहुंचना था। इस कम्पनी के संस्थापकों का विचार था, कि उत्तरी यूरोप में मास्को पहुंच कर वहां से वोल्गा नदी द्वारा कैस्पियन सागर पहुँचा जा सकता है, और फिर वहां से स्थल मार्ग द्वारा ईरान के समुद्र तट तक। इस प्रकार एक नये मार्ग द्वारा प्राच्य देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना इस कम्पनी का उद्देश्य था। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। यह मार्ग जहां अत्यन्त जटिल था, वहां ईरान की राजनीतिक दशा भी इस समय में ऐसी नहीं थी, कि वहां के स्थल-मार्गों का निश्चिन्ततापूर्वक प्रयोग किया जा सकता। उत्तरी मार्ग की कठिनाइयों के कारण इंगलिश लोगों ने भी पोर्तुगीज नाविकों का अनुसरण किया, और अफ्रीका का चक्कर काट कर वे प्राच्य देशों तक पहुंचने के लिए प्रवृत्त हुए। १५९१ ई० में तीन अंग्रेजी जहाज इस प्रयोजन से भेजे गए, ताकि वे इस मार्ग के सम्बन्ध में सब जानकारी प्राप्त कर सकें। डच लोगों ने भी अंग्रेजों का अनुसरण किया, और १५९९ में उन्होंने भी अपने जहाज समुद्र मार्ग द्वारा पूर्वी देशों को भेजे। एक सदी पूर्व यह बात सर्वथा असम्भव थी, क्योंकि तब यूरोप में पोर्तुगाल की शक्ति बहुत प्रबल थी, और पोप के एक फतवे (बुल) के अनुसार प्राच्य देशों पर पोर्तुगाल के एकाधिकार को स्वीकार कर लिया गया था। पर अब परिस्थिति बदल चुकी थी। पोर्तुगाल की शक्ति क्षीण हो गई थी, और धार्मिक सुधारणा के कारण हालैण्ड, इंगलैण्ड आदि अनेक देशों में ऐसे ईसाई चर्च स्थापित हो गये थे, जो पोप के अधिकार से स्वतन्त्र थे, और उसके आदेशों का पालन नहीं करते थे। १५९९ ई० में इंगलैण्ड में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का स्थापना हुई, और १६०२ में हालैण्ड में यूनाइटेड ईस्ट इण्डिया कम्पनी की। इन दोनों कम्पनियों का उद्देश्य नये सामुद्रिक मार्ग का प्रयोग कर प्राच्य देशों के साथ व्यापार द्वारा धन कमाना था। इसीलिये इंगलैण्ड की ईस्ट इन्डिया कम्पनी ने १६१२ में सूरत में अपनी पहली व्यापारी कोठी कायम की, और ईरान के शाह का निमन्त्रण स्वीकार कर १६१६ में ईरान की खाड़ी में भी अपना एक केन्द्र स्थापित किया। इस क्षेत्र में पोर्तुगीज लोग पहले ही अपनी अनेक कोठियां स्थापित कर चुके थे। पर ईरानी लोगों के प्रति उनका व्यवहार बहुत ही अभद्रतापूर्ण था, इस कारण ईरानी लोग उनसे बहुत घृणा करते थे। १६२२ ई० में ईरान और इङ्गलैण्ड की सम्मिलित शक्ति ने इस क्षेत्र की पोर्तुगीज कोठियों पर चढ़ाई शुरू की, जिसके कारण होरमुज और बहराइन पोर्तुगीजों को खाली करने पड़े। १६५० में मस्कत भी उनके हाथ से निकल गया। परिणाम यह हुआ, कि ईरान की खाड़ी के क्षेत्र में पोर्तुगीजों का स्थान अंग्रेजों ने ले लिया, और वहाँ उन्होंने अपनी अनेक व्यापारी कोठियां कायम कीं। अंग्रेज व्यापारी इस समय प्राच्य देशों से जो माल खरीदते थे, उसे जहाजों द्वारा ईरान की खाड़ी के बन्दरगाहों पर ले जाते थे। वहां से स्थल मार्गों द्वारा उसे एलेप्पो पहुंचाया जाता था, जहां से उसे यूरोप के बाजारों में भेज दिया जाता था। पर स्थल के रास्ते से माल को ले जाने में खर्च बहुत पड़ता था। जो काली मिर्च भारत में पांच आने सेर के भाव से खरीदी जाती थी, एलेप्पो पहुंचने पर उसकी लागत १ रु० ६ आने पड़ जाती थी। अफ्रीका का चक्कर काटकर समुद्र के मार्ग से माल को ले जाने पर इससे एक तिहाई खर्च बैठता था। परिणाम यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ, कि अंग्रेज व्यापारियों ने स्थल मार्ग का परित्याग कर दिया। भारत आदि प्राच्य देशों के माल को वे समुद्र मार्ग से ही यूरोप ले जाने लगे, और ईरान से भी वे जो माल खरीदते थे, उसके लिए भी इसी समुद्र-मार्ग का प्रयोग करने लगे।

पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों के व्यापार से लाभ उठाने के लिये केवल इङ्गलिश और पोर्तुगीज लोग ही प्रयत्नशील नहीं थे, अपितु फ्रेञ्च और डच व्यापारी भी इस मैदान में उतर आये थे। इन देशों में भी ईस्ट इण्डियन कम्पनियां स्थापित हो गई थीं, और पश्चिमी एशिया से शुरू कर सुदूर पूर्व तक के सम्पूर्ण क्षेत्र में इन कम्पनियों में प्रतिद्वन्द्विता का प्रारम्भ हो गया था। सतरहवीं सदी में फ्रांस एक अत्यन्त शक्तिशाली राज्य था। बूर्बों वंश के फ्रेञ्च राजा यूरोप में बहुत शक्तिशाली माने जाते थे। लुई चौदहवें (१६४३-१७१५) ने अपने देश की सामुद्रिक शक्ति को बढ़ाने के प्रश्न पर विशेषरूप से ध्यान दिया था। उसके सुयोग्य मन्त्री कोल्बर्ट की प्रेरणा व प्रयत्न से न केवल भारत में अनेक फ्रेञ्च व्यापारी कोठियां कायम की गईं, अपितु ईरान में भी अनेक व्यापारी केन्द्र स्थापित हुए। १६६४ ई० में कोल्बर्ट ने एक दूतमण्डल ईरान के शाह की सेवा में भेजा, बन्दर अब्बास और इस्फहान में जिसने व्यापार-सम्बन्धी अनेक सुविधाएं प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। ईजिप्ट के क्षेत्र में भी इस समय फ्रांस ने अपने व्यापार को बढ़ाने के प्रश्न पर ध्यान दिया, और वहां अपनी अनेक कोठियां कायम कीं। १७०२ ई० तक अकेले कैरो नगर में ५० फ्रेञ्च व्यापारी व्यापार के लिए बस चुके थे, और अलेग्जेण्ड्रिया, रोजेट्टा आदि में भी उनके व्यापार-केन्द्र स्थापित हो गये थे। पश्चिमी एशिया के प्रायः सभी प्रदेशों में इस समय फ्रेञ्च व्यापारियों ने अपने को भलीभांति स्थापित कर लिया था। पोर्तुगाल की शक्ति इस समय क्षीण हो चुकी थी, और डच लोग अपने देश (हालैण्ड) में ऐसे युद्धों में व्यापृत थे, जिनके कारण वे सुदूरवर्ती प्रदेशों के व्यापार पर विशेष ध्यान नहीं दे सकते थे। फ्रांस का प्रतिद्वन्द्वी केवल इङ्गलैण्ड था, पर उसके मुकाबिले में फ्रेञ्च व्यापारियों को असाधारण सफलता प्राप्त हो रही थी। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में उनके व्यापार की मात्रा अंग्रेजी व्यापार की तुलना में कई गुना अधिक थी। अठारहवीं सदी के अन्तिम चरण तक यही दशा रही। १७८९ में जब फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, तब इस दशा में परिवर्तन आया।

यह ध्यान में रखना चाहिए, कि अठारहवीं सदी में साम्राज्य-विस्तार के क्षेत्र में इङ्गलैण्ड और फ्रांस एक दूसरे के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी थे। उत्तरी अमेरिका के प्रदेशों में ये दोनों ही राज्य अपनी बस्तियां बसाने में तत्पर थे। १७५६ से १७६२ तक इङ्गलैण्ड और फ्रांस में जो सप्तवर्षीय युद्ध हुआ, उसके कारण उत्तरी अमेरिका में फ्रांस के सब उपनिवेश अंग्रेजों के हाथों में चले गये, और अमेरिका महाद्वीप में फ्रांस के उत्कर्ष का अन्त हो गया। इसी समय में भारत में इन दोनों देशों में घोर संघर्ष हुआ। भारत के विविध राज्यों की राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर इङ्गलैण्ड और फ्रांस दोनों ही इस प्रयत्न में थे, कि इस देश में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करें। इस संघर्ष में भी अन्ततोगत्वा इङ्गलैण्ड सफल हुआ। फ्रांस की इस विफलता का प्रधान कारण उसकी राजनीतिक अवस्था ही थी। लुई चौदहवें के उत्तराधिकारी भोगविलास में फंस गये थे, और फ्रेञ्च सरकार के शासन में क्षमता नहीं रह गई थी। फ्रांस की ईस्ट इण्डिया कम्पनी सरकार के नियन्त्रण में थी, जिसके कारण सरकार की निर्बलता का उस पर भी प्रभाव पड़ता था। इसके विपरीत इङ्गलिश कम्पनी एक स्वायत्त संस्था थी, और राजनीतिक दशा का उसकी कार्यविधि पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता था। पश्चिमी एशिया का क्षेत्र फ्रांस के अधिक समीप था, और अठारहवीं सदी में भी फ्रांस के राजा यूरोप में विशेष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभाव व शक्ति रखते थे। इसीलिये इस क्षेत्र में फ्रांस के व्यापारी अंग्रेजी व्यापारियों का सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सके।

१७८९ में जब फ्रांस में राज्यक्रान्ति हुई, तो क्रान्तिकारी फ्रेञ्च सेनाओं ने यूरोप के बड़े भाग पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इस समय फ्रांस के विरुद्ध जो अनेक युद्ध यूरोप में लड़े गये, उनमें भी इङ्गलैण्ड ही फ्रांस का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था। क्रांतिकारी फ्रेञ्च सेनाएं आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली आदि को परास्त कर चुकी थीं, पर इङ्गलिश चैनल के कारण उनके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे इङ्गलैण्ड पर आक्रमण कर उसे भी जीत सकतीं। समुद्र के क्षेत्र में इङ्गलैण्ड की शक्ति बहुत अधिक थी। इस दशा में फ्रांस के नेताओं ने यह योजना बनाई, कि प्राच्य देशों में इङ्गलैण्ड के बढ़ते हुए प्रभाव को नष्ट करने का प्रयत्न किया जाए। इसी उद्देश्य से फ्रेञ्च सेनाओं ने ईजिप्ट पर आक्रमण किया। यद्यपि ईजिप्ट के सुलतान ओटोमन तुर्क सम्राट् की अधीनता स्वीकृत करते थे, पर क्रियात्मक दृष्टि से वे अपने राज्य में स्वतन्त्र थे। नेपोलियन के नेतृत्व में एक फ्रेञ्च सेना ने अलेग्जेण्ड्रिया के बन्दरगाह पर आक्रमण किया, और उसे जीत लिया (जुलाई, १७९८)। शीघ्र ही, सारे ईजिप्ट पर फ्रांस का अधिकार हो गया। तुर्की का ओटोमन सम्राट् ईजिप्ट की विजय को नहीं सह सका। उसने भी फ्रांस के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा कर दी। तुर्क सेना का मुकाबिला करने के लिए नैपोलियन ने पेलेस्टाइन के मार्ग से तुर्की की ओर प्रस्थान किया। इस बीच में इङ्गलिश नौसेनापति नेल्सन फ्रेञ्च जहाजी बेड़े को नष्ट करने में व्यग्र था। उसे अपने प्रयत्न में सफलता हुई। ट्राफलगर के युद्ध में फ्रेञ्च बेड़ा नष्ट कर दिया गया, जिसके कारण समुद्र के रास्ते से फ्रांस का ईजिप्ट के साथ सम्बन्ध टूट गया। पर नैपोलियन इससे निराश नहीं हुआ। पैलेस्टाइन होता हुआ वह सीरिया जा पहुंचा, जहां तुर्क सेनाओं से उसके अनेक युद्ध हुए। पर इस बीच में फ्रांस की राजनीतिक दशा में ऐसे परिवर्तन हुए, जिनके कारण नैपोलियन ने पश्चिमी एशिया के युद्ध को स्थगित कर अपने देश को वापिस लौट जाने का निश्चय किया।

यद्यपि नैपोलियन ईजिप्ट और उसके समीपवर्ती प्रदेशों पर अपने प्रभुत्व को स्थापित नहीं कर सका, पर उसकी योजना से अंग्रेजों की आंखें खुल गईं। इस समय तक वे भारत में अपने साम्राज्य का सूत्रपात कर चुके थे। बंगाल पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो गया था, और दक्षिणी भारत के अनेक प्रदेश भी उनके शासन में आ गये थे। उन्होंने अनुभव किया, कि पश्चिमी एशिया पर कब्जा करके कोई भी यूरोपियन राज्य उनके पूर्वी साम्राज्य को नष्ट करने का प्रयत्न कर सकता है। नैपोलियन की यही योजना थी। ईजिप्ट को जीतने के अनन्तर वह तुर्की, ईराक आदि को जीतना चाहता था, और वहां से भारत पर आक्रमण करने की उसकी योजना थी। इसी उद्देश्य से उसने टीपू सुलतान के साथ पत्र-व्यवहार भी किया था। अंग्रेजों ने अनुभव किया, कि जब तक पश्चिमी एशिया के प्रदेश भी उनके प्रभाव व प्रभुत्व में नहीं आ जायेंगे, उनका भारतीय साम्राज्य सुरक्षित नहीं होगा। इसीलिए उन्होंने इस क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। सबसे पहले उन्होंने पेरिम पर कब्जा किया। यह स्थान लाल सागर के दक्षिणी क्षेत्र में स्थित है। इसके बाद उन्होंने अदन पर अपना अधिकार स्थापित किया। यह स्थान लहज के सुलतान के अधीन था। अरब प्रायद्वीप में उस समय अनेक छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे। लहज उन्हीं में से एक था। १८०२ में अंग्रेजों ने लहज के सुलतान के साथ एक सन्धि की, जिसके द्वारा अदन पर उनका अधिकार कायम हो गया। अंग्रेजों ने वहां अपनी सेना स्थापित की, और इस प्रयोजन से अदन की किलाबन्दी करनी शुरू की, कि यदि कोई यूरोपियन राज्य पश्चिमी एशिया के मार्ग से पूर्व की ओर बढ़ने का प्रयत्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करे, तो वहां से उसका मुकाबिला किया जा सके। इसी समय अंग्रेजों ने ओमन के सुलतान से एक समझौता इस प्रयोजन से किया, कि उसके राज्य में फ्रेंच लोगों को अपने पांव न जमाने दिये जाएं। ईरान की खाड़ी के दक्षिणी प्रदेश इस समय ओमन के सुलतान के अधीन थे, और बन्दर अब्बास का प्रसिद्ध बन्दरगाह उसी के राज्य में था। ईरान की खाड़ी के दक्षिणी क्षेत्र में अंग्रेजों ने मस्कत को अपना केन्द्र बनाया, और वहां से अपनी शक्ति और प्रभाव को बढ़ाना प्रारम्भ किया। अदन के कारण अंग्रेजों की शक्ति लाल सागर में सुदृढ़ हो गई, और मस्कत के कारण ईरान की खाड़ी में।

नैपोलियन के ईजिप्ट पर कब्जा कर लेने के कारण तुर्की के सुलतान ने फ्रांस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। इस युग में ईराक का प्रदेश भी ओटोमन तुर्क सुलतानों के अधीन था। ईराक का मुख्य नगर बगदाद था, और मुख्य बन्दरगाह बसरा। इन दोनों ही स्थानों पर फ्रेंच लोगों की व्यापारी कोठियाँ विद्यमान थीं, और उन्हें केन्द्र बनाकर फ्रेंच लोग ईराक में अपने प्रभाव को बढ़ाने में तत्पर थे। तुर्की द्वारा फ्रांस के विरुद्ध युद्ध घोषित हो जाने पर इन स्थानों के फ्रेंच व्यापारियों और कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लिया गया, और अंग्रेजों के लिये यह सुगम हो गया कि वे इस क्षेत्र में भी अपने प्रभाव को बढ़ा सकें। १८०२ में बगदाद में अंग्रेजों को यह अधिकार प्राप्त हो गया, कि वे वहां अपनी सैनिक शक्ति को संगठित कर सकें।

अंग्रेज लोग पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में जिस प्रकार अपने प्रभाव को स्थापित करने में तत्पर थे, फ्रांस की सरकार उससे बहुत चिन्तित थी। इस समय नैपोलियन फ्रांस का प्रधान कान्सल बन गया था, और राजशक्ति उसी के हाथों में आ गई थी (१७९९)। उसने प्रयत्न किया, कि ईरान के शाह के साथ सन्धि करके उसके सहयोग से भारत पर आक्रमण किया जाए, और वहां से अंग्रेजों के प्रभुत्व का अन्त किया जाए। १८०५-६ में यूरोप के युद्धों में नैपोलियन को असाधारण सफलताएं प्राप्त हुई थीं। प्रशिया, आस्ट्रिया और रूस उस द्वारा परास्त कर दिये गये थे, और टिलसिट की सन्धि (१८०७) के कारण यूरोप में फ्रांस की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई थी। तुर्की के ओटोमन सुलतान ने भी फ्रांस के साथ सुलह कर ली थी। नैपोलियन की इच्छा थी, कि इस स्थिति से लाभ उठाया जाए, और ईरान के शाह के सहयोग से भारत पर आक्रमण किया जाय। फ्रांस का सैनिक दूत-मण्डल शाह को अपने प्रभाव में लाने के लिये प्रयत्न कर रहा था। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। इसका कारण यह था, कि टिलसिट की सन्धि के कारण रूस और फ्रांस में मैत्री स्थापित हो गई थी, जिसे ईरान के शाह ने पसन्द नहीं किया था। गत अस्सी वर्षों से रूस के जार ईरान के उत्तर-पश्चिमी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में तत्पर थे। ट्रांस-कौकेशिया का प्रदेश रूस के प्रभुत्व में आ भी चुका था। इंग्लैण्ड के राजनीतिज्ञों ने शाह को समझाया, कि रूस और फ्रांस में मैत्री हो जाने के कारण अब फ्रांस द्वारा उसका हित सम्पादित नहीं हो सकता। परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस का दूत-मण्डल अपने प्रयत्न में सफल नहीं हुआ, और ईरान के शाह पर अंग्रेजों का प्रभाव बढ़ता गया।

जिस तुर्क सेना के प्रतिरोध के कारण नैपोलियन तुर्की में अपनी शक्ति का विस्तार कर सकने में असमर्थ रहा था, उसका एक अफसर मुहम्मद अली था। जब नैपोलियन ईजिप्ट को छोड़कर अपने देश को वापस लौट गया, तो तुर्की के सुलतान ने मुहम्मद अली को ईजिप्ट का शासक (पाशा) नियत कर दिया (१८०५)। यद्यपि वह तुर्क सुलतान की अधीनता को स्वीकार करता था, पर क्रियात्मक दृष्टि से वह ईजिप्ट का स्वतन्त्र राजा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था। अंग्रेजों ने प्रयत्न किया, कि अपने जहाजी बेड़े द्वारा ईजिप्ट पर आक्रमण करें, और उसे अपने प्रभुत्व में ले आयें। पर इसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। मुहम्मद अली एक योग्य सैनिक था, और उसके नेतृत्व में ईजिप्ट की स्वतन्त्रता सुरक्षित थी। अंग्रेजों ने अनुभव किया, कि मुहम्मद अली से युद्ध करने की अपेक्षा उससे सन्धि कर लेना अधिक लाभकर है। इस कारण उन्होंने उससे एक सन्धि की, जिसके द्वारा मुहम्मद अली ने यह स्वीकार किया कि वह किसी यूरोपियन राज्य को ईजिप्ट के मार्ग से भारत की दिशा में आक्रमण करने का अवसर प्रदान नहीं करेगा। इस सन्धि के कारण ब्रिटेन का भारतीय साम्राज्य बहुत सुरक्षित हो गया। ईरान का शाह ब्रिटेन के प्रभाव में था, और ईजिप्ट के साथ भी अब उसकी एक ऐसी सन्धि हो गई थी, जिसके कारण यदि नैपोलियन इस देश के मार्ग से भारत की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता, तो मुहम्मद अली उसका विरोध करता। उन्नीसवीं सदी के इन प्रारम्भिक वर्षों में ब्रिटेन ने एक ऐसी नीति का अनुसरण किया, जिसके कारण न केवल भारत का उसका साम्राज्य सुरक्षित हो गया, अपितु साथ ही पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाने का मार्ग भी उसके लिए साफ हो गया। १८१४ में नैपोलियन का पतन हुआ, और विएना की कांग्रेस द्वारा यूरोप की जो नई व्यवस्था की गई, उसके अनुसार समुद्रतट के अनेक द्वीप व उपनिवेश ब्रिटेन ने फ्रांस से प्राप्त किये। माल्टा, सेण्ट लूसिया, टोबेको और मौरीशस इसी समय ब्रिटेन ने प्राप्त किये। ये सब पहले फ्रांस के अधीन थे। इनको प्राप्त कर लेने के कारण अब फ्रांस साम्राज्य-विस्तार के क्षेत्र में इंगलैंड का प्रतिद्वन्द्वी नहीं रह गया, और पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में भी फ्रांस के मुकाबिले में इंगलैंड की स्थिति बहुत सुदृढ़ हो गई।

पर यह दशा देर तक कायम नहीं रही। यद्यपि भारत और अन्य प्राच्य देशों के क्षेत्र में अब फ्रांस के लिये ब्रिटेन का मुकाबिला कर सकना सम्भव नहीं रह गया था, पर उसकी शक्ति सर्वथा क्षीण भी नहीं हो गई थी। विएना की कांग्रेस के निर्णयों द्वारा यूरोप में फ्रांस की शक्ति अधिक निर्बल नहीं हुई थी। यूरोप की राजनीति में उसका स्थान अब भी बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसलिये शीघ्र ही फ्रांस ने फिर पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में दिलचस्पी लेनी प्रारम्भ कर दी, और ईजिप्ट, सीरिया, लेबनान और तुर्की आदि में अपने प्रभाव का विस्तार करना शुरू कर दिया। उन्नीसवीं सदी के यूरोप में रूस की शक्ति भी बहुत अधिक थी। वह भी अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये तत्पर था। जहां वह उत्तरी ईरान को अपने प्रभाव में लाने के लिये प्रयत्नशील था, वहां साथ ही काला सागर के दक्षिण में डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य पर भी उसकी आंख थी। बालकन प्रायद्वीप के अनेक राज्य इस समय तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। रूस चाहता था, कि वे तुर्की की अधीनता से मुक्त हो जायें, और रूस को अपना संरक्षक स्वीकार कर लें। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में प्रिंस बिस्मार्क के कारण जब जर्मनी भी एक सुसंगठित एवं शक्तिशाली राज्य बन गया, तो उसने भी साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया। उसकी आंखें भी पश्चिमी एशिया के इसी क्षेत्र पर थीं। इस सबका परिणाम यह हुआ, कि उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेश यूरोपियन साम्राज्यवाद के संघर्ष के क्षेत्र बने रहे।

(२) उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों की राजनीतिक दशा

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी एशिया के प्रदेशों की क्या राजनीतिक दशा थी, इसका परिज्ञान इस क्षेत्र में पाश्चात्य साम्राज्यवाद संघर्ष को समझने के लिए बहुत उपयोगी है। इस क्षेत्र में इस समय दो राज्य प्रधान थे—ओटोमन तुर्क साम्राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और ईरान का राज्य। इनकी राजनीतिक दशा प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि अठारहवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत के मुगल साम्राज्य की थी। बादशाह औरङ्गजेब की मृत्यु के बाद दिल्ली की केन्द्रीय शक्ति निर्बल पड़ गई थी, और अनेक प्रान्तीय सूबेदार स्वतन्त्र राजाओं के समान शासन करने लगे थे। मुगलों के पतन के काल में हैदराबाद का निजाम यद्यपि दिल्ली की अधीनता को स्वीकार करता था, पर उसकी स्थिति एक स्वतन्त्र राजा के समान थी। यही बात बंगाल, अवध आदि के सूबेदारों के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। केन्द्रीय शक्ति के निर्बल पड़ जाने पर मराठे, जाट, राजपूत और सिक्ख आदि राष्ट्रीय तत्त्व भी अपनी स्वतन्त्रता के लिए प्रयत्नशील हो गये थे, और मुगल बादशाहों के लिए उन्हें अपनी अधीनता में रख सकना कठिन हो गया था। ठीक यही दशा ओटोमन तुर्क साम्राज्य की भी थी। ईजिप्ट, सीरिया, ईराक आदि के विविध प्रदेश इस साम्राज्य के अन्तर्गत थे, पर इनके शासक हैदराबाद के निजाम के समान स्वतन्त्र सत्ता रखने लग गये थे। ग्रीक, बल्गारियन आदि लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी प्रबल हो रही थी, और अरब लोगों में भी तुर्क शासन के विरुद्ध विचार उत्पन्न होने लग गये थे। ईरान का राज्य न तुर्क साम्राज्य के समान विशाल था, और न उसमें विभिन्न राष्ट्रीयताओं की सत्ता थी। पर उसके शाह भी इस समय तक निर्बल हो चुके थे, और उनके लिए अपने राज्य में व्यवस्था स्थापित रख सकना सम्भव नहीं रहा था। इसीलिए वहां प्रान्तीय शासक और विविध सरदार विद्रोह के लिए सदा उद्यत रहते थे। अठारहवीं सदी के भारत के समान पाश्चात्य साम्राज्यवादी देश पश्चिमी एशिया के इन राज्यों में भी अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए तत्पर थे। उन्नीसवीं सदी में ये राज्य जो भारत के समान पूर्णतया यूरोपियन साम्राज्यवाद के शिकार नहीं हो गए, उसका कारण यह नहीं था कि इनकी राजनीतिक दशा भारत की तुलना में किसी भी प्रकार अच्छी थी। इसका कारण केवल यह था, कि यूरोपियन साम्राज्यवादी देशों में पारस्परिक ईर्ष्या, द्वेष और प्रतिस्पर्धा के कारण किसी एक देश के लिए यह सम्भव नहीं हुआ, कि वह पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र को अपने प्रभुत्व में ला सके। ब्रिटेन ने इस क्षेत्र में बढ़ते हुए रूसी प्रभाव का प्रतिरोध किया, और फ्रांस ने ब्रिटेन के प्रभुत्व का। इन्हीं के पारस्परिक विरोध के कारण पश्चिमी एशिया की राजनीतिक स्वतन्त्रता कायम रह सकी, यद्यपि वह भी अनेक प्रकार से पाश्चात्य साम्राज्यवाद के प्रभाव में आ गया।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों की राजनीतिक दशा को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

तुर्की—मध्यकाल में यूरोप का बड़ा भाग तुर्की के साम्राज्य के अन्तर्गत था। ओटोमन (ओथमान या उस्मान) के नेतृत्व में तुर्क लोगों ने एशिया माइनर में अपने राज्य की स्थापना की थी। उसकी मृत्यु (१३२८ई०) के पश्चात् विविध तुर्क सुलतान सीरिया, अरब और ईजिप्ट में अपने आधिपत्य को विस्तृत करने में सफल हुए। १४५३ में मुहम्मद द्वितीय ने कोन्टेन्टिनोपल को विजय कर पूर्वी रोमन साम्राज्य का अन्त किया, जिसके कारण तुर्कों के लिए पूर्वी यूरोप को अपने आधिपत्य में ला सकने का मार्ग खुल गया। पन्द्रहवीं सदी में पूर्वी यूरोप में आस्ट्रिया के हाप्सबुर्ग वंशी सम्राट् सबसे प्रबल थे, जिन्हें 'पवित्र रोमन सम्राट्' (होली रोमन एम्परर) का पद भी प्राप्त था। इटली में वेनिस की रिपब्लिक भी बहुत शक्तिशाली थी। दो सदियों तक वेनिस की रिपब्लिक और आस्ट्रिया के सम्राट् तुर्क आक्रान्ताओं के विरुद्ध युद्ध में व्यापृत रहे। इस काल में बालकन प्रायद्वीप का बड़ा भाग तुर्कों की अधीनता में आ गया, और कुछ समय के लिए तो तुर्क साम्राज्य की पश्चिमी सीमा यूरोप के जर्मन प्रदेशों से जा लगी। १६८३ ई० में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्क सेनाओं ने विएना पर भी आक्रमण किया, यद्यपि वे उसे जीत नहीं सकीं। पोलैण्ड के प्रतापी राजा जान सोविएस्की की सहायता से आस्ट्रियन सम्राट् ने विएना में तुर्कों को परास्त किया। १६८४ ई० में आस्ट्रिया, पोलैण्ड और वेनिस ने मिलकर एक 'पवित्र संघ' का निर्माण किया, जिसका उद्देश्य विधर्मी तुर्कों से ईसाई यूरोप की रक्षा करना था। १६९९ में रूस का प्रतापी सम्राट् पीटर दि ग्रेट भी इस संघ में शामिल हो गया, और इन चार शक्तिशाली राज्यों की सम्मिलित शक्ति के कारण तुर्क लोग यूरोप में आगे नहीं बढ़ सके। अठारहवीं सदी में तुर्क साम्राज्य की शक्ति क्षीण होनी शुरू हुई। १७७४ ई० में रूस की साम्राज्ञी कैथराइन द्वितीय ने काला सागर के तट पर स्थित क्रीमिया के अन्तरीप और एजाफ के समुद्र-तट के साथ के प्रदेशों को तुर्कों से जीत लिया। इस विजय का परिणाम यह हुआ, कि रूस की दक्षिणी सीमा काला सागर से आ लगी, और रूस के लिए तुर्की के साम्राज्य में हस्तक्षेप कर सकना सुगम हो गया।

उन्नीसवीं सदी में नैपोलियन के पतन (१८१४) के समय क्षेत्रफल की दृष्टि से तुर्क साम्राज्य यूरोप में रूस के बाद सबसे अधिक विशाल था। यूरोप में उसकी सीमा नीस्टर नदी थी, और मोल्डेविया और वेलेचिया के वे प्रदेश भी उसके अन्तर्गत थे, जो अब रूमानिया के अंग हैं। इनके दक्षिण का सम्पूर्ण बालकन प्रायद्वीप तुर्की साम्राज्य में सम्मिलित था। बोस्निया, हर्जेगोविना, सर्बिया, बल्गारिया, अल्बानिया, ग्रीस और रूमानिया— ये सब प्रदेश तुर्कों के अधीन थे। डाल्मेटिया का समुद्र-तट और मोन्टिनिग्रो का पहाड़ी राज्य—ये दो छोटे-छोटे प्रदेश ही बालकन प्रायद्वीप में ऐसे थे, जो इस समय तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं थे। ईगियन सागर के विविध द्वीप भी इस समय तुर्क सुलतान की अधीनता में थे। यूरोप से बाहर पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में एशिया माइनर, पैलेस्टाइन, ईराक, आर्मीनिया और अरब तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, यद्यपि अरब के मरुस्थल के प्रदेशों में अनेक ऐसे सरदारों का शासन था, जो नाम को तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकार करते हुए भी क्रियात्मक दृष्टि में स्वतन्त्र थे। अफ्रीका में ईजिप्ट से लेकर अलजीरिया तक तुर्क सुलतान का आधिपत्य स्वीकार किया जाता था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में इस विशाल तुर्क साम्राज्य का अधिपति महमूद द्वितीय (१८०९-१८३९) था, जो एक प्रगतिशील विचारों का शासक था। उसने अपने साम्राज्य की उन्नति और शासन-सुधार के लिए अनेक प्रयत्न किये, पर तुर्की पुराने जमाने की विकृत रूढ़ियों और धार्मिक संकीर्णता में इतना फंसा हुआ था, कि महमूद के प्रयत्न प्रायः निरर्थक ही रहे। साथ ही, तुर्क साम्राज्य की रचना राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के प्रतिकूल थी। उसमें अनेक जातियों, धर्मों और भाषाओं की सत्ता थी। समय को देखते हुए वह एक अस्वाभाविक राज्य था। राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र शासन की जो प्रवृत्तियां फ्रांस की राजक्रान्ति द्वारा प्रादुर्भूत हुई थीं, वे तुर्क साम्राज्य के विविध प्रदेशों को भी प्रभावित कर रही थीं। महमूद द्वितीय जैसे योग्य सुलतान के लिए भी यह सम्भव नहीं था, कि वह इन प्रवृत्तियों के मुकाबिले में अपने साम्राज्य की एकता को कायम रख सके।

ईजिप्ट—उत्तर-पूर्वी अफ्रीका का यह प्रदेश पहले अरब साम्राज्य के अन्तर्गत था, जिसे अरब सेनाओं ने जीतकर अपने अधीन किया था (६५० ई०)। चिरकाल तक अरब के खलीफाओं के अधीन रहने के अनन्तर वहां एक पृथक् खलीफत की स्थापना हो गई थी। ग्यारहवीं सदी के अन्त में उसे सलादीन नामक प्रतापी पुरुष ने जीत लिया, जिसके वंशज वहां प्रायः चार सदियों तक शासन करते रहे। १५१७ ई० में यह प्रदेश ओटोमन तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। नैपोलियन के समय में ईजिप्ट तुर्क साम्राज्य का ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग था। १७९८ ई० में नैपोलियन ने ईजिप्ट पर आक्रमण कर उसकी विजय कर ली, यद्यपि वह उसे देर तक अपने अधीन नहीं रख सका। ब्रिटेन और तुर्की के सम्मिलित प्रयत्न द्वारा ईजिप्ट से नैपोलियन के आधिपत्य का अन्त हुआ, और कुछ समय के लिए यह देश ब्रिटिश सेनाओं के कब्जे में रहा। नैपोलियन के आधिपत्य का अन्त करने के लिए जो तुर्क सेनाएं ईजिप्ट में आयी थीं, उनका अन्यतम सेनापति मुहम्मद अली था, जो जाति से अल्बानियन था। ब्रिटिश सेनाएं देर तक ईजिप्ट में नहीं रह सकीं, क्योंकि फ्रांस के क्रान्तिकारियों के विरुद्ध जो युद्ध इस समय यूरोप में जारी थे, उनके कारण ब्रिटेन के लिये इस सुदूरवर्ती प्रदेश को अपने कब्जे में रख सकना सम्भव नहीं रहा था। मुहम्मद अली ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और वहां के शासन सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। तुर्की सुलतान ने भी उसे ईजिप्ट का सूबेदार स्वीकार कर लिया (१८०५)। यद्यपि नाम को मुहम्मद अली तुर्की की अधीनता स्वीकार करता था, और सुलतान की दृष्टि में उसकी स्थिति एक सूबेदार की थी, पर वस्तुतः वह एक स्वतन्त्र शासक था। उसकी स्थिति ठीक वही थी, जो मुगल साम्राज्य के पतन के समय में हैदराबाद के निजाम की थी। मुहम्मद अली एक सुयोग्य शासक था। आधी सदी के लगभग (१८०५-१८४९) वह ईजिप्ट का कर्णधार रहा। इस सुदीर्घ काल में उसने न केवल ईजिप्ट के शासन में अनेक महत्त्वपूर्ण सुधार किये, अपितु अपने राज्य के विस्तार पर भी ध्यान दिया। १८२० ई० में उसने सूडान पर आक्रमण किया, और इस देश के उत्तरी प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। १८३१ ई० में उसने अपने पुत्र इब्राहीम को सीरिया की विजय के लिए भेजा। सीरिया भी इस समय तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, और उस पर आक्रमण करना एक प्रकार से अपने अधिपति (तुर्क सम्राट्) के विरुद्ध विद्रोह करना था। तुर्क सुलतान के लिए यह सुगम नहीं था, कि वह मुहम्मद अली की सुसंगठित सेना को परास्त कर सकता। पर इस अवसर पर ब्रिटिश लोगों ने उसकी सहायता की। ब्रिटेन यह नहीं चाहता था, कि तुर्क साम्राज्य में किसी भी प्रकार से क्षीणता आये। तुर्की की शक्ति के क्षीण होने का यह परिणाम होता, कि रूस को बालकन प्रायद्वीप के प्रदेशों को अपने प्रभुत्त्व में ले आने का अवसर मिल जाता। ब्रिटेन के विरोध के कारण मुहम्मद अली सीरिया को नहीं जीत सका, और उसे ईजिप्ट तथा सूडान के शासन से ही सन्तुष्ट रहना पड़ा। मुहम्मद अली के कर्तृत्त्व के कारण उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में ईजिप्ट एक अच्छा शक्तिशाली और महत्त्वपूर्ण राज्य बन गया था, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसकी स्थिति तुर्की के साम्राज्य की तुलना में विशेष कम नहीं रही थी। मुहम्मद अली की मृत्यु के बाद ईजिप्ट का शासन उसके वंशजों के हाथों में ही रहा।

सूडान—ईजिप्ट के दक्षिण में सूडान की स्थिति है। अरब साम्राज्य के उत्कर्ष के दिनों में इस प्रदेश के राज्य भी अरबों द्वारा जीत लिये गये थे, और वहां भी अनेक अरब राज्यों की स्थापना हो गई थी। ईजिप्ट के साथ सूडान का व्यापार-सम्बन्ध विद्यमान था। ईजिप्ट के व्यापारी सूडान से हाथीदांत, गोंद, पंख, सोना आदि खरीदते, और बदले में विविध प्रकार का तैयार माल वहाँ के निवासियों को बेचा करते। सूडान गुलामों के व्यापार का भी महत्त्वपूर्ण केन्द्र था, जहां से नीग्रो लोगों को बड़ी संख्या में पकड़ कर तुर्क साम्राज्य और यूरोप के प्रदेशों में बेचा जाया करता था। १८२० ई० में ईजिप्ट के शासक मुहम्मद अली ने सूडान पर आक्रमण किया, और उसके उत्तरी प्रदेशों पर अपना शासन स्थापित कर लिया। इस विजय का उद्देश्य आर्थिक लाभ था। यह समझा जाता था, कि सूडान में सोने की प्रचुरता है, और अन्य बहुमूल्य खनिज पदार्थ भी वहां प्रचुर मात्रा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यमान हैं। ईजिप्ट की अधीनता में सूडान ने अच्छी उन्नति की। इस प्रदेश में सुव्यवस्थित शासन की स्थापना में इससे बहुत सहायता मिली।

उत्तरी अफ्रीका—ईजिप्ट और सूडान के अतिरिक्त उत्तरी अफ्रीका के कतिपय अन्य प्रदेश भी उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में विशाल तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। सोलहवीं सदी के शुरू तक ये प्रदेश अरबों के अधीन थे। हजरत मुहम्मद की मृत्यु के बाद खलीफाओं के नेतृत्व में अरबों ने अपने विशाल साम्राज्य का किस प्रकार निर्माण किया, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। तुर्कों के आक्रमणों के कारण जैसे अरबों के शासन का अन्यत्र अन्त हुआ, वैसे ही उत्तरी अफ्रीका में भी हुआ। ओटोमन तुर्कों द्वारा कोन्सटेन्टिनोपल की विजय से पूर्व ही १५१८ ई० में तुर्क सेनाओं ने ईजिप्ट को जीतने के अनन्तर पश्चिम की ओर बढ़ते हुए अल्जीरिया पर आक्रमण किया था, और उसे भी जीत लिया था। इन सेनाओं का प्रधान सेनापति खैरलदीन बारबरोसा था। तुर्क सुलतान ने उसे अल्जीरिया का सूबेदार नियत किया, और 'बे-उल-बे' की उपाधि से विभूषित किया। खैरलदीन ने उत्तरी अफ्रीका के अन्य प्रदेशों पर भी अनेक आक्रमण किये, और धीरे-धीरे ट्रिपोली और ट्यूनिस के प्रदेश भी तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये। इस प्रकार उत्तरी अफ्रीका में ईजिप्ट के अतिरिक्त तीन अन्य भी प्रदेश ऐसे थे, जो ओटोमन तुर्क साम्राज्य के अधीन थे। इनके शासक तुर्क साम्राज्य के सूबेदारों की स्थिति रखते थे, यद्यपि ये सूबेदार वंशक्रमानुगत होते थे, और क्रियात्मक दृष्टि से ये स्वतन्त्र राजाओं के समान अपने-अपने प्रदेशों का शासन किया करते थे। अठारहवीं सदी में जब तुर्क सुलतानों की शक्ति निर्बल होने लगी, तो उत्तरी अफ्रीका के ये राज्य अधिक-अधिक स्वतन्त्र होते गये। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यह स्थिति आ चुकी थी, कि ट्रिपोली, ट्यूनिस और अल्जीरिया के शासक ईजिप्ट के पाशा की तुलना में भी अधिक स्वतन्त्र थे। यद्यपि अब भी वे तुर्क सुलतानों को अपना अधिपति मानते थे, पर वस्तुतः उनके शासन पर सुलतान का कोई भी नियन्त्रण नहीं रह गया था। इन्हीं राज्यों को इस काल के इतिहास में 'बर्बरी' राज्य लिखा जाता है।

साइप्रस—भूमध्य सागर के पूर्वी क्षेत्र में एशिया माइनर के समुद्रतट के समीप के प्रायः सभी द्वीप उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इन द्वीपों में साइप्रस प्रमुख है। यह द्वीप तुर्की से केवल ४० मील की दूरी पर स्थित है। प्राचीन काल में वहां ग्रीक लोगों का निवास था, और वहां के निवासी सभ्यता, संस्कृति आदि की दृष्टि से भी ग्रीक ही थे। ईसाई धर्म के प्रादुर्भाव के अनन्तर वहां भी इसका प्रचार हुआ, और अन्य ग्रीक प्रदेशों के समान साइप्रस का चर्च भी पूर्वी ऑर्थोडोक्स चर्च के अधीन रहा। मध्यकाल में जब ओटोमन तुर्कों ने पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपनी शक्ति का विस्तार किया, तो साइप्रस भी उनके आक्रमणों से नहीं बच सका। १५९१ ई० में उसे भी तुर्क लोगों ने विजय कर लिया। इस समय से तुर्क लोग भी वहां बसने शुरू हुए, जिसके कारण वहां की ५,२१,००० आबादी में इस समय भी तुर्क लोगों की संख्या ८०,००० के लगभग है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भी यह द्वीप तुर्कों के अधीन था, और अन्य तुर्क प्रदेशों के समान वहां भी सुलतान द्वारा नियुक्त सूबेदार शासन किया करते थे।

सीरिया और लेबेनान—ये प्रदेश भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित हैं, और इनकी उत्तरी सीमा तुर्की के साथ लगती है। भौगोलिक दृष्टि से इन देशों के विविध क्षेत्रों में बहुत विभिन्नता है। समुद्रतट के साथ-साथ का प्रदेश बहुत उपजाऊ है, जिसमें जैतून, सन्तरे, केले, सब्जी आदि की खेती प्रचुर मात्रा में होती है। यह प्रदेश चौड़ाई में २० मील

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लगभग है। इसके पूर्व में अनेक पर्वतमालाएँ हैं, जो उत्तर से दक्षिण की ओर दूर तक चली गई हैं। इन पहाड़ियों के पूर्व का प्रदेश एक पथार के रूप में है, जो खेती के लिए बहुत उपयुक्त है। इसके दक्षिण-पूर्व में सीरिया के मरुस्थल की स्थिति है, जो दक्षिण की ओर अरब के रेगिस्तान से जा लगा है। इस भौगोलिक क्षेत्र में सीरिया और लेबनान नाम के दो राज्यों की स्थिति है, पर इनका पृथक् रूप से निर्माण बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद ही हुआ था। १९६१ की जनगणना के अनुसार सीरिया की जनसंख्या ५०,६७,००० है, और लेबेनान की १८,२२,०००। इन राज्यों के निवासियों की बहुसंख्या (सीरिया में ९०% और लेबेनान में ९५ प्रतिशत) अरब जाति की है, जो इस्लाम की अनुयायी है। शेष लोग ईसाई और यहूदी धर्मों को मानने वाले हैं। जातीय दृष्टि से इन ईसाइयों में अनेक विभिन्नताएं हैं।

हजरत मुहम्मद के अनुयायियों ने सातवीं सदी ईस्वी में जब अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया, तो सीरिया और लेबेनान को जीतने में उन्हें अधिक समय नहीं लगा। इससे पूर्व ये प्रदेश पूर्वी रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत थे। ६३६ ई० में अरबों ने डमास्कस (सीरिया की राजधानी) को जीत लिया, और एक सदी के लगभग (६६१-७५०) तक यह नगर खलीफाओं की राजधानी रहा। बाद में खलीफत की राजधानी बगदाद हो गई। अरब साम्राज्य के पतन के काल में ये प्रदेश कभी बगदाद के खलीफाओं के अधीन रहे, और कभी ईजिप्ट के खलीफाओं के। ओटोमन तुर्क लोगों ने अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना करते हुए १५१६ ई० में इन प्रदेशों की भी विजय कर ली। तब से १९१८ ई० तक ये प्रदेश तुर्की साम्राज्य के ही अन्तर्गत रहे। तुर्क सुलतानों ने इन प्रदेशों को अनेक सूबों में विभक्त किया हुआ था, जिनके सूबेदार उन्हीं के द्वारा नियुक्त किए जाते थे। क्योंकि ये प्रदेश तुर्की के बहुत समीप थे, अतः इनके सूबेदार उस ढंग से स्वतन्त्र आचरण नहीं कर सकते थे, जैसे कि ईजिप्ट, अल्जीरिया आदि सुदूरवर्ती प्रदेशों के शासक। तुर्कों के शासन के समय में इन प्रदेशों का शासन पर्याप्त रूप से सुव्यवस्थित था, और इनके अनेक नगर अच्छे समृद्ध थे। समुद्रतट के समीप एलेप्पो, सिडोन आदि अनेक नगर विद्यमान थे, जो विदेशी व्यापार के प्रख्यात केन्द्र थे।

यह स्थिति थी, जबकि अठारहवीं सदी के अन्त में नैपोलियन बोनापार्ट ने ईजिप्ट की विजय के अनन्तर लेबेनान और सीरिया पर भी आक्रमण किया, और उन्हें अपने अधिकार में कर लिया। पर नैपोलियन न इन प्रदेशों को देर तक अपने प्रभुत्व में रख सका, और न ईजिप्ट को। किस प्रकार मुहम्मद अली ने १८०५ ई० में ईजिप्ट में अपनी सत्ता स्थापित की, इसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। अपनी शक्ति को बढ़ाते हुए उसने इन प्रदेशों पर भी आक्रमण किया, और उन्हें जीत कर अपने अधीन कर लिया। इनका शासन करने के लिये उसने अपने पुत्र इब्राहीम पाशा को नियुक्त किया, जिसने १८३१ से १८४० तक इन प्रदेशों का शासन किया। इब्राहीम पाशा इन प्रदेशों के शासन के सम्बन्ध में मुहम्मद अली के अधीन था, और मुहम्मद अली नाम को तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकृत करता था। पर तुर्क सुलतान को यह पसन्द नहीं था, कि उसका एक सूबेदार इस प्रकार स्वतन्त्र व स्वच्छन्द रूप से शासन करे, और तुर्की के समीपवर्ती इन प्रदेशों को अपने प्रभुत्व में ले आये। उन्नीसवीं सदी की यूरोपियन राजनीति में ब्रिटिश लोगों को भी यह अभीष्ट था, कि तुर्क साम्राज्य की शक्ति क्षीण न होने पाए। परिणाम यह हुआ, कि १८४० ई० में ब्रिटेन और तुर्की की सम्मिलित शक्ति ने सीरिया के क्षेत्र से ईजिप्ट के शासन का अन्त कर दिया। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में सीरिया और लेबेनान ईजिप्ट के अधीन थे, और १८४० के बाद तुर्की के।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईराक—युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों की घाटी अत्यन्त प्राचीन काल में एक उन्नत व समृद्ध सभ्यता की केन्द्र थी। वर्तमान समय का ईराक इसी घाटी में स्थित है, यद्यपि इसमें कतिपय ऐसे प्रदेश भी सम्मिलित हैं, जो इस घाटी के उत्तर में हैं, और पर्वत-प्रधान हैं। इसका क्षेत्रफल १,७२,००० वर्गमील है, और इसकी जनसंख्या ७२ लाख के लगभग है। बसरा, बगदाद और मोसल जैसे समृद्ध नगर भी इसी देश में स्थित हैं। इसके बहुसंख्यक निवासी अरब हैं, और इस्लाम के अनुयायी हैं। सातवीं सदी ईस्वी में जब अरब लोगों ने अपने साम्राज्य का विस्तार प्रारम्भ किया, तो उन्होंने ईराक को भी जीत लिया। इससे पूर्व यह प्रदेश ईरान के राजाओं के अधीन था। ७६२ ई० में अरब के खलीफाओं ने बगदाद को अपनी राजधानी बनाया, जिसके कारण यह नगर अरब सभ्यता और संस्कृति का प्रधान केन्द्र बन गया। अब्बासी वंश के खलीफाओं की राजधानी बगदाद ही थी। बाद में जब इन खलीफाओं के विशाल साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी, और कोर्डोवा, कैरो आदि में अन्य खलीफतों की स्थापना हो गई, तो बगदाद के खलीफाओं का राजनीतिक महत्त्व बहुत कम रह गया। दसवीं सदी के तुर्क आक्रान्ता ईराक की विजय में समर्थ हुए, जिसके कारण बगदाद के खलीफाओं की राजनीतिक शक्ति सर्वथा नष्ट हो गई। यद्यपि इसके बाद भी उनका धार्मिक महत्त्व कायम रहा, पर इस प्रदेश की राजनीतिक शक्ति अब तुर्कों के हाथों में आ गई थी। १२५८ ई० में बगदाद पर मंगोलों ने आक्रमण किया और उसे नष्ट कर दिया। मंगोल साम्राज्य के क्षय के काल में जब ओटोमन तुर्कों ने एशिया माइनर में अपना प्रभुत्व स्थापित किया, तो उन्होंने ईराक को भी जीत लिया। सोलहवीं से अठारहवीं सदी तक पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में दो प्रधान राजनीतिक शक्तियों की सत्ता थी, ओटोमन तुर्क साम्राज्य और ईरानी साम्राज्य। ईराक का प्रदेश इन दोनों साम्राज्यों के बीच में पड़ता था, अतः यह स्वाभाविक था कि इस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये इन दोनों साम्राज्यों में संघर्ष हो। इस संघर्ष में अन्त में ओटोमन तुर्कों की विजय हुई, जिसके कारण १६३८ ई० के बाद यह प्रदेश प्रायः तुर्कों की ही अधीनता में रहा। तुर्क सुलतान इसका शासन करने के लिये एक सूबेदार की नियुक्ति किया करते थे, जो तुर्क साम्राज्य की अधीनता में इस प्रदेश का शासन किया करता था। क्योंकि यह प्रदेश भी तुर्की के बहुत समीप था, अतः इसके सूबेदार ईजिप्ट और अल्जीरिया आदि के सूबेदारों के समान स्वतन्त्र आचरण नहीं कर सकते थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ईराक की यही स्थिति थी। वह तुर्क साम्राज्य का एक अंग था, और उसका शासन तुर्क सुलतान द्वारा नियुक्त सूबेदार के हाथों में था।

जोर्डन—पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में वर्तमान समय में जोर्डन नाम के एक राज्य की सत्ता है, जिसकी उत्तरी सीमा सीरिया के साथ लगती है। इसके दक्षिण में सौदी अरेबिया की स्थिति है, और पूर्व में ईराक के राज्य की। जोर्डन का राज्य जोर्डन नदी के दोनों तटों पर स्थित है, और उसका कुल क्षेत्रफल ३७,५०० वर्गमील के लगभग है। क्योंकि यह प्रदेश प्रायः मरुस्थल के रूप में है, अतः इसकी जनसंख्या १८ लाख से भी कम है। यहां के बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, यद्यपि एक लाख के लगभग ईसाई लोगों का भी इसमें निवास है।

इस क्षेत्र के प्राचीन इतिहास का यहां उल्लेख करना उपयोगी नहीं होगा। सिकन्दर ने इसे भी जीत कर अपने अधीन किया था, और जब उसका साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, तो पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में सैल्युकस ने अपना जो स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया, जोर्डन उसके अन्तर्गत था। इस काल में इस प्रदेश में अनेक ग्रीक नगर स्थापित हुए, जिनमें फिलेडेल्फिया (वर्तमान नाम अम्मन) और गेरासा (वर्तमान नाम जेरश)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रधान थे। रोमन साम्राज्य के विकास के समय यह प्रदेश रोम के अधीन हो गया। त्राजन (९८-११७ ई०) जैसे शक्तिशाली रोमन सम्राट् ने जब अपने विशाल साम्राज्य का पुनः संगठन किया, तो अरब के क्षेत्र में उसने एक नया सूबा बनाया, जिसे अरेबिया-पेट्रिया कहते थे। जोर्डन भी इस सूबे के अन्तर्गत था। पांच सदी के लगभग तक यह प्रदेश रोमन साम्राज्य के अधीन रहा, जिस काल में इसने अच्छी उन्नति की। इस समय यहां ईसाई धर्म का भी प्रचार हुआ। छठी सदी ईस्वी में इस प्रदेश पर अरब कबीलों के आक्रमण शुरू हुए, जिनके कारण इसका पूर्वी भाग अरबों के हाथों में चला गया। सातवीं सदी में इस्लाम के प्रादुर्भाव के समय यह प्रदेश मुसलमानों द्वारा जीत लिया गया, और विशाल अरब साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। मध्यकाल में जोर्डन का प्रदेश अरब साम्राज्य के ही अन्तर्गत रहा, और उसके खलीफा इस पर भी शासन करते रहे। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में जब ओटोमन तुर्कों का उत्कर्ष हुआ, तो यह प्रदेश भी उनके अधीन हो गया। पर तुर्क सुलतानों ने जोर्डन को एक पृथक् सूबे के रूप में संगठित नहीं किया। इसके कुछ प्रदेश डमास्कस (सीरिया) के सूबे के अन्तर्गत थे, कुछ बैरूत (लेबनान) के सूबे के, और कुछ जेरुसलम के। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में भी जोर्डन की यही स्थिति थी। वह तुर्क साम्राज्य का एक अंग था, और शासन की दृष्टि से उसके विभिन्न प्रदेश तुर्क साम्राज्य के विभिन्न सूबों के अन्तर्गत थे।

इजराईल—वर्तमान समय में पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में एक अन्य स्वतन्त्र राज्य की सत्ता है, जिसे इजराईल कहते हैं। यह एक छोटा-सा राज्य है, जिसका क्षेत्रफल केवल ७,९९३ वर्गमील है। इसका निर्माण पाश्चात्य देशों के प्रयत्न से बीसवीं सदी में इस प्रयोजन से किया गया था, कि विश्व के विविध देशों में बिखरे हुए यहूदी लोगों को अपना एक राष्ट्र बनाने का अवसर मिल सके। अत्यन्त प्राचीन काल में यही प्रदेश यहूदी जाति की मातृभूमि व धर्मभूमि था। इसकी स्थिति जोर्डन के पश्चिम में है। मध्यकाल में इजराईल का प्रदेश अरब साम्राज्य में सम्मिलित था, और ओटोमन तुर्कों के उत्कर्ष के अनन्तर विशाल तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ काल में इस पर तुर्कों का ही आधिपत्य था।

अरब—अरब प्रायद्वीप क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत के प्रायः बराबर है। इसका क्षेत्रफल ग्यारह लाख वर्गमील के लगभग हैं। पर क्योंकि इसकी अधिकांश भूमि मरुस्थल के रूप में है, अतः इसकी आबादी भारत की तुलना में बहुत कम है। अब तक अरब की बाकायदा जनगणना नहीं की जा सकी है, पर यह अनुमान किया जाता है, कि इस देश की जनसंख्या एक करोड़ के लगभग है। इस प्रायद्वीप के उत्तर-पश्चिम में जोर्डन, उत्तर में ईराक, पश्चिम में लाल सागर, दक्षिण में अरब सागर और पूर्व में ईरान की खाड़ी की स्थिति है। यद्यपि धार्मिक, भौगोलिक और जातीय दृष्टि से इस प्रायद्वीप में एकता विद्यमान है, पर राजनीतिक दृष्टि से यह प्रदेश अभी एक नहीं हुआ है। वर्तमान समय में राजनीतिक दृष्टि से इस प्रदेश के निम्नलिखित विभाग हैं—सौदी अरेबिया, येमन, अदन और अदन का संरक्षित राज्य, मस्कत और ओमन, कतार, बहराइन, कुवैत और ईरान की खाड़ी पर स्थित कतिपय अन्य शेखडम (शेखोंद्वारा शासित राज्य)। इनमें से येमन और अदन के राज्य अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पश्चिमी कोने पर स्थित हैं, और मस्कत, ओमन, कतार आदि ईरान की खाड़ी के साथ-साथ। अरब प्रायद्वीप का बड़ा भाग सौदी अरेबिया के राज्य में है, जिसका इस्लाम की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व है, क्योंकि मक्का और मदीना जैसे पवित्र मुस्लिम तीर्थस्थान इसी राज्य में स्थित हैं। सम्पूर्ण मुस्लिम जगत् से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तीर्थयात्री इन स्थानों पर आते हैं। इस्लाम का प्रादुर्भाव इसी क्षेत्र में हुआ था, और इसी को केन्द्र बना कर अरब लोगों ने अपने विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी।

हजरत मुहम्मद से पहले अरब प्रायद्वीप के निवासी अनेक कबीलों में विभक्त थे, जो आपस में लड़ते रहते थे। मुहम्मद ने जहां एक नवीन धर्म का प्रारम्भ किया, वहां अरब के विविध कबीलों को एक सूत्र में संगठित भी किया, जिसके कारण इस देश में राजनीतिक एकता की स्थापना हुई। खलीफाओं का शासन सम्पूर्ण अरब पर विद्यमान था, यद्यपि मुहम्मद की मृत्यु के आधी सदी बाद के लगभग उनकी राजधानी सीरिया के क्षेत्र में डमास्कस नगरी हो गई थी। खलीफत के केन्द्र के बगदाद में चले जाने पर भी अरब मुस्लिम खलीफाओं के शासन में रहा। पर जब तुर्क और मंगोल आक्रमणों के कारण बगदाद के खलीफाओं की शक्ति क्षीण हो गई, तो अरब प्रायद्वीप पर उनका प्रभुत्व बहुत शिथिल हो गया। ओटोमन तुर्क जिस प्रकार ईराक, सीरिया और ईजिप्ट आदि पश्चिमी एशिया के अन्य प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित करने में समर्थ हुए, वैसे ही अरब प्रायद्वीप को भी उन्होंने अपने अधिकार में कर लिया। पन्द्रहवीं और सोलहवीं सदियों में यह प्रायद्वीप ओटोमन तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। पर जब इस साम्राज्य की शक्ति भी शिथिल होनी शुरू हुई, तो अरब के क्षेत्र में कासिम नाम के एक वीर पुरुष ने तुर्क सूबेदार को बहिष्कृत कर वहां अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त कर ली (१६३३ ई०)। कासिम और उसके उत्तराधिकारी इतिहास में 'इमाम' के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे जहाँ अरब प्रायद्वीप के शासक थे, वहां अरबों के धर्माचार्य भी थे। इन्हीं के शासन में अठारहवीं सदी में एक नये सम्प्रदाय का प्रारम्भ हुआ, जिसे वहाबी कहते हैं। इसका प्रवर्तक मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब था, जिसने दूर-दूर तक यात्राएं की थीं। अपनी यात्राओं में उसने यह अनुभव किया, कि इस्लाम का वर्तमान स्वरूप पैगम्बर मुहम्मद की शिक्षाओं से बहुत दूर हटगया है, और यह आवश्यक है कि उसमें सुधार करके इस्लाम के विशुद्ध रूप की पुनःस्थापना की जाए। उसकी कन्या का विवाह मुहम्मद इब्न सऊद नाम के एक राजा के साथ हुआ था, जो कि मध्य अरब के एक छोटे-से राज्य का शासक था। इब्न सऊद के राजवंश का सम्बन्ध अरब के इमाम (कासिम के वंशज) के साथ भी था, जिसकी वह अधीनता स्वीकार करता था। इब्न सऊद के साथ विवाह-सम्बन्ध (१७६५ ई०) के कारण मुहम्मद इब्न अब्दुल वहाब को एक राजनीतिक शक्ति का सहयोग भी प्राप्त हो गया था, जिसका उपयोग कर उसने अपने धर्म का प्रचार करने में विशेष तत्परता प्रदर्शित की। वहाबी लोगों में वही जोश और उत्साह था, जो सातवीं सदी के अरबों में था। राजशक्ति का प्रयोग कर वहाबी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने अरब में अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। इब्न सऊद का सम्बन्ध कासिम द्वारा स्थापित राज-वंश के साथ भी था। वस्तुतः, उसका वंश कासिम के वंश की ही एक शाखा था। धीरे-धीरे वहाबी सम्प्रदाय की शक्ति बहुत बढ़ गई, और इब्न सऊद का राज्य अरब प्रायद्वीप में सर्वप्रधान हो गया। १८०१ ई० में वहाबियों ने ईराक पर आक्रमण कर कर्बला की विजय कर ली, और १८०३ में मक्का पर भी उनका अधिकार स्थापित हो गया। १८०६ में उन्होंने मदीना को भी जीत लिया। इन विजयों के कारण वहाबी सम्प्रदाय और इब्न सऊद के उत्तराधिकारियों के राज्य की शक्ति बहुत बढ़ गई।

पर वहाबियों का यह उत्कर्ष न ओटोमन तुर्क सुलतान सह सकता था, और न ईजिप्ट का शासक मुहम्मद अली। १८०५ ई० में मुहम्मद अली ने ईजिप्ट में अपनी सत्ता की स्थापना कर ली थी, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। तुर्क सुलतान की सहमति से मुहम्मद अली ने १८११ ई० में एक सेना अरब पर आक्रमण करने के लिये भेजी, जिसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुकाबिला कर सकना वहाबी राज्य के लिये सुगम नहीं था। आठ साल तक निरन्तर युद्ध के अनन्तर वहाबी लोग ईजिप्ट की सेना द्वारा परास्त हो गए, और उनके राज्य की राजधानी रियाध पर ईजिप्सियन सेना का कब्जा हो गया। इस दशा में वहाँ के राजा के सम्मुख केवल यही मार्ग शेष रह गया, कि वह तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकार कर ले। इस प्रकार उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में अरब प्रायद्वीप भी तुर्क साम्राज्य में सम्मिलित था, और वहां के शासक तुर्क सुलतान के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। पर तुर्क सुलतान का यह आधिपत्य बहुत सुदृढ़ नहीं था, क्योंकि अरब की विजय का प्रधान श्रेय मुहम्मद अली को ही था, जो ईजिप्ट में एक स्वतन्त्र राजा के समान शासन कर रहा था। तुर्क सुलतान की तुलना में ईजिप्ट के पाशाओं का अरब प्रायद्वीप पर इस समय कहीं अधिक प्रभुत्त्व था।

ईरान—पश्चिमी एशिया के क्षेत्र के जिन प्रदेशों का अब तक हमने उल्लेख किया है, वे सब प्रायः ओटोमन तुर्क साम्राज्य के प्रभुत्त्व या प्रभाव में थे। पर इस क्षेत्र का एक अन्य महत्त्वपूर्ण राज्य ईरान है, जो तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था। ईरान एक विशाल देश है, जिसके उत्तर में रूस, दक्षिण में ईरान की खाड़ी, पश्चिम में ईराक और तुर्की, और पूर्व में अफगानिस्तान व पाकिस्तान की सत्ता स्थिति है। ईरान के बहुसंख्यक निवासी जाति से ईरानियन या पर्शियन हैं, और विशाल आर्य जाति की अन्यतम शाखा कहे जा सकते हैं। उनकी भाषा ईरानी या फारसी है, जो आर्य परिवार की भाषाओं में से एक है। विदेशी आक्रमणों के कारण अरब, तुर्क और मँगोल लोगों का भी वहां निवास है, यद्यपि अब वे वहां की ईरानियन जनता के ही अंग बन गये हैं। धर्म की दृष्टि से ईरान की प्रायः सम्पूर्ण जनता इस्लाम के शिया सम्प्रदाय की अनुयायी है।

पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालते हुए हम ईरान के पुरातन इतिहास की मुख्य बातों का उल्लेख कर चुके हैं। चौदहवीं सदी के अन्तिम भाग में ईरान तैमूर लंग के विशाल साम्राज्य के अन्तर्गत था। पश्चिम में ईराक से शुरू कर यह साम्राज्य उत्तर-पूर्व में आक्सस और जैक्सर्टस नदियों तक विस्तृत था। समरकन्द इसकी राजधानी थी। तैमूर लंग के उत्तराधिकारी शाह रूख (१४०५-१४४७) की मृत्यु के बाद यह साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया, और ईराक तथा ईरान के प्रदेश उसकी अधीनता में नहीं रह गये। कुछ समय तक ईरान में अव्यवस्था मची रही, जिसका अन्त इस्माईल नाम के वीर ईरानी नेता द्वारा किया गया। १५०८ ई० तक इस्माईल ने अपनी शक्ति को भली-भांति स्थापित कर लिया था, और सम्पूर्ण ईरान उसकी अधीनता में आ गया था। इस्माईल द्वारा स्थापित साम्राज्य में हीरात (अफगानिस्तान) और ईराक के भी कुछ प्रदेश सम्मिलित थे। इस वीर पुरुष द्वारा ईरान में जिस राजवंश की स्थापना की गई, वह सफावी कहलाता है। इस समय ईरान के पश्चिम में शक्तिशाली ओटोमन तुर्क साम्राज्य की सत्ता थी, जिसका शासन एशिया माइनर, सीरिया, ईजिप्ट आदि अनेक प्रदेशों पर विद्यमान था। क्योंकि इन दोनों साम्राज्यों की सीमाएं एक दूसरे से मिलती थीं, अतः यह स्वाभाविक था कि इनमें संघर्ष का प्रारम्भ हो। यह संघर्ष मुख्यतया ईराक के सम्बन्ध में था, जिसे ये दोनों ही अपनी अधीनता में लाने के लिये प्रयत्नशील थे। ईरानी साम्राज्य के निवासी शिया सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और तुर्क साम्राज्य के लोग सुन्नी सम्प्रदाय के। यह भी इनके संघर्ष में एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफावी वंश के ईरानी राजाओं में शाह अब्बास (१५८७-१६२९) सबसे प्रसिद्ध है। उसके समय में ईरान का साम्राज्य उन्नति और वैभव की चरम सीमा को पहुंच गया था। शाह अब्बास एक योग्य शासक था, और अपने राज्य में सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में उसने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। वह भारत के मुगल बादशाह अकबर और जहांगीर का समकालीन था, और उन्हीं के समान योग्य भी था। यूरोपियन लोगों ने इस समय तक प्राच्य देशों में आना-जाना प्रारम्भ कर दिया था, और वे इन देशों के साथ व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। अनेक यूरोपियन राजदूत शाह अब्बास के दरबार में भी आये, और उन्होंने ईरान के क्षेत्र में व्यापार करने के सम्बन्ध में अनेकविध सुविधाएं प्राप्त कीं। १७२१ ई० तक ईरान में सफावी राजाओं का शासन कायम रहा, और इस काल में वे जहां पश्चिम में ओटोमन तुर्क साम्राज्य के साथ संघर्ष में तत्पर रहे, वहां पूर्व में अफगानिस्तान के क्षेत्र में भारत के मुगल बादशाहों के साथ भी उनके अनेक युद्ध हुए। १६३८ ई० में शाहजहां ने कन्दहार के ईरानी सूबेदार के साथ षड्यन्त्र कर उस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया था, यद्यपि कुछ समय बाद (१६४८ ई०) ईरान के राजा शाह अब्बास द्वितीय ने उसे फिर वापस ले लिया। मुगलों और ईरानियों का यह संघर्ष औरंगजेब के समय में भी जारी रहा।

ईरान के सफावी शासकों को अपने राज्य-क्षेत्र में उस समय एक विकट समस्या का सामना करना पड़ा, जबकि अफगानों ने उनके विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा किया। (१७२१)। हीरात और कन्दहार के प्रदेश ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत थे, पर वहां के अफगान निवासियों को ईरानियों का शासन पसन्द नहीं था। अफगानों के इस विद्रोह के कारण ईरान का साम्राज्य क्षत-विक्षत हो गया, और सफावी वंश के शासन की वहां से प्रायः इतिश्री हो गई। पर ईरान पर अफगानों का शासन भी देर तक कायम नहीं रह सका। अन्तिम सफावी शाह के पुत्र तहमास्प ने अफगानों की शक्ति का अन्त करने में अच्छी सफलता प्राप्त की। इस कार्य में उसका प्रधान सहायक नादिर कुली नाम का एक तुर्क सैनिक था। नादिर कुली ने ईरान को अफगानों से स्वतन्त्र किया, और तहमास्प को वहां के राजसिंहासन पर अभिषिक्त किया (१७२९ ई०)। पर तहमास्प निर्बल और अयोग्य था। इसलिये सेना ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और उसे राजगद्दी से उतार कर उसके पुत्र को ईरान का शाह नियुक्त किया। इस समय नादिर कुली ही ईरान का कर्ता-धर्ता बना हुआ था, और सेना उसी के इशारे पर नाचती थी। कुछ समय बाद नादिर कुली नादिरशाह के नाम से स्वयं ईरान का राजा बन गया (१७३५)। नादिरशाह एक प्रतापी एवं योग्य शासक था। उसने अपने साम्राज्य के विस्तार के लिये अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया। गजनी और काबुल को जीतकर (१७३८) उसने पेशावर पर आक्रमण किया, और उसकी भी विजय करके पंजाब होते हुए दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। यद्यपि उसने भारत में अपना स्थायी शासन स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया, पर सिन्ध नदी के पश्चिम के सब प्रदेश इस समय ईरानी साम्राज्य की अधीनता में आ गये थे। नादिरशाह केवल पूर्व की विजयों से ही सन्तुष्ट नहीं हुआ, उत्तर-पश्चिम की ओर आगे बढ़ कर उसने कोकेशस तक के सब प्रदेशों को भी अपने अधीन कर लिया। पर नादिरशाह द्वारा स्थापित यह साम्राज्य देर तक कायम नहीं रह सका। उसकी मृत्यु (१७४९) के अनन्तर साम्राज्य के विविध प्रदेशों में झगड़े शुरू हो गये, और अहमद अब्दाली नाम के एक पठान ने, जो नादिरशाह की सेना में एक सेनापति था, कन्दहार के प्रदेशों में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। खास ईरान में नादिरशाह के वंशज कुछ समय तक शासन करते रहे। पर वे अयोग्य और निर्बल थे, जिसके कारण वहां अव्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्था व अराजकता जारी रही। इस दशा का अन्त अका मुहम्मद (१७७९-१७९७) नामक व्यक्ति द्वारा किया गया। अका मुहम्मद द्वारा ईरान में एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जिसने १९२५ तक शासन किया। इतिहास में यह राजवंश 'कजर' के नाम से विख्यात है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ईरान में इसी वंश का शासन था। यूरोपियन देशों का साम्राज्यवाद इस समय भारत आदि अनेक प्राच्य देशों को अपनी अधीनता में ला चुका था। ईरान पर भी यूरोपियन देशों की क्रूर दृष्टि थी।

(३) तुर्क साम्राज्य की दशा

उन्नीसवीं सदी में पाश्चात्य देशों ने पश्चिमी एशिया पर किस प्रकार अपना प्रभाव एवं प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न किया, इसका अध्ययन करने से पूर्व यह जान लेना उपयोगी होगा, कि इस काल में इस क्षेत्र के विविध देशों की राजनीतिक व आर्थिक दशा क्या थी। क्योंकि पश्चिमी एशिया के बड़े भाग पर तुर्कों का शासन था, अतः तुर्क साम्राज्य की आन्तरिक दशा पर अधिक विशद रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

शासन व्यवस्था—ओटोमन तुर्क साम्राज्य का अधिपति सुलतान होता था, जिसमें ही सब शासन-शक्ति केन्द्रित रहती थी। साथ ही, वह मुस्लिम जगत का खलीफा भी था। सुलतान के रूप में वह साम्राज्य का प्रधान शासक था, और खलीफा की स्थिति में प्रधान धर्मगुरु। वह पूर्णतया निरंकुश व स्वेच्छाचारी होता था, क्योंकि उसकी शक्ति को नियन्त्रित करने के लिये किस पार्लियामेंट व अन्य संस्था की सत्ता नहीं थी। यूरोप के अनेक राज्यों के शासक भी इसी समय पूर्णतया स्वेच्छाचारी व निरंकुश थे। फ्रांसकी राज्य क्रान्ति ने लोकतन्त्रवाद की जिस नई प्रवृत्ति का प्रारम्भ किया था, वह अभी यूरोप में भी सफल नहीं हुई थी। वीएना की कांग्रेस (१८१४-१५) के अनन्तर फ्रांस तक में बूर्बों राजवंश का पुराने ढंग का स्वेच्छाचारी शासन स्थापित हो गया था। इस दशा में तुर्क साम्राज्य में लोकतन्त्र शासन की आशा ही कैसे की जा सकती थी। एकतन्त्र शासन भी शक्ति-सम्पन्न एवं समर्थ हो सकते हैं। पर तुर्क सुलतानों में इस समय क्षमता भी नहीं रह गई थी। वे प्रायः भोग विलास में मस्त रहते थे, और अपना अधिकांश समय हरम में बिताया करते थे। उनके अन्तःपुर में प्रायः षड्यन्त्र होते रहते थे, जिनके कारण कोई भी सुलतान निश्चिन्तता के साथ अपने साम्राज्य का शासन नहीं कर सकता था। सतरहवीं और अठारहवीं सदियों में इन्हीं षड्यन्त्रों के कारण सात सुलतान या तो पदच्युत किए गये, और या कत्ल कर दिये गए। विविध राजकीय पदों पर नियुक्ति के समय कर्मचारियों की योग्यता व कार्यकुशलता को दृष्टि में नहीं रखा जाता था। अनेक राजकीय पद तो वंशक्रमानुगत हो गये थे, और अनेक पदों को नीलाम किया जाने लगा था। जो कोई अधिक ऊंची बोली बोले, अधिक धन देने के लिये तैयार हो, उसी को राजकीय पद पर नियुक्त कर दिया जाता था। सुलतान और उसकी बेगमें भी राजकीय नियुक्तियों के समय धन लेने में संकोच नहीं करती थीं। अच्छी बड़ी धनराशि देकर जो व्यक्ति किसी राजकीय पद को प्राप्त करता था, वह स्वाभाविक रूप से अपने पद का उपयोग अपनी व्यक्तिगत समृद्धि के लिये ही करता था। वह अपने अधीन कर्मचारियों से मनमाने ढंग से धन प्राप्त करता था, और जनता पर भी नये आर्थिक बोझ डालता था। न्यायालयों तक में रिश्वत लेने में संकोच नहीं किया जाता था। बहुधा काजी लोग भी उसी व्यक्ति के पक्ष में फैसला देते, जो उन्हें रिश्वत देने को तैयार होता।

शासन के लिये विशाल तुर्क साम्राज्य बहुत-से सूबों में विभक्त था। केन्द्रीय शासन में शिथिलता आ जाने के कारण ये सूबेदार सदा स्वतन्त्र आचरण के लिए उद्यत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहते थे। ये जहां एक-दूसरे के विरुद्ध षड्यन्त्र करने में तत्पर रहते, वहां केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा करने में भी इन्हें संकोच न होता। इस प्रकार के सूबेदारों का एक उत्तम उदाहरण मुहम्मद अली है, जिसने १८०५ ई० में ईजिप्ट में अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी। ईजिप्ट तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, और मुहम्मद अली की स्थिति साम्राज्य के एक सूबेदार की ही थी। पर क्रियात्मक दृष्टि से वह ईजिप्ट का स्वतन्त्र शासक था, और सुलतान के आदेशों की उसे कोई विशेष परवाह नहीं थी। वल्गारिया, ग्रीस, बग-दाद, एकर आदि प्रायः सर्वत्र इसी प्रकार के सूबेदारों का शासन था, जो सुलतान की शक्ति व शासन की उपेक्षा करने के लिए सदा उद्यत रहते थे। तुर्क साम्राज्य के ये सूबेदार 'पाशा' कहलाते थे।

साम्राज्य के विविध सूबे अनेक उपविभागों में विभक्त थे, जिनके शासक भी स्वतन्त्र रूप से आचरण करने के लिए उद्यत रहा करते थे। मध्यकालीन यूरोप के समान तुर्की साम्राज्य में सामन्त पद्धति या जागीरदारी प्रथा अब तक भी विद्यमान थी। शक्ति-शाली जागीरदार अपनी पृथक् सेनाएं रखते थे, और सुलतान तथा उसके किसी पाशा के विरुद्ध षड्यन्त्र में सम्मिलित होकर उसके खिलाफ इनका प्रयोग करने में संकोच नहीं करते थे।

क्योंकि तुर्क सुलतान इस्लाम के अनुयायी थे, अतः साम्राज्य के कानून मुस्लिम शरायत पर आधारित थे। सिद्धान्ततः, सुलतान को भी शरायत के अधीन माना जाता था। शरायत के अभिप्राय को स्पष्ट करने का कार्य मुफ्ती लोग करते थे, और उसके अनुसार निर्णय करने का कार्य काजियों के सुपुर्द था। पर तुर्क साम्राज्य में बहुत-सी ऐसी जातियों का भी निवास था, जो मुसलमान नहीं थीं। ईसाई धर्म के अनेक सम्प्रदाय भी वहां विद्यमान थे। तुर्क शासकों ने इनके लिये मुस्लिम कानून को लागू करने का प्रयत्न नहीं किया। प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय का एक पृथक् संगठन विद्यमान था, जिसे मिल्लत कहते थे। इनमें सबसे मुख्य ग्रीक आर्थोडोक्स चर्च था, जिसका प्रधान मठाधीश या महन्त पेट्रिआर्क कहाता था। इसकी नियुक्ति सुलतान द्वारा की जाती थी, और वह कोन्स्टेन्टिनोपल में रहा करता था। तुर्क साम्राज्य में पूर्वी यूरोप के अन्तर्गत जो प्रदेश थे, उनके ईसाई निवासी प्रायः इसी चर्च के अनुयायी थे। वे ग्रीक, बल्गारियन और सर्ब आदि जातियों के हैं, इस बात का भेदभाव किये बिना वे सब इस ग्रीक आर्थोडौक्स चर्च के अधीन थे। उन पर वे कानून ही लागू होते थे, जिनको यह चर्च स्वीकार करता था। विवाह, तलाक, विरासत आदि सब निजी मामलों में इन पर इनके अपने चर्च के कानून लागू होते थे, और ईसाई धर्माधिकारी ही इन कानूनों के अनुसार इनके मामलों का निर्णय किया करते थे। यहूदी, कैथोलिक ईसाई आदि अन्य सम्प्रदायों के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था थी। इसके कारण गैर-मुस्लिम प्रजा को भी अपने व्यक्तिगत मामलों में एक प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त थी, जिसकी वजह से उनकी अपनी संस्कृतियां सुरक्षित थीं। पर क्योंकि इन मिल्लतों के प्रधान धर्माचार्यों की नियुक्ति सुल-तान द्वारा की जाती थी, अतः ये उसके अधीन रहते हुए ही अपने कार्यों का सम्पादन करते थे, और इनके अनुयायी कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते थे, जिससे तुर्क साम्राज्य और उसके सुलतान को हानि पहुंचने की सम्भावना हो।

आर्थिक दशा—पश्चिमी यूरोप में इस समय तक औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ हो चुका था। नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण वहां यान्त्रिक शक्ति का भी उपयोग होने लगा था, और ऐसे कल-कारखाने खुलने लग गये थे, जिनमें अच्छी बड़ी मात्रा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैयार माल का उत्पादन किया जाता था। पर तुर्क साम्राज्य अभी इस औद्योगिक क्रांति तथा वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रभाव से सर्वथा वञ्चित था। वहां के निवासियों का प्रधान व्यवसाय खेती था, और यह खेती भी अभी बहुत पिछड़ी हुई दशा में थी। सब जमीन जागीरदारों व जमींदारों की सम्पत्ति थी, जो अपनी रैयत से मनमाना लगान वसूल कर सकते थे। जमींदार लोग किसानों का स्वेच्छाचारितापूर्वक शोषण किया करते थे। पश्चिमी एशिया के सुविस्तृत प्रदेशों की विजय कर तुर्क जाति के सरदारों ने वहां की भूमि पर अपना स्वत्त्व स्थापित कर लिया था। जमींदार प्रायः तुर्क जाति के थे, और किसान उन अन्य विविध जातियों के, जिन्हें तुर्क आक्रान्ताओं ने विजय किया था। इस समय तुर्की में यह कहावत प्रचलित थी, कि "जिस जमीन पर किसी तुर्क का पैर पड़ जाता है, वहां घास तक नहीं उग पाती।" खेती के नये वैज्ञानिक तरीकों का अभी तुर्क साम्राज्य में प्रवेश नहीं हुआ था। जमींदारों के शोषण और खेती के पुराने तरीकों के कारण किसान लोग बहुत असहाय व गरीब थे। उनकी बहुसंख्या अर्ध-दासों के समान अपना जीवन व्यतीत किया करती थी।

तुर्क लोग स्वयं व्यापार की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। पर उनकी प्रजा में ऐसी जातियों की कमी नहीं थी, जिनमें व्यापार की परम्परा विद्यमान थी। अरब लोग अच्छे व्यापारी थे, और ग्रीक, आर्मीनियन आदि जातियों में भी चिरकाल से व्यापार का पेशा चला आता था। पर ये तुर्क-भिन्न व्यापारी निश्चिन्तता के साथ व्यापार द्वारा धन कमाने में व्यापृत नहीं रह सकते थे। इसका कारण यह था, कि शासक वर्ग और जागीरदारों द्वारा शोषित होने का उन्हें सदा भय बना रहता था। ऊंची बोली बोल कर जो व्यक्ति राजकीय पदों को प्राप्त करते थे, वे अपनी रैयत से ही इस धन को वसूल किया करते थे।

विदेशी व्यापारियों का भी इस समय तक तुर्क साम्राज्य में प्रवेश हो चुका था। पाश्चात्य लोगों ने किस प्रकार एशियन प्रदेशों के व्यापार को हस्तगत करने का प्रयत्न किया था, इस पर हम पहले प्रकाश डाल चुके हैं। तुर्क साम्राज्य में इन पाश्चात्य व्यापारियों को विशिष्ट स्थिति एवं विशेष अधिकार प्राप्त थे। इस प्रकार के अधिकार सबसे पूर्व फ्रेञ्च लोगों ने तुर्क साम्राज्य में प्राप्त किये थे (१५३५ ई०)। इनके अनुसार फ्रेञ्च व्यापारी सम्पूर्ण तुर्क साम्राज्य में स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार कर सकते थे, और व्यापार के प्रयोजन से विविध स्थानों पर अपनी कोठियां कायम करके जो फ्रेञ्च व्यापारी वहां निवास करते थे, उन पर तुर्की के कानून लागू नहीं होते थे। इन व्यापारियों की बस्तियां क्रियात्मक दृष्टि से तुर्क शासन से स्वतन्त्र थीं, और उनके मामलों का निर्णय उनके अपने कानूनों के अनुसार उन्हीं के न्यायालयों द्वारा किया जाता था। इस पद्धति का आधार वे कैपिटयुलेशन (Capitulation) थे, जिन्हें तुर्क शासकों ने इन विदेशियों के सम्बन्ध में स्वीकार किया था। १५३५ से १८१५ ई० तक अनेक बार तुर्क सुलतानों ने ये विशेषाधिकार फ्रेञ्च तथा अन्य विदेशी व्यापारियों को प्रदान किये। इनके कारण तुर्क साम्राज्य का विदेशी व्यापार फ्रेञ्च, इंगलिश और अन्य पाश्चात्य व्यापारियों के हाथों में आ गया था।

सुधार के प्रयत्न—उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में तुर्की की जो दुर्दशा थी, उसमें यह सम्भव नहीं था कि वहाँ के सुलतान अपने विशाल साम्राज्य का सुचारु रूप से शासन कर सकें। तुर्की में ऐसे लोगों का सर्वथा अभाव नहीं था, जो अपने देश की इस दुर्दशा को अनुभव करते हों। १८३० ई० में एक तुर्क ने रूस की यात्रा से लौटने के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्पष्ट रूप से यह घोषित किया था, कि "मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि यदि हम यूरोप का अनुसरण नहीं करेंगे, तो हम अपने यूरोपियन प्रदेशों को कभी अपनी अधीनता में नहीं रख सकेंगे।" सुलतान सलीम तृतीय (१७८९-१८०७) भी इस तथ्य को अनुभव करता था। अतः उसने निश्चय किया, कि अपने साम्राज्य के शासन में सुधार किये जाएं। उसके सुधारों के उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) सामन्त-पद्धति का अन्त, (२) पाशाओं (प्रान्तीय सूबेदारों) के अधिकारों एवं स्वच्छन्दता को नियन्त्रित करना, (३) वजीर और अन्य मन्त्रियों की शक्ति पर नियन्त्रण रखना, (४) टैक्स वसूल करने के कार्य को नीलाम करना बन्द करना, (५) सब पाश्चात्य देशों में तुर्की की ओर से दूत-मण्डलों की स्थापना करना, और (६) नये ढंग से सेना का पुनःसंगठन करना। पर सलीम तृतीय को अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। सामन्त, जागीरदार, सूबेदार और राजकर्मचारी सब उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए, क्योंकि इन सुधारों से उनकी स्थिति तथा अधिकारों में अन्तर आता था। सलीम तृतीय को पदच्युत कर दिया गया, और एक षड्यन्त्र के कारण उसे अपनी जान से भी हाथ धोना पड़ा।

सलीम तृतीय के बाद उसके उत्तराधिकारी महमूद द्वितीय (१८०८-१८३९) ने भी शासन-सुधारों के लिये प्रयत्न किये। कुछ वर्षों में अपनी स्थिति को सुरक्षित कर लेने के अनन्तर १८२६ ई० में उसने सलीम द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न किया, और नये सुधारों को प्रारम्भ किया। नये ढंग से सेना का संगठन करने के लिये उसने पाश्चात्य सेनापतियों की नियुक्ति की। उसने यह भी व्यवस्था की, कि मन्त्रिमण्डल के अधिवेशन नियमित रूप से हुआ करें, और उनमें वह स्वयं भी उपस्थित हो। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि तुर्क साम्राज्य के वजीर, दीवान और अन्य मन्त्री या तो सुलतान द्वारा नियुक्त किये जाते थे, और या वंशक्रमानुगत रूप से अपने पदों को प्राप्त करते थे। पर इन मन्त्रियों की सभा के कोई नियमित अधिवेशन नहीं होते थे। सुलतान महमूद द्वितीय ने केवल यह यत्न किया था, कि इनके अधिवेशन नियमित रूप से हुआ करें, और वह स्वयं भी उनके विचार-विमर्श में भाग ले सके। उसने अपने अन्तःपुर और दरबार का भी नये ढंग से संगठन किया, और उसके अदब-कायदों में अनेक सुधार किये। पर महमूद द्वितीय को भी अपने प्रयत्न में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इसका एक मुख्य कारण यह था, कि ईजिप्ट के सूबेदार मुहम्मद अली ने इस समय अपने सुलतान के विरुद्ध विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया था, और सुलतान की सब शक्ति उसका मुकाबिला करने में ही लग गई थी। इस अवसर पर यदि ब्रिटिश लोग सुलतान की सहायता न करते, तो शायद वह मुहम्मद अली के मुकाबिले में अपनी सत्ता को भी कायम न रख सकता। साथ ही, तुर्की के प्रायः सभी सामन्त, सूबेदार और अन्य प्रमुख व्यक्ति महमूद द्वितीय की सुधार-नीति के विरुद्ध थे। परिणाम यह हुआ, कि सुलतान को सुधारों के सम्बन्ध में कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई, और तुर्की का शासन पहले के समान ही विकृत और सामर्थ्यहीन बना रहा।

(४) तुर्क साम्राज्य में राष्ट्रीयता की समस्या

उन्नीसवीं सदी में तुर्क साम्राज्य की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को भली-भांति समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है, कि उसमें किन विभिन्न जातियों या राष्ट्रीयताओं का निवास था। विशाल तुर्क साम्राज्य में किसी एक जाति का निवास नहीं था। केवल एशिया माइनर ही एक ऐसा प्रदेश था, जिसमें तुर्क जाति के लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। साम्राज्य के अन्य सब प्रदेशों में तुर्क-भिन्न जातियों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवास था। मध्यकाल में जब राष्ट्रीयता की भावना प्रबल नहीं हुई थी, विभिन्न जातियों का एक शासन में रह सकना कोई असम्भव या असाधारण बात नहीं थी। पर अब उन्नीसवीं सदी में जब राष्ट्रीयता की भावना यूरोप में भली भांति विकसित हो चुकी थी, तुर्की के लिये भी उसके प्रभाव से वञ्चित रह सकना सम्भव नहीं रह गया था। इसी कारण उन्नीसवीं सदी में अनेक जातियों ने तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह कर राष्ट्रीय स्वाधीनता को प्राप्त करने का उद्योग किया, और उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता भी प्राप्त हुई।

उत्तरी अफ्रीका के जो सुविस्तृत प्रदेश तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उनमें प्रधानतया ऐसी जातियों का निवास था, जिन का मूल अरब व बर्बर कहा जा सकता है। अरब प्रायद्वीप में तो अरब लोग ही बसते थे, यद्यपि किसी-किसी प्रदेश में तुर्क और ईरानी जातियों का भी निवास था। यही दशा अरब के मरुस्थल के उत्तर में विद्यमान उस उपजाऊ अर्धचन्द्राकार घाटी की भी थी, जिसमें कि प्राचीन काल में असीरियन साम्राज्य का विकास हुआ था। सीरिया में यहूदी और ईसाई लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। अरब और एशिया माइनर के मध्य में स्थित टोरस पर्वतमाला के पहाड़ी प्रदेशों में आर्मीनियन और कुर्द जातियों का निवास था। एशिया माइनर के समुद्र तट के साथ-साथ के प्रदेशों में ग्रीक लोगों की भी अनेक बस्तियां थीं।

यह तो हुई एशिया और अफ्रीका में विद्यमान तुर्की साम्राज्य की बात। अधिक जटिल समस्या तुर्क साम्राज्य के यूरोपियन प्रदेशों की थी। वहां अनेक ऐसी जातियां निवास करती थीं, जो नसल, भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति आदि सभी दृष्टियों से जहां एक दूसरे से भिन्न थीं, वहां जिनकी अपने तुर्क शासकों के साथ तो किसी भी प्रकार की समता नहीं थी। इनमें अल्बेनियन, ग्रीक, यूगोस्लाव या सर्ब, बल्गर और रूमानियन जातियां सबसे महत्त्वपूर्ण थीं। अल्बेनियन लोगों का निवास ग्रीस के उत्तर-पश्चिम में विद्यमान पहाड़ी प्रदेशों में था। १८९३ में इनकी कुल आबादी १५ लाख के लगभग थी। ये लोग बड़े शूरवीर, लड़ाकू तथा स्वतन्त्र प्रकृति के थे। सभ्यता की दृष्टि से ये पश्चिमी यूरोप के लोगों की तुलना में बहुत पिछड़े हुए थे, और अपनी छोटी-छोटी बस्तियों में निवास करते हुए खेती द्वारा निर्वाह किया करते थे। इनके विविध प्रान्तों और ग्रामों में निरन्तर लड़ाइयां होती रहती थीं। ग्रीक लोगों की जनसंख्या ९० लाख के लगभग थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ग्रीक लोग पर्याप्त उन्नत व सभ्य थे। वे शहरों में निवास करते थे, और व्यापार व उद्योग द्वारा अपनी आजीविका कमाते थे। पश्चिमी यूरोप में जो नई प्रवृत्तियां इस समय उत्पन्न हो रही थीं, उनसे वे भली-भांति परिचित थे, और इस कारण अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए भी उत्सुक थे। रूमानियन जाति के लोगों की संख्या १ करोड़ २० लाख के लगभग थी। मोल्डेविया, वेलेचिया और ट्रांसिलवेनिया के प्रदेशों में उनका निवास था। सभ्यता की दृष्टि से ये बहुत उन्नत नहीं थे, और अपनी आजीविका के लिए प्रधानतया खेती और पशुपालन पर निर्भर करते थे। बालकन प्रायद्वीप के क्षेत्र की जो विविध जातियां तुर्क साम्राज्य के अधीन थीं, उनमें सर्ब या यूगोस्लाव जाति का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। सर्ब लोग पूर्वी यूरोप की विशाल स्लाव जाति की ही एक शाखा थे। यूरोप के अन्य स्लाव लोगों की उनके प्रति सहानुभूति थी। वे उनके प्रति एकानुभूति की भावना रखते थे। इस भावना से लाभ उठाकर सर्ब लोग अपने राष्ट्रीय गौरव की स्थापना और तुर्की की अधीनता से मुक्त होने के लिये प्रयत्नशील थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में सर्ब लोगों की संख्या ८० लाख के लगभग थी। बल्गर लोगों का निवास प्रधानतया बल्गारिया में था। इस काल में उनकी आबादी ५५ लाख के लगभग थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुर्क लोग बालकन प्रायद्वीप के प्रायः सभी प्रदेशों में बसे हुए थे। वे इस क्षेत्र में विजेता के रूप में आये थे, और वहां के अन्य निवासियों से अपना कोई सम्पर्क नहीं रखते थे। विजेता और शासक होने के कारण इस प्रायद्वीप की बहुत-सी जागीरें तुर्कों के स्वत्त्व में थीं। थ्रेस, बल्गारिया और मसिडोनिया आदि में तुर्कों की अनेक बस्तियां भी बसी हुई थीं, जिनमें वे अन्य लोगों से पृथक् रहते हुए निवास करते थे। पर तुर्कों में एक विशेषता भी थी। जो कोई आदमी इस्लाम को स्वीकृत कर लेता था और तुर्की भाषा को अपना लेता था, उसे वे अपने दायरे में शामिल कर लेते थे। इसी कारण बालकन प्रायद्वीप व अन्यत्र जिन लोगों ने इस्लाम के साथ-साथ तुर्की भाषा को भी अपना लिया था, वे सब तुर्क समझे जाने लगे थे, यद्यपि वे सब मूलतः तुर्क या तूरानियन जाति के नहीं थे।

इस विवरण से यह भली-भांति समझा जा सकता है, कि तुर्क साम्राज्य कितना अस्वाभाविक और राष्ट्रीयता के सिद्धान्त के विपरीत था। उन्नीसवीं सदी की नई प्रवृत्तियाँ—राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद—को दृष्टि में रखते हुए यह सम्भव नहीं था, कि ऐसा साम्राज्य देर तक कायम रह सके। पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास को भली-भांति समझने के लिए तुर्की साम्राज्य के इस स्वरूप को दृष्टि में रखना बहुत उपयोगी है। इस क्षेत्र में पाश्चात्य साम्राज्यवाद को जो सफलता प्राप्त हुई, उसमें तुर्क साम्राज्य के इस रूप ने भी बहुत सहायता पहुंचाई। यदि यह साम्राज्य सुसंगठित व सुशासित होता, तो यूरोप के साम्राज्यवादी देश इसका अंग-भंग कर इसके विविध प्रदेशों को अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में ला सकने में समर्थ न हो पाते।

(५) बालकन प्रायद्वीप में राष्ट्रीय जागृति का प्रादुर्भाव और अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का प्रारम्भ

बालकन प्रायद्वीप के विविध प्रदेशों में अठारहवीं सदी में ही राष्ट्रीय जागृति का प्रारम्भ हो चुका था। तुर्क साम्राज्य के विविध प्रदेशों में पाश्चात्य साम्राज्यवादी देशों ने जिस प्रकार अपने प्रभाव एवं प्रभुत्त्व का विस्तार प्रारम्भ किया, और उसके कारण जिन अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों का सूत्रपात हुआ, उन्हें भली-भांति समझने के लिए बालकन राज्यों की राष्ट्रीय जागृति पर संक्षेप के साथ प्रकाश डालना आवश्यक है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति और नेपोलियन के युद्धों ने राष्ट्रीयता की भावना को बहुत बल प्रदान किया था। पश्चिमी यूरोपियन जातियों का अनुसरण कर बालकन जातियां भी अपने राष्ट्रीय राज्यों का स्वप्न देखने लग गई थीं। उनकी इस आकांक्षा को उकसाने में अनेक यूरोपियन राज्य भी सहायक थे। रूस इनमें सर्वप्रधान था। क्रीमिया की विजय के बाद रूस की सीमा काला सागर से आ लगी थी, और उसके महत्त्वाकांक्षी सम्राट् इस प्रयत्न में थे, कि तुर्की की निर्बलता और बालकन जातियों की राष्ट्रीय भावना से लाभ उठाकर इस क्षेत्र में अपने प्रभाव का विस्तार करें। आस्ट्रिया के सम्राट् भी इस चिन्ता में थे, कि पूर्व की ओर अपनी शक्ति का प्रसार करें। प्रशिया के उत्कर्ष के कारण जर्मनी के क्षेत्र में आस्ट्रिया का प्रभाव कम हो गया था। रूस और आस्ट्रिया दोनों का हित इस बात में था, कि तुर्की कमजोर हो जाए जिससे कि बालकन प्रायद्वीप के प्रदेशों को वे अपने प्रभुत्त्व में ला सकें। तुर्क सुलतानों की निर्बलता के कारण यह सम्भव और क्रियात्मक भी था, कि बालकन प्रायद्वीप की विविध जातियां अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए उद्योग कर सकें।

सबसे पूर्व १८०४ ई० में सर्व लोगों ने विद्रोह किया, जिस नेता ज्यार्ज पेट्रोविच था। विद्रोही लोग बेलग्रेड (सर्विया का मुख्य नगर) के सूबेदार मुस्तफा पाशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को कत्ल करने में समर्थ हुए, और उन्होंने एक स्वतन्त्र सर्ब सरकार का संगठन भी कर लिया। पर अन्त में तुर्क सरकार इस विद्रोह को शान्त करने और सर्बिया पर अपने प्रभुत्व को कायम रख सकने में समर्थ हुई। पर इससे सर्ब लोग निराश नहीं हो गये। मिलोश के नेतृत्व में १८१५ ई० में सर्ब लोगों ने पुनः विद्रोह किया, और यह तब तक जारी रहा, जब तक कि रूस के सम्राट् के जोर देने पर तुर्क सुलतान ने यह स्वीकार नहीं कर लिया कि सर्बिया को तुर्क साम्राज्य की अधीनता में एक पृथक् राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जायगा (१८२६)। नये सर्बियन राज्य का शासक मिलोश को निर्वाचित किया गया, और वह क्रियात्मक दृष्टि से एक स्वतन्त्र राजा के रूप में इस देश का शासन करने लगा।

१८२१ ई० में ग्रीस में भी स्वाधीनता के लिए संघर्ष शुरू हुआ। ग्रीक लोगों की स्वातन्त्र्य-भावना को कुचलने के लिए तुर्क सुलतान ने उन पर घोर अत्याचार किये। यूरोप भर के प्रगतिशील लोगों की सहानुभूति ग्रीस को प्राप्त थी। १८२७ में इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस की सरकारों ने सम्मिलित रूप से सुलतान से अनुरोध किया, कि वह ग्रीस की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर ले। पर सुलतान यह मानने को तैयार नहीं हुआ, जिसके कारण इन राज्यों के सम्मिलित जहाजी बेड़े ने सुलतान की शक्ति का मुकाबिला किया। उधर रूसी सेना उत्तर की ओर से आक्रमण करती हुई कोन्स्टेन्टिनोपल के समीप तक पहुँच गई। इसी समय रूमानियन लोग भी तुर्क आधिपत्य के विरुद्ध विद्रोह के लिए उद्यत हो गये। इस दशा में समझौता कर लेने के अतिरिक्त सुलतान के सम्मुख अन्य कोई मार्ग शेष नहीं रहा। १८२९ ई० में एड्रियानोपल की सन्धि द्वारा ग्रीक तथा रूमानियन लोगों को स्वशासन-सम्बन्धी अनेक अधिकार प्रदान किये गये। क्योंकि गत वर्षों के युद्धों में रूस ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, अतः उसे डार्डेनल्स के जलडमरूमध्य में अनेक व्यापारिक सुविधाएं प्रदान की गईं। पर ग्रीक लोग केवल स्वशासन से ही संतुष्ट नहीं हो सके। उन्होंने अपने संघर्ष को जारी रखा, जिसके कारण १८३२ में ग्रीस को पूर्ण रूप से स्वाधीन राज्य की स्थिति प्राप्त हुई। ग्रीस के विद्रोह को शान्त करने के कार्य में ईजिप्ट के पाशा मुहम्मद अली ने तुर्क सुलतान के साथ सहयोग किया था, इस कारण उसे जो अनेक सुविधाएं प्राप्त हुईं, उनका उल्लेख हम अगले अध्याय में करेंगे।

तुर्क साम्राज्य के निर्बल होने के कारण बालकन प्रायद्वीप की विविध जातियां राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील थीं, और अनेक यूरोपियन राज्यों की उनसे सहानुभूति भी थी। यह सर्वथा उचित भी था, क्योंकि राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्तियां समयानुकूल और समुचित थीं। पर यूरोप के अनेक राज्य जो इस समय बालकन जातियों की सहायता के लिए तत्पर थे, उनमें उनका अपना स्वार्थ भी था। रूस का उत्तरी समुद्र उत्तरी ध्रुव के बहुत समीप है। वह शीत ऋतु में जम जाता है। रूस के पास सामुद्रिक आवागमन का केवल एक ही मार्ग ऐसा है, जो बारहों मास खुला रहता है। यह काला सागर से डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों से होकर ईगियन सागर पहुंचता है, और वहां से भूमध्य सागर। डार्डेनल्स और बोस्पोरस के क्षेत्र में किसका शासन है, यह बात रूस के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि ये प्रदेश किसी शक्तिशाली राजा के शासन में हों, और वह इस मार्ग का प्रतिरोध करने के लिए तैयार हो जाए, तो रूस को बहुत क्षति पहुंच सकती है। अतः रूस का हित इस बात में था, कि या तो तुर्की का सुलतान उसके प्रभाव में रहते हुए उसे इस मार्ग में सब सुविधाएं प्रदान करे, और या तुर्की की शक्ति क्षीण हो जाए, और बालकन प्रायःद्वीप में जो विविध राज्य कायम हों वे रूस को अपना संरक्षक मानें। रूस के लिए यह दूसरा उपाय अधिक क्रियात्मक था,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि बालकन क्षेत्र की अनेक जातियां नसल की दृष्टि से रूस के निवासियों से एकता रखती हैं। इसी कारण रूस सदा इस प्रयत्न में रहता था, कि तुर्की की शक्ति नष्ट हो, और बालकन प्रायद्वीप उसके अपने प्रभाव में आ जाए।

पर ब्रिटेन की नीति इससे भिन्न थी। भारत इस समय तक ब्रिटेन की अधीनता में आ चुका था, और पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों में भी वह अपने प्रभाव एवं प्रभुत्त्व का विस्तार करने में तत्पर था। उत्तरी एशिया के क्षेत्र में रूस भी एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर चुका था। एशिया के प्रदेशों में रूस और ब्रिटेन के साम्राज्य-सम्बन्धी हित एक दूसरे के विरोधी थे। पश्चिमी एशिया का क्षेत्र ब्रिटेन के प्राच्य साम्राज्य की सुरक्षा की दृष्टि से बड़े महत्त्व का था। यदि इस क्षेत्र पर रूस या फ्रांस जैसे किसी शक्तिशाली राज्य का प्रभाव स्थापित हो जाए, तो यह बात ब्रिटेन के प्राच्य साम्राज्य के लिये भय का कारण बन सकती थी। अतः ब्रिटेन का यह प्रयत्न था, कि तुर्क साम्राज्य की शक्ति इतनी क्षीण न हो पाए, जिसके कारण पश्चिमी एशिया और बालकन प्रायःद्वीप के क्षेत्रों में किसी प्रबल राज्य का प्रभुत्त्व कायम हो सकने में सहायता मिले। फ्रांस इस समय उत्तरी अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर था। भारत के क्षेत्र में ब्रिटेन से परास्त हो जाने के अनन्तर उसने अपना ध्यान उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया (सीरिया, लेबनान आदि) में केन्द्रित कर दिया था। इस क्षेत्र की राज-नीति में उसके भी अनेक स्वार्थ थे। उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया के इतिहास में जो राजनीतिक दांव पेंच चल रहे थे, उन्हें समझने के लिए इन बातों को अवश्य दृष्टि में रखना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनतालीसवां अध्याय

पश्चिमी एशिया में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का विकास

(१) फ्रांस और ब्रिटेन में संघर्ष

ईजिप्ट के क्षेत्र में नैपोलियन की पराजय के बाद वहां का शासन मुहम्मद अली के हाथों में आ गया था। जिस तुर्क सेना ने फ्रांस की शक्ति का मुकाबला कर उसे ईजिप्ट छोड़ देने के लिये विवश किया था, मुहम्मद अली उसका अन्यतम सेनापति था, और नैपोलियन के विरुद्ध युद्धों में उसने अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी। १८०५ ई० में तुर्क सुलतान ने उसे ही ईजिप्ट का सूबेदार नियत कर दिया था। मुहम्मद अली भली-भांति जानता था, कि तुर्क साम्राज्य की शक्ति निरन्तर क्षीण होती जा रही है, अतः वह इस बात के लिये उत्सुक था कि ईजिप्ट का शासन उसके और उसके वंशजों के हाथों में स्थायी रूप से कायम रहे। तुर्क सुलतान के आधिपत्य को स्वीकार करने में उसे कोई एतराज नहीं था, वशर्ते कि ईजिप्ट के क्षेत्र में उसकी सत्ता स्वतन्त्र रूप से कायम रहे। नैपोलियन के विरुद्ध युद्ध करते हुए उसने यह भली-भांति अनुभव कर लिया था, कि ईजिप्ट में उसकी सत्ता तभी स्थायी रह सकती है, जब कि उसकी सेना नये ढंग से संगठित हो, और उसका जहाजी बेड़ा भी देश की रक्षा करने में समर्थ हो। तुर्क सेना की निर्बलता का उसे भली-भांति ज्ञान था। अतः उसने इस बात की आवश्यकता अनुभव की, कि पश्चिमी यूरोप के सैनिक विशेषज्ञों की सहायता से अपनी सेना का पुनःसंगठन किया जाय, अपने सिपाहियों को युद्धों के नये तरीके सिखाये जाएं, और नये अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग की उन्हें शिक्षा दी जाए। स्वाभाविक रूप से उसकी यह इच्छा थी, कि इस कार्य में ब्रिटेन का सहयोग प्राप्त किया जाय, क्योंकि नैपोलियन के विरुद्ध युद्ध में ब्रिटेन तुर्की का सहायक था, और ब्रिटिश तथा तुर्क सेनाओं ने एक साथ मिलकर फ्रेञ्च सेनाओं का सामना किया था। मुहम्मद अली जानता था, कि ब्रिटेन की नौसेना यूरोप में सबसे अधिक शक्तिशाली है, और उसकी सहायता से वह अपनी सामुद्रिक शक्ति का विकास कर सकता है। पर ब्रिटेन इस युग में तुर्क सुलतान की मैत्री को बहुत अधिक महत्त्व देता था। मुहम्मद अली जिस ढंग से अपनी शक्ति को बढ़ाने के लिये प्रयत्नशील था, तुर्क सुलतान उसे पसन्द नहीं कर सकता था। ब्रिटेन को भय था, कि मुहम्मद अली की सैन्य-शक्ति के विकास में सहायता करने का यह परिणाम हो सकता है, कि तुर्की का सुलतान उससे नाराज हो जाय। साथ ही, ब्रिटेन इस समय भारत में अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने में तत्पर था। उसे केवल यही चिन्ता थी, कि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में कोई ऐसा शक्तिशाली राज्य कायम न हो जाय, जो उसके लिये खतरे का कारण बन सके। ईजिप्ट की शक्ति में वृद्धि ब्रिटेन के लिए आशंकाजनक हो सकती थी। जब ब्रिटेन मुहम्मद अली की सहायता के लिये उद्यत नहीं हुआ, तो उसका ध्यान फ्रांस की ओर आकृष्ट हुआ। १८१४ ई० में नैपोलियन का पतन हो चुका था, और बूर्बों राजवंश का लुई अठारहवां फ्रांस की राजगद्दी पर आरूढ़ हो गया था। उसका मन्त्री तैलरां अत्यन्त योग्य एवं चाणाक्ष था। उसकी कुशलता के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण फ्रांस ने अब फिर यूरोप के राज्यों में महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त कर ली थी। वह मुहम्मद अली के साथ सहयोग करने को तैयार हो गया। परिणाम यह हुआ, कि अनेक फ्रेञ्च सेनापति और अन्य कर्मचारी ईजिप्ट आये, और उन्होंने मुहम्मद अली की सेना को नये ढंग से संगठित करने का कार्य शुरु किया। एक फ्रेञ्च कर्नल को ईजिप्ट की सेना का पुनः संगठन करने के लिये नियुक्त किया गया। इस सेनापति ने इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, और अपना नाम बदलकर सुलेमान पाशा रख लिया था। कैरो की एक मुख्य सड़क का नाम अब तक भी इसी सेनापति के नाम पर है। अन्य फ्रेञ्च विशेषज्ञ ईजिप्ट की जलसेना के निर्माण के लिए नियत किये गए, और उन्होंने अपने कार्य में अनुपम तत्परता प्रदर्शित की। कितने ही फ्रेञ्च डॉक्टर, इन्जीनियर, और सर्वेयर आदि इस समय ईजिप्ट आये, जिन्होंने इस देश का कायाकल्प करना प्रारम्भ किया। ईजिप्ट के बहुत-से नवयुवक इस समय फ्रांस भेजे गये, ताकि वहां के शिक्षणालयों में जाकर वे नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त कर अपने देश को वापस लौटें, और वहां नई शिक्षा का प्रसार करें। राज्य-क्रान्ति के कारण फ्रांस की शिक्षा-संस्थाओं का भी कायाकल्प हो गया था, और उनका आधुनिक ढंग से पुनःसंगठन कर लिया गया था। इस समय फ्रांस की शिक्षा-संस्थाएं विश्व भर में सबसे उन्नत मानी जाती थीं। फ्रांस से शिक्षा प्राप्त कर ईजिप्सियन युवकों ने अपने देश की उन्नति के लिये अपूर्व उत्साह प्रदर्शित किया। विज्ञान और शिल्प की बहुत-सी फ्रेञ्च पुस्तकों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया, और अनेक ऐसे विद्यालय स्थापित किये गये, जिनमें अरबी भाषा के साथ-साथ फ्रेञ्च की भी शिक्षा दी जाती थी। चिकित्सा, इन्जीनियरिंग आदि की शिक्षा के लिये भी अनेक संस्थाएं कायम की गईं, जिनके शिक्षक प्रायः फ्रांस के थे। मुहम्मद अली स्वयं शिक्षित नहीं था, पर नई शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान के महत्त्व को वह भली-भांति समझता था। इसीलिए नई शिक्षा द्वारा उसने राज्य की उन्नति के लिये बहुत कार्य किया। स्थल और जल सेनाओं का पुनःसंगठन कर और फ्रेञ्च विशेषज्ञों द्वारा नये अस्त्र-शस्त्रों की शिक्षा दिला कर उसने अपनी सैनिक शक्ति को बहुत अधिक बढ़ा लिया। यद्यपि अब भी वह तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकार करता था, पर उसकी शक्ति अपने अधिपति की तुलना में कहीं अधिक हो गई थी।

फ्रेञ्च लोगों के सहयोग से अपनी सैन्य शक्ति को संगठित कर मुहम्मद अली ने पश्चिमी एशिया में उसका उपयोग प्रारम्भ किया। सबसे पूर्व उसने अरब पर आक्रमण किया (१८११ ई०)। वहां इस समय इब्न सऊद के वंशजों का शासन था। ये वहाबी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और तुर्क सुलतान की अधीनता को स्वीकार नहीं करते थे। १८१८ तक मुहम्मद अली की सेनाओं ने अरब की विजय कर ली, और उसके राजा को तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश किया। क्रियात्मक दृष्टि से अब अरब ईजिप्ट के पाशा मुहम्मद अली की अधीनता में था, जो स्वयं तुर्क सुलतान के अधीन अन्यतम सामन्त राजा की स्थिति रखता था।

१८२० ई० में मुहम्मद अली ने सूडान के पूर्वी प्रदेश अल-नूबा पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। १८२१ ई० में जब ग्रीस ने तुर्क साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया, तो उसका दमन करने के कार्य में मुहम्मद अली ने सुलतान की सहायता की। पर इस समय फ्रांस, ब्रिटेन और रूस ग्रीस की स्वतन्त्रता का समर्थन कर रहे थे, और सैन्य-शक्ति द्वारा ग्रीस की सहायता के लिए तत्पर थे। इस कारण तुर्की और ईजिप्ट की सम्मिलित शक्ति भी ग्रीस के स्वातन्त्र्य-युद्ध को विफल करने में सफल नहीं हो पाई, और २० अक्टूबर, १८२७ के दिन नावारिनो के युद्ध में इनकी बहुत बुरी तरह से परा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जय हुई। तुर्क और ईजिप्सियन सेनाओं की इस पराजय के कारण ग्रीस की स्वतन्त्रता का मार्ग साफ हो गया।

ग्रीस के स्वातन्त्र्य आन्दोलन को कुचलने के लिए तुर्क सुलतान महमूद द्वितीय (१८०८—१८३९ ई०) ने मुहम्मद अली की सहायता इस शर्त पर प्राप्त की थी, कि सीरिया की सूबेदारी भी उसे प्रदान कर दी जायेगी। पर सुलतान ने अपने वचन का पालन नहीं किया। इस कारण मुहम्मद अली ने निश्चय किया, कि अपनी सैन्य-शक्ति का प्रयोग कर इस प्रदेश को जीत लिया जाय। इस कार्य के लिए उसने अपने पुत्र इब्राहीम को नियत किया, जो वहाबी अरब और ग्रीस के विरुद्ध युद्धों में अच्छी योग्यता प्रदर्शित कर चुका था। १८३१ में इब्राहीम ने सीरिया पर आक्रमण किया, और उसकी विजय कर ली। सीरिया पर कब्जा कर ईजिप्ट की सेना एशिया माइनर में प्रवेश करने लगी। यह बात तुर्क सुलतान के लिए चिन्ताजनक थी। उसने ब्रिटेन, फ्रांस और रूस से सहायता की प्रार्थना की। १८३० में पश्चिमी यूरोप में राज्यक्रान्ति की दूसरी लहर का प्रारम्भ हो गया था, जिसके प्रभाव से ब्रिटेन भी अछूता नहीं बचा था। वहां की पार्लियामेन्ट में लिबरल दल की शक्ति बढ़ गई थी, और अनुदार दल के नेता ड्यूक ऑफ वेलिंगटन को प्रधान मन्त्री के पद से त्यागपत्र देना पड़ा था। इस दशा में ब्रिटेन इस स्थिति में नहीं था, कि ईजिप्ट के खिलाफ तुर्की को सहायता दे सके। फ्रेञ्च लोग मुहम्मद अली के उत्कर्ष से प्रसन्न थे, क्योंकि उसकी सैन्य-शक्ति उन्हीं के कर्तृत्व का परिणाम थी, और उसकी सेना में फ्रेञ्च अफसर ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। मुहम्मद अली इस समय पूर्णतया फ्रांस के प्रभाव में आ चुका था, और फ्रेञ्च राजनीतिज्ञ यह आशा करते थे कि उसके सहयोग व मैत्री से वे भूमध्य सागर और पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सकेंगे। अतः फ्रांस भी तुर्की की सहायता के लिये अग्रसर नहीं हुआ। पर रूस इस अवसर पर सुलतान की सहायता के लिये आगे बढ़ा। इस समय तक रूस का विचार था, कि तुर्क सुलतान से मैत्री स्थापित कर उसे अपने प्रभाव में लाया जा सकता है, और इस प्रकार ईगियन सागर और भूमध्य सागर तक पहुंचने के मार्ग को अपने लिये सुरक्षित किया जा सकता है। रूसी सेनाओं ने कोन्स्टेन्टिनोपल की ओर प्रस्थान किया, और वे बोस्पोरस के पूर्वी तट पर आ पहुंची! जब यह समाचार ब्रिटेन और फ्रांस ने सुना, तो वे बहुत चिन्तित हुए। रूस की इस बढ़ती हुई शक्ति व प्रभाव को वे सहन नहीं कर सकते थे। उन्होंने हस्तक्षेप किया, और सुलतान महमूद द्वितीय और मुहम्मद अली में समझौता कराने का प्रयत्न किया। मुहम्मद अली ने अपनी सेनाएं एशिया माइनर से वापिस लौटा लीं, और सुलतान ने यह स्वीकार किया कि सीरिया, पैलेस्टाइन और सीलीसिया के प्रदेश ईजिप्सियन पाशा की सूबेदारी में दे दिये जाएं। इस सूबेदारी का अभिप्राय इन प्रदेशों पर मुहम्मद अली के स्वतन्त्र शासन की स्थापना ही था। फ्रांस इस समझौते से सन्तुष्ट था, क्योंकि इसके कारण मुहम्मद अली की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, और वह पूर्णतया फ्रेञ्च सरकार के प्रभाव में था। रूस को इस समझौते के कारण यह सुविधा प्राप्त हो गई थी, कि बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों से होकर रूस के जंगी जहाज स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकें, और अन्य किसी राज्य को यह अधिकार प्राप्त न हो। साथ ही, रूस ने इस समय यह वचन भी दिया था, कि यदि कोई शत्रु तुर्की पर आक्रमण करेगा, तो रूस तुर्की की सहायता करेगा। यह सन्धि रूस के लिये बहुत लाभदायक थी, क्योंकि इससे रूस तुर्की का एक प्रकार से संरक्षक बन गया था, और काला सागर तथा भूमध्यसागर को मिलाने वाला जलमार्ग उसके जंगी जहाजों के लिये सुरक्षित हो गया था। यद्यपि ब्रिटेन ने भी तुर्क सुलतान और ईजिप्सियन पाशा में सम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झौता कराने में महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, पर इस समझौते से उसे कोई लाभ नहीं हुआ था। अतः वह इस समझौते से बहुत असन्तुष्ट था। ब्रिटेन की विदेशी राजनीति का संचालन इस समय पामर्स्टन के हाथों में था। उसने अनुभव किया, कि तुर्क सुलतान पर रूस का और ईजिप्ट के पाशा पर फ्रांस का जो प्रभाव इस समय स्थापित हो गया है, वह ब्रिटेन के लिए अत्यन्त हानिकारक है।

सीरिया के इस युद्ध (१८३१-३२) के कारण मुहम्मद अली की शक्ति बहुत बढ़ गई। सीरिया और अन्य नये प्रदेशों का शासन करने के लिए उसने अपने पुत्र इब्राहीम को उनका सूबेदार नियत किया। मुहम्मद अली और इब्राहीम की योजना थी, कि अरब के सब प्रदेशों को अपनी अधीनता में ले आया जाय। इब्न सऊद के वंशजों द्वारा शासित अरब के प्रदेश पहले ही ईजिप्ट की अधीनता स्वीकार कर चुके थे। पर ईरान की खाड़ी के तट पर स्थित और अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी कोने में विद्यमान कतिपय प्रदेश ऐसे थे, जो अभी तक ईजिप्ट की अधीनता में नहीं आये थे। नैपोलियन के समय के युद्धों से लाभ उठाकर ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी इन प्रदेशों में अनेक विशेष अधिकार प्राप्त कर चुकी थी। जब ब्रिटेन ने देखा, कि मुहम्मद अली इन प्रदेशों को भी अपने आधिपत्य में ले आने के लिये तत्पर है, तो पामर्स्टन ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की, कि यदि ईजिप्ट की सेनाओं ने ईरान की खाड़ी या दक्षिण-पूर्वी अरब की दिशा में आगे बढ़ने का प्रयत्न किया, तो ब्रिटेन इसे कदापि सहन नहीं करेगा। तुर्की का सुलतान भी इस बात से बहुत दुखी था, कि सीरिया, पैलेस्टाइन और सीलीसिया के प्रदेश अब मुहम्मद अली के अधिकार में आ गये थे। अपनी सैन्य-शक्ति को नये ढंग से संगठित करने के लिये इसी कारण उसने एक प्रशियन अफसर की नियुक्ति की, जिसका नाम फॉन मॉल्टके था। १८३९ ई० में तुर्क सुलतान ने ईजिप्ट के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया, और उसकी सेनाएं सीरिया की ओर अग्रसर होने लगीं। पर मुहम्मद अली की सेना को परास्त कर सकना सुगम नहीं था। फ्रांस इस समय ईजिप्ट की पीठ पर था, और फ्रेञ्च सेनापति मुहम्मद अली की सेनाओं का संचालन कर रहे थे। तुर्क सेनाओं की बुरी तरह से पराजय हुई, और सुलतान का जहाजी बेड़ा अलेग्जेण्ड्रिया में कैद कर लिया गया। यह स्थिति ब्रिटेन के लिये बहुत चिन्ताजनक थी। उसने अनुभव किया, कि तुर्क सुलतान की शक्ति को कायम रखना अपने पूर्वी साम्राज्य के लिये परमावश्यक है। भारत आदि पूर्वी देशों तक पहुँचने के लिए पश्चिमी एशिया के मार्ग का भी सुगमता के साथ प्रयोग किया जा सकता था। इस मार्ग पर यदि फ्रांस का प्रभाव स्थापित हो जायगा, और इस क्षेत्र में यदि मुहम्मद अली जैसे व्यक्तियों की शक्ति बढ़ जायगी, तो यह बात ब्रिटेन के लिये बहुत खतरे की होगी। अतः यह आवश्यक है, कि सीरिया आदि के प्रदेशों पर मुहम्मद अली का शासन न रहे, और उसके शासन-क्षेत्र को केवल ईजिप्ट तक ही सीमित कर दिया जाय। रूस भी मुहम्मद अली के इस उत्कर्ष को सहन करने के लिए तैयार नहीं था, क्योंकि १८३३ के समझौते के अनुसार उसने भी तुर्क सुलतान की संरक्षा का वचन दिया था। इस स्थिति में ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री पामर्स्टन रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया को इस बात के लिये तैयार करने में सफल हो गया, कि ब्रिटेन के साथ मिल कर मुहम्मद अली को यह अल्टिमेटम दें कि यदि उसने सीरिया, पैलेस्टाइन और सीलीसिया पर से अपने कब्जे का परित्याग न कर दिया, तो ये सब राज्य एक साथ मिलकर उस पर आक्रमण कर देंगे जिसके कारण उसे ईजिप्ट से भी हाथ धोना पड़ेगा। फ्रांस की सरकार इससे बहुत उद्विग्न हुई, क्योंकि मुहम्मद अली को निमित्त बना कर फ्रांस पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने में तत्पर था। उसने युद्ध की भी धमकी दी, पर फ्रांस इस समय इस स्थिति में नहीं था कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूरोप के इन चार प्रमुख राज्यों के विरुद्ध अकेला लड़ाई कर सकता। विवश होकर मुहम्मद अली को सीरिया आदि प्रदेशों का परित्याग कर देना पड़ा। १८४० में जो नई सन्धि हुई, उसके अनुसार न केवल मुहम्मद अली ने सीरिया आदि का परित्याग कर दिया, अपितु डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों के क्षेत्र में जो विशेष अधिकार रूस ने १८३३ के समझौते के द्वारा प्राप्त किये थे, उन्हें भी उसे छोड़ देना पड़ा। १८४१ की यह सन्धि लण्डन में हुई थी, और यह ब्रिटेन के लिए बहुत लाभदायक थी। जैसा कि फ्रेञ्च ऐतिहासिक ड्रिओल् ने लिखा है—"इस द्वारा सब लाभ ब्रिटेन को प्राप्त हुए। इसके कारण मुहम्मद अली और फ्रांस दक्षिण की ओर धकेल दिये गये, और रूस उत्तर की ओर। ईराक से होकर जो मार्ग भारत की ओर जाता है, वह ब्रिटेन के कब्जे में रहा। इस मार्ग के क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाना अब उसके लिए सम्भव हो गया।" ईजिप्ट के मुकाबिले में तुर्क सुलतान की सहायता करने में जो तत्परता इस समय ब्रिटेन ने प्रदर्शित की, उसके कारण ही उसकी यह स्थिति सम्भव हो सकी थी।

१८४० की सन्धि के अनुसार तुर्की के सुलतान की स्थिति बहुत कुछ संभल गई थी। फ्रांस इससे बहुत असंतुष्ट हुआ। वह तुर्की के खिलाफ ईजिप्ट का सहायक था। अब वह इस बात के लिये प्रयत्नशील हुआ, कि १८४० की सन्धि क्रियान्वित न होने पाए। उसने मुहम्मद अली को फिर तुर्की के विरुद्ध उकसाया। फ्रांस में नई सेनाएं संगठित की गईं। ब्रिटेन भी इस दशा में शान्त नहीं बैठा था। वह ईजिप्ट के विरुद्ध तुर्की की सहायता करने के लिए उद्यत था। ऐसा प्रतीत होता था, कि एक बार फिर पश्चिमी एशिया में युद्ध का शुरू होना अवश्यम्भावी है। पर यूरोप के राजनीतिज्ञों ने इस बार अधिक समझदारी से काम लिया। आखिर, फ्रांस और इंगलैण्ड में समझौता हो गया, जो अन्तरीप-सम्बन्धी समझौते (स्ट्रेट्स कन्वेन्शन) के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते में इंगलैण्ड और फ्रांस के अतिरिक्त आस्ट्रिया, प्रशिया और रूस भी सम्मिलित हुए। इसके अनुसार तुर्क सुलतान ने यह स्वीकार किया, कि मुहम्मद अली न केवल ईजिप्ट का वंशक्रमानुगत रूप से स्वामी रहेगा, अपितु साथ ही सीरिया के जिन प्रदेशों पर इस समय उसका प्रभुत्व विद्यमान है, उन पर भी उसका तथा उसके वंशजों का स्वामित्व कायम रहेगा। साथ ही, यह भी स्वीकृत किया गया कि बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों को तुर्की के अतिरिक्त किसी अन्य देश के जंगी जहाज प्रयुक्त नहीं कर सकेंगे।

१८३१ से १८४० तक नौ साल सीरिया इब्राहीम पाशा के शासन में रहा। इस प्रदेश में ईसाई लोगों का अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। पर उनकी सामाजिक स्थिति बहुत हीन थी। तुर्क सुलतान के शासन में डमास्कस जैसे नगर में कोई ईसाई न घोड़े पर सवार हो सकता था, और न लाल श्वेत या हरी पगड़ी पहन कर बाजार में आ सकता था। ईसाइयों के लिये यह भी सम्भव नहीं था, कि वे कोई ऊंचा सरकारी पद प्राप्त कर सकें। इब्राहीम पाशा ने इस स्थिति में सुधार किया। ईसाइयों की सामाजिक दुर्दशा को दूर किया गया, और उनके पादरियों को धर्म के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्रदान की गई। फ्रेञ्च संस्कृति का भी इस काल में सीरिया में प्रसार हुआ। अनेक शिक्षणालय वहां स्थापित किये गये, जिनमें नये ज्ञान-विज्ञान के साथ फ्रेंच भाषा की भी शिक्षा दी जाती थी। ईजिप्ट के समान सीरिया भी फ्रेंच लोगों के प्रभाव में आने लगा, और फ्रांस के राजनीतिज्ञ यह स्वप्न देखने लगे, कि शीघ्र ही पश्चिमी एशिया का यह प्रदेश भी उनके सांस्कृतिक प्रभाव में आ जायेगा। १८४० की सन्धि के कारण फ्रांस की स्थिति में कुछ अन्तर आया था, पर स्ट्रेट्स कन्वेशन द्वारा जब सीरिया के कतिपय प्रदेशों पर ईजिप्ट का अधिकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकृत कर लिया, तो फ्रेंच लोगों ने वहाँ अपने प्रभाव को स्थापित करने की प्रक्रिया को जारी रखा।

इसी समय फ्रेंच लोगों ने यह योजना बनाई, कि स्वेज के स्थल-डमरू-मध्य के बीच से एक नहर निकाल कर भूमध्य सागर और लाल सागर को मिला दिया जाय। व्यापार की दृष्टि से यह यह योजना बहुत उत्तम थी, क्योंकि इसके कारण यूरोप और एशिया के बीच में एक सीधा सामुद्रिक मार्ग कायम हो जाता था, और जल-मार्ग द्वारा यूरोप से एशिया आने-जाने के लिये अफ्रीका का चक्कर काटने की आवश्यकता नहीं रहती थी। पामर्स्टन ने इस योजना का विरोध किया। उसका कहना था, कि इस नहर के कारण अन्तर्राष्ट्रीय विद्वेष बहुत बढ़ जायगा। जिस प्रकार डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों के दोनों ओर के प्रदेशों पर कब्जा करने के लिये विविध राज्यों में प्रतिद्वन्द्विता रहती है, वैसे ही इस स्वेज के प्रदेश के लिये भी रहने लगेगी। मुहम्मद अली इस समय बूढ़ा हो चुका था, और पामर्स्टन के विरोध में स्वेज नहर की योजना को स्वीकृत करने के लिये उसे उत्साह नहीं हुआ। १८४९ में उसकी मृत्यु के बाद अब्बास प्रथम ईजिप्ट का पाशा बना। मुहम्मद अली के सुयोग्य पुत्र इब्राहीम अली की मृत्यु अपने पिता के जीवनकाल में ही हो गई थी। अब्बास के शासनकाल में भी स्वेज-सम्बन्धी फ्रेंच योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी। १८४५ ई० में अब्बास की हत्या के अनन्तर सईद ईजिप्ट की राजगद्दी पर बैठा। बचपन में सईद की मैत्री द लैस्सप नामक एक फ्रेंच युवक से हो गई थी, जो ईजिप्ट में नियुक्त फ्रेंच पोलिटिकल एजेन्ट का पुत्र था। सईद के पाशा बनने पर द लैस्सप ने उसे बधाई का संदेश भेजा, जिसके उत्तर में सईद ने उसे ईजिप्ट आने के लिये निमन्त्रण दिया। द लैस्सप ईजिप्ट आया, और उसने स्वेज नहर की योजना को सईद के सम्मुख प्रस्तुत किया। सईद अपने मित्र की बात को नहीं टाल सका, और उसने उसकी योजना को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया, कि तुर्क सुलतान से भी उसके लिये स्वीकृति ले ली जायगी।

इस काल में पश्चिमी एशिया के प्रदेशों के सम्बन्ध में पाश्चात्य राज्यों में संघर्ष जारी था। तुर्की पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना रूस की विदेशी राजनीति का प्रधान तत्त्व था। पहले वह मित्रता की नीति द्वारा तुर्की को अपने प्रभाव में लाना चाहता था। १८३१-३२ के सीरियन युद्ध में उसने इसीलिये ईजिप्ट के खिलाफ तुर्की की सहायता भी की थी। पर उसके बाद जो घटनाएं हुईं, उनसे वह भलीभांति समझ गया था, कि मित्रता की नीति द्वारा उसे अपने उद्देश्य में सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। अब उसने तुर्क साम्राज्य को निर्बल करके बालकन प्रायद्वीप के प्रदेशों को अपने प्रभुत्व में ले आने की नीति का अनुसरण करना प्रारम्भ किया। पर इसमें ग्रेट ब्रिटेन उसका प्रबल विरोधी था। अतः रूस के सम्राट् ने यह विचार किया, कि यदि तुर्की साम्राज्य को खण्ड-खण्ड कर उसका एक भाग ब्रिटेन को प्रदान कर दिया जाय, तो ब्रिटेन के विरोध को दूर किया जा सकता है। रूस की योजना यह थी, कि कोन्स्टेन्टिनोपल पर वह स्वयं कब्जा कर ले, और ईजिप्ट तथा सीरिया के प्रदेशों को ब्रिटेन के प्रभुत्व में दे दिया जाए। इसी योजना को दृष्टि में रख कर १८४४ में रूस के सम्राट् ने ब्रिटेन की यात्रा की। पर वहां उसकी योजना का स्वागत नहीं हुआ। बाद में भी रूस ने ब्रिटेन के साथ समझौता करने के अनेक प्रयत्न किये, पर ब्रिटेन यह भलीभांति समझता था, कि एशिया में अपने साम्राज्य का प्रसार करने में अब रूस ही उसका प्रधान प्रतिस्पर्धी है। फ्रांस की शक्ति अब ऐसी नहीं रह गई थी, कि वह एशिया में ब्रिटेन के साम्राज्य-विस्तार का प्रतिरोध कर सके। अतः ब्रिटेन इस बात के लिए किसी भी प्रकार से तैयार नहीं हुआ, कि प्राच्य देशों तक पहुंचने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के इस महत्त्वपूर्ण मार्ग पर रूस जैसे शक्तिशाली राज्य का प्रभुत्त्व हो जाय। ब्रिटेन से निराश होकर रूस ने यह निश्चय किया, कि वह शक्ति का प्रयोग कर बास्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों के पदेशों को अपने प्रभुत्त्व में ले आये। इसी प्रयोजन से रूस ने तुर्की के खिलाफ उस युद्ध को प्रारम्भ किया, जो इतिहास में क्रीमियन युद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। यह युद्ध १८५४ से १८५६ तक जारी रहा, और इसमें ब्रिटेन और फ्रांस ने तुर्की की सहायता की। क्रीमियन युद्ध में रूस की पराजय हुई, और बालकन प्रायद्वीप के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने का उसका स्वप्न पूरा नहीं हो सका। तुर्की साम्राज्य को कायम रख कर रूस की महत्त्वाकांक्षाओं पर अंकुश रखा जा सकता है, ब्रिटेन का यह विचार इस युद्ध के कारण पूर्ण रूप से सही साबित हुआ।

१८५४-५६ के क्रीमियन युद्ध में फ्रांस और ब्रिटेन दोनों तुर्क सुलतान के सहायक थे। द लैस्सप ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और इस युद्ध के दौरान में ही उसने स्वेज नहर की अपनी योजना को तुर्क सुलतान की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत किया। सुलतान के दरबार में जो ब्रिटिश राजदूत स्थित था, उसने जोरदार तरीके से इस योजना का विरोध किया। उसने स्पष्ट रूप से घोषित किया, कि इस नहर के बन जाने पर ईजिप्ट पूर्णतया फ्रांस के प्रभुत्त्व में आ जायेगा। पर ब्रिटिश राजदूत के विरोध के बावजूद सुलतान ने द लैस्सप की योजना को स्वीकृत कर लिया (१८५८), और १८५९ में इस नहर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ भी हो गया। ब्रिटेन ने अपने विरोध को अब भी जारी रखा, पर रूस और आस्ट्रिया ने इस योजना का समर्थन किया, और १८६९ तक यह नहर बन कर तैयार भी हो गई। सम्भवतः, ब्रिटेन स्वेज नहर के विरोध में कतिपय सक्रिय पग भी उठाता, पर १८६५ में पामर्स्टन की मृत्यु हो गई थी, और उसके पश्चात् ब्रिटेन में इस नहर का विरोध भी कम हो गया था।

फ्रांस जिस प्रकार स्वेज की नहर के निर्माण में तत्पर था, उससे ब्रिटिश राजनीतिज्ञों ने यह भली-भांति समझ लिया था कि अब यह नहर बन कर ही रहेगी, और इसके कारण यूरोप और एशिया के बीच में एक ऐसा जल-मार्ग तैयार हो जाएगा, जो बहुत सुविधाजनक होगा। इसके बन जाने के बाद अफ्रीका के समुद्रतट के साथ-साथ के जलमार्ग का कोई महत्त्व नहीं रह जायेगा, और प्राच्य देशों का सब व्यापार स्वेज की नहर द्वारा ही होने लगेगा। पर स्वेज का यह मार्ग फ्रांस के हाथ में रहेगा, जिसके कारण उसकी राजनीतिक महत्ता बहुत बढ़ जायेगी। ईजिप्ट, सीरिया और स्वेज पर अपना प्रभाव स्थापित कर लेने के परिणामस्वरूप यदि फ्रांस चाहेगा, तो वह ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य को सुगमता के साथ क्षति पहुंचा सकेगा। इसलिए अब ब्रिटेन ने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि पश्चिमी एशिया के अधिक से अधिक प्रदेशों को अपने प्रभाव में ले आये, और वहां अपने ऐसे सैनिक केन्द्र स्थापित करे, जिनके द्वारा वह अपने किसी भी सम्भावित प्रतिद्वन्द्वी का मुकाबिला कर सके। इसीलिए १८६३ में ब्रिटेन ने माल्टा की किलाबन्दी प्रारम्भ की और भूमध्यसागर के इस द्वीप को अपनी जलशक्ति का एक सुदृढ़ केन्द्र बना दिया। यह द्वीप पहले फ्रांस के अधीन था, पर नैपोलियन के पतन के बाद वीएना की कांग्रेस की समाप्ति पर पेरिस की जो सन्धि हुई थी, उसके अनुसार इस पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था। तब से यह ब्रिटेन के अधिकार में ही चला आ रहा था। इसी समय ब्रिटेन ने ओमन के सुलतान से कुरिया-मुरिया द्वीप (१८५४) प्राप्त किए, और पेरिम पर फिर से अपना कब्जा कर लिया (१८५७)। ओमन का सुलतान इस समय ब्रिटेन के प्रभाव में था, जिसके कारण अरब प्रायद्वीप का दक्षिण-पूर्वी कोना ब्रिटेन के लिए सुरक्षित हो गया था। अदन भी इस समय तक ब्रिटेन के हाथों में आ चुका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, और उसे केन्द्र बना कर ब्रिटिश लोग समीप के प्रदेशों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आने के लिए तत्पर थे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि भारत आदि प्राच्य देशों तक पहुंचने के इस नये जलमार्ग के समीप के क्षेत्र में ब्रिटेन ने अपनी स्थिति को बहुत सुरक्षित कर लिया।

पर फ्रांस भी इस समय पश्चिमी एशिया के प्रदेशों को अपने प्रभाव में ले आने के लिए प्रयत्नशील था। ईजिप्ट और सीरिया के पाशा उसके प्रभाव में थे ही। वहां की सेनाएं फ्रेञ्च सेनापतियों द्वारा पुनःसंगठित की गई थीं, और वहां के शिक्षणालयों में फ्रेञ्च भाषा पढ़ायी जाती थी। वहां के विद्यार्थी फ्रांस के विविध विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाया करते थे, फ्रेञ्च पादरी वहां अपने धर्म के प्रचार में संलग्न थे, और स्वेज की नहर फ्रेञ्च लोगों द्वारा ही तैयार की गई थी। अब फ्रांस के लोगों ने तुर्क सुलतान को भी अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। फ्रेञ्च राजनीतिज्ञों का विचार था, कि तुर्क साम्राज्य में अपनी भाषा व संस्कृति का प्रसार करके उसकी अधीनता में विद्यमान जातियों व प्रदेशों में वे एक प्रकार की एकता उत्पन्न कर सकते हैं। क्रीमियन युद्ध में तुर्की की सहायता करके उन्होंने सुलतान की सद्भावना भी प्राप्त कर ली थी। इसलिए अब उन्होंने तुर्की में भी अपनी शिक्षा-संस्थाएं स्थापित करनी प्रारम्भ कीं, और ईजिप्ट के समान तुर्की के लोग भी फ्रेञ्च भाषा को शौक के साथ सीखने के लिए तत्पर हुए। १८६३ में तुर्की में ओटोमन बैंक की स्थापना की गई, जिसकी अधिकांश पूंजी फ्रेञ्च धनपतियों द्वारा लगायी गई थी। बैंक नोट जारी करने का कार्य इसी बैंक को दिया गया, और इसकी शाखाएं तुर्क साम्राज्य के प्रायः सभी प्रधान नगरों में स्थापित की गईं। फ्रांस तुर्क साम्राज्य से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने के लिए इतना अधिक उत्सुक था, कि वहां की सरकार के निमन्त्रण पर १८६३ में सुलतान ने पेरिस की यात्रा की। पश्चिमी यूरोप के ब्रिटेन और फ्रांस आदि देशों की तुलना में तुर्की कितना पिछड़ गया है, इसे प्रत्यक्ष रूप से देख कर सुलतान को यह विश्वास हो गया, कि जब तक नये ज्ञान-विज्ञान को नहीं अपनाया जायेगा और शासन के मामले में आधुनिक विचारों के अनुसार सुधार नहीं किये जायेंगे, तुर्क साम्राज्य का कल्याण कदापि नहीं हो सकेगा। पेरिस की यात्रा से वापस लौटकर सुलतान ने 'लीसे गलता-सराय' नाम के एक नए शिक्षणालय की स्थापना की (१८६८), जिसमें सब जातियों और धर्मों के विद्यार्थियों को स्थान दिया गया। इसमें ६०० के लगभग विद्यार्थी दाखिल किए गए, और उन्हें फ्रेञ्च शिक्षकों द्वारा नये ज्ञान-विज्ञान तथा फ्रेञ्च भाषा की शिक्षा दी जाने लगी। धीरे-धीरे इसी प्रकार के अन्य भी अनेक शिक्षणालय खोले गये, जिनके कारण तुर्क जनता को पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। अब तक तुर्क साम्राज्य में शिक्षा प्रायः धर्माचार्यों के हाथों में थी, जो कुरान तथा अन्य मुस्लिम धर्मग्रन्थों को पढ़ाया करते थे। नये शिक्षणालयों के कारण तुर्की में भी युवकों का एक ऐसा वर्ग प्रादुर्भूत हो गया, जो अपने देश की पिछड़ी हुई दशा को अनुभव कर उसकी उन्नति के लिए प्रयत्नशील था। इसी समय एक फ्रेञ्च कम्पनी ने तुर्क सुलतान से नई रेलवे बनाने की अनुमति प्राप्त की। यह रेलवे इस्ताम्बूल और सलोनिका के बीच में बनायी गई थी, और इसके कारण तुर्की के अनेक बड़े नगरों का यूरोप के रेलवे सिस्टम के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया था।

पश्चिमी एशिया के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व व प्रभाव स्थापित करने के लिए जो संघर्ष पाश्चात्य देशों में चल रहा था, उसमें फ्रांस सबसे अधिक सफल था। ईराक, सीरिया और तुर्की में सर्वत्र उसका सांस्कृतिक प्रभाव स्थापित था। उसके पूंजीपति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रेलवे, नहर आदि बनाकर इन प्रदेशों में कतिपय आर्थिक विशेषाधिकार भी प्राप्त कर चुके थे। पर इसी समय यूरोप में फ्रांस को भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा। १८७० के फ्रेन्को-प्रशियन युद्ध में फ्रांस की बुरी तरह से पराजय हुई, और प्रशियन सेनाओं ने पेरिस पर भी कब्जा कर लिया। फ्रांस के सम्राट् नैपोलियन तृतीय का पतन हुआ, और तृतीय फ्रेञ्च रिपब्लिक की स्थापना हुई। बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी के एक साम्राज्य के रूप में संगठन हो जाने के कारण फ्रांस की उत्तरी सीमा पर एक ऐसा शक्तिशाली राज्य कायम हो गया, जिसकी सैनिक शक्ति की उपेक्षा कर सकना फ्रेञ्च सरकार के लिए सम्भव नहीं था। विस्मार्क की कूटनीति के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी फ्रांस अकेला पड़ गया। आस्ट्रिया और इटली के साथ सन्धि करके बिस्मार्क ने एक त्रिगुट का निर्माण किया, और रूस के साथ भी उसने सन्धि की। इस दशा में यूरोप की राजनीति में फ्रांस की स्थिति बहुत निर्बल हो गई। १८७१ से १८९३ तक प्रायः यही दशा रही, जिसके कारण फ्रांस के लिए यह सुगम नहीं रह गया कि वह पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपने प्रभाव का और अधिक विस्तार कर सके। ब्रिटेन ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और फ्रांस के मुकाबिले में इस क्षेत्र में अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। पर फ्रांस ने अपने इस प्रभाव-क्षेत्र का परित्याग नहीं कर दिया। उसके राजनीतिज्ञ अब भी इस प्रयत्न में रहे, कि ईजिप्ट, सीरिया और तुर्की आदि में फ्रांस को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, वे कायम रहें। पर यह स्वीकार करना होगा, कि १८७० के बाद पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में फ्रांस के मुकाबिले में ब्रिटेन का प्रभाव अधिक बढ़ने लगा था। इन प्रदेशों में ब्रिटेन का प्रतिद्वन्द्वी अब फ्रांस नहीं रह गया था। उसका स्थान अब रूस ने ले लिया था, जिसके शक्तिशाली सम्राट् एशिया के विविध क्षेत्रों में ब्रिटेन का मुकाबिला करने में तत्पर थे।

(२) रूस और ब्रिटेन में संघर्ष का प्रारम्भ

अठारहवीं सदी के मध्य भाग तक प्रायः सम्पूर्ण साइबीरिया रूस के प्रभुत्व में आ चुका था। वहां रूसी लोगों ने अपनी अनेक बस्तियां भी कायम कर ली थीं, और उसके उपजाऊ प्रदेशों में उन्होंने खेती का भी प्रारम्भ कर दिया था। उन्नीसवीं सदी के मध्य (१८४८) तक सुदूर पूर्व के क्षेत्र में आमूर नदी के प्रदेश पर भी रूस ने अपना अधिकार स्थापित कर लिया था, जिसके कारण रूस के लिए उत्तरी चीन और कोरिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सकने का मार्ग साफ हो गया था। आमूर प्रदेश के रूस के हाथों में आ जाने के कारण प्रशान्त महासागर का एक ऐसा समुद्रतट भी उसे प्राप्त हो गया था, जो नौकानयन के लिये साल के बारहों महीनों में अनुकूल परिस्थिति रखता है। इस प्रदेश में अपने आधिपत्य को दृढ़ करने व आर्थिक दृष्टि से उसे उन्नत करने के लिये रूस ने वहां अनेक रेलवे लाइनों का भी निर्माण किया।

अठारहवीं सदी में ट्रांस-कोकेशिया का प्रदेश अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त था। पूर्वी ज्यार्जिया ईरान के अधीन था, और पश्चिमी ज्यार्जिया तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था। इन प्रदेशों के विविध सरदार जहां ईरान और तुर्की की अधीनता स्वीकार करते थे, वहां आपस में भी निरन्तर लड़ते रहते थे। नादिरशाह (१७३५-४७) ने इस सम्पूर्ण प्रदेश को अपनी अधीनता में कर लिया था, पर उसकी मृत्यु के बाद जब उसके विशाल साम्राज्य में अव्यवस्था उत्पन्न होने लगी, तो ज्यार्जिया में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई, जिसका संस्थापक हेरेक्लियस था। पर तुर्की और ईरान ज्यार्जिया की स्वतन्त्र सत्ता को सहन करने के लिए उद्यत नहीं थे। उन्होंने उस पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये। इस स्थिति में ज्यार्जिया के सम्मुख केवल यही मार्ग था, कि वह रूस को अपना संरक्षक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वीकार कर ले और उसकी सहायता से अपनी स्वतन्त्र सत्ता की रक्षा करे। परिणाम यह हुआ, कि १७८३ में रूस और ज्यार्जिया में एक सन्धि हुई, जिसके अनुसार रूस ने ज्यार्जिया की रक्षा करना स्वीकार किया। पर इससे भी इस प्रदेश की समस्याओं का अंत नहीं हो गया। १७९४ में ईरान के शाह खां आगा मुहम्मद ने ज्यार्जिया पर आक्रमण किया, और उसके जन तथा धन का बुरी तरह से विनाश किया। इस दशा में ज्यार्जिया के राजा ज्यार्ज सप्तम को अपनी रक्षा का केवल यही उपाय समझ में आया, कि वह अपने को पूरी तरह से रूस के अधीन कर दे। १८०१ में ज्यार्जिया रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया, यद्यपि वहां का राजा अपने क्षेत्र में शासन करता रहा। १८०२ में रूसी सेनाओं ने ट्रांस-कोकेशिया के अन्य प्रदेशों पर भी आक्रमण शुरू किए। इन प्रदेशों पर विविध मंगोल तथा तुर्क खानों का शासन विद्यमान था। ये रूसी सेनाओं का मुकाबिला नहीं कर सके, और १८०५ तक ट्रांस-कोकेशिया के सब प्रदेशों पर रूस का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया।

मध्य एशिया के प्रदेश भी नादिरशाह के साम्राज्य के अन्तर्गत थे। पर उसकी मृत्यु के बाद वहां भी अराजकता छा गई, और इस स्थिति से लाभ उठा कर वहां अनेक खान स्वतन्त्र रूप से शासन करने लगे। अठारहवीं सदी के अन्त तक मध्य एशिया में तीन राज्य स्थायी रूप से कायम हो चुके थे, जिनकी राजधानियां क्रमशः बोखारा, खीवा और कोकन्द थीं। इन राज्यों में उजबेक, ताजिक, किरखिज और तुर्कोमान आदि अनेक जातियों का निवास था। मध्य एशिया के ये तीनों राज्य जहां आपस में लड़ाई में तत्पर रहते थे, वहां साथ ही पड़ौस के अन्य राज्यों पर भी वे आक्रमण करते रहते थे। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक कोकन्द के खान ने काजकस्तान के बड़े भाग को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, और ताशकन्द का प्रसिद्ध नगर भी उसकी अधीनता में आ गया था। कोकन्द के खान बड़े समृद्ध व शक्तिशाली थे। पामीर की पर्वतमाला से शुरू कर सीर दरया और चीन की पश्चिमी सीमा तक उनका राज्य विस्तृत था। पर मध्य एशिया के खानों का यह उत्कर्ष देर तक कायम नहीं रहा। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए रूस ने उन पर भी आक्रमण प्रारम्भ कर दिए। १८६० तक ताशकन्द, समरकन्द आदि के अनेक प्रदेश रूस की अधीनता में आ गये थे, और १८७३ में खीवा और १८८४ में मर्व पर रूस का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था। उन्नीसवीं सदी के समाप्त होने से पहले ही मध्य एशिया के सब प्रदेश रूसी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गये थे। इन प्रदेशों पर अपने शासन को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से रूस ने वहां अनेक रेलवे लाइनों का निर्माण किया। १८८८ तक ट्रांस-कैस्पियन रेलवे बनकर तैयार हो चुकी थी। १८९८ में इस रेलवे की एक शाखा अफगानिस्तान की उत्तरी सीमा पर स्थित कुश्क तक पहुंचा दी गई थी, और मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में भी रेलवे लाइनों का निर्माण जारी था। मध्य एशिया की विजय के कारण रूस की सीमाएं ईरान, अफगानिस्तान, भारत और चीन से आ मिली, और पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में उसका राजनीतिक महत्त्व बहुत बढ़ गया।

रूस का यह उत्कर्ष ब्रिटेन के लिए बहुत चिन्ताजनक था। १८४६ ई० तक अंग्रेज लोग पंजाब की भी विजय कर चुके थे, और उनके भारतीय साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा अफगानिस्तान के साथ आ लगी थी। उन्हें भय था, कि अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए रूस अफगानिस्तान को भी अपने प्रभुत्त्व में न ले आये। रूस जैसे विशाल व शक्तिशाली राज्य के प्रभाव-क्षेत्र की सीमा यदि भारत के साथ आ लगे, तो यह बात ब्रिटेन के साम्राज्यसम्बन्धी हितों के लिये अत्यन्त घातक हो सकती थी। उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में यह दशा उत्पन्न हो गई थी, कि उत्तरी एशिया में रूस का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभुत्व स्थापित था, और दक्षिणी एशिया में ब्रिटेन का। ब्रिटिश और रूसी साम्राज्यों के बीच में तीन राज्य थे, अफगानिस्तान, ईरान और तुर्की साम्राज्य। अतः वह स्वाभाविक था, कि इन तीनों राज्यों के क्षेत्रों में रूस और ब्रिटेन में साम्राज्य-विषयक संघर्ष का प्रारम्भ हो।

यह संघर्ष सब से पूर्व क्रीमियन युद्ध (१८५४-५६) के रूप में प्रगट हुआ, जिसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। इस युद्ध में रूस परास्त हुआ था, जिसके कारण तुर्क साम्राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की उसकी आकांक्षा पूर्ण नहीं हो पायी थी। बालकन प्रायद्वीप के अनेक प्रदेश इस समय तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और ये अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे। जुलाई, १८७५ में इस प्रायद्वीप में स्थित बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेशों ने तुर्की शासन के विरुद्ध विद्रोह किया, और कुछ समय बाद बल्गारिया ने। रूस इन विद्रोहों में तुर्की के खिलाफ विद्रोही जातियों का पक्षपोषक था, क्योंकि तुर्क साम्राज्य के पतन द्वारा ही वह यह आशा कर सकता था, कि बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरू-मध्यों पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो सकेगा। अतः उसने बालकन विद्रोहियों का पक्ष लेकर एप्रिल, १८७७ में तुर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। रूस की एक सेना आक्रमण करती हुई कान्स्टेन्टिनोपल के समीप सन स्टेफिनो नामक स्थान पर पहुंच गई। ऐसा प्रतीत होता था, कि तुर्क सुलतान देर तक रूस के सामने खड़ा नहीं रह सकेगा। पर ब्रिटेन को यह सहन नहीं हुआ, कि एशिया के क्षेत्र का उसका सबसे प्रबल प्रतिद्वन्दी तुर्क साम्राज्य को नष्ट कर भूमध्य सागर के क्षेत्र तक अपने प्रभाव को स्थापित कर ले। उसने युद्ध में तुर्की का साथ दिया। आस्ट्रिया-हंगरी ने भी इस अवसर पर तुर्की की सहायता की। बिस्मार्क के नेतृत्व में जर्मनी के सुसंगठित हो जाने के कारण अब आस्ट्रिया-हंगरी का सम्राट् भी बालकन प्रायद्वीप को ही अपनी शक्ति के विस्तार का एकमात्र क्षेत्र समझता था। यदि रूस जैसा शक्तिशाली राज्य इस क्षेत्र में अपना आधिपत्य स्थापित कर ले, तो आस्ट्रिया-हंगरी के लिए बालकन प्रायद्वीप में अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सकने की कोई सम्भावना ही शेष नहीं रहती थी। ब्रिटेन और आस्ट्रिया हंगरी के हस्तक्षेप का यह परिणाम हुआ, कि रूस को सन्धि के लिये विवश होना पड़ा। १८७७-७८ के बालकन युद्ध के परिणामस्वरूप सर्बिया, मोन्टिनिग्रो और रूमानिया स्वाधीन राज्य बन गये, बल्गारिया के कुछ प्रदेशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, बोस्निया और हर्जेगोविना के प्रदेश आस्ट्रिया को प्रदान किये गये, साइप्रस द्वीप ब्रिटेन को मिला, और रूस तथा ग्रीस ने भी बालकन प्रायद्वीप के कतिपय प्रदेशों का अधिगत किया। इस युद्ध के कारण यूरोप में तुर्की का आधिपत्य बहुत कम रह गया। यदि ब्रिटेन हस्तक्षेप न करता, तो रूस इस समय सम्पूर्ण बालकन प्रायद्वीप को अपने प्रभुत्व में ले आता। पर तुर्की के साम्राज्य का निर्बल हो जाना ब्रिटेन को कभी भी सह्य नहीं हो सकता था। इसी कारण उसने रूस का विरोध कर तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में एक ऐसी व्यवस्था करायी, जिसके द्वारा यूरोप के कतिपय प्रदेशों पर भी तुर्क सुलतान का शासन कायम रहा, और रूस बालकन प्रायद्वीप को अपने प्रभुत्व में नहीं ला सका। बालकन युद्ध की समाप्ति पर सन्धि के लिये जो कान्फरेन्स हुई थी, उनमें अन्य यूरोपियन राज्यों के साथ फ्रांस भी सम्मिलित हुआ था। पश्चिमी एशिया में उसकी स्थिति अभी पर्याप्त महत्त्व की थी, अतः उसे सन्तुष्ट करना भी आवश्यक था। इस समय फ्रांस के राजनीतिज्ञों की आंख उत्तरी अफ्रीका पर थी, और वे इस क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। अतः फ्रांस को निम्नलिखित सुविधाएं देकर संतुष्ट किया गया—(१) यदि फ्रांस उत्तरी अफ्रीका में स्थित तुर्क साम्राज्य के ट्यूनिस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्त को अपने प्रभुत्व में लाने का उद्योग करे, तो अन्य राज्य उसका विरोध नहीं करेंगे, (२) ईजिप्ट पर फ्रांस का प्रभाव व आर्थिक नियन्त्रण कायम रहेगा, और (३) सीरिया में फ्रांस ने अपना जो प्रभाव-क्षेत्र कायम किया हुआ है, वहां भी उसकी स्थिति का अन्य राज्य विरोध नहीं करेंगे।

तुर्क साम्राज्य के क्षेत्र में रूस की महत्त्वाकांक्षाओं के पूर्ण होने में सफलतापूर्वक बाधा डालने के अनन्तर ब्रिटेन ने अफगानिस्तान की ओर ध्यान दिया, क्योंकि रूस इस प्रदेश की उत्तरी सीमा तक अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुका था। इस समय भारत का गवर्नर-जनरल लार्ड लिटन (१८७६-१८८०) था, जिसके आदेश पर भारत की ब्रिटिश सेनाओं ने अफगानिस्तान पर आक्रमण कर दिया। ब्रिटेन का प्रधानमन्त्री डिजरायली एशिया में रूस के बढ़ते हुए साम्राज्यवाद को अपने भारतीय साम्राज्य के लिए अत्यन्त चिन्ताजनक समझता था, अतः उसने निश्चय किया कि अफगानिस्तान में अपने प्रभुत्व का विस्तार करना रूस की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिये आवश्यक है। ब्रिटिश सेना तीन ओर से अफगानिस्तान में आगे बढ़ी। एक सेना ने खैबर से आगे बढ़कर जलालाबाद पर अधिकार कर लिया, दूसरी सेना कुर्रम के रास्ते से अफगानिस्तान में प्रविष्ट हुई, और तीसरी सेना ने कन्दहार की विजय कर ली। अफगानिस्तान के राजा शेर अली के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह अंग्रेजों का मुकाबिला कर सकता। वह भाग कर रूसी तुर्किस्तान चला गया, और वहीं उसकी मृत्यु हुई। शेर अली के पुत्र याकूब खां ने १८७८ ईस्वी में अंग्रेजों से सन्धि कर ली, जो गन्दमक की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। इस सन्धि के अनुसार—(१) याकूब खां ने यह स्वीकार किया, कि अफगानिस्तान की विदेशी नीति अंग्रेजों के अधीन रहेगी, और इसमें वह अंग्रेजी राजदूत के परामर्श के अनुसार कार्य करेगा। (२) काबुल में एक अंग्रेजी रेजीडेन्ट रहा करेगा, और हीरात आदि अन्यत्र भी अंग्रेजी एजेन्ट नियत किये जायेंगे। (३) कुर्रम की घाटी, क्वेटा, पिशीन और सिबी के प्रदेश अंग्रेजों को प्राप्त होंगे। गन्दमक की इस सन्धि के कारण अफगानिस्तान अंग्रेजों का संरक्षित राज्य बन गया, और इस देश को अपने प्रभाव में ले आने का जो प्रयत्न रूस द्वारा किया जा रहा था, उसे करारी चोट लगी।

पर गन्दमक की यह सन्धि देर तक कायम नहीं रह सकी। अफगानों को यह सहन नहीं हुआ, कि उनके देश पर किसी विदेशी राज्य का प्रभुत्व एवं प्रभाव कायम हो। उन्होंने विद्रोह कर अंग्रेजी रेजीडेन्ट की हत्या कर दी (३ सितम्बर, १८७८)। इस पर अंग्रेज सेनापति राबर्ट्स ने कुर्रम के दर्रे से काबुल की ओर प्रस्थान किया, और मार्ग में अफगानों को हराते हुए काबुल पर कब्जा कर लिया। याकूब खां को कैद कर मेरठ भेज दिया गया, और राबर्ट्स की फौजी अदालत ने बहुत-से अफगानों को फांसी की सजा दी। इससे अफगान लोग भड़क गये, और उन्होंने फिर अंग्रेजी सेना को घेर लिया। बड़ी कठिनता से अंग्रेजी सेना अफगानों के घेरे से निकल कर भारत लौट सकने में समर्थ हुई। इस बीच में इंग्लैण्ड की पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ, जिसमें डिजरायली की कन्जर्वेटिव पार्टी की हार हुई, और लिबरल पार्टी का नेता ग्लैडस्टन प्रधानमन्त्री बना। उसे डिजरायली और लिटन की अफगानिस्तान-सम्बन्धी नीति पसन्द नहीं थी। यह नीति प्रसफल भी हो चुकी थी, क्योंकि अंग्रेजी सेना काबुल को अपने कब्जे में रख सकने में असमर्थ रही थी। अतः ब्रिटेन की नई सरकार ने लिटन को वापस बुला लिया, और उसके स्थान पर लार्ड रिपन को भारत का वायसराय नियत किया (१८८०)। रिपन ने निश्चय किया, कि अफगानिस्तान से अंग्रेजी सेना हटा ली जाय। उसने शेर अली के भतीजे अबदुर्रहमान को, जो पहले रूसी तुर्कीस्तान जाकर रूस की मदद से अफगानिस्तान का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमीर (राजा) बनने के प्रयत्न में था, अफगानिस्तान का राजा स्वीकार किया और उसके साथ एक नई सन्धि की। इस सन्धि की अन्य शर्तें तो गन्दमक की सन्धि के समान ही थीं, पर काबुल में अंग्रेज रेजीडेन्ट रखने की बात हटा दी गई थी। इन अफगान युद्धों से अंग्रेजों को अनेक लाभ हुए। बिलोचिस्तान उनके प्रभुत्व में आ गया, और वहां के विविध खान अंग्रेजों का आधिपत्य स्वीकार करने लगे। क्वेटा के प्रदेश पर अंग्रेजों का सीधा शासन स्थापित हुआ, और भारत की रेलवे लाइन सिबी तक ले जायी गई, जिसके कारण भारत के इस सीमान्त प्रदेश पर अंग्रेजी शासन बहुत सुदृढ़ हो गया।

अब्दुर्रहमान ने १९०१ ई० तक अफगानिस्तान का शासन किया। उसकी नीति यह थी, कि अपने देश पर रूस या इंगलैण्ड किसी का भी प्रभाव अधिक न बढ़ने पाये। पर इस समय रूस बड़ी तेजी से मध्य एशिया पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर रहा था। १८८४ में उसने मर्व की विजय कर ली थी, जो अफगान सीमा से केवल १५० मील की दूरी पर है। रूसी लोग केवल मर्व को लेकर ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने उससे सौ मील दक्षिण में स्थित पंचदेह की बस्ती पर भी कब्जा कर लिया। यह बस्ती अफगानिस्तान में थी। रूस को इस तरह आगे बढ़ते हुए देख कर अंग्रेज बहुत चिन्तित हुए। इस समय भारत का वायसराय लार्ड डफरिन (१८८४-८८) था। उसने क्वेटा में एक बड़ी सेना एकत्र की, ताकि रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से अफगानिस्तान की रक्षा की जा सके। इस स्थिति में अब्दुर्रहमान ने बड़ी समझदारी से काम लिया। अपने राज्य में अंग्रेजों का दखल उसे पसन्द नहीं था। अतः उसने रूस के साथ समझौता कर लिया, और अफगानिस्तान तथा रूसी तुर्किस्तान की सीमा नियत कर दी। रूस ने इस सीमा से आगे न बढ़ने की बात को स्वीकार कर लिया। पर इससे भी अंग्रेजों की रूस के सम्बन्ध में चिन्ता दूर नहीं हुई। उन्हें यह भय बना रहा, कि कहीं रूस फिर अफगानिस्तान को अपने प्रभुत्व में ले आने का प्रयत्न न करे। इसी कारण अगले बीस वर्षों तक भारत सरकार ने सीमान्त प्रदेश-सम्बन्धी अपनी अग्रगामी नीति को जारी रखा। इस नीति द्वारा अंग्रेजों का यह प्रयत्न रहा, कि भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर निवास करने वाले कबीलों को अपने प्रभाव में लाया जाए। भारत और अफगानिस्तान के बीच के प्रदेशों में इन कबीलों का निवास था, और ये अपने-अपने क्षेत्रों में प्रायः स्वतन्त्र स्थिति रखते थे। लार्ड लैंसडौन (१८८८-९४) के काल में अफगान कबीलों के आपसी झगड़ों से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने झोब के प्रदेश को अपने संरक्षण में ले लिया, और चितराल ने अपनी विदेशी नीति का संचालन अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। इसी समय अंग्रेजों ने गिलगित पर अपना कब्जा कर लेने की योजना बनाई, और वहां अंग्रेज अफसर नियत किया। गिलगित के उत्तर की ओर वे हुन्जा पर भी अपना आधिपत्य स्थापित करने में तत्पर हुए, और इस प्रदेशी को भी अपनी अधीनता में ले आये। अंग्रेजों की इस अग्रगामी नीति का यह परिणाम हुआ, कि काश्मीर के पश्चिम-उत्तर के क्षेत्र पर भी ब्रिटिश आधिपत्य स्थापित हो गया। इसी नीति के कारण अफगानिस्तान के अमीर अब्दुर्रहमान को इस बात के लिये विवश होना पड़ा, कि मोहमन्द, अफरीदी, वजीरी और झोब के इलाकों तथा चमन के क्षेत्र पर से अपने दावे का परित्याग कर दे। ये सब प्रदेश पठानों के हैं, पर अब अंग्रेजों की अग्रगामी नीति के कारण उनके प्रभाव व प्रभुत्व में आ गये। साथ ही, अब्दुर्रहमान ने यह भी स्वीकार किया कि चितराल, दीर, बाजौर और स्वात के इलाकों में भी वह दखल नहीं देगा। भारत के सीमावर्ती इन प्रदेशों को अपने आधिपत्य में ले आने के कारण इस क्षेत्र में रूस के मुकाबिले में अंग्रेजों की स्थिति बहुत मजबूत हो गई, और उन्हें यह भरोसा हो गया कि रूस उनके भारतीय राज्य को किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकेगा। पर सीमान्त के पठान लोग इस दशा से संतुष्ट नहीं थे। लैन्सडौन के उत्तराधिकारी लार्ड एलगिन (१८९४-९९) के समय में इन पठान कबीलों ने अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह प्रारम्भ कर दिये, और उनका दमन करने के लिए अंग्रेजों को अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ा। १८९७ में टोची से लेकर स्वात तक के सम्पूर्ण सीमान्त प्रदेश में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। इसे शान्त कर सकना अंग्रेजों के लिए सुगम नहीं था। इस कारण लार्ड कर्जन (१८९९-१९०५) ने सीमान्त प्रदेश की कबायली जातियों के लिये एक नई नीति का अनुसरण किया, जिसके अनुसार उनके इलाके से अंग्रेजी सेनाएं हटा ली गईं, और कबायली जातियों के स्थानीय लश्कर संगठित कर उन्हें ही अपने-अपने क्षेत्रों में शान्ति कायम रखने का कार्य सुपुर्द कर दिया गया। इस कार्य के लिये उन्हें भरपूर आर्थिक सहायता दी जाती थी। अंग्रेजों से भारी रकमें प्राप्त करके कबीलों के नेता स्वयं उपद्रव न करने और दूसरों द्वारा किये गये विद्रोहों को शान्त करने का जिम्मा ले लेते थे। १९०१ में इन इलाकों को पंजाब से अलग कर एक पृथक् सीमा-प्रान्त का निर्माण किया गया, जिसका शासन भारत के अन्य प्रान्तों से भिन्न प्रकार का था। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अंग्रेजों ने अफगानिस्तान की समस्या का सफलतापूर्वक हल कर दिया था, और इस देश में रूस का प्रभाव एवं प्रभुत्व न बढ़ सके, इस बात की भली-भांति व्यवस्था कर दी थी।

(२) ईरान की खाड़ी और ईरान में रूस और ब्रिटेन का संघर्ष

ईरान की खाड़ी के साथ-साथ अरब का जो प्रदेश है, उसमें वर्तमान समय में अनेक ऐसे छोटे-छोटे राज्य स्थापित हैं, जिन पर वहां के शेखों का शासन है। इन्हें ही आजकल 'शेखडम' कहा जाता है। इनमें मुख्य कुवैत, बहराइन और कतार के राज्य हैं। वर्तमान समय में यद्यपि ये स्वतन्त्र राज्य माने जाते हैं, पर इनकी विदेशी राजनीति पर ब्रिटेन का नियन्त्रण है। मध्य काल में ओटोमन तुर्क साम्राज्य के उत्कर्ष के समय ये सब राज्य तुर्की सुलतान की अधीनता स्वीकार करते थे, यद्यपि तब भी इनका शासन इन्हीं के वंशक्रमानुगत शेखों के अधीन था। जब प्राच्य व्यापार पर कब्जा करने के लिये पाश्चात्य लोगों ने भारत, ईरान आदि के समुद्रतट पर अपनी व्यापारी कोठियां स्थापित करनी शुरू कीं, तो अंग्रेजों का ध्यान इन शेखडमों की तरफ भी आकृष्ट हुआ। उस समय यूरोप और एशिया के बीच के मार्गों के लिए ईरान की खाड़ी का बहुत महत्त्व था। पुराने एशियन व्यापारी भारत आदि प्राच्य देशों के माल को समुद्रमार्ग से ईरान की खाड़ी में भी ले जाते थे, जहां से उसे फिर स्थलमार्ग द्वारा एशिया माइनर और सीरिया के बन्दरगाहों तक पहुँचाया जाता था। ब्रिटेन इस बात के लिये उत्सुक था, कि इस मार्ग पर उसका अपना कब्जा रहे, और अन्य कोई यूरोपियन राज्य वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित न कर सके। इस उद्देश्य से उसने ईरान की खाड़ी के पश्चिमी तट पर स्थित इन शेख-राज्यों के साथ समझौते करने प्रारम्भ किये, जिनका उद्देश्य यह था, कि ये राज्य अपना कोई प्रदेश किसी भी अन्य देश को प्रदान न करें और किसी अन्य देश के राजदूत या प्रतिनिधि को अपने दरबारों में स्थान न दें। उन्नीसवीं सदी तक ईरान की खाड़ी के प्रायः सभी शेख-राज्य ब्रिटेन के साथ इस प्रकार की सन्धियां कर चुके थे। ब्रिटेन के लिये ये सन्धियां बड़े महत्त्व की थीं, क्योंकि इनके कारण रूस या फ्रांस आदि के लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वे भी इन शेख-राज्यों के साथ सन्धियां करके इन्हें अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न कर सकें। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में एशिया में साम्राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में रूस और ब्रिटेन में घोर प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी। यह प्रतिद्वन्द्विता पहले क्रीमियन युद्ध के रूप में प्रकट हुई, और फिर बालकन युद्धों और अफगान युद्धों के रूप में। इनका उल्लेख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम ऊपर कर चुके हैं। जिन दिनों द्वितीय अफगान युद्ध (१८७९) चल रहा था, ब्रिटेन को यह भी आशंका थी कि अफगानिस्तान के समान ईरान की खाड़ी में भी कहीं रूस अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने का प्रयत्न न करे। इसी कारण ब्रिटेन के विदेश-मन्त्री लार्ड सेलिस्बरी ने यह घोषणा की थी, कि "इस देश के लोग कभी सहन नहीं करेंगे, कि युफ्रेटिस और टिग्रिस नदियों के क्षेत्र में रूस का प्रभाव कायम हो।" इसीलिए अब ब्रिटेन ने ईरान की खाड़ी के पश्चिमी तट पर विद्यमान शेख-राज्यों को पूर्णतया अपने प्रभाव में ले आने के लिए विशेष रूप से प्रयत्न प्रारम्भ किया। अंग्रेजों ने इन राज्यों के शेखों से यह स्वीकार करा लिया, कि वे आपस के सब झगड़ों का निर्णय बुशायर में स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट द्वारा ही कराया करेंगे, और ब्रिटेन के अतिरिक्त किसी अन्य देश से सीधा सम्बन्ध नहीं रखेंगे। १८६९ से १८८० तक के वर्षों में ब्रिटेन ने प्रायः सभी शेख-राज्यों के साथ इसी प्रकार की सन्धियां कर ली थीं, जिनके कारण ईरान की खाड़ी के क्षेत्र में अंग्रेजों की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई थी।

पर यूरोप के अन्य राज्य भी ईरान की खाड़ी के क्षेत्र को अपने प्रभाव में ले आने के लिए प्रयत्नशील थे। विशेषतया, रूस इस बात को कदापि सहन नहीं कर सकता था, कि इन प्रदेशों पर ब्रिटेन का एकाधिपत्य स्थापित हो जाए। बगदाद में स्थित रूसी राजदूत ने यह योजना बनायी, कि ईरान की खाड़ी में रूस का भी एक नाविक अड्डा कायम किया जाए, और उसे भी यह अवसर दिया जाए कि वहां वह अपना एक बन्दरगाह विकसित कर सके। १८९८ में आस्ट्रिया और रूस की एक सम्मिलित सिण्डीकेट ने तुर्की सुलतान की सेवा में यह प्रार्थना-पत्र पेश किया, कि उसे त्रिपोली (सीरिया में) से कुवैत तक एक रेलवे लाइन के निर्माण की अनुमति प्रदान की जाए। कुवैत का शेख इस योजना को सहानुभूति की दृष्टि से देखता था, पर लार्ड कर्जन की प्रेरणा से बुशायर में स्थित ब्रिटिश रेजीडेन्ट ने कुवैत के शेख के साथ एक गुप्त समझौता किया, जिस द्वारा उसने भी ब्रिटिश संरक्षा में आना स्वीकार कर लिया। इस दशा में आस्ट्रिया और रूस की सम्मिलित सिण्डीकेट की रेलवे लाइन विषयक योजना क्रियान्वित नहीं हो सकी, और ईरान की खाड़ी के क्षेत्र में रूस ब्रिटेन के मुकाबिले में कोई सक्रिय पग नहीं उठा सका।

पर ईरान के क्षेत्र में रूस और ब्रिटेन की प्रतिद्वन्द्विता अधिक गम्भीर थी। तुर्किस्तान और ट्रांस-कोकेशिया की विजयों के कारण रूस की सीमा किस प्रकार ईरान के साथ आ लगी थी, यह पहले लिखा जा चुका है। अब रूस ने ईरान को अपने प्रभुत्त्व में लाने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। इसीलिए उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में उसने ईरान से दो युद्ध लड़े, जिनमें ईरान उसका मुकाबिला कर सकने में असमर्थ रहा। इन युद्धों की समाप्ति पर रूस और ईरान के बीच दो सन्धियां हुईं, जो गुलिस्तां और तुर्कमनजई की सन्धियों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके परिणामस्वरूप अरास नदी के पश्चिम के ईरानी प्रदेश रूस के कब्जे में आ गये, और रूसी लोगों को ईरान में एक्स्ट्रा-टेरीटोरिएलेटी-सम्बन्धी अनेक विशेषाधिकार प्राप्त हुए। इन अधिकारों के कारण ईरान में निवास करने वाले रूसी लोगों पर ईरानी कानून नहीं लागू होते थे, और उनके मामलों का निर्णय रूसी कानून के अनुसार रूसी अदालतों द्वारा ही किया जाता था। साथ ही, जो रूसी माल ईरान में बिकने के लिए आये, उसपर उसकी कीमत के अनुसार केवल पांच प्रतिशत आयात-कर वसूल किये जाने की व्यवस्था भी इन सन्धियों द्वारा की गई। रूस जो इस ढंग से ईरान में अपने प्रभाव की स्थापना के लिये तत्पर था, ब्रिटिश लोग उसे अपने भारतीय साम्राज्य के लिये खतरे की बात समझते थे। ईरान की राजनीतिक दशा इस समय बहुत खराब थी। वहां का शासन बहुत विकृत दशा में था। शाह और उसके दर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बारी जनता के कल्याण व हित पर ध्यान न देकर सरकारी आमदनी को अपने ऊपर खर्च किया करते थे। धन की कमी से विवश होकर ईरान के शाह ने अपने राज्य में पाश्चात्य देशों को कतिपय विशेष सुविधाएं देनी शुरू कीं। इनके अनुसार यूरोपियन लोगों और सरकारों ने वहां बैंक खोलने, सड़कें बनाने और इसी प्रकार के अन्य कार्यों के लिये विशेष अधिकार प्राप्त किये। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ, कि ईरान पर विदेशियों का शिकंजा दृढ़ होने लगा। उत्तरी ईरान के प्रदेशों में ये विशेषाधिकार रूस प्राप्त कर रहा था, और दक्षिणी ईरान में ब्रिटेन। ईरान का शाह इन देशों से बड़ी मात्रा में कर्ज भी ले रहा था, जिसके कारण देश की आर्थिक दशा और भी अधिक खराब होती जाती थी। ईरान में ऐसे सुशिक्षित लोगों का सर्वथा अभाव नहीं था, जो अपने देश की दुर्दशा से बहुत चिन्तित थे। परिणाम यह हुआ, कि १९०५-१९०६ में ईरान में राज्य-क्रान्ति हो गई, और वहां के शाह मुजफ्फरुद्दीन को कतिपय शासन-सुधार करने के लिये विवश होना पड़ा। पर ईरान में विदेशियों के हस्तक्षेप का इन सुधारों के कारण अन्त नहीं हो गया। ब्रिटेन और रूस पहले के समान ही उसके शोषण में तत्पर रहे। इस शोषण में वे एक दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे, और ईरान के अधिक से अधिक प्रदेशों को अपने प्रभाव में ले आने के लिए प्रयत्नशील थे।

पर इसी बीच में यूरोप की राजनीति में इस प्रकार के परिवर्तन आये, जिनके कारण रूस और ब्रिटेन दोनों ही अपनी प्रतिद्वन्द्विता का अन्त कर परस्पर समझौता कर लेने के लिये विवश हुए। १८७१ के फ्रेन्को-प्रशियन युद्ध के बाद जर्मनी की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। प्रिंस बिस्मार्क के कर्तृत्व के कारण जर्मनी एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में संगठित हो गया था, और औद्योगिक क्रान्ति द्वारा उसके कल-कारखाने असाधारण रूप से उन्नति करने लग गये थे। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि जर्मनी भी साम्राज्य विस्तार के लिये प्रयत्नशील हो। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से यूरोप के वे सब देश बहुत चिन्तित हुए, जिन्होंने पृथ्वी के विविध प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था। ये देश फ्रांस, ब्रिटेन और रूस थे। इन्होंने अब जर्मनी के खतरे को दृष्टि में रखकर परस्पर सुलह कर ली, और साम्राज्य के क्षेत्र में जिन बातों पर इनमें प्रतिद्वन्द्विता थी, उनका निर्णय कर लिया। ईरान के सम्बन्ध में भी अगस्त, १९०७ में रूस और ब्रिटेन में एक समझौता हो गया, जिसके अनुसार इन दोनों देशों ने ईरान को अपना प्रभाव-क्षेत्र मान लिया। उत्तरी ईरान को रूस का और दक्षिणी ईरान को ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र मान लिया गया। ब्रिटेन और रूस में समझौता हो जाने के कारण अब इन दोनों देशों का हित इस बात में था, कि ईरान पहले के समान ही दुर्दशाग्रस्त बना रहे, वहां शासन-सुधार न होने पाएं, और शाह का विकृत शासन वहां जारी रहे। ऐसा होने पर ही ये दोनों देश अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्रों में ईरान का मनमाने ढंग से शोषण करते रह सकते थे। रूस से प्रोत्साहन पाकर ईरान के शाह ने यह यत्न किया, कि १९०६ के शासन-सुधारों द्वारा जिस मजलिस (पार्लियामेंट) की स्थापना की गई थी, उसे बर्खास्त कर दिया जाए। एप्रिल, १९०९ में रूसी सेनाओं ने तबरीज पर कब्जा कर लिया, और सुधारों के पक्षपाती ईरानी देश-भक्तों का दमन करने में शाह की सहायता की। सुधारवादियों ने भी डट कर शाह और रूसी सेनाओं का मुकाबिला किया, पर १९११ तक उत्तरी ईरान के सब प्रदेश रूसियों के कब्जे में आ गये थे, और उनकी सहायता से ईरान का शाह मजलिस को भंग कर निरंकुश रूप से देश का शासन करने में समर्थ हो गया था। १९०७ में ब्रिटेन और रूस ने ईरान के सम्बन्ध में जो समझौता किया था, उसके कारण अब रूस को यह अवसर प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया था, कि वह उत्तरी ईरान को पूर्णतया अपने प्रभाव में ले आये। यही स्थिति दक्षिणी ईरान में ब्रिटेन की थी। वहां अंग्रेजों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था।

(४) ईजिप्ट पर ब्रिटिश प्रभुत्व की स्थापना

नैपोलियन के युद्धों के समय १८०५ ई० में मुहम्मद अली ने किस प्रकार ईजिप्ट पर अपना स्वत्त्व स्थापित किया, यह पहले लिखा जा चुका है। अपने राज्य (या सूबेदारी क्षेत्र) की उन्नति के लिये इस योग्य पाशा ने फ्रेंच लोगों का सहयोग प्राप्त किया, जिसके कारण ईजिप्ट पर फ्रेंच प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया। १८६९ ई० में स्वेज नहर बनकर तैयार हो गई, जिसका निर्माण एक फ्रेंच कम्पनी द्वारा किया गया था। इस नहर के कारण ईजिप्ट पर फ्रेंच लोगों का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया था। ब्रिटिश सरकार इस स्थिति को अपने प्राच्य साम्राज्य के लिये खतरनाक समझती थी। इसी कारण उसने ईजिप्ट में अपने प्रभाव तथा प्रभुत्त्व की स्थापना के लिये उद्योग प्रारम्भ किया।

१८६३ में ईजिप्ट के पाशा सईद की मृत्यु हो गई थी, और इस्माईल वहां के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ था। इस्माईल बहुत ही फिजूलखर्च था। साथ ही, उसे यह भी धुन थी, कि ईजिप्ट में सड़कों आदि का निर्माण करके उसे एक आधुनिक राज्य बना दिया जाए। उसने बहुत बड़ी मात्रा में रुपया उधार लेना शुरू किया। यह धन यूरोपियन महाजनों से कर्ज में लिया जा रहा था। शीघ्र ही, इस कर्ज की मात्रा इतनी अधिक बढ़ गई, कि इस्माईल के लिए उसे अदा कर सकना सम्भव नहीं रहा। जब पाश्चात्य महाजन अपने कर्ज की वसूली के लिये जोर देने लगे, तो इस्माईल ने सरकारी टैक्सों से वसूल होने वाली आमदनी को कर्ज की अदायगी के लिए जमानत के तौर पर रख देना स्वीकार कर लिया। जनता से जो टैक्स सरकार प्राप्त करती थी, उसका बड़ा भाग पाश्चात्य महाजनों को उनके कर्ज के सूद के रूप में दिया जाने लगा, जिसके कारण शासन की दशा बहुत खराब हो गई। इस्माईल इस समय कर्जे के बोझ से इतना अधिक लदा हुआ था, कि अपनी आमदनी के बड़े भाग से इन कर्जों का सूद तक अदा कर सकना उसके लिये सुगम नहीं था। इस दशा में उसने स्वेज नहर के अपने हिस्सों को बेच देने का निश्चय किया। यह नहर प्रधानतया फ्रेंच पूंजी द्वारा बनायी गई थी। पर जिस जमीन पर यह नहर खोदी गई थी, वह ईजिप्ट के पाशा की थी। साथ ही, नहर की खुदाई के लिए बहुत-से ईजिप्सियन मजदूर भी पाशा द्वारा दिये गये थे। इस कारण उसे भी इस नहर की कम्पनी में बहुत-से शेयर (हिस्से) प्रदान कर दिये गये थे। इन हिस्सों की संख्या १,७६,००० थी। ज्यों ही ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री डिजरायली को यह ज्ञात हुआ, कि स्वेज नहर के ये हिस्से बिकाऊ हैं, उसने अपनी जिम्मेदारी पर उन्हें खरीद लिया। इससे ब्रिटेन का भी स्वेज नहर पर अधिकार हो गया, और वह स्वेज की कम्पनी में फ्रांस का साझीदार बन गया। यह बात ब्रिटेन की दृष्टि से बहुत महत्त्व की थी। अपने प्राच्य साम्राज्य की दृष्टि से ब्रिटेन के लिये स्वेज के मार्ग का बहुत महत्त्व था। क्योंकि साम्राज्य-विस्तार के क्षेत्र में फ्रांस की भी ब्रिटेन से प्रतिद्वन्द्विता थी, अतः इस मार्ग पर उसके प्रभुत्त्व को ब्रिटेन कभी सहन नहीं कर सकता था। १८७५ में स्वेज कम्पनी के हिस्सों को खरीद कर ब्रिटेन ने जहां अपने साम्राज्य का हित किया, वहां साथ ही ईजिप्ट पर भी उसका आर्थिक प्रभुत्त्व निरन्तर अधिक-अधिक सुदृढ़ होता गया। ईजिप्ट के पाशा को कर्ज देने में भी वह फ्रांस के साथ होड़ कर रहा था, और जिन पाश्चात्य देशों के महाजनों के कर्ज से इस्माईल इस समय बुरी तरह से लदा हुआ था, उनमें फ्रांस और ब्रिटेन ही प्रमुख थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वेज के अपने हिस्से बेच देने पर भी इस्माईल की आर्थिक समस्या हल नहीं हुई। इससे जो रुपया प्राप्त हुआ था, वह शीघ्र ही समाप्त हो गया। अपनी देनदारी को निमित्त बनाकर ब्रिटेन और फ्रांस ईजिप्ट के शासन में मनमाने ढंग से हस्तक्षेप कर रहे थे। यद्यपि वहां की सरकारी आमदनी का बड़ा भाग उन्हें प्राप्त हो रहा था, पर वे इतने से भी सन्तुष्ट नहीं थे। टैक्सों को वसूल करने के बहाने से अब उन्होंने ईजिप्ट पर अपना सैनिक नियन्त्रण भी स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। जो टैक्स उन्हें अपने कर्ज की वसूली के लिये जमानत के रूप में दिये गये थे, उन्हें प्राप्त करने के लिए वे अब अपने कर्मचारी भी नियत करने लगे, और इन कर्मचारियों की सहायता के लिये सैनिक दस्ते भी। जब इस्माईल ने इसका विरोध किया, तो फ्रांस और ब्रिटेन उसके खिलाफ हो गए। क्योंकि ईजिप्ट तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, अतः इन पाश्चात्य देशों ने वहां के सुलतान पर इस बात के लिये जोर दिया, कि इस्माईल को पदच्युत कर दिया जाय। रूस के विरोध के बावजूद भी तुर्क सुलतान की स्थिति जो अब तक कायम थी, उसका मुख्य कारण ब्रिटेन द्वारा उसका समर्थन व साहाय्य ही था। अतः वह ब्रिटेन की मांग की उपेक्षा नहीं कर सका। १८७९ ई० में इस्माईल को पदच्युत कर दिया गया, और उसके पुत्र तोफीक को ईजिप्ट का पाशा नियत किया गया। पाश्चात्य देश ईजिप्ट के शासन में जो इस ढंग से हस्तक्षेप कर रहे थे, उसे वहां की जनता सहन नहीं कर सकी। अरबी पाशा नाम के एक वीर देशभक्त के नेतृत्व में उसने विद्रोह कर दिया। 'ईजिप्ट ईजिप्सियन लोगों के लिये है', इस नारे से सारा देश गूंज उठा। धीरे-धीरे अरबी पाशा की शक्ति बहुत बढ़ गई। तोफीक को उसके सम्मुख झुकना पड़ा, और उसके परामर्श के अनुसार ईजिप्ट के शासन में अनेक ऐसे सुधार किये गये, जिनसे उसकी दशा बहुत कुछ सम्भल गई। पर ब्रिटेन और फ्रांस इससे संतुष्ट नहीं थे। वे चाहते थे, कि ईजिप्ट पूर्ववत् दुर्दशाग्रस्त बना रहे, ताकि वे स्वच्छन्द रूप से उसका शोषण करते रह सकें। इसके लिये अरबी पाशा की शक्ति को नष्ट करना आवश्यक था। उसके विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ करने का प्रश्न जब फ्रांस की प्रतिनिधि-सभा में पेश हुआ, तो वहां वह स्वीकृत नहीं हो सका। नैपोलियन तृतीय के पतन (१८७१) के बाद फ्रांस में तृतीय रिपब्लिक की स्थापना हो गई थी, और वहां की नई लोकतन्त्र सरकार को यह उचित प्रतीत नहीं होता था, कि अरबी पाशा जैसे राष्ट्रीय नेता के विरुद्ध युद्ध आरम्भ किया जाय। परिणाम यह हुआ, कि अरबी पाशा की शक्ति को नष्ट करने का कार्य अकेले ब्रिटेन पर आ पड़ा, और उसने ईजिप्ट के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया। ईजिप्ट की शक्ति ब्रिटेन के मुकाबिले में नगण्य थी। १८८२ ई० के सितम्बर मास में तेल-एल-कबीर के रणक्षेत्र में अरबी पाशा की पराजय हुई। गिरफ्तार करके उसे सीलोन भेज दिया गया। अरबी पाशा के पतन के बाद ईजिप्ट पर ब्रिटिश प्रभुत्त्व बहुत सुदृढ़ हो गया। यद्यपि अब भी वहां का शासन तौफीक के हाथों में था, जो तुर्क सुलतान को अपना अधिपति स्वीकृत करता था, पर वास्तविक शासन शक्ति अब ब्रिटेन के पास आ गई थी। अब ब्रिटेन का ईजिप्ट पर केवल आर्थिक नियन्त्रण ही नहीं था, अपितु वहां के शासन का संचालन भी उसी के हाथों में आ गया था। १८८४ में लार्ड क्रोमर को ईजिप्ट में ब्रिटिश एजेन्ट एवं राजदूत नियत किया गया। क्रोमर बहुत ही चतुर एवं चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था। ईजिप्ट पर ब्रिटिश आधिपत्य को स्थापित करने का मुख्य श्रेय उसे ही दिया जाना चाहिये। इस बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ ने अपने कार्य का बड़ी चतुराई से सम्पादन किया, और अपने सुदीर्घ कार्यकाल (१८८४-१९०७) में ईजिप्ट पर ब्रिटिश प्रभुत्त्व पूर्णरूप से स्थापित कर दिया। उसने ईजिप्ट की सेना का नये ढंग से संगठन किया, उसके संचालन के लिये ब्रिटिश अफसर नियत किये, अनेक नई नहरें निकालीं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और आर्थिक मामलों का इस प्रकार से प्रबन्ध किया, जिससे कि इस देश की दशा बहुत कुछ सम्भल गई। ईजिप्ट का सूबेदार या शासक इस समय पूर्ण रूप से ब्रिटिश लोगों के हाथों में कठपुतली के समान हो गया था।

ब्रिटिश लोग केवल ईजिप्ट पर ही अपना प्रभुत्व स्थापित करके संतुष्ट नहीं हो गये थे, वे सूडान को भी अपने अधिकार में ले आना चाहते थे। मुहम्मद अली के समय में ही सूडान का कुछ भाग ईजिप्ट के अधीन हो चुका था। इस समय यह प्रदेश स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन के प्रभुत्व में आ गया था, और उसकी ओर से वहां का शासन करने के लिए जनरल गोर्डन को नियुक्त किया गया था। खार्तूम को अपनी शक्ति का केन्द्र बनाकर ब्रिटिश लोग सूडान में और अधिक आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील थे। इससे सूडानी लोगों में बहुत असन्तोष हुआ, और मुहम्मद अहमद नाम के एक वीर के नेतृत्व में १८८५ में उन्होंने ब्रिटिश प्रभुत्त्व के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। जनरल गोर्डन को खार्तूम में बुरी तरह से घेर लिया गया। कुछ महीनों के घेरे के बाद जब एक नई ब्रिटिश सेना उसे छुड़वाने के लिए खार्तूम पहुँची, तो गोर्डन समेत सम्पूर्ण ब्रिटिश सैनिकों को, जो खार्तूम में घिरे हुए थे, कत्ल कर दिया गया। गोर्डन के कत्ल से सूडानी युद्ध ने बहुत गम्भीर रूप धारण कर लिया। सूडानी लोगों को परास्त करने के लिये लार्ड किचनर के नेतृत्त्व में एक शक्तिशाली ब्रिटिश सेना वहां भेजी गई, और १८९८ में किचनर खार्तूम को अपनी अधीनता में लाने में समर्थ हुआ। इसके बाद शीघ्र ही सम्पूर्ण सूडान ब्रिटिश लोगों के अधीन हो गया।

पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास में ईजिप्ट और सूडान पर ब्रिटिश आधिपत्य की स्थापना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। ईजिप्ट से फ्रेंच प्रभाव का अन्त कर ब्रिटेन ने इस प्रदेश को जो अपने प्रभुत्त्व में ले लिया, उसके कारण पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में उसका राजनीतिक महत्त्व बहुत बढ़ गया। १८७१ के बाद यूरोप की राजनीति में जर्मनी का जिस ढंग से उत्कर्ष हो रहा था, उसके कारण ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही चिन्तित थे। इसीलिए अब उनमें पारस्परिक विरोध व प्रतिद्वन्द्विता में बहुत कमी हो गई थी, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। इस काल में उन्होंने परस्पर मिलकर इस प्रकार के अनेक समझौते भी कर लिये थे, जिनके कारण उन्होंने अपने साम्राज्य-विस्तार के क्षेत्रों को बांट लिया था। इसीलिये ईजिप्ट और सूडान में बढ़ते हुए ब्रिटिश प्रभुत्त्व का फ्रांस ने विरोध नहीं किया, और ब्रिटेन को इन देशों में मनमानी करने का अवसर मिल गया।

(४) पश्चिमी एशिया के लिए संघर्ष में जर्मनी का सम्मिलित होना

साम्राज्य-विस्तार के लिये पाश्चात्य देशों द्वारा जो संघर्ष पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में हो रहा था, १८७० से पूर्व जर्मनी उसमें सम्मिलित नहीं था। सीरिया और पैलेस्टाइन में कतिपय जर्मन पादरी अवश्य विद्यमान थे, और जर्मनी के व्यापारियों ने इन प्रदेशों में व्यापार के लिये आना-जाना भी शुरू कर दिया था। पर इस क्षेत्र में जर्मनी का राजनीतिक प्रभाव न के बराबर था। १८७०-७१ के फ्रेन्को-प्रशियन युद्ध में जब फ्रांस परास्त हो गया, तो यूरोप में जर्मनी का महत्त्व बहुत बढ़ गया, और ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के समान वह भी साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रवृत्त हुआ। १८८८ में विलियम प्रथम की मृत्यु के कुछ समय बाद उसका पौत्र विलियम द्वितीय जर्मनी का सम्राट् बना, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने जर्मन साम्राज्य के निर्माता प्रिंस बिस्मार्क की उपेक्षा कर स्वयं शासन करना प्रारम्भ किया। इस समय जर्मनी असाधारण गति से औद्योगिक उन्नति के लिये प्रयत्नशील था। अपने देश के लिये जितने तैयार माल की आवश्यकता थी, उत्पादन उससे बहुत अधिक था। यह माल कहीं बिकना चाहिये था, जिसके लिए जर्मनी को भी अपने उपनिवेशों और प्रभाव-क्षेत्रों की आवश्यकता थी। अन्य यूरोपियन राज्यों का अनुसरण कर जर्मनी ने भी इस समय अफ्रीका महाद्वीप में अपने अनेक उपनिवेश स्थापित किये। पर विलियम द्वितीय की दृष्टि में वे जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के लिये पर्याप्त नहीं थे। अतः उसने पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व का प्रसार करने के लिए उद्योग प्रारम्भ किया।

प्रिंस बिस्मार्क ने कूटनीति का अनुसरण कर यूरोप में एक त्रिगुट का निर्माण किया था, जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली—ये तीन राज्य सम्मिलित थे। जर्मनी के एक शक्तिशाली राज्य के रूप में संगठित हो जाने के कारण आस्ट्रिया के सम्राटों के लिए मध्य यूरोप के क्षेत्र में अपना महत्त्व कायम रख सकना सम्भव नहीं रहा था। अतः अब उनका ध्यान बालकन प्रायद्वीप की ओर आकृष्ट हुआ, जहां पहले तुर्क सुलतानों का शासन था, और उनके विरुद्ध विद्रोह कर जहां कतिपय नये राज्यों की स्थापना हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ था। आस्ट्रिया के सम्राट् इन बालकन राज्यों को अपने प्रभाव में ले आने के लिये प्रयत्नशील थे। जर्मन सम्राट् विलियम द्वितीय इस प्रयत्न में आस्ट्रिया का समर्थक था। उसकी इच्छा थी, कि बालकन प्रायद्वीप पर उसका मित्र आस्ट्रिया अपना आधिपत्य स्थापित कर ले, और इस प्रकार नार्थ सी (उत्तरी सागर) से ब्लैक सी (काला सागर) तक सम्पूर्ण पूर्वी और मध्य यूरोप पर जर्मनी और आस्ट्रिया का कब्जा हो जाए। इतना ही नहीं, विलियम द्वितीय की यह भी आकांक्षा थी, कि एशिया में भी अपने प्रभुत्त्व का प्रसार किया जाय। एशिया आने-जाने के सीधे व सुगम मार्ग—भूमध्य सागर, स्वेज की नहर और लाल सागर—पर इस समय ग्रेट ब्रिटेन का प्रभुत्त्व था। जर्मनी इस मार्ग द्वारा एशिया में अपना आधिपत्य स्थापित नहीं कर सकता था। उसने एक नवीन मार्ग की कल्पना की। यदि तुर्क सुलतान भी उसके गुट में शामिल हो जाय, और आस्ट्रिया के समान तुर्की पर भी उसका प्रभाव स्थापित हो जाए, तो एक नये मार्ग से (जर्मनी से आस्ट्रिया, वहां से बालकन प्रायद्वीप जो कि आस्ट्रिया के प्रभुत्त्व में हो, और वहां से तुर्की तथा ईराक, जो इस समय तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, होकर ईरान की खाड़ी को पहुँचा जाय) एशिया पहुंचा जा सकेगा। इस कल्पना से विलियम द्वितीय ने तुर्क सुलतान के साथ मैत्री स्थापित करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। तुर्की में स्थित जर्मन राजदूत बैरन मार्शल फॉन बीवर स्टाइन इस कार्य में उसका प्रधान सहायक था। इस समय तुर्की भी लोकतन्त्रवाद के आन्दोलन से बचा हुआ नहीं रह सका था। तरुण तुर्क दल नाम से एक नई पार्टी की वहां स्थापना हो गई थी, जो अपने देश में लोकतन्त्रवाद का अनुसरण कर वैध राजसत्ता को कायम करने के लिये प्रयत्नशील थी। मार्शल स्टाइन ने इस पार्टी के नेताओं के साथ मैत्री स्थापित की। भौगोलिक दृष्टि से जर्मनी तुर्की से बहुत दूर था, पर आर्थिक क्षेत्र में तुर्की के साथ सहयोग कर वह उसे अपने प्रभाव में ला सकता था। औद्योगिक उन्नति के कारण इस समय जर्मनी के पास पूंजी की प्रचुरता थी। जर्मन महाजन तुर्की में पूंजी लगाने के लिए तैयार थे, और जर्मन इन्जीनियर वहां कार्य करने को उद्यत थे। पर इस क्षेत्र में भी ब्रिटिश और फ्रेञ्च लोग जर्मनों से पहले ही तुर्की में कार्य कर रहे थे। १८६६ में ब्रिटिश पूंजीपतियों ने एशिया माइनर में एक रेलवे लाइन का निर्माण किया था, जो स्मरना से शुरू होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर आइदीन तक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती थी। १८८८ में फ्रेञ्च पूंजीपतियों ने सीरिया के प्रदेश में रेलवे लाइन के निर्माण के लिये तुर्क सुलतान से अनुमति प्राप्त कर ली थी। अब जर्मन पूंजीपतियों ने भी इस क्षेत्र में एक रेलवे लाइन बनाने के लिये सुलतान से अनुमति प्राप्त की। यह लाइन कान्स्टेन्टिनोपल को अंकारा के साथ मिलाती थी। १८९३ ई० के आरम्भ तक यह रेलवे लाइन बनकर तैयार भी हो गई थी। इसके बाद जर्मन पूंजीपतियों ने २७६ मील लम्बी एक अन्य लाइन के निर्माण की अनुमति प्राप्त की, जो कान्स्टेन्टिनोपल-अंकारा रेलवे की ब्राञ्च लाइन के रूप में दक्षिण-पूर्व की ओर जाती थी। १८९६ में जर्मन इन्जीनियरों ने इसे भी तैयार कर दिया, और सुलतान से यह इजाजत ली कि इसे बढ़ाकर बगदाद तक पहुंचा दिया जाय। जर्मन सरकार के सम्मुख यह कल्पना थी, कि यदि कान्स्टेन्टिनोपल और बगदाद के बीच में जर्मन पूंजी द्वारा एक सीधी रेलवे लाइन का निर्माण हो जाए, तो बर्लिन से बगदाद तक सम्पूर्ण रेल मार्ग जर्मनी के प्रभाव में आ जायगा। इस समय आस्ट्रिया-हंगरी के सम्राट् के साथ जर्मनी की घनिष्ठ मैत्री थी। बर्लिन से कान्स्टेन्टिनोपल तक रेलवे लाइन विद्यमान थी, और यह लाइन ऐसे प्रदेशों में से होकर गुजरती थी, जो जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के प्रभाव में थे। यदि कान्स्टेन्टिनोपल से बगदाद तक ऐसी रेलवे बन जाए, जो कि जर्मन प्रभाव में हो, तो जर्मनी के लिए एशिया पहुँचने का एक ऐसा मार्ग तैयार हो जायगा, जो पूर्णतया जर्मन प्रभाव में होगा। विलियम द्वितीय इसी योजना को क्रियान्वित करने के लिए प्रयत्नशील था।

तुर्क सुलतान इस समय जर्मनी की शक्ति को बहुत महत्त्व देता था, और उस पर जर्मन लोगों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता जा रहा था। तुर्की की सेना का संगठन करने के लिये जर्मन अफसर नियुक्त थे, और तुर्क साम्राज्य की सेना के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्र जर्मनी से ही क्रय किये जाते थे। फ्रेंच लोगों ने जर्मनी की योजना (कोनया-एलेप्पो-मोसल-बगदाद रेलवे) का विरोध किया, पर जर्मन राजनीतिज्ञों ने इस नई रेलवे कम्पनी में फ्रेंच पूंजीपतियों को पूंजी लगाने का अवसर प्रदान कर उनके मुंह को बन्द कर दिया। ब्रिटेन ने जर्मनी की इस योजना का विरोध नहीं किया, क्योंकि अब (१८९८) तक भी वह एशिया के क्षेत्र में रूस को ही अपना प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी समझता था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों का विचार था, कि यदि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में जर्मन हितों का भी प्रवेश हो जायगा, तो रूस का मुकाबिला कर सकना अधिक सुगम हो जायगा। फ्रांस और ब्रिटेन द्वारा कोई विरोध न होने पर बगदाद रेलवे की योजना सफल हो गई, और तुर्क सुलतान की अनुमति प्राप्त करके जर्मन इन्जीनियर उसके निर्माण में प्रवृत्त हो गये।

पर पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में जर्मनी के इस बढ़ते हुए प्रभाव को अनेक ब्रिटिश राजनीतिज्ञ अपने साम्राज्य-विषयक हितों के लिये हानिकारक समझ रहे थे। बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक यह भली-भांति स्पष्ट हो गया था, कि जर्मनी भी साम्राज्य-विस्तार के लिये जी-जान से तत्पर है, और अन्य साम्राज्यवादी देशों के साथ उसका संघर्ष अवश्यम्भावी है। आस्ट्रिया और इटली के साथ मिलकर जर्मनी ने जिस त्रिगुट का निर्माण किया था, वह भी ब्रिटेन के लिए चिन्ता का विषय था। १८७०-७१ के फ्रान्को-प्रशियन युद्ध में बिस्मार्क द्वारा परास्त होकर फ्रांस तो जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित था ही। इस दशा में यूरोप की राजनीति में ऐसे परिवर्तन आने शुरू हुए, जिनके कारण जर्मनी के त्रिगुट के मुकाबिले में ब्रिटेन, फ्रांस और रूस एक दूसरे के समीप आने के लिये प्रवृत्त हुए। १८९३ में रूस और फ्रांस ने परस्पर मिलकर एक सन्धि की, जिसके अनुसार यह निश्चय किया गया कि यदि जर्मनी फ्रांस पर आक्रमण करे, तो रूस फ्रांस की सहायता करेगा, और जर्मनी व आस्ट्रिया के रूस पर आक्रमण करने की दशा में फ्रांस रूस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सहायता करेगा। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के कारण इंगलैण्ड भी बहुत चिन्तित था। उसने भी अब यह अनुभव किया, कि जर्मनी का मुकाबिला करने के लिए यदि किन्हीं अन्य राज्यों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है, तो वे फ्रांस और रूस ही हैं। पर प्राच्य साम्राज्य के क्षेत्र में ब्रिटेन की इन राज्यों के साथ देर से प्रतिद्वन्द्विता चली आ रही थी। फ्रांस और इंगलैण्ड की शत्रुता बहुत पुरानी थी। सतरहवीं, अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में ये दोनों राज्य साम्राज्यवाद के क्षेत्र में एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करते रहे थे। यद्यपि अमेरिका और भारत में ब्रिटेन ने फ्रांस को परास्त कर दिया था, पर ईजिप्ट, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया के क्षेत्रों में इन राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता का अभी अन्त नहीं हुआ था। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम वर्षों तक ईजिप्ट और सूडान में ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभुत्त्व के कारण फ्रांस बहुत उद्विग्न था। इसी कारण फ्रांस के कतिपय राजनीतिज्ञ गम्भीरता के साथ यह भी विचार करने लगे थे, कि ब्रिटेन के मुकाबिले में जर्मनी के साथ सन्धि कर लेना कहीं अधिक लाभदायक है, क्योंकि फ्रांस और इंगलैण्ड में कभी मित्रता नहीं हो सकती। इसीलिये बगदाद रेलवे के प्रश्न पर फ्राँस और जर्मनी को समझौता कर लेने में कोई कठिनाई नहीं हुई थी। पर बीसवीं सदी में जर्मनी के असाधारण उत्कर्ष के कारण फ्रांस और इंगलैण्ड दोनों समान रूप से चिन्ता अनुभव करने लगे, और उन्होंने आपस के झगड़ों को निबटा कर परस्पर सन्धि कर लेना ही उचित समझा। १९०४ में फ्रांस और इंगलैण्ड ने इस आशय की एक सन्धि की, कि विदेशी राजनीति में वे परस्पर मिल कर कार्य करेंगे। जर्मनी के भय ने इन दोनों राज्यों को अब मित्र बना दिया था। उनकी यह मित्रता बीसवीं सदी के इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है।

फ्रांस के समान रूस भी इंगलैण्ड का पुराना शत्रु था। तुर्क साम्राज्य, ईरान, अफगानिस्तान आदि एशिया के सभी क्षेत्रों में इन दोनों राज्यों के साम्राज्य-सम्बन्धी हित एक दूसरे के साथ टकराते थे। पर जिस प्रकार जर्मनी के भय ने फ्रांस और इंगलैण्ड को परस्पर सन्धि कर लेने के लिये विवश किया, वैसे ही रूस और इंगलैण्ड की मैत्री में भी जर्मनी के खतरे ने बहुत सहायता पहुंचाई। सन् १९०७ में इन दोनों राज्यों ने भी आपस में सन्धि कर ली। ईरान, अफगानिस्तान आदि के क्षेत्रों में इन राज्यों के जो भी झगड़े थे, उन सबका निबटारा इस सन्धि द्वारा कर लिया गया। वस्तुतः, जर्मनी के उत्कर्ष ने बीसवीं सदी के प्रारम्भ में एक नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति को उत्पन्न कर दिया था। बगदाद रेलवे के निर्माण द्वारा जर्मनी जो पश्चिमी एशिया पर और भारत आदि प्राच्य देशों तक पहुंचने के मार्ग पर अपना प्रभाव स्थापित करने में लगा था, ब्रिटेन उसे अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखता था। फिर भी १९०७ में ब्रिटेन की लिबरल सरकार ने जर्मनी द्वारा बगदाद रेलवे के निर्माण को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया, कि बगदाद के दक्षिण में बसरा तक जो रेलवे बनायी जाए, उसे बनाने का कार्य ब्रिटेन के हाथों में रहे। बसरा ईराक की खाड़ी के उत्तरी प्रदेश में एक महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह है। ब्रिटेन को इस बात की चिन्ता थी, कि ईरान की खाड़ी के क्षेत्र में किसी अन्य राज्य का प्रभुत्त्व स्थापित न हो सके। इस उद्देश्य में उसे सफलता भी प्राप्त हुई, क्योंकि जर्मनी अपनी रेलवे को बसरा व ईरान की खाड़ी के किसी भी प्रदेश में ले जा सकने में समर्थ नहीं हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चालीसवां अध्याय

पश्चिमी एशिया में नवजागरण का प्रारम्भ

(१) नई शिक्षा और पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव

पश्चिमी एशिया के विविध देशों के निवासी प्रधानतया इस्लाम के अनुयायी हैं। हजरत मुहम्मद के कर्तृत्व के कारण जब अरब की विविध जातियां धार्मिक तथा राजनीतिक दृष्टि से एक सूत्र में संगठित हो गईं, तो इस्लाम का बहुत उत्कर्ष हुआ। अरबों द्वारा स्थापित विशाल साम्राज्य जहां मुस्लिम धर्म एवं संस्कृति का प्रधान केन्द्र था, वहां सभ्यता की दृष्टि से भी बहुत उन्नत था। मध्यकाल की जिन सदियों को यूरोप के इतिहास में अन्धकार-युग (डार्क एजेज़) कहा जाता है, उनमें अरब का साम्राज्य अत्यन्त सभ्य व उन्नत था, और वहां के निवासी ज्ञान-विज्ञान की उन्नति में तत्पर थे। पर तुर्क आक्रमणों के बाद पश्चिमी एशिया की घटती कला प्रारम्भ हो गई थी, और विद्या के पुनः जागरण और धार्मिक सुधारणा द्वारा यूरोप के लोग जब उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर होने लगे, इन मुस्लिम प्रदेशों में संकीर्णता और कट्टरता का वातावरण जारी रहा। इसीलिये उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब औद्योगिक क्रान्ति के कारण यूरोप में विशालकाय कारखाने कायम हो रहे थे, और नये वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण वहां के लोग एक नये युग का सूत्रपात कर रहे थे, पश्चिमी एशिया के निवासी अपने पुराने रहन-सहन से ही सन्तुष्ट थे। न वहां कल-कारखानों की सत्ता थी, और न राष्ट्रीयता तथा लोकतन्त्र के विचारों का ही वहां प्रवेश हुआ था। तुर्की सुलतान व उसके सूबेदार स्वेच्छाचारी व निरंकुश रूप से अपने प्रदेशों का शासन करते थे, और राजकीय आमदनी को अपने व्यक्तिगत भोगविलास और शान शौकत का साधन मात्र समझते थे। सर्वसाधारण जनता की दशा बहुत खराब थी। लोगों का मुख्य व्यवसाय खेती था, क्योंकि उद्योगों का इन प्रदेशों में अभी विकास नहीं हुआ था। खेती मुख्यतया वर्षा पर आश्रित थी। यदि किसी साल वर्षा न हो और अकाल पड़ जाए, तो लोग उसे अल्लाह की इच्छा मान कर सन्तोष कर लेते थे। वैज्ञानिक चिकित्सा से अनभिज्ञ होने के कारण लोग रोगों के इलाज के लिये मुख्यतया मौलवियों और धार्मिक गुरुओं पर ही निर्भर करते थे, और महामारियों को ईश्वर का कोप समझकर संतोष कर लेते थे। सर्वसाधारण जनता प्रायः निरक्षर थी। नये ज्ञान-विज्ञान से अभी लोग अपरिचित थे, और कुरान तथा अन्य धर्मग्रन्थों के अध्ययन को ही एकमात्र शिक्षा समझते थे।

पर धीरे-धीरे इस दशा में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। इस परिवर्तन का मुख्य श्रेय उन ईसाई पादरियों को है, जो पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में धर्म के प्रचार के लिये प्रयत्नशील थे। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए नैपोलियन ने जब ईजिप्ट पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, तो पश्चिमी एशिया की मुस्लिम जनता को पाश्चात्य सभ्यता के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। नैपोलियन की विजय के साथ जिन नवीन तत्त्वों का ईजिप्ट में प्रवेश हुआ, उनमें एक मुद्रणालय (प्रिंटिंग प्रेस) भी था, जिसे इस फ्रेञ्च विजेता ने कैरो में स्थापित किया था। इससे पूर्व ईजिप्ट में किसी भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रेस की सत्ता नहीं थी। नैपोलियन ने वहां पहला प्रेस कायम करके उससे अरबी भाषा में ऐसी विज्ञप्तियां छपवानी शुरू कीं, जिनका प्रयोजन ईजिप्ट के लोगों में फ्रेंच शासन के पक्ष में प्रचार करना था। कुछ वर्षों के अपने शासन-काल में नैपोलियन ने ईजिप्ट में एक साहित्य एकेडमी भी स्थापित की, और उसके साथ एक पुस्तकालय भी। ईजिप्ट के लिये ये बिलकुल नई चीजें थीं। इनके कारण वहां के निवासियों को पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और ज्ञान-विज्ञान से परिचित होने का अवसर मिला, और उन्होंने यह भी अनुभव करना शुरू किया कि अपने देश की उन्नति के लिये इनको अपनाना उपयोगी हो सकता है।

१८०५ ई० में जब मुहम्मद अली ने ईजिप्ट में अपनी सत्ता को स्थापित किया, तो उसने उस प्रक्रिया को जारी रखा, जिसका प्रारम्भ नैपोलियन के आक्रमण द्वारा हुआ था। यद्यपि मुहम्मद अली स्वयं अशिक्षित था, पर शिक्षा के महत्त्व को वह भली भांति समझता था। इसीलिये अपने राज्य में उसने पृथक् रूप से शिक्षा-विभाग की स्थापना की, और उस द्वारा अनेक ऐसे शिक्षणालय कायम किये गये, जिनमें चिकित्सा, तथा इन्जीनियरिंग की आधुनिक शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षणालयों में शिक्षा देने का कार्य फ्रेंच अध्यापकों के सुपुर्द किया गया। सैंकड़ों की संख्या में ईजीप्सियन विद्यार्थी इस समय में फ्रांस, इटली आदि यूरोपियन देशों में उच्च शिक्षा के लिये भेजे गये, और उन पर मुहम्मद अली की सरकार ने लाखों रुपये खर्च किये। पेरिस में इस समय इतने अधिक ईजिप्सियन विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, कि उनके निवास के लिये एक पृथक् होस्टल स्थापित करना पड़ा था। फ्रांस, इटली आदि पाश्चात्य देशों में निवास करते हुए ये विद्यार्थी जहां सैन्य-संचालन, इन्जीनियरिंग, कृषिज्ञास्त्र, विज्ञान आदि की शिक्षा प्राप्त करते थे, वहां साथ ही इन्हें राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के नये विचारों से परिचय प्राप्त करने का भी अवसर मिलता था। ये अनुभव करते थे, कि हमारा देश उन्नति की दौड़ में बहुत पीछे रह गया है, और उसे भी नये ज्ञान-विज्ञान को अपनाकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये। फ्रांस तथा अन्य यूरोपियन राज्यों के सम्पर्क के कारण उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ काल में ईजिप्ट में नवजागरण का सूत्रपात हुआ। मुहम्मद अली एक अत्यन्त योग्य शासक था। अपने सुदीर्घ शासन काल (१८०५-१८४९) में उसने ईजिप्ट में नई शिक्षा के प्रवेश के सम्बन्ध में अत्यन्त उपयोगी कार्य किया।

दुर्भाग्यवश, मुहम्मद अली का उत्तराधिकारी अब्बास (१८४९-१८५४) नई शिक्षा को विशेष महत्त्व नहीं देता था। यूरोपियन शिक्षा और संस्कृति का वह विरोधी था। उसके बाद ईजिप्ट की राजगद्दी पर सईद आरूढ़ हुआ, पर वह (शासन काल १८५४-१८६३) भी नई प्रगतिशील प्रवृत्तियों का विरोधी था। इस कारण इनके समय में नवजागरण की वह प्रवृत्ति रुक गई, जिसका प्रारम्भ मुहम्मद अली द्वारा किया गया था। नई शिक्षा के लिये जो अनेक शिक्षणालय मुहम्मद अली के समय में स्थापित हुए थे, वे भी इस काल में बन्द हो गये थे। पर इस्माईल (१८६३-१८७९) के शासन काल में नई प्रवृत्तियों को फिर बल मिला। इस्माईल की अपनी शिक्षा पेरिस में हुई थी, वह फ्रेंच साहित्य से भली-भांति परिचित था, और यूरोपियन ज्ञान-विज्ञान के महत्त्व को समझता था। उसका विचार था, कि ईजिप्ट भी यूरोप का एक अंग है, और उसे यूरोप का ही अनुसरण करना चाहिये। इसीलिये उसने अपने देश में नवयुग के विचारों को प्रविष्ट कराने के लिये अनेक उपायों का अवलम्बन किया। पाश्चात्य ढंग से शिक्षा देने वाले विद्यालयों की फिर से स्थापना की गई। अरबी भाषा में नई पाठ्य-पुस्तकें तैयार करायी गईं, और नये ज्ञान-विज्ञान को पाठ्यक्रम में विशेष स्थान दिया गया। इस्माईल ने ही ईजिप्ट में वह नेशनल लायब्रेरी कायम की थी, जो अब तक भी वहां विद्यमान है। भौगो-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिक ज्ञान के प्रसार के लिये उसने रायल जियाग्राफिकल सोसायटी नाम से एक नई संस्था की स्थापना की, जिसने आगे चलकर बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया। स्त्रियों की शिक्षा पर भी उसने ध्यान दिया, और ईजिप्ट का पहला कन्या विद्यालय उसी के समय में स्थापित हुआ। फ्रेंच शिक्षणालय ईजिप्ट में पहले भी विद्यमान थे, पर इस्माईल के संरक्षण के कारण १८६५ में वहां एक अमेरिकन कालिज की भी स्थापना हुई, जिस द्वारा इस देश में अंग्रेजी भाषा के प्रचार में अच्छी सहायता मिली। १८६८ में ईजिप्ट में अमेरिकन प्रेस्बिटीरियन चर्च ने भी अपना कार्य प्रारम्भ किया, जिसके कारण वहां के निवासियों को पाश्चात्य संस्कृति के निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। इसमें सन्देह नहीं, कि इस्माईल के शासन काल में ईजिप्ट का यूरोप की सभ्यता के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हुआ, और वहां के लोगों में संकीर्णता और कट्टरता के स्थान पर आधुनिक विचारों और नई प्रवृत्तियों का प्रारम्भ हुआ। अपने देश को आधुनिकता के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर करने की धुन में इस्माईल ने अनेक ऐसी योजनाओं का भी निर्माण शुरू किया, जिनके लिये अत्यधिक धन की आवश्यकता थी। साथ ही, उसने अपने और अपने दरबार के खर्च को इतना अधिक बढ़ा लिया, कि उसे बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से कर्ज लेने के लिये विवश होना पड़ा। इन कर्जों के कारण किस प्रकार ईजिप्ट यूरोपियन महाजनों के चंगुल में फंसता गया, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यदि इस्माईल मुहम्मद अली के समान योग्य होता, और संभल कर अपनी शासन-नीति का संचालन करता, जो उसे उन विपत्तियों का सामना न करना पड़ता जिनके कारण उसे अपनी राजगद्दी से ही हाथ धोना पड़ गया। क्योंकि वह यूरोपियन संस्कृति और नये ज्ञान-विज्ञान के महत्त्व को भली-भाँति समझता था, अतः वह अपने देश के नव-जागरण के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकता था। पर आर्थिक नीति के विषय में जो भूलें उसने कीं, उनके कारण वह इस सम्बन्ध में अधिक कार्य नहीं कर सका। इस्माईल के बाद ईजिप्ट किस प्रकार ब्रिटेन के आधिपत्य में आ गया, यह पहले लिखा जा चुका है। ब्रिटिश आधिपत्य के समय में ईजिप्ट का शासन जहां सुव्यवस्थित हुआ, वहां साथ ही एक उन्नत सभ्यता के निकट सम्पर्क में आने के कारण उस देश में नई प्रवृत्तियों व भावनाओं को भी बल मिला। इसीलिये वहां उस राष्ट्रीय जागृति का भी सूत्रपात हुआ, जिसने बीसवीं सदी में उसे एक प्रगतिशील स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया।

१८३१ से १८४० तक सीरिया ईजिप्ट के अधीन रहा था। मुहम्मद अली ने इस प्रदेश को जीत कर अपने अधीन कर लिया था, और इसका शासन करने के लिये अपने पुत्र इब्राहीम अली को नियुक्त किया था। उसके शासन के दस साल सीरिया के इतिहास में सुव्यवस्थित शासन के साल थे। ईसाई पादरियों ने इस दशा से लाभ उठाया, और सीरिया तथा लेबनान (मुहम्मद अली ने सीरिया के साथ लेबनान को भी जीत लिया था, और उसका शासन भी इब्राहीम अली के ही सुपुर्द था) में अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। जेसुएट और प्रोटेस्टेन्ट दोनों सम्प्रदायों के पादरियों ने इस समय में इन प्रदेशों में अपने मिशन स्थापित किये। ये मिशन अपने धर्म प्रचार के कार्य में शिक्षणालयों और छापेखानों की स्थापना को बहुत महत्त्व देते थे। इन्हीं के द्वारा सीरिया और लेबेनान में नई शिक्षा का प्रवेश हुआ, और वहां के निवासी पाश्चात्य भाषा, साहित्य और ज्ञान-विज्ञान से परिचय प्राप्त करने लगे। प्रिंटिंग प्रेसों की स्थापना के कारण अनेक पुस्तकें भी इस काल में वहां प्रकाशित हुईं। इसी समय बाइबल का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया, जो सम्भवतः आधुनिक काल में अरबी का प्रथम गद्य-ग्रन्थ था। तुर्कों की शक्ति के उत्कर्ष के समय जब अरब भी तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया था, तो अरबी भाषा की उन्नति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुक गई थी। सीरिया में स्थित ईसाई मिशनों के प्रयत्न से अब अरबी भाषा का फिर से उत्कर्ष हुआ, और उसमें नये साहित्य का निर्माण प्रारम्भ हुआ। प्रिंटिंग प्रेसों के कारण अरबी पुस्तकें अच्छी बड़ी संख्या में छपने लगीं, और उनका खूब प्रचार हुआ। ईसाई शिक्षणालयों में जहां फ्रेंच, लेटिन, अंग्रेजी आदि भाषाएं पढ़ायी जाती थीं, वहां अरबी की उन्नति पर भी ध्यान दिया जाता था। यह बात अरब में राष्ट्रीय भावना के विकास में सहायक हुई, क्योंकि इन शिक्षणालयों में जो विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त करते थे, उन्हें यूरोप की राजनीति व नई प्रवृत्तियों से भी परिचित होने का अवसर मिलता था। सीरिया और लेबेनान में जो नये शिक्षणालय ईसाई पादरियों द्वारा स्थापित किये जा रहे थे, उनमें फ्रेंच जेसुएट सम्प्रदाय की संस्थाएं मुख्य थीं। इब्राहीम पाशा के बाद भी नई शिक्षा के विस्तार की प्रक्रिया इन प्रदेशों में जारी रही। १८६६ में सीरियन प्रोटेस्टेन्ट कालिज की स्थापना की गई, जो बाद में अमेरिकन यूनिवर्सिटी के रूप में परिवर्तित हो गया। १८७५ में फ्रेंच पादरियों ने बैरूत में 'यूनिवर्सिते द साँ जोसेफ' की स्थापना की। इन दो विश्वविद्यालयों के कारण सीरिया और लेबेनान के प्रदेशों में पाश्चात्य शिक्षा का खूब प्रचार हुआ, और वहां के निवासियों में राष्ट्रीय नव-जागरण का प्रादुर्भाव हुआ। स्त्रियों की शिक्षा पर भी ईसाई मिशनरियों ने ध्यान दिया, और इन प्रदेशों में अनेक कन्या विद्यालय और कालिज स्थापित किये। ईसाई मिशनरियों का अनुकरण कर सरकार ने भी जो नई शिक्षा-संस्थाएं इस समय स्थापित कीं, उनमें फ्रेञ्च और इंगलिश भाषाओं की शिक्षा को पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था, जिसके कारण इन प्रदेशों में यूरोपियन संस्कृति का भली-भांति प्रवेश हुआ। इन संस्थाओं में जो यूरोपियन अध्यापक कार्य करते थे, उन्हें अनेकविध विशेषाधिकार भी प्राप्त थे, और उन पर स्थानीय कानून लागू नहीं होते थे।

नई शिक्षा और प्रिंटिंग प्रेसों के साथ-साथ पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में पत्रिकाओं का प्रकाशन भी प्रारम्भ हुआ। १८२८ ई० में ईजिप्ट में पहला अरबी समाचार-पत्र प्रकाशित हुआ, जिसका नाम 'अल-वाकयाए अल-मिस्रिया' था। १८५२ में सीरिया में भी एक अरबी पत्र प्रकाशित होना शुरू हुआ, जिसे 'हकीकत अल-अखबार' कहते थे। १८७० में बैरूत से एक पाक्षिक पत्र प्रकाशित हुआ, जो राजनीतिक, साहित्यिक एवं वैज्ञानिक विषयों की चर्चा किया करता था। इस पत्र ने अपना मोटो यह बनाया था—"देशभक्ति हमारा मुख्य सिद्धान्त है।" अरब के लिये यह निस्संदेह एक नया विचार था। १८७६ में अल-बुस्तानी नाम के अरब विद्वान् ने अरबी भाषा में एक विश्वकोष का निर्माण प्रारम्भ किया। इस विद्वान् ने अरबी के व्याकरण, शब्दकोष आदि की भी अनेक पुस्तकें तैयार कीं। अल-बुस्तानी एक शिक्षणालय का प्रधानाचार्य था, और अमेरिकन मिशनरियों के सहयोग से इस महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कार्य में तत्पर हुआ था। पत्र-पत्रिकाओं और नवीन साहित्य के प्रकाशन के कारण विविध अरब प्रदेशों में अब ऐसे नव-जागरण का सूत्रपात हो रहा था, जो कि बाद में वहां राष्ट्रीय भावना के प्रादुर्भाव में बहुत सहायक हुआ।

ईजिप्ट और सीरिया के समान ईराक में भी यूरोपियन लोगों के सम्पर्क के कारण नवजागरण के चिन्ह प्रगट होने शुरू हुए। यह देश भी तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, और इसके शासन के लिये भी सुलतान द्वारा सूबेदार या पाशा की नियुक्ति की जाती थी। दाऊद पाशा की सूबेदारी (१८१७-१८३२) के काल में बगदाद में पहले-पहल नये ढंग के शिक्षणालय कायम हुए, और एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना हुई। ईराक के पाशाओं में मुहम्मद रशीद पाशा (१८५३-१८५८) और मिद्धत पाशा (१८६९-१८७२) के शासन काल बड़े महत्त्व के हैं। इन योग्य सूबेदारों ने ईराक में नवयुग का प्रारम्भ करने के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक उपयोगी कार्य किये। मुहम्मद रशीद पाशा के समय में सिंचाई के लिये नहरों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया गया, और नदियों द्वारा आने-जाने और माल की ढुलाई के लिये एक कम्पनी कायम की गई। मिद्धत पाशा ने ईराक की उन्नति और सुशासन के लिये जो कार्य किये, वे वहां के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेंगे। स्थायीय स्वशासन का सूत्रपात करने के लिये उसने म्युनिसिपैलिटियों की स्थापना की, जो ईराक के लिये सर्वथा नई बात थी। अस्पताल, अनाथालय, अस्त्र-शस्त्र के कारखाने आदि के साथ-साथ उसने अनेक विद्यालयों की भी स्थापना की, जिनमें नये ज्ञान-विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी। उसके प्रयत्नों का यह परिणाम हुआ, कि ईराक में शिक्षा तेजी के साथ बढ़ने लगी। १८५० में वहां के नगरों में शिक्षित लोगों की संख्या आधे प्रतिशत से अधिक नहीं थीं, पर १९०० तक वह बढ़ते-बढ़ते १० प्रतिशत तक पहुंच गई थी। ईराक का पहला समाचार-पत्र भी मिद्धत पाशा के समय में ही प्रकाशित होना शुरू हुआ। ये सब बातें इस देश में भी नवजागरण को उत्पन्न कर रही थीं, और इनके कारण ईराक के अरब निवासियों में भी अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना प्रादुर्भूत होने लग गई थी।

अरब लोगों द्वारा आबाद विविध प्रदेशों की तुलना में तुर्की के लिये पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आ सकना अधिक सुगम था। केवल भौगोलिक दृष्टि से ही यह देश यूरोप के बहुत अधिक समीप नहीं था, अपितु ग्रीस, बल्गारिया आदि पूर्वी यूरोप के अनेक देश भी तुर्क साम्राज्य में सम्मिलित थे। इस कारण भी तुर्की के लिये यूरोप के निकट सम्पर्क में आ सकना सुगम था। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में बालकन प्रायद्वीप की विविध जातियां जिस ढंग से अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थीं, और ईजिप्ट तथा सीरिया आदि में मुहम्मद अली सदृश पाशा जिस प्रकार तुर्क सुलतान की उपेक्षा करने में तत्पर थे, उसके कारण यह स्वाभाविक था कि तुर्की का शासक वर्ग अपनी दुर्दशा को अनुभव करे, और अपने देश में सुधार व नवजागरण की ओर ध्यान दे। तुर्क साम्राज्य के अन्य प्रदेशों के समान तुर्की में भी ईसाई मिशन अपने कार्य में तत्पर थे। मुसलमानों के अतिरिक्त ईसाइयों का भी वहां अच्छी बड़ी संख्या में निवास था, और उनमें शिक्षा के प्रसार के लिये विविध ईसाई मिशन नये ढंग के शिक्षणालयों की स्थापना में तत्पर थे। इस दशा में सुलतान सलीम तृतीय (१७८९-१८०७) ने अपने साम्राज्य के शासन में सुधार की ओर ध्यान दिया, और उसके बाद सुलतान महमूद द्वितीय (१८०७-१८३९) ने भी इस दिशा में अपने प्रयत्न को जारी रखा। पर ये प्रयत्न सफल नहीं सके, क्योंकि तुर्की के शासक वर्ग में ऐसे लोगों का जोर था, जो पुराने विचारों के थे। पर इस समय तुर्की में एक ऐसा नया वर्ग भी उत्पन्न हो रहा था, जो अपने देश की दुर्दशा का अनुभव कर उसे उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिये उत्सुक था। यह वर्ग प्रायः उन लोगों का था, जिन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आकर नई शिक्षा प्राप्त की थी। तुर्की के विद्यार्थी भी इस समय अच्छी बड़ी संख्या में पेरिस आदि के यूरोपियन शिक्षणालयों में शिक्षा प्राप्त करने के लिये जाने लगे थे, और तुर्की के अनेक बड़े नगरों में भी ऐसे विद्यालय स्थापित हो गये थे, जिनमें फ्रेंच और अंग्रेजी भाषाओं की शिक्षा की व्यवस्था थी, और जहां नये ज्ञान-विज्ञान भी पढ़ाये जाते थे। इस कारण उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में तुर्की में एक नये दल का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे 'तरुण तुर्क पार्टी' कहते थे। यह न केवल शासन-सुधार द्वारा तुर्की में पाश्चात्य ढंग की वैध राजसत्ता की स्थापना का पक्षपाती था, अपितु यह भी चाहता था कि पाश्चात्य सभ्यता व संस्कृति को अपनाकर तुर्की भी एक आधुनिक राज्य बन जाए। इसी दल के प्रयत्न से उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में अनेक बार तुर्क सुलतानों के निरंकुश शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए, और बीसवीं सदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रारम्भ में तुर्की में राज्यक्रान्ति भी हो गई, जिसके कारण सुलतान हमीद द्वितीय को राजसिंहासन से हाथ धोना पड़ा।

ईरान का राज्य यूरोप से बहुत दूर है, अतः तुर्की और ईजिप्ट के समान उसका यूरोप की संस्कृति से सीधा सम्पर्क स्थापित हो सकना सुगम नहीं था। पर अन्य एशियन देशों के समान ईरान के समुद्रतट के नगरों में भी यूरोपियन लोगों ने अपनी व्यापारी कोठियां कायम की थीं, और इन्हें केन्द्र बनाकर वे ईरान में अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। व्यापार के माध्यम से ईरानियों का भी पाश्चात्य लोगों से सम्पर्क कायम हो रहा था, और वहां भी अनेक ईसाई मिशन धर्म-प्रचार के कार्य में तत्पर थे। यूरोप के लोगों के सम्पर्क में आने के कारण ईरानी लोगों का ध्यान भी नये ज्ञान-विज्ञान की ओर आकृष्ट हुआ, और १८१०—१८१५ के वर्षों में अनेक ईरानी विद्यार्थी चिकित्साशास्त्र व अन्य विज्ञानों का अध्ययन करने के लिये इङ्गलैण्ड भेजे गये। १८१२ में तबरीज में एक प्रिंटिंग प्रेस की स्थापना हुई, और १८२३ में तेहरान में। १८५२ में ईरान की सरकार ने 'दारुल-फनून' (विज्ञान भवन) नाम से एक नई शिक्षा-संस्था की स्थापना की, जिसके लिए अच्छी बड़ी धनराशि प्रदान की गई। इस संस्था में नये ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ फ्रेञ्च, अंग्रेजी और रूसी भाषाओं की भी शिक्षा दी जाती थी, और इसमें अध्यापन के कार्य के लिए यूरोपियन शिक्षकों की भी नियुक्ति की गई थी। १८५५ में ईरान में शिक्षा विभाग का पृथक् रूप से संगठन किया गया, और १८८५ में इस विभाग की ओर से ४२ ईरानी विद्यार्थी यूरोप के विविध विश्वविद्यालयों में उच्च शिक्षा के लिये भेजे गये। यद्यपि ईरान का राजा नसीरुद्दीन शाह (१८४८-१८९६) आधुनिकता का विरोधी था, और ईरान के लोगों का पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क में आना उसे पसन्द नहीं था, पर समय की मांग की उपेक्षा कर सकना उसके लिए सम्भव नहीं था। इसी कारण उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नई शिक्षा के सम्पर्क के कारण ईरान में भी नवजागरण का प्रारम्भ हुआ, और उसके नवयुवक भी अपने देश के राष्ट्रीय उत्कर्ष के प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने लगे।

पश्चिमी एशिया के मुस्लिम देशों में जो नव-जागरण उन्नीसवीं सदी में प्रारम्भ हुआ, निस्सन्देह उसका प्रधान श्रेय यूरोप के साथ सम्पर्क को दिया जाना चाहिए। पर इस काल में वहां कतिपय ऐसे सुधारक भी उत्पन्न हुए, जिन्होंने कि इस्लाम में सुधार करके अरब लोगों में नवजीवन के संचार का प्रयत्न किया। इनमें सर्वप्रधान जमालुद्दीन अल-अफगानी (१८३९-१८९७) और मुहम्मद अब्दुल (१८४९-१९०५) थे। जमालुद्दीन का जन्म अफगानिस्तान में हुआ था, पर उसके जीवन का बड़ा भाग भारत, मक्का और कोन्स्टेन्टिनोपल में व्यतीत हुआ था। बाद में वह ईजिप्ट चला आया, और वहाँ आकर उसने इस्लाम में सुधार करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। अरबी पाशा के नेतृत्व में ईजिप्ट के लोगों ने इस्माईल पाशा के विकृत शासन के विरुद्ध जो विद्रोह (१८८१-८२) किया था, उसमें जमालुद्दीन का भी हाथ था। मुहम्मद अब्दुल जमालुद्दीन का ही शिष्य था, और उसी से प्रेरणा पाकर उसने इस्लाम में नवजीवन के संचार का आन्दोलन प्रारम्भ किया था। उसका कहना था, कि मुसलमानों को यूरोप का अन्धानुकरण नहीं करना चाहिए। यदि वस्तुतः देखा जाए, तो इस्लाम का नये विज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है। कुरान के अनेक सन्दर्भों की नये ढंग से व्याख्या करके उसने यह प्रतिपादित किया, कि इस्लाम का यह धर्मग्रन्थ अत्यन्त युक्तिसंगत है, और उसमें उन सब शिक्षाओं के मूल विद्यमान हैं, जिन्हें सीखने के लिए मुसलमान लोग यूरोप की ओर भाग रहे हैं। मुहम्मद अब्दुल का मत था, कि इस्लाम की शिक्षाओं को भली भांति समझ कर हम सब आवश्यक सुधार कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकते हैं। उन्नति की दौड़ में पिछड़े हुए मुस्लिम प्रदेशों को चाहिए, कि वे पहले अपने अन्दर धार्मिक जागरण उत्पन्न करें और अपने धर्म के अनुसार समाज व राज्य में सुधार करें। मुहम्मद अब्दुल की शिष्य परम्परा में आगे चल कर कासिम आमीन ने बहुविवाह, तलाक और परदे की प्रथा आदि के विरुद्ध आवाज उठाई (१९०८), और यह प्रतिपादित किया कि ये बातें इस्लाम के प्रतिकूल हैं। निस्संदेह, इस समय पश्चिमी एशिया के मुस्लिम नेताओं में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया था, जो पश्चिम के अन्धानुकरण का विरोधी होते हुए भी सुधारों का पक्षपाती था। इन लोगों ने भी इन प्रदेशों में नवजागरण को उत्पन्न करने के सम्बन्ध में अनुपम कार्य किया।

(२) राष्ट्रीय भावना का विकास

उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेश तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। केवल ईरान को छोड़ कर इस क्षेत्र के सभी प्रदेशों पर तुर्क सुलतान का आधिपत्य स्वीकृत किया जाता था, यद्यपि कुछ प्रदेशों पर उसका यह प्रभुत्व नाम को ही था। तुर्क साम्राज्य की सब जनता भाषा और नसल आदि की दृष्टि से एक नहीं थी, राष्ट्रीय दृष्टि से उसे एक नहीं समझा जा सकता था। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा यूरोप में राष्ट्रीयता की जिस भावना को अत्यधिक बल मिला था, पश्चिमी एशिया में अभी उसका प्रवेश नहीं हुआ था। तुर्क साम्राज्य के विविध प्रदेशों पर सुलतान का स्वामित्व था, और वह उनके शासन के लिए विविध सूबेदारों की नियुक्ति किया करता था। पर तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत विविध जातियों के सम्बन्ध में उनके परम्परागत कानून मान्य समझे जाते थे, और उन्हें पृथक् 'मिल्लत' (राष्ट्रीयता) के रूप में स्वीकार किया जाता था। पूर्वी यूरोप के जो अनेक प्रदेश तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का विचार पहले विकसित हुआ, और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में उन्होंने स्वाधीन होने के लिए संघर्ष भी प्रारम्भ कर दिया। १८२६ में सर्बिया ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी, और १८२९ में ग्रीस और रूमानिया ने। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक बालकन प्रायद्वीप के अन्य प्रदेश भी तुर्क प्रभुत्व से मुक्त हो जाते, यदि ब्रिटेन और रूस की साम्राज्य-सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विता तुर्क सुलतान के लिए सहायक न होती। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ तक पूर्वी यूरोप में तुर्क सुलतान का आधिपत्य बहुत सीमित हो गया था, और उसकी अधीनता में विद्यमान इस क्षेत्र की जातियां प्रायः स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुकी थीं।

राष्ट्रीयता की जो भावना इस समय तुर्क साम्राज्य के यूरोपियन प्रदेशों को प्रभावित कर रही थी, पश्चिमी एशिया के प्रदेश भी देर तक उससे अछूते नहीं रह सके। नवजागरण की जो प्रवृत्तियां इन प्रदेशों में प्रादुर्भूत हो रही थीं, उन्होंने राष्ट्रीय भावना को जन्म दिया, और ईजिप्ट, सीरिया तथा ईराक आदि सर्वत्र राष्ट्रीयता का विचार प्रबल होने लगा। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में इस समय दो विचार प्रबल थे, एक पान-इस्लाम का और दूसरा अरब राष्ट्रीयता का। तुर्की के सुलतान न केवल एक विशाल साम्राज्य के अधिपति थे, अपितु मुसलमानों के खलीफा (प्रधान धर्माचार्य) भी माने जाते थे। अपने साम्राज्य में एकता स्थापित रखने के लिये उन्हें यह उपाय क्रियात्मक प्रतीत होता था, कि वे इस्लाम की एकता पर जोर दें, और मुसलमानों में इस भावना को विकसित करें, कि इस्लाम के सब अनुयायी एक हैं, और भाषा तथा नसल के भेद मुसलमानों के लिए कोई महत्व नहीं रखते। सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय (१८७६-१९०८) ने इस भावना के विकास के लिए बहुत प्रयत्न किया। उसने हज्जाज रेलवे का इस कारण निर्माण कराया, ताकि तुर्की आदि के मुस्लिम यात्री मदीना सदृश तीर्थ-स्थानों पर रेल मार्ग द्वारा सुगमता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आ-जा सकें। मसजिदों और अन्य मुस्लिम शिक्षा-संस्थाओं को उसने दिल खोलकर आर्थिक सहायता देनी प्रारम्भ की, ताकि साम्राज्य भर के मुस्लिम धर्मगुरु उसे अपना संरक्षक व सहायक समझने लगें। मक्का, मदीना आदि धार्मिक नगरों की उन्नति पर उसने विशेष ध्यान दिया, ताकि वहां के निवासी उसके विरोधी न रहें, और मुसलमानों में उस की नीति के प्रति संतोष उत्पन्न हो। अपनी अरब प्रजा को संतुष्ट करने के लिए उसने अपनी अंगरक्षक सेना में एक अरब दस्ते की भी नियुक्ति की। उसने इस विचार को विकसित करने का प्रयत्न किया, कि जिस प्रकार पुराने खलीफाओं के नेतृत्व में मुसलमानों ने असाधारण रूप से उन्नति की थी, और अपने एक विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य का विकास किया था, वैसे ही अब भी तुर्क सुलतानों (जो कि खलीफा भी हैं) के प्रयत्न से मुस्लिम जगत् अपना उत्कर्ष कर सकता है।

पर सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय को अपने इस प्रयत्न में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इसका कारण अरबों में राष्ट्रीयता की भावना का प्रादुर्भाव था। ईजिप्ट, सीरिया, लेबेनान, ईराक आदि के जो विविध प्रदेश पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, उनमें प्रधानतया अरब लोगों का निवास था, और नई शिक्षा तथा जागरण के कारण उनमें यह विचार प्रादुर्भूत होने लगा था, कि अरबों को तुर्क सुलतान की अधीनता से मुक्त होकर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिये। जिन लोगों की भाषा अरबी है, वे सब अरब राष्ट्रीयता के अंग हैं, यह विचार उन्नीसवीं सदी के मध्य तक जोर पकड़ने लग गया था। इस विचार का प्रादुर्भाव सब से पूर्व सीरिया और लेबेनान में हुआ था, जहां फ्रेंच और अमेरिकन लोगों द्वारा दो विश्वविद्यालय स्थापित किये जा चुके थे, और जिनमें शिक्षा प्राप्त कर अरब नवयुवक नये पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आ रहे थे। शुरू में यह विचार केवल कतिपय सुशिक्षित लोगों तक ही सीमित था। अरब के पुराने इतिहास का अध्ययन कर सीरिया और लेबेनान के युवक यह अनुभव करने लगे थे, कि किसी समय में अरब लोगों ने सभ्यता और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में असाधारण उन्नति की थी, और इसीलिये वे स्पेन से सिन्ध तक के सुविस्तृत क्षेत्र में अपना साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए थे। ये नवयुवक कहते थे, कि अरबों को अब भी अपनी उन्नति के लिए तत्पर होना चाहिए, और तुर्क साम्राज्य की अधीनता से मुक्त होकर अपने स्वतन्त्र अरब राष्ट्र की स्थापना करनी चाहिये। फ्रांस और ब्रिटेन आदि यूरोपियन देश अरबों के प्रदेशों पर जिस ढंग से अपना प्रभाव व प्रभुत्व स्थापित कर रहे थे, उसे भी ये अरब युवक चिन्ता की दृष्टि से देखते थे। यद्यपि ईजिप्ट, सीरिया, ईराक और अन्य प्रदेशों में निवास करने वाले अरब लोगों में अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष के विचार समान रूप से विकसित हो रहे थे, पर अभी वह समय नहीं आया था, जबकि इनके निवासी अपने स्थानीय भेदों को भुलाकर अपने को एक राष्ट्रीयता के अंग समझने लगें। इसका एक प्रधान कारण इन प्रदेशों में आवागमन के साधनों का अभाव था। रेलवे का निर्माण इन प्रदेशों में अभी बहुत कम हुआ था। कैरो से जेरुसलम, जेरुसलम से डमास्कस, और डमास्कस से बगदाद जाने के लिए उन्नीसवीं सदी के अन्त तक भी घोड़े या ऊंट से अधिक तेज चलने वाली किसी सवारी की सत्ता नहीं थी। इन दशा में अरब के विविध प्रदेशों के निवासियों में एकानुभूति का विकसित हो सकना सुगम नहीं था। साथ ही, अभी इस क्षेत्र में शिक्षा का प्रसार भी बहुत कम हुआ था। राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद के नये विचार केवल शिक्षित लोगों तक ही सीमित थे, जिनकी संख्या अभी बहुत कम थी। इन परिस्थितियों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की जो भावना उन्नीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया के अरब प्रदेशों में प्रादुर्भूत हुई, वह अधिक व्यापक नहीं थी। उसका स्वरूप यही था, कि तुर्क आधिपत्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विरुद्ध संघर्ष करके स्थानीय स्वतन्त्रता को प्राप्त किया जाय, और अपने प्रदेशों में यूरोपियन लोगों के बढ़ते हुए प्रभुत्त्व के विरुद्ध आवाज उठायी जाय।

अरब लोगों में राष्ट्रीय भावना के चिन्ह सबसे पूर्व ईजिप्ट में प्रकट हुए। अरबी पाशा के नेतृत्व में वहां जो विद्रोह हुए, उनका उल्लेख इस इतिहास में ऊपर किया जा चुका है। अरबी पाशा अपने देश में ब्रिटेन और फ्रांस के बढ़ते हुए प्रभुत्त्व से बहुत चिन्तित था। तेल-एन-कबीर के रणक्षेत्र में अरबी पाशा की शक्ति को नष्ट कर (१८८२) ब्रिटिश लोगों ईजिप्ट में अपने प्रभुत्त्व को स्थापित करने में अवश्य सफल हुए, पर इससे वहां के लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना नष्ट नहीं हो गई। ईजिप्ट ईजिप्सियन लोगों के लिये है, यह विचार अरबी पाशा के पतन के बाद भी जोर पकड़ता गया। ब्रिटिश शासन के सुदृढ़ रूप से स्थापित हो जाने के कारण राष्ट्रवादी ईजिप्सियन देशभक्तों के लिए जब अपने देश में ब्रिटेन के विरुद्ध आन्दोलन को जारी रख सकना सम्भव नहीं रहा, तो उन्होंने पेरिस को अपना केन्द्र बनाया और वहां से अपने आन्दोलन को जारी रखा। ईजिप्ट में ब्रिटेन का जिस ढंग से प्रभुत्त्व स्थापित हो गया था, फ्रेंच लोग उसे अच्छी निगाह से नहीं देखते थे। इसी कारण उन्होंने ईजिप्ट के राष्ट्रीय नेताओं को अपने देश में आश्रय प्रदान किया था। पेरिस में राष्ट्रवादी ईजिप्सियन लोगों ने ब्रिटेन की सत्ता के विरुद्ध जो आन्दोलन प्रारम्भ किया था, उसका प्रधान नेता मुस्तफा कामिल था। १८९५ में वह ईजिप्ट वापस लौट आया, और वहां उसने अल-हिज्ब अल-वतनी नाम से एक नये राष्ट्रीय दल का संगठन किया। धीरे-धीरे यह दल बहुत जोर पकड़ गया, और बहुत-से ईजिप्सियन नवयुवक इसमें शामिल हो गये। फ्रेंच लोग इस दल की सहायता करने में तत्पर थे। पर जर्मनी के उत्कर्ष और साम्राज्यवादी नीति के कारण १९०४ में जब फ्रांस और इंगलैण्ड में समझौता हो गया, तो ईजिप्ट के राष्ट्रीय दल को फ्रांस से सहायता मिलनी बन्द हो गई। पर १९०५ में जब रूस जैसा शक्तिशाली यूरोपियन राज्य जापान से परास्त हो गया, तो ईजिप्ट के देशभक्तों में नये उत्साह का संचार हुआ, और उन्होंने अधिक प्रबलता के साथ ब्रिटिश प्रभुत्त्व के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में इस आन्दोलन का नेतृत्व जगलुल पाशा नाम के योग्य नेता के हाथ में आ गया था। ईजिप्ट के शासन में सुधार करने के लिए ब्रिटिश लोगों ने वहां जो स्वशासन-संस्थाएं कायम की थीं, जगलुल के अनुयायी उन पर कब्जा करने के प्रयत्न में थे, और उनकी गतिविधि के कारण ब्रिटिश शासकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। ईजिप्ट का राष्ट्रीय दल यह चाहता था, कि ईजिप्ट से ब्रिटिश प्रभुत्त्व का अन्त हो, और वहां का खदीव (ईजिप्ट के वंशक्रमानुगत सूबेदार या पाशा को खदीव के नाम से कहा जाता था) एक वैध शासक के रूप में शासन किया करे।

तुर्क सुलतान की सरकार भी राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की नई प्रवृत्तियों से अछूती नहीं बच सकी थी। 'तरुण तुर्क पार्टी' के नाम से वहां एक नये राजनीतिक दल की स्थापना हो गई थी, जो निरंकुश राजसत्ता को नष्ट कर जनता के अधिकारों की स्थापना के लिए संघर्ष कर रही थी। इसी कारण १८७६ में तुर्की में दो बार राज्यक्रान्तियां हुई, और एक साल के अन्दर-अन्दर दो सुलतानों—अब्दुल अजीज और मुराद पंचम—को राजगद्दी से उतार दिया गया। मुराद पंचम के उत्तराधिकारी सुलतान अब्दुल द्वितीय को तरुण तुर्क पार्टी ने इस बात के लिए विवश किया, कि वह यूरोपियन लोगों का अनुसरण कर तुर्की में भी शासन-विधान का निर्माण करे। इस संविधान के अनुसार तुर्की में भी कानून बनाने के लिए प्रतिनिधि सभा और सीनेट की रचना की गई, और एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया गया, जो प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी था। पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी तुर्की में वैध राजसत्ता की सफलता का समय नहीं आया था। इसलिए कुछ ही समय में सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय ने शासन-विधान की उपेक्षा कर एक निरंकुश राजा के समान शासन करना प्रारम्भ कर दिया। अब्दुल हमीद एक शक्तिशाली और जबर्दस्त शासक था। क्रान्ति की प्रवृत्तियों को दबाये रखने में वह सफल हुआ। उसकी दमन नीति के कारण तुर्की में राजनीतिक आन्दोलन को जारी रख सकना सम्भव नहीं था। इस कारण तरुण तुर्क पार्टी के नेता अपने देश से बाहर रहकर अपने कार्य को जारी रखने के लिए विवश हुए। पर इससे उनके कार्य में विशेष बाधा नहीं आयी, और १९०६ में तुर्की में फिर राज्यक्रान्ति हो गई। मेसिडोनिया के सेलोनिका नामक स्थान पर क्रान्तिकारियों ने घोषित किया, कि १८७६ के शासन-विधान को, जिसे सुलतान अब्दुल हमीद ने अपनी स्वेच्छाचारिता के कारण उपेक्षित कर दिया था, पुनः स्थापित किया जाता है। तुर्की की दो सेनाओं ने भी क्रान्तिकारियों का साथ दिया। इस दशा में सुलतान ने क्रान्तिकारियों के सम्मुख सिर झुका दिया, और तरुण तुर्क पार्टी की सहमति से नये मन्त्रियों की नियुक्ति की। शासन-विधान के अनुसार पार्लियामेंट के नये चुनाव की आज्ञा दी गई। पर अब्दुल हमीद हृदय से १८७६ के संविधान का पक्षपाती नहीं था। जब उसने फिर स्वेच्छाचारी प्रवृत्तियों को प्रदर्शित करना शुरू किया, तो क्रान्तिकारियों ने कान्स्टेन्टिनोपल पर आक्रमण करके उस पर कब्जा कर लिया, और पार्लियामेंट ने एक प्रस्ताव द्वारा अब्दुल हमीद को पदच्युत कर उसके भाई मुहम्मद पंचम को राजगद्दी पर बिठाया (१९०९)। नई सरकार में तरुण तुर्क पार्टी का जोर था, और वास्तविक शासनशक्ति उसी के हाथों में थी।

तुर्क साम्राज्य के विविध प्रदेशों में निवास करने वाले तुर्क-भिन्न लोग भी इस क्रान्ति से सन्तुष्ट थे। वे समझते थे, कि आधुनिक युग की नई प्रवृत्तियों के पक्षपाती तरुण तुर्क नेता उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का आदर करेंगे, और उन्हें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने में सहायता देंगे। पर इस पार्टी के नेताओं का दृष्टिकोण इतना विशाल नहीं था, कि वे तुर्क-भिन्न लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सहानुभूति की दृष्टि से देख सकते। तुर्क साम्राज्य में निवास करने वाली तुर्क-भिन्न जातियों के सम्बन्ध में तरुण तुर्क दल की यह नीति थी, कि उन्हें भी भाषा, सभ्यता, संस्कृति आदि सब दृष्टियों से तुर्क बनाने का प्रयत्न किया जाए। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित उपायों का प्रयोग किया—(१) तुर्क भाषा को सम्पूर्ण साम्राज्य की राजकीय भाषा नियत किया गया। (२) सब प्रदेशों में शिक्षा की एक ही पद्धति जारी की गई, जिसमें तुर्की भाषा के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया गया। सीरिया, ईराक आदि में नवजागरण के परिणामस्वरूप राष्ट्रीय भावना जिस ढंग से जोर पकड़ रही थी, उसके कारण वहां के निवासी तरुण तुर्क पार्टी की इस नीति को नहीं सह सके, और सर्वत्र उसके विरुद्ध विद्रोह के चिन्ह प्रकट होने लगे। यद्यपि नाम को इस समय ईजिप्ट भी तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, पर क्रियात्मक दृष्टि से वह देश अब पूर्णतया ब्रिटिश लोगों के प्रभुत्त्व में आ चुका था। अतः वहां तरुण तुर्क पार्टी की नीति का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पर सीरिया, ईराक आदि अन्य अरब प्रदेशों में इससे बहुत अशान्ति उत्पन्न हुई।

राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर सीरिया और लेबनान में अनेक ऐसी समितियाँ स्थापित हो गई थीं, जो अपने देशों की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थीं। १९०८ की क्रान्ति के समय अरब राष्ट्रवादियों ने तरुण तुर्क पार्टी का उत्साहपूर्वक समर्थन किया था, और इसीलिये उन्होंने 'अल-इखा अल-अरबी अल-उथमानी' नाम से एक नई संस्था की स्थापना की थी, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित थे—(१) सुलतान की अधीनता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में तुर्क साम्राज्य की सब जातियों में एकता एवं बन्धुत्व की भावना विकसित की जाए, (२) साम्राज्य में लोकतन्त्रवाद के सिद्धान्तों पर आश्रित नये संविधान का समर्थन किया जाए, और (३) साम्राज्य के अरब प्रदेशों के साथ समानता का भाव रखा जाए। यह नई राष्ट्रीय अरब संस्था तुर्की के आधिपत्य के विरुद्ध नहीं थी, अपितु केवल यह चाहती थी कि अरब प्रदेशों को तुर्कों के अधीन न मान कर उन्हें बराबरी का दर्जा दिया जाए। पर १९०९ में सुलतान अब्दुल हमीद को राज्यच्युत कर तरुण तुर्क पार्टी ने एक ऐसी नीति का प्रयोग करना प्रारम्भ किया, जिसका उद्देश्य तुर्क साम्राज्य में उन सब प्रवृत्तियों का दमन करना था, जो कि तुर्कों के प्रभुत्व को किसी भी प्रकार से क्षति पहुँचा सकती थीं। इसीलिए अल-इखा अल-अरबी अल-उथमानी संस्था को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया, और अरबों की अन्य राष्ट्रीय सभाओं व समितियों को भी बन्द कर दिया गया। पर इससे अरब लोगों की राष्ट्रीय भावना नष्ट नहीं हो गई। उन्होंने गुप्त ढंग से अपने कार्य को जारी रखा, और अनेक अरब नेता इस समय विदेशों में चले गये। पेरिस में पढ़ने वाले अरब विद्यार्थियों ने 'अल-जामिया अल-अरेबिया अलफतात' (यंग अरब एसोसियेशन या तरुण अरब सभा) नाम से एक नई संस्था का संगठन किया, जिसका उद्देश्य तुर्की प्रभुत्व का अन्त कर अरब को स्वतन्त्र करना था। १९१३ में इस संस्था की ओर से पेरिस में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें सीरिया, लेबनान और ईराक में प्रतिनिधि एकत्र हुए। इस अरब कान्फरेन्स ने अपने प्रस्तावों द्वारा यह स्पष्ट किया, कि हमारा उद्देश्य तुर्क साम्राज्य में सम्मिलित रहते हुए अरब प्रदेशों में स्वराज्य की स्थापना करना है। साथ ही, हमारा यह भी प्रयत्न रहेगा कि कोई यूरोपियन राज्य हमारे प्रदेशों में अपने प्रभुत्व एवं प्रभाव का विस्तार न कर सके। १९१३ में ही इस संस्था के मुख्य कार्यालय को पेरिस से सीरिया ले आया गया। सीरिया और लेबनान के लोग अरबों के राष्ट्रीय आन्दोलन के समर्थक थे, और वहां २००० से भी अधिक व्यक्तियों ने इस संस्था का सदस्य होना स्वीकार कर लिया था।

सीरिया के समान ईराक में भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना जोर पकड़ रही थी। वहां के देशभक्तों ने भी एक ऐसी सभा की स्थापना कर ली थी, जिसका उद्देश्य तुर्क प्रभुत्व का अन्त करके ईराक को स्वतन्त्र करना था। बहुत-से सैनिक अफसर भी इस सभा के सदस्य थे। १९१३ में इस सभा की ओर से मुहम्मरा नामक स्थान पर एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें ईराक के बहुत-से प्रमुख देशभक्त एकत्र हुए। इस कान्फरेन्स में ईराक की स्वतन्त्रता के लिये केवल प्रस्ताव ही स्वीकृति नहीं किये गये, अपितु उसके लिये संघर्ष के क्रियात्मक उपायों पर भी विचार किया गया। अरब प्रायद्वीप के अन्यतम प्रदेश नेज्द पर इस समय अमीर अब्दुल अजीज इब्न सऊद का शासन था, जिसने कि अपने क्षेत्र में एक स्वायत्त राज्य की स्थापना कर ली थी। इसके पूर्वज पहले भी इस प्रदेश के शासक थे, पर वे तुर्क सुलतान के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। अब्दुल अजीज इब्न सऊद ने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया था, और तुर्क सुलतान की उपेक्षा प्रारम्भ कर दी थी, जिससे विवश होकर १९११ में सुलतान ने उसकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार कर लिया था। मुहम्मरा में एकत्र ईराकी देशभक्तों का ध्यान इस अमीर की ओर गया, और उन्होंने अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये उसकी सहायता की याचना की। अमीर अब्दुल अजीज की सहानुभूति तो ईराकी देशभक्तों के साथ थी, पर वह यह साहस नहीं कर सका, कि खुले तौर पर तुर्क सुलतान के विरुद्ध उनकी सहायता करे। तुर्क शासकों ने भी इस समय अनेक ऐसे प्रयत्न किये, जिनका उद्देश्य ईराकी नेताओं को सन्तुष्ट करना था। उन्होंने अनेक नेताओं को ऊंचे सरकारी पदों पर नियत किया, पर वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईराक की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुए। इसका परिणाम यह हुआ, कि ईराक के राष्ट्रीय आन्दोलन ने और अधिक जोर पकड़ा। तुर्क सेनाओं में एक अरब अफसर था, जिसका नाम अजीज अली अलमिस्री था। सेना में अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होने के कारण उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, क्योंकि वह समझता था, कि तुर्क लोग अरब सैनिकों के प्रति उचित व्यवहार नहीं करते। १९१३ में इसने अल-अहद नाम से एक नई संस्था की स्थापना की। बहुत-से अरब सैनिक अफसर और सिपाही इस संस्था के सदस्य बन गये, और उसकी शाखाएं बगदाद, मोसल आदि प्रमुख ईराकी नगरों में स्थापित हो गईं। शीघ्र ही, इस संस्था की सदस्य-संख्या ४००० हजार तक पहुंच गई। सेना पर इस संस्था का बहुत प्रभाव था। यदि अल-जामिया अल-अरेबिया अल-फतात सर्वसाधारण अरब जनता की संस्था थी, तो अल-अहद में अरब सैनिकों का प्राधान्य था। तुर्क शासक यह सहन नहीं कर सके, कि उनकी सेना में भी राष्ट्रीय स्वाधीनता की प्रवृत्ति जोर पकड़ने लगे। इसलिये अजीज अली अल-मिस्री को गिरफ्तार कर लिया गया (१९१४)। उस पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया, और न्यायालय ने उसे मौत की सजा दी, यद्यपि ब्रिटिश राजदूत के हस्तक्षेप के कारण बाद में उसे मुक्त कर दिया गया।

तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत अरब प्रदेशों में यद्यपि राष्ट्रीय भावना का विकास शुरू हो गया था, पर अभी अरबों में इतनी जागृति व संगठन नहीं था, कि वे अपने बल पर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें। अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का अवसर उन्हें तब मिला, जब कि बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध (१९१४-१९१८) में तुर्की की पराजय हो गई। महायुद्ध के समय में विविध अरब प्रदेशों के राष्ट्रीय नेताओं का तुर्की के सम्बन्ध में क्या रुख था, इस प्रश्न पर हम अगले अध्याय में विचार करेंगे। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि १९१४ तक अरब के विभिन्न प्रदेशों में पर्याप्त जागृति उत्पन्न हो चुकी थी, जिसके कारण उनमें राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी निरन्तर प्रबल होती जाती थी। अरब की राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना का अनुमान इस बात से किया जा सकता है, कि १९०४ में सीरिया से जहां केवल तीन समाचार-पत्र प्रकाशित होते थे, वहां १९१४ में उनकी संख्या बढ़कर ८० तक पहुँच गई थी। इसी काल में लेबनान में २९ के बजाय १६८, पैलेस्टाइन में एक के बजाय ३१, ईराक में २ के बजाय ७० और हज्जाज में शून्य के बजाय ६ पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था। इनके अतिरिक्त बहुत-से समाचार-पत्र अरब नेताओं द्वारा यूरोप के विविध नगरों से प्रकाशित किये जा रहे थे। तुर्क सरकार की राष्ट्रीयता-विरोधी नीति के कारण ये अरब नेता अपने देश का परित्याग कर विदेशों में बस जाने के लिये विवश हुए थे, और वहां निवास करते हुए अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे। तुर्क साम्राज्य में इन समाचार-पत्रों का प्रवेश निषिद्ध था। पर ये गुप्त रूप से अरब भेजे जाते थे, और वहां के लोग इन्हें बड़े शौक के साथ पढ़ा करते थे। तुर्क साम्राज्य के विविध नगरों में यूरोपियन लोगों की जो अनेक बस्तियां थीं, उन पर तुर्क कानून लागू नहीं होते थे। ये समाचार-पत्र उन्हीं में स्थित डाकखानों में भेज दिये जाते थे, और वहां से गुप्त रूप से इन्हें अरब के विविध प्रदेशों में पहुंचा दिया जाता था।

पश्चिमी एशिया के इस काल (१९१४ ई० तक) के इतिहास का अनुशीलन करते हुए यह ध्यान में रखना आवश्यक है, कि अरब राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रवेश अभी सर्व-साधारण जनता में भली भांति नहीं हुआ था। यह आन्दोलन प्रधानतया सैनिक अफसरों और ऐसे सम्पन्न लोगों तक ही सीमित था, जिन्हें कि पाश्चात्य विचारों के सम्पर्क में आने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अवसर मिला था। अरब के निवासियों की बहुसंख्या अभी पूर्णतया अशिक्षित थी। धार्मिक संकीर्णता और पुराने दकियानूसी विचारों के कारण अभी वह इस स्थिति में नहीं आये थे, कि एक विशाल अरब राष्ट्र का स्वप्न ले सकते। अब वह समय आ चुका है, जबकि अरब लोगों में राष्ट्रीय भावना का पर्याप्त रूप से विकास हो गया है। इसी कारण वे अपने विविध स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर सकने में भी समर्थ हुए हैं। उनमें यह विचार भी विद्यमान है, कि विविध अरब राज्यों को मिलाकर एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का निर्माण किया जाना चाहिये। इस दिशा में प्रयत्न भी जारी हैं। अरबों के इस राष्ट्रीय आन्दोलन और उसकी सफलता के सम्बन्ध में हम अगले अध्यायों में प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इकतालीसवां अध्याय

तुर्क साम्राज्य का अन्त

(१) प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८)

अगस्त, १९१४ में बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, जिसका अन्त अक्टूबर, १९१८ में हुआ। पश्चिमी एशिया के इतिहास की दृष्टि से इस महायुद्ध का बहुत महत्त्व है। इसके कारण तुर्क साम्राज्य का अन्त हुआ, और तुर्क-भिन्न प्रदेशों को तुर्क सल्तनत की अधीनता से मुक्त होकर स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर होने का अवसर मिला। तुर्की में भी सुलतानों के एकतन्त्र शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई। फ्रांस की राज्यक्रान्ति द्वारा राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की जिन प्रवृत्तियों का सूत्रपात हुआ था, पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में भी इस महायुद्ध के कारण उन्हें बल मिला, और धीरे-धीरे इस क्षेत्र के प्रदेशों के राज्यों का इन्हीं के अनुसार पुनःनिर्माण प्रारम्भ हुआ।

महायुद्ध के कारणों पर विशद रूप से प्रकाश डालने की यहां आवश्यकता नहीं है। आर्थिक साम्राज्यवाद और विविध पाश्चात्य राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा इस युद्ध के मूल कारण थे। यदि ब्रिटेन, फ्रांस और हालैण्ड आदि के विशाल साम्राज्य थे, जहां वे अपने तैयार माल को निश्चिन्तता के साथ बेच सकते थे, तो क्या कारण है, जो जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी भी साम्राज्य निर्माण के लिये तत्पर न हों। प्रिंस बिस्मार्क के नेतृत्व में जब जर्मनी का संगठन हो गया (१८७१), और औद्योगिक क्रान्ति द्वारा वह भी अपनी आर्थिक उन्नति के लिये तत्पर हुआ, तो उसने देखा कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में यूरोप के अन्य राज्य उससे बहुत आगे निकल गये हैं। भारत, कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका न्यूजीलैण्ड आदि देशों पर ब्रिटेन का कब्जा है, और इन्डोचायना में फ्रांस तथा इन्डोनीसिया में हालैण्ड अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके हैं। रूस ने भी उत्तरी एशिया और मध्य एशिया को अपने अधिकार में कर लिया है। संसार के सब महत्त्वपूर्ण बाजार ब्रिटेन और अन्य यूरोपियन राज्यों के हाथों में आ चुके हैं। इस स्थिति में जब जर्मनी ने भी साम्राज्य-विस्तार के लिए पग उठाना शुरू किया, तो प्रशान्त महासागर के कुछ द्वीप, अफ्रीका के शेष बचे हुए कुछ भूखण्ड और चीन के तटवर्ती कतिपय प्रदेश ही उसे प्राप्त हो सके। पर जर्मनी जैसा प्रगतिशील देश इतने से कभी संतुष्ट नहीं हो सकता था। राष्ट्रीयता की उग्र भावना और औद्योगिक क्रान्ति उसे प्रेरित कर रही थीं, कि वह भी संसार में अपने लिये कोई स्थान बनाए। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि साम्राज्यवाद के क्षेत्र में पहले से ही आगे बढ़े हुए देश उसके रुख से चिन्ता का अनुभव करें। विशेषतया, ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी के उत्कर्ष को अपने लिये बहुत खतरे की बात समझते थे। १८७०-७१ के फ्रैन्को-प्रशियन युद्ध में फ्रांस प्रशिया से बुरी तरह परास्त हुआ था, और उसके कतिपय प्रदेश (अल्सेस-लारेन) भी इस पराजय के कारण प्रशिया ने अधिगत कर लिये थे। फ्रांस जर्मनी से बदला उतारने के लिये उत्सुक था, और जर्मनी के उत्कर्ष को यूरोप में अपनी सत्ता के लिये भय का कारण समझता था। यदि जर्मनी अपने साम्राज्य का निर्माण करना चाहे तो उसके लिये एकमात्र क्षेत्र एशिया के वे प्रदेश ही थे, जो वैज्ञानिक उन्नति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा औद्योगिक क्रान्ति के अभाव के कारण उन्नति की दौड़ में पिछड़ गये थे। पर दक्षिणी एशिया में इस समय ब्रिटेन का आधिपत्य था। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेश भी उसके प्रभाव में आ चुके थे। जब जर्मनी ने अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों को प्रगट करना शुरू किया, तो ब्रिटेन भी उसे विद्वेष की दृष्टि से देखने लगा। पूर्वी दुनिया में जाने का स्वेज का मार्ग ब्रिटेन के हाथों में था, अतः जर्मनी ने यत्न किया कि बर्लिन से बगदाद तक सीधी रेलवे लाइन का निर्माण कर ईराक की खाड़ी तक पहुंचा जाए। इसीलिये उसने आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की से मैत्री की। जर्मन सम्राट् विलियम द्वितीय का विचार था, कि इन राज्यों के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके अपने एक ऐसे प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण किया जा सकता है, जिसका प्रयोग कर निश्चिन्तता के साथ ईरान की खाड़ी तक पहुंचा जा सकेगा, और वहां से एशिया के बाजारों को हस्तगत कर सकना सुगम हो जायगा। इस कार्य में उसे अच्छी सफलता भी प्राप्त हुई थी। जर्मनी की शक्ति और प्रभाव में निरन्तर वृद्धि हो रही थी। इसी से चिन्तित होकर ब्रिटेन, फ्रांस और रूस अपने साम्राज्य-सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा कर परस्पर समझौता कर लेने के लिए विवश हुए थे।

साम्राज्य-विषयक इस प्रतिस्पर्धा व प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही १९१४ में बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे यूरोप के प्रायः सभी देश इस युद्ध में सम्मिलित हो गये, और यूरोप से बाहर के भी अनेक देशों ने इसमें भाग लिया। जर्मनी के पक्ष में जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बल्गारिया और तुर्क साम्राज्य थे, और दूसरे पक्ष के राज्यों में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, संयुक्त-राज्य अमेरिका, इटली, जापान और रूमानिया प्रमुख थे। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक राज्यों ने इस युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस का साथ दिया था। इन सब राज्यों को ही 'मित्र-राष्ट्र' कहा जाता है। नवम्बर, १९१४ में तुर्की का सुलतान जर्मनी का पक्ष लेकर महायुद्ध में शामिल हो गया था। जर्मन सम्राट् विलियम द्वितीय ने बर्लिन-बगदाद रेलवे की योजना में तुर्की को भी सम्मिलित कर लिया था, और तुर्क सुलतान अपने साम्राज्य में ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। इसी कारण उसने जर्मनी का साथ दिया। मुस्लिम जगत् के खलीफा की स्थिति में तुर्क सुलतान मुहम्मद पञ्चम ने संसार भर के मुसलमानों से अपील की, कि मित्रराष्ट्र इस्लाम के शत्रु हैं, और उनके विरुद्ध युद्ध करना धर्मयुद्ध (जिहाद) है। अतः प्रत्येक सच्चे मुसलमान का यह धार्मिक कर्त्तव्य है, कि वह मित्रराष्ट्रों के खिलाफ लड़ाई के लिये उठ खड़ा हो। जर्मनी को आशा थी, कि इस अपील के परिणाम-स्वरूप भारत, ईजिप्ट आदि के सब मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह कर देंगे। पर उसकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई। इसके विपरीत अंग्रेजों ने अरबों की राष्ट्रीय भावना को उभाड़ कर उन्हें तुर्क शासन के विरुद्ध उठ खड़े होने को प्रेरित किया। तुर्क साम्राज्य में जिन अनेक तुर्क-भिन्न जातियों का निवास था, वे प्रधानतया अरब थीं। सीरिया, लेबनान, ईराक आदि में अरब लोगों का ही निवास था, और अरब प्रायद्वीप के अन्य प्रदेशों में तो अरब लोगों का प्राधान्य था ही। इन अरबों में राष्ट्रीय भावना का विकास भी हो रहा था। अंग्रेजों ने इसे उभाड़कर अरबों की शक्ति का तुर्कों के विरुद्ध प्रयोग किया। अरब लोग यह भली-भांति समझते थे, कि महायुद्ध द्वारा उत्पन्न परिस्थिति का अपने राष्ट्रीय उत्कर्ष के लिए प्रयोग किया जा सकता है। पर इस अवसर का प्रयोग कैसे किया जाए, इस सम्बन्ध में वे एकमत नहीं थे।

अगस्त, १९१४ में महायुद्ध के शुरू होने के समय तुर्की किसी भी पक्ष में तुरन्त ही शामिल नहीं हो गया था। अक्टूबर तक वह तटस्थ रहते हुए युद्ध की गतिविधि को ध्यान-पूर्वक देखता रहा था। इस समय का उपयोग अरब के राष्ट्रीय नेताओं ने इस बात के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये किया, कि तुर्क सुलतान से ऐसे वायदे प्राप्त करें जिनके कारण उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति में सहायता मिले। अभी उन्हें यह क्रियात्मक प्रतीत नहीं होता था, कि सुलतान की शक्ति का प्रतिरोध करने की दिशा में कोई पग उठाएं। अल-फतात संस्था ने अरब स्वतन्त्रता के लिये एक प्रस्ताव स्वीकृत करते हुए इस बात को स्पष्ट करना आवश्यक समझा, कि यदि यूरोपियन राज्यों ने तुर्क साम्राज्य के प्रदेशों में किसी भी ढंग से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया, तो अरब लोगों का यह कर्तव्य होगा कि वे तुर्की का साथ देकर इस हस्तक्षेप का विरोध करें। इसी प्रकार अल-अहद संस्था के नेता अजीज-उल मिस्री ने भी स्पष्ट रूप से यह घोषित किया, कि यदि तुर्क सुलतान भी महायुद्ध में शामिल हो गया, तो स्वाभाविक रूप से मित्र-पक्ष के यूरोपियन राज्य तुर्क साम्राज्य के प्रदेशों में हस्तक्षेप करने का प्रयत्न करेंगे। इस दशा में अल-अहद के सदस्यों को तुर्की का ही पक्ष लेना चाहिये। उन्हें इस प्रलोभन में नहीं फंसना चाहिये, कि तुर्की के विरुद्ध युद्ध करके वे अपनी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति कर सकते हैं। अरब के नेताओं को इस समय यह आशा थी, कि तुर्की की तरुण तुर्क पार्टी की सरकार के सहयोग व समर्थन से अरब प्रदेश स्वराज्य के मार्ग पर अग्रसर हो सकते हैं। वे यह भलीभांति समझते थे, कि यदि ब्रिटेन, फ्रांस आदि की सैनिक सहायता से उन्होंने स्वतन्त्रता प्राप्त की, तो उसका यही परिणाम होगा, कि ये राज्य अरब प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे, और उनका प्रभुत्व अरबों की स्वतन्त्रता के लिये तुर्क आधिपत्य की तुलना में अधिक हानिकारक होगा।

पर ब्रिटिश लोग भी इस समय में शान्त नहीं बैठे थे। ईजिप्ट पर उनका प्रभुत्व पहले ही स्थापित हो चुका था। यद्यपि अब तक भी ईजिप्ट की स्थिति तुर्क साम्राज्य के सूबे के समान थी; पर क्रियात्मक दृष्टि से वह एक पृथक् राज्य था, जिस पर वंशक्रमानुगत खदीवों का शासन था। पर वास्तविक शासन-शक्ति ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त एजेन्ट व कान्सल-जनरल के हाथों में थी, जिसके आदेशों की उपेक्षा कर सकना ईजिप्ट के खदीव व मन्त्रिमण्डल के लिये सम्भव नहीं था। १९१० में लार्ड किचनर ईजिप्ट के ब्रिटिश एजेन्ट के पद पर नियुक्त हुए थे, और महायुद्ध के प्रारम्भ काल में वे ही इस पद पर विराजमान थे। अक्टूबर, १९१४ में ज्यों ही तुर्की का सुलतान जर्मनी का पक्ष लेकर महायुद्ध में सम्मिलित हुआ, ब्रिटेन ने तुर्क साम्राज्य और ईजिप्ट के सम्बन्ध का अन्त कर दिया, और उसे पूर्ण रूप से ब्रिटेन का संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टोरेट) बना दिया। क्योंकि ईजिप्ट का खदीव अब्बास हिल्मी तुर्क सुलतान का पक्षपाती था, अतः उसे पदच्युत करके उसके चाचा हुसैन कामिल को खदीव के पद पर अभिषिक्त किया गया। यह नया खदीव पूरी तरह से ब्रिटिश एजेन्ट के हाथों में कठपुतली के समान था, और उसके आदेशों का पालन करना ही अपना कर्तव्य समझता था। अपने देश पर पूर्ण रूप से अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो जाने से ईजिप्ट के राष्ट्रवादी लोगों को बहुत असन्तोष हुआ, पर वे अपने को असहाय अनुभव करते थे। युद्ध की परिस्थितियों को निमित्त बनाकर अंग्रेजों ने ईजिप्ट पर इस ढंग के नियन्त्रण स्थापित किये, जिनके कारण वहां के देशभक्तों के लिये ब्रिटेन का प्रतिरोध कर सकना सम्भव नहीं रहा। अंग्रेज लोग युद्ध के प्रयत्न में ईजिप्ट के निवासियों के धन और जन का उपयोग करने में भी तत्पर थे। उन्होंने ईजिप्सियन लोगों की एक श्रमिक सेना भरती की, जिसका कार्य पैलेस्टाइन और सीरिया के रणक्षेत्रों में रसद पहुंचाना था। ज्यों-ज्यों युद्ध अधिक भयंकर तथा व्यापक होता गया, ब्रिटेन को यह अनुभव होने लगा, कि एशिया माइनर के रणक्षेत्र में सफलता प्राप्त करने और तुर्की को परास्त करने के लिये ईजिप्सियन सैनिकों का प्रयोग भी आवश्यक है। इसीलिये उसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईजिप्ट की सेना को भी इस बात के लिये विवश किया, कि वह जर्मनी और तुर्की के विरुद्ध युद्ध में पूर्णरूप से सहयोग दे। पर ईजिप्ट के लोगों को यह बात पसन्द नहीं थी। वे समझते थे, कि ईजिप्ट को महायुद्ध में तटस्थता की नीति बरतनी चाहिये, और कोई ऐसा कारण नहीं है, जिससे कि वे सक्रिय रूप से ब्रिटेन की सहायता करें। साथ ही, ईजिप्ट के निवासियों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की भावना भी जोर पकड़ रही थी। ब्रिटिश लोग संसार की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये स्पष्ट रूप से यह घोषित कर रहे थे, कि वे राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की स्थापना और निरंकुश शासनों का अन्त करने के लिये ही युद्ध में शामिल हुए हैं। ईजिप्ट के निवासी अनुभव करते थे, कि यदि मित्रराष्ट्रों के युद्ध-प्रयत्न का यही उद्देश्य है, तो हमें भी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये। इसी कारण युद्ध-काल में वहां एक नये राष्ट्रीय दल का संगठन हुआ, जिसे 'वफ्द' कहते थे। इसका प्रधान नेता जगलुल पाशा था। वफ्द पार्टी ने सशस्त्र स्वयं-सेवकों का दल संगठित किया, और ब्रिटिश अफसरों पर हमले शुरू कर दिये। यद्यपि उन्हें अपने प्रयत्न में बहुत सफलता नहीं मिल सकी, पर उनके आक्रमणों और आन्दोलनों से यह भली भांति स्पष्ट हो गया, कि ईजिप्ट के लोग चिरकाल तक ब्रिटिश आधिपत्य में नहीं रह सकते।

ईजिप्ट के ब्रिटिश शासकों ने युद्ध के समय इस बात के लिए भी उद्योग शुरू किया, कि तुर्क सुलतान के विरुद्ध विविध अरब प्रदेशों का सहयोग प्राप्त किया जाए। तुर्क साम्राज्य की राजनीतिक दशा इस समय प्रायः वैसी ही थी, जैसी कि मुगल साम्राज्य के पतन के समय भारत की थी। ईराक, सीरिया आदि साम्राज्य के सूबे थे, जिन पर सुलतान द्वारा नियुक्त सूबेदारों का शासन था। अरब प्रायद्वीप के विविध प्रदेश ऐसे वंश-क्रमानुगत राजाओं के शासन में थे, जो सुलतान की अधीनता स्वीकार करते हुए भी अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतन्त्र शासकों की स्थिति रखते थे। इनमें से कुछ राजा अधिक शक्तिशाली थे, और कुछ कम। उनकी स्थिति तुर्क साम्राज्य में कुछ उसी ढंग की थी, जैसी कि मुगलों की अधीनता में विविध राजपूत राजाओं की थी। मक्का में इस समय शरीफ हुसैन का शासन था। अरब संसार में उसे बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता था, क्योंकि मुसलमानों का यह सर्वप्रधान तीर्थस्थान व पवित्र नगर उसी के शासन में था। जब तक तुर्क साम्राज्य पर सुलतानों का निरंकुश शासन था, मक्का के वंशक्रमानुगत राजाओं पर उनका आधिपत्य अधिक सुदृढ़ नहीं था। १९०८-१९०९ की राज्य-क्रान्ति के कारण जब तुर्की में तरुण तुर्क पार्टी का जोर बढ़ गया, तो उन्होंने तुर्क साम्राज्य को सुव्यवस्थित करने के लिए यह प्रयत्न किया, कि विविध अरब राजाओं पर भी तुर्की के प्रभुत्व को अधिक सुदृढ़ किया जाय। मक्का के शरीफ हुसैन को तुर्क शासकों की यह बात पसन्द नहीं थी। इसी लिए जब लार्ड किचनर ने तुर्की के विरुद्ध अरबों का सहयोग प्राप्त करने के लिए उसके साथ बातचीत शुरू की, तो उसने अंग्रेजों की सहायता करना उचित समझा। अंग्रेजों ने इस समय स्पष्ट रूप से यह घोषित किया, कि वे अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को पूर्णतया उचित समझते हैं, और महायुद्ध में विजय के अनन्तर उनकी यही नीति होगी कि अरबों को तुर्कों की अधीनता से मुक्त कर एक स्वतन्त्र अरब राष्ट्र का निर्माण किया जाय। सीरिया, लेबेनान आदि के राष्ट्रीय अरब नेताओं के साथ भी अंग्रेजों ने सम्पर्क स्थापित किया, और उन्हें इस बात के लिये प्रेरित करना आरम्भ किया, कि वे तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दें। इसी प्रयोजन से उन्होंने अल-अहद के नेता अजीज उल-मिस्री से बात-चीत की। अरब नेता इस समय इस बात पर जोर दे रहे थे, कि अंग्रेज स्पष्टरूप से यह गारन्टी दें, कि वे अरब की राष्ट्रीय स्वाधीनता को स्वीकार करेंगे। पर अंग्रेज इसके लिये तैयार नहीं थे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि वे युद्ध के अपने महान् उद्देश्यों की जोर शोर से घोषणा करने में तत्पर थे। अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का भी वे समर्थन करते थे, और एक स्वतन्त्र अरब राष्ट्र के निर्माण की भी बात कहते थे। पर अरब नेता चाहते थे, कि अंग्रेज पूर्णतया स्पष्ट शब्दों में यह घोषित कर दें, कि अरब की पूर्ण स्वाधीन रूप से सत्ता उन्हें स्वीकार्य होगी। पर अंग्रेजों ने अरबों के सहयोग को प्राप्त करने के प्रयत्न को जारी रखा। अल-फतात संस्था से भी उन्होंने सम्पर्क स्थापित किया। जनवरी, १९१५ में इस संस्था की ओर से एक सन्देश मक्का के शरीफ हुसैन के पास भेजा गया, जिसमें कि तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह करने की योजना का समर्थन किया गया था। इस सन्देश को पाकर शरीफ हुसैन ने अपने पुत्र फैजल को सीरिया की राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ बातचीत करने के लिए भेजा। सीरिया जाकर फैजल ने अल-अहद और अल-फतात दोनों के साथ सम्पर्क स्थापित किया। उसने उन्हें बताया, कि अंग्रेजों की उसके पिता के साथ क्या बातचीत हुई है। पर इस बीच में ये दोनों राष्ट्रीय संस्थाएं अपनी नीति का निर्धारण कर चुकी थीं। वे तुर्क सुलतान के विरुद्ध विद्रोह करने के लिये तो तैयार थीं, पर उनकी शर्त यह थी, कि स्वतन्त्र अरब राज्य के निर्माण के सम्बन्ध में अंग्रेज लोग स्पष्ट रूप से गारन्टी देने को तैयार हों। इस अरब राज्य में वे अरब प्रायद्वीप, पैलेस्टाइन, सीरिया और ईराक को शामिल करते थे, यद्यपि अदन पर अंग्रेजों के प्रभुत्त्व को कायम रखने के सम्बन्ध में उन्हें कोई आपत्ति नहीं थी।

अंग्रेज लोग अरब प्रायद्वीप में एक स्वतन्त्र अरब राज्य की स्थापना के तो पक्ष में थे,पर सीरिया आदि के सम्बन्ध में उनका विचार स्पष्ट नहीं था। उनका कहना था, कि सीरिया के अनेक प्रदेशों को पूर्णतया अरब नहीं माना जा सकता। साथ ही, वे ईराक के समुद्रतट पर स्थित प्रदेशों पर भी अपने प्रभुत्त्व को कायम रखने के लिए उत्सुक थे, क्योंकि अपने पूर्वी साम्राज्य की दृष्टि से उनके लिए इन प्रदेशों का बहुत महत्त्व था। सीरिया और लेबनान में फ्रेंच लोगों के जो व्यापार-सम्बन्धी तथा अन्य हित विद्यमान थे, उनकी उपेक्षा कर सकना भी अंग्रेजों के लिए सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने यह सुझाव दिया, कि सीरिया और ईराक के समुद्र-तटवर्ती प्रदेशों के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय को युद्ध की समाप्ति तक स्थगित रखा जाय। पर सिद्धान्ततः अरब की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की बात को उन्होंने स्वीकार कर लिया, जिसके कारण शरीफ हुसैन उनकी सहायता के लिए तैयार हो गया।

सीरिया के सूबेदार के पद पर इस समय जमाल पाशा था, जो अपनी सूबेदारी के क्षेत्र में अरबों की राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। उसने बहुत-से अरब नेताओं को गिरफ्तार कर लिया, और उन पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया। अदालत ने इन्हें कठोर सजाएं दीं, जिसके कारण ३४ अरब नेताओं को फांसी दी गई, और सैकड़ों देशभक्तों को देशनिकाला देकर अनेतोलिया भेज दिया गया। तुर्क साम्राज्य के अरब प्रदेशों पर पूरी तरह से काबू पाने के लिए इसी समय (१९१६) सुलतान की ओर से एक सेना वहां भेजी गई, जिसके बड़े अफसर जर्मन थे। मई, १९१६ में यह सेना हज्जाज रेलवे द्वारा मदीना पहुंच गई। इस सेना को देख कर शरीफ हुसैन घबरा गया। उसने सोचा, कि अंग्रेजों के साथ उसकी जो बातचीत हुई थी, तुर्क शासकों को उसका पता चल गया है, और यह सेना उसी के विरुद्ध भेजी गई है। इस दशा में उसने यही उचित समझा, कि तुर्कों के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया जाय, और स्पष्ट रूप से अंग्रेजों की सहायता करना प्रारम्भ कर दिया जाय। ५ जून, १९१६ के दिन अरब विद्रोह शुरू हो गया। अंग्रेजों व मित्रराष्ट्रों के लिए यह विद्रोह बड़े महत्त्व का था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके कारण तुर्क सुलतान की बहुत-सी सेनाएं अरबों के विरुद्ध संघर्ष में फंस गई, और मित्रराष्ट्रों के लिए तुर्की को परास्त कर सकना सुगम हो गया। इस प्रसंग में यह ध्यान में रखना चाहिए, कि भारत की ब्रिटिश सरकार अरब विद्रोह के प्रति सहानुभूति नहीं रखती थी। उसका खयाल था, कि भारत के मुसलमान तुर्क खलीफा को अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते हैं, और उसके विरुद्ध अरब विद्रोह की सहायता का यह परिणाम होगा कि भारत के मुसलमानों में असन्तोष उत्पन्न हो जायगा, जो भारत में ब्रिटिश शासन के लिए बहुत हानिकारक होगा। पर इसमें सन्देह नहीं, कि अरब विद्रोह के कारण पश्चिमी एशिया के रणक्षेत्रों में मित्रराज्यों को बहुत सहायता मिली। मक्का के शरीफ हुसैन ने अपने को अरब का स्वतन्त्र सुलतान घोषित कर दिया, और सीरिया तथा ईराक आदि के अरब देशभक्तों ने अपने संघर्ष को प्रारम्भ कर दिया। इस दशा में दिसम्बर, १९१७ में जनरल एलनबी के नेतृत्व में एक ब्रिटिश सेना ने कैरो से प्रस्थान किया, और पैलेस्टाइन को जीत लिया। ईराक पर इससे पूर्व ही अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था, और मार्च, १९१७ में जनरल मॉड की सेनाओं ने बगदाद पर कब्जा कर लिया था। अपने साम्राज्य की आन्तरिक समस्याओं में उलझ जाने के कारण तुर्की सुलतान के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह मित्रराज्यों से युद्ध करने में जर्मनी की विशेष सहायता कर सके।

इस बीच में मित्रराज्यों का पक्ष निरन्तर प्रबल होता जा रहा था। संयुक्त-राज्य अमेरिका के मित्र-राज्यों के पक्ष में शामिल हो जाने के कारण उनका पलड़ा बहुत भारी हो गया था। सितम्बर, १९१८ में बलगारिया ने आत्मसमर्पण कर दिया था, जिसके कारण तुर्की अपने अन्य साथियों से अलग पड़ गया था। यह स्पष्ट था, कि वह अकेला शक्तिशाली मित्रराष्ट्रों से युद्ध को जारी नहीं रख सकेगा। इस दशा में अक्टूबर, १९१८ में तुर्की ने भी आत्मसमर्पण कर दिया। महायुद्ध में ब्रिटिश पक्ष की विजय हुई, और जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, बलगारिया और तुर्की परास्त हो गए। युद्ध में परास्त हो जाने का यह परिणाम हुआ, कि तुर्क साम्राज्य का पतन हो गया और उसकी अधीनता में जो बहुत-से प्रदेश थे, वे उसकी अधीनता से मुक्त कर दिये गए।

(२) तुर्क साम्राज्य की नई व्यवस्था

महायुद्ध की समाप्ति पर परास्त राज्यों के सम्बन्ध में नई व्यवस्था करने और उनके साथ सन्धियां करने के लिए पेरिस में शान्ति परिषद् का आयोजन किया गया। इस परिषद् में किये गये निर्णयों के अनुसार तुर्की के साथ जो सन्धि की गई, वह सेव्रे की सन्धि के नाम से प्रसिद्ध है। यह तो स्पष्ट ही था, कि महायुद्ध में पराजित हो जाने के कारण तुर्क साम्राज्य की सत्ता कायम नहीं रह सकेगी, और उसकी अधीनता से उन सब प्रदेशों को मुक्त कर दिया जायगा, जिनमें तुर्क-भिन्न लोगों का निवास था। यूरोप में जो भी प्रदेश अब तक तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, वे सब अब उससे ले लिये गये। थ्रेस का प्रदेश और ईगियन सागर के सब तुर्क द्वीप ग्रीस को प्रदान किये गये। स्मर्ना का प्रदेश भी ग्रीस को दिया गया, पर इस शर्त के साथ कि पांच साल बाद वहां लोकमत लिया जायगा, और यदि लोकमत द्वारा यह तय हो कि वहां के निवासी ग्रीस के साथ ही रहना चाहते हैं, तो वह प्रदेश स्थायी रूप से ग्रीस को प्राप्त हो जायगा। भूमध्य सागर के जो कतिपय द्वीप तुर्क साम्राज्य के अधीन थे, सेव्रे की सन्धि द्वारा वे इटली को प्रदान कर दिये गये। तुर्क साम्राज्य के यूरोपियन प्रदेशों की यह व्यवस्था अनुचित नहीं थी। पर उसके एशियन प्रदेशों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई, वह अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के प्रतिकूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थी। अरब देशभक्त चाहते थे, कि उनके सब प्रदेशों को मिलाकर एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का निर्माण किया जाय। इसी आशा में उन्होंने तुर्क सुलतान के विरुद्ध विद्रोह कर मित्र-राष्ट्रों के साथ सहयोग किया था। पर पेरिस की शान्ति-परिषद् में उनकी इस भावना की कोई परवाह नहीं की गई। यथार्थ बात तो यह है, कि महायुद्ध के दौरान में ब्रिटिश राजनीतिज्ञ एक ओर तो अरबों की राष्ट्रीय भावनाओं का समर्थन कर उन्हें स्वतन्त्र अरब राज्य का भरोसा दिला रहे थे, और दूसरी ओर वे फ्रांस और रूस के साथ इस प्रश्न पर समझौता करने के लिये प्रयत्नशील थे, कि महायुद्ध की समाप्ति पर तुर्क साम्राज्य के प्रदेशों का आपस में किस ढंग से विभाजन किया जायगा। १९१६ में अरब प्रदेशों के सम्बन्ध में फ्रांस और ब्रिटेन ने यह समझौता किया था— (१) बसरा और बगदाद पर ब्रिटेन का प्रभुत्व स्थापित किया जाय, (२) सीरिया और सीलीसिया फ्रांस के प्रभुत्व में रहें, (३) पैलेस्टाइन को एक अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के रूप में परिवर्तित किया जाय, और (४) अन्य प्रदेशों को एक अरब राज्य या संघराज्य के रूप में परिणत किया जाय, जिसके आधे-आधे भाग फ्रेञ्च और ब्रिटिश प्रभाव में रखे जाएँ। रूस के साथ किये गये एक अन्य समझौते द्वारा उसे कान्स्टेन्टिनोपल और बोस्पोरस के दोनों ओर का प्रदेश प्रदान करने की व्यवस्था की गई थी। वस्तुतः, तुर्क साम्राज्य के सम्बन्ध में मित्रराष्ट्र यही चाहते थे, यद्यपि अरबों की सहायता प्राप्त करने के लिये वे उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का आश्वासन दे रहे थे। महायुद्ध के दौरान में ही १९१७ में रूस में बोलशेविक क्रान्ति हो गई थी, जिसके कारण कान्स्टेन्टिनोपल व उसके समीप के अन्य तुर्क प्रदेश उसे प्रदान करने का प्रश्न ही नहीं रह गया था। पर अरब प्रदेशों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था पेरिस की शान्ति परिषद् और सेव्र की सन्धि द्वारा की गई, वह प्रायः वही थी, जिसका निर्णय फ्रांस और ब्रिटेन ने १९१६ में ही कर लिया था।

पर यह सम्भव नहीं था, कि अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ण रूप से उपेक्षा की जा सके। इसलिये उन्हें दृष्टि में रख कर अरब प्रदेशों के सम्बन्ध में निम्नलिखित व्यवस्था की गई, (१) तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत ईराक, पैलेस्टाइन, ट्रांस-जोर्डन, सीरिया और लेबनान के जो प्रदेश थे, उनके सम्बन्ध में यह स्वीकार किया गया कि वे विकास की इस दशा तक पहुंच गये हैं, कि उन्हें पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्यों के रूप में निर्मित किया जा सकता है, यद्यपि अभी कुछ समय तक उन पर नियन्त्रण रखने और राज्यकार्य में उन की सरकारों को परामर्श तथा सहायता देने की आवश्यकता है। इस प्रकार के राज्यों के लिए पेरिस की शान्तिपरिषद् द्वारा संगठित राष्ट्रसंघ ने एक नई पद्धति का आविष्कार किया था, जिसे मेन्डेट (आदेश) की पद्धति कहा जाता है। यह मान लिया गया था, कि तुर्की की अधीनता से मुक्त हुए ये विविध प्रदेश राष्ट्रसंघ के नियन्त्रण में रहेंगे, क्योंकि अभी ये पूर्णतया स्वतन्त्र होने की स्थिति में नहीं हैं। पर राष्ट्रसंघ स्वयं उनके शासन का संचालन व नियंत्रण नहीं कर सकता था, अतः यह कार्य उसकी ओर से विविध मित्र-राष्ट्रों के सुपुर्द कर दिया गया, जो राष्ट्रसंघ से मैन्डेट (आदेश) प्राप्त कर उनका शासन करते थे। इस पद्धति के अनुसार ईराक, पैलेस्टाइन और ट्रांस-जोर्डन को ब्रिटेन के मैन्डेट में रखा गया, और सीरिया तथा लेबनान को फ्रांस के। (२) अरब प्रायद्वीप के विविध प्रदेशों पर जिन अरब राजाओं के शासन थे, उनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। इन राजाओं में दो प्रधान थे, मक्का का शरीफ हुसैन और नेज्द का इब्न सऊद। महायुद्ध के समय में इन दोनों ने ही मित्र राष्ट्रों का साथ दिया था, और अरब विद्रोह में भाग लिया था। अतः इनकी स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार किया गया। पर इन राज्यों की स्थिति देर तक एक समान नहीं रह सकी। शीघ्र ही, इब्न सऊद ने अरब प्रायद्वीप के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक राज्यों को जीत कर अपने अधीन कर लिया, और इस प्रकार अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। मक्का के हुसैनी राजाओं ने भी उसकी प्रभुता को स्वीकार कर लिया था, और कुछ समय बाद इनका अन्त कर इब्न सऊद ही इनके राज्य का भी स्वामी बन गया था। पर जहां तक सेव्र की सन्धि का सम्बन्ध है, उस द्वारा अरब प्रायद्वीप के विविध अरब राज्यों की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकृत कर ली गई थी। (३) ईजिप्ट पर ब्रिटेन के प्रभुत्व को स्वीकार किया गया। तुर्की के युद्ध में प्रविष्ट होने पर ब्रिटिश लोगों ने ईजिप्ट को किस प्रकार अपने अधिकार में कर लिया था, यह पहले लिखा जा चुका है। महायुद्ध के दौरान में ईजिप्ट पर ब्रिटेन का कब्जा रहा, और सेव्र की सन्धि और पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा इस देश पर ब्रिटेन के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया गया।

यह स्पष्ट है, कि तुर्क साम्राज्य के पतन के अनन्तर उसके अरब प्रदेशों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था पेरिस की शान्ति परिषद् द्वारा की गई थी, वह अरब लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के अनुरूप नहीं थी। ईजिप्ट, सीरिया और ईराक आदि में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के आन्दोलन पर्याप्त बल पकड़ चुके थे। इसी लिये १९२० के बाद इन देशों में विदेशी आधिपत्य के विरुद्ध संघर्ष शुरू हो गये।

सेव्र की सन्धि के कारण तुर्की का विशाल साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया था, और एक करोड़ बीस लाख की आबादी के प्रदेश उससे पृथक् कर दिये गये थे। जो तुर्की अब शेष रहा, उसकी आबादी केवल अस्सी लाख थी। अब वह एक छोटा-सा राज्य रह गया, जिसके अन्तर्गत कोई भी ऐसे प्रदेश शेष नहीं रहे, जिनमें किसी तुर्क-भिन्न जाति का निवास हो। पर तुर्की साम्राज्य के अन्त की अपेक्षा भी अधिक महत्त्व की बात तुर्की सल्तनत की इतिश्री थी। तुर्की के सुलतान न केवल अपने साम्राज्य के सम्राट् थे, अपितु मुस्लिम जगत् के खलीफा भी थे। सेव्र की सन्धि द्वारा तुर्क सुलतान की सत्ता को स्वीकार किया गया था, और उसी के प्रतिनिधि ने इस सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर भी किये थे। पर तुर्क जनता में अपने देश की दुर्दशा से बहुत असन्तोष था। वहां एक राष्ट्रीय दल प्रबल हो गया था, जिसका नेता मुस्तफा कमाल पाशा था। उसके नेतृत्व में अन्कोरा को केन्द्र बनाकर एक पृथक् तुर्क सरकार की भी स्थापना हो गई थी, और यह सरकार सेव्र की सन्धि को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं थी। कुछ ही समय बाद कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की में राज्यक्रांति हो गई, और सुलतान मुहम्मद छठे (१९१८-१९२२) को राजगद्दी छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा। जिस तुर्क सुलतान मुहम्मद पञ्चम के समय में तुर्की महायुद्ध में शामिल हुआ था, १९१८ में उसकी मृत्यु हो चुकी थी। राज्यक्रान्ति के परिणामस्वरूप अब तुर्की में भी रिपब्लिक की स्थापना हुई (१९२२)। इतिहास में इस राज्यक्रान्ति का बहुत महत्त्व है, क्योंकि इसके कारण न केवल तुर्क सल्तनत का अन्त हुआ, अपितु साथ ही खलीफत का भी। इस्लाम के धार्मिक इतिहास में यह बहुत बड़ी घटना थी। हजरत मुहम्मद के बाद खलीफाओं की जिस परम्परा का प्रारम्भ हुआ था, सुलतान मुहम्मद छठे के साथ अब उसकी इतिश्री हो गई थी।

(३) राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन अरब राज्य

तुर्क साम्राज्य के पतन के बाद जो विविध राज्य पृथक् रूप से स्थापित हुए थे, पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास को समझने के लिए उनके सम्बन्ध में कुछ अधिक परिचय देना बहुत उपयोगी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईराक—महायुद्ध की समाप्ति से पूर्व ईराक पर ब्रिटिश सेनाओं का आधिपत्य स्थापित हो गया था। तुर्क साम्राज्य के इस प्रदेश की विजय का प्रधान श्रेय उन भारतीय सेनाओं को है, जिन्हें कि ब्रिटिश शासक महायुद्ध में स्वेच्छापूर्वक प्रयुक्त कर रहे थे। १९१८ में जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तो ईराक ब्रिटिश सेनाओं के कब्जे में था, और वहां का शासन सैनिक ढंग से ही किया जा रहा था। अरब लोगों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति का बार-बार आश्वासन देते हुए भी अंग्रेज शासकों ने इस प्रदेश में स्वराज्य की स्थापना के सम्बन्ध में अपनी नीति को स्पष्ट नहीं किया। इसीलिए अरब के राष्ट्रीय नेताओं में अंग्रेजों के विरुद्ध भावना प्रचण्ड होने लगी, और जब सेव्र की सन्धि द्वारा ईराक ब्रिटेन के मैन्डेट में दे दिया गया, तो अरबों का असन्तोष विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। एप्रिल, १९२० में ईराक में सर्वत्र विद्रोह शुरू हो गये, और इनका दमन करने के लिए ब्रिटिश शासकों को अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग करना पड़ा। १९२१ के प्रारम्भ तक ये विद्रोह पूर्णतया दबा दिये गये थे, और ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी, जिसमें कि ईराक के शासन के सम्बन्ध में निश्चित कदम उठाये जा सकते थे। यह कार्य सर पर्सी कोक्स के सुपुर्द किया गया, जो एक अनुभवी अफसर था, और महायुद्ध के दौरान में ईराक में रह भी चुका था। ईराक का शासन करने के लिए उसे हाई कमिश्नर नियुक्त किया गया, और उसने सैनिक शासन का अन्त कर एक ऐसी सरकार को स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिससे अरब लोग संतोष अनुभव कर सकें। सर पर्सी कोक्स ने ईराक के लिए एक कौंसिल आफ स्टेट (राज्य परिषद्) की नियुक्ति की, जिसका स्वरूप एक मन्त्रिमण्डल के समान था। इस कौंसिल के सब सदस्य अरब लोग थे, पर उन्हें अपने विभागों के शासन के लिये ब्रिटिश परामर्शदाताओं के परामर्श के अनुसार कार्य करना होता था। अरब मन्त्री कोई ऐसा फैसला नहीं कर सकते थे, जो ब्रिटिश परामर्शदाताओं को स्वीकार्य न हो। सब मामलों का अन्तिम निर्णय हाई कमिश्नर के हाथों में था, जो अरब कौन्सिल तथा ब्रिटिश परामर्शदाताओं के फैसलों को वीटो भी कर सकता था। ब्रिटिश सरकार का मत था, कि अभी ईराक स्वशासन के योग्य नहीं हुआ है, अतः वहां पार्लिमेन्ट या विधान सभा जैसी संस्थाओं का निर्माण क्रियात्मक नहीं है। ईराक के शासन का स्वरूप इस समय प्रायः वैसा ही था, जैसा कि महायुद्ध से पूर्व लार्ड क्रोमर की अधीनता में ईजिप्ट का था। यह स्पष्ट है, कि अरब देशभक्त इस शासन से कभी सन्तुष्ट नहीं हो सकते थे। इस दशा में ब्रिटेन ने अनुभव किया, कि ईराक के शासन का बाह्य स्वरूप ऐसा अवश्य होना चाहिए जिससे अरब लोग यह समझने लगें, कि उनका शासन उनके अपने हाथों में है। इसका उपाय अंग्रेजों की समझ में यह आया, कि ईराक में राजसत्ता की स्थापना कर दी जाए, और एक ऐसे व्यक्ति को वहां का राजा नियत किया जाय, जो ईरानी जनता को स्वीकार्य हो। ऐसा एक व्यक्ति फैजल था, जो कि मक्का के वंशक्रमानुगत राजा शरीफ हुसैन का पुत्र था। महायुद्ध के समय में फैजल ने तुर्क सुलतान के विरुद्ध अरब विद्रोह में महत्त्वपूर्ण कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, और अरब के राष्ट्रीय नेता उसे बहुत मानते थे। इस समय ब्रिटिश सरकार के औपनिवेशिक मन्त्री श्री विन्स्टन चर्चिल थे, जो आगे चलकर ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री बने, और जिन्होंने बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश पक्ष के लिये अनुपम कार्य किया। मार्च, १९२१ में चर्चिल ने कैरो में अरबों की एक कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें यह तय हुआ कि फैजल को ईराक का राजा नियत किया जाए, पर इस सम्बन्ध में वहां की जनता का लोकमत भी ले लिया जाए। ईराक की कौंसिल आफ स्टेट ने इस बात को स्वीकार कर लिया, और लोकमत द्वारा भी इसके पक्ष में समर्थन प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया गया। २३ अगस्त, १९२२ के दिन फैजल ने ईराक की राजगद्दी संभाल ली। फैंजल को राजा बनाने के सम्बन्ध में जब लोकमत लिया जा रहा था, तो ईराक के लोगों ने समझा, कि जब हमारे देश का अपना पृथक् राजा हो जायेगा, तो उसका अभिप्राय यही होगा कि ब्रिटिश आधिपत्य या राष्ट्रसंघ के मैन्डेट का अन्त होकर हम पूर्ण रूप से स्वाधीनता प्राप्त कर लेंगे। पर यह उनकी भूल थी। ईराक में राजसत्ता की स्थापना के बाद भी ब्रिटिश लोग वहां अपने प्रभुत्व एवं शासन को कायम रखना चाहते थे।

फैजल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हो जाने के बाद ईराक के शासन का स्वरूप निम्नलिखित था—(१) ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर पूर्ववत् वहां विद्यमान रहा। राजा के लिये यह अनिवार्य था, कि वह हाई कमिश्नर के परामर्श के अनुसार शासन करे। उसकी सम्मति की उपेक्षा कर सकना राजा के लिये सम्भव नहीं था। (२) कतिपय उच्च राजकीय पदों पर ब्रिटिश अफसर नियत किये गये। (३) एक राष्ट्रीय सभा की स्थापना की गई, जिसकी सदस्य-संख्या १०० थी। इसके सदस्यों की नियुक्ति के सम्बन्ध में जनता का भी सहयोग लिया गया। (४) राजा की सहायता के लिए एक मन्त्रि मंडल का निर्माण किया गया। ये मन्त्री ईराकी ही होते थे। (५) विदेशों से सम्बन्ध और आर्थिक व्यवस्था पर ब्रिटिश सरकार का पूरा-पूरा नियन्त्रण रखा गया। इनके लिए ब्रिटिश अफसर नियत किये गये, और इनके सम्बन्ध में कोई भी ऐसा निर्णय कर सकना सम्भव नहीं था, जो हाई कमिश्नर को अस्वीकार्य हो। ईराक के शासन के सम्बन्ध में की गई इस नई व्यवस्था में ब्रिटेन का स्थान बहुत महत्त्व का था। राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन ईराक के प्रति ब्रिटेन की जो जिम्मेदारियां थीं, उनको दृष्टि में रखकर ब्रिटिश सरकार ने ईराक के साथ जिस ढंग के सम्बन्ध स्थापित किये, उन्हें वैधानिक रूप देने के लिए ब्रिटेन और ईराक में एक सन्धि का किया जाना तय हुआ। पर ईराक के राष्ट्रीय नेता अपने देश पर ब्रिटेन का इस प्रकार का प्रभुत्व स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुए। इस दशा में अनेक राष्ट्रीय नेताओं को देश से बहिष्कृत कर दिया गया, और जनता के असंतोष ने एक बाकायदा विद्रोह का रूप धारण कर लिया, जिसका दमन करने के लिए अंग्रेजों को अपनी वायु-शक्ति के प्रयोग की आवश्यकता हुई और अनेक बार हवाई जहाजों द्वारा बम बरसाये गये। राजा फैजल एंग्लो-ईराकी सन्धि को स्वीकार करने में टाल-मटोल कर रहा था, अतः सितम्बर, १९२२ में ब्रिटिश हाई कमिश्नर सर पर्सी कोक्स ने उसे स्पष्ट रूप से यह जता दिया, कि ब्रिटिश सरकार सन्धि की स्वीकृति में अधिक विलम्ब को सहन करने के लिये तैयार नहीं है। विवश होकर अक्टूबर, १९२२ में ईराक के मन्त्रिमण्डल ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया। इस सन्धि के अनुसार यह भी आवश्यक था, कि राजा द्वारा जिस किसी कानून की स्वीकृति दी जाय, उसके लिए पहले ब्रिटिश हाई कमिश्नर की अनुमति ले ली जाय, और ईराकी मन्त्री जो कोई भी आर्डर दें, उनके लिए भी पहले ब्रिटिश परामर्शदाता से अनुमति प्राप्त कर लें। यदि कोई मन्त्री ब्रिटिश परामर्शदाता की किसी बात को अस्वीकार करे, तो हाई कमिश्नर को यह अधिकार हो, कि वह राजा को उसे स्वीकृत करने के लिए परामर्श या आदेश दे सके। यह स्पष्ट है, कि ईराक में इस समय स्वशासन का जो स्वरूप था वह एक ढकोसला था, क्योंकि वास्तविक शक्ति अंग्रेजों के ही हाथों में थी। राष्ट्रीय सभा (नेशनल असेम्बली) के सदस्य इस सन्धि के विरुद्ध थे, इसी कारण उस द्वारा इसकी स्वीकृति में कई साल लग गये। राष्ट्रीय सभा को इस सन्धि की अनेक बातों पर एतराज था। ब्रिटिश परामर्शदाताओं की नियुक्ति और उनके विशेषाधिकार उन्हें किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं थे। जब राष्ट्रीय सभा ने सन्धि की स्वीकृति में बहुत देर कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी, तो हाई कमिश्नर ने राजा को पन्द्रह दिन का नोटिस दिया। उसने कहा, कि यदि ईराक की राष्ट्रीय-सभा ने इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया, तो ब्रिटिश सरकार राष्ट्र-संघ के सम्मुख अपनी ओर से ईराक के बारे में ऐसे प्रस्ताव उपस्थित करेगी, जिनके विषय में ईराक के लोगों और सरकार से कोई भी सम्मति नहीं ली जायगी। विवश होकर राष्ट्रीय सभा ने भी एंग्लो-ईराकी सन्धि को स्वीकृत कर लिया, यद्यपि उसके १०० सदस्यों में से केवल ३७ ने ही उसके पक्ष में वोट दिये। २४ वोट सन्धि के विरोध में आये, ३१ सदस्य उपस्थित ही नहीं हुए, और ८ ने वोट नहीं दिया। इस प्रकार ईराक के शासन के सम्बन्ध में जो व्यवस्था महायुद्ध की समाप्ति पर की गई, वह अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के सर्वथा प्रतिकूल थी, और उस द्वारा ईराकी जनता को अपने देश के शासन के सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त हुए थे, वे सर्वथा असन्तोषजनक एवं नगण्य थे।

पैलेस्टाइन—ईराक के समान पैलेस्टाइन का प्रदेश भी महायुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्र संघ के मैन्डेट द्वारा ब्रिटेन के अधीन किया गया था। भूमध्य सागर के पूर्वी तट पर स्थित इस प्रदेश का पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास में बहुत महत्त्व है। ईसाई, मुसलमान और यहूदी—तीनों धर्मों की दृष्टि में यह प्रदेश धर्मभूमि हैं, और तीनों ही धर्मों के अनुयायी वहां अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। पैलेस्टाइन का मुख्य नगर जेरुसलम है, जहां इन तीनों धर्मों के ऐसे मन्दिरों तथा धर्मस्थानों की सत्ता है, जिनका इन धर्मों के अनुयायियों की दृष्टि में बहुत अधिक महत्त्व है। बहुत पुराने समय में इस प्रदेश में यहूदी लोगों का निवास था, और यहीं से वे संसार के अन्य देशों में बसने के लिये गये थे। महायुद्ध (१९१४-१८) के समय तक पैलेस्टाइन का प्रदेश तुर्क साम्राज्य के अधीन था, और उसके शासन के लिये सुलतान की ओर से एक सूबेदार की नियुक्ति की जाती थी। यद्यपि इस प्रदेश में मुस्लिम अरब बहुसंख्या में थे, पर ईसाई और यहूदियों का भी वहां अच्छी बड़ी संख्या में निवास था। इसी कारण इन अल्पसंख्यक लोगों को तुर्क सुलतान ने पृथक् मिल्लतों के रूप में स्वीकार किया हुआ था, और उन्हें स्वशासन के सम्बन्ध के अनेकविध अधिकार भी प्रदान किये हुए थे। तुर्की के महायुद्ध में प्रवेश करने पर जब ब्रिटिश लोगों ने सुलतान के विरुद्ध अरबों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, और एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र के निर्माण का उन्हें आश्वासन दिया, तो अरबों ने स्वाभाविक रूप से यह समझा कि तुर्क सल्तनत के पतन के बाद जिस अरब राष्ट्र की स्थापना होगी, पैलेस्टाइन भी उसके अन्तर्गत रहेगा। पर ब्रिटिश लोगों के मन में एक अन्य ही बात थी। संसार में इस समय कोई भी ऐसा प्रदेश नहीं था, जिसे यहूदी लोग अपना कह सकें। वे यूरोप और अमेरिका के अनेक देशों में बिखरे हुए थे, और जाति, नसल तथा धर्म की भिन्नता के कारण किसी भी देश की राष्ट्रीयता के पूर्ण-रूप से अंग नहीं बन सके थे। यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता की भावना के उग्ररूप धारण कर लेने के कारण अनेक देशों में यहूदियों को घृणा की दृष्टि से भी देखा जाने लगा था, जिसमें कि वहां यहूदियों के लिये रह सकना सम्भव नहीं रहा था। इस दशा में यूरोप व अमेरिका के सम्पन्न यहूदियों ने एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया, जिसका उद्देश्य यह था कि एक ऐसे पृथक् देश की व्यवस्था की जानी चाहिए, जहां कि विविध देशों से विस्थापित हुए यहूदी लोग निश्चिन्तता के साथ बस सकें। स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान पैलेस्टाइन की ओर गया, जो अत्यन्त प्राचीनकाल में उनका अपना देश था, और जिसके सम्बन्ध में उनमें यह किम्वदन्ती चली आती थी, कि भविष्य में भी कभी वे वहां बस पाएंगे। इस नये यहूदी या जियोनिस्त आन्दोलन के प्रधान नेता डॉ० वीजमान और मि० ब्राडीस थे। इनके नेतृत्त्व में यहूदियों में यह आन्दोलन निरन्तर जोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पकड़ता जाता था, कि महायुद्ध की समाप्ति पर जब पैलेस्टाइन तुर्कों की अधीनता से मुक्त हो जाय, तो इस प्रदेश को यहूदियों के लिये सुरक्षित कर दिया जाय, ताकि वहां बस कर वे लोग स्वतन्त्रता के साथ जीवन बिता सकें। ब्रिटिश सरकार के परराष्ट्र-मन्त्री श्री बेल्फोर इस आन्दोलन के प्रभाव में आ गये, और २ नवम्बर, १९१७ के दिन उन्होंने यह घोषणा की, कि ब्रिटिश सरकार पैलेस्टाइन को यहूदी लोगों के देश के रूप में परिवर्तित करने के विचार को सहानुभूति की दृष्टि से देखती है, और इस विचार को क्रियान्वित करने के लिये पूरा-पूरा प्रयत्न करेगी। पर ऐसा करते हुए पैलेस्टाइन के यहूदी-भिन्न निवासियों के राजनीतिक और आर्थिक हितों को भी आंखों से ओझल नहीं किया जायगा। पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की इस नीति को वहां के अरब और ईसाई निवासियों से छिपाने के लिये अंग्रेज अधिकारियों ने सब यत्न किये। इन लोगों की संख्या पैलेस्टाइन में ९९ प्रतिशत के लगभग थी। अंग्रेजों को भय था, कि बेल्फोर-घोषणा को जानकर अरबों और ईसाइयों में बहुत असन्तोष होगा, और वे युद्ध के प्रयत्न में असहयोग करने लगेंगे। पर यह समाचार देर तक अरबों से छिपा नहीं रह सका। अरब राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता (मक्का के राजा) शरीफ हुसैन को जब यह ज्ञात हुआ, तो उसने इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण की मांग की। अरबों को संतुष्ट करने के लिये अंग्रेजों ने यह आश्वासन दिया, कि पैलेस्टाइन में यहूदियों को बसने की अनुमति के कारण अरबों की राजनीतिक व आर्थिक स्थिति में कोई अन्तर नहीं आने दिया जायगा।

यह दशा थी, जबकि १९१८ में महायुद्ध का अन्त हुआ। महायुद्ध के समाप्त होते ही यहूदियों ने बहुत बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आकर बसना शुरू कर दिया। आस्ट्रिया-हंगरी के साम्राज्य के पतन के कारण यूरोप में जो नये राज्य स्थापित हुए थे, उनमें राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल थी। इस कारण बहुत-से यहूदी अपने घरबार को छोड़ने के लिये विवश हो रहे थे। उन्होंने समझा, कि पैलेस्टाइन हमारा अपना देश है, और वहां हम निश्चिन्तता के साथ बस सकते हैं। मित्र-राष्ट्रों के नेता भी उन्हें इसके लिसे प्रोत्साहित कर रहे थे। उन्हें यह ज्ञान नहीं था, कि अरबों में राष्ट्रीय भावना कितनी प्रबल है। वे समझते थे, कि अरब लोग अशिक्षित एवं असभ्य हैं, और उनकी दशा प्रायः वही है जो कि अमेरिका और अफ्रीका के मूल-निवासियों की है। इसीलिये यहूदी नेता अपने जाति-बन्धुओं को इस बात के लिये प्रेरित कर रहे थे, कि वे बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन जाकर बस जाएं। पेरिस की शान्ति परिषद् में भाषण करते हुए डॉ० बीजमान ने कहा था—जैसे इङ्गलिश लोगों के लिये इङ्गलैण्ड है और अमेरिकन लोगों के लिये अमेरिका, वैसे ही पैलेस्टाइन यहूदियों के लिये होना चाहिये।

अरब लोगों की राष्ट्रीय भावना की उपेक्षा कर मित्रराष्ट्रों ने इस समय बड़ी भूल की। अरब लोग यह सहन करने को तैयार नहीं थे, कि उनके अन्यतम प्रदेश में विदेशी व विधर्मी यहूदी लोग इस प्रकार बड़ी संख्या में आ बसें। इससे पूर्व जो यहूदी लोग पैलेस्टाइन में बसे हुए थे, उनकी भाषा अरबी थी और उनका रहन-सहन भी अरबों से बहुत भिन्न नहीं था। पर अब जो यहूदी हजारों की संख्या में यूरोप के विभिन्न प्रदेशों से आकर पैलेस्टाइन में बस रहे थे, उनकी अरबों के साथ कोई भी समता नहीं थी। सब दृष्टियों से वे विदेशी थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि अरबों में असन्तोष उत्पन्न हो। अरब लोग तो यह समझ रहे थे, कि महायुद्ध की समाप्ति पर पैलेस्टाइन में भी उनका अपना राज्य स्थापित किया जायगा, पर इसके बजाय अब यह प्रदेश ही उनके हाथों से निकला जा रहा था। यहूदियों के प्रवेश के विरुद्ध अरबों में भावना इतनी प्रबल हो गई, कि वे विद्रोह के लिये तत्पर हो गये। १९२० का अन्त होने से पूर्व ही पलेस्टाइन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सर्वत्र मारकाट शुरू हो गई, और अरब लोग खुले तौर पर यहूदियों पर आक्रमण करने लगे। ये विद्रोह १९२१ में भी जारी रहे। इनके लिये केवल अरब लोगों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यहूदी लोग इस समय इस प्रयत्न में लगे थे, कि पैलेस्टाइन को पूर्णतया यहूदी राज्य बना दिया जाए। अरबों के लिये उनके इस प्रयत्न को सह सकना असम्भव था।

राष्ट्र-संघ ने जिस मैन्डेट द्वारा पैलेस्टाइन का शासन ब्रिटेन के सुपुर्द किया था, उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि वहां यहूदियों के लिये एक नेशनल होम की स्थापना की जाएगी, और साथ ही ऐसी स्वशासन-संस्थाओं का भी निर्माण किया जाएगा, जिनके द्वारा पैलेस्टाइन के सब निवासियों के धार्मिक व राजनीतिक हितों की रक्षा हो सके। राष्ट्रसंघ के इस आदेश को ध्यान में रखकर पैलेस्टाइन के ब्रिटिश शासकों ने जहां एक ओर यहूदियों को वहां बसाने में मदद की, वहां साथ ही ऐसी कौंसिल के निर्माण की भी व्यवस्था की, जिसमें पैलेस्टाइन के निवासियों के विविध वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके। इसीलिये उन्होंने एक विधान सभा के संगठन का निश्चय किया, जिसके २२ सदस्य रखे गये। इनमें से १२ सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा किये जाने और शेष दस के मनोनीत किये जाने की व्यवस्था की गई। जिन बारह सदस्यों का चुनाव होना था, उनमें ८ मुसलमान, २ ईसाई, और २ यहूदी हों—यह भी निर्णय किया गया। पैलेस्टाइन का शासन-कार्य ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर के हाथों में रखा गया। शासन का सर्वोच्च अधिकारी इसी को बनाया गया। यह व्यवस्था की गई, कि शासन कार्य में हाई कमिश्नर की सहायता के लिये एक कार्यकारिणी समिति भी हो, जिसके सदस्य हाई कमिश्नर द्वारा ही नियुक्त किये जाया करें। अरब लोग पैलेस्टाइन की सरकार के इस स्वरूप से बहुत असन्तुष्ट हुए। उनका कहना था, कि पैलेस्टाइन एक अरब देश है, और राष्ट्रीयता व लोकसत्तावाद के सिद्धान्तों के अनुसार वहां अरबों का ही शासन होना चाहिए। उन्हें भय था, कि विधान-सभा के दस मनोनीत सदस्य दो ईसाई व दो यहूदी सदस्यों के साथ मिल कर अरबों की नहीं चलने देंगे, और विधान-सभा में निर्वाचित अरब सदस्य अल्प संख्या में रह जायेंगे। इसीलिये उन्होंने विधान-सभा का बहिष्कार कर दिया। अब ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त हाई कमिश्नर सर हर्बर्ट सेमुअल स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश रूप से पैलेस्टाइन का शासन करने लगा।

महायुद्ध की समाप्ति के बाद पैलेस्टाइन के शासन का यही स्वरूप था। यहूदी लोग वहां बड़ी संख्या में बस रहे थे, और अरब उनका विरोध करने में तत्पर थे। ब्रिटिश हाई कमिश्नर के लिए वहां का शासन कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर अरब लोग विद्रोह के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते थे। पैलेस्टाइन की इस समस्या को हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो प्रयत्न किये, उन पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

सीरिया और लेबेनान—महायुद्ध के समय तक सीरिया और लेबेनान तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे, और सुलतान ने उन्हें अनेक सूबों में विभक्त किया हुआ था। इनके सूबेदार सुलतान द्वारा नियुक्त किये जाते थे, और शासन के लिए उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे। पर पाश्चात्य लोगों के निकट सम्पर्क के कारण इन प्रदेशों में राष्ट्रीय भावना का भली-भांति विकास हो गया था, और अरबों की स्वतन्त्रता के लिए जो अनेक संस्थाएं (अल-अहद और अल-फतात आदि) कायम हुई थीं, उनके प्रधान केन्द्र सीरिया के नगरों में ही विद्यमान थे। १९१६ में जब मक्का के राजा शरीफ हुसैन ने अंग्रेजों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ मिलकर तुर्क सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह करने का निश्चय किया, तो सीरिया की इन राष्ट्रीय संस्थाओं का सहयोग व समर्थन उसे प्राप्त था। इस लिए महायुद्ध के काल में तुर्क शासकों ने सीरिया के अरब नेताओं पर घोर अत्याचार किये थे, और उनमें से बहुतों को प्राणदण्ड भी दिया गया था। १९१८ में जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तो सीरिया और लेबेनान मित्रराष्ट्रों की सेनाओं के कब्जे में थे। इन सेनाओं में अंग्रेजों की प्रधानता थी। समुद्र-तट के साथ-साथ के प्रदेशों पर फ्रेंच सैनिक-शासन स्थापित था, और अन्दरूनी प्रदेशों में अरबों ने अपनी एक सरकार कायम कर ली थी, जिसका प्रधान शरीफ हुसैन का पुत्र फैजल था (इसी फैजल को बाद में ईराक का राजा नियुक्त किया गया था)। फ्रेंच और अरब दोनों शासन ब्रिटिश सेना के सर्वोपरि नियन्त्रण में थे। जब तक युद्ध चलता रहा, इन प्रदेशों के शासन के सम्बन्ध में कोई समस्या उत्पन्न नहीं हुई। पर महायुद्ध के समाप्त होते ही मित्रराष्ट्रों में मतभेद प्रगट होने लगे। अरब लोगों का विचार था, कि उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का आदर कर सम्पूर्ण सीरिया और लेबेनान पर अरबों का शासन स्थापित होना चाहिए। पर फ्रेंच लोग इसके विरुद्ध थे। उनका कहना था, कि इन प्रदेशों के निवासियों में अनेक प्रकार की जातीय व साम्प्रदायिक विभिन्नताएं विद्यमान हैं। मुसलमानों के अतिरिक्त ईसाई भी वहां पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं, और सब मुसलमान भी जातीय व साम्प्रदायिक दृष्टि से एक नहीं हैं। इस दशा में इन प्रदेशों को अरबों के हाथों में दे देना कदापि उचित नहीं माना जा सकता। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदियों में फ्रेंच लोगों ने इन प्रदेशों में व्यापार आदि के लिए अनेकविध सुविधाएं तथा विशेषाधिकार प्राप्त कर लिये थे। उनके अनेक ईसाई मिशन व शिक्षणालय भी वहां विद्यमान थे। जनता के अनेक वर्गों पर उनका प्रभाव भी था। इस दशा में उनकी माँग यह थी, कि इन प्रदेशों को फ्रांस के मैन्डेट में दिया जाना चाहिए, और इनके शासन की उत्तरदायिता फ्रेंच सरकार के सुपुर्द कर दी जानी चाहिए। अरब के राष्ट्रवादी नेता इसके विरुद्ध थे। मार्च, १९२० में उन्होंने एक सीरियन कांग्रेस का आयोजन किया, और कुछ समय बाद एप्रिल मास में उन्होंने यह घोषणा कर दी कि सीरिया, पैलेस्टाइन और लेबेनान को एक राज्य के रूप में संगठित किया जाता है, और इस राज्य का राजा फैजल को बनाया जाता है। फ्रेंच लोग अरबों के इस निर्णय से बहुत उद्विग्न हुए। एप्रिल, १९२० में मित्रराष्ट्रों की एक कान्फरेन्स सन रेमो नामक स्थान पर हुई, जिसमें यह निर्णय किया गया कि सीरिया और लेबेनान के प्रदेश फ्रांस को मैन्डेट के अधीन प्रदान कर दिये जाएं। महायुद्ध में फ्रांस को जो क्षति उठानी पड़ी थी, और उसकी सेनाओं ने जो कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसके कारण मित्रराष्ट्रों के लिए उसे नाराज कर सकना सम्भव नहीं था। सन रेमो की कान्फरेन्स द्वारा इन प्रदेशों को फ्रांस को प्रदान करने का निर्णय हो जाने पर फ्रेंच सेनापति गूरो ने फैजल को यह नोटिस दिया, कि वह इन प्रदेशों को खाली कर दे और इन पर फ्रेंच आधिपत्य के स्थापित होने में बाधा न डाले। फैजल इस नोटिस पर विचार कर ही रहा था, कि अरब और फ्रेंच सेनाओं में मुठभेड़ शुरू हो गई, जिसे निमित्त बनाकर फ्रेंच सेनाओं ने डमास्कस और अन्य नगरों पर कब्जा कर लिया। फैजल की अरब सेनाओं के लिए फ्रांस का मुकाबिला कर सकना कठिन था। उनकी हार हुई, और सीरिया तथा लेबेनान फ्रेंच सेनाओं के कब्जे में आ गए। १९२३ में राष्ट्रसंघ ने भी इन प्रदेशों को फ्रांस के मैन्डेट में देना स्वीकार कर लिया।

सीरिया और लेबेनान के प्रदेशों को राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा प्राप्त करके फ्रांस ने इनके शासन के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की, उसके अनुसार अनेक पृथक् राज्यों की स्थापना की गई। लेबेनान का एक पृथक् राज्य बनाया गया, जिसे बाद (१९२६) में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेवानीज रिपब्लिक के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। जबलद्रुज और लताकिया में पृथक् सरकारें कायम की गईं, और अन्य सब प्रदेशों को मिलाकर सीरिया के पृथक् राज्य का निर्माण किया गया। यद्यपि इन सब की सरकारें अलग-अलग थीं, पर इन सब पर सम्मिलित रूप से अपना नियन्त्रण रखने के लिए फ्रांस ने एक सर्वोपरि कॉमीसारियत की स्थापना की। मैन्डेट के अधीन अपने प्रदेशों के शासन के लिये फ्रांस ने जो अनेक सरकारें कायम की थीं, उसका कारण यह था कि इन प्रदेशों के निवासी जातीय व साम्प्रदायिक दृष्टि से एक नहीं थे। सीरिया और लेबेनान की सम्मिलित आबादी में सुन्नी मुसलमान केवल ५३ प्रतिशत थे। लेबेनान के पार्वत्य प्रदेशों में ३,४०,००० मैरोनाइट लोगों का निवास था, और लेबेनान के उत्तरी समुद्रतट के प्रदेशों में ३,२५,००० नौसेरिया लोग बसे हुए थे। इसी प्रकार द्रुज लोगों की आबादी भी पृथक् रूप से थी। इन विभिन्न जातियों व सम्प्रदायों के लोगों में अपनी पृथक् सत्ता की भावना भी विद्यमान थी, जिसे दृष्टि में रखकर ही फ्रांस ने अपने अधीनवर्ती प्रदेशों में विभिन्न सरकारें कायम की थीं। शुरू में सीरिया के भी दो राज्य बनाये गये थे, जिनकी राजधानियां क्रमशः डमास्कस और अलप्पो थीं। इन दोनों नगरों में चिरकाल से प्रतिद्वन्द्विता चली आ रही थी। इसी कारण फ्रांस ने यह उचित समझा था, कि सीरिया के दो राज्य बनाकर इन दोनों को समान स्थिति प्रदान कर दी जाए। पर १९२४ में सीरिया के इन दोनों राज्यों को मिलाकर एक कर दिया गया। मैन्डेट के अधीन प्राप्त हुए अपने प्रदेशों की यह व्यवस्था करके फ्रेंच सरकार ने यह प्रयत्न किया, कि वहां फ्रेंच भाषा, सभ्यता और संस्कृति का प्रचार किया जाए। पहले भी इन प्रदेशों में फ्रेंच संस्कृति का प्रभाव विद्यमान था। फ्रांस की राजनीतिक सत्ता स्थापित हो जाने के कारण इस प्रभाव में बहुत अधिक वृद्धि हुई। प्रायः सभी विद्यालयों में फ्रेंच भाषा का पढ़ाया जाना शुरू हुआ, जिसके कारण इन प्रदेशों के निवासी अरबी की तुलना में फ्रेंच को अधिक महत्त्व देने लगे। आर्थिक दृष्टि से भी इस क्षेत्र में फ्रेंच लोगों ने अनेकविध लाभ उठाने शुरू किये। फ्रांस चाहता था कि सीरिया और लेबेनान के निवासी यह भूल जाएं, कि वे विशाल अरब जाति के अंग हैं। अरब राष्ट्रीयता के प्रभाव से मुक्त कर वह उन्हें स्थायी रूप से अपने प्रभुत्व में रखने के लिए प्रयत्नशील था।

ट्रांस-जोर्डन—सीरिया के दक्षिण में जोर्डन नदी के पूर्व में जो प्रदेश हैं, उसे ट्रांस-जोर्डन कहते हैं। तुर्क साम्राज्य में यह प्रदेश भी अन्तर्गत था, और वहां के सुलतान ने इसे डमास्कस के सूबे में शामिल किया हुआ था। अरब लोगों की स्वाभाविक रूप से यह इच्छा थी, कि यह प्रदेश भी स्वतन्त्र सीरिया के अन्तर्गत रहे। महायुद्ध के समय जब तुर्क सल्तनत की पराजय हो रही थी, और डमास्कस को राजधानी बनाकर शरीफ हुसैन के पुत्र फैजल ने एक स्वतन्त्र सीरियन राज्य की स्थापना कर ली थी, तो यह प्रदेश भी इस राज्य का अंग था। एप्रिल, १९२० में मित्रराष्ट्रों की जो कान्फरेन्स सन रेमो में हुई, उसने जहां सीरिया और लेबेनान को फ्रेंच मैन्डेट के अधीन करना तय किया, वहां ट्रांसजोर्डन के सम्बन्ध में यह निर्णय किया, कि ब्रिटिश मैन्डेट में दिया जाए। सन रेमो की कान्फरेन्स द्वारा आदेश प्राप्त कर जुलाई, १९२० में जब फ्रेंच सेनाओं से डमास्कस पर आक्रमण कर फैजल को परास्त किया, तो पैलेस्टाइन (इस प्रदेश को ब्रिटिश मैन्डेट में दिया जा चुका था) के ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने ट्रांस-जोर्डन के प्रमुख अरब नेताओं और जागीरदारों को अस-साल्त नामक नगर में एकत्र किया। उसने उन्हें यह कहा, कि ब्रिटिश सरकार इस प्रदेश में एक ऐसा शासन स्थापित करना चाहती है, जिसमें इस के निवासियों को स्थानीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो और वे ब्रिटिश अफसरों की देखरेख में अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रदेश के शासन का स्वयं संचालन करें। इस के अनुसार ट्रांस-जोर्डन के चार बड़े नगरों में स्थानीय कौंसिलों का संगठन भी कर लिया गया। पर इससे पूर्व कि सारे प्रदेश के लिए एक संगठित सरकार का निर्माण किया जा सके, अमीर अब्दुल्ला ने उस पर आक्रमण कर दिया (फरवरी, १९२१)। क्योंकि ट्रांस-जोर्डन के निवासी ब्रिटिश आधिपत्य के विरुद्ध थे, अतः उन्होंने अब्दुल्ला का स्वागत किया, और उसके अधीन होकर रहना स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश लोगों ने भी उसका विरोध नहीं किया, क्योंकि वे भलीभांति जानते थे, कि जनता की इच्छा के विरुद्ध इस प्रदेश में अपने शासन व प्रभुत्व को कायम रख सकना सुगम नहीं है। एप्रिल, १९२१ में ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश-मन्त्री मि० चर्चिल ने भी ट्रांस-जोर्डन में अब्दुल्ला की सत्ता को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया, कि वह ब्रिटेन के आधिपत्य को स्वीकार कर ले, और उसके परामर्श के अनुसार देश में एक सुव्यवस्थित सरकार की स्थापना करे। १९२२ में राष्ट्रसंघ ने भी ट्रांस-जोर्डन पर अब्दुल्ला के शासन को वैध व उचित मान लिया। इस प्रकार ट्रांस-जोर्डन में अमीर अब्दुल्ला द्वारा एक ऐसे स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की गई, जो ब्रिटेन के संरक्षण में था, और जिस पर नियन्त्रण रखने का अधिकार राष्ट्रसंघ द्वारा ब्रिटेन को दिया गया था। यह अब्दुल्ला मक्का के राजा शरीफ हुसैन का पुत्र और फैजल का भाई था। महायुद्ध के दौरान में जब शरीफ हुसैन ने तुर्क सुलतान के विरुद्ध मित्रराष्ट्रों की सहायता करना स्वीकार किया था, तो फैजल के समान अब्दुल्ला ने भी अरब विद्रोह का नेतृत्व किया था। इसी कारण सीरिया आदि के अरब लोग उसका आदर करते थे। महायुद्ध की समाप्ति कर इन प्रदेशों की जो नई व्यवस्था हुई, उसमें फैजल ने ईराक में अपनी सत्ता स्थापित की, और अब्दुल्ला ने ट्रांस-जोर्डन में। १९४६ तक अब्दुल्ला इस प्रदेश में ब्रिटिश लोगों के आधिपत्य में शासन करता रहा। १९४६ में उसने पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। अब्दुल्ला के नेतृत्व में इस राज्य ने जो उन्नति की, उस पर आगे चलकर प्रकाश डाला जाएगा।

(४) सौदी अरेबिया का राज्य

महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय अरब प्रायद्वीप में जो अनेक छोटे-बड़े राज्य विद्यमान थे, नेज्द का राज्य भी उनमें एक था। वहां के राजा वहाबी सम्प्रदाय के अनुयायी थे, और उनके प्रयत्न से ही यह सम्प्रदाय अरब प्रायद्वीप के अनेक प्रदेशों में फैल सका था। नेज्द में वहाबियों की इस शक्ति का संस्थापक मुहम्मद इब्न सऊद (१७६५ ई०) था, जिस के सम्बन्ध में हम पहले में लिख चुके हैं। नेज्द के ये राजा तुर्क सुलतान के आधिपत्य को स्वीकार करते थे, यद्यपि अपने राज्य में इनकी स्थिति स्वतन्त्र राजाओं के समान थी। महायुद्ध के समय इस राज्य का शासक अब्दुल्ला अजीज इब्न सऊद था, जो एक अच्छा शक्तिशाली राजा था। तुर्क सुलतान के विरुद्ध अरबों को विद्रोह के लिए प्रेरित करने के निमित्त जब अंग्रेजों ने प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो उन्होंने अब्दुल अजीज के पास भी अपने दूत भेजे (दिसम्बर, १९१५)। नेज्द के वहाबी राज्य की सहायता प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी सरकार इस बात के लिए भी तैयार हो गई, कि अब्दुल अजीज को अपने राज्य का स्वतन्त्र राजा स्वीकार कर ले, और उसे ५,००० पौंड मासिक धनराशि भी प्रदान किया करे। पर अंग्रेज लोग केवल अब्दुल अजीज के साथ ही मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील नहीं थे। मक्का के राजा शरीफ हुसैन के साथ भी उन्होंने मैत्री की थी, और उसे भी तुर्क सुलतान के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया था। मक्का और मदीना जैसे महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थानों का शासक होने के कारण शरीफ हुसैन का यह ख्याल था, कि जब अरब तुर्क सल्तनत की अधीनता से मुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेगा, तो उसे ही सम्पूर्ण अरब का राजा बनाया जायगा। १९१६ में उसने अपने को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अरब का राजा' कहना भी शुरू कर दिया था। अब्दुल अजीज इस बात को नहीं सह सका। साम्प्रदायिक दृष्टि से उसका शरीफ हुसैन से विरोध था। नेज्द के वहाबी लोग समझते थे, कि हज्जाज (जिस प्रदेश में मक्का और मदीना स्थित हैं) के लोग इस्लाम की वास्तविक शिक्षा को भूल गये हैं, और असली मुसलमान नहीं हैं। इसके विपरीत शरीफ हुसैन वहाबियों को जंगली और असभ्य समझता था। अरबों के राष्ट्रीय आन्दोलन में शरीफ हुसैन और उसके पुत्र फैजल और अब्दुला जिस ढंग से कर्तृत्व प्रदर्शित कर रहे थे, उसके कारण अरबों पर हज्जाज का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि अब्दुल अजीज उसके प्रति प्रतिस्पर्धा का अनुभव करे, और उसे परास्त कर अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करे। महायुद्ध के दौरान में ही इस प्रतिस्पर्धा के चिन्ह प्रकट होने शुरू हो गये थे, पर अंग्रेजों के प्रयत्न के कारण उनमें खुल्लमखुल्ला संघर्ष प्रारम्भ नहीं हुआ था। अंग्रेज नहीं चाहते थे, कि हज्जाज और नेज्द के युद्ध के कारण अरब आन्दोलन में शिथिलता आये। इन दो राजकुलों में अंग्रेजों की दृष्टि में हज्जाज के राजा का महत्त्व कहीं अधिक था, क्योंकि अरब आन्दोलन में उसने बहुत कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। महायुद्ध की समाप्ति पर जब पैलेस्टाइन, ईराक और सीरिया आदि अरब प्रदेशों पर ब्रिटिश और फ्रेञ्च सरकारों का प्रभुत्व स्थापित करने का निश्चय किया गया, तो शरीफ हुसैन बहुत नाराज हुआ। उसका विचार था, कि अंग्रेजों ने अरबों के साथ धोखा किया है। विविध अरब प्रदेशों के प्रति इस समय मित्रराष्ट्रों की जो नीति थी, शरीफ हुसैन ने उसका विरोध किया जिसके कारण अंग्रेज भी उसके खिलाफ हो गये।

अब्दुल अजीज इब्न सऊद ने इस स्थिति से लाभ उठाया। वह चाहता था, कि विविध अरब प्रदेशों पर आक्रमण करके उनको विजय कर ले और अरब प्रायद्वीप में अपने विशाल एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना करे। इसी उद्देश्य से उसने उन छोटे-छोटे राज्यों पर आक्रमण शुरू किये, जो नेज्द के उत्तर में विद्यमान थे। इन राज्यों को जीत कर उसने अपनी शक्ति को बहुत बढ़ा लिया। अब उसने हज्जाज पर भी आक्रमण किया (१९२४)। शरीफ हुसैन के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह नेज्द की वहाबी सेनाओं का मुकाबला कर सके। वह बहुत बूढ़ा भी हो चुका था। उसने स्वयं राजगद्दी का परित्याग कर दिया, और उसका ज्येष्ठ पुत्र अली (फैजल और अब्दुल्ला का बड़ा भाई) हज्जाज का राजा बना। पर उसके लिये भी अब्दुल अजीज इब्न सऊद का मुकाबिला कर सकना कठिन था। वहाबी सेनाओं ने हज्जाज को विजय कर ली। मक्का और मदीना आदि सब नगर उनकी अधीनता में आ गये। हज्जाज को जीत लेने के कारण नेज्द के सौदी राजा की शक्ति बहुत बढ़ गई, और सम्पूर्ण अरब प्रायद्वीप पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो गया। १९३७ में जिद्दा की सन्धि द्वारा अंग्रेजों ने भी नेज्द के इस विशाल राज्य की सत्ता को स्वीकार कर लिया, और अब्दुल अजीज इब्न सऊद को नेज्द और हज्जाज आदि का स्वतन्त्र राजा मान लिया। इस प्रकार सौदी अरेबिया के शक्तिशाली एवं स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई। अब्दुल अजीज एक योग्य व समझदार राजा था। उसने ईराक, ट्रांस-जोर्डन और सीरिया आदि की विजय के लिये कोई यत्न नहीं किया। ईराक पर फैजल के और ट्रांस-जोर्डन पर अब्दुल्ला के शासन को स्वीकार करने के लिये भी वह तैयार हो गया, यद्यपि ये दोनों उसके शत्रु शरीफ हुसैन के पुत्र थे। अरब राष्ट्रीय आन्दोलन की उपेक्षा कर ईराक और सीरिया आदि के प्रदेशों को जिस ढंग से ब्रिटेन और फ्रांस के मैन्डेट के अधीन किया गया था, उस पर भी उसने एतराज नहीं किया और अरब प्रायद्वीप के अपने राज्य से ही वह सन्तुष्ट रहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महायुद्ध की समाप्ति पर तुर्क साम्राज्य के पतन के कारण अरब प्रदेशों में जो विविध राज्य कायम हुए, उनमें सौदी अरेबिया सर्वप्रधान था। यही एकमात्र ऐसा अरब राज्य था, जो कि पूर्णतया स्वतन्त्र था। ईराक और ट्रांस-जोर्डन भी अरब राजाओं के शासन में थे, पर वे पूर्ण रूप से स्वतन्त्र न होकर अंग्रेजों के आधिपत्य में थे। सीरिया और लेबेनान के अरब प्रदेश इस समय फ्रांस के प्रभुत्व में थे, और पैलेस्टाइन ब्रिटेन के। महायुद्ध के समय अरबों की राष्ट्रीय भावना को बहुत बल मिला था, वे पूर्णतया सफल नहीं हो सकी थी। सौदी अरेबिया के रूप में इस समय एक ऐसा स्वतन्त्र अरब राज्य अवश्य कायम हो गया था, जिस पर अरब लोग अभिमान कर सकते थे।

(५) ईजिप्ट

महायुद्ध से पूर्व ही ईजिप्ट ब्रिटिश प्रभाव और प्रभुत्त्व में आ चुका था। इस देश पर अंग्रेजों का आधिपत्य किस प्रकार स्थापित हुआ, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। पर १९१४ तक भी ईजिप्ट को तुर्क साम्राज्य का एक सूबा माना जाता जा, और वहां के खदीव सुलतान के आधिपत्य को स्वीकार करते थे। युद्ध के शुरू होते ही अंग्रेजों ने ईजिप्ट से तुर्क आधिपत्य का अन्त कर दिया, और उसे अपना एक संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) बना लिया। क्योंकि ईजिप्ट का खदीव हुसैन कामिल तुर्कों का पक्षपाती था, अतः उसे पदच्युत करके अहमद फौद को नया खदीव नियुक्त किया गया। युद्ध के समय अंग्रेजों ने ईजिप्ट की धन व जन शक्ति का तुर्की के विरुद्ध प्रयोग किया, जिससे वहां के लोगों में बहुत असन्तोष हुआ। राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना वहां पहले ही विद्यमान थी, युद्ध की परिस्थितियों से उसे नया बल मिला, और जगलुल पाशा के नेतृत्व में राष्ट्रीय दल ने ईजिप्ट की स्वतंत्रता के लिये संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। महायुद्ध की समाप्ति पर जब पेरिस में शान्ति परिषद् के अधिवेशन शुरू हुए, तो जगलुल पाशा की इच्छा थी कि उसमें उपस्थित होकर ईजिप्ट की स्वतन्त्रता के प्रश्न को प्रस्तुत करे। उसके नेतृत्व में एक डेपुटेशन ने पेरिस के लिये प्रस्थान भी कर दिया, पर अंग्रेजों ने जगलुल पाशा और उसके साथियों को मार्ग में ही गिरफ्तार कर लिया, और माल्टा में नजरबन्द कर दिया। यह समाचार जब ईजिप्ट पहुंचा, तो जनता ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के दमन के लिये अंग्रेजों ने अत्यन्त उग्र उपायों का अवलम्बन किया। पर ईजिप्ट के विद्रोह ने इतना भयंकर रूप धारण कर लिया था, कि अन्त में अंग्रेजों ने अनुभव किया कि इस देश में शान्ति स्थापित कर सकना तभी सम्भव हो सकेगा, जबकि उसके नेताओं के साथ सुलह कर ली जायगी। जगलुल पाशा और उसके साथियों को जेल से छोड़ दिया गया, और लार्ड मिलनर को इस उद्देश्य से ईजिप्ट भेजा गया, ताकि वह वहां की परिस्थिति का भली भांति अध्ययन कर अपना परामर्श दे सके।

लार्ड मिलनर ने इङ्गलैण्ड वापस आकर यह रिपोर्ट दी, कि ईजिप्ट के साथ शीघ्र ही एक ऐसी सन्धि की व्यवस्था करनी चाहिये, जिसके अनुसार उसे स्वतन्त्रता तो दे दी जाए, पर साथ ही वहां ब्रिटिश हितों की रक्षा का भी समुचित प्रबन्ध कर लिया जाए। पर अंग्रेज लोग ईजिप्ट में अपने लिये जिन विशेषाधिकारों को प्राप्त करना चाहते थे, ईजिप्ट के नेता उनसे सहमत नहीं हुए। एक बार फिर ईजिप्ट और ब्रिटेन में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। इस समय ईजिप्ट में ब्रिटिश हाई कमीश्नर के पद पर जनरल एलेन्बी विराजमान था। स्थिति को दृष्टि में रखकर उसने ब्रिटिश सरकार को यह सूचना दी, कि यदि ईजिप्ट की राष्ट्रीय भावनाओं को सन्तुष्ट करने के लिये शीघ्र ही समुचित कार्यवाही न की गई, तो वहां क्रान्ति होने में देर नहीं है। एलेन्बी के परामर्श के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फरवरी, १९२२ में ब्रिटिश सरकार ने ईजिप्ट के साथ एक समझौता कर लिया, जिसके अनुसार यह स्वीकार किया गया कि ईजिप्ट एक स्वाधीन राज्य है, और उस पर से ब्रिटिश प्रभुत्व तथा संरक्षण का अन्त किया जाता है। पर स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटिश हितों को दृष्टि में रखते हुए यह आवश्यक है, कि (१) स्वेज के क्षेत्र में एक ब्रिटिश सेना विद्यमान रहे, (२) ईजिप्ट में अंग्रेजों और अन्य विदेशियों के जो हित हैं, उनकी रक्षा की उत्तरदायिता ब्रिटेन पर रहे, (३) कोई अन्य राज्य ईजिप्ट पर आक्रमण कर उसे अपनी अधीनता में न ला सके, इसकी जिम्मेदारी भी ब्रिटेन पर रहे, और (४) सूडान पहले के समान ही ब्रिटेन की संरक्षा में रहे।

ईजिप्ट के राष्ट्रीय नेता इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थे। पर ब्रिटेन की सैनिक शक्ति का मुकाबिला कर सकना भी उनके लिये कठिन था। विवश होकर उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया। इसी समय (१९२३) ईजिप्ट के लिए एक नये संविधान का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार वहां पार्लियामेन्ट और उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल की व्यवस्था की गई। १९२३ में ही ईजिप्ट की पार्लियामेंट का चुनाव हुआ, जिसमें राष्ट्रीय दल (वफ्द) की विजय हुई, और उसका नेता जगलुल पाशा प्रधानमंत्री के पद पर अधिष्ठित हुआ। पर यह ध्यान में रखना चाहिए, कि ईजिप्ट अभी पूर्ण रूप से स्वाधीन नहीं हुआ था। यद्यपि उसके राजा अहमद फौद ने अब सुलतान का पद प्राप्त कर लिया था, और वहां पार्लियामेंट तथा उसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल का भी निर्माण हो गया था, पर अंग्रेजों का प्रभुत्व अब तक भी ईजिप्ट पर विद्यमान था। अपनी स्वाधीनता के लिये ईजिप्ट ने जो संघर्ष किये, उन पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बयालीसवां अध्याय

दो महायुद्धों के बीच का काल (१९१८-१९३९)

(१) पश्चिमी एशिया प्रगति के पथ पर

नवम्बर, १९१८ में बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का अन्त हुआ था, और सितम्बर, १९३९ में इस सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। संसार के आधुनिक इतिहास में इन दो महायुद्धों के बीच के २१ साल बड़े महत्त्व के हैं। इस काल में रूस में कम्युनिस्ट व्यवस्था की स्थापना हुई, और उन्नीसवीं सदी के मध्यभाग में कार्ल मार्क्स द्वारा समाजवाद की जिस नई विचार-सरणी का प्रतिपादन किया गया था, रूस जैसे विशाल देश में उसे क्रियान्वित किया गया। अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियां जोर पकड़ने लगीं। साथ ही इसी काल में जर्मनी में नाजीज्म और इटली में फैसिज्म का विकास हुआ, और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों ने जर्मनी और इटली का अनुकरण कर फैसिस्ट या नाजी पद्धति को अपनाया। कम्युनिज्म और फैसिज्म दोनों ही पुराने ढंग के लोकतन्त्रवाद के विरोधी थे, और उसके स्थान पर एक नई सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील थे। दोनों पद्धतियों में उस ढंग के लोकतन्त्रवाद के लिये कोई स्थान नहीं था, जिसका प्रारम्भ फ्रांस की राज्यक्रांति (१७८९) द्वारा किया गया था।

पश्चिमी एशिया के इतिहास में भी दो महायुद्धों के बीच के इन २१ वर्षों का बहुत महत्त्व है। ये प्रदेश भी कम्युनिज्म और फैसिज्म की नई विचार-सरणियों से सर्वथा अछूते नहीं रह सके। पर इनमें प्रधानतया उन प्रवृत्तियों ने जोर पकड़ा, जो कि यूरोप में उन्नीसवीं सदी में क्रियान्वित हो चुकी थीं। ये प्रवृत्तियां राष्ट्रीयता और लोकतन्त्रवाद की थीं। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के परिणामस्वरूप तुर्क साम्राज्य का अन्त हो गया था, और उसके स्थान पर अनेक नये राज्यों की स्थापना हुई थी। ईराक, सीरिया, लेबनान और पैलेस्टाइन आदि के ये नये राज्य पूर्णतया राष्ट्रीयता के सिद्धान्त पर आश्रित नहीं थे, और न इनमें लोकतन्त्रवाद के अनुरूप सरकारों का ही निर्माण किया गया था। ब्रिटेन और फ्रांस का इन पर आधिपत्य तथा नियन्त्रण कायम था, और यह बात युग की नई प्रवृत्तियों के अनुरूप नहीं थी। पेरिस की शान्ति परिषद् और राष्ट्र-संघ द्वारा इन राज्यों के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई थी, उनसे न वहां के निवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाएं पूर्ण होती थीं, और न वहां की जनता को स्वशासन के अधिकार ही प्राप्त होते थे। अतः यह स्वाभाविक था, कि पश्चिमी एशिया के निवासी इस व्यवस्था का विरोध करने के लिये तत्पर हों, और ऐसे राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हों, जिनकी सरकारों का निर्माण लोकतन्त्रवाद के अनुरूप हुआ हो।

इन्हीं प्रयत्नों के कारण दो महायुद्धों के बीच के इन इक्कीस वर्षों में तुर्की में लोकतन्त्र रिपब्लिक कायम हुई, ईजिप्ट ने स्वतन्त्रता प्राप्त की, लेबनान और सीरिया फ्रेंच प्रभाव तथा प्रभुत्व से मुक्त हुए, और ईराक ब्रिटिश प्रभुत्व से। इस अध्याय में पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों की इसी प्रगति पर विचार किया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(२) तुर्की में लोकतन्त्र शासन की स्थापना

महायुद्ध में परास्त हो जाने के कारण तुर्की का सुलतान मुहम्मद छठा समझता था, कि मित्रराष्ट्रों द्वारा सन्धि की जो शर्तें पेश की गई थीं, उन्हें स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय नहीं है। इसीलिए उसने सेव्र की सन्धि को स्वीकार कर लेने में ही अपना हित समझा था। पर तुर्की के राष्ट्रीय नेताओं का यह विचार नहीं था। कमाल पाशा के नेतृत्व में उन्होंने सेव्र की सन्धि का विरोध करना शुरू किया। सितम्बर, १९१९ में कमाल पाशा और उसके साथियों ने सिवास नामक स्थान पर अखिल तुर्क कांग्रेस का संगठन किया, जिसमें सेव्र की सन्धि का प्रतिरोध करने के लिए एक स्वतन्त्र सरकार भी बना ली गई। कमाल पाशा की इस स्वतन्त्र व समानान्तर सरकार ने यह घोषणा की, कि सेव्र की सन्धि उसे स्वीकार्य नहीं है, और ग्रीस तथा इटली आदि ने तुर्की के जिन प्रदेशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया है, उन्हें वापस लिया जायगा। इसीलिए इस सरकार ने इन राज्यों के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी। सुलतान इस समय पूरी तरह से मित्र-राष्ट्रों के हाथों में था। उसने उद्घोषित किया, कि कमाल पाशा की सरकार के कार्यों से तुर्की की न्याय्य एवं वैध सरकार किसी भी प्रकार सहमत नही है, और प्रत्येक राजभक्त तुर्क का यह कर्तव्य है कि वह सुलतान का साथ दे। पर कमाल पाशा के वीर कार्यों के कारण तुर्क जनता उसे अपना नेता मानने लगी थी, और उसके कार्यों के प्रति सहानुभूति रखती थी। नई सरकार ने ग्रीस और इटली के विरुद्ध युद्ध को जारी रखा। इटली की सरकार तो नई तुर्क सरकार के खिलाफ युद्ध को देर तक जारी नहीं रख सकी, पर ग्रीक सेनाओं ने उसके विरुद्ध लड़ते हुए अनेतोलिया में प्रवेश कर लिया। उसका प्रयत्न था, कि कमाल पाशा की सरकार की राजधानी अन्कोरा को जीत कर नई सरकार का अन्त कर दिया जाए। पर इस्मत नामक तुर्क सेनापति ने इनोनू के रणक्षेत्र में ग्रीक सेनाओं को बुरी तरह से परास्त किया। ग्रीस की इस पराजय के कारण फ्रांस और ब्रिटेन को यह भली-भांति समझ में आ गया, कि तुर्की की वास्तविक राजशक्ति अब सुलतान मुहम्मद छठे के हाथों में न होकर कमाल पाशा की नई सरकार के पास है, और उससे सुलह कर लेने में ही सब का हित है। इसी उद्देश्य से स्विट्जरलैण्ड के अन्यतम नगर लोज़ान में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया।

लोज़ान कान्फरेन्स के शुरू होने से पहले ही १९२२ में सुलतान मुहम्मद छठा अपने देश को छोड़कर बाहर चला गया, और कुछ समय बाद अक्टूबर, १९२३ में कमाल पाशा और उसके साथियों ने तुर्की में रिपब्लिकन शासन की स्थापना कर दी। सारे देश से प्रतिनिधि निर्वाचित कराके एक ग्रांड एसेम्बली का निर्माण किया गया, जिसमें सर्वसम्मति से यह निश्चय हुआ कि तुर्की में रिपब्लिकन शासन कायम किया जाए, और मुस्तफा कमाल पाशा उसके प्रथम राष्ट्रपति हों। लोकमत को दृष्टि में रखते हुए यह भी व्यवस्था की गई, कि यद्यपि सुलतान मुहम्मद छठे का देश के शासन से कोई सम्बन्ध न रहे, पर उसे खलीफा के पद पर रहने दिया जाय। पर तुर्की में क्रान्तिकारी व प्रगतिशील विचार इतनी तेजी से बल पकड़ रहे थे, कि मार्च, १९२४ में खिलाफत का अन्त कर देने का भी निर्णय कर लिया गया। शासन को धर्म से सर्वथा पृथक् कर दिया गया, और पुराने शासन में काजियों को न्याय-सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त थे, वे सब उनसे छीन लिये गये।

एप्रिल, १९२४ में तुर्की के लिये नये संविधान का निर्माण किया गया, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) राज्य की प्रभुत्व-शक्ति जनता में निहित है। अतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता के वोटों द्वारा एक राष्ट्रीय सभा (नेशनल एसेम्बली) का निर्वाचन किया जाए, जो देश की पार्लियामेंट हो। इस पार्लियामेंट में केवल एक सदन हो, जिसके सब सदस्य सीधे मतदाताओं द्वारा चुने जाया करें। प्रति छः मास में एक बार इस सभा का अधिवेशन किया जाया करे। राष्ट्रीय सभा द्वारा ही तुर्की के राष्ट्रपति का भी निर्वाचन किया जाए। (२) राष्ट्रीय सभा के सदस्यों में से राष्ट्रपति प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करे, और मन्त्रिमन्डल के अन्य सदस्यों का चयन प्रधान-मन्त्री द्वारा किया जाए। प्रधान-मन्त्री और मन्त्रिमण्डल के सब सदस्य राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी हों, और तभी तक अपने पदों पर रह सकें, जब तक कि राष्ट्रीय सभा का विश्वास उन्हें प्राप्त रहें। इसमें सन्देह नहीं, कि तुर्की का यह संविधान पूर्णतया लोकतन्त्रवाद के अनुकूल था। रिपब्लिक की स्थापना करके मुस्तफा कमाल पाशा ने अपनी पार्टी का पुनःसंगठन किया। यह पार्टी रिपब्लिकन पीपल्स पार्टी कहाती थी, और सर्वसाधारण जनता इसे बहुत मानती थी। इसी कारण १९२४ और उसके बाद के निर्वाचनों में इस पार्टी को राष्ट्रीय सभा में बहुत बड़ा बहुमत प्राप्त हुआ, और कमाल पाशा नये विचारों के अनुसार देश का पुनःनिर्माण कर सकने में समर्थ हुआ।

रिपब्लिकन पीपल्स पार्टी ने तुर्की के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन में जो अनेक क्रान्तिकारी परिवर्तन किये, वे ध्यान देने योग्य हैं—(१) धार्मिक व साम्प्रदायिक शिक्षा की जो संस्थाएं तुर्की में विद्यमान थीं, १९२४ में उन्हें बन्द कर दिया गया। उनके स्थान पर ऐसे शिक्षणालय कायम किये गये, जो नये ढंग के थे, और जिनके धर्मनिरपेक्ष वातावरण में नये ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। इसी साल यह भी निर्णय किया गया, कि काज़ियों से न्याय-सम्बन्धी सब अधिकार छीन लिये जाएं। (२) १९२५ के एक कानून के अनुसार तुर्की टोपी (फेज) और पगड़ी का पहनना कानून की दृष्टि मे अपराध घोषित कर दिया गया। इनके बजाय यूरोपियन ढंग का टोप सिर पर धारण करने की आज्ञा दी गई। सरकार चाहती थी, कि तुर्क लोग यूरोपियन पोशाक पहना करे और पाश्चात्य ढंग से रहा करें। पुराने जमाने के सब चिन्हों को वह जड़ से नष्ट कर देने के लिये उत्सुक थी। तुर्की में मुस्लिम दरवेशों के जो अनेक सम्प्रदाय थे और जिनके कारण तुर्क जनता पर इस्लाम का बहुत प्रभाव था, उन्हें भी १९२५ में ही एक कानून के द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया। (३) अब तक तुर्की में जो कानून प्रचलित थे, उनका आधार शरायत थी। इनके स्थान पर १९२६ में नये कानून जारी किये गये। दीवानी कानून के लिये स्विस कानूनों का, फौजदारी कानून के लिये इटालियन कानूनों का और व्यापार-सम्बन्धी कानूनों के लिये जर्मन कानून का अनुसरण किया गया। नये कानूनों के अनुसार बहुविवाह अवैध हो गया, यद्यपि तलाक की प्रथा कायम रही। १९२६ में तुर्की ने मुस्लिम कैलेण्डर के स्थान पर यूरोप के ज्यार्जियन कलेण्डर को अपनाया, और शुक्रवार के बजाय रविवार की छुट्टी रखने की व्यवस्था की। (४) अब तक तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी। १९२८ में यह व्यवस्था की गई, कि अरबी लिपि के स्थान पर रोमन लिपि को अपनाया जाए। (५) यह व्यवस्था की गई, कि कोई स्त्री बुरका न ओढ़ सके और परदा न करे। १९३४ में स्त्रियों को वोट का अधिकार भी दे दिया गया, जिसके कारण १९३५ के चुनाव में १५ स्त्रियां भी राष्ट्रीय सभा के सदस्य से रूप में निर्वाचित हुईं।

नई तुर्क सरकार अपने देश को एक राष्ट्रीय राज्य बनाना चाहती थी। कमाल पाशा का मन्तव्य था, कि जो लोग तुर्की में रहते हों, तुर्क भाषा बोलते हों और तुर्क राष्ट्रीय आदर्शों को स्वीकार करते हों, वे सब तुर्की के नागरिक होने चाहियें, और धर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा नसल का कोई भेद न रख कर उन सबको तुर्क मानना चाहिये। अब तक तुर्की के राज्य का आधार इस्लाम था, पर कमाल पाशा तुर्की को एक धर्मनिरपेक्ष तुर्क राष्ट्र बनाना चाहता था। इसी कारण वह उन सब चिन्हों को नष्ट करने के लिये प्रयत्नशील था, जिनका सम्बन्ध इस्लाम से था। साथ ही, वह तुर्की को एक यूरोपियन राज्य बना देने के लिये भी उत्सुक था। उसका विचार था, कि जिस प्रकार पोलैण्ड, फ्रांस तथा ग्रीस आदि यूरोपियन राज्य हैं, उनकी सभ्यता व संस्कृति बहुत कुछ एकसदृश हैं, उनकी लिपि एक है, और उनकी पोशाक तथा रहन-सहन एक हैं; इसी तरह भाषा का भेद रहते हुए भी लिपि, पोशाक, रहन-सहन और संस्कृति आदि की दृष्टि से तुर्की को पूर्णतया यूरोपियन हो जाना चाहिये। वह चाहता था, कि तुर्की की गिनती ईराक, सीरिया आदि पिछड़े हुए अरब देशों के साथ न करके ग्रीस, पोलैण्ड, फ्रांस आदि यूरोपियन राज्यों में की जाया करे। इसी कारण उसने इस बात पर कोई एतराज नहीं किया, कि पैलेस्टाइन, ईराक आदि को तुर्की से पृथक् कर दिया जाए। वह समझता था कि इन देशों की संस्कृति भिन्न है, अतः इनका तुर्की से पृथक् रहना ही सही है। एक आधुनिक राष्ट्रीय रिपब्लिक के रूप में तुर्की का विकास तभी सम्भव है, जब उसमें कोई ऐसा प्रदेश शामिल न रहे, जो भाषा आदि की दृष्टि से पूर्णतया तुर्क न हो। कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की ने आश्चर्यजनक उन्नति की। वह तुर्की जो महायुद्ध के समय तक यूरोप का अत्यन्त पिछड़ा हुआ देश समझा जाता था, अब उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर होने लगा।

लोज़ान की कान्फरेन्स द्वारा तुर्की की रिपब्लिकन सरकार के साथ जो नई सन्धि (१९२३) की गई, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) तुर्की को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न गणराज्य के रूप में स्वीकृत कर लिया गया। (२) यह निर्णय हुआ, कि महायुद्ध में जर्मनी का पक्ष लेने के कारण सेव्र की सन्धि द्वारा हरजाने के रूप में जो धनराशि तुर्की ने मित्रराष्ट्रों को प्रदान करनी थी, उसकी अदायगी को रद्द कर दिया जाए। (३) तुर्क सुलतान द्वारा जो कर्ज विदेशी राज्यों से लिये गये थे, उनके केवल एक अंश की अदायगी की जिम्मेदारी ही नई सरकार पर रखी गई। बाद में १९४७ में इस देनदारी को भी रद्द कर दिया गया। (४) यूरोप में पूर्वी थ्रेस का प्रदेश तुर्की को दिया गया, और स्मर्ना पर भी उसके अधिकार को स्वीकृत किया गया। (५) अनेतोलिया और अडेलिया के जो प्रदेश सेव्र की सन्धि द्वारा तुर्की से लेकर इटली को दिये गये थे, वे पुनः तुर्की को प्रदान किये गये। (६) एशिया में सीलीसिया के प्रदेश को फ्रांस के मैन्डेट में दिया जाने का निश्चय हुआ था, उसे अब तुर्की को दे दिया गया। (७) कुर्दिस्तान पर तुर्की का अधिकार स्वीकार किया गया, और यह निश्चय हुआ कि ईराक और कुर्दिस्तान की सीमा का निर्धारण राष्ट्र-संघ द्वारा किया जाए। (८) बोस्पोरस और डार्डनल्स के जलडमरू-मध्यों पर राजनीतिक दृष्टि से तुर्की का अधिकार स्वीकार किया गया, यद्यपि तुर्की वहां कोई किलाबन्दी नहीं कर सकता था। लोज़ान की इस सान्धि के कारण तुर्की का राज्य पहले की तुलना में बहुत बड़ा हो गया, और उसकी जनसंख्या भी एक करोड़ तीस लाख के लगभग हो गई। सेव्र की सन्धि को पूर्णतया नष्ट करके उसके स्थान पर लोज़ान की सन्धि करना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में कमाल पाशा की भारी विजय थी।

पर तुर्की नेता लोज़ान की सन्धि से भी पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरू-मध्यों के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण उन्हें अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा गौरव के प्रतिकूल प्रतीत होता था। इसीलिये १९३६ में मोन्त्रो के समझौते द्वारा यह निश्चय किया गया, कि इस क्षेत्र में तुर्की अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इच्छानुसार किलाबन्दी कर सके, और उसे यह भी अधिकार हो कि युद्ध के अवसर पर उभय पक्ष के जंगी जहाजों का इस जल-मार्ग से आना-जाना रोक सके। इस समझौते का यह परिणाम हुआ, कि तुर्की के आन्तरिक क्षेत्रों में (स्थल तथा जल दोनों क्षेत्रों) में किसी अन्य देश का किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप या नियन्त्रण नहीं रह गया।

कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की ने असाधारण उन्नति की। महायुद्ध में परास्त हो जाने के कारण जिस प्रकार के आर्थिक व अन्य संकटों का सामना जर्मनी और आस्ट्रिया को करना पड़ा था, वैसा तुर्की को नहीं करना पड़ा। राज्यक्रान्ति द्वारा तुर्की में केवल सुलतान के स्वेच्छाचारी व निरंकुश शासन का ही अन्त नहीं हुआ, अपितु साथ ही वह एक प्रगतिशील आधुनिक राष्ट्र के रूप में भी परिणत हो गया। इस समय से तुर्की की गणना यूरोप के राज्यों में होने लगी, और उसका स्वरूप पड़ौस के अरब राज्यों से बहुत भिन्न हो गया।

(३) पैलेस्टाइन और यहूदियों की समस्या

महायुद्ध की समाप्ति पर पैलेस्टाइन का प्रदेश राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया था। उस समय इस प्रदेश की कुल जनसंख्या ७,७०,००० के लगभग थी, जिसमें कि ८३,००० यहूदी, ६,००,००० मुस्लिम अरब, और ६३,००० ऐसे अरब थे जिन्होंनेकि ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया था। राष्ट्रसंघ के मैन्डेन्ट के अधीन पैलेस्टाइन के शासन की जो व्यवस्था ब्रिटिश सरकार ने की थी, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। अरब लोग इस व्यवस्था से असन्तुष्ट थे, क्योंकि इससे उनकी राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती थी, और यहूदियों तथा ईसाइयों को उनकी जनसंख्या की तुलना में अधिक अधिकार प्राप्त हो गये थे। इसी कारण १९२९ में उन्होंने पैलेस्टाइन में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, जिसका उद्देश्य अपने देश में यहूदियों की बढ़ती हुई आबादी और प्रभाव का विरोध करना था। अरबों ने यहूदियों पर जो हमले इस समय किये, उनमें १३३ यहूदी जान से मारे गये और उनकी छः बस्तियां पूरी तरह से नष्ट कर दी गई। कहीं-कहीं यहूदियों ने भी अरबों का डट कर मुकाबिला किया, जिसके कारण सात अरब मारे गये, और एक मस्जिद भी भ्रष्ट कर दी गई। इस समय स्थिति ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया था, कि ब्रिटिश सरकार को अपने जंगी जहाज और वायुयान तक पैलेस्टाइन भेजने की आवश्यकता पड़ गई थी। यद्यपि सैन्यशक्ति का उपयोग कर ब्रिटेन अरब विद्रोह को शान्त करने में समर्थ हो गया, पर इससे पैलेस्टाइन की समस्या हल नहीं हुई। अरब लोगों की मुख्य शिकायतें निम्नलिखित थीं—(१) यहूदी लोग पैलेस्टाइन में अमर्यादित रूप से जमीन खरीद सकते थे। कृषि-योग्य भूमि की वहां पहले ही कमी थी। यहूदियों के पास धन की कमी नहीं थी, और वे बड़े परिमाण में जमीन खरीदने में तत्पर थे। अरबों को भय था, कि शीघ्र ही सब कृषि-योग्य भूमि उनके हाथों से निकल कर यहूदियों के पास चली जायगी। (२) पैलेस्टाइन में यहूदियों की आबादी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। १९२२ के मुकाबिले में १९३० में उनकी आबादी दुगने के लगभग हो गई थी। यदि पैलेस्टाइन में आकर बसने वाले ये यहूदी लोग इस ढंग के होते, जो वहां बड़ी मात्रा में पूंजी लगाकर औद्योगिक उन्नति पर ध्यान देते, तो शायद अरबों को खास एतराज न होता। पर बहुसंख्यक यहूदी ऐसे थे, जो पोलैण्ड, रूस और रूमानिया से आये थे, और जो सम्पन्न न होकर साधारण किसान और मजदूर थे। यूरोप और अमेरिका के धनी यहूदी इनकी पीठ पर थे, और उनसे सहायता प्राप्त कर ये पैलेस्टाइन में खेती की जमीन और छोटे-छोटे कारोबारों को खरीदने में तत्पर थे। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बात अरबों को बहुत अनुचित प्रतीत होती थी। (३) यूरोप और अमेरिका के सम्पन्न यहूदियों ने एक विश्व यहूदी संघ (वर्ल्ड जिओनिस्ट आर्गनिजेशन) संगठित किया हुआ था, जिसका उद्देश्य यह था कि पैलेस्टाइन को यहूदियों का राष्ट्रीय राज्य बना दिया जाए, और वहां उन सब यहूदियों को बसा दिया जाए, जो यूरोप के विविध राज्यों की राष्ट्रीय नीति के कारण बेघरबार होते जा रहे थे। इस संघ की ओर से निर्धन यहूदियों को पैलेस्टाइन पहुँचने के लिये मार्ग व्यय और वहां बसने के लिये आर्थिक सहायता दी जाती थी। अरब लोग अनुभव करते थे, कि यहूदियों के बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन में बस जाने का परिणाम यह होगा, कि यह प्रदेश धीरे-धीरे अरब न रह कर यहूदी बन जायगा। (४) बहुत बड़ी संख्या में यहूदियों के आगमन के कारण पैलेस्टाइन में साम्प्रदायिक समस्या भी विकट रूप धारण करने लग गई थी। जेरुसलम में एक दीवार है, जिसे यहूदी लोग पवित्र मानते हैं। इसके समीप ही खलीफा उमर की मस्जिद है, जो मुसलमानों की दृष्टि में अत्यधिक महत्त्व रखती है। यहूदी लोग अपनी दीवार के सामने पूजा के लिये एकत्र होते थे, और मुसलमान लोग खलीफा उमर की मस्जिद में। यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि अपनी-अपनी पूजा के लिए एक दूसरे के इतने समीप एकत्र होने पर यहूदियों और मुसलमानों में संघर्ष व झगड़ा प्रारम्भ हो।

ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन की इन समस्याओं को हल करने के लिये अनेक उद्योग किये। यहूदियों द्वारा पूजित होने वाली दीवार के मामले पर विचार करने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई। १९३१ में दोनों पक्षों की बात सुनकर उसने यह फैसला किया कि यह दीवार और इसके साथ का चबूतरा मुसलमानों की सम्पत्ति है, पर यहूदियों को अवसर दिया जाना चाहिये कि वे वहां जाकर पूजा कर सकें। कमीशन की सिफारिश के अनुसार पैलेस्टाइन के ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने दीवार और चबूतरे पर मुसलमानों का कब्जा करा दिया, और यहूदियों की पूजा के लिए समय नियत कर दिया।

पैलेस्टाइन में यहूदियों के बसने के खिलाफ़ अरब लोगों में जो उग्र भावना थी, उससे विवश होकर १९३० में ब्रिटिश सरकार ने सामयिक रूप से यहूदियों का वहां प्रवेश रोक दिया, और सारी समस्या पर विचार करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसका अध्यक्ष सर जान सिम्पसन को बनाया गया। सब बातों पर विचार करके इस कमीशन ने यह रिपोर्ट दी, कि यहूदियों को बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन में बसाने के कारण वहां के अरब लोगों को बहुत नुकसान पहुंचा है, और २,५०,००० एकड़ कृषियोग्य भूमि अरबों के हाथों से निकल कर यहूदियों के पास चली गई है। इस रिपोर्ट को दृष्टि में रख कर ब्रिटिश सरकार ने पैलेस्टाइन में यहूदियों के प्रवेश को अनिश्चित समय के लिये रोक दिया। यह स्वाभाविक था, कि अरब लोग इससे सन्तोष अनुभव करें। पर यहूदियों को इससे बहुत नाराजगी हुई। उन्होंने इसके खिलाफ आन्दोलन शुरू कर दिया, और ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं रहा, कि वह विश्व यहूदी-संघ के विरोध की उपेक्षा कर सके। विश्व यहूदी-संघ राष्ट्रसंघ के मैन्डेट की दुहाई देकर यह कह रहा था, कि मैन्डेट की शर्तों के अनुसार ब्रिटिश सरकार के लिए यह आवश्यक है, कि वह पैलेस्टाइन में यहूदियों के लिये एक नेशनल होम का निर्माण करे। उनके पैलेस्टाइन में प्रवेश को रोक देने से यह नेशनल होम कैसे बन सकता है। विश्व यहूदी-संघ के विरोध के कारण १९३२ में ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन किया, और यह व्यवस्था की, कि (१) जो कोई यहूदी १०,००० रुपये साथ लाकर पैलेस्टाइन में बसना चाहे, उसे वहां प्रविष्ट होने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। (२) जो यहूदी इतना रुपया न ला सकें, और मजदूरी की तलाश में पैलेस्टाइन आना चाहें, उनकी मासिक संख्या नियत कर दी जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९३२ की इस व्यवस्था से अरब लोग बहुत असंतुष्ट हुए, पर ब्रिटेन की शक्ति के सम्मुख वे असहाय थे। अब सम्पन्न एवं धनी यहूदी लोग अच्छी बड़ी संख्या में पैलेस्टाइन आकर बसने लगे, और गरीब यहूदी भी प्रति मास वहां के यहूदियों की आबादी में वृद्धि करने लगे। इसी कारण १९३७ तक पैलेस्टाइन में यहूदियों की संख्या चार लाख से भी अधिक हो गई, और वहां की कुल आबादी में वे ३५ प्रतिशत हो गये। समृद्धि की दृष्टि से अरब लोग यहूदियों की तुलना में नगण्य थे। अब पैलेस्टाइन में दो अलग-अलग दुनिया बन गई थीं, एक यहूदियों की और दूसरी अरबों की। एक देश में एक साथ निवास करते हुए भी वे एक दूसरे के लिये परदेसियों के समान थे। धन वैभव के कारण यहूदी लोग बड़े नगरों में निवास करते थे, और उनकी सम्पत्ति द्वारा जेरुसलम, जाफ्फा, हैफा आदि नगरों का कायाकल्प हो गया था। अरब लोगों का निवास प्रायः देहातों में था, जहां वे गरीबी के साथ जीवन बिताने के लिये विवश थे। इस अवस्था में यह स्वाभाविक था, कि अरब लोग असन्तोष एवं बेचैनी अनुभव करने लगें। १९३५ के बाद उनके राष्ट्रीय आन्दोलन ने फिर जोर पकड़ना शुरू किया। इस समय अरबों ने ब्रिटिश सरकार के सम्मुख ये मांगें पेश की—(१) लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार पैलेस्टाइन के शासन का पुनःसंगठन किया जाय। (२) यह कानून बनाया जाय, कि कोई यहूदी पैलेस्टाइन में जमीन न खरीद सके। (३) भविष्य में पैलेस्टाइन में यहूदियों के प्रवेश को पूर्णतया रोक दिया जाय, और (४) ऐसी व्यवस्था की जाय, जिससे कि गरीब अरब किसान कर्ज से मुक्त होकर यहूदी साहूकारों के शिकञ्जे से मुक्त हो सकें।

ब्रिटिश सरकार ने इन मांगों को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इस पर अरबों ने फिर हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन किया। जगह-जगह पर दंगे हुए, और ब्रिटिश अफसरों तथा यहूदियों पर हमले प्रारम्भ हो गये। ब्रिटिश सरकार ने इस विद्रोह का दमन करने के लिये उग्र उपायों का प्रयोग किया। ८०० के लगभग अरब अंग्रेज सिपाहियों की गोलियों के शिकार हुए। अरबों द्वारा जो लोग मारे गये, उनकी संख्या १०८ थी, जिनमें ८० यहूदी और २८ अंग्रेज थे। दंगों और विद्रोह के कारण स्थिति इतनी गम्भीर हो गई थी, कि नवम्बर, १९३६ में पैलेस्टाइन की समस्या पर विचार करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने एक नये कमीशन की नियुक्ति की, जिसका अध्यक्ष लार्ड पील को बनाया गया। पील कमीशन ने पैलेस्टाइन जाकर वहां की समस्या का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया, और यह निष्कर्ष निकाला कि अरबों और यहूदियों में किसी भी प्रकार समझौता हो सकना सम्भव नहीं है। अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं और यहूदियों की पैलेस्टाइन में अपना पृथक् व स्वतन्त्र राज्य बनाने की अभिलाषा में किसी भी प्रकार से सामञ्जस्य स्थापित कर सकना क्रियात्मक नहीं है। अतः यह उचित होगा, कि पैलेस्टाइन को तीन भागों में विभक्त कर दिया जाय—(१) यहूदी राज्य—इसमें पैलेस्टाइन के उन प्रदेशों को शामिल किया जाए, जहां यहूदी लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। समुद्रतट के साथ-साथ के वे प्रदेश इसमें रखे गये थे, जिनमें यहूदी लोगों की संख्या कुल आबादी की ५३·४ प्रतिशत थी। (२) अरब राज्य—इसमें पैलेस्टाइन के उन प्रदेशों को अन्तर्गत किया जाय, जहां यहूदियों की आबादी अरबों के मुकाबिले में बहुत कम थी। (३) मध्यवर्ती राज्य—इसमें जेरुसलम और उसके समीप के वे प्रदेश सम्मिलित हों, जिन्हें यहूदी लोग पवित्र मानते हैं, और जिनमें अरब और यहूदी-दोनों अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इस राज्य का शासन ब्रिटिश सरकार की अधीनता में रहे, और समुद्रतट के साथ इसका सम्बन्ध रखने के लिये जाफ्फा के बन्दरगाह तक एक गलियारा भी इसे प्रदान किया जाय। पील कमीशन ने यह भी सिफारिश की, कि पैलेस्टाइन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरब और यहूदी राज्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र माने जाएं, और उन्हें राष्ट्रसंघ की सदस्यता का अधिकार भी प्रदान किया जाए।

पील कमीशन की इस योजना से न यहूदी संतुष्ट हुए और न अरब। यहूदियों का कहना था कि यह हमारे प्रति विश्वासघात है। हमारे लिये एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य के स्थापित होने की आशा का ही इससे अन्त हो जाता है। अरब लोग कहते थे, कि पैलेस्टाइन में जो भी उपजाऊ व समृद्ध प्रदेश है, वे सब यहूदियों को दे दिये गये हैं। यहूदी लोग पील कमीशन के प्रस्तावों पर विचार करने के लिये तैयार थे, क्योंकि यत्न करके वे यहूदी राज्य की सीमा तथा क्षेत्र को बढ़वा सकते थे। इसी लिये उन्होंने ब्रिटिश सरकार से बातचीत करने के लिये अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये। पर अरबों को यह किसी भी दशा में सह्य नहीं था, कि उनके देश को इस तरह तीन भागों में बांट दिया जाए, और उसका एक भाग सदा के लिये यहूदियों के कब्जे में दे दिया जाए।

पील कमीशन के विरुद्ध अरबों का रोष एक बार फिर भयंकर विद्रोह के रूप में फूट पड़ा। अनेक स्थानों पर दंगे हुए, और बहुत-से ब्रिटिश अफसर और यहूदी अरबों के रोष के शिकार हुए। सम्पूर्ण पैलेस्टाइन में अव्यवस्था फैल गई। अंग्रेजों ने इस विद्रोह को शान्त करने के लिये अरबों पर भयंकर अत्याचार किये। अरबों के जो भी राष्ट्रीय संगठन पैलेस्टाइन में विद्यमान थे, उन सबको गैर-कानूनी करार दे दिया गया, और अरब नेताओं को ब्रिटिश कोप से बचने के लिए पड़ौस के राज्यों में जाकर आश्रय लेना पड़ा! पर इससे अरब विद्रोह शान्त नहीं हो गया। प्रायः सभी नगरों में अरब लोग ब्रिटिश शासन को असम्भव बना देने के लिये तत्पर थे, और अंग्रेज अफसरों तथा यहूदियों पर आक्रमण कर रहे थे। १९३८ के इस विद्रोह में ६९ अंग्रेज और ९२ यहूदी अरबों द्वारा मारे गये। जो अरब इस समय अंग्रेजी सरकार की गोलियों के शिकार हुए, उनकी संख्या १६०० से भी अधिक थी। जिन अरब विद्रोहियों को अंग्रेजी अदालतों द्वारा प्राणदण्ड दिया गया, उनकी संख्या १०० से अधिक थी। अपनी दमननीति के कारण ब्रिटिश लोग अरब विद्रोह को शान्त करने में अवश्य सफल हो गये, पर उन्होंने यह भी भली-भांति समझ लिया कि पील कमीशन की योजना के अनुसार पैलेस्टाइन की समस्या को हल कर सकना सम्भव नहीं होगा। ब्रिटिश सरकार ने इस दशा में यह तय किया, कि पैलेस्टाइन के मामले को राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाय। राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार अब एक नये कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष सर जान वुडहेड थे। इस कमीशन ने यह रिपोर्ट दी, कि पील कमीशन की योजना वस्तुतः ही क्रियात्मक नहीं है, अतः यह यत्न करना चाहिये कि यहूदियों और अरबों में एक ऐसा समझौता कराया जाये, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। इसके लिसे उसने एक ऐसी गोलमेज परिषद् का प्रस्ताव किया, जिसमें न केवल यहूदियों और पैलेस्टाइन के अरबों के प्रतिनिधियों को ही निमन्त्रित किया जाए, अपितु पड़ौस के अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया जाए, क्योंकि इन राज्यों के अरबों ने भी १९३८ के विद्रोह में पैलेस्टाइन के अरबों की सक्रिय रूप से सहायता की थी।

फ़रवरी, १९३९ में गोलमेज परिषद् ने अपना कार्य प्रारम्भ किया। पर उसका कार्य सुगम नहीं था। यहूदियों और अरबों में इतना अधिक मतभेद और विद्वेष था, कि वे किसी भी बात पर सहमत नहीं हो सकते थे। वे इस बात के लिये भी तैयार नहीं हुए, कि परिषद् के अधिवेशनों में एक साथ बैठ भी सकें। कुछ सप्ताहों के बाद परिषद् को भंग कर दिया गया, और पैलेस्टाइन की समस्या पहले के समान ही जटिल बनी रही।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९३९ के पूर्वार्ध में यूरोप में महायुद्ध के बादल मंडराने शुरू हो गये थे। मई के महीने में हिटलर ने चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया था, और यह स्पष्ट प्रतीत होता था, कि महायुद्ध के प्रारम्भ होने में अब अधिक देर नहीं रही है। इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने यह उचित समझा, कि पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिये अपना निर्णय दे दिया जाए, और दोनों पक्षों को उसे स्वीकार करने के लिये विवश किया जाए। इसी दृष्टि से ब्रिटिश सरकार की ओर से मई, १९३९ में एक श्वेत-पत्र (व्हाइट पेपर) प्रकाशित किया गया, जिसमें ये निर्णय घोषित किये गये थे—(१) दस साल बाद पैलेस्टाइन को एक पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य बना दिया जायगा। इस स्वतन्त्र राज्य का ब्रिटेन के साथ क्या सम्बन्ध रहे, इसका निर्धारण एक सन्धि द्वारा किया जायगा, जो पैलेस्टाइन और ब्रिटेन के बीच में होगी। (२) इस अवधि के पहले पांच सालों में केवल ७५,००० यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसने की अनुमति दी जायगी। पांच साल के बाद कितने यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसने दिया जाए, इसका निश्चय अरबों की सहमति से ही किया जायगा। (३) पैलेस्टाइन के ब्रिटिश हाई कमिश्नर को यह अधिकार होगा, कि वह यहूदियों द्वारा पैलेस्टाइन में भूमि को खरीदने के सम्बन्ध में कानून बना सके, और इन कानूनों द्वारा उनके जमीन खरीदने को नियन्त्रित कर सके या सर्वथा रोक सके।

व्हाइट पेपर में जो निर्णय प्रकाशित किये गये थे, यहूदी हितों के लिये वे अत्यन्त हानिकारक थे। स्वतन्त्र पैलेस्टाइन में अरबों की बहुसंख्या होती, और वे यहूदियों के विरुद्ध स्वेच्छापूर्वक कानून बना सकते। यहूदियों के लिये अब पैलेस्टाइन में जाकर बस सकना और वहां जमीन खरीदना भी कठिन हो गया था। इस दशा में उन्होंने इसका उग्ररूप से विरोध करना शुरू किया। उनका कहना था, कि यह व्हाइट पेपर राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के सर्वथा विपरीत है। राष्ट्रसंघ ने पैलेस्टाइन को ब्रिटेन के मैन्डेट में रखते हुए यह आदेश दिया था, कि वहां यहूदियों के लिये एक नेशनल होम की स्थापना की जाए। यह आदेश इससे पूर्ण नहीं होता। राष्ट्रसंघ में भी इस व्हाइट पेपर का घोर विरोध हुआ, और ब्रिटेन के अनेक प्रभावशाली राजनीतिज्ञ भी इसके प्रबल रूप से विरोधी थे। इस प्रश्न पर अभी विवाद चल ही रहा था, कि सितम्बर, १९३९ में द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसके कारण पैलेस्टाइन की समस्या को सुलझाने के कार्य को स्थगित कर दिया गया। युद्ध के समय में ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि पैलेस्टाइन पर उसका कब्जा कायम रहे ताकि सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण इस प्रदेश का वह युद्ध के लिये उपयोग कर सके।

(३) ईजिप्ट में स्वाधीनता के लिये संघर्ष

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति के बाद १९२२ की सन्धि द्वार ईजिप्ट के सम्बन्ध में जो व्यवस्था की गई थी, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया ज चुका है। इस सन्धि द्वारा ईजिप्ट की एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता स्वीकार कर ली गई थी, यद्यपि स्वेज के क्षेत्र में और अन्यत्र ब्रिटिश व अन्य विदेशियों के हितों की रक्षा के लिये भी समुचित प्रबन्ध कर दिया गया था। साथ ही, सूडान पर ब्रिटेन का आधिपत्य कायम रखा गया था। १९२३ में ईजिप्ट की पार्लियामेन्ट के चुनाव में राष्ट्रीय दल (वफद) की विजय हुई थी, और उसके नेता जगलुल पाशा प्रधान-मन्त्री के पद पर नियुक्त हुए थे। इस समय ब्रिटेन में मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल था, और राम्जे मैकडानल्ड प्रधानमन्त्री के पद पर थे। जगलुल पाशा को आशा थी, कि इस सरकार को ईजिप्ट की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के साथ सहानुभूति होगी, और वह १९२२ की सन्धि में ऐसे परिवर्तन स्वीकार कर लेगी, जिनके कारण ईजिप्ट सच्चे अर्थों में एक स्वाधीन देश बन सकेगा। इस समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की में रिपब्लिक स्थापित हो चुकी थी, और फ्रांस तथा इंगलैण्ड इस बात के लिये विवश हुए थे कि सेव्र की सन्धि को रद्द कर के तुर्की की राष्ट्रीय आकांक्षाओं के सम्मुख सिर झुका दें। ईजिप्ट के राष्ट्रीय नेताओं के हृदय में इससे उत्साह का संचार हुआ, और १९२४ में जगलुल पाशा ने इंगलैण्ड की यात्रा की। पर ब्रिटिश सरकार उसकी मांगों को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हुई, और उसे निराश होकर अपने देश को वापस लौट आना पड़ा।

वैध उपायों द्वारा ब्रिटिश प्रभुत्व का अन्त कर सकने के सम्बन्ध में निराश होकर ईजिप्ट के देशभक्तों ने एक बार फिर हिंसा के मार्ग का अवलम्बन शुरू किया। ब्रिटिश अफसरों पर फिर से आक्रमण शुरू कर दिये गये। नवम्बर, १९२४ में ईजिप्ट में स्थित ब्रिटिश सेनाओं के प्रधान सेनापति सर ली स्टैक की हत्या कर दी गई। इस हत्या से ब्रिटेन में सनसनी फैल गई। इस दशा में ब्रिटेन की ओर से ईजिप्ट की सरकार को एक अल्टिमेटम दिया गया, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) सूडान में जो भी ईजिप्सियन सिपाही और अफसर हैं, उन्हें तुरन्त वहां से वापस बुला लिया जाए। ब्रिटेन का विचार था, कि ये सिपाही व अफसर सूडान के सैनिकों तथा राज-कर्मचारियों को ब्रिटिश शासन के विरुद्ध उकसाते रहते हैं। (२) ईजिप्ट की सरकार सर ली स्टैक की हत्या के लिये क्षमायाचना करे, और यह वायदा करे कि भविष्य में कभी ऐसी घटना नहीं होगी। जो लोग इस हत्या के लिये उत्तरदायी हैं, उन्हें कठोर दण्ड दिये जाएं, और ब्रिटेन के खिलाफ जो प्रदर्शन ईजिप्ट में समय-समय पर होते रहते हैं, उन्हें कतई बन्द कर दिया जाए। (३) ईजिप्ट ७५ लाख रुपया हरजाने के रूप में प्रदान करे। (४) सूडान में कपास की खेती के लिये जितने भी जल की आवश्यकता हो, वहाँ की सरकार उसे नील नदी से प्राप्त कर सके। ईजिप्ट की सरकार को यह अधिकार न रहे, कि वह इस जल को किसी भी प्रकार नियन्त्रित कर सके।

जगलुल पाशा की सरकार के लिये इन मांगों को स्वीकार कर सकना सम्भव नहीं था। विशेषतया, नील नदी के जल के सम्बन्ध में ब्रिटेन की जो मांग थी, उसको स्वीकार कर लेने से ईजिप्ट का अपना आर्थिक जीवन ही खतरे में पड़ जाता था। नील नदी ईजिप्ट के आर्थिक जीवन का मुख्य आधार है, क्योंकि उसी के जल से वहां के खेतों की सिंचाई होती है। नील नदी सूडान से होकर ईजिप्ट में प्रवेश करती हैं। वहां के खेतों के लिये उसके जल को अमर्यादित रूप से प्राप्त कर सकने का परिणाम यह होता, कि ईजिप्ट की खेती के लिये पर्याप्त मात्रा में जल प्राप्त न हो सकता। इसीलिये यद्यपि जगलुल पाशा अल्टिमेटम की अन्य मांगों को स्वीकार कर लेने के लिये उद्यत था, पर नील के जल की मांग को स्वीकार कर सकना उसके लिये असम्भव था। उसने अल्टिमेटम को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश सेनाओं ने स्वेज के क्षेत्र से आगे बढ़कर अलेग्जेण्ड्रिया पर कब्जा कर लिया। अब ईजिप्ट की सरकार के सम्मुख दो ही मार्ग थे, या तो वह ब्रिटेन के सामने सिर झुका देती, और या उसके विरुद्ध युद्ध की घोषणा करती। इस विकट परिस्थिति में जगलुल पाशा के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया।

ईजिप्ट के राजा फौद के लिये यह अच्छा अवसर था। उसे यह पसन्द नहीं था, कि ईजिप्ट में लोकतन्त्र शासन पद्धति का विकास हो और पार्लियामेन्ट के प्रति उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल का शासन हो। वह एक निरंकुश और स्वेच्छाचारी राजा के रूप में देश का शासन करना चाहता था। उसका बचपन तुर्क संस्कृति के वातावरण में व्यतीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ था, क्योंकि १९१४ तक ईजिप्ट तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था और वहां के राजकुल पर तुर्क सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव था। फौद अरबी भाषा तक को भली-भांति नहीं जानता था, और तुर्क साम्राज्य के अरब निवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं से उसे कोई भी सहानुभूति नहीं थी। १९२३ के संविधान के अनुसार ईजिप्ट के शासन में राजा को जो अधिकार प्रदान किये गए थे, उनका प्रयोग कर फौद ने पार्लियामेन्ट को बर्खास्त कर दिया, और राज्यकार्य को अपने हाथों में ले लिया। ईजिप्ट में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो राजभक्त थे और राजा के एकतन्त्र शासन के पक्षपाती थे। इन लोगों ने एक पार्टी का भी संगठन कर लिया था, जिसे इत्तहाद पार्टी कहते थे। इसके कतिपय व्यक्तियों को फौद ने अपना सहायक नियत किया, और स्वेच्छाचारितापूर्वक देश का शासन प्रारम्भ कर दिया। इस दशा में स्वाभाविक रूप से ईजिप्ट के ब्रिटिश हाई कमिश्नर की शक्ति बहुत बढ़ गई, और वह मनमाने ढंग से वहाँ के शासन में हस्तक्षेप करने लगा। ईजिप्ट की जनता इससे बहुत उद्विग्न हुई, और वहां विद्रोह व अशान्ति के चिह्न प्रगट होने लगे। विवश होकर ब्रिटिश हाई कमिश्नर ने राजा फौद को इस बात के लिये प्रेरित किया, कि पार्लियामेन्ट का नया चुनाव कराया जाए। १९२६ के नये चुनाव में जगलुल पाशा की वफ्द पार्टी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई, और ७० प्रतिशत सदस्य इसी पार्टी के चुने गये। संविधान के अनुसार जगलुल पाशा को ही अब प्रधानमन्त्री नियत किया जाना चाहिये था। परउसके मन्त्रिमण्डल के समय में १९२४ में जो विद्रोह हुए थे और जिस प्रकार सर ली स्टैक की हत्या कर दी गई थी, उसे दृष्टि में रखकर ब्रिटिश हाई कमिश्नर उसे प्रधान-मन्त्री के रूप में स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं हुआ। वफ्द पार्टी के बाद पार्लियामेन्ट में लिबरल दल के सदस्य सबसे अधिक संख्या में चुने गये थे, अतः उसके नेता सरवत पाशा को प्रधान मन्त्री नियत किया गया, जिसने एक मिला-जुला मन्त्रिमण्डल बनाया, जिसमें तीन मन्त्री लिबरल दल के थे, छः वफ्द पार्टी के थे, और एक ऐसा मन्त्री था जिसका किसी भी दल के साथ सम्बन्ध नहीं था। वफ्द दल को सन्तुष्ट करने के लिये जगलुल पाशा को पार्लियामेन्ट का अध्यक्ष पद दिया गया। नये प्रधानमन्त्री सरवत पाशा ने १९२७ में इंगलैण्ड की यात्रा की, और यह प्रयत्न प्रारम्भ किया कि ब्रिटेन और ईजिप्ट में जिन बातों के सम्बन्ध में मतभेद है उनका निर्णय कर एक ऐसी सन्धि कर ली जाए, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो और जिस द्वारा दोनों देशों में स्थायी मैत्री स्थापित हो सके। ब्रिटेन के परराष्ट्र-मन्त्री इस समय सर आस्टिन चैम्बरलेन थे। इनके साथ बातचीत कर सरवत पाशा ने सन्धि का एक मसविदा तैयार किया, जिसमें अन्य सब बातों पर तो फैसला हो गया, पर दो बातें ऐसी रह गईं, जिनके सम्बन्ध में मतभेद कायम रहा। ये बातें निम्नलिखित थीं—(१) ईजिप्ट की सेना में ब्रिटिश अफसरों की संख्या कितनी रहे, और (२) पुलिस एवं सार्वजनिक सुरक्षा के महकमों में कितने ब्रिटिश अफसर रखे जाएं। इन प्रश्नों पर सरवत पाशा ब्रिटेन के साथ समझौता कर लेने को तैयार था, पर जब इस सन्धि की शर्तें ईजिप्ट के लोगों को ज्ञात हुईं, तो उन्हें बहुत असन्तोष हुआ। वफ्द पार्टी के राष्ट्रीय नेता इन शर्तों को किसी भी दशा में स्वीकार करने को तैयार नहीं हुए। १९२७ में जगलुल पाशा की मृत्यु हो गई थी, और वफ्द पार्टी के नेता का पद नहस पाशा ने प्राप्त कर लिया था। नहस पाशा के नेतृत्व में वफ्द पार्टी ने स्पष्ट रूपसे यह घोषित कर दिया, कि वह किसी भी ऐसी सन्धि को स्वीकार कर सकने में असमर्थ है, जिस द्वारा ईजिप्ट को पूर्ण रूप से सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त न होती हो। क्योंकि मन्त्रिमण्डल में वफ्द पार्टी का बहुमत था, अतः सन्धि के मसविदे को स्वीकार करने से उसने इन्कार कर दिया। इस पर सरवत पाशा ने त्यागपत्र दे दिया, और नहस पाशा के नेतृत्व में नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर वफ्द पार्टी का मन्त्रिमण्डल न राजा फौद को पसन्द था, और न ब्रिटिश हाई कमिश्नर को। इस दशा में अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग कर के राजा ने मन्त्रिमण्डल और पार्लियामेन्ट दोनों को बर्खास्त कर दिया। दिसम्बर, १९२९ में ईजिप्ट की पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हुआ, जिसमें पुनः वफ्द पार्टी की विजय हुई। नहस पाशा ने फिर प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण किया। इस समय ब्रिटेन में एक बार फिर मजदूर दल का मन्त्रिमण्डल बन गया था, और मि० रामजे मेकडानल्ड प्रधान-मन्त्री के पद पर अधिष्ठित थे। ब्रिटिश पार्लियामेंट में मजदूर दल की शक्ति इतनी अधिक बढ़ गई थी, कि उस के सदस्यों की संख्या अन्य सब दलों की अपेक्षा अधिक थी। इस दशा में मजदूर दल अपने सिद्धान्तों और आदर्शों को क्रियान्वित कर सकता था। ईजिप्ट में उसकी ओर से सर पर्सी लारेन को हाई कमिश्नर के पद पर नियुक्त किया गया। सर लारेन प्रगतिशील विचारों के व्यक्ति थे, और ईजिप्ट की समस्या को हल करने के लिये उत्सुक थे। ब्रिटिश सरकार से निमन्त्रण प्राप्त कर १९३० में नहस पाशा ने लण्डन की यात्रा की, और वहां समझौते का यत्न प्रारम्भ किया। ईजिप्ट के लोगों को आशा थी, कि ब्रिटेन का मजदूर दल उनके दृष्टिकोण के प्रति सहानुभूति रखेगा, और उनकी सब मांगें पूर्ण हो जाएंगी। पर इस बार भी ब्रिटेन और ईजिप्ट में ऐसा समझौता नहीं हो सका, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। मुख्य मतभेद सूडान की समस्या पर था। ईजिप्ट के लोग उसे अपने देश का अंग मानते थे, और यह मांग कर रहे थे कि ईजिप्सियन लोग वहां स्वेच्छापूर्वक बस सकें, और ब्रिटेन की ओर से इस सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण न रखा जाए। नहस पाशा इस प्रश्न पर भी ब्रिटेन के साथ समझौता कर लेता, पर इससमय ईजिप्ट में कतिपय ऐसी घटनाएं हुई, जिनके कारण उसके लिए प्रधानमन्त्री के पद पर रह सकना सम्भव नहीं रह गया। १९२७ में राजा फौद ने जिस ढंग से मन्त्रिमण्डल और पार्लियामेन्ट को बर्खास्त कर दिया था, और दो साल के लगभग तक बिना पार्लियामेन्ट के देश का शासन किया था, उसे दृष्टि में रखकर वफ्द पार्टी की ओर से पार्लियामेन्ट में एक बिल पेश किया गया, जिसका प्रयोजन यह था कि भविष्य में राजा कभी पार्लियामेन्ट के बिना शासन न कर सके। यह बिल पार्लियामेन्ट द्वारा तो स्वीकृत हो गया, पर राजा ने इस पर अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया। इसके विरोध में नहस पाशा और उसके मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, और राजा ने सिदकी पाशा को प्रधान-मन्त्री के पद पर नियत किया। सिदकी पाशा वफ्द पार्टी का कट्टर शत्रु था, और ईजिप्ट की राष्ट्रीय आकांक्षाओं से जरा भी सहानुभूति नहीं रखता था। वह अनुभव करता था, कि जब तक १९२३ का संविधान कायम रहेगा और उसके अनुसार पार्लियामेन्ट का चुनाव होता रहेगा, वफ्द पार्टी की शक्ति को नष्ट कर सकना कदापि सम्भव नहीं होगा। अतः उसने १९३० में चुनाव के एक नये ढंग की व्यवस्था की, जो लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के सर्वथा विरुद्ध था। इसके अनुसार पार्लियामेन्ट के सदस्य सीधे जनता द्वारा न चुने जाकर कतिपय ऐसे निर्वाचक मण्डलों द्वारा चुने जाते थे, जिनका निर्माण जनता द्वारा चुने हुए व्यक्तियों तथा अन्य विशिष्ट वर्गों द्वारा होता था। राजा और ब्रिटेन की सहायता से सिदकी पाशा इस पद्धति को लागू करने में भी समर्थ हो गया। पार्लियामेन्ट को भंग कर १९३१ में नई पद्धति द्वारा निर्वाचन कराया गया, जिसमें वफ्द पार्टी ने कोई भाग नहीं लिया। इस समय नहस पाशा और उसके साथी असहयोग की नीति का अनुसरण कर रहे थे, और उन्होंने टैक्स अदा न करने के आन्दोलन का भी प्रारम्भ कर दिया था। १९३१ में पार्लियामेन्ट का जो चुनाव हुआ, उसके बहुसंख्यक सदस्य सिदकी पाशा के समर्थक थे, और उसकी हां में हां मिलाना ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। १९३१ से १९३३ तक सिदकी पाशा ने एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डिक्टेटर के रूप में ईजिप्ट का शासन किया। पर वफ्द पार्टी उसके विरोध में जी-जान से प्रयत्नशील थी। असहयोग, और टैक्स अदा न करना आदि के आन्दोलनों ने देश में एक प्रकार की अव्यवस्था उत्पन्न कर दी थी, जिसके कारण सरकार के सम्मुख विकट समस्या उपस्थित हो गई थी। परेशान होकर सिदकी पाशा ने १९३३ में प्रधान-मन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया। पर इससे भी ईजिप्ट की समस्या हल नहीं हुई। अगले चौदह मास ईजिप्ट के इतिहास में अव्यवस्था के मास थे, जिनमें कोई भी मन्त्रि-मण्डल स्थायी रूप से देश के शासन का संचालन करने में असमर्थ रहा।

विवश होकर राजा फौद ने १९३४ में मुहम्मद तौफीक नसीम पाशा को प्रधान-मन्त्री के पद पर नियत किया। इसका सम्बन्ध किसी भी राजनीतिक दल के साथ नहीं था, और ईजिप्ट के लोग इसे आदर की दृष्टि से देखते थे। इसने राजा को सलाह दी, कि १९३० की निर्वाचन-पद्धति का अन्त कर लोकतन्त्र शासन की पुनःस्थापना द्वारा ही देश में शान्ति स्थापित कर सकना सम्भव होगा। राजा ने उसकी बात को मान लिया, और यह व्यवस्था की, कि जब तक लोकतन्त्र प्रणाली से नई पार्लियामेन्ट का निर्वाचन न हो, राजा ही अपने विशेष अधिकारों द्वारा देश के शासन-सूत्र का संचालन करता रहे। प्रधानमन्त्री के पद पर नसीम पाशा को ही कायम रखा गया, और उसकी सरकार राजा के नाम पर ईजिप्ट का शासन करती रही। पर इस बीच में यूरोप की अन्तर्राष्ट्रीय राज-नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन शुरू हो गये थे। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली में फैसिस्ट शासन स्थापित हो चुका था, और वहाँ की सरकार अफ्रीका में साम्राज्य-विस्तार के लिये प्रयत्नशील हो गई थी। १९३५ के प्रारम्भ में इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर अपने अधीन कर लिया। अफ्रीका के इस प्रदेश पर इटली का आधि-पत्य स्थापित हो जाने के कारण ब्रिटेन की दृष्टि में ईजिप्ट का महत्त्व बहुत बढ़ गया, और अब उसे यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि वहां के लोगों को सन्तुष्ट कर उनके साथ मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर लेने में ही अपना हित है। ईजिप्ट के नेताओं ने भी यह अनुभव किया, कि ब्रिटेन से अपनी मांगों को स्वीकृत कराने का यह सुवर्णीय अवसर है। वफ्द पार्टी के नेता नहस पाशा ने घोषणा की, कि ब्रिटेन तभी ईजिप्ट के सहयोग एवं सहा-यता की आशा कर सकता है, जब उसे एक सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त हो जायगी। इस समय ईजिप्ट में ब्रिटेन के हाई कमिश्नर के पद पर मि० लैम्सन विराज-मान थे। इस पद पर उनकी नियुक्ति १९३३ में हुई थी। उन्होंने घोषणा की, कि ब्रिटेन ईजिप्ट के साथ सब समस्याओं पर विचार करने के लिये तैयार है, पर यह तभी सम्भव है जबकि वहां एक ऐसी सरकार कायम हो, जिसे जनता का समर्थन प्राप्त हो। इस दशा में नसीम पाशा ने राजा को १९२३ के संविधान के अनुसार पार्लियामेन्ट के नये चुनाव के लिये प्रेरित किया। समय की परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर राजा भी इसके लिये तैयार हो गया, और मई, १९३६ में पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हुआ। इस निर्वाचन में वफ्द पार्टी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। नव-निर्वाचित पार्लियामेन्ट में वफ्द पार्टी के सदस्यों की संख्या ८० प्रतिशत थी। एक बार फिर नहस पाशा प्रधानमन्त्री बना, और उसने ब्रिटेन के साथ समझौते का यत्न शुरू कर दिया।

नहस पाशा के नेतृत्व में ईजिप्ट के प्रतिनिधियों ने ब्रिटेन के साथ जो सन्धि इस समय (अगस्त, १९३६) की, उसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ईजिप्ट की स्थिति एक स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की होगी। (२) ब्रिटेन यत्न करेगा, कि ईजिप्ट को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो जाए। (३) ब्रिटेन अब ईजिप्ट में अपना हाई कमिश्नर नहीं रखेगा। उसके स्थान पर वह ईजिप्ट में अपना राजदूत रखेगा, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईजिप्ट का राजदूत ब्रिटेन में नियुक्त किया जायगा। (४) ईजिप्ट ने यह स्वीकार किया, कि स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटेन के ऐसे हित विद्यमान हैं, जिनकी रक्षा के लिये वहां ब्रिटिश सेनाओं का रहना आवश्यक है। पर इस ब्रिटिश-सेना में १०,००० से अधिक स्थल-सैनिक और ४०० से अधिक वायु-सैनिक नहीं होने चाहियें। आठ साल के अन्दर-अन्दर ईजिप्ट के विविध प्रदेशों में स्थित ब्रिटिश सेनाओं को उत्तरी स्वेज के क्षेत्र में केन्द्रित कर दिया जायगा, और कैरो आदि नगरों से सब ब्रिटिश सेनाएं हटा ली जायेंगी। ईजिप्ट इस बात के लिये प्रयत्न करेगा, कि स्वेज के क्षेत्र में सड़कों का निर्माण करे और अपनी रेलवे लाइनों का विस्तार करे, ताकि स्वेज के क्षेत्र में आने-जाने में कठिनाई न रहे। (५) युद्ध की दशा में दोनों देश एक दूसरे की सहायता करेंगे, और ब्रिटेन को यह अधिकार होगा कि वह ईजिप्ट में सब प्रकार की सुविधाएं प्राप्त कर सके। यदि वह आवश्यक समझे, तो युद्ध की दशा में ईजिप्ट से यह भी माँग कर सकेगा, कि वहां शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए फौजी शासन स्थापित कर दिया जाए। (६) दोनों देश अपनी विदेशी राजनीति का निर्माण इस ढंग से नहीं करेंगे, जो एक दूसरे के लिये हानिकारक हो। (७) ईजिप्ट अपनी सेना के लिये सब युद्ध-सामग्री ब्रिटेन से ही क्रय करेगा, और अपने सैनिक अफसरों को युद्ध-नीति में प्रशिक्षण के लिये ब्रिटेन में ही भेजा करेगा। (८) सूडान का शासन ब्रिटेन और ईजिप्ट—दोनों के संयुक्त नियन्त्रण में रहेगा। इस संयुक्त शासन (Condominium) का प्रधान प्रयोजन सूडानी लोगों का हित और कल्याण होगा। पर ईजिप्ट को यह अधिकार रहेगा कि सूडान में वह अपनी सेना रख सके, और यदि सूडानी कर्मचारी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध न हों, तो ईजिप्सियन कर्मचारियों की वहां नियुक्ति कर सके। साथ ही, ईजिप्सियन लोगों को यह भी अधिकार होगा, कि वे सूडान में बिना किसी बाधा के आबाद हो सकें। (९) ब्रिटेन इस बात के लिये प्रयत्न करेगा, कि ईजिप्ट में विदेशी राज्यों को एक्स्ट्रा-टेरिटोरिएलिटी सम्बन्धी जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनका अन्त कर दिया जाय। इन अधिकारों के अनुसार ईजिप्ट में बसे हुए विदेशियों पर चलाये गये मुकदमों का निर्णय ईजिप्ट के न्यायालयों में न होकर विदेशी राज्यों के अपने न्यायालयों में होता था, और ईजिप्ट के कानून विदेशियों पर लागू नहीं होते थे। अब ब्रिटेन ने यह स्वीकार कर लिया, कि ईजिप्ट में निवास करने वाले विदेशियों को ईजिप्ट के कानूनों के अधीन होकर रहना चाहिये, और उनके जान व माल की रक्षा की उत्तरदायिता भी ईजिप्ट की सरकार पर ही रहनी चाहिये।

यह सन्धि दोनों पक्षों द्वारा स्वीकार कर ली गई। यद्यपि इसके कारण ईजिप्ट की स्थिति एक स्वतन्त्र राज्य के समान अवश्य हो गई थी, पर अब भी अनेक ऐसी बातें थीं, जिन्हें ईजिप्सियन लोगों की राष्ट्रीय भावना सहन नहीं कर सकती थी। ब्रिटिश सेना की स्वेज के क्षेत्र में सत्ता एक ऐसी बात थी, जो ईजिप्ट के राष्ट्रवादी नेताओं को अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये कलंक प्रतीत होती थी। वे यह भी चाहते थे, कि अपने देश की विदेशी राजनीति के निर्माण के सम्बन्ध में उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो। सूडान पर भी वे अपना एकाधिकार स्थापित करने के लिये उत्सुक थे। इस प्रदेश में ब्रिटेन का कोई भी हस्तक्षेप उन्हें स्वीकार्य नहीं था। पर यूरोप में नाजी और फैसिस्ट शक्तियों के उत्कर्ष के कारण जो स्थिति इस समय उत्पन्न हो गई थी, उसे दृष्टि में रख कर ईजिप्ट के नेताओं ने यही उचित समझा, कि इस सन्धि को स्वीकार कर लिया जाय।

एक्स्ट्रा-टैरिटोरिएलिटी की पद्धति का अन्त करने के लिये १९२७ में ब्रिटेन ने मोन्त्रो में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसमें उन सब देशों के प्रतिनिधि एकत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए, जिन्होंने ईजिप्ट में ये विशेषाधिकार प्राप्त किये हुए थे। मोन्त्रो कान्फरेन्स में यह निर्णय हुआ, कि १९४९ तक ईजिप्ट से इस पद्धति का पूर्ण रूप से अन्त कर दिया जायगा, और इन बारह वर्षों में ईजिप्ट की सरकार ऐसे प्रयत्न करेगी जिनसे कि इस पद्धति की वहां आवश्यकता ही न रह जाय। १९३७ में ही ईजिप्ट को राष्ट्रसंघ का भी सदस्य बना लिया गया, जिसके कारण उसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्राप्त हो गई।

(४) ईराक की स्वाधीनता

महायुद्ध की समाप्ति पर पेरिस की शान्ति परिषद् के निर्णयानुसार राष्ट्रसंघ ने किस प्रकार ईराक को अपने मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन के सुपुर्द किया, इस पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। साथ ही, हम यह भी लिख चुके हैं, कि ईराक में किस प्रकार अमीर फैजल का शासन स्थापित हुआ, और ब्रिटेन ने किस प्रकार उसके साथ समझौता करके वहां एक ऐसी सरकार को कायम किया, जो पूर्णतया ब्रिटिश हाई कमिश्नर की वशवर्ती थी। १९२२ के समझौते के अनुसार ईराक में जिस ढंग की शासन-व्यवस्था की स्थापना हुई, यद्यपि उसमें राष्ट्रीय सभा, मन्त्रिमण्डल और देश के अपने राजा की सत्ता थी, पर ये सब ब्रिटिश हाई कमिश्नर और ब्रिटिश परामर्शदाताओं के अधीन थे, और उनकी इच्छा के विरुद्ध एक भी पग नहीं उठा सकते थे। आर्थिक मामलों और विदेशी सम्बन्धों के विषय में ईराक पर ब्रिटेन का पूरा-पूरा नियन्त्रण था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ईराक के राष्ट्रवादी लोग असन्तोष अनुभव करें। उनके असन्तोष के अन्य भी अनेक कारण थे। मन्त्रिमण्डल को परामर्श देने और सेना व पुलिस आदि के महकमों का संचालन करने के लिये जो ब्रिटिश अफसर इस समय ईराक में नियुक्त थे, उन्हें ईरानी राजकर्मचारियों की तुलना में बहुत अधिक वेतन मिलता था। वे इस ढंग से बरताव करते थे, मानो वे ही ईराक के वास्तविक शासक हों। मन्त्रियों को परामर्श देने के नाम पर वे सरकार के कार्यों में मनमाने ढंग से हस्तक्षेप किया करते थे, जिसके कारण अनेक बार कई-कई महीनों तक दोनों में मतभेद जारी रहते थे और जरूरी मामलों का निर्णय भी कठिन हो जाता था। ईराक में अभी ऐसी सरकार कायम नहीं हुई थी, जिसे सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र कहा जा सके। राजकर्मचारी प्रायः वही थे, जो तुर्क सल्तनत के समय में थे और स्वेच्छाचारी रूप से शासनकार्य करने के अभ्यस्त थे। टैक्स की पद्धति भी अत्यन्त दूषित थी, जिसके कारण धनिक वर्ग की तुलना में सर्वसाधारण जनता पर टैक्सों का बोझ बहुत अधिक था। इन्हीं सब बातों को दृष्टि में रखकर १९२५ में राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् ने यह सम्मति प्रकट की थी, कि ईराक को अभी २५ साल तक ब्रिटेन के मैण्डेट के अधीन रखना आवश्यक होगा, क्योंकि अभी यह देश पूर्ण स्वाधीनता के योग्य नहीं हुआ है।

पर ईराक के राष्ट्रवादी लोगों का यह विचार नहीं था। वे कहते थे, कि उनके देश से ब्रिटिश आधिपत्य का अन्त होना चाहिये, और उसे एक स्वाधीन राज्य की स्थिति प्राप्त होनी चाहिये। इसके लिये वे उग्र आन्दोलन भी कर रहे थे। १९२८ में ईराक की सरकार ने यह मांग पेश की, कि ईराक की सेना से ब्रिटेन के नियन्त्रण को उठा लिया जाय, और बाह्य व आभ्यन्तर—दोनों क्षेत्रों में देश की सुरक्षा की जिम्मेदारी ईराकी सरकार के ही सुपुर्द कर दी जाय। ब्रिटिश सरकार के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह देर तक ईराक की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की उपेक्षा करती रहे। वहां के राष्ट्रीय नेताओं को सन्तुष्ट करने के लिये १९३१ में ब्रिटेन और ईराक में एक सन्धि की गई, जिसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) ब्रिटेन को यह अधिकार हो, कि वह हब्बानिया (बगदाद के पश्चिम में) और श्वैबा (बसरा के समीप) में अपने हवाई अड्डे बना सके। साथ ही, इसे यह भी अधिकार रहे कि वह अपनी सेना और युद्धसामग्री को ईराक में जहां चाहे ले जा सके। (२) युद्ध या युद्ध की सम्भावना की दशा में ईराक का यह कर्तव्य होगा, कि वह ब्रिटेन को सब सुविधाएं व सहायता प्रदान करे। ऐसे समय में ईराक को यातायात के सब साधन भी ब्रिटेन के सुपुर्द कर देने होंगे। (३) ब्रिटेन अपना राजप्रतिनिधि ईराक में नियुक्त करेगा, और उसे अन्य सब देशों के राजप्रतिनिधियों की तुलना में प्रमुखता प्राप्त रहेगी। (४) ईराक की सैनिक शक्ति का पुनःसंगठन करने और उसकी वृद्धि के लिये ब्रिटेन सहायता प्रदान करेगा। जिन ईराकी सैनिकों को सैनिक शिक्षा के लिये विदेशों में भेजना उचित समझा जायगा, उन्हें सामान्यतया ब्रिटेन में ही भेजा जायगा, और ईराक को जिन विदेशी विशेषज्ञों की आवश्यकता होगी उन्हें भी सामान्यतया ब्रिटेन से ही लिया जायगा। (५) ब्रिटेन इस बात के लिये यत्न करेगा, ईराक को राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्राप्त हो जाय, और इस प्रकार उसकी स्थिति एक स्वाधीन राज्य की हो जाय।

ईराक की पार्लियामेंट ने बहुमत से इस सन्धि को स्वीकार कर लिया (१९३१), जिसके पश्चात् ब्रिटेन ने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया कि वहां के शासन में ईराकी लोगों का हाथ निरन्तर अधिक-अधिक बढ़ता जाय। ब्रिटेन की ओर से राष्ट्रसंघ में ईराक की सदस्यता का प्रस्ताव भी प्रस्तुत किया गया, जिसका विरोध होने पर ब्रिटिश प्रतिनिधि ने यह कहा कि ब्रिटिश सरकार किसी राज्य को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं समझती, कि शासन दृष्टि से उसकी सरकार आदर्श हो, और ईराक को तभी राष्ट्र-संघ का सदस्य बनाया जाय, जबकि वह आधुनिक युग के सभ्य व उन्नत देशों का समकक्ष बन जाय। ब्रिटेन की इस युक्ति में बल था। अन्य राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया, और ३ अक्टूबर, १९३२ के दिन ईराक को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो गई।

पर यह स्वीकार करना होगा, कि इस काल में ईराक की दशा अच्छी नहीं थी। वहां की ९० प्रतिशत जनता अभी पूर्णतया निरक्षर थी, और लोगों को राजनीतिक व शासन-सम्बन्धी मामलों में कोई भी दिलचस्पी नहीं थी। यद्यपि वहां एक पार्लियामेंट या राष्ट्रीय सभा की सत्ता थी, पर उसके सदस्य सच्चे अर्थों में जनता के प्रतिनिधि नहीं होते थे। सरकार कतिपय व्यक्तियों को पार्लियामेंट की सदस्यता के लिये मनोनीत कर लेती थी, और जनता द्वारा उन्हीं को चुनवा लिया जाता था। १९२५ के चुनाव में केवल चार ऐसे व्यक्ति पार्लियामेंट में चुने जा सके थे, जो सरकारी लिस्ट में नहीं थे। अभी ईराक में राजनीतिक दलों का भली-भांति विकास नहीं हुआ था, और १९३२ में राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्राप्त कर लेने पर जब ईराक एक स्वाधीन राज्य बन गया, तब सरकार ने 'राष्ट्रीय एकता' के नाम पर सब पार्टियों को नष्ट कर दिया और केवल ऐसे व्यक्ति ही पार्लियामेंट में चुने जाने लगे, जो सरकार को अभीष्ट थे। इस काल में ईराक में सरकार का अभिप्राय था, अमीर फैजल और उसके विश्वासपात्र व्यक्ति, जिन्हें वह अपनी इच्छानुसार मन्त्रियों के पद पर नियुक्त किया करता था। १९२१ से १९३३ तक के काल में ईराक में १५ मन्त्रिमण्डल बने और उसके बाद के तीन सालों में २१। मन्त्रिमण्डलों में इन परिवर्तनों का कारण पार्लियामेंट का अविश्वास या विश्वास नहीं था। इसका कारण अमीर फैजल या ब्रिटिश हाई कमिश्नर का मत ही था। वास्तविक शक्ति इन्हीं के हाथों में थी। कोई मन्त्री तभी तक अपने पद पर रह सकता था, जब तक कि फैजल उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पसन्द करे और मन्त्री के पद पर रखना चाहे। क्योंकि फैजल पूर्णतया ब्रिटिश हाई कमिश्नर के प्रभाव में था, अतः उसे अपना साधन बना कर ब्रिटेन का यह प्रतिनिधि अपनी इच्छा के अनुसार मन्त्रिमण्डल में परिवर्तन कराता रहता था। ईराक की सरकार व मन्त्रिमण्डल में निरन्तर परिवर्तन होते रहने का यही कारण था। १९३१ की सन्धि के बाद भी ईराक पर ब्रिटेन का यह प्रभाव जारी रहा, और वहां की सरकार ब्रिटिश हितों की रक्षा के लिये साधन-मात्र बनी रही।

१९३३ में फैजल की मृत्यु हो गई, और उसका पुत्र गाजी ईराक के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह अपने पिता के समान योग्य नहीं था। उसके राज्य-कार्य को सम्भालते ही ईराक को एक विकट समस्या का सामना करना पड़ा, जो असीरियन लोगों के साथ सम्बन्ध रखती थी। ये लोग उत्तर-पूर्वी अनेतोलिया के निवासी थे, और धर्म से ईसाई थे। महायुद्ध के समय १९१५ में जब रूस ने इस प्रदेश पर आक्रमण किया, तो ये रूसियों के साथ मिल गये थे। पर १९१७ में रूस में राज्यक्रान्ति हो जाने के कारण इन्हें रूस का संरक्षण मिलना बन्द हो गया था। तुर्की के कोप से बचने के लिये ये उत्तरी ईराक में चले आये थे, जो इस समय अंग्रेजों के कब्जे में आ चुका था। क्योंकि ये ईसाई थे, अतः अंग्रेजों की इन पर विशेष कृपा थी, और इन्हें अच्छी बड़ी संख्या में ब्रिटिश सेना में भरती कर लिया गया था। ईराक के अन्यतम प्रदेश में निवास करते हुए भी ये असीरियन लोग वहां की सरकार की कोई परवाह नहीं करते थे, और इसी कारण इनकी ईराकी लोगों से प्रायः मुठभेड़ होती रहती थी। १९३१ की सन्धि द्वारा जब ईराक ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, और इस देश से ब्रिटिश मैन्डेट का अन्त हो गया, तो ईराकियों ने इन लोगों से बदला लेने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। ईराकी लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे, इसलिए उन्होंने इन पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए, जिसके कारण सैकड़ों की संख्या में असीरियन ईसाई बुरी तरह से कत्ल हुए। ईराकी सेना ने भी इन कत्लों में भाग लिया। ईराकी जनता इससे बहुत प्रसन्न हुई, और अमीर गाजी ने भी असीरियन ईसाइयों के विनाश पर प्रसन्नता प्रकट की। जिस सेना ने इन ईसाइयों के विनाश के लिये अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया था, उसका सेनापति बकर सिदकी था। अमीर गाजी ने उसे पाशा की पदवी प्रदान कर सम्मानित किया, और इस कारण उसके प्रभाव तथा शक्ति में बहुत वृद्धि हो गई।

ईराक की सरकार की इस समय बहुत दुर्दशा थी। मन्त्रिमण्डल के सदस्य जहां आपस में लड़ते रहते थे, वहां अपने राजनीतिक विरोधियों का दमन करने में भी तत्पर रहते थे। बकर सिदकी ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और एक सेना को साथ लेकर बगदाद की ओर प्रस्थान कर दिया (१९३६)। उसने वायुयानों द्वारा बगदाद पर बम्बवर्षा करने में भी संकोच नहीं किया, और ईराक की इस राजधानी पर कब्जा कर लेने में उसे अधिक समय नहीं लगा। ईराक के मन्त्रिमण्डल के लिए बकर सिदकी की सैनिक शक्ति का मुकाबिला कर सकना सम्भव नहीं था। ईराकी जनता भी सैनिक शासन के पक्ष में थी। कमाल पाशा के नेतृत्व में तुर्की जिस ढंग से उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा था, उसका उदाहरण ईराक के सम्मुख था। जनता अनुभव करती थी, कि यदि ईराक में भी एक शक्तिशाली एवं जबर्दस्त सैनिक शासन स्थापित हो जायगा, तो राजनीतिक दलबन्दी का अन्त होकर यह देश भी उन्नति कर सकेगा। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के शासन का अन्त हो गया, और एक ऐसी सरकार का निर्माण हुआ, जिसमें बकर सिदकी की स्थिति एक सैनिक डिक्टेटर के समान थी। अमीर गाजी भी इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैनिक शासन के सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करता था। पर उसके शासनकाल की अन्य सरकारों के समान बकर सिदकी की सरकार भी देर तक कायम नहीं रह सकी। लोग बकर सिदकी के शासन से भी सन्तुष्ट नहीं थे। शीघ्र ही, उसके विरुद्ध भी षड्यन्त्र प्रारम्भ हो गए, जिनमें असन्तुष्ट सैनिक अफसरों ने भी भाग लिया। परिणाम यह हुआ, कि दस महीने बाद बकर सिदकी को भी कत्ल कर दिया गया (१९३७), और मन्त्रि-मण्डलों तथा सरकारों में निरन्तर परिवर्तनों की वही प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो गई, जो पहले जारी थी। ब्रिटिश मैन्डेट से मुक्त होकर ईराक ने स्वाधीनता अवश्य प्राप्त कर ली थी, और वह राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बन गया था, पर अभी वहां स्थायी लोकतन्त्र शासन की स्थापना नहीं हो सकी थी।

१९३१ की सन्धि की शर्तों के अनुसार ईराक पर ब्रिटेन का प्रभाव व प्रभुत्व कायम था। इसके कारण वहां के राष्ट्रीय नेता बहुत असन्तुष्ट थे। वे चाहते थे, कि ईराक भी सच्चे अर्थों में स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बन सके। पैलेस्टाइन और ईजिप्ट के अरब जिस ढंग से ब्रिटिश प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर थे, उसका उदाहरण उनके सम्मुख विद्यमान था। पैलेस्टाइन में ब्रिटिश शासकों की अरब-विरोधी नीति के कारण वहां के बहुत-से अरब नेताओं ने इस समय ईराक में आकर आश्रय ग्रहण किया हुआ था। इससे भी ईराक के अरबों में ब्रिटिश प्रभाव के विरुद्ध भावना उत्पन्न हो रही थी। यूरोप की नाजी और फैसिस्ट सरकारें भी इस समय ईराक में ब्रिटेन के प्रभाव के विरुद्ध प्रचार में तत्पर थीं। अपने देश की राजनीतिक दुर्दशा का अनुभव कर ईराक के राष्ट्रीय नेताओं का झुकाव फैसिस्ट विचाराधारा की ओर होने लग गया था। वे सोचते थे, कि यदि हमारे देश में भी फैसिस्ट शासन स्थापित हो जाय, तो हमारी सब समस्याएं हल हो सकती हैं। इस बीच (एप्रिल, १९३९) में अमीर गाजी की एक मोटर दुर्घटना द्वारा मृत्यु हो गई। ईराक के राष्ट्रवादी लोगों ने कहा, कि इस दुर्घटना में अंग्रेजों का हाथ है। परिणाम यह हुआ, कि अनेक स्थानों पर ब्रिटिश लोगों के विरुद्ध प्रदर्शन हुए, और कुछ स्थानों पर मारकाट भी शुरू हो गई। यह स्थिति थी, जब कि बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) का प्रारम्भ हुआ। ईराक के राष्ट्रवादी लोगों ने इसे ब्रिटिश प्रभाव से मुक्त होने का सुवर्णीय अवसर समझा, और उनकी सहा-नुभूति ब्रिटेन के विरोधी पक्ष की ओर होने लगी। इसी कारण १९४१ में जब रशीद अली ने ईराक के शासन को अपने हाथ में लिया, तो उसने जर्मनी तथा इटली का पक्ष लेकर कार्य करना शुरू किया। इस सम्बन्ध में हम अगले अध्याय में विस्तार के साथ लिखेंगे। अमीर गाजी की मृत्यु के बाद ईराक के राजसिंहासन पर फैजल द्वितीय आरूढ़ हुआ था। पर क्योंकि अभी वह नाबालिग था, अतः उसके चाचा अमीर अब्दुल इलाह ने रीजेन्ट के रूप में ईराक का शासन सम्भाल लिया था।

(५) फ्रेञ्च मैन्डेट के अधीन प्रदेशों के शासन

महायुद्ध की समाप्ति पर राष्ट्र-संघ द्वारा पश्चिमी एशिया के जो प्रदेश मैन्डेट के अधीन फ्रांस को शासन के लिये दिये गये थे, उनकी जो व्यवस्था फ्रेञ्च सरकार ने की थी उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इस व्यवस्था के अनुसार ये प्रदेश शासन की दृष्टि से निम्नलिखित भागों में विभक्त थे, लेबेनान, जबल-द्रुज, लताकिया और सीरिया। सीरिया में अलेग्जेन्ड्रेटा के प्रदेश को भी अन्तर्गत किया गया था, यद्यपि उसके शासन के सम्बन्ध में कतिपय विशेष व्यवस्थाएं की गई थीं। इसका कारण यह था, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रदेश में अरबों के अतिरिक्त तुर्क और आर्मीनियन लोगों का भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास था।

फ्रांस के अधीन इन प्रदेशों में राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल थी। फ्रेञ्च लोगों से इनका सम्पर्क बहुत पुराना था, और वहां ईसाई मिशनरियों ने अनेक ऐसे शिक्षणालय कायम किये हुए थे, जिनमें फ्रेञ्च भाषा के साथ-साथ नये ज्ञान-विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी। वहां के अरब निवासियों में राष्ट्रीय भावना के विकास में इससे बहुत सहायता मिली। ईराक, पैलेस्टाइन और ईजिप्ट आदि के अरबों के समान इन प्रदेशों के अरबों ने भी यह अनुभव किया, कि उन्हें विदेशी प्रभुत्व से मुक्त होकर स्वाधीनता की प्राप्ति के लिये संघर्ष करना चाहिये। इसी कारण १९२५-२६ में इन प्रदेशों में स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए, जिनका दमन करने के लिये फ्रेञ्च लोगों को अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। सीरिया के विद्रोह को शान्त करने के लिये उन्होंने डमास्कस पर बम्बवर्षा भी की, जिसके कारण एक हजार से भी अधिक अरब लोग मारे गये। फ्रेञ्च लोग इन विद्रोहों को शान्त करने में तो समर्थ हो गये, पर साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव कर लिया कि इन प्रदेशों के निवासियों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति किये बिना काम नहीं चल सकेगा। इसीलिए १९२६ में लेबेनान में एक रिपब्लिक की स्थापना की गई, और सीरिया के राजनीतिक नेताओं से भी यह कहा गया कि वे अपने देश के लिए एक ऐसे संविधान का निर्माण करे जो सबको स्वीकार्य हो। संविधान को तैयार करने के लिए जिस राष्ट्रीय सभा का संगठन किया गया था, उसने १९२८ में अपने देश के लिए एक संविधान का मसविदा तैयार भी कर लिया। पर सीरिया के शासन के लिए नियुक्त फ्रेञ्च हाई कमिश्नर इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था, कि इस संविधान द्वारा सीरिया में फ्रेञ्च हितों की रक्षा करने की समुचित व्यवस्था नहीं की गई है। १९३० में उसने राष्ट्रीय सभा को बर्खास्त कर दिया, और सीरिया के शासन के लिए अपनी ओर से एक नये संविधान का निर्माण किया। १९३२ में इस संविधान के अनुसार सीरिया की पार्लियामेंट का चुनाव हुआ, और जो नया मन्त्रिमण्डल बना, फ्रांस ने उसके साथ एक ऐसी सन्धि कर लेने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, जिसके द्वारा दोनों देशों में एक स्थायी समझौता हो सके। इस समय तक इङ्गलैण्ड और ईराक में सन्धि (१९३१) हो चुकी थी, जिसके कारण इन दोनों देशों के सम्बन्धों की कटुता बहुत कुछ दूर हो गई थी, और ईराक ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त कर ली थी (१९३२)। इस उदाहरण को सम्मुख रखकर फ्रांस ने भी सीरिया की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई। निम्नलिखित प्रश्नों के सम्बन्ध में फ्रांस और सीरिया में मतभेद था—(१) सीरिया की मांग थी, कि जेबल-द्रुज और लताकिया के प्रदेशों को भी सीरियन राज्य में शामिल किया जाना चाहिए। पर इन प्रदेशों में अरब-भिन्न लोगों के पर्याप्त संख्या में बसे होने के कारण फ्रांस इनकी पृथक् सत्ता को जारी रखने के पक्ष में था। (२) सीरिया के नेता कहते थे, कि यह बात भी तय कर दी जाए कि अधिक से अधिक कितने समय तक फ्रेञ्च सेनाएं सीरिया में रखी जायेंगी, और वे किस-किस स्थान पर रहेंगी। फ्रेञ्च लोग इस बात का अभी से फैसला कर सकना अक्रियात्मक समझते थे।

फ्रांस द्वारा स्वयं बनाये हुए संविधान के अधीन जिस पार्लियामेंट का चुनाव हुआ था, जब उसके साथ भी फ्रेंच हाई कमिश्नर कोई समझौता नहीं कर सका, तो उसने उसे अनिश्चित काल के लिए बर्खास्त कर दिया (१९३४), और सीरियन लोगों को स्वशासन-सम्बन्धी जो भी अधिकार प्राप्त थे, वे सब उनसे छीन लिये गये। परिणाम यह हुआ, कि सीरिया में विद्रोह की अग्नि प्रचण्ड हो उठी, और जगह-जगह पर दंगे हुए जिनमें बहुत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आदमी मारे गये। इस समय तक फ्रांस में पोपुलर फ्रंट में सम्मिलित पार्टियों की शक्ति बहुत बढ़ चुकी थी, और उसी का मन्त्रिमण्डल वहां विद्यमान था। राजनीतिक विचारों में यह पोपुलर फ्रंट ब्रिटिश मजदूर दल के समान ही प्रगतिशील था। इस स्थिति से लाभ उठाकर सीरियन नेताओं का एक डेपुटेशन पेरिस गया, और वहां जाकर उसने समझौते की बातचीत शुरू की। यह बातचीत सफल हो गई, और फ्रेंच सरकार और सीरियन नेता एक ऐसी सन्धि के मसविदे को तैयार करने में समर्थ हो गये, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य था। इस मसविदे की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) जेबल-द्रुज और लताकिया के प्रदेश सीरिया के अन्तर्गत कर दिये जायेंगे, पर शासन की दृष्टि से उनकी पृथक् सत्ता कायम रहेगी। (२) सीरिया में फ्रांस अपने दो हवाई अड्डे कायम कर सकेगा, और जेबल-द्रुज तथा लताकिया के प्रदेशों में पांच साल तक फ्रेंच सेनाएं विद्यमान रहेंगी। (३) फ्रेंच सेनाओं के लिए सीरिया के राज्य क्षेत्र में फ्रांस जो भी सुविधाएं प्राप्त करना चाहे, वे उसे प्रदान की जायेगी। (४) फ्रांस की ओर से सीरिया में राजदूत की नियुक्ति की जायगी, जिसे सीरियन सरकार अन्य देशों के राजदूतों की तुलना में विशिष्ट महत्त्व देगी। (५) सीरिया को अपने लिये जिन भी विदेशी विशेषज्ञों और अफसरों की आवश्यकता हो, वे सामान्यता फ्रांस से ही लिये जायेंगे। (६) फ्रांस इस बात का यत्न करेगा, कि सीरिया को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्राप्त हो जाए, और इस प्रकार वह एक पूर्णतया स्वाधीन राज्य की स्थिति प्राप्त कर सके। सीरिया में इस समझौते का अच्छा स्वागत हुआ, और बहुत-से राष्ट्रीय नेता जो पिछले सालों में अपने देश को छोड़कर अन्यत्र चले गये थे और वहां रहते हुए अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष कर रहे थे, अब सीरिया लौट आये। १९२८ के संविधान के अनुसार सीरियन पार्लियामेन्ट का चुनाव किया गया, और एक ऐसे मन्त्रिमण्डल की स्थापना की गई, जिसमें सीरिया के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्रीय नेता सम्मिलित थे। सीरियन लोग नये शासन से संतोष अनुभव करते थे।

पर शीघ्र ही इस दशा में अन्तर आने लगा। जेबल-द्रुज और लताकिया के प्रदेश सीरिया के राज्य में सम्मिलित अवश्य कर दिये गये थे, पर इसके कारण वहां की समस्या हल नहीं हो सकी थी। इन प्रदेशों में ऐसे लोग पर्याप्त संख्या में बसे हुए थे, जो जाति से अरब तथा धर्म से मुसलमान नहीं थे। इन्हें यह पसन्द नहीं था, कि इनके प्रदेश सीरिया के अरब राज्य में सम्मिलित कर दिये जाएं। यद्यपि इनके शासन को सीरिया के अन्य प्रदेशों से पृथक् रखने की व्यवस्था की गई थी, पर डमास्कस की अरब सरकार इन प्रदेशों को पूर्णतया सीरियन या अरब बना देने के लिये प्रयत्नशील थी। परिणाम यह हुआ, कि इन प्रदेशों में विद्रोह शुरू हो गये, जिन्हें शान्त कर सकना सीरियन सरकार के लिए सुगम नहीं था। पर अधिक विकट समस्या अलेग्जेन्ड्रेटा प्रदेश के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई। इस प्रदेश को भी सीरिया के अंग के रूप में मैन्डेट के अधीन फ्रांस के शासन में दिया गया था। पर यहां के निवासियों में अरबों के अतिरिक्त तुर्क लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में थे। इसकी सीमा भी तुर्की के साथ लगती थी। सीरिया में स्वराज्य स्थापित हो जाने पर यहां के तुर्क निवासी इस बात से बहुत उद्विग्न हुए, कि उनके प्रदेश पर भी अरबों का प्रभुत्व व शासन स्थापित हो जायगा। तुर्क लोग अरबों की तुलना में अधिक सभ्य व उन्नत थे। वे अलेग्जेन्ड्रेटा के प्रदेश पर अपने प्रभुत्व को कायम रखने के लिये कटिबद्ध थे। इस समस्या ने इतना विकट रूप धारण कर लिया, कि अन्त में फ्रेंच सरकार ने यही आवश्यक समझा कि इस प्रदेश को सीरिया से पृथक् कर के एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए। यूरोप में नाजी और फैसिस्ट लोगों के उत्कर्ष के कारण अब फ्रांस भी बहुत चिन्तित था। मुसोलिनी के नेतृत्व में इटली जिस प्रकार अफ्रीका में अपने साम्राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के विस्तार के लिए तत्पर था, फ्रांस उसे अपने लिए बहुत खतरनाक समझता था। इसी कारण वह तुर्की के साथ मैत्री के लिए उत्सुक था, ताकि युद्ध के समय इटली के खिलाफ उसकी सहायता प्राप्त हो सके। अलेग्जेन्ड्रेटा के तुर्कों के साथ स्वाभाविक रूप से तुर्की की सहानुभूति थी। तुर्की भी यह चाहता था, कि यह प्रदेश सीरिया के अन्तर्गत न रहे। परिणाम यह हुआ, कि मई, १९३७ में अलेग्जेन्ड्रेटा को सीरिया से पृथक् करके एक पृथक् राज्य बना दिया गया, जिसे 'हेयती रिपब्लिक' नाम दिया गया। फ्रांस और तुर्की दोनों ने स्वतन्त्र राज्य के रूप में इसकी सत्ता की गारण्टी दी। यूरोप में जिस ढंग से महायुद्ध के बादल मंडरा रहे थे, उसे दृष्टि में रखते हुए बाद में यह उपयोगी समझा गया, कि इस छोटी-सी रिपब्लिक को तुर्की के अन्तर्गत कर दिया जाए। इसी कारण २१ जून, १९३९ के दिन हेयती रिपब्लिक तुर्की के साथ मिला दी गई।

ये सब घटनाएं ऐसी थीं, जिनसे सीरिया के [illegible] राष्ट्रवादी बहुत उद्विग्न थे। वे अनुभव करते थे, कि फ्रांस सीरिया के प्रति न्याय नहीं कर रहा है। १९३६ के समझौते के बाद भी उन्हें वास्तविक रूप से स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई थी। यह समझौता फ्रांस के पोपुलर फ्रंट के मन्त्रि-मण्डल द्वारा तो स्वीकार कर लिया गया था, पर वहां की पार्लियामेंट ने अभी इसे स्वीकृत नहीं किया था। फ्रांस के मन्त्रिमण्डल में इस काल में निरन्तर परिवर्तन होते रहते थे, और कोई भी सरकार देर तक कायम नहीं रह पाती थी। १९३७ में पोपुलर फ्रंट के नेता श्री ब्लम ने प्रधानमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया था, और १९३८ में वहां एक ऐसी सरकार कायम हो गई थी जिसमें पोपुलर फ्रंट के वामपक्षी दलों के बजाय मध्य और दक्षिण-पक्षी दलों का जोर था। यह नया मन्त्रि-मण्डल १९३६ के समझौते के खिलाफ था। साथ ही, फ्रेंच राजनीतिज्ञ यह अनुभव कर रहे थे, कि नाजी और फैसिस्ट शक्तियों के उत्कर्ष के कारण यूरोप में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हो गई है, उसमें युद्ध अवश्यम्भावी है। इस दशा में फ्रांस के लिये यह आवश्यक है, कि पश्चिमी एशिया के सीरिया, लेबेनान आदि प्रदेशों पर अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व को कायम रखा जाय, ताकि युद्ध के समय में इन देशों का उपयोग जर्मनी और इटली आदि फैसिस्ट राज्यों के खिलाफ किया जा सके। इसी कारण फ्रेंच मन्त्रिमण्डल ने १९३६ के समझौते को पार्लियामेंट के सम्मुख स्वीकृति के लिए पेश ही नहीं किया, और उसे वैधानिक रूप प्राप्त नहीं हो सका। सीरिया के राष्ट्रीय नेता इससे बहुत असंतुष्ट हुए, और वहां अशान्ति और विद्रोह की प्रायः वैसी ही स्थिति उत्पन्न हो गई, जैसी कि १९३६ से पहले थी। इस दशा में फ्रेंच हाई कमिश्नर ने सीरिया के संविधान का अन्त कर वहां की पार्लियामेंट और मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया, और सम्पूर्ण शासन-शक्ति को अपने हाथों में ले लिया (जुलाई, १९३९)। सीरिया के शासन के लिये एक कौंसिल आफ डाइरैक्टर्स की नियुक्ति की गई, जो हाई कमिश्नर के आदेशों के अनुसार देश का शासन करने लगी। जेबलद्रुज और लताकिया के प्रदेशों को सीरिया से पृथक् कर दिया गया, और वहां उसी ढंग की सरकारें कायम की गई, जैसी कि १९३६ से पहले वहां थीं। १९३९ की इस नई व्यवस्था से सीरिया के राष्ट्रीय नेताओं की सब आशाओं पर तुषारपात हो गया, और उनका देश पूर्णतया फ्रेंच शासन में आ गया। कुछ समय बाद सितम्बर, १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया, जिसके कारण सीरियन नेताओं के लिए अपने देश की स्वतन्त्रता के संघर्ष को जारी रख सकना सम्भव नहीं रहा। पर वे युद्ध की परिस्थितियों को राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए एक सुवर्णीय अवसर समझते थे। इस कारण युद्ध के समय में उन्होंने जिस नीति का अनुसरण किया, उस पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीरिया के समान लेबेनान के साथ भी १९३६ में एक समझौता किया गया था, जिसकी शर्तें प्रायः उसी प्रकार की थीं, जैसी कि सीरिया के समझौते की थीं। इस समझौते के परिणामस्वरूप १९३६ में लेबेनान में भी एक पृथक् रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई थी, जो फ्रांस के प्रभुत्व में थी। इस प्रदेश की सरकार के सम्मुख वे समस्याएं नहीं थीं, जो कि सीरिया की सरकार के सामने थीं। यहां ईसाई लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे, और संस्कृति के क्षेत्र में फ्रांस का अनुसरण करना गर्व की बात समझते थे। लेबेनान के निवासियों में नसल, जाति या सम्प्रदाय की जो विभिन्नताएं थीं, उन्हें दृष्टि में रख कर वहां की सरकार ने यह व्यवस्था की, कि सब वर्गों को उनकी आबादी के हिसाब से राजकीय पद आदि प्रदान किये जायें। इससे वहां शान्ति और व्यवस्था तो कायम रही, पर लेबेनान एक राष्ट्रीयता के विकास में असमर्थ रहा। महायुद्ध के प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व १९३९ में फ्रांस ने यह आवश्यक समझा, कि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपने प्रभुत्व को सुदृढ़ करने के लिए लेबेनान के संविधान को भी स्थगित कर दिया जाए, और उसे भी पूर्णतया अपने शासन में ले आया जाए।

(६) अरब प्रायद्वीप के विविध राज्य

महायुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति के समय अरब के प्रायद्वीप में जिन अनेक स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता थी, उन पर हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। इनमें ट्रांस-जोर्डन और सौदी अरेबिया मुख्य थे। पैलेस्टाइन और ईराक के समान ट्रांस-जोर्डन का प्रदेश भी राष्ट्रसंघ द्वारा मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन को दिया गया था, पर किस प्रकार वहां मक्का के शरीफ हुसैन के अन्यतम पुत्र अब्दुल्ला ने अपनी सत्ता स्थापित कर ली थी, यह पहले लिखा जा चुका है। अब्दुल्ला ट्रांस-जोर्डन का राजा बन गया था, और उसके शासन को ब्रिटेन ने स्वीकार कर लिया था (१९२३)। यद्यपि अब भी इस प्रदेश को ब्रिटिश सरकार के अधीन माना जाता था, पर अब्दुला एक स्वतन्त्र राजा के समान उस का शासन करने लग गया था। पर ब्रिटेन यह समझता था, कि राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के कारण इस प्रदेश के शासन के सम्बन्ध में उसकी कतिपय उत्तरदायिताएं हैं, जिन्हें पूर्ण करना उसका कर्तव्य है। इसी बात को दृष्टि में रखकर १९२८ में ब्रिटेन ने अमीर अब्दुल्ला के साथ एक समझौता किया, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) ट्रांस-जोर्डन में ब्रिटेन की ओर से एक रेजिडेन्ट रहा करेगा, जिसकी नियुक्ति पैलेस्टाइन के ब्रिटिश हाई कमिश्नर द्वारा की जायगी। (२) विदेशी सम्बन्ध, आर्थिक और आय-व्यय-सम्बन्धी नीति, विदेशी निवासियों के प्रति व्यवहार और उन पर ट्रांस-जोर्डन की सरकार का शासनाधिकार, और साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता—ये ऐसे मामले माने जायेंगे जिनके सम्बन्ध में अमीर अब्दुल्ला की सरकार ब्रिटिश रेजिडेन्ट के परामर्श के अनुसार ही कार्य करेगी। अब्दुल्ला की सरकार पर ये नियन्त्रण बड़े महत्त्व के थे, और इनके कारण उसकी स्वतन्त्रता बहुत मर्यादित हो गई थी। जून, १९३४ में अब्दुल्ला के साथ ब्रिटेन ने एक अन्य सन्धि की, जिस द्वारा अन्य अरब राज्यों में अपने राज-प्रतिनिधि नियत करने की उसे अनुमति प्रदान करदी गई। इसके कारण विदेशों से सम्बन्ध के विषय में उसे कतिपय महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हुए, और अन्य अरब राज्यों के साथ सम्बन्धों के मामले में ब्रिटिश लोगों का प्रभुत्व व नियन्त्रण कुछ कम हो गया। १९३९ में महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर अब्दुल्ला के साथ एक नई सन्धि की गई, जिसके द्वारा उसने पूर्ण स्वतन्त्रता की दिशा में महत्त्वपूर्ण पग बढ़ाया। ब्रिटिश लोग भली-भांति समझते थे, कि युद्ध की परिस्थितियों में अरबों का सहयोग उनके लिए बहुत महत्त्व का है। इसी कारण वे अब्दुल्ला को संतुष्ट रखने के लिये उत्सुक थे। उन्होंने उसे यह भी आश्वासन दिया, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध की समाप्ति पर उसे पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जायगी, और उसकी सरकार पर ब्रिटेन का जो भी नियन्त्रण है, उसे समाप्त कर दिया जायगा। इसी के अनुसार १९४६ में ब्रिटेन ने अब्दुल्ला को ट्रांस-जोर्डन का पूर्णतया स्वतन्त्र राजा मान लिया, और अरब प्रायद्वीप के उत्तर-पश्चिमी कोने में जोर्डन के हशमी राज्य की स्थापना हुई। १९४६ के अन्त तक अन्य राज्यों ने भी अब्दुल्ला की इस सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति को स्वीकार कर लिया था।

अरब के विविध राज्यों में सौदी अरेबिया ही एकमात्र ऐसा राज्य था, जो ब्रिटेन या फ्रांस के आधिपत्य और प्रभाव से मुक्त था, और जिसे वस्तुतः स्वतन्त्र कहा जा सकता था। नेज्द के प्रदेश में इस वहाबी राज्य की किस प्रकार स्थापना हुई थी, यह पिछले अध्याय में लिखा जा चुका है। १९२५ में इसके राजा अब्दुल अजीज इब्न सऊद ने मक्का और मदीना के हज्जाज राज्य की भी विजय कर ली थी, और इस प्रकार अपने अधिकार-क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर लिया था। हज्जाज के दक्षिण में एक अन्य छोटा-सा राज्य था, जिसे असिर कहते थे। इसके इद्रिसी राजा पहले भी इब्न सऊद की अधीनता स्वीकार करते थे, पर उसके राजवंश के पारस्परिक झगड़ों से लाभ उठाकर इब्न सऊद ने उसे पूर्णतया अपने अधीन कर लिया था और उसकी स्वतन्त्र सत्ता का अन्त कर उसे सीधे अपने शासन में ले लिया था। अपने सुविस्तृत राज्य का शासन करने के लिए इब्न सऊद ने उसे दो भागों में विभक्त किया था, नज्द और हज्जाज। नज्द का शासन युवराज (वली अल-अहद) के सुपुर्द था, जिसका नाम सऊद था, और हज्जाज का शासन छोटे लड़के फैजल के। सब शासनशक्ति राजा या उसके पुत्रों के हाथों में थी। किसी प्रतिनिधि-सभा या राष्ट्रीय सभा का निर्माण सौदी अरेबिया के इस राज्य में नहीं किया गया था। उच्च राजकीय पदों पर केवल अरबों को ही नियुक्त किया जाता था, फ्रांस या ब्रिटेन आदि पाश्चात्य राज्यों के विशेषज्ञों को इस राज्य के शासन में कोई स्थान नहीं दिया गया था। जिन पदों के लिये सौदी अरेबिया की प्रजा से उपयुक्त व्यक्ति न मिल सकते, उन पर ईजिप्ट, सीरिया और लेबेनान के अरबों को नियुक्त किया जाता था, जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के सम्पर्क में आ चुकने के कारण अच्छी उन्नत दशा में थे। राज्य का शासन कुरान और शरायत के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाता था, और जिसे 'आधुनिकता' कहते हैं, उसका प्रवेश इस राज्य में नहीं हुआ था। पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास में अब्दुल अजीज इब्न सऊद का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसके कर्तृत्व के कारण अरब प्रायद्वीप में एक शक्तिशाली व पूर्णतया स्वतन्त्र अरब राज्य की स्थापना हुई, और अरब लोगों को यह अनुभव करने का अवसर मिला, कि विश्व की राजनीति में उनका भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह केवल एक विजेता ही नहीं था, अपितु उत्कृष्ट कोटि का राजनीतिज्ञ भी था। वह भलीभांति समझता था, कि उसके अपने राज्य की सीमा पर जो अन्य अरब राज्य (पैलेस्टाइन आदि) विद्यमान हैं, वे ब्रिटेन के प्रभाव व प्रभुत्व में हैं। अतः ब्रिटेन के साथ मैत्री का सम्बन्ध रखना उपयोगी है। पर साथ ही यह भी आवश्यक है, कि अपनी शक्ति को इतना सुदृढ़ बना लिया जाय, ताकि ब्रिटेन उसके अपने राज्य को किसी भी प्रकार हानि न पहुंचा सके या उसकी स्वतन्त्रता को मर्यादित न कर सके। अपनी सैनिक शक्ति की वृद्धि के लिये वह ब्रिटेन की सहायता पर निर्भर नहीं रह सकता था, इस कारण १९३७ में उसने ईराक में स्थित जर्मन राज-प्रतिनिधि डा० ग्रोब्बा के साथ सम्पर्क स्थापित किया, और जर्मनी से युद्ध-सामग्री प्राप्त करने के लिये बातचीत शुरू की। पर १९३९ में जब बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो उसने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। वह जानता था, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाने पर वह अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम नहीं रख सकेगा। इसीलिए उसने उनके साथ मैत्री-सम्बन्ध को कायम रखा।

अरब प्रायद्वीप के अन्य राज्यों में येमन का उल्लेख करना भी आवश्यक है। यह राज्य अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पश्चिमी कोने में स्थित है। इसका क्षेत्रफल ७४,००० वर्गमील था, और आबादी ४५ लाख के लगभग था। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक अन्य अरब प्रदेशों के समान यह भी तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत था, और इसके वंशक्रमानुगत राजा तुर्क सुलतान की अधीनता स्वीकार करते थे। महायुद्ध काल में येमन का राजा सुलतान के प्रति अनुरक्त रहा, और अन्य अरब राज्यों व प्रदेशों के समान उसने इस अवसर का प्रयोग अपनी स्वतन्त्रता के लिये नहीं किया। इसी लिये ब्रिटिश जहाजों ने अनेक बार उसके बन्दरगाहों पर बम्बवर्षा भी की थी। पर महायुद्ध में परास्त हो जाने के कारण १९१८ में जब तुर्कों ने आत्मसमर्पण कर दिया और तुर्क साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, तो येमन भी उसकी अधीनता से मुक्त हो गया, और उसके राजा (जिसे इमाम कहते थे) को पूर्णरूप से स्वतन्त्र होने का अवसर मिल गया। १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ हुआ, तो येमन एक स्वाधीन राज्य के रूप में विद्यमान था। क्योंकि उसकी सीमा अदन के संरक्षित राज्य के साथ लगती थी, अतः यह स्वाभाविक था कि सीमा के सम्बन्ध में ब्रिटेन और येमन में मतभेद हों। पर इनका निर्णय साना की सन्धि (१९३४) द्वारा कर लिया गया था, जिसके कारण ब्रिटेन और येमन में मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गया था। १९३९-४५ के महायुद्ध में येमन तटस्थ रहा, और उसने अपने क्षेत्र में किसी भी पक्ष को हस्तक्षेप नहीं करने दिया।

ट्रांस-जोर्डन, सौदी अरेबिया और येमन के अतिरिक्त अरब प्रायद्वीप में कतिपय अन्य प्रदेश भी ऐसे हैं, जिनका परिचय पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास के लिये बहुत उपयोगी है। ये प्रदेश अदन कोलोनी तथा अदन प्रोटेक्टोरेट और ईरान की खाड़ी के तटवर्ती कतिपय शेखडम हैं, जिनमें कुवैत, कतार और बहराइन मुख्य हैं। अदन की स्थिति येमन के पूर्व में है, और यह भी अरब प्रायद्वीप के दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। अदन कोलोनी और प्रोटेक्टोरेट का क्षेत्रफल १,१२,००० वर्गमील था, और इसमें सोकोटरा तथा पेरिम आदि के द्वीप भी अन्तर्गत थे। लाल सागर के दक्षिणी कोने पर स्थित होने के कारण अदन बन्दरगाह का सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व है। इसीलिये १८३९ में ब्रिटेन ने इस पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अपने भारतीय साम्राज्य के लिये वह इस बन्दरगाह को बहुत महत्त्व देता था, क्योंकि इसकी किलाबन्दी करके वह पूर्व को आने-जाने के मार्ग को अपने प्रभुत्व में रख सकता था। अदन कोलोनी क्षेत्रफल में केवल ८० वर्ग मील था, और वह ब्रिटेन के सीधे शासन में था। ब्रिटेन ने वहां किलाबन्दी की हुई थी, और वह उसका एक महत्त्वपूर्ण नाविक अड्डा था। इस काल में उसकी आबादी १,४०,००० के लगभग है। १८३९ में स्थायी रूप से अदन पर कब्जा करके ब्रिटेन ने उसकी उन्नति पर बहुत ध्यान दिया, जिसके कारण वह उसकी नाविक शक्ति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया। अदन कोलोनी के साथ लगा हुआ जो प्रदेश अरब प्रोटेक्टोरेट कहाता था, उस पर ब्रिटेन का सीधा शासन नहीं था। यह प्रदेश बहुत-से छोटे बड़े राज्यों में विभक्त था, जिनके राजा या सुलतान ब्रिटेन को अपना संरक्षक स्वीकार करते थे। इन राज्यों की कुल संख्या २० के लगभग थी। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ तक इन सब राज्यों के सुलतानों ने ब्रिटेन के साथ ऐसी सन्धियां कर ली थीं, जिनके कारण उन पर ब्रिटेन का संरक्षण स्थापित हो गया था। इन सन्धियों द्वारा इन सुलतानों ने यह स्वीकार किया था, कि धार्मिक मामलों के अतिरिक्त अन्य सब मामलों में वे ब्रिटिश रेजिडेन्टों के परा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्श के अनुसार कार्य किया करेंगे। इसीलिये इन सब राज्यों में ब्रिटेन की ओर से रेजिडेन्टों की नियुक्ति की जाती थी, जो अदन कोलोनी के गवर्नर के अधीन रहते हुए इन राज्यों के सुलतानों को परामर्श देने का कार्य किया करते थे। जहां तक विदेशी सम्बन्धों का प्रश्न है, ये राज्य पूर्णतया ब्रिटेन की अधीनता में थे, और अपने आन्तरिक शासन में भी ये कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते थे, जो ब्रिटिश सरकार को स्वीकार्य न हो। इनकी स्थिति प्रायः वही थी, जो भारत में ब्रिटिश शासन के युग में देसी रियासतों के राजाओं की थी। बीसवीं सदी के दो महायुद्धों के बीच के काल में अरब और अदन प्रोटेक्टोरेट के रूप में ब्रिटेन को एक ऐसा क्षेत्र प्राप्त था, जिसे केन्द्र बनाकर वह अपने विशाल प्राच्य साम्राज्य की भलीभांति रक्षा कर सकता था। इनकी स्थिति बाद में भी प्रायः यही रही, यद्यपि इनमें राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना जोर पकड़ती गई। इसी भावना के कारण बाद में ब्रिटेन को इनके सम्बन्ध में अनेक नई व्यवस्थाएं करनी पड़ीं, जिन पर हम आगे चल कर यथास्थान प्रकाश डालेंगे।

अरब प्रायद्वीप के जो प्रदेश ईरान की खाड़ी के तट पर स्थित हैं, उनमें अनेक शेख-राज्यों (शेखडमों) की सत्ता है, जिनके राजा (शेख) स्वतन्त्र होते हुए भी ब्रिटिश सरकार के प्रभाव एवं प्रभुत्व में थे। इन शेखडमों में कतार, कुवैत और बहराइन प्रधान हैं। इनके अतिक्ति सात अन्य भी शेखडम इस क्षेत्र में हैं, जिन्हें सम्मिलित रूप से 'ट्रुसियल कोस्ट' (Trucial Coast) के शेखडम कहा जाता है। अपने आन्तरिक शासन में स्वतन्त्र होते हुए भी इनके राजा विदेशी नीति व परराष्ट्र-सम्बन्ध के मामलों में ब्रिटेन के अधीन थे, और उसकी सरकार द्वारा नियुक्त रेजिडेन्ट के परामर्श के अनुसार कार्य करते थे। पिछले वर्षों में इन राज्यों के क्षेत्र में मिट्टी का तेल प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो गया है, और उसके लिए कुएँ खोदने तथा तेल निकाल कर विक्रय करने के अधिकार विदेशी राज्यों ने प्राप्त कर लिये हैं। इस कार्य के लिये जो कम्पनियां बनी हैं, वे सब प्रायः अंग्रेजी हैं, और इस कारण भी इन शेख-राज्यों पर ब्रिटेन का प्रभाव बहुत बढ़ गया था।

कुवैत शेख-राज्य ईरान की खाड़ी के उत्तरी क्षेत्र में विद्यमान है। इसका क्षेत्रफल ९,००० वर्गमील के लगभग है, और आबादी चार लाख से कुछ ऊपर। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण यह राज्य बड़े महत्त्व का है, क्योंकि ईरान की खाड़ी का मार्ग इसके समीप से होकर जाता है। जब पाश्चात्य देशों ने एशिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार प्रारम्भ किया, तो स्वाभाविक रूप से उनका ध्यान इसकी ओर भी गया, और उन्होंने इसे अपने प्रभाव में ले आने के लिये यत्न शुरू किया। इसमें ब्रिटिश लोग सफल हुए। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक यह राज्य ब्रिटेन के संरक्षण में आ गया था, और वहां एक ब्रिटिश एजेन्ट की नियुक्ति कर दी गई थी। महायुद्ध (१८१४-१८) के समय में ब्रिटिश सेनाओं ने इस राज्य पर भी कब्जा कर लिया था, क्योंकि ब्रिटेन यह नहीं चाहता था कि तुर्की या जर्मनी उस पर आक्रमण कर उसका उपयोग ईरान की खाड़ी पर अपने प्रभुत्व को स्थापित करने के लिये कर सकें। इस समय से कुवैत पूर्णतया ब्रिटेन के संरक्षण व प्रभाव में आ गया, और उसकी विदेशी नीति और आर्थिक योजनाओं का ब्रिटिश सरकार द्वारा ही संचालन किया जाने लगा।

ईरान की खाड़ी के अरब-तट के समीप बहराइन एक छोटा-सा द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल केवल २१३ वर्गमील है, और जनसंख्या डेढ़ लाख के लगभग है। पर यह भी एक स्वतन्त्र शेख-राज्य है, तेल की उपलब्धि के कारण जिसका महत्त्व बहुत बढ़ गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। १८८० तक इस छोटे-से द्वीप के राजा पूर्णतया स्वतन्त्र थे, यद्यपि ईरान का यह दावा था कि यह द्वीप उसके अधीन है। एशिया में अपने प्रभुत्व का विस्तार करते हुए ब्रिटेन का ध्यान इस द्वीप की ओर से भी आकृष्ट हुआ, और उसने इसे भी अपने संरक्षण व प्रभाव में लाने का प्रयत्न किया। इसीलिए १८८२ में उसने बहराइन के शेख के साथ एक सन्धि की, जिसके द्वारा शेख ने यह स्वीकार किया कि वह ब्रिटिश सरकार की अनुमति के बिना किसी अन्य राज्य के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखेगा। महायुद्ध के समय में जब ब्रिटेन ने तुर्की को परास्त करने के लिए ईराक पर आक्रमण किया, तो बहराइन को ही उसने अपनी सेना का केन्द्र बनाया। ईराक पर आक्रमण करने का कार्य भारतीय सेना के सुपुर्द था। भारतीय सेनाएं पहले बहराइन में एकत्र होती थीं, और वहां से ईराक पर हमला करती थीं। तेल की उपलब्धि के कारण जब इस द्वीप का महत्त्व बहुत बढ़ गया, तो अंग्रेजों ने वहां के शेख के साथ यह समझौता किया, कि तेल निकालने का कार्य बहराइन की सरकार न स्वयं करेगी और न किसी अन्य राज्य को ब्रिटेन की अनुमति के बिना यह कार्य करने देगी। बहराइन पर अब तक भी ब्रिटेन का संरक्षण विद्यमान है, और उसकी विदेशी व आर्थिक नीति का संचालन ब्रिटेन द्वारा ही किया जाता है।

कतार का शेखराज्य कुवैत के दक्षिण में है। क्षेत्रफल में यह ४,००० वर्गमील के लगभग है, और इसकी आबादी ६०,००० से कुछ ही अधिक है। एशिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित करते हुए ब्रिटेन ने इस राज्य को भी अपने संरक्षण में ले लिया, और उससे ऐसे सम्बन्ध स्थापित किये, जिनके कारण उसकी विदेशी तथा आर्थिक नीति ब्रिटेन के हाथों में आ गई। तेल की दृष्टि से यह राज्य भी बड़े महत्त्व का है। १९२४ में ही ब्रिटेन की ओर से इन प्रदेशों में तेल की तलाश शुरू कर दी गई थी, और १९३० में वहां तेल की सत्ता का पता भी लग गया था। १९३५ में कतार के क्षेत्र से तेल निकालने का एकाधिकार एक अंग्रेज कम्पनी ने प्राप्त कर लिया था, जिसके कारण वहां ब्रिटेन का प्रभुत्व व संरक्षण बहुत सुदृढ़ हो गया है।

ट्रूसियल कोस्ट के शेखराज्य संख्या में सात हैं, और इनके प्रदेश भी तेल की दृष्टि से बहुत समृद्ध हैं। इनका क्षेत्रफल ३२,३०० वर्गमील है, और जनसंख्या १,८०,००० के लगभग है। कतार, और बहराइन के समान ये भी ब्रिटेन के संरक्षण में हैं, और इनके क्षेत्र से तेल निकालने के अधिकार भी प्रायः ब्रिटिश कम्पनियों के ही पास हैं।

ईरान की खाड़ी के तटवर्ती ये विभिन्न अरब प्रदेश जो ब्रिटेन के संरक्षण तथा प्रभाव में आ गये, पहले तो इसका कारण यह था कि भारत आदि प्राच्य देशों में आने-जाने के लिये और उनको अपने प्रभुत्व में रखने के लिए ईरान की खाड़ी का बहुत महत्त्व था। ब्रिटेन नहीं चाहता था, कि इस मार्ग पर स्थित इन प्रदेशों को कोई अन्य राज्य अपने आधिपत्य में ले आये। इसीलिए उसने इनके शेखों के साथ सन्धियां की थीं, और इनकी विदेश-नीति को अपने अधीन कर लिया था। पर १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जब इन प्रदेशों में तेल की अपरिमित मात्रा में सत्ता का पता लगा, तो ब्रिटेन की दृष्टि में इनका महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। आधुनिक वैज्ञानिक युग में मिट्टी का तेल और उससे तैयार होने वाले पेट्रोल आदि का बहुत महत्त्व है। इसी लिए उन्हें 'द्रव सोना' भी कहा जाता है। स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन की यह इच्छा थी, कि इस तेल को निकालने का एकाधिकार ब्रिटिश कम्पनियों को ही प्राप्त हो। इन राज्यों के शेख यह कार्य स्वयं तो कर ही नहीं सकते थे, क्योंकि न उसके पास पर्याप्त पूंजी थी, और न शिल्प-सम्बन्धी वह उच्च ज्ञान जो तेल के कुओं के लिए अपेक्षित है। ब्रिटिश कम्पनियों ने प्रचुर मात्रा में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रायल्टी प्रदान करना स्वीकार कर तेल के उद्योग को अपने हाथों में ले लिया। शेख उस रायल्टी से संतुष्ट थे, जो उन्हें प्रतिवर्ष प्राप्त होती थी। उनकी आमदनी का यही मुख्य साधन था। इसे प्राप्त कर वे बड़े वैभव और शान-शौकत के साथ रहने लगे, और उन्हें इस बात की कोई चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं हुई, कि उनके राज्यों की अपार सम्पत्ति ब्रिटिश लोग अपने लाभ के लिए प्रयुक्त कर रहे हैं। इन शेख-राज्यों को अपने संरक्षण तथा प्रभाव में लाकर अरब प्रायद्वीप के इन प्रदेशों पर ब्रिटेन का एक प्रकार का आर्थिक साम्राज्य स्थापित हो गया है।

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व अरब प्रायद्वीप के एक अन्य राज्य का उल्लेख करना भी उपयोगी है, जो इस प्रायद्वीप के दक्षिण-पूर्वी कोने में स्थित है। इसे मस्कत और ओमन का राज्य कहते हैं। क्षेत्रफल में यह ८२,००० वर्गमील है, यद्यपि इसकी आबादी आठ लाख से भी कम है। ईरान की खाड़ी के पूर्व में हिन्द महासागर के तट पर स्थित होने के कारण मस्कत का नाविक महत्त्व बहुत अधिक है। इसीलिये सोलहवीं सदी के शुरू में जब पोर्तुगीज नाविकों ने प्राच्य देशों में आना-जाना शुरू किया, तो उन्होंने मस्कत पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया (१५०८)। पर देर तक वे इसे अपने अधीन नहीं रख सके। शीघ्र ही, वहां के अरबों ने पोर्तुगीजों को निकाल कर बाहर कर दिया (१६५०), और मस्कत तथा ओमन के प्रदेशों में एक शक्तिशाली स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। अठारहवीं सदी में पूर्वी अफ्रीका के भी कतिपय प्रदेश इस राज्य की अधीनता में आ गये थे, यद्यपि बाद में वहां एक पृथक् अरब सल्तनत की स्थापना हुई। भारत आदि प्राच्य प्रदेशों में अपने प्रभुत्व का विस्तार करते हुए ब्रिटेन ने मस्कत-ओमन के सुलतान की ओर भी ध्यान दिया, और १८९१ में उसके साथ एक ऐसी सन्धि की, जिस के द्वारा सुलतान ने यह स्वीकार कर लिया कि वह ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य किसी राज्य को अपना कोई प्रदेश किसी भी प्रकार के उपयोग के लिये प्रदान नहीं करेगा। महायुद्ध के बाद के काल में मस्कत और ओमन के राज्य पर ब्रिटेन के प्रभाव में और भी अधिक वृद्धि हुई। वहां की सेना के संगठन के लिए ब्रिटिश अफसर नियुक्त किये गये, और अन्य अनेक उच्च सरकारी पदों पर भी ब्रिटिश कर्मचारियों को रखा जाना शुरू किया गया। सुलतान ने यह भी स्वीकार किया, कि उसके राज्य में ब्रिटेन के अतिरिक्त किसी अन्य राज्य का राज-प्रतिनिधि नहीं रहेगा।

बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय १९३९ में अरब प्रायद्वीप की जो राजनीतिक दशा थी, उसमें केवल सौदी अरेबिया ही एक ऐसा राज्य था, जिसे पूर्णतया स्वतन्त्र कहा जा सकता था। येमन, ट्रांस-जोर्डन, मस्कत और ओमन, और कुवैत आदि ईरान की खाड़ी के शेखडम—ये सब कम या अधिक अंश में ब्रिटेन के प्रभुत्व में थे, अदन कोलोनी सीधा ब्रिटेन के शासन में था, और उसके समीपवर्ती प्रदेशों के छोटे-छोटे सुलतान ब्रिटेन की संरक्षकता को स्वीकार करते थे। १९३९-४५ के युद्धकाल और उसके बाद के पश्चिमी एशिया के इतिहास को समझने के लिए अरब प्रायद्वीप की इस राजनीतिक दशा को दृष्टि में रखना आवश्यक है।

(७) ईरान की प्रगति

महायुद्ध (१९१४-१८) से पूर्व के ईरान के इतिहास पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। महायुद्ध में रूस और ब्रिटेन एक पक्ष में थे, और जर्मनी के असाधारण उत्कर्ष के कारण वे एक दूसरे के मित्र बन गये थे। एशिया में साम्राज्य-विस्तार के सम्बन्ध में इन दो शक्तिशाली देशों में जो प्रतिद्वन्द्विता देर से चली आ रही थी, १९०७ के समझौते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा उसका अन्त हो गया था। इस समझौते के अनुसार ईरान को तीन भागों में विभक्त किया गया था—(१) उत्तरी ईरान, जिस पर रूस को अपना प्रभाव स्थापित करने का पूरा-पूरा अवसर रहे। (२) दक्षिणी तथा दक्षिणी-पूर्वी ईरान, जिस पर अपना प्रभाव स्थापित करने के सम्बन्ध में ब्रिटेन को पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त रहे। (३) मध्य ईरान, जो किसी विदेशी राज्य के प्रभाव में न हो, और जहां ईरान के शाह का सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न शासन कायम रहे। अपने देश के इस प्रकार ब्रिटेन और रूस का प्रभाव-क्षेत्र बन जाने के कारण ईरान के देशभक्तों में असन्तोष होना सर्वथा स्वाभाविक था। जब उन्होंने १९०७ के समझौते के विरुद्ध आवाज उठाई, तो तेहरान में स्थित ब्रिटिश और रूसी राजदूतों ने वहां के शाह (मुहम्मद अली शाह) का ध्यान जनता की इस उत्तेजना की ओर आकृष्ट किया। ईरान की मजलिस (पार्लियामेन्ट) भी इस समझौते के विरुद्ध आन्दोलन में तत्पर थी। शाह इसे नहीं सह सका, क्योंकि वह पूर्णतया रूस और ब्रिटेन के प्रभाव में था। रूसी सेना की सहायता से उसने मजलिस को भंग कर दिया। जिन्होंने इस विदेशी सेना का मुकाबिला करने का प्रयत्न किया, उन्हें मौत के घाट उतार दिया गया (१९०८)। पर इससे ईरान की राष्ट्रवादी प्रवृत्तियां नष्ट नहीं हो गईं। अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए, और देश-भक्त ईरानी लोग मुहम्मद अली शाह के शासन का अन्त कर देने के लिए कटिबद्ध हो गये। यही समय था, जब तुर्की में तरुण तुर्क पार्टी ने राज्य क्रान्ति द्वारा सुलतान के स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करके वैधानिक शासन की स्थापना में सफलता प्राप्त की थी। ईरान के राष्ट्रीय नेताओं को इससे बहुत बल मिला, और वे भी शाह की निरंकुश प्रवृत्तियों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। राष्ट्रवादी लोगों की एक सेना ने तेहरान पर आक्रमण कर उसे अपने कब्जे में कर लिया (जुलाई, १९०९), और शाह को अपनी जान बचाने के लिए रूस के लीगेशन में जाकर आश्रय लेना पड़ा। मजलिस ने मुहम्मद अली शाह को राजगद्दी से उतार कर उसके नाबालिग पुत्र अहमदशाह को राज-सिंहासन पर बिठाने का निश्चय किया। पर रूस की सहायता मुहम्मद अली शाह को प्राप्त थी। रूसी सेना की सहायता से उसने एक बार फिर ईरान पर अपना शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। ईरान के राष्ट्रीय नेता इस समय अपने देश की आन्तरिक दशा को सुधारने में तत्पर थे। मोर्गन शुस्तर नाम के एक अमेरिकन अर्थशास्त्री को उन्होंने ईरान की आर्थिक व्यवस्था में सुधार करने के लिए नियत किया था, और उसे अपने प्रयत्न में अच्छी सफलता भी प्राप्त हुई। सरकारी बजट का उसने इस ढंग से निर्माण किया, जिससे व्यय आय से अधिक न हो। पर रूस और ब्रिटेन—दोनों ही इस बात के लिए उत्सुक थे, कि ईरान की दशा संभलने न पाए, और वे अपने-अपने प्रभाव-क्षेत्र में मनमाने ढंग से उसका शोषण करते रह सकें। १९११ में रूस ने ईरानी सरकार को यह अल्टिमेटम दिया, कि मोर्गन शुस्तर को बर्खास्त कर दिया जाय और भविष्य में किसी भी विदेशी विशेषज्ञ की नियुक्ति रूस और ब्रिटेन की सहमति के बिना न की जाए। ईरान की सरकार इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुई, जिसके कारण रूस ने एक षड्यन्त्र द्वारा मजलिस और राष्ट्रीय सरकार—दोनों को भंग करा दिया। रूस की इच्छा के अनुसार जो नई सरकार कायम हुई, उसने रूसी अल्टिमेटम को स्वीकार कर मार्गन शुस्तर को अपने पद से हटा दिया (दिसम्बर, १९११), राष्ट्रीय नेताओं को गिरफ्तार कर जेल में बन्द कर दिया, और १९१४ के मध्य तक मजलिस के अधिवेशन को बुलाया ही नहीं। ईरान की यह सरकार इस समय पूर्णतया रूस और ब्रिटेन के हाथों में कठपुतली के समान थी, और ये दोनों देश—जो १९०७ के समझौते के बाद पूर्णतया एक दूसरे के मित्र बन गये थे—ईरान के शोषण में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्पर हो गये थे। १९१४ में अहमदशाह बालिग हो गया, अतः उसके राज्याभिषेक की व्यवस्था की गई। इस समय मजलिस का नया चुनाव भी कराया गया, जिसमें राष्ट्रीय लोकतन्त्र (डेमोक्रेटिक) पार्टी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। मजलिस में उसे बहुमत प्राप्त हो गया।

१९१४ के सितम्बर मास में जब प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो ईरान के राष्ट्रीय नेताओं की सहानुभूति तुर्की और जर्मनी के साथ थी। ब्रिटेन और रूस जिस ढंग से उनके देश का शोषण कर रहे थे और जिस प्रकार उन्होंने वहां के शासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था, उससे छुटकारा पाने के लिये उन्हें यही उपाय क्रियात्मक प्रतीत होता था कि वे जर्मनी के पक्ष की ओर झुकें। इस दशा में १९१५ की शरद ऋतु में रूसी सेनाओं ने ईरान पर आक्रमण कर दिया, और उसके उत्तर-पूर्वी प्रदेशों पर कब्जा कर लिया। ब्रिटिश सेनाओं ने भी दक्षिण की ओर से आगे बढ़ना शुरू किया। इन शक्तिशाली आक्रान्ताओं के सम्मुख ईरान की सरकार पूर्णतया असहाय थी। रूस और ब्रिटेन का जो भी मुकाबिला इस समय ईरान के क्षेत्र में किया गया, वह तुर्की सेनाओं द्वारा ही था। १९१७ में बोल्शेविक राज्यक्रान्ति के कारण जब रूस युद्ध से अलग हो गया, तो ब्रिटिश सेनाओं ने उत्तरी ईरान में भी प्रवेश किया और उस पर कब्जा कर लिया। रूस की नई बोल्शेविक सरकार साम्राज्यवाद के विरुद्ध थी, इस कारण उसने स्वेच्छापूर्वक उन सब विशेषाधिकारों का परित्याग कर दिया, जो जार के काल में रूस को ईरान में प्राप्त थे। ब्रिटेन ने इस स्थिति से लाभ उठाया और सम्पूर्ण ईरान को अपने प्रभाव व प्रभुत्व में ले आने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। पर ईरान में राष्ट्रीय भावना का सर्वथा अभाव नहीं था। कुचिक खां नाम के एक वीर नेता के नेतृत्व में ईरानी देशभक्तों ने एक सेना को संगठित किया, और उत्तरी ईरान के प्रदेशों में ब्रिटिश सेना के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया।

१९१८ में जब महायुद्ध का अन्त हुआ, तो ईरान में सर्वत्र अव्यवस्था मची हुई थी। उसके अनेक प्रदेशों पर विदेशी सेनाओं का कब्जा था, और सरकार उनके सम्मुख असहाय थी। इस दशा में ब्रिटेन ने यह प्रयत्न किया, कि ईरान की निर्बलता व असहाय दशा से लाभ उठाकर उसकी सरकार से एक ऐसी सन्धि कर ली जाए, जिसके द्वारा यह देश स्थायी रूप से उसके प्रभाव व प्रभुत्व में आ जाए। इसीलिये तेहरान में स्थित ब्रिटिश राजप्रतिनिधि सर पर्सी कोक्स ने ईरान की सरकार से एक नई सन्धि की, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) ईरान के शासन में सरकार की सहायता के लिए ब्रिटिश परामर्शदाताओं की नियुक्ति की जाए। (२) ईरान की सेना में कमी की जाए, और उन के संगठन के लिए ब्रिटिश अफसरों को नियुक्त किया जाए। ईरान अस्त्र-शस्त्र और अन्य सब युद्धसामग्री ब्रिटेन से ही क्रय किया करे। (३) ईरान में यातायात के साधनों के विकास में ब्रिटेन सहयोग दे, और उसकी आर्थिक उन्नति के लिए कर्ज भी प्रदान करे। यह सन्धि १९१९ में की गई थी। यद्यपि इसे ईरान की सरकार ने स्वीकृत कर लिया था, पर वहां की मजलिस ने इसकी पुष्टि नहीं की।

यह स्थिति थी, जबकि ईरान के राजनीतिक क्षेत्र में एक महान् व्यक्ति ने प्रवेश किया, जिसका नाम रजा खां था। वह उत्तरी ईरान की सेना में एक कनल था, और रूसी लोगों के सम्पर्क से उसने सैन्य-संचालन में अच्छी दक्षता प्राप्त कर ली थी। ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव व प्रभुत्व के कारण ईरान के राष्ट्रीय विचारों के लोग इस समय अत्यन्त उद्विग्न थे, और जियाउद्दीन नाम के नेता के नेतृत्व में वे अपने देश की पूर्ण स्वा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीनता के लिए आन्दोलन में तत्पर थे। रजा खां ने जियाउद्दीन के साथ सहयोग किया, और २१ फरवरी, १९२१ के दिन एक षड्यन्त्र द्वारा तेहरान पर कब्जा कर लिया। पुरानी सरकार का अन्त कर रजा खां और जियाउद्दीन ने ईरान में एक नई सरकार की स्थापना की, जिसमें जियाउद्दीन ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया और रजा खां ने सदरे-सिपाह या प्रधान सेनापति का। अहमद शाह अब भी ईरान की राजगद्दी पर आरूढ़ रहा, पर वास्तविक शासनशक्ति जियाउद्दीन और रजा खां के हाथों में आ गई। नई सरकार का पहला कार्य रूस के साथ एक नई सन्धि करना था। इस सन्धि (२६ फरवरी, १९२१) के अनुसार रूस की बोल्शेविक सरकार ने उन सब विशेषाधिकारों का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर दिया, जो रूस को ईरान में प्राप्त थे। ईरान की रूसी सरकार और रूसी पूंजीपतियों के प्रति जो भी देनदारी कर्ज आदि के रूप में थी, उसे रद्द कर दिया गया। ईरान में स्थित रूसी बैंक की सब सम्पत्ति किसी भी मुआविजे के बिना ईरान के सुपुर्द कर दी गई, और रूस ने ईरान में जो सड़कें, बन्दरगाह और टैलीग्राफ की लाइनें आदि बनायी थीं, वे सब भी ईरान को प्रदान कर दी गईं। इसके लिये भी कोई मुआविजा रूस ने नहीं लिया। कैस्पियन सागर के दक्षिणी क्षेत्र में जो अनेक छोटे-छोटे द्वीप पहले रूस के अधीन थे, वे भी ईरान को दे दिये, और इस क्षेत्र में अपने जंगी जहाजों को रख सकने के ईरान के अधिकार को स्वीकार किया गया। १९२१ की इस सन्धि की एक महत्त्वपूर्ण शर्त यह भी थी, कि यदि कोई अन्य राज्य ईरान पर हमला करे, तो रूस ईरान की सहायता के लिये अपनी सेना भेज सकेगा। ईरान के लिये यह सन्धि बड़े महत्त्व की थी। इस द्वारा वह रूस के प्रभाव व प्रभुत्व से पूर्णतया मुक्त हो गया था, और इसी से उत्साहित होकर ईरान की सरकार ने ब्रिटेन के साथ की गई १९१९ की सन्धि को रद्द कर दिया। मजलिस ने तो पहले भी इस सन्धि को स्वीकार नहीं किया था।

जियाउद्दीन प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति था। रूस के कम्युनिस्ट सिद्धान्तों का उस पर प्रभाव था। अतः उसने कतिपय ऐसे सुधार करने का प्रयत्न किया, जिनसे ईरान में सामाजिक न्याय की स्थापना हो सके। उसने यत्न किया, कि बड़ी जागीरों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना दिया जाए, और जो भूमि सरकार के स्वत्त्व में आ जाए, उसे खेती के लिये किसानों में बांट दिया जाए। पर अभी ईरान इन प्रगतिशील सुधारों के लिये तैयार नहीं था। जमींदार और जागीरदार लोग जियाउद्दीन के विरुद्ध उठ खड़े हुए, और उसे देश छोड़कर बाहर चले जाने के लिये विवश होना पड़ा। इस दशा में प्रधानमन्त्री का पद भी रजा खां ने संभाल लिया, और सम्पूर्ण राजशक्ति उसी के हाथों में केन्द्रित हो गई (१९२३)। रजा खां अपने देश की उन्नति के लिये बहुत प्रयत्नशील था। वह भलीभांति जानता था, कि देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिये सैन्यशक्ति को उन्नत किये बिना काम नहीं चल सकता। इसीलिये उसने सेना के संगठन पर बहुत ध्यान दिया, और उसके प्रयत्न से ईरानी सेना ने अच्छी उन्नति की। देश में सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सकने में रज़ा खां को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इस समय वास्तविक शासनशक्ति रजा खां ही के हाथों में थी, और वह उसी ढंग से ईरान की उन्नति के लिये तत्पर था जैसे कि कमाल पाशा तुर्की में। अहमद शाह को सरकारी मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं थी, वह अपना अधिकांश समय फ्रांस में बिताया करता था। इस कारण ईरान में यह विचार जोर पकड़ने लगा, कि उसे राजा के पद से च्युत कर देना चाहिये। रजा खां की अपनी इच्छा तो यह थी, कि ईरान से राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की जाए। राजा की अपेक्षा राष्ट्रपति बनना उसे अधिक पसन्द था। पर ईरान की दशा अभी ऐसी नहीं थी, कि वहां रिपब्लिक की स्थापना की जा सके। अक्टूबर, १९२५ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजलिस के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि अहमद शाह को पदच्युत कर ईरान से कजर राजवंश के शासन का अन्त कर दिया जाए, और रजा खां को वहां की राजगद्दी सौंप दी जाए। बहुत बड़े बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार हो गया, और रजा खां ने रजा-शाह के नाम ईरान का शाहंशाह होना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार ईरान के इति-हास में एक नये राजवंश का प्रारम्भ हुआ, जिसे 'पहलवी वंश' कहते हैं।

निस्सन्देह, रजाशाह एक अत्यन्त योग्य शासक था। ईरान की उन्नति के लिये उसने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसी द्वारा ईरान में पहले-पहल वाधित सनिक शिक्षा और वाधित सैनिक सेवा की पद्धतियों का सूत्रपात किया गया, जिसके कारण ईरान की सैन्य-शक्ति बहुत बढ़ गई। वह स्वयं एक उत्कृष्ट सेनानी था, और उत्तरी ईरान की एक ऐसी सेना में अफसर रहा था, जिसके बड़े सेनापति रूसी थे। उसने सेना को नये ढंग से संगठित करने पर भी बहुत ध्यान दिया। ईरान में यातायात व आवागमन के साधनों की उन्नति के लिये उसने ट्रांस-ईरानियन रेलवे का निर्माण कराया, जिसके कारण उत्तरी और दक्षिणी ईरान के रेलवे सिस्टम में सम्पर्क स्थापित हो गया। देश की आर्थिक दशा और सरकारी आय-व्यय की संभाल के लिये उसने एक अमेरिकन विशेषज्ञ की भी नियुक्ति की। शिक्षा के प्रसार के लिये बहुत-से नये स्कूल और कालिज खोले गये, जिनमें शिक्षा की पाश्चात्य पद्धति को अपनाया गया। कमाल पाशा के समान रजाशाह भी ईरान को एक आधुनिक राज्य बनाने के लिये उत्सुक था। इसीलिये उसने स्त्रियों को परदे में रखने के खिलाफ आवाज उठाई, और पुरुषों तथा स्त्रियों को इस बात के लिये प्रेरित किया कि वे यूरोपियन पोशाक को अपनायें। इस प्रयत्न में उसे सफलता भी प्राप्त हुई, और नगरों में स्त्रियां परदे का बहिष्कार करने के लिये तैयार हो गई। ईरानी लोगों पर मुल्लाओं का जो प्रभाव था, उसे दूर करने का भी रजाशाह ने प्रयत्न किया। कमल पाशा के समान वह भी अपने देश को एक धर्मनिरपेक्ष (सिक्युलर) राज्य बनाना चाहता था। पर उसे अपने प्रयत्नों में उतनी सफलता नहीं हुई, जितनी कि कमाल पाशा को हुई थी। इस का कारण यह था, कि ईरान यूरोप से अधिक दूर था और वहां के लोगों को पाश्चात्य सभ्यता के सम्पर्क में आ सकने का अधिक अवसर नहीं मिला था। कमाल पाशा के समान रजाशाह ने रोमन लिपि को नहीं अपनाया, और फारसी लिपि को ही अपने देश में कायम रखा।

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के आरम्भ होने तक रजाशाह ही ईरान का कर्ता-धर्त्ता रहा। अपने सुदीर्घ शासन काल (१९२१-१९४१) में उसने जिस नीति का प्रयोग किया, उसका उद्देश्य यह था कि ब्रिटेन तथा रूस आदि देश ईरान पर अपने प्रभुत्व का विस्तार न कर सकें, और उसकी स्वतन्त्रता अक्षुण्ण रहे। इसीलिए अनेक प्रश्नों पर उसका ब्रिटेन के साथ टकराव भी हुआ। बहराइन के शेखडम के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके हैं। ईरान की खाड़ी में स्थित यह द्वीप ब्रिटेन के शोषण एवं प्रभुत्व में आ चुका था। रजाशाह समझता था, कि इस द्वीप को ईरान की अधीनता में होना चाहिये। उसने इसे ब्रिटिश प्रभुत्व से मुक्त कराने का प्रयत्न किया, यद्यपि इस कार्य में वह सफल नहीं हो सका। पर रजाशाह का ब्रिटेन के साथ मुख्य संघर्ष तेल के प्रश्न पर हुआ। ईरान में तेल की तलाश ब्रिटिश लोगों द्वारा की गई थी, और उन्होंने ही दक्षिणी ईरान के क्षेत्र में तेल निकालने के अधिकार प्राप्त किये हुए थे। रजाशाह इन अधिकारों को मर्यादित करना चाहता था, और ईरानी तेल की आमदनी का अधिक बड़ा भाग अपने देश के लिये प्राप्त करना चाहता था। इसमें उसे आंशिक रूप से सफलता भी प्राप्त हुई। पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास में तेल का बहुत अधिक महत्त्व है। अतः इस सम्बन्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रजाशाह द्वारा किये गये संघर्ष पर हम तेल की समस्या पर विचार करते हुए विस्तार के साथ प्रकाश डालेंगे।

ब्रिटेन के मुकाबिले में अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के प्रयोजन से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रजाशाह का झुकाव जर्मनी की ओर अधिक हो गया था, और उसने इस देश के साथ घनिष्ट मैत्री का सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इसीलिये ईरान में उसने अनेक जर्मन विशेषज्ञ नियत किये, और अपने देश के आर्थिक विकास के लिये जर्मनी से सहायता भी प्राप्त की। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के समय (१९३९) तक ईरान पर जर्मनी का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इसके कारण महायुद्ध के समय ईरान को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा, उनका उल्लेख अगले अध्याय में किया जायगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैंतालीसवां अध्याय

द्वितीय महायुद्ध और पश्चिमी एशिया

(१) महायुद्ध से प्रारम्भ के समय पश्चिमी एशिया की दशा

सितम्बर, १९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ था। यह युद्ध केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा, अपितु शीघ्र ही इसने एक संसारव्यापी विश्व संग्राम का रूप धारण कर लिया, और एशिया, अफ्रीका तथा अमेरिका महाद्वीपों के प्रायः सभी देश इसकी लपेट में आ गये। पश्चिमी एशिया के विविध राज्य भी इससे नहीं बच सके, और उनकी राजनीति पर भी इस युद्ध का बहुत प्रभाव पड़ा। अतः यह उपयोगी होगा, कि संक्षेप से यह प्रदर्शित कर दिया जाए, कि महायुद्ध के प्रारम्भ होने के समय इस क्षेत्र के विविध राज्यों की क्या दशा थी।

इस समय तुर्की पूर्णतया स्वाधीन राज्य था, और कमाल पाशा के नेतृत्त्व में वह उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा था। न केवल अपने स्थल क्षेत्रों में अपितु अपने समुद्र में भी तुर्की की स्थिति एक सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य की थी। लोजान की सन्धि (जुलाई, १९२३)के अनुसार ब्रिटेन, फ्रांस, इटली, जापान, बल्गारिया, ग्रीस, रूमानिया और रूस ने इस बात को स्वीकार कर लिया था, कि बोस्पोरस और डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों में सब देशों के व्यापारी जहाज स्वतन्त्रतापूर्वक आ-जा सकें, और युद्ध के अवसर पर यदि तुर्की युद्ध में तटस्थ हो, तो विभिन्न देशों के जंगी जहाजों के भी इन जलडमरूमध्यों द्वारा आने-जाने में कोई रुकावट न हो। बाद में मोन्त्रो की सन्धि (जुलाई, १९३६) द्वारा लोजान की सन्धि के अनुसार की गई व्यवस्था में परिवर्तन हुआ, और यह तय किया गया कि इन जलडमरूमध्यों के दोनों ओर के प्रदेशों में किलाबन्दी कर सकने का तुर्की को अधिकार हो, और युद्ध के समय वह उभयपक्ष के जंगी जहाजों के इन जलमार्गों द्वारा आने-जाने को भी रोक सके। इस समझौते के कारण जल और स्थल —दोनों क्षेत्रों में तुर्की पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया था, और बोस्पोरस तथा डार्डेनल्स के जलडमरूमध्यों पर विदेशी राज्यों का किसी भी प्रकार का नियन्त्रण शेष नहीं रहा था। तुर्की में पाश्चात्य राज्यों को जो भी विशेषाधिकार सुलतानों के शासन-काल में प्राप्त थे, वे सब अब तुर्क रिपब्लिक ने उनसे वापस ले लिये थे। वहां की रेलवे और खान आदि किसी पर भी किसी विदेशी राज्य का प्रभुत्त्व अब शेष नहीं रहा था।

पर विविध अरब राज्यों के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती थी। १९३२ में ईराक राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया था और उसकी स्थिति एक पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य की मान ली गई थी। पर १९३९ तक भी उस पर ब्रिटेन का प्रभाव व प्रभुत्त्व विद्यमान था, और ब्रिटिश सरकार उसके शासन एवं नीति को नियन्त्रित कर सकती थी। सीरिया और लेबेनान अभी फ्रांस के प्रभुत्त्व में थे, और पैलेस्टाइन में यहूदियों तथा अरबों के संघर्ष का अभी अन्त नहीं हुआ था। ब्रिटिश सरकार पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में कोई ऐसी व्यवस्था नहीं कर सकी थी, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। ट्रांस-जोर्डन ने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली थी, पर वह भी अभी ब्रिटेन के प्रभुत्त्व से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्णतया मुक्त नहीं हुआ था। ईजिप्ट नाम को स्वतन्त्र था, पर स्वेज के क्षेत्र में ब्रिटिश सेनाएं अभी विद्यमान थीं, जिसे ईजिप्ट के नेता अपनी स्वतन्त्रता के लिये कलंक समझते थे। अरब प्रायद्वीप में सौदी अरेबिया के स्वतन्त्र राज्य की सत्ता थी, और उसके दक्षिण-पश्चिमी कोने में येमन राज्य को भी स्वतन्त्र कहा जा सकता था। पर अदन और उसके समीप के विविध राज्य, मस्कत और ओमन, और ईरान की खाड़ी के तटवर्ती शेख-राज्य पूर्णतया ब्रिटेन के प्रभुत्व में थे। ईरान रजाशाह के नेतृत्व में उन्नति के मार्ग पर तेजी के साथ अग्रसर हो रहा था, और उसने अपने को विदेशी प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त कर लिया था। १९३९ तक वह इस स्थिति में आ चुका था, कि अपनी विदेशी नीति को पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ निर्धारित कर सके। पर क्योंकि ईरान के क्षेत्र में तेल की उपलब्धी ब्रिटिश पूंजीपतियों द्वारा की गई थी, और उन्होंने उसे निकालने और बेचने के अधिकार प्राप्त किये हुए थे, अतः आर्थिक दृष्टि से ईरान भी ब्रिटेन के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं था।

पश्चिमी एशिया में अरबों के ही प्रदेश इस समय ऐसे थे, जिनमें से अनेक ब्रिटेन या फ्रांस के प्रभुत्व एवं नियन्त्रण में थे। अरब लोग अपनी इस राष्ट्रीय दुर्दशा को अनुभव करते थे, और उनमें यह विचार जोर पकड़ रहा था कि उन्हें न केवल विदेशियों के प्रभुत्व से मुक्त होकर पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए, अपितु साथ ही सब अरब प्रदेशों को मिलाकर एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का संगठन भी करना चाहिए। इस उद्देश्य से वहां अनेक संस्थाएं तथा सभाएं भी स्थापित थीं, जिनमें मिसर अल-फतात (युवक ईजिप्ट), सीरियन राष्ट्रीय पार्टी, डमास्कस की अरब क्लब और सीरियन लीग के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सब संगठनों का उद्देश्य अपने देशों को विदेशी प्रभाव से स्वतन्त्र कर एक शक्तिशाली अरब राज्य का निर्माण करना ही था। इसी प्रयोजन से अनेक बार पान-अरब कान्फरेन्स का भी आयोजन किया गया, जिसमें प्रायः सभी अरब प्रदेशों के प्रतिनिधि एकत्र होते थे। पर चिरकाल से राजनीतिक रूप से पृथक् रहने के कारण इन विविध अरब राज्यों में अपनी पृथक्ता की भावना भी विकसित हो रही थी, और इनमें ऐसे विचारकों की भी कमी नहीं थी, जो पान-अरब आन्दोलन की तुलना में अपने प्रदेशों के उत्कर्ष को अधिक महत्व देते थे। अन्य अरब राज्यों के मुकाबिले में ईजिप्ट अधिक उन्नत था। पाश्चात्य सभ्यता का वहां अधिक प्रवेश हो चुका था, और छापेखाने के बड़ी संख्या में स्थापित हो जाने के कारण वहां से जो पत्र-पत्रिकाएं और अन्य साहित्य प्रकाशित होता था, उसे सम्पूर्ण अरब में पढ़ा जाता था। स्वाभाविक रूप से ईजिप्ट के लोग अरब दुनिया में अपने नेतृत्व को कायम रखना चाहते थे। सौदी अरेबिया एक विशाल राज्य था, और मक्का तथा मदीना जैसे धार्मिक स्थानों के इसी राज्य में स्थित होने के कारण मुस्लिम तथा अरब संसार में उसका महत्त्व बहुत अधिक था। सौदी अरेबिया का राजा इब्न सऊद चाहता था, कि अरब प्रदेशों का संगठन उसी के नेतृत्व में होना चाहिए। पर ईराक और ट्रांस-जोर्डन के राज्यों में इस समय ऐसे राजाओं का शासन था, जो मक्का के हशमी वंश के थे, और शरीफ हुसैन की सन्तान थे। क्योंकि हज्जाज के राज्य की स्वतन्त्रता का अन्त अब्दुल अजीज इब्न सऊद द्वारा किया गया था, अतः स्वाभाविक रूप से ईराक और ट्रांस-जोर्डन के राजा (जो शरीफ हुसैन के वंश के थे) सौदी अरेबिया के प्रति सद्भावना नहीं रखते थे। अरब राज्यों और राजवंशों की इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण अरब की राष्ट्रीय एकता को स्थापित कर सकना सुगम बात नहीं थी। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि इस समय अरबों में राष्ट्रीयता की भावना भली-भांति विकसित हो गई थी। पैलेस्टाइन में यहूदियों और अरबों के संघर्ष से इस भावना को बहुत बल मिला था, और इसी कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिए जो गोलमेज परिषद् लण्डन में हुई थी (१९३९), उसमें प्रायः सभी अरब राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। अरबों की राष्ट्रीय भावना और एक शक्तिशाली अरब राज्य की स्थापना की इच्छा के कारण ही इब्न सऊद अपने इस प्रयत्न में सफल हो सका था, कि अन्य अरब राज्यों के साथ घनिष्ठ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित करे। जुलाई, १९३३ में उसने ट्रांस-जोर्डन के साथ सन्धि कर ली थी; मई, १९३६ में ईजिप्ट से, और एप्रिल, १९३७ में ईराक से। इन सन्धियों का उद्देश्य विविध अरब राज्यों में घनिष्टता और मैत्री की वृद्धि करना और परस्पर मिलकर अरबों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति करना था।

महायुद्ध (१९३९-४५) से पूर्व यूरोप में जिस ढंग से नाजीज्म और फैसिज्म का उत्कर्ष हुआ, उसे यहां लिखने की आवश्यकता नहीं है। नाजी और फैसिस्ट शक्तियां अपने साम्राज्यों का विस्तार करने के लिए प्रयत्नशील थीं। अतः स्वाभाविक रूप से उन का ध्यान पश्चिमी एशिया की ओर आकृष्ट हुआ, जहां अरब लोग अपने कतिपय प्रदेशों से ब्रिटेन और फ्रांस के प्रभुत्त्व का अन्त करने के लिए उद्योग कर रहे थे। उन्होंने इन प्रदेशों में अपने प्रचार-कार्य का प्रारम्भ किया, जिसका उद्देश्य इन प्रदेशों के राष्ट्रीय नेताओं को अपने पक्ष में करना था। सम्भवतः, जर्मनी और इटली ने परस्पर मिलकर यह समझौता भी कर लिया था, कि ईराक और ईरान को जर्मनी अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न करे, और ईजिप्ट तथा सीरिया आदि को इटली। मुसोलिनी अफ्रीका में अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर था, और १९३५-३६ में वह अबीसीनिया की विजय भी कर चुका था। अफ्रीका के समुद्रतट के साथ के प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए वह विशेष रूप से प्रयत्नशील था। इसीलिए उसने दक्षिणी एरेट्रिया के अन्यतम बन्दरगाह अस्सब की किलाबन्दी करना भी शुरू कर दिया था। क्योंकि मुसोलिनी अफ्रीका को अपने साम्राज्य का उपयुक्त क्षेत्र समझता था, अतः उसने ईजिप्ट में अपने प्रभाव का विस्तार करने पर विशेष ध्यान दिया। ईजिप्ट में इटली का जो लीगेशन विद्यमान था, उसे केन्द्र बनाकर मुसोलिनी की फैसिस्ट सरकार ने प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया, और उत्तरी ईजिप्ट के विविध नगरों में जो हजारों इटालियन नागरिक निवास करते थे, उन्होंने भी इस प्रचार-कार्य में सहायता देनी शुरू की। केवल ईजिप्ट में ही नहीं, अपितु अरब प्रदेशों में अन्यत्र भी जहां कहीं इटालियन लीगेशन और ईसाई मिशन आदि विद्यमान थे, सर्वत्र फैसिस्ट प्रोपेगेन्डा के केन्द्र कायम हुए, और उन्होंने ब्रिटेन के विरुद्ध प्रचार शुरू कर दिया। नाजी और फैसिस्ट लोग यहूदियों के बहुत विरुद्ध थे। हिटलर और मुसोलिनी की नीति के कारण फैसिस्ट व्यवस्था वाले यूरोपियन देशों में यहूदियों के लिए रह सकना सम्भव नहीं रहा था। पैलेस्टाइन की यहूदी समस्या को लेकर अरब लोगों में यहूदियों के विरुद्ध जो भावना थी, फैसिस्ट सरकारों ने उसका भी उपयोग किया, और अरबों को ब्रिटेन तथा फ्रांस के विरुद्ध उकसाना प्रारम्भ कर दिया। १९३८ में बर्लिन रेडियो से अरबी भाषा में भाषण दिये जाने लगे, जिनमें अरब लोगों को यहूदियों और ब्रिटेन तथा फ्रांस के खिलाफ भड़काया जाता था। ईराक में जर्मन राजप्रतिनिधि के पद पर डॉ० ग्रोब्बा विद्यमान थे, जो वहां के राष्ट्रीय विचारों के लोगों में ब्रिटेन-विरोधी भावना को उकसाने के लिए प्रयत्नशील थे। यही दशा ईरान में भी थी। जर्मनी ने उसे अपने प्रभाव में ले आने के लिये विशेष रूप से उद्योग किया था। जर्मन लोग कहते थे, कि हम भी आर्य जाति के हैं, और ईरानी भी आर्य जाति की अन्यतम शाखा है। अतः हममें मैत्रीसम्बन्ध होना ही चाहिए। ईरान के कालिजों में जर्मन प्रोफेसर बड़ी संख्या में कार्य कर रहे थे, और ईरानी तथा अरब विद्यार्थियों को छात्रवृत्तियां देकर इस बात के लिए प्रेरित किया जा रहा था, कि वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्च शिक्षा के लिए जर्मन यूनिवर्सिटियों में जाया करें। जर्मनी में प्रोपेगेण्डा के लिए जो फिल्में तैयार होती थीं, उन्हें ईरान में मुफ्त भेजा जाता था। गोबल्स, शाख्ट जैसे बड़े नाजी नेता ईरान और अरब देशों में बार-बार आ-जा रहे थे, ताकि वहां के नेताओं के साथ सम्पर्क स्थापित करें। १९३९ से पूर्व ही यूरोप के विविध राज्य यह भलीभांति अनुभव करने लगे थे, कि महायुद्ध का होना अनिवार्य है। जर्मनी और इटली तब तक अपनी महत्वाकांक्षाओं को पूर्ण नहीं कर सकेंगे, जब तक कि फ्रांस और ब्रिटेन की शक्ति को नष्ट नहीं कर दिया जायेगा। इन दोनों देशों के साम्राज्य दक्षिणी और पूर्वी एशिया में विद्यमान थे। महायुद्ध के समय ये देश भारत और इन्डोचायना आदि अधीनस्थ देशों से धन तथा जन की सहायता का पूरा भरोसा कर सकते थे। पर इस सहायता की प्राप्ति का मार्ग पश्चिमी एशिया से ही था। इस मार्ग पर स्थित प्रदेशों को यदि नाजी और फैसिस्ट देश अपने प्रभाव में ले आते, तो वे फ्रांस और ब्रिटेन के युद्ध-प्रयत्न में भारी रुकावट उत्पन्न कर सकते थे। इसीलिए उन्होंने इन प्रदेशों में अपना प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया, और उसमें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। ईरान, ईराक, पैलेस्टाइन, तुर्की आदि में इस समय ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो नाजी और फैसिस्ट देशों के प्रति अनुकूल भावना रखने लगे थे।

(२) महायुद्ध और पश्चिमी एशिया

१ सितम्बर, १९३९ के दिन महायुद्ध का श्रीगणेश हुआ था। शुरू में जर्मन पक्ष ने बहुत जोर पकड़ा। सितम्बर के समाप्त होने से पूर्व ही जर्मनी ने पोलैण्ड की विजय कर ली, और १९४० के मध्य तक नार्वे, डेन्मार्क, हालैण्ड और बेल्जियम जर्मन सेनाओं द्वारा जीत लिये गये। जून, १९४० में फ्रांस ने जर्मनी के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दिया, और जर्मन सेनाओं ने पेरिस पर कब्जा कर लिया। मार्शल पेतां के नेतृत्व में फ्रांस में एक नई सरकार संगठित हुई, जिसने जर्मनी के साथ सुलह कर ली। १९४१ के प्रारम्भ तक यूगोस्लाविया और ग्रीस भी जर्मनी के हाथों में आ गये। नाजियों की ये सफलताएं सचमुच आश्चर्यजनक थीं, और इनके कारण यूरोप का बड़ा भाग उनके आधिपत्य में आ गया था।

महायुद्ध के प्रति पश्चिमी एशिया के विविध देशों का क्या रुख था, इस पर ध्यान देने की आवश्यकता है। ईजिप्ट और ईराक की स्थिति इस समय स्वतन्त्र राज्यों की थी, यद्यपि उन पर ब्रिटेन का प्रभाव विद्यमान था। इसीलिये युद्ध शुरू होते ही उनकी सरकारों ने जर्मनी के साथ अपने सम्बन्धों का अन्त कर दिया। पैलेस्टाइन और सीरिया के अरब ब्रिटेन और फ्रांस के विरुद्ध उठ खड़े होने को तैयार थे, पर युद्ध के शुरू होते ही इन देशों में मित्र-पक्ष (ब्रिटेन और फ्रांस) की सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में पहुंच गईं, और वहां के लोगों के लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वे जर्मनी का पक्ष लेकर कोई विद्रोह आदि कर सकें। पर यूरोप के रणक्षेत्रों में जर्मनी को जिस ढंग से सफलता प्राप्त हो रही थी, उसके कारण स्थिति ने पलटा खाया। फ्रांस के पतन के बाद मार्शल पेतां की सरकार ने (जिस की राजधानी विशी थी) जब जर्मनी से सुलह कर ली, तो उसने सीरिया में स्थित फ्रेञ्च सेनाओं को जर्मनी के खिलाफ कोई भी कार्यवाही न करने का आदेश दे दिया; जिसके कारण ब्रिटेन के लिए इन सेनाओं की सहायता प्राप्त कर सकना सम्भव नहीं रहा। यूगोस्लाविया और ग्रीस की विजय के कारण बालकन प्रायद्वीप जर्मनी के कब्जे में आ चुका था, और उसके लिए पश्चिमी एशिया में अपनी शक्ति का विस्तार कर सकना सुगम हो गया था। इस क्षेत्र के लोग भी अब यह समझने लगे थे, कि युद्ध में जर्मनी की ही विजय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगी। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि पश्चिमी एशिया के अरब राज्य युद्ध की परिस्थिति से लाभ उठा कर ब्रिटिश प्रभुत्त्व से मुक्त होने का प्रयत्न करें। इस दिशा में सबसे पहला प्रयत्न ईराक में हुआ। यद्यपि नाम को ईराक एक स्वतन्त्र राज्य था, पर उस पर ब्रिटेन का प्रभाव व प्रभुत्त्व विद्यमान था। १९३१ की सन्धि के अनुसार ईराक के दो सर्वप्रधान हवाई अड्डे ब्रिटेन के कब्जे में थे, और उसकी रेलवे, बन्दरगाह तथा सड़कें भी ब्रिटिश संरक्षण में थीं। ब्रिटिश सरकार इनका प्रयोग अपनी सेनाओं तथा युद्ध-सामग्री को ले जाने के लिये कर रही थी। भारत से जो सेनाएं युद्ध में हाथ बटाने के लिए यूरोप के रणक्षेत्रों में भेजी जाती थीं, वे ईराक होकर ही वहां जाती थीं। ब्रिटेन इस बात के लिए भी प्रयत्नशील था, कि सीरिया को मार्शल पेतां की सरकार की अधीनता से मुक्त करे, ताकि वहां की फ्रेञ्च सेनाओं का उपयोग जर्मनी और इटली के विरुद्ध किया जा सके। जनरल द गॉल के नेतृत्त्व में आजाद फ्रेञ्च सरकार का संगठन हो चुका था, जो जर्मनी के विरुद्ध युद्ध को जारी रख रही थी। ब्रिटेन का यत्न था, कि सीरिया मार्शल पेतां की सरकार की अधीनता से मुक्त होकर जनरल द गॉल की सरकार की अधीनता में आ जाए। इसके लिए जो सेनाएं वह भेजना चाहता था, वे ईराक के मार्ग से होकर ही वहां जा सकती थीं, पर ईराक युद्ध में तटस्थ रहना चाहता था। यद्यपि उसने जर्मनी के साथ सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था, पर इटली के साथ उसका सम्बन्ध अभी कायम था। ब्रिटेन ने मांग की, कि इराक ईटली से भी अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर ले, और साथ ही उत्तरी ईराक के प्रदेशों पर ब्रिटेन का कब्जा हो लेने दे, ताकि उसे केन्द्र बना कर वह सीरिया को विशी सरकार की अधीनता से मुक्त करा सके। पर ईराक के लोग यह नहीं चाहते थे, कि उनका देश युद्ध का क्षेत्र बन जाए। वे तो इस अवसर का उपयोग अपने देश में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना के लिये करना चाहते थे। परिणाम यह हुआ, कि रशीद अली अल-गिलानी के नेतृत्व में ईराक के सैनिक अफसर और राष्ट्रीय नेता मिलकर एक हो गये, और उन्होंने बगदाद पर कब्जा कर लिया। अमीर फैजल द्वितीय के नाबालिग होने के कारण उसका चाचा अब्दुल इलाह इस समय ईराक का रीजेन्ट था। वह रशीद अली का मुकाबिला नहीं कर सका, और अपने मन्त्रियों तथा प्रधान राजकर्मचारियों के साथ ईराक छोड़कर चला गया।

रशीद अली द्वारा इस समय (१९४१) जो नई सरकार ईराक में स्थापित की गई, वह पूर्णतया ब्रिटेन की विरोधी और जर्मनी तथा इटली की पक्षपाती थी। उसने प्रयत्न किया कि अन्य अरब राज्यों के राष्ट्रीय नेताओं का सहयोग प्राप्त कर न केवल ईराक को ब्रिटिश प्रभुत्त्व से मुक्त किया जाए, अपितु पैलेस्टाइन, सीरिया और ट्रांस-जोर्डन आदि सर्वत्र अरब स्वाधीनता का झंडा खड़ा कर दिया जाए। रशीद अली की सरकार ने पड़ौस के अरब राज्यों में इस उद्देश्य से अपने प्रतिनिधि भेजे, कि वे वहां की सरकारों से अरब की स्वाधीनता के आन्दोलनों में सहायता प्राप्त करें। पर इसमें उसे विशेष सफलता नहीं प्राप्त हुई। जेरुसलम के मुस्लिम मुफ्ती ने अवश्य ब्रिटेन के विरुद्ध जिहाद का ऐलान कर दिया, और सीरिया में भी कुछ स्वयंसेवक अरब आन्दोलन में कार्य करने के लिए संगठित हुए। पर अन्य अरब राज्यों ने इस अवसर पर विशेष उत्साह प्रदर्शित नहीं किया। सौदी अरेबिया के इब्न सऊद ने रशीद अली से सहानुभूति अवश्य प्रगट की, पर इससे अधिक कुछ नहीं किया। ट्रांस-जोर्डन के अमीर अब्दुल्ला ने खुले तौर पर ब्रिटेन का साथ देने का ऐलान किया, और येमन के राजा ने युद्ध की स्थिति से लाभ उठाकर अदन की सीमा पर कतिपय सुविधाएं ब्रिटेन से प्राप्त कर लीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये, कि जर्मनी से सहानुभूति रखते हुए भी रशीद अली यह नहीं चाहता था, कि वह मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध जर्मनी और इटली के पक्ष में शामिल हो जाए। महायुद्ध के सम्बन्ध में उसकी नीति तटस्थता की थी। उसकी केवल यह आकांक्षा थी, कि युद्ध के अवसर से लाभ उठाकर ईराक और अन्य अरब राज्य सच्चे अर्थों में स्वाधीन हो जाएं, और इन देशों में ब्रिटेन को जो अनेकविध विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनका अन्त कर दिया जाए। इसीलिए उसने स्पष्ट रूप से ब्रिटेन को यह जता दिया था, कि ईराक युद्ध में तटस्थ रहना चाहेगा। पर ब्रिटेन के लिए ईराक का बहुत महत्त्व था। भारत से जन और धन की जो सहायता इस समय ब्रिटेन प्राप्त कर रहा था, उसे ईराक के मार्ग से ही यूरोप के रणक्षेत्रों में पहुंचाया जा सकता था। उत्तरी अफ्रीका में इटालियन और जर्मन सेनाएं इस समय प्रवेश कर चुकी थीं, जिनके कारण स्वेज का मार्ग ब्रिटेन के लिये सुरक्षित नहीं रह गया था। अतः मई, १९४१ में जब अंग्रेजों ने अपनी भारतीय सेनाओं को ईराक के मार्ग से ले जाना चाहा, तो रशीद अली से उनके सम्बन्ध बहुत कटु हो गये। रशीद अली ने अनुभव किया, कि जर्मनी का सहयोग लिये बिना अब काम नहीं चल सकता। उसने जर्मनी से सैनिक सहायता के लिये अपील की। पर इससे पूर्व कि जर्मन हवाई जहाज ईराक पहुंच सकें, अंग्रेजों ने रशीद अली की सेनाओं को परास्त कर बगदाद पर कब्जा कर लिया (२९ मई, १९४१)। जर्मनी इस समय रूस के विरुद्ध युद्ध में उलझा हुआ था। हिटलर चाहता था कि पहले रूस से निबट लिया जाए, और उसके बाद ही पश्चिमी एशिया की ओर ध्यान दिया जाए। इस कारण उसने रशीद अली की अपील पर तुरन्त ध्यान नहीं दिया। केवल १०० जर्मन हवाई जहाज इस समय ईराक भेजे गये, जो ब्रिटेन की शक्ति का मुकाबिला करने के लिये अपर्याप्त थे। ईराक की अपनी सेनाओं ने ब्रिटेन के विरुद्ध अच्छी तत्परता प्रदर्शित की। कुछ समय के लिये उन्होंने उन हवाई अड्डों पर कब्जा भी कर लिया, जो ब्रिटेन के अधिकार में थे। पर अन्त में वे परास्त हो गईं, और रशीद अली तथा उसके साथियों को ईराक छोड़कर विदेश चले जाने के लिये विवश होना पड़ा। उनमें से कुछ ने ईरान जाकर आश्रय लिया, और कुछ तुर्की के रास्ते से होकर जर्मनी व इटली पहुच गये। अमीर फैजल द्वितीय और उसके चाचा अब्दुल इलाह को फिर ईराक लाया गया, और ब्रिटेन की सहायता से उन्होंने वहाँ के शासनसूत्र को संभाल लिया। ईराक की यह सरकार ब्रिटेन के हाथों में कठपुतली के समान थी, और उसी के आदेशों के अनुसार कार्य करती थी। ईराक पर ब्रिटेन का प्रभुत्त्व अब पहले की अपेक्षा भी बहुत अधिक बढ़ गया था। ब्रिटिश सरकार इस प्रदेश का उपयोग अपने युद्ध-प्रयत्न के लिये करने लगी, और ईराकी सरकार को इस कार्य में उसे सहयोग देना पड़ा। १९४१ के अन्त में जब संयुक्तराज्य अमेरिका भी ब्रिटेन के पक्ष में जर्मनी और उस के साथियों के विरुद्ध युद्ध के मैदान में उतर आया, तब तो सैनिक दृष्टि से ईराक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। क्योंकि इस समय प्रायः सम्पूर्ण यूरोप जर्मनी और इटली के कब्जे में था, और ब्रिटेन पर जर्मनी के हवाई हमले जारी थे, अतः अमेरिका पश्चिमी एशिया को आधार बनाकर ही मित्रपक्ष की सहायता कर सकता था। ब्रिटेन और अमेरिका ने ईराक को अपनी सैन्यशक्ति का केन्द्र बनाया, और सेना के लिये रसद आदि वहीं से प्राप्त करनी शुरू की। इससे जहां ईराक की स्वतन्त्रता पूर्णरूप से नियन्त्रित हो गई, वहां साथ ही उसकी मुद्रा में प्रसार हुआ, और ईराक को अनेक आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा।

महायुद्ध में फ्रांस के परास्त हो जाने और मार्शल पेतां के नेतृत्व में वहां एक नई सरकार के स्थापित हो जाने के कारण पश्चिमी एशिया के जो प्रदेश फ्रांस के प्रभाव व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभुत्व में थे, वे अब ऐसे शासन में आ गये, जो जर्मनी का पक्षपाती था। जनरल द गॉल द्वारा फ्रांस के बाहर आजाद फ्रेञ्च सरकार अवश्य कायम कर ली गई थी, पर सीरिया और लेबनान पर मार्शल पेतां की विशी सरकार का ही प्रभुत्व था। इसीलिये जब जर्मनी ने ईराक के रशीद अली की सहायता के लिये हवाई जहाज भेजे, तो वे तेल लेने के लिये सीरिया के हवाई अड्डों पर उतरे और वहां की सरकार ने उनकी सहायता की। रशीद अली को परास्त कर अब ब्रिटेन ने सीरिया और लेबनान पर ध्यान दिया, और उन्हें विशी सरकार की अधीनता से मुक्त कर अपने प्रभुत्व में ले आने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। ईराक के समान सीरिया और लेबनान का भी सैनिक दृष्टि से बहुत महत्त्व था, और ब्रिटेन यह सहन नहीं कर सकता था कि इन प्रदेशों पर एक ऐसी सरकार का शासन रहे, जो जर्मनी की पक्षपाती हो। आजाद फ्रेञ्च सरकार ने भी इस कार्य में ब्रिटेन की सहायता की। जनरल द गॉल और ब्रिटिश सरकार ने परस्पर मिलकर यह समझौता किया, कि जब सीरिया और लेबनान को विशी सरकार की अधीनता से मुक्त कर दिया जायगा, तो उनका शासन तो आजाद फ्रेञ्च सरकार के अधीन रहेगा, पर युद्ध के काल में ब्रिटिश सेनाओं को उन्हें केन्द्र बनाकर लड़ाई को जारी रखने के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता रहेगी। जुलाई, १९४१ में एक ब्रिटिश सेना ने ईराक से सीरिया की ओर प्रस्थान किया, और उसे जीत लिया। विशी सरकार उसका मुकाबिला नहीं कर सकी। शीघ्र ही, लेबनान भी ब्रिटिश सेनाओं के कब्जे में आ गया। फ्रांस और ब्रिटेन में हुए समझौते (जो लिटलटन-द गॉल समझौते के नाम से प्रसिद्ध है) के अनुसार आजाद फ्रेञ्च सरकार के अन्यतम सेनापति जनरल कार्तून ने सीरिया पहुँच कर यह घोषणा की, कि अब तक लेबनान और सीरिया में राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा जो शासनाधिकार फ्रांस को प्राप्त थे, उनका अन्त किया जाता है, और इन देशों की स्वाधीनता को स्वीकार किया जाता है। पर इससे इन की स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया। नाम को स्वाधीन हो जाने पर भी सीरिया और लेबनान पर फ्रांस का प्रभाव कायम रहा, और उनकी सरकारों का संचालन फ्रेञ्च अफसरों द्वारा किया जाता रहा। ब्रिटिश सेनाएं भी इस समय इन देशों में प्रवेश कर गईं, और मनमाने ढंग से युद्ध के लिए इनका प्रयोग करने लगीं।

महायुद्ध का प्रारम्भ होने से पूर्व ही इटली अफ्रीका में अपने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर चुका था। लिबिया और सोमालीलैण्ड पहले ही उसके अधीन थे। बाद में अबीसीनिया को भी जीत लेने पर पूर्वी भूमध्यसागर और दक्षिणी लाल सागर पर इटली का प्रभुत्व स्थापित हो गया था, जिसके कारण ब्रिटेन के लिए स्वेज का मार्ग सुरक्षित नहीं रहा था। अतः ब्रिटेन ने अफ्रीका के इटालियन साम्राज्य का अन्त कर देने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया। दक्षिणी अफ्रीका और भारत की सेनाएं इस क्षेत्र में भेजी गईं, और वे लिबिया, सोमालीलैण्ड तथा अबीसिनिया को इटली की अधीनता से मुक्त कराने में समर्थ हुईं (१९४१)। पर इटली की सैनिक पराजय के कारण ब्रिटेन की समस्या हल नहीं हो गई। एप्रिल, १९४१ में ग्रीस को विजय कर लेने के अनन्तर जर्मन सेनाओं ने अफ्रीका में प्रवेश किया, और लिबिया पर कब्जा कर लिया। सेनापति रोमल के नेतृत्व में जर्मन सेनाएं अफ्रीका में निरन्तर आगे बढ़ती गईं, और न केवल उत्तरी अफ्रीका के सम्पूर्ण प्रदेश जर्मनी के हाथों में आ गये, अपितु उसकी सेनाओं ने ईजिप्ट में भी प्रवेश प्रारम्भ कर दिया। ब्रिटेन के लिए यह समय बड़ी विपत्ति का था। युद्ध के प्रायः सभी क्षेत्रों में जर्मन पक्ष की विजय हो रही थी, और उत्तरी अफ्रीका पर जनरल रोमल का प्रभुत्व स्थापित हो जाने के कारण पश्चिमी एशिया और अफ्रीका में ब्रिटेन की स्थिति बहुत निर्बल हो गयी थी। यद्यपि ईजिप्ट नाम को स्वतन्त्र था, पर ब्रिटेन का उसकी सरकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर पर्याप्त नियन्त्रण था। अतः स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन की यह इच्छा थी, कि ईजिप्ट में ऐसी सरकार ही कायम रहे, जो जर्मनी के विरुद्ध उसे सहयोग प्रदान करने में तत्पर हो। ईराक तथा पैलेस्टाइन आदि के समान ईजिप्ट में भी इस समय ऐसे नेताओं की कमी नहीं थी, जो युद्ध की परिस्थिति से लाभ उठाकर अपने देश से ब्रिटिश प्रभाव का अन्त करने का प्रयत्न कर रहे थे। १९३९ और १९४० में ईजिप्ट में जो मन्त्रिमण्डल विद्यमान थे, वे इन्हीं के प्रभाव में थे। इसीलिए फरवरी, १९४१ में ईजिप्ट में स्थित ब्रिटिश राजदूत लार्ड किल्लर्न ने राजा फारूक को इस बात के लिये विवश किया था, कि वह वफ्द पार्टी के नेता नहस पाशा को प्रधान मन्त्री के पद पर नियत करे, क्योंकि यह पार्टी महायुद्ध के समय ब्रिटेन के साथ सहयोग करने के लिये उद्यत थी। नहस पाशा की सरकार ने जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति के समय में भी ब्रिटेन की जी खोलकर सहायता की, और ब्रिटिश सरकार को यह भय नहीं रहा कि ईराक के समान ईजिप्ट में भी जर्मनी का पक्ष लेकर किसी विद्रोह का सूत्रपात हो सकेगा। कुछ समय बाद ब्रिटिश सेनाएं जनरल रोमल को ईजिप्ट की सीमा के परे धकेल सकने में समर्थ हो गईं (जुलाई, १९४२), और इस देश के जर्मन आधिपत्य में आ सकने का भय दूर हो गया।

ईरान के शासक रजा शाह ने महायुद्ध में तटस्थता की नीति का अनुसरण किया था, यद्यपि उसकी सहानुभूति जर्मनी के साथ थी। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में और प्रथम महायुद्ध के समय तक ईरान रूस और ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्रों में विभक्त था। रूस में बोल्शेविक शासन स्थापित हो जाने के पश्चात् ईरान रूसी प्रभाव से तो मुक्त हो गया था, पर रजा शाह की शक्तिशाली सरकार भी अपने देश को ब्रिटेन के आर्थिक प्रभावों तथा विशेषाधिकारों से पूर्णतया मुक्त नहीं कर सकी थी। इसी कारण द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से पूर्व ही ईरान का झुकाव जर्मनी की ओर हो गया था, और जर्मन सरकार ईरान को अपने सांस्कृतिक प्रभाव में ले आने के लिए प्रयत्नशील थी। तेहरान में स्थित जर्मन राजदूत इस प्रयत्न में था, कि ईरान महायुद्ध में जर्मनी का साथ दे, और यदि यह सम्भव न हो, तो कम से कम वह ऐसी तटस्थता की नीति का अनुसरण करे, जिसके कारण मित्र-पक्ष उसका किसी भी प्रकार उपयोग न कर सके। महायुद्ध में रूस ब्रिटेन के पक्ष में था, और जर्मनी की सेनाएं रूस में बहुत दूर तक प्रवेश कर गई थीं। हिटलर की योजना थी, कि पहले रूस को परास्त कर दे, और उधर से निश्चिन्त होकर फिर अपनी सारी शक्ति ब्रिटेन को हराने के लिये लगा दे। अतः ब्रिटिश पक्ष इस बात के लिये बहुत उत्सुक था, कि रूस लड़ाई के मैदान से निकलने न पाए, और जर्मनी की सेनाएं उधर फंसी रहें। परयह तभी सम्भव था, जब कि ब्रिटेन और अमेरिका भी रूस को सहायता पहुंचा सकें। रूस की सीमा ईरान से लगती है, अतः उसे सैनिक तथा अन्य सहायता पहुंचाना इसी देश के मार्गसे क्रियात्मक था। ब्रिटेन ने इस मार्ग को प्रयुक्त करने की इच्छा से रजाशाह को यह नोटिस दिया, कि जर्मन राजदूत को ईरान से हटा दिया जाए, क्योंकि उसका दूतावास मित्र-पक्ष के विरुद्ध प्रयत्न में तत्पर है। पर रजाशाह इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था, कि ईरान एक स्वतन्त्र राज्य है, और किस राजदूत को हटाया जाए इसका निर्णय करना उसका अपना काम है। इस पर ब्रिटेन ने दक्षिण की ओर से ईरान पर आक्रमण कर दिया। रूस भी इस अवसर पर ईरान के मामले में तटस्थ नहीं रहना चाहता था, क्योंकि जर्मनी के आक्रमणों के कारण उसके लिए अपने अन्य साथी-राज्यों से सहायता प्राप्त कर सकना बहुत आवश्यक था। ईरान के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह ब्रिटेन और रूस की सम्मिलित शक्ति का मुकाबिला कर सके। उसकी पराजय हो गई, और रजाशाह ने स्वेच्छापूर्वक राजगद्दी का परित्याग कर दिया (१६

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सितम्बर, १९४१)। अब रजाशाह का युवक पुत्र मुहम्मद रजा ईरान का राजा बना, और उसने मित्र-पक्ष से सुलह कर लेने में ही अपने देश का हित समझा। जर्मनी और इटली से सब सम्बन्ध तोड़ दिये गए, और उनके जो राजदूत तथा अन्य राज-प्रतिनिधि ईरान में विद्यमान थे, उन्हें वहां से वापस चले जाने के लिये विवश होना पड़ा। कुछ समय बाद ब्रिटेन और रूस ने ईरान से एक सन्धि की (१९४२), जिसके अनुसार मुहम्मद रजाशाह ने यह स्वीकार किया कि ब्रिटेन और रूस ईरान के मार्गों से अपनी सेनाएं ले जा सकेंगे, और युद्ध के प्रयोजनों के लिए अन्य प्रकार से भी इस देश का उपयोग कर सकेंगे। १९४२ के बाद जब महायुद्ध में जर्मनी का पक्ष कमजोर पड़ने लगा, तो ईरान की सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की भी घोषणा कर दी (सितम्बर, १९४३), और इस प्रकार ईरान भी मित्रराष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में शामिल हो गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि महायुद्ध में पश्चिमी एशिया के विविध देश या तो तटस्थ रहे थे, और या ब्रिटिश पक्ष में सम्मिलित हो गये थे। जर्मनी ने इन देशों को अपने पक्ष में करने का प्रयत्न अवश्य किया, पर इसमें उसे सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। ब्रिटेन और मित्रपक्ष के अन्य राज्यों ने इन देशों को अपने युद्ध-प्रयत्न के लिए प्रयुक्त किया, और अनेक ऐसे आश्वासन प्रदान किये, जिनका प्रयोजन इन देशों की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति को स्वीकार करना था।

(३) पैलेस्टाइन में यहूदियों और अरबों की समस्या

लण्डन में गोलमेज कान्फरेन्स के बाद फरवरी, १९३९ में पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने जो व्हाइट पेपर प्रकाशित किया था, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। यहूदी इससे बहुत असंतुष्ट थे, क्योंकि अगले पांच सालों (१९३९-४४) में ७५,००० से अधिक यहूदी अन्य देशों से आकर पैलेस्टाइन में नहीं बस सकते थे, और यहूदियों द्वारा वहां जमीन खरीदने के सम्बन्ध में नियम बनाने का अधिकार भी ब्रिटिश हाई कमिश्नर को दे दिया गया था। महायुद्ध के प्रारम्भ (सितम्बर, १९३९) होने पर यहूदियों के सम्मुख एक विकट समस्या उत्पन्न हुई। ब्रिटेन द्वारा प्रकाशित व्हाइट पेपर के वे विरुद्ध थे, अतः वे उसके विरुद्ध आन्दोलन करने में तत्पर थे, और इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि हर सम्भव उपाय से उसका विरोध किया जाए। पर साथ ही उनके लिये यह भी सम्भव नहीं था, कि वे युद्ध के समय ब्रिटेन के विरुद्ध किसी उग्र संघर्ष को प्रारम्भ कर सकें, क्योंकि जर्मनी के नाजी लोग यहूदियों के कट्टर शत्रु थे, और नाजी तथा फैसिस्ट शक्तियों के उत्कर्ष के कारण ही यहूदियों की समस्या ने इतना विकट रूप धारण किया था। पैलेस्टाइन के अरब निवासी भी व्हाइट पेपर से असंतुष्ट थे, क्योंकि उस द्वारा उनके प्रदेश में यहूदियों के प्रवेश को सर्वथा बन्द नहीं कर दिया गया था। जर्मनी और इटली यहूदियों के विरोधी थे, और अरब लोग भी। अतः यह स्वाभाविक था, कि महायुद्ध के अवसर पर अरबों की सहानुभूति जर्मनी के साथ हो, और वे यह अनुभव करें कि जर्मन पक्ष के उत्कर्ष में ही उनका भी हित है। अरबों का विचार था, कि जर्मन पक्ष की विजय के कारण यहूदियों की शक्ति का ह्रास होगा, और उनके लिए पैलेस्टाइन में अपना स्थान बना सकना सम्भव नहीं रहेगा। इसीलिये जेरुसलम के मुस्लिम मुफ्ती ने युद्ध के शुरू होने पर ब्रिटेन के विरुद्ध जिहाद की घोषणा कर दी थी, और वहां के ब्रिटिश शासकों ने उसके लिए पैलेस्टाइन में रहते हुए अपने कार्य को जारी रख सकना असम्भव कर दिया था। इसी कारण जेरुसलम को छोड़ कर उसने बगदाद में आश्रय लिया था, जहां अरब आन्दोलन बहुत प्रबल था। पर गुद्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समय पैलेस्टाइन के अरब ब्रिटेन के खिलाफ कोई विशेष कार्य नहीं कर सके। उन्होंने तटस्थता की नीति का अनुकरण करना ही उचित और क्रियात्मक समझा। मुफ्ती द्वारा की गई जिहाद की घोषणा के बावजूद भी अरबों ने ब्रिटेन के विरुद्ध किसी उग्र आन्दोलन का सूत्रपात नहीं किया।

पर यहूदियों के लिये युद्ध के समय में चुप बैठे रह सकना सम्भव नहीं था। पैलेस्टाइन में उनके अनेक संगठन विद्यमान थे, जिनमें हगाना और इर्गुन ज्वाई ल्यूमी मुख्य थे। हगाना का संगठन इस प्रयोजन से किया गया था, कि खेती के लिये जो यहूदी देहाती क्षेत्रों में बसे हुए हैं, अरब आक्रमणों से उनकी रक्षा की जा सके। इर्गुन ज्वाई ल्यूमी यहूदियों का राष्ट्रीय सैनिक संगठन था और इसके रूप में उन्होंने एक ऐसी स्वयं-सेवक सेना संगठित की हुई थी, जो व्हाइट पेपर की नीति का विरोध करने में तत्पर थी। युद्ध के शुरू होने पर पैलेस्टाइन के यहूदियों ने यह मांग पेश की, कि उन्हें एक ऐसी सेना संगठित करने की अनुमति दी जाए, जो नाजियों के खिलाफ युद्ध में भाग ले सकें। ब्रिटिश सरकार चाहती थी, कि यहूदी लोग पैलेस्टाइन की सेना में अवश्य सम्मिलित हों, पर उनकी कोई पृथक् सेना न बनायी जाए। पृथक् यहूदी सेना को अरब लोग आशंका की दृष्टि से देख सकते थे, और उन्हें यह समझने का अवसर मिल सकता था, कि इस सेना का वास्तविक उद्देश्य अरबों का विरोध करना है। अतः ब्रिटेन ने यहूदियों को पृथक् सेना बनाने की अनुमति तो नहीं दी, पर उनकी ऐसी सैनिक पलटनें अवश्य संगठित कीं, जिन्हें पैलेस्टाइन की सेना के अंग के रूप में जर्मनी के खिलाफ लड़ाई के लिये प्रयुक्त किया जा सकता था।

जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में यहूदी लोग उत्साहपूर्वक भाग ले रहे थे, पर साथ ही वे १९३९ के व्हाइट पेपर का विरोध करने में भी तत्पर थे। फरवरी, १९४२ में पैलेस्टाइन के हाई कमिश्नर द्वारा ऐसे कानून प्रचारित किये गये, जिनका प्रयोजन इस देश के बड़े भाग में यहूदियों को जमीन खरीद सकने से रोकना था। व्हाइट पेपर के प्रकाशित होने के बाद यहूदी लोग २५ वर्ग मील जमीन खरीद भी चुके थे, जिसके कारण अरबों में बहुत असन्तोष था। इसीलिए फरवरी, १९४२ के इस कानून द्वारा हाई कमिश्नर ने यह व्यवस्था की थी, कि पैलेस्टाइन के कतिपय क्षेत्रों में यहूदी लोग भविष्य में जमीन न खरीद सकें। इस कानून से यहूदियों में बहुत असन्तोष हुआ, और अनेक स्थानों पर उन्होंने विद्रोह किये। वे इस समय खुले तौर पर अरबों पर आक्रमण करने लगे, और शक्ति का प्रयोग कर नये कानून का विरोध करने को तत्पर हो गये। पर जमीन की समस्या की की तुलना में भी अधिक विकट प्रश्न यह था, कि १९३९-४४ के पांच सालों में ७५,००० से अधिक यहूदी पैलेस्टाइन में प्रवेश नहीं पा सकते थे। जर्मनी में नाजी लोगों की यहूदी-विरोधी नीति के कारण वहां पहले ही लाखों यहूदी बेघरबार हो चुके थे। अब क्योंकि यूरोप के बड़े भाग पर हिटलर का कब्जा हो गया था, अतः यूरोप में अन्यत्र भी अब यहूदियों के लिये रह सकना सम्भव नहीं रहा था। नाजियों के अत्याचारों से पीड़ित होकर ये कहीं आश्रय ग्रहण करने के लिये उत्सुक थे, और स्वाभाविक रूप से इनका ध्यान पैलेस्टाइन की ओर आकृष्ट होता था, जिसे कि ये अपना होमलैन्ड समझते थे। नाजी लोग भी चाहते थे, कि उनके द्वारा शासित प्रदेशों के यहूदी लोग अपने घर-बार को छोड़ कर अन्यत्र चले जाएं, क्योंकि वे उनसे घृणा करते थे। इस दशा में यहूदियों ने अनेक जहाज चार्टर किये, और उन द्वारा पैलेस्टाइन की ओर प्रस्थान करना शुरू किया। ब्रिटेन के लिये यह एक विकट समस्या थी। यह सम्भव नहीं था, कि इतनी बड़ी संख्या में यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसने की अनुमति दी जा सके। इससे जहां अरबों को असं-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोष होता, वहां साथ ही यह बात १९३९ के व्हाइट पेपर के भी विरुद्ध होती। पर यहूदी लोग पैलेस्टाइन की सरकार की परवाह न कर जहाजों द्वारा बड़ी संख्या में वहां आ रहे थे। सरकार ने यत्न किया, कि इन्हें कहीं अन्यत्र ले जाया जाय। पात्रिया नामक जहाज पर २००० यहूदी शरणार्थियों को पैलेस्टाइन से मोरीशस भेजने की व्यवस्था की गई। अभी यह जहाज हैफ्फा के बन्दरगाह पर ही था, कि यहूदी आतंकवादियों ने इसे बारूद से उड़ा दिया, जिसके कारण २६८ यहूदी यात्री मौत के घाट उतर गये। इसी प्रकार स्त्रूमा नाम के एक अन्य जहाज को कालासागर में डुबो दिया गया। इसमें ७५० यहूदी शरणार्थी थे, जो सब समुद्र की सतह में समा गये। अन्य भी अनेक इसी प्रकार की दुर्घटनाएं हुईं, जो यहूदी आतंकवादियों की अपनी करतूतों की परिणाम थीं। अपने ही जाति-भाइयों का इस प्रकार से संहार करके पैलेस्टाइन के यहूदी संसार का ध्यान अपनी दुर्दशा की ओर आकृष्ट करना चाहते थे, और साथ ही अपने से सहानुभूति रखने वाले लोगों को यह दिखाना चाहते थे कि वे पैलेस्टाइन में यहूदियों का राष्ट्र बनाने के लिये कैसे-कैसे बीभत्स कार्य करने को उद्यत हैं। इतना ही नहीं, यहूदियों ने इस समय पैलेस्टाइन में भी आतंकवादी उपायों का अवलम्बन प्रारम्भ कर दिया। न केवल अरबों पर, अपितु पुलिस पर भी उन्होंने हमले शुरू किये, जिनमें बहुत-से लोग मारे गये। यहूदियों की जो अनेक स्वयं-सेवक सेनाएं तथा अन्य संगठन इस समय पैलेस्टाइन में विद्यमान थे, वे सब मार-काट पर उतर आये। उन्हें इस बात की जरा भी परवाह नहीं थी, कि युद्ध के समय उन्हें सरकार के साथ सहयोग करना चाहिये। उनका केवल यही ध्येय था, कि फरवरी, १९३९ के व्हाइट पेपर का विरोध करें, और सरकार को इस बात के लिए विवश करें कि यहूदियों को बिना किसी रुकावट के पैलेस्टाइन में आकर बसने दिया जाए, और इस देश में वे स्वेच्छापूर्वक जमीन तथा अन्य सम्पत्ति का क्रय कर सकें।

यहूदी लोग इस समय पैलेस्टाइन से बाहर अन्यत्र भी आन्दोलन में तत्पर थे। अमेरिका में बहुत-से यहूदी लोग बसे हुए हैं, जो अत्यन्त धनी और समृद्ध हैं। स्वाभाविक रूप से उनकी सहानुभूति अपने जाति-बन्धुओं के साथ थी। 'विश्व-यहूदी संघ' की ओर से डेविड बेन गूरिओ इस समय अमेरिका में भ्रमण कर रहा था, और वहां के धनी एवं प्रभावशाली यहूदियों का सहयोग प्राप्त करने के प्रयत्न में था। १९४२ में उसने न्यूयार्क के बिल्टमोर होटल में यहूदियों की एक कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिस द्वारा निम्न-लिखित मांगें निर्धारित की गईं—(५) पैलेस्टाइन को एक यहूदी राज्य बना दिया जाए। (२) इस राज्य की रक्षा के लिए यहूदियों को अपनी पृथक् सेना के संगठन का अधिकार हो। (३) पैलेस्टाइन में यहूदियों के बसने के सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण न रखा जाए, और वहां वे स्वेच्छापूर्वक जमीन तथा अन्य सम्पत्ति खरीद सकें। पैलेस्टाइन में जिस भूमि पर अभी खेती नहीं होती और जो खाली पड़ी है, उसे बसाने तथा उस पर खेती करने के सम्बन्ध में यहूदियों पर कोई भी प्रतिबन्ध न रखा जाए। पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास में इस बिल्टमोर प्रोग्राम का बहुत महत्त्व है। इसी के अनुसार पहले-पहल यह विचार पेश किया गया, कि पैलेस्टाइन में एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य को कायम किया जाना चाहिये। इससे पूर्व यहूदी लोग अपने लिए होमलैण्ड की मांग तो करते थे, पर अपने पृथक् राज्य का विचार इसी कान्फरेन्स द्वारा उन्होंने प्रस्तुत किया था।

अपनी इस राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति के लिए यहूदी लोग केवल आन्दोलन को ही पर्याप्त नहीं समझते थे। उनकी गुप्त समितियां और अन्य संस्थाएं आतंकवादी उपायों का अवलम्बन करके भी ब्रिटिश सरकार से अपनी मांगों को स्वीकार कराने के लिए प्रयत्नशील थीं। पर १९४३ में जब जर्मन पक्ष कमजोर पड़ने लगा, और मित्र-पक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सेनाएं इटली में प्रवेश कर यूरोप के देशों पर से फैसिस्ट आधिपत्य का अन्त कर देने के लिए आगे बढ़ने लगीं, तो पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेश युद्ध के क्षेत्र से बाहर हो गये। पैलेस्टाइन में भी अब जर्मनी का कोई भय नहीं रह गया था। इस दशा में वहां के यहूदियों ने अपने आन्दोलन को बहुत उग्र कर दिया। युद्ध के समय में बहुत-से यहूदी पैलेस्टाइन की सेना में भरती हो गये थे। हगाना जैसी संस्थाओं ने आत्मरक्षा के नाम पर अपने जो शक्तिशाली संगठन बनाये थे, उनके सदस्यों की संख्या हजारों में थी। अकेले हगाना में ही ६०,००० स्वयंसेवक सम्मिलित थे, जो न केवल अच्छे सैनिक ही थे, अपितु अस्त्र-शस्त्रों से भी सुसज्जित थे। अरबों के हमलों से आत्मरक्षा करने के नाम पर इस संस्था का संगठन हुआ था, और १९४०-४१ के काल में इसकी शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई थी। ब्रिटिश लोग अनुभव करते थे, कि पश्चिमी एशिया पर जर्मनी का आक्रमण होने की दशा में हगाना के सैनिक उसके विरुद्ध लड़ाई में काम आ सकेंगे। इसीलिए वे इस संगठन को अधिक मजबूत बनाने में सहायक भी हुए थे। यही दशा अन्य यहूदी संस्थाओं की भी थी। युद्ध में जब जर्मन पक्ष प्रबल था, तो मित्रराष्ट्रों के लिये यह सम्भव नहीं रहा था, कि वे पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अस्त्र-शस्त्र और अन्य युद्ध-सामग्री भेज सकें। अतः पैलेस्टान में अनेक ऐसे कारखाने भी स्थापित किए गए थे, जो युद्ध-सामग्री तैयार करते थे। ये कारखाने प्रायः यहूदियों द्वारा ही स्थापित किए गए थे। १९४३-४४ में जब जर्मनी और इटली के आशंकित आक्रमणों का भय नहीं रहा, तो इन यहूदी सैनिकों का मित्र-राष्ट्रों के लिए विशेष उपयोग नहीं रह गया। पर यहूदियों ने जो संगठन बना लिए थे, और जो अस्त्र-शस्त्र वे तैयार करने लगे थे, उनका उपयोग अब उन्होंने पैलेस्टाइन को एक यहूदी राज्य के रूप में परिवर्तित करने के लिए प्रारम्भ कर दिया। वे अब १९३९ के व्हाइट पेपर का विरोध करने के लिए अपने सैनिकों तथा अस्त्र-शस्त्रों का खुले तौर पर प्रयोग करने लगे। यहूदी राज्य की अपनी आकांक्षा की पूर्ति का उन्हें अब केवल यही उपाय समझ में आता था, कि पैलेस्टाइन के ब्रिटिश अफसरों पर हमले करें, पुलिस को अपना कार्य न करने दें, और सर्वत्र अव्यवस्था मचाकर ब्रिटिश सरकार को अपनी मांगें स्वीकार करने के लिए विवश कर दें। इसीलिए पैलेस्टाइन में स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर की हत्या का प्रयत्न किया गया, यद्यपि वह सफल नहीं हो सका। पर यहूदी आतंकवादी कैरो (ईजिप्ट) में स्थित ब्रिटिश राजदूत लार्ड मायने की हत्या कर देने में सफल हो गये। लार्ड मायने पहले ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल में उपनिवेश-मन्त्री के पद पर रह चुके थे, और यहूदियों का ख्याल था, कि नाजी अत्याचारों से पनाह पाने के लिए जो यहूदी पैलेस्टाइन में आकर बसना चाहते थे, उन्हें इन्हीं सज्जन ने वहां आने से रोका था। इस कारण यहूदी आतंकवादी इनके खून के प्यासे बन गए थे, और इनकी हत्या में वे सफल भी हो गए। यहूदियों ने यह भी प्रयत्न किया, कि जेरुसलम के किंग डेविड होटल को बम्ब द्वारा उड़ा दें। पैलेस्टाइन की ब्रिटिश सेनाओं का यही होटल हैडक्वार्टर था। इसे बम्ब से नष्ट कर यहूदी आतंकवादी यह आशा करते थे, कि अंग्रेज उनकी मांगों को स्वीकार करने के लिए विवश हो जाएंगे। महायुद्ध की समाप्ति (१९४५) तक यहूदी लोग पैलेस्टाइन में आतंकवादी उपायों के प्रयोग में तत्पर रहे। इसी कारण कुछ समय बाद इजराईल नाम से एक स्वतन्त्र यहूदी राज्य की स्थापना हुई, जिस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चवालीसवां अध्याय

पश्चिमी एशिया में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का ह्रास

(१) द्वितीय महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति

मई, १९४५ में यूरोप के रणक्षेत्रों में महायुद्ध का अन्त हो गया था, और अगस्त, १९४५ में सुदूर-पूर्व के क्षेत्र में। इस महायुद्ध में जर्मनी, इटली और जापान की पराजय हुई, और मित्रराष्ट्र (जिनमें ब्रिटेन, फांस, रूस, संयुक्तराज्य अमेरिका और चीन प्रमुख थे) विजयी हुए। नाजीज्म और फैसिज्म के रूप में विश्व के आधुनिक इतिहास में जो नई प्रवृत्तियां प्रादुर्भूत हुई थीं, वे इस युद्ध के कारण परास्त हो गईं, और लोकतन्त्रवाद तथा समाजवाद को बल मिला। इस महायुद्ध के कतिपय परिणाम ऐसे थे, जिनका पश्चिमी एशिया के इतिहास के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उनका संक्षेप के साथ उल्लेख करना उपयोगी होगा।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के कारण लोकतन्त्र शासन और राष्ट्रीयता की जिन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद वे प्रायः सफल हो गई थीं, और सर्वत्र उन्हें स्वीकार्य समझा जाने लगा था। पर इस द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद ये प्रवृत्तियां पुरानी पड़ गईं, और इनका स्थान समाजवाद लेने लग गया। औद्योगिक क्रान्ति और वैज्ञानिक उन्नति के कारण सर्वसाधारण जनता में जो एक नयी जागृति व चेतना उत्पन्न हो रही थी, उसने समाज के आर्थिक संगठन के प्रश्न को बहुत महत्त्वपूर्ण बना दिया था। इसीलिए समाजवाद का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, जो आर्थिक उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व के बजाय उन्हें समाज के स्वत्व में ले आने का पक्षपाती है। उन्नीसवीं सदी के मध्य में कार्ल मार्क्स ने जिस समाजवादी विचारधारा का प्रादुर्भाव किया था, १९१७ की रूसी राज्यक्रान्ति द्वारा वह एक विशाल देश में क्रियान्वित भी हो गई थी, और अन्य देशों में भी समाजवादी या कम्युनिस्ट पार्टियां जोर पकड़ने लग गई थीं। यूरोप के नाजी और फैसिस्ट आन्दोलनों का प्रादुर्भाव कम्युनिज्म के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में ही हुआ था। द्वितीय महायुद्ध द्वारा जब नाजी जर्मनी और फैसिस्ट इटली परास्त हो गये, तो कम्युनिज्म के उत्कर्ष के लिए मार्ग साफ हो गया। अब पूर्वी यूरोप के अनेक राज्यों में कम्युनिस्ट शासन स्थापित हुए, और एशिया में चीन जैसे विशाल देश में कम्युनिस्टों की सरकार कायम हो गई। अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियों की शक्ति में वृद्धि हुई। द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार के विविध राज्य दो भागों में विभक्त हो गए, एक वे जो पुराने ढंग के लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती थे, और दूसरे वे जो राजनीतिक समानता को पर्याप्त न समझ कर आर्थिक क्षेत्र में भी समता को स्थापित करना चाहते थे। लोकतन्त्रवाद के अनुयायियों में संयुक्त-राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस प्रमुख हैं, और कम्युनिज्म के अनुयायियों में रूस, चीन, चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड अग्रणी हैं। लोकतन्त्रवाद और समाजवाद के अनुयायी होने के आधार पर अब संसार के विविध देश दो गुटों में विभक्त हो गये, जिनमें सामाजिक संगठन और आर्थिक नीति के सम्बन्ध में गहरा मतभेद है। यह भेद केवल विदेशी राज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नीति के प्रश्न पर ही नहीं है, अपितु आन्तरिक नीति के विषय में भी है। वस्तुतः, लोकतन्त्रवाद और समाजवाद दो ऐसी विभिन्न सभ्यताओं व संस्कृतियों के प्रतिनिधि हैं, जिनमें मौलिक रूप से भेद है। महायुद्ध के समय में अमेरिका और रूस एक पक्ष में थे, और फैसिज्म के विनाश के लिये उन्होंने परस्पर मिल कर प्रयत्न किया था। पर महायुद्ध की समाप्ति पर उनमें इतना अधिक मतभेद प्रकट हुआ, कि उसके सम्मुख जर्मनी, इटली या जापान की पुरानी प्रवृत्तियों के विरोध का कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया। १९४५ के बाद के इतिहास में समाजवाद और लोकतन्त्रवाद का यह विरोध ही प्रधान तत्त्व बन गया, और विविध देशों के पारस्परिक सम्बन्धों का निर्धारण इसी के आधार पर होने लगा।

१९३९ तक संसार में ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, रूस, अमेरिका, जापान और चीन को प्रमुख राज्य माना जाता था, और जर्मनी तथा इटली का भी विश्व की राजनीति में पर्याप्त महत्त्व था। पर द्वितीय महायुद्ध के बाद इस दशा में परिवर्तन आया। अब केवल दो राज्य ही प्रमुख एवं सर्वाधिक शक्तिशाली रह गए, रूस और संयुक्तराज्य अमेरिका। ये दोनों देश जहाँ दो परस्पर-विरोधी व्यवस्थाओं के प्रतिनिधि हैं, वहां वैज्ञानिक आविष्कार, औद्योगिक क्रान्ति और सैन्य-शक्ति की दृष्टियों से भी इनका सर्वोपरि स्थान है। ब्रिटेन, फ्रांस, जापान और जर्मनी अब द्वितीय श्रेणी के राज्य हो गये, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उनका वह प्रमुख स्थान नहीं रह गया, जो कि १९३९ तक उन्हें प्राप्त था।

पुराने ढंग के साम्राज्यवाद का ह्रास द्वितीय महायुद्ध का एक अन्य महत्त्वपूर्ण परिणाम है। भारत, लंका और मलाया आदि पर ब्रिटेन का, इन्डोचायना पर फ्रांस का, इन्डोनीसिया पर हालैण्ड का, फिलिप्पीन आदि पर अमेरिका का, और मञ्चूरिया पर जापान का प्रभुत्व अब समाप्त हो गया है। पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकार ये विभिन्न देश अब सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बन चुके हैं। एशिया का पाश्चात्य देशों की अधीनता से मुक्त हो जाना आधुनिक इतिहास की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना है। पर इसके कारण साम्राज्यवाद का मूलतः अन्त नहीं हो गया है, केवल उसके स्वरूप में ही परिवर्तन हुआ है। पुराने ढंग के साम्राज्यों का स्थान अब विचार-धाराओं पर आश्रित प्रभाव-क्षेत्रों ने ले लिया है। रूस और अमेरिका इस नये प्रकार के साम्राज्यवाद के प्रधान नेता हैं। जिन-जिन देशों में कम्युनिस्ट शासन स्थापित होते जाते हैं, वे रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आते जाते हैं। इसी कारण पूर्वी यूरोप के अनेक देश रूस के प्रभाव में आ गये हैं। पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में भी कम्युनिज्म का प्रभाव बढ़ रहा है। जो देश अभी पुराने ढंग के लोकतन्त्रवाद के पक्षपाती हैं, उनके लिये आत्मरक्षा कर सकना सभी सम्भव है, जब कि वे अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र में आ जाएं। एशिया के पिछड़े हुए देश अपनी आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति तभी कर सकते हैं, जब कि वे किसी सम्पन्न, समृद्धिशाली एवं उन्नत देश से सहायता प्राप्त करें। द्वितीय महायुद्ध के कारण विविध देशों का जो भयंकर आर्थिक विनाश हुआ, उसकी क्षतिपूर्ति किसी सम्पन्न देश की सहायता के बिना सम्भव नहीं है। इसी कारण फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी और जापान आदि देशों ने अमेरिका से आर्थिक सहायता लेना स्वीकार कर के अपने को अमेरिका के प्रभाव-क्षेत्र में सम्मिलित कर दिया है। जो भी देश इस समय कम्युनिज्म के विरोधी हैं, अमेरिका की सहायता के बिना वे अपने को सुरक्षित नहीं समझ सकते। पिछड़े हुए देशों को भरपूर मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान कर अमेरिका ने उन पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध देशों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ले आने के सम्बन्ध में अमेरिका और रूस में संघर्ष भी जारी है। सर्वत्र कम्युनिस्ट और लोकतन्त्रवादी—दोनों दलों की सत्ता है। कम्युनिस्ट लोग रूस या चीन की सहायता से अपने देश की उन्नति के पक्षपाती हैं, और लोकतन्त्रवादी लोग संयुक्त-राज्य अमेरिका और अन्य उन्नत लोकतन्त्र देशों की सहायता प्राप्त करने के पक्ष में हैं। परस्पर-विरोधी विचारधाराओं के अनुयायी ये शक्तिशाली देश इस बात के भी प्रयत्न में हैं, कि संसार के अधिक से अधिक राज्यों को अपने प्रभाव में ले आयें। इसीलिये वे उनकी आन्तरिक राजनीति में भी हस्तक्षेप करते हैं, और धन, मशीनरी, शिल्प-विशेषज्ञ, युद्ध-सामग्री आदि को भरपूर मात्रा में प्रदान कर उन्हें अपने प्रभाव में रखने का प्रयत्न करते हैं। पश्चिमी एशिया के विविध देश भी इस संघर्ष से मुक्त नहीं है। ईराक, ईरान, अरब, सीरिया, पैलेस्टाइन आदि सर्वत्र संयुक्त-राज्य अमेरिका और रूस इस यत्न में लगे हैं, कि इन देशों की सरकारें उनके प्रभाव-क्षेत्र में आ जाएं। १९४५ तक इस क्षेत्र में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस का जो भी प्रभाव व प्रभुत्व विद्यमान था, उसका अब प्रायः अन्त हो चुका है। उसका स्थान अब इस क्षेत्र में अमेरिका और रूस की प्रतिद्वन्द्विता ने ले लिया है। द्वितीय महायुद्ध के बाद के पश्चिमी एशिया के इतिहास का भलीभांति समझने के लिये इस बात को दृष्टि में रखना बहुत आवश्यक है।

१९१४-१८ के महायुद्ध के बाद जिस राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशन्स) का संगठन हुआ था, वह अपने उद्देश्यों की पूर्ति में असफल रहा था। जर्मनी, इटली और जापान के उत्कर्ष के कारण उसके लिये यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वह युद्धों को रोक सके, और विविध राज्यों को अपने विवादों का शान्तिपूर्वक निर्णय करने के लिये विवश कर सके। इसीलिये द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद एक नये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया गया, जिसे संयुक्त राष्ट्र-संघ (यूनाइटेड नेशन्स आर्गनिजेशन) कहते हैं। जर्मनी और उसके साथियों को परास्त करने में जो राज्य ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के साथ थे, वे इस संघ में शामिल हुए, और इसके सदस्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती गई। इस समय इसकी सदस्य-संख्या १४० के लगभग है, और यह संसार के विविध राज्यों का एक ऐसा संगठन हैं, जिसकी उपेक्षा कर सकना किसी भी देश के लिये सुगम नहीं है। पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास में इस संघ ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया है, और इस क्षेत्र की अनेक समस्याएं इस द्वारा सुलझायी भी गई हैं।

(२) यहूदियों की समस्या और इजराईल का निर्माण

महायुद्ध के बाद पश्चिमी एशिया के इतिहास में यहूदियों की समस्या का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह समस्या क्या थी और किन कारणों से इसका प्रादुर्भाव तथा विकास हुआ, इस पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। १९४३-४४ में जर्मन पक्ष के कमजोर पड़ जाने पर यहूदियों ने पैलेस्टाइन में अपने 'राष्ट्रीय राज्य' की स्थापना के लिए जिस उग्र आन्दोलन और आतंकवाद का प्रारम्भ कर दिया था, उसके सम्बन्ध में भी हम पहले लिख चुके हैं। मई, १९४५ में जब यूरोप में महायुद्ध का अन्त हो गया, तो यहूदियों ने समझा कि अपनी राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति का अब उपयुक्त समय आ गया है। जुलाई, १९४५ में ब्रिटिश पार्लियामेंट का नया चुनाव हुआ, जिसमें मजदूर दल की विजय हुई। यहूदियों को आशा थी, कि नई मजदूर सरकार उनकी मांगों को न्याय्य समझेगी, और उन्हें स्वीकार करने में विलम्ब नहीं करेगी। पर तीन मास बीत गये, और ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने यहूदियों की समस्या को हल करने के सम्बन्ध में कोई महत्वपूर्ण पग नहीं उठाया। यहूदियों में इससे बहुत असन्तोष उत्पन्न हुआ, और वे ऐसे कार्य करने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए तत्पर हो गए जिनसे ब्रिटिश सरकार का ध्यान उनकी समस्या की ओर आकृष्ट हो, और वह यह अनुभव करे कि इस प्रश्न को देर तक टाला नहीं जा सकता। इसीलिए आतंकवादी यहूदी दलों ने मारकाट और तोड़फोड़ के कार्यों को अधिक उग्रता के साथ प्रारम्भ कर दिया। १ अक्टूबर, १९४५ की रात को १३३ स्थानों पर रेलवे लाइन उड़ा दी गई, पुलिस के तीन मोटर लान्चों को नष्ट कर दिया गया, लिड्डा के रेलवे यार्ड पर हमला किया गया, और हैफ्फा में विद्यमान तेल साफ करने के कारखाने को आग लगा दी गई। इसी प्रकार के अन्य भी अनेक कार्य किये गए, जिनका उद्देश्य यही था कि पैलेस्टाइन में ब्रिटिश सरकार का शासन असम्भव हो जाय, और ब्रिटेन का मन्त्रिमण्डल यह भली-भांति समझ ले कि अब यहूदियों की मांगों को स्वीकार किये बिना काम नहीं चल सकता। पर ब्रिटिश सरकार के लिए पैलेस्टाइन की समस्या को हल कर सकना सुगम नहीं था। यदि वह यहूदियों की बात मान लेती, तो अरब लोग असन्तुष्ट हो जाते, और अरब देशों में ब्रिटेन के विरुद्ध लोकमत प्रबल हो जाता। यदि वह यहूदियों की मांगों को स्वीकार न करती, तो वे उग्रतर आतंकवादी उपायों का अवलम्बन करते, और इस प्रकार पैलेस्टाइन में शासन व व्यवस्था को कायम न रहने देने का उद्योग करते। संसार भर के यहूदियों की सहानुभूति इस समय पैलेस्टाइन के अपने जाति-बन्धुओं के साथ थी। वे कहते थे, कि यूरोप से जो लाखों यहूदी विस्थापित हो रहे हैं, उन्हें कहीं तो बसना ही चाहिए, और इसके लिए पैलेस्टाइन से बढ़ कर और कौन-सा प्रदेश हो सकता है। १९४४ में संयुक्तराज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का नया निर्वाचन हुआ था। अमेरिका में यहूदी लोग अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं, और वे अत्यन्त समृद्ध एवं सम्पन्न भी है। अतः वहां के दोनों दल--रिपब्लिकन और डेमोक्रेट—यहूदियों के वोटों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे, और बढ़-बढ़ कर यह वायदा कर रहे थे, कि चुनाव में सफल हो जाने के बाद वे बिल्टमोर प्रोग्राम को क्रियान्वित करने के लिए अपनी शक्ति को लगा देंगे। चुनाव में मि० ट्रूमैन सफल हुए, और राष्ट्रपति का पद ग्रहण करके उन्होंने ब्रिटिश सरकार से यह अनुरोध किया (अक्टूबर, १९४५), कि यूरोप से विस्थापित हुए यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसाया जाय, और एक लाख ऐसे यहूदियों को तुरन्त इस प्रदेश में प्रवेश करने की अनुमति प्रदान कर दी जाय। ब्रिटेन के लिए राष्ट्रपति ट्रूमैन के इस अनुरोध की उपेक्षा कर सकना असम्भव था, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अब ब्रिटेन का महत्त्व बहुत कम हो गया था, और अमेरिका की शक्ति बहुत बढ़ गई थी। इसीलिए ब्रिटेन के परराष्ट्र सचिव मि० बेविन ने नवम्बर, १९४५ में यह घोषणा की, कि इंगलैंड और अमेरिका की एक संयुक्त कमेटी इस प्रयोजन से नियत की जायगी, कि वह नाजी अत्याचारों के कारण यूरोप से विस्थापित हुए यहूदियों को पैलेस्टाइन में बसाने की समस्या पर विचार करके यह परामर्श दे, कि उस देश के निवासियों के हित और कल्याण को दृष्टि में रखते हुए इन यहूदियों को वहां कैसे बसाया जा सकता है, और इस सम्बन्ध में क्या कार्यक्रम क्रियात्मक व सम्भव है।

इस घोषणा से यहूदियों को बहुत असन्तोष हुआ। उन्होंने समझा, कि ब्रिटिश सरकार उनकी समस्या को टालने का प्रयत्न कर रही है। उन्होंने घोषित किया, कि राष्ट्रसंघ द्वारा जिस मैन्डेट के अधीन पैलेस्टाइन का शासन ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया था, उसमें स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था कि यहूदियों की समस्या तभी हल हो सकती है, जब कि उन्हें पैलेस्टाइन में अधिक से अधिक संख्या में बसाया जाय, और इस प्रकार यहूदियों के लिए एक ऐसे राज्य का निर्माण कर दिया जाय, जिसे कि वे अपना समझ सकें। प्रत्येक यहूदी को यह अधिकार है, कि वह पैलेस्टाइन में जाकर बस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संके, चाहे इसके लिए वह राजनीतिक कारणों से विवश हो और चाहे आध्यात्मिक कारणों से। यहूदी लोग तब तक चैन नहीं लेंगे, जब तक कि पैलेस्टाइन में उनका अपना राज्य कायम नहीं हो जायगा, और इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त वे बड़ी से बड़ी कुर्बानी करने के लिए तत्पर रहेंगे। इस घोषणा के बाद पैलेस्टाइन में यहूदी आतंकवाद ने फिर अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लिया। इसी समय जेरुसलम में स्थित ब्रिटिश पुलिस हैडक्वार्टर पर हमला किया गया, जिसमें बहुत-से ब्रिटिश सिपाही जान से मारे गए। इसी समय जाफ्फा और तेल-अवीव में भी यहूदी क्रान्तिकारियों ने अनेक आतंकवादी कार्य किए। जब यहूदियों के नेता वेन गूरियो का ध्यान इन कार्यों की ओर आकृष्ट किया गया, तो उसने उत्तर दिया कि पैलेस्टाइन में हत्या, मारकाट और तोड़फोड़ के जो कार्य हो रहे हैं, हम उनसे सहमत तो नहीं हैं, पर साथ ही हम यह भी समझते हैं कि ब्रिटिश सरकार की पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में जो नीति है, उसी पर इन दुर्घटनाओं की जिम्मेवारी है। उस नीति के रहते हुए हमारे लिए यह सम्भव नहीं है, कि हम यहूदियों को ऐसे कार्यों से रोकने के सम्बन्ध में कोई सक्रिय पग उठा सकें।

नवम्बर, १९४५ की घोषणा के अनुसार जो ऐंग्लो-अमेरिकन संयुक्त समिति यहूदियों की समस्या पर विचार करने के लिये नियुक्त की गई थी, इस बीच में उसने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया था। उसके अधिवेशन वाशिंगटन, लण्डन और जेरुसलम आदि में हो रहे थे। एप्रिल, १९४६ में इस समिति ने अपना कार्य समाप्त कर लिया, और १ मई के दिन अपनी रिपोर्ट भी प्रकाशित कर दी। इस रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें की गई थीं—(१) राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा पैलेस्टाइन के शासन का जो अधिकार ब्रिटेन को प्रदान किया गया था, उसे तब तक जारी रखा जाए, जब तक कि इस देश में अरबों और यहूदियों के विरोध का अन्त न हो जाए। (२) नाजी अत्याचारों के कारण विस्थापित हुए यहूदियों में से एक लाख को तुरन्त पैलेस्टाइन में बसने की अनुमति प्रदान की जाए। यह सही है, कि सब विस्थापित यहूदियों को पैलेस्टाइन में नहीं बसाया जा सकता, पर वहां के अन्य निवासियों के अधिकारों तथा हितों में बाधा न डालते हुए इन यहूदियों को वहां अधिक से अधिक संख्या में बसाया जाना चाहिये। (३) पैलेस्टाइन के कतिपय प्रदेशों में यहूदियों द्वारा जमीन और अन्य सम्पत्ति खरीदने के सम्बन्ध में जो कानून वहां के ब्रिटिश हाई कमिश्नर द्वारा बनाये गये थे, उनमें ऐसे संशोधन किये जाएं, जिनसे कि यहूदियों के लिये वहां जमीन आदि खरीद सकना सुगम हो जाए। (४) पैलेस्टाइन में आतंकवाद और मारकाट को सहन न किया जाए, और इनके दमन के लिये सब सम्भव उपायों को काम में लाया जाए। (५) विश्व यहूदी-संघ और यहूदी एजेन्सी अपने जाति-बन्धुओं द्वारा पैलेस्टाइन में किये जाने वाले आतंकवादी कार्यों को रोकने के लिये अपनी शक्ति तथा प्रभाव का उपयोग करें।

एंग्लो-अमेरिकन संयुक्त समिति की ये सिफारिशें पैलेस्टाइन में अरब हितों के लिये विघातक थीं। वे १९३९ के व्हाइट पेपर द्वारा प्रतिपादित नीति से भी पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। पर इन सिफारिशों द्वारा तो उनके अन्यतम देश में यहूदियों के बसते जाने के सम्बन्ध में कोई बाधा ही नहीं रह जाती थी। अब अरबों ने यह मांग शुरू की, कि पैलेस्टाइन से ब्रिटिश मैन्डेट का अन्त कर उसे पूर्णतया स्वाधीन कर दिया जाए, वहां से ब्रिटिश सेनाएं हटा ली जाएं, और उसे एक स्वाधीन लोकतन्त्र अरब राज्य बनने दिया जाए। अरबों ने यह भी धमकी दी, कि यदि उनकी इन मांगों को स्वीकृत नहीं किया जाएगा, तो वे रूस से सहायता के लिये अपील करेंगे। अमेरिका और रूस का विरोध इस समय प्रकट होना शुरू हो चुका था, अतः अरब लोग रूस से सहायता की आशा रख सकते थे। यहूदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग इस रिपोर्ट से पूर्णतया संतुष्ट तो नहीं थे, पर उन्होंने अनुभव किया कि इस द्वारा उनकी मांगें प्रायः पूर्ण हो जाती हैं, और पैलेस्टाइन के एक यहूदी राज्य बन सकने का मार्ग खुल जाता है। अतः उन्होंने इस रिपोर्ट का स्वागत किया।

पर ब्रिटिश सरकार के लिये इस रिपोर्ट को सर्वांश में स्वीकृत कर सकना सुगम नहीं था। पैलेस्टाइन में यहूदियों का आतंक तो जारी था ही, इस रिपोर्ट की सिफारिशों को स्वीकार कर लेने का यह परिणाम होता, कि अरब लोग भी वहां मारकाट एवं तोड़-फोड़ की नीति का अनुसरण करने लग जाते। यहूदियों के इस समय पैलेस्टाइन में अनेक सैनिक संगठन विद्यमान थे। ये अरबों के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर देते, और जो मारकाट व गृह-कलह शुरू हो जाता, उसको संभाल सकना ब्रिटेन के लिये बहुत कठिन होता। इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने यह निर्णय किया, कि जब तक पैलेस्टाइन में विद्यमान विविध यहूदी सैनिक संगठनों को भंग नहीं कर दिया जायगा, एक लाख नये यहूदियों को वहां प्रविष्ट होने की अनुमति दे सकना सम्भव नहीं होगा। नये यहूदी वहां तभी आने दिये जा सकते हैं, जबकि पैलेस्टाइन में यहूदियों के आतंकवाद का अन्त हो जाए। ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय से यहूदी लोग भड़क गये। उन्होंने कहा, कि हमारे जो भी संगठन पैलेस्टाइन में विद्यमान हैं, उनका प्रयोजन केवल आत्मरक्षा करना ही है। मारकाट व तोड़-फोड़ के जो थोड़े-बहुत कार्य वहां होते रहते हैं, वे कतिपय गैरजिम्मेदार लोगों द्वारा ही किये जाते हैं, और उनके लिये यहूदियों के आत्मरक्षा के प्रयोजन से स्थापित संगठनों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इन संगठनों को कायम रखना बहुत जरूरी है, क्योंकि इनके बिना यहूदी लोग अरबों से अपनी रक्षा कदापि नहीं कर सकते। एंग्लो-अमेरिकन संयुक्त समिति की सिफारिशों को किस प्रकार क्रियान्वित किया जा सकता है, इस बात पर विचार करने के लिये ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल ने अमेरिका के राष्ट्रपति से अनुरोध किया, कि वह अपना सहयोग ब्रिटेन को प्रदान करें, ताकि ब्रिटेन और अमेरिका मिलकर पैलेस्टाइन की समस्या को हल कर सकें। राष्ट्रपति ट्रुमैन ने इस सुझाव को स्वीकार कर लिया, और अपने प्रतिनिधि इस उद्देश्य से लण्डन भेजे कि वे वहां जाकर ब्रिटिश सरकार से मिलें, और यहूदियों के प्रश्न के सम्बन्ध में परामर्श करें। पर यहूदी लोग इतने उतावले हो रहे थे, कि वे और अधिक प्रतीक्षा के लिये किसी भी प्रकार तैयार नहीं हुए, और उन्होंने फिर आतंकवाद का प्रयोग करना प्रारम्भ कर दिया। १६ जून, १९४६ को उन्होंने आठ पुलों को उड़ा दिया, जिससे ३५ लाख रुपयों का नुकसान हुआ, और रेल तथा सड़क द्वारा यातायात में बहुत रुकावट उत्पन्न हो गई। कुछ दिनों बाद २२ जुलाई को उन्होंने किंग डेविड होटल के एक हिस्से को बम्ब से उड़ा दिया, जिसके कारण ९१ व्यक्ति जान से मारे गये। यह होटल पैलेस्टाइन की ब्रिटिश सेना का हेडक्वार्टर था।

इस बीच में ब्रिटिश और अमेरिकन प्रतिनिधि पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में एक ऐसी योजना को तैयार करने में तत्पर थे, जो अरब और यहूदी दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो सके। ३१ जुलाई, १९४६ के दिन यह योजना प्रकाशित कर दी गई। योजना यह थी, कि पैलेस्टाइन को एक संघ-राज्य (फिडरेशन) के रूप में परिवर्तित कर दिया जाय, जिस में दो राज्य अन्तर्गत हों—एक अरब राज्य और दूसरा यहूदी राज्य। दोनों को स्वशासन के अधिकार प्राप्त रहें, और साथ ही इस बात के निर्धारण का अधिकार भी कि उनमें बाहर से आकर कोई लोग बस सकें या नहीं। ब्रिटिश सरकार ने यह भी निश्चय किया, कि इस योजना को अधिक स्पष्ट रूप देने के लिये एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जायगा, जिसमें कि अरब और यहूदी दोनों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे। पर इस कान्फरेन्स की सफलता बहुत संदिग्ध थी। दोनों पक्ष इसमें तभी शामिल होना चाहते थे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जबकि पहले ही वे यह आश्वासन प्राप्त कर लें कि कान्फरेन्स में उनके हित सुरक्षित रहेंगे। यहूदी लोग कहते थे, कि पैलेस्टाइन के संघ के अन्तर्गत जो यहूदी राज्य बनाया जाय, वह इतना बड़ा अवश्य होना चाहिए कि उसमें यहूदियों के बस सकने के लिये काफी गुञ्जाइश रहे। पैलेस्टाइन के ६५ प्रतिशत भाग को वे यहूदी राज्य के अन्तर्गत कर देना चाहते थे। इसी प्रकार अरब लोगों की भी अनेक मांगें थीं। वे चाहते थे, कि कान्फरेन्स में अरबों के जो प्रतिनिधि लिये जाएं, वे सच्चे अर्थों में पैलेस्टाइन के अरबों के प्रतिनिधि होने चाहियें, और कान्फरेन्स में कोई ऐसा निर्णय नहीं होना चाहिये, जिसके कारण पैलेस्टाइन में अरबों की प्रमुखता न रहे, क्योंकि वस्तुतः यह देश अरबों का ही है। कान्फरेन्स में सम्मिलित होने के लिये अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को भी निमन्त्रित किया गया था, क्योंकि पैलेस्टाइन के मामले में सभी अरबों को दिलचस्पी थी।

पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिये ब्रिटिश सरकार ने जिस कान्फरेन्स का आयोजन किया था, उसके अधिवेशन लण्डन में शुरू हुए। पर उसमें पैलेस्टाइन से न अरब प्रतिनिधि शामिल हुए और न यहूदी। अन्य अरब राज्यों के प्रतिनिधि उसमें आये, और साथ ही पैलेस्टाइन से बाहर के यहूदियों के भी। इस कान्फरेन्स में अरबों ने इस बात पर जोर दिया, कि पैलेस्टाइन का अंग-भंग न कर उसे एक राज्य रहने दिया जाए, और उसे सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त हो। इस राज्य का शासन लोकतन्त्र हो, और उसमें अरब और यहूदी—दोनों को समान अधिकार प्राप्त रहें। यहूदियों की भाषा हिब्रू को भी अन्यतम राजकीय भाषा स्वीकार किया जाए, और शिक्षा आदि के लिये भी उसका प्रयोग हो सके। भविष्य में यहूदियों के पैलेस्टाइन में प्रवेश को पूर्णतया रोक दिया जाए, और यहूदियों द्वारा जमीन आदि खरीद सकने को नियन्त्रित करने के सम्बन्ध में जो कानून विद्यमान हैं, उन्हें कायम रखा जाए। इनमें तब तक कोई संशोधन न हो सके, जब तक कि विधान सभा के अरब सदस्यों का बहुमत उसे स्वीकार न कर ले। पर ब्रिटेन के लिये अरबों के इन प्रस्तावों को स्वीकृत कर सकना सम्भव नहीं था, क्योंकि इनसे पैलेस्टाइन की समस्या हल नहीं हो पाती थी। इस समय तक वहां यहूदियों की आबादी ६,००,००० से ऊपर पहुंच चुकी थी, और ये यहूदी भली-भांति सुसंगठित भी थे। ये पैलेस्टाइन में अपना राष्ट्रीय राज्य स्थापित करने के लिये कटिबद्ध थे, और साथ ही इस बात के लिये भी उत्सुक थे, कि यूरोप के विस्थापित यहूदियों को वहाँ अधिक से अधिक संख्या में बसाया जाए। पैलेस्टाइन का अंग-भंग न करके उसमें लोकतन्त्र शासन की स्थापना का केवल यह परिणाम होता, कि वहाँ की विधान सभा में अरबों की संख्या अधिक रहती, और यहूदी उनके सम्मुख अपने को असहाय अनुभव करते।

इस बीच में ब्रिटिश सरकार यहूदियों के साथ बातचीत में भी तत्पर थी। इसी कारण उसने बहुत-से गिरफ्तार यहूदी नेताओं को जेल से मुक्त भी कर दिया था। दिसम्बर, १९४६ में विश्व यहूदी कांग्रेस का २२ वां अधिवेशन हुआ। इसमें बहुमत द्वारा यह निर्णय किया गया, कि यहूदी लोग लण्डन कान्फरेन्स में तब तक कोई हिस्सा न लें, जब तक कि ब्रिटिश सरकार यह वायदा न कर ले कि यहूदियों के पैलेस्टाइन में जाकर बसने के सम्बन्ध में जो रुकावटें हैं, उन्हें तुरन्त हटा दिया जायगा। साथ ही, कांग्रेस द्वारा पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में निम्नलिखित योजना भी निर्धारित की गई—(१) पैलेस्टाइन का अंग-भंग न करके उसे एक ही राज्य रखा जाए। इस राज्य में अरबों और यहूदियों को समान अधिकार प्राप्त रहें। (२) यूरोप के विस्थापित यहूदियों को वहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वेच्छापूर्वक बसने दिया जाए। सात लाख यहूदी वहां और बसाये जाएं, ताकि पैलेस्टाइन में यहूदियों की बहुसंख्या हो जाए।

ब्रिटिश सरकार विश्व यहूदी कांग्रेस की इस योजना को स्वीकृत नहीं कर सकती थी। उसके लिये न अरबों की योजना को स्वीकार कर सकना सम्भव था, और न यहूदियों की योजना को। इस दशा में लण्डन कान्फरेन्स के अधिवेशन बिल्कुल बेकार थे। उधर यहूदी लोग हिंसात्मक व आतंकमय उपायों का अवलम्बन करने में भी तत्पर थे। १२ जनवरी, १९४७ के दिन उन्होंने हैफ्फा के पुलिस हैडक्वार्टर पर बम्ब फेंके, जिसके कारण ५ आदमी जान से मारे गये, और ३४ घायल हुए। जब इस हत्या के अपराध में पैलेस्टाइन के एक न्यायालय ने एक यहूदी को प्राणदण्ड दिया, तो आतंकवादी यहूदी दो ब्रिटिश अफसरों को उड़ा कर ले गये। इस समय पैलेस्टाइन की स्थिति इतनी खराब हो गई थी, कि अंग्रेजों के लिये वहां रह सकना भी सम्भव नहीं रहा था। इसीलिये ३१ जनवरी, १९४७ के दिन सरकार ने यह आर्डर जारी किया, कि सब ब्रिटिश स्त्रियों और बच्चों को पैलेस्टाइन से बाहर भेज दिया जाए, और ऐसे सब अंग्रेज पुरुष भी वहां से चले जाएं, जिनका वहां रहना सर्वथा अनिवार्य न हो। शक्ति का प्रयोग कर यहूदी आतंकवाद का मुकाबिला कर सकना अब पैलेस्टाइन की ब्रिटिश सरकार के लिये सम्भव नहीं रह गया था।

लण्डन कान्फरेन्स को जारी रखना बेकार समझ कर १४ फरवरी, १९४७ को ब्रिटेन के परराष्ट्र-सचिव ने यह घोषित किया, कि पैलेस्टाइन की समस्या को अब संयुक्त राष्ट्रसंघ के सुपुर्द किया जाता है। एप्रिल मास में संयुक्त राष्ट्र-संघ की जनरल एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन बुलाया गया। दो सप्ताह के विचार-विमर्श के बाद जनरल एसेम्बली ने पैलेस्टाइन की समस्या पर विचार करने के लिये एक स्पेशल कमेटी की नियुक्ति की, जिसके सदस्यों में भारत के प्रतिनिधि को भी स्थान दिया गया था। १ सितम्बर को इस कमेटी ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित कर दी। कमेटी के १० सदस्यों में से ३ ने अपनी पृथक् रिपोर्ट लिखी, क्योंकि वे बहुसंख्यक सदस्यों की रिपोर्ट से असहमत थे। कमेटी के बहुमत ने अपनी रिपोर्ट में ये सिफारिशें की थीं—(१) पैलेस्टाइन को दो राज्यों में विभक्त कर दिया जाए, एक यहूदी राज्य और दूसरा अरब राज्य। प्रस्तावित अंग-भंग के अनुसार गेलिली के प्रदेश को भी दो भागों में विभक्त किया गया था, जिसका पश्चिमी भाग यहूदी राज्य में रखा गया था, और पूर्वी भाग अरब राज्य में। गेलिली के दक्षिण में स्थित वीरशेबा का प्रदेश भी इस योजना द्वारा यहूदी राज्य के अन्तर्गत होता था। पैलेस्टाइन का जिस ढंग से अंग-भंग इस रिपोर्ट द्वारा किया गया था, उसमें अरबों को कोई भी बन्दरगाह नहीं मिलता था, क्योंकि समुद्र-तट के साथ के सब पश्चिमी प्रदेश यहूदी राज्य के अन्तर्गत रखे गये थे। (२) अगले दो सालों में १,५०,००० यहूदियों को पैलेस्टाइन के यहूदी राज्य में बसने की अनुमति दी जाए। (३) यहूदी राज्य में यहूदियों द्वारा जमीन व अन्य सम्पत्ति के क्रय कर सकने में कोई रुकावट न रहे। (४) यद्यपि दोनों राज्य शासन के सम्बन्ध में पूर्णरूप से स्वतन्त्र हों, पर आर्थिक मामलों के लिये उनको एक संघ में संगठित किया जाए। (५) राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा पैलेस्टाइन का शासन अब तक ब्रिटेन के सुपुर्द था, अब इस मैन्डेट का अन्त कर दिया जाए। पर जब तक इस योजना के अनुसार दोनों नये राज्य कायम न हो जाएं, पैलेस्टाइन का शासन ब्रिटेन के हाथों में रहे।

संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा नियुक्त स्पेशल कमेटी की रिपोर्ट के प्रकाशित हो जाने के बाद भी पैलेस्टाइन में शान्ति स्थापित नहीं हुई, क्योंकि यहूदी और अरब—दोनों ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसकी सिफारिशों से पूर्णतया संतुष्ट नहीं थे। हिंसात्मक व आतंकमय कार्य अब भी जारी रहे। इस दशा में २६ सितम्बर, १९४७ के दिन ब्रिटिश सरकार के उपनिवेश-सचिव ने घोषित किया, कि पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में किसी ऐसी नीति को क्रियान्वित कर सकना ब्रिटेन के लिये सम्भव नहीं है, अरब और यहूदी दोनों जिससे सहमत न हों। अतः ब्रिटेन के सम्मुख केवल यही मार्ग शेष रह जाता है, कि वह अपनी सेना और राजकर्मचारियों को इस देश से वापस बुला ले। अब संयुक्त राष्ट्रसंघ को शीघ्र ही कोई ऐसा निर्णय करना था, जो अरब और यहूदी दोनों को स्वीकार्य हो। स्पेशल कमेटी की रिपोर्ट पर संयुक्त राष्ट्र-संघ ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया। महायुद्ध के बाद संसार की राजनीति में रूस और संयुक्तराज्य अमेरिका की प्रमुखता थी। ये दोनों शक्तिशाली राज्य जिस बात पर एकमत हो जाएं, अन्य राज्यों के लिए उसका विरोध कर सकना सुगम नहीं था। अमेरिका और रूस पैलेस्टाइन के प्रश्न पर एकमत हो गये, और कुछ संशोधनों के साथ उन्होंने स्पेशल कमेटी की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया। २९ नवम्बर, १९४७ को संयुक्त राष्ट्र-संघ की जनरल एसेम्बली ने भी इन दो राज्यों द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में अब यह व्यवस्था की गई, कि उसका अंग-भंग करके यहूदी और अरब राज्यों की पृथक् रूप से स्थापना कर दी जाए। संयुक्त राष्ट्र-संघ की जनरल एसेम्बली में मुस्लिम राज्यों ने इस व्यवस्था के विरुद्ध वोट दिया था, और ब्रिटेन ने तटस्थता की नीति का अनुसरण कर अपने वोट का प्रयोग ही नहीं किया था। पर रूस और अमेरिका जैसे प्रबल राज्यों का समर्थन प्राप्त हो जाने के कारण इस प्रस्ताव के पक्ष में दो तिहाई वोट प्राप्त हो सकना कठिन नहीं था।

यह स्वाभाविक था, कि अरबों में इस निर्णय के कारण विरोध एवं विद्रोह की भावना उत्पन्न हो। वे पैलेस्टाइन को एक अरब राज्य समझते थे, और वहां उनकी बहुसंख्या भी थी। अपने देश के एक बड़े भाग का यहूदी राज्य के रूप में परिवर्तित हो जाना उन्हें किसी भी प्रकार स्वीकार्य नहीं था। परिणाम यह हुआ, कि वे शस्त्रशक्ति का प्रयोग कर संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णय का विरोध करने के लिये उठ खड़े हुए। जेरुसलम के मुफ्ती ने इस विद्रोह का नेतृत्व ग्रहण किया, और अरबों की एक स्वातन्त्र्य सेना (लिबरेशन आर्मी) पैलेस्टाइन का अंग-भंग न होने देने के लिये संघर्ष करने के उद्देश्य से संगठित कर ली गई। उधर यहूदी लोग भी चुप नहीं बैठे थे। संयुक्त राष्ट्रसंग का निर्णय उनके पक्ष में था। मार्च, १९४८ में उन्होंने तेल अबीव में एक सामयिक यहूदी सरकार का निर्माण कर लिया, और संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णय के अनुसार जो प्रदेश यहूदी राज्य में सम्मिलित किये जाने थे, उनमें अपने शासन का संगठन शुरू कर दिया। यहूदियों की सुसंगठित सेनाएं पहले से ही विद्यमान थीं, जो अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिए ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करने में तत्पर रहती थीं। इन सेनाओं और अरबों की स्वातन्त्र्य सेना में बाकायदा लड़ाई छिड़ गई, जिसके कारण ब्रिटिश सरकार के लिये पैलेस्टाइन में शान्ति तथा व्यवस्था कायम रख सकना असम्भव हो गया। अरबों के लिये यहूदियों का मुकाबिला कर सकना सुगम नहीं था, क्योंकि यहूदी सेनाएं सुसंगठित थीं, और उनके पास अस्त्र-शस्त्रों की भी कमी नहीं थी। शीघ्र ही, यहूदियों ने प्रायः उन सब प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया, जो कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल एसेम्बली के प्रस्ताव के अनुसार यहूदी राज्य में सम्मिलित किये जाने थे। जेरुसलम भी उनके अधिकार में आ गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दशा में ब्रिटिश सरकार ने निश्चय किया, कि १४ मई, १९४८ के दिन वह पैलेस्टाइन से अपने शासन का अन्त कर दे। इस प्रदेश पर शासन का अधिकार ब्रिटेन को राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा प्राप्त हुआ था, और संयुक्त राष्ट्रसंघ की भी यह योजना थी, कि जब तक उसकी जनरल एसेम्बली के प्रस्ताव के अनुसार पैलेस्टाइन का अंग-भंग करके दो पृथक् राज्यों की स्थापना न कर दी जाए, ब्रिटेन वहां अपने शासन को जारी रखे। पर ब्रिटिश सरकार की दृष्टि में यह अक्रियात्मक था, कि वह एक ऐसी योजना को क्रियान्वित करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले सके, अरब और यहूदी दोनों जिसे स्वीकार न कर लें। अतः ब्रिटेन ने पहले ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख अपनी यह इच्छा प्रगट कर दी थी, कि वह १४ मई, १९४८ के दिन पैलेस्टाइन से अपनी जिम्मेदारियों का अन्त कर देगा। इस इच्छा से अवगत होते हुए भी राष्ट्रसंघ ने वहां के शासन को कोई नयी व्यवस्था नहीं की थी। १४ मई को ब्रिटिश हाई कमिश्नर पैलेस्टाइन छोड़कर अपने देश को चला आया, और वहां से ब्रिटिश शासन का अन्त हो गया। इसी दिन यहूदियों ने 'इजराईल' नाम से अपने पृथक् राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। संयुक्त राज्य अमेरिका ने तुरन्त इस यहूदी राज्य की सत्ता को स्वीकार कर लिया, और तीन दिन बाद १७ मई को रूस ने भी इस राज्य पर अपनी स्वीकृति की मुहर लगा दी। अन्य अनेक राज्यों ने अमेरिका और रूस का अनुसरण किया, जिसके कारण इजराईल ने अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र में एक पृथक् तथा स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली।

पर पैलेस्टाइन की समस्या अब भी हल नहीं हुई। इजराईल की स्थापना से केवल पैलेस्टाइन के अरब ही बेचैन नहीं हुए, अपितु पड़ौस के अन्य अरब राज्यों ने भी यह अनुभव किया, कि उनके अपने क्षेत्र में एक विजातीय एवं विधर्मी राज्य की सत्ता उनके अपने लिये भी अत्यन्त हानिकारक है। यहूदियों के विरोध में पहले भी पैलेस्टाइन के अरबों के प्रति उनकी सहानुभूति थी। इजराईल की स्थापना होते ही उन्होंने पैलेस्टाइन में हस्तक्षेप प्रारम्भ कर दिया। ईजिप्ट, ईराक, सीरिया और ट्रांस-जोर्डन की सेनाओं ने विभिन्न दिशाओं से पैलेस्टाइन में प्रवेश किया (मई, १९४८), और उन सब प्रदेशों पर अपना कब्जा कर लिया, संयुक्त राष्ट्रसंघ की योजना के अनुसार जिन्हें अरब राज्य के अन्तर्गत किया गया था। जेरुसलम के लिये उन्होंने घमासान लड़ाई लड़ी, और इस नगरी के उत्तरी भाग को जिसे पुराना शहर कहते हैं—अपने अधिकार में कर लिया। अरब आक्रान्ताओं का कार्य इतने से ही पूरा नहीं हो गया। वे चाहते थे कि सम्पूर्ण पैलेस्टाइन को अपने प्रभुत्त्व में ले आयें, और यहूदी लोग वहां अपने पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना न कर सकें। पर यहूदी भी युद्ध के लिए तैयार थे, उनकी सुसंगठित सेनाएं थीं, और युद्ध-सामग्री की उनके पास कोई कमी नहीं थी। संसार भर के यहूदी धन और जन से उनकी सहायता के लिए तत्पर थे। कुशल सेनापतियों व सैन्य-संचालकों का भी उनके पास अभाव नहीं था। इसके विपरीत अरब सेनाएं संख्या में अधिक होने पर भी अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध-कुशलता में यहूदियों का मुकाबिला नहीं कर सकती थीं। परिणाम यह हुआ, कि अनेक रणक्षेत्रों में यहूदियों की विजय हुई, और शीघ्र ही वे कतिपय ऐसे प्रदेशों पर भी अपना कब्जा कर सकने में सफल हो गये, जो संयुक्त राष्ट्र-संघ की व्यवस्था के अनुसार अरब राज्य के अन्तर्गत किये गये थे।

पैलेस्टाइन से ब्रिटिश मैन्डेट का अन्त हो जाने (१४ मई, १९४८) के बाद इस देश की सब जिम्मेदारी संयुक्त राष्ट्रसंघ पर आ गई थी। यहूदियों और अरबों में बाकायदा युद्ध छिड़ जाने पर अब राष्ट्र-संघ को ही इस स्थिति को संभालना था। पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में अब निम्नलिखित समस्याएं थीं—(१) अरबों और यहूदियों के युद्ध का अन्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर शान्ति स्थापित करना, (२) युद्ध के कारण यहूदियों ने अपने कब्जे में आये हुए प्रदेशों में अरबों के लिये निवास कर सकना असम्भव बना दिया था। लाखों की संख्या में अरब लोग अपने घर-बार को छोड़ देने के लिए विवश हुए थे। इन विस्थापित अरबों को बसाने की समस्या भी बहुत जटिल थी। (३) युद्ध के कारण पैलेस्टाइन के कुछ प्रदेश यहूदियों के कब्जे में थे, और कुछ अरबों के। यहूदी और अरब क्षेत्रों का आधार उनकी सैन्यशक्ति ही थी, सोच समझ कर किया गया निर्णय नहीं। इन दोनों क्षेत्रों की स्थायी सीमा भी निर्धारित की जानी थी। (४) जेरुसलम का एक भाग अरबों के कब्जे में था, और दूसरा यहूदियों के। इस नगरी के सम्बन्ध में भी फैसला किया जाना था।

इन समस्याओं को हल करने के लिये संयुक्त राष्ट्र-संघ ने काउन्ट बर्नाडोट को नियत किया, और उन्हें यह अधिकार दिया, कि वे दोनों पक्षों से बातचीत करके युद्ध को बन्द कराने का प्रयत्न करें। जून, १९४८ में काउन्ट बर्नाडोट ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया, और वे दो बार अरबों और यहूदियों के युद्ध को स्थगित कराने और सामयिक रूप से सुलह कर लेने के लिए प्रेरित कर सकने में भी सफल हुए। पर युद्ध को स्थगित कर देने मात्र से ही तो पैलेस्टाइन की समस्या का हल नहीं हो जाता था। असली प्रश्न यह था, कि यहूदी और अरब राज्यों की कोई ऐसी सीमा निर्धारित की जाए, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य हो। इस सम्बन्ध में काउन्ट बर्नाडोट ने जो प्रस्ताव पेश किए, उन द्वारा अनेक ऐसे प्रदेश यहूदियों के कब्जे से निकल जाते थे, सैनिक शक्ति द्वारा जिन्हें उन्होंने जीत लिया था। इन प्रस्तावों के कारण यहूदी लोग आपे से बाहर हो गये, और १९ सितम्बर, १९४८ के दिन उन्होंने काउन्ट बर्नाडोट की हत्या कर दी। साथ ही, उन्होंने सामयिक सन्धि का अन्त कर अरबों पर आक्रमण भी प्रारम्भ कर दिये। अरबों का पक्ष इस समय बहुत कमजोर पड़ गया था, क्योंकि पैलेस्टाइन के सम्बन्ध में उनमें आपसी झगड़े शुरू हो गये थे। ट्रांस-जोर्डन के राजा अमीर अब्दुल्ला की इच्छा थी, कि इजराईल को पृथक् करके पैलेस्टाइन का जो प्रदेश बच जाता है, उसे जोर्डन के राज्य में सम्मिलित कर दिया जाय। पर अन्य अरब राज्य इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि सम्पूर्ण पैलेस्टाइन एक अरब प्रदेश है, और उसमें एक ऐसी अरब सरकार की स्थापना होनी चाहिए, जिसका नेता जेरुसलम का मुफ्ती हो। इस मतभेद का यह परिणाम हुआ, कि अरबों की शक्ति निरन्तर कमजोर होती गई, और यहूदी सेनाओं ने अरबों को परास्त कर अनेक नये प्रदेशों पर भी कब्जा कर लिया।

काउन्ट बर्नाडोट ने पैलेस्टाइन की समस्या को हल करने के लिए जो योजना तैयार की थी, वह उसकी हत्या के बाद प्रकाशित की गई। इस योजना में एक प्रस्ताव यह भी था, कि इजराईल को अलग कर देने के बाद पैलेस्टाइन का जो प्रदेश शेष बचता है, उसे ट्रांस-जोर्डन में सम्मिलित कर देना चाहिए। इस प्रदेश की सीमा जोर्डन के साथ लगती थी, और क्षेत्रफल में यह इतना बड़ा नहीं था, कि इसे एक पृथक् राज्य बनाया जा सकता। जब ट्रांस-जोर्डन के राजा अमीर अब्दुल्ला को इस प्रस्ताव का ज्ञान हुआ, तो उसने अन्य अरब राज्यों की सम्मति की परवाह न कर इजराईल से सुलह कर लेने में ही अपना हित समझा। उसकी सेनाएं जेरुसलम के रणक्षेत्र में तैनात थीं। उसने उन्हें वापस बुला लिया, और इजराईल के विरुद्ध युद्ध का अन्त कर दिया। इससे यहूदियों को बहुत लाभ हुआ। उनकी जो सेनाएं जेरुसलम के रणक्षेत्र में फंसी हुई थीं, वे खाली हो गईं और इजराईल की सरकार ने उन्हें ईजिप्ट के रणक्षेत्र में भेज दिया। इस समय यहूदी सेनाएं दक्षिणी पैलेस्टाइन में निरन्तर आगे बढ़ रही थीं, और उन्होंने पैलेस्टाइन की दक्षिणी सीमा को पार कर ईजिप्ट में भी प्रवेश कर लिया था। क्योंकि अमीर अब्दुल्ला अब युद्ध से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग हो चुका था, अतः अरब पक्ष की मुख्य उत्तरदायिता ईजिप्ट पर ही आ गई थी। इस दशा में ईजिप्ट की सरकार ने युद्ध को जारी रखना व्यर्थ समझा, और २४ फरवरी, १९४९ के दिन इजराईल के साथ सामयिक सन्धि कर युद्ध को बन्द कर दिया। कुछ समय बाद लेबनान और सीरिया ने भी इजराईल के साथ सुलह कर ली। इजराईल के एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना में अब कोई भी बाधा नहीं रह गई थी। अब पैलेस्टाइन के अरबों के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वे अपनी शक्ति के आधार पर यहूदियों का विरोध कर सकते। अन्य अरब राज्य भी पारस्परिक मतभेदों के कारण अब इस स्थिति में नहीं रह गये थे, कि इस यहूदी राज्य के विरुद्ध संघर्ष को जारी रख सकते। पैलेस्टाइन में अपने राष्ट्रीय राज्य की स्थापना का यहूदियों का स्वप्न अब पूरा हो चुका था, और वह समय आ गया था, जबकि वे अरबों के विरोध से निश्चिन्त होकर अपने इस राज्य की उन्नति में तत्पर हो सकें। उनकी यही राष्ट्रीय आकांक्षा थी, कि पैलेस्टाइन के क्षेत्र में उनका एक ऐसा राज्य हो जाए, जिसे वे अपना समझ सकें, और जहां संसार भर के विस्थापित यहूदी स्वतन्त्रतापूर्वक बस सकें। चिरकाल के संघर्ष के बाद यहूदियों की यह आकांक्षा अब पूर्ण हो गई थी। पैलेस्टाइन के जो प्रदेश इजराईल में शामिल नहीं किये गये थे, वे जहां क्षेत्रफल में बहुत कम थे, वहां साथ ही आर्थिक दृष्टि से भी उनका विशेष महत्त्व नहीं था। १९४६ में यहूदी लोगों ने अपने लिए पैलेस्टाइन में जिन प्रदेशों की मांग की थी, वे प्रायः सभी अब उन्हें प्राप्त हो गये थे।

इजराईल के निर्माण के कारण संयुक्त राष्ट्र-संघ को एक अन्य विकट समस्या का भी सामना करना पड़ा। पैलेस्टाइन में ब्रिटिश मैन्डेट का अन्त हो जाने पर (१४ मई १९४८) जब वहां अरबों और यहूदियों में युद्ध का प्रारम्भ हुआ, तो यहूदियों द्वारा अधिकृत प्रदेशों में अरबों के लिए रह सकना सम्भव नहीं रह गया। वे अपने घर बार को छोड़कर उन प्रदेशों में चले आने के लिए विवश हुए, जो अरबों के हाथों में थे। इन विस्थापित अरबों की संख्या ७,५०,००० से भी अधिक थी। सम्पूर्ण पैलेस्टाइन में अरबों की जो कुल आबादी थी, उसका ८० प्रतिशत भाग इस समय विस्थापित हो गया था। इनके निवास, भोजन और वस्त्र आदि का प्रबन्ध कर सकना सुगम बात नहीं थी। इन्हें स्थायी रूप से कहीं बसाने का प्रश्न और भी विकट था। संयुक्त राष्ट्र-संघ को इसके लिये बहुत खर्च करना पड़ा, और पैलेस्टाइन के अरबों को बहुत मुसीबत उठानी पड़ी। पर अब यहूदियों के एक ऐसे राष्ट्रीय राज्य का निर्माण हो गया था, जिसमें खेती के योग्य भूमि प्रचुर परिमाण में उपलब्ध थी, और जहां कल-कारखानों का विकास भी सुगमता के साथ किया जा सकता था। हैफ्फा, तेलअबीव और जाफ्फा जैसे बन्दरगाह भी इस राज्य में स्थित थे, और उन द्वारा यहूदी लोग व्यापार के क्षेत्र में भी अच्छी उन्नति कर सकते थे। इजराईल का निर्माण तो हो गया, पर उसके लिये यहूदियों को चिरकाल तक घोर संघर्ष करना पड़ा। अपनी राष्ट्रीय आकांक्षा की पूर्ति के लिए उन्होंने न केवल अरबों के विरुद्ध युद्ध किया, अपितु ब्रिटिश सरकार के विरोध का भी सामना किया। ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ यह नहीं चाहते थे, कि पैलेस्टाइन का अंग-भंग किया जाए, और इस प्रदेश से उनके प्रभाव व प्रभुत्त्व का अन्त हो जाए। भारत आदि के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भी एशिया और अफ्रीका के अनेक प्रदेशों पर ब्रिटेन का आधिपत्य विद्यमान था। एशिया और अफ्रीका में अपने हितों की रक्षा के लिए ब्रिटेन यह आवश्यक समझता था, कि पैलेस्टाइन के हवाई अड्डे उसके प्रभुत्त्व में रहें। ईजिप्ट अब ब्रिटेन के प्रभाव से मुक्त होता जा रहा था, अतः स्वेज के मार्ग पर उसका आधिपत्य खतरे में पड़ गया था। इस दशा में पलेस्टाइन ही एक ऐसा प्रदेश था, जिसे अपने प्रभाव में रखकर ब्रिटेन पश्चिमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पूर्वी एशिया आने जाने के हवाई मार्ग को सुरक्षित रख सकता था। ईरान की खाड़ी और ईराक के बहुत-से तेल कूप इस समय ब्रिटेन के स्वामित्व में थे। ईराक से तेल को सीधे भूमध्य सागर तक पहुंचाने के लिए ब्रिटेन ने ऐसी पाइप लाइनों का निर्माण किया था, जो पैलेस्टाइन से होकर भूमध्य सागर के बन्दरगाहों तक पहुंचती थीं। इनकी रक्षा का प्रश्न भी ब्रिटेन के सम्मुख था। इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए ब्रिटेन यही चाहता था, कि पैलेस्टाइन उसके अपने शासनाधिकार में बना रहे। विविध अरब राज्यों के तेल कूपों पर ब्रिटेन का जो प्रभुत्त्व विद्यमान था, उसके कारण ब्रिटेन के लिए यह भी आवश्यक था कि अरबों की सद्भावना व सहयोग उसे प्राप्त रहें। इसी कारण यहूदियों की आकांक्षा की पूर्ति के लिए वह अरबों को नाराज नहीं करना चाहता था। पर इस समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ब्रिटेन की अपेक्षा रूस और अमेरिका का महत्व बहुत बढ़ गया था, और ये राज्य पैलेस्टाइन की समस्या के एक ऐसे समाधान के सम्बन्ध में सहमत हो गये थे, जो ब्रिटेन के लिए हितकर नहीं था। अमेरिका ने पैलेस्टाइन के मामले में जो यहूदियों का पक्ष लिया, उसका एक बड़ा कारण अमेरिकन राजनीति में यहूदियों का जोर था। अमेरिकन यहूदी अत्यन्त धनी व समृद्ध हैं, और अमेरिका की राजनीति पर बहुत प्रभाव रखते हैं। अतः वहाँ की सरकार की सहानुभूति पैलेस्टाइन के यहूदियों के साथ थी। अरब के तेलकूपों में इस समय अमेरिकन पूंजी भी प्रचुर परिमाण में लग चुकी थी, अतः अमेरिकन सरकार स्वाभाविक रूप से यह चाहती थी कि इस क्षेत्र की राजनीति में उसका प्रभाव बढ़ता जाए। इसीलिए उसने ब्रिटेन की सम्मति को महत्त्व न देकर इजराईल की स्थापना का समर्थन किया। इस यहूदी राज्य की स्थापना में रूस का भी बड़ा भाग था। यदि इस प्रश्न पर अमेरिका और रूस एकमत न होते, तो संयुक्त राष्ट्र-संघ कभी इजराईल का निर्माण न कर सकता। रूस ने जो यहूदियों का पक्ष लिया, उसका कारण यह था कि विविधि अरब राज्यों के शासक इस समय कम्युनिज्म के विरोधी थे, और १९४६ में उन्होंने परस्पर मिलकर यह घोषणा भी की थी, कि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में वे कम्युनिज्म का प्रवेश नहीं होने देंगे। इस दशा में रूस से यह आशा नहीं की जा सकती थी, कि वह यहूदियों के मुकाबिले में अरबों का पक्ष ले। यूरोप से विस्थापित हुए जो यहूदी लोग इस समय पैलेस्टाइन में बसना चाहते थे, वे प्रायः सब सुशिक्षित थे। समाजवादी मन्तव्यों को समझ सकना उनके लिए अधिक सुगम था।

पर पैलेस्टाइन की समस्या अब हल हो गई थी। अरब लोग इससे अवश्य असन्तुष्ट थे, पर उनमें न एकता थी और न ऐसी प्रबल राष्ट्रीय भावना जिसके कारण वे परस्पर मिलकर इजराईल के निर्माण का विरोध कर सकते। १९४९ तक पैलेस्टाइन में मारकाट और आतंकवाद का प्रायः अन्त हो गया था, और उसके अपने क्षेत्र के एक बड़े भाग में इजराईल नाम का सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य कायम हो गया था। पैलेस्टाइन का जो भाग इजराईल में सम्मिलित नहीं किया गया था, उसे ट्रांसजोर्डन के साथ मिला दिया गया था। अब ये सब प्रदेश पूर्णतया स्वतन्त्र थे, और इन पर किसी विदेशी राज्य का प्रभुत्त्व नहीं रह गया था। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद राष्ट्रसंघ के जिस मैन्डेट द्वारा यह प्रदेश ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया था, उसका अब अन्त हो चुका था। भारत और लंका आदि के समान पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र में भी अब ब्रिटिश साम्राज्यवाद का ह्रास हो गया था।

(३) सीरिया और लेबनान

महायुद्ध के समय जब हिटलर की सेनाओं ने पेरिस पर कब्जा कर लिया था, और मार्शल पेतां के नेतृत्व में फ्रांस में विशी सरकार की स्थापना हो गई थी, तो सीरिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और लेबेनान के प्रदेश किस प्रकार पहले विशी सरकार के हाथों में रहे, और बाद में किस प्रकार जनरल द गॉल की आजाद फ्रेञ्च सरकार ने उन्हें अपने शासन में ले लिया, इसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। महायुद्ध की परिस्थिति में जनरल द गॉल के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह इन देशों को अपनी अधीनता में रख सके। युद्ध के प्रयत्न में अरबों की सद्भावना तथा सहयोग का बहुत महत्त्व था। अतः आजाद फ्रेञ्च सरकार ने यह निर्णय किया, कि सीरिया और लेबनान की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार कर लिया जाए, यद्यपि इन पर अपने प्रभाव को कायम रखा जाए। प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा ये देश फ्रांस के सुपुर्द किए गए थे, अतः जनरल द गॉल की सरकार यह समझती थी कि इनके सुशासन और संरक्षा की उत्तरदायिता उसी के ऊपर है। साथ ही, फ्रांस के लोकमत को संतुष्ट रखना भी आवश्यक था। इस समय फ्रांस की दो सरकारें थी, मार्शल पेतां की विशी सरकार और जनरल द गॉल की आजाद फ्रेञ्च सरकार। यदि आजाद फ्रेञ्च सरकार सीरिया और लेबनान को पूर्णतया स्वाधीन कर देती, तो फ्रेञ्च लोग यह समझते कि यह सरकार अपने साम्राज्य की रक्षा कर सकने में सर्वथा असमर्थ है। द गॉल का यह भी विचार था, कि यदि वह इन देशों से अपने आधिपत्य का पूर्णरूप से अन्त कर दे, तो स्वाभाविक रूप से ये ब्रिटेन के प्रभाव में चले जाएंगे, क्योंकि पैलेस्टाइन अब तक भी ब्रिटेन के शासन में था। इसी कारण आजाद फ्रेञ्च सरकार की यह इच्छा थी, कि सीरिया और लेबनान में स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना तो कर दी जाए, पर इन सरकारों के साथ ऐसी सन्धियां की जायें, जिनके कारण उन पर फ्रांस का प्रभाव कायम रहे। पर सीरिया और लेबनान के नेताओं को इससे कोई लाभ समझ में नहीं आता था। वे जानते थे, कि इस समय फ्रांस इस स्थिति में नहीं है, कि उनकी किसी भी प्रकार से सहायता कर सके या उनके शासन में हस्तक्षेप कर सके। इसके विपरीत ब्रिटेन की सेनाएं इस समय पश्चिमी एशिया में अच्छी बड़ी संख्या में विद्यमान थीं, और ब्रिटिश सरकार इस क्षेत्र की राजनीति में भली-भांति अपना प्रभाव रख सकती थी। ब्रिटेन ने प्रयत्न किया, कि जनरल द गॉल की सरकार यह वायदा करे, कि युद्ध की समाप्ति पर सीरिया और लेबनान को पूर्णतया स्वतन्त्र कर दिया जायगा, जिसे उसने स्वीकार भी कर लिया।

१९४३ में इन दोनों देशों की विधान सभाओं के नए चुनाव हुए। ये चुनाव उन्हीं संविधानों के अधीन किये गये थे, जिनका निर्माण द्वितीय महायुद्ध से पूर्व फ्रांस ने उनके लिए किया था। चुनाव में वे लोग बहुत बड़ी संख्या में निर्वाचित हुए, जो अपने देशों से फ्रेञ्च मैन्डेट का अन्त कर पूर्ण स्वाधीनता के पक्षपाती थे। लेबनान की नई सरकार ने अपने देश के संविधान में ऐसे संशोधन करने का प्रयत्न किया, जिन द्वारा वहां से फ्रेंच प्रभाव व प्रभुत्व का पूर्णतया अन्त हो जाए। इस पर फ्रेञ्च लोगों ने लेबनान के राष्ट्रपति और बहुसंख्यक मन्त्रियों को गिरफ्तार कर लिया। महायुद्ध अभी समाप्त नहीं हुआ था, और ब्रिटेन तथा मित्रपक्ष के अन्य राज्य इस बात के लिये उत्सुक थे, कि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में शान्ति व व्यवस्था कायम रहे, और अरबों में उद्वेग उत्पन्न न होने पाए। अतः मित्रपक्ष के राज्यों ने जनरल द गॉल की सरकार को विवश किया, कि लेबनान के गिरफ्तार नेताओं को मुक्त कर दे, और सीरिया तथा लेबनान दोनों में ऐसे शासनों को कायम करे जिनसे वहां के निवासी संतोष अनुभव कर सकें। इसका परिणाम यह हुआ, कि फ्रांस ने इन देशों से धीरे-धीरे अपने नियन्त्रण व प्रभुत्व को हटाना प्रारम्भ कर दिया, और उन्हें यह अधिकार भी प्रदान किया, कि वे अन्य राज्यों के साथ अपने सीधे विदेशी सम्बन्ध रख सकें और अपने राजप्रतिनिधि भी उनमें नियुक्त कर सकें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीरिया और लेबनान को स्वतन्त्र राज्य स्वीकार कर उन्हें संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनने का भी अवसर दिया गया (१९४५), और इन देशों से फ्रांस के मैन्डेट का अन्त कर दिया गया।

पर अभी सीरिया और लेबनान की समस्या पूर्णतया हल नहीं हुई थी। १९४५ के प्रारम्भ तक जर्मनी का पक्ष सर्वथा निर्बल हो चुका था, और विशी सरकार का अन्त कर जनरल द गॉल ने फ्रांस को अपने शासन में ले लिया था। सीरिया और लेबनान की सेनाओं में फ्रेञ्च अफसर अब तक भी विद्यमान थे, और इन देशों में फ्रेञ्च संस्कृति और आर्थिक प्रभाव की प्रचुर परिमाण में सत्ता थी। महायुद्ध में फ्रांस को बहुत नुकसान उठाना पड़ा था, अतः जनरल द गॉल की सरकार ने सीरिया और लेबनान से ऐसी सन्धियां करने का प्रयत्न किया, जिनसे इन देशों पर फ्रेञ्च प्रभाव कायम रह सके। ब्रिटेन की सेनाएं अभी इन देशों से हटायी नहीं गई थीं। अंग्रेज कहते थे, कि जापान के क्षेत्र में अभी महायुद्ध का अन्त नहीं हुआ है, और सुदूर पूर्व के देशों के साथ अपने सैनिक सम्पर्क को कायम रखने के लिए यह जरूरी है, कि अभी पश्चिमी एशिया के प्रदेशों से अपनी सेनाएं न हटायी जाएं। फ्रेञ्च लोगों ने समझा, कि ब्रिटेन सीरिया और लेबनान से सेनाओं को इस कारण नहीं हटाना चाहता, क्योंकि वह इन देशों को अपने प्रभाव में ले आने के लिए इच्छुक है। इन देशों से फ्रेञ्च प्रभाव का अन्त हो जाने का यही परिणाम होगा, कि इन पर ब्रिटेन का संरक्षण कायम हो जायेगा। इस कारण मई, १९४५ में नई फ्रेञ्च सेनाओं ने बैरूत (लेबनान का बन्दरगाह) में प्रवेश कर लिया, और इन देशों में अपनी शक्ति की पुनःस्थापना का उद्योग प्रारम्भ कर दिया। सीरिया में इससे बहुत असंतोष उत्पन्न हुआ, और स्थिति ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया। अनेक स्थानों पर फ्रेञ्च लोगों पर हमले किये गये, जिनको निमित्त बनाकर फ्रेञ्च सेना ने खुल कर गोलाबारी शुरू कर दी। डमास्कस (सीरिया की राजधानी) पर भी बम्ब बरसाये गये (जून, १९४५)। फ्रेञ्च लोगों का कहना था, कि सीरिया और लेबनान में जो भी शिक्षणालय, अस्पताल आदि फ्रेञ्च लोगों द्वारा स्थापित थे, उन सब को इन देशों की सरकारों ने शक्ति का प्रयोग कर बन्द कर दिया है, और वे सब प्रकार से फ्रेञ्च प्रभाव का अन्त कर देने के लिए तत्पर हैं। इसके लिए वे ब्रिटिश सरकार को भी दोष देते थे। इस समय सीरिया और लेबनान के सम्बन्ध में फ्रांस का जो रुख था, वस्तुतः ब्रिटेन उसे अनुचित समझता था। जापान के विरुद्ध युद्ध को दृष्टि में रखकर ब्रिटिश सरकार यह चाहती थी, कि पश्चिमी एशिया के इन देशों में किसी भी प्रकार की अशान्ति व अव्यवस्था उत्पन्न न होने पाए। पर फ्रेञ्च सरकार का कहना था, कि यदि इन देशों में ब्रिटिश सेनाएं रह सकती हैं, तो फ्रेञ्च सेनाओं के भी वहां रहने में क्या हर्ज है, क्योंकि इन देशों के साथ फ्रांस का सम्बन्ध बहुत पुराना है। अन्त में यह मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख पेश किया गया। अमेरिका के प्रस्ताव पर परिषद् ने यह निर्णय किया, कि ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही सीरिया और लेबनान से अपनी सेनाएं हटा लें (फरवरी, १९४६)। संसार की राजनीति में इस समय अमेरिका का महत्व इतना अधिक बढ़ चुका था, कि फ्रांस और ब्रिटेन के लिए अमेरिका के प्रस्ताव का विरोध कर सकना सम्भव नहीं हुआ। एप्रिल, १९४६ तक सीरिया से और दिसम्बर, १९४६ तक लेबेनान से सब फ्रेञ्च और ब्रिटिश सेनाएं हटा ली गईं, और ये दोनों देश पूर्णरूप से स्वतन्त्र हो गए। प्रथम महायुद्ध से भी पहले से इन देशों पर फ्रांस का जो प्रभाव कायम हो रहा था, और महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा फ्रांस का जो शासन वहां स्था-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पित हुआ था, अब उसका पूर्णतया अन्त हो गया, और इन देशों को स्वतन्त्र स्थिति में अपने उत्कर्ष का अवसर मिला।

(४) ईजिप्ट

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के प्रारम्भ से पूर्व ही ईजिप्ट की एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में सत्ता स्वीकार की जा चुकी थी, और १९३६ में ब्रिटेन ने उसके साथ जो सन्धि की थी, उसके अनुसार केवल तीन विषय ऐसे रह गये थे, जिनके सम्बन्ध में ईजिप्ट के क्षेत्र में ब्रिटेन का प्रभाव एवं आधिपत्य विद्यमान था —(१) ईजिप्ट के स्वेज मार्ग की रक्षा की उत्तरदायिता ब्रिटेन पर थी, जिसके कारण ब्रिटेन ने वहां अपनी सेनाएं भी रखी हुई थीं। (२) विदेशी आक्रमणों से ईजिप्ट की रक्षा करने के सम्बन्ध में भी ब्रिटेन ने अपनी जिम्मेवारी स्वीकार की थी। (३) सूडान यद्यपि ईजिप्ट के अन्तर्गत था, पर उसके शासन पर ब्रिटेन का नियन्त्रण विद्यमान था। १९३६ की सन्धि के बाद ब्रिटेन के प्रस्ताव पर ईजिप्ट को राष्ट्रसंघ का सदस्य भी बना लिया गया था, और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसने एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली थी। पर इसके कारण ईजिप्ट के शासन में ब्रिटेन के हस्तक्षेप का अन्त नहीं हो गया था, क्योंकि स्वेज की नहर और ईजिप्ट की रक्षा के नाम पर ब्रिटिश सरकार इस देश के शासन में मनमाने ढंग से हस्तक्षेप कर सकती थी।

१९३८ में ईजिप्ट का राजा फारूक (१९३६ में राजा फौद की मृत्यु के अनन्तर फारूक ने राजगद्दी प्राप्त की थी, और उस समय वह नाबालिग था) बालिग हो गया था, और उसने ईजिप्ट के शासन को अपने हाथों में ले लिया था। १९३९ में महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर यद्यपि ईजिप्ट ने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया, और किसी भी पक्ष में शामिल होना उचित नहीं समझा, पर ईजिप्ट की यह उदासीनता की वृत्ति केवल नाममात्र को ही थी। १९३६ की सन्धि को आधार बनाकर ब्रिटेन ने उसके शासन को पूरी तरह से अपने नियन्त्रण में ले लिया, और यह यत्न किया कि ईजिप्ट में केवल ऐसी सरकार ही कायम रह सके, जो ब्रिटेन को स्वीकार्य हो। इसी लिए फरवरी, १९४१ में ईजिप्ट में स्थित ब्रिटिश राज-प्रतिनिधि लार्ड किल्लर्न ने राजा फारूक को इस बात के लिए विवश किया था, कि वफ्द पार्टी का मन्त्रिमण्डल कायम किया जाए और नहस पाशा को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाए। जिस समय ब्रिटेन उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र में जर्मन सेनाओं के विरुद्ध संघर्ष में तत्पर था, ईजिप्ट में नहस पाशा की सरकार विद्यमान थी, और वह ब्रिटेन के साथ पूर्णरूप से सहयोग कर रही थी। पर १९४४ में जब जर्मन पक्ष कमजोर पड़ गया, और उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र में युद्ध की समाप्ति हो गई, तो ब्रिटेन को ईजिप्ट के सहयोग की विशेष आवश्यकता नहीं रह गई। इस दशा में फारूक ने वफ्द सरकार को बर्खास्त कर दिया (अक्टूबर, १९४४), और पार्लियामेन्ट के नये निर्वाचन की आज्ञा दी। फारूक वफ्द पार्टी की राष्ट्रीय और लोकतन्त्र प्रवृत्तियों को पसन्द नहीं करता था, क्योंकि वे राजा के स्वेच्छाचार के मार्ग में बाधाएं प्रस्तुत करती थीं।

जनवरी, १९४५ के चुनाव में सादिस्ट पार्टी की विजय हुई, और उसका नेता अहमद महर प्रधानमन्त्री बना। इस पार्टी के नेता पहले वफ्द के ही सदस्य थे, पर नहस पाशा से मतभेद होने के कारण १९३८ में उन्होंने एक पृथक् पार्टी का संगठन कर लिया था। एप्रिल, १९४५ में अहमद महर की सरकार ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दी, और ईजिप्ट भी महायुद्ध में शामिल हो गया। पर ईजिप्ट में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो अपने देश को युद्ध में तटस्थ रखना चाहते थे। कुछ समय बाद अहमद महर की हत्या कर दी गई, जो सम्भवतः इन्हीं लोगों का कर्तृत्व था। अब महमूद नोकराशी ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया।

मई, १९४५ में यूरोप के क्षेत्र में महायुद्ध का अन्त हो गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ईजिप्ट के राष्ट्रवादी लोग १९३६ की सन्धि में संशोधन करने के लिए आन्दोलन प्रारम्भ करें। इस सन्धि के अनुसार ईजिप्ट पर ब्रिटेन का जो नियन्त्रण था, उसे राष्ट्रवादी लोग अनुचित समझते थे। उनका कहना था कि स्वेज के क्षेत्र में जो ब्रिटिश सेनाएं अब तक भी विद्यमान हैं, उन्हें वहां से हटा लिया जाए, और सूडान को पूर्णरूप से ईजिप्ट का अंग बना दिया जाए। वफ्द पार्टी के नेता इस आन्दोलन में प्रमुख भाग ले रहे थे। सर्वसाधारण जनता को उनसे सहानुभूति थी। स्थान-स्थान पर राष्ट्रवादी लोगों द्वारा प्रदर्शन किये जा रहे थे, जिनमें युवक और विद्यार्थी उत्साहपूर्वक भाग लेते थे। महमूद नोकराशी की सरकार इस आन्दोलन से परेशान थी। यत्न करने पर भी वह ब्रिटेन से कोई ऐसा समझौता नहीं कर सकी, जिससे ईजिप्ट के लोग सन्तोष अनुभव करें। परिणाम यह हुआ, कि महमूद नोकराशी ने त्यागपत्र दे दिया, और इस्माईल सिदकी को प्रधानमन्त्री के पद पर नियत किया गया (फरवरी, १९४६)। नये प्रधानमन्त्री के लिए भी ईजिप्ट की स्थिति को संभाल सकना सुगम नहीं था। ईजिप्ट में अब केवल ब्रिटेन के विरुद्ध प्रदर्शन ही नहीं हो रहे थे, अपितु वफ्द पार्टी से प्रेरणा प्राप्त कर लोग हिंसात्मक उपायों पर भी उतर आये थे। अक्टूबर, १९४६ में सिदकी पाशा लण्डन गया, और वहां जाकर उसने ईजिप्ट की समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया। जहां तक स्वेज नहर के क्षेत्र से ब्रिटिश सेनाओं को हटाने का सम्बन्ध था, समझौता होने में विशेष कठिनाई नहीं हुई। ब्रिटेन के परराष्ट्र-सचिव मि० बेविन ने यह स्वीकार कर लिया कि ब्रिटिश सेनाएं इस प्रदेश से हटा ली जाएंगी, यद्यपि पश्चिमी एशिया के इस मार्ग की सुरक्षा के लिए ईजिप्ट की सरकार को ब्रिटेन के साथ सहयोग करने की बात को स्वीकार करना होगा। पर सूडान का मामला अधिक जटिल था। इस समय तक सूडान में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो चुका था, जो अपने देश को ईजिप्ट से पृथक् कर वहां एक स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के पक्ष में था। ब्रिटेन इस वर्ग की उपेक्षा नहीं कर सकता था। अतः सूडान के सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं हो सका, और इस मामले को अभी स्थगित रखने का निश्चय किया गया।

लण्डन से वापिस लौटकर इस्माईल सिदकी ने सारी स्थिति को ईजिप्ट की जनता के सम्मुख स्पष्ट किया, पर इससे लोग सन्तुष्ट नहीं हुए। विवश होकर उसने त्यागपत्र दे दिया, और अहमद नोकराशी को एक बार फिर प्रधानमन्त्री बनाया गया। इस समय तक संयुक्त राष्ट्र-संघ भली-भांति संगठित हो चुका था, और विवादग्रस्त अन्तर्राष्ट्रीय मामले उसके सम्मुख निर्णय के लिए पेश किये जाने लगे थे। अहमद नोकराशी ने निश्चय किया, कि सूडान के प्रश्न को भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया जाए (२६ जनवरी, १९४७)। जब ब्रिटिश सरकार को इस बात का पता लगा, तो वह बहुत नाराज हुई। उसका कहना था, कि इस्माईल सिदगी ने मि० बेविन के साथ जो समझौता किया था, उसे ईजिप्ट की सरकार ने तोड़ दिया है, और अब वही स्थिति उत्पन्न हो गई है, जो इस समझौते से पूर्व थी। १९३६ की सन्धि के अनुसार ब्रिटेन को अधिकार है, कि वह अपनी सेनाएं ईजिप्ट के क्षेत्र में रख सके। इस्माईल सिदगी के साथ हुए समझौते के अनुसार ब्रिटेन ने अपनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेनाएं स्वेज से हटानी शुरू कर दी थीं। पर अब उसने यह निश्चय किया, कि अपनी सेनाओं तथा युद्ध-सामग्री को स्वेज से न हटाया जाए, और १९३६ की सन्धि पर दृढ़ रहा जाए। यह सन्धि २० वर्षों के लिये की गई थी, अतः ब्रिटेन ने कहा, कि १९५६ तक उसे स्वेज में अपनी सेनाओं को रखने का अधिकार है। ११ जुलाई, १९४७ को ईजिप्ट के मामले पर संयुक्त राष्ट्र-संघ ने विचार शुरू किया। अहमद नोकराशी की ओर से यह बात पेश की गई, कि ईजिप्ट अब सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है, अतः १९३६ की सन्धि का अब कोई अर्थ नहीं रह गया है। उसका अन्त किया जाना चाहिये, और सूडान को ईजिप्ट का अंग मान लिया जाना चाहिये। पर इस समय सूडान में अपने को एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य के रूप में परिवर्तित करने के लिये आन्दोलन जोर पकड़ रहा था। इस आन्दोलन को दृष्टि में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र-संघ ने अहमद नोकराशी के प्रस्ताव को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। उसने केवल यह प्रस्ताव स्वीकार करके कि ब्रिटेन और ईजिप्ट को परस्पर मिलकर अपने झगड़े को निबटा लेना चाहिये, अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर दिया। पर यदि ब्रिटेन और ईजिप्ट आपस में मिलकर इस झगड़े का निबटारा कर सकते, तो इस मामले को संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मुख पेश करने की आवश्यकता ही क्या थी? संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव से इस झगड़े के निबटाने में कोई सहायता नहीं मिल सकी, और बात वहीं की वहीं रही।

इस बीच में पैलेस्टाइन की समस्या ने अत्यधिक उग्र रूप धारण कर लिया था, और वहां अरबों तथा यहूदियों में बाकायदा लड़ाई छिड़ गई थी। पिछले प्रकरण में हम इस समस्या पर विशद रूप से प्रकाश डाल चुके हैं। ईजिप्ट ने भी इस युद्ध में अरबों का पक्ष लेकर अपनी सेनाएं भेजीं, पर उन्हें विशेष सफलता नहीं हुई। यहूदियों ने न केवल ईजिप्ट की सेना को पैलेस्टाइन के क्षेत्र से बाहर धकेल दिया, अपितु उसकी दक्षिणी सीमा को पार कर ईजिप्ट में भी प्रवेश कर लिया। इससे ईजिप्सियन सरकार की आन्तरिक निर्बलता जनता के सामने आ गई, और लोग विदेशी समस्याओं की तुलना में अपने देश की अन्दरूनी कमजोरियों को अधिक महत्त्व देने लगे। लोगों का ध्यान स्वेज पर ब्रिटेन के प्रभुत्व और सूडान के स्वातन्त्र्य-आन्दोलन से हट गया, और वे सरकार की निर्बलता की कटु रूप से आलोचना करने लगे। सन् १९३० में मुस्लिम बिरादरी (मुस्लिम ब्रदरहुड) नाम से ईजिप्ट में एक संस्था कायम हुई थी, जो इस्लाम के आधार पर जनता के संगठन की पक्षपाती थी। इस संस्था ने अब बहुत जोर पकड़ लिया, और इसके सदस्य हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन कर सरकार पर हमले करने में प्रवृत्त हो गये। दिसम्बर, १९४८ में मुस्लिम ब्रदरहुड के एक सदस्य ने नोकराशी की भी हत्या कर दी। अब इब्राहीम अब्दुल हादी ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया, और उसने अपनी सब शक्ति मुस्लिम ब्रदरहुड का दमन करने में लगा दी। इस कार्य में तो वह सफल हो गया, पर वह उन कारणों को दूर नहीं कर सका, जो ईजिप्ट की जनता में असन्तोष उत्पन्न कर रहे थे। इसी का यह परिणाम हुआ, कि जनवरी, १९५० में चुनाव में वफ्द पार्टी को सफलता प्राप्त हुई, और इस पार्टी के नेता नहस पाशा ने ईजिप्ट के शासन-सूत्र को फिर अपने हाथों में ले लिया।

वफ्द मन्त्रिमण्डल ने जनता के असन्तोष को दूर करने के लिये यह उचित समझा, कि उसका ध्यान देश की आन्तरिक समस्याओं से हटाकर स्वेज और सूडान के मामलों की ओर लगा दिया जाए। जुलाई, १९४७ के बाद से ये झगड़े दबे पड़े थे, और ईजिप्ट की सरकार ने इनको निबटाने का कोई यत्न नहीं किया था। १५ अक्टूबर, १९५१ के दिन ईजिप्ट की पार्लियामेंट में यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि १९३६ में जो सन्धि ब्रिटेन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के साथ की गई थी, उसका अन्त कर दिया जाए, और साथ ही उस व्यवस्था का भी जिसके अनुसार सूडान पर ब्रिटेन और ईजिप्ट का संयुक्त शासन (Condominium) स्थापित किया गया था। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। इसके अनुसार ईजिप्ट की सरकार ने सूडान के शासन के लिसे एक नये संविधान का भी निर्माण कर दिया, जिसमें सूडान को आन्तरिक स्वशासन के अधिकार प्रदान करते हुए उसकी सेना, विदेशी नीति और मुद्रा-पद्धति पर ईजिप्ट का नियन्त्रण कायम रखा गया था। पर सूडान के लोग इसे स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं हुए। १५ अक्टूबर, १९५१ को पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत किये गये प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिये ईजिप्ट ने ऐसे उपायों का अवलम्बन भी शुरू किया, जिनका उद्देश्य यह था, कि ब्रिटेन के लिये स्वेज के क्षेत्र पर अपना कब्जा कायम रख सकना असम्भव हो जाए। स्वेज के क्षेत्र में ब्रिटेन ने जो सेनाएं रखी हुई थीं उनके सैनिक तो अंग्रेज थे, पर स्वेज नहर के लिये उन्हें जिन मजदूरों की आवश्यकता थी, वे सब ईजिप्सियन थे। ईजिप्ट की सरकार ने इन सबको स्वेज के क्षेत्र से वापस बुला लिया, जिसके कारण वहां मजदूरों को प्राप्त कर सकना असम्भव हो गया। साथ ही, बहुत-से युवक और विद्यार्थी एक स्वयं-सेवक सेना में भरती किये गये, जिसे स्वेज के क्षेत्र को ब्रिटिश प्रभुत्त्व से स्वतन्त्र कराने के लिये बड़े उत्साह के साथ संगठित किया जा रहा था। ये स्वयंसेवक सारे देश में ब्रिटेन के विरुद्ध प्रदर्शन करने में तत्पर थे। सब जगह अशान्ति और विद्रोह के चिह्न प्रकट होने लग गये थे, और इस वातावरण में अंग्रेजों का जीवन एवं धन सुरक्षित नहीं रह गया था। इस समय ईजिप्ट में जो अनेक दंगे हुए, उनमें न केवल अंग्रेजों पर आक्रमण किये गये, अपितु धनी ईजिप्सियन भी विद्रोहियों के कोप से नहीं बच सके। इस दशा में अंग्रेजों के उकसाने पर राजा फारूक ने नहस पाशा की वफ्द सरकार को बर्खास्त कर दिया, और अपनी इच्छा के अनुसार एक नये मन्त्रि-मण्डल का निर्माण किया। वफ्द नेता नहस पाशा के पतन के बाद स्वेज के क्षेत्र में शान्ति की पुनःस्थापना हुई, और देश में अंग्रेजों का विरोध भी कम हो गया।

पर इससे न ईजिप्ट की आन्तरिक समस्या का हल हुआ, और न स्वेज तथा सूडान के सम्बन्ध में ईजिप्ट का ब्रिटेन से जो झगड़ा था, उसका ही निबटारा हुआ। ईजिप्ट में असन्तोष की जो अग्नि धीरे-धीरे सुलग रही थी, २३ जुलाई, १९५२ के दिन वह एक राज्यक्रान्ति के रूप में फूट पड़ी। इस राज्यक्रान्ति का नेता मुहम्मद नगीब नाम का एक सैनिक अफसर था, जो ईजिप्ट की सेना में ब्रिगेडियर के पद पर काम कर रहा था। उसने अपनी सेना को साथ लेकर कैरो की ओर प्रस्थान कर दिया, और किसी भी विरोध के बिना ईजिप्ट की राजधानी पर कब्जा कर लिया। सरकार उसकी सेना के सम्मुख सर्वथा असहाय थी। नगीब ने न केवल फारूक द्वारा नियुक्त मन्त्रियों को ही बर्खास्त किया, अपितु साथ ही फारूक को भी राजगद्दी का परित्याग करने के लिये विवश किया। राजा फारूक ईजिप्ट को छोड़कर विदेश चला गया, और नगीब ने उसके नाबालिग पुत्र को राजगद्दी पर बिठाकर शासनसूत्र को स्वयं अपने हाथों में ले लिया। शुरू में नगीब ने अली महर को ईजिप्ट का नया प्रधानमन्त्री नियत किया, पर जब उसने देखा कि वह उसकी इच्छा के अनुसार कार्य नहीं करता, तो उसने उसे पदच्युत कर दिया, और प्रधानमन्त्री का पद भी स्वयं ग्रहण कर लिया। अब ईजिप्ट में सैनिक शासन की स्थापना हो गई थी, और राजनीतिक दलों तथा उनके नेताओं का देश के शासन में कोई स्थान नहीं रहा था। नगीब की सैनिक सरकार ने देश की आन्तरिक दशा को सुधारने के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। पर उसके सम्मुख भी मुख्य समस्याएं स्वेज और सूडान की थीं। पहले उसने सूडान के मामले को हल करने का प्रयत्न किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने इस बात को स्वीकार कर लिया, कि सूडान एक पृथक् देश है, और उसके निवासियों को यह अधिकार है कि वे अपने देश का स्वयं भाग्य-निर्णय कर सकें। यदि वे चाहें तो सूडान में एक ऐसे शासन की स्थापना कर सकते हैं, जिसका ब्रिटेन और ईजिप्ट दोनों से कोई भी सम्बन्ध न हो। यदि वे चाहें, तो ईजिप्ट के साथ अपने सम्बन्ध को जारी भी रख सकते हैं। पर इस विषय में अन्तिम निर्णय करने से पूर्व यह जरूरी है, कि सूडान में स्वशासन की भली-भांति स्थापना हो जाए, ताकि वहां के लोग अपने देश के भविष्य के सम्बन्ध में जो निर्णय करें, वह वस्तुतः लोकमत के अनुसार हो। नगीब के इस निर्णय (अक्टूबर, १९५२) से सूडान में बहुत संतोष हुआ, और ईजिप्ट की विदेशी राजनीति की एक जटिल समस्या संतोषजनक रीति से हल हो गई। ब्रिटिश सरकार ने भी इस निर्णय को स्वीकार कर लिया, और १२ फरवरी, १९५३ के दिन एक एंग्लो-ईजिप्सियन समझौते द्वारा सूडान-विषयक सब बातों को ऐसा निर्णय कर लिया गया, जो ब्रिटेन और ईजिप्ट दोनों को स्वीकार्य था।

सूडान के मामले को निबटा कर नगीब ने यह प्रयत्न किया, कि स्वेज के क्षेत्र की समस्या को भी इसी ढंग से समझौते द्वारा सुलझा दिया जाए। इसी उद्देश्य से २६ एप्रिल, १९५३ के दिन कैरो में ब्रिटेन के साथ बातचीन शुरू की गई। बातचीत में नगीब ने इस तथ्य को स्वीकार किया, कि शिल्प-विषयक विदेशी सहायता के बिना अकेला ईजिप्ट स्वेज की नहर के सम्बन्ध में पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर नहीं ले सकता। जब किसी विदेशी राज्य से यह शिल्प-विषयक सहायता लेनी ही है, तो यही उचित होगा कि यह सहायता ब्रिटेन से ही ली जाए, बशर्ते कि शिल्प-विषयक सहायता के नाम पर ब्रिटेन स्वेज के क्षेत्र पर अपने प्रभुत्व को जारी रखने का प्रयत्न न करे। पर अनेक प्रश्न ऐसे थे, जिन पर ब्रिटेन और ईजिप्ट में कोई समझौता नहीं हो सका। शिल्प-विषयक सहायता की आवश्यकता कितने समय तक रहेगी, इस सहायता के लिये कितने आदमियों को रखना जरूरी होगा, शिल्प-विशेषज्ञों के क्या अधिकार होंगे, और युद्ध के या युद्ध की आशंका के समय क्या ब्रिटेन को यह अधिकार होगा, कि वह स्वेज के क्षेत्र में फिर से अपनी सेनाएं भेज सके—ये प्रश्न थे, जिन पर ब्रिटेन और ईजिप्ट के प्रतिनिधि एकमत नहीं हो सके। परिणाम यह हुआ, कि ६ मई, १९५३ को इन देशों के प्रतिनिधियों में समझौते की वार्ता भंग हो गई।

जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, १९५२ की राज्यक्रान्ति द्वारा ईजिप्ट से राजसत्ता का अन्त नहीं किया गया था। यद्यपि राजा फारूक ने राजगद्दी का परित्याग कर दिया था, पर उसका नाबालिग पुत्र अब भी ईजिप्ट के राजसिंहासन पर विराजमान था। नगीब प्रधानमन्त्री के पद पर नियत था, और सम्पूर्ण राजशक्ति उसके तथा उसके साथी सैनिक अफसरों के हाथों में थी। सरकार के संचालन के लिये इन सैनिक अफसरों ने रेवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल (RCC) नाम से एक समिति का निर्माण किया हुआ था, जिसके सदस्यों की संख्या १३ थी। कानून बनाने का कार्य एक मन्त्रि-परिषद् के सुपुर्द किया गया था, जिसके सदस्यों को यह सैनिक समिति ही नियुक्त करती थी। इस समिति का एक प्रभावशाली सदस्य कर्नल नासिर था, जिसका अपने साथी सैनिक अफसरों पर अत्यधिक प्रभाव था।

६ मई, १९५३ के दिन जब ब्रिटेन और ईजिप्ट में समझौते की बातचीत असफल हो गई, तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि स्वेज की समस्या एक बार फिर अत्यन्त उग्र रूप धारण कर लेगी, और ईजिप्ट के लोग फिर आतंकमय एवं हिंसात्मक उपायों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवलम्बन करने के लिए तत्पर हो जाएंगे। १९५१ की अशान्ति और अव्यवस्था के दिन फिर से न लौट आयें, इस बात को दृष्टि में रखकर सैनिक समिति ने यह आवश्यक समझा, कि देश के शासन को और अधिक सुदृढ़ किया जाए, और शासनशक्ति पूर्णतया सेना के हाथों में आ जाए। इसलिये १८ जून, १९५३ को रेवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल ने यह घोषित किया, कि ईजिप्ट से राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना की जाती है। रिपब्लिक के राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री दोनों पदों पर नगीब को नियत किया गया, नासिर को सहायक प्रधानमन्त्री बनाया गया, और मेजर अब्दुल हकीम अमर को प्रधान सेनापति का पद दिया गया। जिन लोगों ने ईजिप्ट की इस नई व्यवस्था का विरोध किया, उन्हें कठोर दण्ड दिये गये। बहुत-से पुराने राजनीतिज्ञों और विविध पार्टियों के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, और राजद्रोह के अपराध में कुछ को प्राणदण्ड भी दिया गया। राजा और उससे परिवार के सब व्यक्तियों की सम्पूर्ण सम्पत्ति जब्त कर ली गई। इस सम्पत्ति का मूल्य १०० करोड़ रुपये से भी अधिक था। इस समय ईजिप्ट में मुस्लिम ब्रदरहुड का बहुत जोर था। साथ ही, कम्युनिस्ट दल भी वहां संगठित हो चुका था, और वह भी अपनी शक्ति को बढ़ाने में तत्पर था। इन दोनों दलों के अनुयायियों को बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया। ईजिप्ट के सैनिक शासकों की यह नीति थी, कि उनका विरोध करने वाला कोई भी वर्ग शेष न रह जाए।

पर रेवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल के सदस्यों में देर तक एकमत नहीं रह सका। नगीब का विचार था, कि सैनिक शासन को समाप्त कर शीघ्र ही संविधान के अनुसार जनता के शासन की स्थापना की जानी चाहिये। शासन-शक्ति को सेना ने इसीलिये सामयिक रूप से अपने हाथों में लिया था, ताकि राजा, राजमहल और दरबारियों के विकृत प्रभाव का अन्त हो जाए, और सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जा सके। पर नासिर और उसके साथी इस विचार के नहीं थे। उनका कहना था, कि सेना द्वारा ईजिप्ट में जो क्रान्ति की गई है, उसे पूर्ण करना उसका कर्तव्य है। देश में ऐसे क्रान्तिकारी सुधार किये जाने चाहियें, जिनसे एक प्रगतिशील व्यवस्था स्थापित हो सके। यह कार्य सैनिक शासन द्वारा ही किया जा सकता है, लोकतन्त्र शासन द्वारा नहीं। नगीब और नासिर में मतभेद बहुत बढ़ गया। रेवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल के बहु-संख्यक सदस्य नासिर के विचारों के थे। परिणाम यह हुआ, कि नासिर के नेतृत्व में एक बार फिर क्रान्ति हुई, और नगीब को राष्ट्रपति तथा प्रधानमन्त्री के पदों से हटा दिया गया। प्रधानमन्त्री का पद नासिर ने ग्रहण किया, पर राष्ट्रपति के पद को अभी खाली रखा गया। पर यह व्यवस्था भी देर तक कायम नहीं रही। इस समय ईजिप्ट में सैनिक नेताओं का बोलबाला था। वे जिसे चाहते जिस पद पर रखते, और जिसे चाहते पदच्युत कर देते। सैनिक नेताओं ने एक बार फिर नगीब को राष्ट्रपति बनाया, यद्यपि प्रधानमन्त्री के पद पर नासिर ही रहा। दुबारा राष्ट्रपति बनकर नगीब ने अधिक हिम्मत से काम लिया। उसने देखा, कि जनता लोकतन्त्र शासन चाहती है, और लोग पार्लियामेन्ट व मन्त्रिमण्डल की पुनःस्थापना के पक्ष में हैं। अतः उसने घोषित किया, कि ईजिप्ट के लिये नये संविधान का निर्माण करने के प्रयोजन से शीघ्र ही संविधान परिषद् का संगठन किया जायगा, और इस परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा होगी। देश में जो सैनिक शासन विद्यमान था, नगीब ने उसका भी अन्त कर दिया, और समाचार-पत्रों पर से सब पाबन्दियां हटा दी गईं। जो राजनीतिक नेता कैद या नजरबन्द थे, उन्हें मुक्त कर दिया गया। जनता इससे बहुत प्रसन्न हुई। नगीब को आशा थी, कि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता का सहयोग प्राप्त कर वह नासिर और उसके साथी सैनिक नेताओं को नीचा दिखा सकेगा, और उसके मार्ग के ये कांटे दूर हो जायेंगे।

पर उसकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई। सेना और पुलिस के नेता नासिर के साथ थे, और रेवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल में भी उसी का बहुमत था। २९ मार्च, १९५४ के दिन इस कौंसिल ने घोषित किया, कि संविधान परिषद् के संगठन के सम्बन्ध में जो आदेश राष्ट्रपति नगीब ने दिया था, उसे रद्द किया जाता है। नगीब द्वारा जारी किये गए अन्य अनेक आर्डर भी इसी समय वापस ले लिये गये। सैनिक कौंसिल इस समय पूरी तरह से नासिर के क़ब्जे में थी। उसकी शक्ति के सम्मुख नगीब असहाय था। यद्यपि वह अब भी राष्ट्रपति था, पर वास्तविक शासनशक्ति नासिर के ही हाथों में आ गई थी। अब नासिर इस स्थिति में था, कि स्वेज की समस्या को हल करने के सम्बन्ध में कोई ठोस कार्यवाही कर सके। जब तक ईजिस्ट में कोई स्थायी सरकार नहीं थी, इस समस्या को हल कर सकना कठिन था। पर सम्पूर्ण राजशक्ति को अपने हाथों में लेकर अपने विरोधियों का दमन कर नासिर अब पूरी जिम्मेदारी के साथ ब्रिटिश सरकार से बात-चीत कर सकता था। इसी का यह परिणाम हुआ, कि २७ जुलाई, १९५४ को ईजिस्ट और ब्रिटेन में स्वेज के सम्बन्ध में एक समझौता हो सका, जिसकी मुख्य शर्तें निम्न-लिखित थीं—(१) बीस महीनों के अन्दर-अन्दर सब ब्रिटिश सेनाएं स्वेज के क्षेत्र से हटा ली जाएं। (२) स्वेज के क्षेत्र में ब्रिटिश लोगों के जो भी केन्द्र हैं, और वहाँ उनके जो भी कारखाने, मशीनें आदि हैं, वे सात साल तक कायम रह सकें, पर उनका संचालन सेना द्वारा न किया जाए। इनके लिए ब्रिटेन ऐसे व्यक्तियों को नियत करे, जो सैनिक न हों। (३) यदि कोई अन्य देश ईजिप्ट, तुर्की या अरब प्रायद्वीप के किसी ऐसे राज्य पर आक्रमण करे जिसने कि अरब की संयुक्त रक्षा की सन्धि पर हस्ताक्षर किये हुए हों, तो ब्रिटेन को अधिकार हो, कि वह ईजिप्ट की सरकार की अनुमति से स्वेज के क्षेत्र में अपनी सेनाएं भेज सके। १९ अक्टूबर, १९५४ को दोनों पक्षों ने इस समझौते पर हस्ताक्षर भी कर दिये। ईजिप्ट का सैनिक शासन अब उस समस्या को भी सुलझा सकने में समर्थ हो गया था, जो अत्यन्त जटिल थी। अक्टूबर, १९५४ के समझौते द्वारा ईजिप्ट पर से ब्रिटेन के उस प्रभाव एवं प्रभुत्व का अन्त हो गया, जो उसकी स्वाधीन तथा सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति के बाद भी उस पर विद्यमान था। पर इसके बाद भी स्वेज की समस्या के कारण ईजिप्ट को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, जिन पर हम अगले एक अध्याय में प्रकाश डालेंगे। पर इस प्रसंग में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा, कि पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों में ब्रिटेन का जो प्रभुत्व था, ईजिप्ट के क्षेत्र से १९५४ तक उसका अन्त हो गया था, और ईजिप्ट की स्थिति ऐसी हो गई थी, जिसे वास्तविक रूप में स्वाधीन समझा जा सकता है।

(५) अन्य अरब राज्य

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद के कतिपय वर्षों में ट्रांस-जोर्डन आदि अन्य अरब देशों की जो स्थिति थी, उसके सम्बन्ध में भी संक्षेप के साथ लिखना आवश्यक है, क्योंकि वर्तमान समय की अरब राजनीति को भली-भांति समझने के लिये यह बहुत उपयोगी है।

ट्रांस-जोर्डन—प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्र-संघ द्वारा ट्रांस-जोर्डन का राज्य भी ब्रिटेन की अधीनता में दे दिया गया था। जिस मैन्डेट द्वारा ब्रिटेन को यह राज्य सुपुर्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किया गया था, उसकी अवधि १५ मई, १९४८ तक थी। १९४८ में पैलेस्टाइन के प्रश्न को लेकर यहूदियों और अरबों में बाकायदा लड़ाई प्रारम्भ हो चुकी थी। इस युद्ध के विषय में हम इसी अध्याय में ऊपर लिख चुके है। ट्रांस-जोर्डन का राजा इस समय अमीर अब्दुल्ला था। अन्य अरब राज्यों के समान ट्रांस-जोर्डन भी पैलेस्टाइन के अरबों की पीठ पर था, और उसकी सेनाएं भी यहूदियों के विरुद्ध युद्ध करने के लिये पैलेस्टाइन में प्रवेश कर गई थीं। जेरुसलम पर जिन अरब सेनाओं ने आक्रमण किया था, वे ट्रांस-जोर्डन की ही थीं। जिन घटनाओं द्वारा पैलेस्टाइन के मामले में विविध अरब राज्यों में मतभेद हो गया, और अमीर अब्दुल्ला ने पृथक् रूप से इजराईल के साथ सुलह कर ली, उन्हें ऊपर लिखा जा चुका है। उन्हें यहां फिर से लिखना व्यर्थ होगा। ३ एप्रिल, १९४९ के दिन की गई इस सुलह के अनुसार पैलेस्टाइन के जो प्रदेश इजराईल के अन्तर्गत नहीं किये गये थे, वे अमीर अब्दुला ने प्राप्त कर लिये। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने भी इस व्यवस्था का समर्थन किया। इस प्रकार जोर्डन नदी के दोनों ओर के अरब प्रदेश मिलकर एक राज्य के अंग बन गये। इन प्रदेशों का यह यूनियन २४ एप्रिल, १९५० को सम्पन्न हुआ। नये राज्य का नाम जोर्डन रखा गया, क्योंकि अब जोर्डन नदी के दोनों ओर के प्रदेश उसके अन्तर्गत थे। क्योंकि अमीर अब्दुल्ला हशमी वंश का था, अतः इस राज्य को 'जोर्डन का हशमी राज्य' भी कहा जाने लगा। जोर्डन नदी के पश्चिम के प्रदेशों के निवासियों को भी नये राज्य की विधान सभा में समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके, इस बात को दृष्टि में रखकर विधानसभा के सदस्यों की संख्या दुगुनी कर दी गई, और मन्त्रिमण्डल में भी जोर्डन नदी के पश्चिमी प्रदेश के सदस्यों को स्थान दिया गया। इस प्रकार महायुद्ध के बाद १९४९ में जोर्डन राज्य के क्षेत्र का जहां विस्तार हुआ, वहां साथ ही वह ब्रिटेन के प्रभाव व प्रभुत्व से छुटकारा पाकर एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य भी बन गया।

ईराक—प्रथम महायुद्ध के बाद ईराक भी राष्ट्रसंघ के मैन्डेट द्वारा ब्रिटेन के सुपुर्द किया गया था। पर जिन घटनाओं के द्वारा १९३२ में इस राज्य ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर राष्ट्रसंघ की सदस्यता भी प्राप्त कर ली थी, उनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। द्वितीय महायुद्ध के समय रशीद अली ने जर्मनी का पक्ष लेकर ब्रिटेन का विरोध करने का प्रयत्न किया, पर उसे सफलता नहीं हुई। ईराक की सरकार युद्ध में मित्रपक्ष की सहायता करती रही, और ब्रिटिश सरकार उसे अपना केन्द्र बनाकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध में तत्पर रही। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में मित्रपक्ष की सेनाओं का प्रधान केन्द्र ईराक में ही था। जनवरी, १९४३ में ईराक युद्ध में बाकायदा शामिल हो गया था, और उसने जर्मन पक्ष के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा भी कर दी थी। महायुद्ध में मित्रपक्ष की विजय के कारण ईराक भी विजेताओं में था, और उसे भी संयुक्त राष्ट्र-संघ की सदस्यता प्राप्त हो गई थी। पर अभी यह देश पूर्णतया ब्रिटिश प्रभाव व प्रभुत्व से मुक्त नहीं हुआ था। १९३० में जिस सन्धि के परिणामस्वरूप ईराक पर से ब्रिटेन के मैन्डेटरी शासन का अन्त किया गया था, उसके अनुसार ईराक ने यह स्वीकार किया था कि उसके क्षेत्र में दो हवाई अड्डे ब्रिटेन के अधिकार में रहेंगे, युद्ध के समय ब्रिटिश सेनाओं को ईराक में से होकर आने-जाने का अधिकार होगा, और जहां तक अन्य देशों के साथ सम्बन्ध रखने का प्रश्न है, ईराकी सरकार ब्रिटेन के परामर्श के ही अनुसार कार्य करेगी। यह सन्धि २५ वर्षों के लिये की गई थी, और इसकी अवधि १९५५ तक थी। इस सन्धि के कारण महायुद्ध की समाप्ति के बाद के समय में भी ईराक पर ब्रिटेन का प्रभुत्व कायम रहा। १९५५ में जब इस सन्धि का काल समाप्त हो गया, तो ब्रिटेन ने ईराक के साथ एक नई सन्धि की (४ एप्रिल,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९५५), जिसके अनुसार यह तय किया गया, कि (१) यदि कोई अन्य राज्य ईराक पर आक्रमण करे या उस पर किसी अन्य राज्य के आक्रमण की आशंका हो, तो ईराकी सरकार की प्रार्थना पर ब्रिटेन उसकी रक्षा के लिये अपनी सैन्यशक्ति का प्रयोग कर सकेगा। (२) १९३० की सन्धि के अनुसार जो दो हवाई अड्डे ब्रिटेन को दिये गये थे, उन्हें वह ईराकी सरकार को वापिस कर देगा। १९५५ की इस सन्धि के बाद ईराक पर से ब्रिटेन के प्रभुत्त्व का अन्त हो गया है, और उसकी विदेशी राजनीति का संचालन ब्रिटेन के हाथों में नहीं रहा है। ईराक से अपनी सेनाओं को ले जा सकने और युद्ध के समय उसे अपना सैनिक केन्द्र बना सकने का जो अधिकार ब्रिटेन को पहले प्राप्त था, उसका भी अब अन्त हो गया है।

सौदी अरेबिया—महायुद्ध में सौदी अरेबिया ने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया था, और अपनी वृत्ति ऐसी रखी थी जिससे कि मित्रराज्यों को किसी शिकायत का अवसर न मिले। इस राज्य की स्थिति महायुद्ध से पहले भी एक स्वतन्त्र राज्य की थी, और उसका राजा इब्न सऊद स्वेच्छाचारी रूप से अपने देश का शासन किया करता था। महायुद्ध के बाद भी सौदी अरेबिया की स्वतन्त्र स्थिति कायम रही। पैलेस्टाइन में अरबों और यहूदियों में जब युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो इब्न सऊद ने भी वहां के अरबों का पक्ष लिया, और अपनी कुछ सेनाएं भी यहूदियों के विरुद्ध लड़ने के लिये भेजीं। पर इस युद्ध में उस का विशेष कर्तृत्त्व नहीं था, और इसी कारण इससे वह कोई लाभ प्राप्त नहीं कर सका था। अरब राज्यों की राजनीति में इब्न सऊद और उसके उत्तराधिकारियों ने जो महत्त्वपूर्ण भाग लिया, उस पर हम आगे चल कर एक अन्य अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व पश्चिमी एशिया के विविध अरब राज्यों पर ब्रिटेन और फ्रांस का जो आधिपत्य विद्यमान था, महायुद्ध के बाद उसका प्रायः अन्त हो गया। इस काल के इतिहास में पाश्चात्य साम्राज्यवाद का ह्रास एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। जिस प्रकार भारत, लंका और मलाया आदि एशियन देश पाश्चात्य साम्राज्यवाद के शिकंजे से मुक्त होकर स्वतन्त्र हुए, वैसे ही विविध अरब राज्य भी इस काल में ब्रिटिश और फ्रेञ्च आधिपत्य से स्वतन्त्र होने में समर्थ हुए।

(६) ईरान में साम्राज्यवादी देशों के संघर्ष

१६ सितम्बर, १९४१ के दिन रजा शाह पहलवी ने किन परिस्थितियों में ईरान की राजगद्दी का परित्याग कर दिया था, इस सम्बन्ध में पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में रजा शाह तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहता था, इसीलिये उसके राज्य में ब्रिटेन, रूस आदि मित्रपक्ष के राज्यों के प्रतिनिधियों के समान जर्मन पक्ष के राजप्रतिनिधि भी विद्यमान थे। १९४१ के पूर्वार्ध में पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में मित्रपक्ष की स्थिति बहुत कमजोर पड़ गई थी। सीरिया मार्शल पेतां की विशी सरकार के अधीन था, और ईराक में रशीद अली की नीति जर्मनी का समर्थन करने की थी। इस अवसर पर जर्मन लोग ईरान की सरकार को भी अपने अनुकूल करने के लिये प्रयत्नशील थे। मित्र-राज्यों को भय था, कि कहीं ईरान भी ईराक के समान जर्मनी के प्रभाव में न आ जाए। जून, १९४१ में जर्मन सेनाएं रूस पर भी अपना आक्रमण शुरू कर चुकी थीं, और मित्रपक्ष के लिये यह बहुत आवश्यक था, कि रूस के साथ सीधा सम्पर्क रखा जाए। यह सम्पर्क ईरान के मार्ग द्वारा ही सम्भव था। इसीलिए ब्रिटेन और रूस ने रजा शाह पर इस बात के लिए जोर डाला, कि अपने देश से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जर्मन लोगों को बाहर निकाल दे, और मित्रपक्ष के ईरान के मार्ग से सेनाएं तथा युद्ध-सामग्री को रूस पहुँचाने में कोई बाधा न डाले। पर रजा शाह इससे सहमत नहीं हुआ, क्योंकि वह तटस्थता की अपनी नीति को छोड़ना नहीं चाहता था। परिणाम यह हुआ, कि ब्रिटिश और रूसी सेनाओं ने ईरान पर आक्रमण कर दिया, अनेक नगरों और बन्दरगाहों पर बम्ब बरसाये गये, और तेहरान पर इन सेनाओं ने कब्जा कर लिया (अगस्त, १९४१)। जब रजा शाह ने इस आक्रमण के विरुद्ध संयुक्त-राज्य अमेरिका से अपील की, तो उसकी सरकार ने यह उत्तर दिया कि यह युद्ध तो एक विश्वव्यापी महायुद्ध है, हिटलर की विश्व-विजय की महत्त्वाकांक्षा का दमन करने के लिए यदि ईरान पर भी कुछ आंच आ जाए, तो इसे कोई बड़ी बात नहीं समझना चाहिये। यह परिस्थिति थी, जब कि रजा शाह ने स्वेच्छापूर्वक राजगद्दी का परित्याग कर दिया, और उसका पुत्र मुहम्मद रजा ईरान का शाह बना। ब्रिटिश लोग रजा शाह को पहले मौरीशस ले गये, और बाद में दक्षिणी अफ्रीका। १९४४ में वहीं उसकी मृत्यु हुई।

नये शाह की सरकार ने २९ जनवरी, १९४२ के दिन ब्रिटेन और रूस से एक सन्धि की, जिसके अनुसार ब्रिटेन और रूस ने यह स्वीकार किया, कि वे ईरान की राजनीतिक स्वाधीनता, सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता और अपनी राज्यसीमा में अबाध सत्ता का सम्मान करेंगे, और यदि उस पर किसी अन्य देश ने आक्रमण किया तो शक्ति भर ईरान की रक्षा करेंगे। इसी सन्धि द्वारा ईरान ने यह स्वीकार किया, कि वह मित्र-पक्ष को युद्ध-प्रयत्न में अपनी सैन्य-शक्ति के अतिरिक्त अन्य सब प्रकार से सहायता करेगा, और ब्रिटेन तथा रूस युद्ध की आवश्यकता को दृष्टि में रखते हुए अपनी सेनाएं ईरान में ला सकेंगे, पर महायुद्ध की समाप्ति के छः मास के अन्दर-अन्दर ये सेनाएं ईरान से वापस बुला ली जाएंगी। इस सन्धि के अनुसार ब्रिटिश और रूसी सेनाएं अच्छी बड़ी संख्या में ईरान में प्रविष्ट हो गईं, रूसी सेना ने उत्तरी ईरान पर कब्जा कर लिया और ब्रिटिश सेना ने दक्षिणी ईरान पर। संयुक्त राज्य अमेरिका के युद्ध में प्रवेश कर लेने पर ३०,००० अमेरिकन सैनिक भी ईरान में आ गये, और ब्रिटिश सेना को सहयोग प्रदान करने लगे। दिसम्बर, १९४३ में रूजवेल्ट (अमेरिका), चर्चिल (ब्रिटेन) और स्टालिन (रूस) ने मिलकर एक घोषणा प्रकाशित की, जिसमें ईरान की राजनीतिक स्वतन्त्रता को कायम रखने की बात को फिर दोहराया गया, और साथ ही यह आश्वासन भी दिया गया कि ईरान की आर्थिक उन्नति के लिये उसे पूरी-पूरी सहायता दी जायगी। इससे कुछ समय पूर्व ईरान जर्मन पक्ष के विरुद्ध युद्ध की भी घोषणा कर चुका था (सितम्बर, १९४३)।

युद्ध के कारण ईरान को अनेक प्रकार से आर्थिक संकट का सामना करना पड़ रहा था। रूस, ब्रिटेन और अमेरिका की सेनाएं वहां बड़ी संख्या में विद्यमान थीं। क्योंकि ईरान भी युद्ध में शामिल हो चुका था, अतः वहां की सरकार को इन सेनाओं से पूरा-पूरा सहयोग करना पड़ता था। विदेशी सेनाओं के लिए सब सामग्री जुटाना ईरान के ही सुपुर्द था। सरकार का खर्च निरन्तर बढ़ रहा था, और इस खर्च को राजकीय आमदनी से प्राप्त नहीं किया जा सकता था। इसलिए ईरानी सरकार कागजी मुद्रा की मात्रा को बढ़ाने के लिए विवश थी, जिसके कारण वस्तुओं की कीमतें निरन्तर बढ़ती जाती थीं। उत्तरी ईरान पर रूसी सेनाओं का कब्जा था, और दक्षिणी ईरान पर अमेरिकन तथा ब्रिटिश सेनाओं का। मित्र-पक्ष में शामिल होते हुए भी इनमें पूर्ण सहयोग का अभाव था। विदेशी सेनाओं द्वारा अपने देश पर कब्जा कर लेने के कारण ईरानी सरकार अपने को सर्वथा असहाय अनुभव करती थी, और देश की आर्थिक दशा को संभालने में सर्वथा असमर्थ थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह दशा थी, जब कि एक अन्य प्रश्न को लेकर ईरान की सरकार को एक विकट समस्या का सामना करना पड़ा। १९४४ के प्रारम्भ में अमेरिकन और ब्रिटिश कम्पनियों ने ईरान के शाह के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया, कि उन्हें दक्षिण-पूर्वी ईरान में तेलकूपों के निर्माण और तेल निकालने के अधिकार प्रदान किये जाएं। तेल की दृष्टि से ईरान अत्यन्त समृद्ध है, और उसके कतिपय दक्षिणी प्रदेशों में ब्रिटिश पूंजीपति पहले ही तेल निकालने के अधिकार प्राप्त कर चुके थे। उन्होंने वहां से तेल निकालना प्रारम्भ भी कर दिया था। पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों में तेल की उपलब्धि और उसके कारण उत्पन्न हुई समस्याओं पर हम अगले अध्याय में प्रकाश डालेंगे। जब रूस ने देखा, कि ब्रिटिश और अमेरिकन कम्पनियां ईरान में तेल के सम्बन्ध में नये अधिकार प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं, तो उसने भी यह मांग की, कि उत्तरी ईरान में तेल की तलाश और तेलकूपों के निर्माण का अधिकार उसे प्रदान किया जाए। अभी युद्ध की समाप्ति नहीं हुई थी, और रूसी, अमेरिकन तथा ब्रिटिश सेनाएं ईरान में विद्यमान थीं। इस दशा में ईरान इन तीनों देशों में से किसी को भी नाराज नहीं कर सकता था। उसने यही उचित समझा, कि अभी किसी भी देश को तेल के सम्बन्ध में कोई नया अधिकार न दिया जाए। ब्रिटेन, अमेरिका और रूस तीनों के प्रस्ताव उसने अस्वीकृत कर दिये। रूस ने इससे बहुत उद्वेग अनुभव किया। उसने कहा, कि ईरान की सरकार पूरी तरह से अमेरिका और ब्रिटेन के प्रभाव में है, और ये देश ईरान को अपने कब्जे में ले आने के लिए कटिबद्ध हैं। इस समय तक महायुद्ध में जर्मन पक्ष बहुत कमजोर पड़ चुका था, और रूस ने जर्मनी को पराजित करने में असाधारण सफलता प्राप्त कर ली थी। युद्ध का अन्त नजर आने लग गया था, और उसके कारण रूस के मित्रपक्ष देशों के प्रति विरोध, मतभेद तथा संघर्ष के चिन्ह प्रकट होने शुरू हो गये थे।

ईरानी सरकार और रूस का विरोध केवल तेल के प्रश्न पर ही प्रगट नहीं हुआ। शीघ्र ही, अन्य बातों को लेकर भी उनमें विरोध शुरू हो गया। रजा शाह के शासन-काल में भी ईरान में कम्युनिस्ट पार्टी विद्यमान थी, पर उसकी नीति के कारण इस पार्टी के लिये खुले तौर अपना कार्य कर सकना सम्भव नहीं रहा था। महायुद्ध के समय रजा शाह के पतन के बाद यह पार्टी फिर प्रकाश में आ गई, और इसने तुदेह (जनता) पार्टी के नाम से अपना कार्य करना प्रारम्भ कर दिया। यद्यपि तुदेह पार्टी ईरान में सर्वत्र संगठित थी, पर उसकी विशेष शक्ति अजरबैजान के प्रदेश में थी। यह प्रदेश ईरान के उत्तर-पश्चिमी कोने में है, और इसकी सीमा रूस के साथ लगती है। अगस्त, १९४५ में (अब तक यूरोप में महायुद्ध का अन्त हो चुका था) तुदेह पार्टी ने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसमें अजरबैजान में स्वायत्त शासन की स्थापना की मांग की गई। तुदेह पार्टी के लोग केवल यह घोषणा करके ही संतुष्ट नहीं हो गये, उन्होंने सरकारी इमारतों पर कब्जा भी कर लिया, और इस प्रदेश में एक पृथक् सरकार भी संगठित कर ली। जब ईरानी सरकार ने तुदेह को काबू में लाने के लिये अजरबैजान में अपनी सेना भेजनी चाही, तो रूसी-सेना ने (अभी रूसी, अमेरिकन और ब्रिटिश सेनाएं ईरान में विद्यमान थीं) उसे वहां प्रविष्ट नहीं होने दिया (दिसम्बर, १९४५)। यद्यपि कुछ समय बाद यह मामला सुलझ गया, और ईरानी सरकार का अजरबैजान पर शासन स्थापित हो गया, पर इस मामले ने भी रूस और ईरान के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न करने में बहुत सहायता पहुंचाई।

१९ जनवरी, १९४२ की सन्धि के अनुसार यह आवश्यक था, कि महायुद्ध की समाप्ति के छः मास के अन्दर-अन्दर ब्रिटेन (और अमेरिका) तथा रूस अपनी सेनाएं ईरान से हटा लें। मई, १९४५ में यूरोप में युद्ध की समाप्ति हो गई थी। अतः ब्रिटेन के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परराष्ट्र-सचिव बेविन ने यह घोषित किया, कि ब्रिटेन १९४५ के अन्त तक अपनी सेनाएं ईरान से हटा लेगा, और रूस से भी यह अनुरोध किया कि वह भी इस समय तक अपनी सेनाएं ईरान से वापस बुला ले। पर रूस का कहना था, कि महायुद्ध का अन्त वस्तुतः उस समय हुआ था, जब कि सुदूर पूर्व के क्षेत्र में जापान ने आत्मसमर्पण किया था (अक्टूबर, १९४५)। अतः १९४२ की सन्धि के अनुसार उसे अधिकार है, कि वह मार्च, १९४६ तक अपनी सेनाएं ईरान में रख सके।

महायुद्ध के समाप्त हो जाने पर रूस ने ईरानी सरकार पर फिर यह जोर देना शुरू किया, कि उत्तरी ईरान में तेल निकालने का अधिकार उसे प्रदान किया जाए। ईरानी सरकार के लिए रूस जैसे शक्तिशाली राज्य की मांग को अस्वीकृत कर सकना सुगम नहीं था, विशेषतया उस दशा में जब कि रूसी सेनाएं अभी ईरान में विद्यमान थीं। एप्रिल, १९४६ में ईरान के प्रधानमन्त्री क्वाम सुलतानेह ने "ईरानी सोवियत आयल कम्पनी" नाम से एक नई कम्पनी की स्थापना और उत्तरी ईरान में उसे तेल निकालने का अधिकार प्रदान करने की बात स्वीकार कर ली। पर साथ ही, उसने यह भी स्पष्ट कर दिया, कि इस के लिए ईरानी पार्लियामेन्ट (मजलिस) की स्वीकृति लेना भी आवश्यक होगा। इस पर मई, १९४६ में रूस ने अपनी सेनाओं को ईरान से वापस बुला लिया।

ईरान की सरकार पर रूस का प्रभाव इस समय इतना अधिक बढ़ गया था, कि वहां के मन्त्रिमण्डल में तुदेह पार्टी के भी तीन नेताओं को मन्त्रियों के रूप में सम्मिलित किया गया, और ये मन्त्री अपने देश में ऐसे सुधारों के लिए प्रयत्नशील हो गये, जिनका प्रयोजन ईरान को समाजवाद के मार्ग पर अग्रसर करना था। तुदेह पार्टी के लोग एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के तेलकूपों में काम करने वाले ईरानी मजदूरों को अपने प्रभाव में ले आने के लिये तत्पर थे, और उन्हें इस बात के लिए प्रेरित कर रहे थे कि तेलकूपों में हड़ताल करके वहां अंग्रेजी पूंजीपतियों के लिए तेल निकालना असम्भव कर दें। ऐसी हड़तालें कराने में वे सफल भी हुए, और ईरान में कम्युनिस्टों का प्रभाव निरन्तर बढ़ता चला गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार के अनेक क्षेत्रों में कम्युनिस्ट पार्टी का बल बढ़ने लगा था, और ब्रिटेन व अमरीका जैसे लोकतन्त्रवादी देश सर्वत्र कम्युनिस्टों का मुकाबिला करने के लिए तत्पर हो गये थे। ईरान में भी यही दशा थी। उत्तर की तरफ से वहां रूसी लोग अपने प्रभाव को स्थापित करने के लिए तत्पर थे, और दक्षिण की ओर से ब्रिटेन और अमरीका। तुदेह पार्टी को रूस का समर्थन प्राप्त था, और ब्रिटेन उन दलों का पक्ष ले रहा था जो तुदेह के विरोधी थे।

इसी समय दक्षिणी ईरान में एक विद्रोह हुआ, जिसकी पीठ पर ब्रिटेन का हाथ था। ब्रिटेन की प्रेरणा से ईराक ने यह दावा करना शुरू किया, कि खुजिस्तान का प्रदेश ईरान से पृथक् किया जाना चाहिए, और उसे ईराक के अन्तर्गत कर देना चाहिए, क्योंकि वहां अरब लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं। इस प्रदेश में तेल के बहुत-से कूप हैं, और उनसे तेल निकालने का अधिकार ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथों में था। बख्तियारी और कशकई कबीलों के लोगों ने भी इस समय विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया, और वे स्वायत्त शासन की मांग करने लगे। इन सब विद्रोहों का उद्देश्य यह था, कि ईरान के मन्त्रिमण्डल से तुदेह पार्टी के मन्त्रियों को बहिष्कृत कर दिया जाए। ब्रिटेन यही चाहता था, कि ईरान पर रूस का प्रभाव न बढ़ने पाए, और तुदेह जैसी समाजवादी पार्टी की शक्ति नष्ट हो जाय। इसी कारण वह इन विद्रोहों का समर्थन कर रहा था। अन्त में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्वाम सुलतानेह को विद्रोहियों के सामने झुक जाना पड़ा, और उसने तुदेह पार्टी के मन्त्रियों को अपने मन्त्रिमण्डल से बहिष्कृत कर दिया (अक्टूबर, १९४६)।

तुदेह पार्टी के निर्बल पड़ जाने पर अजरबैजान पर फिर से ईरानी सरकार का शासन स्थापित हो जाने के कारण ईरान में रूस के प्रभाव को बहुत धक्का लगा। उत्तरी ईरान में तेल की तलाश और तेल निकालने के जो अधिकार रूस ने क्वाम सुलतानेह से प्राप्त किये थे, उन्हें भी ईरान की मजलिस ने स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः, इस समय ईरान में राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल हो रही थी। वहां के लोग यह कहने लगे थे, कि हमें अपने देश में तेल निकालने का अधिकार किसी भी विदेशी कम्पनी को नहीं देना चाहिए। जिन तेलकूपों पर पहले से विदेशी कम्पनियों का अधिकार स्थापित है, उन्हें भी उनसे वापस ले लेना चाहिए, और सब तेल-क्षेत्रों को राष्ट्र की सम्पत्ति बना देना चाहिए। इस विचार का सबसे प्रबल समर्थक डॉ० मुसादिक था, जो ईरानी मजलिस का अन्यतम सदस्य था। कुछ समय बाद डॉ० मुसादिक के नेतृत्व में तेल-क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण के लिए जो घोर संघर्ष शुरू हुआ, उस पर हम आगे चलकर प्रकाश डालेंगे। पर यहां यह लिख देना आवश्यक है, कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद १९४७ तक ईरान में न ब्रिटिश सेनाएं रह गई थीं, और न रूसी सेनाएं। राजनीतिक दृष्टि से यह देश पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया था, यद्यपि तेलकूपों पर अधिकार होने के कारण ब्रिटेन का आर्थिक प्रभुत्त्व वहां कायम था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैंतालीसवाँ अध्याय

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् अरब राज्यों की प्रगति

(१) पश्चिमी एशिया के आर्थिक जीवन में तेल का महत्त्व

पश्चिमी एशिया के न केवल आर्थिक जीवन में, अपितु वहां की आधुनिक राजनीति में भी तेल (पेट्रोल) का बहुत अधिक महत्व हैं। अतः वहां के आधुनिक इतिहास की घटनाओं को भली-भांति समझने के लिए यह आवश्यक है, कि इस क्षेत्र के तेलकूपों और तेल-उद्योग के विषय में कुछ अधिक विस्तार से लिखा जाय।

मानव सभ्यता के विकास की वर्तमान दशा में तेल अनेक कामों में आता है। उसका महत्व कोयले की अपेक्षा भी अधिक है। मोटर कार, हवाई जहाज आदि पेट्रोल या उससे बने गैसोलिन आदि से ही चलते हैं, और बहुत-से कारखानों के संचालन के लिए यान्त्रिक शक्ति का उत्पादन भी इसी द्वारा होता है। तेल ईंधन के भी काम में आता है, और रोशनी के लिए भी। १९५६ में विश्व भर में तेल का कुल खर्च १,६१,८०,००० बैरल था। आशा की जाती थी, कि भविष्य में तेल का खर्च और भी अधिक बढ़ जायगा। इसका कारण यह है, कि वैज्ञानिक उन्नति और औद्योगिक विकास के कारण जहां कल-कारखानों में वृद्धि होना अवश्यम्भावी है, वहां मोटर, हवाई जहाज आदि में वृद्धि के कारण यातायात के लिए भी तेल की मांग का बढ़ना जरूरी है। इस तेल का बहुत बड़ा भाग पश्चिमी एशिया के तेलकूपों द्वारा प्राप्त किया जाता है। संसार के विभिन्न देशों में तेल का कितना उत्पादन और खर्च है, यह इस तालिका द्वारा स्पष्ट हो जायगा—

देश	तेल का उत्पादन	तेल का खर्च
उत्तरी अमेरिका (मैक्सिको सहित)	८६,५७,०००	९२,६०,०००
मध्य और दक्षिणी अमेरिका	२८,३८,०००	१०,१०,०००
पश्चिमी एशिया (ईजिप्ट सहित)	३४,८०,०००	५,१०,०००
रूस, चीन और पूर्वी यूरोप	१९,४९,०००	१७,००,०००
पश्चिमी यूरोप	१,९९,०००	२५,७०,०००
एशिया (पश्चिमी एशिया और चीन को छोड़ कर) और आस्ट्रेलिया	४,०२,०००	८,५०,०००
अफ्रीका (ईजिप्ट को छोड़ कर)	११,०३,०००	२,८०,०००
सर्व योग	१,८६,२८,०००	१,६१,८०,०००

यह तालिका १९५६ के उत्पादन और खर्च की है, और इसमें उत्पादन व खर्च को बैरलों (१ बैरल = ४२ गैलन) द्वारा प्रदर्शित किया गया है। यह उत्पादन और खर्च दैनिक है, और साल भर के उत्पादन एवं खर्च का अनुमान इस राशि को ३६५ से गुणा करके किया जा सकता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि विश्व भर में जितने तेल का उत्पादन होता है, उसका २० प्रतिशत के लगभग अकेले पश्चिमी एशिया से प्राप्त किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है, जब कि वहाँ पर तेल का खर्च नाममात्र है। रूस, चीन और यूरोप के जो देश वर्तमान समय में कम्युनिस्ट गुट में है, वे अपनी आवश्यकता से अधिक तेल उत्पन्न कर लेते हैं। ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि पश्चिमी यूरोप के देशों में तेल का उत्पादन बहुत कम है। वे केवल १,९९,००० बैरल तेल प्रतिदिन उत्पन्न करते हैं, जबकि उनका खर्च २५,७०,००० बैरल दैनिक है। यह तेल उन्हें कहीं बाहर से ही प्राप्त करना होता है, और पश्चिमी एशिया ही एक ऐसा क्षेत्र है, जहां से वे इसे सुगमता से प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि भौगोलिक दृष्टि से ईराक, सौदी अरेबिया तथा ईरान आदि पश्चिमी एशिया के देश यूरोप के बहुत समीप है। संयुक्त-राज्य अमेरिका, कनाडा और मैक्सिको भी अपनी जरूरत का सब तेल अपने तेलकूपों से प्राप्त नहीं कर सकते, और दैनिक ६ लाख बैरल से भी अधिक तेल उन्हें बाहर से मंगाना पड़ता है। यही बात भारत, पाकिस्तान, लंका, और इन्डोनीसिया आदि एशियन देशों के सम्बन्ध में भी है। वे अपनी जरूरत का आधे से भी कम तेल स्वयं उत्पन्न करते हैं, और ४ लाख दैनिक के लगभग बैरल बाहर से मंगाते हैं। क्योंकि आधुनिक युग के आर्थिक और औद्योगिक जीवन में तेल का महत्त्व बहुत अधिक है, अतः जिन देशों में तेल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं है, उनके लिए यह आवश्यक हो जाता है, कि वे तेल के उत्पादक देशों से ऐसे सम्बन्ध रखें जिनके कारण उन्हें तेल की प्राप्ति में कठिनाई न हो। पश्चिमी यूरोप, दक्षिणी एवं दक्षिणी-पूर्वी एशिया और उत्तरी अमेरिका के जिन देशों में तेल की उपलब्धि खर्च की तुलना में कम है, वे सब ऐसे हैं जिनमें लोकतन्त्र शासन विद्यमान हैं, और जिन्होंने कम्युनिस्ट व्यवस्था को नहीं अपनाया है। दक्षिणी व दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देश अब से कुछ साल पहले तक ब्रिटेन, हालैण्ड या फ्रांस के शासन में थे। अतः यदि अब से केवल पच्चीस या तीस वर्ष पूर्व के समय की दृष्टि से देखा जाय, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि ब्रिटेन, और फ्रांस आदि पश्चिमी यूरोप के साम्राज्यवादी देश तेल के मामले में अन्य देशों पर निर्भर थे। इसी कारण इस आवश्यक पदार्थ की प्राप्ति के लिए उनका ध्यान पश्चिमी एशिया के तेल-क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुआ, और उन्होंने यह यत्न प्रारम्भ किया कि इस क्षेत्र के विविध देशों पर अपना ऐसा प्रभाव कायम करें जिसके कारण वे सुगमता से वहां के तेल को प्राप्त कर सकें। यही कारण है, जो उन्होंने इन देशों की राजनीति में विशेष दिलचस्पी लेनी शुरू की, और तेल की उपलब्धि के लिए इनमें अपने प्रभाव-क्षेत्र कायम करने प्रारम्भ किए। प्रथम महायुद्ध (१९१४—१८) के समय तक भी पश्चिमी एशिया के इस क्षेत्र में विविध पाश्चात्य साम्राज्यवादी देश परस्पर संघर्ष में तत्पर थे। पर उस समय इस संघर्ष का प्रधान कारण यह था, कि ये देश भारत, मलाया आदि उन प्रदेशों के मार्ग में पड़ते थे, जिन पर ब्रिटेन आदि ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया हुआ था। रूस, फ्रांस, और ब्रिटेन आदि के साम्राज्य-सम्बन्धी हित एशिया में टकराते थे, और इसी कारण वे पूर्वी देशों तक पहुंचने के इस मार्ग और इसके समीप में विद्यमान देशों को अपने आधिपत्य में रखने के लिए उत्सुक थे। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब इन देशों में तेल की सत्ता का परिज्ञान हुआ, तो पश्चिमी यूरोप के देशों के लिए इनका महत्व और अधिक बढ़ गया, और तेल की उपलब्धि के सम्बन्ध में भी उनके हित व स्वार्थ आपस में टकराने लगे।

पश्चिमी एशिया में तेल की सत्ता का परिज्ञान यूरोप के लोगों को उन्नीसवीं सदी में ही हो गया था। पर वहां से तेल को निकालने का प्रारम्भ सबसे पूर्व १९०८ में किया गया। ईराक के मस्जिदे-सुलेमान नामक स्थान पर सबसे पूर्व तेल के कूप खोदे गए, और अबादान (ईरान) में तेल को साफ करने के लिए इस क्षेत्र की पहली रिफाइनरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कायम की गई (१९१२)। यह रिफाइनरी एक दिन में २५०० बैरल तेल साफ कर सकती थी। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति (१९१८) के बाद पश्चिमी एशिया में अन्य अनेक स्थानों पर तेल की सत्ता का पता लगा, और कुछ ही समय में तेल की दृष्टि से इस क्षेत्र का महत्त्व बहुत बढ़ गया।

ईरान में तेल का पता करने और तेल निकालने के लिए १९०९ में एंग्लोईरानियन आयल कम्पनी की स्थापना की गई थी। इस समय ईरान की राजगद्दी पर मुजफ्फीरुद्दीन शाह विराजमान था। उत्तरी ईरान के कतिपय प्रदेशों के अतिरिक्त देश के अन्य सब प्रदेशों से तेल की तलाश और उसे निकालने का अधिकार शाह ने ६० साल के लिए इस कम्पनी को दे दिया, और इसके लिए केवल यह शर्त रखी कि तेल के उद्योग से जो मुनाफा कम्पनी को हो, उसका १६ प्रतिशत रायल्टी के रूप में शाह को प्रदान किया जाया करे। ईरान में तेल की तलाश में इस कम्पनी को असाधारण सफलता प्राप्त हुई, और १९३८ तक यह कम्पनी एक करोड़ टन से भी अधिक तेल प्रतिवर्ष ईरान से प्राप्त करने लगी। इस कम्पनी की पूंजी मुख्यतया ब्रिटेन के पूंजीपतियों द्वारा लगायी गई थी, जिसके कारण ईरान के तेल पर अंग्रेजों का प्रभुत्त्व कायम हो गया था। तेल के कारण ईरान में अंग्रेजों का एक ऐसा आर्थिक स्वार्थ उत्पन्न हो गया था, जिसकी वे किसी भी दशा में उपेक्षा नहीं कर सकते थे। ईरान में किस सरकार का शासन है, और ब्रिटेन के प्रति उसका क्या रुख है, यह बात भी इसी कारण अंग्रेजों के लिए बड़े महत्त्व की हो गई थी।

ईरान के बाद ईराक में तेल की सत्ता का पता लगा। इसके लिये तीन कम्पनियां खड़ी की गईं, जिसके नाम क्रमशः ईराक पेट्रोलियम कम्पनी, मोसल पेट्रोलियम कम्पनी और बसरा पेट्रोलियम कम्पनी थे। उन्होंने क्रमशः १९२५, १९३२ और १९३८ में ईराक के विभिन्न प्रदेशों में तेल की तलाश करने और उसे निकालने के अधिकार प्राप्त किये। इस अधिकार की अवधि ७५ साल रखी गई, और यह व्यवस्था की गई कि जब तक तेल निकाला जाना शुरू न हो, ये कम्पनियां ईराकी सरकार को धन की एक निश्चित मात्रा प्रति वर्ष प्रदान किया करें, और जब तेल निकालना प्रारम्भ हो जाय, तो ४ शिलिंग प्रति टन क्रूड आयल के हिसाब से रायल्टी प्रदान की जाया करे। ईराक के प्रदेश भी तेल की दृष्टि से बहुत समृद्ध साबित हुए, और इस कारण इन कम्पनियों को बहुत लाभ हुआ। प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ से पूर्व ही एक जर्मन वैज्ञानिक ने यह कह दिया था, कि ईराक तेल की एक विशाल झील के समान है। उसका विचार सही निकला, और मोसल तथा बसरा आदि में तेल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुआ। ईराक से तेल निकालने के लिए जो कम्पनियाँ कायम की गई थीं, उनमें भी अधिकांश पूंजी ब्रिटेन की ही थी, यद्यपि डच, फ्रेञ्च और अमेरिकन पूंजीपतियों ने भी उनमें पूंजी लगायी थी।

ईराक के बाद बहराइन आदि शेखडमों में तेल की सत्ता का पता लगा। ये शेख-राज्य ईरान की खाड़ी के पश्चिमी तट पर स्थित हैं। दिसम्बर, १९२५ में एक ब्रिटिश सिण्डीकेट को यह अधिकार दिया गया, कि वह बहराइन में तेल की तलाश करे। पर बाद में यह अधिकार एक अमेरिकन कम्पनी ने प्राप्त कर लिया। १९४४ में बहराइन में तेल का निकाला जाना शुरू किया गया, और यह प्रदेश भी तेल के लिए अत्यन्त समृद्ध साबित हुआ। यहां के शेख से अमेरिकन कम्पनी ने यह शर्त की थी, कि उसके प्रदेश से निकाले जाने वाले तेल पर उसे सवा तीन रुपये प्रति टन के हिसाब से रायल्टी प्रदान की जायगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सौदी अरेबिया भी तेल की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। १९३३ में वहां से तेल निकालने का अधिकार अमेरिकन पूंजीपतियों को प्रदान किया गया, जिन्होंने कि अरेबियन-अमेरिकन आयल कम्पनी के नाम से एक कम्पनी का संगठन किया था। यह एक विशाल संगठन है, जिसमें चार बड़ी कम्पनियां सम्मिलित हैं। सौदी अरेबिया में तेल का अनन्त भण्डार है, और यह विश्वास किया जाता है कि संसार में जितना भी तेल इस समय भूगर्भ में छिपा हुआ है, उसका ४२ प्रतिशत इसी क्षेत्र हैं। अपने राज्य से तेल निकाल सकने का अधिकार प्रदान करते समय सौदी अरेबिया के राजा इब्न सऊद ने अरेबियन-अमेरिकन आयल कम्पनी से १२½ लाख रुपये नकद प्राप्त किये थे। पर तेल से जो रायल्टी उसे प्राप्त होती थी, उसकी मात्रा १९४९ तक १७,८७,५०,००० रुपए वार्षिक तक पहुंच गई थी। सौदी अरेबिया की आर्थिक उन्नति में तेल की उपलब्धि कितनी सहायक हुई, यह इससे भली भांति समझा जा सकता है।

बहराइन के समान ईरान की खाड़ी के तटवर्ती अन्य शेखडमों में भी तेल उपलब्ध हुआ। ईरान की खाड़ी के क्षेत्र में कुवैत का छोटा-सा राज्य है, जिसका क्षेत्रफल केवल ९,३७५ वर्गमील है। अरब के अन्य प्रदेशों में जब तेल की सत्ता का पता लगा, तो पाश्चात्य पूंजीपतियों का ध्यान कुवैत की ओर भी गया, और उन्होंने वहां के शेख से ७४ साल के लिए तेल निकालने का अधिकार प्राप्त कर लिया (१९३४)। इसके लिए कुवैत आयल कम्पनी के नाम से एक कम्पनी का संगठन किया गया, जिसमें अमेरिकन और ब्रिटिश पूंजीपतियों ने बराबर-बराबर पूंजी लगायी। कुवैत भी तेल की दृष्टि से बहुत समृद्ध है। उसका प्रधान तेलकूप बर्गन नामक स्थान पर है, जिसे संसार का सबसे बड़ा तेलकूप माना जाता है। १९५१ में कुवैत के तेलकूपों से जो तेल निकाला जाता था, उसकी मात्रा ५,४९,००,००० टन वार्षिक तक पहुँच गई थी। इससे जो आमदनी कुवैत के शेख को होती थी, वह १,२०,००,००,००० वार्षिक के लगभग थी। कुवैत का राज्य एक मरुभूमि है। पर तेल के कारण अब वह एक अत्यन्त समृद्ध देश हो गया है। कुवैत और बहराइन के समान कतार के शेख-राज्य में भी बहुत बड़ी मात्रा में तेल उपलब्ध हुआ है। १९३८ में कुवत आयल कम्पनी ने कतार में तेल के उत्पादन का अधिकार प्राप्त किया था, और १९५६ में यह कम्पनी वहां से प्रतिवर्ष ८० लाख टन तेल निकालने लग गई थी। ट्रूसियल कोस्ट के शेख-राज्यों में भी तेल की तलाश जारी थी, और आशा की जाती थी, कि वहां भी तेल प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हो जायगा।

तेल की उपलब्धि के कारण पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों की बहुत अधिक समृद्धि हुई है। इन सब प्रदेशों की भूमि प्रायः रेगिस्तान के रूप में है। खेती से वहां अधिक आमदनी नहीं हो सकती। खनिज पदार्थ भी वहां अधिक मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं। लोहे और कोयले आदि का वहाँ प्रायः अभाव है। पर तेल के रूप में वहां एक ऐसा धन प्राप्त हो गया है, जिसके कारण इन प्रदेशों का आर्थिक भविष्य बहुत उज्ज्वल है। अब तक इन प्रदेशों से तेल निकालने के सब अधिकार पाश्चात्य देशों के पूंजीपतियों को प्राप्त हैं, और वे उनसे अनन्त धनराशि कमा रहे हैं। अपनी कुल आमदनी का एक छोटा-सा भाग ही वे रायल्टी के रूप में इन देशों की सरकारों को प्रदान करते हैं। पर यह छोटा-सा अंश भी इनके शासकों की सुख समृद्धि के लिये बहुत है। इसके कारण इन देशों के राजा और राजपरिवार के लोग वैभव के साथ जीवन अवश्य व्यतीत कर सकते हैं, पर वहां की सर्वसाधारण जनता को इससे विशेष लाभ नहीं है। जनता में अभी बहुत गरीबी है, और शिक्षा के अभाव के कारण वह तेल कम्पनियों में अच्छी नौकरियां भी प्राप्त नहीं कर सकती। पर यह स्थिति देर तक रह सकेगी, यह सम्भव नहीं है। राष्ट्रीय भावना इन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देशों में भी जोर पकड़ रही है, और शिक्षा के प्रसार के कारण इनके निवासी अब यह अनुभव करने लगे हैं, कि विदेशी लोग हमारा शोषण करने में तत्पर हैं, और इस दशा का शीघ्र ही अन्त होना चाहिये। यह भावना सबसे पहले ईरान में उत्पन्न हुई, और डॉ० मुसादिक के नेतृत्व में वहां यह प्रयत्न प्रारम्भ हुआ, कि तेलकूपों को राष्ट्र की सम्पत्ति बनाकर उन पर से विदेशियों के स्वत्त्व का अन्त कर दिया जाय। पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में भी यह भावना विकसित हो रही है, और वहां के लोग अब यह सोचने लगे हैं, कि तेल उनकी राष्ट्रीय सम्पत्ति हैं, और उसकी सब आमदनी राष्ट्र के ही काम में आनी चाहिये। पर ब्रिटेन और अमेरिका आदि ने इस क्षेत्र में तेल की तलाश और उत्पादन के लिये अपार पूंजी लगायी हुई है। इससे उन्हें बहुत आमदनी है। १९४९ में अरेबियन अमेरिकन आयल कम्पनी को सौदी अरेबिया के तेलकूपों से ३१,२५,००० रुपए दैनिक की आमदनी थी। बाद में इस आमदनी में और भी अधिक वृद्धि हुई है। पश्चिमी एशिया के विविध तेल-क्षेत्रों से पाश्चात्य देश कितनी आमदनी प्राप्त कर रहे हैं, इससे इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। यह स्वाभाविक है, कि ब्रिटेन और अमेरिका इन प्रदेशों पर अपना ऐसा प्रभाव कायम रखने के लिये कटिबद्ध हों, जिससे कि इनकी सरकारें कोई ऐसा पग न उठा सकें, जो वहां उनके आर्थिक हितों में बाधक हो। साम्राज्यवाद का यह नया रूप है। ईराक, ईरान और सौदी अरेबिया आदि देश राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया स्वतन्त्र हैं, पर पाश्चात्य तेल कम्पनियों के कारण वे अब भी विदेशियों के इस ढंग के प्रभाव में हैं, जिसे राजनीतिक प्रभुत्त्व से कम महत्त्व का नहीं समझा जा सकता।

ईराक, सौदी अरेबिया और कुवैत आदि के तेलकूपों से जो तेल निकाला जाता है, उसकी खपत के मुख्य क्षेत्र पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका के विविध राज्य हैं। इस तेल को भूमध्य सागर के पूर्वी तट के बन्दरगाहों तक पहुंचाने के लिये सैकड़ों मील लम्बी पाइप-लाइनों का निर्माण किया गया है। नलों द्वारा इस तेल को भूमध्य-सागर तक पहुंचा कर फिर इसे जहाजों द्वारा पश्चिमी यूरोप और अमेरिका के विविध देशों में भेज दिया जाता है। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से पूर्व ही ५५० मील लम्बी दो पाइप लाइनें बनकर तैयार हो चुकी थीं, जिनमें से एक उत्तरी ईराक से त्रिपोली (लेबनान) के बन्दरगाह तक जाती है, और दूसरी हैफ्फा (अब इजराईल में) तक। इन दोनों लाइनों के लिए १२ इंच व्यास के पाइपों का प्रयोग किया गया था। महायुद्ध के बाद अन्य भी अनेक पाइप-लाइनें इस क्षेत्र में बनायी गईं। एक लाइन किर्कुक से त्रिपोली तक बनायी गई (१९५०), और दूसरी जोर्डन तथा इजराईल की सीमा तक। इन लाइनों के पाइप का व्यास १६ इन्च है। अरेबियन-अमेरिकन कम्पनी ने सौदी अरेबिया के तेल को भूमध्यसागर के तटवर्ती सिडोन (लेबनान) तक पहुंचाने के लिये ३० इन्च के व्यास के पाइपों की एक लाइन तैयार की, जो लम्बाई में १००० मील है। इसी प्रकार की अन्य भी अनेक पाइप-लाइनों का निर्माण किया गया, जिनके कारण पश्चिमी एशिया के तेल को यूरोप और अमेरिका तक पहुंचाने में अब अधिक खर्च नहीं पड़ता। पर ये सब लाइनें विविध अरब राज्यों के प्रदेशों से होकर गुजरती हैं, और इनकी सुरक्षा एक ऐसा प्रश्न है, जिसकी उपेक्षा कर सकना अमेरिकन और ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिये सम्भव नहीं है। यदि अरब राज्यों में युद्ध छिड़ जाए, तो ये लाइनें सुरक्षित नहीं रह सकतीं। १९४८ के अरब-यहूदी युद्ध के अवसर पर कुछ समय के लिए इन लाइनों का प्रयोग स्थगित भी करना पड़ गया था। यदि कभी कोई अरब राज्य ब्रिटेन या अमेरिका के विरुद्ध उठ खड़ा हो, तो वह इन पाइप लाइनों के प्रयोग को रोक भी सकता है। अतः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन देशों के लिये यह बहुत आवश्यक है, कि वे विविध अरब राज्यों को अपने प्रभाव में रखें। यही कारण है, जो राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने पर भी अरब राज्य पाश्चात्य देशों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सके हैं, और अमेरिका तथा ब्रिटेन आदि देश उनकी राजनीति में निरन्तर हस्तक्षेप करते रहते हैं।

वर्तमान समय की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमेरिकन और रूसी गुटों में जो परस्पर विरोध है, अरब राज्य भी उसके संघर्ष के क्षेत्र बने हुए हैं। इस संघर्ष का एक महत्त्वपूर्ण कारण तेल भी है। रूस को तेल के लिए किसी अन्य देश पर निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं है। पर उसके अपने तेल-क्षेत्र पश्चिमी एशिया के बहुत समीप हैं। बाकू के समृद्ध तेल-कूप ईरान और तुर्की के ठीक उत्तरी प्रदेश में हैं। तेल के कारण ईरान और पश्चिमी एशिया पर ब्रिटेन और अमेरिका का जो आर्थिक प्रभुत्त्व है, रूस उसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। इसीलिये यह भूखण्ड भी लोकतन्त्रवादी और कम्युनिस्ट गुटों के संघर्ष का क्षेत्र बना हुआ है।

(२) नई अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियां और पश्चिमी एशिया

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद के पश्चिमी एशिया के इतिहास में निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—(१) इस क्षेत्र के सब राज्यों ने राजनीतिक दृष्टि से अब पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली थी। प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) की समाप्ति पर राष्ट्रसंघ ने तुर्क साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हुए जिन अनेक प्रदेशों का शासन अपने मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन तथा फ्रांस के सुपुर्द किया था, वे अब स्वतन्त्र हो गये थे। (२) तेल की उपलब्धि के कारण और इस उद्योग के ब्रिटिश, अमेरिकन और फ्रेञ्च पूँजीपतियों के हाथों में होने के कारण इन देशों में अब भी पाश्चात्य लोगों का आर्थिक आधिपत्य विद्यमान था, और इस क्षेत्र में अपने आर्थिक हितों की रक्षा करने के लिए ब्रिटेन, अमेरिका और फ्रांस की सरकारें इन देशों की राजनीति में हस्तक्षेप करना आवश्यक समझती थीं। (३) इजराईल की स्थापना हो जाने के कारण अरबों में बहुत असन्तोष था। वे अनुभव करते थे, कि उनका एक प्रदेश जबर्दस्ती विधर्मी एवं विजातीय यहूदियों के सुपुर्द कर दिया गया है। (४) द्वितीय महायुद्ध के बाद कम्युनिज्म निरन्तर जोर पकड़ रहा था, और रूस की शक्ति बहुत अधिक बढ़ गई थी। संसार के बहुसंख्यक देश इस समय दो गुटों में विभक्त हो चुके थे, जिनके नेता रूस और संयुक्त-राज्य अमेरिका थे। पश्चिमी एशिया के अनेक देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियां संगठित हो गई थीं, और वे रूस की सहायता तथा समर्थन का भरोसा कर सकती थीं। अमेरिका व अन्य लोकतन्त्रवादी देश (विशेषतया वे देश जिनके पश्चिमी एशिया में आर्थिक स्वार्थ विद्यमान थे) कम्युनिज्म व रूस के प्रभाव को इस क्षेत्र से दूर रखना चाहते थे। (५) यद्यपि अब संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना हो चुकी थी, और रूस भी उसका सदस्य था, पर संसार के विविध राज्यों के दो गुटों में विभक्त हो जाने के कारण इस समय अनेक ऐसे क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक गुट संगठित होने शुरू हो गये थे, जिनका प्रयोजन एक दूसरे के बढ़ते हुए प्रभाव तथा शक्ति से अपनी रक्षा करना था। (६) अरब लोगों में राष्ट्रीय एकता की भावना भी विद्यमान थी, और वे यह अनुभव करते थे, कि अपने को एक संगठन में संगठित कर लेना अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा तथा शक्ति की वृद्धि के लिये उपयोगी है, यद्यपि अपने-अपने प्रदेश की पृथकता की अनुभूति भी उनमें प्रबल थी। अरब की राष्ट्रीय एकता का नेतृत्व किस के हाथों में हो, इस प्रश्न पर एकमत हो सकना उनके लिये सुगम नहीं था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अरब लीग—द्वितीय महायुद्ध के बाद के इतिहास में अरबों में राष्ट्रीय भावना के विकास का बहुत महत्त्व है। इस भावना का प्रादुर्भाव प्रथम महायुद्ध (१६१४-१८) के काल में ही हो गया था, जब कि तुर्क साम्राज्य का सुलतान जर्मनी के पक्ष में था, और उसे परास्त करने के लिए मित्रपक्ष ने अरबों को तुर्क शासन के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिये प्रेरित किया था। पर दो महायुद्धों के बीच के काल (१६१८-१६३६) में मित्रपक्ष के राज्यों ने ही अरबों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्रवृत्तियों का दमन किया, क्योंकि ईराक, पैलेस्टाइन और सीरिया आदि अनेक अरब प्रदेश राष्ट्र-संघ द्वारा ब्रिटेन और फ्रांस के शासन में दे दिये गये थे। द्वितीय महायुद्ध के समय में मित्र-पक्ष ने फिर यह आवश्यकता अनुभव की, कि अरबों की सद्भावना प्राप्त की जाए, क्योंकि जर्मनी भी उनके प्रदेशों को युद्ध के लिये प्रयुक्त करने के लिए प्रयत्नशील था। इसी कारण ब्रिटेन ने अरब राज्यों की स्वतन्त्रता का समर्थन किया, और साथ ही यह भी कहा, कि यदि विविध अरब राज्य अपने सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों को सुदृढ़ करने के लिए कोई क्रियात्मक पग उठायंगे, तो ब्रिटेन उनका समर्थन करेगा (मई, १६४१)। दिसम्बर, १६४२ में ईराक के प्रधानमन्त्री नूरी अल सईद ने यह प्रस्ताव किया, कि सीरिया, लेबेनान, ट्रास-जोर्डन, पैलेस्टाइन और ईराक को मिलाकर एक राज्य बना दिया जाए, यद्यपि इन राज्यों की पृथक् सत्ता को कायम रखने के लिये उनमें स्वायत्त शासन कायम रहें। पर अभी महायुद्ध जारी था, अतः इस योजना को क्रियान्वित करने के लिये कोई कार्य नहीं किया जा सका। १६४४ में जब जर्मन पक्ष कमजोर पड़ने लगा, तो अरबों की एकता के प्रश्न पर विचार करने के लिए कैरो में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसमें ईजिप्ट, ईराक, लेबेनान, सीरिया, ट्रांस-जोर्डन, सौदी अरेबिया और येमन की सरकारों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए (सितम्बर-अक्टूबर, १६४४)। पैलेस्टाइन में यहूदियों की समस्या इस समय उग्र रूप धारण कर रही थी, अतः अरबों में राष्ट्रीय भावना भी बहुत जोर पकड़ गई थी। कैरो कान्फरेन्स सफल हुई, और उस द्वारा एक अरब लीग की स्थापना की गई, जिसका उद्देश्य विविध अरब राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को घनिष्ठ बनाना था। पैलेस्टाइन में यहूदी और अरब लोगों में जो संघर्ष इस समय चल रहा था, और बाद में जो एक बाकायदा लड़ाई के रूप में परिवर्तित हो गया (१६४७), उसमें अरब लीग के सदस्य-राज्यों ने परस्पर सहयोग से काम किया। पर उनका यह सहयोग देर तक कायम नहीं रह सका, क्योंकि अरब राज्यों के भविष्य के सम्बन्ध में उनमें मतभेद हो गया। सबसे पहले पैलेस्टाइन के अरब क्षेत्र (इजराईल के निर्माण के बाद उसके जो प्रदेश शेष बचते थे) के प्रश्न पर ट्रांस-जोर्डन और ईजिप्ट में मतभेद हुआ, और फिर अरब राज्यों के नेतृत्व के प्रश्न पर ईजिप्ट और सौदी अरेबिया में। अरब राज्यों में ईजिप्ट सबसे अधिक उन्नत था, अतः स्वाभाविक रूप से वह उनके नेतृत्व को अपने हाथों में रखना चाहता था। पर मक्का और मदीना जैसे तीर्थस्थानों के अपने प्रदेश के अन्तर्गत होने के कारण सौदी अरेबिया अरब जगत् में अपने को सबसे अधिक महत्त्व का समझता था। इन मतभेदों के कारण अरब लीग का संगठन कमजोर पड़ता गया। पर इनके कारण अरब लीग का अन्त नहीं हो गया। १६५१ में लिबिया लीग का सदस्य बन गया, और बाद के वर्षों में सूडान, ट्यूनिसिया, मोरक्को, अल्जीरिया, कुवैत और दक्षिणी येमन भी इसमें सम्मिलित हो गये। यद्यपि एशिया और अफ्रीका के वे सभी राज्य इस लीग के सदस्य हो गये, जिनमें अरब लोग बड़ी संख्या में निवास करते हैं, पर यह स्वीकार करना होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की दृष्टि से इस लीग का विशेष महत्त्व नहीं हुआ। अरबों का यह संगठन प्रायः क्रिया-शून्य है, और इसमें सम्मिलित राज्य परस्पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहयोग से कार्य नहीं करते। इसका कारण यह है, कि विविध अरब राज्यों में अनेक प्रश्नों पर उग्र मतभेद हैं। ईराक कुवैत को अपना अंग समझता है, और उस पर कब्जा करने को इच्छुक है। सौदी अरेबिया अरब राज्यों पर ईजिप्ट के प्रभाव को सहने के लिए उद्यत नहीं है। इसी प्रकार के मतभेद अन्य राज्यों में भी विद्यमान हैं। सब अरब राज्य इजराईल के समान रूप से विरोधी हैं, और जब कभी भी यहूदियों से युद्ध हो, तो वे परस्पर सहयोग से भी कार्य करते हैं। यहूदियों का विरोध ही एक ऐसा तत्त्व है, जिससे अरब लीग को शक्ति प्राप्त होती रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियां—कम्युनिस्ट रूस के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबिला करने के लिए जो अनेकविध गुटबन्दियां इस समय शुरू हुईं, उनमें नार्थ एटलाण्टिक ट्रीटी आर्गनिजेशन (NATO) एक है। शुरू में इसमें बेल्जियम, कनाडा, डेन्मार्क, फ्रांस, आइसलैण्ड, इटली, लुक्सम्बुर्ग, हालैण्ड, पोर्तुगाल, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य अमेरिका शामिल हुए (१९४९), और बाद में ग्रीस और तुर्की को भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया (१९५२)। इस गुट का उद्देश्य रूस की कम्युनिस्ट शक्ति से आत्मरक्षा करना था। तुर्की के इस गुट में शामिल हो जाने के कारण पश्चिमी एशिया भी इसके क्षेत्र में आ गया है। नाटो के मुकाबिले में रूस ने वारसा पैक्ट या यूरोपियन ट्रीटी आर्गनिजेशन का संगठन किया, जिसमें अल्बानिया, बल्गारिया, चैकोस्लोवाकिया, पूर्वी जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, रूमानिया और रूस सम्मिलित हुए (१९५५)। ये सब राज्य कम्युनिस्ट व्यवस्था को अपना चुके हैं।

बगदाद पैक्ट—पश्चिमी एशिया के विविध देशों की भौगोलिक स्थिति रूस और पूर्वी यूरोप के समीप है, अतः अमेरिका को यह चिन्ता हुई कि कहीं रूस इस क्षेत्र के विविध राज्यों को भी अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न न करे। द्वितीय महायुद्ध के बाद इस क्षेत्र से ब्रिटेन का प्रभुत्त्व व प्रभाव क्षीण हो गया था। सीरिया, लेबनान, ईराक आदि राज्य पूर्ण राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके थे, और उनसे ब्रिटिश तथा फ्रेञ्च सेनाएं भी हटा ली गई थीं। नासिर के प्रयत्न से ब्रिटेन इस बात के लिये भी विवश हो गया था, कि स्वेज के प्रदेश से भी अपनी सेनाओं को वापस बुला ले। यह स्थिति ऐसी थी, जिसमें रूस इन देशों को अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न कर सकता था। इस क्षेत्र के अनेक राज्यों में कम्युनिस्ट पार्टियां भी संगठित होने लग गयी थीं। साथ ही, इन राज्यों के तेलकूपों पर ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के पूंजीपतियों का जो स्वत्त्व था, उसके कारण अमेरिका यह अनुभव करता था, कि इन राज्यों को अपने प्रभाव में रखना आवश्यक है। ब्रिटेन के लिये इस क्षेत्र का इस कारण भी महत्त्व था, क्योंकि यह उसके पूर्वी साम्राज्य के मार्ग में पड़ता था। इस स्थिति में अमेरिका के परराष्ट्र-सचिव मि० डलेस ने यह विचार किया, कि रूस की सीमा के समीप में स्थित तुर्की, ईरान, ईराक आदि देशों की सुरक्षा के लिये एक ऐसा संगठन बनाया जाए, जो रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोक सकने में समर्थ हो। स्वाभाविक रूप से ब्रिटेन इस विचार से सहमत था, क्योंकि इन राज्यों के क्षेत्र में उसके भी अनेक आर्थिक स्वार्थ विद्यमान थे। तेलकूपों में ब्रिटेन की पूंजी बहुत बड़ी मात्रा में लगी हुई थी। रूस के विरुद्ध इस संगठन के निर्माण के लिये अमेरिका और ब्रिटेन ने उन देशों के साथ परस्पर-सहायता की सन्धियाँ करनी प्रारम्भ कीं, जो रूस की सीमा के समीप स्थित हैं। सब से पूर्व २१ एप्रिल, १९५४ के दिन ईराक के साथ एक ऐसी सन्धि की गई, और एक मास बाद पाकिस्तान के साथ (१९ मई, १९५४)। इन दोनों सन्धियों का उद्देश्य यह था, कि युद्ध के समय में ये राज्य एक दूसरे की सहायता करने के लिये तत्पर रहेंगे। स्वतन्त्रता प्राप्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बाद पाकिस्तानी सरकार की नीति अमेरिकन गुट में शामिल होने की थी, और वह कम्युनिज्म की विरोधी था। ईराक का प्रधानमन्त्री नूरी अस सईद भी कम्युनिज्म का विरोधी था। अतः ये दोनों राज्य ब्रिटेन और अमेरिका के साथ परस्पर सहायता की सन्धि के लिये तैयार हो गये। १९५५ में तुर्की नार्थ अटलाण्टिक ट्रीटी आर्गनिजेशन (नाटो) में शामिल हो गया था, अब उसने ईराक के साथ भी एक सन्धि की (१२ जनवरी, १९५५), जिस द्वारा इन दोनों राज्यों ने युद्ध के समय एक दूसरे की सहायता करना स्वीकार किया। यह सन्धि बगदाद पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। ५ एप्रिल, १९५५ को ब्रिटेन भी इस पैक्ट में शामिल हो गया। कुछ समय बाद पाकिस्तान (२३ सितम्बर, १९५५) और ईरान (३ नवम्बर, १९५५) ने भी इस पैक्ट में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार १९५५ के अन्त तक निम्नलिखित राज्य बगदाद पैक्ट में शामिल हो चुके थे—तुर्की, ईराक, ब्रिटेन, पाकिस्तान और ईरान। यद्यपि संयुक्त-राज्य अमेरिका इसमें शामिल नहीं था, पर उसकी इसके प्रति सहानुभूति थी, और आवश्यकता के समय वह भी सक्रिय रूप से इसके साथ सहयोग करने को उद्यत था। बगदाद पैक्ट में जो राज्य सम्मिलित हुए थे, उनकी पहली कान्फरेन्स २१ नवम्बर, १९५५ को बगदाद में हुई। ईराक के प्रधानमन्त्री श्री नूरी अस सईद इसके अध्यक्ष थे। इस कान्फरेन्स में यह घोषणा की गई, कि बगदाद पैक्ट का उद्देश्य पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में शान्ति और सुरक्षा की स्थापना है। साथ ही, इस कान्फरेन्स ने एक स्थायी समिति और एक सैनिक समिति का भी संगठन किया, ताकि इस पैक्ट में सम्मिलित राज्य परस्पर सहयोग द्वारा आत्मरक्षा में समर्थ हो सकें। बगदाद पैक्ट की दूसरी कान्फरेन्स १९५६ में तेहरान में हुई, जिसमें अमेरिकन सरकार की ओर से मि० हैण्डर्सन भी सम्मिलित हुए। उन्होंने उद्घोषित किया कि अमेरिका बगदाद पैक्ट के उद्देश्यों की सफलता लिये पूर्णरूप से सहयोग करने को तत्पर है। इसके लिये जहाँ वह सैनिक सहायता प्रदान करेगा, वहां साथ ही पैक्ट के सचिवालय के लिये आर्थिक सहायता भी प्रदान करेगा। पैक्ट में सम्मिलित राज्यों ने इस कान्फरेन्स द्वारा यह भी भलीभाँति स्पष्ट कर दिया, कि इस पैक्ट का निर्माण कम्युनिस्ट आक्रमण से पश्चिमी एशिया की रक्षा करने के लिये ही किया गया है। सैनिक सहायता के नाम पर अब अमेरिका को यह अवसर भी मिल गया, कि वह ईराक, ईरान, तुर्की और पाकिस्तान में अपने हवाई अड्डे कायम कर सके, और इन देशों में अपना सैनिक प्रभुत्व स्थापित कर सके।

बगदाद पैक्ट का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसका कारण यह है, कि तुर्की नाटो का भी सदस्य है, और पाकिस्तान सीटो (साउथ ईस्ट एशियन ट्रीटी आर्गनिजेशन) का भी। जिन प्रयोजनों से यूरोप के क्षेत्र में नाटो का निर्माण किया गया था, उन्हीं को सम्मुख रख कर दक्षिण-पूर्वी एशिया के विविध राज्यों को मिला कर सीटो का संगठन हुआ था (सितम्बर, १९५४)। इसके सदस्य निम्नलिखित राज्य हैं—आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान, फिलिप्पीन, थाईलैण्ड, ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका। क्योंकि तुर्की नाटो का सदस्य है, और पाकिस्तान सीटो में शामिल है, अतः बगदाद पैक्ट का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो जाता है। यदि यूरोप में युद्ध छिड़ जाए, तो नाटो में सम्मिलित होने के कारण तुर्की का भी उस युद्ध में शामिल हो जाना अनिवार्य है, और उस दशा में बगदाद पैक्ट के राज्य भी तुर्की की सहायता करने के लिये विवश हैं। यही बात दक्षिण-पूर्वी एशिया में युद्ध छिड़ जाने की दशा में भी सही है।

पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि पश्चिमी एशिया के सब राज्य बगदाद पैक्ट में शामिल नहीं हुए। ईजिप्ट, सीरिया और सौदी अरेबिया जैसे महत्त्वपूर्ण अरब राज्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पैक्ट से पृथक् रहे, जिसके कारण पश्चिमी एशिया पर ब्रिटेन और अमेरिका का प्रभाव स्थापित नहीं हो सका। रूस और अमेरिका के गुटों के प्रति ईजिप्ट की नीति तटस्थता की रही है, और उसने इस उद्देश्य को निरन्तर अपने सम्मुख रखा है, कि विविध अरब राज्यों को संगठित कर एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का निर्माण किया जाए। इसीलिये वह बाद में 'यूनाइटेड अरब रिपब्लिक' नाम से अरब राज्यों का एक संघ बना सकने में भी सफल हुआ। बगदाद पैक्ट के निर्माण के कारण भी पश्चिमी एशिया के विविध देशों में राष्ट्रीय भावना और कम्युनिस्ट विचारों का अन्त नहीं हो सका। इसीलिये १९५८ में ईराक में राज्यक्रान्ति हुई, जिस द्वारा वहां राजसत्ता और नूरी अस सईद के शासन का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना हुई, और मार्च, १९५९ में ईराक बगदाद पैक्ट से पृथक् हो गया। इन कारणों से बगदाद पैक्ट की शक्ति पश्चिमी एशिया में अधिक नहीं बढ़ सकी। ईरान, तुर्की, पाकिस्तान और ब्रिटेन में यह पैक्ट अब भी विद्यमान है, पर इसका प्रभाव अब क्षीण हो गया है। बगदाद पैक्ट को सेन्ट्रल ट्रीटी आर्गनिजेशन भी कहते हैं।

(३) ईजिप्ट की तटस्थता की नीति और स्वेज का राष्ट्रीयकरण

द्वितीय महायुद्ध के बाद की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रकाश डालने के बाद अब हम इस स्थिति में हैं, कि गत दस पन्द्रह वर्षों में पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों के इतिहास में जो अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुई हैं, उनका विवेचन कर सकें। पहले हम अरब राज्यों के सम्बन्ध में लिखेंगे, और बाद में ईरान और तुर्की के।

किस प्रकार ईजिप्ट में नगीब और नासिर के नेतृत्व में राज्यक्रान्ति (१९५३) द्वारा राजसत्ता का अन्त किया गया और रिपब्लिक की स्थापना हुई, इस विषय पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। अक्टूबर, १९५४ में नासिर ने ब्रिटेन के साथ एक सन्धि की थी, जिस द्वारा ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार कर लिया था, कि २० मास के अन्दर-अन्दर सब ब्रिटिश सेनाएं स्वेज के क्षेत्र से हटा ली जायेंगी। ईजिप्ट की नई सरकार की यह असाधारण सफलता थी, और इसके कारण उसका प्रभाव बहुत बढ़ गया था। पर अभी ईजिप्ट में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कि नई सरकार के विरोधी थे। ईजिप्ट की मुस्लिम ब्रदरहुड संस्था का जिक्र पहले किया जा चुका है। इस संस्था के सदस्य न केवल ईजिप्ट में अपितु सभी अरब राज्यों में ऐसे शासनों की स्थापना करना चाहते थे, जो इस्लाम के अनुरूप हों। नये युग की प्रवृत्तियां इन्हें पसन्द नहीं थीं। मुस्लिम धर्माचार्य और पुराने विचारों के लोग इसमें बड़ी संख्या में सम्मिलित थे। रिपब्लिक की स्थापना के कारण जिन लोगों के हाथों से ईजिप्ट की शासन-शक्ति छिन गई थी, वे भी इस संस्था के प्रति सहानुभूति रखते थे। इस दशा में मुस्लिम ब्रदरहुड ने रिपब्लिक के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। एलेग्जेंड्रिया में नासिर के ऊपर हमला भी किया गया। इसका परिणाम यह हुआ, कि इस संस्था को गैरकानूनी घोषित कर दिया गया, और इसके ४,००० के लगभग सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। इन पर मुकदमे चलाये गये। अदालत ने छः को प्राण-दण्ड दिया, और बहुतों को जेल की सजा दी। मुकदमे के सिलसिले में यह भी ज्ञात हुआ, कि नगीब का भी मुस्लिम ब्रदरहुड के विद्रोह में हाथ था। अतः उसे भी नजरबन्द कर दिया गया, और ईजिप्ट में अब कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रह गया, जो नासिर का प्रतिद्वन्द्वी हो सके। अब वहां की सब राजशक्ति नासिर के हाथों में आ गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नासिर के सम्मुख अब दो मुख्य कार्य थे, ईजिप्ट की आन्तरिक दशा को सुधारना और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी नीति को निर्धारित करना। आन्तरिक दशा को उन्नत करने के लिये उस ने उस नीति को जारी रखा, जिसका सूत्रपात राज्यक्रान्ति के बाद रिवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल द्वारा किया गया था। जमींदारी प्रथा का अन्त कर किसानों का जमीन पर स्वत्त्व कायम किया गया, और उन्हें सहकारी समितियों में संगठित किया गया, ताकि खेती के लिए आवश्यक पूंजी प्राप्त करने और अपनी पैदावार को बेचने में उन्हें कठिनाई न हो। पर ईजिप्ट में खेती के योग्य जमीन की कमी थी। इस कारण यह योजना बनायी गई, कि एलेग्जेण्ड्रिया और कैरो के बीच के प्रदेश में जो मरुभूमि है उसे कृषियोग्य बनाना जाए। इस मरुभूमि का क्षेत्रफल १३,००,००० एकड़ के लगभग है। सरकार ने इस योजना पर बहुत खर्च किया, और इसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई। पर इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण योजना अस्वान डाम (बांध) की थी, जिसके द्वारा सिंचाई के लिए नहरें निकालने और विद्युत् शक्ति को बड़े परिमाण में उत्पन्न करने का यत्न किया गया। यह डाम अब प्रायः पूरा हो चुका है। जब यह डाम पूरा हो गया, तो लम्बाई में यह तीन मील था और ऊँचाई में ३६५ फीट। नील नदी पर बांधे गये इस डाम द्वारा जो विशाल जलाशय बन गया, वह ५,५०,००,००,००० घन मीटर पानी को संचित करने में समर्थ है। इस डाम के निर्माण में जो खर्च हुआ, उसकी आनुमानिक मात्रा तीन अरब रुपये के लगभग है। ईजिप्ट की आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिए पहले तृवर्षीय योजना (१९५३-१९५६) बनायी गई, और फिर दश-वर्षीय योजना।

पर पश्चिमी एशिया के इतिहास की दृष्टि से नासिर का अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य विदेशी राजनीति के सम्बन्ध में है। स्वेज के प्रश्न पर ब्रिटेन से समझौता कर लेने के कारण अब ईजिप्ट ब्रिटिश सैनिक प्रभाव से मुक्त हो गया था। अब नासिर ने अरब लोगों में बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना का उपयोग कर यह यत्न प्रारम्भ किया, कि विविध अरब राज्य एक सूत्र में संगठित हो जाएं। पर इसके लिए उसे अन्य अरब राज्यों के साथ-साथ ईराक के भी सहयोग की आवश्यकता थी, जहां की सरकार नूरी अस सईद के नेतृत्व में ब्रिटेन और अमेरिका का समर्थन प्राप्त कर रूस के विरुद्ध गुट बनाने में तत्पर थी। इसी के कारण बगदाद पैक्ट का सूत्रपात हुआ था। १२ जनवरी, १९५५ के दिन तुर्की और ईराक ने परस्पर मिलकर एक सन्धि कर ली थी, जिस द्वारा उन्होंने एक दूसरे की सहायता करने का निर्णय किया था। बाद में ईरान और पाकिस्तान भी इस पैक्ट में शामिल हो गये, और यह बगदाद पैक्ट पश्चिमी एशिया की राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण-तत्त्व बन गया। ईराक का यत्न था, कि अन्य अरब राज्य भी इस पैक्ट में शामिल हो जाएं। अब नासिर को यह निर्धारित करना था, कि ईजिप्ट का इस पैक्ट के सम्बन्ध में क्या रुख हो। ब्रिटेन और अमेरिका की वह उपेक्षा नहीं कर सकता था, क्योंकि अपने देश के आर्थिक विकास के लिए उसे इन पाश्चात्य देशों से सहायता प्राप्त करने की आवश्यकता थी। पर इस समय ईजिप्ट में रूसी राजदूत के पद पर मि० डेनियल सोलोव नियुक्त थे, जो नासिर की सरकार को इस बात के लिये प्रेरित कर रहे थे कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ईजिप्ट को तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहिये, और किसी ऐसे गुट में शामिल नहीं होना चाहिए जिसका प्रयोजन किसी विशिष्ट विचारधारा के राज्यों का विरोध करना हो। बगदाद पैक्ट के सम्बन्ध में अरब राज्यों की क्या नीति हो, इस पर विचार करने के लिए कैरो में एक कान्फरेन्स की गई (फरवरी, १९५५), जिसमें ईराक के अतिरिक्त अन्य सब अरब राज्य शामिल हुए। इस कान्फरेन्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में बगदाद पैक्ट का उग्र रूप से विरोध किया गया, और ईजिप्ट के अतिरिक्त सौदी अरेबिया और येमन ने भी तटस्थता की नीति का समर्थन किया। सीरिया ने भी कुछ समय बाद (२ मार्च, १९५५) यह घोषित किया, कि वह भी अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति का ही समर्थक है। नासिर के प्रयत्न का ही यह परिणाम हुआ, कि ईराक के अतिरिक्त कोई अन्य अरब राज्य बगदाद पैक्ट में सम्मिलित नहीं हुआ। एशिया में भारत भी इस समय तटस्थता की नीति का प्रबल रूप से समर्थन कर रहा था। इसीलिए ६ एप्रिल, १९५५ के दिन भारत और ईजिप्ट में परस्पर-मैत्री की सन्धि की गई, जिस द्वारा ईजिप्ट की तटस्थता की नीति का समर्थन किया गया।

इस समय (एप्रिल, १९५५) इन्डोनीसिया के अन्यतम नगर बांदुंग में एशिया और अफ्रीका के विविध राज्यों की एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, जिसके संगठन में भारत ने प्रमुख भाग लिया था। नासिर भी इस कान्फरेन्स में शामिल हुआ, और वहां जाते हुए उसने पाकिस्तान, भारत और बरमा की यात्रा भी की। बांदुंग कान्फरेन्स में जहां एशिया और अफ्रीका के विविध राज्यों की स्वतन्त्रता के लिए आवाज उठाई गई, वहां साथ ही यह भी निर्णय किया गया, कि इस कान्फरेन्स में सम्मिलित राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी से पृथक् रहते हुए तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहिये। नासिर को अपनी नीति में इस कान्फरेन्स द्वारा बहुत बल मिला।

तटस्थता की नीति का अनुसरण करनेके कारण ईजिप्ट के लिए यह सम्भव नहीं रहा था, कि वह अपनी सैन्य-शक्ति की वृद्धि के लिए ब्रिटेन और अमेरिका से यथोचित सहायता प्राप्त कर सके। ईजिप्ट की सीमा इजराईल से लगती है, अतः सीमावर्ती प्रदेशों के सम्बन्ध में इन राज्यों में प्रायः संघर्ष होता रहता था। गाजा के सीमावर्ती प्रदेशों को लेकर १९५४ में ईजिप्ट और इजराईल में लड़ाई भी शुरू हो गई थी, जिसमें इजराईल को अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। इस लड़ाई के समय नासिर ने यह अनुभव किया, कि सैनिक शक्ति के मामले में केवल ब्रिटेन और अमेरिका पर निर्भर रह कर ईजिप्ट का काम नहीं चल सकता। इन देशों के लिए यह सम्भव नहीं था, कि ये इजराईल के खिलाफ ईजिप्ट की सहायता कर सकते, क्योंकि अमेरिकन सरकार पर यहूदियों का बहुत अधिक प्रभाव है। इस दशा में नासिर ने निश्चय किया, कि रूस और चेकोस्लोवाकिया सदृश देशों से आवश्यक युद्ध-सामग्री प्राप्त की जाए। २७ सितम्बर, १९५५ के दिन उसने रूस के साथ एक समझौता किया, जिस द्वारा रूस ने ईजिप्ट को प्रचुर परिमाण में अस्त्र-शस्त्र, टैंक और जंगी हवाई जहाज देना स्वीकार किया। अरब राज्यों में इससे बहुत संतोष हुआ, क्योंकि उन्होंने यह समझा कि ईजिप्ट इस युद्ध सामग्री का प्रयोग इजराईल के विरुद्ध करेगा। सभी अरब राज्य इजराईल के खिलाफ थे, क्योंकि उसकी स्थापना के कारण लाखों अरबों को अपने घर बार छोड़ने के लिए विवश होना पड़ा था। पर ब्रिटेन और अमेरिका रूस द्वारा ईजिप्ट को युद्ध-सामग्री प्रदान किए जाने के समझौते से बहुत नाराज हुए। १९५५ का अन्त होने से पहले ही ईजिप्ट ने सौदी अरेबिया और सीरिया के साथ एक सैनिक पैक्ट भी कर लिया, जिस द्वारा युद्ध के समय इन देशों ने पारस्परिक सहायता देना स्वीकार किया। बगदाद पैक्ट में शामिल न होकर इन अरब राज्यों ने जो अपना पृथक् पैक्ट बना लिया, यह बात ब्रिटेन और अमेरिका के लिए और भी अधिक उद्वेगकारी हुई। अब जोर्डन और लेबनान को भी ईजिप्ट ने अपने पैक्ट में शामिल करने का प्रयत्न किया। यद्यपि वे इसके लिए तैयार नहीं हुए, पर इस समय ईजिप्ट ने उन पर जो जोर डाला, उसी के कारण बगदाद पैक्ट में सम्मिलित होना भी उन्होंने उचित नहीं समझा। अन्तर्राष्ट्राय राजनीति में नासिर का जो रुख था, उसके कारण ब्रिटेन और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईजिप्ट के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये। पर इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता, कि अरब राज्यों की राजनीति में इस समय ईजिप्ट का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा था, और उसे अरब राज्यों का नेता समझा जाने लगा था।

१९ अक्टूबर, १९५४ को स्वेज के सम्बन्ध में जो समझौता ब्रिटेन और ईजिप्ट के बीच में हुआ था, उसके अनुसार २० महीनों के अन्दर-अन्दर ब्रिटिश सेनाओं को स्वेज का प्रदेश खाली कर देना था। यह अवधि मई, १९५५ में पूरी हो जाती थी, अतः जो भी ब्रिटिश सेनाएं स्वेज के क्षेत्र में विद्यमान थीं, वे सब मई मास में उसे छोड़कर चली गयीं, जिसके कारण ईजिप्ट और अरब राज्यों में नासिर की स्थिति और भी अधिक सुदृढ़ हो गई। इस समय उसने यह उपयुक्त समझा, कि ईजिप्ट से सैनिक शासन का अन्त करके संविधान के अनुसार नई सरकार की स्थापना की जाए। जून, १९५६ में एक नया संविधान तैयार किया गया, और जनता द्वारा उसे स्वीकृत कराया गया। जनता का मत लेते हुए प्रत्येक नागरिक को दो बातों के पक्ष या विपक्ष में वोट देने का अवसर दिया गया था—यह नया संविधान उन्हें स्वीकार्य है या नहीं, और राष्ट्रपति के पद पर नासिर की नियुक्ति उन्हें पसन्द है या नहीं। ९९ प्रतिशत वोट इन दोनों बातों के पक्ष में आए, और बहुत बड़े बहुमत द्वारा जनता ने नये संविधान को और नासिर के राष्ट्रपति बनने की बात को स्वीकार कर लिया। नये संविधान द्वारा यह व्यवस्था की गई थी, कि ईजिप्ट की पार्लियामेंट में केवल एक सदन (विधान सभा) हो, जिसके सब सदस्य जनता द्वारा चुने जाया करें, राज्य की शासन-शक्ति राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद में निहित रहे, और मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाया करे। संविधान के स्वीकृत हो जाने पर राष्ट्रपति नासिर ने रेवोल्युशनरी कमाण्ड कौंसिल का अन्त कर दिया, और एक मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति की।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में नासिर का जो रुख था, उसके कारण ब्रिटेन और अमेरिका उससे बहुत नाराज थे, यह ऊपर लिखा जा चुका है। जुलाई, १९५६ में भारत के प्रधानमन्त्री पं० नेहरू युगोस्लाविया गये हुए थे। वहां नासिर ने भी उनसे भेंट की। इस समय तक पण्डित नेहरू पंचशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर चुके थे, जिनका आधार 'सह-अस्तित्व' था। विभिन्न विचारधाराओं और परस्परविरोधी सामाजिक और आर्थिक व्यवस्थाओं वाले देश भी एक साथ रह सकते हैं, यह पंचशील का प्रधान सिद्धान्त था। न केवल मार्शल टीटो (युगोस्लाविया के राष्ट्रपति) ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया, अपितु नासिर ने भी इसका समर्थन किया। ब्रिटेन और अमेरिका चाहते थे, कि सब अरब राज्य बगदाद पैक्ट में शामिल हो जाएं, ताकि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में कम्युनिज्म का मुकाबिला किया जा सके। पर नासिर जिस नीति का अनुसरण कर रहा था, वह तटस्थता की थी। इससे नाराज होकर अमेरिका ने निश्चय किया, कि ईजिप्ट को किसी भी प्रकार से आर्थिक सहायता न दी जाए। अस्वान डाम की योजना को तभी क्रियान्वित किया जा सकता था, जबकि अमेरिका जैसे सम्पन्न देश धन और शिल्पियों द्वारा ईजिप्ट की सहायता करने को तत्पर हों। इसके लिए बातचीत भी जारी थी, और अमेरिका ने सहायता का आश्वासन भी दिया हुआ था। पर अब उसने साफ इन्कार कर दिया, जिससे नासिर के रोष का ठिकाना नहीं रहा। उसने घोषित किया (२६ जुलाई, १९५६), कि विदेशी सहायता के बिना भी ईजिप्ट अस्वान डाम की योजना को क्रियान्वित कर सकता है, पर इसके लिए स्वेज नहर को राष्ट्र की सम्पत्ति बना लेना होगा। स्वेज की नहर ईजिप्ट में से होकर जाती है, अतः स्वाभाविक रूप से वह ईजिप्ट की सम्पत्ति है। उसके मुनाफे से ईजिप्ट को जो आमदनी प्राप्त होगी, वह अस्वान डाम के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खर्च के लिए पर्याप्त है। नासिर ने इस अवसर पर यह भी स्पष्ट कर दिया, कि स्वेज नहर की कम्पनी में जिन लोगों के हिस्से (शेयर) हैं, उन्हें समुचित मुआवजा दिया जाएगा, उनके हिस्से जब्त नहीं कर लिये जायेंगे। साथ ही, इस समय जो भी व्यक्ति (चाहे वे किसी भी देश के हों) कम्पनी की सर्विस में है, उन्हें अपने पदों पर बहाल रखा जाएगा। पर यदि कम्पनी का कोई कर्मचारी बिना अनुमति के अपने कार्य को छोड़ देगा, तो उसे गिरफ्तार किया जा सकेगा। स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा से सम्पूर्ण ईजिप्ट में उत्साह का संचार हो गया। अन्य अरब राज्य भी इससे बहुत प्रसन्न हुए। अरब लोगों ने अनुभव किया, कि नासिर के रूप में उन्हें एक ऐसा नेता प्राप्त हो गया है, जो साम्राज्यवादी पाश्चात्य देशों का डट कर मुकाबिला कर सकता है। स्वेज की नहर का विदेशियों द्वारा संचालन अरब राष्ट्रीयता के लिए सचमुच कलंक की बात थी। यद्यपि स्वेज के क्षेत्र से ब्रिटिश सेनाओं को हटा लिया गया था, पर इस नहर का प्रबन्ध एक ऐसी कम्पनी के हाथों में था, जिसके प्रायः सब हिस्सेदार फ्रेञ्च और ब्रिटिश थे। वे इस नहर का उपयोग अपने आर्थिक लाभ के लिए करते थे, और इस कारण इससे प्राप्त होने वाली सब आमदनी उन्हीं के पास चली जाती थी। साथ ही, युद्ध के समय में फ्रांस और ब्रिटेन इस नहर के सम्बन्ध में ऐसी नीति का भी अनुसरण कर सकते थे, जो ईजिप्ट और अन्य अरब राज्यों के हित में न हो।

२६ जुलाई, १९५६ की घोषणा के साथ ही ईजिप्ट की सरकार द्वारा स्वेज के लिये एक शासन परिषद् (Council of Administration) का निर्माण कर दिया गया और ईजिप्ट की सेना ने स्वेज के क्षेत्र को घेर लिया, ताकि इस नहर को किसी ढंग से कोई नुकसान न पहुंचाया जा सके। पर स्वेज की नहर का राष्ट्रीयकरण ब्रिटेन, फ्रांस और अन्य पाश्चात्य देशों को किसी भी प्रकार सह्य नहीं हुआ। उन्होंने कहा कि स्वेज की नहर अन्तर्राष्ट्रीय सामुद्रिक यातायात के लिए अत्यन्त महत्व की है। ६ करोड़ ६० लाख टन तेल इसी मार्ग से ईरान और ईरान की खाड़ी के तेलकूपों से प्रतिवर्ष यूरोप तथा अमेरिका जाता है। एशिया और यूरोप का एकमात्र सुगम जलमार्ग यही है, जिससे होकर सैकड़ों जहाज प्रतिमास आते-जाते हैं। इतने महत्वपूर्ण मार्ग का ईजिप्ट जैसे राज्य के अधीन हो जाना किसी भी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। इस समय ईजिप्ट में एक मिलिटरी डिक्टेटर का शासन है, जो लोकतन्त्र देशों का विरोधी और रूसी गुट का मित्र है। ऐसे शासन को यह मार्ग क्यों कर सुपुर्द किया जा सकता है। स्वेज के राष्ट्रीयकरण का समाचार ज्यों ही फ्रांस और ब्रिटेन को ज्ञात हुआ, उन्होंने तुरन्त यह आज्ञा प्रकाशित की, कि इन देशों के बैंकों में और अन्यत्र ईजिप्ट का जो भी धन विद्यमान है, उसे ईजिप्ट की सरकार प्राप्त न कर सके। साथ ही, ब्रिटेन ने अपनी सेनाएं भूमध्य सागर के उन द्वीपों में भेजनी प्रारम्भ कर दी, जो उसके अधीन थे। उसका विचार था, कि ईजिप्ट को काबू में लाने के लिए किसी भी समय इन सेनाओं की आवश्यकता पड़ सकती है।

स्थिति इतनी गम्भीर हो गई थी, कि अमेरिका के परराष्ट्र-सचिव मि० डलेस तुरन्त लण्डन आये (२१ जुलाई, १९५६), और उन्होंने यह सुझाव पेश किया कि उन सब राज्यों के प्रतिनिधियों की तुरन्त एक कान्फरेन्स बुलायी जाए, जिन्होंने कि १८८८ के स्वेज-सम्बन्धी समझौते (कन्वेन्शन) पर हस्ताक्षर किये थे। साथ ही, अन्य ऐसे राज्यों को भी इस कान्फरेन्स में निमन्त्रित किया जाए, जिनकी नाविक शक्ति के लिये स्वेज की नहर का महत्त्व है। १८८८ के कन्वेन्शन द्वारा यह तय किया गया था, कि सब राज्य सदा के लिये इस नहर का उपयोग कर सकेंगे। १६ अगस्त, १९५६ को इस कान्फरेन्स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अधिवेशन लण्डन में शुरू हुए, और २२ राज्यों के प्रतिनिधियों ने उनमें भाग लिया। मि० डलेस के प्रस्ताव के अनुसार कान्फरेन्स ने यह निर्णय लिया, कि स्वेज नहर का प्रबन्ध और संचालन किसी एक राज्य के हाथों में न रहकर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा किया जाए, और इसके लिए एक 'स्वेज कैनाल बोर्ड' का निर्माण किया जाए। यह बोर्ड संयुक्त राष्ट्र-संघ की अधीनता में अपना कार्य करे, और समय-समय पर अपने कार्य की रिपोर्ट उसके समक्ष पेश करता रहे। पर मि० डलेस का यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हुआ, चार राज्यों ने इसके विरोध में वोट दिये, जिनमें भारत और रूस प्रमुख थे। इन राज्यों का मत यह था, कि स्वेज नहर ईजिप्ट की सम्पत्ति है, और उसका प्रबन्ध तथा संचालन ईजिप्ट के ही हाथों में रहना चाहिये। इसके संचालन को एक अन्तर्राष्ट्रीय बोर्ड को प्रदान कर देना स्वेज कैनाल कम्पनी का पुनरुज्जीवन ही होगा। बहुमत से जहाँ लण्डन कान्फरेन्स ने मि० डलेस के प्रस्ताव को स्वीकार किया, वहाँ यह भी तय किया कि आस्ट्रेलिया, अमेरिका, ईथियोपिया, ईरान और स्वीडन के प्रतिनिधियों का एक शिष्टमण्डल राष्ट्रपति नासिर की सेवा में इस उद्देश्य से भेजा जाए, ताकि वह उसे कान्फरेन्स के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिये प्रेरित कर सके। पर नासिर इस प्रस्ताव को स्वीकृत करने के लिये उद्यत नहीं हुआ। उसका कहना था, कि ईजिप्ट इस बात की उत्तरदायिता लेने को तैयार है, कि सब राज्य सब समय स्वेज नहर का पूर्ववत् उपयोग कर सकेंगे। इस दशा में उस पर कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण निरर्थक है। स्वेज के सम्बन्ध में ईजिप्ट की यह नीति है, कि (१) विना किसी भी भेदभाव के सब राज्यों को उसका उपयोग करने दिया जाए, (२) भविष्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखते हुए उसे और अधिक विकसित किया जाए, (३) टॉल की दर समुचित और न्याय्य हो, (४) नहर का प्रबन्ध शिल्प-सम्बन्धी निपुणता की दृष्टि से उत्कृष्ट प्रकार का हो। पर लण्डन कान्फरेन्स के शिष्टमण्डल को इससे संतोष नहीं हुआ। वस्तुतः, ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका इस समय इस बात के लिये तुले हुए थे, कि स्वेज की नहर को फिर से अपने प्रभुत्व में लाया जाए और उसका राष्ट्रीयकरण न होने पाए। इसीलिये उन्होंने ईजिप्ट के विरुद्ध अपनी सैनिक तैयारी को जारी रखा, और ब्रिटिश तथा फ्रेन्च सेनाएं माल्टा तथा साइप्रस आदि के द्वीपों में भेज दी गईं, ताकि ईजिप्ट के विरुद्ध उनका उपयोग किया जा सके।

१२ सितम्बर, १९५६ के दिन ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका ने यह तय किया, कि स्वेज नहर का प्रयोग करने वाले राज्यों का एक संगठन बनाया जाए, जो स्वेज नहर से गुजरने वाले जहाजों का मार्ग प्रदर्शन करने के लिये पाइलेट रखे, जहाज़ों के आवागमन की व्यवस्था करे, और वे अन्य सब कार्य करे, जो इस नहर के प्रयोक्ताओं की दृष्टि से आवश्यक हों। यदि ईजिप्ट इस संगठन (Suez Canal Users' Association) के साथ सहयोग करने के लिये तत्पर न हो, तो इसे समुचित कार्यवाही करने का अधिकार हो। साथ ही, ब्रिटेन और फ्रांस ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् से भी यह अनुरोध किया, कि वह स्वेज के मामले में हस्तक्षेप करे। अक्टूबर, १९५६ में सुरक्षा परिषद् ने इस प्रश्न पर विचार किया। ईजिप्ट द्वारा स्वेज के राष्ट्रीयकरण के कारण इस मार्ग द्वारा जहाजों के आने-जाने में कोई भी कठिनाई उपस्थित नहीं हो रही थी। ईजिप्ट की सरकार द्वारा स्थापित शासन-परिषद् अपना कार्य क्षमता के साथ कर रही थी, और उसने जहाजों को इस बात की भी छूट दी हुई थी, कि यदि वे चाहें तो स्वेज नहर के टॉल को इङ्गलैण्ड और फ्रांस के बैंकों में जमा कर दें, जहां से उस रकम को ईजिप्ट इस समय प्राप्त नहीं कर सकता था। इस दशा में सुरक्षा परिषद् कोई ऐसी कार्यवाही नहीं कर सकती थी, जो ईजिप्ट के खिलाफ हो। पर इस मामले को निबटाने के लिये उसने निम्नलिखित छः सि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्धान्तों का प्रतिपादन किया—(१) स्वेज नहर को बिना किसी भेदभाव के सब राज्यों के लिये खुला रखा जाय। (२) स्वेज नहर पर ईजिप्ट की सर्वोपरि सत्ता को स्वीकार कर लिया जाए। (३) इस नहर के प्रबन्ध व संचालन को सब राज्यों की राजनीति से पृथक् रखा जाए। (४) स्वेज नहर का प्रयोग करने वाले जहाजों से कितना टॉल लिया जाए, इसका निर्धारण उसका प्रयोग करने वाले राज्यों और ईजिप्ट के बीच समझौते द्वारा किया जाए। (५) स्वेज नहर से होने वाली आमदनी का अच्छा बड़ा भाग उसके विकास एवं उन्नति पर खर्च किया जाए। (६) स्वेज कैनाल कम्पनी और ईजिप्ट की सरकार में उत्पन्न हुए विवादों का निर्णय मध्यस्थ द्वारा कराया जाए। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका यह भी चाहते थे, कि सुरक्षा परिषद् स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण को भी स्वीकार करे। यह बात सुरक्षा परिषद् द्वारा बहुमत से स्वीकृत भी हो गई थी, पर रूस ने अपने वीटो के अधिकार का प्रयोग कर इस निर्णय को रद्द कर दिया।

रूस के इस वीटो से ब्रिटेन और फ्रांस बहुत उद्विग्न हुए। स्वेज कैनाल कम्पनी के हिस्से (शेयर) इन्हीं दोनों राज्यों के पास थे। ईजिप्ट द्वारा इस कम्पनी के राष्ट्रीयकरण के कारण इन्हीं को सबसे अधिक नुकसान होता था। इसीलिये ये स्वेज की नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के नाम पर अपने प्रभाव एवं प्रभुत्त्व को कायम रखने के लिये प्रयत्नशील थे। पर रूस के वीटो के कारण इनकी योजना विफल हो गई थी। अब ये किसी ऐसे अवसर की प्रतीक्षा करने लगे, जिससे कि फिर स्वेज के मामले में हस्तक्षेप किया जा सके। ऐसा अवसर इन्हें शीघ्र ही मिल भी गया। इजराईल की दक्षिणी सीमा ईजिप्ट से लगती है। इस सीमा के प्रदेशों में उसी समय से कुछ झगड़े चले आते थे, जब कि इजराईल का निर्माण हुआ था। १९ अक्टूबर, १९५६ को इजराईल की सेना ने सिनाई पर हमला कर दिया। इस आक्रमण का उद्देश्य यह था, कि गाजा और सिनाई में ईजिप्ट ने जो सैनिक अड्डे कायम किये थे, उन्हें नष्ट कर दिया जाए, क्योंकि इजराईल की सरकार उन्हें अपने देश की सुरक्षा की दृष्टि से हानिकारक समझती थी। सम्भवतः, इजराईल की सरकार को इस कार्य में फ्रांस और ब्रिटेन का समर्थन भी प्राप्त था, क्योंकि ये देश ईजिप्ट के स्वेज-विषयक रुख से बहुत नाराज थे। ३० अक्टूबर, १९५६ के दिन फ्रांस के प्रधानमन्त्री और परराष्ट्रसचिव लण्डन गये, और उन्होंने ब्रिटिश सरकार से मशविरा किया, जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन और फ्रांस ने उसी दिन ईजिप्ट को यह अल्टिमेटम दिया, कि वह बारह घण्टे के अन्दर-अन्दर इजराईल से युद्ध बन्द कर दे, और अपनी सेनाओं को स्वेज से १० मील दक्षिण-पश्चिम में हटा ले। फ्रांस और ब्रिटेन समझते थे, कि स्वेज नहर के इतने समीप युद्ध का छिड़ जाना इस नहर की सुरक्षा के लिये हानिकारक है, अतः तुरन्त इस युद्ध को रोकना आवश्यक है। वे युद्ध को बन्द करने के लिये इजराईल को भी नोटिस दे सकते थे, क्योंकि युद्ध उसी ने शुरू किया था। नासिर के लिये इस अल्टिमेटम को स्वीकार कर सकना असम्भव था। जब बारह घन्टे बीत गये, तो ब्रिटिश और फ्रेञ्च वायु सेनाओं ने ईजिप्ट पर आक्रमण कर दिया। ईजिप्ट के पास जो भी हवाई जहाज थे उन्हें नष्ट कर दिया गया, और बम्बवर्षा के कारण उसके हवाई अड्डों को भी भारी नुकसान पहुंचा। तीन दिन तक ये हवाई हमले जारी रहे। ५ नवम्बर, १९५६ के दिन ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाएं पोर्ट सईद पर आ पहुंची, और उस पर कब्जा करके स्वेज नहर के साथ-साथ दक्षिण की ओर बढ़ने लगीं। यह स्वाभाविक था, कि इससे अरब राज्यों में घोर असन्तोष तथा बेचैनी उत्पन्न हो। अरब लोगों ने कहा, कि ब्रिटेन और फ्रांस इजराईल का पक्ष लेकर एक अरब राज्य के खिलाफ लड़ाई में तत्पर हो गये हैं। अरबों की इस अनुभूति ने इतना उग्ररूप धारण किया, कि सीरिया में उस पाइप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाइन को काट दिया गया, जिसके द्वारा अरब प्रदेशों का तेल भूमध्य सागर तक पहुंचाया जाता था। ईजिप्ट, सीरिया और सौदी अरेबिया ने ब्रिटेन और फ्रांस दोनों से और ईराक, सूडान और जोर्डन ने फ्रांस से अपना सम्बन्ध विच्छिन्न कर लिया। यद्यपि जोर्डन ने ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं तोड़ा, पर उसने भी यह घोषित कर दिया कि जोर्डन में ब्रिटेन के जो सैनिक अड्डे हैं, उनका उपयोग ईजिप्ट के विरुद्ध युद्ध के लिये नहीं करने दिया जायगा। अपनी नाराजगी प्रदर्शित करने के लिये ईराक ने यह घोषित किया, कि वह बगदाद पैक्ट के राज्यों की उस सभा में सम्मिलित नहीं होगा, जिसमें ब्रिटेन के प्रतिनिधि भी उपस्थित होंगे।

ईजिप्ट और स्वेज की समस्या अब इतनी गम्भीर हो गई थी, कि उस पर विचार करने के लिये २ नवम्बर, १९५६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल एसेम्बली का अधिवेशन बुलाया गया। इसमें अमेरिका की ओर से एक प्रस्ताव पेश किया गया, जिसमें स्वेज के क्षेत्र में ब्रिटिश, फ्रेञ्च और इजराईल की सरकारों की सैनिक कार्यवाही पर चिन्ता प्रगट की गई, और यह आदेश दिया गया कि तुरन्त इस युद्ध को बन्द कर दिया जाय। ६४ वोट इस प्रस्ताव के पक्ष में आये, और ५ विपक्ष में। ब्रिटेन, फ्रांस, इजराईल, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड ने प्रस्ताव के विपक्ष में वोट दिये। पर क्योंकि प्रस्ताव बहुमत से स्वीकार हो गया था, अतः संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल एसेम्बली द्वारा एक आपत्कालीन सेना (United Nations' Emergency Force) के संगठन का निश्चय किया गया, जिसका कार्य ईजिप्ट में लड़ाई बन्द कराना और युद्धविराम की देखभाल करना था। इस सेना में दस विभिन्न देशों के ६,००० सैनिक शामिल किये गये, और उन्हें ईजिप्ट में शान्ति स्थापित करने का कार्य सुपुर्द किया गया। इसी समय (५ नवम्बर) रूस ने यह घोषणा की, कि वह ईजिप्ट में शान्ति-स्थापना के कार्य में संयुक्त राष्ट्रसंघ के साथ पूर्ण रूप से सहयोग करेगा। अब ब्रिटेन और फ्रांस के लिए यह सम्भव नहीं रह सका, कि वे ईजिप्ट के विरुद्ध लड़ाई को जारी रख सकते। युद्ध को जारी रखने का यह परिणाम होता, कि रूसी सेनाएं भी लड़ाई के मैदान में उतर आतीं। ब्रिटेन और फ्रांस ने यह निर्णय किया, कि वे अपनी सेनाएं ईजिप्ट से हटा लेंगे (६ नवम्बर)। इस बीच में संयुक्त राष्ट्रसंघ की आपत्कालीन सेनाएं स्वेज के प्रदेशों में आनी शुरू हो गई थीं, और ईजिप्ट ने उन्हें इसके लिए अनुमति भी दे दी थी। २४ नवम्बर, १९५६ तक ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाओं ने ईजिप्ट को खाली कर दिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के आदेश का पालन कर ब्रिटेन और फ्रांस ने तो अपनी सेनाओं को ईजिप्ट से वापस बुला लिया, पर इजराईल ने संघ के आदेश को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। स्वेज नहर के पूर्व-दक्षिणी प्रदेश इस समय इजराईल के कब्जे में थे। उसका कहना था, कि वह इन प्रदेशों से अपनी सेनाएँ तभी हटायेगा, जब कि ईजिप्ट यह स्वीकार कर लेगा कि गाजा पर उसका कोई अधिकार नहीं है। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ इजराईल पर निरन्तर यह जोर दे रहा था, कि वह अपनी सेनाएं ईजिप्ट से हटा ले। कुछ राज्यों ने संघ के समक्ष यह प्रस्ताव भी पेश किया, कि क्योंकि इजराईल संघ के आदेश का पालन नहीं कर रहा है, अतः कोई राज्य उसे सैनिक तथा आर्थिक सहायता प्रदान न करे। संयुक्त राष्ट्र-संघ की शक्ति की देर तक उपेक्षा कर सकना इजराईल के लिए कठिन था। साथ ही, अमेरिका भी उस पर बहुत जोर डाल रहा था। इस दशा में ८ मार्च, १९५७ तक इजराईल ने भी अपनी सेनाएं ईजिप्ट से हटा लीं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाओं के हवाई हमलों के कारण स्वेज नहर का मार्ग पूरी तरह से अवरुद्ध हो गया था। हवाई जहाजों द्वारा बम्बवर्षा के कारण बहुत-से जहाज नहर में ही डूब गये थे, जिससे वहां जहाजों का आना-जाना असम्भव हो गया था। अनेक स्थानों पर नहर के तटवर्ती बांध भी टूट गये थे। इस दशा में कुछ महीनों तक स्वेज का जल मार्ग प्रयुक्त नहीं हो सका, और बहुत-से जहाजों को अफ्रीका का चक्कर काट कर आना-जाना पड़ा। नहर की सफाई की समस्या भी बड़ी जटिल थी। इस कार्य के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ ने अपनी ओर से एक बेड़े की नियुक्ति की, जिसमें ब्रिटेन और फ्रांस को शामिल नहीं किया गया। एप्रिल, १९५७ तक इस बेड़े ने अपना कार्य समाप्त कर लिया था, और स्वेज की नहर नाविक आवागमन के लिए साफ हो गई थी।

स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर जो लड़ाई शुरू हुई थी, यद्यपि उसका अब अन्त हो गया था, पर इससे नहर की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। नासिर इस बात पर दृढ़ था, कि स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर उसे ईजिप्ट की राष्ट्रीय सम्पत्ति बना दिया जायगा, यद्यपि १८८८ के कन्वेन्शन के अनुसार सब राज्य उसका उपयोग कर सकेंगे। गत छः महीनों के संघर्ष से उसके इस निश्चय में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। अब उसने यह मांग भी शुरू की, कि जो जहाज इस नहर का प्रयोग करें, उन्हें टॉल की धनराशि या तो अमेरिकन डालरों में प्रदान करनी होगी और या स्विटजरलैण्ड के फ्रांकों में। ब्रिटिश और फ्रेञ्च सिक्कों में इस टॉल को स्वीकार नहीं किया जायगा। ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाओं के आक्रमण से पूर्व नासिर ने यह सुविधा दी हुई थी, कि टॉल की मात्रा को न केवल पौंड तथा फ्रेञ्च फ्रांक में दिया जा सके, अपितु उसे इन्हीं देशों के बैंकों में भी जमा कराया जा सके, यद्यपि इन देशों की सरकारों ने अपने बैंकों को यह आदेश दे दिया था कि वे ईजिप्ट की सरकार को कोई धन प्रदान न करें। फ्रांस और इजराईल के अतिरिक्त अन्य सब देशों ने नासिर की शर्तों को स्वीकार कर स्वेज का इस्तेमाल प्रारम्भ कर दिया, और कुछ समय बाद (जून, १९५७) फ्रांस ने भी यही उचित समझा कि वह नासिर के सम्मुख झुक जाए। निःसन्देह, नासिर की यह असाधारण विजय थी। यद्यपि ईजिप्ट की सेनाएं ब्रिटेन, फ्रांस और इजराईल की सैन्यशक्ति का मुकाबिला कर सकने में असमर्थ रही थीं, पर नासिर को अपने उद्देश्यों में पूर्ण सफलता प्राप्त हो गई। स्वेज की नहर ईजिप्ट की राष्ट्रीय सम्पत्ति बन गई, और उस पर किसी विदेशी राज्य का कोई नियन्त्रण नहीं रह गया था।

पर यह स्वीकार करना होगा, कि स्वेज के युद्ध के कारण ईजिप्ट को कतिपय नुकसान भी उठाना पड़े। सिनाई के प्रदेश में उसके जो तेलकूप थे, इजराईल की सेना द्वारा वे नष्ट कर दिये गये, और उसके विदेशी व्यापार को बहुत धक्का लगा। ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका के साथ उसके सम्बन्ध कटु हो गये, और अस्वान डाम के निर्माण के लिए उसे जिस आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी, उसे प्राप्त कर सकना उसके लिए कठिन हो गया। अब तक ईजिप्ट को अरब राज्यों में सर्वप्रधान तथा प्रमुख माना जाता था, और सब अरब राज्य उसकी सैन्यशक्ति को आदर की दृष्टि से देखते थे। पर इस युद्ध में ईजिप्ट की सेनाओं को जो नीचा देखना पड़ा था, उसके कारण अरब राज्यों पर उसका रुआब कम हो गया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि अनेक अरब राज्य अब फिर ब्रिटेन तथा अमेरिका की ओर झुकने लगे। इस प्रसंग में यह निर्देश कर देना उपयोगी होगा, कि स्वेज के युद्ध के समय ईजिप्ट की सरकार ने ब्रिटिश तथा फ्रेञ्च व्यापारिक कोठियों पर कब्जा कर लिया था, जिसके कारण वहां बसे हुए ब्रिटिश तथा फ्रेंच नागरिकों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिये वहां रह सकना सम्भव नहीं रहा था। इसी कारण हजारों ब्रिटिश और फ्रेञ्च लोग इस समय ईजिप्ट छोड़कर अन्यत्र चले जाने के लिए विवश हुए।

१९५६ में नासिर ने ईजिप्ट के लिये जिस संविधान का निर्माण किया था, और उसी साल जिसे ईजिप्ट की जनता ने ९९ प्रतिशत बहुमत द्वारा स्वीकृत भी कर लिया था, जुलाई, १९५७ में उसके अनुसार ईजिप्ट की विधान सभा का चुनाव हुआ। इस सभा के ३५० सदस्यों में ९० प्रतिशत के लगभग निर्विरोध चुन लिये गये थे, जो सब नासिर के समर्थक थे। यह सभा ५ साल के लिये चुनी गई थी, और १९६१ तक विद्यमान रही। इसी समय राष्ट्रपति का भी चुनाव हुआ, जिसमें नासिर निर्विरोध रूप से निर्वाचित हो गये।

(४) आइजनहावर सिद्धान्त और अरब राज्य

स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के कारण पश्चिमी एशिया के प्रदेशों में जो भारी संकट उत्पन्न हो गया था, उसका उल्लेख हमने अभी ऊपर किया है। इसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन और फ्रांस से ईजिप्ट के सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये थे, और अन्य अरब राज्यों में भी इन देशों के प्रति सद्भावना में बहुत कमी आ गई थी। स्वेज के संकट के समय रूस ईजिप्ट की सहायता के लिए उद्यत था, जिससे कारण विदेशी राजनीति में ईजिप्ट का झुकाव रूस की ओर होने लग गया था। अरब राज्यों में कम्युनिस्ट विचारों का प्रसार भी इस समय तक प्रारम्भ हो चुका था। संयुक्तराज्य अमेरिका को इन बातों से बहुत चिन्ता हुई, और उसने यह कोशिश शुरू की, कि पश्चिमी एशिया के इन प्रदेशों में कम्युनिस्ट प्रभाव की वृद्धि को रोकने के लिये सक्रिय रूप से कार्य प्रारम्भ किया जाए। इसीलिए अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर ने ५ जनवरी, १९५७ को अमेरिकन कांग्रेस के पास अपना एक सन्देश (Message) भेजा, जिसमें पश्चिमी एशिया के प्रति अपनी नीति का प्रतिपादन किया गया था। यही आइजनहावर सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। राष्ट्रपति आइजनहावर द्वारा प्रतिपादित नीति के अनुसार अमेरिकन कांग्रेस ने एक नया कानून पास किया, जिसके द्वारा राष्ट्रपति को कतिपय विशेष अधिकार प्रदान किये गये। इस कानून के अनुसार यह व्यवस्था की गई, कि (१) पश्चिमी एशिया के क्षेत्र का जो राज्य अपनी राष्ट्रीय स्वाधीनता को कायम रखने के लिये प्रयत्नशील हो, उसकी आर्थिक शक्ति के विकास के लिए राष्ट्रपति को सहायता देने का अधिकार रहेगा। (२) पश्चिमी एशिया के राज्यों की स्वतन्त्रता और विश्वशान्ति की रक्षा के प्रयोजन से राष्ट्रपति को यह भी अधिकार होगा, कि वह इस क्षेत्र के किसी ऐसे राज्य को सैनिक सहायता भी दे सके, जो उसकी इच्छा करे तथा उसके लिए आवेदन करे। (३) यदि कोई कम्युनिस्ट देश या कम्युनिस्ट प्रभाव में विद्यमान देश पश्चिमी एशिया के किसी राज्य पर सेना द्वारा आक्रमण करे, तो राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह अमेरिकन सेनाएं भी उस क्षेत्र में भेज सके। इसी समय अमेरिका की कांग्रेस ने यह भी स्वीकार किया, कि आइजनहावर सिद्धान्त के अनुसार बनाये गये कानून को क्रियान्वित करने के लिए १०० करोड़ रुपया खर्च किया जाय। इस कानून के निर्माण में अमेरिका का यही उद्देश्य था, कि पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों को कम्युनिस्ट प्रभाव से मुक्त रखा जाय, और उनके साथ ऐसे समझौते किये जाएं, जिनके द्वारा ये राज्य अपनी आर्थिक तथा सैनिक उन्नति के लिये अमेरिका की सहायता पर निर्भर रहें। इस समय अमेरिका इन राज्यों को भरपूर आर्थिक सहायता देने के लिये उद्यत था, उनकी आर्थिक समृद्धि के लिए भी और उनकी सैनिक उन्नति के लिए भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर आइजनहावर सिद्धान्त और उसके अनुसार निर्मित कानून उसी दशा में कोई अर्थ रखते थे, जबकि पश्चिमी एशिया के विविध राज्य अमेरिका से आर्थिक तथा सैनिक सहायता लेना स्वीकार करें। अतः अब उन्हें इसके लिये राजी करने का यत्न प्रारम्भ किया गया। जो राज्य बगदाद पैक्ट में शामिल थे, वे इसके लिये सुगमता से तैयार हो गये। जून, १९५७ में इन राज्यों की एक कान्फरेन्स हुई, और उसके बाद इन्होंने—ईराक, तुर्की, पाकिस्तान और ईरान ने—आइजनहावर सिद्धान्त के प्रति अपनी सहमति प्रगट करते हुए अमेरिका से सहायता लेना स्वीकार कर लिया। स्वेज-नहर सम्बन्धी संकट के समय में ही ईराक और सीरिया के सम्बन्ध बिगड़ने प्रारम्भ हो गए थे। ईराक की सरकार अनुभव करने लगी थी, कि सीरिया और ईजिप्ट सोवियत रूस के प्रभाव में आते जा रहे हैं। अतः उसने आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने में जरा भी विलम्ब नहीं किया। पर अन्य अरब राज्यों से इस सिद्धान्त का समर्थन प्राप्त करा सकना इतना सुगम नहीं था। इसी लिये अमेरिकन सरकार ने जेम्स पी० रिचर्ड्स को अपने विशेष राजप्रतिनिधि के रूप में अरब राज्यों का दौरा करने के लिये भेजा, और उसे यह कार्य सुपुर्द किया, कि वह इनकी सरकारों को आइजनहावर सिद्धान्त के लाभ समझाए, और उसके लिये समर्थन प्राप्त करे। इन राज्यों में इस समय दोनों प्रकार के राजनीतिज्ञ थे, लोकतन्त्रवादी गुट के पक्षपाती भी और कम्युनिस्ट गुट के समर्थक भी। रिचर्ड्स के प्रयत्न से लेबनान ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, पर सीरिया, सौदी अरेबिया, जोर्डन और येमन इसके लिये तैयार नहीं हुए। ईजिप्ट से तो यह आशा की ही नहीं जा सकती थी, कि वह इस सिद्धान्त को स्वीकार कर अमेरिका के प्रभाव में आ जायगा, क्योंकि इस समय उसका झुकाव स्पष्ट रूप से रूस की ओर था।

यद्यपि अरब के क्षेत्र में आइजनहावर सिद्धान्त का बहुत स्वागत नहीं हुआ, पर शीघ्र ही अमेरिका को यह अवसर मिल गया, कि वह इस सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित नीति का अनुसरण कर अरब राज्यों में सैनिक हस्तक्षेप करे। यह हस्तक्षेप लेबनान और जोर्डन में किया गया था। पर इससे पूर्व कि हम इसका वृतान्त लिखें, यह उपयोगी होगा कि द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में बाद के काल में विविध अरब राज्यों के इतिहास में जो मुख्य महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं, उनका संक्षिप्त रूप से निर्देश कर दें।

(५) सीरिया की तटस्थता की नीति

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक सीरिया ने फ्रांस के आधिपत्य से मुक्ति पाकर राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्राप्त कर ली थी, पर अभी वहां फ्रेंच और ब्रिटिश सेनाएं विद्यमान थीं, फ्रेंच सेनाएं इसलिये क्योंकि प्रथम महायुद्ध के बाद सीरिया का प्रदेश राष्ट्रसंघ द्वारा फ्रांस के मैन्डेट में दे दिया गया था, और ब्रिटिश सेनाएं इसलिए क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के समय मार्शल पेतां की विशी सरकार के कब्जे से उन्होंने इस प्रदेश को मुक्त किया था। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के निर्णय के अनुसार एप्रिल, १९४६ तक किस प्रकार ये विदेशी सेनाएं सीरिया से हटा ली गई थीं, इस पर हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

ईराक, जोर्डन और सौदी अरेबिया के समान सीरिया में किसी राजा का शासन नहीं था। वहाँ एक रिपब्लिक कायम थी, महायुद्ध के अन्त के समय जिसका राष्ट्रपति शुकरी कुवतली था। इस समय सीरिया में अनेक राजनीतिक दलों की सत्ता थी, जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रीय दल और जनता (शाव) दल मुख्य थे। मुकरी कुवतली राष्ट्रीय दल का था। महायुद्ध के बाद की परिस्थितियों में उसकी सरकार ने देश के सुशासन के लिये अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये, पर उसकी लोकप्रियता देर तक कायम नहीं रह सकी। पैलेस्टाइन के प्रदेश में यहूदी लोग अपना जो पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में तत्पर थे, सब अरब राज्य उसके विरोधी थे। उन्होंने यहूदियों के विरुद्ध पैलेस्टाइन के अरबों की सहायता भी की थी। यहूदियों के विरुद्ध इस संघर्ष में सीरिया का विशेष कर्त्तृत्व था, क्योंकि उसकी सीमा भी पैलेस्टाइन से लगती है। पर कुवतली की सरकार इजराईल की स्थापना को नहीं रोक सकी थी, और उसने इस नये यहूदी राज्य से सन्धि भी कर ली थी। इस कारण सीरिया के युवक उससे बहुत असन्तुष्ट थे। इसीलिये १९४८ में सरकार के विरुद्ध स्थान-स्थान पर विद्रोह हुए, जिनका दमन करने के लिये सैन्यशक्ति का प्रयोग करना पड़ा। वस्तुतः, इस समय सीरिया में सेना ही इस स्थिति में थी, जो वहां शान्ति और व्यवस्था कायम रख सकती थी। विभिन्न राजनीतिक पार्टियां आपस में लड़ती रहती थीं, और उनके लिये देश में एक सुव्यवस्थित सरकार को कायम कर सकना सम्भव नहीं रह गया था। इस दशा में ३० मार्च, १९४९ के दिन कर्नल हुस्नी जईम के नेतृत्व में सेना ने सीरिया के शासनसूत्र को अपने हाथों में ले लिया। विधान सभा को बर्खास्त कर दिया गया, और विभिन्न राजनीतिक दलों के संगठनों को भंग कर दिया गया। जईम ने स्वयं राष्ट्रपति का पद ग्रहण किया, और अपने सैनिक साथियों के सहयोग से सरकार का संचालन प्रारम्भ किया।

पर जईम भी देर तक अपने पद पर नहीं रह सका। एक अन्य सैनिक षड्यन्त्र द्वारा उसे भी पदच्युत कर दिया गया (१४ अगस्त, १९४९), और मौत के घाट उतार दिया गया। इस षड्यन्त्र का नेता कर्नल सामी हिन्नावी था। उसने यत्न किया, कि सीरिया से सैनिक शासन का अन्त कर फिर से जनता के शासन की स्थापना की जाए। एक सामयिक सरकार भी संगठित कर ली गई, जिसमें हशीम अतास्सी को राष्ट्रपति नियत किया गया। अतास्सी सीरिया की जनता पार्टी का नेता था, जो शुकरी कुवतली के समय में उसके राष्ट्रीय दल की विरोधी थी। नवम्बर, १९४९ में विधान सभा का नया चुनाव हुआ, जिसमें जनता (शाव) पार्टी की विजय हुई। पर इससे भी सीरियन सरकार की समस्या हल नहीं हुई। एक बार फिर सेना ने षड्यन्त्र किया और कर्नल शिशकली के नेतृत्व में उसने सामी हिन्नावी को प्रधान सेनापति के पद से हटा दिया, यद्यपि अतास्सी और उसकी सरकार को कायम रखा गया। पर शीघ्र ही अतास्सी की सरकार और सेना (जिसका नेतृत्व इस समय कर्नल शिशकली के हाथों में था) में मतभेद प्रारम्भ हो गया, जिसके कारण सीरिया के मन्त्रिमण्डल के प्रायः सभी सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया (२९ नवम्बर, १९५१)। इस दशा में राष्ट्रपति अतास्सी ने स्वयं त्यागपत्र दे दिया, और सेना की आज्ञा से विधानसभा को बर्खास्त कर दिया गया। साथ ही, राजनीतिक दलों पर भी पाबन्दी लगा दी गई। एक बार फिर सीरिया में सैनिक शासन स्थापित हुआ, और शिशकली एक सैनिक डिक्टेटर के समान देश का शासन करने लगा। नाम को राष्ट्रपति और प्रधान-मन्त्री के पद कर्नल फौजी शिलो को प्रदान किये गये, यद्यपि वास्तविक शासन शक्ति शिशकली के हाथों में रही, जो कि प्रधान सेनापति की स्थिति में सेना को अपने काबू में रखने में समर्थ था।

शिशकली ने सीरिया के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया, जिसमें सब राजशक्ति राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित की गई थी (१९५३)। जुलाई मास में इस संविधान के पक्ष या विपक्ष में वोट देने का अवसर जनता को प्रदान किया गया। नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संविधान स्वीकृत हो गया, और जनता के वोटों द्वारा शिशकली को सीरिया का राष्ट्रपति भी चुन लिया गया। इससे कुछ समय पूर्व (जुलाई, १९५२) ईजिप्ट में भी राज्यक्रान्ति हो चुकी थी, और वहां पहले नगीब और फिर नासिर के नेतृत्व में सैनिक शासन की स्थापना की गई थी। ठीक ऐसा ही सीरिया में भी हुआ, और शिशकली के नेतृत्व में वहां एक ऐसी सरकार कायम हुई, जो यद्यपि नये संविधान के अनुसार थी, पर वस्तुतः जिसकी सब शक्ति सैनिक-नेता के रूप में शिशकली के हाथों में थी। पर शिशकली नासिर के समान योग्य एवं निपुण नहीं था। इसलिये वह देर तक सीरिया पर अपने आधिपत्य को कायम नहीं रख सका। सेना के विरोध के कारण ही उसे अपने पद का परित्याग कर देना पड़ा, और वह सीरिया को छोड़कर विदेश चला गया (फरवरी, १९५४)। एक बार फिर हशीम अतास्सी को राष्ट्रपति बनाया गया, और यह यत्न किया गया कि देश में सच्चे अर्थों में लोकतन्त्र शासन की स्थापना की जाए। इसीलिए शिशकली द्वारा बनाये गए संविधान को रद्द करके पुराने संविधान के अनुसार विधानसभा का चुनाव कराया गया (सितम्बर, १९५४)। सीरिया में इस समय कितने विभिन्न प्रकार के राजनीतिक दलों की सत्ता थी, इसका अन्दाज इस चुनाव के परिणाम द्वारा किया जा सकता है। विधानसभा में विभिन्न दलों की सदस्य-संख्या इस प्रकार थी—राष्ट्रीय दल २८, जनता (शाब) पार्टी १३, समाजवादी (बाथ) दल १६ और कम्युनिस्ट दल १। विधान सभा के शेष ८४ सदस्य या तो स्वतन्त्र थे, और या अन्य छोटे-छोटे दलों के थे। विधानसभा में कोई पार्टी इस स्थिति में नहीं थी, जो स्वयं अपने सदस्यों के समर्थन से मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सके। इसी कारण सीरिया के मन्त्रिमण्डलों में बहुधा परिवर्तन होते रहते थे। जो पार्टी अपना मन्त्रिमण्डल बनाती थी, वह विधानसभा के स्वतन्त्र सदस्यों और छोटे-छोटे ग्रुपों का समर्थन प्राप्त करने का यत्न करती थी। सरकार का यही यत्न रहता था कि वह ऐसी नीति का अनुसरण करे, जिससे जनता को संतोष हो और लोकमत के जो अनुकूल हो।

सीरिया में अरब राष्ट्रीयता की भावना बहुत प्रबल थी। इजराईल की सीमा पर स्थित होने के कारण वहां की सरकार ब्रिटेन और फ्रांस आदि पाश्चात्य लोकतन्त्रवादी देशों की नीति को पसन्द नहीं करती थी। इसीलिये जब जनवरी, १९५५ में बगदाद पैक्ट का निर्माण हुआ, तो सीरिया उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। विदेशी राजनीति में सीरिया का झुकाव ईजिप्ट और सौदी अरेबिया की ओर था, जो सीरिया के ही समान अरब राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। इसीलिये उसने इन देशों के साथ मिलकर एक नये संगठन का निर्माण किया, जिसका उद्देश्य इन अरब राज्यों को आत्मरक्षा के लिये संगठित करना था। यह संगठन बगदाद पैक्ट के जबाब में बनाया गया था, और इसमें सम्मिलित होने के लिये अन्य अरब राज्यों को भी निमन्त्रित किया गया था। ईजिप्ट के समान सीरिया भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति का समर्थक था, और बगदाद पैक्ट जैसी अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों से पृथक् रहना चाहता था। १९५६ में जब स्वेज की समस्या ने अत्यन्त गम्भीर रूप धारण कर लिया, और ब्रिटिश तथा फ्रेञ्च सेनाओं ने ईजिप्ट पर आक्रमण किया, तो सीरिया ने ईजिप्ट का साथ दिया, और इसी कारण उसने न केवल ब्रिटेन और फ्रांस से सम्बन्ध तोड़ लिया, अपितु अपने क्षेत्र से जाने वाली तेल की पाइप लाइनों को भी तोड़ दिया। इसी समय ईजिप्ट के सहयोग से सीरिया ने यह भी यत्न किया, कि जोर्डन भी ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्धों का अन्त कर दे। राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद भी जोर्डन की सेनाओं का संचालन ब्रिटिश अफसरों के हाथों में था, और सेना के लिए ब्रिटेन द्वारा उसे आर्थिक सहायता भी दी जाती थी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनवरी, १९५७ में ईजिप्ट और सौदी अरेबिया के साथ मिलकर सीरिया ने एक अरब सोलिडैरिटी पैक्ट का निर्माण किया, जिसमें जोर्डन को भी शामिल किया गया। नासिर के नेतृत्व में ईजिप्ट ने अरब राज्यों की राष्ट्रीय एकता के लिये जो प्रयत्न प्रारम्भ किया था, सीरिया ने उसमें पूर्णरूप से योग दिया, और इसी कारण ईराक के अतिरिक्त अन्य कोई अरब राज्य बगदाद पैक्ट में शामिल नहीं हुआ।

इस बीच में सीरिया में समाजवाद भी निरन्तर जोर पकड़ रहा था, और वहां के राजनीतिक नेता रूस की ओर झुकने लग गये थे। इजराईल के कारण अरबों में जो राष्ट्रीय भावना प्रबल हो रही थी, उससे ब्रिटेन और फ्रांस जैसे पाश्चात्य देशों से उनके सम्बन्ध पहले ही कटु थे। ईजिप्ट द्वारा स्वेज की नहर के राष्ट्रीयकरण के बाद ये सम्बन्ध और भी अधिक कटु हो गये। अरब लोग समझते थे, कि पाश्चात्य लोकतन्त्रवादी देश अरब राष्ट्रीयता के विरोधी हैं। इसलिये अब उन्हें यह आशा नहीं रही थी, कि इन देशों से अरब राज्यों की आर्थिक व सैनिक उन्नति में पर्याप्त सहायता मिल सकती है। यह सहायता इसी शर्त पर मिल सकती थी, कि अरब राज्य विदेशी राजनीति में पाश्चात्य देशों का अनुसरण करें, और कम्युनिज्म के विरोध में इनके साथ सहयोग करें। इसका अभिप्राय यही था, कि अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी में अरब राज्य तटस्थता की नीति का परित्याग कर अमेरिका और ब्रिटेन के गुट में शामिल हो जाएं। पर अरब लोग इसके लिये तैयार नहीं थे। १५ जून, १९५६ को राष्ट्रीय दल के नेता सब्री अस्सली ने सीरिया में अपना मन्त्रिमण्डल बनाया, और इसके लिये समाजवादी (बाथ) पार्टी का भी सहयोग प्राप्त किया। सीरिया की यह सरकार विदेशी राजनीति में तटस्थता की नीति की पक्षपाती थी, पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों से इसका विरोध था, और अरब की राजनीति में यह ईजिप्ट की समर्थक थी। वामपक्षी वृत्ति के कारण जुलाई, १९५६ में इसने कम्युनिस्ट चीन की सरकार की वैध सत्ता को भी स्वीकार कर लिया, और उसके साथ अपना सम्बन्ध भी स्थापित किया। नवम्बर, १९५६ में सीरिया के राष्ट्रपति कुवतली (अगस्त, १९५५ में अतास्सी के स्थान पर कुवतली राष्ट्रपति बन गये थे) ने रूस की भी यात्रा की, और वहां जाकर कम्युनिस्ट सरकार से अस्त्र-शस्त्र एवं अन्य युद्ध-सामग्री की प्राप्ति के सम्बन्ध में समझौता किया। स्वेज की नहर के प्रश्न को लेकर जब ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाओं ने ईजिप्ट पर आक्रमण किया (अक्टूबर, १९५६), तो सीरिया में बेचैनी उत्पन्न हुई और ब्रिटेन आदि के प्रति उसका विरोध-भाव बहुत गढ़ गया। यही समय था, जब कि सीरिया के राष्ट्रपति ने रूस जाकर वहां की सरकार से सैनिक सहायता प्राप्त करने का समझौता किया था। १९५६ के प्रारम्भ में सीरिया के मन्त्रिमण्डल का पुनःसंगठन हुआ। प्रधानमन्त्री के पद पर तो सब्री अस्सली ही रहे, पर अपने मन्त्रिमण्डल में उन्होंने समाजवादी नेताओं के साथ-साथ एक कम्युनिस्ट को भी सम्मिलित किया। सीरिया की विधानसभा में कम्युनिस्ट पार्टी का केवल एक सदस्य था, उसी को मन्त्रिमण्डल में शामिल कर लेना इस बात को सूचित करता है, कि इस समय सीरिया में रूस का प्रभाव कितना अधिक बढ़ गया था। इसीलिये जब अमेरिका ने आइजनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन कर अरब राज्यों के साथ समझौता करने और उन्हें आर्थिक एवं सैनिक सहायता देने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो सीरिया ने उसे स्वीकार नहीं किया। वस्तुतः, इस समय सीरियन लोगों की भावनाएं ब्रिटेन और अमेरिका आदि के बहुत प्रतिकूल थीं। इसीलिये वे अमेरिका द्वारा प्रस्तावित आर्थिक सहायता को भी सन्देह की दृष्टि से देखते थे, और यह समझते थे कि इस सहायता को निमित्त बनाकर अमेरिका सीरिया में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है। पर सीरिया में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो अपने देश में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाजवादी व कम्युनिस्ट विचारों के प्रसार से बहुत चिन्तित थे, और मन्त्रिमण्डल में भी जिनका प्रवेश हो जाने के कारण जिन्हें बहुत उद्वेग था। अमेरिका और ब्रिटेन इन दक्षिण-पक्षी लोगों की धन द्वारा सहायता कर रहे थे। परिणाम यह हुआ, कि ये सरकार के विरुद्ध विद्रोह व षड्यन्त्र करने के लिये तैयार हो गये। अनेक सरकारी इमारतों पर बम्ब बरसाये गये, और समाजवादी (बाथ) पार्टी के समर्थकों पर हमले किये जाने लगे (जून, १९५७)। अनेक नगरों में सरकार के खिलाफ प्रदर्शन भी किये गये। पर इन सब के बावजूद सब्री अस्सली का मन्त्रिमण्डल अपदस्थ नहीं हुआ। जनता उसके साथ थी, जिससे बल पाकर अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के सम्बन्ध में उसने उस तटस्थता की नीति का अनुसरण किया, जिसे भारत में पंडित नेहरू ने प्रतिपादित किया था, और पश्चिमी एशिया में राष्ट्रपति नासिर ने। १९५६ के प्रारम्भ में सब्री अस्सली ने भारत की भी यात्रा की थी, और पंडित नेहरू को अपने देश में निमन्त्रित किया था। जून, १९५७ में पंडित नेहरू सीरिया गये भी, और वहां उनका बड़ी धूमधाम से स्वागत हुआ।

इस समय सीरिया की सरकार को अमेरिकन गुट से इतना अधिक विरोध था, कि जब होम्स नामक स्थान पर तेल की सत्ता का पता लगा, और तेल-कूप खोद कर वहां से तेल निकालने का प्रश्न उत्पन्न हुआ, तो उसका ठेका चेकोस्लोवाकिया की एक कम्पनी को दिया गया, यद्यपि अमेरिका के पूंजीपति भी इसके लिए प्रयत्नशील थे। रूस ने सीरिया को अस्त्र-शस्त्र और अन्य युद्ध-सामग्री प्रदान करने का जो निर्णय किया था, उसके अनुसार इस समय सीरिया यह सब सामग्री रूस से ही प्राप्त कर रहा था।

सीरिया के इस रुख से अमेरिका का चिन्तित होना बहुत स्वाभाविक था। अगस्त, १९५७ में अमेरिका की ओर से लार्ड हैण्डर्सन ने पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों की यात्रा की। वहां की राजनीतिक दशा का अनुशीलन कर उन्होंने जो रिपोर्ट दी, उसके आधार पर अमेरिका के परराष्ट्र-सचिव डलेस ने यह घोषणा की, कि पश्चिमी एशिया के विविध राज्य सीरिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत अधिक चिन्तित हैं। राष्ट्रपति आइजनहावर ने कहा, कि रूस अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म का पश्चिमी एशिया में प्रसार करने के लिए सीरिया को अपना केन्द्र बना रहा है। रूसी सरकार ने इसका विरोध किया, और लेबनान, ईराक तथा जोर्डन ने भी यह प्रगट किया कि उन्हें सीरिया के सम्बन्ध में कोई शिकायत नहीं है। पश्चिमी एशिया के विविध अरब राज्य सीरिया से मैत्री-सम्बन्ध कायम रखने को उत्सुक थे। इसी कारण सौदी अरेबिया के राजा सऊद और ईराक के प्रधानमन्त्री ने डमास्कस की यात्राएं भी कीं (सितम्बर, १९५७), और सीरिया के प्रति अपने मैत्री-भाव को प्रगट किया। पर अमेरिका यह स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ, कि सीरिया में रूस का प्रभाव जिस ढंग से बढ़ रहा है, वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में खतरे का कारण नहीं है। तुर्की इस समय पूर्णतया अमेरिका और ब्रिटेन के प्रभाव में था। वह बगदाद पैक्ट और नाटो—दोनों का सदस्य था। अमेरिका की प्रेरणा से उसने इस ढंग की सैनिक तैयारी शुरू कर दी (सितम्बर, १९५७), जिसे सीरिया ने अपने लिए आपत्ति-जनक समझा। कुछ समय के लिए ऐसा प्रतीत होने लगा, कि तुर्की और सीरिया में युद्ध छिड़ जाना अवश्यम्भावी है। ईजिप्ट ने इस समय सीरिया की सहायता करने का निश्चय किया, और अपनी एक सेना भी इस प्रयोजन से वहां भेज दी। पर इस संकट ने उग्र रूप धारण नहीं किया, और कुछ ही समय में युद्ध की उत्तेजना मन्द पड़ गई।

अमेरिका और ब्रिटेन आदि पाश्चात्य लोकतन्त्रवादी देशों से विरोध, अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति और समाजवाद की ओर झुकाव—इनके कारण ईजिप्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और सीरिया अब एक दूसरे के बहुत समीप आ गये थे। अरबों की राष्ट्रीय एकता की भावना भी उन्हें एक दूसरे के निकट आने के लिए प्रेरित कर रही थी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि कुछ समय बाद युनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थापना हुई, जिस पर हम आगे चल कर प्रकाश डालेंगे।

(५) अन्य अरब राज्यों की प्रगति

पश्चिमी एशिया की वर्तमान प्रगति को भली भांति समझने के लिए जोर्डन और सौदी अरेबिया आदि अन्य अरब राज्यों के द्वितीय महायुद्ध के बाद के इतिहास भी संक्षेप से प्रकाश डालना उपयोगी है।

जोर्डन—द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय अन्य अनेक राज्यों के समान जोर्डन (उस समय इस राज्य को ट्रांस-जोर्डन कहते थे) भी राष्ट्रसंघ द्वारा प्रदत्त मैन्डेट के अधीन ब्रिटेन के आधिपत्य में था, यद्यपि वहां अपना राजा और अपनी सरकार विद्यमान थी। इस मैन्डेट की अवधि १५ मई, १९४८ तक थी। महायुद्ध के समय ब्रिटेन ने ट्रांस-जोर्डन के राजा के साथ एक सन्धि की थी (१९ जुलाई, १९४१), जिस द्वारा वहां की सरकार ने यह स्वीकार किया था, कि ब्रिटेन ट्रांस-जोर्डन में अपनी सेनाएं रख सके, और वहां की अपनी सेनाओं को भी इस प्रकार संगठित तथा नियन्त्रित कर सके, ताकि देश की भली-भांति रक्षा हो सकना और वहां शान्ति एवं व्यवस्था कायम रख सकना सम्भव हो। पर यह सन्धि अरबों की राष्ट्रीय भावना के अनुकूल नहीं थी। अतः १५ मार्च, १९४८ को ब्रिटेन ने ट्रांस-जोर्डन के साथ बीस वर्ष के लिए एक अन्य सन्धि की, जिस द्वारा दोनों देशों ने यह स्वीकार किया कि युद्ध के समय में वे दोनों एक दूसरे की सहायता करेंगे, और अपनी सेनाएं एक दूसरे के प्रदेशों में ला सकेंगे। साथ ही, यह भी तय किया गया कि शान्ति के समय में भी ब्रिटेन ट्रांस-जोर्डन के हवाई अड्डों, बन्दरगाहों और सड़कों आदि के निर्माण तथा विकास में सहायता प्रदान करेगा। इस सन्धि के अनुसार अम्मन और मफरक में ब्रिटेन ने रायल एयर फोर्स के केन्द्र स्थापित किये, और जोर्डन की सेना को नये ढंग से ट्रेन करना शुरू किया। जोर्डन की रक्षा के लिए एक ऐंग्लो-जोर्डानियन जायन्ट डिफेन्स बोर्ड का भी संगठन किया गया। ट्रांस-जोर्डन में ब्रिटेन के मैन्डेटरी शासन की अवधि १५ मई, १९४८ को समाप्त हो गई थी, और राजनीतिक दृष्टि से इस देश ने पूर्ण-रूप से स्वाधीन स्थिति प्राप्त कर ली थी। पर कुछ समय पूर्व (१५ मार्च) की गई इस सन्धि के अनुसार इस अवधि के बाद भी ट्रांस-जोर्डन पर ब्रिटेन का सैनिक प्रभाव कायम रहा। वहां ब्रिटेन के हवाई अड्डे स्थापित रहे, और उसकी सेनाओं का प्रशिक्षण, संचालन तथा नियन्त्रण ब्रिटेन के हाथों में रहा।

१९४८ में पैलेस्टाइन में यहूदियों और अरबों में किस प्रकार युद्ध हुआ, ट्रांस-जोर्डन ने किस प्रकार युद्ध में भाग लिया, किस प्रकार इजराईल नाम से पृथक् यहूदी राज्य की स्थापना हुई, और किस प्रकार पैलेस्टाइन के वे प्रदेश जो इजराईल में सम्मिलित नहीं किये गये थे, ट्रांस-जोर्डन के साथ मिला दिये गये—इन विषयों पर पिछले अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। इस युद्ध के बाद जोर्डन नदी के दोनों ओर के प्रदेशों को मिलाकर एक राज्य बना दिया गया था, जिसका नाम 'जोर्डन' रखा गया था। नये राज्य का राजा ट्रांस-जोर्डन के राजा अमीर अब्दुल्ला को ही बनाया गया, और उसकी प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की संख्या दुगुनी करके जोर्डन नदी के पश्चिमी प्रदेशों को भी उसमें प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२० जुलाई, १९५१ के दिन अमीर अब्दुल्ला की हत्या हो गई, और उसका लड़का तल्लाल जोर्डन का राजा बना। अब्दुल्ला की हत्या राजनीतिक कारणों से की गई थी। जोर्डन के पश्चिमी प्रदेश—जो पहले पैलेस्टाइन के अन्तर्गत थे, अपने सम्बन्ध में की गई व्यवस्था से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं थे। उनमें ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो कि राजसत्ता को पसन्द नहीं करते थे, और लोकतन्त्र शासन के पक्षपाती थे। इन्हीं के षड्यन्त्र द्वारा अब्दुल्ला की हत्या हुई थी। इसीलिए तल्लाल ने जोर्डन के शासन में अनेक ऐसे सुधार किये, जिनका उद्देश्य लोकतन्त्रवाद की ओर अग्रसर होना था। पर बीमार रहने के कारण तल्लाल देर तक शासन नहीं कर सका। ११ अगस्त, १९५२ को उसने स्वयं राजगद्दी का परित्याग कर दिया, और उसका पुत्र हुसन जोर्डन का राजा बना।

जनता जो अपने देश के शासन से सन्तुष्ट नहीं थी, उसके मुख्य कारण निम्नलिखित थे—(१) जोर्डन अपने सैन्यसंगठन और सुरक्षा के मामलों में प्रधानतया ब्रिटेन पर आश्रित था। १५ मार्च, १९४८ की सन्धि के अनुसार ब्रिटेन की हवाई सेनाएं जोर्डन में विद्यमान थीं, और जोर्डन की अपनी सेनाओं का संचालन, प्रशिक्षण और नियन्त्रण भी ब्रिटिश अफसरों के हाथों था। ये बातें अरबों की राष्ट्रीय भावना के प्रतिकूल थीं। ईजिप्ट और सीरिया जैसे पड़ौसी अरब राज्यों में ब्रिटेन व अमेरिका के विरुद्ध जो भावना प्रबल हो रही थी, उसका प्रभाव जोर्डन के अरबों पर भी पड़ रहा था, और वे यह नहीं चाहते थे कि उनका देश ब्रिटेन के सैनिक प्रभाव में रहे। (२) इजराईल की स्थापना से भी जोर्डन के अरबों में बहुत असन्तोष था। इन दोनों राज्यों की सीमाएं आपस में छूती थीं। जोर्डन नदी के पश्चिमी प्रदेशों के बहुत-से अरब निवासी ऐसे थे, जो इजराईल से विस्थापित होकर वहां आये थे। वहां के अनेक गांव इजराईल की सीमा पर थे, जिसके कारण वहां कोई न कोई झगड़ा बना ही रहता था। क्योंकि इजराईल के निर्माण में अमेरिका का प्रमुख हाथ था, अतः जोर्डन के अरब पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के प्रति सद्भावना नहीं रख सकते थे। जोर्डन और इजराईल के सीमावर्ती गांवों तथा बस्तियों के झगड़ों में प्रायः अरबों को नीचा देखना पड़ता था, जिसका दोष अरब लोग जोर्डन की सेना के ब्रिटिश अफसरों को देते थे। उनका कहना था, कि ये ब्रिटिश अफसर इजराईल के साथ सहानुभूति रखते हैं। इसी कारण ये उसके खिलाफ अरबों की रक्षा पर समुचित ध्यान नहीं देते। अन्य अरब राज्यों के समान जोर्डन में भी समाजवाद व कम्युनिज्म का प्रवेश हो रहा था। इनके अनुयायी कहते थे, कि जोर्डन को भी सीरिया तथा ईजिप्ट के समान अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहिए, और सेना पर से ब्रिटिश प्रभाव का अन्त कर देना चाहिए। ईजिप्ट और सीरिया की सरकारों द्वारा अरबों की राष्ट्रीय एकता तथा तटस्थता की नीति के पक्ष में जो प्रचार किया जा रहा था, उसका प्रभाव भी जोर्डन के अरबों पर पड़ रहा था।

इस समय जोर्डन का प्रधानमन्त्री तौफीक अब्दुल हुदा था (१९५४)। उसके लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह लोकमत की उपेक्षा कर सके। इसीलिए उसने ब्रिटेन से यह अनुरोध किया, कि १५ मार्च, १९४८ की सन्धि के अनुसार जोर्डन की सेना के संगठन एवं प्रशिक्षण के लिए जो धनराशि ब्रिटेन द्वारा खर्च की जाती है, भविष्य में वह जोर्डन की सरकार को प्रदान कर दी जाया करे, और उसका खर्च सरकार द्वारा ही किया जाया करे। १९५५ में जब ब्रिटेन, तुर्की, ईरान, पाकिस्तान और ईराक ने बगदाद पैक्ट का निर्माण किया, तो ब्रिटेन का यत्न था कि जोर्डन भी इस पैक्ट में शामिल हो जाय। इस देश पर अपने सैनिक प्रभाव के कारण ब्रिटेन को पूर्ण आशा थी, कि जोर्डन यह स्वीकार कर लेगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमीर हुसैन इसके लिए तैयार भी था, पर लोकमत को दृष्टि में रखते हुए कोई मन्त्रि-मण्डल यह साहस नहीं कर सकता था, कि जोर्डन को बगदाद पैक्ट में शामिल कर दे। इसी कारण १९५५ में कई मन्त्रिमण्डल बने और बिगड़े। नये प्रधानमन्त्री समिर रिफई ने जब स्पष्ट रूप से यह घोषित कर दिया (१४ जनवरी, १९५६), कि जोर्डन अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति का अनुसरण करेगा और बगदाद पैक्ट में शामिल नहीं होगा, तभी जनता को सन्तोष हुआ। लोकमत के सम्मुख सिर झुकाकर समिर रिफई की सरकार ने यह भी निश्चय किया, कि जो अनेक ब्रिटिश अफसर जोर्डन की सेना का संचालन कर रहे हैं, उन्हें अपदस्थ कर दिया जाय और उनके स्थान पर अरब अफसरों की नियुक्ति की जाय। इसी निर्णय के अनुसार जनरल ग्लब (जो अरब के इतिहास में ग्लब्ब पाशा के नाम से प्रसिद्ध हैं) और उसके साथी ब्रिटिश अफसरों को जोर्डन छोड़ कर अपने देश को वापस चले जाना पड़ा।

२१ अक्टूबर, १९५६ जो जोर्डन की प्रतिनिधि सभा का नया चुनाव हुआ। इस में उग्र राष्ट्रवादी उम्मीदवारों को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। इनका प्रधान नेता सुलेमानी नबुल्सी था। उसने चुनाव के समय स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी, कि वह और उसके साथी १५ मार्च, १९४८ की एंग्लो-जोर्डन सन्धि का अन्त कर अपने देश को ब्रिटेन के सैनिक प्रभाव से मुक्त करेंगे। प्रतिनिधि सभा में बहुमत प्राप्त कर सुलेमान नबुल्सी ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। नये मन्त्रिमण्डल का पहला कार्य यह था (२५ अक्टूबर, १९५६), कि उसने अपने देश की रक्षा के लिए सीरिया और ईजिप्ट के साथ मिलकर एक जायन्ट मिलिटरी कमाण्ड का संगठन किया। इस समय ईजिप्ट द्वारा स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के कारण स्वेज के क्षेत्र में एक भारी संकट उपस्थित हो गया था, और इजराईल की सेनाओं ने गाजा और सिनाई के प्रदेशों (जो ईजिप्ट के अन्तर्गत थे) पर आक्रमण कर दिया था। जोर्डन को भय था, कि इजराईल की सेनाएं उसके प्रदेश पर भी हमले करेंगी। इसीलिए उसकी सरकार ने यह आवश्यक समझा, कि सीरिया और ईजिप्ट के साथ मिल कर एक संयुक्त सैनिक कमाण्ड का संगठन कर ले। किस प्रकार इस समय ब्रिटेन और फ्रांस की सेनाओं ने ईजिप्ट पर आक्रमण किया, और पोर्ट सईद पर भी कब्जा कर लिया, यह पहले लिखा जा चुका है। स्वेज के इस युद्ध में जोर्डन ईजिप्ट का सहायक था। इसी कारण उसने फ्रांस के साथ अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया था। ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध को यद्यपि कायम रखा गया, पर जोर्डन की सरकार ने यह सर्वथा स्पष्ट कर दिया था, कि १५ मार्च, १९४८ की सन्धि के अनुसार ब्रिटेन को जोर्डन में जो हवाई अड्डे प्राप्त हैं, उनका उपयोग ईजिप्ट के विरुद्ध युद्ध के लिए नहीं करने दिया जायगा। इस समय जोर्डन पूरी तरह से उसी नीति का अनुसरण कर रहा था, जो ईजिप्ट और सीरिया की थी। यह नीति ब्रिटेन, फ्रांस और अमेरिका जैसे लोकतन्त्र राज्यों के प्रतिकूल थी। १५ मार्च, १९४८ की एंग्लो-जोर्डन सन्धि के अनुसार जोर्डन अपनी सेना के लिए जो सहायता ब्रिटेन से प्राप्त करता था, उसकी मात्रा १,७५,००,००० रुपये वार्षिक के लगभग थी। जोर्डन को इस राशि के लिए ब्रिटेन पर निर्भर न रहना पड़े, इस प्रयोजन से इस समय (१९ जनवरी, १९५७) ईजिप्ट, सौदी अरेबिया और सीरिया ने जोर्डन के साथ एक अरब सोलिडेरिटी एग्रीमेन्ट किया, जिसके अनुसार ईजिप्ट और सौदी अरेबिया में से प्रत्येक ने ७० लाख रुपया वार्षिक और सीरिया ने ३५ लाख रुपया वार्षिक जोर्डन की सेना के लिए सहायता के रूप में देना स्वीकार किया। इस समझौते के कारण १५ मार्च, १९४८ की एंग्लो-जोर्डन सन्धि सर्वथा निरर्थक हो गई थी। अतः अब सुलेमान नबुल्सी की सरकार ने इस सन्धि का अन्त कर देने के लिए ब्रिटेन से बातचीत शुरू की,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिसके परिणामस्वरूप १४ मार्च, १९५७ को इस सन्धि का अन्त कर दिया गया, और अगले ६ महीनों में वे सब ब्रिटिश सेनाएं, अफसर और युद्ध-सामग्री जोर्डन से हटा ली गई, जो अब तक भी वहां विद्यमान थी।

जोर्डन की सरकार इस समय ठीक उसी नीति का अनुसरण कर रही थी, जो कि ईजिप्ट और सीरिया की थी। इसीलिये उसने आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार करने और उसके अधीन अमेरिका से आर्थिक सहायता प्राप्त करने से भी इन्कार कर दिया, और यह तय किया कि सीरिया और ईजिप्ट के साथ अपने सम्बन्धों को और अधिक घनिष्ठ करने के लिए उनके साथ मिलकर एक आर्थिक संघ (Economic Union) का निर्माण किया जाए। पर सुलेमान नबुल्सी की यह नीति अमीर हुसैन को पसन्द नहीं थी। वह समझता था, कि जोर्डन में समाजवाद की जो प्रवृत्तियां जोर पकड़ रही हैं, उनके कारण उसकी अपनी राजगद्दी भी सुरक्षित नहीं रह सकेगी। इसीलिये उसने नबुल्सी का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया, और अनेक ऐसे आदेश जारी किये, जिन द्वारा जोर्डन में कम्युनिज्म के प्रचार को रोकने का प्रयत्न किया गया था। अन्त में उसने नबुल्सी के मन्त्रिमन्डल को भी बर्खास्त कर दिया, और डॉ० खलीदी को नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया (१० एप्रिल, १९५७)। पर डॉ० खलीदी का कार्य सुगम नहीं था। जनता सुलेमान नबुल्सी के पक्ष में थी, और प्रतिनिधि सभा में उसका बहुमत था। इस दशा में हुसैन को विवश होकर नबुल्सी को भी मन्त्रिमण्डल में स्थान देने की बात स्वीकृत करनी पड़ी, और उसे परराष्ट्र-सचिव के पद पर नियुक्त किया गया। यद्यपि डॉ० खलीदी प्रधानमन्त्री तो रहा, पर विदेशी नीति का संचालन नबुल्सी के हाथों में आ गया। इस बात को अमेरिका कदापि सहन नहीं कर सकता था। सरकार के मामलों में अमीर हुसैन द्वारा निरन्तर हस्तक्षेप का यह परिणाम हुआ, कि इस समय जोर्डन में अशान्ति और अव्यवस्था के चिन्ह प्रकट होने लगे। अनेक स्थानों पर उसके विरुद्ध प्रदर्शन किये गये, और हड़तालें प्रारम्भ हो गईं। सेना में भी बेचैनी उत्पन्न होने लगी। अमेरिका और ब्रिटेन इसी अवसर की प्रतीक्षा में थे। उन्हें यह कदापि सह्य नहीं था, कि सीरिया और ईजिप्ट के समान जोर्डन भी पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के प्रतिकूल नीति का अनुसरण करने लगे। २४ एप्रिल, १९५७ के दिन राष्ट्रपति आइजनहावर ने घोषित किया कि जोर्डन की स्वतन्त्रता और वहां शान्ति एवं व्यवस्था का कायम रहना अमेरिका के हितों की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है। पश्चिमी एशिया के विविध प्रदेशों के तेल-कूपों में अमेरिका की पूंजी भारी मात्रा में लगी हुई थी। इस उद्योग से अमेरिकन पूंजीपति तभी निश्चिन्तता के साथ धन कमा सकते थे, जब कि वहां शान्ति व व्यवस्था कायम रहे, और वहां की सरकारें अमेरिकन-विरोधी नीति का अनुसरण न करें। आइजनहावर सिद्धान्त को अस्वीकृत कर देने के कारण जोर्डन अमेरिका की कोपदृष्टि का शिकार हो गया था। अतः अमेरिका ने अपने छठे जंगी जहाजी बेड़े को तुरन्त बैरूत (लेबनान में) के बन्दरगाह पर भेज दिया, ताकि आवश्यकता पड़ने पर जोर्डन के विरुद्ध उसका प्रयोग किया जा सके। इसी समय ब्रिटेन ने भी यह घोषित किया, कि जोर्डन में शान्ति और व्यवस्था का कायम रहना उसके हितों के लिये भी परमावश्यक है।

ब्रिटेन और अमेरिका के इस रुख के कारण जोर्डन की स्थिति बहुत गम्भीर हो गई। डॉ० खलीदी के लिये अब स्थिति को संभाल सकना कठिन था। उसने त्यागपत्र दे दिया, और अमीर हुसैन ने मार्शल लॉ की घोषणा कर जोर्डन में सैनिक शासन की स्थापना कर दी। राजनीतिक पार्टियों पर पाबन्दी लगा दी गई, और अनेक राष्ट्रीय नेता गिरफ्तार करके जेलों में बन्द कर दिये गये। इससे अमेरिका को परम सन्तोष हुआ, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसने जोर्डन की सहायता के लिये पांच करोड़ रुपया प्रदान करने की व्यवस्था की। इस प्रकार अमेरिका के आक्रमण एवं हस्तक्षेप के भय से अमीर हुसैन एक ऐसी नीति को अपनाने के लिये विवश हुआ, जो जोर्डन की जनता की भावनाओं के सर्वथा प्रतिकूल थी। नबुल्सी के नेतृत्व में जोर्डन ने जिस नीति को स्वीकार किया था, वह अब भूतकाल का विषय हो गई थी। सीरिया और ईजिप्ट के साथ जो समझौते नबुल्सी की सरकार ने किये थे, वे अब रद्द कर दिये गये, और इन देशों के साथ जोर्डन के सम्बन्धों में कटुता आ गई। जून, १९५७ में जोर्डन ने कैरो में स्थित अपने राजदूत को भी वापस बुला लिया, और ईजिप्ट के अपने दूतावास को बन्द कर दिया।

पर अन्य अरब राज्यों के समान जोर्डन में भी राष्ट्रीय भावना बहुत प्रबल हो चुकी थी। वहां की जनता को यह जरा भी पसन्द नहीं था, कि सीरिया और ईजिप्ट के साथ उनके देश के सम्बन्धों में इतनी कटुता आ जाए। वे अनुभव करते थे, कि इजराईल के यहूदियों का तभी भली भांति मुकाबिला किया जा सकता है, जबकि अन्य अरब राज्यों की सद्भावना एवं सहयोग जोर्डन को प्राप्त रहे। जोर्डन की सीमा इजराईल के साथ लगती थी, और वहां बहुधा झगड़े होते रहते थे। जोर्डन के अरबों की दृष्टि में इन झगड़ों का बहुत महत्त्व था। इसी कारण अमीर हुसैन देर तक अपनी उस नीति पर स्थिर नहीं रह सका, जिसका अवलम्बन उसने अमेरिकन हस्तक्षेप की आशंका के कारण किया था। विवश होकर उसे भी सीरिया और ईजिप्ट के प्रति अपने सम्बन्धों में परिवर्तन करना पड़ा, और उनके साथ सहयोग करने की नीति का अवलम्बन किया।

सौदी अरेबिया—अरब प्रायद्वीप के सुविस्तृत प्रदेशों में इब्न सऊद ने किस प्रकार एक विशाल एवं शक्तिशाली राज्य की स्थापना की थी, इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। सौदी अरेबिया का यह राज्य अरब तथा मुस्लिम जगत् में बहुत महत्त्व रखता है, क्योंकि मक्का और मदीना जैसे मुस्लिम तीर्थ-स्थान इसी राज्य में स्थित हैं। इस राज्य का शासन पूर्णतया निरंकुश था, और वहां कोई भी ऐसी संस्थाएं (विधान-सभा आदि) नहीं थीं, जो इब्न सऊद की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश रख सकतीं। वह अपने राजकर्म चारी तथा मन्त्री स्वयं नियुक्त करता था, और वे उसी के प्रति उत्तरदायी थे। कानून का आधार शरायत थी, और उसके अभिप्राय को स्पष्ट करना काजियों का काम था। ऐसे राज्य में न राजनीतिक दलों के पारस्परिक झगड़ों की समस्या होती है, न सार्वजनिक आन्दोलनों की, न चुनावों की और न सरकार में परिवर्तन की। यदि राजा शक्तिशाली व जबर्दस्त हो, तो ऐसे शासन पर्याप्त सफल रहते हैं। इब्न सऊद इसी प्रकार का राजा था, और इसी कारण द्वितीय महायुद्ध के बाद के काल में सौदी अरेबिया ने अच्छी उन्नति की। तेल की उपलब्धि के बाद उसकी आर्थिक समृद्धि में अच्छी सहायता मिली, और अमेरिकन पूंजीपतियों द्वारा संचालित इस क्षेत्र के तेलकूपों द्वारा इब्न सऊद को रायल्टी के रूप में बहुत बड़ी धनराशि प्राप्त होने लगी।

पश्चिमी एशिया की राजनीति में इब्न सऊद का क्या रुख रहा, यह ध्यान देने योग्य है। १९४८ में जब पैलेस्टाइन में यहूदियों और अरबों के बीच युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो स्वाभाविक रूप से उसकी सहानुभूति अरबों के प्रति थी। अन्य अरब राज्यों के समान सौदी अरेबिया भी अरब लीग में शामिल था। अतः उससे यह आशा की जाती थी, कि वह यहूदियों के विरुद्ध युद्ध में सक्रिय रूप से हाथ बंटायेगा। पर इब्न सऊद की आमदनी मुख्यतया उस रायल्टी से प्राप्त होती थी, जो उसके राज्य से निकाले जाने वाले तेल के लिये उसे प्रदान की जाती थी। सौदी अरेबिया के तेलकूप अमेरिकन कम्पनी के हाथों में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थे, अतः इब्न सऊद के लिये यह सुगम नहीं था, कि वह यहूदियों के विरुद्ध लड़ाई में विशेष तत्परता दिखा सके, क्योंकि यह बात अमेरिका भी पसन्द न करता। पैलेस्टाइन के अरबों की सहायता के लिये एक छोटी-सी सेना भेज कर ही उसने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर दी। इस युद्ध में अरब पक्ष की ओर से सबसे अधिक कर्तृत्व ट्रांस-जोर्डन ने प्रदर्शित किया था, अतः जब इजराईल का निर्माण करने के अनन्तर पैलेस्टाइन के बचे हुए प्रदेशों को ट्रांस-जोर्डन के साथ मिला देने का निश्चय किया गया, तो इब्न सऊद ने उसका घोर विरोध किया। ट्रांस-जोर्डन का राजा अमीर अब्दुल्ला उस हसमी वंश का था, जिसका पहले मक्का और मदीना पर शासन था, और जिसे इब्न सऊद ने वहां से बहिष्कृत किया था। इसी हसमी वंश के दो व्यक्ति इस समय ट्रांस-जोर्डन और ईराक की राजगद्दियों पर विराजमान थे। यह स्वाभाविक था, कि इब्क सऊद इनका विरोधी हो, और इनके उत्कर्ष को सहन न कर सके। इसी कारण उसने जोर्डन नदी के पश्चिम के प्रदेशों को अब्दुल्ला के राज्य में शामिल करने का विरोध किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के सम्बन्ध में इब्न सऊद की नीति तटस्थता की थी। इस मामले में वह ईजिप्ट और सीरिया के साथ था। १९४५ में जब बगदाद पैक्ट का निर्माण हुआ, तो इब्न सऊद केवल उसमें शामिल ही नहीं हुआ, अपितु उसने उसका विरोध भी किया। १९५६ में जब ईजिप्ट ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का निश्चय किया, तो इब्न सऊद ने उसका समर्थन किया, और ब्रिटेन तथा फ्रांस के पोर्ट सईद पर कब्जा कर लेने पर उसने इन देशों से अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया। १९५७ के प्रारम्भ में ईजिप्ट, सीरिया और जोर्डन ने जो अरब सोलिडेरिटी एग्रीमैन्ट किया था, सौदी अरब भी उसमें शामिल हुआ और ईजिप्ट के समान उसने भी जोर्डन को ७० लाख रुपया वार्षिक देना स्वीकार किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है, कि विदेशी मामलों में इब्न सऊद उस नीति का समर्थक था, जिसका प्रतिपादन नासिर के नेतृत्व में ईजिप्ट ने किया था, और सीरिया भी इस समय जिसका अनुसरण कर रहा था। पर इब्न सऊद देर तक इस नीति का समर्थन नहीं कर सका। जोर्डन के राज्य में जब अमीर हुसैन और नबुल्सी के राष्ट्रीय दल में संघर्ष शुरू हुआ, तो इब्न सऊद ने हुसैन का साथ दिया। इस समय से उसकी नीति में परिवर्तन आने लगा, और उसका झुकाव निरन्तर अमेरिका और ब्रिटेन आदि पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों की ओर होता गया। इस नीति-परिवर्तन के अनेक कारण थे। विविध अरब राज्यों में समाजवाद और कम्युनिज्म का जिस ढंग से प्रचार हो रहा था, और सीरिया तथा जोर्डन जैसे राज्यों की सरकारों पर जिस प्रकार वामपक्षी लोगों का प्रभाव बढ़ रहा था, इब्न सऊद उसे किसी भी दशा में उचित नहीं समझ सकता था। यदि ये प्रगतिशील प्रवृत्तियां अरब में जोर पकड़ जातीं, तो उसकी अपनी राजगद्दी भी खतरे में पड़ जाती। साथ ही, यह भी सही था कि इब्न सऊद की सब आमदनी तथा आर्थिक समृद्धि तेलकूपों से प्राप्त होने वाली रायल्टी पर ही आश्रित थीं। वह स्वयं न इन तेल-कूपों के राष्ट्रीयकरण का साहस कर सकता था, और न अपनी आमदनी पर ही आँच आने देना चाहता था। इस दशा में उसके सम्मुख यही मार्ग शेष रह जाता था, कि वह अमेरिका को नाराज न करे। १९५७ के प्रारम्भ में इब्न सऊद ने अमेरिका की यात्रा की, और इस यात्रा में अमेरिका द्वारा सैनिक सहायता का आश्वासन भी प्राप्त किया। इस प्रसंग में धरहन के हवाई अड्डे का उल्लेख करना भी आवश्यक है। इस हवाई अड्डे का निर्माण द्वितीय महायुद्ध के समय अमेरिका द्वारा किया गया था, और इसके लिये इब्न सऊद से अनुमति प्राप्त कर ली गई थी। अमेरिका ने इसकी आवश्यकता इस कारण अनुभव की थी, क्योंकि जापान के विरुद्ध लड़ाई में अपने सैनिक और युद्ध सामग्री को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहुंचाने के लिये पश्चिमी एशिया में किसी अच्छे हवाई अड्डे का होना बहुत जरूरी था। महायुद्ध की समाप्ति के बाद १९५१ में अमेरिका ने सौदी अरेबिया के साथ इस हवाई अड्डे के सम्बन्ध में एक नया समझौता किया, जिस द्वारा इस पर सौदी अरेबिया के स्वत्त्व को तो स्वीकार कर लिया गया, पर अमेरिका को इसके प्रयोग एवं संभाल के विषय में कतिपय विशेष अधिकार दिये गये। यह समझौता पांच साल के लिये था। अब १९५७ में इसे फिर दोहराया गया, और अमेरिका ने सौदी अरेबिया को अस्त्र-शस्त्र व युद्ध-सामग्री आदि देना स्वीकार कर और उसकी सेना के प्रशिक्षण की जिम्मेवारी लेकर धहरन के हवाई अड्डे पर अपने अधिकार को जारी रखा। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में यह हवाई अड्डा अमेरिकन सैन्यशक्ति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र है। १९५७ के समझौते द्वारा इब्न सऊद ने अमेरिका की सद्भावना को प्राप्त कर लिया था। पर वह एक अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ था, और इस बात को भलीभांति समझता था कि अरब लोगों का लोकमत अमेरिका आदि पाश्चात्य देशों के अनुकूल नहीं है। उनमें राष्ट्रीय भावना उग्र रूप से विद्यमान है, और वे इन देशों के प्रभाव व प्रभुत्त्व को जरा भी पसन्द नहीं करते। इसीलिये इब्न सऊद ने यह भी आवश्यक समझा, कि वह न बगदाद पैक्ट में शामिल हो, और न आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार करे। अरब राज्यों की राष्ट्रीय एकता के विचार का वह निरन्तर समर्थन करता रहा। इजराईल के यहूदी राज्य के प्रति अरबों की जो विरोधी भावना थी, उसका भी वह समर्थक रहा। अक्टूबर, १९५७ में जब तुर्की और सीरिया में झगड़ा हुआ, तो उसने अरब एकता के नाम पर सीरिया का साथ दिया। अमेरिका की सैनिक सहायता प्राप्त करते हुए भी अरब राज्यों की राजनीति में इब्न सऊद जो एक स्वतन्त्र मार्ग का अवलम्बन कर सका, वह उसके उत्कृष्ट व्यक्तित्व का प्रमाण है।

लेबनान—द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के समय तक सीरिया के समान लेबनान भी राष्ट्रसंघ के मैन्डेट के अधीन फ्रांस के शासनाधिकार में था। जिस घटनाक्रम से सीरया फ्रेञ्च आधिपत्य से मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने में समर्थ हुआ, उसी द्वारा लेबनान में भी स्वाधीन रिपब्लिक की स्थापना हुई। संयुक्त राज्यसंघ की सुरक्षा परिषद् के निर्णय के अनुसार दिसम्बर, १९४६ में किस प्रकार लेबनान से सब विदेशी सेनाएं हटा ली गई थीं, और उसने पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त कर ली थी, इस सम्बन्ध में पहले लिखा भी जा चुका है। स्वाधीन लेबनान में किसी राजा का शासन न होकर रिपब्लिकन शासन की सत्ता है।

यद्यपि लेबेनान भी पश्चिमी एशिया के अरब क्षेत्र के अन्तर्गत है, पर वहां के सब निवासी इस्लाम के अनुयायी नहीं है। वहां ईसाई लोग भी अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते हैं, जिनमें रोमन कैथोलिक सबसे अधिक हैं। १९५६ में वहां की कुल आबादी १३ लाख के लगभग थी, जिसमें मुसलमान आधे से कुछ ही अधिक थे। शेष सब विविध ईसाई साम्प्रदायों के अनुयायी थे। चिर काल तक फ्रांस के आधिपत्य में रहने के कारण लेबनान के इन ईसाई निवासियों पर फ्रेञ्च सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव बहुत बढ़ गया था। इस दशा में यह स्वाभाविक था, कि ये अपने को सीरिया, ईराक और जोर्डन आदि के मुस्लिम अरबों से भिन्न समझने लगें। लेबनान के लोग अमेरिका और पश्चिमी अफ्रीका में भी बड़ी अच्छी संख्या में बसे हुए थे, और वहां से धन कमा कर अपने देश को भेजते रहते थे। पश्चिमी अफ्रीका फ्रांस के अधीन था। इस कारण स्वतन्त्रता की प्राप्ति के बाद भी लेबनान के लोगों के अमेरिका और फ्रांस के साथ सम्पर्क में कमी नहीं आयी थी। लेबनान के बन्दरगाह बैरूत ने महायुद्ध के समय बहुत महत्त्व प्राप्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया था। पाश्चात्य देश इसी द्वारा पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में अपनी सेनाएं आदि भेजते थे, जिसके कारण इसमें अनेक विदेशी फर्में स्थापित हो गई थीं, और लेबनान के व्यापारी तथा अन्य सम्पन्न वर्ग का उनके साथ घनिष्ट सम्बन्ध था। ये बातें थीं, जिनके कारण लेबनान की सरकार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह रुख ग्रहण नहीं कर सकी, जिसे ईजिप्ट और सीरिया ने ग्रहण किया था। अरब राष्ट्रीयता की भावना इस राज्य में भी विद्यमान थी, पर वह इतनी प्रबल नहीं थी कि सीरिया और ईजिप्ट के समान लेबनान भी तटस्थता की नीति का पूर्णरूप से अनुसरण कर सकता। इसीलिये फ्रेञ्च और ब्रिटिश सेनाओं के चले जाने (दिसम्बर, १९४६) के बाद भी लेबनान की सरकार ने यह उपयोगी समझा, कि अपने देश की वायुसेना के प्रशिक्षण के लिये ब्रिटिश रायल एयर फोर्स की सहायता प्राप्त करे, और आत्मरक्षा के कार्य में परामर्श देने के लिये ब्रिटिश अफसरों की नियुक्ति करे।

अपनी विशेष परिस्थितियों के कारण लेबनान न तो बगदाद पैक्ट में शामिल हुआ, और न ईजिप्ट, सौदी अरेबिया तथा सीरिया के उस गुट में जिसका निर्माण बगदाद पैक्ट के मुकाबिले में किया गया था। इस सम्बन्ध में हम ऊपर लिख चुके हैं, अतः उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। पैलेस्टाइन में यहूदियों और अरबों के युद्ध में भी इस राज्य ने कोई विशेष भाग नहीं लिया, और स्वेज के राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप जो संकट ईजिप्ट में उत्पन्न हुआ, उसमें भी यह अरब राज्यों के समान ब्रिटेन, फ्रांस और इजराईल का विरोध करने के लिए कोई विशेष कार्य नहीं कर सका। पर स्वेज-विषयक इस संकट के समय लेबनान की सर्वसाधारण जनता में बहुत उत्तेजना उत्पन्न हो गई, और वह ईजिप्ट के प्रति अपनी सहानुभूति और इजराईल तथा ब्रिटेन आदि के प्रति अपनी विरोध-भावना को प्रदर्शित करने के लिए सरकार को मजबूर करने का उद्योग करने लगी। अनेक स्थानों पर अशान्ति एवं विद्रोह के भी चिह्न प्रगट हुए। इस स्थिति में प्रधानमन्त्री अब्दुल्ला अल याफी ने मार्शल लॉ की घोषणा कर दी, और सैनिक शक्ति का प्रयोग कर देश में शान्ति व व्यवस्था कायम की। पर स्वेज के राष्ट्रीयकरण को निमित्त बनाकर फ्रेञ्च और ब्रिटिश सेनाओं ने जब पोर्ट सईद पर कब्जा कर लिया, तो सम्पूर्ण अरब जगत् में ऐसा उद्वेग उत्पन्न हुआ, कि लेबनान की सरकार के लिए भी उसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं रह गया। अन्य अरब राज्य उस पर जोर देने लगे, कि वह इन आक्रमणकारी राज्यों से अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर दे। लेबनान के राष्ट्रपति शामू ने नवम्बर, १९५६ में विविध अरब राज्यों के प्रतिनिधियों को इस प्रयोजन से बैरूत में निमन्त्रित किया, ताकि उनसे परामर्श करके ब्रिटेन और फ्रांस के प्रति अपनी नीति का निर्धारण करे। पर सब अरब राज्यों का परामर्श एक-सदृश नहीं था। ईजिप्ट, सीरिया और सौदी अरेबिया ब्रिटेन और फ्रांस दोनों से अपने सम्बन्धों का विच्छेद कर चुके थे, पर जोर्डन, ईराक और सूडान ने केवल फ्रांस से ही अपने सम्बन्ध तोड़े थे। कतिपय राज्यों का यह परामर्श था, कि लेबनान की ईसाई जनता का फ्रांस से घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण यदि वहां की सरकार फ्रांस से सम्बन्ध-विच्छेद करना उचित नहीं समझती, तो उसे अकेले ब्रिटेन से ही अपने सम्बन्ध का अन्त कर देना चाहिए। कतिपय राज्य ब्रिटेन और फ्रांस—दोनों से सम्बन्ध-विच्छेद के लिये जोर दे रहे थे। अब्दुल्ला अल याफी का मन्त्रिमण्डल इस स्थिति में किसी भी निर्णय पर नहीं पहुंच सका। उसने त्याग-पत्र दे दिया और सामी अल सुल्ह ने नया मन्त्रिमण्डल बनाया, जिसमें डॉ० चार्ल्स मलिक को परराष्ट्र-सचिव का पद दिया गया। डॉ० मलिक देर तक अमेरिका में लेबनान के राजदूत रहे थे, और साथ ही संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसके प्रतिनिधि भी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिका के राजनीतिज्ञों से उनका घनिष्ठ सम्पर्क था। उन्होंने तय किया, कि लेबनान को ईजिप्ट और सीरिया आदि के समान पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों से अपने सम्बन्धों को बिगाड़ना नहीं चाहिये। जनवरी, १९५७ में जब अमेरिका ने आइजनहावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तो डॉ० मलिक की प्रेरणा से लेबनान ने उसे स्वीकार कर लिया। इसका वहां की प्रतिनिधिसभा में बहुत विरोध हुआ, और अनेक सदस्यों ने त्याग-पत्र भी दे दिया। साफी अल सुल्ह के मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी पेश किया गया, पर वह स्वीकृत नहीं हो सका। आइजनहावर सिद्धान्त के अनुसार लेबनान ने अमेरिका से आर्थिक एवं सैनिक सहायता प्राप्त करना स्वीकार कर लिया, जिसके कारण उसकी विदेशी नीति ईजिप्ट और सीरिया से बहुत भिन्न हो गई। परिणाम यह हुआ, कि ईजिप्ट और सीरिया ने लेबनान की नीति के विरुद्ध उग्ररूप से प्रचार करना प्रारम्भ किया, और वे अपने समाचार-पत्रों तथा रेडियो आदि के द्वारा लेबनान की जनता को इस बात के लिये प्रेरित करने लगे कि वह सामी अल सुल्ह की सरकार के विरुद्ध उठ खड़ी हो।

९ जून, १९५७ को लेबनान की प्रतिनिधि सभा का नया चुनाव होना था। जो लोग सामी अल सुल्ह और डॉ० मलिक की नीति के विरुद्ध थे, उन्होंने इस अवसर पर नेशनल यूनियन फ्रंट के नाम से एक संयुक्त मोरचे का निर्माण किया, और यह मांग प्रारम्भ की, कि सामी अल सुल्ह का मन्त्रिण्डल चुनाव के समय अपदस्थ कर दिया जाए और सब पार्टियों की मिलजुली सामयिक सरकार का निर्माण किया जाए, ताकि चुनाव निष्पक्ष रीति से हो सके। पर सामी अल सुल्ह ने इसे स्वीकार नहीं किया, जिसके कारण लेबनान में अनेक स्थानों पर विद्रोह व हड़तालें हुईं। नये चुनाव में विरोधी दलों के संयुक्त मोरचे को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी, और सामी अल सुल्ह का मन्त्रिमन्डल कायम रहा। इस प्रकार इस समय लेबनान एक ऐसी नीति का अनुसरण करने में तत्पर हुआ, जो पड़ौस के अन्य अरब राज्यों को अभिमत नहीं थी। इसी कारण ईजिप्ट और सीरिया आदि से उसका विरोध बढ़ता गया, और शीघ्र ही ऐसा अवसर उपस्थित हुआ, जबकि आइजनहावर सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका ने लेबनान की सहायता करने के लिये अपनी सेनाएं वहां भेजीं।

सूडान—१९३६ में ब्रिटेन और ईजिप्ट के बीच में हुई सन्धि के अनुसार सूडान पर ईजिप्ट और ब्रिटेन का संयुक्त शासन जारी रखा गया था, और ईजिप्सियन लोगों को यह अधिकार दिया गया था कि वे वहां बिना किसी रोक टोक के आबाद हो सकें। इस सन्धि का जिक्र पिछले एक अध्याय में किया जा चुका है। पर सूडान की जनता इस व्यवस्था से सन्तुष्ट नहीं थी। पश्चिमी एशिया के क्षेत्र के अन्य देशों के समान वहां भी राष्ट्रीय भावना बल पकड़ रही थी, और सूडान के लोग भी अपने देश की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थे। इस समय तक ईजिप्ट पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुका था, और उसका विचार था कि नील नदी की घाटी एक ऐसा क्षेत्र है, जिसका एक ही शासन में रहना जरूरी है। अन्यथा, नील नदी के जल का भलीभांति उपयोग कर सकना असम्भव है। स्वतन्त्र ईजिप्ट को यह भी सह्य नहीं था, कि सूडान के शासन में ब्रिटेन का भी हिस्सा रहे। अब स्थिति यह थी, कि (१) एक ओर तो सूडान के सुशिक्षित लोग और राष्ट्रीय नेता इस प्रयत्न में थे, कि वहां उनका पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य स्थापित हो जाए, (२) ईजिप्ट की सरकार यह चाहती थी, कि सूडान के शासन में ब्रिटेन का हाथ तो न रहने पाए, पर उसका अपना आधिपत्य वहां कायम रहे, यद्यपि वह सूडान के आन्तरिक मामलों के लिये स्वायत्त शासन का समर्थन करती थी, और (३) ब्रिटेन उस पर अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधिपत्य को जारी रखना चाहता था। पर सूडान के लोगों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की जो भावना प्रबल हो रही थी, उसकी उपेक्षा कर सकना न ईजिप्ट के लिये सम्भव था, और न ब्रिटेन के लिये। मई, १९५२ में ब्रिटेन और ईजिप्ट द्वारा सूडान की समस्या को सुलझाने के लिये एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसने निम्नलिखित सुझाव पेश किये—(१) सूडान में एक पार्लियामैन्ट का निर्माण किया जाए, जिसमें दो सदन हों, प्रतिनिधि-सभा और सीनेट। (२) शासनशक्ति एक मन्त्रिमण्डल के हाथों में रहे, जो प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी हो। (३) सूडान की सरकार को अपने देश के शासन के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्राप्त रहें, सिवाय विदेशी सम्बन्ध, राज्य कर्मचारी वर्ग और दक्षिणी सूडान के कतिपय प्रदेशों के शासन के। ये विषय गवर्नर-जनरल के हाथों में रहे, और आपत्काल में उसे शासन को अपने हाथों में ले सकने का भी अधिकार हो। ये सुझाव ब्रिटिश सरकार को तो स्वीकार्य थे, पर ईजिप्ट इन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं हुआ। उसका कहना था, कि या तो सूडान को पूर्णतया स्वतन्त्र कर दिया जाए, और या ईजिप्ट के साथ उसका एक संघ-राज्य बनाया जाय। १९५३ में ईजिप्ट में राज्यक्रान्ति हो गई थी, और नगीब तथा नासिर के नेतृत्व में वहां ऐसा सैनिक शासन स्थापित हो गया था, जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ब्रिटेन का विरोधी था। वह यह उचित नहीं समझता था, कि सूडान में आंशिक स्वराज्य की स्थापना की जाय, और उस पर ब्रिटेन का आधिपत्य किसी भी रूप में कायम रहे। सूडान की जनता को न आंशिक स्वराज्य स्वीकार्य था, और न ईजिप्ट के साथ मिलकर एक संघ-राज्य का निर्माण। वह यही चाहती थी, कि सूडान एक पृथक् राज्य हो, और उसकी स्थिति एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की रहे। १६ अगस्त, १९५५ के दिन वहां की पार्लियामेंट (जिसका चुनाव सूडान कमीशन के सुझावों के अनुसार ७ दिसम्बर, १९५३ को हुआ था) ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया, कि सब विदेशी—ब्रिटेन और ईजिप्ट दोनों की – सेनाएं सूडान से हटा ली जाएं। कुछ दिन बाद पार्लियामैन्ट के दोनों सदनों ने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया, कि सूडान को एक सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त हो। अब स्थिति यह थी, कि ब्रिटेन और ईजिप्ट दोनों ने ही यह भली भांति समझ लिया था, कि सूडान पर अपने आधिपत्य को जारी रख सकना असम्भव है। उन्होंने अपनी सेनाएं वहां से हटा लीं, और १ जनवरी, १९५६ को सूडान पूर्ण रूप से स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बन गया।

ब्रिटेन और ईजिप्ट दोनों ने सूडान की स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया, और स्वतन्त्र सूडान का प्रथम प्रधानमन्त्री सैयद इस्माईल अल अझरी बना, जो वहां के संयुक्त राष्ट्रीय दल (नेशनल यूनियनिस्ट पार्टी) का प्रधान नेता था। १९ जनवरी, १९५६ को सूडान अरब लीग का सदस्य बन गया, और १२ नवम्बर, १९५६ को संयुक्त राष्ट्र-संघ का। १९५६ में स्वेज के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर ईजिप्ट में जब संकट उपस्थित हुआ, तो अन्य अरब राज्यों के समान सूडान की सहानुभूति भी ईजिप्ट के साथ थी। इसीलिये वहां ईजिप्ट की सहायता के लिए एक स्वयं सेवक सेना का संगठन किया गया, और वहां की सरकार ने यह आज्ञा जारी की, कि फ्रांस और ब्रिटेन के जंगी हवाई जहाज सूडान के हवाई अड्डों का प्रयोग न कर सकें। पर सीरिया आदि के समान इस अवसर पर सूडान ने ब्रिटेन और फ्रांस के साथ अपने सम्बन्धों का विच्छेद नहीं किया। अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के मामले में सूडान ने भी तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। इसीलिए वह न बगदाद पैक्ट में शामिल हुआ, और न उसने आइजनहावर सिद्धान्त के अधीन अमेरिका से आर्थिक एवं सैनिक सहायता लेना ही स्वीकार किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईजिप्ट और सूडान के पारस्परिक सम्बन्धों के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या नील नदी के जल की थी। अस्वान डाम का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। ईजिप्ट इस डाम का निर्माण इस प्रयोजन से करना चाहता था, ताकि नील नदी के जल का उपयोग सिंचाई और विद्युत्शक्ति के उत्पादन के लिए कर सके। पर इस डाम के कारण सूडान के हितों में बाधा उपस्थित हो सकती थी, क्योंकि उसके लिए भी नील नदी के जल का बहुत महत्त्व है। जून, १६५७ में सूडान और ईजिप्ट की सरकारों ने इस मामले के सम्बन्ध में समझौते की बातचीत शुरू की। यह बातचीत सफल हुई, और दोनों देश एक ऐसी व्यवस्था को स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गये, जिसके द्वारा दोनों ही नील नदी के जल से लाभ उठा सकते हैं।

(६) ईराक की राजनीति

द्वितीय महायुद्ध के काल में रशीद अली के नेतृत्व में ईराक ने किस प्रकार जर्मन पक्ष का साथ देने का प्रयत्न किया, और मित्र-राज्यों ने किस प्रकार इस प्रयत्न को सफल नहीं होने दिया, इस विषय पर पिछले एक अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है। रशीद अली के पतन के बाद ईराक की सरकार महायुद्ध में ब्रिटेन और उसके साथियों की सहायता करती रही, और जनवरी, १६४३ में ईराक बाकायदा मित्र-पक्ष में शामिल हो हो गया। महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी ईराक पर ब्रिटेन का सैनिक प्रभाव कायम रहा, पर १६५५ की सन्धि द्वारा ब्रिटेन ने यह स्वीकार कर लिया कि ईराक से ब्रिटिश सेनाएं हटा ली जायेंगी, यद्यपि युद्ध के समय या उसकी आशंका होने पर ये दोनों देश एक दूसरे की सहायता करेंगे। १६५५ की इस सन्धि पर भी हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं।

१६५५ तक ईराक ब्रिटेन के सैनिक प्रभाव से भी मुक्ति पा चुका था, यद्यपि राजनीतिक स्वतन्त्रता उस ने १६३२ में प्राप्त कर ली थी, जबकि उसे राष्ट्रसंघ में भी प्रवेश प्राप्त हो गया था। शासन की दृष्टि से ईराक राजतन्त्र था, और हशमी वंश के राजाओं का वहां वंशक्रमानुगत शासन था। १६३६ में वहां की राजगद्दी पर फैजल द्वितीय आरूढ़ हुआ था, जो द्वितीय महायुद्ध के बाद के काल में भी अपने पद पर रहा। पर राज्यकार्य में राजा की सहायता करने के लिए ईराक में पार्लियामैन्ट भी विद्यमान थी, जिसके दो सदन थे, सीनेट और प्रतिनिधि सभा। सीनेट के सदस्य राजा द्वारा मनोनीत किये जाते थे, और प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को जनता चुना करती थी। प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राजा किया करता था, और मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य भी प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राजा द्वारा ही नियुक्त होते थे। इस प्रकार ऊपर से देखने पर यद्यपि ईराक में वैध राजतन्त्र की सत्ता थी, पर वस्तुतः वहां के शासन पर जागीरदार वर्ग का प्रभुत्व था। ईराक की कुल कृषियोग्य भूमि का दो तिहाई से भी अधिक भाग जागीरदारों (शेखों) के स्वत्व में था, जो अशिक्षित किसानों को अपने प्रभाव में लाकर अपने उम्मीदवारों को प्रतिनिधि सभा में चुनवा सकने की स्थिति में थे। पर नई शिक्षा के कारण ईराक में एक ऐसे वर्ग का भी विकास हो गया था, जो इस स्थिति से असंतुष्ट था, और सच्चे लोकतन्त्र शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन करने में तत्पर था। इस वर्ग का कार्य बहुत कठिन था। अशिक्षित तथा गरीब जनता जागीरदारों और महाजनों के प्रभाव में सुगमता से आ जाती है, और उन्हीं के इशारे पर अपने वोट का प्रयोग करती है। इस कारण वैध व शान्तिमय उपायों से शासन में सुधार कर सकना कठिन मान कर ईराक का प्रगतिशील वर्ग समाजवाद की ओर झुकने लगा, और वहां भी अनेक ऐसी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पार्टियों का संगठन शुरू हुआ, जो सरकार का विरोध करने के लिए सब प्रकार के उपायों का अवलम्बन करने में तत्पर थीं। इसी लिए जुलाई, १६५८ में ईराक में राज्यक्रान्ति हो गई, जिसके कारण उस देश से न केवल जागीरदारों तथा महाजनों के विकृत शासन का अन्त हुआ, अपितु राजसत्ता की भी समाप्ति हो गई।

इस राज्यक्रान्ति पर हम सैंतालीसवें अध्याय में प्रकाश डालेंगे, पर द्वितीय महा-युद्ध के बाद (१६४५) से राज्यक्रान्ति (१६५८) तक के बीच के काल के ईराकी इतिहास की कुछ प्रवृत्तियों का यहां उल्लेख करना उपयोगी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ईराक ने उस मार्ग का अनुसरण नहीं किया, जिसे ईजिप्ट, सीरिया और सौदी अरेबिया आदि अन्य अरब राज्यों ने अपनाया था। वहां की सरकार तटस्थता की नीति की समर्थक न होकर लोकतन्त्रवादी पाश्चात्य राज्यों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करने की पक्ष-पाती थी। सोवियत रूस के प्रभाव का पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में प्रसार न होने पाए, इस प्रयोजन से उसने पड़ौस के राज्यों से अनेक सन्धियां कीं। ऐसी पहली सन्धि १६४७ में की गई, जिसमें ईराक, तुर्की और जोर्डन शामिल हुए। इसका प्रयोजन कम्युनिज्म का मुकाबिला करने के लिए परस्पर मिलकर कार्य करना था। कम्युनिज्म के विरोध के कारण ही ईराक ने २४ फरवरी, १६५५ के दिन तुर्की के साथ एक पैक्ट किया, जो बगदाद पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में पाकिस्तान, ईरान और ब्रिटेन भी इस पैक्ट में शामिल हो गये, और इसका क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया। बगदाद पैक्ट द्वारा ब्रिटेन, तुर्की आदि कम्युनिस्ट-विरोधी राज्यों के साथ परस्पर सहायता करने का समझौता कर लेने के कारण ही ४ एप्रिल, १६५५ को ईराक ने ब्रिटेन के साथ एक नई सन्धि की, जिसके अनुसार ब्रिटेन ने अपनी सब सेनाएं ईराक से हटा लीं, अपने द्वारा अधिकृत हवाई अड्डे ईराकी सरकार के सुपुर्द कर दिये, और ईराक से यह अधिकार प्राप्त कर लिया कि युद्ध या युद्ध की आशंका के समय ब्रिटेन अपनी सेनाएं ईराक में ला सकेगा। बगदाद पैक्ट और ४ एप्रिल, १६५५ की सन्धि द्वारा ईराक अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में पूर्णतया ब्रिटेन के गुट में शामिल हो गया था, और तटस्थता की नीति का उसकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं रहा था।

ब्रिटेन के समान अमेरिका से भी ईराक के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ एवं मैत्रीपूर्ण थे। ईराक के तेलकूपों से तेल निकालने के लिए जो कम्पनियां स्थापित थीं, उनमें अमेरिकन पूंजी भी बहुत बड़ी मात्रा में लगी हुई थी। इसलिए अमेरिका का यह यत्न रहता था, कि ईराक में केवल ऐसी सरकार ही कायम रहे जो उनके अनुकूल हो, और जिसकी नीति कम्युनिज्म के विरुद्ध हो। बगदाद पैक्ट से अमेरिका बहुत प्रसन्न था। यद्यपि वह स्वयं इसमें शामिल नहीं हुआ, पर उस द्वारा स्थापित सैनिक कमेटी में सम्मिलित होकर अमेरिका ने इस पैक्ट के साथ पूर्ण सहयोग किया। १६५७ में जब अमेरिका ने आइजन-हावर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, तो ईराक ने उससे भी अपनी सहमति प्रगट की।

जहां तक अरब राज्यों की राजनीति का सम्बन्ध है, ईराक की नीति ईजिप्ट और सीरिया के अनुकूल नहीं थी। सितम्बर, १६४४ की कैरो कान्फरेन्स द्वारा जब अरब लीग की स्थापना की गई, तो ईराक भी उसमें शामिल हो गया, क्योंकि अरबों की राष्ट्रीय एकता का वह भी समर्थक था। पैलेस्टाइन में जब यहूदियों और अरबों में युद्ध प्रारम्भ हुआ, तो ईराक ने भी इस युद्ध में उत्साहपूर्वक पैलेस्टाइन के अरबों की सहायता की। स्वेज के राष्ट्रीयकरण का भी वह विरोध नहीं कर सका, और ब्रिटिश और फ्रेञ्च सेनाओं के ईजिप्ट पर आक्रमण के कारण उसने फ्रांस से अपने सम्बन्ध का भी विच्छेद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर लिया, यद्यपि ब्रिटेन के साथ अपने सम्बन्धों को उसने इस अवसर पर भी विच्छिन्न नहीं किया। पर स्वेज के संकट का अन्त हो जाने के बाद ईराक की नीति ईजिप्ट और सीरिया से बहुत भिन्न होती गई। ईजिप्ट का यह यत्न था, कि विविध अरब राज्य परस्पर मिल एक संघ का निर्माण कर लें, ताकि एक सुसंगठित एवं विशाल अरब राज्य का निर्माण हो सके। सीरिया उसकी इस नीति से सहमत था। पर ईराक न केवल इसके लिये सहमत ही नहीं हुआ, अपितु उसने इसका विरोध भी किया। इसी कारण ईजिप्ट और ईराक के सम्बन्ध अधिक-अधिक कटु होते गये। यही दशा सीरिया, जोर्डन आदि अन्य अरब राज्यों के सम्बन्ध में हुई। पर यह ध्यान में रखना चाहिये, कि ईराक में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो ईजिप्ट की प्रवृत्तियों के समर्थक थे, और नासिर के नेतृत्व में अरब राष्ट्रीय भावना जिस ढंग से जोर पकड़ती जा रही थी, उसे सर्वथा उचित समझते थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छयालीसवां अध्याय

ईरान और तुर्की की आधुनिक राजनीति

(१) ईरान द्वारा तेल-क्षेत्रों के राष्ट्रीयकरण का प्रयत्न

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद पश्चिमी एशिया के विविध अरब राज्यों के इतिहास में कौन-सी महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं, और उनकी अन्तर्राष्ट्रीय तथा आन्तरिक राजनीति ने क्या रुख ग्रहण किया, इस पर प्रकाश डाल चुकने के अनन्तर अब यह उपयोगी होगा कि ईरान और तुर्की की राजनीतिक प्रगति का भी उल्लेख किया जाय।

महायुद्ध के समय में और उसके तत्काल बाद ईरान के विविध प्रदेशों पर अपने प्रभाव की स्थापना के लिये ब्रिटेन और रूस में जो संघर्ष हुआ, उसका उल्लेख इस ग्रन्थ में पहले किया जा चुका है। १९४६ तक ईरान पर रूस का प्रभाव बहुत कुछ कम हो गया था, और कम्युनिस्ट विचारों का अनुसरण करने वाली तुदेह पार्टी भी वहां बहुत निर्बल हो गई थी। राष्ट्रीयता की भावना ईरान में बहुत जोर पकड़ने लगी थी, जिसके कारण वहां न रूसी सेनाओं के लिये रह सकना सम्भव रह गया था, और न ब्रिटिश सेनाओं के लिये। १९४७ तक ईरान में कोई भी विदेशी सेना नहीं रही थी, और वहां की सरकार विदेशी सैनिक प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो गई थी।

पर ईरान के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में पूर्णतया तटस्थ रह सके। उसकी उत्तरी सीमा रूस के साथ लगती थी, और यह शक्तिशाली देश ईरान को अपने प्रभाव में लाने की नीति का परित्याग नहीं कर सकता था। जारशाही के समय से रूस ईरान में अपने प्रभाव के प्रसार के लिये तत्पर था, और कम्युनिस्ट व्यवस्था के स्थापित हो जाने के बाद भी रूस की इस नीति में परिवर्तन नहीं हुआ था। दक्षिणी ईरान के तेलकूपों से तेल निकालने के सम्बन्ध में जो अधिकार ब्रिटिश पूंजीपतियों ने प्राप्त किये हुए थे, उनके कारण ब्रिटिश सरकार भी इस बात के लिये प्रयत्नशील थी कि ईरान उसके प्रभाव में रहे। ईरान की भौगोलिक स्थिति भी ऐसी थी, जिसके कारण ब्रिटेन उसे अपना स्वाभाविक प्रभावक्षेत्र मानता था। पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों के तेलकूपों से तेल निकालने का अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण वह इस क्षेत्र के विविध राज्यों को अपने प्रभाव में ले आने के लिये भी उत्सुक था। द्वितीय महायुद्ध के बाद संसार में सर्वत्र कम्युनिस्ट और अमेरिकन गुटों में संघर्ष प्रारम्भ हो गया था, अतः अमेरिका का यह प्रयत्न था कि रूस की दक्षिणी सीमा पर स्थित तुर्की, ईरान तथा पाकिस्तान आदि राज्यों को अपने प्रभाव में ले आये, ताकि ये देश कम्युनिज्म की बढ़ती हुई शक्ति को रोक सकने में सहायक हो सकें। इसी नीति का अनुसरण कर १९४७ में अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था, जिसे उसी के नाम से 'ट्रूमैन सिद्धान्त' कहते हैं। इसके अनुसार अमेरिका ने मुनरो सिद्धान्त (१८२३) के समय से चली आयी अन्य देशों के मामलों में हस्तक्षेप न करने की अपनी नीति का परित्याग कर यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया, कि विश्व में जहां कहीं भी शान्ति को भंग करने वाला कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमणात्मक कार्य होगा, उसे अमेरिका अपनी सुरक्षा के लिए घातक समझेगा, और उसके निवारण के लिये अपनी शक्ति का प्रयोग करेगा। अमेरिका की दृष्टि में इस समय कम्युनिस्ट रूस की प्रवृत्तियां शान्ति के लिये विघातक थीं, और अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म को वह विश्व-शान्ति के लिये एक भारी खतरा समझता था। इसी लिये ट्रूमैन सिद्धान्त द्वारा उसने यह निर्णय किया, कि रूस की सीमा पर स्थित देशों को कम्युनिज्म के खतरे से बचाने के लिये उनके साथ ऐसे समझौते किये जाएं, जिनके द्वारा वे अमेरिका से आर्थिक सहायता प्राप्त कर अपनी उन्नति कर सकें, और साथ ही कम्युनिज्म के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबिला करने के लिए अमेरिका की सैनिक सहायता का भरोसा भी कर सकें। इस सिद्धान्त का प्रयोग कर सबसे पहले ग्रीस और तुर्की को सहायता दी गई, और फिर ईरान को (६ अक्टूबर, १९४७)। इस सिद्धान्त के अनुसार सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध में जो समझौता ईरान के साथ किया गया, उसके द्वारा यहतय हुआ कि ईरान की सैनिक क्षमता में वृद्धि करने के लिए वहां एक अमेरिकन सैनिक मिशन की स्थापना की जायगी, जो ईरानी युद्ध-मन्त्री के साथ सहयोग करेगा, और ईरान की सैन्य-शक्ति का विकास करेगा। साथ ही, इस समझौते द्वारा ईरान ने यह भी स्वीकार किया, कि अमेरिकन सरकार की अनुमति के बिना ईरान किसी अन्य देश के सैनिक अफसरों या विशेषज्ञों को अपनी सेना के लिये नियुक्त नहीं करेगा। रूस ने इस समझौते का घोर विरोध किया। उसने कहा, कि इस समझौते द्वारा ईरान पर अमेरिका का सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो जाता है, और इसका एकमात्र प्रयोजन रूस के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की तैयारी करना ही है। ईरान में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो इस समझौते को अपने देश की स्वतन्त्रता के लिये घातक समझते थे। तुदेह पार्टी इसका विरोध करने में तत्पर थी। सम्भवतः, इसी विरोध-भावना का यह परिणाम हुआ, कि १९४८ में ईरान के राजा पर गोली चलायी गई, और उसकी हत्या का प्रयत्न किया गया। इसके लिये तुदेह पार्टी को दोषी ठहराया गया, उसे गैर-कानूनी घोषित करके उसके बहुत-से नेताओं को गिरारफ्तार कर लिया गया, और उन्हें कठोर दण्ड दिये गये।

पर तुदेह पार्टी के अतिरिक्त ईरान में अन्य भी अनेक ऐसे दल थे, जो अपने देश में अमेरिका के बढ़ते हुए प्रभाव से चिन्तित थे। ये अनुभव करते थे, कि तेलकूपों पर विदेशी कम्पनियों का स्वत्त्व ईरान की स्वतन्त्रता के लिए विघातक है। रायल्टी के रूप में जो धनराशि इन कम्पनियों द्वारा ईरान को दी जाती है, वह बहुत कम है। १९४६ में रूस ने यह प्रयत्न किया था, कि उत्तरी ईरान में तेल की तलाश और तेल निकालने का कार्य ईरानी-सोवियत कम्पनी के सुपुर्द कर दिया जाए। कवाम सुलतानेह के मन्त्रि-मण्डल ने इसे स्वीकार भी कर लिया था (एप्रिल, १९४६)। पर ईरान की पार्लियामैन्ट (मजलिस) ने इसके लिये अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दिया था। इसका कारण यह नहीं था, कि ईरान के लोगों को रूस से कोई विशेष विरोध था। वे तो यह चाहते थे, कि दक्षिणी ईरान में एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी को तेल निकालने के सम्बन्ध में जो अधिकार प्राप्त हैं, उनका भी अन्त कर दिया जाए। वस्तुतः, निरन्तर बढ़ती हुई राष्ट्रीय भावना के कारण ईरानी लोगों को यह बिल्कुल पसन्द नहीं था, कि विदेशी पूंजीपति ईरान को नाममात्र की रायल्टी प्रदान कर स्वयं अपार मुनाफा प्राप्त करते रहें। इसे वे अपने देश का शोषण समझते थे। उनका कहना था, कि ईरान की आर्थिक दुर्दशा का प्रधान कारण विदेशियों द्वारा उसके तेलक्षेत्रों का शोषण ही है। तेलकूपों पर आधिपत्य के कारण विदेशियों को ईरान के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का भी अवसर मिलता है, और हमारा देश विदेशी राज्यों के प्रभाव में आता जाता है। ईरान की यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावना विशुद्ध रूप से राष्ट्रीय ही नहीं थी, अपितु धर्म का भी उस पर प्रभाव था। ईरान की जनता इस्लाम के शिया सम्प्रदाय की अनुयायी है। उस पर शिया धर्माचार्यों (मुल्ला मौलवियों) का बहुत प्रभाव था। जिस समय ईरान में रूस के सम्पर्क के कारण कम्युनिज्म का प्रसार होने लगा था और तुदेह पार्टी के रूप में एक कम्युनिस्ट संगठन भी वहां कायम हो गया था, तो मुल्लाओं ने इसके विरुद्ध आवाज उठायी थी, और यह यत्न किया था कि ईरान की सरकार शरायत का अनुसरण करती हुई कम्युनिज्म के नास्तिक प्रभावों से बची रहे। इसी कारण वहां 'फेदयाने-इस्लाम' नाम से एक दल का संगठन हो गया था, जो जहां एक ओर ईरान को इस्लाम के धार्मिक प्रभाव में रखने का पक्षपाती था, वहां साथ ही उग्ररूप से राष्ट्रवादी भी था। तुदेह पार्टी गैर-कानूनी घोषित की जा चुकी थी, जिसके कारण ईरान पर रूसी प्रभाव में कमी आ गई थी। इस दशा में फेदयाने-इस्लाम ने एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के आर्थिक प्रभुत्व का भी विरोध करना शुरू किया, और इसी पार्टी के एक सदस्य ने मार्च, १९५१ में ईरान के प्रधानमन्त्री जनरल रजमरा की हत्या कर दी। १० दिसम्बर, १९५० को ईरानी पार्लियामैन्ट द्वारा अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत कर देने के कारण पुराने प्रधानमन्त्री कवाम अस सुल्तानेह ने त्यागपत्र दे दिया था, और उसके स्थान पर जनरल रजमरा नया प्रधानमन्त्री बना था। रजमरा इस प्रयत्न में था, कि एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी से प्राप्त होने वाली रायल्टी की दर को बढ़वाकर उससे एक ऐसा समझौता कर ले, जिससे जहां सरकारी आमदनी में वृद्धि हो, वहां साथ ही ईरानी लोगों को राष्ट्रीय दृष्टि से भी संतोष हो। पर फेदयाने-इस्लाम जैसी पार्टी के लोग विदेशियों से किसी भी प्रकार के समझौते के विरुद्ध थे। न केवल इस धार्मिक-राजनीतिक दल के अनुयायियों का ही, अपितु अन्य राष्ट्रवादी दलों का भी इस समय यही प्रयत्न था, कि एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के सब तेलकूपों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाए, और उनसे तेल निकालने का कार्य भविष्य में ईरानी सरकार द्वारा ही किया जाया करे। इस आन्दोलन के प्रधान नेता डॉ० मुसादिक थे। रूस ने जब उत्तरी ईरान में तेल की तलाश और तेल निकालने के सम्बन्ध में अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न किया था (१९४४), और मन्त्रिमण्डल ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया था, तो डॉ० मुसादिक के विरोध के कारण ही वह मजलिस में स्वीकृत नहीं हो सका था। पर डॉ० मुसादिक को रूस से कोई विशेष विरोध नहीं था। उनका यह मत था, कि ईरान के किसी भी तेलकूप पर किसी भी विदेशी कम्पनी का अधिकार नहीं रहना चाहिए। इसीलिये उन्होंने मजलिस में यह प्रस्ताव भी पेश किया था, कि ईरान के तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण कर लिया जाए। जनरल रजमरा की हत्या के समय ईरान में राष्ट्रीय भावना इतनी प्रबल थी, और विदेशी कम्पनियों के प्रति विरोध की प्रवृत्ति इतनी बढ़ चुकी थी, कि एप्रिल, १९५१ में मजलिस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार भी कर लिया।

मई, १९५१ में मुसादिक ही ईरान के नये प्रधानमन्त्री बने। अब उन्हें यह अवसर मिला, कि अपने विचारों को क्रियान्वित करने के लिये सक्रिय पग उठा सकें। एप्रिल, १९५१ में ईरानी पार्लियामैन्ट (मजलिस) द्वारा 'ईरानी तेल राष्ट्रीयकरण कानून' स्वीकृत किया जा चुका था, और शाह द्वारा उसे स्वीकृति भी प्राप्त हो गई थी। यह स्वाभाविक था, कि ब्रिटिश सरकार इस कानून का विरोध करे। उसने इसके विरोध में ईरानी सरकार की सेवा में अनेक आवेदन किये, और उससे अनुरोध किया कि इस मामले का फैसला पंच-निर्णय द्वारा कराया जाए। उसका कहना था, कि १९३३ में ईरान और ब्रिटेन के बीच किये गये समझौते के अनुसार इस प्रश्न का निर्णय मध्यस्थ द्वारा ही कराया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाना उचित है। पर डॉ० मुसादिक इससे सहमत नहीं हुए। ब्रिटिश सरकार को उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा, कि "यह सही है, कि समझौतों की स्थिति एक कानून के समान होती है, पर उनके कारण राज्यों की सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्नता के अधिकारों का अन्त नहीं हो जाता, और उनके प्रयोग को रोका नहीं जा सकता। एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के कार्यों और बरताव से ईरान की जनता में घोर असंतोष है। इस असंतोष को तभी दूर किया जा सकता है, जबकि 'ईरानी तेल राष्ट्रीयकरण कानून' को क्रियान्वित किया जाए।" ईरानी सरकार के रुख के कारण एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के लिये ईरान के तेल-क्षेत्रों में अपने कार्य को जारी रख सकना असम्भव था। कम्पनी के ईरानी कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी थी, और कतिपय उग्र राष्ट्रवादी लोग तोड़-फोड़ एवं हिंसात्मक कार्यों पर भी उतर आये थे। इस दशा में अक्टूबर, १९५१ तक एंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी ने अपने सब अंग्रेज और अन्य विदेशी कर्मचारियों को ईरान से वापस बुला लिया, और वहां अपने कार्य को बन्द कर दिया। डॉ० मुसादिक की सरकार ने 'ईरानियन नेशनल आयल कम्पनी' के नाम से एक नई कम्पनी का संगठन किया, और इसने सब तेलकूपों को अपने अधिकार में लेकर उनसे तेल निकालने का कार्य प्रारम्भ कर दिया।

पर इस समय में ब्रिटेन चुप नहीं बैठा था। पहले उसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court) के सम्मुख अपील की। पर जब ईरान ने यह घोषित कर दिया, कि वह अपने को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को मानने के लिये बाध्य नहीं समझता, तो ब्रिटेन ने यह मामला संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के समक्ष पेश किया। १९ अक्टूबर, १९५१ के दिन सुरक्षा परिषद् ने यह निर्णय किया, कि जब तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अपनी ओर से कोई फैसला न कर दे, इस मामले पर विचार को स्थगित रखा जाए। २२ जुलाई, १९५२ को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने बहुमत से यह फैसला दिया, कि यह मामला उसके अधिकार-क्षेत्र से बाहर है, क्योंकि १९३३ का समझौता ऐंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी और ईरानी सरकार के बीच में हुआ था, दो सरकारों के बीच में नहीं। यह एक ऐसा समझौता है, जिसके द्वारा एक प्राइवेट कम्पनी को कतिपय सुविधाएं एवं विशेषाधिकार दिये गये थे। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय केवल राज्यों और राज्य-सरकारों के विवादों का ही निर्णय कर सकता है।

अगस्त, १९५१ से फरवरी, १९५३ तक ईरान के तेलकूपों के मामले को आपसी समझौते द्वारा सुलझाने के लिए प्रयत्न जारी रहे। अमेरिकन सरकार ने भी इन प्रयत्नों में हाथ बटाया, पर डॉ० मुसादिक टस से मस नहीं हुआ। वह कहता था, कि ऐंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी के तेलकूपों के राष्ट्रीयकरण का फैसला अन्तिम रूप से हो चुका है, और उसमें किसी भी प्रकार का संशोधन सम्भव नहीं है। पर ब्रिटिश सरकार भी झुकने के लिये तैयार नहीं थी। उसने यह निर्णय किया, कि ईरान के तेल को कहीं बाहर नहीं जाने दिया जायेगा। इस समय तक ईरानी तेल को मुख्यतया ब्रिटेन ही खरीदता था, और उसे अपने जहाजी बेड़े के लिये उपयोग में लाता था। अब उसने न केवल स्वयं ईरान से तेल खरीदना बन्द कर दिया, अपितु यह भी घोषित किया, कि ईरान का तेल कहीं बाहर नहीं जाने दिया जायेगा। अपने जंगी जहाजी बेड़े के कारण ब्रिटेन इस स्थिति में था, कि यदि कोई जहाज ईरान से तेल लेकर कहीं अन्यत्र जाना चाहे, तो उसे ऐसा करने से रोक सके। परिणाम यह हुआ, कि ईरान के तेल की बिक्री बन्द हो गई। डॉ० मुसादिक को यह आशा थी, कि तेल-कूपों के राष्ट्रीयकरण से सरकारी आमदनी में बहुत वृद्धि हो जायगी। पर जब ईरानी तेल का बिक सकना ही संभव नहीं रहा, तो सरकारी आमदनी में पहले की तुलना में भी कमी आ गई। ब्रिटेन ने यह भी यत्न किया, कि शाह और उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के दरबारियों पर जोर डालकर और डॉ० मुसादिक के विरोधी राजनीतिक नेताओं को अपने पक्ष में करके उसे अपदस्थ करवा दिया जाए। ब्रिटेन के प्रचार और आर्थिक सहायता के कारण ईरान में ऐसे लोग जोर पकड़ने लगे, जो डॉ० मुसादिक के विरोधी थे। इसी कारण अनेक स्थानों पर दंगे भी हुए, और डॉ० मुसादिक अपनी नीति के समर्थन के लिये तुदेह पार्टी की ओर झुकने लगा। यह पार्टी समाजवादी मन्तव्यों की अनुयायी थी, और स्वाभाविक रूप से तेलकूपों के राष्ट्रीयकरण की समर्थक थी। तेलकूपों के राष्ट्रीयकरण और ब्रिटिश सरकार की अनेकविध कार्यवाहियों के कारण ईरान की स्थिति इस समय इतनी बिगड़ गई थी, कि डॉ० मुसादिक ने मजलिस के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया, कि हमें छः मास के लिए आर्थिक, प्रशासन-विषयक, सेना-सम्बन्धी और आय-व्यय सम्बन्धी सब अधिकार प्रदान किये जाएं। अगस्त, १९५२ में मजलिस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, जिसके कारण छः मास की अवधि के लिये डॉ० मुसादिक की स्थिति एक डिक्टेटर के समान हो गई। छः मास के समाप्त हो जाने पर मजलिस ने इन अधिकारों की अवधि को अगले छः मासों के लिये फिर बढ़ा दिया, और इस प्रकार पूरे एक वर्ष तक डॉ० मुसादिक ने सब शासन-शक्ति अपने हाथों में लेकर ब्रिटेन का मुकाबिला करने का प्रयत्न किया।

पर उसका कार्य सुगम नहीं था। यद्यपि जनता उसके साथ थी, पर ईरान में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो तुदेह पार्टी और समाजवादी प्रवृत्तियों की निरन्तर बढ़ती हुई शक्ति से चिन्तित थे। ब्रिटिश सरकार अपने प्रचार-कार्य और आर्थिक अनुदान द्वारा इन लोगों को डॉ० मुसादिक के विरुद्ध भड़काने में तत्पर थी। पार्लियामैन्ट के दोनों सदनों (सीनेट और मजलिस) में भी इन लोगों का जोर निरन्तर बढ़ रहा था। इस दशा में डॉ० मुसादिक ने लोकमत लेकर मजलिस को अनिश्चित काल के लिए भंग कर दिया, जिससे ईरान के राजनीतिक दलों और नेताओं को बहुत असंतोष हुआ। ब्रिटेन के प्रति अपने विरोध को प्रदर्शित करने के लिये डॉ० मुसादिक ने ब्रिटिश सरकार से ईरान के सम्बन्ध का भी विच्छेद कर दिया, जिससे ब्रिटिश राजदूत को तेहरान छोड़कर अपने देश वापस चले जाने के लिये विवश होना पड़ा।

ईरान का शाह मुहम्मद रजा डॉ० मुसादिक के इन कार्यों से सहमत नहीं था। राजदरबार के लोग उसे अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करने के लिये उकसा रहे थे। असंतुष्ट राजनीतिक नेता और ब्रिटिश प्रोपेगेन्डा से प्रभावित लोग भी डॉ० मुसादिक के विरुद्ध कार्रवाई के लिये उत्सुक थे। परिणाम यह हुआ, कि १३ अगस्त, १९५३ के दिन शाह ने मुसादिक को पदच्युत कर जनरल जहदी को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त करने की घोषणा कर दी। पर मुसादिक इसे स्वीकृत करने के लिए तैयार नहीं हुआ। जनता उसकी समर्थक थी, और सेना में भी उसके अनुयायियों की कमी नहीं थी। इस दशा में शाह मुहम्मद रजा ने अपनी रानी के साथ ईरान छोड़कर रोम में आश्रय लिया, और डॉ० मुसादिक पूर्ववत् कार्य करता रहा। पर जनरल जहदी ने डटकर उसका मुकाबिला किया, और अपनी सेना का प्रयोग कर मुसादिक तथा उसके साथियों को गिरफ्तार कर लिया (१९ अगस्त, १९५३)। शाह फिर ईरान वापस लौट आया, और मुसादिक तथा उनके साथियों पर मुकदमे चलाये गये। मुसादिक की सरकार में हुसैन फतेमी परराष्ट्र-सचिव के पद पर नियत था। उसे फांसी की सजा दी गई, और मुसादिक को तीन साल के कारावास की।

अब ईरान की राजशक्ति शाह मुहम्मद रजा और जनरल जहदी के हाथों में आ गई थी। वे समाजवादी प्रवृत्तियों के भी विरोधी थे। इसीलिए अब तुदेह पार्टी को गैर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानूनी करार दे दिया गया, और उसके बहुत-से नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया (जनवरी, १९५४)। इन पर मुकदमे चलाये गये, और इन्हें कड़ी सजाएं दी गई। जिन सैनिकों और अफसरों ने डॉ० मुसादिक का साथ दिया था, उन्हें भी बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया गया। सरकार ने कहा, कि इन्होंने शाह के शासन का अन्त कर ईरान में सोवियत ढंग की रिपब्लिक को स्थापित करने के लिए षड्यन्त्र किया था। अदालत ने ५० सैनिक अफसरों को प्राण-दण्ड की सजा दी, यद्यपि बाद में उनमें से कुछ की सजा को घटा कर आजन्म कारावास में परिवर्तित कर दिया गया। फेदयाने-इस्लाम ने उग्र राष्ट्रीय विचारों के कारण डॉ० मुसादिक का समर्थन किया था, अतः यह संगठन भी जनरल जहदी के कोप का शिकार बना, और इसके भी बहुत-से नेता गिरफ्तार किये गये।

जनरल जहदी की सरकार जहां ईरान में अपने विरोधियों का दमन करने में तत्पर हुई, वहां अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी उसने एक ऐसे मार्ग का अनुसरण किया, जो डॉ० मुसादिक की नीति के विपरीत था। ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध को फिर से स्थापित किया गया, जिसके कारण ब्रिटिश राजदूत की तेहरान में नियुक्ति की गई और ईरानी राजदूत की लण्डन में। तेल की समस्या को हल करने के लिए जनरल जहदी की सरकार ने ब्रिटेन से बातचीत प्रारम्भ की, और शीघ्र ही एक ऐसा समझौता कर लिया, जो दोनों पक्षों को स्वीकार्य था (अगस्त, १९५४)। इस समझौते में ब्रिटेन के अतिरिक्त अमेरिका, हालैण्ड और फ्रांस को भी शामिल किया गया, क्योंकि १९२५ से १९४४ तक के काल में इन देशों की कम्पनियों ने भी ईरान के कतिपय प्रदेशों में तेल की तलाश और उसे निकालने के अधिकार प्राप्त कर लिये थे। इन सब से समझौता करके तेल के सम्बन्ध में जो नई व्यवस्था ईरानी सरकार ने की, उसे कोन्सोर्टियम (Consortium) कहते हैं। अब ऐंग्लो-ईरानियन आयल कम्पनी आदि सब तेल कम्पनियां इस कोन्सोर्टियम में शामिल हो गई थीं, और उनके हिस्से निम्नलिखित प्रकार से थे—ब्रिटिश ४० प्रतिशत, अमेरिकन ४० प्रतिशत, डच १४ प्रतिशत और फ्रेञ्च ६ प्रतिशत। इन विदेशी कम्पनियों को ईरान के जिन प्रदेशों से तेल निकालने का अधिकार प्रदान किया गया, उनका क्षेत्रफल १,००,००० वर्गमील के लगभग था, और इन अधिकारों की अवधि २५ साल के लिये नियत की गई थी। ईरान को दी जाने वाली रायल्टी की मात्रा में भी इस समझौते द्वारा परिवर्तन किया गया था, जिसके कारण पहले तीन सालों (१९५४-१९५६) में ईरान २०० करोड़ रुपये के लगभग रायल्टी तथा टैक्स आदि के रूप में प्राप्त कर सका था। आशा की जाती थी, कि तेल की अधिक निकासी होने पर इस मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती जायगी, और यह ईरान की सरकारी आमदनी का बहुत महत्त्वपूर्ण साधन बन जायगा।

डॉ० मुसादिक के पतन के बाद ईरान में जो नई सरकार कायम हुई, उसका रुख पूर्णतया ब्रिटेन और अमेरिका के पक्ष में था। इसी कारण उसने तेलकूपों के राष्ट्रीयकरण का अन्त कर ब्रिटेन आदि से समझौता कर लिया, और समाजवादी पार्टियों का दमन करने में विशेष तत्परता दिखाई। इसीलिये ३ नवम्बर, १९५५ को ईरान बगदाद पैक्ट में भी शामिल हो गया। रूस ने इसका बहुत विरोध किया, और इसे अपने लिये अत्यन्त हानिकारक समझा। उसका कहना था, कि बगदाद पैक्ट को स्वीकार कर ईरान एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दी में शामिल हो गया है, जिसका निर्माण रूस का विरोध करने के लिये ही किया गया है। पर ईरान की सरकार इससे सहमत नहीं थी, और यह कहती थी कि अपने देश की आर्थिक दशा को संभालने के लिए ही वह बगदाद पैक्ट में शामिल हुई है। रूस के साथ अपने सम्बन्धों को अधिक कटु न होने देने के लिये फरवरी, १९५६ में शाह मुहम्मद रज़ा ने सोवियत यूनियन की यात्रा भी की। १९५६ में ही ईरानी सरकार ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपने देश के लिये द्वितीय सप्तवर्षीय योजना का निर्माण किया, जिसमें १२०० करोड़ रुपये के लगभग व्यय करने का निश्चय किया गया। पहली सप्तवर्षीय योजना १९४८ में बनायी गई थी, जिसमें २१० करोड़ रुपये के लगभग खर्च किया गया था। अपने देश की आर्थिक समृद्धि के लिए ईरान जो इतनी बड़ी धनराशि को खर्च कर सक रहा है, उसका मुख्य आधार वह आमदनी ही है, जो उसे तेलकूपों द्वारा प्राप्त होती है। अनुमान किया गया है, कि ईरान की सरकार की आमदनी का ३० प्रतिशत और कुल विदेशी विनिमय का ६० प्रतिशत तेल द्वारा ही उसे प्राप्त होता है।

(२) तुर्की की आधुनिक राजनीति

द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ से पूर्व ही तुर्क रिपब्लिक के राष्ट्रपति कमाल पाशा की मृत्यु हो गई थी (१९३८), और उनके स्थान पर इनोनू राष्ट्रपति बने थे। महायुद्ध में तुर्की ने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया, और दोनों पक्षों के साथ ऐसी सन्धियां कीं, जिनके कारण दोनों के प्रति उसके मैत्री-सम्बन्ध कायम रह सके। अक्टूबर, १९३९ में उसने फ्रांस और ब्रिटेन से सन्धि की, और १९४१ में जर्मनी से। इन सन्धियों के कारण महायुद्ध के समय तुर्की दोनों पक्षों के साथ अपने मैत्री-सम्बन्धों को कायम रख सकने में समर्थ रहा। यद्यपि मित्र पक्ष और जर्मन पक्ष-दोनों ही उस पर युद्ध में शामिल हो जाने के लिये जोर डालते रहे, पर तुर्की अपनी उदासीन नीति पर दृढ़ रहा। जब महायुद्ध में मित्र-राज्यों का पक्ष बहुत प्रबल हो गया, और यह स्पष्ट नजर आने लगा कि शीघ्र ही जर्मनी की पराजय के कारण लड़ाई खत्म हो जायगी, तो तुर्की ने भी जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी (२२ फरवरी, १९४५)। तटस्थता की नीति के परित्याग का मुख्य कारण यह था, कि मित्र-पक्ष की ओर से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सान फ्रांसिस्को की कान्फरेन्स (एप्रिल, १९४५) में केवल वही राज्य सम्मिलित हो सकेंगे, जो जर्मनी के पक्ष के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो चुके होंगे। यह कान्फरेन्स महायुद्ध के कारण उत्पन्न हुई अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करने के लिए आयोजित की गई थी, और इसी द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ की योजना तैयार की गई थी।

महायुद्ध की समाप्ति के बाद संसार के विविध राज्य दो गुटों में विभक्त हो गये, जिनके नेता क्रमशः रूस और अमेरिका हैं। रूस के लिए डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्यों का बहुत अधिक महत्व है, क्योंकि रूस से भूमध्यसागर तक पहुंचने वाला जलमार्ग इन्हीं से होकर जाता है। मोन्त्रो के समझौते (एप्रिल, १९३६) के अनुसार तुर्की को यह अधिकार प्राप्त हो गया था, कि वह इन जलडमरूमध्यों के साथ के प्रदेशों पर किलाबन्दी कर सके। इस अधिकार का तुर्की ने उपयोग भी किया था। मोन्त्रो के समझौते की अवधि ९ नवम्बर, १९५६ तक थी। रूस ने यह मांग की, कि नई अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इस समझौते पर पुनर्विचार आवश्यक है (अगस्त, १९४६)। पर तुर्की इससे सहमत नहीं हुआ। इस समय तुर्की का झुकाव अमेरिका आदि पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों की ओर था, और वह कम्युनिज्म के प्रसार से बहुत चिन्तित था। पोलैण्ड, चेकोस्लावाकिया, हंगरी और बल्गारिया आदि यूरोपियन देश कम्युनिस्ट गुट में शामिल हो चुके थे। बालकन प्रायद्वीप में कम्युनिज्म का प्रभाव स्थापित हो जाने के कारण तुर्की के लिए चिन्तित होना स्वाभाविक ही था। इसी कारण उसने रूस की मांग को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। रूस ने इस समय तुर्की से जो मांग की थी, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) डार्डेनल्स और बोस्पोरस के जलडमरूमध्य युद्ध और शान्ति—सब समयों में सब देशों के व्यापारी जहाजों के लिये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुले रहें। (२) ब्लैक सी (काला सागर) के तटवर्ती देशों के जंगी जहाज भी सब दशाओं में इन जलडमरूमध्यों का प्रयोग कर सकें। (३) इन जलडमरूमध्यों के मार्ग के प्रबन्ध में तुर्की के साथ-साथ उन राज्यों का भी हाथ रहे, जो काला सागर के तट पर स्थित हैं। यदि तुर्की इन बातों को स्वीकार कर लेता, तो इन जलडमरूमध्यों पर रूस का भी आधिपत्य स्थापित हो जाता। पर अकेले अपने बल पर तुर्की के लिए रूस की मांग को अस्वीकार कर देना सम्भव नहीं था। अमेरिका ने उसे प्रेरित किया, कि इस मांग को अस्वीकृत कर दे। साथ ही, उसने यह भी आश्वासन दिया कि यदि रूस अपनी मांग को स्वीकार कराने के लिए शक्ति का प्रयोग करेगा, तो अमेरिका सब सम्भव उपायों से तुर्की की सहायता करेगा। ट्रूमैन सिद्धान्त का उल्लेख पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। यह सिद्धान्त अमेरिका द्वारा १९४७ में प्रतिपादित किया गया था। इसके अनुसार अमेरिकन राष्ट्रपति ने यह व्यवस्था की थी, कि रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से बच सकने के लिए ग्रीस को १२३ करोड़ रुपये और तुर्की को ७५ करोड़ रुपये की सहायता दी जाए। यही दोनों देश इस समय ऐसे थे, जिन्हें रूस का सबसे अधिक भय था। पूर्वी यूरोप और बालकन प्रायद्वीप के प्रायः सभी देश इस समय तक अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के प्रभाव में आ चुके थे। इस क्षेत्र में केवल ग्रीस और तुर्की ही ऐसे देश थे, जो इस प्रभाव से मुक्त थे। इसीलिये अमेरिका ने उन्हें भरपूर सहायता देना स्वीकार किया, और इन देशों की सरकारों ने भी अमेरिकन सहायता को प्राप्त करना स्वीकार कर लिया। इस सहायता का स्वरूप विशुद्ध रूप से सैनिक था। इसीलिए जुलाई, १९४७ में अमेरिका की ओर से एक सैनिक मिशन तुर्की भेजा गया, और उसने वहां जाकर तुर्क सेना का नये ढंग से संगठन प्रारम्भ कर दिया। इस समय से अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस आदि पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के साथ तुर्की के सम्बन्ध निरन्तर अधिक-अधिक मैत्रीपूर्ण होते गये, और रूस से वह दूर हटता गया।

इसी कारण तुर्की उन सब अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में भी शामिल हुआ, जिनका संगठन अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म का प्रतिरोध करने के लिये इस समय किया जा रहा था। मई, १९४९ में कौंसिल आफ यूरोप का संगठन किया गया, जिसका अन्यतम सदस्य तुर्की भी था। इससे कुछ समय पूर्व (एप्रिल, १९४९) नार्थ अटलाण्टिक ट्रीटी आर्गनिजेशन (NATO) संगठित किया जा चुका था, जिसका उद्देश्य उत्तरी अटलाण्टिक सागर के क्षेत्र में शान्ति बनाये रखना और परस्पर मिल कर सम्भावित युद्ध को रोकना था। यह संगठन रूस की बढ़ती हुई शक्ति का मुकाबिला करने के लिये ही बनाया गया था। फरवरी, १९५२ में तुर्की भी इस अन्तर्राष्ट्रीय गुट में शामिल हो गया। तुर्की की इच्छा थी, कि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र के लिए नाटो के ढंग का एक पृथक् संगठन बनाया जाए। इस मिडल ईस्ट डिफेन्स आर्गनिजेशन के लिए उसने प्रयत्न भी किया, पर ईजिप्ट के विरोध के कारण उसकी यह योजना सफल नहीं हो सकी। इस दशा में तुर्की की प्रेरणा से नाटो का एक पृथक् विभाग (साउथ-ईस्ट यूरोपियन कमाण्ड) दक्षिण-पूर्वी यूरोप के क्षेत्र के लिये कायम किया गया, जिसका हेडक्वार्टर तुर्की में ही रखा गया। अब तुर्की पूरी तरह से अमेरिकन गुट में शामिल हो गया था, जिसके कारण वह इस बात का भरोसा रख सकता था कि रूस द्वारा आक्रमण किये जाने की दशा में अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस आदि पाश्चात्य राज्यों की सहायता उसे प्राप्त हो सकेगी।

नाटो के सदस्य बन जाने और ट्रूमन सिद्धान्त के अधीन अमेरिकन सहायता प्राप्त कर लेने के कारण तुर्की और ग्रीस के सम्बन्ध भी अब मैत्रीपूर्ण हो गये थे। पर यह स्थिति देर तक नहीं रह सकी। साइप्रस के प्रश्न को लेकर उनके सम्बन्धों में बहुत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटुता आ गई। साइप्रस एक छोटा-सा द्वीप हैं, जिसका क्षेत्रफल ३५७२ वर्ग मील और आबादी ६,८०,००० के लगभग है। भौगोलिक दृष्टि से यह तुर्की से ४० मील पश्चिम में और ग्रीस से २४५ मील दक्षिण में स्थित है। इसकी आबादी में २० प्रतिशत से कुछ अधिक तुर्क हैं, और शेष ग्रीक तथा अन्य जातियों के है। १८७८ में यह द्वीप ब्रिटेन की अधीनता में आ गया था, और इसकी स्थिति ब्रिटेन के एक क्राउन कोलोनी की हो गई थी। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य उपनिवेशों के समान साइप्रस में भी आंशिक स्वराज्य विद्यमान था, पर वहां की जनता पूर्ण स्वाधीनता के लिये प्रयत्नशील थी। १९४७ में जब भारत आदि अनेक देशों ने ब्रिटिश आधिपत्य से स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, तो साइप्रस का स्वातन्त्र्य-आन्दोलन भी बहुत प्रबल हो गया। क्योंकि इस द्वीप के निवासियों की बहुसंख्या ग्रीक जाति की है, अतः वहां के अनेक राजनीतिक दलों की यह मांग थी, कि साइप्रस को ग्रीस के साथ मिला देना ही उचित होगा। जो लोग विरोधी थे, वे भी इस विचार से असहमति प्रकट नहीं करते थे, क्योंकि ब्रिटिश आधिपत्य से मुक्त होने के लिए यही एकमात्र क्रियात्मक उपाय था। साइप्रस के इस स्वातन्त्र्य आन्दोलन के प्रधान नेता आर्कबिशप मकारिओस थे। उनके नेतृत्त्व में साइप्रस की जनता ने जिस ढंग से संघर्ष किया, उसका यहां उल्लेख करना आवश्यक नहीं है। शान्तिमय उपायों से निराश होकर वे हिंसात्मक उपायों पर उतर आये, और साइप्रस में सर्वत्र अशान्ति छा गई।

पर साइप्रस के सब निवासी अपने देश के भविष्य के सम्बन्ध में एकमत नहीं थे। वहां के ग्रीक निवासी यह चाहते थे कि साइप्रस को ग्रीस का अंग बना दिया जाए। वे इस के लिये संघर्ष भी कर रहे थे। पर उसके तुर्क निवासी, जिनकी संख्या कुल आबादी के २० प्रतिशत के लगभग थी—इससे सहमत नहीं थे। उनका कहना था, कि ग्रीस की अपनी राजनीतिक दशा अभी सुव्यवस्थित नहीं हुई है, वहां कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव बढ़ रहा है, और रूस उसे अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के प्रभाव-क्षेत्र में ले आने के लिये प्रयत्नशील है। यदि साइप्रस को ग्रीस के साथ मिला दिया गया, और बाद में वह देश कम्युनिस्ट प्रभाव में चला गया, तो यह बात तुर्की के लिए बहुत हानिकारक होगी, क्योंकि साइप्रस द्वीप तुर्की से केवल ४० मील की दूरी पर स्थित है। तुर्कों ने अपना एक पृथक् संगठन बनाया, और साइप्रस को ग्रीस के साथ मिला देने का विरोध शुरू किया। इस पर साइप्रस के ग्रीक योद्धाओं के राष्ट्रीय संगठन (EOKA) ने तुर्की के विरुद्ध भी हिंसात्मक उपायों का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण साइप्रस की दशा और भी खराब हो गई। अन्त में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया, कि साइप्रस की समस्या को हल करने के लिये लण्डन में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया जाए, जिसमें ब्रिटेन, ग्रीस और तुर्की के प्रतिनिधि शामिल हों। २९ अगस्त, १९५४ को इसके अधिवेशन प्रारम्भ हुए, पर इस कान्फरेन्स में कोई ऐसा निर्णय नहीं हो सका, जो ग्रीस और तुर्की दोनों को स्वीकार्य होता। परिणाम यह हुआ, कि तुर्की और ग्रीस के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत कटु हो गये। साइप्रस में तो ग्रीक और तुर्क लोग एक दूसरे पर हमले कर ही रहे थे, तुर्की में भी इन दोनों में झगड़े शुरू हो गये। अन्कारा, इस्ताम्बूल और इजमीर आदि तुर्क नगरों में ग्रीक लोग अच्छी बड़ी संख्या में निवास करते थे। तुर्कों द्वारा उन पर हमले शुरू कर दिये गये, उनकी बहुत-सी दूकानों को जला दिया गया, और उनके गिरजाघरों को भी नष्ट किया गया। अन्त में तुर्क सरकार इस स्थिति को संभालने में सफल तो हो गई, पर इन हिंसात्मक घटनाओं के कारण तुर्की और ग्रीस के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत बिगड़ गये।

जहां तक अधिक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का प्रश्न है, तुर्की ने अमेरिका और ब्रिटेन के गुट में शामिल होने और रूस के विरोध में इन देशों से सहायता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राप्त करने की अपनी नीति का दृढ़तापूर्वक अनुसरण किया। कौंसिल ऑफ यूरोप और नाटो का सदस्य बनकर वह रूस-विरोधी गुटबन्दी में शामिल हो ही चुका था। २ एप्रिल, १९५४ को उसने पाकिस्तान के साथ एक सन्धि की, जिसका उद्देश्य दोनों देशों में मैत्री और सहयोग की स्थापना करना था। २४ फरवरी, १९५५ को उसने ईराक के साथ एक सन्धि की, जो बगदाद पैक्ट के नाम से प्रसिद्ध है। बाद में ईरान, पाकिस्तान और ब्रिटेन भी इस पैक्ट में शामिल हो गये, जिसके कारण रूस की दक्षिणी सीमा पर स्थित विविध राज्य एक ऐसी गुटबन्दी में संगठित हो गये, जो परस्पर मिलकर रूस के बढ़ते हुए प्रभाव का मुकाबिला करने के लिये तत्पर है। बगदाद पैक्ट के विषय में पिछले अध्याय में विस्तार के साथ लिखा जा चुका है। अमेरिका इस पैक्ट की पीठ पर है, और स्वयं इसका सदस्य न होते हुए भी इसकी अनेक समितियों में शामिल है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में बगदाद पैक्ट का बहुत महत्त्व है, और इस द्वारा अमेरिका और ब्रिटेन ने पश्चिमी एशिया के उन सब राज्यों को अपने गुट में शामिल कर लिया है, जिनकी उत्तरी सीमा रूस के साथ है। ये सब राज्य अमेरिका से आर्थिक और सैनिक सहायता प्राप्त करते हैं, और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग कम्युनिज्म के प्रसार के विरुद्ध करने के लिए उद्यत हैं।

१९५६ में स्वेज के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर जब ईजिप्ट में संकट उपस्थित हुआ, तो तुर्की ने पश्चिमी एशिया के अन्य बहुसंख्यक राज्यों के समान ईजिप्ट का पक्ष नहीं लिया। वस्तुतः, ईजिप्ट और तुर्की की विदेशी राजनीति में बहुत भिन्नता थी। एप्रिल, १९५५ की बांदुंग कान्फरेन्स में भी इन दोनों राज्यों में मतभेद प्रगट हुए थे। इस कान्फरेन्स में भारत, ईजिप्ट और चीन आदि ने अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के सम्बन्ध में तटस्थता की नीति का समर्थन किया था, और ईराक, पाकिस्तान तथा तुर्की आदि बगदाद पैक्ट के देशों ने उसका विरोध। इसी कारण पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में ईजिप्ट और तुर्की के सम्बन्ध बिगड़ने लग गये थे। अन्य पश्चिमी एशियन राज्यों के प्रतिकूल तुर्की ने इजराईल के यहूदी राज्य की सत्ता को भी स्वीकार कर लिया था (२८ मार्च, १९४९), और उसके साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिये थे। ईजिप्ट के समान सीरिया से भी तुर्की के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। अलेग्जेण्ड्रेटा का प्रदेश किस प्रकार हेयती की रिपब्लिक के रूप में परिवर्तित किया गया, और बाद में तुर्की के साथ मिला दिया गया, इस विषय पर पहले लिखा जा चुका है। यह प्रदेश सीरिया और तुर्की की सीमा पर स्थित हैं, और यहां की आबादी मिली जुली है। तुर्कों और अरबों दोनों का ही यहां निवास है। सीरिया को यह पसन्द नहीं था, कि यह प्रदेश स्थायी रूप से तुर्की का अंग बन जाए। इसलिए १९५५ में अलेग्जेण्ड्रेटा के प्रश्न को लेकर सीरिया और तुर्की के सम्बन्धों में बहुत कटुता आ गई। तुर्की सेनाएं सीरिया की सीमा पर एकत्र हुईं, और यह समझा जाने लगा, कि वे शीघ्र ही सीरिया पर आक्रमण कर देंगी। पर रूस द्वारा चेतावनी दिये जाने के कारण उन्होंने अपने हाथ को रोक रखा। इस समय रूस ईजिप्ट और सीरिया की पीठ पर था, क्योंकि ये दोनों राज्य अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के प्रति तटस्थता की नीति के अनुयायी थे, और इसी कारण बगदाद पैक्ट और नाटो में शामिल नहीं हुए थे। रूस ने यह आश्वासन दिया था, कि यदि तुर्की ने सीरिया पर आक्रमण किया, तो सीरिया को उसकी सहायता प्राप्त रहेगी। इसी कारण तुर्की को सीरिया पर आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ।

तुर्की के आन्तरिक शासन के सम्बन्ध में भी कुछ बातें उल्लेखनीय हैं। कमाल-पाशा और इनोनू तुर्की रिपब्लिक के राष्ट्रपति अवश्य थे, पर उनका शासन डिक्टेटरों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान था। पर द्वितीय महायुद्ध के बाद तुर्की के शासन में अन्तर आना प्रारम्भ हुआ। विविध राजनीतिक दलों का वहां संगठन हुआ, और चुनाव के समय जनता से वोट प्राप्त करने के लिए वे प्रयत्नशील हुए। समाचार-पत्रों को भी अपने विचार प्रकट करने के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता प्राप्त हुई। चुनाव के ढंग में भी सुधार किये गये। इसी कारण १९५० के चुनाव में तुर्की की पार्लियामेंट में डेमोक्रेट पार्टी की विजय हुई, और विधान सभा के ४८७ सदस्यों में से इस पार्टी के ४०८ सदस्य चुने गए। इस पार्टी के नेता सलाल बायर थे। यह पार्टी राष्ट्रपति इनोनू की विरोधी थी। उनके त्याग पत्र दे देने पर बायर राष्ट्रपति चुने गये, और मान्देरेस ने प्रधानमन्त्री का पद ग्रहण किया। पर अभी तुर्की में लोकतन्त्र परम्परा का भलीभांति विकास नहीं हुआ था। डिक्टेटरशिप की भावना ही अभी वहां प्रबल थी। इस कारण डेमोक्रेट पार्टी ने भी अपने विरोधियों के दमन करने का प्रयत्न प्रारम्भ किया। १९५४ में उसने एक कानून पास कराया, जिसके अनुसार राजकीय पदों पर विद्यमान व्यक्तियों के ऐसे कार्यों की आलोचना करना दण्डनीय करार कर दिया गया, जो उन्होंने अपने राजकीय कर्त्तव्यों का पालन करते हुए किये हों। इसी अपराध में २० समाचार-पत्रों पर मुकदमे चलाये गये, और उन्हें कड़ी सजाएं दी गईं। डेमोक्रेट पार्टी के भी कतिपय सदस्यों ने इस कानून का विरोध किया, जिसके कारण इन आलोचकों को पार्टी से बहिष्कृत कर दिया गया। कतिपय विरोधी राजनीतिक पार्टियों को भी इस सरकार ने गैर-कानूनी घोषित किया। तुर्की के मतदाताओं में बहुसंख्या ऐसे किसानों की है, जो अब तक भी अशिक्षित हैं, और जिन्हें राजनीतिक मामलों में विशेष दिलचस्पी नहीं है। इसी कारण सरकार अपनी राजशक्ति और प्रभाव का उपयोग कर उनके वोटों को सुगमता से प्राप्त कर लेती है। १९५७ के चुनाव में भी डेमोक्रेट पार्टी की ही विजय हुई, और उसी की सरकार वहां कायम रही। सरकार का ढांचा लोकतन्त्र होते हुए भी अभी तुर्की में वास्तविक अर्थों में जनता का शासन स्थापित नहीं हुआ है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सैंतालीसवां अध्याय

पश्चिमी एशिया में नये परिवर्तन

(१) यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थापना

द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद के बारह सालों (१९४५-१९५७) में पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों के राजनीतिक इतिहास की मुख्य घटनाओं का उल्लेख हम पिछले अध्यायों में कर चुके हैं। पर गत पन्द्रह वर्षों में इन देशों के इतिहास में कतिपय ऐसे महत्त्वपूर्ण एवं क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं, जिन पर पृथक् रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

इन परिवर्तनों में यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थापना का विशेष महत्त्व है। इसका निर्माण ईजिप्ट और सीरिया को मिलाकर किया गया था। यद्यपि पश्चिमी एशिया के अरब क्षेत्र में अनेक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्यों की सत्ता है, पर उनके निवासियों में यह भावना विद्यमान है कि नसल, जाति, भाषा, धर्म, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से सब अरब लोग एक हैं, अतः उनका एक केन्द्रीय संगठन भी होना चाहिये। इसीलिये अक्टूबर, १९४४ में अरब लीग का संगठन किया गया था, जिसमें ईजिप्ट, सीरिया, ईराक, ट्रांस-जोर्डन, येमन और सौदी अरेबिया आदि प्रायः सभी अरब राज्य सम्मिलित हुए थे। महायुद्ध के बाद जब पैलेस्टाइन में यहूदी राज्य की स्थापना का प्रश्न उत्पन्न हुआ, और अमेरिका तथा ब्रिटेन आदि ने यूरोप से विस्थापित हुए यहूदियों को वहां बसाना चाहा, तो अरब लीग के सब सदस्यों ने उनका विरोध किया और इनमें से बहुतों ने यहूदी-अरब युद्ध में पैलेस्टाइन के अरबों को सैनिक सहायता भी प्रदान की। इसमें संदेह नहीं, कि महायुद्ध की समाप्ति के बाद के पांच सात सालों में अरब एकता का विचार बहुत प्रबल रहा। पर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस और अमेरिका के गुटों में जब संघर्ष शुरू हुआ, और इन दोनों ने पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों को अपने प्रभाव में ले आने का प्रयत्न प्रारम्भ किया, तो अरब राज्यों की एकता का विचार निर्बल पड़ने लगा। इसका कारण यह था, कि ईराक सदृश कतिपय अरब राज्य निरन्तर अमेरिकन और ब्रिटिश पक्ष में आते गये, और उन्होंने इन देशों से ऐसे सन्धियां व समझौते किये, जिनका प्रयोजन अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म का विरोध करना था। इसके विपरीत ईजिप्ट और सीरिया सदृश राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहा। रूस इस नीति का समर्थक था, और अमेरिकन तथा ब्रिटेन आदि पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्य इसे समुचित नहीं समझते थे। उनका कहना था, कि तटस्थता का अभिप्राय केवल यह है, कि कम्युनिज्म के विरोध में शामिल न हुआ जाए, और उसे पश्चिमी एशिया में भी प्रविष्ट होने दिया जाए। जोर्डन भी पहले तटस्थता की नीति का समर्थक था, और उसका प्रधानमन्त्री सुलेमान नबुल्सी ईजिप्ट और सीरिया के समान अन्तर्राष्ट्रीय गुट-बन्दियों में तटस्थता की नीति का अनुयायी था। उसकी नीति वही थी, जो ईजिप्ट में नासिर की थी। पर जोर्डन के राज हुसैन के विरोध के कारण नबुल्सी को त्यागपत्र देने के लिये विवश होना पड़ा, और जोर्डन पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के प्रभाव में आ गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१९५७)। अब पश्चिमी एशिया में केवल दो राज्य ऐसे रह गये, जो विदेशी सम्बन्धों और अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति के समर्थक थे। ये राज्य थे, ईजिप्ट और सीरिया।

पर अरबों में राष्ट्रीय एकता का विचार अभी सर्वथा नष्ट नहीं हुआ था। नासिर इसका प्रबल रूप से प्रतिपादन कर रहा था। उसका कहना था, कि छोटे-छोटे अरब राज्य अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा तभी कर सकते हैं, जबकि वे परस्पर मिल कर एक संगठन में संगठित हो जाएं। सीरिया उसके इस विचार का समर्थक था। १९५४ में वहां शिशकली के मन्त्रिमण्डल का पतन हो गया था, और जो नई सरकार सीरिया में कायम हुई थी, उसमें बाथ (समाजवादी) पार्टी का जोर था। विधान-सभा में किसी एक पार्टी का बहुमत न होने के कारण इस समय मन्त्रिमण्डल में बहुधा परिवर्तन होते रहे, पर १९५६ में सब्री अस्सली एक ऐसा मन्त्रिमण्डल बना सकने में समर्थ हुआ, जो पर्याप्त रूप से स्थायी था। इस मन्त्रिमन्डल को बाथ पार्टी का अविकल रूप से सहयोग प्राप्त था। इस समय सीरिया के राष्ट्रपति पद पर कुवत्तली विराजमान थे, जो समाजवाद के प्रति सहानुभूति रखते थे। उन्होंने रूस की यात्रा भी की थी। १९५७ में एक कम्युनिस्ट को भी सीरिया के मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिया गया था। इस प्रकार अब सीरिया की सरकार पूर्णतया ऐसे लोगों के हाथों में थी, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जिनका झुकाव रूस के वामपक्ष की ओर था। अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों के सम्बन्ध में ये नासिर की तटस्थता की नीति के अनुयायी थे। पर सीरिया में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो कि अपने देश की सरकार की इन प्रवृत्तियों को नापसन्द करते थे। खलीद अल-आजम नाम के एक प्रभावशाली जमींदार के नेतृत्व में ये लोग जोर पकड़े रहे थे, और यह चाहते थे कि ईराक के सामान सीरिया भी पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के गुट में शामिल हो जाए। अनेक समृद्ध जागीरदारों और व्यापारियों ने राष्ट्रीय दल के नाम से अपनी एक पृथक् पार्टी संगठित की हुई थी, जो सीरिया में समाजवाद के बढ़ते हुए प्रभाव से चिन्तित थी। इस दशा में बाथ पार्टी के नेताओं ने यह अनुभव किया, कि सीरिया में अपनी स्थिति को तभी सुरक्षित रखा जा सकता है, जबकि ईजिप्ट के साथ मिलकर दोनों देशों का एक संघ-राज्य बना लिया जाए। जनवरी, १९५८ में यह प्रस्ताव नासिर के सम्मुख उपस्थित किया गया। वह तो पहले से ही अरब राज्यों की एकता का पक्षपाती था, और इसके लिये प्रयत्न भी कर रहा था। उसने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया, और १ फरवरी, १९५८ के दिन ईजिप्ट और सीरिया ने मिलकर युनाइटेड अरब रिपब्लिक का निर्माण कर दिया। इस रिपब्लिक की स्थापना के समय नासिर ने अपने विचारों को इस ढंग से प्रकट किया था—"हमारे राष्ट्र के इतिहास में एकता और शक्ति को एक दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जब भी हम में एकता हुई, शक्ति भी हम में उत्पन्न हुई। जब भी हम में शक्ति आई, हम में एकता भी स्थापित हो गई। एकता के लिये अब तक जो प्रयत्न होते रहे हैं, विविध समयों में उनके स्वरूप में भिन्नता रही है। मानव इतिहास के जिन युगों में शस्त्र-शक्ति का प्राधान्य था, यह एकता शस्त्र-शक्ति द्वारा स्थापित की गई थी। पर जब मानव-समाज के पथ-प्रदर्शन के लिये ईश्वरीय इलहाम का सूत्रपात हुआ, तो यह एकता दैवी आदेशों द्वारा स्थापित की गई। इस्लाम के उत्कर्ष के कारण जब ईश्वर के संदेश को लेकर मुसलमानों का झण्डा सर्वत्र फैलने लगा, तो इस एकता को ईश्वर के सेवकों ने सर्वत्र स्थापित किया। क्रिश्चिएनिटी की आड़ लेकर जब यूरोप के साम्राज्यवाद ने हमारे इस क्षेत्र में प्रवेश शुरू किया, तो आत्मरक्षा की भावना से हम सब एक हो गये थे।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युनाइटेड अरब रिपब्लिक में यद्यपि केवल ईजिप्ट और सीरिया ही शामिल हुए थे, पर सम्पूर्ण अरब जगत् में इससे एक नई स्फूर्ति उत्पन्न हो गई थी। अरब युवक सर्वत्र यह अनुभव करने लगे थे, कि अब वह दिन दूर नहीं है, जबकि विविध अरब राज्य मिलकर एक हो जाएंगे और इस प्रकार एक ऐसे शक्तिशाली अरब राष्ट्र का निर्माण हो सकेगा, जो कि संसार की राजनीति में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगा। ईजिप्ट और सीरिया दोनों देशों में इस संयुक्त अरब रिपब्लिक के निर्माण के प्रश्न पर जनता का वोट लिया गया, और ९९ प्रतिशत वोट इसके पक्ष में प्राप्त हुए।

युनाइटेड अरब रिपब्लिक के लिये ५ फरवरी, १९५८ के दिन एक सामयिक संविधान का निर्माण किया गया, जिसके अनुसार ईजिप्ट और सीरिया की अपनी पृथक् पार्लियामेन्टों को अभी कायम रखा गया, पर सम्पूर्ण रिपब्लिक के लिये एक नई राष्ट्रीय सभा (नेशनल एसेम्बली) का निर्माण किया गया, जिसमें सीरिया और ईजिप्ट की पार्लियामैन्टों के बराबर-बराबर सदस्य राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत कर लिये गये। सम्पूर्ण रिपब्लिक के राष्ट्रपति के पद पर नासिर को नियुक्त किया गया। उसे ही यह भी अधिकार दिया गया, कि वह अपनी सहायता के लिये एक मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर ले, जिसके सदस्यों को मनोनीत करना भी उसी के हाथों में रहे। इस नई रिपब्लिक के निर्माण के कारण न केवल अरब और पश्चिमी एशिया की राजनीति में ही, अपितु विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भी नासिर का महत्त्व बहुत बढ़ गया, और सब अरब राज्यों के एक संगठन में संगठित होने के लिये भी मार्ग निष्कण्टक हो गया।

यह आशा की जाती थी, कि समयान्तर में अरब के अन्य राज्य भी इस युनाइटेड अरब रिपब्लिक में सम्मिलित हो जायेंगे, और इस प्रकार अरब एकता का स्वप्न क्रियान्वित हो सकेगा। पर यह आशा पूर्ण नहीं हुई। केवल येमन ही इसमें सम्मिलित होने के लिये उद्यत हुआ, और वह भी अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता कायम रखते हुए। ८ मार्च, १९५८ के दिन राष्ट्रपति नासिर और येमन के युवराज सईफ-उल-इस्लाम मुहम्मद अलबदर डमास्कस में मिले और उन्होंने यह निर्णय किया कि येमन भी युनाइटेड अरब रिपब्लिक के साथ मिलकर संयुक्त अरब राज्य (United Arab State) का निर्माण करने को उद्यत है। सीरिया और ईजिप्ट के समान येमन ने अपनी पृथक् व स्वतन्त्र सत्ता का अन्त नहीं किया, अपितु वह उनके साथ एक प्रकार के संघराज्य का निर्माण करने के लिये सहमत हो गया।

युनाइटेड अरब रिपब्लिक के रूप में तीन अरब राज्यों का जो यह संगठन बना था, वह देर तक कायम नहीं रह सका। २८ सितम्बर, १९६१ को सीरिया उससे पृथक हो गया, और २६ दिसम्बर, १९६१ को येमन और ईजिप्ट के संघ-राज्य का अन्त हो गया। पर अरब राज्यों की एकता का विचार बाद में भी जारी रहा, और इसके लिये प्रयत्न किये जाते रहे।

(२) ईराक और जोर्डन का फिडरल यूनियन

अरबों में राष्ट्रीय एकता की भावना के कारण जिस प्रकार ईजिप्ट और सीरिया ने परस्पर मिलकर युनाइटेड अरब रिपब्लिक का निर्माण किया, उसी प्रकार ईराक और जोर्डन ने अपने को एक फिडरल यूनियन (फिडरल अरब स्टेट) के रूप में संगठित किया। सुलेमान नबुल्सी जब जोर्डन का प्रधानमन्त्री था, तो इस राज्य की विदेशी नीति भी किस प्रकार ईजिप्ट और सीरिया के अनुकूल थी, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। तटस्थता की नीति का समर्थन करने के कारण ही जोर्डन ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आइजनहावर सिद्धान्त के अनुसार अमेरिका से सहायता प्राप्त करना अस्वीकृत कर दिया था, और यह भी प्रस्ताव किया था कि सीरिया के साथ मिलकर एक आर्थिक संघ का निर्माण किया जाए। यदि नबुल्सी की सरकार कायम रहती, तो जोर्डन भी यूनाइटेड अरब रिपब्लिक में शामिल हो जाता, और अरबों का एक अच्छा बड़ा राष्ट्रीय राज्य कायम हो सकता। पर जोर्डन के राजा हुसैन को नबुल्सी की ये प्रवृत्तियां पसन्द नहीं थीं। अमेरिका से प्रोत्साहन पाकर उसने नबुल्सी के मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर दिया, और डॉ० खलीदी को नया मन्त्रिमण्डल बनाने का कार्य सुपुर्द किया। इस पर जनता बहुत उत्तेजित हो गई, अनेक स्थानों पर विद्रोह हुए, और जोर्डन की आन्तरिक स्थिति ने गम्भीर रूप धारण कर लिया (एप्रिल, १९५७)। विवश होकर नबुल्सी को भी इस मन्त्रिमण्डल में स्थान दिया गया, पर स्थिति इससे भी नहीं संभल पाई। अमेरिका ने घोषित किया, कि जोर्डन में शान्ति और व्यवस्था का कायम रहना उसके अपने हितों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए उसने अपना छठा जंगी जहाजी बेड़ा बैरूत भेज दिया और ब्रिटेन ने भी उसका अनुसरण किया। उधर ईराक और सौदी अरेबिया की सेनाएं भी राजा हुसैन की सहायता के लिये जोर्डन में प्रवेश करने लगीं। सीरिया के लिये भी इस दशा में चुप रह सकना असम्भव था। वह नहीं चाहता था, कि अपने पड़ौसी इस राज्य पर अमेरिका और उसके साथी देशों का प्रभुत्व स्थापित हो जाए। उसकी सेनाएं भी जोर्डन में प्रवेश करने के लिये तत्पर हो गई। इस दशा में हुसैन ने मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर मार्शल लॉ की घोषणा कर दी, और अनेक ऐसी व्यवस्थाएं कीं, जिनके द्वारा समाजवादी और वामपक्षी दलों का दमन किया गया, और उन सब राजकर्मचारियों तथा सैनिक अफसरों को अपदस्थ कर दिया गया, जिनकी सहानुभूति समाजवाद के साथ थी। इस प्रकार जोर्डन में उन लोगों की शक्ति बहुत बढ़ गई थी, जो कि कम्युनिज्म के विरोधी और पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के समर्थक थे। वामपक्ष के बहुत-से नेताओं ने इस समय सीरिया में जाकर आश्रय ग्रहण किया, और जोर्डन की सरकार पूर्णतया उन लोगों के हाथों में आ गई, जो कि समाजवाद और तटस्थता की नीति के विरोधी थे। ईजिप्ट के साथ जोर्डन के सम्बन्ध इस समय इतने अधिक बिगड़ गये, कि जून, १९५७ में जोर्डन ने कैरो में स्थित अपने राजदूत को भी वापस बुला लिया।

जोर्डन का राजा हुसैन हसमी वंश का था। उसके समान ईराक का राजा फैजल द्वितीय भी हसमी वंश का ही था। ईराक बगदाद पैक्ट में शामिल था, और आइजनहावर सिद्धान्त को भी उसने स्वीकार कर लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह पूर्णतया अमेरिका के गुट में था। सुलेमान नबुल्सी के पतन के बाद जोर्डन की नीति भी ठीक वही हो गई थी, जो कि ईराक की थी। अतः जनवरी, १९५८ में जब ईजिप्ट और सीरिया ने परस्पर मिलकर युनाइटेड अरब रिपब्लिक के निर्माण का निश्चय किया, तो उसके मुकाबिले में जोर्डन और ईराक ने भी यह तय किया कि ये दोनों राज्य भी मिलकर एक 'फिडरल अरब स्टेट' का संगठन कर लें। इसीलिये १४ फरवरी, १९५८ के दिन ईराक और जोर्डन के हसमी वंश द्वारा शासित दोनों राज्यों ने एक फिडरेशन में संगठित हो जाने के सम्बन्ध में समझौता कर लिया, और १४ मई, १९५८ को ये दोनों राज्य परस्पर मिलकर एक संघ-राज्य के रूप में परिवर्तित भी हो गये। इस संघ में सम्मिलित दोनों राज्यों के राजाओं और उनकी पृथक् सरकारों की सत्ता को कायम रखा गया, पर यह व्यवस्था की गई कि संघराज्य के राजा के पद पर ईराक के राजा को नियुक्त किया जाय। इस संघ-राज्य के लिए एक फिडरल विधान-सभा का भी निर्माण किया गया, जिसमें ईराक और जोर्डन के प्रतिनिधियों की संख्या एक बराबर रखी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई। यह व्यवस्था की गई, कि संघराज्य की मन्त्रिपरिषद् की नियुक्ति संघ के राजा द्वारा की जाया करे, और उसकी राजधानी बारी-बारी से बगदाद (ईराक की राजधानी) और अम्मन (जोर्डन की राजधानी) में रहा करे। यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ में दोनों राज्यों की सदस्यता पृथक् रूप से कायम रहे, पर दोनों राज्य अपनी विदेशी राजनीति का संचालन सम्मिलित रूप से तथा परस्पर सहयोग द्वारा ही किया करें।

पर ईराक और जोर्डन का यह फिडरल यूनियन देर तक कायम नहीं रह सका। शीघ्र ही (१४ जुलाई, १९५८) ईराक में राज्यक्रान्ति द्वारा राजसत्ता का अन्त हो गया, जिसके साथ ही इस संघराज्य की भी समाप्ति हो गई।

(३) लेबेनान और जोर्डन में आइजनहावर सिद्धान्त का प्रयोग

मार्च, १९५७ में अमेरिका की पार्लियामेंट (कांग्रेस) ने आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार कर पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों की अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म से रक्षा करने के लिए उन्हें आर्थिक और सैनिक सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध में जिस नीति का प्रतिपादन किया, उसका उल्लेख पिछले अध्याय में किया जा चुका है। इस नीति को क्रियान्वित करने के अवसर भी १९५८ में उपस्थित हो गये। लेबेनान ने इस सिद्धान्त का समर्थन कर अमेरिका से सहायता प्राप्त करना स्वीकार कर लिया था। १९५८ में इस राज्य के राष्ट्रपति शामूं थे, और प्रधानमन्त्री सामी अल-सुल्ह। इनकी सरकार की नीति ईजिप्ट और सीरिया आदि पड़ौस के अन्य अरब राज्यों में बहुत भिन्न थी, और वह विदेशी राजनीति में अमेरिका के गुट की पक्षपाती थी। इसी कारण ईजिप्ट आदि से उसका विरोध निरन्तर बढ़ता गया। पर लेबेनान में ऐसी राजनीतिक पार्टियां भी विद्यमान थीं, जो तटस्थता की नीति की समर्थक थीं। ये सामी अल-सुल्ह का विरोध करने में तत्पर थीं, जिसके कारण मई, १९५८ में लेबेनान में विद्रोह की अग्नि भड़क उठी। अनेक स्थानों पर हड़तालें हुई, बैरूत और त्रिपोली में अमेरिका के सूचना-कार्यालयों तथा पुस्तकालयों को आग लगा दी गई, और जो पाइप लाइनें ईराक तथा सौदी अरेबिया के तेल-कूपों के तेल को लेबेनान के बन्दरगाहों तक पहुंचाती थीं, उन्हें काट दिया गया। इन विद्रोहों ने बहुत व्यापक रूप धारण कर लिया, जिसके कारण सरकार की स्थिति डांवा-डोल प्रतीत होने लगी। सरकार के परराष्ट्र-सचिव डा० चार्ल्स मलिक का कहना था, कि युनाइटेड अरब रिपब्लिक इन विद्रोहों के लिए उत्तरदायी है, और उसी के प्रोत्साहन के कारण लेबेनान में ये विद्रोह हो रहे हैं। यह मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद् के समक्ष भी पेश किया गया। १६ जून, १९५८ के दिन सुरक्षा परिषद् ने स्वीडन के प्रस्ताव पर यह निर्णय किया, कि (१) संयुक्त राष्ट्र-संघ की ओर से एक प्रेक्षक दल लेबेनान में यह देखने के लिये भेजा जाए, कि उस राज्य की सीमा में किसी अन्य राज्य द्वारा अवैध रीति से शस्त्र और सैनिक तो नहीं पहुंचाये जा रहे हैं, और (२) संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रधान सचिव श्री हैमरशोल्ड को इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्यवाही कर सकने का अधिकार हो, और प्रेक्षक दल उन्हें लेबेनान के मामले में सब सूचनाएं देता रहे। प्रेक्षक दल ने अपनी रिपोर्ट शीघ्र ही पेश कर दी, और उसके आधार पर ३ जुलाई, १९५८ को श्री हैमरशोल्ड ने यह घोषणा की, कि यूनाइटेड अरब रिपब्लिक द्वारा लेबेनान के विद्रोहियों को सहायता दिये जाने का आरोप निराधार है। ऐसी कोई साक्षी प्राप्त नहीं हो सकी है, जिससे अरब रिपब्लिक द्वारा लेबनान के विद्रोहियों की सहायता किये जाने की बात सिद्ध होती हो। पर लेबेनान की सरकार ने इसे स्वीकार न करके यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दावा किया, कि लेबेनान के विद्रोहियों में २५ प्रतिशत के लगभग ऐसे व्यक्ति हैं, जो अन्य देशों से आये हुए हैं।

संयुक्त राष्ट्र-संघ से निराश होकर लेबेनान के राष्ट्रपति शामूं ने अमेरिका से सहायता की अपील की। यह अपील आइजनहावर सिद्धान्त के आधार पर की गई थी। अमेरिका ने लेबेनान की सहायता करना तुरन्त स्वीकार कर लिया, और १५ जुलाई, १९५८ के दिन १५०० अमेरिकन सैनिक जंगी जहाजों द्वारा बैरूत पहुंचा दिये गये। २० जुलाई तक इन अमेरिकन सैनिकों की संख्या १० हजार तक पहुँच गई। यह सम्भव नहीं था, कि अमेरिकन सेना के मुकाबिले में विद्रोही लोग देर तक टिक सकते। वे परास्त हो गये, और लेबेनान पर अमेरिका का सैनिक कब्जा स्थापित हो गया। पर लेबेनान की जनता को एक विदेशी सेना का इस ढंग से अपने देश में आगमन पसन्द नहीं था। उन्होंने इसका घोर विरोध प्रारम्भ किया। उसका कहना था, कि यह बात लेबेनान की सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता के विरुद्ध है। पार्लियामेंट के स्पीकर अदल ओस्सीरां भी इस विरोध में शामिल हो गए, और बहुत-से राजनीतिक नेताओं ने अमेरिकन सेना द्वारा अपने देश के कब्जे के विरोध में आवाज उठाई। १५ जुलाई, १९५८ के दिन रूस की ओर से सुरक्षा परिषद् में यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि लेबेनान से अमेरिका अपनी सेनाएं तुरन्त वापिस बुला ले। यह स्वाभाविक था, कि रूस अमेरिकन सेनाओं के लेबेनान में प्रवेश का विरोध करता, क्योंकि विश्व के अन्य क्षेत्रों के समान पश्चिमी एशिया में भी इन दोनों देशों में प्रतिद्वन्द्विता थी। सुरक्षा परिषद् में रूस का प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हो सका, क्योंकि वहां अमेरिकन पक्ष का बहुमत था। रूस में इससे बहुत उत्तेजना हुई, और वहां के प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने आइजनहावर (अमेरिका), मैकमिलन (ब्रिटेन) और जनरल द गॉल (फ्रांस) आदि को इस आशय के पत्र लिखे, कि लेबेनान की समस्या अत्यधिक गम्भीर है, और उस पर विचार करने के लिए प्रमुख देशों की एक शिखर (Summit) कान्फरेन्स का आयोजन करना आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होने लगा, कि इस प्रश्न को लेकर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष के सूत्रपात में देर नहीं है।

१३ अगस्त, १९५८ को लेबेनान के प्रश्न पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र-संघ का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इसमें अमेरिका की ओर से यह कहा गया, कि वह दो दशाओं में लेबेनान से अपनी सेनाओं को हटाने के लिए तैयार हो सकता है, एक तो वहां की सरकार इसके लिये आवेदन करे, और दूसरा राष्ट्रसंघ वहां की संकटमय अवस्था को दूर करने के लिये समुचित व्यवस्था कर दे। अमेरिका का कहना था, कि अभी लेबेनान में शान्ति स्थापित नहीं हुई है, और वहां विद्रोह अभी जारी है। इस दशा में यदि अमेरिकन सेनाएं वहां से हटा ली जाएंगी, तो लेबेनान की सरकार के लिए स्थिति को संभाल सकना असम्भव हो जायगा। पर रूस ने इसका विरोध करते हुए यह कहा कि पश्चिमी एशिया में अमेरिका के जो आर्थिक स्वार्थ हैं, उनमें और अधिक वृद्धि करने के लिये ही वह वहां के देशों को अपने राजनीतिक और सैनिक प्रभुत्त्व में ले आने के लिये प्रयत्नशील है। लेबेनान में अपनी सेनाओं को भेज कर उसने अन्तर्राष्ट्रीय कानून और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर का उल्लंघन किया है। २३ अगस्त को जनरल एसेम्बली ने बहुमत से यह प्रस्ताव स्वीकार किया, कि अमेरिका लेबेनान से अपनी सेनाओं को हटा ले, और राष्ट्रसंघ के प्रधान-सचिव श्री० हेमरशोल्ड को इस सम्बन्ध में यथोचित कार्यवाही करने का अधिकार हो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस बीच में लेबेनान की सरकार में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे। ३१ जुलाई, १९५८ को राष्ट्रपति शामूं का कार्यकाल समाप्त हो गया था, और उनके स्थान पर चेहब नये राष्ट्रपति निर्वाचित हो गये थे। चेहब लेबेनान के प्रधान सेनापति थे। शामूं की नीति सर्वसाधारण जनता को नापसन्द थी, क्योंकि वह यह नहीं चाहती थी कि एक विदेशी सेना उनके देश में इतनी बड़ी संख्या में आ जाए। इस बात को वह अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए विघातक समझती थी। इसीलिए शामूं के स्थान पर चेहब को राष्ट्रपति चुनकर प्रतिनिधि सभा ने सरकारी नीति के प्रति अपना असंतोष प्रगट किया था। राष्ट्रपति चेहब ने अपने मन्त्रिमण्डल का पुनः संगठन करते हुए करामी को प्रधान-मन्त्री बनाया, जो कि लेबेनान के मुसलमानों के प्रधान नेता थे, और स्वाभाविक रूप से जिनकी सहानुभूति अन्य अरब राज्यों के साथ थी। नईसरकार ने यह मांग की, कि अमेरिकन सेनाओं को लेबेनान से तुरन्त वापस बुला लिया जाए। परिणाम यह हुआ, कि २६ अक्तूबर, १९५८ तक अमेरिकन सेनाओं को लेबेनान खाली कर देना पड़ा। शामूं के समर्थक इससे बहुत नाराज हुए। विशेषतया, लेबेनान के ईसाई निवासियों ने इससे यह समझा कि अब उनका देश भी एक ऐसी नीति का अनुसरण करने के लिए तत्पर है, जो पाश्चात्य लोकतन्त्रवादी देशों के विरुद्ध है। इसीलिये क्रिश्चियन फैलेन्जिस्ट पार्टी ने चेहब की सरकार के विरुद्ध विद्रोह भी कर दिया, पर इसका दमन करने में सरकार को विशेष कठिनाई नहीं हुई। चेहब की हार्दिक इच्छा थी, कि लेबेनान में एक ऐसी सरकार कायम हो, जिसे जनता के सब वर्गों का समर्थन प्राप्त हो। इसीलिए क्रिश्चियन फैलेन्जिस्ट पार्टी के विद्रोह का अन्त हो जाने के बाद उसने मन्त्रिमण्डल का पुनः संगठन किया, जिसमें विविध दलों के प्रतिनिधियों को शामिल किया गया, यद्यपि प्रधानमन्त्री के पद पर करामी ही रहे (१५ अक्तूबर, १९५८)। लेबेनान की प्रतिनिधि सभा के सम्मुख जब इस मन्त्रिमण्डल के प्रति विश्वास का प्रस्ताव पेश हुआ, तो उसके विरोध में एक भी वोट नहीं आया। १९५८ के अन्त तक लेबेनान में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई थी, अमेरिकन सेनाएं वहां से वापस बुला ली गई थीं, और वहां एक ऐसी सरकार कायम थी, जिसे जनता के सब वर्गों का समर्थन प्राप्त था।

आइजनहावर सिद्धान्त के प्रयोग का अवसर जोर्डन में भी उपस्थित हुआ। इस राज्य के इतिहास पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। वहां का प्रधानमन्त्री सुलेमान नबुल्सी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ईजिप्ट और सीरिया की तटस्थता की नीति का समर्थक था, और इसीलिये उसने आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया था। उसी के यत्न से जोर्डन ने ब्रिटेन से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता को ग्रहण करना बन्द कर दिया था, और सीरिया, ईजिप्ट तथा सौदी अरेबिया ने उसे अपनी ओर से ४, ४ और २ के अनुपात से इसकी क्षतिपूर्ति करने की भी व्यवस्था की थी। इस सम्बन्ध में हम पिछले अध्याय में प्रकाश डाल चुके हैं। पर सुलेमान नबुल्सी की यह नीति जोर्डन के राजा हुसैन को पसन्द नहीं थी। उसका झुकाव उस नीति की ओर था, जिसका अनुसरण ईराक द्वारा किया जा रहा था। इसीलिये उसने सुलेमान नबुल्सी को बर्खास्त कर दिया, और डॉ० खलीदी को प्रधानमन्त्री के पद पर नियत किया (एप्रिल, १९५७)। नबुल्सी के पतन के कारण जनता ने उत्तेजित होकर जो विद्रोह किये, उन्हें सेना की सहायता से दबा दिया गया। नई सरकार की नीति अमेरिका के गुट के पक्ष में थी, इसीलिये उसने आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया, और अमेरिका ने न केवल राजा हुसैन की सहायता के लिये अपनी सेनाएं ही भेजीं, अपितु उसे ५ करोड़ रुपया सहायता देना भी स्वीकार किया। अमेरिकन सरकार जोर्डन को इस बात के लिये प्रेरित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर रही थी, कि वह ईजिप्ट और सीरिया से कोई सम्बन्ध न रखे, और एक ऐसी नीति का अनुसरण करे जो पूर्णतया अमेरिका के अनुकूल हो। इसीलिए अरब फिडरल राज्य का निर्माण किया गया (१४ फरवरी, १९५८), जिसके सम्बन्ध में इसी अध्याय में ऊपर लिखा जा चुका है। पर १४ जुलाई, १९५८ को ईराक में राज्यक्रान्ति हो जाने के कारण यह संघ-राज्य शीघ्र ही नष्ट हो गया। ईराक की इस राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में हम इसी अध्याय के अगले प्रकरण में प्रकाश डालेंगे।

यह आशंका थी, कि ईराक की राज्यक्रान्ति का प्रभाव जोर्डन पर भी पड़ेगा, और वहां की जनता भी अपने देश से राजसत्ता का अन्त कर रिपब्लिक की स्थापना का प्रयत्न करेगी। इस परिस्थिति में जोर्डन के राजा हुसैन को यह उपाय समझ में आया, कि वह अपनी राजगद्दी की रक्षा और देश को राज्यक्रान्ति से बचाने के लिये अमेरिका और ब्रिटेन से सहायता की याचना करे। १६ जुलाई, १९५८ को जोर्डन की राजधानी अम्मन की रेडियो द्वारा हुसैन ने यह घोषित किया, कि अपने देश की सीमाओं की शत्रुओं से रक्षा करने के प्रयोजन से मित्रराज्यों से प्रभावशाली सैनिक सहायता प्राप्त करने का निश्चय किया गया है, और इस निश्चय से मन्त्रिमण्डल के सब सदस्य सहमत हैं। पार्लियामेंट के सदस्यों और विभिन्न राजनीतिक नेताओं की भी इससे सहमति है। "यह गरीब और छोटा-सा देश" तभी अपनी दशा को सम्भाल सकेगा और तभी उसकी सेना अपने देश की आन्तरिक सुरक्षा की उत्तरदायिता को पूर्ण कर सकेगी, जबकि अपने मित्र-राज्यों से सहायता प्राप्त की जाए। "अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म, निहिलिज्म और नास्तिकता से पश्चिमी एशिया की रक्षा कर सकने" का भी यही एकमात्र उपाय है। हुसैन की इस प्रार्थना को स्वीकार कर ब्रिटेन ने तुरन्त ही ३०० सैनिक साइप्रस से हवाई जहाजों द्वारा जोर्डन भेज दिये, और १८ जुलाई के दोपहर तक २००० ब्रिटिश सिपाही जोर्डन की राजधानी अम्मन में आ गये। वायुयानों द्वारा उतारे जाने वाले इन सैनिकों के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो सके, इस प्रयोजन से अमेरिका के जंगी हवाई जहाज निरन्तर आसमान में उड़ते रहे। ईराक में इस समय क्रान्ति हो चुकी थी, अतः वहां के मार्ग से पेट्रोल को जोर्डन पहुंचा सकना असम्भव था। जोर्डन की सेना को तेल की कमी के कारण कोई परेशानी न हो, इसलिये वायुयानों द्वारा बहराइन से वहां तेल पहुंचाया गया। २० जुलाई १९५८ को अमेरिका ने घोषणा की, कि ३,२५,००,००० रुपये की नई आर्थिक सहायता जोर्डन को प्रदान की जायगी। इस प्रकार अब जोर्डन पूर्णतया ब्रिटेन और अमेरिका के सैनिक प्रभुत्व में आ गया, और वहां की सरकार इन देशों के समर्थन द्वारा ही अपनी स्थिति को सुरक्षित रख सकने में समर्थ हुई।

पर इस बीच में ईराक और युनाइटेड अरब रिपब्लिक भी चुप नहीं बैठे थे। बगदाद रेडियो से निरन्तर यह ब्राडकास्ट किया जा रहा था, कि जोर्डन के लोग भी राजसत्ता के विरुद्ध उठ खड़े हों और अपनी जंजीरों को तोड़कर स्वतन्त्रता प्राप्त कर लें। जिस प्रकार ईराक से गली-सड़ी राजसत्ता का अन्त कर दिया गया है, वैसा ही जोर्डन में भी होना चाहिये। हुसैन साम्राज्यवादी देशों और इजराईल के यहूदियों के साथ मिलकर अरबों की स्वतन्त्रता को नष्ट कर रहा है, अतः उसके विरुद्ध विद्रोह करना प्रत्येक अरब देशभक्त का कर्त्तव्य है। युनाइटेड अरब रिपब्लिक की ओर से सीरिया की एक सेना ने जोर्डन की सीमा की ओर प्रस्थान भी कर दिया, और ऐसा प्रतीत होने लगा कि पश्चिमी एशिया में युद्ध छिड़ जाने में अब अधिक देर नहीं है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दशा में जोर्डन की सरकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख यह शिकायत पेश की, कि युनाइटेड अरब रिपब्लिक उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रही है, और इस मामले पर तुरन्त विचार किया जाना चाहिये। २० जुलाई को जोर्डन ने युनाइटेड अरब रिपब्लिक से अपने सम्बन्ध का विच्छेद भी कर लिया। ७ अगस्त के दिन सुरक्षा परिषद् ने जोर्डन के मामले पर विचार कर यह फैसला किया, कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की जनरल एसेम्बली का एक विशेष अधिवेशन शीघ्र ही बुलाया जाए। यह अधिवेशन १३ अगस्त, १९५८ को शुरू हुआ, जिसमें अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर भी उपस्थित हुए। लेबेनान की समस्या भी इस समय बहुत गम्भीर रूप धारण कर चुकी थी। जोर्डन और लेबेनान दोनों के मामलों पर जनरल एसेम्बली ने एक साथ विचार किया। पश्चिमी एशिया के सम्बन्ध में एसेम्बली के सम्मुख तीन विभिन्न प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये, जिनमें से एक प्रस्ताव निम्नलिखित था—(१) सब राज्यों को एक-दूसरे की सीमाओं का पूर्णरूप से सम्मान करना चाहिए, और उनके आन्तरिक मामलों में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। (२) संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान-सचिव जोर्डन और लेबेनान की सरकारों से परामर्श करके ऐसे उपायों का निर्धारण करें, जिनसे कि वे सब विदेशी सेनाएं वहां से वापस बुलायी जा सकें, जो कि अब वहां पहुँची हुई हैं। (३) राष्ट्रसंघ के प्रधान-सचिव ३० सितम्बर, १९५८ तक अपनी रिपोर्ट संघ की सेवा में पेश कर दें। यह प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया, और इसके अनुसार संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान सचिव श्री हेमरशोल्ड ने जोर्डन और अन्य अरब राज्यों की यात्रा की। स्थिति का भली-भांति अनुशीलन कर उन्होंने यह रिपोर्ट दी, कि जोर्डन से ब्रिटिश सेनाओं को तुरन्त वापस बुला लेना चाहिए। इसके अनुसार २ नवम्बर, १९५८ को ब्रिटेन ने अपनी सेनाएं जोर्डन से हटा लीं, और उन्हें साइप्रस चले जाने का आदेश दिया। पर हुसैन इस समय तक जोर्डन में अपनी स्थिति को भली-भांति संभाल चुका था। ईराक के समान जोर्डन में राज्यक्रान्ति नहीं हो सकी, और वहां पूर्ववत् एक ऐसी राजसत्ता कायम रही, जो कि ब्रिटेन और अमेरिका के प्रभाव में है और अपनी स्थिति के लिए इन्हीं देशों की सहायता पर निर्भर करती है। पश्चिमी एशिया में अब सौदी अरेबिया और जोर्डन ही ऐसे प्रमुख राज्य हैं, जिनमें राजसत्ता विद्यमान है। ईराक, सीरिया, ईजिप्ट और लेबेनान में रिपब्लिकन शासन कायम हो चुके हैं।

(४) ईराक में राज्यक्रान्ति

सन् १९५८ के मध्य तक ईराक में राजतन्त्र शासन की सत्ता थी। राजसिंहासन पर फैजल द्वितीय विराजमान थे, और प्रधानमन्त्री के पद पर नूरी अस् सईद। शासन-पद्धति ब्रिटेन के ढंग की थी, क्योंकि यह समझा जाता था कि कानून बनाने की शक्ति राजा और पार्लियामेंट में निहित है। ईराकी पार्लियामेंट में दो सदन थे, सीनेट और प्रतिनिधि-सभा। सीनेट के सदस्य राजा द्वारा मनोनीत किये जाते थे, और प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को जनता चुनती थी। मन्त्रिमंडल में सात मन्त्री थे। प्रधानमन्त्री को राजा नियत करता था, और अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर राजा द्वारा की जाती थी। इस प्रकार सरकार का ढांचा वैध राजतन्त्र का था, यद्यपि वस्तुतः शासन पर राजा, राजकुल, बड़े जागीरदारों और सैनिक अफसरों का बहुत प्रभाव था। बगदाद पैक्ट और आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकृत कर लेने के कारण ईराक की विदेशी नीति पूर्णतया ब्रिटेन और अमेरिका की वशवर्ती थी, और यह देश अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थ न रह कर अमेरिकन गुट में शामिल हो चुका था। १४ फरवरी, १९५८ को ईराक और जोर्डन ने मिलकर फिडरल अरब स्टेट का भी निर्माण कर लिया था। फैजल द्वितीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही इस संघराज्य का भी राजा था, और ईराक का प्रधानमन्त्री नूरी अस् सईद ही इस संघ-राज्य का भी प्रधानमन्त्री था। ईराक और जोर्डन के संघराज्य में ईराक का ही प्राधान्य था, क्योंकि यह देश आर्थिक समृद्धि, जनसंख्या, सैनिक शक्ति आदि सभी दृष्टियों से जोर्डन से बढ़कर था। ईजिप्ट और सीरिया ने परस्पर मिलकर जिस यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का निर्माण किया था, यह फिडरल अरब स्टेट उसकी प्रतिद्वन्द्वी थी, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति का अनुसरण न कर पूर्णरूप से अमेरिका और ब्रिटेन के आर्थिक एवं सैनिक प्रभाव में थी।

पर ईराक में ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो अपने देश की दशा से असंतुष्ट थे। राष्ट्रवादी और समाजवादी दोनों प्रकार के राजनीतिक दल वहां विद्यमान थे, और उन्हें अपनी सरकार की आन्तरिक तथा विदेशी राजनीति नापसन्द थी। इसी का यह परिणाम हुआ, कि १४ जुलाई, १९५८ के दिन ईराक में राज्यक्रान्ति हो गई। १४ जुलाई को प्रातःकाल बगदाद रेडियो द्वारा यह घोषणा की गई, "कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर की सहायता और जनता एवं सैन्यशक्ति के समर्थन से साम्राज्यवादियों द्वारा प्रतिष्ठापित भ्रष्टाचारी गुट के शासन से ईराक को मुक्त कर दिया गया है।" आगे चलकर इस ब्राडकास्ट में यह घोषित किया गया, कि अब ईराक में एक रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई है, जिसकी सरकार ईराक की राष्ट्रीय एकता की रक्षा करेगी, अन्य अरब राज्यों के साथ भ्रातृभाव के सम्बन्ध स्थापित करेगी, और उन सब समझौतों और सन्धियों को स्वीकार करेगी, जो कि ईराक के हितों में हैं, और जो बांदुंग कान्फरेन्स के निर्णयों और संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के अनुकूल हैं। जब तक कि निर्वाचन द्वारा देश में नई सरकार कायम न हो जाए, राज्य-शक्ति का उपयोग तीन व्यक्तियों की एक कौंसिल द्वारा किया जायगा। जनता से अनुरोध है, कि वह शान्ति व व्यवस्था को कायम रखे और नई सरकार के साथ सहयोग करे। तीन व्यक्तियों की कौंसिल के सदस्य निम्नलिखित थे—जनरल नजीम सवाई (चेयरमैन), मुहम्मद महदी कुब्बा और खलीद नक्शबन्दी। यह कौंसिल उन कार्यों को करने के लिए नियुक्त की गई थी, जो रिपब्लिकन सरकारों में राष्ट्रपति द्वारा किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक मन्त्रिमण्डल का भी निर्माण कर लिया गया था, जिसमें प्रधानमन्त्री का पद ब्रिगेडियर कासिम को दिया गया था। मन्त्रिमण्डल में ऐसे सैनिक और राजनीतिक नेताओं को स्थान दिया गया था, जो नूरी अस् सईद के विरोधी थे। राष्ट्रवादी और समाजवादी दोनों प्रकार के नेता इस मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित थे।

राजतन्त्र शासन का अन्त कर देने के लिए ईराक में जो यह क्रान्ति हुई, वह प्रधानतया सेना की कृति थी, और इसके प्रधान नेता कासिम थे। कासिम बगदाद में स्थित ईराकी सेना के सेनापति थे, और उन्होंने अत्यन्त गुप्त रूप से इस क्रान्ति का आयोजन किया था। सरकार को इसका कुछ भी पता नहीं लग सका था, और १४ जुलाई की सुबह होने से पूर्व ही बगदाद की सब सरकारी तथा सैनिक इमारतों पर कासिम और उसके साथियों ने कब्जा कर लिया था। क्रान्ति के कारण देश में कहीं अशान्ति व अव्यवस्था उत्पन्न न होने पाए, इसे दृष्टि में रखकर मार्शल लॉ की घोषणा कर दी गई थी, और सम्पूर्ण शासन सूत्र को सेना ने अपने हाथों में ले लिया था। इसी दिन (१४ जुलाई) तुर्की के इस्ताम्बूल नगर में बगदाद पैक्ट में शामिल देशों की एक कान्फरेन्स होने वाली थी। राजा फैजल द्वितीय और प्रधानमन्त्री नूरी अस् सईद को भी इस कान्फरेन्स में शामिल होना था। वे बगदाद के हवाई अड्डे पर इस्ताम्बूल जाने वाले हवाई जहाज की प्रतीक्षा कर रहे थे। वहीं इन दोनों की हत्या कर दी गई, और साथ ही युवराज अब्दुल इलाह को भी मौत के घाट उतार दिया गया। पुरानी सरकार के समर्थकों को बड़ी संख्या में गिर-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्तार कर लिया गया, और उन पर मुकदमे चलाये गये। अनेक सैनिक अफसर, जो क्रान्ति के समर्थक नहीं थे, या तो कैद कर लिये गये और या अपदस्थ कर दिये गये। इनमें प्रधान सेनापति जनरल आरिफ और प्रधान वायु सेनापति जनरल अब्बदी भी थे। देश में शान्ति व व्यवस्था को कायम रखने में नई क्रान्तिकारी सरकार को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। क्रान्ति के विरोध में कहीं कोई विद्रोह, दंगे और हड़ताल आदि नहीं हुई। रेल, तार और डाकखाने आदि सब अपने कार्य पूर्ववत् करते रहे। देश का आर्थिक जीवन किसी भी प्रकार से अस्त-व्यस्त नहीं हुआ। यह समझा जाता था, कि ईराक के विभिन्न प्रदेशों में स्थित सेना क्रान्ति के विरोध में उठ खड़ी होगी। पर यह भी नहीं हुआ, और सम्पूर्ण सेना ने क्रान्ति का साथ दिया। वस्तुतः, पुरानी विकृत सरकार के साथ न जनता की सहानुभूति थी, और न सेना की। इसी कारण क्रान्ति पूर्ण रूप से सफल हो सकी।

ईराक की राज्यक्रान्ति के कारण फिडरल अरब स्टेट का स्वयमेव अन्त हो गया था। १२,००० के लगभग जो ईराकी सैनिक जोर्डन में विद्यमान थे, उन्हें अब वहां से वापस बुला लिया गया। क्रान्तिकारियों ने यह भी यत्न किया, कि जोर्डन में भी राजसत्ता का अन्त होकर रिपब्लिक की स्थापना की जाए। पर वहां क्रान्ति नहीं हो सकी। हुसैन के शासन को वहां स्थापित रखने के लिए ब्रिटेन और अमेरिका ने किस प्रकार सहायता की, इसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है।

२७ जुलाई, १९५८ को ईराक की क्रान्तिकारी सरकार ने अपने देश के लिये एक नये संविधान का निर्माण किया। इसमें नागरिकों के आधारभूत अधिकारों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया। सबको अपने विचारों को स्वतन्त्र रूप से प्रगट करने की स्वतन्त्रता होगी, नसल, धर्म या भाषा आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जायगा, न्याय और शासन विभागों को एक दूसरे से पृथक् रखा जायगा—आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर इस संविधान द्वारा ईराक में एक ऐसे लोकतन्त्र शासन की स्थापना का उद्योग किया गया, जो आधुनिक विचारों के अनुकूल है। साथ ही, यह भी व्यवस्था की गई कि भूमि और अन्य सम्पत्ति के स्वामित्व को इस ढंग से नियन्त्रित किया जायगा, जिससे कि सामाजिक न्याय स्थापित हो सके। पर सार्वजनिक हित में किसी व्यक्तिगत सम्पत्ति के अधिगत कर लिये जाने पर उसका समुचित मुआवजा भी प्रदान किया जाया करेगा।

यद्यपि शुरू में नई क्रान्तिकारी सरकार को किसी विरोध का सामना नहीं करना पड़ा, पर यह दशा देर तक कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही, कासिम और उसके साथियों में मतभेद शुरू हो गये। क्रान्तिकारी मन्त्रिमण्डल में उप-प्रधानमन्त्री का पद कर्नल आरिफ के पास था। यह ध्यान में रखना चाहिए, कि कर्नल आरिफ उन जनरल आरिफ से भिन्न हैं, जो राजा फैजल द्वितीय के समय में ईराक के प्रधान सेनापति थे। कर्नल आरिफ का क्रान्ति में बहुत बड़ा हाथ था। जिस सेना ने १४ जुलाई की सुबह बगदाद की सरकारी इमारतों पर कब्जा किया था, उसका अफसर यही था। कासिम और उसकी सेनाएं उस समय बगदाद से काफी दूर थीं। कर्नल आरिफ का विचार था, कि ईराक को यूनाइटेड अरब रिपब्लिक में शामिल हो जाना चाहिये, ताकि एक शक्तिशाली अरब राष्ट्र का संगठन हो सके। वह नासिर की तटस्थता की नीति के पक्षपाती था और उसका सुझाव समाजवाद की ओर था। पर कासिम के मन्त्रिमण्डल में दक्षिण पक्ष के राजनीतिज्ञ भी सम्मिलित थे, और उन्हें आरिफ के विचार पसन्द नहीं थे। परिणाम यह हुआ, कि ३० सितम्बर, १९५८ को उसे उप-प्रधानमन्त्री के पद से हटा दिया गया, और यह तय किया गया कि उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पश्चिमी जर्मनी में राजदूत का पद दिया जाए। मन्त्रिमण्डल का नये सिरे से निर्माण करते हुए इस समय अन्य भी अनेक मन्त्रियों को अपदस्थ किया गया, क्योंकि ये भी कर्नल आरिफ के समर्थक थे। १२ अक्टूबर के दिन आरिफ ने बगदाद से प्रस्थान कर दिया, पर पश्चिमी जर्मनी न जाकर उसने ब्रुसल्स और वीएना आदि की यात्रा की, और ४ नवम्बर को वह फिर बगदाद वापस लौट आया। अब उसे गिरफ्तार कर लिया गया, और उस पर देश के हितों के विरुद्ध षड्यन्त्र करने और शान्ति तथा व्यवस्था को भंग करने का यत्न करने का मुकदमा चलाया गया। साथ ही, उस पर एक आरोप यह भी लगाया गया, कि उसने कासिम की हत्या का भी प्रयत्न किया गया था। ७ फरवरी, १९५९ को सैनिक न्यायालय ने अपना फैसला सुना दिया, जिसके अनुसार आरिफ को प्राणदण्ड की सजा दी गई। पर साथ ही यह भी सिफारिश कर दी गई, कि उसके प्रति दया का प्रदर्शन किया, जाए और प्राणदण्ड न दिया जाय। इस प्रकार आरिफ प्राणदण्ड से तो बच गया, पर सरकार में उसकी कोई स्थिति नहीं रह गई।

उत्तरी ईराक में मोसल का एक प्रदेश है, जो तेलकूपों के लिए प्रसिद्ध है। शासन की दृष्टि से ईराक जिन १४ प्रदेशों में विभक्त है, मोसल भी उनमें से एक है। ८ मार्च, १९५९ को वहां कासिम की सरकार के विरुद्ध विद्रोह हो गया, जिसका नेता कर्नल अब्दुल वहाब शवाफ था। विद्रोहियों ने मोसल में एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कर ली और ईराकी पेट्रोलियम कम्पनी को यह आदेश दिया, कि वह मोसल के तेलकूपों की रायल्टी बगदाद की सरकार को प्रदान न करे। मोसल के तेलकूपों से २,८०,००,००० टन तेल प्रतिवर्ष निकाला जाता था, और ईराकी सरकार की आमदनी का यह एक मुख्य साधन था। मोसल की नई सरकार अपने क्षेत्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने में भी समर्थ हुई, और उसने यह प्रयत्न करना प्रारम्भ किया कि कासिम की सरकार का अन्त करके सम्पूर्ण ईराक को अपने शासन में ले आये। पर कर्नल शवाफ की सरकार देर तक कायम नहीं रह सकी। शीघ्र ही, कासिम की सेनाओं ने उसे परास्त कर दिया, और मोसल पर फिर से अपना अधिकार स्थापित कर लिया। पर यह विद्रोह इस तथ्य को सूचित करने के लिए पर्याप्त है, कि ईराक के सब लोग कासिम के समर्थक नहीं थे, और वहां उस के विरोधियों की भी कोई कमी नहीं थी। इस विरोध का मुख्य आधार यह प्रश्न था, कि ईराक का यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के साथ क्या सम्बन्ध हो। कर्नल आरिफ के विरोध का भी यही कारण था, और मोसल के विद्रोह का भी। कासिम की सरकार का कहना था, कि मोसल के विद्रोह में यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का ही मुख्य हाथ था, और मोसल की रेडियो के नाम पर जो ब्राडकास्ट किये जाते थे, वे वस्तुतः डमास्कस या कैरो से ही किये जाते थे। इसीलिये इस समय कासिम और यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के सम्बन्ध बहुत कटु हो गये, और इसी कारण अरब रिपब्लिक के बहुत-से राजकर्मचारियों को यह आदेश दिया गया, कि वे २४ घण्टों के अन्दर-अन्दर ईराक को छोड़कर चले जाएं।

कासिम की सरकार की नीति न यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के अनुकूल थी, और न वह कम्युनिज्म की ही समर्थक थी। उस पर ऐसे राष्ट्रवादी नेताओं का प्रभुत्त्व था, जो ईराक को एक पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य के रूप में विकसित करने के लिए प्रयत्नशील थे। ये नेता ईराक को पाश्चात्य साम्राज्यवाद के प्रभाव से भी मुक्त रखने के पक्षपाती थे। इसी कारण २४ मार्च, १९५९ को ईराक ने बगदाद पैक्ट से भी अपने सम्बन्ध का विच्छेद कर दिया था। इस सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा करते हुए कासिम ने कहा था, कि मुझे विश्वास है कि जनता इस समाचार से बहुत प्रसन्न होगी, क्योंकि ऐसे सैनिक व आक्रमणात्मक गुटों की सदस्यता ईराक की तटस्थता की नीति के प्रतिकूल है। जब ईराक बगदाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पैक्ट से पृथक् हो गया, तो इस पैक्ट का मुख्य कार्यालय बगदाद से अंकारा (तुर्की की राजधानी) चला गया।

जुलाई, १९५८ में क्रान्ति के परिणाम-स्वरूप ईराक में राजसत्ता आ अन्त होकर रिपब्लिकन सरकार की स्थापना हो गई थी, और इस सरकार के प्रधान नेता जनरल कासिम थे। पर ईराक में लोकतन्त्र शासन का सफल हो सकना सुगम नहीं था। कासिम एक योग्य सेनापति अवश्य थे, पर लोकतन्त्र सरकार का संचालन करने की योग्यता उन में नहीं थी। ईराक में दो पार्टियां प्रमुख थीं बाथ और कम्युनिस्ट। बाथ पार्टी समाजवाद की पक्षपाती थी, यद्यपि कम्युनिज्म से उसे विरोध था। कासिम ने यह यत्न नहीं किया, कि इनमें से किसी एक पार्टी की अविकल रूप से सहायता प्राप्त कर लोकतन्त्र ढंग से देश का शासन करे। अपने विरोधियों पर उसने घोर अत्याचार किये। उसका शासन एक सैनिक डिक्टेटर के शासन के समान था। अपने विरोधियों पर सरकार के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का आरोप लगाकर उन्हें उसने बड़ी संख्या में गिरफ्तार किया, और उन्हें कठोर दण्ड दिये। वस्तुतः, कासिम का शासन निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी था, और अपने विरोधियों को प्राणदण्ड तथा अन्य कठोर दण्ड देने में वह जरा भी संकोच नहीं करता था। परिणाम यह हुआ, कि उसके विरुद्ध भावना निरन्तर प्रबल होती गई, और ९ फरवरी, १९६३ के दिन एक सैनिक षड्यन्त्र द्वारा उसकी हत्या कर दी गई। साढ़े चार साल के लगभग के अपने शासनकाल में कासिम को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ा था, वे निम्नलिखित थीं—(१) ईराक का एक प्रदेश कुर्दिस्तान था, जिसके निवासी कुर्द कहाते हैं। ईराक की सम्पूर्ण जनसंख्या ७० लाख के लगभग थी, और उनमें कुर्द लोगों की संख्या १७ लाख से भी अधिक थी। कुर्दिस्तान के निवासी चाहते थे, कि वे ईराक से पृथक् होकर स्वतन्त्र कुर्दिस्तान का निर्माण करें। उनका प्रधान नेता मुल्ला मुस्तफा बज्जनी था, जिसके सुयोग्य नेतृत्व में वे अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष में तत्पर थे। (२) क्रान्ति में जिन सैनिक नेताओं ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था, कासिम उनका भी सहयोग प्राप्त नहीं कर सका था। जनरल आरिफ सदृश सेनाओं के प्रति उसने जो व्यवहार किया, उसका उल्लेख अभी ऊपर किया जा चुका है। बहुत-से सैनिक नेता कासिम के स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध थे, जिसके कारण उसकी स्थिति कभी भी पूर्णतया सुरक्षित नहीं हो सकी थी। (३) कासिम की नीति भी स्थिर नहीं थी। कभी कम्युनिस्ट पार्टी की ओर उसका झुकाव होता, और कभी बाथ पार्टी की ओर। राजनीतिक दलों के परस्पर संघर्ष में यदि किसी एक दल का समर्थन कासिम को प्राप्त होता, तो ईराक में लोकतन्त्र शासन सफल होने की सम्भावना हो भी सकती थी। पर कासिम की स्थिति जनता के किसी दल पर आश्रित न होकर उसकी अपनी क्षमता और सैनिक नेताओं के सहयोग पर ही आश्रित थी, और यह सहयोग उसे अविकल रूप से प्राप्त नहीं था। (४) कासिम चाहता था, कि कुवैत को अपने अधिकार में कर के उसे ईराक का एक प्रान्त बना दे। कुवैत का शेख-राज्य (शेखडम) तेल की दृष्टि से बहुत अधिक समृद्ध है। कासिम इसी कारण उसे अधिगत करने के लिये उत्सुक था। पर न अन्य अरब राज्य इससे सहमत थे, और न ब्रिटेन। यही कारण है, जो ब्रिटेन ने यह आवश्यकता भी अनुभव की थी, कि कुवैत में अपनी सेनाएं भेज दे, ताकि ईराक उस पर अपना कब्जा न कर सके।

कासिम के शासन का सम्पूर्ण काल इन्हीं समस्याओं में उलझे रहने में व्यतीत हो गया। वह न जनता को संतुष्ट कर सका, और न देश में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सकने में ही उसे सफलता प्राप्त हुई। उसके शासन के विरुद्ध असन्तोष की अग्नि धीरे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे सुलगती रही, और अन्त में एक सैनिक षड्यन्त्र द्वारा उसकी सत्ता का अन्त कर दिया गया (फरवरी, १९६३)। कासिम के पतन के बाद ईराक के शासन के लिये जिस नई सरकार का संगठन हुआ, उसका संचालन बाथ पार्टी द्वारा किया जा रहा था, और राष्ट्रपति के पद पर आरिफ की नियुक्ति की गई थी। पर बाथ पार्टी की सरकार भी देर तक ईराक का शासन नहीं कर सकी। नवम्बर, १९६३ में राष्ट्रपति आरिफ ने इस सरकार का अन्त करके सब शासन-शक्ति अपने हाथों में ले ली, और ईराक में एक बार फिर सैनिक डिक्टेटरशिप की स्थापना हो गई। एप्रिल, १९६६ में एक वायु दुर्घटना में राष्ट्रपति आरिफ की मृत्यु हो गई, और उनके भाई अब्दुल रहमान आरिफ को ईराक का राष्ट्रपति चुना गया। वस्तुतः, अब तक भी ईराक में एक सुव्यवस्थित व लोकतन्त्र सरकार की स्थापना नहीं हो सकी है, और सैनिक व अन्य षड्यन्त्रों द्वारा सरकार को पलट देने के प्रयत्न वहां होते रहते हैं।

कुर्दिस्तान की समस्या को हल करने में अब ईराकी सरकार सफल हो गई है। ११ मार्च, १९७० के दिन कुर्दिस्तान और ईराक के उस सशस्त्र संघर्ष का अन्त हो गया, जो दस साल से चला आ रहा था। ईराक की सरकार ने यह स्वीकार कर लिया है, कि कुर्दिस्तान एक अल्पसंख्यक जातिय क्षेत्र है, जिसकी अपनी पृथक् संस्कृति है। कुर्द भाषा को दूसरी सरकारी भाषा मान लिया गया है, और कुर्द लोगों को अपने क्षेत्र में स्वायत्त शासन के अधिकार प्रदान कर दिये गये हैं। यह भी व्यवस्था की गई, कि ईराक का एक उपराष्ट्रपति कुर्द हुआ करे।

(५) अरब की राष्ट्रीय एकता के लिये प्रयत्न

यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का अंगभंग---फरवरी, १९५८ में किस प्रकार यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थापना हुई, इसका उल्लेख इसी अध्याय में ऊपर किया जा चुका है। इस रिपब्लिक में दो राज्य सम्मिलित थे, ईजिप्ट और सीरिया। पर इन राज्यों का यह यूनियन देर तक कायम नहीं रह सका। सितम्बर, १९६१ में सीरिया यूनाइटेड अरब रिपब्लिक से पृथक् हो गया, और उसने पहले (१९५८ से पूर्व) के समान एक स्वतन्त्र और सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली। येमन ने भी उसका अनुसरण किया, और २६ दिसम्बर, १९६१ के दिन उस संयुक्त अरब राज्य संघ का अन्त हो गया जिसका निर्माण उसने ईजिप्ट के साथ मिलकर किया था।

पर ईजिप्ट से पृथक् हो जाने पर भी सीरिया में एक सुव्यवस्थित शासन की स्थापना सम्भव नहीं हो सकी। इस देश में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के विचार से सहमत थे, और सब अरब राज्यों को एक सूत्र में संगठित कर एक विशाल अरब राष्ट्र का निर्माण करने के पक्षपाती थे। मार्च, १९६२ में इन्होंने शक्ति प्राप्त कर ली, और यूनियन के विरोधी लोगों को सरकार से बहिष्कृत कर दिया। इन्होंने यह भी यत्न किया, कि फिर से ईजिप्ट के साथ मिलकर यूनाइटेड अरब रिपब्लिक में सीरिया को सम्मिलित कर दिया जाए। पर इस प्रयत्न में इन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। सीरियन लोगों में अपने पृथक्त्व की जो भावना थी, उसी के कारण वह नासिर के नेतृत्त्व को सहन करने के लिये उद्यत नहीं थे। यूनाइटेड अरब रिपब्लिक में सम्मिलित होने का यही परिणाम होता, कि सीरिया के शासन पर भी नासिर के प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में वृद्धि हो जाती। यह बात अनेक सीरियन नेताओं को पसन्द नहीं थी। पर प्रायः सभी अरब राज्यों में अरब राष्ट्रीयता का विचार इतना प्रबल होता जा रहा था, कि सीरिया में भी ऐसे लोगों की कोई कमी नहीं थी जो नासिर के नेतृत्व के पक्षपाती थे। फरवरी, १९६३ में जब एक षड्यन्त्र द्वारा ईराक में कासिम के शासन का अन्त हुआ और वहां एक ऐसी सरकार की स्थापना हुई, जिसमें बाथ पार्टी का प्रभुत्त्व था, तो सीरिया में भी नासिर के पक्षपातियों की शक्ति बढ़ गई। ईराक के समान सीरिया में भी बाथ पार्टी की सत्ता थी, जो समाजवाद के साथ-साथ अरब राष्ट्रीयता में भी विश्वास रखती है। इसी कारण मार्च, १९६३ में एक बार फिर सीरिया की सरकार में परिवर्तन हुआ, और सरकार से सब ऐसे लोगों को बहिष्कृत कर दिया गया जो कि नासिर के विरोधी थे। यदि नासिर चाहता, तो इस समय सीरिया को एक बार फिर यूनाइटेड अरब रिपब्लिक में सम्मिलित हो जाने के लिये प्रेरित कर सकता था, पर उसने इसके लिये कोई यत्न नहीं किया। उसकी यह नीति थी, कि सीरिया के आन्तरिक मामलों में किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप न किया जाए, और इस राज्य को अपनी नीति का स्वयमेव निर्णय करने दिया जाए।

अरब फिडरेशन—यद्यपि सीरिया पुनः यूनाइटेड अरब रिपब्लिक में सम्मिलित नहीं हुआ, पर अरबों के विविध राज्यों में यह विचार निरन्तर जोर पकड़ता गया कि राष्ट्रीय दृष्टि से सब अरब एक हैं, और उनको एक राज्य के रूप में संगठित होना चाहिए। नासिर इस विचार के प्रधान नेता थे। वस्तुतः, अरब की वर्तमान समय में वही दशा है, जो कि उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में जर्मनी और इटली की थी। उस काल में ये देश भी अनेक छोटे-बड़े राज्यों में विभक्त थे। पर राष्ट्रीय भावना के प्रबल होने के कारण बाद में ये विशाल राष्ट्रों के रूप में संगठित हो गये। पर जर्मन और इटालियन राष्ट्रीयता को सफल होने में बहुत पर्याप्त समय लगा। अरब लीग और यूनाइटेड अरब रिपब्लिक अरब राष्ट्रीय भावना के विकास के कारण ही संगठित हुई थीं। एप्रिल, १९६३ में ईजिप्ट, ईराक और सीरिया ने यह घोषणा की, कि तीनों राज्य परस्पर मिलकर एक अरब फिडरेशन का निर्माण करने के लिये उद्यत हैं। इस फिडरेशन का संगठन करने के लिये निम्नलिखित बातें स्वीकार की गईं—(१) फिडरेशन में सम्मिलित तीनों राज्यों की पृथक् सरकारें, पृथक् पार्लियामेंट और पृथक् पुलिस कायम रहेंगी। (२) पर उनकी सेना एक होगी, और विदेशी सम्बन्धों के लिए भी वे एक साथ मिलकर कार्य करेंगे। (३) कैरो (ईजिप्ट) को फिडरेशन की राजधानी बनाया जायगा। (४) फिडरेशन की पृथक् पार्लियामैन्ट होगी, जिसमें दो सदन रहेंगे। निचले सदन में प्रतिनिधित्व का आधार जनसंख्या होगी, पर द्वितीय सदन में तीनों राज्यों को एक बराबर प्रतिनिधित्व प्राप्त रहेगा।

१९६३ की घोषणा के पश्चात् अरब राज्यों के संगठन की जिस प्रवृत्ति का श्रीगणेश हुआ था, उसी के कारण १३ अगस्त, १९६४ के दिन अरब राज्यों के लिये एक कामन मार्केट के निर्माण की योजना बनायी गई, जिसमें यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, ईराक, जोर्डन, कुवैत और सीरिया ने सम्मिलित होना स्वीकार किया। यह व्यवस्था की गई, कि इस कामन मार्केट में सम्मिलित राज्य अपनी-अपनी पैदावार तथा मुद्राओं को बिना किसी बाधा के एक-दूसरे के राज्य क्षेत्र में ले जा सकें। यूरोप की कामन मार्केट के नमूने पर ही इस अरब कामन मार्केट के निर्माण की योजना बनायी गई थी। इसे १ जनवरी, १९६५ से लागू किया जाना था, पर १९६३ के अरब फिडरेशन की योजना के समान इसे भी क्रियान्वित नहीं किया जा सका। पर अरब राज्यों के एकीकरण तथा उनमें परस्पर सहयोग की स्थापना के विचार इतने प्रबल थे, कि २८ सितम्बर, १९७०

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के राष्ट्रपति नासिर की आकस्मिक मृत्यु के पश्चात् एक बार फिर अरब राज्यों को एक संगठन में संगठित करने का प्रयत्न किया गया। ८ नवम्बर, १९७० को ईजिप्ट (यूनाइटेड अरब रिपब्लिक), लिबिया और सूडान के प्रतिनिधि कैरो में एकत्र हुए, और उन्होंने इन तीनों राज्यों का एक संघ बनाने के निश्चय की घोषणा की। कुछ दिन बाद १४ नवम्बर को सीरिया ने भी इस संघ में सम्मिलित होने का निर्णय किया। इसी का यह परिणाम हुआ, कि १७ एप्रिल, १९७१ के दिन यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, सीरिया और लिबिया के राष्ट्रपतियों ने बेनगाजी (लिबिया) नामक नगर में एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये, जिस द्वारा इन तीन गणराज्यों ने मिल कर एक 'अरब गणराज्य संघ' (Union of Arab Republics) बनाने का निश्चय किया। संघ के लिये जो संविधान तैयार किया गया, उसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं—(१) संघ के लिये एक राष्ट्रपति-समिति (Presidential Council) का निर्माण किया जाए, जिसमें संघ में सम्मिलित तीनों राज्यों के राष्ट्रपति सदस्य रूप से रहें। इस समिति का संघ में सर्वोच्च स्थान हो। (२) संघ में सम्मिलित राज्यों की एक संयुक्त कमाण्ड बनायी जाए, जो इन राज्यों की सेनाओं के प्रशिक्षण का कार्य करे। संयुक्त कमाण्ड के प्रधान सेनापति की नियुक्ति राष्ट्रपति-समिति द्वारा की जाया करे। (३) संघ के लिये एक फिडरल कोर्ट संगठित किया जाए, जो संघ के संविधान तथा कानून की व्याख्या का कार्य किया करे। (४) संघ में सम्मिलित तीनों राज्यों की अपनी-अपनी सरकारें तथा पार्लियामैन्ट पृथक् रूप से कायम रहें। (५) संघ में सम्मिलित राज्यों को विदेशों के साथ समझौते व सन्धियां करने का अधिकार रहे, और वे अन्य देशों में अपने राजनयिक प्रतिनिधि भी नियुक्त कर सकें। १ सितम्बर, १९७१ के दिन संघ के इस संविधान पर तीनों राज्यों में लोकमत लिया गया, और उसके स्वीकृत हो जाने पर उसे लागू कर दिया गया। संघ के राष्ट्रपति पद पर अनवर सदात के नियुक्त किया गया, जो नासिर की मृत्यु के पश्चात् यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के राष्ट्रपति बने थे। इस प्रकार अरब गणराज्यों के जिस संघ का निर्माण हुआ, उसकी जनसंख्या ४,२०,००,००० के लगभग है, और इसके कारण अरब राज्यों के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हो गया है।

इस संघ द्वारा तीन अरब गणराज्यों में सहयोग की स्थापना तो हो गई थी, पर राजनीतिक दृष्टि से उनकी पृथक् सत्ता कायम रही थी। अरब के एकीकरण की जो प्रवृत्ति इस समय विकसित हो रही थी, उसके कारण यह अनुभव किया जाने लगा, कि इन राज्यों को राजनीतिक तथा प्रशासकीय दृष्टि से भी एक किये जाने का प्रयत्न उपयोगी होगा। इसीलिये यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के राष्ट्रपति अनवर सदात और लिबिया के राष्ट्रपति कर्नल गद्दाफी ने परस्पर विचार विमर्श प्रारम्भ किया (जुलाई-अगस्त, १९७२), और उन्होंने यह निश्चय किया कि यूनाइटेड अरब रिपब्लिक और लिबिया में पूर्ण राजनीतिक ऐक्य की स्थापना की जाए, और इसके लिये निम्नलिखित उपाय प्रयोग में लाये जाएं—(१) दोनों राज्यों की एक संयुक्त राजनीतिक कमाण्ड का निर्माण किया जाए, जिसके स्वरूप का निर्धारण दोनों राज्यों के राष्ट्रपति परस्पर मिल कर करें। यह संयुक्त कमाण्ड कतिपय ऐसे कमीशनों की नियुक्ति करे, जो इस बात का अनुशीलन करें कि किन क्षेत्रों में तथा किस ढंग से संयुक्त अरब रिपब्लिक और लिबिया में ऐक्य स्थापित कर सकना सम्भव है। ये क्षेत्र अनेक हो सकते हैं, यथा संवैधानिक विषय, सुरक्षा, आर्थिक संगठन, प्रशासन तथा वित्तविषयक मामले, शिक्षा, संस्कृति, विज्ञान, सूचना-विभाग आदि। (२) ये कमीशन विचार विमर्श के अनन्तर अपनी रिपोर्ट संयुक्त राजनीतिक कमाण्ड के समक्ष प्रस्तुत करें, और कमाण्ड यह निर्णय करे कि इन रिपोर्टों में की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई सिफारिशों को क्रियान्वित करने के लिये क्या उपाय किये जाने चाहियें। (३) यूनाइटेड अरब रिपब्लिक और लिबिया के राजनीतिक ऐक्य की स्थापना के लिये संयुक्त राजनीतिक कमाण्ड द्वारा जो सुनिश्चित योजना प्रस्तुत की जाए, उसे पहले दोनों राज्यों की सरकारों के समक्ष पेश किया जाए और वहां से स्वीकृत हो जाने के पश्चात् उस पर दोनों राज्यों की जनता का लोकमत (रिफरेण्डम) लिया जाए। प्रयत्न किया जाए, कि ये सब कार्य शीघ्र ही सम्पन्न हो जाएं, और १ सितम्बर, १९७३ तक यूनाइटेड अरब रिपब्लिक और लिबिया में राजनीतिक ऐक्य स्थापित कर दिया जाए। संयुक्त राजनीतिक कमाण्ड इस सम्बन्ध में आवश्यक कार्य करने में तत्पर है, और उस द्वारा यह निर्धारित किया जा चुका है, कि यूनाइटेड अरब रिपब्लिक और लिबिया में ऐक्य स्थापित कर जिस नई रिपब्लिक का निर्माण किया जायगा, उसकी राजधानी कैरो होगी और राष्ट्रपति की नियुक्ति इस रिपब्लिक के सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से अपने वोट के अधिकार को प्रयुक्त करके की जाया करेगी। अन्य अरब राज्यों को भी यह अधिकार होगा, कि वे इस रिपब्लिक के संविधान को स्वीकार कर इसमें सम्मिलित हो सकें। यूनाइटेड अरब रिपब्लिक और लिबिया के ऐक्य के परिणामस्वरूप जिस नई रिपब्लिक का निर्माण होगा, वह क्षेत्रफल में दस लाख वर्गमील के लगभग होगी, और उसकी जनसंख्या चार करोड़ के लगभग होगी। क्षेत्रफल और जनसंख्या—दोनों दृष्टियों से यह सब से विशाल अरब राज्य होगा।

इसमें सन्देह नहीं, कि अरब राज्यों के एकीकरण का आन्दोलन निरन्तर जोर पकड़ रहा है। पर अब तक इस विषय में किये गये प्रयत्न जो भली भांति सफल नहीं हो सके हैं, उसका मुख्य कारण यह है कि विविध अरब राज्यों की ऐतिहासिक परम्पराओं में बहुत भेद हैं। अनेक अरब राज्यों में वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन है, और ये राज्य किसी ऐसी व्यवस्था को सुगमता के साथ स्वीकार नहीं कर सकते जिसमें उनकी कुल मर्यादा को क्षति पहुंचती हो। सीरिया और लेबेनान चिरकाल तक फ्रांस के शासन में रहे, और ईजिप्ट, जोर्डन, ईराक तथा पैलेस्टाइन ब्रिटेन की अधीनता में। दो विभिन्न पाश्चात्य देशों के साथ घनिष्ट सम्पर्क रहने के कारण उनमें विभिन्न परम्पराओं का विकास हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उनका एक हो सकना सुगम नहीं है। पर यह भी तथ्य है, कि अरब लोगों में राष्ट्रीय एकता की भावना प्रबल रूप से विद्यमान है, और ज्यों-ज्यों इन देशों में जागृति होती जायगी और ये लोकतन्त्रवाद की दिशा में अग्रसर होते जायेंगे, उनका एकीकरण भी कठिन नहीं रहेगा।

दक्षिणी अरब फिडरेशन—अरब प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग में बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी, जिसके वंशक्रमानुगत राजा शेख, अमीर या सुलतान कहाते थी। इसी क्षेत्र में अदन की स्थिति है। पश्चिमी एशिया में अदन ब्रिटेन की शक्ति का उसी प्रकार केन्द्र रहा है, जैसे कि दक्षिण-पूर्वी एशिया में सिंगापुर। इसका क्षेत्रफल केवल ८००० वर्ग मील है, यद्यपि इसकी जनसंख्या २,४०,००० के लगभग है। यह ब्रिटेन के अधीन था, और इसका शासन ब्रिटेन के औपनिवेशिक विभाग द्वारा किया जाता था। अदन की कोलोनी के साथ ही अदन प्रोटेक्टोरेट की स्थिति थी, जो अदन के पूर्व में अरब प्रायद्वीप के दक्षिणी समुद्रतट के साथ-साथ दूर तक फैला हुआ है। क्षेत्रफल की दृष्टि से यह बहुत विशाल है। लम्बाई में यह ७०० मील है, और इसका क्षेत्रफल ६२,००० वर्ग मील के लगभग है। इतने विशाल प्रदेश में केवल १५ लाख के लगभग व्यक्तियों का निवास था, जो बहुत-से कबीलों में विभक्त थे। प्रत्येक कबीले का अपना-अपना सरदार था, जो अपने कबीले पर स्वेच्छापूर्वक शासन करता था। सरदारों का चुनाव कबीलों द्वारा ही किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता था, पर क्योंकि अरब प्रोटेक्टोरेट का यह प्रदेश ब्रिटेन के संरक्षण में था, अतः जब कोई कबीला किसी व्यक्ति को अपना सरदार चुनता था, तो उसके लिये अदन के ब्रिटिश गवर्नर से स्वीकृति ले ली जाती थी। इस अदन प्रोटेक्टोरेट में ब्रिटेन की ओर से दो एजेन्ट भी नियुक्त किये जाते थे, जो इस क्षेत्र के विविध कबीलों के शासन पर अपना नियन्त्रण रखते थे। विविध कबीलों और उनके सरदारों की सत्ता के होते हुए भी उस प्रदेश पर ब्रिटेन का प्रभुत्व विद्यमान था।

अरब प्रोटेक्टोरेट के पूर्व और पूर्व-उत्तर में अरब सागर और ईरान की खाड़ी के समुद्रतट के साथ-साथ अनेक राज्यों की सत्ता है, जिनमें ओमन, कतार और कुवैत प्रधान हैं। इस क्षेत्र के राज्य संख्या में २३ हैं, और इन पर विविध शेखों, अमीरों या सुलतानों का शासन है। इन्हें ही इस इतिहास में हम 'शेखडम' के नाम में लिखते रहे हैं। क्योंकि इनमें बहुसंख्यक राज्य तेल की दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध हैं, अतः पाश्चात्य यूरोपियन राज्य इन्हें अपने प्रभाव में रखने के लिये प्रयत्नशील रहे हैं। यद्यपि इनकी स्थिति स्वतन्त्र राज्यों के समान है, पर इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ये सब ब्रिटेन के प्रभाव हैं, यद्यपि अब ये स्वतन्त्र स्थिति प्राप्त कर चुके हैं।

बीसवीं सदी में जब अरब में राष्ट्रीयता की भावना का विकास प्रारम्भ हुआ, तो दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी अरब के ये विविध राज्य भी उसके प्रभाव से वञ्चित नहीं रह सके। इसी कारण यह विचार उत्पन्न हुआ, कि इन सब राज्यों को मिलाकर एक फिडरेशन के रूप में संगठित कर दिया जाना चाहिए, और अदन, अदन प्रोटेक्टोरेट और इस क्षेत्र के शेखडमों पर ब्रिटेन का जो प्रभुत्व और प्रभाव विद्यमान है, उसका भी अन्त होना चाहिए। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) के बाद के वर्षों में अरब प्रायद्वीप के प्रायः अन्य सभी राज्य पाश्चात्य साम्राज्यवाद से मुक्ति पा चुके थे। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक भी था, कि अदन कोलोनी आदि में भी स्वतन्त्रता के आन्दोलनों का सूत्रपात हो। ब्रिटेन के लिए भी इसकी उपेक्षा कर सकना सम्भव नहीं था। नासिर के नेतृत्त्व में अरब के राज्यों को एक सूत्र में संगठित करने के लिये जो प्रयत्न इस काल में जारी थे, उचित तो यह था कि दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी अरब के ये छोटे-छोटे राज्य भी उनमें सहयोग देते। पर अभी इनमें अपने पृथक्त्व की भावना बहुत प्रबल थी, और साथ ही ब्रिटेन जैसे साम्राज्यवादी देश को भी यह अभीष्ट नहीं था, कि एक विशाल एवं शक्तिशाली अरब राष्ट्र का संगठन सम्पन्न हो जाए। इसके अतिरिक्त ब्रिटेन को यह भी भय था, कि अरब कोलोनी और प्रोटेक्टोरेट में स्वतन्त्रता और लोकतन्त्र शासन के लिए जो आन्दोलन चल रहे हैं, उनका सफल होना अंग्रेजों के हित में बाधक होगा। अतः १९५९ में ब्रिटेन ने यह निश्चय किया, कि दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी अरब के विविध राज्यों को मिलाकर एक दक्षिणी अरब फिडरेशन का निर्माण किया जाए, जिसमें अरब कोलोनी और प्रोटेक्टोरेट भी सम्मिलित रहें।

दक्षिण येमन रिपब्लिक—पर इन प्रदेशों के निवासियों को ब्रिटेन की योजना से संतोष नहीं हुआ। वे पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे। इसीलिए वहां एक नेशनल लिबरेशन फ्रंट का संगठन किया गया, और उसने स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। बहुत से कबीलों के सरदारों (राजाओं) को पदच्युत कर दिया गया, और वहां के लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। इस दशा में ब्रिटेन ने यही उचित समझा, कि इस देश से अपने प्रभुत्त्व का अन्त कर इसकी स्वतन्त्रता को स्वीकार कर लिया जाये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२९ नवम्बर, १९६७ को ब्रिटिश सेना ने अदन से विदा ले ली, और १० नवम्बर, १९६७ को दक्षिणी येमन की स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई। अदन कोलोनी, अदन प्रोटेक्टोरेट और दक्षिणी अरब के प्रदेश इस राज्य में सम्मिलित हैं।

(६) अरब-इजराईल युद्ध

इजराईल के रूप में यहूदी लोगों का जो एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य अरब के उत्तर-पश्चिमी क्षेत्र में स्थापित कर दिया गया था, विविध अरब राज्य उसकी सत्ता को सहन करने के लिए तैयार नहीं थे, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इसी कारण गत बीस वर्षों से इजराईल और पड़ौस के अरब राज्यों में किसी न किसी रूप में संघर्ष होता रहता था। यही संघर्ष ५ जून, १९६७ के दिन एक युद्ध के रूप में परिवर्तित हो गया। लाल सागर (रेड सी) के उत्तर-पश्चिम में अकबा की खाड़ी की स्थिति है, जिसके पश्चिम में यूनाइटेड अरब रिपब्लिक है, और पूर्व में सौदी अरेबिया। इसका उत्तरी कोना इजराईल के साथ लगता है, जहाँ ऐलत का बन्दरगाह विद्यमान है। यह बन्दरगाह इजराईल के क्षेत्र में है, और एशिया के विविध देशों के साथ अपना व्यापार-सम्बन्धी सम्पर्क कायम रखने के लिए इजराईल इसी का प्रयोग करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अकबा की खाड़ी एक अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग है, क्योंकि इसके साथ चार स्वतन्त्र राज्यों की सीमाएं लगती हैं, यूनाइटेड अरब रिपब्लिक, सौदी अरेबिया, इजराईल और जोर्डन। इस खाड़ी का उत्तरी कोना जोर्डन के साथ भी छूता है। क्योंकि अकबा की खाड़ी को अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग स्वीकार किया जाता था, अतः इजराईल के जहाज भी उसका प्रयोग किया करते थे।

पर अकबा की खाड़ी में प्रवेश तिरान के जलडमरूमध्य द्वारा होता है, जिसके पश्चिम में यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थिति है, और पूर्व में सौदी अरेबिया की। इन अरब राज्यों का यह मन्तव्य था, कि क्योंकि तिरान का जलडमरूमध्य केवल ६ मील चौड़ा है, और इसकी स्थिति उनके अपने सामुद्रिक क्षेत्र में है, अतः उन्हें यह अधिकार है कि वे अन्य देशों द्वारा इसके प्रयोग को नियन्त्रित कर सकें। इसीलिए २४ मई, १९६७ को ईजिप्ट (यूनाइटेड अरब रिपब्लिक) के राष्ट्रपति नासिर ने यह घोषणा की, कि यदि इजराईल के जहाज तिरान के जलडमरू मध्य द्वारा अकबा की खाड़ी में आने-जाने का प्रयत्न करेंगे, तो शक्ति का प्रयोग कर उनका प्रतिरोध किया जायगा, और ईजिप्ट को यह भी अधिकार होगा, कि इस जलडमरू-मध्य द्वारा आने-जाने वाले अन्य देशों के जहाजों की भी तलाशी ले सके। ईजिप्ट ने यह आज्ञा इस प्रयोजन से जारी की थी, ताकि कोई देश अकबा की खाड़ी द्वारा इजराईल को अस्त्र-शस्त्र न पहुँचा सके। इसी समय के लगभग ईजिप्ट ने संयुक्त राष्ट्र-संघ से यह अनुरोध किया, कि राष्ट्र-संघ की ओर से जो सेनाएं ईजिप्ट और इजराईल की सीमा पर स्थापित हैं, उन्हें वहां से हटा लिया जाए। ये सेनाएं सिनाई के प्रायद्वीप में विद्यमान थीं, और इनका प्रयोजन इन दोनों देशों की सीमा पर संघर्ष को रोकना था। क्योंकि ये सेनाएं ईजिप्ट और इजराईल की सहमति से ही सिनाई प्रायद्वीप में रखी गई थीं, अतः ये तभी तक वहाँ रह सकती थीं, जब तक कि दोनों देश इन्हें वहां रखने से सहमत हों। अब क्योंकि ईजिप्ट ने स्पष्ट रूप में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेना को सिनाई प्रायद्वीप से हटा लेने का अनुरोध किया था, अतः राष्ट्र-संघ के प्रधान सचिव यू थान्त ने यही उचित समझा, कि इस सेना को ईजिप्ट और इजराईल की सीमा से वापस बुला लिया जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त-राज्य अमेरिका का यह मन्तव्य था, कि अकबा की खाड़ी एक अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग है, और सब देशों को उसे अबाध रूप में प्रयुक्त करने का अधिकार है। अतः उन्होंने यह घोषणा की, कि यदि तिरान के जलडमरूमध्य को अवरुद्ध करने का प्रयत्न किया जायगा, तो ये राज्य इस बात को इजराईल के विरुद्ध आक्रमण समझेंगे, और उसका प्रतिरोध करेंगे। पर यूनाइटेड अरब रिपब्लिक ने अमेरिका और ब्रिटेन की इस चेतावनी की कोई परवाह नहीं की। वस्तुतः, इस समय अरब राज्यों की इजराईल के प्रति विरोध-भावना इतना उग्र रूप धारण कर चुकी थी, कि इन दोनों पक्षों के लिये अपनी शक्ति को युद्ध द्वारा आजमा लेना अत्यन्त आवश्यक एवं अवश्यम्भावी हो गया था। इस प्रसंग में यह भी ध्यान में रखना चाहिये, कि रूस यूनाइटेड अरब रिपब्लिक का समर्थक था, और उसे सब प्रकार से अस्त्र-शस्त्र आदि की सहायता प्रदान करने के लिए तैयार था। इसके विपरीत अमेरिका और ब्रिटेन इजराईल की पीठ पर थे, और इस राज्य को अरब के क्षेत्र में अपने प्रभाव को स्थापित रखने के लिए आधार के रूप में प्रयुक्त कर रहे थे।

यह स्थिति थी, जबकि ५ जून, १९६७ के दिन इजराईल ने अपने पड़ौसी अरब राज्यों पर अकस्मात् आक्रमण कर दिया। ८० घन्टों के थोड़े-से अरसे में इजराईल की सेना ने यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के ६०० टैन्कों और ६५० हवाई जहाजों को नष्ट कर दिया, और १०,००० से भी अधिक सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया। इजराईल की सेनाएं सिनाई प्रायद्वीप में आगे बढ़ती हुईं स्वेज की नहर तक पहुंच गईं, और उन्होंने गाजा के क्षेत्र (यह सिनाई प्रायद्वीप का वह भाग है, जो इजराईल के दक्षिण में स्थित है) तथा शर्म-एल-शेख के बन्दरगाह को अपने अधिकार में ले लिया। इजराईल के हवाई हमलों से बहुत-से जहाज स्वेज नहर के क्षेत्र में डूब गये, जिनके कारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का यह जलमार्ग अवरुद्ध हो गया। पूर्व दिशा में आगे बढ़ती हुई इजराईल की सेनाओं ने सम्पूर्ण जेरूसलम पर कब्जा कर लिया, और जोर्डन के राज्य में वे बहुत दूर तक आगे बढ़ गईं, जिसके कारण जोर्डन नदी के पश्चिम का सारा प्रदेश उनके कब्जे में आ गया। सीरिया के क्षेत्र में भी इजराईल की सेनाएं १२ मील तक आगे बढ़ गईं, और ८० घण्टों के स्वल्प समय में इजराईल ने अरब राज्यों के इतने प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, जिसका क्षेत्रफल उनके अपने राज्य के क्षेत्रफल से तिगुने के लगभग था।

इजराईल और अरब राज्यों के इस युद्ध में इजराईल पूर्ण रूप से विजयी हुआ। इसमें सन्देह नहीं, कि जोर्डन और सीरिया इस युद्ध में यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के साथ थे, और अल्जीरिया, कुवैत तथा ईराक ने भी उसकी सहायता की थी। पर लिबिया, सौदी अरेबिया, ट्यूनीसिया और मोरक्को के अरब राज्यों ने इस युद्ध में तटस्थता की नीति का आश्रय लिया, और रूस, ब्रिटेन तथा अमेरिका ने भी स्पष्ट रूप से किसी पक्ष में सम्मिलित न होना ही उचित समझा। विश्वशान्ति की दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ। अन्यथा बीसवीं सदी के तृतीय महायुद्ध का सूत्रपात इस समय हो जाने में कोई देर नहीं थी। यूनाइटेड अरब रिपब्लिक के राष्ट्रपति नासिर को अपने देश की पराजय से इतना धक्का लगा, कि उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, यद्यपि जनता के अनुरोध से उन्होंने अपने त्यागपत्र को शीघ्र ही वापिस ले लिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्न से इजराईल और अरब राज्यों का यह युद्ध अधिक उग्र रूप धारण नहीं कर सका, और १० जून, १९६७ के दिन दोनों पक्षों में युद्धविराम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सन्धि हो गई। पर इसके कारण इजराईल और अरबों के पारस्परिक संघर्ष का अन्त नहीं हो गया। बाद में भी ऐसी घटनाएं होती रहीं, जिनके कारण इन पक्षों में संघर्ष जारी रहा। २१ अक्टूबर, १९६७ को यूनाइटेड अरब रिपब्लिक ने इजराईल के जंगी जहाज ऐल-एलथ को पोर्ट सईद के समीप डुबा दिया, और इसका प्रतिशोध करने के लिए इजराईल ने यूनाइटेड अरब रिपब्लिक की तेल की रिफाइनरी (जो स्वेज के क्षेत्र में स्थित थी) को नष्ट कर दिया। इजराईल और अरब राज्यों में स्थायी शान्ति कैसे स्थापित की जाए, यह प्रश्न अब भी पूर्ववत् विद्यमान रहा। २३ नवम्बर, १९६७ को ब्रिटेन की ओर से संयुक्त राष्ट्रसंघ की सुरक्षा परिषद् के सम्मुख यह प्रस्ताव पेश किया गया, कि (१) इजराईल की सेनाएं उन स्थानों पर वापस चली जाएं, जहां कि वे युद्ध प्रारम्भ होने से पहले थीं, और इस प्रकार इजराईल उन प्रदेशों को खाली कर दे जिन पर कि उसने युद्ध द्वारा कब्जा किया था। (२) संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रधान सचिव द्वारा एक प्रतिनिधि की इस प्रयोजन से नियुक्ति की जाए, ताकि वह पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापित रखने के लिए प्रयत्न करे और इजराईल तथा अरब राज्य-दोनों पक्षों में एक समझौता कराए। सुरक्षा परिषद् ने ब्रिटेन के इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, और इसके अनुसार मि० गुन्नार जेरिंग को पश्चिमी एशिया के लिए राष्ट्रसंघ का विशेष प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया गया। पर उन्हें अपने प्रयत्न में विशेष सफलता नहीं हुई, और इजराईल-अरब संघर्ष पूर्ववत् जारी रहा।

१९६७ के अरब-इजराईल युद्ध के अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम हुए हैं। इजराईल द्वारा की गई गोलाबारी के कारण स्वेज की नहर में अनेक जहाज डूब गये थे, जिसके परिणामस्वरूप यह महत्त्वपूर्ण जलमार्ग अवरुद्ध हो गया है। इस समय (जून, १९७३) तक भी स्वेज की नहर को जहाजों के यातायात के लिये खोला नहीं जा सका है, और पूर्व तथा पश्चिम के बीच आने-जाने वाले जहाजों को अफ्रीका का चक्कर लगाना पड़ रहा है। जब तक पश्चिमी एशिया में स्थायी शान्ति स्थापित नहीं हो जाती, इस जलमार्ग को प्रयुक्त कर सकना सम्भव नहीं होगा। १९६७ के युद्ध में अरबों की पराजय हुई थी, और वे इजराईल का मुकाबिला करने में असमर्थ रहे थे। नासिर के प्रभाव को इससे बहुत धक्का लगा, और अरब राज्यों में उनकी जो स्थिति पहले थी वह कायम नहीं रह सकी। क्योंकि पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में रूस अरब राज्यों का समर्थक है, अतः उसकी स्थिति भी इस युद्ध के कारण डांवाडोल हो गई और चीन को यह कहने का अवसर प्राप्त हो गया कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में रूस पश्चिम के पूंजीवादी देशों के साथ सहयोग एवं सह-अस्तित्व की जिस नीति का अनुसरण करने में तत्पर है, उसी के कारण इस युद्ध में अरबों को नीचा देखना पड़ा है। पर इस युद्ध के पश्चात् रूस अरब राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों को और अधिक सुदृढ़ करने में तत्पर हो गया और उस द्वारा इन राज्यों को अधिक परिमाण में सैनिक सहायता दी जाने लगी।

इजराईल और अरब की समस्या का समाधान करने के प्रयत्न १९६७ के युद्ध के बाद भी जारी रहे। जनवरी, १९६९ में रूस द्वारा यह सुझाव पेश किया गया, कि इजराईल उन प्रदेशों को खाली कर दे जिन पर कि उसने ५ जून, १९६७ के बाद कब्जा किया था। साथ ही, अरब राज्य इजराईल की वैधसत्ता को स्वीकार कर लें और स्वेज की नहर तथा अकबा की खाड़ी के उस द्वारा प्रयुक्त किये जाने का विरोध न करें। पर अरब राज्यों के लिये इस प्रस्ताव को स्वीकृत कर सकना भी सम्भव नहीं हुआ। इससे नासिर के प्रभाव में और कमी आ जाती, और अरब राज्यों से उसके नेतृत्व का अन्त हो जाता। सीरिया भी इसे स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुआ, और अरब छापामारों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस का उग्ररूप से विरोध किया। अरब की वर्तमान राजनीति में छापामारों का महत्त्व बहुत बढ़ गया था। इजराईल के निर्माण के कारण वहां के जो लाखों अरब निवासी विस्थापित हो गए थे, उनके पुनर्वास की समस्या को हल करने में अरब राज्य असमर्थ रहे थे। अपनी दुर्दशा का अन्त करने के प्रयोजन में इन्होंने अनेक सैनिक संगठनों का निर्माण कर लिया था, जिन में अल फतह और अल आसफा प्रधान हैं। इन छापामार सैनिक संगठनों का उद्देश्य यह है, कि पैलेस्टाइन के उस प्रदेश में, जिसे इजराईल ने अवैध रूप से अधिकृत किया हुआ है, अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना करें और इसके लिए अरब राज्यों पर निर्भर न रह कर स्वयं अपनी शक्ति से काम लें। वे यह भी अनुभव करते हैं, कि जोर्डन और लेबनान जैसे अरब राज्यों की सरकारें पर्याप्त रूप से सबल समर्थ नहीं हैं। इसीलिए ये छापामार इन राज्यों में भी हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं करते। इन छापामार सैनिक संगठनों का काम करने का ढंग यह है कि अरब राज्यों के हवाई अड्डों से उड़ने वाले यूरोपियन देशों के हवाई जहाजों का अपहरण कर पाश्चात्य पूंजीवादी लोगों में आतंक उत्पन्न करने का प्रयत्न करें। १९७० में इन्होंने अनेक हवाई जहाजों का अपहरण किया, और उनके यात्रियों को अपने पास बन्धक के रूप में रखा। साथ ही, इन छापामार सैनिकों का यह प्रयत्न भी रहता है, कि अरबों और यहूदियों के संघर्ष का अन्त न होने पाए। वे समझते हैं, कि निर्बल अरब राज्य इजराईल के साथ समझौता करने के लिये उद्यत हो जायेंगे और यह पैलेस्टाइन से विस्थापित हुए अरबों के हित में नहीं होगा। उनकी दृष्टि में अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या उन अरबों की है, जो इजराईल के निर्माण के कारण बेघरबार हो गये हैं। उन्होंने जोर्डन, सीरिया और लेबेनान में भी अपने केन्द्र स्थापित कर लिये हैं, और वे वहां की ऐसी सरकारों के विरुद्ध संघर्ष में भी तत्पर रहते हैं, जिनका झुकाव इजराईल के साथ समझौता कर लेने की ओर हो।

पर संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अरब-इजराईल संघर्ष का अन्त करने के प्रयत्न जारी रहे। जुलाई, १९७० में अमेरिका द्वारा इस संघर्ष का अन्त करने और पश्चिमी एशिया में स्थायी रूप से शान्ति स्थापित करने के लिए निम्नलिखित चार प्रस्ताव पेश किये गये थे—(१) दोनों पक्ष ९० दिनों के लिए संघर्ष को स्थगित कर दें। (२) स्वेज नहर के दोनों ओर के १२ मील के प्रदेशों को पूर्णतया सैन्यविहीन कर दिया जाए, और इन प्रदेशों में किसी भी देश की सेना न रहे। (३) १९६७ के युद्ध में इजराईल ने अरब राज्यों के जिन प्रदेशों पर अवैध रूप से कब्जा कर लिया था, उन पर से वह अपने कब्जे का अन्त कर दे। ये प्रदेश निम्नलिखित थे—जेरुसलम नगर का वह भाग जिसे इजराईल में सम्मिलित नहीं किया गया था, जोर्डन नदी के पश्चिम का वह क्षेत्र जो जोर्डन राज्य के अन्तर्गत था, और स्वेज नहर के पूर्व का वह प्रदेश जो संयुक्त अरब गणराज्य के अन्तर्गत था। (४) गुन्नार जारिंग दोनों पक्षों में स्थायी सन्धि के लिये अपने प्रयत्नों को जारी रखें और दोनों पक्ष उनके साथ सहयोग करें। संयुक्त अरब गणराज्य (ईजिप्ट) और जोर्डन का झुकाव अमेरिका के इन प्रस्तावों को स्वीकृत कर लेने की ओर था, पर छापामार अरब संगठनों ने इन का विरोध किया। वे चाहते थे, कि इजराईल के साथ समझौते की जो भी बातचीत चलायी जाए, उसमें उनके प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जाए और उनकी सहमति के बिना कोई निर्णय न किया जाए। साथ ही, इजराईल भी अमेरिका के प्रस्तावों को अपने लिये हितकर नहीं समझता था। १९६७ के युद्ध में भी उसे सफलता हुई थी, उसके लाभों को छोड़ देने के लिये वह उद्यत नहीं था। उसका यह भी कहना था, कि रूस ईजिप्ट को नई वैज्ञानिक युद्धसामग्री प्रदान करने में तत्पर है, और स्वेज के क्षेत्र में उसने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिक प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डे भी कायम कर लिये हैं। परिणाम यह हुआ, कि जुलाई, १९७० में अमेरिका द्वारा पश्चिमी एशिया में शान्ति स्थापना के लिये जो प्रयत्न प्रारम्भ किया गया था, वह सफल नहीं हो सका। अरब-इजराईल संघर्ष की समाप्ति में मुख्य कठिनाइयाँ निम्नलिखित हैं— (१) अरब लोग इजराईल की वैध सत्ता को ही स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। (२) १९४८ में इजराईल के लिये पैलेस्टाइन में ५६०० वर्गमील का प्रदेश प्रदान किया गया था। पर उसके तत्काल बाद अरबों और इजराईल में जो संघर्ष हुआ, उसमें इजराईल ने १२०० वर्गमील के अतिरिक्त प्रदेश पर भी कब्जा कर लिया था, १९६७ के युद्ध के कारण उसने अपने राज्यक्षेत्र को और अधिक बढ़ा लिया। अवैध रूप में अधिकृत इन अरब प्रदेशों पर से अपने कब्जे को छोड़ देने के लिए इजराईल तैयार नहीं है। छापामार अरब सैनिक संगठन यही चाहते हैं, कि ये प्रदेश इजराईल के कब्जे से मुक्त करा दिये जाएं और वहां एक नए स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की जाय, जिसमें विस्थापित हुए अरबों को बसाया जा सके। (३) जोर्डन नदी के जल के उपयोग की समस्या भी विकट है। इजराईल चाहता है कि इस नदी के जल का उपयोग वह अपनी उजाड़ जमीन को खेती के योग्य बनाने के लिए कर सके। पर जोर्डन, सीरिया और लेबेनान इसके विरुद्ध हैं, क्योंकि यह नदी इन राज्यों के राज्य-क्षेत्रों से होकर गुजरती है और वे स्वयं इस के जल का उपयोग करना चाहते हैं। (४) अमेरिका और रूस का शीत-युद्ध भी अरब-इजराईल संघर्ष का अन्त होने में एकभारी बाधा है। यही कारण हैं, जिन से न जनवरी, १९६९ में रूस द्वारा शान्ति स्थापना का प्रयत्न सफल हुआ, और न जुलाई, १९७० में अमेरिका द्वारा किये गये प्रयत्न को सफलता मिली।

१९६७ के युद्ध में इजराईल ने जेरुसलम नगर के उस भाग पर भी कब्जा कर लिया था, जिसे उसके राज्य में सम्मिलित न कर जोर्डन राज्य के अन्तर्गत रखा गया था (१९४९)। इस भाग की जनसंख्या ५०,००० के लगभग थी। जून, १९६७ में इजराईल ने यह घोषणा की, कि जेरुसलम नगर का यह भाग स्थायी रूप से उसके अपने राज्य क्षेत्र में सम्मिलित कर लिया गया है। इस घोषणा से अरब राज्य बहुत उद्विग्न हुए, और अन्य मुस्लिम राज्यों में भी इससे बेचैनी फैल गई। धार्मिक दृष्टि से जेरुसलम मुसलमानों का पवित्र नगर है, और अल-अक्सा आदि अनेक प्राचीन मस्जिदें वहां विद्यमान हैं। अरबों का कहना था, कि इजराईल द्वारा जेरुसलम के मुस्लिम धर्म-स्थानों को नष्ट किया जा रहा है और अरब लोगों की सम्पत्ति जब्त की जा रही है। २१ अगस्त, १९६९ को अल-अक्सा मस्जिद में आग लग गई, जिसके कारण उसका अच्छा बड़ा भाग जल कर भस्म हो गया। अरबों ने इसके लिये इजराईल को उत्तरदायी ठहराया, और उसके विरुद्ध जिहाद की तैयारी शुरू कर दी। पर इजराईल का कहना था, कि इस अग्निकाण्ड में उसका कोई हाथ नहीं है। जांच द्वारा ज्ञात हुआ कि यह आग एक आस्ट्रेलियन युवक द्वारा लगायी गई थी। पर मुसलमान इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने मांग की, कि अल-अक्सा के अग्निकाण्ड की जांच के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की नियुक्ति की जाए। अरब राज्यों में इस घटना के कारण इतना अधिक रोष बढ़ गया, कि उन्होंने इजराईल का प्रतिरोध करने के प्रश्न पर विचार करने के लिये एक शिखर (Summit) कान्फरेन्स का आयोजन किया, जिसके अधिवेशन कैरो में हुए। इसमें चौदह अरब राज्यों के परराष्ट्र-मन्त्री सम्मिलित हुए। कैरो कान्फरेन्स में इजराईल का उग्र रूप से विरोध किया गया, और यह घोषित किया गया कि वह देश इस्लाम का शत्रु है, और जेरुसलम के मुस्लिम धर्म स्थानों के विनाश में तत्पर है। साथ ही, वहां यह विचार भी प्रस्तुत किया गया, कि इजराईल का विरोध करने के लिये अन्य मुस्लिम राज्यों का सहयोग व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थन प्राप्त करना भी आवश्यक है। इसीलिये यह भी निश्चय किया गया, कि मोरक्को की राजधानी रबात में विश्व के सब मुस्लिम राज्यों की एक शिखर कान्फरेन्स बुलायी जाए। २२ सितम्बर, १९६९ के दिन यह कान्फरेन्स प्रारम्भ हुई, और २६ मुस्लिम राज्यों के प्रतिनिधियों ने इसमें भाग लिया। भारत का प्रतिनिधिमण्डल भी इसमें सम्मिलित होने के लिये रबात गया था, यद्यपि पाकिस्तान के विरोध के कारण वह उसकी कार्यवाही में भाग नहीं ले सका था। रबात कान्फरेन्स में यह घोषणा की गई, कि सम्पूर्ण जेरुसलम पर इजराईल का आधिपत्य स्थापित हो जाने में वहां के मुस्लिम धर्म-स्थानों को भारी खतरा उत्पन्न हो गया है। अतः संसार के शक्तिशाली राज्यों को चाहिये, कि वे जेरुसलम के उस भाग को खाली कर देने के लिये इजराईल पर जोर डालें, जिस पर कि उसने अवैध रूप से कब्जा कर लिया है। साथ ही, रबात में एकत्र प्रतिनिधियों ने यह भी निश्चय किया, कि मुस्लिम राज्यों का एक स्थायी संगठन बनाया जाए, और समय-समय पर उसके अधिवेशन होते रहें। मार्च, १९७० में मुस्लिम राज्यों की एक कान्फरेन्स जेद्दा में हुई, जिसमें २२ राज्यों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसमें इस बात पर जोर दिया, कि अरब-इजराईल संघर्ष एक ऐसा प्रश्न है, जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मुस्लिम संसार के साथ है। इस संघर्ष को दृष्टि में रखकर जेद्दा में एकत्र मुस-लिम राज्यों के प्रतिनिधियों ने इस्लाम की एकता और मुस्लिम राज्यों के परस्पर संग-ठित होने की आवश्यकता पर बहुत जोर दिया और यह निश्चय किया कि संसार के मुस्लिम राज्य अपना एक स्थायी संगठन बना लें, जिसका केन्द्रीय सचिवालय जेद्दा में स्थापित किया जाए। नासिर भी इस कान्फरेन्स में उपस्थित थे। यद्यपि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वे धर्म निरपेक्षता के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे, पर इजराईल के विरुद्ध मुसलिम एकता की भावना को प्रयुक्त करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। इस प्रकार अब इजराईल और अरब राज्यों के संघर्ष ने एक नया रुख ग्रहण करना प्रारम्भ किया, जो राष्ट्रीय व धर्मनिरपेक्ष न होकर साम्प्रदायिक है। पर संयुक्त अरब गण-राज्य और सीरिया जैसे राज्य, जिनमें लोकतन्त्र शासनों की सत्ता है और जिनकी सरकारों का झुकाव वाम पक्ष की ओर भी है, यह अनुभव करते हैं कि इजराईल-अरब संघर्ष को साम्प्रदायिक रूप देने का यह परिणाम हो सकता है, कि विश्व के गैरमुसलिम देशों की सहानुभूति अरब राज्यों के साथ न रह जाए।

यद्यपि मुस्लिम राज्य परस्पर संगठित होकर इजराईल का विरोध करने के लिये प्रयत्न कर रहे थे, पर इस काल में अरब-इजराईल संघर्ष का अन्त कर पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में स्थायी शान्ति स्थापित करने के प्रयत्न भी जारी रहे। नवम्बर, १९७१ में अफ्रीका के अनेक राज्यों के नेताओं ने ईजिप्ट और इजराईल के प्रतिनिधियों से इस सम्बन्ध में बातचीत की, पर उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। १५ मार्च, १९७२ के दिन जोर्डन राज्य के राजा हुसैन ने यह प्रस्ताव पेश किया, कि जोर्डन नदी के पश्चिम के जिस प्रदेश पर इजराईल ने कब्जा किया हुआ है, उसे वह खाली कर दे और इस प्रदेश को जोर्डन राज्य के साथ संयुक्त कर एक 'संयुक्त अरब राज्य' का निर्माण किया जाए। इन दोनों प्रदेशों में स्वायत्त सरकारों की स्थापना की जाए, यद्यपि इनका राजा एक ही (जोर्डन का राजा ही) रहे। पर जोर्डन नदी के पश्चिम के प्रदेश (जिस पर अब इज-राईल का कब्जा है) से विस्थापित हुए अरब लोग इस प्रस्ताव को स्वीकार करने को उद्यत नहीं हुए। उनका कहना था, कि जोर्डन नदी के पश्चिम का प्रदेश एक पृथक् व पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य होना चाहिये, और जोर्डन राज्य के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। इजराईल की ओर से भी अनेक बार वे प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये हैं,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनके अनुसार वह अरब राज्यों के साथ समझौता करने को उद्यत है। इन प्रस्तावों का सार यह है, कि ईजिप्ट और अन्य अरब राज्य इजराईल की वैध सत्ता को स्वीकार कर लें, और उसके साथ सीधे बातचीत करने को तैयार हों। पर उसकी सरकार द्वारा यह भी स्पष्ट कर दिया गया है, कि यदि परस्पर विचार विमर्श द्वारा कोई अरब-इजराईल समझौता होने भी लगे, तो उसमें इजराईल ने तो जेरुसलम पर से अपने कब्जे को छोड़ने को तैयार होगा और न गाजा से और न उस प्रदेश से, जिस द्वारा कि अकबा की खाड़ी के साथ उसका सम्पर्क स्थापित है। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा मि० गुन्नार जारिंग को अरब-इजराईल संघर्ष की समस्या का समाधान करने के लिये नियुक्त किया गया था, यह ऊपर लिखा जा चुका है। १६ अगस्त, १६७२ के दिन उन्होंने एक योजना प्रस्तुत की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) इजराईल की वैध सत्ता को अरब राज्य स्वीकार कर लें। (२) अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग सब राज्यों के लिये खुले रखे जाएं। अकबा की खाड़ी को भी एक अन्तर्राष्ट्रीय जल मार्ग स्वीकार किया जाए और इजराईल भी उसका उपयोग कर सके। (३) इजराईल की सेनाएं अपने राज्यक्षेत्र में वापस लौटा ली जाएं, और १६६७ के युद्ध के समय जो लोग अपने स्थानों से विस्थापित हो गये थे, उन्हें अपने मूल निवास-स्थानों पर बसाया जाए। (४) इजराईल की वे सीमाएं स्वीकार कर ली जाएं, जो कि उस राज्य द्वारा १८ मास पूर्व प्रस्तुत एक नक्शे में प्रदर्शित की गई थीं। (५) इजराईल और अरब राज्यों में एक स्थायी सन्धि कर ली जाए। पर ईजिप्ट मि० जारिंग को इस योजना को स्वीकृत करने के लिये तैयार नहीं हुआ।

इस बीच में अरब छापामारों के सैनिक संगठन अपने कार्य में तत्पर रहे। इसी लिये सितम्बर, १६७२ में जब पश्चिमी जर्मनी के अन्यतम नगर म्यूनिख में अन्तर्राष्ट्रीय ओलिम्पिक खेल प्रतियोगिताएं हो रही थीं, तो उन्होंने इजराईल के खिलाड़ियों पर अकस्मात् आक्रमण कर दिया और उन्हें मौत के घाट उतार दिया। इस पर इजराईल ने सीरिया और लेबेनान के बहुत-से ऐसे स्थानों पर भयंकर रूप से बम्ब बर्षा की, जिन्हें अरब छापामारों का केन्द्र समझा जाता था। इससे स्थिति बहुत बिगड़ गई, और अरब-इजराईल संघर्ष ने एक बार फिर उग्र रूप प्राप्त कर लिया। समस्या का समाधान करने के लिये अक्टूबर, १६७२ में अमेरिका की ओर से एक नई योजना प्रस्तुत की गई, जिसमें यह प्रस्ताव किया गया कि इजराईल सिनाई के प्रायद्वीप से अपनी सेनाएं हटा ले और ईजिप्ट अपनी सेनाओं को स्वेज नहर के पूर्व में ले जा सके। ईजिप्ट और इजराईल की सेनाओं में मुठभेड़ न होने पाए, इसकी व्यवस्था के लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेनाएं भी वहां भेज दी जाएं। रूस भी इस योजना से सहमत था, पर इसका भी कोई परिणाम नहीं निकल सका, और अरब-इजराईल समस्या अभी पहले के ही समान गम्भीर रूप से विद्यमान है।

(६) पश्चिमी एशिया में विदेशी राज्यों के अन्तर्हित स्वार्थ

पश्चिमी एशिया के विविध देश वैज्ञानिक उन्नति, औद्योगिक विकास, सैन्य-शक्ति और राजनीतिक जागृति आदि की दृष्टियों से अधिक उन्नत नहीं हैं। उनकी जनता अभी प्रायः अशिक्षित व अर्धशिक्षित है, और कल-कारखानों का भी वहां अभी विशेष विकास नहीं हुआ है। पर तेल की दृष्टि से इस क्षेत्र के अनेक देश अत्यन्त समृद्ध हैं, यद्यपि अभी वे इस स्थिति में नहीं हैं, कि किसी पाश्चात्य देश की सहायता के बिना स्वयं तेल की तलाश कर सकें या उसे स्वयं निकाल सकें। यह कार्य प्रधानतया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमेरिकन और ब्रिटिश पूंजीपतियों के हाथों में है, जिससे कि वे अपार धनराशि मुनाफे के रूप में प्राप्त करते हैं। पश्चिमी एशिया की भौगोलिक स्थिति भी ऐसी है, कि ब्रिटेन आदि पाश्चात्य देशों की दृष्टि में उसका बहुत महत्व है। यही कारण है, कि अनेक विदेशी राज्यों के स्वार्थ इस क्षेत्र के राज्यों में अन्तर्हित हैं, और इन स्वार्थों में प्रायः संघर्ष भी होता रहता है। इसीलिए ये अरब राज्य अब तक भी विदेशी प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सके हैं।

द्वितीय महायुद्ध के समय तक पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में ब्रिटेन के हित सर्वप्रधान थे। ईजिप्ट में उसकी सेनाएं विद्यमान थीं, स्वेज की नहर पर उसका (और फ्रांस का) स्वत्त्व था, सूडान पर उसका राजनीतिक प्रभुत्त्व था, ईराक और जोर्डन पर उसका प्रभाव था, अदन प्रोटेक्टोरेट और अदन कोलोनी उसके अधीन थे, ईरान की खाड़ी के तटवर्ती शेख-राज्यों की विदेशी राजनीति उस द्वारा नियन्त्रित होती थी, दक्षिणी ईरान पर भी उसका प्रभाव था, और पश्चिमी एशिया के बहुत-से तेलकूपों से तेल निकालने तथा उसका विक्रय करने के अधिकार उसे प्राप्त थे। पर महायुद्ध के बाद इस दशा में बहुत परिवर्तन हो चुके हैं। ईजिप्ट और सूडान अब स्वतन्त्र हैं, वहां से सब ब्रिटिश सेनाएं हटायी जा चुकी हैं, ईजिप्ट ने स्वेज की नहर को राष्ट्रीय सम्पत्ति बना लिया है, ईराक में पूर्णतयः स्वतन्त्र रिपब्लिक की स्थापना हो गई है, जोर्डन से भी ब्रिटिश सेनाएं हटायी जा चुकी हैं, और ईरान से भी ब्रिटेन के राजनीतिक प्रभाव का अन्त हो चुका है। अदन कालोनी और अदन प्रोटेक्टोरेट भी अब ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त हो गये हैं, और ईरान की खाड़ी के अरब तट पर स्थित शेखराज्य भी अब पूर्णतया स्वतन्त्र हैं। पर अब तक भी पश्चिमी एशिया से ब्रिटेन के प्रभाव और उसके अन्तर्हित स्वार्थों का पूर्णतया अन्त नहीं हुआ है। इस क्षेत्र की तेल कम्पनियों में ब्रिटेन का हिस्सा अब भी प्रधान है, और यह तेल न केवल ब्रिटिश पूंजीपतियों के लिए बहुत महत्त्व रखता है, अपितु ब्रिटिश सरकार की पूंजी भी इसमें प्रचुर मात्रा में लगी हुई है। अपने जहाजी बेड़े और जंगी जहाजों आदि के लिये ब्रिटेन को जिस तेल की आवश्यकता पड़ती है, उसे मुख्यतया इसी क्षेत्र के तेलकूपों से प्राप्त किया जाता है। इस दशा में यह स्वाभाविक है, कि ब्रिटिश सरकार इस बात के लिए सदा सजग रहे कि इस क्षेत्र के विविध राज्यों में केवल ऐसी सरकारें ही स्थापित रहें, जिनकी नीति ब्रिटेन के अनुकूल हो और जिनके कारण उसके हितों में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित न होने पाए।

महायुद्ध (१९३९-४५) से पूर्व इस क्षेत्र में अमेरिका के कोई विशेष हित नहीं थे। इसके किसी भी प्रदेश पर उसका राजनीतिक प्रभुत्त्व स्थापित नहीं था, और न ही उसकी सेनाएं ही वहां विद्यमान थीं। पर तेल कम्पनियों में अमेरिकन पूंजीपतियों के भी हिस्से थे, और सौदी अरेबिया के प्रदेशों से तेल निकालने का एकाधिकार भी अमेरिकन कम्पनियों ने ही प्राप्त किया हुआ था। पर महायुद्ध के बाद के काल में इस दशा में बहुत परिवर्तन आ गया है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इस समय अमेरिका और रूस में जो घोर प्रतिद्वन्द्विता है, उसके कारण अमेरिका की इस क्षेत्र में दिलचस्पी बहुत अधिक बढ़ गई है। इस दिलचस्पी का स्वरूप यह है, कि पश्चिमी एशिया के राज्य अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिज्म के प्रभाव न आने पाएं, और उनमें ऐसी सरकारें कायम रहें जो कि उसके अपने गुट की समर्थक हों। क्योंकि पश्चिमी एशिया के राज्य आर्थिक, औद्योगिक और सैनिक दृष्टि से बहुत पिछड़े हुए हैं, अतः अमेरिका इस बात के लिये सदा उत्सुक रहता है कि उन्हें भरपूर आर्थिक सहायता दे। इसी प्रयोजन से उसने पहले ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादन किया, और फिर आइजनहावर सिद्धान्त का। यदि जनता का बड़ा भाग गरीब हो, तो कम्युनिज्म की ओर वह सुगमता से आकृष्ट हो जाती है। इसलिए अमेरिका इन देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर इनकी उन्नति में सहायक होने के लिये उद्यत है। पर लेबनान और जोर्डन के अतिरिक्त कोई भी ऐसा अरब राज्य नहीं है, जिसने कि आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार किया हो, और अमेरिका से सहायता प्राप्त की हो। युनाइटेड अरब रिपब्लिक (ईजिप्ट), ईराक और सीरिया ने अमेरिका से सहायता को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया है। सौदी अरेबिया के राजा को तेल की रायल्टी से इतनी अधिक आमदनी है, कि बाह्य सहायता की उसे आवश्यकता ही नहीं है। पश्चिमी एशिया में तुर्की ने भी आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार किया है, और वह पूर्णतया अमेरिका के गुट में शामिल है। पर इस क्षेत्र के बहुसंख्यक राज्य यह नहीं चाहते, कि वे अमेरिका से सहायता प्राप्त कर अपने को उसका वशवर्ती बना लें। यह बात उन्हें अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये हानिकारक प्रतीत होती है।

पश्चिमी एशिया का कोई भी राज्य रूस के राजनीतिक प्रभुत्व में नहीं है, और न इस क्षेत्र में उसके कोई आर्थिक स्वार्थ ही हैं। ईरान के उत्तरी प्रदेशों से तेल निकालने के लिये जो अधिकार उसने प्राप्त करने चाहे थे, वे भी उसे प्राप्त नहीं हो सके थे, क्योंकि डॉ० मुसादिक की नीति यह थी कि किसी भी विदेशी राज्य को अपने देश में तेल के सम्बन्ध में कोई अधिकार न दिये जाएं। पर रूस पश्चिमी एशिया के राज्यों की प्रवृत्तियों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकता। इसका कारण यह है, कि उसकी अपनी दक्षिणी सीमाएँ तुर्की और ईरान के साथ लगती हैं। पश्चिमी एशिया के अन्य राज्य भी उसकी सीमा से अधिक दूर नहीं हैं। अतः स्वाभाविक रूप से उसकी यह आकांक्षा रहती है, कि इन राज्यों में ऐसी सरकारें कायम न हो सकें, जो कि अमेरिकन गुट में शामिल हों। संसार के अन्य देशों के समान इन राज्यों में भी कम्युनिस्ट पार्टियां विद्यमान हैं। ये पार्टियां रूस के साथ अपना मेल रखती हैं, और अपने देश में कम्युनिस्ट व्यवस्था को स्थापित करने के लिये प्रयत्न भी करती रहती हैं। पर जहां तक पश्चिमी एशिया के क्षेत्र में रूस की नीति का प्रश्न है, उसका स्वरूप यही है कि इस क्षेत्र की सरकारें अन्तर्राष्ट्रीय गुटबन्दियों में तटस्थता की नीति का अनुसरण करें और अमेरिकन गुट में शामिल न हों। अमेरिका इन राज्यों की सहायता उसी दशा में करने को तैयार होता है, जबकि ये आइजनहावर सिद्धान्त को स्वीकार कर उसके प्रभाव में आ जाएँ। पर रूस अपनी सहायता के लिये कोई शर्त नहीं लगाता। इसीलिए जब अस्वान डाम की योजना के निमित्त अमेरिका ने ईजिप्ट को (नासिर की तटस्थता की नीति के कारण) आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया, तो रूस उसे ५० करोड़ रुपए की सहायता देने के लिए उद्यत हो गया।

पश्चिमी एशिया के विविध राज्यों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और पाश्चात्य लोकतन्त्र राज्यों के प्रभाव से मुक्त होने की जो भावना है, रूस उससे पूरा-पूरा लाभ उठा रहा है। जब भी इन राज्यों ने पाश्चात्य प्रभाव से मुक्त होने का प्रयत्न किया, रूस द्वारा इन्हें पूरा समर्थन प्राप्त हुआ। अक्टूबर, १९५६ में स्वेज के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न को लेकर जब फ्रेञ्च और ब्रिटिश सेनाओं ने पोर्ट सईद पर आक्रमण कर दिया, तो रूस ने तुरन्त यह धमकी दी कि यदि ये देश अपनी सेनाएं ईजिप्ट से वापस नहीं बुला लेंगे, तो वह तुरन्त अपनी सेनाएं भी ईजिप्ट में भेज देगा। अरब लोगों को इस घोषणा से बहुत प्रसन्नता हुई, और उन्होंने यह अनुभव किया कि वे पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध रूस की सहायता का सदा भरोसा रख सकते हैं। यही बात तब हुई, जबकि जुलाई,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९५८ में अमेरिकन और ब्रिटिश सेनाओं ने क्रमशः लेबनान और जोर्डन में प्रवेश किया। ये सेनाएं जो देर तक इन देशों में नहीं टिक सकीं, उसका प्रधान कारण रूस का विरोध ही था। इसमें सन्देह नहीं, कि अरब राज्यों में रूस का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है, और वहां की सर्वसाधारण जनता कम्युनिस्ट विचारों की ओर आकृष्ट हो रही है। १९५६ के स्वेज के संकट के बाद ईजिप्ट और सीरिया आदि अरब राज्यों के साथ फ्रांस और ब्रिटेन का सांस्कृतिक सम्पर्क भी बहुत कम हो गया है, और उसके स्थान पर रूस के सम्पर्क में निरन्तर वृद्धि हो रही है। एप्रिल, १९५८ में रूस ने युनाइटेड अरब रिपब्लिक के साथ एक सांस्कृतिक समझौता भी किया था, जिसके अनुसार इस राज्य में रूसी शिक्षकों को अच्छी बड़ी संख्या में शिक्षा का कार्य सुपुर्द किया गया था। १९६७ के अरब-इजराईल युद्ध के पश्चात् बहुत-से रूसी सैनिक-विशेषज्ञ भी ईजिप्ट आ गये थे, कि जिनकी संख्या बीस हजार के लगभग थी। बहुत-सी युद्ध-सामग्री भी इस समय रूस द्वारा ईजिप्ट पहुँचा दी गई थी, ताकि १९६७ के युद्ध में जो नुकसान ईजिप्ट की सैन्य शक्ति को पहुचा था, उसकी क्षतिपूर्ति की जा सके। रूस के ये विशेषज्ञ ईजिप्ट की सेना को नये ढंग के अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में प्रशिक्षित करने के लिये तत्पर थे। पर १८ जुलाई, १९७२ के दिन ईजिप्ट के राष्ट्रपति अनवर सदात ने यह आदेश दिया, कि सब रूसी विशेषज्ञ तुरन्त अपने देश को वापस लौट जाएं। अगस्त, १९७२ के प्रारम्भ तक रूसी विशेषज्ञों ने इस आदेश का पालन कर ईजिप्ट से विदा भी ले ली थी। सदात के इस आदेश का कारण सम्भवतः यह था, कि उसे अपने देश पर रूस का बढ़ता हुआ प्रभाव पसन्द नहीं था, और १९६९ में अरब ईजराइल संघर्ष का अन्त करने के लिये जो योजना रूस द्वारा प्रस्तुत की गई थी, अरब राज्यों को वह स्वीकार्य नहीं थी। पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रूस पश्चिमी एशिया में अपना ऐसा प्रभाव स्थापित नहीं कर सका, जिसके कारण वह इस क्षेत्र के राज्यों को अपना अनुगामी बना सके।

(८) उपसंहार

प्रथम महायुद्ध (१९१४-१८) के समय तक पश्चिमी एशिया के बहुसंख्यक देश तुर्क साम्राज्य के अन्तर्गत थे। इस साम्राज्य का शासन स्वेच्छाचारी और निरंकुश था, और आधुनिक युग की प्रवृत्तियों—लोकतन्त्रवाद और राष्ट्रीयता का अभी वहां विकास नहीं हुआ था। महायुद्ध के कारण तुर्क साम्राज्य का पतन हुआ, और ईराक, सीरिया, ईजिप्ट आदि देश उसकी अधीनता से मुक्त हो गये। नये युग की प्रवृत्तियां भी इस क्षेत्र में विकसित होने लगीं, जिसके कारण तुर्की में रिपब्लिक की स्थापना हुई, और अन्य देशों में भी राष्ट्रीय राज्यों की स्थापना और लोकतन्त्र शासनों के सूत्रपात के लिये संघर्ष का प्रारम्भ हुआ। प्रथम महायुद्ध के बाद पश्चिमी एशिया के अनेक प्रदेशों पर ब्रिटेन और फ्रांस जैसे साम्राज्यवादी देशों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, जो समय की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं था। इसी कारण इन प्रदेशों में पूर्ण स्वाधीनता के लिये संघर्ष जारी रहा, जो अब तक प्रायः पूर्ण रूप से सफल हो चुका है। ईजिप्ट, ईराक, सीरिया, जोर्डन, सौदी अरेविया, और लेबेनान आदि प्रायः सभी देश अब सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य बन चुके हैं। पर अब तक भी नये युग की प्रवृत्तियां पूर्ण रूप से पश्चिमी एशिया में सफल नहीं हो सकी हैं। जोर्डन और सौदी अरेविया में अब तक भी वंशक्रमानुगत राजाओं का शासन है, ईरान की खाड़ी के अरब तटवर्ती शेख-राज्यों पर अब तक भी ब्रिटेन का राजनीतिक प्रभाव विद्यमान है, और इस क्षेत्र के सब देशों में अभी लोकतन्त्र संस्थाओं का भलीभांति विकास नहीं हुआ हैं। पर यह स्पष्ट है, कि पश्चिमी एशिया के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विविध देश न देर तक लोकतन्त्रवाद से बचे रह सकते हैं, और न ही पाश्चात्य साम्राज्यवाद उनमें किसी भी रूप में कायम रह सकता है। वह समय दूर नहीं है, जबकि इस क्षेत्र के सब देश सच्चे अर्थों में स्वतन्त्रता प्राप्त कर और नये ज्ञान-विज्ञान को अपना कर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो जायेंगे। पश्चिमी एशिया की वर्तमान समस्याएं निम्नलिखित हैं:—

(१) अरबों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो चुका है, पर अभी एक ऐसे शक्तिशाली अरब राष्ट्र का निर्माण नहीं हुआ है, जिसमें सब अरब प्रदेश सम्मिलित हों। युनाइटेड अरब रिपब्लिक की स्थापना अरब राष्ट्रीय एकता के मार्ग पर महत्त्वपूर्ण कदम था। वर्तमान परिस्थितियों में यह आशा की जा सकती है, कि भविष्य में सब अरब प्रदेश एक अरब राज्यसंघ में सम्मिलित हो जायेंगे।

(२) इजराईल की सत्ता अरब को सह्य नहीं है। इसीलिये अरब राज्यों ने अभी उसकी वैध स्थिति को स्वीकार नहीं किया है। अरबों के क्षेत्र में यहूदियों के एक पृथक् राज्य की सत्ता इस भूखण्ड में एक विकट राजनीतिक समस्या को उत्पन्न कर रही है।

(३) पश्चिमी एशिया के प्रायः सभी तेलकूप पाश्चात्य पूंजीपतियों के स्वत्व में हैं। इस कारण इस क्षेत्र में पाश्चात्य देशों का आर्थिक साम्राज्यवाद अब तक भी कायम है, जो आधुनिक राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल नहीं है।

(४) इस क्षेत्र के निवासियों की बहुसंख्या इस समय भी अत्यन्त गरीब और दुर्दशाग्रस्त है। आर्थिक विषमता वहां बहुत उग्र रूप में विद्यमान है। इस कारण समाजवादी विचार भी वहां तेजी से जोर पकड़ रहे हैं। पाश्चात्य साम्राज्यवादी देश इस बात के लिये उत्सुक हैं, कि इस क्षेत्र को कम्युनिस्ट प्रभाव से बचाया जाए। पश्चिमी एशिया के भावी इतिहास की घटनाओं को ये समस्याएं ही प्रभावित करेंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अड़तालीसवां अध्याय

अफगानिस्तान

(१) पुरातन इतिहास

पूर्वी, दक्षिण-पूर्वी और पश्चिमी एशिया के आधुनिक इतिहास का विवेचन कर चुकने के अनन्तर अब यह भी उपयोगी होगा, कि एशिया के अन्य देशों के इतिहास का भी संक्षेप के साथ उल्लेख किया जाए। ये देश निम्नलिखित हैं—अफगानिस्तान, पाकिस्तान, श्रीलंका और नेपाल। एशिया के आधुनिक इतिहास में इन देशों का भी महत्त्व है, और इनके सम्बन्ध में भी संक्षेप से प्रकाश डालना इस ग्रन्थ की पूर्णता के लिये आवश्यक और उपयोगी है।

अफगानिस्तान का क्षेत्रफल २,५०,००० वर्ग मील के लगभग है, और उसकी जनसंख्या १,३८,००,००० से कुछ अधिक है। भौगोलिक दृष्टि से यह राज्य बहुत महत्त्व का है, क्योंकि यह रूस, ईरान और पाकिस्तान के बीच में स्थित है। जब पाकिस्तान का एक पृथक् राज्य के रूप में निर्माण नहीं हुआ था और सम्पूर्ण भारतवर्ष ब्रिटिश शासन के अधीन था, तो अफगानिस्तान का भारत के लिये राजनीतिक महत्त्व और भी अधिक था। ब्रिटेन और रूस दोनों ही इस देश को अपने प्रभाव व प्रभुत्त्व में ले आने के लिये प्रयत्नशील थे, और उनके साम्राज्य-सम्बन्धी हित इस क्षेत्र में भी आपस में टकराते थे। अफगानिस्तान के निवासी इस्लाम के अनुयायी हैं, और उनकी भाषा पश्तो है, जो आर्यभाषा-परिवार की ही अन्यतम सदस्य है। ऐतिहासिक दृष्टि से अफगानिस्तान और भारत में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। प्राचीन काल में यह भारत का ही अंग था, और मध्यकाल में जो अनेक आक्रान्ता भारत पर आक्रमण करते रहे, उन्होंने प्रायः इसी देश से होकर भारत में प्रवेश किया था।

प्राचीन काल—प्राचीन काल में अफगानिस्तान भारत के ही अन्तर्गत था। हिन्दूकुश पर्वत माला के पूर्व में और काबुल नदी की घाटी में प्राचीन काल में कपिश और गान्धार राज्यों की स्थिति थी। वैदिक युग के अनेक आर्य जन (कबीले) वहां आबाद थे, और इन आर्यों के अनेक जनपद वहां विद्यमान थे। हिन्दूकुश से परे दरद देश की सत्ता थी। बौद्ध ग्रन्थों में जिन सोलह महाजनपदों का उल्लेख है, और बौद्ध काल में भारत के जो प्रमुख राज्य थे, उनमें गान्धार और कम्बोज भी थे। ये दोनों राज्य अफगानिस्तान और उसके समीप (उत्तर) के प्रदेश में ही स्थित थे। इस प्राचीन काल में राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अफगानिस्तान के इन जनपदों या राज्यों का वही स्वरूप था, जो भारत के कुरु, पञ्चाल आदि राज्यों का था। छठी सदी ईस्वी पूर्व में ईरान के प्रतापी राजा कुरू (Cyrus) ने दिग्विजय करते हुए अफगानिस्तान पर भी आक्रमण किया और हिन्दूकुश पर्वत माला से आगे बढ़ कर कपिश राज्य को जीत लिया। कुरु का साम्राज्य बहुत विस्तृत था। ग्रीस, ईजिप्ट, अरब और वल्ख आदि सब देश उसके अन्तर्गत थे। सम्राट् कुरु के बाद उसके वंश में दारयवहु (Darius) बहुत प्रतापी राजा हुआ। उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल ५२१ ई० पू० से ४८५ ई० पू० तक था। उसने कम्बोज, गान्धार और सिन्धु प्रदेश की भी विजय कर ली, और सम्पूर्ण अफगानिस्तान उसके साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। समयान्तर में ईरान के इस विशाल साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो गई, जिसके कारण उसके अधीनवर्ती अनेक प्रदेश स्वतन्त्र हो गये। अफगानिस्तान भी इनमें से एक था। ईरान के सम्राटों की शक्ति के निर्बल पड़ने पर इस क्षेत्र में अनेक स्वतन्त्र गणराज्य स्थापित हो गये, जिनमें अस्पस और अस्सकेन प्रमुख थे। चौथी सदी ईस्वी पूर्व में सिकन्दर ने अपनी विजय-यात्रा करते हुए इन्हें परास्त किया, और अफगानिस्तान के प्रदेशों के सब राज्यों को जीत कर अपने मैसिडोनियन साम्राज्य के अन्तर्गत कर लिया। पर सिकन्दर का साम्राज्य भी देर तक कायम नहीं रह सका। उसकी मृत्यु (३२३ ई० पू०) के बाद उसका साम्राज्य खण्ड-खण्ड हो गया, और उसके साम्राज्य के प्राच्य प्रदेश सैल्यूकस नामक सेनापति के शासन में आ गये। सैल्यूकस ने एक बार फिर पूर्व दिशा में अपने साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयत्न किया। पर वह मगध के प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा परास्त हो गया। इस युद्ध के बाद सैल्यूकस और चन्द्रगुप्त में जो सन्धि हुई, उसके अनुसार काबुल, हीरात और कन्धार के प्रदेश चन्द्रगुप्त को प्राप्त हुए, जिसके कारण हिन्दूकुश पर्वत तक के अफगानिस्तान के प्रदेश मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित हो गये। चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के बाद मौर्य साम्राज्य की शक्ति क्षीण पड़ने लगी, और अनेक प्रदेश उसकी अधीनता से मुक्त होकर स्वतन्त्र हो गये। अफगानिस्तान भी इनमें से एक था। २०५ ई० पू० में वहां सुभागसेन नामक राजा का शासन था, जो सम्भवतः स्वतन्त्र स्थिति रखता था। दूसरी सदी ई० पू० के प्रारम्भ में बाख्त्री (बैक्ट्रिया) के ग्रीक राजाओं ने अपनी शक्ति का विस्तार प्रारम्भ किया, और काबुल, हीरात आदि अफगानिस्तान के सब प्रदेशों को जीत कर अपने अधीन कर लिया। बाख्त्री की स्थिति अफगानिस्तान के उत्तर में थी। यह प्रदेश पहले सिकन्दर और सैल्यूकस के साम्राज्यों के अन्तर्गत था, पर २५० ई० पू० के लगभग वहां का ग्रीक सूबेदार स्वतन्त्र हो गया था और उसने अपने एक पृथक् व स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर ली थी। दूसरी सदी ई० पू० में अफगानिस्तान ग्रीक लोगों के अधीन रहा, जहां उन्होंने दो राज्य स्थापित किये। इनमें से एक की राजधानी कपिशा (कपिश में) थी, और दूसरे की पुष्करावती।

पर अफगानिस्तान में ग्रीकों (यवनों) का शासन भी देर तक कायम नहीं रहा। दूसरी सदी ई० पू० का अन्त होने से पूर्व ही इस प्रदेश पर युइशी लोगों ने आक्रमण करने प्रारम्भ कर दिये। युइशी लोग पहले चीन के कानसू प्रान्त की सीमा पर निवास करते थे। हूणों द्वारा धकेले जाकर उन्होंने सीर नदी के क्षेत्र में प्रवेश किया, और वहां से बाख्त्री में। बाख्त्री से वे अफगानिस्तान में आये, और वहां के ग्रीक शासकों को परास्त कर अपने अनेक राज्य वहां स्थापित कर लिये। कुशाण कफ्स नाम के एक वीर व्यक्ति ने इन विविध युइशी राज्यों को जीतकर एक विशाल व शक्तिशाली राज्य की स्थापना की, जो इतिहास में कुशाण साम्राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। कुशाणों में सबसे प्रसिद्ध कनिष्क था, जिसकी राजधानी पुष्पपुर (पेशावर) थी। उसका साम्राज्य उत्तर में वंक्षु और सीर नदियों से शुरू होकर पूर्व में पाटिलपुत्र तक विस्तृत था। वह बौद्ध धर्म का अनुयायी था, और उसके प्रयत्न से इस धर्म का सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी प्रचार हुआ था। कुशाणों का यह विशाल साम्राज्य दूसरी सदी के अन्त तक कायम रहा। यद्यपि अनेक सुदूरवर्ती प्रदेश देर तक उसके अधीन नहीं रह सके थे, पर अफगानिस्तान अन्त तक कुशाल साम्राज्य के अन्तर्गत रहा।

कुशाण साम्राज्य के निर्बल होने पर ईरान के सासानी राजवंश ने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए अफगानिस्तान पर भी आक्रमण किया, और २३८ ई० में इस वंश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के राजा अर्दशीर ने वहां के कुशाण राजा को परास्त कर अपने अधीन कर लिया। पर इससे अफगानिस्तान और उसके समीप के प्रदेशों से कुशाणों के शासन का अन्त नहीं हो गया। वे सासानी सम्राट् की अधीनता स्वीकार करते हुए इस क्षेत्र पर शासन करते रहे। चौथी सदी में ये कुशाण राजा फिर से स्वतन्त्र हो गये, और सासानी वंश के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतन्त्रता पूर्वक शासन करने लग गये (३६७ ई०)। इस काल में भारत में गुप्त वंश के सम्राट् अपने साम्राज्य का विस्तार करने में तत्पर थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७८-४१४) ने कुशाणों को परास्त कर हिन्दूकुश पर्वतमाला के पार वाख्त्री तक के प्रदेशों को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। अब अफगानिस्तान भी विशाल गुप्त साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया, और वहां के कुशाण राजा जो 'देवपुत्र शाहि शाहानुशाही' की उपाधि धारण किया करते थे, गुप्त सम्राटों की अधीनता स्वीकार करने लगे। गुप्त सम्राट् स्कन्द गुप्त (४५५-४६७) के बाद गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण होने लगी, और उत्तर-पश्चिम की ओर से हूणों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये। इन्हीं हूणों ने यूरोप में रोमन साम्राज्य का अन्त किया था, और पश्चिमी एशिया में सासानी साम्राज्य का। अफगानिस्तान को भी उन्होंने जीत लिया, और वहां से कुशाणों के शासन का अन्त कर स्वयं उस पर राज्य करना प्रारम्भ कर दिया। अफगानिस्तान के इन हूण राजाओं में तोरमाण बहुत प्रसिद्ध है। यद्यपि हूण आक्रांता के रूप में अफगानिस्तान में प्रविष्ट हुए थे, पर ग्रीकों और कुशाणों के समान उन्होंने भी वहां के धर्म, सभ्यता और संस्कृति को स्वीकार कर लिया था। यह लिखने की आवश्यकता नहीं, कि इस प्राचीन काल में अफगानिस्तान में भारतीय धर्म और संस्कृति की ही सत्ता थी। हूण लोग शैव धर्म के अनुयायी थे।

पर हूणों का यह उत्कर्ष भी देर तक कायम नहीं रह सका। भारत में यशोधर्मा ने उनकी शक्ति का अन्त किया (५३२ ई०), और पश्चिमी एशिया में ईराक के शाह अनुशीरवां ने (५६५ ई०)। पर अनुशीरवां ने यह काम अकेले नहीं किया था, इसमें तुर्क लोग उसके सहायक थे। तुर्क हूणों की ही एक शाखा थे। हूणों की शक्ति के निर्बल पड़ने पर अफगानिस्तान उनकी अधीनता से मुक्त हो गया, और वहां फिर से अनेक राज्य स्थापित हो गये, जिनमें बामियां और कपिश मुख्य थे। इन दोनों के राजा भारतीय थे, और अपने को क्षत्रिय कहते थे। सातवीं सदी में अरब में इस्लाम का उदय हुआ। हजरत मुहम्मद ने न केवल एक नये धर्म का प्रादुर्भाव किया, अपितु अरब के विविध कबीलों को एक सूत्र में संगठित कर उसे एक शक्तिशाली राज्य भी बना दिया। शीघ्र ही, अरब लोग अपने साम्राज्य के विस्तार के लिए प्रवृत्त हुए। मुहम्मद की मृत्यु ६३२ ई० में हुई थी। एक सदी से भी कम समय में अरबों का साम्राज्य पूर्व में सिन्ध नदी से लगाकर पश्चिम में स्पेन तक विस्तृत हो गया था। अफगानिस्तान भी अरबों के इस आक्रमण से बचा नहीं रह सका। ६५० ई० में उन्होंने हीरात पर हमला किया, और ६६३ ई० में काबुल पर। पर काबुल पर अरबों का शासन देर तक कायम नहीं रह सका। आठवीं सदी में काश्मीर के प्रतापी राजा मुक्तापीड ललितादित्य (७३३-७६९) ने कपिश और गान्धार की विजय की और वहां के राजाओं को अपना सामन्त बनाया। पर काश्मीर की शक्ति के क्षीण होते ही अरबों ने फिर अफगानिस्तान पर आक्रमण शुरू कर दिया, और ७८६ ई० के लगभग गजनी को जीत कर अपने अधीन कर लिया। काबुल पर भी उन्होंने चढ़ाई की, यद्यपि उसे वे अपनी अधीनता में नहीं ला सके।

नवीं सदी के उत्तरार्ध में विशाल अरब साम्राज्य खण्ड-खण्ड होना शुरू हो गया। उसके भग्नावशेषों पर जो अनेक राज्य कायम हुए, उनमें बुखारा का राज्य भी एक था। बुखारा की स्थिति अफगानिस्तान के उत्तर में है। वहां एक ईरानी अमीर ने अपने स्वतन्त्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य की नींव डाली। अरबों के सम्पर्क से इस समय तक ईरानी लोगों ने भी इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। ८७० ईस्वी में बुखारा राज्य के अन्यतम सेनापति याकूब-ए-लैस ने अफगानिस्तान पर भी आक्रमण किया, और काबुल नगर के पश्चिम के एक प्रदेश को जीत लिया। पर काबुल नगर और उसका समीपवर्ती प्रदेश अब भी वहां के पुराने हिन्दू राजवंश के हाथों में रहा। क्योंकि काबुल पर बुखारा के आक्रमण का सदा भय बना रहता था, अतः इस समय वहां के राजा ने उद्भाण्डपुर या ओहिन्द को अपनी राजधानी बना लिया, जो सिन्ध नदी के तट पर अटक से १६ मील उत्तर में है। ८८३ ईस्वी में इस राज्य के ब्राह्मण मन्त्री लल्लिय ने राजा को च्युत कर राजगद्दी पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया, और इस प्रकार काबुल-ओहिन्द के ब्राह्मणशाही वंश के शासन का प्रारम्भ हुआ। पर यह देर तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता को कायम नहीं रख सका। काश्मीर के राजा शंकर वर्मा (८८३-९०२) ने उस पर आक्रमण कर लल्लिय को अपनी अधीनता स्वीकार करने के लिये विवश किया। इस समय से काबुल-ओहिन्द के ब्राह्मणशाही राजाओं की स्थिति काश्मीर के सामन्तों की हो गई। काश्मीर की अधीनता स्वीकार करते हुए भी काबुल-ओहिन्द के ये हिन्दू राजा बड़े प्रतापी थे, और उन्होंने पंजाब के बड़े भाग को जीत कर अपने राज्य में शामिल कर लिया था।

मध्य-काल—दसवीं सदी के अन्तिम भाग तक अफगानिस्तान पर प्रायः हिन्दू राजाओं का शासन रहा। इस समय तक यह देश धर्म, सभ्यता, भाषा, संस्कृति आदि की दृष्टि से पूर्णतया भारतीय था। वहां हिन्दू और बौद्ध मन्दिरों की सत्ता थी, और उसके शासक उसी ढंग के थे, जैसे कि भारत के अन्य राज्यों के। पर दसवीं सदी के अन्तिम वर्षों में इस स्थिति में परिवर्तन आना प्रारम्भ हुआ। बुखारा के ईरानी अमीर का एक हाजीब (प्रतिहार) था, जिसका नाम अलप्तगीन था। यह जाति से तुर्क था। मध्य एशिया के तुर्क लोग भी इस समय तक इस्लाम को स्वीकार कर चुके थे। अफगानिस्तान का गजनी प्रदेश इस समय बुखारा के राज्य के अन्तर्गत था। अलप्तगीन ने वहां एक छोटी-सी तुर्क जागीर की नींव डाली, और उसकी मृत्यु के बाद उसका दामाद सुबुक्तगीन इस जागीर का स्वामी बना (९७७ ई०)। सुबुक्तगीन गजनी की छोटी-सी जागीर से ही संतुष्ट नहीं रहा। उसने अपनी शक्ति का विस्तार करते हुए पड़ौस के काबुल-ओहिन्द के राज्य पर आक्रमण शुरू किये। इस राज्य का स्वामी इस समय शाहि जयपाल था। जयपाल को युद्ध में परास्त कर सुबुक्तगीन ने लम्पाक (लमगान) की विजय कर ली, और उसे अपने राज्य में शामिल कर लिया। ९९७ ई० में महमूद गजनी का राजा बना। इस समय तक बुखारा के राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, जिससे लाभ उठाकर महमूद न केवल गजनी के अपने राज्य में स्वतन्त्र हो गया, अपितु बुखारा राज्य के बड़े भाग पर भी उसने कब्जा कर लिया। अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए महमूद गजनी ने भारत में जो विजय-यात्राएं कीं, उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। उसका साम्राज्य बहुत विस्तृत था। भारत की विजय द्वारा जो अपार सम्पत्ति उसे प्राप्त हुई, उसका उपयोग उसने गजनी को समृद्ध तथा विभूषित करने के लिये किया। महमूद के कर्तृत्व के कारण गजनी अपने समय के सबसे समृद्ध नगरों में गिना जाने लगा।

महमूद के बाद गजनी की सल्तनत निर्बल हो गई। गजनी से हीरात के मार्ग पर गोर का प्रदेश है, जो महमूद की सल्तनत के अन्तर्गत था। वहां का सरदार अलाउद्दीन था। उसने महमूद गजनवी के वंशज खुसरो (११५२-६०) के शासन-काल में गजनी पर आक्रमण किया, और उसे बुरी तरह से लूटा। इस समय से गजनी और साथ ही सम्पूर्ण अफगानिस्तान गोर के सरदार अलाउद्दीन के अधीन हो गया। मुहम्मद गोरी इसी अला-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्दीन का भतीजा था। उसने जिस प्रकार भारत पर अनेक बार चढ़ाइयां करके उसके अनेक प्रदेशों की विजय की, इसका यहां उल्लेख करना उपयोगी नहीं होगा। मुहम्मद गोरी की मृत्यु के बाद भारत में गुलाम वंश का स्वतन्त्र शासन स्थापित हुआ, और गजनी में एक पृथक् सल्तनत कायम हुई। अफगानिस्तान गजनी की इसी सल्तनत के अन्तर्गत था, जिसका शासन ताजुद्दीन एलदोज नामक तुर्क सरदार के अधीन था।

पर एल्दोज के वंशज भी अफगानिस्तान में शान्तिपूर्वक शासन नहीं कर सके। चीन के उत्तरी प्रदेशों में मंगोल जाति का निवास था। तेरहवीं सदी के शुरू में मंगोलों में एक वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम चंगेज खाँ था। पहले उसने चीन पर हमला किया, और १२१४ में उसकी राजधानी पेकिंग को जीत लिया। फिर मध्य एशिया के विविध तुर्क राज्यों की विजय कर उसने अफगानिस्तान पर आक्रमण किया, और वहां से भी तुर्क शासन का अन्त किया (१२२१)। इसके बाद पौने दो सदियों के लगभग तक अफगानिस्तान मंगोलों के अधीन रहा, और उसे केन्द्र बनाकर वे निरन्तर दिल्ली के तुर्क सुलतानों पर आक्रमण करते रहे। इस्लाम के सम्पर्क में आकर मध्य एशिया और अफगानिस्तान के मंगोलों ने भी अपने धर्म को परिवर्तित कर लिया था, और वे मुसलमान हो गये थे।

चंगेज खां द्वारा स्थापित मंगोल साम्राज्य बहुत विशाल था। बाद में यह साम्राज्य अनेक खण्डों में विभक्त हो गया था, जिनमें से एक चगताई का राज्य था। मध्य एशिया और गजनी के प्रदेश चगताई राज्य के ही अन्तर्गत थे। मंगोलों का एक अन्य राज्य ईरान, ईराक और एशिया माइनर में विद्यमान था। चौहदवीं सदी में मंगोलों में एक अन्य वीर नेता का प्रादुर्भाव हुआ, जिसका नाम तैमूर था। वह ईरान के मंगोल राज्य का स्वामी था। पूर्व दिशा में अपने साम्राज्य का विस्तार करते हुए उसने मध्य एशिया और अफगानिस्तान को भी जीत लिया। १३९८ में उसने भारत पर भी चढ़ाई की। इस समय से अफगानिस्तान तैमूर के साम्राज्य में सम्मिलित हो गया। पन्द्रहवीं सदी के अन्त तक तैमूर के वंशजों की शक्ति भी क्षीण हो गई थी, यद्यपि अफगानिस्तान अब भी उनके अधीन था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के क्षेत्र में तैमूर के वंशजों का शासन पांच छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त हो गया था। ये राज्य निम्नलिखित थे—खुरासान, समरकन्द, बदख्शां, फरगाना और काबुल। इनमें से फरगाना का राजा उमर शेख था, जिसके पुत्र बाबर ने भारत में मुगल साम्राज्य की नींव डाली थी। १४६५ ई० में मंगोलों की एक नई शाखा उजबक जाति ने तैमूरी राज्यों पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिये थे, जिनके कारण अफगानिस्तान में तैमूर राज्यों की स्थिति डांवाडोल हो गई और बाबर को अपने पैतृक राज्य का परित्याग कर भारत चले आना पड़ा। पर काबुल पर उसका शासन कायम रहा। यद्यपि भारत में बाबर ने एक सुविस्तृत साम्राज्य की स्थापना कर ली थी, पर अफगानिस्तान के कुछ प्रदेश (काबुल और क़न्धार) भी उसके अधीन रहे। इसी कारण बाबर की मृत्यु के बाद भारत के मुगल साम्राज्य का बादशाह उसका अन्यतम पुत्र हुमायूं बना, और काबुल तथा कन्धार हुमायूं के भाई कामरान को मिले। बाद में ईरान के शाह की सहायता से हुमायूं ने अफगानिस्तान के इन प्रदेशों को कामरान से जीत लिया था (१५५०)। अकबर के समय में ये प्रदेश उसके साम्राज्य में सम्मिलित थे, और इनका शासन करने के लिए उसने इनका एक पृथक् सूबा बना दिया था। जहाँगीर के शासनकाल में ईरान के शाह अब्बास ने कन्धार को मुगलों से जीत लिया (१६२२), यद्यपि काबुल अब भी मुगल साम्राज्य के अन्तर्गत रहा। शाहजहां ने एक बार फिर कन्धार की विजय की (१६३८), पर वह उसे स्थायी रूप से अपने शासन में नहीं रख सका। १६४८ में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईरान के शाह अब्बास ने फिर उस पर दखल कर दिया। औरंगजेब के समय में भी मुगलों ने अफगानिस्तान और उसके उत्तर में अपनी शक्ति के विस्तार का प्रयत्न किया, पर उन्हें स्थायी रूप से सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

यद्यपि ईरान के शाह अब्बास ने कन्धार को जीत लिया था, पर वह देर तक ईरान के शासन में नहीं रहा। अफगान लोगों ने विद्रोह कर वहां से ईरानी प्रभुत्व का अन्त कर दिया था। १७३६ में ईरान की राजगद्दी पर नादिरशाह आरूढ़ हुआ, जो बहुत प्रतापी व वीर था। उसने १७३७ में कन्धार को जीत लिया, और फिर काबुल पर चढ़ाई करके वहां से मुगल शासन का अन्त किया। नादिरशाह ने भारत पर भी आक्रमण किया, और दिल्ली तक चला आया। पर उसने भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया, यद्यपि सिन्ध नदी के पश्चिम के प्रदेश अब उसकी अधीनता में आ गये थे। अफगानिस्तान भी इस समय से ईरानी साम्राज्य के अन्तर्गत हो गया। नादिरशाह का एक सेनापति था, जिसका नाम अहमदशाह अब्दाली था। वह जाति से पठान था। अपने स्वामी की मृत्यु के बाद उसने कन्धार में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया (१७४७) और सम्पूर्ण अफगानिस्तान को अपने अधीन कर लिया। उसने भारत पर भी चढ़ाई की, और पानीपत के युद्ध में मराठों को परास्त किया (१६६१)। अहमदशाह अब्दाली ने अफगानिस्तान में अपने जिस राज्य की स्थापना की थी, वह उसके वंशजों के हाथों में कायम रहा, यद्यपि वे भारत के जीते हुए प्रदेशों को अपनी अधीनता में नहीं रख सके। अहमदशाह के उत्तराधिकारियों में राजगद्दी के लिए जो संघर्ष होते रहे, उनका यहां उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं है। १८०३ में अफगानिस्तान की राजगद्दी पर शुजा आरूढ़ हुआ, जिसके राज्य में अफगानिस्तान के अतिरिक्त पेशावर, काश्मीर, अटक, डेरा इस्माईल खां, डेरा गाजी खां, मुलतान और सिन्ध भी अन्तर्गत थे।

इस बीच में पंजाब में सिक्खों का उत्कर्ष हो गया था, और राजा रणजीतसिंह ने एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना कर ली थी। अब्दाली राजवंश के आपसी झगड़ों से लाभ उठाकर रणजीतसिंह ने पश्चिम की ओर अपनी शक्ति का विस्तार करना शुरू किया, और मुलतान, काश्मीर, डेरा गाजी खां, डेरा इस्माईल खां और पेशावर के इलाकों की विजय कर ली। ये सब प्रदेश पहले अफगानिस्तान के अब्दाली राज्य में सम्मिलित थे। अब्दाली वंश का शासन अब केवल काबुल और कन्धार तक ही सीमित रह गया। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में अंग्रेजों ने भारत में अपनी शक्ति का भली-भांति विस्तार कर लिया था। बंगाल, बिहार और उत्तर प्रदेश उनकी अधीनता में आ चुके थे, और मराठों की शक्ति भी उन्होंने नष्ट कर दी थी। पंजाब अभी सिक्खों के शासन में था, और उनके राजा रणजीतसिंह ने अंग्रेजों के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित किया हुआ था। अफगानिस्तान में केवल काबुल और कन्धार के प्रदेशों पर अब्दाली वंश का शासन था, पर उनकी राजगद्दी के लिए अनेक अब्दाली सरदार संघर्ष में तत्पर थे। इनमें शाह शुजा और दोस्त मुहम्मद मुख्य थे। जिस प्रकार भारतीय राज्यों में राजगद्दी के झगड़ों से लाभ उठाकर अंग्रेजों ने उन्हें अपने प्रभुत्व में ले लिया था, वैसे ही वे अब अफगानिस्तान को भी अपने प्रभुत्व में ले आने के लिये प्रयत्नशील हुए। १८०३ में काबुल की राजगद्दी पर शाह शुजा आरूढ़ हुआ था, पर वह देर तक वहां का शासन नहीं कर सका। उसने भारत आकर अंग्रेजों की शरण ले ली थी, और दोस्त मुहम्मद ने अफगानिस्तान का शासन संभाल लिया था। १८३९ में अंग्रेजों की सहायता से शाह शुजा ने कन्धार और गजनी को जीत लिया। दोस्त मुहम्मद परास्त हुआ, और अंग्रेजों ने शुजा को काबुल की राजगद्दी पर बिठा दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८३९ में पंजाब के प्रतापी राजा रणजीतसिंह की मृत्यु हो गई। उसके उत्तराधिकारी निर्बल थे। साथ ही, राजगद्दी के लिए उनमें झगड़े भी प्रारम्भ हो गये थे। अंग्रेजों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और १८४९ तक पंजाब की भी विजय कर ली। अब सम्पूर्ण भारत अंग्रेजों के प्रभुत्व में आ गया था, और उनके राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा उन प्रदेशों के साथ आ लगी थी, जिनमें अफगान व पठान लोगों का निवास है। स्वाभाविक रूप से अब अंग्रेजों ने यह प्रयत्न प्रारम्भ किया, कि अफगानिस्तान को भी जीत कर अपने अधीन कर लें।

(२) अंग्रेजों द्वारा अफगानिस्तान की विजय के प्रयत्न

शाह शुजा को काबुल की राजगद्दी पर बिठा कर अंग्रेजों ने अफगानिस्तान के मुख्य नगरों में अपनी सैनिक छावनियां डाल दी थीं। उनका यह विचार था, कि शाह शुजा उनके हाथों में उसी प्रकार कठपुतली के समान रहेगा, जैसे कि बंगाल में मीर जाफर रहा था। साथ ही, उन्होंने यह भी यत्न किया, कि अफगानों को अपनी सेना में भरती करें, और ये अफगान सैनिक उसी प्रकार से अंग्रेजों की शक्ति के आधार बनें, जैसे कि भारत में भारतीय सैनिक बने थे। पर एक भी अफगान अंग्रेजी सेना में भरती नहीं हुआ। इसके विपरीत अफगानों ने अंग्रेजी सेना पर छापे मारने शुरू कर दिये, जिसके कारण अंग्रेजों के लिये अफगानिस्तान में रह सकना कठिन हो गया। इस पर अंग्रेजों ने अफगानों पर अत्याचार करने शुरू किये, जिसकी प्रतिक्रिया में उन्होंने काबुल में स्थित अंग्रेज एजेन्ट बर्न्स का मकान घेर लिया, और उसकी हत्या कर दी। अब अंग्रेजों के लिये अफगानिस्तान में रह सकना असम्भव हो गया। उन्होंने भारत लौट आने का निश्चय किया, और अंग्रेजी सेना के १६ हजार सैनिक अफगानिस्तान से भारत की ओर रवाना हुए। पर अफगानों ने उन पर हमले जारी रखे, जिनके कारण सारी अंग्रेजी सेना नष्ट हो गई। केवल एक अंग्रेज इस भयंकर विपत्ति का समाचार सुनाने के लिये भारत आ सकने में समर्थ हुआ (१८४२)। इस बीच में अफगानों ने शाह शुजा की भी हत्या कर दी थी।

पर इस हार से अंग्रेज घबराये नहीं। सेनापति पोलक के तेतृत्व में एक नई अंग्रेजी सेना ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया, और अफगानों को परास्त कर काबुल पर कब्जा कर लिया (सितम्बर, १८४२)। काबुल के निवासियों पर मनमाने अत्याचार कर और उनके बाजारों को लूट कर यह अंग्रेज सेना भारत लौट आई। यद्यपि इस प्रकार अंग्रेजों ने अपनी सेना के संहार का बदला चुका दिया, पर वे अफगानिस्तान को अपनी अधीनता में नहीं ला सके। उन्होंने विवश होकर दोस्त मुहम्मद को ही अफगानिस्तान का राजा स्वीकार कर लिया, और यह राजा उसी प्रकार से स्वतन्त्र रहा जैसे कि १८३८ में था। अंग्रेज इसे अपने प्रभुत्व में नहीं ला सके।

अफगानिस्तान के सम्बन्ध में रूस और ब्रिटेन में संघर्ष—रूस ने मध्य एशिया में किस प्रकार अपने साम्राज्य का प्रसार किया, इस विषय पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है। तुर्किस्तान की विजय के कारण रूसी साम्राज्य की दक्षिणी सीमा अफगानिस्तान के साथ आ लगी थी। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध में रूस और ब्रिटेन के हित पृथिवी के अनेक भागों में टकराने शुरू हो गये थे। तुर्क सल्तनत की शक्ति को ब्रिटेन इसी कारण कायम रखना चाहता था, ताकि रूस भूमध्य सागर तक अपनी शक्ति एवं प्रभुत्त्व का विस्तार न कर सके। मध्य एशिया पर रूस का प्रभुत्व स्थापित हो जाने से उसकी सीमा अफगानिस्तान के साथ आ लगी थी। अपने भारत के साम्राज्य के इतने समीप रूस का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ जाना ब्रिटेन के लिये बहुत चिन्ता की बात थी। अतः अंग्रेजी सरकार ने यह तय किया कि अफगानिस्तान को भी अपने प्रभुत्व में ले आया जाए, ताकि रूस इस दिशा में अपना प्रसार न कर सके। १८६३ में दोस्त मुहम्मद की मृत्यु हो गई थी, और उसका पुत्र शेर अली काबुल की राजगद्दी पर आरूढ़ हो गया था। पर उसके विरोधियों की कमी नहीं थी। उसके भाई उसके विरुद्ध षड्यन्त्र करने में तत्पर थे, और शेर अली को पदच्युत कर राजगद्दी पर अपना अधिकार करने के लिये भारत की अंग्रेजी सरकार की सहायता प्राप्त करना चाहते थे। पर भारत के गवर्नर-जनरल सर जॉन लारेन्स (१८६४-६९) ने इस मामले में दखल नहीं दिया। इस पर शेर अली का अन्यतम भतीजा अब्दुर्रहमान रूसियों के पास गया, जो इस समय तक मध्य एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके थे। फरगाना और बुखारा इस समय रूस के अधीन थे, और उसके साम्राज्य की सीमा अफगानिस्तान के साथ लगती थी। जब अब्दुर्रहमान के रूस से सहायता प्राप्त करने का समाचार लारेन्स को मिला, तो उसने शेर अली की मदद करने का निश्चय किया। नौ लाख रुपया और बहुत-सी युद्ध-सामग्री देकर उसने शेर अली की सहायता की, और उसे यह आश्वासन दिया, कि यदि वह अंग्रेजों से मैत्री रखेगा, तो अंग्रेज उसकी रक्षा में कोई कसर नहीं उठा रखेंगे। सन् १८६९ में लार्ड मेयो (१८६९-७२) भारत का गवर्नर-जनरल बना। उसने शेर अली के प्रति लारेन्स की नीति को जारी रखा। शेर अली उससे मिलने के लिये अम्बाला आया। वह चाहता था कि अंग्रेज उसके साथ बाकायदा सन्धि कर लें, और उसे धन, युद्ध-सामग्री और सैनिकों द्वारा सहायता देने की पक्की बात कर लें। मेयो ने शेर अली को सहायता देने का आश्वासन तो दिया, पर पक्की सन्धि के बारे में उसने टालमटोल से काम लिया। १८७२ में नये गवर्नर जनरल नार्थब्रुक (१८७२-७६) के पास शेर अली ने अपना राजदूत भेज कर फिर यह प्रार्थना की, कि उसके साथ सहायता के सम्बन्ध में सन्धि कर ली जाए। पर इस बार भी उसे सफलता नहीं मिली। इस पर शेर अली अंग्रेजों से नाराज हो गया, और उसने रूस से मैत्री करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया।

१८७४ में डिजरायली इङ्गलैण्ड का प्रधानमन्त्री बना। वह कट्टर साम्राज्यवादी था, और एशिया में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिन्तित था। उसका यह विचार था, कि अफगानिस्तान में अपने प्रभुत्व का विस्तार करना रूस की शक्ति को नियन्त्रित करने के लिये अनिवार्य है। नार्थब्रुक का इस सम्बन्ध में डिजरायली से मतभेद था। अतः उसने त्यागपत्र दे दिया, और लार्ड लिटन को उसके स्थान पर भारत का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया। लिटन (१८७६-८०) डिजरायली की नीति का समर्थक था। वह कलकत्ता से अम्बाला आया, और वहां से शेर अली के पास दूत द्वारा यह सन्देश भेजा कि अंग्रेजी सरकार धन और युद्ध-सामग्री द्वारा उसे सहायता देने को उद्यत है, बशर्ते कि वह काबुल में अंग्रेजी रेजिडेन्ट को रखना स्वीकार कर ले, और साथ ही हीरात में भी एक अंग्रेजी एजेन्ट रखे। पर शेर अली इस प्रस्ताव से सहमत नहीं हुआ, क्योंकि इससे रूस की नाराजगी की आशंका थी। अभी शेर अली से बातचीत चल ही रही थी, कि लिटन ने अफगानिस्तान को घेरना शुरू कर दिया। अफगानिस्तान के दक्षिण-पूर्व में क्वेटा का प्रदेश है, और उसके साथ लगा हुआ बिलोचिस्तान का प्रदेश। इसमें अनेक बिलोच खानों का शासन था। १८७६ में लिटन ने इन खानों के साथ सन्धियां की, जिनके अनुसार अंग्रेजों ने बोलान के दर्रे से अपनी सेनाएं ले जाने की अनुमति प्राप्त कर ली, और क्वेटा में अपनी छावनी भी कायम कर दी। शीघ्र ही, अफगानिस्तान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी गई (१८७८), और अंग्रेजी सेना ने तीन ओर से अफगानिस्तान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर चढ़ाई कर दी। एक सेना ने खैबर के दर्रे से जलालाबाद पर कब्जा कर लिया, और दूसरी सेना के खुर्रम के दर्रे से तथा तीसरी सेना ने क्वेटा से अफगानिस्तान में प्रवेश किया। शेर अली की युद्ध में हार हुई, और वह रूसी तुर्किस्तान चला गया। उसके पुत्र याकूब खाँ ने मई, १८७९ में अंग्रेजों से सन्धि कर ली। यह सन्धि गन्दमक नामक स्थान पर हुई थी, और इसके अनुसार (१) याकूब खां ने स्वीकार किया कि अफगानिस्तान की विदेशी नीति अंग्रेजों के अधीन रहेगी, और इसमें वह अंग्रेजी राजदूत के परामर्श के अनुसार ही कार्य करेगा (२) काबुल में अंग्रेजी रेजिडेन्ट रहेगा और हीरात आदि में भी अंग्रेज एजेन्ट नियुक्त किये जाएंगे। (३) खुर्रम की घाटी, क्वेटा, पिशीन और सिबी के प्रदेश अंग्रेजों को प्राप्त होंगे। इस सन्धि का परिणाम यह हुआ, कि अफगानिस्तान अंग्रेजों का संरक्षित बन गया। एक अंग्रेजी सेना भी इस समय कन्धार में रख दी गई।

पर अफगान लोगों को अपने देश पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्वीकार्य नहीं हुआ। उन्होंने विद्रोह कर काबुल में स्थित अंग्रेज रेजिडेन्ट कावग्नारी को मार डाला (सितम्बर, १८७९)। इस पर सेनापति रोबर्ट्स ने खुर्रम के दर्रे से काबुल की ओर प्रस्थान किया, और मार्ग में अफगान सेनाओं को परास्त करते हुए काबुल पर कब्जा कर लिया। याकूब खां को कैद कर मेरठ भेज दिया गया, और रोबर्ट्स की फौजी अदालत ने बहुत-से अफगानों को फांसी की सजा दी। इससे अफगान लोग भड़क गये, और उन्होंने राबर्ट्स की सेना को घेर लिया। बड़ी कठिनाई से यह अंग्रेजी सेना अफगानों के घेरे से निकल कर वापस लौटने में समर्थ हुई। इस बीच में ब्रिटेन की पार्लियामैन्ट का नया चुनाव हुआ, जिसमें डिजरायली की कन्जर्वेटिव पार्टी की हार हुई, और लिबरल पार्टी विजयी हुई। उसका नेता ग्लैडस्टन प्रधानमन्त्री बना। उसे लिटन की अफगानिस्तान-सम्बन्धी नीति पसन्द नहीं थी। अतः लिटन को वापस बुला लिया गया, और लार्ड रिपन को भारत का नया गवर्नर-जनरल नियुक्त किया गया (१८८०)। रिपन ने निश्चय किया, कि अफगानिस्तान सेअंग्रेजी सेना हटा ली जाए। उसने अब्दुर्रहमान को (जो पहले रूसी तुर्किस्तान जाकर रूस की सहायता से अफगानिस्तान का अमीर बनने के प्रयत्न में था) अफगानिस्तान का राजा स्वीकार कर लिया, और उसके साथ एक नई सन्धि की। इस सन्धि में अन्य शर्तें तो गन्दमक की सन्धि की ही थीं, पर काबुल में अंग्रेजी रेजिडेन्ट रखने की बात हटा दी गई थी। १८८१ में अंग्रेजी सेना भी कन्धार से वापस बुला ली गई, और अफगानिस्तान पर अब्दुर्रहमान का शासन भलीभाँति स्थापित हो गया। उसका शासन १९०१ ई० तक कायम रहा। उसकी नीति यह थी, कि अपने देश पर रूस और इंगलैण्ड दोनों में से किसी का भी प्रभुत्व बढ़ने न पाए। पर रूस इस समय मध्य एशिया में अपने प्रभुत्व के क्षेत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिये प्रयत्नशील था। १८८४ में उसने मर्व को जीत लिया था, जो अफगानिस्तान की सीमा के बहुत समीप है। इस पर अंग्रेजों ने बहुत क्षोभ अनुभव किया। रूसी लोग केवल मर्व लेकर ही संतुष्ट नहीं हुए, अपितु उन्होंने मर्व के सौ मील दक्षिण में पंजदेह की भी विजय कर ली। रूस को इस प्रकार आगे बढ़ते हुए देख कर अंग्रेज बहुत चिन्तित हुए। इस समय भारत का गवर्नर-जनरल लार्ड डफरिन (१८८४-८८) था। उसने क्वेटा में एक बड़ी सेना एकत्र की, ताकि अफगानिस्तान की रूस से रक्षा की जा सके। इस स्थिति में अब्दुर्रहमान ने बड़ी समझदारी से काम लिया। अपने राज्य में अंग्रेजों का दखल उसे जरा भी पसन्द नहीं था। अतः उसने रूस के साथ समझौता कर लिया और अफगानिस्तान तथा रूसी तुर्किस्तान के बीच की सीमा निर्धारित कर दी गई। अंग्रेज लोग इसी कारण अफगानिस्तान में अपनी सेनाएं ले जाने को उद्यत थे, ताकि रूस उस पर कब्जा न कर ले! पर जब इन दोनों देशों के बीच की सीमा के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्ध में समझौता हो गया, तो ब्रिटेन को अफगानिस्तान में आगे बढ़ने के लिये कोई बहाना नहीं रहा। रूस ने भी यह स्वीकार कर लिया, कि वह इस सीमा से आगे बढ़ने का कोई यत्न नहीं करेगा।

अब्दुर्रहमान के साथ सन्धि करके अंग्रेज लोग अपने भारतीय साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा के सम्बन्ध में सर्वथा निश्चिन्त नहीं हो गये थे। रूस का भय उन्हें सदा क्षुब्ध करता रहता था। इस कारण अंग्रेजी सरकार की यह नीति थी, कि अफगानिस्तान और भारत की सीमा पर निवास करने वाले अफगान कबीलों को अपने प्रभाव में ले आया जाय। इसीलिए बोलान के दर्रे के परले पार क्वेटा और चमन तक रेलवे लाइन का निर्माण किया गया। भारत की सीमा पर निवास करने वाले मोहमन्द, बजीरी और अफरीदी आदि कबीलों के मामले में अंग्रेजी सरकार दखल देने लगी, जिससे इनके प्रदेशों पर अफगानिस्तान के प्रभुत्व का अन्त हो गया। लार्ड एल्गिन (१८९४-९९) के काल में १८९५ में चितराल में विद्रोह हुआ। यह प्रदेश काश्मीर के पश्चिम-उत्तर में है। इस विद्रोह का दमन करने के लिए अंग्रेजी सेना ने अफगान कबीलों पर घोर अत्याचार किये। इस कारण १८९७ में टोची से स्वात तक सारे सीमान्त प्रदेश में विद्रोह शुरू हो गये, और अफरीदी तथा वजीरी आदि सब कबीले अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े हुए। इस स्थिति को संभालने का कार्य लार्ड कर्जन (१८९९-१९०५) ने किया, जो एल्गिन के बाद भारत का गवर्नर-जनरल बन कर आया था। कर्जन के अफगान कबीलों के प्रति बहुत बुद्धिमत्ता-पूर्ण नीति का उपयोग किया। उनके प्रदेशों में जो अंग्रेजी सेनाएं थीं, उन्हें वापस बुला लिया गया और अफगान कबीलों के स्थानीय लश्कर संगठित किये गये। अपने-अपने प्रदेश में शान्ति रखना इन लश्करों के सुपुर्द किया गया, और इस कार्य के लिए उन्हें भरपूर आर्थिक सहायता दी गई। अंग्रेजी सरकार इन कबीलों के नेताओं को अब दिल खोल कर धन देने लगी, और ये नेता इस धन के बदले में स्वयं उपद्रव न करने और अन्य उपद्रवों को शान्त करने का जिम्मा लेने को उद्यत हो गये। १९०१ में अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु हो गई, और हबीबुल्ला अफगानिस्तान के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ।

रूस के साथ समझौता—१९०४-५ में रूस और जापान में युद्ध हुआ, जिसमें रूस की पराजय हुई। एशिया के इतिहास की दृष्टि से यह युद्ध बहुत महत्त्व का था। इसके कारण एशिया के देशों में उत्साह का सञ्चार हुआ, और यूरोपियन लोगों की उत्कृष्टता की भावना को बहुत धक्का लगा। अफगानिस्तान भी इस के प्रभाव से बचा नहीं रहा। १९०५ में लार्ड कर्जन ने यह यत्न किया, कि अफगानिस्तान के साथ मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो सके। इसी प्रयोजन से मि० डेन को काबुल भेजा गया। मार्च, १९०५ में वह हबीबुल्ला के साथ एक नई सन्धि करने में समर्थ हुआ, जिसके अनुसार अफगानिस्तान ने यह स्वीकार किया, कि उसकी विदेशी नीति पर ब्रिटेन का नियन्त्रण रहेगा। बदले में ब्रिटिश सरकार प्रतिवर्ष १८ लाख रुपये अफगानिस्तान को सहायता के रूप में प्रदान किया करेगी, और अफगानिस्तान को यह अधिकार रहेगा कि वह आवश्यक युद्ध-सामग्री भारत के मार्ग से प्राप्त कर सके। जापान के युद्ध में परास्त हो जाने के कारण अब रूस के लिए यह सम्भव नहीं रह गया था, कि वह अफगानिस्तान को अपने प्रभाव में लाने के कार्य में ब्रिटेन से प्रतिद्वन्द्विता कर सके। यद्यपि अफगानिस्तान अब भी एक स्वतन्त्र राज्य था, पर इसमें सन्देह नहीं कि उस पर ब्रिटेन के प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। १९०७ में अमीर हबीबुल्ला ने भारत की यात्रा की, जहां अंग्रेजी सरकार की शक्तिमत्ता से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसे अब यह विश्वास हो गया, कि ब्रिटेन के साथ मैत्री बनाये रखने में ही उसके देश का हित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी समय में यूरोप में ऐसी घटनाएं हुई, जिनके कारण रूस और ब्रिटेन के पारस्परिक सम्बन्धों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आने प्रारम्भ हुए। उन्नीसवीं सदी में रूस और ब्रिटेन एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी व प्रतिस्पर्धी थे। बालकन प्रायद्वीप, भूमध्य सागर, ईरान, अफगानिस्तान—सर्वत्र उनके साम्राज्य-विस्तार विषयक हित एक दूसरे से टकराते थे। पर बीसवीं सदी के प्रारम्भ में जर्मनी की शक्ति बढ़नी शुरू हो गई थी। प्रिंस बिस्मार्क के कर्तृत्व के कारण जर्मनी एक सुसंगठित व शक्तिशाली राज्य बन गया था, और उसके सम्राट् साम्राज्य-विस्तार के लिए तत्पर हो गये थे। जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को ब्रिटेन अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देख रहा था। इस दशा में उसने यह उपयोगी समझा, कि रूस के साथ समझौता कर लिया जाए, और इन दोनों देशों के हित जहां कहीं भी टकराते हैं, उनके सम्बन्ध में ऐसे निर्णय कर लिये जाएं, जिनके कारण दोनों देशों में मैत्री स्थापित हो सके। इसी का परिणाम यह हुआ, कि १९०७ में ब्रिटेन और रूस ने परस्पर मिलकर एक समझौता किया, जो इतिहास में एंग्लो-रशियन कन्वेन्शन के नाम से प्रसिद्ध है। इस समझौते द्वारा जहां ईरान आदि के अन्य विवादग्रस्त मामलों का फैसला किया गया, वहां साथ ही रूस ने यह भी स्वीकृत किया कि अफगानिस्तान उसके प्रभाव-क्षेत्र के बाहर है, और वह उसमें किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न नहीं करेगा। यह समझौता ब्रिटेन के लिये बहुत महत्त्व का था। इस द्वारा अफगानिस्तान ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र बन गया, और इसके सम्बन्ध में रूस के साथ उसकी जो प्रतिद्विन्द्विता थी, उसका अन्त हो गया। अब स्थिति यह थी, कि यद्यपि अफगानिस्तान एक स्वतन्त्र राज्य था, पर वह ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में था, और उसकी विदेशी नीति ब्रिटेन के नियन्त्रण में थी। अफगानिस्तान के कबीलों द्वारा आबाद अनेक प्रदेश ब्रिटेन के शासन में थे। १९०१ में इन्हें उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के रूप में संगठित कर दिया गया था। इस प्रान्त और अफगानिस्तान के बीच की सीमा को अब्दुर्रहमान के शासन काल में ही निर्धारित कर दिया गया था (१८९३)। यही सीमा डुरण्ड लाइन के नाम से प्रसिद्ध है, क्योंकि इसे निर्धारित करने का कार्य सर मार्टिमार डुरण्ड द्वारा किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया, कि वह इस लाइन से परे के प्रदेशों को अपने शासन में लाने का कोई प्रयत्न नहीं करेगी। पर इसके कारण अतिपय ऐसे प्रदेश अवश्य ब्रिटेन की अधीनता में आ गये थे, जो वस्तुतः अफगानिस्तान के अंग थे। डुरण्ड लाइन ने अफगानिस्तान को दो टुकड़ों में विभक्त कर दिया था, जिसे अफगानों की राष्ट्रीय भावना कभी सहन नहीं कर सकती थी। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के रूप में अफगानों का जो प्रदेश अंग्रेजों ने प्राप्त कर लिया था, उसी में बाद में जाकर पख्तूनिस्तान का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। वर्तमान समय में यह प्रदेश पाकिस्तान के अन्तर्गत है। पर वहां के अफगान अपनी स्थिति से संतुष्ट नहीं हैं।

(३) बीसवीं सदी में अफगानिस्तान की प्रगति

१९०७ के एंग्लो-रशियन कन्वेशन के कारण रूस और ब्रिटेन में मैत्री हो गई थी, और अफगानिस्तान में इन राज्यों की प्रतिद्वन्द्विता का अन्त हो गया था। १९१४ में बीसवीं सदी के प्रथम महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ, जिसमें अफगानिस्तान उदासीन रहा। इस महायुद्ध में तुर्क सल्तनत जर्मनी के पक्ष में थी, और उसका सुलतान (जो मुस्लिम जगत् का खलीफा भी हुआ करता था) इस्लाम के नाम पर सब मुस्लिम राज्यों को मित्र-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध घोषित करने के लिये प्रेरित कर रहा था। पर क्योंकि अफगानिस्तान की विदेशी नीति ब्रिटेन के नियन्त्रण में थी, और रूस भी इस महायुद्ध में ब्रिटेन के पक्ष में था, अतः अमीर हबीबुल्ला ने यही उचित समझा, कि वह इस महायुद्ध में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तटस्थ नीति का अनुसरण करे। पर अफगानिस्तान में ऐसे लोगों की कमी नहीं थी, जो महायुद्ध की परिस्थिति से लाभ उठा कर अपने देश से ब्रिटिश प्रभाव का अन्त कर देने के लिये प्रयत्नशील थे। १९०४-५ के युद्ध में जापान द्वारा रूस के परास्त कर दिये जाने पर एशिया में सर्वत्र राष्ट्रीय भावना को बहुत बल मिला था। अफगानिस्तान भी इस भावना से अछूता नहीं रहा था। अपने देश की विदेशी नीति पर ब्रिटेन का नियन्त्रण उसे सह्य नहीं था। इसी कारण अफगानिस्तान में भी एक ऐसा दल संगठित हो गया था, जो महायुद्ध में जर्मनी और तुर्की का साथ देने का पक्षपाती था। इस दल का नेता अमीर हबीबुल्ला का भाई नसरुल्ला था। १९१५ में जर्मनी और तुर्की की ओर से एक प्रतिनिधिमण्डल भी काबुल पहुंच गया था, जो वहां के लोगों को ब्रिटेन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर देने के लिये प्रेरित कर रहा था। पर हबीबुल्ला १९०७ की सन्धि पर दृढ़ रहा, और उसे अपने पक्ष में रखने के लिये ब्रिटेन ने अफगानिस्तान को प्रति वर्ष आर्थिक सहायता के रूप में दी जाने वाली धनराशि में भी वृद्धि कर दी। पर इससे भी अफगानिस्तान में ब्रिटिश विरोधी पार्टी की शक्ति में कमी नहीं हुई, और हबीबुल्ला के विरोधी निरन्तर प्रबल होते गये। महायुद्ध की समाप्ति पर फरवरी, १९१९ में अफगानिस्तान की ओर से यह मांग की गई, कि पेरिस की सन्धि-परिषद् द्वारा अफगानिस्तान की पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार किया जाय। पर अभी इस सम्बन्ध में कोई भी निर्णय नहीं हो पाया था, कि २० फरवरी, १९१९ के दिन जलालाबाद के समीप एक स्थान पर अमीर हबीबुल्ला की हत्या कर दी गई। सम्भवतः, यह हत्या उसके उन विरोधियों के षड्यन्त्र का परिणाम थी, जो ब्रिटेन के सम्बन्ध में उसकी नीति को पसन्द नहीं करते थे।

अमीर अमानुल्ला (१९१९-२९)—हबीबुल्ला की हत्या के बाद उसके भाई नसरुल्ला ने अपने को अमीर घोषित कर दिया। नसरुल्ला इस समय जलालाबाद में था। उसके दो भाइयों ने उसका साथ दिया। पर अमीर हबीबुल्ला का पुत्र अमानुल्ला इस समय काबुल में था, और वहां की सेना उसी के अधीन थी। काबुल में स्थित अफगान सेना का समर्थन अमानुल्ला को प्राप्त था, जिसकी सहायता से उसने अपने को अमीर घोषित कर दिया। नसरुल्ला उसका मुकाबिला नहीं कर सका, और अमानुल्ला अफगानिस्तान की राजगद्दी पर आरूढ़ हो गया। अपने पिता की हत्या के षड्यन्त्र में सम्मिलित होने का अपराध लगाकर उसने नसरुल्ला को गिरफ्तार कर लिया, जिससे अफगान लोगों के एक वर्ग में बहुत असन्तोष हुआ। नसरुल्ला कट्टर मुसलमान था, और मौलवी तथा अन्य धार्मिक नेता उसे बहुत मानते थे। साथ ही, वह उस पार्टी का भी नेता था, जो महायुद्ध के समय में इस्लाम के नाम पर तुर्की का पक्ष लेकर युद्ध में शामिल हो जाने की पक्षपाती थी। इसके विपरीत अमानुल्ला प्रगतिशील और उदार विचारों का था। कट्टर मुसलमान उसे पसन्द नहीं करते थे। जहां तक ब्रिटेन का सम्बन्ध है, अमानुल्ला भी अपने देश पर ब्रिटेन के प्रभुत्व का विरोधी था। महायुद्ध की समाप्ति पर १९१९ में भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया था। असहयोग और खिलाफत के आन्दोलनों के कारण कुछ समय के लिये भारत में ब्रिटिश शासन की स्थिति डांवाडोल हो गई थी। इस दशा में अमानुल्ला ने यह विचार किया, कि यदि इस अवसर पर भारत पर आक्रमण कर दिया जाए, तो वहां के राष्ट्रीय नेता अफगान सेनाओं का स्वागत करेंगे। इससे न केवल अफगानिस्तानसे ब्रिटिश प्रभुत्त्व का अन्त हो जायगा, अपितु साथ ही भारत में भी अफगान लोगों को अपनी सत्ता का विस्तार करने का अवसर मिल सकेगा। एक सुनिश्चित योजना के अनुसार मई, १९१९ में अफगान सेनाओं ने भारत और अफगानिस्तान की सीमा का अतिक्रमण कर खैबर के दर्रे में प्रवेश करना शुरू कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। पेशावर में भी इस समय एक ऐसे दल की सत्ता थी, जो अफगान सेना का स्वागत करने के लिये उद्यत था। इस दल का नेता गुलाम हैदर नामक व्यक्ति था, जो पेशावर के पोस्टमास्टर के पद पर कार्य कर रहा था। योजना यह थी, कि ८ मई के दिन पेशावर में विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया जायगा, और उसी दिन अफगान सेना भारत पर आक्रमण कर देगी। पर एक दिन पूर्व ७ मई को ब्रिटिश सरकार को इस योजना का पता चल गया। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के चीफ कमिश्नर की आज्ञा से न केवल पेशावर के चारों ओर की दीवार के सब दरवाजे बन्द करा दिये गये, ताकि विद्रोही कबायली लोग शहर में प्रवेश न कर सकें, अपितु साथ ही शहर का पानी भी बन्द कर दिया गया। विद्रोह की योजना तो असफल हो गई, पर अफगान सेना का आक्रमण नहीं रुका। तीन ओर से अफगानों ने भारत पर आक्रमण किया, और दो मास के लगभग तक यह युद्ध जारी रहा। अफगानों को परास्त करने के लिये अंग्रेजी सरकार ने काबुल पर बम्ब वर्षा भी की। ब्रिटेन की शक्ति का मुकाबिला कर सकना अफगानिस्तान जैसे छोटे-से देश के लिये सम्भव नहीं था, विशेषतया उस दशा में जबकि रूस से सहायता प्राप्त होने की भी कोई सम्भावना नहीं थी, क्योंकि वहाँ अब कम्युनिस्ट क्रान्ति हो रही थी, और रूस की नई कम्युनिस्ट सरकार अपने देश को संभालने में ही व्यग्र थी। इस दशा में अमीर अमानुल्ला ने युद्ध को बन्द कर देने में ही अपना हित समझा। जुलाई, १९१९ में रावलपिण्डी की सन्धि द्वारा इस युद्ध का अन्त हुआ। इस सन्धि में ब्रिटेन ने यह स्वीकार किया, कि अफगानिस्तान एक पूर्णतया स्वतन्त्र राज्य है। महायुद्ध (१९१४-१८) के बाद संसार भर में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की जो लहर प्रबल हो गई थी, रावलपिण्डी की सन्धि पर भी उसका प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था।

१९२० और १९२१ में भारत में असहयोग और खिलाफत के आन्दोलनों ने बहुत जोर पकड़ लिया था। इसी काल में रूस में भी कम्युनिस्ट व्यवस्था भली-भांति स्थापित हो गई थी, और कम्युनिज्म के शत्रुओं को मुंह की खानी पड़ी थी। खिलाफत आन्दोलन के कारण हजारों की संख्या में भारतीय मुसलमान हिजरत के लिये भी तत्पर थे, और अपने देश को छोड़ कर अफगानिस्तान में प्रवेश कर रहे थे। ये सब बातें अफगानिस्तान में राष्ट्रीय भावना को और अधिक बल दे रही थीं। इस दशा में अंग्रेजी सरकार ने सर हेनरी डाब्स के नेतृत्व में एक मिशन अफगानिस्तान इस प्रयोजन से भेजा (जनवरी, १९२१), कि वह वहां जाकर अमीर अमानुल्ला के साथ एक स्थायी सन्धि करे। नवम्बर, १९२१ में यह सन्धि सम्पन्न हो गई, और इसके अनुसार जहां अफगानिस्तान की स्वतन्त्रता को अविकल रूप से स्वीकार किया गया, वहां साथ ही ब्रिटेन के साथ उसने मैत्री-सम्बन्ध से रहने का वायदा भी किया। इस सन्धि द्वारा अमानुल्ला ने यह भी स्वीकार किया, कि डुरण्ड लाइन भारत और अफगानिस्तान की सीमा है, और इसके पूर्व तथा दक्षिण के प्रदेशों में, जहां अफगान लोगों का निवास है, वह किसी भी प्रकार से हस्तक्षेप नहीं करेगा, और इस सीमा पर शान्ति कायम रखेगा।

अमीर अमानुल्ला प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति था। वह चाहता था, कि उसके देश में भी आधुनिकता का प्रवेश हो। इसी कारण उसने अफगानिस्तान में अनेक नई सड़कों के निर्माण की योजना बनाई, हवाई जहाज आदि खरीद कर अपनी सेना को नये अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित करने का प्रयत्न किया, और बहुत-से विदेशी विशेषज्ञों को इस प्रयोजन से अफगानिस्तान में आमन्त्रित किया कि वे वहां आकर नई शिक्षा और उद्योगों का सूत्रपात कर सकें। दिसम्बर, १९२७ में उसने यूरोप की यात्रा की, जहां से वापस आकर उसने अनेक ऐसे सुधारों का प्रारम्भ किया, जिनका उद्देश्य अफगान जनता को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आधुनिकता और पाश्चात्य संस्कृति को अपनाने के लिये प्रेरित करना था। उसने यत्न किया, कि अफगान लोग पाश्चात्य ढंग के वस्त्र पहना करें, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त हों, सरकार को इस्लाम व शरायत के प्रभाव से मुक्त किया जाए, बहु-विवाह की प्रथा का अन्त हो, और पुरुषों व स्त्रियों को बाधित रूप से शिक्षा प्रदान की जाए। निस्सन्देह, ये सब सुधार समुचित व समय की प्रवृत्तियों के अनुरूप थे। पर पिछड़ी हुई जनता को सरकार की आज्ञाओं से प्रगतिशील बना सकना सम्भव नहीं होता। इसके लिये यह आवश्यक होता है, कि जनता के विचारों में परिवर्तन लाया जाए। अमीर अमानुल्ला ने राजकीय शक्ति का प्रयोग कर अफगान लोगों को 'आधुनिक' बनाने का जो प्रयत्न किया, वह सफल नहीं हो सका। अनेक स्थानों पर उसके विरुद्ध विद्रोह की भावना प्रगट होने लगी, और अनेक प्रदेशों में विद्रोह प्रारम्भ हो गये। काबुल में स्थित अनेक विदेशी राजदूतों ने इस अवसर पर अमानुल्ला को चेतावनी दी, कि उस की नीति के विरुद्ध जनता में बहुत असंतोष है। मौलवी, व्यापारी, किसान और सिपाही—सब वर्गों के लोग उसकी नीति से असंतुष्ट हैं। पर अमानुल्ला ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। तुर्की का उदाहरण उसके सम्मुख था, जहां कमाल पाशा ने राजकीय शक्ति का उपयोग कर इसी प्रकार के सुधारों का सूत्रपात किया था। पर तुर्की की जनता में जागृति उत्पन्न हो चुकी थी, अफगान लोगों की तुलना में वे बहुत अधिक प्रगतिशील थे। इसी कारण वहां कमाल पाशा सफल हुआ, और अमानुल्ला को सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। उसके विरुद्ध विद्रोह निरन्तर अधिक-अधिक गम्भीर रूप प्राप्त करते गये।

बच्चा सक्का का शासन (१९२९)—अमानुल्ला के विरुद्ध जो विद्रोह इस समय अफगानिस्तान में हो रहे थे, उनमें सब से अधिक गम्भीर बच्चा सक्का का विद्रोह था। काबुल से २० मील उत्तर कोहे-दामन की घाटी में काला खान नाम का एक गांव है। बच्चा सक्का वहीं का निवासी था। उसका वास्तविक नाम हबीबुल्ला खां था, और वह जाति से अफगान न होकर ताजिक था। उसका पिता सक्के का काम करता था। इसी कारण वह इतिहास में बच्चा सक्का के नाम से प्रसिद्ध है। कुछ समय के लिये वह अफगान सेना में भी रह चुका था। अमानुल्ला की नीति के विरुद्ध भावना से लाभ उठाकर उसने कोहे-दामन की घाटी में एक सेना का संगठन किया, और काबुल पर आक्रमण कर दिया। एक मास के युद्ध के अनन्तर काबुल पर उसका कब्जा भी हो गया (जनवरी, १९२९)। अमानुल्ला ने कन्धार जाकर आश्रय लिया, पर बच्चा सक्का ने वहां भी उसका पीछा किया, और अन्त में वह अपने देश को सदा के लिये नमस्कार कर भारत के रास्ते इटली पहुंच जाने में समर्थ हुआ (मई, १९२९)। अब न केवल काबुल अपितु सम्पूर्ण अफगानिस्तान बच्चा सक्का के कब्जे में आ गया। पुराने ढंग के प्रगति-विरोधी तत्त्वों का समर्थन उसे प्राप्त था। पर ऐसे लोगों की भी कमी नहीं थी, जो उसके शासन के विरोधी थे। विशेषतया, अब्दाली परिवार के अफगानों के लिये यह सम्भव नहीं था, कि वे एक सक्के के पुत्र को अपने देश की राजगद्दी का स्वामी स्वीकार कर सकें। बच्चा सक्का जिस ढंग से अफगानिस्तान का शासन करने का प्रयत्न कर रहा था, जनता भी उससे असन्तुष्ट थी। उसके अत्याचारों और मनमाने कार्यों से लोग बहुत उद्विग्न थे। परिणाम यह हुआ, कि वह अफगानिस्तान में अपना स्थायी शासन स्थापित करने में असमर्थ रहा।

नादिरशाह (१९२९-३२)—यह स्थिति थी, जबकि जनरल नादिरखां ने अफगानिस्तान में प्रवेश किया। वह अब्दाली परिवार के साथ सम्बन्ध रखता था, और अहमद शाह अब्दाली का वंशज था। अमीर अब्दुर्रहमान के शासनकाल में उसके पिता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मुहम्मद यूसुफ खां को अफगानिस्तान से बहिष्कृत कर दिया गया था, और उसने देहरादून (भारत) में आकर शरण ली थी। नादिर खां का जन्म देहरादून में ही हुआ था। अमीर अब्दुर्रहमान की मृत्यु के बाद वह अफगानिस्तान चला गया था, और हबीबुल्ला के शासन काल में उसने सरकारी नौकरी भी कर ली थी। हबीबुल्ला की हत्या के षड्यन्त्र में उसे भी गिरफ्तार कर लिया गया था, पर शीघ्र ही उसे जेल से मुक्ति मिल गई थी, क्योंकि उसके विरुद्ध अपराध सिद्ध नहीं हो सका था। बाद में उसे अफगान सेना के प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिया गया था। १९२४ में अफगानिस्तान का राजदूत बन कर वह पेरिस चला गया था। पर इस पद पर भी वह देर तक नहीं रह सका, और त्यागपत्र देकर दक्षिणी फ्रांस में ग्रास नामक स्थान पर निवास करने लगा। १९२९ में जब अमानुल्ला का पतन हुआ, और बच्चा सक्का ने काबुल की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया, तो वह अफगानिस्तान वापस लौट आया। वहां उसने उन लोगों को संगठित किया, जो बच्चा सक्का के विरोधी थे। अक्टूबर मास (१९२९) के समाप्त होने से पूर्व ही नादिर खां ने बच्चा सक्का को परास्त कर काबुल पर कब्जा कर लिया। उसने यह यत्न नहीं किया, कि अमानुल्ला को फिर से राजगद्दी पर बिठाया जाए। जनता और सेना इसका कभी समर्थन न करती। वह स्वयं राजकुल का था, अतः सेना की सहमति से उसने यह निर्णय किया कि राजगद्दी पर अपना अधिकार स्थापित कर ले। अमीर का पद प्राप्त कर उसने पहला कार्य यह किया, कि बच्चा सक्का को मौत की सजा दी। नादिर खां अब नादिरशाह के नाम से अफगानिस्तान का स्वामी हो गया था, और देश में सुव्यवस्था एवं शान्ति स्थापित करने में तत्पर था। नवम्बर मास में उसने एक घोषणा प्रकाशित की, जिसमें नई शासन नीति को स्पष्ट किया गया। यह न अमानुल्ला की नीति के समान क्रान्तिकारी व प्रगतिशील थी, और न बच्चा सक्का की नीति के समान प्रतिक्रियावादी। यह घोषित किया गया, कि यद्यपि अब देश का शासन इस्लाम और शरायत द्वारा प्रतिपादित कानून के अनुसार किया जाएगा, पर साथ ही सर्वसाधारण जनता में शिक्षा के प्रसार पर भी ध्यान दिया जायगा। शासन कार्य में अमीर की सहायता करने के लिए एक मन्त्रि-मण्डल का निर्माण किया गया, जिसके दस सदस्य थे। इनमें से दो नादिर शाह के भाई थे, और अन्य उसके निकट सम्बन्धी या घनिष्ठ मित्र। एक विधान सभा भी संगठित की गई, जिसकी सदस्य-संख्या २८६ थी। पर मन्त्रिमण्डल और विधान सभा के निर्माण से यह नहीं समझना चाहिए, कि इस समय अफगानिस्तान में लोकतन्त्र शासन या वैध राजसत्ता का सूत्रपात हो गया था। विधान सभा के सदस्य विविध कबीलों का प्रतिनिधित्व करते थे, और मन्त्रिमण्डल इस सभा के प्रति उत्तरदायी नहीं था।

यद्यपि नादिरशाह ने बच्चा सक्का को परास्त कर काबुल की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था, पर अभी देश में शान्ति और व्यवस्था स्थापित नहीं हुई थी। अनेक प्रदेशों में अभी ऐसे सरदारों या खानों का अधिकार था, जो बच्चा सक्का के पक्षपाती थे। साथ ही, ऐसे लोगों की भी अफगानिस्तान में कमी नहीं थी, जो अमानुल्ला की नीति के समर्थक थे। इन सबको अपने काबू में लाने के लिये नादिर शाह को अनेक वर्षों तक संघर्ष करना पड़ा। पर अन्त में उसे सफलता प्राप्त हुई, और वह अपने देश में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित कर सकने में समर्थ हो गया। देश में शान्ति स्थापित रखने के लिए नादिर शाह ने अनेक सड़कों का भी निर्माण कराया, जिनमें से काबुल को रूसी तुर्किस्तान से मिलाने वाली पक्की सड़क मुख्य है। यह सड़क हिन्दूकुश पर्वतमाला को पार करती है, और इसके कारण अफगानिस्तान का तुर्किस्तान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है। विदेशी राजनीति में नादिर शाह ने तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। उसका झुकाव न रूस की ओर था, और न ब्रिटेन की ओर। अफगानिस्तान में जिन विदेशी विशेषज्ञों की आवश्यकता होती थी, उन्हें वह फ्रांस और जर्मनी से प्राप्त करता था। अंग्रेजी तक को पढ़ाने के लिए उसने भारतीय शिक्षक नियुक्त किये थे, अंग्रेज नहीं। वह अपने देश में रूस और ब्रिटेन में से किसी के भी प्रभाव को नहीं बढ़ने देना चाहता था। पर नादिर शाह भी देर तक अफगानिस्तान का भाग्यविधायक नहीं रह सका। ८ नवम्बर, १९३१ के दिन उसकी भी हत्या कर दी गई। यह हत्या पारिवारिक विद्वेष का परिणाम थी, जो अफगान लोगों में एक साधारण बात है। नादिर शाह ने गुलाम नबी नाम के एक सरदार को प्राणदण्ड दिया था, और उसके पुत्र ने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध करने के लिए नादिर शाह का घात किया था।

जहीर शाह (१९३२-१९७३)—नादिर शाह के बाद उसका पुत्र जहीर काबुल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। नये अमीर ने अपने पिता की शासन नीति को जारी रखा। जहीर शाह के सम्मुख दो मुख्य कार्य थे, देश में शान्ति और व्यवस्था को कायम रखना और उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के लिये प्रयत्न करना। प्रथम कार्य को सम्पन्न करने के लिए उसने अपनी सेना को नये ढंग से संगठित किया, और उसे आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किया। देश की उन्नति के लिए उसने जर्मनी की सहायता प्राप्त की। वह चाहता था, कि अफगानिस्तान में नये कल-कारखानों की स्थापना की जाए, खेती की पैदावार को बढ़ाने के लिए सिंचाई का प्रबन्ध किया जाए, और जनता के हित व कल्याण के लिये नये ढंग के शिक्षणालय और अस्पताल खोले जायें। इन सबके लिए जर्मन विशेषज्ञ बुलाये गये, और जो मशीनरी चाहिए थी वह भी जर्मनी से प्राप्त की गई। निस्सन्देह, जहीरशाह की शासन-नीति प्रगतिशील और युग की प्रवत्तियों के अनुरूप थी। पर इसे क्रियान्वित करने के लिए उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अफगानों पर इस्लाम का बहुत अधिक प्रभाव था, और मुल्ला यह नहीं चाहते थे कि उनके देश में नई शिक्षा का प्रवेश हो। पर उनके विरोध के बावजूद अफगानिस्तान उन्नति के मार्ग पर निरन्तर अग्रसर होता गया, और अमीर जहीर शाह के शासनकाल में इस देश में आधुनिकता के चिन्ह (तार, टैलीफोन, कल-कारखाने आदि) दृष्टिगोचर होने लगे। १९३४ में अफगानिस्तान राष्ट्र-संघ का भी सदस्य बन गया, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उस ने भी एक स्वतन्त्र व सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर लिया।

१९३९ में बीसवीं सदी के द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। इस युद्ध में अफगानिस्तान अपनी तटस्थता की नीति पर दृढ़ रहा। यद्यपि वहां १५० के लगभग जर्मन वैज्ञानिक व विशेषज्ञ विद्यमान थे, और अफगान सरकार अपने देश की आर्थिक, सांस्कृतिक तथा औद्योगिक उन्नति के लिए जर्मनी के सहयोग पर ही निर्भर कर रही थी, पर उसने अपनी उदासीन स्थिति में कोई अन्तर नहीं आने दिया। १९४१ में ब्रिटेन और रूस ने अफगानिस्तान पर इस बात के लिये बहुत जोर डाला, कि जर्मन लोगों को वहां से बहिष्कृत कर दिया जाए। पर इसका भी विशेष प्रभाव नहीं हुआ, और महायुद्ध के अन्त तक यह देश अपनी तटस्थता की नीति पर कायम रहा।

१९४७ में भारत से ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ, और भारत का विभाजन कर पाकिस्तान के नाम से एक नये मुस्लिम राज्य का निर्माण किया गया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त को पाकिस्तान के अन्तर्गत कर दिया गया, यद्यपि वहां के बहुसंख्यक अफगान निवासी इस से सहमत नहीं थे। क्योंकि इस प्रान्त के लोग अफगान या पठान हैं, अतः वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पख्तूनिस्तान' के नाम से अपने पृथक् राज्य के निर्माण के पक्ष में थे। संसार के सभी देशों में राष्ट्रीयता की भावना इस काल में प्रबल हो रही थी। अतः यह स्वाभाविक था, कि अफगान लोग भी उन सब प्रदेशों को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने का प्रयत्न करते, जहां अफगानों का निवास है। इसी कारण अफगानिस्तान में भी यह आन्दोलन बल पकड़ने लगा, कि डुरन्ड लाइन को स्वीकार न किया जाए और अफगान राष्ट्र की पूर्वी सीमा सिन्ध नदी तक हो। साथ ही, बिलोचिस्तान के भी उन प्रदेशों को अफगानिस्तान में सम्मिलित किया जाए, जहां के बहुसंख्यक निवासी अफगान जाति के हैं। यदि ये सब प्रदेश सीधे अफगान राष्ट्र के अन्तर्गत न भी हों, तो भी पख्तूनिस्तान के रूप में इन की पृथक् सत्ता तो अवश्य होनी ही चाहिये। ब्रिटिश युग के उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त के निवासी भी इस योजना के पक्ष में हैं। अपने प्रदेश का पाकिस्तान के अन्तर्गत होना उन्हें पसन्द नहीं है। पर पाकिस्तान किसी भी दशा में यह स्वीकार करने को तैयार नहीं है, कि यह प्रदेश उससे पृथक् हो जाए। इसी कारण खान अब्दुल गफ्फार खां (फ्रन्टियर गांधी) और उनके साथियों को पाकिस्तान की सरकार ने गिरफ्तार किया। पर पख्तूनिस्तान आन्दोलन का अभी अन्त नहीं हुआ है। सीमावर्ती कबायली इलाके के लोग भी विशाल अफगान राष्ट्र के निर्माण के पक्ष में हैं, और इपी के फकीर के नेतृत्व में कतिपय अफगान कबीलों ने पाकिस्तान के विरुद्ध संघर्ष भी प्रारम्भ कर दिया था (१९५०-५१)। अफगानिस्तान की सरकार न केवल पख्तूनिस्तान के आन्दोलन से सहानुभूति रखती है, अपितु उसकी प्रबल रूप से समर्थक भी है।

लोकतन्त्र शासन का सूत्रपात— अफगानिस्तान का शासन पूर्णतया राजतन्त्र था, और उसकी सब शासन शक्ति अमीर जहीर शाह के हाथों में थी। पर लोकतन्त्रवाद की जो लहर इस समय सम्पूर्ण संसार को व्याप्त कर रही थी, अफगानिस्तान के लिये भी उससे अछूता रह सकना सम्भव नहीं था। मार्च, १९६३ में डॉ० मुहम्मद यूसुफ को वहां का प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया। ये काबुल यूनिवर्सिटी में प्रोफेसर रह चुके थे, और राजकुल के साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं था। इस से पूर्व अफगानिस्तान में प्रधानमन्त्री के पद पर ऐसे व्यक्तियों को ही नियुक्त किया जाता था, जो राजकुल या उच्च कुलीन वर्ग के हों। पर डॉ० यूसुफ सर्वसाधारण जनता में से थे, और आधुनिक शिक्षा-प्राप्त होने के कारण लोकतन्त्रवाद के प्रति उनकी आस्था थी। देश के लिये एक संविधान का निर्माण करने के प्रयोजन से उन्होंने एक कमीशन की नियुक्ति की, जिसके सात सदस्य थे। इस कमीशन ने जो संविधान तैयार किया उसे एक जिरगे (सभा) के सम्मुख उपस्थित किया गया। इस जिरगे के सदस्यों की नियुक्ति चुनाव द्वारा नहीं की गई थी, अपितु देश के प्रमुख व्यक्तियों को इसमें सम्मिलित होने के लिये निमन्त्रित किया गया था। जिरगे में उपस्थित लोगों की संख्या १७३ थी। ९ सितम्बर, १९६४ के दिन जिरगे ने संविधान को स्वीकार कर लिया। इस संविधान की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) व्यवस्थापन विभाग में दो सदन रखे जाएं, लोकसभा और सीनेट। लोकसभा के सदस्यों की संख्या २९ हो, जिन्हें सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा चुना जाए, और उनका चुनाव चार साल के लिये किया जाया करे। सीनेट में ८७ सदस्य हों, जिनमें एक तिहाई अमीर (राजा) द्वारा मनोनीत किये जाएं, एक तिहाई प्रान्तीय कौंसिलों द्वारा चुने जाएं और एक तिहाई को सर्वसाधारण मतदाता चुना करें। (२) प्रधानमन्त्री की नियुक्ति राजा द्वारा की जाए, और वह अपने मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया करे। पर लोक सभा को यह अधिकार हो, कि वह दो तिहाई बहुमत से मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकार कर उसे अपदस्थ कर सके। (३) न्याय विभाग को व्यवस्थापन और कार्यकारिणी विभागों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से पृथक् रखा जाए, और न्यायाधीशों की नियुक्ति राजा द्वारा की जाया करे। अफगानिस्तान के लिये जो यह नया संविधान बनाया गया, वह लोकतन्त्रवाद के अनुरूप था, और इस द्वारा वहां का शासन वैध राजतन्त्र हो गया था। मार्च, १९६५ में एक कानून द्वारा स्त्रियों को भी वोट का अधिकार प्रदान कर दिया गया, और उन्हें यह अवसर भी दिया गया कि वे पार्लियामैन्ट की सदस्यता प्राप्त कर सकें। अक्टूबर, १९६५ में पार्लियामैन्ट के चुनाव हुए, जिनमें सर्वसाधारण मतदाताओं ने पहली बार वोट के अधिकार का प्रयोग किया। इस प्रकार अपने देश में लोकतन्त्र शासन स्थापित कर डॉ० यूसुफ ने २९ अक्टूबर, १९६५ के दिन स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण प्रधानमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, और मुहम्मद मैवन्दवाल को उनका उत्तराधिकारी नियुक्त किया गया। मैवन्दवाल भी उच्च शिक्षित व्यक्ति थे, और १५ साल तक अमेरिका में अफगानिस्तान के राजदूत रह चुके थे। वे दो साल तक प्रधानमन्त्री के पद पर रहे, और १२ अक्टूबर, १९६७ को उन्होंने भी स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके बाद कुछ समय के लिये (१४ नवम्बर, १९६७ तक) अब्दुल्ला याफत अली और फिर नूर अहमद इतिमादी अफगानिस्तान के प्रधानमन्त्री बने। यह स्वीकार करना होगा, कि अब तक भी इस देश के शासन में अमीर तथा उनके राजकुल का बहुत अधिक हाथ था, यद्यपि वहां लोकतन्त्र संस्थाएं निरन्तर विकसित हो रही थीं, और वह लोकतन्त्रवाद के मार्ग पर अग्रसर होने में तत्पर था।

राजसत्ता का अन्त और रिपब्लिक की स्थापना—लोकतन्त्रवाद की जो प्रवृत्ति अफगानिस्तान में निरन्तर विकसित हो रही थी, उसी का यह परिणाम हुआ, कि जुलाई, १९७३ में जनरल दाऊद के नेतृत्व में वहां राज्यक्रान्ति हो गई, और जहीर शाह को राज्यच्युत कर रिपब्लिक की स्थापना की घोषणा कर दी गई।

अफगानिस्तान की प्रगति—गत वर्षों में अफगानिस्तान ने सभी क्षेत्रों में संतोषजनक उन्नति की है। अमेरिका और रूस दोनों ही उसे उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता प्रदान करने में तत्पर हैं। १९४९ से १९६४ तक के १५ वर्षों में रूस ने उसे ४२ करोड़ डालर दिये हैं, और अमेरिका ने ६ करोड़ डालर। पश्चिमी जर्मनी, चेकोस्लोवाकिया और चीन द्वारा भी उसे सहायता प्राप्त हुई है। यद्यपि अफगानिस्तान के निवासी अपनी आजीविका के लिये अब भी मुख्यतया खेती और पशुपालन पर निर्भर हैं, पर विदेशों से सहायता प्राप्त कर वहां औद्योगिक उन्नति भी काफी तेजी के साथ हो रही है। कपड़े, चीनी, सीमेन्ट आदि के कल-कारखाने वहाँ अच्छी संख्या में स्थापित हो गये है, और कोयले व लोहे की खानें भी वहां विकसित की जा रही हैं। अफगानिस्तान में अभी शिक्षा का पर्याप्त रूप से प्रचार नहीं हुआ है, और वहां के ८५ प्रतिशत के लगभग निवासी अभी पूर्णतया निरक्षक हैं। पर काबुल यूनिवर्सिटी (स्थापना वर्ष १९३२) और जलालाबाद यूनिवर्सिटी (स्थापना वर्ष १९६३) के रूप में उच्च शिक्षा की दो संस्थाएं वहां विद्यमान हैं, और बहुत-सी पाठशालाएं तथा विद्यालय भी वहां स्थापित हैं। इन्जीनियरिंग की शिक्षा के लिये भी काबुल में एक कालिज खोल दिया गया है (१९६८)। अफगानिस्तान का विदेशी व्यापार प्रधानतया रूस के साथ है। उसके निर्यात माल का ४० प्रतिशत भाग रूस क्रय करता है, और जो माल रूस से अफगानिस्तान आता है, उसकी मात्रा कुल आयात की ३५ प्रतिशत है। इस देश की सीमा रूस के साथ लगती है, और समुद्रतट से यह बहुत दूर है। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक है, कि रूस के साथ उसके व्यापारिक सम्बन्ध में निरन्तर वृद्धि होती जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अफगानिस्तान तटस्थता का नीति की अनुयायी है। इसीलिये वह सीटो और सेन्टो सदृश अन्तर्राष्ट्रीय गुटों में सम्मिलित नहीं हुआ। उसकी सीमा पर रूस, चीन, ईरान और पाकिस्तान की स्थिति है। पाकिस्तान के अतिरिक्त अन्य सीमावर्ती राज्यों के साथ उसके मैत्री सम्बन्ध विद्यमान हैं। १९६० में उसने चीन के साथ मैत्री और अनाक्रमण की सन्धि कर ली थी, जिस द्वारा यह भी तय कर लिया गया था कि इन दोनों राज्यों की सीमारेखा को परस्पर बातचीत द्वारा निर्धारित कर लिया जायगा। इसी के अनुसार १९६४ तक दोनों की सीमारेखा सुनिश्चित रूप से निर्धारित भी कर दी गई थी। जब चीन और रूस में मतभेद व विद्वेष बढ़ने लगे, तो यह आशंका थी कि अफगानिस्तान के लिये दोनों के साथ समान रूप से मैत्री सम्बन्ध रख सकना सम्भव नहीं रहेगा। पर यह आशंका निर्मूल सिद्ध हुई। मार्च, १९६५ में चीन और अफगानिस्तान में एक समझौता हुआ, जिस द्वारा चीन ने अफगानिस्तान के विकास के लिये तकनीकी और आर्थिक सहायता देना स्वीकार किया। इस प्रकार रूस और चीन दोनों ही इस देश की उन्नति के लिये सहायता देने में तत्पर हैं।

अफगानिस्तान की राजनीति की सब से महत्त्वपूर्ण समस्या उन पख्तूनों व पठानों के सम्बन्ध में हैं, जिनके प्रदेश पाकिस्तान के अन्तर्गत हैं। भारत पर ब्रिटिश शासन के काल में अफगानिस्तान और भारत के बीच जो सीमारेखा थी, उसे डुरण्ड लाइन कहते थे। यही अब पाकिस्तान और अफगानिस्तान को एक दूसरे से पृथक् करती है। इस सीमारेखा के पूर्व में पठानों का निवास है, जो भाषा, संस्कृति, जाति आदि की दृष्टि से पाकिस्तानियों से भिन्न हैं। ये पाकिस्तान से पृथक् होकर पख्तूनिस्तान नाम से अपना पृथक् राज्य बनाने के लिये प्रयत्नशील हैं, और अफगानिस्तान का समर्थन इन्हें प्राप्त है। पाकिस्तान को शिकायत है कि उसके राज्यक्षेत्र में निवास करने वाले पख्तून अफगानिस्तान से युद्ध-सामग्री प्राप्त करते हैं, और उसी के उकसाने पर वे विद्रोह करते रहते हैं। इसीलिये १९६३ में उसने अफगानिस्तान से अपने राजनयिक सम्बन्धों का अन्त कर दिया था। बाद में ईरान के हस्तक्षेप करने पर ये सम्बन्ध फिर से स्थापित हो गये, पर अब तक भी इन देशों में पख्तूनिस्तान के प्रश्न को लेकर विरोध विद्यमान है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्नचासवां अध्याय

नेपाल

(१) पुरातन इतिहास

भारत के उत्तर में नेपाल का राज्य है, जो क्षेत्रफल में ५४,६०० वर्ग मील है और जिसकी जन-संख्या ६५ लाख के लगभग है। लम्बाई में यह ५०० मील है, और इसकी चौड़ाई ६० से १५० मील तक है। यह एक पर्वत-प्रधान देश है, और हिमालय की तराई और पहाड़ी क्षेत्र में स्थित है। भौगोलिक दृष्टि से यह कुमायूं, गढ़वाल और हिमाचल प्रदेश के समान है। १७६८ ई० तक नेपाल से केवल नेपाल की घाटी का ही बोध होता था, और इस घाटी में भी अनेक छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी। नेपाल के राजाओं का शासन केवल काठमाण्डू और उसके समीपवर्ती प्रदेश तक ही सीमित था। बाद में इन राजाओं ने न केवल सम्पूर्ण नेपाल घाटी को अपने अधीन कर लिया, अपितु उसके चारों ओर के पहाड़ी प्रदेशों और हिमालय की तराई पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कुछ समय के लिये तो कुमायूं, गढ़वाल और हिमाचल प्रदेश भी नेपाल के राजाओं के अधीन रहे। नेपाल की घाटी का क्षेत्रफल केवल ३०० वर्ग मील है, और वह समुद्र-तट से ४५०० फीट की ऊंचाई पर स्थित है। घाटी के चारों ओर ऊंची-ऊंची पर्वतमालाएं हैं। कञ्चनजंघा, माउन्ट एवरेस्ट, मकालू, गौरीशंकर और नन्दा देवी आदि की ऊंची चोटियां हिमालय के नेपाली प्रदेश में ही स्थित हैं। नेपाल के दक्षिणी प्रदेश तराई के रूप में हैं, जो भारत के उत्तरी मैदान से मिले हुए हैं। इस राज्य की मुख्य नदियां घाघरा, गन्डक, बागमती और कोसी हैं, जो उत्तर से दक्षिण की ओर बहती हुई भारत में प्रवेश कर जाती हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से नेपाल भारत का ही एक अंग है। वहां के बहुसंख्यक निवासी हिन्दू धर्म के अनुयायी हैं, और उनकी भाषा हिन्दी की ही एक शाखा है। इस प्रदेश के इतिहास का भी भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। तिब्बत (जो अब चीन का अन्यतम प्रदेश है) के दक्षिण में स्थित होने के कारण नेपाल की आन्तरिक एवं विदेशी राजनीति का भारत के लिये बहुत महत्त्व है। जब से चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हुई, और इस विशाल एवं शक्तिशाली राज्य ने तिब्बत को पूर्णतया अपने अधीन कर दक्षिण दिशा में अपना प्रसार प्रारम्भ किया है, भारत के लिये नेपाल का महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया है।

नेपाल का प्राचीन इतिहास प्रायः अन्धकार में है। यद्यपि वहां ऐसी वंशावलियां विद्यमान हैं, जो उसके पुराने राजाओं के नामों का उल्लेख करती हैं, पर इनके आधार पर वहां के प्रामाणिक इतिहास का निर्माण कर सकना सम्भव नहीं है। एक प्राचीन अनुश्रुति के अनुसार इस देश का नेपाल नाम एक मुनि के नाम से पड़ा था, जो भारत से जाकर इस घाटी में बस गया था। उसके साथ भारत का एक राजकुमार भी इस घाटी में गया था, और वहां उसने अपना शासन स्थापित किया था। नेपाल के इतिहास का सर्वप्रथम प्रामाणिक ज्ञान हमें बौद्ध युग से प्राप्त होना आरम्भ होता है। इस युग में नेपाल की तराई में लिच्छवि और शाक्य गणराज्यों की सत्ता थी। बुद्ध का जन्म शाक्य गण में हुआ था।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करते हुए मौर्य सम्राट् अशोक तराई के इस प्रदेश में भी गया था, और वहां उसने अनेक स्तम्भ स्थापित किये थे। बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी-वन में उसने एक स्तम्भ स्थापित किया था, जिस पर यह वाक्य उत्कीर्ण है—'यहां भगवान् बुद्ध का जन्म हुआ था।' उस समय नेपाल की तराई का यह प्रदेश मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत था। बुद्ध के जन्मस्थान के प्रति अपनी श्रद्धा को प्रगट करने के लिये अशोक ने इस प्रदेश की मालगुजारी भी माफ कर दी थी। नेपाल की घाटी के राज्य भी मौर्य सम्राटों की अधीनता स्वीकार करते थे। एक बौद्ध कथा के अनुसार अशोक की पुत्री चारुमती नेपाल जाकर बस गई थी, और उसने देवपत्तन के मन्दिर का निर्माण कराया था, जो अब तक भी पशुपति महादेव के मन्दिर के समीप विद्यमान है। ईस्वी सन् के प्रारम्भ काल में नेपाल पर जिस वंश का शासन था, उसके राजा सूर्यवंशी क्षत्रिय थे, और भारत से ही इस देश में गये थे। प्रसिद्ध गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त (३२८-३७८ ई०) की प्रशस्ति में नेपाल की गणना उन प्रत्यन्त (सीमावर्ती) राज्यों में की गई है, जिन्होंने उसे कर प्रदान करना और उसकी आज्ञा में रहना स्वीकार कर लिया था। नेपाल के सूर्यवंशी क्षत्रिय राजा निस्सन्देह गुप्त सम्राटों के प्रभुत्व में थे। वर्तमान नेपाल राज्य की तराई के प्रदेश में इस काल में लिच्छवि गणराज्य की सत्ता थी। यह गण बौद्ध काल में भी विद्यमान था, और कुशाण, तुरुष्क आदि विदेशी जातियों के भारत पर आक्रमण के काल में इसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। गुप्त वंश के प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त प्रथम ने लिच्छवि-कुमारी कुमारदेवी के साथ विवाह किया था। इसी कारण उसके पुत्र समुद्रगुप्त को शिलालेखों में 'लिच्छवि-दौहित्र' कहा गया है। गुप्त वंशी सम्राट् लिच्छवियों के साथ अपने सम्बन्ध को गर्व की दृष्टि से देखते थे, और उनके प्रारम्भिक उत्कर्ष का सूत्रपात लिच्छवियों की सहायता से ही हुआ था। नेपाल घाटी के सूर्यवंशी क्षत्रिय कुल का अन्तिम राजा शिवदेव-वर्मा था। उसके कोई पुत्र नहीं था, केवल एक कन्या थी, जिसका विवाह अंशुवर्मा नाम के कुमार के साथ हुआ था। यह अंशुवर्मा वैश्य ठाकुर था, जिसका कुल भारत के अवध प्रदेश में निवास करता था। अंशुवर्मा द्वारा नेपाल में ठाकुर वंश के शासन का प्रारम्भ हुआ (छठी सदी के अन्त में)। इस समय भारत में गुप्त साम्राज्य की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, और उसके भग्नावशेषों पर अनेक राज्य स्थापित हो गये थे। इनमें स्थानेश्वर का राजा हर्षवर्धन प्रमुख था, जिसने उत्तरी भारत के बड़े भाग पर अपना शासन स्थापित करने में सफलता प्राप्त की थी। पर नेपाल अब पूर्णतया स्वतन्त्र हो चुका था। उसके राजा अब किसी अन्य राजा या सम्राट् की अधीनता स्वीकार नहीं करते थे। हर्ष वर्धन के समय प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्यू न-त्सांग भारत की यात्रा के लिये आया था। उसने अपने यात्रा-विवरण में नेपाल का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है, कि नेपाल में हिन्दू और बौद्ध लोग साथ-साथ निवास करते हैं, और सर्वत्र उनके मन्दिर तथा बिहार विद्यमान हैं। इस काल में नेपाल के राजसिंहासन पर अंशुवर्मा ही विराजमान था। इस समय में तिब्बत में एक अत्यन्त शक्तिशाली राजा का शासन था, जिसका नाम स्रोङ्-त्सान्-गैम्पो था। तिब्बत के इतिहास को लिखते हुए हम पहले इस राजा के सम्बन्ध में लिख भी चुके हैं। इस शक्तिशाली तिब्बती राजा ने जिस नेपाली कुमारी के साथ विवाह किया था, वह अंशुवर्मा की ही पुत्री थी। तिब्बती अनुश्रुति में इस कुमारी का नाम ब्रि-बुत्सान (भृकुटी) लिखा गया है। उस द्वारा तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ, और बहुत-से बौद्ध पण्डित भारत और नेपाल से तिब्बत गये। अंशुवर्मा स्रोङ्-त्सान गैम्पो की अधीनता स्वीकार करता था, और उसे कर प्रदान कर संतुष्ट रखता था। ६५० ई० में अंशुवर्मा की मृत्यु हुई, और उसका पुत्र नरेन्द्र देव नेपाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। वह बहुत ही योग्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एवं प्रजापालक राजा था। नेपाल की दन्तकथाओं में अब तक उसे बड़े आदर के साथ स्मरण किया जाता है। उसके काल की एक अनुश्रुति चीनी साहित्य में पायी जाती है, जिसका कि भारत और नेपाल दोनों के साथ सम्बन्ध है। हर्ष वर्धन और अंशुवर्मा का समकालीन चीन का राजा ताओ-त्सुंग था, जो बहुत प्रतापी था। ६३६ ई० में हर्ष वर्धन ने अपना एक दूत-मण्डल चीन के इस सम्राट् की सेवा में भेजा था, जिसके उत्तर में ताओ-त्सुंग ने भी अपना एक दूत-मण्डल भारत भेजा, जिसका नेता वांग-ह्यु एन-से था। जिस समय वह भारत पहुंचा, हर्ष वर्धन की मृत्यु हो चुकी थी, और उसके अमात्य अर्जुन या अरुणाश्व ने कन्नौज की राजगद्दी पर अधिकार कर लिया था। अर्जुन ने चीन के दूत-मण्डल का स्वागत न करके उसे लूट लिया, और बड़ी कठिनता से वह अपनी जान बचा कर नेपाल पहुंचने में समर्थ हुआ। इस समय नेपाल के राजसिंहासन पर नरेन्द्र देव विराजमान था, जो तिब्बत के सम्राट् स्रोङ्-त्सान्-गैम्पो का सामन्त था। इस तिब्बती सम्राट् की दूसरी पत्नी चीन की राजकुमारी थी। जब उसने चीनी दूतमण्डल के प्रति किये गये दुर्व्यवहार का समाचार सुना, तो उसने वांग-ह्यु एन-से की सहायता की। एक तिब्बती सेना ने नेपाल होते हुए भारत पर आक्रमण किया, और युद्ध में अर्जुन को परास्त कर चीनी दूतमण्डल के अपमान का प्रतिशोध किया। इस समय से नेपाल का चीन और तिब्बत के साथ सम्बन्ध निरन्तर बढ़ता गया, और बहुत-से चीनी यात्री और व्यापारी इस देश में आने-जाने लगे।

यहां हमारे लिये यह सम्भव नहीं है, कि ठाकुर वंश के विविध राजाओं के इतिहास पर संक्षेप के साथ भी प्रकाश डाल सकें। स्रोङ्-त्सान्-गैम्पो के बाद तिब्बत की राजशक्ति में क्षीणता आने लगी थी, और नेपाल उसकी अधीनता से मुक्त होकर पूर्णतया स्वतन्त्र हो गया था। ११०० ई० के लगभग राजा हरिदेव के शासन काल में मुकुन्द सेन ने नेपाल की घाटी पर आक्रमण किया, और उसे जीत कर वहां के निवासियों पर घोर अत्याचार किये। पर वह देर तक नेपाल पर शासन नहीं कर सका, और ठाकुर वंश ने फिर वहां अपना अधिकार स्थापित कर लिया। इसी बीच में तुर्क लोग भारत में अपना प्रभुत्व स्थापित कर चुके थे, और दिल्ली को राजधानी बनाकर विविध तुर्क-अफगान राजवंशों ने अपना शासन प्रारम्भ कर दिया था। १३२४ ई० में दिल्ली के सुलतान गयासुद्दीन तुगलक ने बंगाल पर चढ़ाई की। वह गंगा के उत्तर से होते हुए बंगाल की ओर बढ़ा। इस रास्ते पर तिरहुत का स्वतन्त्र राज्य पड़ता था, जहां का राजा हरसिंह देव था। इस राजपूत राजा ने बड़ी वीरता के साथ तुगलक का मुकाबिला किया, यद्यपि अन्त में उसकी पराजय हुई, और उसने अपने राज्य को छोड़ कर नेपाल की ओर प्रस्थान कर दिया। वहां उसने ठाकुर वंश के राजा को परास्त कर अपनी सत्ता स्थापित कर ली।

पन्द्रहवीं सदी में नेपाल में एक शक्तिशाली राजा हुआ, जिसका नाम यक्षमल्ल (१४२९-६०) था। वह भटगांव का राजा था, जो राज्य नेपाल की घाटी के अनेक छोटे-छोटे राज्यों में से एक था। उसने न केवल सम्पूर्ण घाटी को जीत कर अपने अधीन किया, अपितु दक्षिण दिशा में आगे बढ़कर तराई और तिरहुत की भी विजय कर ली। उत्तर की ओर विजय-यात्रा करते हुए उसने तिब्बत पर भी आक्रमण किये, और उसके कुछ प्रदेशों को अपने प्रभुत्व में कर लिया। पर यक्षमल्ल द्वारा स्थापित यह साम्राज्य देर तक कायम नहीं रह सका। इसका कारण यह था, कि उसने अपने राज्य को अपने चार पुत्रों में विभक्त कर दिया था, जो आपस में लड़ने के लिये तत्पर रहते थे। इस दशा में उन में से किसी के लिये भी सुदूरवर्ती प्रदेशों को अपने अधीन रख सकना सम्भव नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा, और वे सब स्वतन्त्र हो गये। नेपाल में अब कोई ऐसा शक्तिशाली राजा नहीं रह गया, जो इस देश में एकता कायम रख सके। वहां अनेक छोटे-छोटे राज्य कायम रहे, जो सदा आपस में लड़ते रहते थे। १७४२ ई० तक नेपाल की यही दशा रही।

(२) गोरखा राज्य की स्थापना और नेपाल का साम्राज्य-विस्तार

दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने जब मेवाड़ की विजय की थी (१३०२ ई०), तो वहां के राजवंश की एक शाखा दक्षिण की ओर चली गई थी, जिसमें आगे चल कर शिवाजी ने जन्म लिया, और एक अन्य शाखा कुमायूं के पहाड़ों में जाकर बस गई थी। कुमायूं से ये लोग पूर्व दिशा में और आगे बढ़े, और काली गण्डक की घाटी में पालपा और गोरखा बस्तियों में जा बसे। वहां के मूल निवासियों को अपनी अधीनता में ले आने में इन्हें विशेष कठिनाई नहीं हुई। मेवाड़ के राजपूतों के साथ बहुत-से ब्राह्मण भी इस काल में हिमालय के इस प्रदेश में जाकर आबाद हो गये थे। उनके धर्म, सभ्यता और सामाजिक जीवन का पालपा और गोरखा प्रदेशों के पुराने निवासियों पर भी प्रभाव पड़ा, और धीरे-धीरे वे सब हिन्दुओं के राजपूत वर्ग में सम्मिलित हो गये। वर्तमान नेपाल राज्य के इन पश्चिमी प्रदेशों में इस काल (पन्द्रहवीं, सोलहवीं और सतरहवीं सदियों) में किसी एक सुसंगठित राज्य की सत्ता नहीं थी। वहां अनेक छोटे-बड़े पहाड़ी राज्य विद्यमान थे, जिन में विविध राजपूत राजाओं का शासन था। इनमें गोरखा का राज्य सब से शक्तिशाली था। अन्य सब पहाड़ी राज्य उसका प्रभाव स्वीकार करते थे, और यदि गोरखा राज्य के राजसिंहासन पर कोई शक्तिशाली व्यक्ति विद्यमान हो, तो उसकी अधीनता भी मानते थे। अठारहवीं सदी के प्रारम्भिक भाग में गोरखा राज्य का स्वामी नर भूपाल शाह था। नेपाल घाटी के राज्यों के आपस के झगड़ों से लाभ उठा कर उस ने इस घाटी पर आक्रमण कर दिया, और काठमाण्डू के उत्तर में स्थित नवाकोट पर कब्जा कर लिया। पर वह देर तक इसे अपने अधीन नहीं रख सका। काठमाण्डू के राजा से परास्त होकर वह अपने राज्य में लौट आया, और १७४२ ई० में वहीं उसकी मृत्यु हुई। यद्यपि नर भूपाल शाह नेपाल की घाटी को नहीं जीत सका था, पर वर्तमान नेपाल राज्य के पश्चिमी पार्वत्य प्रदेशों पर उसका शासन स्वीकृत किया जाने लगा था, क्योंकि इस क्षेत्र के अन्य राजा उसकी शक्ति के सम्मुख असहाय थे। नर भूपाल शाह के बाद उसका पुत्र पृथ्वीनारायण शाह गोरखा राज्य का स्वामी बना। राजगद्दी पर आरूढ़ होने के समय उसकी आयु केवल १२ वर्ष की थी।

नेपाल की घाटी की विजय करने का जो उपक्रम नर भूपाल शाह ने प्रारम्भ किया था, पृथ्वीनारायण शाह ने उसे पूर्ण किया। अपनी विजय-यात्रा का श्रीगणेश करने से पूर्व उसने काशी की यात्रा की, और इस तीर्थ-यात्रा का उपयोग उसने नये अस्त्र-शस्त्रों व युद्ध-नीति से परिचय प्राप्त करने के लिए भी किया। अठारहवीं सदी के मध्य भाग में ईस्ट इण्डिया कम्पनी उत्तरी भारत में अपने प्रभुत्व का विस्तार करने में तत्पर थी। अनेक नगरों में अंग्रेजों की व्यापारिक कोठियां कायम हो चुकी थीं, जहां उनके सैनिक भी निवास करते थे। पृथ्वीनारायण शाह ने उनसे भी सम्पर्क स्थापित किया, और नये सैन्य-संगठन और युद्ध के ढंग से परिचय प्राप्त किया। अपने देश को वापस लौट कर इस राजा ने गोरखा सेना का नई शैली से संगठन किया, और उसे नवीन अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किया। अब वह समय आ गया था, जबकि पृथ्वीनारायण शाह अपने पिता के अधूरे छोड़े हुए कार्य को पूरा करने के लिये प्रवृत्त हो सकता था। नेपाल की घाटी में अब भी अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटे-छोटे राज्य थे, जिनमें काठमाण्डू, भटगांव और पाटन के राज्य मुख्य थे। इनके निवासी निवार लोग थे, जो गोरखा या परवतिया लोगों से भिन्न थे। काठमाण्डू का राजा जयप्रकाश था, और भटगांव और पाटन पर भी उसी के राजकुल के व्यक्तियों का शासन था। पृथ्वीनारायण शाह ने किस प्रकार निरन्तर युद्धों के बाद नेपाल की घाटी के इन विविध राज्यों को जीत कर अपने अधीन किया, इसका विवरण लिखने की आवश्यकता नहीं है। अन्त में उसे सफलता प्राप्त हुई, और वह नेपाल की घाटी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में समर्थ हुआ। नेपाल के राजाओं ने पृथ्वीनारायण शाह के विरुद्ध भारत के अंग्रेजों से भी सहायता की प्रार्थना की, और बेतिया से मेजर किनलोच एक सेना के साथ नेपाल में प्रविष्ट भी हुआ। पर वह पराजित होकर वापस लौट आया (१७६७), और नेपाल में गोरखा शासन स्थापित हो गया।

नेपाल का साम्राज्य विस्तार—१७७२ ई० में राजा पृथ्वीनारायण शाह की मृत्यु हुई। नेपाल के इतिहास में उसका स्थान बड़े महत्त्व का है। उसने नेपाल की घाटी और उसके चारों ओर के पार्वत्य प्रदेश में एक सुव्यवस्थित शासन स्थापित करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की थी। इस क्षेत्र के सब छोटे-छोटे राज्यों की विजय कर उसने उन्हें अपने अधीन कर लिया था, और नेपाल के भावी उत्कर्ष के लिए मैदान तैयार कर दिया था। अब उसका पुत्र प्रतापसिंह शाह नेपाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। पर १७७७ में उसकी भी मृत्यु हो गई, और उसकी विधवा रानी राजेन्द्रलक्ष्मी अपने नाबालिग पुत्र रण बहादुर के नाम पर राज्य करने लगी। इस काल में गोरखा सेनाओं ने ठेठ नेपाल के पश्चिम के सप्तगंडकी (गंडक नदी की शाखाओं द्वारा सिञ्चित) प्रदेश और पूर्व के सप्तकोशिकी (कोसी नदी द्वारा सिञ्चित) प्रदेश की विजय की। राजेन्द्रलक्ष्मी के बाद रण बहादुर के चाचा बहादुर शाह ने रीजेन्ट के रूप में ५ वर्ष (१७८७-९२) तक नेपाल के शासन-सूत्र का संचालन किया। इस काल में घाघरा नदी द्वारा सिञ्चित पहाड़ी प्रदेश और कुमायूं को जीत कर गोरखा राज्य के अधीन किया गया। निस्सन्देह, इस समय गोरखा लोग बहुत शक्तिशाली थे, और अपने साम्राज्य के प्रसार के लिए प्रयत्नशील थे। उन्होंने तिब्बत पर भी चढ़ाई की, पर इसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। इस काल में तिब्बत पर चीन का आधिपत्य स्वीकार किया जाता था। गोरखा आक्रमण का बदला लेने के लिए एक चीनी सेना ने नेपाल पर चढ़ाई कर दी। गोरखा सेना उसका मुकाबिला नहीं कर सकी (१७९२) और परास्त हो गई। यह अवसर था, जबकि चीन के आक्रमण से अपने देश की रक्षा करने के प्रयोजन से बहादुर शाह ने अंग्रेजों से सहायता की याचना की, और उन के साथ एक ऐसी व्यापारिक सन्धि करने के लिये वह तैयार हो गया, जिसके कारण अंग्रेजों को नेपाल में भी अनेक प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त हो जाते थे। इस समय भारत का गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस था। अंग्रेज राजदूत जब तक काठमाण्डू पहुँचा, चीन-नेपाल युद्ध का अन्त हो चुका था, और चीन द्वारा परास्त हो जाने के कारण नेपाल ने चीन के सम्राट् का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था। बहादुर शाह ने यह समझा, कि अंग्रेजों के साथ मैत्री स्थापित करने का यह अच्छा अवसर है। वह अभी रीजेन्ट की स्थिति में ही नेपाल का शासन कर रहा था, क्योंकि वहां का राजा रणबहादुर अभी नाबालिग था। अंग्रेजों की सहायता से बहादुर शाह ने स्वयं राजा बनने और रणबहादुर को कैद करने का षड्यन्त्र किया। पर नेपाल के लोग यह सहन नहीं कर सके। वे उसके विरुद्ध हो गये, और रण बहादुर ने अपने चाचा को कैद कर शासन-सूत्र को स्वयं अपने हाथों में ले लिया (१७९५)। कुछ समय बाद कैदखाने में ही बहादुर शाह की हत्या कर दी गई।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर रण बहादुर भी देर तक नेपाल का शासन नहीं कर सका। दो वर्ष की आयु के अपने पुत्र गीर्वाण युद्ध विक्रम शाह को राजगद्दी पर बिठाकर और अपनी बड़ी रानी राजराजेश्वरी को रीजेन्ट नियत कर वह सन्यासी हो गया। पर शीघ्र ही वह सन्यासी के जीवन से उकता गया, और फिर राज्य-कार्य में हस्तक्षेप करने लगा। इस समय दामोदर पाण्डे नेपाल का प्रधान मन्त्री था। उसे रण बहादुर की गतिविधि पसन्द नहीं थी। उसने निश्चय किया, कि रण बहादुर को कैद कर लेने में ही राज्य का हित है। दामोदर पाण्डे से अपनी रक्षा करने के लिए रणबहादुर नेपाल छोड़कर काशी चला आया, और वहां आकर उसने अंग्रेजों की शरण ली। उसे खर्च के लिये जिस धन की आवश्यकता होती थी, अंग्रेज उसे प्रसन्नतापूर्वक प्रदान करते रहते थे, क्योंकि उनका विचार था कि रण-बहादुर को अपना वशवर्ती बनाकर वे नेपाल में भी अपने प्रभुत्व का विस्तार कर सकेंगे। १८०१ में अंग्रेजों ने रण बहादुर के साथ एक सन्धि की, जिसकी एक शर्त यह थी कि काठमाण्डू के दरबार में एक अंग्रेज रेजिडेन्ट की नियुक्ति की जायगी। फरवरी, १८०२ में कैप्टिन नॉक्स ने डॉ० फ्रांसिस हैमिल्टन के साथ काठमाण्डू में प्रवेश किया, और रण-बहादुर के साथ की गई सन्धि के आधार पर यह दावा किया, कि उसे नेपाल दरबार में स्थान प्रदान किया जाये। पर नेपाल के प्रमुख सरदार इस सन्धि के विरुद्ध थे। वे भली-भांति जानते थे, कि किसी देश को अपने प्रभुत्व में लाने के लिए अंग्रेज लोग इसी उपाय को प्रयोग में लाते हैं। जिन सरदारों ने इस सन्धि का विरोध किया, उनका नेता अमरसिंह थापा था। नेपाल के राज्य के विस्तार में उसने बहुत कर्त्तृत्व प्रदर्शित किया था, अतः शासन और सेना पर उसका बहुत प्रभाव था। प्रमुख सरदारों के विरोध के कारण काठ-माण्डू में कैप्टिन नॉक्स की स्थिति बहुत डांवाडोल हो गई, और वह भारत वापस लौट आया (१८०३)।

हम ऊपर लिख चुके हैं, कि रण बहादुर ने राजगद्दी का त्याग करते हुए अपनी बड़ी रानी राजराजेश्वरी को रीजेन्ट के पद पर नियुक्त किया था। पर जब रण बहादुर ने नेपाल छोड़ कर काशी के लिये प्रस्थान किया था, तो राजराजेश्वरी भी उसके साथ चली गई थी, और उसकी दूसरी रानी केती रीजेन्ट का कार्य करने लगी थी। काशी में राजराजेश्वरी के लिए रणबहादुर के साथ जीवन बिता सकना सम्भव नहीं हुआ, क्योंकि वह वहां एक अन्य स्त्री के प्रेम जाल में फंस गया था। नवम्बर, १८०२ में राजराजेश्वरी ने काशी छोड़कर नेपाल की ओर प्रस्थान किया। इससे नेपाल दरबार को यह आशंका हुई, कि देश में गृह-कलह का सूत्रपात सम्भव है। कतिपय सरदार राजराजेश्वरी का पक्ष लेंगे, और अन्य उसका विरोध करेंगे। इस दशा में एक सेना राजराजेश्वरी को गिरफ्तार करने के लिये भेजी गई, पर वह उसके साथ जा मिली। फरवरी, १८०३ में राजराजेश्वरी काठमाण्डू जा पहुंची, और उसने नेपाल के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया। वह नेपाल में अंग्रेजों के प्रवेश की विरोधी थी। इसी कारण कैप्टिन नॉक्स को भारत वापस लौट जाना पड़ा था।

राजराजेश्वरी एक शक्तिशाली और महत्त्वाकांक्षी शासिका थी। उसने अमरसिंह थापा को सेना में उच्च पद प्रदान किया, और उसे गढ़वाल की विजय का कार्य सुपुर्द किया। कुमायूं पहले ही नेपाल के अधीन हो चुका था, अब गढ़वाल की विजय का उप-क्रम प्रारम्भ हुआ। नवम्बर, १८०४ में रण बहादुर ने काशी से नेपाल के लिये प्रस्थान किया, और थानकोट जा पहुँचा। यह स्थान रक्सौल से आमलेखगंज की ओर जाने पर नेपाल की घाटी के दक्षिणी किनारे पर पड़ता है। यहां दामोदर पाण्डे ने उसके मार्ग को रोकना चाहा, पर सेना रण बहादुर के साथ जा मिली। दामोदर पाण्डे पकड़ा गया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मौत के घाट उतार दिया गया। अब रणबहादुर ने रीजेन्सी का अन्त कर देश के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया, और भीमसेन थापा को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया। भारत में प्रवास करते हुए रण बहादुर को संसार की राजनीति और नई प्रगति के साथ सम्पर्क में आने का अनुपम अवसर प्राप्त हुआ था। उसने अपनी आंखों से यह देखा था, कि अंग्रेज लोग किस प्रकार भारत के विविध राज्यों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करते जा रहे हैं, और वे किन नये अस्त्र-शस्त्रों और युद्ध नीति का प्रयोग करते हैं। यूरोपियन लोगों के सैन्य-संचालन से वह बहुत अधिक प्रभावित हुआ था। इसलिये नेपाल लौटकर उसने काठमाण्डू में एक नये किले का निर्माण कराया, और अपनी सेना का आधुनिक ढंग से संगठन किया। इस बीच में अमरसिंह थापा गढ़वाल की विजय के लिये प्रयत्नशील था। उसने अलमोड़े को केन्द्र बना कर गढ़वाल पर चढ़ाई की, और एक सेना को तिब्बत भेजकर उत्तर की ओर से भी गढ़वाल पर आक्रमण किया। गढ़वाल की राजधानी श्रीनगर नेपाली सेना के अधिकार में आ गई, और वहां का राजा प्रद्युम्न शाह तराई के रास्ते से होता हुआ देहरादून जा पहुँचा। पर नेपाली सेना ने यहां भी उसका पीछा किया, और खुड़बुड़े की लड़ाई में उसे परास्त कर यमुना और टोंस नदियों तक के सारे प्रदेश को नेपाल के प्रभुत्त्व में ला दिया। प्रद्युम्न शाह इसी युद्ध में काम आया (जनवरी, १८०४)।

यमुना के पश्चिम में उस समय सरमौर का स्वतन्त्र राज्य था, जिसकी राजधानी नाहन थी। सतलुज और यमुना के बीच के पहाड़ी प्रदेश में उस समय बारह बड़े और बहुत-से छोटे-छोटे राज्य थे, जो प्रायः आपस में लड़ते रहते थे। सरमौर का राजा इन्हें जीत कर अपने अधीन करना चाहता था। उसके निमन्त्रण पर अमरसिंह थापा ने यमुना को पार किया, और एक साल के स्वल्प काल में इन सब राज्यों को जीतता हुआ वह सतलुज तक जा पहुँचा। इस क्षेत्र के सब राज्यों ने नेपाल की अधीनता स्वीकार कर ली। सतलुज और राबी नदियों के बीच के पहाड़ी प्रदेश में भी तब बहुत-से छोटे-छोटे राज्यों की सत्ता थी, जिनमें कटोच का राज्य प्रमुख था। वहां का राजा संसारचन्द्र अन्य राज्यों की विजय में तत्पर था। इस दशा में इनके राजाओं ने यह निश्चय किया, कि अमर सिंह थापा को संसार चन्द्र का मुकाबिला करने के लिए निमन्त्रित किया जाए। १८०५ के अन्त में अमरसिंह ने सतलुज नदी को पार कर संसार चन्द्र के राज्य पर चढ़ाई कर दी। व्यास नदी के किनारे पर सुजानपुर तीरा नामक स्थान पर संसार चन्द्र की हार हुई, और उसने कांगड़ा जाकर शरण ग्रहण की। अमरसिंह थापा ने ज्वालामुखी जाकर उसे अपना केन्द्र बनाया, और चारों ओर के प्रदेश पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित कर लिया। सुकेत, कुल्लू, चम्बा, नूरपुर और बसौली आदि के पहाड़ी राज्यों के राजाओं ने यहां आकर नेपाल की अधीनता स्वीकार कर ली। उस सम्पूर्ण प्रदेश को अपने अधीन करके अमरसिंह थापा ने कांगड़ा की ओर प्रस्थान किया, जहां कटोच के राजा संसार चन्द्र ने शरण प्राप्त की हुई थी। इसी समय नेपाल के प्रधानमन्त्री भीमसेन थापा का भाई नयनसिंह एक अन्य नेपाली सेना को लेकर कांगड़ा पहुंच गया। कांगड़ा के किले के लिए घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें नयनसिंह काम आ गया। जो पहाड़ी प्रदेश वर्तमान समय में हिमाचल प्रदेश कहाता है, वह प्रायः सब अब नेपाल के प्रभुत्त्व में आ गया था। निस्सन्देह, अमरसिंह थापा एक अत्यन्त योग्य व कुशल सेनापति था। हिमालय के इतने विशाल प्रदेश को विजय कर नेपाल की अधीनता में ले आने में उसे अनुपम सफलता प्राप्त हुई थी। एक सुयोग्य सेनापति होने के साथ-साथ अमरसिंह एक चाणाक्ष राजनीतिज्ञ और कुशल शासक भी था। उसका ध्येय यह था, कि काश्मीर की पूर्वी सीमा से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा कर सिक्किम तक के सम्पूर्ण पहाड़ी क्षेत्र को एक शासन में ले आया जाए। सांस्कृतिक दृष्टि से यह प्रदेश एक है, इसमें जो अनेक बोलियां बोली जाती हैं, वे सब हिन्दी भाषा की ही विविध शाखाएं हैं। नेपाल भी इसी क्षेत्र का एक अंग है। अमरसिंह को अपने इस ध्येय को पूर्ण करने में अवश्य सफलता प्राप्त हो जाती, यदि नेपाल दरबार की दशा इस समय सुव्यवस्थित होती। एप्रिल, १९०६ में काठमाण्डू की राजगद्दी के लिए फिर झगड़े शुरू हो गये थे। राजा रण बहादुर का उसके सौतेले भाई शेर बहादुर ने घात कर दिया था, और स्वयं शेर बहादुर भी इसी समय मार दिया गया था। रण बहादुर की रानी राजराजेश्वरी अपने पति के शव के साथ सती हो गयी थी। अब गीर्वाण युद्ध बहादुर (रण बहादुर का पुत्र) काठमांडू के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पर वह अभी नाबालिग था। अतः सब शासन-शक्ति प्रधानमन्त्री भीमसेन थापा के ही हाथों में रही।

हम अभी ऊपर लिख चुके हैं, कि अमरसिंह थापा ने कांगड़े के किले का घेरा डाला हुआ था। यदि नेपाल से नई सेना वहां पहुंच सकती, तो वह अवश्य ही इस किले को जीत लेता। पर काठमाण्डू दरबार के घरेलू झगड़ों के कारण कोई नई नेपाली सेना कांगड़ा नहीं पहुंच सकी। इस बीच में राजा रणजीत सिंह पंजाब में एक शक्तिशाली सिक्ख राज्य की स्थापना कर चुका था। वह भी इस प्रयत्न में था, कि पंजाब के उत्तर के पहाड़ी प्रदेशों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करे। मई, १८०९ में रणजीतसिंह कांगड़ा पहुंच गया, और उस पर अपना अधिकार स्थापित करने में समर्थ हुआ। अब अमरसिंह थापा के लिए यह सम्भव नहीं था, कि वह सतलुज पार के पहाड़ी प्रदेश पर अपना अधिकार कायम रख सके। वह कांगड़ा से वापस लौट गया, और सतलुज नदी के पश्चिम के सब प्रदेश नेपाल की अधीनता से मुक्त हो गये। पर सतलुज के पूर्व के सब पहाड़ी प्रदेश अब भी उसके शासन में थे। इस विशाल क्षेत्र में अमरसिंह थापा ने अनेक छावनियां कायम कीं, जिनमें राजगढ़ (शिमला से १३ मील पश्चिम में) और नाहन की छावनियां मुख्य थीं। राजगढ से कुमायूं तक एक सड़क बनवाकर अमरसिंह ने उसके साथ-साथ अपने अन्य भी बहुत से सैनिक अड्डे कायम किये। निस्सन्देह, अब नेपाल अपने एक विशाल साम्राज्य की स्थापना में समर्थ हो गया था, और दरबार के घरेलू झगड़ों के बावजूद इस साम्राज्य का शासन पर्याप्त रूप से सुदृढ़ और सुव्यवस्थित था।

(३) ब्रिटेन के साथ संघर्ष

१८०९ ई० में नेपाल का साम्राज्य अपनी चरम सीमा तक पहुंच चुका था। वर्तमान समय में जो प्रदेश नेपाल राज्य के अन्तर्गत हैं, उनके अतिरिक्त कुमायूं, गढ़वाल और टिहरी के प्रदेश भी उसके अन्तर्गत थे। यमुना और सतलुज नदियों के बीच का पार्वत्य प्रदेश भी उसके अधीन था, और पूर्व में सिक्किम तथा दार्जिलिंग के प्रदेश भी उस की अधीनता स्वीकार करते थे। तराई के साथ-साथ के कुछ प्रदेश जो आजकल बहराइच और गोरखपुर जिलों में हैं, उस समय नेपाल की तराई के ही भाग थे। पर उन्नीसवीं सदी के इस प्रारम्भिक भाग में ब्रिटेन की ईस्ट इण्डिया कम्पनी भी भारत में अपने प्रभुत्व को स्थापित करने में तत्पर थी, और उत्तरी भारत के अनेक प्रदेश उसकी अधीनता में आ भी चुके थे। इस दशा में वह सर्वथा स्वाभाविक था, कि अंग्रेजों का नेपाल के साथ भी संघर्ष प्रारम्भ हो।

जिस समय लार्ड कार्नवालिस भारत का गवर्नर जनरल था (१७८६—९६), अवध के नवाब के साथ अंग्रेजों ने एक सन्धि की थी, जिसके अनुसार अवध में एक अंग्रेजी सेना रख दी गई थी, और इस सेना का खर्च चलाने के लिये गोरखपुर और बहराईच

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिलों की मालगुजारी अंग्रेजों को प्रदान कर दी गई थी। ये दोनों जिले हिमालय की तराई के साथ-साथ स्थित हैं। नेपाल की दक्षिणी सीमा इनके साथ लगती है। कौन से प्रदेश नेपाल में हैं, और कौन-से इन जिलों में—इस प्रश्न पर समय-समय पर विवाद उत्पन्न होते रहते थे। यह विवाद विशेषतया बुटवल और शिवराज नामक बस्तियों के सम्बन्ध में था। इस विवाद का अन्त करने के लिए १८१३ में दोनों देशों ने अपने-अपने प्रतिनिधि नियत कर दिये थे। पर जब उनमें बातचीत शुरू हुई (मार्च, १८१४), तो अंग्रेज प्रतिनिधि ने जानबूझकर नेपाली प्रतिनिधियों का अपमान किया, और वारेन हेस्टिंग्स (जो १८१३ में भारत का गवर्नर-जनरल नियत हुआ था), ने नेपाल को यह अल्टिमेटम दिया, कि २५ दिनों के अन्दर-अन्दर इन बस्तियों को खाली कर दिया जाए। इस अवधि के समाप्त होते ही गोरखपुर के कलेक्टर ने इन पर कब्जा कर लिया, और वहां अपने कर्मचारी नियुक्त कर दिये। जब यह समाचार काठमाण्डू पहुंचा, तो नेपाल को परिस्थिति की गम्भीरता का भान हुआ। नेपाल दरबार के बहुसंख्यक नेता इस सम्मति के थे, कि इन बस्तियों को अंग्रेजों को दे देना चाहिये और इनके लिये ब्रिटेन से युद्ध नहीं करना चाहिये। पर प्रधानमन्त्री भीमसेन थापा युद्ध के पक्ष में था। उसके परामर्श से नेपाल दरबार ने अंग्रेजों का मुकाबिला करने का निर्णय किया, और मई, १८१४ में एक नेपाली सेना ने बुटवल और शिवराज पर कब्जा कर लिया। पर अमरसिंह थापा को यह बात पसन्द नहीं आई। वह चतुर राजनीतिज्ञ था। उसका कहना था, कि कुमायूं, गढ़वाल और यमुना तथा सतलुज के बीच के पार्वत्य प्रदेश पर नेपाल का शासन स्थापित हुए अभी अधिक समय नहीं हुआ है। अतः अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष शुरू करने के लिए अभी उपयुक्त अवसर नहीं आया है, विशेषतया जबकि रणजीतसिंह और मराठे भी उनके साथ सन्धि कर चुके हैं। इस समय अंग्रेज भारत में किसी भी बड़े युद्ध में व्यापृत नहीं थे, अतः वे अपनी सब शक्ति नेपाल के विरुद्ध लगा सकते थे। इस दशा में अमरसिंह थापा ने नेपाल दरबार को यह परामर्श दिया, कि बुटवल और शिवराज अंग्रेजों को लौटा कर उनके साथ सन्धि कर लेने में ही नेपाल का हित है। नेपाल की सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली, और अमरसिंह थापा को यह अधिकार दे दिया, कि वह अंग्रेजों के साथ सन्धि की बातचीत शुरू कर दे। अमरसिंह ने लुधियाना में स्थित अंग्रेजी सेना के सेनापति के पास सन्धि का सन्देश भेजा, पर उसने उसकी कोई परवाह नहीं की। इसी प्रकार काठमाण्डू दरबार द्वारा जो राजदूत सन्धि की बात चलाने के लिए वारेन हेस्टिंग्स के पास भेजा गया था, उसे भी निराशा का सामना करना पड़ा। हेस्टिंग्स कट्टर साम्राज्यवादी था, और भारत में ब्रिटिश सत्ता के विस्तार के लिये कटिबद्ध था। नेपाल की ओर से सुलह के लिये जो प्रयत्न किये जा रहे थे, उन्हें उसने उस देश की निर्बलता का प्रमाण समझा, और यह निर्णय किया कि सैन्य शक्ति का प्रयोग कर नेपाल राज्य को भी हस्तगत कर लिया जाए।

इस निर्णय के अनुसार अक्टूबर, १८१४ में पांच अंग्रेजी सेनाओं ने नेपाल के राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया। एक सेना ओक्टरलेनी के नेतृत्व में सतलुज नदी के साथ-साथ उत्तर दिशा में आगे बढ़ती हुई शिवालक की उपत्यका में पलासिया तक पहुंच गई। दूसरी सेना जिलेस्पी के नेतृत्व में मेरठ से चली, और देहरादून में प्रवेश कर गई। इस सेना को यह आदेश दिया गया था, कि देहरादून से बढ़कर नाहन पर कब्जा कर ले, और सतलुज के रास्ते से बढ़ती हुई अंग्रेजी सेना से जा मिले। साथ ही, यह सेना गढ़वाल पर भी आक्रमण करे। तीसरी सेना गोरखपुर से बुटवल के रास्ते पालपा पर आक्रमण के लिये भेजी गई। चौथी सेना पटना से काठमाण्डू की ओर भेजी गई, और पांचवीं सेना को यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदेश दिया गया, कि वह सिक्किम के राजा को नेपाल के विरुद्ध विद्रोह कर देने के लिये प्रेरित करे। इस प्रकार अंग्रेजों और नेपाल में युद्ध का प्रारम्भ हुआ। जो अंग्रेजी सेना मेरठ से देहरादून भेजी गई थी, उसने २४ अक्टूबर, १८१४ के दिन इस नगर पर कब्जा कर लिया, जिसके कारण नेपाली सेना ने देहरादून से चार मील दूर नालापानी में जाकर आश्रय लिया, और उसकी किलाबन्दी की। यहां अंग्रेजी और नेपाली सेनाओं में घनघोर युद्ध हुआ, जिसमें अंग्रेजी सेनापति जिलेस्पी मारा गया। पर अन्त में अंग्रेज नालापानी को जीतने में समर्थ हो गये, और उनकी सेना यमुना को पार कर नाहन पहुंच गई। गोरखपुर से जो अंग्रेजी सेना नेपाल की तराई में प्रविष्ट हुई थी, उसे अपने ध्येय में विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। यही दशा पटना वाली सेना की भी हुई। पर जिस पूर्वी सेना को सिक्किम की ओर आगे बढ़ने का आदेश दिया गया था, सिक्किम के राजा ने उसका साथ दिया, जिसके कारण वह पूर्णिया (बिहार) के उत्तर में नेपाल के मोरंग प्रदेश पर कब्जा करने में समर्थ हो गई। पंजाब से जिस सेना ने सतलुज के साथ-साथ आगे बढ़ना शुरू किया था, उसे अमरसिंह थापा की नेपाली सेनाओं का मुकाबिला करना पड़ा। अमरसिंह और उसके पुत्र रणजोर सिंह ने डट कर अंग्रेजों से युद्ध किया और प्रत्येक किले की रक्षा के लिये अपनी शक्ति लगा दी। यदि इस समय काठमाण्डू दरबार तत्परता से काम करता, तो सम्भवतः नेपाल का यह साम्राज्य कायम रह सकता। नेपाल चीन से सहायता प्राप्त कर सकता था, और भारत के विविध राजाओं को भी अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिये प्रेरित कर सकता था। अमरसिंह की यही नीति थी। उसने पंजाब के सिक्ख राजा रणजीतसिंह से सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न भी किया। पर इसमें उसे सफलता नहीं हुई। इस बीच में अनेक रण-क्षेत्रों में अंग्रेजों को अच्छी सफलता प्राप्त हो रही थी। इस दशा में नेपाल की सरकार ने यही उचित समझा, कि अंग्रेजों से सन्धि कर युद्ध को समाप्त कर दिया जाए। मई, १८१५ में मुजफ्फरपुर के उत्तर में सुगौली नामक स्थान पर नेपाल के राजदूतों ने सन्धि की बातचीत शुरू की। अंग्रेजों की मुख्य शर्तें ये थीं—(१) सिक्किम पर नेपाल के आधिपत्य की समाप्ति कर दी जाए। (२) काली नदी के पश्चिम के सब प्रदेशों (कुमायूं, गढ़वाल, टिहरी और यमुना-सतलज के मध्यवर्ती पार्वत्य प्रदेश) पर से नेपाल अपने अधिकार का परित्याग कर दे। (३) काठमाण्डू में अंग्रेज रेजीडेन्ट नियुक्त किया जाय। काठमाण्डू दरबार इन शर्तों को स्वीकृत कर लेने के लिए तैयार था, पर इस बीच में अमरसिंह थापा नेपाल पहुंच गया (दिसम्बर १९१५), और उसने इस सन्धि के विरुद्ध आवाज उठाई। उसके विरोध के कारण सन्धि की बातचीत समाप्त हो गई, और अंग्रेजी सेना ने रकसौल—आमलेख गंज के मार्ग से नेपाल पर चढ़ाई कर दी। इस आक्रमण में अंग्रेजों को अच्छी सफलता प्राप्त हुई, और अब काठमाण्डू दरबार ने यही उचित समझा कि अंग्रेजों की सब शर्तों को स्वीकार कर उनके साथ सन्धि कर ली जाए। ३ मार्च, १८१६ के दिन सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये गये, जिसके कारण वे सब प्रदेश अब नेपाल के हाथों से निकल गये, जो पिछले वर्षों में उसने अधिगत किये थे।

इस सन्धि के कुछ दिन बाद अमरसिंह थापा की मृत्यु हो गई, और राजा गीर्वाण युद्ध विक्रम भी स्वर्ग को चला गया। अब उसका पुत्र राजेन्द्र विक्रम शाह नेपाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। इस समय उसकी आयु केवल तीन वर्ष की थी, अतः शासनसूत्र प्रधानमन्त्री भीमसेन थापा के ही हाथों में रहा। अंग्रेजों और नेपाल में सन्धि हो जाने का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह हुआ, कि कुमायूं, गढ़वाल, टिहरी और यमुना-सतलुज के मध्यवर्ती पार्वत्य प्रदेश पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित हो गया। इनके जो विविध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा पहले नेपाल की अधीनता स्वीकृत करते थे, अब उन्होंने अंग्रेजों के प्रभुत्व में रहना स्वीकार कर लिया।

सन् १८३२ तक नेपाल का शासन-सूत्र भीमसेन थापा के हाथों में रहा। अब राजा राजेन्द्र विक्रम शाह १९ साल की आयु का हो गया था, और शासन कार्य में हाथ बटाने की स्थिति में आ गया था। १८३७ में उसने भीमसेन थापा को पदच्युत करके रामजंग पाण्डे को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया। रामजंग पाण्डे अंग्रेजों की बढ़ती हुई शक्ति से बहुत उद्विग्न था। काठमाण्डू में अंग्रेज रेजिडेन्ट की नियुक्ति उसे जरा भी पसन्द नहीं थी। वह चाहता था, कि अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठाये जाएं, और उन सब प्रदेशों को फिर से प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाएं, जो १८१६ की सन्धि के कारण नेपाल के हाथों से निकल गये थे। उसने सेना की शक्ति को बढ़ाने पर विशेष ध्यान दिया, और अपने अनेक राजदूत इस प्रयोजन से भारत भेजे, ताकि वे वहां के राज्यों को अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़े होने के लिए प्रेरित करें। ये दूत ग्वालियर, रीवाँ, नागपुर, हैदराबाद, लाहौर, जोधपुर, सिक्किम और भूटान आदि में गये, और वहां के राजाओं के साथ उन्होंने बात-चीत शुरू की। अंग्रेजों को इन पर सन्देह न होने पाए, अतः ऊपर से यह प्रदर्शित किया गया कि ये युवक राजा राजेन्द्र विक्रम शाह के विवाह-सम्बन्ध को तय करने के लिए भारत आये हैं। पर अंग्रेज लोग नेपाली राजदूतों की गतिविधि को सन्देह की दृष्टि से देख रहे थे। इस कारण उन्होंने नेपाल की सीमा पर अपनी सेना में वृद्धि कर दी। साथ ही, नेपाल के राजदूतों को भारतीय राज्यों को अंग्रेजों के विरुद्ध उभाड़ने में भी सफलता नहीं हो सकी। इस स्थिति में रामजंग पाण्डे का उत्साह कम हो गया, और नेपाल तथा अंग्रेजों में दूसरी लड़ाई शुरू नहीं होने पाई।

(४) नेपाल में राणाओं के शासन का काल

प्रधानमन्त्री रामजंग पाण्डे जिस ढंग से अपने देश से अंग्रेजी प्रभुत्व का अन्त करने और नेपाल के खोये हुए प्रदेशों को फिर से प्राप्त करने के लिये प्रयत्न कर रहा था, अंग्रेज उससे बहुत चिन्तित थे। इस समय काठमाण्डू के दरबार में अंग्रेजी रेजिडेन्ट के पद पर होगसन नियुक्त था। वह बहुत चतुर व्यक्ति था। वह जानता था, कि नेपाल में अनेक शक्तिशाली सरदारों की सत्ता है, जिनके पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष से लाभ उठाकर इस देश की शक्ति को क्षीण किया जा सकता है। वह अपने कार्य में सफल हुआ, और उसके प्रयत्न से नेपाल के सरदारों में द्वेष की भावना तीव्र हो गई। इसी के परिणाम स्वरूप कतिपय सरदारों ने एक षड्यन्त्र किया, जिस द्वारा राजा राजेन्द्र विक्रम शाह की बड़ी रानी की विष देकर हत्या कर दी गई। यह रानी रामजंग पाण्डे की समर्थक थी, और उसकी सत्ता की मुख्य आधार थी। उसकी मृत्यु के बाद काठमाण्डू दरबार में रामजंग पाण्डे का प्रभाव कम हो गया, और उसके स्थान पर मातबर सिंह को प्रधान-मन्त्री के पद पर नियत किया गया। मातबर सिंह भीमसेन थापा का भतीजा था, और पाण्डे परिवार का मुख्य विरोधी था। उसने इस परिवार के अनेक प्रमुख व्यक्तियों को गिरफ्तार कर फांसी पर चढ़ा दिया (मई, १८४२)।

पर मातबर सिंह भी देर तक नेपाल के शासन-सूत्र का सञ्चालन नहीं कर सका। उसका भानजा जंग बहादुर बहुत महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति था, और अंग्रेजों का पक्षपाती एवं मित्र था। होगसन उसी के द्वारा नेपाल के दरबार की योजनाओं का पता करता रहता था। उसने अब अपने मामा के विरुद्ध षड्यन्त्र किया, और एक दिन जब मातबर सिंह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजा राजेन्द्र विक्रम शाह की छोटी रानी से मिलने के लिए अन्तःपुर में आया हुआ था, जंगबहादुर ने गोली चलाकर उसकी हत्या कर दी (१८ मई, १८४५)। मातबर सिंह की मृत्यु के बाद फतह जंग चौतरिया को प्रधानमन्त्री नियत किया गया, और नये मन्त्रि-मण्डल में उसने जंगबहादुर को भी स्थान प्रदान किया। पर जंगबहादुर इतने से ही संतुष्ट नहीं हुआ। वह नेपाल के शासन-सूत्र को अपने हाथों में लेने के लिए उत्सुक था। मातबर सिंह के बाद जो नई सरकार काठमाण्डू में कायम हुई थी, उसमें प्रधान सेनापति का पद गगनसिंह को दिया गया था। रानी के साथ उसकी घनिष्ठ मैत्री थी, जिसके कारण सर-कार पर उसका विशेष प्रभाव था। १४ सितम्बर, १८४६ के दिन जब वह अपने घर में बैठा हुआ पूजा कर रहा था, एक खिड़की से एक गोली ने आकर उसकी जीवन-लीला का अन्त कर दिया। यह हत्या भी जंग बहादुर ने ही की थी। पर रानी को उस पर सन्देह नहीं हुआ। क्योंकि गगनसिंह की रानी के साथ मैत्री थी, अतः उसने अपने मित्र के हत्यारे का पता करने और समुचित दण्ड देने के लिये राज्य के सब प्रमुख सरदारों को दरबार में बुलाया। जंग बहादुर के लिए यह उत्तम अवसर था। वह भी दरबार में उप-स्थित हुआ, और उसने अपनी सेना को यह आदेश दिया कि वह दरबार के बाहर तैयार रहे और उसकी आज्ञा की प्रतीक्षा करे। इस समय तक नेपाल में सेना का ऐसा सुव्यव-स्थित संगठन नहीं हुआ था, कि उसके सब सैनिक तथा सेना-नायक नियन्त्रण में रहते हुए प्रधान सेनापति और सरकार के आदेशों का ही पालन किया करें। अपनी-अपनी सेना पर विविध सरदारों व सेनापतियों का प्रभाव होता था, और वह उन्हीं के आदेशों का पालन किया करती थी। वीर किशोर पाण्डे नामक एक नवयुवक पर गगनसिंह की हत्या का आरोप लगाया गया, और उसे हथकड़ी लगाकर दरबार में उपस्थित किया गया। अपने मित्र की हत्या के आरोप में अभियुक्त व्यक्ति को प्राणदण्ड देने के लिये रानी इतनी उत्सुक थी, कि उसने उस पर बाकायदा मुकदमा चलाने की कोई आवश्यकता नहीं समझी। राजा राजेन्द्र विक्रम शाह और प्रधानमन्त्री फतहजंग ने रानी को समझाया, कि अभियुक्त को अपनी सफाई का अवसर देना चाहिए। पर उसने उनकी एक न सुनी, और जंग बहादुर की प्रेरणा से उसने यही निर्णय किया, कि वीर किशोर पाण्डे के घात से ही गगनसिंह की हत्या का प्रतिशोध सम्भव है। दरबार का वातावरण इस समय बहुत गरम हो गया था। विविध सरदार एक दूसरे की गति-विधि को आशंका की दृष्टि से देख रहे थे। जंग बहादुर इसी अवसर की प्रतीक्षा में था। उसने अपने सैनिकों को इशारा किया। प्रधानमन्त्री फतह जंग चौतरिया पर गोली चलायी गई, और वह वहीं पर ढेर हो गया। इसके बाद जंग बहादुर के सैनिकों ने ३० प्रमुख सरदारों और उनके १०३ अनुचरों की हत्या की। ये सब सरदार निःशस्त्र दशा में ही दरबार में उपस्थित हुए थे, और उनकी सेनाएं भी उनके साथ नहीं थीं। इस दशा में जंग बहादुर का षड्यन्त्र सफल हो गया, और उसके सब विरोधी मौत के घाट उतार दिये गये। जो सरदार इस समय जंग बहादुर के षड्यन्त्र के शिकार हुए, उनमें रणजोरसिंह भी एक था, जो अमरसिंह थापा का पुत्र था और जिसने अंग्रेजों के विरुद्ध युद्ध में अनुपम वीरता प्रदर्शित की थी। अब जंग बहादुर के लिए अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूर्ण करने के लिए मैदान साफ हो गया था। नेपाल में अब कोई भी ऐसा शक्तिशाली सरदार नहीं रह गया था, जो उसके मुकाबिले में खड़ा हो सकता। राजा और रानी उसके सम्मुख असहाय थे। उन्होंने अब उसे ही प्रधानमन्त्री और प्रधान सेनापति के पदों पर नियुक्त कर दिया।

राजा राजेन्द्र विक्रम शाह को यह सहन नहीं हुआ, कि उसकी स्थिति जंग बहादुर के हाथों में कठपुतली के समान हो जाए। वह नेपाल छोड़कर भारत चला गया, और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रानी ने भी उसका अनुसरण किया। भारत जाकर उन्होंने एक सेना एकत्र की, और नेपाल की तराई पर चढ़ाई कर दी। पर इस आक्रमण में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। जंग बहादुर अपने रास्ते के इस कांटे को भी दूर करने के लिये उत्सुक था। अतः उसने राजेन्द्र विक्रम शाह को राजच्युत कर उसके पुत्र सुरेन्द्र विक्रम शाह को नेपाल का राजा बनाया (मई, १८४७)।

पर जंग बहादुर को अब भी पूर्ण सन्तोष नहीं था। वह राज्य का वास्तविक कर्त्ता-धर्ता बनना चाहता था। कुछ समय बाद उसने राजा सुरेन्द्र विक्रम शाह को एक सनद पर हस्ताक्षर करने के लिये प्रेरित किया, जिसद्वारा यह व्यवस्था की गई कि प्रधान-मन्त्री का पद जंग बहादुर के वंश में स्थिर रहे। जंग बहादुर के बाद उसके भाई आयु-क्रम से प्रधान-मन्त्री के पद पर रहें, और उनकी मृत्यु के अनन्तर उसके और उसके भाई-यों के पुत्रों में जो आयु में सबसे अधिक हो। उसने महाराजा और राणा की उपाधियां भी प्राप्त कीं। इस प्रकार नेपाल में राणाओं के उस शासन का प्रारम्भ हुआ (१८४७), जो १०४ वर्षों तक कायम रहा। सन् १९५१ में इस राणा शासन का अन्त हुआ। इस शासन में राजा की स्थिति नाम मात्र की थी, और वास्तविक शासन-शक्ति राणाओं के हाथों में थी, जो आयुक्रम व वंशक्रम के अनुसार प्रधान-मन्त्री और प्रधान सेनापति के पदों पर आरूढ़ होते थे।

जंग बहादुर के शक्ति प्राप्त कर लेने पर नेपाल में उन सरदारों का अन्त हो गया, जो अंग्रेजों के विरोधी थे। थापा, पाण्डे और चौतरिया आदि कुलों के सरदार न केवल नेपाल की पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे, अपितु साथ ही अपने देश के उत्कर्ष के लिये भी उत्सुक थे। इसके विपरीत जंग बहादुर अंग्रेजों का घनिष्ठ मित्र था, और उन्हीं के समर्थन व सहयोग से नेपाल की शासन-नीति के संचालन का पक्षपाती था। १८१६ की सन्धि के अनुसार अंग्रेज रेजिडेन्ट काठमाण्डू में निवास करने ही लगा था। जंग बहादुर की अंग्रेजों के प्रति जो मैत्री-भावना थी, उसके कारण अब नेपाल की राजनीति पर उनके प्रभाव में और भी अधिक वृद्धि हो गई। १८४८ में अंग्रेजों और सिक्खों में दूसरे युद्ध का प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर जंग बहादुर ने अंग्रेजों की सहायता का प्रस्ताव किया। वह चाहता था, कि एक नेपाली सेना सिक्खों के विरुद्ध लड़ाई के लिये पंजाब भेजी जाए। पर लार्ड डलहौजी ने इसकी कोई आवश्यकता नहीं समझी। पर इस से यह भली भांति समझा जा सकता है, कि इस समय नेपाल की सरकार का अंग्रेजों के प्रति क्या रुख था। १८५० में जंग बहादुर ने इङ्गलैण्ड और यूरोप की यात्रा की। लण्डन में उसने महारानी विक्टोरिया से भी भेंट की। विदेश यात्रा से वापस लौटने पर उसके अंग्रेजी सरकार के साथ सम्बन्ध और भी मधुर हो गये। नेपाल पर ब्रिटिश प्रभाव अब निरन्तर बढ़ता गया। यद्यपि वह एक स्वतन्त्र राज्य था, पर जंग बहादुर की नीति सब मामलों में ब्रिटेन का समर्थन करने की थी।

१८५७ में भारत में प्रथम स्वातन्त्र्य-युद्ध का प्रारम्भ हुआ। उत्तरी भारत में सर्वत्र अंग्रेजी शासन के विरुद्ध विद्रोह शुरू हो गये। नेपाल के अनेक सरदारों के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ, कि इस अवसर का उपयोग अपने देश की पूर्ण स्वतन्त्रता के लिये किया जा सकता है। नेपाल अब ब्रिटेन का वशवर्ती राज्य था, और अंग्रेज रेजिडेन्ट की सत्ता वहां के देशभक्तों की आँखों में शूल की तरह चुभा करती थी। पर जंगबहादुर अंग्रेजों का मित्र था। भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध में उसने अंग्रेजी सरकार का साथ देने का निर्णय किया, और एक नेपाली सेना अंग्रेजों की सहायता के लिये भेज दी गई। अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे नेपाली सरदार भी इस सेना में भरती हो गये, जो हृदय से अंग्रेजों के शत्रु थे। उनकी योजना यह थी, कि भारत जाकर वे विद्रोह कर देंगे। पर दुर्भाग्य से जंग बहादुर को उनकी इस योजना का पता चल गया। वे गिरफ्तार कर लिये गये, और फांसी पर चढ़ाये गये। भारत के स्वातन्त्र्य-युद्ध को विफल बनाने में जंग बहादुर की नेपाली सेना ने अच्छा कर्त्तृत्व प्रदर्शित किया। अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करने के लिये अंग्रेजों ने तराई के प्रदेश में २०० मील लम्बा जमीन का एक टुकड़ा नेपाल को प्रदान किया, जो घाघरा नदी के पूर्व और गोरखपुर जिले के उत्तरी भाग में स्थित था (१८६०)। साथ ही, ब्रिटिश सरकार की ओर से जंग बहादुर को 'सर' की उपाधि भी प्रदान की गई, जिसे स्वीकार करते हुए नेपाल के इस प्रधान-मन्त्री ने यह वचन दिया, कि यदि भविष्य में भी कभी ब्रिटेन को नेपाल की सहायता की आवश्यकता होगी, तो वह बड़ी खुशी से प्रदान की जायगी।

१८७६ में राणा जंग बहादुर की मृत्यु हुई। उसके बाद उसका भाई रणोद्दीप नेपाल का प्रधानमन्त्री व प्रधान सेनापति बना। उसके शासनकाल में युवराज त्रैलोक्य-विजय ने राणाशाही से मुक्त होने का प्रयत्न किया। पर उसे सफलता नहीं हुई। इसी प्रकार का एक यत्न १८८१ में किया गया, जिसमें नेपाल के ५५ प्रमुख सरदार सम्मिलित थे। यह यत्न भी असफल रहा। इसके नेताओं को भी गिरफ्तार करके प्राणदण्ड दिया गया। वस्तुतः, अब नेपाल की सब शासन-शक्ति राणाओं के हाथों में आ चुकी थी, और उन्हें अपदस्थ कर सकना सुगम नहीं था। पर प्रधानमन्त्री के पद पर कौन-सा राणा नियुक्त हो, इस सम्बन्ध में झगड़े होते रहे। जंग बहादुर ने जो व्यवस्था की थी, उसके अनुसार प्रधान-मन्त्री की मृत्यु के अनन्तर राणा परिवार में जो पुरुष ज्येष्ठ हो, वही उसका स्थान ले सकता था। पर अनेक महत्त्वाकांक्षी एवं उद्दण्ड प्रकृति के राणाओं के लिये यह सम्भव नहीं होता था, कि वे प्रधान-मन्त्री के स्वर्गवास की शान्तिपूर्वक प्रतीक्षा करते रहें। वे षड्यन्त्र द्वारा उसका अन्त कर देने के लिये प्रयत्नशील रहते थे। इसीलिये १८८५ में रणोद्दीप की हत्या कर दी गई, और राणा कुल के अन्य अनेक व्यक्ति भी मौत के घाट उतार दिये गये। इस षड्यन्त्र का नेता वीर शमशेर था, जो अब प्रधानमन्त्री बना। उसके विरुद्ध भी अनेक बार षड्यन्त्र किये गये, पर वह १९०० ई० तक सफलतापूर्वक नेपाल का शासन करता रहा। उसके शासन काल में कतिपय नेपाली नेताओं ने यह यत्न किया, कि राणाशाही का अन्त कर फिर से राजा के शासन की स्थापना की जाए (१८८८)। पर यह यत्न सफल नहीं हो सका, और राणाओं का प्रभुत्त्व नेपाल में कायम रहा।

१९०० ई० में वीर शमशेर की मृत्यु के बाद उसका भाई देव शमशेर प्रधान-मन्त्री बना। वह प्रगतिशील विचारों का व्यक्ति था। उसकी योजना थी, कि नेपाल में भी एक परिषद् की स्थापना की जाए, जिसमें जनता के प्रतिनिधियों को भी स्थान प्रदान किया जाए। पर वह देर तक प्रधानमन्त्री के पद पर नहीं रह सका। उसके भाई चन्द्र शमशेर ने उसे पकड़ कर कैद कर लिया, और स्वयं प्रधान-मन्त्री बन गया। अपनी मृत्यु (१९२९) के समय तक वह नेपाल का कर्त्ता-धर्ता बना रहा। उसके विरुद्ध जो भी षड्-यन्त्र हुए, उनको विफल बनाने में उसने असाधारण सफलता प्राप्त की। ३० वर्ष के लगभग के अपने सुदीर्घ शासन काल में चन्द्र शमशेर ने जब भी अवसर आया, अंग्रेजों की दिल खोल कर सहायता की। १९१४-१८ के महायुद्ध में नेपाली लोगों को बड़ी संख्या में अंग्रेजी सेना में भरती किया गया, और उन्हें यूरोप के युद्ध-क्षेत्रों में भेजा गया। अंग्रेज लोग नेपालियों की सैनिक योग्यता से भली भांति परिचित थे। उन्होंने उन्हें अपनी सेना में भरती करना शुरू किया, और भारत की अंग्रेजी सेना के वे महत्त्वपूर्ण अंग बन गए। देश की उन्नति पर भी चन्द्र शमशेर ने ध्यान दिया। काठमाण्डू में त्रिभुवन चन्द्र कालिज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्थापना की गई, जिस द्वारा नेपाल में नये ज्ञान-विज्ञानों की शिक्षा देना प्रारम्भ हुआ। बहुत-से नेपाली विद्यार्थियों को इस काल में उच्च शिक्षा के लिये विदेशों में भी भेजा गया। नेपाल में नवयुग के सूत्रपात में इससे बहुत सहायता मिली। यहां यह लिख देना उपयुक्त होगा, कि राणाओं के शासन-काल में वास्तविक शासन शक्ति प्रधान-मन्त्री के ही हाथों में रहती थी। पृथ्वी नारायण शाह द्वारा स्थापित गोरखा राजवंश के व्यक्ति इस काल में भी काठमाण्डू की राजगद्दी पर विराजमान रहे। उन्हें पञ्च सरकार के नाम से सम्बोधन किया जाता था, और उनके नाम के साथ श्री श्री श्री श्री श्री लगाया जाता था। पर राणा वंश के प्रधान मन्त्री 'महाराजा' और 'त्रिसरकार' कहाते थे, और उनके नाम के साथ श्री श्री श्री लगाया जाता था। चन्द्र शमशेर की मृत्यु के बाद भीम शमशेर प्रधान-मन्त्री बना। पर वह केवल दो वर्ष तक इस पद पर रह सका। उसके बाद (१९३२) युद्ध शमशेर प्रधान-मन्त्री के पद पर आरूढ़ हुआ, और १९४५ तक उसने नेपाल का शासन किया। उसके शासनकाल में नेपाल और अंग्रेजी सरकार के मैत्री-सम्बन्ध में और भी वृद्धि हुई। १९३९-४५ का द्वितीय महायुद्ध उसी के समय में लड़ा गया, जिसमें नेपाल ने अंग्रेजों की दिल खोलकर सहायता की। १९४५ में युद्ध शमशेर ने स्वेच्छापूर्वक अपने पद का परित्याग कर दिया, और उसका भतीजा पद्म शमशेर प्रधानमन्त्री बना। एप्रिल, १९४८ में उसने भी अपने पद का त्याग कर दिया, और मोहन शमशेर ने उसका स्थान ग्रहण किया। उसी के समय में नेपाल में वह क्रान्ति हुई, जिसके परिणामस्वरूप राणाओं के शासन का अन्त हुआ, और पृथ्वी नारायण शाह के वंशज महाराजाधिराज पञ्च सरकार त्रिभुवन ने नेपाल के शासन-सूत्र को अपने हाथों में ले लिया।

(५) नवयुग का सूत्रपात और लोकतन्त्र शासन की स्थापना का प्रयत्न

१०४ वर्षों (१८४६-१८५०) तक नेपाल पर राणाओं का शासन रहा। यह शासन पूर्णतया निरंकुश एवं स्वेच्छाचारी था। नेपाल के राणा-प्रधानमन्त्री स्वेच्छापूर्वक शासन करते थे, और लोकतन्त्र संस्थाओं का वहां सर्वथा अभाव था। इन शासकों ने देश की उन्नति के लिये कुछ न कुछ यत्न अवश्य किया। उन्होंने नये ढंग से सेना का संगठन किया, अनेक शिक्षणालय स्थापित किये, नेपाली विद्यार्थियों को विदेशों में शिक्षा के लिये भेजा, और देश में कतिपय व्यवसायों के विकास का भी प्रयत्न किया। पर इनसे जनता को संतोष नहीं हो सकता था। लोकतन्त्रवाद की जो लहर इस काल में संसार के सब देशों को व्याप्त कर रही थी, नेपाल के लिये भी उससे अछूता रह सकना सम्भव नहीं था। भारत के साथ नेपाल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस जिस ढंग से भारत की स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील थी, और अनेक क्रान्तिकारी पार्टियां जिस प्रकार अंग्रेजी शासन को पलट देने के लिये उद्योग कर रही थीं, नेपाल पर भी उसका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। नेपाल के बहुत-से नवयुवक शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत आया करते थे। ये इस देश के राष्ट्रीय आन्दोलन के सम्पर्क में आये, और इनमें से कतिपय कांग्रेस में भी सम्मिलित हो गये। १९३९-४५ के महायुद्ध से पूर्व ही भारत में स्वातन्त्र्य-आन्दोलन बहुत प्रबल हो चुका था। अनेक देसी रियासतों में भी प्रजापरिषदें स्थापित हो गई थीं, जो जनता के अधिकारों के लिये मांगें प्रस्तुत करने में तत्पर थीं। १९३८ में नेपाल में भी प्रजा आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। पर राणाओं के निरंकुश शासन के कारण उसे विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। इस दशा में पटना में प्रवासी नेपालियों ने एक नेपाली प्रजा परिषद् की स्थापना की, जिसका उद्देश्य नेपाल में वैध राज-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सत्ता की स्थापना करना था। इसने भारत में अपने केन्द्र कायम किये, और वहां से ही जन-स्वातन्त्र्य के आन्दोलन का प्रारम्भ किया। नेपाल में शुक्रराज शास्त्री ने गीता के प्रवचन को निमित्त बना कर भाषण की स्वतन्त्रता के अधिकार को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया, और छः साल की कैद की सजा दी गई। पर इससे वहां लोकतन्त्रवाद का आन्दोलन दबा नहीं। अक्टूबर, १९४० में नेपाल में बहुत-से लोगों को गिरफ्तार किया गया। इनमें से ४ को प्राणदण्ड दिया गया, जिनमें शुक्रराज शास्त्री भी एक था। १३ को आजीवन कैद और २८ को ६ से २० साल तक की कैद की सजाएं दी गईं। २६ जनवरी, १९४१ के दिन शुक्रराज शास्त्री और उनके साथी धर्मभक्त को फांसी दी गई, और दो अन्य व्यक्तियों को गोली से मार दिया गया। इनकी लाशों का प्रदर्शन करके जनता को यह चेतावनी दी गई, कि नेपाल में राजद्रोहियों को ऐसी सजा दी जाती है।

१९४४ में जब कांग्रेस के नेतृत्व में भारत में 'अंग्रेजों भारत छोड़ो' का आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, तो उसमें अनेक नेपाली युवकों ने भी भाग लिया। इनमें श्री बी० पी० कोइराला, श्री एस० पी० उपाध्याय और डा० डी० आर० रेगमी के नाम उल्लेखनीय हैं। महायुद्ध (१९३९-४५) की समाप्ति पर संसार में सर्वत्र राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकतन्त्रवाद के आन्दोलनों ने बहुत प्रबल रूप धारण कर लिया था। नेपाल भी इनके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका। जनवरी, १९४६ में अनेक नेपाली नेता वाराणसी में एकत्र हुए, और उन्होंने नेपाली नेशनल कांग्रेस की स्थापना की। श्री जयप्रकाश नारायण और डॉ० राममनोहर लोहिया जैसे भारतीय समाजवादी नेताओं ने इस कांग्रेस के निर्माण में सहयोग दिया। इस नेपाली कांग्रेस का पहला अधिवेशन जनवरी, १९४७ में कलकत्ता में हुआ। इसका अध्यक्ष श्री टंकाप्रसाद आचार्य को निर्वाचित किया गया था, जो काठमाण्डू में कैद की सजा भुगत रहे थे। भारत के स्वातन्त्र्य आन्दोलन को दृष्टि में रखते हुए नेपाली नेशनल कांग्रेस ने भी यह निश्चय किया, कि जनता के अधिकारों की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह के उपाय का आश्रय लिया जाए। इसी के अनुसार विराट् नगर और भारत की सीमा के समीप के अनेक अन्य नगरों में सत्याग्रह प्रारम्भ किया गया। १९४८ में विक्रम महेन्द्र शाह के नेतृत्व में नेपाली डेमोक्रेटिक पार्टी संगठित हुई, जिसके उद्देश्य प्रायः वही थे, जो कि नेपाली नेशनल कांग्रेस के थे। मार्च, १९५० में इन दोनों संगठनों को मिलाकर 'नेपाली कांग्रेस' का निर्माण किया गया, जिसका पहला अधिवेशन श्री मातृका प्रसाद कोयराला की अध्यक्षता में कलकत्ता में हुआ (एप्रिल, १९५०)। इसमें सन्देह नहीं, कि अब नेपाल में लोकतन्त्रवाद का आन्दोलन निरन्तर प्रबल होता जा रहा था। इस समय तक भारत स्वतन्त्र हो चुका था (१९४७), और चीन में भी सुसंगठित कम्युनिस्ट रिपब्लिक की स्थापना हो गयी थी (१९४९)। इस दशा में यह सर्वथा स्वाभाविक था, कि नेपाल में भी राणाओं के निरंकुश स्वेच्छाचारी शासन का अन्त करने के लिये प्रयत्न प्रारम्भ हों।

नेपाल के राणा शासकों के लिये भी यह सम्भव नहीं था, कि वे जनता के इन आन्दोलनों की उपेक्षा कर सकें। यही कारण था, जो राणा पद्म शमशेर ने फरवरी, १९४८ में एक घोषणा द्वारा यह सूचित किया था, कि वह नेपाल में लोकतन्त्रवाद के अनुसार शासन-सुधार करने के लिये उद्यत है। वह देश के लिये एक संविधान के निर्माण के लिये भी तैयार था। उसका प्रस्ताव था, कि नेपाल में सर्वत्र पंचायतों की स्थापना की जाए, और वहां की पार्लियामैन्ट में दो सदन हों। मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की नियुक्ति सर्वसाधारण जनता में से भी की जाए, और नागरिकों के मूलभूत अधिकारों का भी प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पादन किया जाए। पर राणा परिवार के बहुसंख्यक सदस्य इन प्रस्तावों के विरोधी थे। इसी कारण पद्म शमशेर ने प्रधानमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया था, और मोहन शमशेर इस पद पर नियुक्त हुआ था।

नवम्बर, १९५० में नेपाली कांग्रेस ने सत्याग्रह की नीति का परित्याग कर सशस्त्र क्रान्ति के मार्ग का अवलम्बन किया। उसकी ओर से सशस्त्र दलों का संगठन किया गया, जिनमें भारत में प्रवास करने वाले नेपाली बड़ी संख्या में सम्मिलित हुए। राणा परिवार के अनेक व्यक्ति भी इस सशस्त्र क्रान्ति के समर्थक थे, और महाराजा त्रिभुवन की भी उनके साथ सहानुभूति थी। राणा कुल के सब लोग एक समान स्थिति नहीं रखते, वे क, ख और ग वर्गों में विभक्त हैं। केवल 'क' वर्ग के राणा ही प्रधानमन्त्री के पद को प्राप्त करने की आशा रख सकते थे। अन्य वर्गों के राणाओं का समर्थन नेपाली कांग्रेस को प्राप्त था। सशस्त्र नेपाली दलों ने तराई के अनेक स्थानों पर चढ़ाई शुरू की, और नेपाल में भी विद्रोह आरम्भ हो गये। इस दशा में महाराजा त्रिभुवन ने पहले काठमाण्डू के भारतीय दूतावास में आकर शरण ली, और फिर वह भारत सरकार के एक हवाई जहाज द्वारा दिल्ली चला आया। भारत के प्रयत्न से राणा सरकार इस बात के लिये तैयार हो गई, कि नेपाल में लोकतन्त्र शासन स्थापित किया जाए, और मन्त्रिमण्डल में राणाओं के साथ-साथ नेपाली कांग्रेस के नेताओं को भी स्थान दिया जाए। महाराजा त्रिभुवन काण्ठमाण्डू वापस लौट गया (फरवरी, १९५१), और नेपाल में वैध राजसत्ता को स्थापित करने के मार्ग पर पहला पग उठाया गया। अब जो नया मन्त्रिमण्डल बना, उसमें नेपाली कांग्रेस के भी अनेक नेताओं को सम्मिलित किया गया। पर यह व्यवस्था देर तक कायम नहीं रह सकी। प्रजा के नेताओं के लिये राणाओं के साथ सहयोग कर सकना सम्भव नहीं था। राणा लोग अपनी निरंकुश सत्ता को कायम रखने के लिवे कटिबद्ध थे। इसी लिये उन्होंने प्रजा पक्ष के एक मन्त्री की हत्या के लिये भी प्रयत्न किया, जिस अपराध में राणा परिवार के कुछ व्यक्ति पकड़े गये। अब महाराजा त्रिभुवन ने यह निश्चय किया, कि सेना के नियन्त्रण व सञ्चालन को वह अपने हाथों में ले ले। इस स्थिति में राणा मोहन शमशेर ने प्रधानमन्त्री के पद से त्यागपत्र दे दिया, और नेपाल का संविधान तैयार करने के लिये एक संविधान-परिषद् के निर्माण का निश्चय किया गया (नवम्बर, १९५१)। देश का शासन करने के लिये इस समय जो मन्त्रिमण्डल बना, उसमें प्रधानमन्त्री का पद श्री मातृका प्रसाद कोयराला को प्राप्त हुआ। पर नई सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। नेपाली कांग्रेस में भी इस समय अनेक दल विद्यमान थे, और उनके विविध नेता अपनी सत्ता के लिये प्रयत्नशील थे। श्री टंकाप्रसाद आचार्य को भी इस समय दस वर्ष की जेल के बाद मुक्त कर दिया गया था, और उन्होंने प्रजा-परिषद् का फिर से संगठन करने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया था। नेपाल में भी एक कम्युनिस्ट पार्टी की सत्ता थी, और उसके साथ मिलकर टंकाप्रसाद आचार्य ने एक संयुक्त मोरचे का भी संगठन कर लिया था। लोकतन्त्रवाद की प्रवृत्ति के विरोधियों ने भी 'गोरखा परिषद' नाम से अपना पृथक् संगठन बना लिया था। इस दशा में मातृकाप्रसाद कोयराला के मन्त्रिमण्डल को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तराई के प्रदेश में अराजकता की स्थिति उत्पन्न हो गई, और अन्यत्र भी लूटमार और डकैतियों का प्रारम्भ हो गया। राणा शासन के विरुद्ध आन्दोलन के दिनों में नेपाल की स्वतन्त्रता के लिए जिस रक्षा दल का संगठन किया गया था, और जिसके स्वयं सेवकों ने १९५० में सशस्त्र क्रान्ति का सूत्रपात किया था, वह अब भी विद्यमान था। २२ जनवरी, १९५२ के दिन इस रक्षा दल के १२०० व्यक्तियों ने काण्ठमाण्डू के दरबार पर धावा बोल दिया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और राज्यकोष, शस्त्रागार तथा हवाई अड्डे पर कब्जा कर लिया। इस विद्रोह का नेता डॉ० के० आर० सिंह था। उसकी ओर से राजा के साथ बातचीत करने के लिये दो प्रतिनिधियों की नियुक्ति की गई। पर महाराजा त्रिभुवन विद्रोहियों से बातचीत करने को तैयार नहीं हुआ। सेना उसके साथ थी, और उसे विश्वास था कि सेना की सहायता से वह रक्षा दल के विद्रोह पर काबू पा लेगा। डॉ० सिंह ने परिस्थिति को भली-भांति समझ कर यह निश्चय किया, कि वह नेपाल छोड़कर विदेश चला जाए। अपने कतिपय साथियों के साथ उसने उत्तर की ओर प्रस्थान किया, और ल्हासा होता हुआ वह पेकिंग जा पहुंचा।

२३ जनवरी, १९५२ के दिन महाराजा त्रिभुवन ने संकट काल की घोषणा कर दी। रक्षा दल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया, और कोयराला की सरकार देश में शान्ति स्थापित करने में समर्थ हुई। पर नेपाली कांग्रेस के आन्तरिक मतभेदों के कारण ५ अगस्त, १९५२ को मातृका प्रसाद कोयराला के मन्त्रिमण्डल ने त्यागपत्र दे दिया, और महाराजा त्रिभुवन ने स्वयं देश का शासन करना प्रारम्भ किया। इस बीच में नेपाली कांग्रेस ने मातृका प्रसाद को अपनी पार्टी से बहिष्कृत कर दिया था। उसने अब और एक नई पार्टी का संगठन किया, जिसे 'नेशनल डेमोक्रेटिक पार्टी' कहते थे। इसके संगठित हो जाने पर महाराजा ने एक बार फिर मातृकाप्रसाद कोयराला को प्रधान-मन्त्री के पद पर नियुक्त किया, और उसने अपनी पार्टी के व्यक्तियों से ही मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया (जून, १९५३)। कुछ समय बाद इसमें कतिपय अन्य पार्टियों के व्यक्ति भी सम्मिलित किये गये, जिसके कारण मातृकाप्रसाद के मन्त्रिमण्डल की स्थिति सुदृढ़ हो गई।

१९५१ में नेपाल के लिए संविधान तैयार करने के प्रयोजन से जिस संविधान-परिषद् के निर्माण का निश्चय किया गया था, देश में अशान्ति और अव्यवस्था के कारण उसका चुनाव नहीं हो सका था। पर महाराजा त्रिभुवन ने शासन को लोकतन्त्र बनाने के लिए एक परामर्शदात्री सभा का निर्माण कर लिया था, जिसके ११२ सदस्य थे। इनमें सभी राजनीतिक दलों के व्यक्तियों को स्थान दिया गया था, यद्यपि मातृकाप्रसाद की पार्टी का इसमें बहुमत था। पर नेपाल में अभी किसी स्थायी आधार पर राजनीतिक दलों का संगठन नहीं हुआ था, जिसके कारण लोग अपनी पार्टी को बदलते रहने में संकोच नहीं करते थे। यही कारण है, कि परामर्शदात्री सभा का पूर्ण सहयोग मन्त्रिमण्डल को प्राप्त नहीं था। उस द्वारा प्रस्तुत बिल तथा प्रस्ताव बहुधा परामर्शदात्री सभा में अस्वीकृत हो जाते थे। केवल यही नहीं, देश में उस समय अव्यवस्था और अशान्ति में भी वृद्धि होती जा रही थी, और राजनीतिक पार्टियों में उथल-पुथल भी जारी थी। मातृकाप्रसाद कोयराला के अनेक साथी अब उसके विरोधियों से जा मिले थे। इस दशा में ३१ जनवरी, १९५५ के दिन उसके मन्त्रि-मण्डल ने त्यागपत्र दे दिया। ३१ मार्च, १९५५ को महाराजा त्रिविक्रम की मृत्यु हो गई, और उसका पुत्र महेन्द्र वीर विक्रम शाह नेपाल की राजगद्दी पर आरूढ़ हुआ। नया महाराजा एक अत्यन्त महत्वाकांक्षी और प्रतापी व्यक्ति था। राजनीतिक नेताओं और पार्टियों के आपसी झगड़ों को वह बहुत चिन्ता की दृष्टि से देखता रहा था, और उसका यह विचार बन गया था कि देश का भाग्य इन नेताओं के हाथों में नहीं छोड़ देना चाहिए। इसी कारण उसने अब किसी नये मन्त्रिमण्डल का निर्माण नहीं किया, अपितु शासन-सूत्र को अपने हाथों में लेकर पांच व्यक्तियों की एक समिति शासन में सहायता देने के लिए नियुक्ति कर दी, जिसका प्रमुख गंजमनसिंह था। जनवरी, १९५६ तक राजा का यह व्यक्तिगत शासन कायम रहा। इस बीच में उसने एक कन्वेन्शन का निर्माण इस प्रयोजन से किया, ताकि देश के शासन के भावी स्वरूप का निर्धारण किया जा सके। पर नेपाली कांग्रेस और प्रजा परिषद् आदि प्रमुख पार्टियों ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें भाग नहीं लिया, जिसके कारण यह कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सका। अन्त में राजा ने अपने व्यक्तिगत शासन का अन्त कर टंकाप्रसाद आचार्य को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया (२७ जनवरी, १९५६), और उसे अपने मन्त्रिमण्डल के निर्माण का कार्य सुपुर्द किया। इसी समय चीन के प्रधानमन्त्री चाउ एन-लाई ने नेपाल की यात्रा की, और नेपाल की कम्युनिस्ट पार्टी पर से प्रतिबन्ध हटा दिया गया। आपसी विरोध के कारण टंकाप्रसाद आचार्य के मन्त्रिमण्डल ने भी कुछ समय बाद अपने पद से त्यागपत्र दे दिया (जुलाई, १९५७), और अब डॉ० के० आई० सिंह को प्रधानमन्त्री के पद पर नियत किया गया। तीन वर्ष के चीन-प्रवास के बाद १९५५ में डॉ० सिंह नेपाल वापस लौट आया था, और उसने फिर अपने संयुक्त मोरचे या यूनाइटेड डेमोक्रेटिक पार्टी का संगठन कर लिया था। पर डॉ० सिंह का मन्त्रिमण्डल भी देर तक कायम नहीं रह सका। उसके विरोधियों ने भी एक संयुक्त मोरचे का निर्माण कर लिया था, जिसमें नेपाली कांग्रेस, नेपाली नेशनल कांग्रेस और प्रजा परिषद् ने सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया था। इस दशा में डॉ० सिंह के लिये सरकार का सञ्चालन कर सकना सुगम नहीं रह गया, और उसने त्यागपत्र दे दिया (नवम्बर, १९५७)। अब राजा महेन्द्र ने शासन-सूत्र को फिर अपने हाथों में ले लिया, और यह घोषित किया, कि फरवरी, १९५९ में देश के लिए संविधान का निर्माण करने के प्रयोजन से संविधान सभा के सदस्यों का निर्वाचन कराया जायगा।

इस घोषणा के अनुसार १९५९ के प्रारम्भ में नेपाल में पहले आम चुनाव हुए। इसमें नेपाली कांग्रेस के उम्मीदवारों को असाधारण सफलता प्राप्त हुई। १०९ सदस्यों में से ७४ इसी पार्टी के निर्वाचित हुए। राणाओं के शासन का अन्त करने में इस पार्टी ने विशेष कर्तृत्व प्रदर्शित किया था। अब जनता द्वारा भी इसे समर्थन प्राप्त हो गया। नेपाली कांग्रेस के प्रमुख नेता श्री बी० पी० कोयराला थे। अब उन्हें प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया गया, और एक ऐसे मन्त्रिमण्डल का निर्माण हुआ जिसे जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों का समर्थन प्राप्त था। पर यह मन्त्रिमण्डल भी देर तक के शासन-सूत्र का सञ्चालन नहीं कर सका। राजनीतिक दल-बन्दी ने एक बार फिर उग्र रूप धारण करना प्रारम्भ कर दिया, जिसके कारण राजा, महेन्द्र ने १९६० के अन्त में कोयराला के मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर शासन-शक्ति फिर अपने हाथों में ले ली। लोकतन्त्र शासन की स्थापना का जो प्रयत्न नेपाल में किया गया था, वह असफल हो गया। १६ दिसम्बर, १९६२ के दिन राजा महेन्द्र द्वारा नेपाल के लिये एक नये संविधान का निर्माण कराया गया, जिसकी मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित थीं—(१) सब ग्रामों और नगरों में पंचायतें बनायी जाएं, जो नेपाल के लोकतन्त्र शासन की इकाइयों के रूप में काम करें। (२) ये ग्राम और नगर पंचायतें जिला पंचायतों के सदस्यों को चुना करें, और जिला पंचायतों द्वारा क्षेत्रीय या प्रान्तीय पंचायतों का चुनाव हुआ करे। (३) सम्पूर्ण नेपाल के लिये एक राष्ट्रीय या केन्द्रीय पंचायत हो, जिसके ९० प्रतिशत सदस्य प्रान्तीय पंचायतों द्वारा चुने जाएं। प्रान्तीय पंचायतों द्वारा निर्वाचित सदस्यों के अतिरिक्त दो अन्य प्रकार के सदस्य राष्ट्रीय पंचायत में लिये जाया करें, क. यूनिवर्सिटियों के स्नातकों तथा व्यावसायिक संगठनों द्वारा निर्वाचित सदस्य, और ख. राजा द्वारा मनोनीत सदस्य। (४) राज्य की कार्यकारिणी व शासन शक्ति का प्रयोग राजा के हाथों में रहे, जो अपनी सहायता के लिये एक मन्त्रिपरिषद् का निर्माण किया करे। इस परिषद् के सदस्यों की नियुक्ति राष्ट्रीय पंचायत के सदस्यों में से ही की जाया करे। (५) राजा को अधिकार हो, कि वह संकट काल की घोषणा कर संविधान के अनुसार शासन को स्थगित कर सके। नया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संविधान १९६३ में लागू कर दिया गया, और २५ अगस्त, १९६३ के दिन राजा महेन्द्र ने जिस मन्त्रिपरिषद् का निर्माण किया, उसमें प्रधानमन्त्री के पद पर श्री कीर्ति निधि बिष्ट को नियुक्त किया गया। वर्तमान समय तक भी नेपाल का शासन इसी संविधान के अनुसार हो रहा है, यद्यपि मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों तथा प्रधानमन्त्री में अनेक बार परिवर्तन हुए हैं। जनवरी, १९७२ में राजा महेन्द्र की मृत्यु हो जाने पर उनके ज्येष्ठ पुत्र वीरेन्द्र वीर विक्रमशाह नेपाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए, और इस समय वहां का शासन सूत्र उन्हीं के हाथों में है।

(६) नेपाल की विदेशी राजनीति

भारत की स्वतन्त्रता से पूर्व नेपाल यद्यपि एक स्वाधीन राज्य था, पर ब्रिटेन के साथ उसके मैत्री-सम्बन्ध विद्यमान थे, और नेपाल सदा ब्रिटेन की सहायता के लिये तत्पर रहता था। यही कारण है, कि १८५७ के स्वातन्त्र्य-युद्ध के समय नेपाल ने भारत के विरुद्ध अंग्रेजों की सेना द्वारा सहायता की थी, और बीसवीं सदी के दो महायुद्धों में भी नेपाली सिपाही बहुत बड़ी संख्या में अंग्रेजी सेना में भरती किये गये थे। काठमाण्डू में स्थित अंग्रेज रेजिडेन्ट नेपाल की विदेशी नीति का सञ्चालन किया करता था, और नेपाल तथा ब्रिटेन की इस मैत्री ने एक ऐसा रूप प्राप्त कर लिया था, जिसके कारण नेपाल की स्थिति ब्रिटेन के वशवर्ती राज्य के समान हो गई थी।

१९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ, और नई कांग्रेस सरकार ने भारत में ब्रिटिश सरकार की उत्तराधिकारी की स्थिति प्राप्त कर ली। अब काठमाण्डू के ब्रिटिश रेजिडेन्ट के स्थान पर ब्रिटिश राजदूत नेपाल में नियुक्त किया जाने लगा, और स्वतन्त्र भारत की सरकार ने भी काठमाण्डू में अपने राजदूत की नियुक्ति की। भारत सरकार ने नेपाल की स्वतन्त्र और सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति को स्वीकार कर लिया। जुलाई, १९५० में भारत ने नेपाल के साथ दो सन्धियां की। एक सन्धि द्वारा दोनों राज्यों ने एक दूसरे की स्वतन्त्रता को स्वीकार करते हुए एक दूसरे की प्रादेशिक सीमाओं का अतिक्रमण न करने का वचन दिया। दूसरी सन्धि द्वारा नेपाल को यह अधिकार दिया गया, कि वह भारत के रास्ते से अस्त्र-शस्त्रों व अन्य युद्ध-सामग्री को नेपाल ले जा सके। नेपाल की औद्योगिक उन्नति और सड़कों आदि के निर्माण के लिये भी भारत ने सहायता प्रदान करना स्वीकार किया, और इन दोनों देशों में मैत्री-सम्बन्ध पूर्ववत् कायम रहा।

पर इस बीच में चीन में कम्युनिस्ट व्यवस्था स्थापित हो गई थी, और चीन ने तिब्बत पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। तिब्बत में चीनी शासन स्थापित हो जाने के कारण उस देश की दक्षिणी सीमा नेपाल के साथ आ लगी थी। नेपाल में भी कम्युनिस्ट पार्टी संगठित थी, और उसका चीन के कम्युनिस्टों के साथ सम्पर्क भी था। इस दशा में यह प्रश्न बहुत महत्त्व का हो गया, कि चीन और नेपाल में क्या सम्बन्ध हो। इसी कारण मार्च, १९६० में नेपाल के प्रधानमन्त्री श्री बी० पी० कोयराला और चीन के प्रधानमन्त्री चाउ एन-लाई ने एक समझौता किया, जिसकी मुख्य शर्तें निम्नलिखित थीं—(१) चीन और नेपाल के बीच की सीमा को परम्परा, प्रथा और व्यवहार के आधार पर वैज्ञानिक रीति से निर्धारित किया जाए, और इस प्रयोजन से दोनों देशों की एक संयुक्त समिति बनायी जाय, जो इन दोनों देशों के बीच की सीमा को निर्धारित करने का कार्य करे। (२) नेपाल की उन्नति के लिये चीन १४ करोड़ रुपये सहायता के रूप में प्रदान करे। (३) नेपाल के युवकों को शिल्प-विषयक शिक्षा देने के कार्य में चीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहायता करे। (४) पञ्चशील के सिद्धान्तों को दोनों देश स्वीकार करें। एप्रिल, १९६० में चाउ एन-लाई ने नेपाल की यात्रा की, और उसके साथ शान्ति और मैत्री की सन्धि भी की। चीन और नेपाल में सीमा-सम्बन्धी समस्या ने विकट रूप धारण नहीं किया, और ये दोनों देश अपनी सीमाओं का निर्धारण कर चुके हैं। इस सन्धि के बाद नेपाल और चीन के मैत्री-सम्बन्ध में निरन्तर वृद्धि हो रही है, और चीन का यह प्रयत्न है कि इस देश में अपने प्रभाव का विस्तार करे। इसीलिये चीन द्वारा नेपाल के औद्योगिक विकास के लिये भरपूर आर्थिक सहायता प्रदान की गई, और काठमाण्डू को तिब्बत के साथ मिलाने के लिये काठमाण्डू-कोडारी मार्ग का निर्माण किया गया (मई, १९६८)। इस मार्ग के कारण नेपाल और तिब्बत (जो अब चीन के राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत है) के बीच यातायात सुगम हो गया, और विदेशों के साथ व्यापारिक व अन्य प्रकार के सम्पर्क के लिये नेपाल को भारत पर ही निर्भर रहने की आवश्यकता नहीं रह गई। इस समय से नेपाल पर चीन के प्रभाव में निरन्तर वृद्धि होने लगी, और ये दोनों देश एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गये। चीन के प्रभाव के कारण भारत और नेपाल के मैत्री-सम्बन्ध में शिथिलता आने लगी, और अनेक प्रश्नों पर उनमें मतभेद उत्पन्न होने लगे। ये मतभेद प्रधानतया उन सुविधाओं के विषय में हैं, जो अपने विदेशी व्यापार के लिये नेपाल को भारत द्वारा प्रदत्त हैं। नेपाल एक ऐसा राज्य है, जिसकी सीमा के साथ किसी समुद्र की सत्ता नहीं है। अन्य देशों के साथ व्यापार के लिये उसे अपना माल या तो भारत के मार्गों से लाना ले-जाना होगा, और या चीन के मार्गों से। चीन (तिब्बत) के मार्ग भली-भांति विकसित नहीं हैं, और काठमाण्डू-कोडारी सड़क के बन जाने पर भी नेपाल अपने विदेशी व्यापार तथा अन्य देशों में आने-जाने के लिये इस का बहुत उपयोग नहीं कर सकता। अतः नेपाल का विदेशी व्यापार उन सुविधाओं पर ही निर्भर करता है, जो उसे भारत से प्राप्त हों। इसी लिये नेपाल ने भारत के साथ एक सन्धि भी की थी, जिस द्वारा कलकत्ता के बन्दरगाह पर नेपाल के माल को उतारने, गोदामों में रखने तथा स्थल मार्ग द्वारा नेपाल लाने ले-जाने के विषय में कतिपय विशेष सुविधाएं प्रदान की गई थीं। साथ ही, नेपाल में सड़कों के निर्माण के लिये भारत ने सहयोग प्रदान किया था। त्रिभुवन राजपथ नाम से जो राजमार्ग वहां निर्मित हुआ है, उसमें भारत का प्रधान कर्तृत्व है। नेपाल के औद्योगिक विकास के लिये भारत द्वारा उदारतापूर्वक सहायता दी जाती रही है। धर्म, संस्कृति और जाति आदि की दृष्टि से भी भारत और नेपाल का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह सब होते हुए भी जो इन दोनों देशों के परस्पर-सम्बन्धों में कुछ कटुता आने लगी, उसका एक कारण जहां नेपाल पर चीन का बढ़ता हुआ प्रभाव था, वहां साथ ही एक कारण यह भी था, कि कलकत्ता के बन्दरगाह पर नेपाल को व्यापार-विषयक जो सुविधाएं प्राप्त थीं, उनका दुरुपयोग किया जाने लगा था। नेपाल के आयात माल पर कलकत्ता में आयात-कर नहीं लगता है। नेपाली व्यापारी इस माल को स्थल मार्ग द्वारा अपने देश में ले जाते हैं, आयात-कर के अभाव के कारण जिसकी कीमत वहां बहुत कम रहती है। अनेक व्यापारियों ने इस स्थिति से लाभ उठाया, और विदेशी माल को नेपाल ले जाने के नाम पर उसे आयात-कर से बचा लिया और चोर बाजार में भारत में बेचना शुरू कर दिया। इसे रोकने के लिये भारत सरकार ने जो पग उठाए, नेपाल ने उन्हें उन सुविधाओं के विरुद्ध समझा जो नेपाल-भारत व्यापारिक-सन्धि द्वारा नेपाल को प्रदान की गई थीं। इसके कारण कुछ समय के लिये इन दोनों देशों के सम्बन्धों में पर्याप्त कटुता आ गई, और एक बार तो नेपाल ने यह भी प्रयत्न किया कि विदेशी माल को मंगाने के लिये कलकत्ता के स्थान पर पूर्वी बंगाल (जो पहले पाकिस्तान के अन्तर्गत था) के बन्दरगाहों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को प्रयुक्त किया जाए। पर यह योजना क्रियात्मक नहीं थी, क्योंकि पूर्वी बंगाल और नेपाल की सीमाएं एक दूसरे के साथ नहीं लगतीं। भारत के प्रधानमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री और श्रीमती इन्दिरा गांधी नेपाल की यात्रा कर चुके हैं, और उनके प्रयत्न से भारत और नेपाल के मतभेदों को दूर होने में बहुत सहायता मिली है। पर चीन नेपाल को अपना प्रभाव-क्षेत्र समझता है, और मध्यकालीन इतिहास को दृष्टि में रखकर यह भी दावा करता है कि पहले इस देश पर भी चीन का आधिपत्य स्वीकार किया जाता था, जो ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के कारण कायम नहीं रह सका। नेपाल की उत्तरी सीमा तिब्बत के साथ लगती है, और स्थल मार्ग द्वारा अब चीन के साथ उसका सीधा सम्बन्ध भी स्थापित है। इस दशा में नेपाल एक ऐसी नीति का अनुसरण करने में तत्पर है, जिस द्वारा भारत और चीन दोनों के साथ उसका मैत्री-सम्बन्ध स्थापित रहे।

१४ दिसम्बर, १९५५ के दिन नेपाल भी संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बन गया था, और वह वहां प्रायः तटस्थ नीति का अनुसरण करता रहा है।

नेपाल भी अब संयुक्त राष्ट्र-संघ का सदस्य है, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में एक स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य की स्थिति रखता है। ब्रिटेन और अमेरिका इस बात के लिये प्रयत्नशील हैं, कि उस पर चीन का प्रभाव अधिक बढ़ने न पाए। पर अब तक भी नेपाल में लोकतन्त्र शासन की स्थापना नहीं हो सकी है, जिसके कारण वहाँ की जनता का असन्तोष दूर नहीं हुआ है। इस दशा का उपयोग कम्युनिस्ट लोग सुगमता के साथ कर सकते हैं। वहां ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है, जो कम्युनिस्टों का समर्थन करते हुए किसी भी समय क्रान्ति के लिए उद्यत हो सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पचासवां अध्याय

पाकिस्तान और बांगला देश

(१) पाकिस्तान का निर्माण और प्रगति

भारत के पश्चिम-उत्तर में पाकिस्तान की स्थिति है, जिसका क्षेत्रफल ३,१०-४०३ वर्गमील है, और जिसकी जनसंख्या ५ करोड़ के लगभग है। अगस्त, १९४७ तक यह भारत का अंग था। मुस्लिम लीग के नेतृत्व में भारत के मुसलमानों में यह विचार विकसित होना प्रारम्भ हुआ, कि हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्रीयताएँ हैं, और मुसलमानों का एक अपना पृथक् राज्य होना चाहिए। १९४० में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन लाहौर में हुआ। मि० मोहम्मद अली जिन्ना उसके अध्यक्ष थे। उन्होंने अध्यक्ष पद से दिए अपने भाषण में द्विराष्ट्र सिद्धान्त का विशद रूप से प्रतिपादन किया। उनका कहना था कि हिन्दू और मुसलमान शब्द केवल दो धर्मों को ही सूचित नहीं करते, अपितु दो पृथक् राष्ट्रों के भी सूचक हैं। मुसलमानों और हिन्दुओं के धार्मिक मन्तव्य, रीति रिवाज, सामाजिक संगठन, रहन-सहन, खानपान, साहित्यिक व सांस्कृतिक परम्पराएँ सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। मूलतया विभिन्न ऐसी दो राष्ट्रीयताओं को, जिनमें से एक बहुसंख्या में है और दूसरी अल्पसंख्या में, एक राज्य में रखना सर्वथा अनुचित है। इसी बात को दृष्टि में रख कर मुस्लिम लीग ने अपने इस वार्षिक अधिवेशन (मार्च, १९४०) में यह प्रस्ताव स्वीकृत किया था, कि "भारत के उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों को, जिनमें मुसलमानों का बहुमत है, परस्पर मिलाकर एक पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्य का निर्माण किया जाना चाहिये।" इस अधिवेशन की समाप्ति पर मि० जिन्ना ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की, कि पाकिस्तान एक 'लोकतन्त्र संघराज्य' होगा, जिसमें वर्तमान भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, सिन्ध, बिलोचिस्तान, पंजाब, बंगाल और असम शामिल होंगे। १९४० के बाद मुसलमानों के पृथक् राज्य (पाकिस्तान) की माँग निरन्तर जोर पकड़ती गई। मुस्लिम लीग के प्रत्येक अधिवेशन में इसका समर्थन किया गया, और विविध उपायों से जनता में इसके लिए आन्दोलन किया गया। १९४६ तक यह स्थिति आ गई थी, कि भारत में कोई भी ऐसी शासन-व्यवस्था लागू नहीं हो सकती थी, जिससे मुस्लिम लीग पूर्णतया सन्तोष अनुभव न करे। १९४६ के अगस्त मास में मुस्लिम लीग ने अपनी माँग को पूरा कराने के लिये सीधी लड़ाई शुरू करने का निश्चय किया। परिणाम यह हुआ, कि सारे देश में साम्प्रदायिक विद्वेष, लूटमार, बलात्कार आदि का ताण्डव नृत्य प्रारम्भ हो गया, और सरकार के लिए स्थिति को संभाल सकना सम्भव नहीं रहा। इस दशा में भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड लुई मौन्टबेटन ने ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि के रूप में एक योजना प्रस्तुत की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—(१) भारत का शासन शीघ्र ही एक ऐसी सरकार को सौंप दिया जाए, जो जनता की इच्छा के अनुसार निर्मित हुई हो (२) भारत के लिए नया संविधान तैयार करने के लिए जुलाई, १९४६ में जिस संविधान सभा का निर्माण हुआ था, उस द्वारा निर्मित शासन-व्यवस्था को भारत के उन भागों पर नहीं थोपा जा सकता, जो उसे स्वीकार करने को अनिच्छुक हों। (३) जिन प्रान्तों या प्रान्तों के भागों में मुसलमानों की बहुसंख्या है, उनसे यह जानने की व्यवस्था की जायगी कि वे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलाई, १९४६ में निर्मित संविधान सभा में सम्मिलित होने के पक्ष में हैं या एक पृथक् व नई संविधान सभा बनाना चाहते हैं। (४) यदि मुस्लिम क्षेत्रों की सम्मति देश के विभाजन के पक्ष में हो, तो भारत और पाकिस्तान की सीमा का निर्धारण करने के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जायगी।

मुस्लिम लीग तो भारत के विभाजन के पक्ष में थी ही, देश की साम्प्रदायिक परिस्थिति को दृष्टि में रखकर १५ जून, १९४७ के दिन इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने भी भारत के विभाजन तथा पाकिस्तान की स्थापना को स्वीकार कर लिया। ४जुलाई, १९४७ को ब्रिटिश पालियामेंट में 'इण्डियन इन्डिपेन्डेन्स बिल' पेश किया गया, जो १६ जुलाई को स्वीकृत हो गया। इस ऐक्ट द्वारा यह विहित किया गया, कि १५ अगस्त, १९४७ को भारत और पाकिस्तान नाम के दो पृथक् एवं स्वतन्त्र राज्यों का निर्माण किया जायगा, जिनकी स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत औपनिवेशिक राज्यों के समकक्ष होगी। इन राज्यों के नये संविधानों का निर्माण इनकी अपनी-अपनी संविधान सभाओं द्वारा किया जायेगा, और ब्रिटिश सरकार इन्हीं को सत्ता हस्तान्तरित कर देगी। जब तक ये सभाएँ नये संविधानों का निर्माण नहीं कर लेतीं, और उनके अनुसार विधान सभाओं के चुनाव नहीं हो जाते, ये संविधान सभाएँ ही अपने-अपने राज्य के व्यवस्थापन विभागों का कार्य करेंगी। भारत और पाकिस्तान दोनों औपनिवेशिक राज्यों में एक-एक गवर्नर-जनरल की नियुक्ति की जायगी, और ये गवर्नर-जनरल शासन का कार्य स्वेच्छाचारी रूप से न करके मन्त्रिमण्डलों के परामर्श के अनुसार ही करेंगे।

१९४७ के इस इन्डियन इन्डिपेन्डेन्स ऐक्ट के अनुसार १४ अगस्त, १९४७ के दिन पाकिस्तान नाम से एक पृथक् राज्य का निर्माण हो गया, जिसका पहला गवर्नर-जनरल मि० मोहम्मद अली जिन्ना को नियुक्त किया गया। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त, सिन्ध, पश्चिमी पंजाब, बलोचिस्तान और पूर्वी बंगाल के प्रदेश इस नये औपनिवेशिक राज्य में सम्मिलित किये गये, और असम के सिलहट जिले का बड़ा भाग भी इसके अन्तर्गत किया गया, क्योंकि उसके निवासियों में भी मुसलमानों की बहुसंख्या थी। जो प्रदेश इस समय पाकिस्तान में सम्मिलित किए गए, उनके बहुसंख्यक निवासी धर्म से मुसलमान अवश्य थे, पर भाषा, नसल, संस्कृति आदि की दृष्टि से उनमें एकता नहीं थी। इसलिए उनका एक राज्य में रहना अस्वाभाविक था, विशेषतया पूर्वी बंगाल का जो पश्चिमी पाकिस्तान से एक हजार मील से भी अधिक दूरी पर स्थित है।

११ सितम्बर, १९४८ के दिन पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर-जनरल मि० जिन्ना की मृत्यु हो गई, और ख्वाजा निजामुद्दीन को उनके स्थान पर नियुक्त किया गया। इनके काल में भी नवाबजादा लियाकत अली खाँ पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री के पद पर रहे। पर १७ अक्टूबर, १९५१ को जब एक सार्वजनिक सभा में उनकी हत्या कर दी गई, तो ख्वाजा निजामुद्दीन ने प्रधानमन्त्री का पद प्राप्त कर लिया, और मि० गुलाम मुहम्मद को उनके स्थान पर गवर्नर-जनरल नियत किया गया। वह ६ अगस्त १९५५ तक इस पद पर रहे, जबकि जनरल इस्कन्दर मिर्जा ने यह पद ग्रहण कर लिया। इस बीच में पाकिस्तान की संविधान सभा अपने कार्य में व्यस्त रही, और ९ वर्षों के निरन्तर परिश्रम के पश्चात् वह अपने देश के लिए एक संविधान तैयार करने में समर्थ हुई। पाकिस्तान में संविधान का निर्माण करने में जो इतना अधिक समय लग गया, उसके अनेक कारण थे। जब पाकिस्तान नहीं बना था, भारत के मुसलमानों की सबसे अधिक शक्तिशाली व सुसंगठित पार्टी मुस्लिम लीग थी, पर जब वह अपने उद्देश्य (मुसलमानों के लिए एक पृथक् राज्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण) में सफल हो गई, तो उसके नेताओं में मतभेद प्रारम्भ हो गए, और वह अनेक पार्टियों में विभक्त हो गई। इन के लिए किसी सर्वसम्मत संविधान को तैयार कर सकना सुगम नहीं था। पूर्वी बंगाल और पश्चिमी पाकिस्तान के प्रतिनिधियों में भी बहुत अधिक मतभेद थे। पाकिस्तान के इन दोनों भागों की भाषा और संस्कृति आदि में ही भेद नहीं था, अपितु क्षेत्रफल, जनसंख्या और औद्योगिक विकास आदि की दृष्टि से भी उनमें अनेक भिन्नताएँ थीं। पूर्वी बंगाल का क्षेत्रफल केवल ५५, १२६ वर्गमील था, और उसकी आबादी ५ करोड़ से भी अधिक थी। इसके विपरीत पश्चिमी पाकिस्तान का क्षेत्रफल ३,१०,४०३ वर्गमील था, और उसकी जनसंख्या केवल ४,२५,००,००० के लगभग थी। पर पाकिस्तान के राजकर्मचारियों और सैनिक अफसरों में पश्चिमी पाकिस्तान के लोगों को प्रमुख स्थान प्राप्त था। वे चाहते थे, कि अपनी आबादी के कारण पूर्वी बंगाल पाकिस्तान की पार्लियामेन्ट तथा मन्त्रिपरिषद् में प्रधान स्थान प्राप्त न कर सके। इस समस्या का हल कर सकना भी सुगम नहीं था। पाकिस्तान का निर्माण धर्म के आधार पर हुआ था, अतः वहाँ के मौलवी और मुल्ला इस प्रयत्न में थे कि उनके राज्य को एक इस्लामी स्टेट के रूप में परिवर्तित कर दिया जाए और उसके कानूनों का निर्माण शरायत के अनुसार किया जाए। इसीलिए उनका यह प्रस्ताव था, मुस्लिम धर्माचार्यों के एक बोर्ड का संगठन किया जाए, जिसे पार्लियामेन्ट द्वारा स्वीकृत किसी भी कानून को इस आधार पर वीटो करने का अधिकार हो कि यह कानून शरायत के खिलाफ है। यही कारण थे, जिनसे पाकिस्तान की संविधान सभा को अपने देश के लिए संविधान का निर्माण करने में इतना समय लग गया। २३ मार्च, १९५६ के दिन उसने जो संविधान तैयार किया, उस द्वारा पाकिस्तान को 'इस्लामिक रिपब्लिक' घोषित किया गया, और देश के शासन के लिए पार्लियामेन्टरी सिस्टम को अपनाया गया। पाकिस्तान के रिपब्लिक बन जाने पर उसके गवर्नर-जनरल इस्कन्दर मिर्जा को उसका राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया गया।

पर १९५६ का संविधान अविकल रूप में क्रियान्वित नहीं किया जा सका। पाकिस्तान में कोई ऐसी सुसंगठित व अनुशासित पार्टी नहीं थी, जो पार्लियामेन्ट के बहुमत को स्थायी रूप से अपने साथ रख सकती। इसलिए वहाँ के मन्त्रिमण्डल में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते रहे, और पार्टियों के विरोध ने उग्र रूप धारण कर लिया। इस दशा में ७ अक्टूबर, १९५८ के दिन राष्ट्रपति मिर्जा ने पाकिस्तान में मार्शल लॉ की घोषणा कर दी, केन्द्रीय पार्लियामेन्ट तथा प्रान्तीय विधान सभाओं को बर्खास्त कर दिया, सब राजनीतिक दलों को अवैध घोषित कर दिया, और संविधान का अन्त कर दिया। उन्होंने यह व्यवस्था की, कि देश का शासन स्थायी सरकारी पदाधिकारियों के हाथों में रहे, और सेना के प्रधान सेनापति की हैसियत से मार्शल मुहम्मद आयूब खाँ फौजी कानून के अधीन देश के शासन का संचालन करें। पर आयूब खाँ अपनी इस स्थिति से सन्तुष्ट नहीं थे। २८ अक्टूबर, १९५८ को उन्होंने सैनिक षड्यन्त्र द्वारा राष्ट्रपति मिर्जा को अपदस्थ कर दिया, और स्वयं राष्ट्रपति पद भी ग्रहण कर लिया। अपनी स्थिति को वैधानिक रूप प्रदान करने के लिए आयूब खाँ ने फरवरी, १९६० में लोकमत लिए जाने की व्यवस्था की। पाकिस्तान में जो भी स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ —ग्राम पंचायतें और नगर सभाएँ आदि, जिन्हें बेसिक डेमोक्रेसी कहा जाता था—थीं; उनको इस प्रश्न पर वोट देने का अवसर दिया गया कि शासन में आयूब खाँ की जो स्थिति है, वे उसका समर्थन करती हैं या नहीं। इस प्रकार की संस्थाओं की कुल संख्या ७८,७२० थी। उनमें से ७५,२८३ के वोट आयूब खाँ के पक्ष में प्राप्त हुए। इस प्रकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाकर आयूब खाँ ने यह निश्चय किया, कि ऐसे नये संविधान का निर्माण किया जाए, जो पाकिस्तान की राजनीतिक परिस्थितियों के अनुरूप हो। इसके लिए एक कमीशन की नियुक्ति की गई, जिसके अध्यक्ष मंजूर कादिर नाम के एक वकील थे। मंजूर कादिर द्वारा जो संविधान तैयार किया गया, उसे १९६२ के प्रारम्भ में प्रकाशित कर दिया गया। इसमें जो व्यवस्थाएं की गई थीं, उनमें मुख्य निम्नलिखित थीं—(१) पाकिस्तान के शासन में जो स्थिरता एवं व्यवस्था नहीं आ पाती थी, उसके लिए राजनीतिक पार्टियों को उत्तरदायी मानकर यह निश्चय किया गया कि वहाँ किसी भी पार्टी को न रहने दिया जाए और लोगों को यह अधिकार न हो कि वे राजनीतिक दलों का संगठन कर सकें, (२) पाकिस्तान के केन्द्रीय शासन के लिए एक विधानसभा का निर्माण किया जाए, और साथ ही उसके दोनों भागों—पश्चिमी पाकिस्तान और पूर्वी बंगाल—के लिए भी दो पृथक्-पृथक् विधानसभाएँ बनाई जाएँ। पर इनके सदस्यों का चुनाव सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से न किया जाया करे। पाकिस्तान में जो स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ (बेसिक डेमोक्रेसी) संगठित थीं, उन द्वारा ही इन विधान सभाओं के सदस्य चुने जाया करें। (३) विधानसभाओं की सदस्यता के उम्मीदवार अपनी व्यक्तिगत स्थिति में ही चुनाव के लिए खड़े हुआ करें, किसी राजनीतिक पार्टी की ओर से नहीं। १९६२ में इस नए संविधान के अनुसार पाकिस्तान में चुनाव हुए। यद्यपि उसके सदस्य किसी पार्टी की ओर से खड़े नहीं हुए थे, पर उनका ऐसी पार्टियों के साथ सम्बन्ध था, जो वहाँ पहले विद्यमान थीं और जिन्हें अब अवैध घोषित कर दिया गया था। इसीलिए केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधान सभाओं के अधिवेशन शुरू होते ही ये पार्टियाँ फिर से प्रगट होनी प्रारम्भ हो गईं, और पार्टी विहीन पार्लियामेन्ट की जो कल्पना आयूब खाँ ने की थी, वह क्रियान्वित नहीं की जा सकी। विवश होकर उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार कर लिया कि जिस देश में पार्लियामेन्ट होगी, उसमें राजनीतिक पार्टियाँ भी अवश्य होंगी, अतः प्रयत्न यह करना चाहिए, कि एक शक्तिशाली पार्टी का समर्थन अपने लिए प्राप्त किया जाए। मुस्लिम लीग जिन अनेक पार्टियों में विभक्त हो गई थी, उनमें से एक का सहयोग व समर्थन प्राप्त करने में आयूब खाँ सफल हो गया, और इस प्रकार पाकिस्तान के राजनीतिज्ञों के एक वर्ग का समर्थन उसने भी प्राप्त कर लिया, यद्यपि उसकी स्थिति प्रधानतया सैनिक शक्ति पर आधारित थी।

पर पाकिस्तान के बहुसंख्यक राजनीतिक नेता १९६२ के संविधान और आयूब खाँ के सैनिक शासन के विरुद्ध थे। वे चाहते थे, कि उनके देश में भी ऐसी पार्लियामेन्ट की सत्ता हो जिसके सदस्य सर्वसाधारण मतदाताओं द्वारा चुने जाएँ और जिसके प्रति उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् के हाथों में शासन का कार्य हो। इस प्रकार के राजनीतिक नेताओं में सर्वप्रधान मि० सुहरावर्दी थे, जो ब्रिटिश युग में बंगाल के मुख्य मन्त्री भी रह चुके थे। उन्होंने अवामी लीग नाम से एक नई पार्टी संगठित कर ली थी, और वे आयूब खाँ का विरोध करने में तत्पर थे। बंगाली होने के कारण सुहरावर्दी का पश्चिमी पाकिस्तान में अधिक प्रभाव नहीं था, और उनकी अवामी लीग पूर्वी बंगाल में ही विशेष रूप से प्रबल थी। १९६३ में सुहरावर्दी की मृत्यु हो गई, जिसके कारण कुछ समय के लिए अवामी लीग का कोई ऐसा नेता नहीं रहा जिसे राजनीति का अधिक अनुभव हो। पर पाकिस्तान की राजनीतिक पार्टियाँ आयूब खाँ के सैनिक शासन का विरोध करने में तत्पर रहीं। इसीलिए २ जनवरी, १९६५ के दिन जब राष्ट्रपति का नया चुनाव हुआ, तो इन पार्टियों ने परस्पर मिल कर आयूब खाँ का विरोध करने का प्रयत्न किया। उनके मुकाबिले में उन्होंने मिस जिन्ना (पाकिस्तान के संस्थापक मि० जिन्ना की बहन) को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्रपति पद के लिए अपना उम्मीदवार खड़ा किया। उन्हें आशा थी, कि मि० जिन्ना के प्रति जो प्रतिष्ठा की भावना पाकिस्तानी जनता में है, उसका उपयोग कर मिस जिन्ना आयूब खाँ को परास्त कर सकेंगी। पर उनकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई, और दो तिहाई बहुमत से आयूब खाँ फिर राष्ट्रपति पद पर निर्वाचित हो गये। १९७० के शुरू में राष्ट्रपति का फिर चुनाव होना था। पर आयूब खाँ ने यह भली भाँति अनुभव कर लिया था, कि राजनीतिक पार्टियों का समर्थन उन्हें प्राप्त नहीं है, और देश में उनके शासन के विरुद्ध भावना निरन्तर जोर पकड़ती जा रही है। अतः २३ मार्च, १९६९ के दिन उन्होंने स्वयं राष्टपति पद से त्यागपत्र दे दिया, और देश का शासन जनरल आगा मुहम्मद याह्या खाँ के सुपुर्द कर दिया। इस समय पाकिस्तान के अनेक प्रदेशों में अव्यवस्था प्रारम्भ हो गई थी, जिसके कारण याह्या खाँ ने मार्शल लॉ की घोषणा कर दी, और अपने को सैनिक शासक नियुक्त कर सब शासन शक्ति अपने हाथों में ले ली। अपनी सहायता के लिए उन्होंने जल, स्थल और वायु सेनाओं के प्रधान सेनापतियों—एडमिरल असम अहसान, एयर मार्शल नूर खाँ और जनरल अब्दुल हमीद खाँ को सहायक सैनिक शासकों के पदों पर नियुक्त किया। इस प्रकार याह्या खाँ द्वारा पाकिस्तान में एक ऐसी सरकार स्थापित की गई, जिसमें सब शक्ति सैनिक नेताओं के हाथों में दे दी गई थी। सैनिक सरकार की स्थापना करते समय याह्या खाँ ने यह भी घोषित किया, कि ज्यों ही पाकिस्तान में शान्ति और व्यवस्था कायम हो जायेगी, एक असैनिक सरकार का निर्माण कर शासन का कार्य उसे सुपुर्द कर दिया जायेगा और देश के लिए एक नया संविधान भी तैयार किया जायेगा। अपनी इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए ३० मार्च, १९७० के दिन याह्या खाँ ने यह घोषित किया, कि शीघ्र ही केन्द्रीय विधान सभा और प्रान्तीय विधानसभाओं के चुनाव कराये जायेंगे, ताकि सैनिक शासन का अन्त कर लोकतन्त्र सरकार का निर्माण किया जा सके। केन्द्रीय विधान सभा (नेशनल एसेम्बली) पाकिस्तान के लिए नये संविधान का भी निर्माण करेगी, यद्यपि उस द्वारा निर्मित संविधान तभी लागू हो सकेगा जबकि राष्ट्रपति याह्या खाँ की स्वीकृति उसे प्राप्त हो जायगी। इस घोषणा के अनुसार चिरकाल पश्चात् दिसम्बर, १९७० में पाकिस्तान में आम चुनाव कराये गये, और उनमें सर्वसाधारण मतदाताओं को प्रत्यक्ष रूप से अपने मताधिकार को प्रयुक्त करने का अवसर प्रदान किया गया। पर इन चुनावों द्वारा भी वहाँ लोकतन्त्र शासन की स्थापना नहीं हो सकी, और शीघ्र ही पूर्वी बंगाल ने पाकिस्तान से पृथक् होकर बांगला देश नाम से एक स्वतन्त्र राज्य का निर्माण कर लिया।

भारत और पाकिस्तान ने एक ही समय में ब्रिटिश आधिपत्य से स्वतन्त्रता प्राप्त की थी। १९४७ से अब तक भारत में लोकतन्त्र शासन सुव्यवस्थित रूप से विद्यमान है, पर पाकिस्तान में कोई ऐसी सरकार सफलतापूर्वक शासन नहीं कर सकी, जो लोकतन्त्रवाद पर आधारित हो। १९५८ से १९७२ तक वहां सैनिक शासन रहा, और अब तक भी वहां ऐसी सरकार नहीं बन सकी है, जो लोकतन्त्रवाद के अनुरूप हो। इसके कारणों का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। सुव्यवस्थित शासन के अभाव का एक परिणाम यह भी हुआ है, कि पाकिस्तान औद्योगिक और आर्थिक क्षेत्र में समुचित उन्नति नहीं कर सका है। वहां शिक्षित लोगों की संख्या भी बहुत कम है। ८० प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति वहां सर्वथा निरक्षर हैं।

(२) पाकिस्तान की विदेश-नीति

भारत के समान पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता के सिद्धान्त का अनुसरण नहीं किया। एशिया में कम्युनिज्म के प्रसार का प्रतिरोध करने के लिये जो भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बने, पाकिस्तान उनमें सम्मिलित हुआ। सितम्बर, १९५४ में दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन का निर्माण अमेरिका के तत्त्वावधान में किया गया था। पाकिस्तान उसका सदस्य बन गया। इसी प्रकार नवम्बर, १९५५ में केन्द्रीय सन्धि-संगठन (CEATO) या बगदाद पैक्ट बना, जिसमें तुर्की, ईरान और ईराक के साथ पाकिस्तान भी सम्मिलित हुआ। इस काल में एशिया के नये स्वतन्त्र हुए देश प्रायः तटस्थता की नीति के समर्थक थे। चीन और भारत ने इसी समय पञ्चशील के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। पर पाकिस्तान की नीति अमेरिका द्वारा निर्मित गुटों में सम्मिलित होने के पक्ष में थी। इसीलिए जब एप्रिल, १९५५ में इन्डोनीसिया के अन्यतम नगर बांदुंग में एशियन राज्यों की एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया, तो पाकिस्तान उसमें सम्मिलित तो हुआ, पर उसने पञ्चशील का अविकल रूप से समर्थन नहीं किया। पाकिस्तान की इस नीति का प्रधान निर्णायक तत्त्व भारत से उसका विरोध था। वस्तुतः, भारत के विरोध के कारण ही वह ऐसी विदेश-नीति का निर्धारण करता रहा, जिसमें वह विश्व के शक्तिशाली देशों का समर्थन भारत के विरुद्ध प्राप्त कर सके। इसीलिये पहले वह अमेरिका द्वारा संगठित गुटों में शामिल हुआ, और बाद में चीन के साथ उसने मैत्री स्थापित की।

पाकिस्तान के भारत का विरोधी होने के कारण ऐतिहासिक हैं। भारत के विभाजन द्वारा ही पाकिस्तान का निर्माण हुआ था। कौन-से प्रदेश पाकिस्तान में सम्मिलित किये जाएं, इस प्रश्न पर उसका भारत से मतभेद तथा विरोध था। जम्मू-काश्मीर का राज्य इन प्रदेशों में मुख्य था। जम्मू-काश्मीर पहले एक रियासत थी, जिसके बहुसंख्यक निवासी मुसलमान थे, पर उसका राजा हिन्दू था। काश्मीर के प्रधान नेता शेख अब्दुल्ला थे, जो द्विराष्ट्र के सिद्धान्त पर विश्वास नहीं रखते थे। इस रियासत के राजा तथा वहां की प्रमुख राजनीतिक संस्था काश्मीर नेशनल कान्फरेन्स ने अपने प्रदेश को भारत में सम्मिलित करने का निर्णय किया, जिसे पाकिस्तान सहन नहीं कर सका। वहां की सरकार की प्रेरणा से कतिपय सीमावर्ती कबीलों ने काश्मीर पर आक्रमण कर दिया (अक्टूबर, १९४७), जिसका प्रतिरोध करने के लिये काश्मीर के महाराजा ने भारत से सहायता की याचना की। भारतीय सेना के कारण कबायली लोग श्रीनगर पर कब्जा नहीं कर सके। संयुक्त राष्ट्र-संघ द्वारा काश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के युद्ध का अन्त तो करा दिया, पर इसके कारण इन दोनों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण नहीं रह सके। काश्मीर के प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान में जो युद्ध १९४७-४८ में हुआ था, उसमें पाकिस्तानी सेनाओं को बहुत बुरी तरह से नीचा देखना पड़ा था, अतः उसे फिर भारत पर सशस्त्र आक्रमण करने का साहस नहीं हुआ। १९५४-५५ में पाकिस्तान सीटो और सेन्टो जैसी संगठनों में शामिल हो गया था, जिसके कारण उसे अमेरिका द्वारा आर्थिक तथा अस्त्र-शस्त्रों की मदद प्राप्त होने लग गई थी। १९६२ में चीन ने भारत पर आक्रमण किया, जिसके पश्चात् पाकिस्तान ने चीन के साथ भी अपने मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये। पाकिस्तान द्वारा अधिकृत काश्मीर का जो प्रदेश चीन के साथ लगता था, उसकी सीमाओं के विषय में भी उसने चीन के साथ फैसला कर लिया। चीन की मैत्री और सहायता का भरोसा प्राप्त हो जाने पर पाकिस्तान ने काश्मीर की युद्धविराम रेखा (राष्ट्रसंघ द्वारा निर्धारित) का अतिक्रमण कर भारत पर छुट-पुट हमले करना भी प्रारम्भ कर दिया। १९६५ के पहले सात महीनों में पाकिस्तान ने काश्मीर की युद्धविराम रेखा का १८०० बार अतिक्रमण किया। भारत-चीन युद्ध के पश्चात् पाकिस्तान का साहस बहुत बढ़ गया था। इसीलिये एप्रिल, १९६५ में उसने कच्छ पर आक्रमण किया, और अगस्त, १९६५ में काश्मीर पर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार भारत और पाकिस्तान में बाकायदा युद्ध शुरू हो गया, जिसका क्षेत्र केवल काश्मीर तक ही सीमित नहीं रहा। शीघ्र ही, पंजाब की सीमा पर भी दोनों देशों में लड़ाई शुरू हो गई। पर भारत के सम्मुख पाकिस्तान नहीं टिक सका, और अनेक रण-क्षेत्रों में उसकी बुरी तरह से पराजय हुई। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्न से २३ सितम्बर, १९६५ के दिन इस युद्ध का अन्त हो गया था, पर इससे भारत और पाकिस्तान के विरोध का अन्त नहीं हुआ था। रूस ने इस समय उनमें समझौता कराने के लिये विशेष तत्परता प्रदर्शित की, जिसके परिणामस्वरूप ताशकन्द में एक कान्फरेन्स का आयोजन किया गया (४ जनवरी, १९६६), जिसमें भारत के प्रधानमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति मार्शल आयूब खां ने सम्मिलित होना स्वीकार किया। रूस के प्रधानमन्त्री कोसिगिन के प्रयत्न से जो समझौता ताशकन्द में हुआ, उसके अनुसार दोनों पक्षों ने अपनी सेनाओं को उन स्थानों पर वापस ले जाना स्वीकार किया, जहां कि वे ५ अगस्त, १९६५ (युद्ध प्रारम्भ होने से पहले) के दिन थीं। साथ ही, उन्होंने यह भी तय किया, कि वे अपने विवादों को निबटाने के लिये शक्ति का प्रयोग न कर शान्तिमय साधनोंका ही उपयोग करेंगे। ताशकन्द सतझौते के अनुसार भारत को अपनी सेनाएं उन प्रदेशों से हटा लेनी पड़ीं जो पाकिस्तान के अन्तर्गत थे और युद्ध के समय जिन पर भारत का कब्जा हो गया था। इससे पाकिस्तान को स्पष्ट रूप से लाभ हुआ, और काश्मीर के सम्बन्ध में कोई ऐसा निर्णय नहीं हुआ जिससे इस विवाद का अन्त किया जा सके। साथ ही, भारत के प्रति पाकिस्तान के रुख में भी कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नहीं आया। रेडियो तथा समाचार-पत्रों द्वारा वह भारत के विरुद्ध विषवमन करता रहा, जिसका उद्देश्य भारत के मुसलमानों में विद्रोह की भावना उत्पन्न करना था। १५ अगस्त, १९६८ के दिन भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने पाकिस्तान से अपील की, कि वह भारत से एक युद्ध-विरोधी समझौता (No war Pact) कर ले, पर पाकिस्तान ने उस पर कोई ध्यान नहीं दिया।

भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों पर यहां अत्यन्त संक्षेप रूप से प्रकाश डाला गया है। पर इससे यह स्पष्ट हो जाता है, कि गत वर्षों में पाकिस्तान का यही प्रयत्न रहा है, कि वह जिस किसी भी प्रकार से जम्मू-काश्मीर को हस्तगत कर ले। इसीलिये उसने अपनी सैन्यशक्ति की वृद्धि के लिये पहले अमेरिका से गठबंधन किया, और जब भारत तथा चीन के सम्बन्ध कटु हो गये, तो उसने भारत के विरुद्ध चीन का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया।

(३) स्वतन्त्र बांगला देश का अभ्युदय

भारत के विभाजन के समय पूर्वी बंगाल को भी पाकिस्तान के अन्तर्गत किया गया था, क्योंकि वहां के बहुसंख्यक निवासी इस्लाम के अनुयायी थे। पर भाषा, भौगोलिक दशा, संस्कृति तथा ऐतिहासिक परम्परा आदि की दृष्टि से पूर्वी बंगाल का शेष-पाकिस्तान से कोई भी ऐक्य नहीं था। भाषा और संस्कृति आदि के भेदों के कारण पूर्वी बंगाल में यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, कि पाकिस्तान में उसकी स्थिति एक स्वायत्त राज्य की होनी चाहिये, और यह तभी हो सकता है जब कि पाकिस्तान को एक संघ-राज्य का रूप प्रदान कर दिया जाए। मुस्लिम लीग ने जब पाकिस्तान के निर्माण के लिये प्रयत्न प्रारम्भ किया था, तब उसके सम्मुख इस मुस्लिम राज्य का यही स्वरूप था। इसीलिये मुस्लिम लीग ने अपने लाहौर के अधिवेशन (१९४०) में यह प्रस्ताव स्वीकार किया था, कि पाकिस्तान के नाम से जिस मुस्लिम राज्य का निर्माण किया जायगा, उसमें दो स्वायत्त एवं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्र देश सम्मिलित होंगे, उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और पूर्वी प्रदेश। पर जब पाकिस्तान का निर्माण हो गया, तो उसके नेताओं ने इस बात पर ध्यान नहीं दिया, कि भाषा और संस्कृति आदि की दृष्टि से पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में अत्यधिक भिन्नता है और उनको एक राष्ट्र बना सकना सम्भव नहीं है। जिन कारणों से पूर्वी बंगाल में स्वायत्त शासन का आन्दोलन जोर पकड़ने लगा, उनमें मुख्य निम्नलिखित थे—(१) पश्चिमी पंजाब और सिन्ध के सम्पन्न लोगों द्वारा बंगाल के आर्थिक जीवन पर प्रभुत्व की स्थापना और वहां के कारखानों को अपने स्वत्व में ले आना, जिसका परिणाम बंगालियों का आर्थिक शोषण हुआ। (२) पूर्वी बंगाल के राजपदाधिकारियों तथा सैनिक अफसरों में पंजाबियों की प्रमुखता, और उन द्वारा बंगालियों को हीन समझना। (३) पाकिस्तान की राजकीय आमदनी के बड़े भाग का पश्चिमी पाकिस्तान पर खर्च किया जाना, यद्यपि पूर्वी बंगाल की जनसंख्या अधिक थी और राजकीय आमदनी का बड़ा भाग भी वहीं से प्राप्त होता था। (४) उर्दू को पाकिस्तान की प्रधान राजकीय भाषा स्वीकार किया जाता और बंगला भाषा की उपेक्षा। ये कारण थे, जिनसे कि पूर्वी बंगाल के लोगों में अपनी स्थिति से असंतोष था, और उनमें यह भावना विकसित हो गई थी कि पाकिस्तान की शासनशक्ति पश्चिमी पाकिस्तान के लोगों के हाथों में है, और वे उसका प्रयोग बंगालियों के शोषण के लिये कर रहे हैं।

मार्च, १९७० में जब पाकिस्तान के राष्ट्रपति याह्या खां ने केन्द्रीय तथा प्रान्तीय विधानसभाओं के चुनाव कराने तथा नये संविधान के निर्माण के सम्बन्ध में घोषणा की, तो पूर्वी बंगाल ने उसका स्वागत किया। उस समय पाकिस्तान में दो मुख्य राजनीतिक पार्टियां थीं—(१) अवामी लीग, जिसके प्रधान नेता शेख मुजीबुर्रहमान थे और जिसकी पूर्वी बंगाल में प्रधानता थी। (२) पीपल्स पार्टी, जिसके प्रधान नेता जुल्फिकार अली भुट्टो थे और जिसके अनुयायी मुख्यतया पश्चिमी पाकिस्तान में थे। दिसम्बर, १९७० में पाकिस्तान में आम चुनाव हुए, जिसके परिणामस्वरूप केन्द्रीय नेशनल एसेम्बली में अवामी लीग को बहुमत प्राप्त हो गया और पूर्वी बंगाल की विधान सभा में तो प्रायः सभी स्थान इसी पार्टी ने प्राप्त कर लिये। अवामी लीग की इस अनुपम सफलता का कारण यह था, कि यह पार्टी पूर्वी बंगाल की जनता का प्रतिनिधित्व करती थी और पाकिस्तान में बंगालियों की बहुसंख्या थी। चुनाव में भाग लेते हुए अवामी लीग ने जो घोषणापत्र प्रकाशित किया था, उसमें उसके मन्तव्यों तथा कार्यक्रम को इस ढंग से व्यक्त किया गया था—(१) पाकिस्तान का स्वरूप एक संघराज्य (Federation) का हो, और उसके विधानमण्डलों के सदस्यों का चुनाव वयस्क मताधिकार द्वारा किया जाया करे। (२) केन्द्रीय संघ सरकार के हाथों में केवल दो विषय रहे, विदेशों के साथ सम्बन्ध और देश की सुरक्षा। (३) पाकिस्तान के दोनों भागों—पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान की मुद्रापद्धति पृथक्-पृथक् रहे और ऐसी व्यवस्था की जाए, जिससे एक भाग की पूंजी तथा सम्पत्ति दूसरे भाग में न जाने पाए। (४) दोनों भागों को अपनी आर्थिक एवं वित्तीय नीति का स्वयं निर्धारण करने का अवसर हो। (५) उन्हें विदेशी व्यापार तथा विदेशों से प्राप्त होने वाली आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में अन्य राज्यों से स्वयं बातचीत तथा निर्णय करने की स्वतन्त्रता हो। (६) उन्हें अपनी पृथक् सेनाएं रखने का भी अधिकार हो। यदि इन मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया जाता, तो पूर्वी बंगाल के निवासियों को शिकायत का कोई अवसर न रहता।

पाकिस्तान में चुनाव का कार्य दिसम्बर, १९७० में समाप्त हो गया था। १३ फरवरी, १९७१ को याह्या खां ने यह घोषणा की, कि नेशनल एसेम्बली का अधिवेशन ३ मार्च के दिन ढाका में शुरू होगा। पर पीपल्स पार्टी के नेता भुट्टो को यह स्वीकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं था, कि पाकिस्तान का शासन उस अवामी लीग के हाथों में चला जाए जिसके प्राय: सभी सदस्य पूर्वी बंगाल के थे। उनका कहना था कि नेशनल एसेम्बली जो संविधान बनाए, वह पीपल्स पार्टी को भी स्वीकार्य होना चाहिये। केवल बहुमत के आधार पर उसका निर्माण नहीं किया जाना चाहिये। भुट्टो के इस रुख के कारण नेशनल एसेम्बली के अधिवेशन को स्थगित कर दिया गया, और याह्या खां ने शेख मुजीब तथा उनके साथियों से बातचीत शुरू की। याह्या खां स्वयं पश्चिमी पाकिस्तान के थे, और उन्हें अवामी लीग के मन्तव्यों तथा कार्यक्रम से जरा भी सहानुभूति नहीं थी। वे यह भी समझते थे, कि पूर्वी पाकिस्तान में स्वायत्त शासन को स्थापित करने की जो आकांक्षा उत्पन्न हो गई है, उसके कारण कोई ऐसा संविधान बना सकना सम्भव नहीं है जो पश्चिमी पाकिस्तान को भी स्वीकार्य हो। इस दशा में उन्हें केवल यह क्रियात्मक प्रतीत होता था कि सैन्य शक्ति का उपयोग कर अवामी लीग को कुचल दिया जाए, और पूर्वी बंगाल के ऐसे लोगों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाए जो मुस्लिम भावना को सर्वाधिक महत्त्व देते हों। शेख मुजीब तथा उनके साथियों से बातचीत करने की आड़ में वे सैनिक तयारी करते रहे। जब यह तैयारी पूरी हो गई, तो २५ मार्च, १९७१ के दिन अकस्मात् ही शेख मुजीब को गिरफ्तार कर लिया गया और पूर्वी बंगाल की जनता पर ऐसे नृशंस अत्याचार प्रारम्भ किये गये जिनका उदाहरण इतिहास में कहीं अन्यत्र मिल सकना कठिन है। देखते-देखते हजारों बंगालियों को मौत के घाट उतार दिया गया, स्त्रियों पर बलात्कार किया गया, हरे-भरे खेतों और गांवों में आग लगा दी गई, और शहरों तथा बाजारों को लूटना शुरू कर दिया गया। पश्चिमी पाकिस्तान के सैनिकों के अत्याचारों से बचने के लिये पूर्वी बंगाल के स्त्री-पुरुषों ने बहुत बड़ी संख्या में भारत आकर शरण ली, और कुछ ही महीनों में इन शरणार्थियों की संख्या एक करोड़ के लगभग तक पहुँच गई। भारत के लिये इनकी संभाल एक विकट समस्या थी।

पर इस बीच में पूर्वी बंगाल के लोग भी चुप नहीं बैठे थे। उन्होंने अपने देश (बांगला देश) के लिये एक आजाद सरकार का निर्माण कर लिया था, और 'मुक्तिवाहिनी' नाम से अपनी सेना का संगठन कर पाकिस्तानी शासकों और सेना के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था। मुक्तिवाहिनी को पाकिस्तान के विरुद्ध इस युद्ध में अच्छी सफलता प्राप्त हुई, और उसने अपने देश के एक बड़े भाग को स्वतन्त्र भी करा लिया। भारत की सहानुभूति बांगला देश की आजाद सरकार के साथ थी, क्योंकि शरणार्थियों के लिये भारत से अपने देश को लौट सकना तभी सम्भव हो सकता था, जबकि पूर्वी बंगाल से पाकिस्तान के शासन का अन्त होकर वहां एक ऐसी सरकार स्थापित हो जाए, जिस पर कि इन बंगाली शरणार्थियों को विश्वास हो। भारत सरकार ने भरसक प्रयत्न किया, कि संसार के शक्तिशाली राज्य शरणार्थियों की समस्या पर ध्यान दें और उसके समाधान के लिये पाकिस्तान के शासकों पर जोर डालें। भारत सरकार चाहती थी, कि पूर्वी बंगाल में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न की जाएं, जिनसे कि बंगाली शरणार्थी अपने देश को वापस लौट सकें। शेख मुजीब और अवामी लीग से समझौता करके ही ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न की जा सकती थीं, पर इसके लिये याह्या खां उद्यत नहीं थे। उनका विचार था कि मुक्तिवाहिनी को भारत की सहायता प्राप्त है, और उससे अस्त्र-शस्त्र प्राप्त करके ही वह पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध में तत्पर है। इसलिये ३ दिसम्बर, १९७१ के दिन पाकिस्तान ने अकस्मात् ही भारत पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिया, और उसकी वायुसेना ने बहुत-से स्थानों पर बम्ब-वर्षा शुरू कर दी। विवश होकर भारत को भी अपनी सैन्य शक्ति का प्रयोग करना पड़ा। इस प्रकार भारत और पाकिस्तान में जो युद्ध शुरू हुआ, वह दो सप्ताह तक चला। इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

युद्ध में पाकिस्तान की पराजय हुई, और १६ दिसम्बर, १६७१ को उसने बिना किसी शर्त के आत्मसमर्पण कर दिया। कुछ दिन पश्चात् बांगला देश की आजाद सरकार ढाका चली गई, और उसने अपने देश के शासन को संभाल लिया। उधर याह्या खां के लिये भी पाकिस्तान के राष्ट्रपति पद पर रह सकना सम्भव नहीं रहा, और वह पीपल्स पार्टी के नेता जुल्फिकार अली भुट्टो को शासन सुपुर्द कर अपने पद से पृथक् हो गये। परिस्थितियों से विवश होकर भुट्टो ने शेख मुजीब को (जो पश्चिमी पाकिस्तान की एक जेल में कैद थे) जेल से मुक्त कर दिया (८ जनवरी, १६७२) और वे ढाका वापस आ गये। पाकिस्तानी सेना के अत्याचारों से परेशान होकर पूर्वी बंगाल के जिन एक करोड़ नर-नारियों ने भारत में शरण ली हुई थी, वे भी धीरे-धीरे अपने देश को लौट गये।

बांगला देश के इस स्वातन्त्र्य-संग्राम में रूस की सहानुभूति भारत और बांगला देश के साथ थी, और अमेरिका तथा चीन की पाकिस्तान के साथ। ३ दिसम्बर, १६७१ को पाकिस्तान द्वारा भारत पर आक्रमण करने के पश्चात् जब भारत ने भी अपनी सैन्य-शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ किया, तो अमेरिका और चीन द्वारा यह मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ के सम्मुख प्रस्तुत किया गया। उनका प्रस्ताव था, कि दोनों पक्ष तुरन्त लड़ाई बन्द कर दें, और अपनी सेनाओं को उन स्थानों पर वापस लौटा लें जहां कि वे युद्ध शुरू होने से पहले थीं। पर रूस द्वारा वीटो के अपने अधिकार का प्रयोग किये जाने के कारण यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद् में स्वीकृत नहीं हो सका। इस पर इन राज्यों ने संघ की जनरल एसेम्बली में इस मामले को पेश किया, जहां युद्ध को बन्द करने तथा सेनाओं को वापस लौटाने के सम्बन्ध में अर्जेन्टिना द्वारा प्रस्तुत किया गया प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हो गया। १०४ वोट प्रस्ताव के पक्ष में आये, ११ विरोध में और शेष सदस्य तटस्थ रहे। ११ के मुकाबिले में १०४ वोटों से अर्जेन्टिना के प्रस्ताव का स्वीकृत हो जाना इस बात का प्रमाण है, कि बांगला देश की वास्तविक परिस्थिति से संसार के बहुसंख्यक राज्य अपरिचित थे। बांगला देश की समस्या को वे पाकिस्तान का अन्दरूनी मामला समझते थे, और उसकी स्वतन्त्रता का उनकी दृष्टि में कोई महत्त्व नहीं था।

दिसम्बर, १६७१ के युद्ध में पाकिस्तान की पराजय के कारण बांगला देश की स्वतन्त्रता में कोई बाधा नहीं रह गई थी। उसकी पृथक् स्वतन्त्रता एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति को भारत ने तुरन्त स्वीकार कर लिया था, और उसके बाद रूस तथा भूटान ने भी। धीरे-धीरे अन्य बहुत-से राज्यों ने भी उसकी इस स्थिति को मान्यता प्रदान कर दी, और अब तक ६० से भी अधिक राज्य बांगला देश को मान्यता दे चुके हैं। ब्रिटिश कामनवेल्थ का वह सदस्य बन गया है, पर चीन के वीटो के कारण संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता अभी उसे प्राप्त नहीं हो सकी है। मार्च, १६७२ में भारत ने उसके साथ एक सन्धि की, जिसकी मुख्य बातें निम्नलिखित हैं--(१) दोनों राज्य एक दूसरे की स्वतन्त्रता, सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्नता और प्रादेशिक अखण्डनीयता को स्वीकार करते हैं, और यह वचन देते हैं कि वे एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। (२) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में दोनों राज्य असंलग्नता और सह-अस्तित्त्व की नीति में विश्वास करते हैं। (३) कला, साहित्य, शिक्षा, संस्कृति, खेलकूद और स्वास्थ्य के विषयों में वे घनिष्ठ सम्पर्क स्थापित करने को उद्यत हैं। (४) वे न एक दूसरे पर आक्रमण करेंगे और न किसी ऐसे सैनिक गुट में शामिल होंगे जिसका निर्माण उनमें से किसी के विरुद्ध किया गया हो। (५) यदि उनमें से किसी पर बाह्य आक्रमण हो या बाह्य आक्रमण की सम्भावना हो, तो दोनों राज्य तत्काल इस प्रयोजन से परस्पर विचार विमर्श करेंगे, ताकि ऐसे उपायों का मिलकर अवलम्बन किया जा सके जिनसे कि भारत और बांगला देश में शान्ति तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरक्षा स्थापित रह सके। इस सन्धि के कारण भारत की स्थिति बहुत सुरक्षित हो गई है। पाकिस्तान या चीन द्वारा आक्रमण की दशा में भारत इस बात का भरोसा कर सकता है, कि पूर्व की ओर से न केवल उस पर हमला नहीं होगा, अपितु आक्रमण के निवारण के लिये वह बांगला देश की सहायता भी प्राप्त कर सकेगा।

स्वतन्त्रता प्राप्त कर बांगला देश ने अपने संविधान का निर्माण करने के लिये एक संविधान सभा का संगठन किया। इस सभा ने देश के लिये जिस संविधान का निर्माण किया, उसमें पार्लियामैन्टरी शासनपद्धति को अपनाया गया है, और एक ऐसी मन्त्रिपरिषद् के निर्माण की व्यवस्था की गई है जो जनता द्वारा निर्वाचित पार्लियामैन्ट के प्रति उत्तरदायी हो। १६ दिसम्बर, १९७२ से इस संविधान को लागू भी कर दिया गया है, और इसके अनुसार बांगला देश की जिस मन्त्रिपरिषद् का निर्माण हुआ है, उसमें प्रधानमन्त्री के पद पर शेख मुजीबर्रहमान हैं। वहां की पार्लियामैन्ट में अवामी लीग पार्टी को बहुत बड़ा बहुमत प्राप्त है, और राजनीतिक दलबन्दी से उत्पन्न समस्याओं के अभाव में यह देश उन्नति पथ पर अग्रसर होने में तत्पर है। बांगला देश का क्षेत्रफल ५५,१२६ वर्गमील है, और वर्तमान समय में उसकी जनसंख्या ७,५०,००,००० के लगभग है, जिन में मुसलमान ६ करोड़ से कम नहीं हैं। संसार में इन्डोनीसिया ही एक ऐसा देश है, जिस में इससे अधिक मुसलमानों का निवास है। पर पाकिस्तान के समान बांगला देश अपने को इस्लामी राज्य न मान कर धर्मनिरपेक्ष नीति का अनुसरण करने में तत्पर है, जो बात आधुनिक युग की प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुरूप है। भारत का विभाजन जिस द्विराष्ट्र सिद्धान्त के अनुसार किया गया था, बांगला देश उसमें विश्वास नहीं रखता। पर अभी वहां ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो अपने देश को एक मुस्लिम राज्य बनाना चाहते हैं, और जिन्हें बांगला देश तथा भारत का मैत्री-सम्बन्ध अनुचित प्रतीत होता है। इन लोगों की यह भी योजना है, कि बांगला देश और पाकिस्तान को मिलाकर एक संघटन-राज्य (Confederation) का निर्माण किया जाए। इन विचारों के लोगों ने अपने संगठन भी बनाये हुए हैं, और कभी-कभी वे शेख मुजीब की सरकार के विरुद्ध विद्रोह व षड्यन्त्र करने का भी यत्न करते रहते हैं। पर अभी इन्हें सफलता नहीं हुई है, और यह आशा की जाती है कि शेख मुजीब और अवामी लीग के नेतृत्व में बांगला देश भी धर्मनिरपेक्षता की नीति का अनुसरण करता रहेगा।

बांगला देश के सम्मुख अभी अनेक समस्याएं विद्यमान हैं। भारत ने विभाजन के समय बिहार तथा उत्तर प्रदेश के बहुत-से मुसलमान पूर्वी बंगाल में चले गये थे और वहां बस गये थे। इन की भाषा उर्दू है, और बांगला देश में इन्हें 'बिहारी' मुसलमान कहा जाता है। चौथाई सदी तक बंगाल में रहते रहने पर भी इन्होंने बंगला भाषा नहीं सीखी, और ये अपने को बंगालियों से भिन्न समझते रहे। पूर्वी बंगाल के स्वातन्त्र्य आन्दोलन के भी ये विरोधी रहे, और स्वतन्त्रता-युद्ध में इन्होंने पाकिस्तान का साथ दिया। बांगला देश के इन बिहारी मुसलमानों की संख्या लाखों में है। ये पाकिस्तान चले जाना चाहते हैं, पर वह मुस्लिम राज्य भी इन्हें ग्रहण करने के लिये उद्यत नहीं है। जो बहुत-से बंगाली पाकिस्तान में रह गये हैं, उन्हें अपने देश लौटाना भी बांगला देश के लिये एक समस्या है। स्वातन्त्र्य-युद्ध के समय जिन पाकिस्तानी सैनिकों ने बंगालियों पर अमानुषिक अत्याचार किये थे, बांगला सरकार उन पर मुकदमे भी चलाना चाहती है। जिन बंगाली नेताओं ने उस अवसर पर पाकिस्तानी सेना के साथ सहयोग किया था, उन्हें वह दण्ड दे भी चुकी है। चीन के वीटो के कारण बांगला देश को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता अभी प्राप्त नहीं हुई है, जिसके कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अभी इस राज्य को समुचित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान प्राप्त नहीं हुआ है। अगले वर्षों में इन सब समस्याओं का समाधान किया जाना है। स्वातन्त्र्य-युद्ध के कारण बांगला देश का आर्थिक जीवन अस्त-व्यस्त हो गया था। उसकी रेलवे लाइनें, पुल, सड़कें और बांध टूट गये थे, और उसके बन्दरगाह क्षत-विक्षत हो गये थे। इनकी मुरम्मत में भारत ने अनुपम कर्तृत्व प्रदर्शित किया है। खाद्य सामग्री की कमी को पूरा करने के लिये भी भारत ने बांगला देश को बहुत सहायता दी है, और उसी के सहयोग से अब वह देश अपनी आर्थिक दशा को सुधारने में तत्पर है।

(४) पाकिस्तान की समस्याएं

बांगला देश की स्वतन्त्रता और दिसम्बर, १९७१ के युद्ध के कारण पाकिस्तान को जिन अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा और वहां जो महत्त्वपूर्ण घटनाएं हुईं, उनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—

(१) जुल्फिकार अली भुट्टो के राष्ट्रप्रति पद ग्रहण कर लेने पर पाकिस्तान से सैनिक शासन का अन्त हो गया था। पर अब प्रश्न यह था, कि नये शासन का क्या स्वरूप हो। अब जो पाकिस्तान रह गया है, भाषा, संस्कृति और जाति की दृष्टि से उसके सब निवासी भी एक नहीं हैं। उनके चार मुख्य भेद हैं, पंजाबी, सिन्धी, बलोची और पठान। उत्तर-पश्चिमी सीमा-प्रान्त में पठानों का निवास है, जिनमें चिरकाल से यह आन्दोलन चल रहा है कि पख्तूनिस्तान नाम से उनका अपना पृथक् राज्य हो। इसी प्रकार सिन्ध और बलोचिस्तान के निवासी भी यह चाहते हैं, कि उनके अपने प्रदेशों में उन्हें स्वायत्त शासन का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त हो। इन सब प्रदेशों में ऐसी पार्टियां भी संगठित हैं, जो पाकिस्तान को एक संवर्ग-राज्य (Federation) का रूप प्रदान करना चाहती हैं। भुट्टो की पीपल्स पार्टी के अनुयायी प्रधानतया पंजाब में हैं, जो एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार के पक्षपाती है। इस दशा में पाकिस्तान के लिये किसी ऐसे लोकतन्त्र संविधान का निर्माण कर सकना सुगम नहीं है, जो सब प्रदेशों तथा पार्टियां को स्वीकार्य हो। नया संविधान बनाने के लिये पाकिस्तान में जिस संविधान सभा का संगठन किया गया, उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। पर काश्मीर की समस्या और भारत के प्रति विद्वेष की भावना को महत्त्व देकर मि० भुट्टो देश में एकता को कायम रखने में समर्थ रहे, और अब पाकिस्तान की संविधान सभा देश के लिये नया संविधान तैयार करने में सफल हो गई है।

(२) भारत और पाकिस्तान की सीमा एक हजार मील से भी अधिक दूरी तक एक साथ लगती है। अत: इन देशों में चिरकाल तक विद्वेष पूर्ण सम्बन्धों का रहना दोनों के लिये हानिकारक है। दिसम्बर, १९७१ के युद्ध के कारण भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में अत्यधिक कटुता आ गई थी, और उनके राजनयिक सम्बन्धों का भी अन्त हो गया था। दोनों देशों के मतभेदों व विरोधों की समाप्ति के प्रयोजन से मई, १९७२ में भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधि पाकिस्तान की अन्यतम पार्वत्य नगरी मरी में एकत्र हुए, और उन्होंने यह प्रयत्न किया कि पाकिस्तान के राष्ट्रपति भुट्टो और भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी एक शिखर सम्मेलन में एकत्र हों, और कोई ऐसा समझौता करने का प्रयत्न करें जिससे इन पड़ौसी राज्यों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो सके। इसी के परिणामस्वरूप जुलाई, १९७२ में शिमला में शिखर सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें हुए समझौते के अनुसार यह निश्चय किया गया, कि (क) पश्चिमी पंजाब और सिन्ध की ५,२०० वर्गमील के लगभग जिस भूमि पर भारतीय सेना का कब्जा है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे पाकिस्तान को वापस दे दिया जाए। इसी प्रकार पाकिस्तानी सेना ने पूर्वी पंजाब की जिस ५० वर्गमील के लगभग भूमि पर कब्जा किया हुआ है, वह भारत को लौटा दी जाए। (ख) जम्मू-काश्मीर में १७ दिसम्बर, १९७१ के दिन जिस क्षेत्र पर जिस देश का कब्जा था, उसे वैसे ही रहने दिया जाए। (ग) दोनों देश अपने झगड़ों का स्वयं बातचीत एवं शान्तिमय उपायों से निबटारा करने का प्रयत्न करें, और किसी बाह्य सत्ता का हस्तक्षेप न होने दें। (घ) शीघ्र ही शिखर सम्मेलन का पुनः आयोजन किया जाए, जिसमें अन्य विवादग्रस्त मामलों के निर्णय का प्रयत्न किया जाए। (ङ) दोनों देशों में व्यापारिक तथा राजनयिक सम्बन्धों को पुनः स्थापित करने का उद्योग किया जाए। शिमला में जो यह समझौता हुआ, उसे दोनों देशों द्वारा स्वीकृत कर लिया गया, और इसके अनुसार दोनों देशों ने अपनी सेनाएं उन क्षेत्रों से हटा लीं, जिन पर कि उन्होंने दिसम्बर, १९७१ के युद्ध में कब्जा कर लिया था। जम्मू-काश्मीर में सेनाएं किन-किन स्थानों को खाली करें, इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान में मतभेद रहा, पर ७ दिसम्बर, १९७२ तक इस पर भी दोनों देशों के सेनापतियों के बीच में फैसला हो गया। पर अब तक भी अनेक ऐसे मामले हैं, जो विवादग्रस्त हैं। शिखर सम्मेलन के पुनः आयोजन की जो बात शिमला में तय हुई थी, उसके सम्बन्ध में अब तक कोई प्रगति नहीं हो सकी है। इस सम्बन्ध में दोनों देशों की सरकारों में बातचीत होती रहती है, पर वे किसी परिणाम पर नहीं पहुंच सके हैं।

(३) दिसम्बर, १९७१ के युद्ध में ९५,००० के लगभग पाकिस्तानी सैनिक बन्दी बना लिये गये थे। कुछ हजार भारतीय सैनिक भी पाकिस्तान द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये थे। बन्दी किये गये इन सैनिकों की अपने-अपने देश को वापसी भी एक ऐसी समस्या है, जिसका अब तक समाधान नहीं हो सका है। पाकिस्तान का कहना है, कि जिनीवा कन्वेन्शन के अनुसार युद्ध की समाप्ति के पश्चात् युद्ध-बन्दियों को रिहा कर दिया जाना चाहिये। पर इस में अनेक बाधाएं हैं। १९७१ के युद्ध में एक पक्ष पाकिस्तान का था, और दूसरा भारत तथा बांगला देश का। पाकिस्तान ने इन दोनों देशों की संयुक्त सेना के सम्मुख ही आत्मसमर्पण किया था। पाकिस्तानी युद्धबन्दियों को इन दोनों देशों की सहमति से ही रिहा किया जा सकता है। पर पाकिस्तान ने अभी बांगला देश की वैध सत्ता को मान्यता प्रदान नहीं की है। अतः उसके बन्दी सैनिकों को रिहा करने का अभी प्रश्न ही नहीं उठता। भारत का कहना है, कि जब पाकिस्तान बांगला देश को मान्यता प्रदान कर देगा, तभी इस बात का निर्णय किया जा सकेगा, क्योंकि युद्धबन्दियों की रिहाई का निर्णय भारत और बांगला देश को मिलकर ही करना है। इस समस्या को हल करने में भुट्टो की सरकार सर्वथा असमर्थ रही है। बांगला देश को मान्यता प्रदान कर देने पर पाकिस्तान का लोकमत उसके विरुद्ध हो जायगा, और भुट्टो की स्थिति डांवाडोल हो जायगी। पर ९५,००० के लगभग पाकिस्तानी सैनिकों का भारत में नजरबन्द रहना भी उस देश की जनता की दृष्टि में एक ऐसी बात है, जो वहां की सरकार के प्रति असंतोष की भावना उत्पन्न कर रही है।

(४) बांगला देश की सरकार ने निश्चय किया है, कि १९५ पाकिस्तानी सैनिक अफसरों पर युद्ध-सम्बन्धी अपराधों के लिये मुकदमे चलाये जाएं। इससे बदले में पाकिस्तान की सरकार ने कुछ सौ बांगला अफसरों पर, जो पहले अविभाजित पाकिस्तान की सरकारी सेवा में थे और बांगला देश के निर्माण के पश्चात् पाकिस्तान में ही रह गये थे—मुकदमा चलाने का फैसला किया है। इस बात ने भी एक गम्भीर समस्या उत्पन्न कर दी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) कुछ लाख बंगाली अभी पाकिस्तान में हैं। ये वहां सरकारी नौकरी, व्यापार शिल्प आदि में संलग्न थे। पाकिस्तान में इन्हें नजरबन्द कर लिया गया है। ये सब बांगला देश वापस चले जाना चाहते हैं। पर पाकिस्तान ने इन्हें वापस नहीं जाने देना चाहता, ताकि इन्हें निमित्त बना कर बिहारी मुसलमानों के बारे में सौदा कर सके।

(६) क्योंकि ग्रेट ब्रिटेन ने बांगला देश को मान्यता प्रदान कर दी है, अतः पाकिस्तान ब्रिटिश कामनवेल्थ से पृथक् हो गया है। इस के कारण ब्रिटेन में निवास करने वाले पाकिस्तानी नागरिक उन अधिकारों में वञ्चित हो गये हैं, जो कामनवेल्थ में सम्मिलित देशों के नागरिकों को प्राप्त हैं।

(७) बांगला देश में उर्दू भाषा भाषी जो लाखों मुसलमान (जिन्हें बिहारी मुसलमान कहा जाता है) निवास कर रहे थे, उनकी समस्या भी अत्यन्त विकट है। वे बांगला देश में नहीं रहना चाहते, और पाकिस्तान उन्हें स्वीकार करने को उद्यत नहीं है।

भारत और पाकिस्तान के विवादों का अन्त करने के लिए जुलाई, १९७३ में पाकिस्तान की राजधानी इस्लामाबाद में एक बार फिर दोनों देशों के प्रतिनिधि एकत्र हुए थे। पर वे किसी ऐसे निर्णय पर नहीं पहुंच सके, जिसके कारण शिखर सम्मेलन का शीघ्र आयोजन हो सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इक्यावनवां अध्याय

श्रीलंका (सीलोन)

(१) पुरातन इतिहास

भारत के दक्षिण में समुद्र-तट से कुछ मील दूर श्री लंका या सीलोन का द्वीप है, जिसका क्षेत्रफल २४, ९५९ वर्ग मील है, और जनसंख्या १,१६,००,००० से कुछ अधिक है। भाषा और संस्कृति की दृष्टि से यह भारत का ही अंग है, और इसके प्राचीन इतिहास का भारत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। राजा रामचन्द्र के समय में रावण लंका का राजा था, जिसकी कथा सर्वविदित है। तीसरी सदी ईस्वी पूर्व में वहाँ राजा तिष्य का शासन था, जो मौर्य राजा अशोक का समकालीन था। विदेशों में बौद्ध धर्म के प्रचार का आयोजन करते हुए अशोक ने अपने पुत्र महेन्द्र व पुत्री संघमित्रा को लंका भेजा था, और उनके प्रयत्न से न केवल राजा तिष्य ने अपितु उनकी प्रजा ने भी बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया था। तिष्य के उत्तराधिकारियों का वृत्तान्त महावंसो और दीपवंसो नामक पाली ग्रन्थों में विशद रूप से दिया गया है, जिसका उल्लेख कर सकना इस ग्रन्थ में सम्भव नहीं है। दक्षिणी भारत के तमिल राजा बहुधा लंका पर आक्रमण करते रहते थे, और अनेक बार वे इस द्वीप को अपनी अधीनता में ले आने में सफल भी हुए थे। इसीलिए तमिल लोगों को भी वहाँ बसने का अवसर मिला, और लंका के उत्तर-पूर्वी प्रदेशों में उनकी अनेक बस्तियाँ स्थापित हो गईं। लंका के बहुसंख्यक निवासी सिंहल जाति के हैं, और उनकी भाषा भाषाओं के आर्य परिवार की है। पर सिंहल लोगों के साथ-साथ तमिल लोग भी लंका में अच्छी बड़ी संख्या में बसे हुए हैं। उनकी जनसंख्या में ४ और १ का अनुपात है।

पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम वर्षों में पोर्तुगीज लोगों ने अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर काट कर समुद्र मार्ग द्वारा भारत आना प्रारम्भ किया था। १५०५ में वे लंका भी गये, और वहाँ उन्होंने अपनी पहली व्यापारिक कोठी कायम की। सोलहवीं सदी में उनकी अनेक बस्तियाँ लंका के दक्षिणी तथा पश्चिमी समुद्र-तट परस्थापित हो गईं, और उन्होंने लंका के राजनीतिक मामलों में हस्तक्षेप करने का भी प्रयत्न किया। पोर्तुगीज व्यापारियों और मल्लाहों के साथ-साथ ईसाई मिशनरी भी लंका आने लगे, और वहाँ उन्होंने अपने धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। सामाजिक दृष्टि से हीन समझी जाने वाली कतिपय जातियों के लोग ईसाई धर्म की ओर आकृष्ट भी हुए, और इस प्रकार लंका में भी इस पाश्चात्य धर्म का प्रवेश होने लगा। पर पोर्तुगीज़ लोग देर तक लंका में नहीं टिक सके। सतरहवीं सदी के शुरू में डच लोग भी दक्षिणी एशियाई प्रदेशों में आने लगे, और उनके सामुद्रिक व्यापार को अधिगत करने के लिए उन्होंने डच ईस्ट इन्डियन कम्पनी की स्थापना की। पोर्तुगीज़ों का स्थान अब डच लोगों ने ग्रहण कर लिया, और वे भी लंका की राजनीति में हस्तक्षेप करने के लिए प्रवृत्त होने लगे। यूरोप के बाजारों में इस समय प्राच्य देशों में उत्पन्न होने वाले मसालों की बहुत माँग थी, और वहाँ के व्यापारी उनसे बहुत लाभ उठाते थे। डच लोगों ने लंका में कतिपय मसालों की खेती भी शुरू की, जिसके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण बहुत-से डच प्लान्टरों के रूप में वहाँ स्थायी रूप से भी बस गये। प्राच्य देशों के व्यापार से आकृष्ट होकर फ्रेन्च और अंग्रेज व्यापारियों ने भी पोर्तुगीज और डच लोगों का अनुसरण किया, और भारत के समान लंका में भी उन्होंने आना-जाना प्रारम्भ कर दिया। पर वे केवल व्यापार से ही सन्तुष्ट नहीं हुए। इस क्षेत्र के राजाओं की सैनिक व राजनीतिक निर्बलता से लाभ उठाकर उन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता की स्थापना का भी प्रयत्न किया, जिसमें अंग्रेज लोग सफल हो गये। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में नैपोलियन के समय में यूरोप में जो युद्ध हुए, उनसे लाभ उठाकर अंग्रेजों ने भारत की अनेक डच और फ्रेन्च बस्तियों पर अधिकार कर लिया था। लंका में जो डच और फ्रेन्च बस्तियाँ थीं, उन पर भी इसी समय अंग्रेजों ने अपना प्रभुत्व स्थापित किया। नेपोलियन के युद्धों द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों में अंग्रेज लोग लंका के कारण सर्वप्रधान यूरोपियन शक्ति बन गये, और उन्होंने वहाँ के राजा को भी अपना वशवर्ती बनाना प्रारम्भ कर दिया। १८१५ में अंग्रेजों ने लंका के राजा के साथ एक सन्धि की, जिसके अनुसार उसने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार कर ली और यह द्वीप ब्रिटेन के आधिपत्य में आ गया। जिस प्रक्रिया द्वारा अंग्रेजों ने भारत में अपना प्रभुत्त्व स्थापित किया था, लंका में भी उसी का अनुसरण किया गया, और उसे ब्रिटिश साम्राज्य की अन्यतम क्राउन कालोनी की स्थिति प्रदान कर दी गई। १८१५ तक लंका पूरी तरह से ब्रिटेन की अधीनता में आ गया था, और वीएना की सन्धि द्वारा उस पर ब्रिटेन के आधिपत्य को यूरोप के अन्य देशों ने भी स्वीकार कर लिया था। लंका एक द्वीप है, और समुद्र-तट के साथ-साथ की उसकी भूमि बहुत अधिक है। यह भूमि चाय और काफी की खेती के लिए बहुत उपयुक्त है। अंग्रेजों ने वहाँ चाय और काफी के बड़े-बड़े प्लान्टेशन प्रारम्भ किए, और उनकी पैदावार को यूरोप के बाजारों में बेचकर उन्होंने बहुत लाभ उठाया। इन प्लान्टेशनों में काम करने के लिए मजदूरों की बड़ी संख्या में आवश्यकता थी। दक्षिणी भारत के तमिल लोग मजदूरी से आकृष्ट होकर अंग्रेजों के प्लान्टेशनों में काम करने के लिए लंका जाने लगे, जिसके कारण वहाँ तमिल लोगों की आबादी में निरन्तर वृद्धि होती गई। लंका में जो लाखों भारतीय तमिल इस समय भी बसे हुए हैं। उनके पूर्वज प्रायः मजदूरों के रूप में ही वहाँ गये थे।

ब्रिटिश आधिपत्य में लंका में नवीन शिक्षा का भी प्रारम्भ हुआ। ईसाई मिशनरियों द्वारा वहाँ पहले भी कतिपय ऐसे शिक्षणालय स्थापित थे, जिनमें यूरोपियन भाषाओं के अतिरिक्त नये ज्ञान-विज्ञान की भी शिक्षा दी जाती थी। बाद में ब्रिटिश सरकार द्वारा भी वहाँ बहुत से स्कूल और कालिज खोले गये। लंका के कालिज लण्डन यूनिवर्सिटी से सम्बद्ध थे। इनमें शिक्षा प्राप्त करने वाले लोगों का लंका में एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया, जिसे अंग्रेजी भाषा का समुचित ज्ञान था, और जो अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के प्रति विशेष अनुराग रखता था। बौद्ध धर्म के अनुयायी होने पर भी इन्होंने अपने लिए अंग्रेजी नाम प्रयुक्त करने प्रारम्भ कर दिये थे, और ये अंग्रेजी रंग में भली-भाँति रंग गये थे।

ब्रिटिश शासन में लंका में स्वायत्त शासन-संस्थाओं का भी सूत्रपात किया गया। १९२३ में वहां विधान सभा की स्थापना की गई, जिसके सदस्यों में गैर-सरकारी सदस्यों की बहुसंख्या थी। १९३१ में वहां उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश किया गया, और यह व्यवस्था की गई कि विधान सभा के सदस्यों का चुनाव करने के लिये सब वयस्क व्यक्तियों को वोट का अधिकार प्राप्त हो। इसी समय ऐसे मन्त्रियों की भी नियुक्ति की गई, विविध सरकारी विभाग जिनके सुपुर्द थे। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जब ब्रिटिश

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साम्राज्य का ह्रास हुआ, और अंग्रेजों ने यह समझ लिया कि अधीनस्थ देशों में स्वराज्य स्थापित किये बिना काम नहीं चलेगा, तो लंका ने भी एक स्वतन्त्र राज्य की स्थिति प्राप्त कर ली। मई, १९४७ में ब्रिटिश पार्लियामैन्ट ने 'सीलोन इन्डिपेन्डेन्स एक्ट' पास किया, जिस द्वारा इस देश को भी एक औपनिवेशिक राज्य की स्थिति प्रदान कर दी गई। ४ फरवरी, १९४८ के दिन यह एक्ट लागू हो गया, और ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत रहते हुए लंका या सीलोन ने अपना स्वतन्त्र शासन प्रारम्भ किया। १९४७ के सीलोन इन्डिपेन्डेन्स एक्ट के अनुसार लंका में जिस पार्लियामैन्ट का निर्माण किया गया, उसमें दो सदन रखे गये, प्रतिनिधि सभा और सीनेट। प्रतिनिधि सभा की सदस्य संख्या १५७ नियत की गई, जिनमें से १५१ जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और ६ को गवर्नर-जनरल द्वारा मनोनीत किया जाता था। सीनेट के ३० सदस्य होते थे, जिनमें से १५ को गवर्नर-जनरल नियुक्त करता था, और १५ प्रतिनिधि सभा द्वारा चुने जाते थे। प्रतिनिधि सभा में जिस पार्टी का बहुमत हो, उसके नेता को प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त किया जाता था, और उस द्वारा निर्मित मन्त्रिपरिषद् तभी तक अपने पद पर रह सकती थी, जब तक कि प्रतिनिधि सभा का विश्वास उसे प्राप्त रहे। गवर्नर-जनरल की नियुक्ति ब्रिटेन की सरकार द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गई थी, और शासन के कार्य उसी के नाम से किये जाते थे, यद्यपि वह मन्त्रिपरिषद् के परामर्श के अनुसार ही कार्य करता था। लंका के औपनिवेशिक राज्य की स्थिति प्राप्त कर लेने पर ब्रिटेन ने उसके साथ एक समझौता किया था, जिस द्वारा दोनों देशों ने यह तय किया था कि वे अपने सुरक्षा-सम्बन्धी हितों को दृष्टि में रखकर एक दूसरे को सैनिक सहायता प्रदान किया करेंगे, और ब्रिटेन को यह अधिकार होगा कि वह लंका में अपनी इतनी वायु, स्थल और जल-सेनाएं रख सके जो कि दोनों देशों की सुरक्षा के लिये आवश्यक समझी जाएं। इसी समझौते के कारण ब्रिटेन ने लंका में अपने अनेक नाविक तथा हवाई अड्डे कायम किये, और वहां अपनी सेनाएं भी रखीं। इस सुरक्षा-समझौते के अतिरिक्त ब्रिटेन ने लंका के साथ विदेशी राजनीति के सम्बन्ध में भी एक समझौता किया, जिस द्वारा यह तय किया गया कि लंका उन प्रस्तावों के अनुसार कार्य किया करेगा जो ब्रिटिश साम्राज्य की इम्पीरियल कान्फरेन्स ने समय-समय पर स्वीकृत किये थे। अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों को निर्धारित करते हुए लंका उन सिद्धान्तों का अनुसरण करेगा जो कि ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत राज्यों द्वारा स्वीकृत किये जायेंगे, और लंका में ब्रिटेन के नागरिकों को जो अधिकार प्राप्त होंगे, वे ही ब्रिटेन में लंका के नागरिकों को भी प्राप्त रहेंगे।

(२) स्वतन्त्रता के पश्चात् लंका की प्रगति

१९४७ के सीलोन इन्डिपेन्डेन्स एक्ट के अनुसार लंका में जिस सरकार की स्थापना हुई, उस में संयुक्त राष्ट्रीय दल (United National Party) के हाथों में शासन का संचालन आ गया। इस पार्टी का संगठन १९४५-४६ में डी० एस० सेनानायक द्वारा किया गया था, और इसमें सीलोन नेशनल कांग्रेस, सीलोन मुस्लिम लीग, सिंहल महासभा और कई अन्य छोटी-छोटी पार्टियां सम्मिलित थीं। १९४८ में लंका की पार्लियामैन्ट का जो चुनाव हुआ, उसमें संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी को सफलता प्राप्त हुई, और श्री सेनानायक प्रधानमन्त्री के पद पर नियुक्त हुए। आठ साल तक लंका में इसी पार्टी की सरकार कायम रही। मार्च, १९५२ में डी० एस० सेनानायक की मृत्यु हो गई, और उनके पुत्र डडले सेनानायक को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया। १८ मई, १९५२ के चुनाव में भी संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी को सफलता प्राप्त हुई, और मि० डडले सेनानायक की मन्त्रि-परिषद् शासन का संचालन करती रही। अक्टूबर, १९५३ में डडले ने त्यागपत्र दे दिया,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उनका स्थान सर जॉन कोटलावाला ने ग्रहण कर लिया। पर संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी देर तक राजशक्ति को अपने हाथों में नहीं रख सकी। सिंहल महासभा पार्टी १९५१ में उससे पृथक् हो गई, जिसके कारण संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी की शक्ति में कमी आने लग गई। इसीलिये जब एप्रिल, १९५६ में पार्लियामेन्ट का नया चुनाव हुआ, तो उसे सफलता नहीं हुई। सिंहल महासभा के नेता श्री भण्डारनायक थे, जिन्होंने कतिपय अन्य पार्टियों के साथ मिलकर महाजन एकसाथ पेरामुन नाम से एक नई संयुक्त पार्टी का संगठन कर लिया। इसमें अनेक ऐसी पार्टियां भी सम्मिलित की गई थीं, जो क्रान्तिकारी और समाजवादी विचारधाराओं की अनुयायी थीं। विप्लवकारी लंका समसमाज पार्टी और नव लंका समसमाज पार्टियां इनमें मुख्य थीं। संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी के मुकाबले में श्री भण्डारनायक ने जिस नई संयुक्त पार्टी का संगठन किया था, निस्सन्देह, वह वाम पक्षी थी। १९५६ के चुनाव में इसे प्रतिनिधि सभा में बहुमत प्राप्त हो गया, और इसके नेता श्री भण्डारनायक ने लंका के लिये नई मन्त्रिपरिषद् का निर्माण किया।

इसमें सन्देह नहीं, कि शुरू में संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी को अच्छी सफलता प्राप्त हुई थी। लंका में स्वतन्त्रता के लिये जो आन्दोलन ब्रिटिश शासन के समय में हुए थे, सीलोन नेशनल कांग्रेस का उनमें प्रमुख कर्तृत्व था। इसीलिये जनता में इसके प्रति सम्मान की भावना भी विद्यमान थी। पर समय के साथ-साथ लंका में समाजवादी आन्दोलन जोर पकड़ने लगे, और कृषक-मजदूर जनता ने अपने हितों की रक्षा के लिये संघर्ष प्रारम्भ कर दिया। वहां के कल-कारखानों और प्लान्टेशनों में हड़तालें होने लगीं, जिनके कारण वामपक्षी पार्टियों का जोर बढ़ने लग गया। संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी में प्रायः ऐसे लोगों का प्राधान्य था, जिन्होंने अंग्रेजी में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। इनका रहन-सहन भी पाश्चात्य ढंग का था, और सर्वसाधारण जनता से इनका बहुत कम सम्पर्क था। पर संसार के अन्य देशों के समान लंका में भी इस काल में जनता में जागृति उत्पन्न हो रही थी, और वह यह अनुभव करने लगी थी कि अपनी भाषा और संस्कृति को महत्त्व देने में ही देश का हित है। अंग्रेजी द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त किये हुए लोगों की तुलना में उन लोगों की संख्या बहुत अधिक थी, जो पुरानी परिपाटी के अनुसार सिंहल और पाली भाषाओं में शिक्षा प्राप्त करते थे। पर सरकारी नौकरियां उन्हीं को प्राप्त होती थीं, अंग्रेजी भाषा में जिन्होंने विशेष योग्यता प्राप्त की हो। संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी के प्रति असंतोष व विरोध की भावना का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण था। लंका के बहुसंख्यक निवासी बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं। सन् १९५६ में महात्मा बुद्ध की २५००वीं जयन्ती लंका में बड़ी धूमधाम के साथ मनायी गई थी। इसके कारण वहां के बौद्धों में नव स्फूर्ति का संचार हुआ, और वहाँ की जनता में यह भावना विकसित होने लगी कि देश का शासन ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिये जो अपने पुराने धर्म तथा संस्कृति में आस्था रखते हों। सिंहल भाषा, बौद्ध धर्म और प्रगतिशील समाजवादी विचार इन सब को संयुक्त कर श्री भण्डारनायक एक ऐसी पार्टी को संगठित करने में सफल हो गये, जिसके सम्मुख संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी नहीं टिक सकी।

पर भण्डारनायक के लिये भी देश की समस्याओं को हल कर सकना सुगम नहीं था। वामपक्षी पार्टियों ने कृषक-मजदूर वर्ग में जो चेतना उत्पन्न कर दी थी, उसके कारण सर्वसाधारण लोगों में अपनी स्थिति के विषय में असंतोष बढ़ता चला जा रहा था। उनकी आर्थिक दशा को सुधार सकना एक कठिन कार्य था, और भण्डारनायक द्वारा संगठित महाजन एकसाथ पेरामुन भी उनकी उन्नति के लिये कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकी। भण्डारनायक की सरकार सिंहली भाषा और बौद्ध धर्म को जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्व दे रही थी, उससे लंका में निवास करने वाले तमिल लोगों ने (जिनकी भाषा तमिल है, और धर्म हिन्दू) उद्वेग अनुभव किया, और वे उसका विरोध करने में तत्पर हो गये। अनेक प्रश्नों पर महाजन एकसाथ पेरामुन में सम्मिलित पार्टियों में भी मतभेद उत्पन्न होने लगे, जिनके कारण १९५५ में भण्डारनायक की संयुक्त मन्त्रिपरिषद् के लिये कार्य कर सकना कठिन हो गया। २५ सितम्बर, १९५९ के दिन भण्डारनायक की हत्या कर गई, और जब एप्रिल, १९६० में पार्लियामैन्ट का नया चुनाव हुआ, तो डडले सेनानायक की संयुक्त पार्टी को बहुमत प्राप्त हो गया। पर यह पार्टी भी देर तक लंका के शासन को नहीं संभाल सकी। उसमें सम्मिलित पार्टियों में उग्र मतभेद होने के कारण सेनानायक ने प्रतिनिधि सभा को भंग कर नया चुनाव कराने का निश्चय किया। जुलाई, १९६० में प्रतिनिधि सभा का नया निर्वाचन हुआ, जिसमें भण्डारनायक की सिंहल महा-सभा (जिसे अब श्रीलंका फ्रीडम पार्टी कहा जाता था) के उम्मीदवार बड़ी संख्या में चुने गये। इस समय इस पार्टी का नेतृत्व श्रीमती सिरीमवो भण्डारनायक के हाथों में था। उन्हें लंका का प्रधानमन्त्री नियुक्त किया गया, और उन्होंने कतिपय अन्य पार्टियों के सहयोग से अपनी मन्त्रिपरिषद् का निर्माण किया। इस समय लंका में बसे हुए तमिल लोगों की समस्या ने गम्भीर रूप धारण किया हुआ था। उनका कहना था, कि लंका का स्वरूप एक संवर्ग राज्य (Federation) का होना चाहिये, जिससे कि उन प्रदेशों को स्वायत्त शासन का अवसर प्राप्त हो सके जहां के निवासियों में तमिल लोगों की बहु-संख्या है। उन्होंने फिडरल पार्टी नाम से एक पृथक् पार्टी का संगठन कर लिया था, और वे श्रीमती भण्डारनायक की सरकार का विरोध करने में तत्पर थे, क्योंकि उनकी सर-कार सिंहली भाषा को लंका की राजभाषा के पद पर अधिष्ठित करने के लिये दृढ़संकल्प थी। तमिल लोग सिंहली के साथ-साथ तमिल को भी लंका की अन्यतम राजभाषा बनाना चाहते थे, और श्रीमती भण्डारनायक के विरोध में सेनानायक की संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी के साथ सहयोग करने में तत्पर थे। लंका में बसे हुए तमिल लोग दो प्रकार के थे, एक वे जो कि सदियों से वहां बसे चले आ रहे थे, और दूसरे वे जो कि आजीविका की तलाश में कुछ समय पहले ही वहां गये थे। लंका के लोग इन दूसरे प्रकार के तमिलों को विदे-शी समझते थे, और उन्हें नागरिकता के अधिकार से भी वञ्चित रखना चाहते थे। लंका में तमिल भाषाभाषी लोगों की कुल संख्या २३ लाख के लगभग है, जिनमें से २१,२३,००० के लगभग ऐसे हैं, जिन्हें भारतीय तमिल समझा जाता है। श्रीमती भण्डारनायक की सरकार चाहती थी, कि ये लंका से भारत वापस चले जाएं, ताकि वहां भाषा की समस्या अधिक गम्भीर रूप प्राप्त न कर सके। इस सम्बन्ध में विचार विमर्श द्वारा कोई निर्णय करने के लिये नवम्बर, १९६४ में भारत के प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने लंका की यात्रा की, और श्रीमती भण्डारनायक से बात कर यह निर्णय किया, कि ५,२५,००० भारतीय तमिल लंका से भारत वापस बुला लिये जाएं, और ३,००,००० को लंका की नागरिकता के अधिकार प्रदान कर दिये जाएं। इस प्रकार ८,२५,००० तमिलों के विषय में तो निर्णय कर लिया गया, और शेष ३ लाख के लगभग भारतीय तमिलों के बारे में निर्णय को बाद के लिये स्थगित कर दिया गया। तमिल लोगों की इतनी बड़ी संख्या में लंका से प्रवासित किया जाना वहां चिरकाल से बसे हुए तमिल लोगों की दृष्टि में भी अत्यन्त अनुचित था। इसीलिये लंका में इस प्रश्न को लेकर अनेक विद्रोह भी हुए, और तमिल फिडरल पार्टी ने उग्र रूप से भण्डारनायक की सरकार का विरोध करना प्रारम्भ कर दिया। प्रतिनिधि सभा में जो दल व व्यक्ति श्रीमती भण्डारनायक के साथ थे, उन में कुछ दल बदल कर प्रतिपक्ष में चले गये, जिसके कारण दिसम्बर, १९६४ में पार्लिया-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैन्ट में उनकी हार हो गई। अब वहां कोई भी ऐसी पार्टी नहीं थी, जो स्वयं या अन्य पार्टियों के सहयोग से अपनी ऐसी मन्त्रिपरिषद् बना सके जो स्थिरता के साथ सरकार का संचालन करने में समर्थ हो। मार्च, १९६५ में पार्लियामैन्ट का नया चुनाव हुआ, जिसमें संयुक्त राष्ट्रीय पार्टी के ६३ सदस्य निर्वाचित हो गये। श्रीमती भण्डारनायक की श्रीलंका फ्रीडम पार्टी को ४१ स्थान प्राप्त हुए। अब श्री डडले सेनानायक ने तमिल फिडरल पार्टी तथा कतिपय अन्य पार्टियों के सहयोग से अपनी मन्त्रिपरिषद् निर्माण किया। बहुत-सी पार्टियों की सत्ता और किसी शक्तिशाली व्यक्तित्त्व के अभाव में लंका की सरकार में निरन्तर परिवर्तन होते रहे हैं। १९७० के चुनाव में एक बार फिर श्रीमती भण्डानायक की पार्टी को सफलता प्राप्त हुई, और इस समय (१९७३) उन्हीं की मन्त्रिपरिषद् लंका के शासन का संचालन कर रही है।

१९४७ के सीलोन इन्डिपेन्डेन्स ऐक्ट के अनुसार लंका की स्थिति ब्रिटिश कामनवेल्थ के अन्तर्गत एक औपनिवेशिक राज्य की थी। पर वहां की जनता, विशेषतया प्रगतिशील एवं वामपक्षी लोग इससे संतुष्ट नहीं थे। वे अपने देश को एक स्वतन्त्र गणराज्य के रूप में परिवर्तित करना चाहते थे, और लंका में यह भावना निरन्तर जोर पकड़ती जाती थी कि वहां एक नये संविधान का निर्माण किया जाना चाहिये। इसीलिये श्रीमती भण्डारनायक की मन्त्रिपरिषद् द्वारा एक संविधान सभा का संगठन किया गया, जिसके निर्णयों के अनुसार सीलोन या लंका का नाम 'श्रीलंका' कर दिया गया, और उसे एक रिपब्लिक (गणराज्य) का रूप दे दिया गया। नये संविधान के अनुसार श्रीलंका की पार्लियामैन्ट में केवल एक सदन—नेशनल एसेम्बली रखा गया, और संविधान में उन सिद्धान्तों व आदर्शों का विशद रूप से प्रतिपादन किया गया, जिनका अनुसरण कर श्रीलंका समाजवादी व्यवस्था की दिशा में अग्रसर हो सके। २२ मई, १९७२ के दिन श्रीलंका को स्वतन्त्र एवं सम्पूर्ण-प्रभुत्त्व-सम्पन्न गणराज्य घोषित कर दिया गया। उस समय वहां के गवर्नर-जनरल के पद पर श्री गोपाललव थे। अब उन्हीं को श्रीलंका का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित कर लिया गया। पर श्रीलंका ने ब्रिटिश कामनवेल्थ से अपने सम्बन्ध का अन्त नहीं किया है। भारत के समान वह भी उसमें सम्मिलित है।

पुस्तकालय 869

१४ दिसम्बर १९५५ से श्रीलंका संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह प्रायः तटस्थता व असंलग्नता की नीति का अनुसरण करता रहा है। १९५४ में अमेरिका द्वारा दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों को कम्युनिज्म के प्रभाव से बचाने के लिये जिस 'दक्षिण-पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन' का निर्माण किया गया था, भारत के समान लंका भी उसमें सम्मिलित नहीं हुआ। एशिया और अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिये भारत ने जो भी प्रयत्न किये, प्रायः उन सब में लंका ने सहयोग प्रदान किया। १९६२ में भारत और चीन के युद्ध के पश्चात् लंका की तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायक ने एशिया और अफ्रीका के अनेक राज्यों की एक कान्फरेन्स कोलम्बों में आयोजित की, जिस में भारत और चीन के विरोधों का अन्त करने का प्रयत्न किया गया। वहां जो निर्णय हुए, उन्हें कार्यान्वित कराने का कार्य श्रीमती भण्डारनायक के सुपुर्द किया गया। चीन की असहमति के कारण उन्हें अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। पर इसमें सन्देह नहीं, कि श्रीलंका एक ऐसी नीति का अनुसरण करता रहा है, जिसका उद्देश्य दक्षिणी एशिया के क्षेत्र में शान्ति स्थापित रखना है।

R42.3,SAT-A
98869
CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

Accos on

Class on

Cat on

Tag etc.

Checked

Any Other

24-1-92

Recommended By

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इतिहास
विषय पर
सत्यकेतु विद्यालंकार
द्वारा लिखित
कुछ श्रेष्ठ पुस्तकें

प्राचीन भारत (प्रारम्भ से १२०० ई. तक)
भारतीय संस्कृति का विकास
मौर्य साम्राज्य का इतिहास
दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति
मध्य एशिया तथा चीन में भारतीय संस्कृति
प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग
भारतीय इतिहास का पूर्व मध्य-युग (६०० से १२०० ई. तक)
प्राचीन भारत की शासन संस्थाएं और राजनीतिक विचार
प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन
यूरोप का आधुनिक इतिहास (सम्पूर्ण)
यूरोप का आधुनिक इतिहास (१७८९ से १८७१ तक)
यूरोप का आधुनिक इतिहास (१८७१ से १९३९ तक)
एशिया का आधुनिक इतिहास (सम्पूर्ण)
पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया का आधुनिक इतिहास
आर्यसमाज का इतिहास (प्रथम भाग)
— प्रारम्भ से सन् १८८३ तक
आर्य समाज का इतिहास (दूसरा भाग)
— आर्य समाज का देश-देशान्तर में विस्तार
आर्य समाज का इतिहास (तृतीय भाग)
— शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप

प्राप्ति-स्थान
श्री सरस्वती सदन
(फोन : ६०१५३९)
ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव
नई दिल्ली-२९

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar